महर्षि वेदव्यासप्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, सरल हिंदी-व्याख्यासहित)

प्रथम खण्ड

(स्कन्ध १ से ८ तक)

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

(सचित्रं सरलहिन्दीव्याख्यासहितम्)

प्रथमः खण्डः

(प्रथमस्कन्धादारभ्याष्टमस्कन्धपर्यन्तः)

गीताप्रेस, गोरखपुर

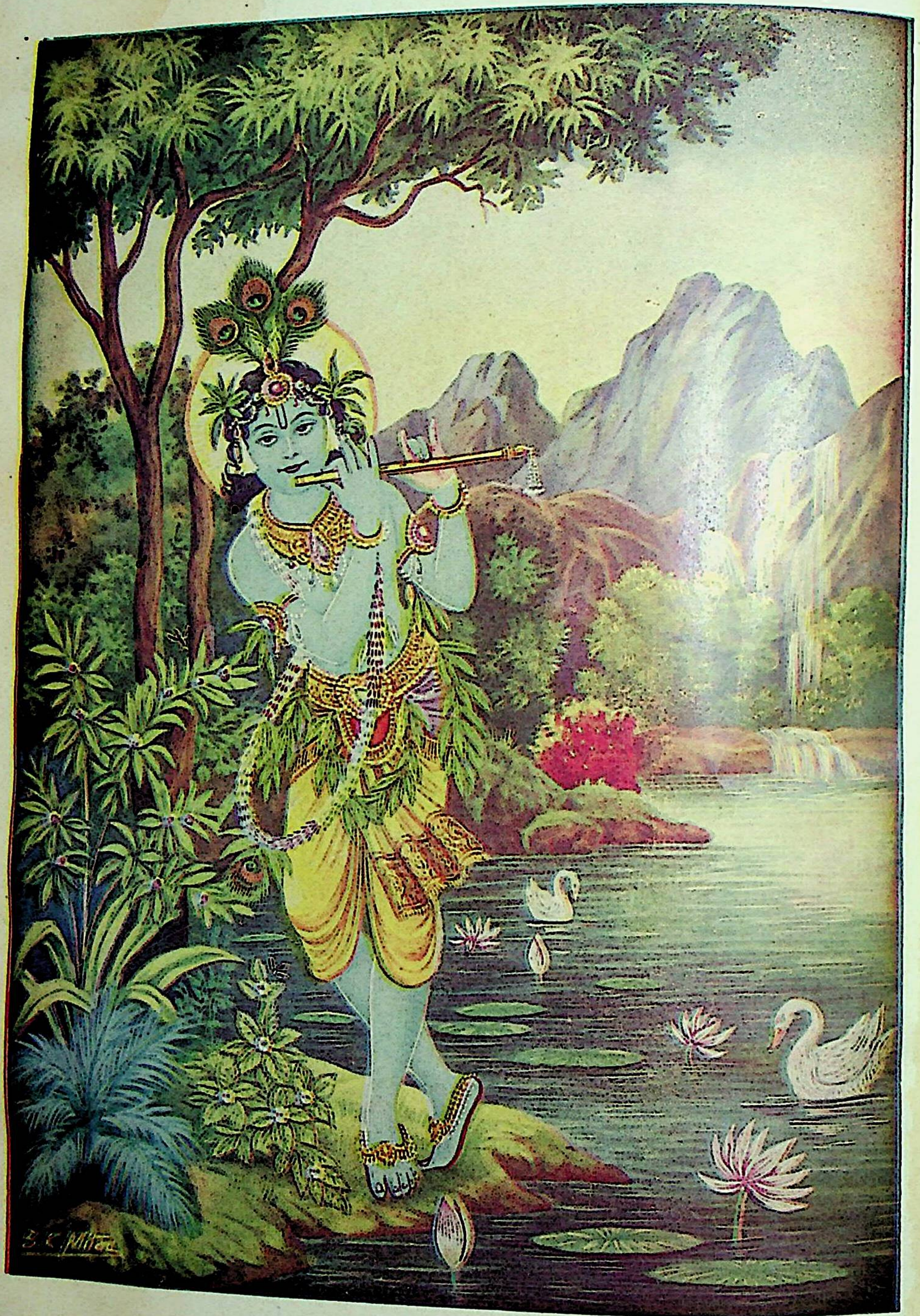
मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं०	१९९७ से २०१८ तक		४४,२५०
सं०	२०२१ पञ्चम	संस्करण	१५,०००
सं०	२०२७ षष्ठ	संस्करण	१५,०००
		कुल	७४,२५०

मूल्य दोनों खण्डोंका २०.००
(बीस रुपये)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नटवर नागर



वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं विभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

श्रीकृष्णः शरणं मम

निरखि किन नयना होहु निहाल ।
अति अद्भुत आनँद-अम्बुद-सी सोहत सो सुखमा सुबिसाल ॥ १ ॥
नीरद-तनु दामिनि-सी दमकत छिन-छिन छबि-कन झरत रसाल ।
अंग-अंग मनिगन दुति राजत झिलमिलात जनु उडुगन जाल ॥ २ ॥
नाचत मन-मयूर अति उनमद निरखि इन्द्रधनु-सी बनमाल ।
पुनि पुनि अति आनँद उर उमँगत सुनि-सुनि बंसीनाद रसाल ॥ ३ ॥
मुख-मयंक पै मुकुट मनोहर लसत कञ्ज जनु कनक-मराल ।
मधुर-मधुर मुसकान मनोहर मारत मनहुँ मार सर-जाल ॥ ४ ॥
स्याम-सनेह-सुधा नित बरसत परसत कँपत कुटिल कलिकाल ।
सो सुठि सुधा पान करि रुचि सों भजहु निसंक न किमि नँदलाल ॥ ५ ॥

श्रीहरिः

द्वितीय संस्करणका नम्र निवेदन

श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इसीसे भक्त-भागवतगण भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इसकी पूजा-आराधना किया करते हैं। भगवान् व्यास-सरीखे भगवत्स्वरूप महापुरुषको जिसकी रचनासे ही शान्ति मिली; जिसमें सकाम कर्म, निष्काम कर्म, साधन-ज्ञान, सिद्धज्ञान, साधनभक्ति, साध्यभक्ति, वैधी भक्ति, प्रेमा भक्ति, मर्यादा-मार्ग, अनुग्रहमार्ग, द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सभीका परम रहस्य बड़ी ही मधुरताके साथ भरा हुआ है, जो सारे मतभेदोंसे ऊपर उठा हुआ अथवा सभी मतभेदोंका समन्वय करनेवाला महान् ग्रन्थ है--उस भागवतकी महिमा क्या कही जाय। इसके प्रत्येक अङ्गसे भगवद्भावपूर्ण पारमहंस्य ज्ञान-सुधा-सरिताकी बाढ़ आ रही है—'यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।' भगवान्‌के मधुरतम प्रेम-रसका छलकता हुआ सागर है—श्रीमद्भागवत। इसीसे भावुक भक्त-गण इसमें सदा अवगाहन करते रहते हैं। परम मधुर भगवद्रससे भरा हुआ 'स्वादु-स्वादु पदे-पदे' ऐसा ग्रन्थ बस, यह एक ही है। इसकी कहीं तुलना नहीं है। विद्याका तो यह भण्डार ही है। 'विद्या भागवतावधिः' प्रसिद्ध है। इस 'परमहंससंहिता'का यथार्थ आनन्द तो उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको किसी सीमातक मिल सकता है, जो हृदयकी सच्ची लगनके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक केवल 'भगवत्प्रेमकी प्राप्ति'के लिये ही इसका पारायण करते हैं। यों तो श्रीमद्भागवत आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है, इसके पारायण-से लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें कई प्रकारके अमोघ प्रयोगोंके उल्लेख हैं—जैसे 'नारायण-कवच' (स्क० ६ अ० ८) से समस्त विघ्नोंका नाश तथा विजय, आरोग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति; 'पुंसवन-व्रत' (स्क० ६ अ० १९) से समस्त कामनाओंकी पूर्ति; 'गजेन्द्रस्तवन' (स्क० ८ अ० ३) से ऋणसे मुक्ति, शत्रुसे छुटकारा और दुर्भाग्यका नाश; 'पयोव्रत' (स्क० ८ अ० १६) से मनोवाञ्छित संतानकी प्राप्ति; 'सप्ताहश्रवण' या पारायणसे प्रेतत्वसे मुक्ति। इन सब साधनोंका भगवत्प्रेम या भगवत्प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे प्रयोग किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्तिके पथमें बड़ी सहायता मिलती है। श्रीमद्भागवतके सेवनका यथार्थ आनन्द तो भगवत्प्रेमी पुरुषोंको ही प्राप्त होता है। जो लोग अपनी विद्या-बुद्धिका अभिमान छोड़कर और केवल भगवत्कृपाका आश्रय लेकर श्रीमद्भागवतका अध्ययन करते हैं, वे ही इसके भावोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार हृदयङ्गम कर सकते हैं।

गीताप्रेसके द्वारा श्रीमद्भागवतके प्रकाशनका विचार लगभग चौबीस-पचीस वर्ष पहलेसे हो रहा था। परंतु कई कारणोंसे उसमें देर होती गयी। फिर पाठका प्रश्न आया। खोज आरम्भ हुई, टीकाओं और पुरानी प्रतियोंको देखा गया। अन्तमें पूज्यपाद गोलोकवासी श्रीमन्मध्वगौडसम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री और गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेजके भूतपूर्व प्रिंसिपल परम श्रद्धेय विद्व-द्वर डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए० से परामर्श किया गया। श्रीकविराज महोदयके परामर्श, प्रयत्न और परिश्रमसे काशीके सरकारी 'सरस्वती-भवन' पुस्तकालयमें सुरक्षित प्रायः आठ सौ वर्षकी पुरानी प्रति देखी गयी और गीताप्रेसके विद्वान् शास्त्रियोंके द्वारा उससे पाठ मिलाया गया। इसके लिये हम श्रद्धेय श्रीकविराजजीके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इसके पाठनिर्णयमें मथुराके प्रसिद्ध वैष्णव विद्वान् श्रद्धेय पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदीसे बड़ी सहायता मिली थी, एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसी समय श्रीमद्भागवतके अनुवादकी बात भी चली और मेरे अनुरोधसे प्रिय श्रीमुनिलालजी (वर्तमानमें श्रद्धेय स्वामी सनातनदेवजी) ने अनुवाद करना स्वीकार किया और भगवत्कृपासे उन्होंने सं० १९८९ के आषाढ़में उसे पूरा कर दिया। उक्त अनुवादका संशोधन श्रीवल्लभसम्प्रदायके महान् विद्वान् गोलोकवासी श्रद्धेय देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी भट्ट, अपने ही साथी पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री और भाई हरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके द्वारा करवाया गया। तदनन्तर संवत् १९९७ में श्रीमद्भागवतका अनुवादसहित पाठभेदकी पाद-टिप्पणियोंसे युक्त संस्करण दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया, जिसको भावुक पाठकोंने बहुत ही अपनाया। इसीके साथ-साथ मूल पाठका गुटका-संस्करण भी निकाला गया, जिसकी अबतक १०८,२५० प्रतियाँ छप चुकी हैं।

इसके अनन्तर संवत् १९९८ में 'कल्याण' का 'भागवताङ्क' प्रकाशित किया गया। इसमें अनुवाद-की शैली कुछ बदल दी गयी। इस अनुवादका अधिकांश हमारे अपने ही पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी

(वर्तमानमें श्रद्धेय स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज) ने किया। कुछ श्रीमुनिलालजी तथा पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने भी किया। फिर द्वितीय महायुद्धके कारण कई तरहकी अड़चनें आ गयीं। श्रीमद्भागवतके ये दोनों खण्ड और 'श्रीभागवताङ्क' दोनों ही अप्राप्य हो गये। पुनः प्रकाशनकी बात बराबर चलती रही, पर कुछ-न-कुछ अड़चनें आती ही रहीं। 'भागवताङ्क' वाली नयी शैलीके अनुसार अनुवादमें संशोधन करना हमारे पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्रीने आरम्भ भी किया। परंतु अन्यान्य कार्योंमें अत्यधिक व्यस्त रहनेके कारण उनसे वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। गत फाल्गुन-में श्रद्धेय स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज गोरखपुर पधारे, यों ही प्रसङ्गवश बात चल गयी और उन्होंने कृपापूर्वक इस कामको करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार कार्य आरम्भ हो गया और भगवत्कृपा-से अब यह छपकर पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज महीनोंतक लगातार अथक परिश्रम करके यह कार्य नहीं करते तो आज इस रूपमें इसका प्रकाशित होना सम्भव नहीं था। इसलिये हमलोग तो स्वामीजी महाराजके कृतज्ञ हैं ही, भागवतके प्रेमी पाठकोंको भी उनका कृतज्ञ होना चाहिये।

इस संस्करणमें अधिकांश अनुवाद 'भागवताङ्क' (मुख्यतया पं० श्रीशान्तनुविहारीजीके द्वारा अनुवादित) के अनुसार ही है। कुछ अनुवाद तथा बहुत-सी अन्य सामग्री पूर्वप्रकाशित श्री-मद्भागवतके दोनों खण्डों (श्रीमुनिलालजीके द्वारा अनुवादित) के अनुसार भी है। 'भागवताङ्क' के भावानुवादमें भी पं० श्रीशान्तनुविहारीजीके साथ-साथ श्रीमुनिलालजी और पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीका कुछ हाथ था। उसी प्रकार इसमें भी है। इसीसे अनुवादकके रूपमें किन्हीं एक महानुभावका नाम नहीं दिया गया है। नाम-रूपके परित्यागी पूज्यद्वय संन्यासी महोदय (श्रद्धेय श्रीअखण्डानन्दजी महाराज और श्रद्धेय श्रीसनातनदेवजी महाराज) तो नाम न देनेसे प्रसन्न ही होंगे। हम तो इसको इन दोनों ही महानुभावोंका कृपाप्रसाद मानते हैं और दोनोंके ही कृतज्ञ हैं। पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री सम्पादकीय विभागके सदस्य हैं। अतः उनके नामकी पृथक् आवश्यकता भी नहीं। पाठकोंकी जानकारीके लिये यह परिचय दिया गया है। वस्तुतः अनुवादक महोदयोंके लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने जो कुछ किया है, कृपापूर्वक ही किया है और उनकी कृपा तथा सद्भावना हमें सदा सहज ही प्राप्त है।

इसमें श्लोकोंका केवल अक्षरानुवाद नहीं है, पाठकोंको श्लोकोंका भाव भलीभाँति समझानेके लिये श्लोकोंमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी पूर्ण रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें उनकी व्याख्या की गयी है, साथ ही बहुत विस्तार न हो, इसका भी ध्यान रक्खा गया है। इसे अनुवाद न कहकर 'सरल संक्षिप्त व्याख्या' कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्थान-स्थानपर, विशेष करके दशम स्कन्धमें कई जगह श्रीभगवान्-की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये और लीलारहस्यको समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ भी दे दी गयी हैं, जिससे इसकी उपादेयता और सुन्दरता विशेष बढ़ गयी है। साथ ही आरम्भमें स्कन्दपुराणोक्त एक छोटा माहात्म्य, श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि आदि, सप्ताहपारायणकी विधि तथा आवश्यक सामग्रीकी सूची एवं अन्तमें स्कन्दपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य और विस्तृत प्रयोग-विधि दे दी गयी है, इसलिये पहले संस्करणकी अपेक्षा इसमें पृष्ठ भी बहुत बढ़ गये हैं। चित्र भी अधिक दिये गये हैं। ये कुछ इस संस्करणकी विशेषताएँ हैं।

इसके पाठ-संशोधन, अनुवाद, प्रूफ-संशोधन आदिमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी और पं० श्री-रामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बड़ा काम किया है। सभी बातोंमें सावधानी रक्खी गयी है, तथापि इतने बड़े ग्रन्थकी छपाईमें जहाँ-तहाँ भूलें अवश्य रही होंगी। कृपालु पाठकोंसे प्रार्थना है कि उन्हें पाठ, अनुवाद या छपाईमें जहाँ भूल दिखलायी दे, कृपया वे ब्योरेवार लिख दें, जिससे आगामी संस्करणमें यथायोग्य संशोधन कर दिया जाय। सहृदय पाठकोंसे प्रार्थना है कि असावधानतावश होनेवाली भूलोंके लिये वे क्षमा करें।

अन्तमें निवेदन है कि यह सब जो कुछ हुआ है, इसमें भगवत्कृपा ही कारण है, और सब तो निमित्तमात्र है। मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझता हूँ और अपने प्रति श्रीभगवान्‌की बड़ी कृपा मानता हूँ, जिससे इधर कई महीने प्रायः श्रीमद्भागवतके ही पठन-चिन्तन आदिमें लगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

चतुर्थ स्कन्ध

पञ्चम स्कन्ध

चित्र-सूची

चतुःश्लोकी भागवत

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् । पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥१॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥२॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥४॥

सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था । मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान । जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं-ही-मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं हूँ; और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ ॥ १ ॥ वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है, अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये ॥ २ ॥ जैसे प्राणियोंके पञ्चभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पञ्चमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ ॥ ३ ॥ यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं, वे ही वास्तविक तत्त्व हैं । जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है ॥ ४ ॥ (श्रीमद्भा० २ । ९ । ३२–३५)

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य

(स्वयं श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे ब्रह्माजीके प्रति कथित)

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं लोकविश्रुतम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो मम सन्तोषकारणम् ॥ १ ॥

लोकविख्यात श्रीमद्भागवत नामक पुराणका प्रतिदिन श्रद्धायुक्त होकर श्रवण करना चाहिये । यही मेरे संतोषका कारण है ।

नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः ।
प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम् ॥ २ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन भागवतपुराणका पाठ करता है, उसे एक-एक अक्षरके उच्चारणके साथ कपिला गौ दान देनेका पुण्य होता है ।

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ।
पठते शृणुयाद् यस्तु गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३ ॥

जो प्रतिदिन भागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकका पाठ अथवा श्रवण करता है, उसे एक हजार गोदानका फल मिलता है ।

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत ।
अष्टादशपुराणानां फलमाप्नोति मानवः ॥ ४ ॥

पुत्र ! जो प्रतिदिन पवित्रचित्त होकर भागवतके एक श्लोकका पाठ करता है, वह मनुष्य अठारह पुराणोंके पाठका फल पा लेता है ।

नित्यं मम कथा यत्र तत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः ।
कलिबाह्या नरास्ते वै येऽर्चयन्ति सदा मम ॥ ५ ॥

जहाँ नित्य मेरी कथा होती है, वहाँ विष्णु-पार्षद प्रह्लाद आदि विद्यमान रहते हैं । जो मनुष्य सदा मेरे भागवत-शास्त्रकी पूजा करते हैं, वे कलिके अधिकारसे अलग हैं, उनपर कलिका वश नहीं चलता ।

वैष्णवानां तु शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः ।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः ॥ ६ ॥

जो मानव अपने घरमें वैष्णव-शास्त्रोंकी पूजा करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होकर देवताओंद्वारा वन्दित होते हैं ।

येऽर्चयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं कलौ ।
आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीतो भवाम्यहम् ॥ ७ ॥

जो लोग कलियुगमें अपने घरके भीतर प्रतिदिन भागवत-शास्त्रकी पूजा करते हैं, वे [कलिसे निडर होकर] ताल ठोंकते और उछलते-कूदते हैं, मैं उनपर बहुत प्रसन्न रहता हूँ ।

यावद्दिनानि हे पुत्र शास्त्रं भागवतं गृहे ।
तावत् पिबन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥ ८ ॥

पुत्र ! मनुष्य जितने दिनोंतक अपने घरमें भागवत-शास्त्र रखता है, उतने समयतक उसके पितर दूध, घी, मधु और मीठा जल पीते हैं ।

यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये ।
कल्पकोटिसहस्राणि मम लोके वसन्ति ते ॥ ९ ॥

जो लोग विष्णुभक्त पुरुषको भक्तिपूर्वक भागवत-शास्त्र समर्पण करते हैं, वे हजारों करोड़ कल्पोंतक (अनन्तकालतक) मेरे वैकुण्ठ-धाममें वास करते हैं ।

येऽर्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः ।
प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाभूतसंप्लवम् ॥१०॥

जो लोग सदा अपने घरमें भागवत-शास्त्रका पूजन करते हैं, वे मानो एक कल्पतकके लिये सम्पूर्ण देवताओं-को तृप्त कर देते हैं ।

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे ।
शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ॥११॥

यदि अपने घरपर भागवतका आधा श्लोक या चौथाई श्लोक भी रहे, तो यह बहुत उत्तम बात है, उसे छोड़कर सैकड़ों और हजारों तरहके अन्य ग्रन्थोंके संग्रहसे भी क्या लाभ है ?

न यस्य तिष्ठते शास्त्रं गृहे भागवतं कलौ ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्याम्यपाशात् कदाचन ॥१२॥

कलियुगमें जिस मनुष्यके घरमें भागवत-शास्त्र मौजूद नहीं है, उसको यमराजके पाशसे कभी छुटकारा नहीं मिलता ।

कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ ।
गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि सः ॥१३॥

इस कलियुगमें जिसके घर भागवत-शास्त्र मौजूद नहीं है, उसे कैसे वैष्णव समझा जाय ? वह तो चाण्डालसे भी बढ़कर नीच है ।

सर्वस्वेनापि लोकेश कर्तव्यः शास्त्रसंग्रहः ।
वैष्णवस्तु सदा भक्त्या तुष्ट्यर्थं मम पुत्रक ॥१४॥

लोकेश ब्रह्मा ! पुत्र ! मनुष्यको सदा मुझे भक्तिपूर्वक संतुष्ट करनेके लिये अपना सर्वस्व देकर भी वैष्णव-शास्त्रोंका संग्रह करना चाहिये ।

यत्र यत्र भवेत् पुण्यं शास्त्रं भागवतं कलौ ।
तत्र तत्र सदैवाहं भवामि त्रिदशैः सह ॥१५॥

कलियुगमें जहाँ-जहाँ पवित्र भागवत-शास्त्र रहता है, वहाँ-वहाँ सदा ही मैं देवताओंके साथ उपस्थित रहता हूँ ।

तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च ।
यज्ञाः सप्तपुरी नित्यं पुण्याः सर्वे शिलोच्चयाः ॥१६॥

यही नहीं—वहाँ नदी, नद और सरोवररूपमें प्रसिद्ध सभी तीर्थ वास करते हैं; सम्पूर्ण यज्ञ, सात पुरियाँ और सभी पावन पर्वत वहाँ नित्य निवास करते हैं ।

श्रोतव्यं मम शास्त्रं हि यशोधर्मजयार्थिना ।
पापक्षयार्थं लोकेश मोक्षार्थं धर्मबुद्धिना ॥१७॥

लोकेश ! यश, धर्म और विजयके लिये तथा पापक्षय एवं मोक्षकी प्राप्तिके लिये धर्मात्मा मनुष्यको सदा ही मेरे भागवत-शास्त्रका श्रवण करना चाहिये ।

श्रीमद्भागवतं पुण्यमायुरारोग्यपुष्टिदम् ।
पठनाच्छ्रवणाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१८॥

यह पावन पुराण श्रीमद्भागवत आयु, आरोग्य और पुष्टिको देनेवाला है; इसका पाठ अथवा श्रवण करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति श्रीमद्भागवतं परम् ।
सत्यं सत्यं हि लोकेश तेषां स्वामी सदा यमः ॥१९॥

लोकेश ! जो इस परम उत्तम भागवतको न तो सुनते हैं और न सुनकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके स्वामी सदा यमराज ही हैं—वे सदा यमराजके ही वशमें रहते हैं— यह मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ ।

न गच्छति यदा मर्त्यः श्रोतुं भागवतं सुत ।
एकादश्यां विशेषेण नास्ति पापरतस्ततः ॥२०॥

पुत्र ! जो मनुष्य सदा ही—विशेषतः एकादशीको भागवत सुनने नहीं जाता, उससे बढ़कर पापी कोई नहीं है ।

श्लोकं भागवतं चापि श्लोकार्धं पादमेव वा ।
लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य वसाम्यहम् ॥२१॥

जिसके घरमें एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा श्लोकका एक ही चरण लिखा रहता है, उसके घरमें मैं निवास करता हूँ ।

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा पावनं नृणां श्रीमद्भागवतं यथा ॥२२॥

मनुष्यके लिये सम्पूर्ण पुण्य-आश्रमोंकी यात्रा या सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा पवित्रकारक नहीं है, जैसा श्रीमद्भागवत है ।

यत्र यत्र चतुर्वक्त्र श्रीमद्भागवतं भवेत् ।
गच्छामि तत्र तत्राहं गौर्यथा सुतवत्सला ॥२३॥

चतुर्मुख ! जहाँ-जहाँ भागवतकी कथा होती है, वहाँ-वहाँ मैं उसी प्रकार जाता हूँ, जैसे पुत्रवत्सला गौ अपने बछड़ेके पीछे-पीछे जाती है ।

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम् ।
मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ॥२४॥

जो मेरी कथा कहता है, जो सदा उसे सुननेमें लगा रहता है तथा जो मेरी कथासे मन-ही-मन प्रसन्न होता है, उस मनुष्यका मैं कभी त्याग नहीं करता ।

श्रीमद्भागवतं पुण्यं दृष्ट्वा नोत्तिष्ठते हि यः ।
सांवत्सरं तस्य पुण्यं विलयं याति पुत्रक ॥२५॥

पुत्र ! जो परम पुण्यमय श्रीमद्भागवत शास्त्रको देखकर अपने आसनसे उठकर खड़ा नहीं हो जाता, उसका एक वर्षका पुण्य नष्ट हो जाता है ।

श्रीमद्भागवतं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानाभिवादनैः ।
सम्मानयेत तं दृष्ट्वा भवेत् प्रीतिर्ममातुला ॥२६॥

जो श्रीमद्भागवतपुराणको देखकर खड़ा होने और प्रणाम करने आदिके द्वारा उसका सम्मान करता है, उस मनुष्यको देखकर मुझे अनुपम आनन्द मिलता है ।

दृष्ट्वा भागवतं दूरात् प्रक्रमेत् सम्मुखं हि यः ।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥२७॥

जो श्रीमद्भागवतको दूरसे ही देखकर उसके सम्मुख जाता है, वह एक-एक पगपर अश्वमेध यज्ञके पुण्यको प्राप्त करता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ।

उत्थाय प्रणमेद् यो वै श्रीमद्भागवतं नरः ।
धनपुत्रांस्तथा दारान् भक्तिं च प्रददाम्यहम् ॥२८॥

जो मानव खड़ा होकर श्रीमद्भागवतको प्रणाम करता है, उसे मैं धन, स्त्री, पुत्र और अपनी भक्ति प्रदान करता हूँ ।

महाराजोपचारैस्तु श्रीमद्भागवतं सुत ।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या तेषां वश्यो भवाम्यहम् ॥२९॥

हे पुत्र ! जो लोग महाराजोचित सामग्रियोंसे युक्त होकर भक्तिपूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा सुनते हैं, मैं उनके वशीभूत हो जाता हूँ ।

ममोत्सवेषु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम् ।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या मम प्रीत्यै च सुव्रत ॥३०॥
वस्त्रालङ्करणैः पुष्पैर्धूपदीपोपहारकैः ।
वशीकृतो ह्यहं तैश्च सत्स्त्रिया सत्पतिर्यथा ॥३१॥ *

सुव्रत ! जो लोग मेरे पर्वोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी उत्सवोंमें मेरी प्रसन्नताके लिये वस्त्र, आभूषण, पुष्प, धूप और दीप आदि उपहार अर्पण करते हुए परम उत्तम श्रीमद्भागवतपुराणका भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं, वे मुझे उसी प्रकार अपने वशमें कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने साधुस्वभाववाले पतिको वशमें कर लेती है ।

श्रीशुकदेवजीको नमस्कार

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥
(१ । २ । २)

जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, सुतरां लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके उद्देश्यसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा ! बेटा !' उस समय तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया । ऐसे, सबके हृदयमें विराजमान श्रीशुकदेव मुनिको मैं नमस्कार करता हूँ ।

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ।
(१ । २ । ३)

यह श्रीमद्भागवत अत्यन्त गोपनीय—रहस्यात्मक पुराण है । यह भगवत्स्वरूपका अनुभव करानेवाला और समस्त वेदोंका सार है । संसारमें फँसे हुए जो लोग इस घोर अज्ञानान्धकारसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिये आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला यह एक अद्वितीय दीपक है । वास्तवमें उन्हींपर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियोंके आचार्य श्रीशुकदेवजीने इसका वर्णन किया है । मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ ।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥
(१२ । १२ । ६८)

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे । इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी । फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी, मङ्गलमयी मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस महापुराणका विस्तार किया । मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ।

* स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, मार्गशीर्षमाहात्म्य अ० १६ ।

श्रीमद्भागवतकी महिमा

श्रीमद्भागवतकी महिमा मैं क्या लिखूँ ? उसके आदिके तीन श्लोकोंमें जो महिमा कह दी गयी है, उसके बराबर कौन कह सकता है ? उन तीन श्लोकोंको कितनी ही बार पढ़ चुकनेपर भी जब उनका स्मरण होता है, मनमें अद्भुत भाव उदित होते हैं। कोई अनुवाद उन श्लोकोंकी गम्भीरता और मधुरताको पा नहीं सकता। उन तीनों श्लोकोंसे मनको निर्मल करके फिर इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान कीजिये—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव॥

मुझको श्रीमद्भागवतमें अत्यन्त प्रेम है। मेरा विश्वास और अनुभव है कि इसके पढ़ने और सुननेसे मनुष्यको ईश्वरका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है और उनके चरण-कमलोंमें अचल भक्ति होती है। इसके पढ़नेसे मनुष्यको दृढ़ निश्चय हो जाता है कि इस संसारको रचने और पालन करनेवाली कोई सर्वव्यापक शक्ति है—

एक अनन्त त्रिकाल सच, चेतन शक्ति दिखात।
सिरजत, पालत, हरत, जग, महिमा बरनि न जात॥

इसी एक शक्तिको लोग ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। भागवतके पहले ही श्लोकमें वेदव्यासजीने ईश्वरके स्वरूपका वर्णन किया है कि जिससे इस संसारकी सृष्टि, पालन और संहार होते हैं, जो त्रिकालमें सत्य है—अर्थात् जो सदा रहा भी, है भी और रहेगा भी—और जो अपने प्रकाशसे अन्धकारको सदा दूर रखता है, उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं।' उसी स्थानमें श्रीमद्भागवतका स्वरूप भी इस प्रकारसे संक्षेपमें वर्णित है कि इस भागवतमें—जो दूसरोंकी बढ़ती देखकर डाह नहीं करते, ऐसे साधुजनोंका सब प्रकारके स्वार्थसे रहित परम धर्म और वह जाननेके योग्य ज्ञान वर्णित है जो वास्तवमें सब कल्याणका देनेवाला और आधिभौतिक, आदिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीनों प्रकारके तापको मिटानेवाला है। और ग्रन्थोंसे क्या, जिन सुकृतियोंने पुण्यके कर्म कर रक्खे हैं और जो श्रद्धासे भागवतको पढ़ते या सुनते हैं, वे इसका सेवन करनेके समयसे ही अपनी भक्तिसे ईश्वरको अपने हृदयमें अविचलरूपसे स्थापित कर लेते हैं। ईश्वरका ज्ञान और उनमें भक्तिका परम साधन—ये दो पदार्थ जब किसी प्राणीको प्राप्त हो गये तो कौन-सा पदार्थ रह गया, जिसके लिये मनुष्य कामना करे और ये दोनों पदार्थ श्रीमद्भागवतसे पूरी मात्रामें प्राप्त होते हैं। इसीलिये यह पवित्र ग्रन्थ मनुष्यमात्रका उपकारी है। जबतक मनुष्य भागवतको पढ़े नहीं और उसकी इसमें श्रद्धा न हो, तबतक वह समझ नहीं सकता कि ज्ञान-भक्ति-वैराग्यका यह कितना विशाल समुद्र है। भागवतके पढ़नेसे उसको यह विमल ज्ञान हो जाता है कि एक ही परमात्मा प्राणी-प्राणीमें बैठा हुआ है और जब उसको यह ज्ञान हो जाता है, तब वह अधर्म करनेका मन नहीं करता; क्योंकि दूसरोंको चोट पहुँचाना अपनेको चोट पहुँचानेके समान हो जाता है। इसका ज्ञान होनेसे मनुष्य सत्य धर्ममें स्थिर हो जाता है, स्वभावहीसे दया-धर्मका पालन करने लगता है और किसी अहिंसक प्राणीके ऊपर वार करनेकी इच्छा नहीं करता। मनुष्योंमें परस्पर प्रेम और प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव स्थापित करनेके लिये इससे बढ़कर कोई साधन नहीं। वर्तमान समयमें, जब संसारके बहुत अधिक भागोंमें भयङ्कर युद्ध छिड़ा हुआ है, मनुष्यमात्रको इस पवित्र धर्मका उपदेश अत्यन्त कल्याणकारी होगा। जो भगवद्भक्त हैं और श्रीमद्भागवतके महत्त्वको जानते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि मनुष्यके लोक और परलोक दोनोंके बनानेवाले इस पवित्र ग्रन्थका सब देशोंकी भाषाओंमें अनुवाद कर इसका प्रचार करें।

मदन मोहन मालवीय

श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि तथा विनियोग, न्यास एवं ध्यान

प्रातःकाल स्नानके पश्चात् अपना नित्य-नियम समाप्त करके पहले भगवत्सम्बन्धी स्तोत्रों एवं पदोंके द्वारा मङ्गलाचरण और वन्दना करे। इसके बाद आचमन और प्राणायाम करके—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ *

—इत्यादि मन्त्रोंसे शान्तिपाठ करे। इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीव्यासजी, शुकदेवजी तथा श्रीमद्भागवत-ग्रन्थकी षोडशोपचारसे पूजा करनी चाहिये। यहाँ श्रीमद्भागवत पुस्तकके षोडशोपचार पूजनकी मन्त्र-सहित विधि दी जा रही है; इसीके अनुसार श्रीकृष्ण आदिकी भी पूजा करनी चाहिये। निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर पूजनके लिये संकल्प करना चाहिये। संकल्पके समय दाहिने हाथकी अनामिका-अङ्गुलिमें कुशकी पवित्री पहने और हाथमें जल लिये रहे। संकल्पवाक्य इस प्रकार है—

ॐतत्सत्। ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः ओमद्यैतस्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते पुण्यस्थाने कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकयोगवारांशकलग्नमुहूर्तकरणान्वितायां शुभपुण्यतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नस्य अमुकशर्मणः (वर्मणः गुप्तस्य वा) मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य श्रीगोवर्धनधरणचरणारविन्दप्रसादात् सर्वसमृद्धिप्राप्त्यर्थं भगवदनुग्रहपूर्वकभगवदीयप्रेमोपलब्धये च श्रीभगवन्नामात्मकभगवत्स्वरूपश्रीभागवतस्य पाठेऽधिकारसिद्धयर्थं श्रीमद्भागवतस्य प्रतिष्ठां पूजनं चाहं करिष्ये।

* देवताओ! हमें अपने कानोंसे ऐसे ही वचन सुननेको मिलें, जो परिणाममें कल्याणकारी हों। हम यज्ञकर्ममें समर्थ होकर अपनी इन आँखोंसे सदा शुभ-ही-शुभ देखें—अशुभका कभी दर्शन न हो। हमारा शरीर और उसके अवयव स्थिर हों—पुष्ट हों और उनसे परमात्माकी स्तुति—भगवान्‌की सेवा करते हुए हम ऐसी आयुका उपभोग करें, ऐसा जीवन बितायें जो देवताओंके लिये हितकर हो, जिसका देवकार्यमें उपयोग हो सके।

इस प्रकार संकल्प करके—

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने
शंयोऽस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां
नमो दिवे बृहते सादनाय॥ †

—यह मन्त्र पढ़कर श्रीमद्भागवतकी सिंहासन या अन्य किसी आसनपर स्थापना करे। तत्पश्चात् पुरुषसूक्तके एक-एक मन्त्रद्वारा क्रमशः षोडश उपचार अर्पण करते हुए पूजन करे।

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। आवाहयामि।

—इस मन्त्रसे भगवान्‌के नामस्वरूप श्रीमद्भागवतको नमस्कार करके आवाहन करे।

† परमात्मन्! आप सबके मित्र—हितकारी होनेके कारण 'मित्र' नामसे पुकारे जाते हैं, सबसे वर—श्रेष्ठ होनेसे आप वरुण हैं, सबको ग्रहण करनेवाले होनेके कारण अग्नि हैं। हम आपको इन 'मित्र, वरुण एवं अग्नि' नामोंसे सम्बोधित करके प्रार्थना करते हैं कि यह सूक्त (आपके सुयशसे पूर्ण यह श्रीमद्भागवतरूप सुन्दर उक्ति) अत्यन्त प्रशस्त हो—सर्वोत्तम होनेके साथ ही इसकी ख्याति एवं प्रसार हो तथा यह सूक्त हमलोगोंके लिये ऐसा सुख, ऐसी शान्ति प्रदान करे, जिसमें दुःख या अशान्तिका मेल न हो, अर्थात् इससे नित्य सुख, नित्य शान्ति प्राप्त हो। हम चाहते हैं अविचल स्थिति, हम चाहते हैं शाश्वत प्रतिष्ठा; इसे इस सूक्तके द्वारा हम प्राप्त कर सकें। देवदेव! यह जो आपका अत्यन्त प्रकाशमान परम महान् समस्त लोकोंका आश्रयभूत 'सूर्य' नामक स्वरूप है, इसे हम सदा ही नमस्कार करते हैं।

१—सर्वान्तर्यामी परमात्मा इस समस्त ब्रह्माण्डकी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हैं और इससे दस अंगुल ऊपर भी हैं। अर्थात् ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए वे इससे परे भी हैं। उन परमात्माके मस्तक, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और चरण आदि कर्मेन्द्रियाँ हजारों हैं—असंख्य हैं।

ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। आसनं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे आसन समर्पण करे।

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। पाद्यं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे पैर पखारनेके लिये जल समर्पण करे।

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। अर्घ्यं समर्पयामि।

इस मन्त्रसे अर्घ्य निवेदन करे।

ॐ तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। आचमनीयं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे आचमनके लिये जल या गङ्गाजल अर्पण करे।

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः स्नानीयं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे स्नानके लिये जल अर्पण करे।

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। वस्त्रं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे वस्त्र समर्पण करे।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

२—यह जो कुछ इस समय वर्तमान है, सब परमात्मा-का ही स्वरूप है; भूत और भविष्य जगत् भी परमात्मा ही है। इतना ही नहीं, वह परमात्मा मुक्तिका स्वामी है; तथापि ये जो अन्नसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं, उन सबका भी शासक—सबको नियमके अंदर रखनेवाला वह परमात्मा ही है।

३—भूत, भविष्य और वर्तमान कालसे सम्बन्ध रखनेवाला जितना भी जगत् है—यह सब इस पुरुषकी महिमा है, इस परमात्माका विभूति-विस्तार है। उसका पारमार्थिक स्वरूप इतना ही नहीं है, वह पुरुष इस ब्रह्माण्डमय विराट् स्वरूपसे भी बहुत बड़ा है। यह सारा विश्व—ये तीनों लोक तो उसके एक पादमें हैं, उसकी एक चौथाईमें समाप्त हो जाते हैं। अभी उसके तीन पाद और शेष हैं; यह त्रिपाद-स्वरूप अमृत है—अविनाशी है और परम प्रकाशमय द्युलोक अर्थात् अपने स्वरूपमें ही स्थित है।

४—वह त्रिपाद पुरुष ऊपर उठा हुआ है अर्थात् वह परमात्मा अज्ञानके कार्यभूत इस संसारसे पृथक् तथा यहाँके गुण-दोषोंसे अछूता रहकर ऊँची स्थितिमें विराजमान है। उसका एक अंशमात्र मायाके सम्पर्कमें आकर यहाँ जगत्के रूपमें उत्पन्न हुआ, फिर वह मायावश जड-चेतन-मयी नाना प्रकारकी सृष्टिके रूपमें स्वयं ही फैलकर सब ओर व्याप्त हो गया।

५—उस आदिपुरुष परमात्मासे विराट्की उत्पत्ति हुई—यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। इस ब्रह्माण्डके ऊपर इसका अभिमानी एक पुरुष प्रकट हुआ। तात्पर्य यह कि परमात्माने अपनी मायासे विराट् ब्रह्माण्डकी रचना कर स्वयं ही उसमें जीवरूपसे प्रवेश किया। वही जीव ब्रह्माण्डका अभिमानी देवता (हिरण्यगर्भ) हुआ। इस प्रकार उत्पन्न होकर वह विराट् पुरुष पुनः देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदि अनेकों रूपोंमें प्रकट हुआ। इसके बाद उसने भूमिको उत्पन्न किया, फिर जीवोंके शरीरोंकी रचना की।

६—उस समय देवताओंने यज्ञ करना चाहा, परंतु यज्ञकी कोई सामग्री उपलब्ध न हुई; तब उन्होंने पुरुषके स्वरूपमें ही हविष्यकी भावना की। जब पुरुषरूप हविष्यसे ही देवताओंने यज्ञका विस्तार किया, उस समय उनके सङ्कल्पा-नुसार वसन्तऋतु घी हुई, ग्रीष्मऋतुने समिधाका काम दिया और शरद्ऋतुसे विशेष प्रकारके चरु-पुरोडाशादि हविष्यकी आवश्यकता पूर्ण हुई।

७—सबसे पहले उत्पन्न हुआ वह पुरुष ही उस समय यज्ञका साधन था, देवताओंने उसे सङ्कल्पद्वारा यूपमें बँधा हुआ पशु माना और उस मानसिक यज्ञमें उस सङ्कल्पित पशुका भावनाद्वारा ही प्रोक्षण आदि संस्कार भी किया। इस प्रकार संस्कार किये हुए उस पुरुषरूपी पशुके द्वारा देवताओं, साध्यों और ऋषियोंने उस मानसिक यज्ञको पूर्ण किया।

८—जिसमें सब कुछ हवन किया गया, उस पुरुषरूप यज्ञसे दही-घी आदि सामग्री सम्पन्न हुई। पुरुषने वनमें उत्पन्न होनेवाले हिरन आदि और गाँवोंमें होनेवाले गाय,

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। यज्ञोपवीतं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे यज्ञोपवीत अर्पण करे।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ ९॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। चन्दनं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे चन्दन चढ़ाये।

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥१०॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। पुष्पं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे फूल चढ़ाये।

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥११॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। धूपमाघ्रापयामि।

—इस मन्त्रसे धूप सुँघाये।

ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः दीपं दर्शयामि।

—इस मन्त्रसे घीका दीप जलाकर दिखाये और उसके बाद हाथ धो ले।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत॥१३॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। नैवेद्यं निवेदयामि।

—इस मन्त्रसे नैवेद्य अर्पण करे।

ॐ नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौःसमवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँ अकल्पयन्॥१४॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। एलालवङ्गपूगीफलकर्पूरसहितं ताम्बूलं समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे पानका बीड़ा अर्पण करे।

ॐसप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधःकृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥१५॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः। दक्षिणां समर्पयामि।

—इस मन्त्रसे दक्षिणा समर्पण करे।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे।
सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते॥१६॥

घोड़े आदि वायुदेवतासम्बन्धी प्रसिद्ध पशुओंको भी उत्पन्न किया।

९—जिसमें सब कुछ हवन किया गया है, उस यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद और सामवेद प्रकट हुए, उसीसे गायत्री आदि छन्दोंकी भी उत्पत्ति हुई तथा उसीसे यजुर्वेदका भी प्रादुर्भाव हुआ।

१०—उस यज्ञपुरुषसे ही घोड़े उत्पन्न हुए; इनके अतिरिक्त भी जो नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँत रखनेवाले खचर-गदहे आदि प्राणी हैं, ये भी उत्पन्न हुए। उसीसे गौएँ उत्पन्न हुईं और उसीसे भेड़ों तथा बकरोंकी उत्पत्ति हुई।

११—जब प्राणमय देवताओंने इस यज्ञपुरुष (प्रजापति) को प्रकट किया, उस समय इसके अवयवोंके रूपमें कितने विभाग किये? इस पुरुषका मुँह क्या था, दोनों बाँहें क्या थीं? दोनों जाँघें और दोनों पैर कौन थे?

१२—ब्राह्मण इसका मुख था, अर्थात् मुखसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई। दोनों भुजाएँ क्षत्रिय-जाति बनीं, अर्थात् उनसे क्षत्रियोंका प्राकट्य हुआ। इस पुरुषकी दोनों जंघाएँ वैश्य हुईं—जंघाओंसे वैश्य जातिकी उत्पत्ति हुई और दोनों पैरोंसे शूद्र जाति प्रकट हुई।

१३—इसके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोंसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई। मुखसे इन्द्र और अग्नि प्रकट हुए तथा प्राणसे वायुका प्रादुर्भाव हुआ।

१४—नाभिसे अन्तरिक्ष लोककी उत्पत्ति हुई, मस्तकसे स्वर्गलोक प्रकट हुआ, पैरोंसे पृथ्वी हुई और कानसे दिशाएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार उन्होंने समस्त लोकोंकी कल्पना की।

१५—प्रजापतिके प्राणरूपी देवताओंने जब मानसिक यज्ञका अनुष्ठान करते समय संकल्पद्वारा पुरुषरूपी पशुका बन्धन किया था, उस समय सात समुद्र इस यज्ञकी परिधि थे और इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी समिधा हुई। (गायत्री आदि ७, अतिजगती आदि ७ और कृति आदि ७—ये ही इक्कीस छन्द हैं।)

१६—धीर पुरुष समग्र रूपोंको परमात्माके ही स्वरूप विचारकर, उनके भिन्न-भिन्न नाम रखकर जिस एक तत्त्वका ही उच्चारण और अभिवन्दन करता रहता है, उसको

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः । नमस्करोमि ।

—इस मन्त्रसे नमस्कार करे ।

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार
शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः ।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥१७॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः । प्रदक्षिणां समर्पयामि ।

—इस मन्त्रसे प्रदक्षिणा करे ।

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१८॥

श्रीभगवन्नामात्मकस्वरूपिणे श्रीभागवताय नमः । मन्त्रपुष्पं समर्पयामि ।

—इस मन्त्रसे मन्त्रपाठपूर्वक पुष्पाञ्जलि अर्पण करे ।

प्रार्थना

वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं
लोके भक्तिप्रसिद्धं यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारे ।
यस्यासीद् रूपमेवं त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रं
शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः॥

जो इस जगत्में भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं, जिनका तत्त्व वेद और वेदान्तके द्वारा ही जानने योग्य है, जो अपार यादवरूपी समुद्रमें प्रकट हुए थे, मुर और नरकासुरको मारनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं सादर सप्रेम प्रणाम करता हूँ । जो इस संसारमें अपने स्वरूप तथा शास्त्रको प्रसन्नतापूर्वक प्रकट किया करते हैं तथा सचमुच ही जिनका स्वरूप इस त्रिभुवनको तारनेके लिये भक्तिके समान स्वतन्त्र नौकारूप है, वे भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंका कल्याण करें ।

नमः कृष्णपदाब्जाय भक्ताभीष्टप्रदायिने ।
आरक्तं रोचयेच्छश्वन्मामके हृदयाम्बुजे ॥

कुछ-कुछ लालिमा लिये हुए श्रीकृष्णका जो चरण-कमल मेरे हृदयकमलमें सदा दिव्य प्रकाश फैलाता रहता है और भक्तजनोंकी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण किया करता है, उसे मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ।

श्रीभागवतरूपं तत् पूजयेद् भक्तिपूर्वकम् ।
अर्चकायाखिलान् कामान् प्रयच्छति न संशयः ॥

श्रीमद्भागवत भगवान्का स्वरूप है, इसका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये । यह पूजन करनेवालेकी सारी कामनाएँ पूर्ण करता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ।

विनियोग

दाहिने हाथकी अनामिकामें कुशकी पवित्री पहन ले । फिर हाथमें जल लेकर नीचे लिखे वाक्यको पढ़कर भूमिपर गिरा दे—

ॐ अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः । बृहती छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । ब्रह्म बीजम् । भक्तिः शक्तिः । ज्ञानवैराग्ये कीलकम् । मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे विनियोगः ।

'इस श्रीमद्भागवतस्तोत्र-मन्त्रके देवर्षि नारदजी ऋषि हैं, बृहती छन्द है, परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र देवता हैं, ब्रह्म बीज है, भक्ति शक्ति है, ज्ञान और वैराग्य कीलक हैं । अपने ऊपर भगवान्की प्रसन्नता हो, उनकी कृपा बराबर बनी रहे—इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पाठ करनेमें इस भागवतका विनियोग (उपयोग) किया जाता है ।'

न्यास

विनियोगमें आये हुए ऋषि आदिका तथा प्रधान देवताके मन्त्राक्षरोंका अपने शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें जो

ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानते हैं—अविद्यारूपी अन्धकारसे परे आदित्यके समान स्वप्रकाश इस महान् पुरुषको मैं अपने 'आत्मा' रूपसे जानता हूँ ।

१७—ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिसका स्तवन किया था, इन्द्रने सब दिशा-विदिशाओंमें जिसे व्याप्त जाना था, उस परमात्माको जो इस प्रकार जानता है, वह इस जीवनमें ही अमृत (मुक्त) हो जाता है । मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है ।

१८—देवताओंने पूर्वोक्त मानसिक यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप पुरुष—प्रजापतिकी आराधना की । इस आराधनासे समस्त जगत्को धारण करनेवाले वे पृथ्वी आदि मुख्य भूत प्रकट हुए । इस यज्ञकी उपासना करनेवाले महात्मालोग उस स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं, जहाँ प्राचीन साध्यदेवता निवास करते हैं ।

स्थापन किया जाता है, उसे 'न्यास' कहते हैं। मन्त्रका एक-एक अक्षर चिन्मय होता है. उसे मूर्तिमान् देवताके रूपमें देखना चाहिये। इन अक्षरोंके स्थापनसे साधक स्वयं मन्त्रमय हो जाता है, उसके हृदयमें दिव्य चेतनाका प्रकाश फैलता है, मन्त्रके देवता उसके स्वरूप होकर उसकी सर्वथा रक्षा करते हैं। इस प्रकार वह 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस श्रुतिके अनुसार स्वयं देवस्वरूप होकर देवताओंका पूजन करता है। ऋषि आदिका न्यास सिर आदि कतिपय अङ्गोंमें होता है। मन्त्रपदों अथवा अक्षरोंका न्यास प्रायः हाथकी अँगुलियों और हृदयादि अङ्गोंमें होता है। इन्हें क्रमशः 'करन्यास' और 'अङ्गन्यास' कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं मन्त्रोंका न्यास सर्वाङ्गमें होता है। न्याससे बाहर-भीतरकी शुद्धि, दिव्य बलकी प्राप्ति और साधनाकी निर्विघ्न पूर्ति होती है। यहाँ क्रमशः ऋष्यादिन्यास, करन्यास और अङ्गन्यास दिये जा रहे हैं—

ऋष्यादिन्यास

नारदर्षये नमः शिरसि ॥ १ ॥ बृहतीच्छन्दसे नमो मुखे ॥२॥ श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमो हृदये ॥ ३ ॥ ब्रह्मबीजाय नमो गुह्ये ॥ ४ ॥ भक्तिशक्तये नमः पादयोः ॥ ५ ॥ ज्ञानवैराग्यकीलकाभ्यां नमो नाभौ ॥ ६ ॥ विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ॥ ७ ॥

ऊपर न्यासके सात वाक्य उद्धृत किये गये हैं। इनमें पहला वाक्य पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे सिरका स्पर्श करे, दूसरा वाक्य पढ़कर मुखका, तीसरे वाक्यसे हृदयका, चौथेसे गुदाका, पाँचवेंसें दोनों पैरोंका, छठेसे नासिका और सातवें वाक्यसे सम्पूर्ण अङ्गोंका स्पर्श करना चाहिये।

करन्यास

इसमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर-मन्त्रके एक-एक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंमें स्थापित करना है। मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं—

'*ॐ ॐ ॐ नमो दक्षिणतर्जन्याम्*' ऐसा उच्चारण करके दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी *तर्जनीका* स्पर्श करे। *ॐ नं ॐ नमो दक्षिणमध्यमायाम्*—यह उच्चारण कर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी मध्यमा अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ मों ॐ नमो दक्षिणानामिकायाम्*—यह पढ़कर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी अनामिका अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ भं ॐ नमो दक्षिणकनिष्ठिकायाम्*—इससे दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने हाथकी कनिष्ठिका अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ गं ॐ नमो वामकनिष्ठिकायाम्*—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी कनिष्ठिका अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ वं ॐ नमो वामानामिकायाम्*—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी अनामिका अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ तें ॐ नमो वाममध्यमायाम्*—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी मध्यमा अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ वां ॐ नमो वामतर्जन्याम्*—इससे बायें हाथके अँगूठेसे बायें हाथकी तर्जनी अङ्गुलिका स्पर्श करे। *ॐ सुं ॐ नमः ॐ दें ॐ नमो दक्षिणाङ्गुष्ठपर्वणोः*—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी तर्जनी अङ्गुलिसे दाहिने हाथके अँगूठेकी दोनों गाँठोंका स्पर्श करे। *ॐ वां ॐ नमः ॐ यं ॐ नमो वामाङ्गुष्ठपर्वणोः*—इसका उच्चारण करके बायें हाथकी तर्जनी अङ्गुलिसे बायें हाथके अँगूठेकी दोनों गाँठोंका स्पर्श करे।

अङ्गन्यास

यहाँ द्वादशाक्षर मन्त्रके पदोंका हृदयादि अङ्गोंमें न्यास करना है—

ॐ नमो नमो हृदयाय नमः—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे। *ॐ भगवते नमः शिरसे स्वाहा*—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथकी सभी अङ्गुलियोंसे सिरका स्पर्श करे। *ॐ वासुदेवाय नमः शिखायै वषट्*—इसके द्वारा दाहिने हाथसे शिखाका स्पर्श करे। *ॐ नमो नमः कवचाय हुम्*—इसको पढ़कर दायें हाथकी अङ्गुलियोंसे बायें कंधेका और बायें हाथकी अङ्गुलियोंसे दायें कंधेका स्पर्श करे। *ॐ भगवते नमः नेत्रत्रयाय वौषट्*—इसको पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रोंका तथा ललाटके मध्यभागमें गुप्तरूपसे स्थित तृतीय नेत्र (ज्ञानचक्षु) का स्पर्श करे। *ॐ वासुदेवाय नमः*

अस्त्राय फट्—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे उलटा अर्थात् बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये।

अङ्गन्यासमें आये हुए 'स्वाहा', 'वषट्', 'हुम्', 'वौषट्' और 'फट्'—ये पाँच शब्द देवताओंके उद्देश्यसे किये जानेवाले हवनसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। यहाँ इनका आत्मशुद्धिके लिये ही उच्चारण किया जाता है।

ध्यान

इस प्रकार न्यास करके बाहर-भीतरसे शुद्ध हो मनको सब ओरसे हटाकर एकाग्र भावसे भगवान्‌का ध्यान करे—

किरीटकेयूरमहार्हनिष्कै-
र्मण्युत्तमालङ्कृतसर्वगात्रम्।
पीताम्बरं काञ्चनचित्रनद्ध-
मालाधरं केशवमभ्युपैमि॥

जिनके मस्तकपर किरीट, बाहुओंमें भुजबन्ध और गलेमें बहुमूल्य हार शोभा पा रहे हैं, मणियोंके सुन्दर गहनोंसे सारे अङ्ग सुशोभित हो रहे हैं और शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है—सोनेके तारद्वारा विचित्र रीतिसे बँधी हुई वनमाला धारण किये, उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका मैं मन-ही मन चिन्तन करता हूँ।

श्रीमद्भागवत-सप्ताहकी आवश्यक विधि

पुराणोंमें श्रीमद्भागवतके सप्ताहपारायण तथा श्रवणकी बड़ी भारी महिमा बतलायी गयी है, अतः यहाँ श्रीमद्भागवत-प्रेमियोंके लिये संक्षेपसे सप्ताह-यज्ञकी आवश्यक विधिका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मुहूर्तविचार—पहले विद्वान् ज्योतिषीको बुलाकर उनके द्वारा कथा-प्रारम्भके लिये शुभ मुहूर्तका विचार करा लेना चाहिये। नक्षत्रोंमें हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, पुनर्वसु, पुष्य, रेवती, अश्विनी, मृगशिरा, श्रवण, धनिष्ठा तथा पूर्वाभाद्रपदा उत्तम हैं। तिथियोंमें द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी तथा द्वादशीको इस कार्यके लिये श्रेष्ठ बतलाया गया है। सोम, बुध, गुरु एवं शुक्र—ये वार सर्वोत्तम हैं। तिथि, वार और नक्षत्रका विचार करनेके साथ ही यह भी देख लेना चाहिये कि शुक्र या गुरु अस्त, बाल अथवा वृद्ध तो नहीं हैं। कथारम्भका मुहूर्त भद्रादि दोषोंसे रहित होना चाहिये। उस दिन पृथ्वी जागती हो। वक्ता और श्रोताका चन्द्रबल ठीक हो। लग्नमें शुभ ग्रहोंका योग अथवा उनकी दृष्टि हो। शुभ ग्रहोंकी स्थिति केन्द्र या त्रिकोणमें हो तो उत्तम है। आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और मार्गशीर्ष (अगहन)—ये मास कथा आरम्भ करनेके लिये श्रेष्ठ बतलाये गये हैं। किन्हीं विद्वानोंके मतसे चैत्र और पौषको छोड़कर सभी मास ग्राह्य हैं।

कथाके लिये स्थान—सप्ताहकथाके लिये उत्तम एवं पवित्र स्थानकी व्यवस्था हो। जहाँ अधिक लोग सुविधासे बैठ सकें, ऐसे स्थानमें कथाका आयोजन उत्तम है। नदीका तट, उपवन (बगीचा), देवमन्दिर अथवा अपना निवास-स्थान—ये सभी कथाके लिये उपयोगी स्थल हैं, स्थान लिपा-पुता स्वच्छ हो। नीचेकी भूमि गोबर और पीली मिट्टीसे लीपी गयी हो। अथवा पक्का आँगन हो तो उसे धो दिया गया हो। उसपर पवित्र एवं सुन्दर आसन बिछे हों। ऊपरसे चँदोवा तना हो। चँदोवा आदि किसी भी कार्यमें नीले रंगके वस्त्रका उपयोग न किया जाय। यजमानके हाथसे सोलह हाथ लंबा और उतना ही चौड़ा कथा-मण्डप बने। उसे केलेके खंभोंसे सजाया जाय। हरे बाँसके खंभे लगाये जायँ। नूतन पल्लवोंकी वंदनवारों, पुष्पमालाओं और ध्वजा-पताकाओंसे मण्डपको भलीभाँति सुसजित किया जाय। उसपर ऊपरसे सुन्दर चँदोवा तान दिया जाय। उस मण्डपके दक्षिण-पश्चिम भागमें कथावाचक और मुख्य श्रोताके बैठनेके लिये स्थान हो। शेष भागमें देवताओं और कलश आदिका स्थापन किया जाय। कथावाचकके बैठनेके लिये ऊँची चौकी रक्खी जाय। उसपर शुद्ध आसन (नया गद्दा) बिछाया जाय। पीछे तथा पार्श्वभागमें मसनद एवं तकिये रख दिये जायँ। श्रीमद्भागवतको स्थापित करनेके लिये एक

स्वर्णमण्डित* छोटी-सी चौकी या आधारपीठ बनवाकर उसपर पवित्र वस्त्र बिछा दिया जाय। उसपर आगे बतायी जानेवाली विधिके अनुसार अष्टदल कमल बनाकर पूजन करके श्रीमद्भागवतकी पुस्तक स्थापित की जाय। कथावाचक विद्वान्, सर्वशास्त्रकुशल, दृष्टान्त देकर श्रोताओंको समझानेमें समर्थ, सदाचारी एवं सद्गुणसम्पन्न ब्राह्मण हों। उनमें सुशीलता, कुलीनता, गम्भीरता तथा श्रीकृष्ण-भक्तिका होना भी परमावश्यक है। वक्ताको असूया तथा परनिन्दा आदि दोषसे सर्वथा रहित निःस्पृह होना चाहिये। श्रीमद्भागवतकी पुस्तकको रेशमी वस्त्रसे आच्छादित करके छत्र-चँवरके साथ डोलीमें अथवा अपने मस्तकपर रखकर-कथामण्डपमें लाना और स्थापित करना चाहिये। उस समय गीत-वाद्य आदिके द्वारा उत्सव मनाना चाहिये। कथामण्डपसे अनुपयोगी वस्तुएँ हटा देनी चाहिये। इधर-उधर दीवालोंमें भगवान् और उनकी लीलाओंके स्मारक चित्र लगा देने चाहिये वक्ताका मुँह यदि उत्तरकी ओर हो तो मुख्य श्रोताका मुख पूर्वकी ओर होना चाहिये। यदि वक्ता पूर्वाभिमुख हो तो श्रोताको उत्तराभिमुख होना चाहिये।

सप्ताह-कथा एक महान् यज्ञ है। इसे सुसम्पन्न करनेके लिये अन्य सुहृद् सम्बन्धियोंको भी सहायक बना लेना चाहिये। अर्थकी भी समुचित व्यवस्था पहलेसे ही कर लेना उत्तम है। पाँच-सात दिन पहलेसे ही दूर-दूरतक कथाका समाचार भेज देना चाहिये और सबसे यह अनुरोध करना चाहिये कि वे स्वयं उपस्थित होकर सप्ताहकथा श्रवण करें। अधिक समय न दे सकें तो भी एक दिन अवश्य पधारकर कथा-श्रवणका लाभ लें। दूरसे आये हुए अतिथियोंके ठहरने और भोजनादिकी व्यवस्था भी करनी चाहिये। वक्ताको व्रत ग्रहण करनेके लिये एक दिन पहले ही क्षौर करा लेना चाहिये। सप्ताह-प्रारम्भ होनेके एक दिन पूर्व ही देवस्थापन, पूजनादि कर लेना उत्तम है। वक्ता प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व ही स्नानादि करके संक्षेपसे सन्ध्या-वन्दनादिका नियम पूरा कर ले और कथामें कोई विघ्न न आये, इसके लिये नित्यप्रति गणेशजीका पूजन कर लिया करें।

सप्ताहके प्रथम दिन यजमान स्नान आदिसे शुद्ध हो नित्यकर्म करके आभ्युदयिक श्राद्ध करे। आभ्युदयिक श्राद्ध और पहले भी किया जा सकता है। यज्ञमें इक्कीस दिन पहले भी आभ्युदयिक श्राद्ध करनेका विधान है। उसके बाद गणेश, ब्रह्मा आदि देवताओंसहित नवग्रह, षोडश मातृका, सप्त चिरजीवी (अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य यथा परशुरामजी) एवं कलशकी स्थापना एवं पूजा करे। एक चौकीपर सर्वतोभद्र-मण्डल बनाकर उसके मध्यभागमें ताम्रकलश स्थापित करे। कलशके ऊपर भगवान् लक्ष्मी-नारायण-की स्वर्णमयी प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। कलशके ही बगलमें भगवान् शालग्रामका सिंहासन विराजमान कर देना चाहिये। सर्वतोभद्र-मण्डलमें स्थित समस्त देवताओंका पूजन करनेके पश्चात् भगवान् नर-नारायण, गुरु, वायु, सरस्वती, शेष, सनकादि कुमार, सांख्यायन, पराशर, बृहस्पति, मैत्रेय तथा उद्धवका भी आवाहन, स्थापन एवं पूजन करना चाहिये। फिर त्रय्यारुणि आदि छः पौराणिकोंका भी स्थापन-पूजन करके एक अलग पीठपर उसे सुन्दर वस्त्रसे आवृत करके, श्री-नारदजीकी स्थापना एवं अर्चना करनी चाहिये। तदनन्तर आधारपीठ, पुस्तक एवं व्यास (वक्ता आचार्य) का भी यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करना चाहिये। कथा निर्विघ्न पूर्ण हो—इसके लिये गणेश-मन्त्र, द्वादशाक्षर-मन्त्र तथा गायत्री-मन्त्रका जप और विष्णुसहस्रनाम एवं गीताका पाठ करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार सात, पाँच या तीन ब्राह्मणोंका वरण करे। श्रीमद्भागवतका भी एक पाठ अलग ब्राह्मणद्वारा कराये। देवताओंकी स्थापना और पूजाके पहले स्वस्तिवाचनपूर्वक हाथमें पवित्री, अक्षत, फूल, जल और द्रव्य लेकर एक महासङ्कल्प कर लेना चाहिये। सङ्कल्प इस प्रकार है—

ॐ तत्सदद्य श्रीमहाभगवतो विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्ते विष्णुप्रजापतिक्षेत्रे वैवस्वतमनुभोग्यैकसप्ततियुगचतुष्टयान्तर्गताष्टाविंशतितमकलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे अमुकसंवत्सरे अमुकायने

---

* इस चौकीपर तीन तोला सोना मढ़ा होना चाहिये। इतनी शक्ति न हो तो अपनी शक्तिके अनुसार ही यह स्वर्ण-सिंहासन बनवाये; परंतु शक्ति होते हुए लोभवश संकोच न करे।

अमुकतौ अमुकराशिस्थिते भगवति सवितरि अमुकामुकराशिस्थितेषु चान्येषु ग्रहेषु महामाङ्गल्यप्रदे मासानामुत्तमे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकवासरे अमुकनक्षत्रे अमुकमुहूर्तकरणादियुतायाम् अमुकतिथौ अमुकगोत्रः अमुकप्रवरः अमुकशर्मा (वर्मा, गुप्तः) अहं पूर्वातीतानेकजन्मसंचिताखिलदुष्कृतनिवृत्तिपुरस्सरैहिकाध्यात्मिकादिविविधतापपापापनोदार्थं दशाश्वमेधयज्ञजन्यसम्यगिष्टराजसूययज्ञसहस्रपुण्यसमपुण्यचन्द्रसूर्यग्रहणकालिकबहुब्राह्मणसम्प्रदानकसर्वसस्यपूर्णसर्वरत्नोपशोभितमहीदानपुण्यप्राप्तये श्रीगोविन्दचरणारविन्दयुगले निरन्तरमुत्तरोत्तरमेधमाननिस्सीमप्रेमोपलब्धये तदीयपरमानन्दमयगोलोकधाम्नि नित्यनिवासपूर्वकतत्परिचर्यारसास्वादनसौभाग्यसिद्धये च अमुकगोत्रामुकप्रवरामुकशर्मब्राह्मणवदनारविन्दाच्छ्रीकृष्णवाङ्मयमूर्तीभूतं श्रीमद्भागवतमष्टादशपुराणप्रकृतिभूतमनेकश्रोतृश्रवणपूर्वकममुकदिनादारभ्यामुकदिनपर्यन्तं सप्ताहयज्ञरूपतया श्रोष्यामि प्राप्स्यमानेऽस्मिन् सप्ताहयज्ञे विघ्नपूगनिवारणपूर्वकं यज्ञरक्षाकरणार्थं गणपतिब्रह्मादिसहितनवग्रहषोडशमातृकासप्तचिरजीविपुरुषसर्वतोभद्रमण्डलस्थदेवकलशाद्यर्चनपुरस्सरं श्रीलक्ष्मीनारायणप्रतिमाशालग्रामनरनारायणगुरुवायुसरस्वतीशेषसनत्कुमारसांख्यायनपराशरबृहस्पतिमैत्रेयोद्धवत्र्यारुणिकश्यपरामशिष्याकृतव्रणवैशम्पायनहारीतनारदपूजनमाधारपीठपुस्तकव्यासपूजनञ्च यथालब्धोपचारैः करिष्ये ।*

सङ्कल्पके पश्चात् पूर्वोक्त देवताओंके चित्रपटमें अथवा अक्षत-पुञ्जपर उनका आवाहन-स्थापन करके वैदिक पूजा-पद्धतिके अनुसार उन सबकी पूजा करनी चाहिये । सप्तचिरजीवी पुरुषों तथा सनत्कुमार आदिका पूजन नाममन्त्रद्वारा करना चाहिये ।

कथामण्डपमें चारों दिशाओं या कोणोंमें एक-एक कलश और मध्यभागमें एक कलश—इस प्रकार पाँच कलश स्थापित करने चाहिये । चारों ओरके चार कलशोंमेंसे पूर्वके कलशपर ऋग्वेदकी, दक्षिण कलशपर यजुर्वेदकी, पश्चिम कलशपर सामवेदकी और उत्तर कलशपर अथर्ववेदकी स्थापना एवं पूजा करनी चाहिये । कोई-कोई मध्यमें सर्वतोभद्रमण्डलके मध्यभागमें एक ही ताम्र-कलश स्थापित करके उसीके चारों दिशाओंमें सर्वतोभद्रमण्डलकी चौकीके चारों ओर चारों वेदोंकी स्थापनाका विधान करते हैं । इसी कलशके ऊपर भगवान् लक्ष्मीनारायणकी सुवर्णमयी प्रतिमा स्थापित करे और षोडशोपचार-विधिसे उसकी पूजा करे । देवपूजाका क्रम प्रारम्भसे इस प्रकार रखना चाहिये—

पहले रक्षादीप प्रज्वलित करे । एक पात्रमें घी भरकर रूईकी फूलबत्ती जलाये और उसे सुरक्षित स्थानपर अक्षतके ऊपर स्थापित कर दे । वह वायु आदिके झोंकेसे बुझ न जाय, इसकी सावधानीके साथ व्यवस्था करे । फिर स्वस्तिवाचनपूर्वक मङ्गलपाठ एवं सर्वदेवनमस्कार करके पूर्वोक्त महासङ्कल्प पढ़े । उसके बाद एक पात्रमें चावल भरकर उसपर मोलीमें लपेटी हुई एक सुपारी रख दे और उसीमें गणेशजीका आवाहन करे—'ॐ भूर्भुवः स्वः गणपते इहागच्छ इह तिष्ठ मम पूजां गृहाण ।' इस प्रकार आवाहन करके 'गणानां त्वा०' इत्यादि मन्त्रोंको पढ़े । फिर 'गजाननं भूत०' इत्यादि श्लोकोंको पढ़ते हुए तदनुरूप ध्यान करे । 'ॐ मनो जूतिः' इत्यादि मन्त्रसे प्रतिष्ठा करके विभिन्न उपचार-समर्पणसम्बन्धी मन्त्र पढ़ते हुए अथवा 'श्रीगणपतये नमः' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए गणेशजीको क्रमशः पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, पुनराचमनीय, पञ्चामृतस्नान, शुद्धोदकस्नान, वस्त्र, रक्षासूत्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, रोली, सिन्दूर, अबीर-गुलाल, अक्षत,

---

* संतानकी इच्छासे प्रयोग करना हो तो सङ्कल्पके उद्देश्यमें इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये । 'अतीतानन्तजन्मसंपादितदुष्कृतपरिपाकवशप्राप्तजन्माङ्गक्रूरग्रहसूचितपत्नीवन्ध्यात्वकाकवन्ध्यात्वमृतवत्सात्वस्रवद्गर्भात्वादिरूपसन्ततिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तये सद्गुणसम्पन्नचिरञ्जीविस्वस्थसुन्दरसुपुत्रप्राप्तये च········ ।

यदि किसी मृत व्यक्तिकी सद्गतिके उद्देश्यसे भागवत-सप्ताह करना हो, तो सङ्कल्पके उद्देश्यमें इस प्रकार योजना कर ले—'स्वीयानन्तदुष्कृतपरिपाकवशान्नानाविधदुःखक्षेत्रयोनिनाम् पितॄणाम् अमुकामुकशर्मणाम् (········योनेः पितुः अमुकशर्मणः अन्यस्य वा कस्यचित्) प्रेतत्वनिवृत्तिपूर्वकमुत्तमवैकुण्ठधामोपलब्धये·····।

इसी प्रकार आवश्यकताके अनुसार अन्यान्य उद्देश्यकी भी योजना कर लेनी चाहिये ।

फूल, माला, दूर्वादल, आभूषण, सुगन्ध (इत्रका फाहा), धूप, दीप, नेवेद्य (मिष्टान्न एवं गुड़, मेवा आदि) तथा ऋतुफल अर्पण करे। गङ्गाजलसे आचमन कराकर मुखशुद्धिके लिये सुपारी, लवंग, इलायची और कर्पूर-सहित ताम्बूल अर्पण करे। अन्तमें दक्षिणा-द्रव्य एवं विशेषार्घ्य, प्रदक्षिणा एवं साष्टाङ्ग प्रणाम निवेदन करके प्रार्थना करे।

ॐ लम्बोदरं परमसुन्दरमेकदन्तं
रक्ताम्बरं त्रिनयनं परमं पवित्रम्।
उद्यद्दिवाकरकरोज्ज्वलकायकान्तं
विघ्नेश्वरं सकलविघ्नहरं नमामि॥
त्वां देव विघ्नदलनेति च सुन्दरेति
भक्तप्रियेति सुखदेति फलप्रदेति।
विद्याप्रदेत्यघहरेति च ये स्तुवन्ति
तेभ्यो गणेश वरदो भव नित्यमेव॥

—'अनया पूजया गणपतिः प्रीयतां न मम।' यों कहकर गणेशजीको पुष्पाञ्जलि दे।

इसके बाद 'ॐ भूर्भुवः स्वः भो ब्रह्मविष्णु-शिवसहितसूर्यादिनवग्रहा इहागच्छतेह तिष्ठत मम पूजां गृह्णीत' इस प्रकार या वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मादिसहित नवग्रहोंका आवाहन करे। फिर पूर्ववत् उपचार-मन्त्रोंसे अथवा ॐ ब्रह्मणे नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ शिवाय नमः, ॐ सूर्याय नमः, ॐ चन्द्रमसे नमः, ॐ भौमाय नमः, ॐ बुधाय नमः, ॐ बृहस्पतये नमः, ॐ भार्गवाय नमः, ॐ शनैश्चराय नमः, ॐ राहवे नमः, ॐ केतवे नमः—इन नाममन्त्रोंसे पाद्य, अर्घ्य आदि सब उपचार समर्पण करके निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़कर प्रार्थना करे—

ॐ ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
सर्वे ग्रहाः शान्तिकरा भवन्तु॥

'अनया पूजया ब्रह्मविष्णुशिवसहितसूर्यादिनवग्रहाः प्रीयन्तां न मम।' यों कहकर पुष्पाञ्जलि चढ़ाये।

तत्पश्चात् 'ॐ भूर्भुवः स्वः भो गौर्यादिषोडशमातर इहागच्छत मम पूजां गृह्णीत' इस प्रकार आवाहन करके नाम-मन्त्रोंद्वारा पाद्य-अर्घ्य आदि निवेदन करे— १ ॐ गौर्यै नमः। २ ॐ पद्मायै नमः। ३ ॐ शच्यै नमः। ४ ॐ मेधायै नमः। ५ ॐ सावित्र्यै नमः। ६ ॐ विजयायै नमः। ७ ॐ जयायै नमः। ८ ॐ देवसेनायै नमः। ९ ॐ स्वधायै नमः। १० ॐ स्वाहायै नमः। ११ ॐ मातृभ्यो नमः। १२ ॐ लोकमातृभ्यो नमः। १३ ॐ हृष्ट्यै नमः। १४ ॐ पुष्ट्यै नमः। १५ ॐ तुष्ट्यै नमः। १६ ॐ आत्मकुलदेवतायै नमः॥ पूजनके पश्चात् प्रार्थना करे—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥
हृष्टिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनः कुलदेवता।
इत्येता मातरः सर्वा वृद्धिं कुर्वन्तु मे सदा॥

—'अनया पूजया गौर्यादिषोडशमातरः प्रीयन्तां न मम।' इस प्रकार समर्पणपूर्वक पुष्पाञ्जलि निवेदन करे।

तदनन्तर 'भो अश्वत्थामादिसप्तचिरजीविन इहागत्य मम पूजां गृह्णीत' इस प्रकार आवाहन करके पूर्ववत् नाम-मन्त्रसे पूजा करे—

१ ॐ अश्वत्थाम्ने नमः। २ ॐ बलये नमः। ३ ॐ व्यासाय नमः। ४ ॐ हनुमते नमः। ५ ॐ विभीषणाय नमः। ६ ॐ कृपाय नमः। ७ ॐ परशुरामाय नमः॥

पूजाके पश्चात् हाथमें फूल लेकर निम्नाङ्कित रूपसे प्रार्थना करे—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
यजमानगृहे नित्यं सुखदाः सिद्धिदाः सदा॥

—'अनया पूजया अश्वत्थामादिसप्तचिरजीविनः प्रीयन्तां न मम।' यह कहकर फूल चढ़ा दे।

इसके अनन्तर सर्वतोभद्र-मण्डलस्थ देवताओंका आवाहन-पूजन (देवपूजापद्धतियोंके अनुसार) करके मध्यमें ताम्र-कलश स्थापित करे। उसकी संक्षिप्त विधि यह है—'ॐ भूरसि०' इत्यादि मन्त्रसे भूमिकी प्रार्थना करके हाथसे (कलशके नीचेकी) भूमिका स्पर्श करे। उस समय 'ॐ मही द्यौः पृथ्वी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पितृतान्नो वरीमभिः।' इस मन्त्रको पढ़ना चाहिये। उसी भूमिपर कुङ्कुम आदिसे अष्टदल कमल बनाकर उसके ऊपर 'ॐ धान्यमसि०' इत्यादि मन्त्रसे सप्तधान्य स्थापित करे। फिर उस सप्तधान्यपर कलश स्थापित करे; उस समय 'ॐ आजिघ्र कलशं' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। इसके बाद 'ॐ

वरुणस्योत्तम्भनमसि' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए कलशको शुद्ध जलसे भर दे। तत्पश्चात् 'ॐ स्थिरो भव' इत्यादि मन्त्र पढ़कर कलशको ऐसा सुस्थिर कर दे, जिससे वह हिलने-डुलने या गिरने लायक न रह जाय। फिर उस कलशके पूर्व भागमें 'ॐ अग्निमीळे०' इत्यादि मन्त्रसे ऋग्वेदका, दक्षिण भागमें 'ॐ इषे त्वोर्जेत्वा' इत्यादि मन्त्रसे यजुर्वेदका, पश्चिम भागमें 'ॐ अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि मन्त्रसे सामवेदका तथा 'ॐ शन्नो देवी' इत्यादि मन्त्रसे उत्तर भागमें अथर्ववेदका स्थापन करे। पाँच कलश हों तो पृथक्-पृथक् कलशोंपर वेदोंकी स्थापना करनी चाहिये। इसके अनन्तर आम, बड़, पीपल, पाकर और गूलरके पल्लवोंको कलशमें डाले और 'ॐ अश्वत्थे' इत्यादि मन्त्रका पाठ करे। फिर 'ॐ काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती' इत्यादि मन्त्रसे कलशमें दूर्वादल छोड़े, 'ॐ पवित्रे स्थो' इत्यादि मन्त्रसे कुशा, 'ॐ याः फलिनी' इत्यादि मन्त्रसे पूगीफल, 'ॐ हिरण्यगर्भः' इत्यादि मन्त्रसे सोनेकी टिकड़ी, 'ॐ परिवाजपतिः'से पञ्चरत्न, 'ॐ या ओषधीः' इत्यादिसे सर्वौषधी, 'ॐ गन्धद्वारां' इत्यादिसे गन्ध और 'ॐ अक्षन्नमीमदन्त' इत्यादिसे अक्षतको कलशमें छोड़े। तदनन्तर 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' इत्यादिसे फूल छोड़े। 'ॐ धूरसि' इत्यादिसे धूपकी आहुति अग्निमें छोड़े। 'ॐ अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि मन्त्रसे अलग दीप जलाकर रख दे। उसके बाद कलशमें तीर्थोदक डाले और 'ॐ पञ्चनद्यः' इत्यादि मन्त्रको पढ़े। फिर 'ॐ उपह्वरे' इत्यादि मन्त्रसे नदी-संगमका जल डाले। तत्पश्चात् 'ॐ समुद्राय त्वा' इत्यादि मन्त्रसे समुद्रका जल कलशमें डाले। फिर 'ॐ स्योना पृथिवि' इत्यादिसे सप्तमृत्तिका डालकर 'ॐ वसोः पवित्रमसि' इत्यादि मन्त्रको पढ़ते हुए लाल वस्त्रसे कलशको आच्छादित करे। तदनन्तर 'ॐ पूर्णा दर्वि' इत्यादि मन्त्रसे एक पूर्णपात्र (चावलसे भरा हुआ काँसी या ताँबेका पात्र) कलशके ऊपर रक्खे। इसके बाद 'ॐ श्रीश्च ते' इत्यादि मन्त्रसे उस पूर्णपात्रपर लाल कपड़ेमें लपेटा हुआ श्रीफल (गरीका गोला या नारियल) रक्खे। फिर हाथमें अक्षत ले 'ॐ मनो जूतिः' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए कलशपर अक्षत छोड़े और इस प्रकार कलशकी प्रतिष्ठा सम्पन्न करे। तदनन्तर 'सर्वे समुद्राः सरितः' इत्यादि श्लोकोंका पाठ करते हुए कलशमें तीर्थोंका आवाहन करे। फिर गन्ध आदि उपचारोंसे तीर्थोंका पूजन करके कलशकी प्रार्थना करे—

देवदानवसंवादे मथ्यमाने जलार्णवे।
उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ विधृतो विष्णुना स्वयम्॥
त्वत्तोये सर्वतीर्थानि देवाः सर्वे त्वयि स्थिताः।
त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥
शिवः स्वयं त्वमेवासि विष्णुस्त्वं च प्रजापतिः।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवाः सपैतृकाः॥
त्वयि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि यतः कामफलप्रदाः।
त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव॥
सान्निध्यं कुरु मे देव प्रसन्नो भव सर्वदा।
ब्राह्मणैर्निर्मितस्त्वं हि मन्त्रैरेवामृतोद्भवैः॥
प्रार्थयामि च कुम्भ त्वां वाञ्छितार्थं ददस्व मे।

पुरा हि सृष्टश्च पितामहेन
महोत्सवानां प्रथमो वरिष्ठः।
दूर्वाग्रसाश्वत्थसुपल्लवैर्युक्
करोतु शान्तिं कलशः सुवासाः॥

इस प्रार्थनाके अनन्तर कलशमें 'गणानां त्वा' इत्यादिसे गणेशका तथा 'तत्त्वायामि' इत्यादि मन्त्रसे वरुण देवताका आवाहन करके इनका षोडशोपचारसे पूजन करे। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा, प्रदक्षिणा और पुष्पाञ्जलि—ये ही षोडश उपचार कहे गये हैं। पूजनके पश्चात् 'अनया पूजया वरुणाद्यावाहितदेवताः प्रीयन्ताम्' कहकर फूल छोड़ दे।

तदनन्तर कलशके ऊपर सुवर्णमयी लक्ष्मीनारायण-प्रतिमाको संस्कार करके स्थापित करे। पुरुषसूक्तके षोडश मन्त्रोंसे षोडश उपचार चढ़ाकर पूजन करे। साथ ही शालग्रामजीकी भी पूजा करे। (षोडशोपचार-पूजनविधि अन्यत्र इसीमें 'श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि' शीर्षक लेखमें दी गयी है) पूजाके पश्चात् इस प्रकार भगवान्‌से प्रार्थना करे—

ब्रह्मसत्रं करिष्यामि तवानुग्रहतो विभो।
तन्निर्विघ्नं भवेदेव रमानाथ क्षमस्व मे॥

—'अनया पूजया लक्ष्मीसहितो भगवान्नारायणः प्रीयतां न मम' यों कहकर पुष्पाञ्जलि चढ़ाये। ऐसा ही सर्वत्र करे।

इसके बाद 'नरनारायणाभ्यां नमः' इस मन्त्रसे भगवान् नर-नारायणका आवाहन और पूजन करके इस प्रकार प्रार्थना करे—

यो मायया विरचितं निजमात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥
सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥

—'अनया पूजया भगवन्तौ नरनारायणौ प्रीयेतां न मम।'

तत्पश्चात् वक्ता और श्रोताओंके सब विकारोंको दूर करनेके लिये वायुदेवताका आवाहन एवं पूजन करे—'ॐ वायवे सर्वकल्याणकर्त्रे नमः।' इस मन्त्रसे पाद्य आदि निवेदन करके निम्नाङ्कित रूपसे प्रार्थना करे—

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम्॥

—'अनया पूजया सर्वकल्याणकर्ता वायुः प्रीयतां न मम।'

वायुकी पूजाके पश्चात् गुरुका 'ॐ गुरवे नमः' इस मन्त्रसे पूजन करके प्रार्थना करे—

ब्रह्मस्थानसरोजमध्यविलसच्छीतांशुपीठस्थितं
स्फूर्जत्सूर्यरुचिं वराभयकरं कर्पूरकुन्दोज्ज्वलम्।
श्वेतस्रग्वसनानुलेपनयुतं विद्युद्रुचा कान्तया
संश्लिष्टार्धतनुं प्रसन्नवदनं वन्दे गुरुं सादरम्॥

—'अनया पूजया गुरुदेवः प्रीयतां न मम।'

तदनन्तर श्वेतपुष्प आदिसे 'सरस्वत्यै नमः' इस मन्त्रद्वारा सरस्वतीका पूर्ववत् पूजन करके प्रार्थना करे—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

—'अनया पूजया भगवती सरस्वती प्रीयतां न मम।'

सरस्वतीपूजनके पश्चात् 'शेषाय नमः', 'सनत्कुमाराय नमः', 'सांख्यायनाय नमः,' 'पराशराय नमः,' 'बृहस्पतये नमः,' 'मैत्रेयाय नमः,' 'उद्धवाय नमः'—इन मन्त्रोंसे शेष आदिकी पूजा करके प्रार्थना करे—

शेषः सनत्कुमारश्च सांख्यायनपराशरौ।
बृहस्पतिश्च मैत्रेय उद्धवश्चात्र कर्मणि॥
प्रत्यूहवृन्दं सततं हरन्तां पूजिता मया।

—'अनया पूजया शेषसनत्कुमारसांख्यायनपराशरबृहस्पतिमैत्रेयोद्धवाः प्रीयन्तां न मम।'

इसके बाद 'त्र्य्यारुणये नमः,' 'कश्यपाय नमः,' 'रामशिष्याय नमः,' 'अकृतव्रणाय नमः,' 'वैशम्पायनाय नमः', 'हारीताय नमः'—इन मन्त्रोंसे त्र्य्यारुणि आदि छः पौराणिकोंकी पूर्ववत् पूजा करके प्रार्थना करे—

त्र्य्यारुणिः कश्यपश्च रामशिष्योऽकृतव्रणः।
वैशम्पायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥
सुखदाः सन्तु मे नित्यमनया पूजयार्चिताः।

'एतया पूजया त्र्य्यारुणिप्रभृतयः षट् पौराणिकाः प्रीयन्तां न मम।'

तत्पश्चात् 'ॐ भगवते व्यासाय नमः' इस मन्त्रसे भगवान् व्यासदेवकी स्थापना और पूजा करके इस प्रकार प्रार्थना करे—

नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्य यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥

—'अनया पूजया भगवान् व्यासः प्रीयतां न मम।'

इसके बाद सप्ताहयज्ञके उपदेशक भगवान् सूर्यकी स्थापना करके प्रतिदिन उनकी भी पूजा करे। उनकी पूजाका मन्त्र 'सूर्याय नमः' है। पूजनके पश्चात् इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

लोकेश त्वं जगच्चक्षुः सत्कर्म तव भाषितम्।
करोमि तच्च निर्विघ्नं पूर्णमस्तु त्वदर्चनात्॥

—'अनया पूजया सप्ताहयज्ञोपदेष्टा भगवान् सूर्यः प्रीयतां न मम।'

इसके बाद दशावतारोंकी तथा शुकदेवजीकी भी यथास्थान स्थापना करके पूजा करनी चाहिये।

तदनन्तर नारदपीठ और पुस्तकपीठ दोनोंकी एक ही साथ पूजा करे। पहले उन दोनों पीठोंका जलसे अभिषेक करके उनपर चन्दनादिसे अष्टदल कमल बनावे। फिर 'ॐ आधारशक्तये नमः', 'ॐ मूलप्रकृतये नमः,' 'ॐ क्षीरसमुद्राय नमः', 'ॐ श्वेतद्वीपाय नमः,' 'ॐ कल्पवृक्षाय नमः,' ॐ रत्नमण्डपाय नमः,' 'ॐ रत्नसिंहासनाय नमः'—इन मन्त्रोंसे दोनों पीठोंमें आधारशक्ति आदिकी भावना करके पूजा करे। फिर चारों दिशाओंमें पूर्वादिके क्रमसे 'धर्माय नमः,' 'ज्ञानाय नमः,' 'वैराग्याय नमः,' 'ऐश्वर्याय नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा धर्मादिकी भावना एवं पूजा करे। फिर पीठोंके मध्यभागमें 'अनन्ताय

नमः' से अनन्तकी और 'महापद्माय नमः' से महापद्मकी पूजा करे। फिर यह चिन्तन करे—उस महापद्मका कन्द (मूलभाग) आनन्दमय है। उसकी नाल संवित्स्वरूप है, उसके दल प्रकृतिमय हैं, उसके केसर विकृतिरूप हैं, उसके बीज पञ्चाशत वर्णस्वरूप हैं—और उन्हींसे उस महापद्मकी कर्णिका (गद्दी) विभूषित है। उस कर्णिकामें अर्कमण्डल, सोममण्डल और वह्निमण्डलकी स्थिति है। वहीं प्रबोधात्मक सत्त्व, रज एवं तम भी विराजमान हैं। ऐसी भावनाके पश्चात् उन सबकी पञ्चोपचारसे पूजा करे। मन्त्र इस प्रकार हैं—'आनन्दमयकन्दाय नमः', 'संविन्नालाय नमः', 'प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः', 'विकृतिमयकेसरेभ्यो नमः', 'पञ्चाशद्वर्णबीजभूषितायै कर्णिकायै नमः', 'ॐ अं अर्कमण्डलाय नमः', 'ॐ सं सोममण्डलाय नमः', 'ॐ वं वह्निमण्डलाय नमः', 'ॐ सं प्रबोधात्मने सत्त्वाय नमः,' 'ॐ रं रजसे नमः,' 'ॐ तं तमसे नमः'। इन सबकी पूजाके पश्चात् कमलके सब ओर पूर्वादि आठों दिशाओंमें क्रमशः 'विमलायै नमः', 'उत्कर्षिण्यै नमः', 'ज्ञानायै नमः', 'क्रियायै नमः', 'योगायै नमः', 'प्रह्वयै नमः', 'सत्यायै नमः', 'ईशानायै नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा विमला आदि आठ शक्तियोंकी पूजा करे और कमलके मध्यभागमें 'अनुग्रहायै नमः' से अनुग्रहा नामकी शक्तिकी पूजा करे। तदनन्तर 'ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय पद्मपीठात्मने नमः' इस मन्त्रसे सम्पूर्ण पद्मपीठका पूजन करके उसपर सुन्दर वस्त्र डाल दे और उसीके ऊपर स्थापित करनेके लिये श्रीमद्भागवतकी पुस्तकको हाथमें लेकर 'ॐ ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सा पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामसि॥' इस मन्त्रको पढ़ते हुए उक्त पीठपर स्थापित कर दे। फिर 'ॐमनो जूतिः०' इस मन्त्रसे पुस्तककी प्रतिष्ठा करके पुरुषसूक्तके षोडश मन्त्रोंद्वारा षोडशोपचार-विधिसे पूजा करे। (यह विधि पहले 'श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि' शीर्षक लेखमें दी गयी है।) तत्पश्चात् द्वितीय पीठको श्वेत वस्त्रसे आच्छादित करके उसपर देवर्षि नारदको स्थापित करे और 'ॐ सुरर्षिवरनारदाय नमः' इस मन्त्रसे उनकी विधिवत् पूजा करके निम्नाङ्कितरूपसे प्रार्थना करे—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते ज्ञानवैराग्यशालिने।
नारदाय सर्वलोकपूजिताय सुरर्षये॥

—'अनया पूजया देवर्षिर्नारदः प्रीयतां न मम।'

इस प्रकार पूजनके पश्चात् यजमान पुष्प, चन्दन, ताम्बूल, वस्त्र, दक्षिणा, सुपारी तथा रक्षासूत्र हाथमें लेकर 'ॐ अद्यामुकगोत्रममुकप्रवरममुकशर्माणं ब्राह्मणमेभिर्वरणद्रव्यैः सर्वेष्टदश्रीमद्भागवतवक्तृत्वेन भवन्तमहं वृणे'—इस प्रकार कहते हुए कथावाचक आचार्यका वरण करे। हाथमें ली हुई सब सामग्री उनको दे दे। वह सब लेकर कथावाचक व्यास 'वृतोऽस्मि' यों कहें। इसके बाद पुनः उन्हीं सब सामग्रियोंको हाथमें लेकर जप और पाठ करनेवाले ब्राह्मणोंका वरण करे। इसके लिये संकल्पवाक्य इस प्रकार है—'अद्याहममुकगोत्रानमुकप्रवरानमुकशर्मणो यथासंख्याकान् ब्राह्मणानेभिर्वरणद्रव्यैर्गाथाविघ्नापनोदार्थं गणेशगायत्रीवासुदेवमन्त्रजपकर्तृत्वेन गीताविष्णुसहस्रनामपाठकर्तृत्वेन च वो विभज्य वृणे।' इस प्रकार सङ्कल्प करके प्रत्येक ब्राह्मणको वरणसामग्री अर्पित करे। सामग्री लेकर वे ब्राह्मण कहें 'वृताः स्मः'। इसके बाद पहले कथावाचक आचार्यके हाथमें दिये हुए रक्षासूत्रको लेकर उन्हींके हाथमें बाँध दे। उस समय आचार्य निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करें—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।' रक्षा बाँधनेके अनन्तर यजमान उनके ललाटमें कुङ्कुम (रोली) और अक्षतसे तिलक करे। इसी प्रकार जपकर्ता ब्राह्मणोंके हाथोंमें भी रक्षा बाँधकर तिलक करे। तदनन्तर पीले अक्षत लेकर यजमान चारों दिशाओंमें रक्षाके लिये बिखेरे। उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ भी करे—

पूर्वे नारायणः पातु वारिजाक्षश्च दक्षिणे।
पश्चिमे पातु गोविन्द उत्तरे मधुसूदनः॥
ऐशान्यां वामनः पातु चाग्नेय्यां च जनार्दनः।
नैर्ऋत्यां पद्मनाभश्च वायव्यां माधवस्तथा॥
ऊर्ध्वं गोवर्धनधरो ह्यधस्ताच्च त्रिविक्रमः।
रक्षाहीनं तु यत्स्थानं तत्सर्वं रक्षतां हरिः॥

इसके बाद वक्ता आचार्य यजमानके हाथमें—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

इस मन्त्रको पढ़कर रक्षा बाँधे और—

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
तिलकं ते प्रयच्छन्तु धर्मकामार्थसिद्धये॥

—इस मन्त्रसे उसके ललाटमें तिलक कर दे। फिर यजमान व्यासासनकी चन्दन-पुष्प आदिसे पूजा करे। पूजनका मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ व्यासासनाय नमः'। तदनन्तर कथावाचक आचार्य ब्राह्मणों और वृद्ध पुरुषोंकी आज्ञा लेकर विप्रवर्गको नमस्कार और गुरुचरणोंका ध्यान करके व्यासासनपर बैठें। मन-ही-मन गणेश और नारदादिका स्मरण एवं पूजन करें। इसके बाद यजमान 'नमः पुराणपुरुषोत्तमाय' इस मन्त्रसे पुनः पुस्तककी गन्ध, पुष्प, तुलसीदल एवं दक्षिणा आदिके द्वारा पूजा करे। फिर गन्ध, पुष्प आदिसे वक्ताका पूजन करते हुए निम्नाङ्कित श्लोकका पाठ करे—

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत्पिबति॥

तत्पश्चात् नीचे लिखे हुए श्लोकोंको पढ़कर प्रार्थना करे—

शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय॥
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे।
कर्मग्राहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात्॥

इस प्रकार प्रार्थना करनेके पश्चात् निम्नाङ्कित श्लोक पढ़कर श्रीमद्भागवतपर पुष्प, चन्दन और नारियल आदि चढ़ाये—

श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे॥
मनोरथो मदीयोऽयं सर्वथा सफलस्त्वया।
निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव॥

कथा-मण्डपमें वायुरूपधारी आतिवाहिक शरीरवाले जीवविशेषके लिये एक सात गाँठके बाँसको भी स्थापित कर देना चाहिये।

तत्पश्चात् वक्ता भगवान्का स्मरण करके उस दिन श्रीमद्भागवतमाहात्म्यकी कथा सब श्रोताओंको सुनायें और दूसरे दिनसे प्रतिदिन देवपूजा, पुस्तक तथा व्यासकी पूजा एवं आरती हो जानेके पश्चात् वक्ता कथा प्रारम्भ करें। संध्याको कथाकी समाप्ति होनेपर भी नित्य-प्रति पुस्तक तथा वक्ताकी पूजा तथा आरती, प्रसाद एवं तुलसीदलका वितरण, भगवन्नामकीर्तन एवं शङ्खध्वनि करनी चाहिये। कथाके प्रारम्भमें और बीच-बीचमें भी जब कथाका विराम हो तो समयानुसार भगवन्नामकीर्तन करना चाहिये।

वक्ताको चाहिये कि प्रतिदिन पाठ प्रारम्भ करनेसे पूर्व एक सौ आठ बार 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका अथवा 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इस गोपाल-मन्त्रका जप करे। इसके बाद निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर विनियोग करें—

ॐ अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारदऋषिः बृहतीच्छन्दः श्रीकृष्णपरमात्मा देवता ब्रह्मबीजं भक्तिः शक्तिः ज्ञानवैराग्यकीलकं मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे विनियोगः।

विनियोगके पश्चात् निम्नाङ्कित रूपसे न्यास करें—

ऋष्यादिन्यासः—*नारदर्षये नमः शिरसि। बृहतीच्छन्दसे नमः मुखे। श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः हृदि। ब्रह्मबीजाय नमः गुह्ये। भक्तिशक्तये नमः पादयोः। ज्ञानवैराग्यकीलकाभ्यां नमः नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे।*

द्वादशाक्षर मन्त्रसे करन्यास और अङ्गन्यास करना चाहिये अथवा नीचे लिखे अनुसार उसका सम्पादन करना चाहिये—

करन्यासः—*ॐ क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ॐ क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ॐ क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।*

अङ्गन्यासः—*ॐ क्लां हृदयाय नमः। ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा। ॐ क्लूं शिखायै वषट्। ॐ क्लैं कवचाय हुम्। ॐ क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ क्लः अस्त्राय फट्।*

इसके बाद निम्नाङ्कित रूपसे ध्यान करे—

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं
वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं
हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥

इस प्रकार ध्यानके पश्चात् कथा प्रारम्भ करनी चाहिये । सूर्योदयसे आरम्भ करके प्रतिदिन साढ़े तीन प्रहरतक कथा बाँचनी चाहिये । मध्याह्नमें दो घड़ी कथा बंद रखनी चाहिये । प्रातःकालसे मध्याह्नतक मूलका पाठ होना चाहिये और मध्याह्नसे संध्यातक उसका संक्षिप्त भावार्थ अपनी भाषामें कहना चाहिये । मध्याह्नमें विश्रामके समय तथा रात्रिके समय भगवन्नाम-कीर्तनकी व्यवस्था होनी चाहिये ।

श्रोताओंके स्थान—वक्ताके सामने श्रोताओंके बैठनेके लिये आगे-पीछे सात पंक्तियाँ बना लेनी चाहिये । पहली पंक्तिका नाम सत्यलोक है, इसमें साधु-संन्यासी, विरक्त वैष्णव आदिको बैठाना चाहिये । दूसरी पंक्ति तपोलोक कहलाती है, इसमें वानप्रस्थ श्रोताओंको बैठाना चाहिये । तीसरी पंक्तिको जनलोक नाम दिया गया है, इसमें ब्रह्मचारी श्रोता बैठाये जाने चाहिये । चौथी पंक्ति महर्लोक कही गयी है, यह ब्राह्मण श्रोताओं-का स्थान है । पाँचवीं पंक्तिको स्वर्लोक कहते हैं । इसमें क्षत्रिय श्रोताओंको बैठाना चाहिये । छठी पंक्तिका नाम भुवर्लोक है, जो वैश्य श्रोताओंका स्थान है । सातवीं पंक्ति भूर्लोक मानी गयी है, उसमें शूद्रजातीय श्रोताओंको बैठाना चाहिये । स्त्रियाँ वक्ताके वामभागकी भूमिपर कथा सुनें । ये स्थान उन लोगोंके लिये नियत किये गये हैं, जो प्रतिदिन नियमपूर्वक कथा सुनते हैं । जो श्रोता कथा प्रारम्भ होनेपर कुछ समयके लिये अनियमित रूपसे आते हैं, उनके लिये वक्ताके दक्षिण भागमें स्थान रहना चाहिये ।

श्रोताओंके नियम—श्रोता प्रतिदिन एक बार हविष्यान्न भोजन करें । पतित, दुर्जन आदिका सङ्ग तो दूर रहा, उनसे वार्तालाप भी न करें । ब्रह्मचर्यपालन, भूमि-शयन (नीचे आसन बिछाकर या तख्तपर सोना) सबके लिये अनिवार्य है । एकाग्रचित्त होकर कथा सुननी चाहिये । जितने दिन कथा सुनें—धन, स्त्री, पुत्र, घर एवं लौकिक लाभकी समस्त चिन्ताएँ त्याग दें । मल-मूत्रपर काबू रखनेके लिये हल्का आहार सुखद होता है । यदि शक्ति हो तो सात दिनतक उपवास करके कथा सुनें । अन्यथा दूध पीकर सुखपूर्वक कथा सुनें । इससे भी काम न चले तो फलाहार या एक समय अन्न-भोजन करें । जिस तरह भी सुखपूर्वक कथा सुननेकी सुविधा हो, वैसे कर लें । प्रतिदिन कथा समाप्त होनेपर ही भोजन करना उचित है । दाल, शहद, तेल, गरिष्ठ अन्न, भावदूषित अन्न तथा बासी अन्नका परित्याग करें । काम, क्रोध, मद, मान, ईर्ष्या, लोभ, दम्भ, मोह तथा द्वेषसे दूर रहें । वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गौ, व्रती, स्त्री, राजा तथा महापुरुषोंकी कभी भूलकर भी निन्दा न करें । रजस्वला, चाण्डाल, म्लेच्छ, पतित, व्रतहीन, ब्राह्मणद्रोही तथा वेदबहिष्कृत मनुष्योंसे वार्तालाप न करें । मनमें सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, विनय तथा उदारताको स्थान दें । श्रोताओंको वक्तासे ऊँचे आसनपर कभी नहीं बैठना चाहिये ।

कुछ विशेष बातें—प्रत्येक स्कन्धकी समाप्ति होनेपर चन्दन, पुष्प, नैवेद्य आदिसे पुस्तककी पूजा करके आरती उतारनी चाहिये । शुकदेवजीके आगमन तथा श्रीकृष्णके प्राकट्यका प्रसङ्ग आनेपर भी आरती करनी चाहिये । बारहवें स्कन्धकी समाप्ति होनेपर पुस्तक और वक्ताका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये । वक्ता गृहस्थ हों तो उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार उदारतापूर्वक वस्त्राभूषण तथा नकद रुपये भेंट देने चाहिये । मृदङ्ग आदि बजाकर जोर-जोरसे कीर्तन करना चाहिये । जय-जयकार, नमस्कार और शङ्खनाद करने चाहिये । ब्राह्मणों और याचकोंको अन्न एवं धन देना चाहिये । वक्ताके हाथोंसे श्रोताओंको प्रसाद एवं तुलसीदल मिलने चाहिये । प्रतिदिन कथाके प्रारम्भ और अन्तमें आरती होनी आवश्यक है । (श्रीमद्भागवतकी आरती इसीमें अन्यत्र दी गयी है ।)

कथाका विश्राम प्रतिदिन नियत स्थलपर ही करना चाहिये । प्रथम दिन मनु-कर्दम-संवादतक । दूसरे दिन भरत-चरित्रतक । तीसरे दिन सातवें स्कन्धकी समाप्तितक । चौथे दिन श्रीकृष्णके प्राकट्यतक । पाँचवें दिन रुक्मिणी-विवाहतक और छठे दिन हंसो-पाख्यानतककी कथा बाँचकर, सातवें दिन अवशिष्ट भागको पूर्ण कर देना चाहिये । * स्कन्धके आदि और

---

*मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि । भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत् ॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम् । कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत् ॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते । श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत् सुधीः ॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै । एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा ॥

अन्तिम श्लोकको कई बार उच्च स्वरसे पढ़ना चाहिये। कथा-समाप्तिके दूसरे दिन वहाँ स्थापित हुए सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करके हवनकी वेदीपर पञ्चभूसंस्कार, अग्निस्थापन एवं कुशकण्डिका करे। फिर विधिपूर्वक वृत ब्राह्मणोंद्वारा हवन, तर्पण एवं मार्जन कराकर श्रीमद्भागवतकी शोभायात्रा निकाले और ब्राह्मण-भोजन कराये। मधु-मिश्रित खीर और तिल आदिसे भागवतके श्लोकोंका दशांश (अर्थात् १८००) आहुति देनी चाहिये। खीरके अभावमें तिल, चावल, जौ, मेवा, शुद्ध घी और चीनीको मिलाकर हवनीय पदार्थ तैयार कर लेना चाहिये। इसमें सुगन्धित पदार्थ (कपूर-काचरी, नागरमोथा, छड़छड़ीला, अगर-तगर, चन्दन-चूर्ण आदि) भी मिलाने चाहिये। पूर्वोक्त अठारह सौ आहुति गायत्री-मन्त्र अथवा दशमस्कन्धके प्रति श्लोकसे देनी चाहिये। हवनके अन्तमें दिक्पाल आदिके लिये बलि, क्षेत्रपाल-पूजन, छायापात्र-दान, हवनका दशांश तर्पण एवं तर्पणका दशांश मार्जन करना चाहिये। फिर आरतीके पश्चात् किसी नदी, सरोवर, या कूपादिपर जाकर अवभृथ-स्नान (यज्ञान्त-स्नान) भी करना चाहिये। इसके लिये समूहके साथ शोभायात्रा निकालकर गाजे-बाजेके साथ कीर्तन करते हुए जाना चाहिये। यजमान श्रीमद्भागवत ग्रन्थको अपने मस्तकपर रखकर उसकी शोभायात्रा निकाले, जिसमें वक्ता तथा सब श्रोता सम्मिलित हों। हरिकीर्तन होता चले। भागवत-ग्रन्थपर चँवर डुलते रहें। घड़ियाल, घण्टा, झाँझ, शङ्ख आदि बाजे बजते रहें। जो पूर्ण हवन करनेमें असमर्थ हो, वह यथाशक्ति हवनीय पदार्थ दान करें। अन्तमें कम-से-कम बारह ब्राह्मणोंको मधुयुक्त खीरका भोजन कराना चाहिये। व्रतकी पूर्तिके लिये सुवर्ण-दान और गोदान करना चाहिये। सुवर्ण-सिंहासनपर विराजित सुन्दर अक्षरोंमें लिखित श्रीमद्भागवतकी पूजा करके उसे दक्षिणासहित कथावाचक आचार्यको दान कर देना चाहिये। अन्तमें सब प्रकारकी त्रुटियोंकी पूर्तिके लिये विष्णुसहस्रनामका पाठ कथावाचक आचार्यके द्वारा सुनना चाहिये। विरक्त श्रोताओंको 'गीता' सुननी चाहिये।

सप्ताह-कथाके प्रारम्भमें संग्रहणीय सामग्रीकी सूची

पूजन-सामग्री—गङ्गाजल, रोली (कुङ्कुम), मोली (रक्षासूत्र), चन्दन, शुद्ध केसर, कपूर, पुष्प, पुष्पमाला, तुलसीदल, बिल्वपत्र, दूर्वादल, धूप, शुद्ध अगरबत्ती, पञ्चामृत (दूध ऽ।, दही ऽ=, मधु दो पैसे भर, चीनी ऽ=, घी छटाँक भर), दीप (यथासम्भव शुद्ध गोघृत और रूई), पानका पत्ता पचास, सुपारी पचीस, यज्ञोपवीत पचीस, इलायची, लौंग, पेड़ा ऽ॥, मेवा ऽ॥, गुड़ ऽ।, चावल ऽ।, गेहूँ ऽ५, कुण्डे मिट्टीके दो गेहूँ बोनेके लिये, सरसो पीली, अबीर, गुलाल, ऋतुफल—केला-संतरा आदि, कपड़ा सफेद ५ गज, कपड़ा लाल ५ गज, कपड़ा पीला ५ गज, कपड़ा शुद्ध रेशमी १॥ गज, सर्वतोभद्रकी रचनाके लिये हरा, लाल, काला, पीला और गुलाबी रंग; गोबर, नारियल दो या सात, शुद्ध इत्र, कुशा, सिन्दूर, रुपये-रेजगी-पैसे, आरतीका पात्र, घण्टा, घड़ियाल, शङ्ख, झाँझ आदि, कोसा पचास, दियासलाई, चौकी एक सर्वतोभद्रके लिये, चौकी एक नारदजीके लिये, चौकी एक नवग्रह, षोडशमातृका और गणेशके लिये, चौकी एक व्यास, शुकदेव, सप्तचिरजीवी तथा पौराणिकोंके लिये, पाटा एक शेष-सनत्कुमारादिके लिये।

कलशस्थापनकी सामग्री—कलश ताँबेका एक, ताँबे या काँसीका पात्र एक, कलश मिट्टीके पाँच, सप्तधान्य (जौ, गेहूँ, धान, तिल, कँगनी, साँवा, चीना), पञ्चपल्लव (आम, पीपल, पाकर, गूलर और बड़के पत्ते) दूर्वा, कुशा, सुपारी, सुवर्णकी टिकड़ी चार, पञ्चरत्न (हीरा, नीलम, लाल, मोती और सोना अभावमें यथासाध्य सुवर्ण), चन्दन, अक्षत, फूल, तीर्थोदक, समुद्रजल, सप्तमृत्तिका (घुड़सालकी, हाथीशालाकी, दीमककी, नदीसंगमकी, राजद्वारकी, गोशालाकी, तालाबकी), सर्वौषधि (कूट, जटामाशी, हल्दी गाँठ २, रामट, मुरा, शैलेभ, चन्दन, बचा, चम्पक और नागरमोथा—अभावमें केवल हल्दी), नदीसंगमका जल, श्रीलक्ष्मीनारायणकी स्वर्णमयी प्रतिमा (चार तोले सोनेकी अथवा अपनी शक्तिके अनुसार)।

कथामण्डपके लिये सामग्री—चँदोवेका कपड़ा,

चौकोर मण्डप, केलेके खम्भे चार, बाँसके खम्भे, मण्डपको चारों ओरसे माला, फूल और पत्तोंसे सजाना, चारों दिशाओंमें झंडी लगाना, वस्त्र और गोटे आदिसे सजाना, चौकी व्यासके लिये, गद्दी, मसनद, तकिये, कम्बल, चद्दर, पाँच झंडियाँ, पुस्तकका वेष्टन, पुस्तकके लिये चौकी, आमके पत्तोंके बंदनवार ।

गणेशजी, देवता, श्रीमद्भागवत और आचार्यकी पूजाके लिये प्रतिदिन चन्दन, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीपादि सामग्री ।

वरणकी सामग्री—वक्ताके लिये चादर, धोती, गमछा, आसन, दक्षिणा, रुद्राक्षमाला, तुलसीमाला, जलपात्र आदि, जप करनेवालोंके लिये भी यथासम्भव वस्त्र-द्रव्य आदि ।

पाठके लिये पुस्तक—भागवत, रामायण, गीता, सहस्रनाम आदि ।

हवनके लिये सामग्री—वेदीके लिये स्वच्छ बालू एक बोरा, सूखी आमकी लकड़ी दो मन, कुशकण्डिकाके लिये कुशा, दूर्वा, अग्नि लानेके लिये दो कांस्यपात्र, एक पूर्णपात्र पीतलका बड़ा-सा, यज्ञपात्र—प्रणीता, प्रोक्षणी, स्रुवा, स्रुक्, पूर्णाहुतिपात्र, चरुस्थाली, आज्यस्थाली (कांसीका बड़ा-सा कटोरा), हवनीय पदार्थ—मधुमिश्रित खीर, छायापात्र-दानके लिये कांसेकी छोटी एक कटोरी तथा उसके लिये घी ।

तिल १० सेर, चावल ५ सेर, जौ २॥ सेर, शुद्ध घी ४ सेर, शुद्ध चीनी २॥ सेर, पञ्चमेवा २ सेर (पिश्ता, बादाम, किशमिश, अखरोट और काँजू)—इन सबको मिलाकर हवनसामग्री बनायी जाती है। फिर इसमें सुगन्धित द्रव्य (कपूरकाचरी, छड़छड़ीला, नागरमोथा, अगर-तगर, चन्दनचूर्ण आदि) आवश्यकतानुसार मिला देने चाहिये । बलिके लिये पापड़, उड़द, दही, चावल, रूईकी बत्ती, दक्षिणा, क्षेत्रपाल-बलिके लिये हँड़िया, काजल, सिंदूर, दीपक, दक्षिणा आदि। पूर्णाहुतिके लिये नारियलका गोला इत्यादि, वितरणके लिये प्रसाद। ब्राह्मण-भोजनके लिये मधुमिश्रित खीर तथा अन्यान्य मधुर पकवान, पूरी-साग आदि । हवनकर्ता ब्राह्मणोंके लिये वरण और दक्षिणा आदि ।

कथा-समाप्तिके पश्चात् कथावाचकको भेंट देनेके लिये वस्त्र, आभूषण, नकद रुपये आदि ।

वन्दनम्

सर्गस्थितिनिरोधार्थं कामाकाममयो हि यः।
तं कामं कामकामघ्नं कामाभावाय कामये॥
यत्कामिनीकेलिकलापकुण्ठितः कामोऽप्यकामो विमदो बभूव ह।
तं मानिनीमानदमानदं सदा श्रीमोहनं मोहनमानतोऽस्म्यहम्॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजपरागपरप्रभावाद् भूत्वा कृती कृतिमतां स्तुतिमाचरामि।
तं सद्गुरुं सततसर्वसुखं सदर्घ्यं वन्दे सदा विमलबोधघनं विचित्रम्॥
व्यासं व्यासकरं वन्दे मुनिं नारायणं स्वयम्।
यतः प्राप्तकृपालोका लोका मुक्ताः कलेर्ग्रहात्॥
यस्य तुण्डाच्च्युतश्चूतो राजतेऽयं रसात्मकः।
तमच्युतकथाकुञ्जे सुकूजन्तं शुकं भजे॥
श्रीधरं श्रीधरं वन्दे श्रीधरैकपरायणम्।
यस्यैव श्रीप्रसादेन श्रीधरेयं कृतिः कृता॥
राधा भक्तिर्हरिर्ज्ञानं ताभ्यां या च समन्विता।
तां श्रीभागवतीं गाथां वन्दे युगलरूपिणीम्॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतकी आरती

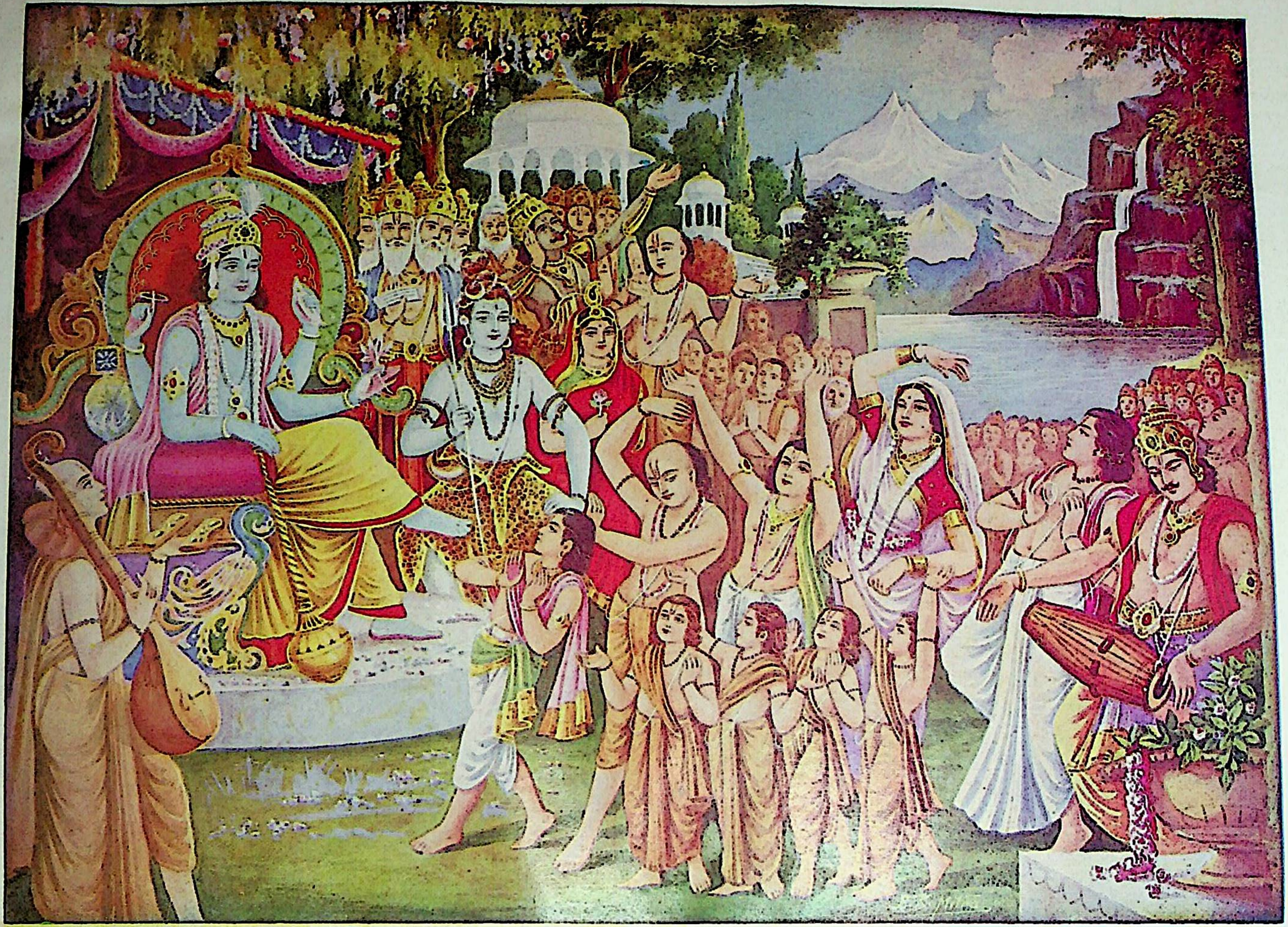
आरति अतिपावन पुरानकी ।
धर्म-भक्ति-विज्ञान-खानकी ॥

महापुरान भागवत निरमल ।
शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प-फल ।
परमानन्द-सुधा-रसमय कल ।
लीला-रति-रस रसनिधानकी ॥ आ०

कलि-मल-मथनि त्रिताप-निवारिनि ।
जन्म-मृत्युमय भव-भय-हारिनि ।
सेवत सतत सकल सुख कारिनि ।
सुमहौषधि हरि-चरित-गानकी ॥ आ०

विषय-विलास-विमोह-विनाशिनि ।
विमल विराग विवेक विकाशिनि ।
भगवत्तत्त्व-रहस्य प्रकाशिनि ।
परम ज्योति परमात्म-ज्ञानकी ॥ आ०

परमहंस-मुनि-मन उल्लासिनि ।
रसिक-हृदय रस-रास विलासिनि ।
भुक्ति, मुक्ति, रतिप्रेम सुदासिनि ।
कथा अकिञ्चनप्रिय सुजानकी ॥ आ०



महासंकीर्तन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

कृष्णं नारायणं वन्दे कृष्णं वन्दे व्रजप्रियम् ।
कृष्णं द्वैपायनं वन्दे कृष्णं वन्दे पृथासुतम् ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

देवर्षि नारदकी भक्तिसे भेंट

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको हम नमस्कार करते हैं, जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके हेतु तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों प्रकारके तापोंका नाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था तथा लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, तभी उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके लिये घरसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा ! बेटा ! तुम कहाँ जा रहे हो ?' उस समय वृक्षोंने तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे उत्तर दिया था । ऐसे सर्वभूतहृदय-स्वरूप श्रीशुकदेवमुनिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् ।
कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक बार भगवत्कथामृतका रसास्वादन करनेमें कुशल मुनिवर शौनकजीने नैमिषारण्य क्षेत्रमें विराजमान महामति सूतजीको नमस्कार करके उनसे पूछा ॥ ३ ॥

शौनक उवाच

अज्ञानध्वान्तविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ ।
सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम् ॥ ४ ॥
भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान् ।
मायामोहनिरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम् ॥ ५ ॥
इह घोरे कलौ प्रायो जीवश्चासुरतां गतः ।
क्लेशाक्रान्तस्य तस्यैव शोधने किं परायणम् ॥ ६ ॥

शौनकजी बोले—सूतजी ! आपका ज्ञान अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेके लिये करोड़ों सूर्योंके समान है । आप हमारे कानोंके लिये रसायन—अमृतस्वरूप सारगर्भित कथा कहिये ॥ ४ ॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यसे प्राप्त होनेवाले महान् विवेककी वृद्धि किस प्रकार होती है तथा वैष्णवलोग किस तरह इस माया-मोहसे अपना पीछा छुड़ाते हैं ? ॥ ५ ॥ इस घोर कलिकालमें जीव प्रायः आसुरी स्वभावके हो गये हैं, विविध क्लेशोंसे आक्रान्त इन जीवोंको शुद्ध (दैवीशक्तिसम्पन्न) बनानेका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? ॥ ६ ॥

श्रेयसां यद्भवेच्छ्रेयः पावनानां च पावनम् ।
कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत्साधनं तद्वदाधुना ॥ ७ ॥
चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम् ।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम् ॥ ८ ॥

सूतजी ! आप हमें कोई ऐसा शाश्वत साधन बताइये, जो सबसे अधिक कल्याणकारी तथा पवित्र करनेवालोंमें भी पवित्र हो तथा जो भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करा दे । ७ । चिन्तामणि केवल लौकिक सुख दे सकती है और कल्पवृक्ष अधिक-से-अधिक स्वर्गीय सम्पत्ति दे सकता है; परंतु गुरुदेव प्रसन्न होकर भगवान्का योगिदुर्लभ नित्य वैकुण्ठधाम दे देते हैं ॥ ८ ॥

सूत उवाच

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च ।
सर्वसिद्धान्तनिष्पन्नं संसारभयनाशनम् ॥ ९ ॥
भक्त्योघवर्धनं यच्च कृष्णसंतोषहेतुकम् ।
तदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतया शृणु ॥१०॥
कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे ।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥११॥
एतस्मादपरं किंचिन्मनःशुद्ध्यै न विद्यते ।
जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ॥१२॥
परीक्षिते कथां वक्तुं सभायां संस्थिते शुके ।
सुधाकुम्भं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन् ॥१३॥
शुकं नत्वावदन् सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः ।
कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम् ॥१४॥
एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम् ।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम् ॥१५॥
क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान् ।
ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह ॥१६॥
अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम् ।
श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा ॥१७॥
राज्ञो मोक्षं तथा वीक्ष्य पुरा धातापि विस्मितः ।

सूतजीने कहा—शौनकजी ! तुम्हारे हृदयमें भगवान्का प्रेम है; इसलिये मैं विचारकर तुम्हें सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका निष्कर्ष सुनाता हूँ, जो जन्म-मृत्युके भयका नाश कर देता है ॥ ९ ॥ जो भक्तिके प्रवाहको बढ़ाता है और भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताका प्रधान कारण है, मैं तुम्हें वह साधन बतलाता हूँ; उसे सावधान होकर सुनो ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजीने कलियुगमें जीवोंके कालरूपी सर्पके मुखका ग्रास होनेके त्रासका आत्यन्तिक नाश करनेके लिये श्रीमद्भागवतशास्त्रका प्रवचन किया है ॥ ११ ॥ मनकी शुद्धिके लिये इससे बढ़कर कोई साधन नहीं है । जब मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरका पुण्य उदय होता है, तभी उसे इस भागवतशास्त्रकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥ जब शुकदेवजी राजा परीक्षित्को यह कथा सुनानेके लिये सभामें विराजमान हुए, तब देवतालोग उनके पास अमृतका कलश लेकर आये ॥ १३ ॥ देवता अपना काम बनानेमें बड़े कुशल होते हैं; अतः यहाँ भी सबने शुकदेवमुनिको नमस्कार करके कहा—'आप यह अमृत लेकर बदलेमें हमें कथामृतका दान दीजिये ॥ १४ ॥ इस प्रकार परस्पर विनिमय (अदलाबदली) हो जानेपर राजा परीक्षित् अमृतका पान करें और हम सब श्रीमद्भागवतरूप अमृतका पान करेंगे' ॥ १५ ॥ इस संसारमें कहाँ काँच और कहाँ महामूल्य मणि तथा कहाँ सुधा और कहाँ कथा ? श्रीशुकदेवजीने (यह सोचकर) उस समय देवताओंकी हँसी उड़ा दी ॥१६॥ उन्हें भक्तिशून्य (कथाका अनधिकारी) जानकर कथामृतका दान नहीं किया । इस प्रकार यह श्रीमद्भागवतकी कथा देवताओंको भी दुर्लभ है ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें श्रीमद्भागवतके श्रवणसे ही राजा परीक्षित्की मुक्ति देखकर ब्रह्माजीको भी बड़ा आश्चर्य हुआ था ।

सत्यलोके तुलां बद्ध्वातोलयत्साधनान्यजः ॥१८॥
लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत्।
तदा ऋषिगणाः सर्वे विस्मयं परमं ययुः ॥१९॥
मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ।
पठनाच्छ्रवणात्सद्यो वैकुण्ठफलदायकम् ॥२०॥
सप्ताहेन श्रुतं चैतत्सर्वथा मुक्तिदायकम्।
सनकाद्यैः पुरा प्रोक्तं नारदाय दयापरैः ॥२१॥
यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धाच्छ्रुतमेतत्सुरर्षिणा।
सप्ताहश्रवणविधिः कुमारैस्तस्य भाषितः ॥२२॥

उन्होंने सत्यलोकमें तराजू बाँधकर सब साधनोंको तौला ॥ १८ ॥ अन्य सभी साधन तौलमें हल्के पड़ गये, अपने महत्त्वके कारण भागवत ही सबसे भारी रहा। यह देखकर सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १९ ॥ उन्होंने कलियुगमें इस भगवद्रूप भागवतशास्त्रको ही पढ़ने-सुननेसे तत्काल मोक्ष देनेवाला निश्चय किया ॥ २० ॥ सप्ताह-विधिसे श्रवण करनेपर यह निश्चय भक्ति प्रदान करता है। पूर्वकालमें इसे दयापरायण सनकादिने देवर्षि नारदको सुनाया था ॥ २१ ॥ यद्यपि देवर्षिने पहले ब्रह्माजीके मुखसे इसे श्रवण कर लिया था, तथापि सप्ताह-श्रवणकी विधि तो उन्हें सनकादिने ही बतायी थी ॥ २२ ॥

शौनक उवाच

लोकविग्रहमुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च।
विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह ॥२३॥

शौनकजीने पूछा—सांसारिक प्रपञ्चसे मुक्त एवं विचरणशील नारदजीका सनकादिके साथ संयोग कहाँ हुआ और विधि-विधानके श्रवणमें उनकी प्रीति कैसे हुई? ॥ २३ ॥

सूत उवाच

अत्र ते कीर्तयिष्यामि भक्तियुक्तं कथानकम्।
शुकेन मम यत्प्रोक्तं रहः शिष्यं विचार्य च ॥२४॥
एकदा हि विशालायां चत्वार ऋषयोऽमलाः।
सत्सङ्गार्थं समायाता ददृशुस्तत्र नारदम् ॥२५॥

सूतजीने कहा—अब मैं तुम्हें वह भक्तिपूर्ण कथानक सुनाता हूँ, जो श्रीशुकदेवजीने मुझे अपना अनन्य शिष्य जानकर एकान्तमें सुनाया था ॥ २४ ॥ एक दिन विशालापुरीमें वे चारों निर्मल ऋषि सत्सङ्गके लिये आये। वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा ॥ २५ ॥

कुमारा ऊचुः

कथं ब्रह्मन्दीनमुखः कुतश्चिन्तातुरो भवान्।
त्वरितं गम्यते कुत्र कुतश्चागमनं तव ॥२६॥
इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः।
तवेदं मुक्तसङ्गस्य नोचितं वद कारणम् ॥२७॥

सनकादिने पूछा—ब्रह्मन्! आपका मुख उदास क्यों हो रहा है? आप चिन्तातुर कैसे हैं? इतनी जल्दी-जल्दी आप कहाँ जा रहे हैं? और आपका आगमन कहाँसे हो रहा है? ॥ २६ ॥ इस समय तो आप उस पुरुषके समान व्याकुल जान पड़ते हैं जिसका सारा धन लुट गया हो; आप-जैसे आसक्तिरहित पुरुषोंके लिये यह उचित नहीं है। इसका कारण बताइये ॥२७॥

नारद उवाच

अहं तु पृथिवीं यातो ज्ञात्वा सर्वोत्तमामिति।
पुष्करं च प्रयागं च काशीं गोदावरीं तथा ॥२८॥
हरिक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं श्रीरङ्गं सेतुबन्धनम्।
एवमादिषु तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः ॥२९॥
नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनस्संतोषकारकम्।
कलिनाधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताधुना ॥३०॥

नारदजीने कहा—मैं सर्वोत्तम लोक समझकर पृथ्वीमें आया था। यहाँ पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी (नासिक), हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, श्रीरङ्ग और सेतुबन्ध आदि कई तीर्थोंमें मैं इधर-उधर विचरता रहा; किंतु मुझे कहीं भी मनको संतोष देनेवाली शान्ति नहीं मिली। इस समय अधर्मके सहायक कलियुगने सारी पृथ्वीको पीडित कर रक्खा है ॥ २८-३० ॥

सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते ।
उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः ॥३१॥
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ।
पाखण्डनिरताः सन्तो विरक्ताः सपरिग्रहाः ॥३२॥
तरुणीप्रभुता गेहे श्यालको बुद्धिदायकः ।
कन्याविक्रयिणो लोभाद्दम्पतीनां च कल्कनम् ॥३३॥
आश्रमा यवनै रुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा ।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः ॥३४॥
न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः ।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥३५॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः ।
कामिन्यः केशशूलिन्यः सम्भवन्ति कलाविह ॥३६॥
एवं पश्यन् कलेर्दोषान् पर्यटन्नवनीमहम् ।
यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत् ॥३७॥
तत्राश्चर्यं मया दृष्टं श्रूयतां तन्मुनीश्वराः ।
एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा ॥३८॥
वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ ।
शुश्रूषन्ती प्रबोधन्ती रुदती च तयोः पुरः ॥३९॥
दशदिक्षु निरीक्षन्ती रक्षितारं निजं वपुः ।
वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥४०॥
दृष्ट्वा दूराद्गतः सोऽहं कौतुकेन तदन्तिकम् ।
मां दृष्ट्वा चोत्थिता बाला विह्वला चाब्रवीद्वचः ॥४१॥

बालोवाच

भो भोः साधो क्षणं तिष्ठ मच्चिन्तामपि नाशय ।
दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाघहरं परम् ॥४२॥

अब यहाँ सत्य, तप, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, दान आदि कुछ भी नहीं है। बेचारे जीव केवल अपना पेट पालनेमें लगे हुए हैं; वे असत्यभाषी, आलसी, मन्दबुद्धि, भाग्यहीन, उपद्रवग्रस्त हो गये हैं। जो साधु-संत कहे जाते हैं, वे पूरे पाखण्डी हो गये हैं, देखनेमें तो वे विरक्त हैं, किंतु स्त्री-धन आदि सभीका परिग्रह करते हैं। घरोंमें स्त्रियोंका राज्य है, साले सलाहकार बने हुए हैं, लोभसे लोग कन्याविक्रय करते हैं और स्त्री-पुरुषोंमें कलह मचा रहता है ॥ ३१-३३ ॥ महात्माओंके आश्रम, तीर्थ और नदियोंपर यवनों (विधर्मियों) का अधिकार हो गया है; उन दुष्टोंने बहुत-से देवालय भी नष्ट कर दिये हैं ॥ ३४ ॥ इस समय यहाँ न कोई योगी है न सिद्ध है, न ज्ञानी है और न सत्कर्म करनेवाला ही है। सारे साधन इस समय कलिरूप दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं ॥ ३५ ॥ इस कलियुगमें सभी देशवासी बाजारोंमें अन्न बेचने लगे हैं, ब्राह्मणलोग पैसा लेकर वेद पढ़ाते हैं और स्त्रियाँ वेश्यावृत्तिसे निर्वाह करने लगी हैं ॥ ३६ ॥

इस तरह कलियुगके दोष देखता और पृथ्वीपर विचरता हुआ मैं यमुनाजीके तटपर पहुँचा, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों लीलाएँ हो चुकी हैं ॥ ३७ ॥ मुनिवरो ! सुनिये, वहाँ मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा। वहाँ एक युवती स्त्री खिन्न मनसे बैठी थी ॥ ३८ ॥ उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्थामें पड़े जोर-जोरसे साँस ले रहे थे। वह तरुणी उनकी सेवा करती हुई कभी उन्हें चेत करानेका प्रयत्न करती और कभी उनके आगे रोने लगती थी ॥ ३९ ॥ वह अपने शरीरके रक्षक परमात्माको दसों दिशाओंमें देख रही थी। उसके चारों ओर सैकड़ों स्त्रियाँ उसे पंखा झल रही थीं और बार-बार समझाती जाती थीं ॥ ४० ॥ दूरसे यह सब चरित देखकर मैं कुतूहलवश उसके पास चला गया। मुझे देखकर वह युवती खड़ी हो गयी और बड़ी व्याकुल होकर कहने लगी ॥ ४१ ॥

युवतीने कहा—अजी महात्माजी ! क्षणभर ठहर जाइये और मेरी चिन्ताको भी नष्ट कर दीजिये। आपका दर्शन तो संसारके सभी पापोंको सर्वथा नष्ट कर देनेवाला है ॥ ४२ ॥

१. अट्टमन्नं शिवो वेदः शूलो विक्रय उच्यते । केशो भगमिति प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

बहुधा तव वाक्येन दुःखशान्तिर्भविष्यति ।
यदा भाग्यं भवेद्भूरि भवतो दर्शनं तदा ॥४३॥

आपके वचनोंसे मेरे दुःखकी भी बहुत कुछ शान्ति हो जायगी । मनुष्यका जब बड़ा भाग्य होता है, तभी आपके दर्शन हुआ करते हैं ॥ ४३ ॥

नारद उवाच

कासि त्वं काविमौ चेमा नार्यः काः पद्मलोचनाः ।
वद देवि सविस्तारं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥४४॥

नारदजी कहते हैं—तब मैंने उस स्त्रीसे पूछा—देवि ! तुम कौन हो ? ये दोनों पुरुष तुम्हारे क्या होते हैं ? और तुम्हारे पास ये कमलनयनी देवियाँ कौन हैं ? तुम हमें विस्तारसे अपने दुःखका कारण बताओ ॥४४॥

बालोवाच

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥४५॥
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः ।
तथापि न च मे श्रेयः सेवितायाः सुरैरपि ॥४६॥
इदानीं शृणु मद्वार्तां सचित्तस्त्वं तपोधन ।
वार्ता मे वितताप्यस्ति तां श्रुत्वा सुखमावह ॥४७॥

युवतीने कहा—मेरा नाम भक्ति है, ये ज्ञान और वैराग्य नामक मेरे पुत्र हैं । समयके फेरसे ही ये ऐसे जर्जर हो गये हैं ॥ ४५ ॥ ये देवियाँ गङ्गाजी आदि नदियाँ हैं । ये सब मेरी सेवा करनेके लिये ही आयी हैं । इस प्रकार साक्षात् देवियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी मुझे सुख-शान्ति नहीं है ॥ ४६ ॥ तपोधन ! अब ध्यान देकर मेरा वृत्तान्त सुनिये । मेरी कथा वैसे तो प्रसिद्ध है, फिर भी उसे सुनकर आप मुझे शान्ति प्रदान करें ॥ ४७ ॥

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका ।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ॥५०॥
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात् ।
इदं स्थानं परित्यज्य विदेशं गम्यते मया ॥५१॥
जरठत्वं समायातौ तेन दुःखेन दुःखिता ।
साहं तु तरुणी कस्मात्सुतौ वृद्धाविमौ कुतः ॥५२॥
त्रयाणां सहचारित्वाद्वैपरीत्यं कुतः स्थितम् ।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति ॥५३॥
अतः शोचामि चात्मानं विस्मयाविष्टमानसा ।
वद योगनिधे धीमन् कारणं चात्र किं भवेत् ॥५४॥

मैं द्रविड़ देशमें उत्पन्न हुई, कर्णाटकमें बढ़ी, कहीं-कहीं महाराष्ट्रमें सम्मानित हुई; किंतु गुजरातमें मुझको बुढ़ापेने आ घेरा ॥ ४८ ॥ वहाँ घोर कलियुगके प्रभावसे पाखण्डियोंने मुझे अङ्ग-भङ्ग कर दिया । चिरकालतक यह अवस्था रहनेके कारण मैं अपने पुत्रोंके साथ दुर्बल और निस्तेज हो गयी ॥ ४९ ॥ अब जबसे मैं वृन्दावन आयी, तबसे पुनः परम सुन्दरी सुरूपवती नवयुवती हो गयी हूँ ॥ ५० ॥ किंतु सामने पड़े हुए ये दोनों मेरे पुत्र थके-माँदे दुखी हो रहे हैं । अब मैं यह स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना चाहती हूँ ॥ ५१ ॥ ये दोनों बूढ़े हो गये हैं—इसी दुःखसे मैं दुखी हूँ । मैं तरुणी क्यों और ये दोनों पुत्र मेरे बूढ़े क्यों ? ॥५२॥ हम तीनों साथ-साथ रहनेवाले हैं । फिर यह विपरीतता क्यों ? होना तो यह चाहिये कि माता बूढ़ी हो और पुत्र तरुण ॥ ५३ ॥ इसीसे मैं आश्चर्यचकित चित्तसे अपनी इस अवस्थापर शोक करती रहती हूँ । आप परम बुद्धिमान् एवं योगनिधि हैं; इसका क्या कारण हो सकता है, बताइये ? ॥ ५४ ॥

नारद उवाच

ज्ञानेनात्मनि पश्यामि सर्वमेतत्तवानघे ।
न विषादस्त्वया कार्यो हरिः शं ते करिष्यति ॥५५॥

नारदजीने कहा—साध्वि ! मैं अपने हृदयमें ज्ञानदृष्टिसे तुम्हारे सम्पूर्ण दुःखका कारण देखता हूँ, तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये । श्रीहरि तुम्हारा कल्याण करेंगे ॥ ५५ ॥

सूत उवाच

क्षणमात्रेण तज्ज्ञात्वा वाक्यमूचे मुनीश्वरः ॥५६॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहिता बाले युगोऽयं दारुणः कलिः ।
तेन लुप्तः सदाचारो योगमार्गस्तपांसि च ॥५७॥
जना अघासुरायन्ते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः ।
इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः ।
धत्ते धैर्यं तु यो धीमान् स धीरः पण्डितोऽथवा ॥५८॥
अस्पृश्यानवलोक्येयं शेषभारकरी धरा ।
वर्षे वर्षे क्रमाज्जाता मङ्गलं नापि दृश्यते ॥५९॥
न त्वामपि सुतैः साकं कोऽपि पश्यति साम्प्रतम् ।
उपेक्षितानुरागान्धैर्जर्जरत्वेन संस्थिता ॥६०॥
वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा ।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ॥६१॥
ग्राहकाभावान्न जरामपि मुञ्चतः ।
किंचिदात्मसुखेनेह प्रसुप्तिर्मन्यतेऽनयोः ॥६२॥

भक्तिरुवाच

कथं परीक्षिता राज्ञा स्थापितो ह्यशुचिः कलिः ।
प्रवृत्ते तु कलौ सर्वसारः कुत्र गतो महान् ॥६३॥
करुणापरेण हरिणाप्यधर्मः कथमीक्ष्यते ।
इमं मे संशयं छिन्धि त्वद्वाचा सुखितास्म्यहम् ॥६४॥

नारद उवाच

यदि पृष्टस्त्वया बाले प्रेमतः श्रवणं कुरु ।
सर्वं वक्ष्यामि ते भद्रे कश्मलं ते गमिष्यति ॥६५॥
यदा मुकुन्दो भगवान् क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः ।
तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः ॥६६॥
दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः ।

सूतजी कहते हैं—मुनिवर नारदजीने एक क्षणमें ही उसका कारण जानकर कहा ॥ ५६ ॥

नारदजीने कहा—देवि ! सावधान होकर सुनो । यह दारुण कलियुग है । इसीसे इस समय सदाचार, योगमार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गये हैं ॥५७॥ लोग शठता और दुष्कर्ममें लगकर अघासुर बन रहे हैं । संसारमें जहाँ देखो, वहीं सत्पुरुष दुःखसे म्लान हैं और दुष्ट सुखी हो रहे हैं । इस समय जिस बुद्धिमान् पुरुषका धैर्य बना रहे, वही बड़ा ज्ञानी या पण्डित है ॥ ५८ ॥ पृथ्वी क्रमशः प्रतिवर्ष शेषजीके लिये भाररूप होती जा रही है । अब यह छूने योग्य तो क्या, देखने योग्य भी नहीं रह गयी है और न इसमें कहीं मङ्गल ही दिखायी देता है ॥ ५९ ॥ अब किसीको पुत्रोंके साथ तुम्हारा दर्शन भी नहीं होता । विषयानुरागके कारण अंधे बने हुए जीवोंसे उपेक्षित होकर तुम जर्जर हो रही थी ॥ ६० ॥ वृन्दावनके संयोगसे तुम फिर नवीन तरुणी हो गयी हो । अतः यह वृन्दावनधाम धन्य है, जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य कर रही है ॥ ६१ ॥ परंतु तुम्हारे इन दोनों पुत्रोंका यहाँ कोई ग्राहक नहीं है, इसलिये इनका बुढ़ापा नहीं छूट रहा है । यहाँ इनको कुछ आत्मसुख (भगवत्स्पर्शजनित आनन्द) की प्राप्ति होनेके कारण ये सोते-से जान पड़ते हैं ॥ ६२ ॥

भक्तिने कहा—राजा परीक्षित्ने इस पापी कलियुगको क्यों रहने दिया ? इसके आते ही सब वस्तुओंका सार न जाने कहाँ चला गया ? ॥ ६३ ॥ करुणामय श्रीहरिसे भी यह अधर्म कैसे देखा जाता है ? मुने ! मेरा यह संदेह दूर कीजिये, आपके वचनोंसे मुझे बड़ी शान्ति मिली है ॥ ६४ ॥

नारदजीने कहा—बाले ! यदि तुमने पूछा है, तो प्रेमसे सुनो । कल्याणी ! मैं तुम्हें सब बताऊँगा और तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥ ६५ ॥ जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण इस भूलोकको छोड़कर अपने परम धामको पधारे, उसी दिनसे यहाँ सम्पूर्ण साधनोंमें बाधा डालनेवाला कलियुग आ गया ॥ ६६ ॥ दिग्विजयके समय राजा परीक्षित्की दृष्टि पड़नेपर कलियुग दीनके समान उनकी शरणमें

न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक् ॥६७॥
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ॥६८॥
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम् ।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥६९॥
कुकर्माचरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना ।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥७०॥
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥७१॥
अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥७२॥
कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपस्सारस्ततो गतः ॥७३॥
मनसश्चाजयाल्लोभाद्दम्भात्पाखण्डसंश्रयात् ।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥७४॥
पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥७५॥
न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरस्सरा ।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले ॥७६॥
अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम् ।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥७७॥

सूत उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा विस्मयं परमं गता ।
भक्तिरूचे वचो भूयः श्रूयतां तच्च शौनक ॥७८॥

भक्तिरुवाच

सुरर्षे त्वं हि धन्योऽसि मद्भाग्येन समागतः ।
साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम् ॥७९॥

आया । भ्रमरके समान सारग्राही राजाने यह निश्चय किया कि इसका वध मुझे नहीं करना चाहिये ॥६७॥ क्योंकि जो फल तपस्या, योग एवं समाधिसे भी नहीं मिलता, कलियुगमें वही फल श्रीहरिकीर्तनसे ही भली-भाँति मिल जाता है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार सारहीन होनेपर भी उसे इस एक ही दृष्टिसे सारयुक्त देखकर उन्होंने कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सुखके लिये ही इसे रहने दिया था ॥ ६९ ॥

इस समय लोगोंके कुकर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण सभी वस्तुओंका सार निकल गया है और पृथ्वीके सारे पदार्थ बीजहीन भूसीके समान हो गये हैं ॥ ७० ॥ ब्राह्मण केवल अन्न-धनादिके लोभवश घर-घर एवं जन-जनको भागवतकी कथा सुनाने लगे हैं, इसलिये कथाका सार चला गया ॥७१॥ तीर्थोंमें नाना प्रकारके अत्यन्त घोर कर्म करनेवाले नास्तिक और नारकी पुरुष भी रहने लगे हैं; इसलिये तीर्थोंका भी प्रभाव जाता रहा ॥ ७२ ॥ जिनका चित्त निरन्तर काम, क्रोध, महान् लोभ और तृष्णासे तपता रहता है, वे भी तपस्याका ढोंग करने लगे हैं, इसलिये तपका भी सार निकल गया ॥ ७३ ॥ मनपर काबू न होनेके कारण तथा लोभ, दम्भ और पाखण्डका आश्रय लेनेके कारण एवं शास्त्रका अभ्यास न करनेसे ध्यानयोगका फल मिट गया ॥ ७४ ॥ पण्डितोंकी यह दशा है कि वे अपनी स्त्रियोंके साथ भैंसोंकी तरह रमण करते हैं; उनमें संतान पैदा करनेकी ही कुशलता पायी जाती है, मुक्तिसाधनमें वे सर्वथा अकुशल हैं ॥ ७५ ॥ सम्प्रदायानुसार प्राप्त हुई वैष्णवता भी कहीं देखनेमें नहीं आती । इस प्रकार जगह-जगह सभी वस्तुओंका सार लुप्त हो गया ॥ ७६ ॥ यह तो इस युगका स्वभाव ही है, इसमें किसीका दोष नहीं है । इसीसे पुण्डरीकाक्ष भगवान् बहुत समीप रहते हुए भी यह सब सह रहे हैं ॥ ७७ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! इस प्रकार देवर्षि नारदके वचन सुनकर भक्तिको बड़ा आश्चर्य हुआ; फिर उसने जो कुछ कहा, उसे सुनिये ॥ ७८ ॥

भक्तिने कहा—देवर्षे ! आप धन्य हैं ! मेरा बड़ा सौभाग्य था, जो आपका समागम हुआ । संसारमें साधुओंका दर्शन ही समस्त सिद्धियोंका परम कारण है ॥ ७९ ॥

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य ।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि ॥८०॥

आपका केवल एक बारका उपदेश धारण करके कयाधू-कुमार प्रह्लादने मायापर विजय प्राप्त कर ली थी। ध्रुवने भी आपकी कृपासे ही ध्रुवपद प्राप्त किया था। आप सर्वमङ्गलमय और साक्षात् श्रीब्रह्माजीके पुत्र हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥ ८० ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्ति-
नारदसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भक्तिका दुःख दूर करनेके लिये नारदजीका उद्योग

नारद उवाच

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम् ।
श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ॥ १ ॥
द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात् ।
पालिता गोपसुन्दर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः ॥ २ ॥
त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥ ३ ॥
सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी ॥ ४ ॥
इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह ।
परमानन्दचिन्मूर्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम् ॥ ५ ॥
बद्ध्वाञ्जलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा ।
त्वां तदाऽऽज्ञापयत्कृष्णो मद्भक्तान् पोषयेति च ॥ ६ ॥
अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा ।
मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ॥ ७ ॥
पोषणं स्वेन रूपेण वैकुण्ठे त्वं करोषि च ।
भूमौ भक्तविपोषाय छायारूपं त्वया कृतम् ॥ ८ ॥

नारदजीने कहा—बाले ! तुम व्यर्थ ही अपनेको क्यों खेदमें डाल रही हो ? अरे ! तुम इतनी चिन्तातुर क्यों हो ? भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करो, उनकी कृपासे तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा ॥ १ ॥ जिन्होंने कौरवोंके अत्याचारसे द्रौपदीकी रक्षा की थी और गोपसुन्दरियोंको सनाथ किया था, वे श्रीकृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं ॥ २ ॥ फिर तुम तो भक्ति हो और सदा उन्हें प्राणोंसे भी प्यारी हो; तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचोंके घरोंमें भी चले जाते हैं ॥ ३ ॥ सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें ज्ञान और वैराग्य मुक्तिके साधन थे; किंतु कलियुगमें तो केवल भक्ति ही ब्रह्मसायुज्य (मोक्ष) की प्राप्ति करानेवाली है ॥ ४ ॥ यह सोचकर ही परमानन्दचिन्मूर्ति ज्ञानस्वरूप श्रीहरिने अपने सत्स्वरूपसे तुम्हें रचा है; तुम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र-की प्रिया और परम सुन्दरी हो ॥५॥ एक बार जब तुमने हाथ जोड़कर पूछा था कि 'मैं क्या करूँ ?' तब भगवान्ने तुम्हें यही आज्ञा दी थी कि 'मेरे भक्तोंका पोषण करो।' ॥ ६ ॥ तुमने भगवान्की वह आज्ञा स्वीकार कर ली; इससे तुमपर श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए और तुम्हारी सेवा करनेके लिये मुक्तिको तुम्हें दासीके रूपमें दे दिया और इन ज्ञान-वैराग्यको पुत्रोंके रूपमें ॥ ७ ॥ तुम अपने साक्षात् स्वरूपसे वैकुण्ठधाममें ही भक्तोंका पोषण करती हो, भूलोकमें तो तुमने उनकी पुष्टिके लिये केवल छायारूप धारण कर रक्खा है ॥ ८ ॥

मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि ।
कृतादिद्वापरस्यान्तं महानन्देन संस्थिता ॥ ९ ॥
कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखण्डामयपीडिता ।
त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुण्ठं पुनरेव सा ॥१०॥
स्मृता त्वयापि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च ।
पुत्रीकृत्य त्वयेमौ च पार्श्वे स्वस्यैव रक्षितौ ॥११॥
उपेक्षातः कलौ मन्दौ वृद्धौ जातौ सुतौ तव ।
तथापि चिन्तां मुञ्च त्वमुपायं चिन्तयाम्यहम् ॥१२॥
कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने ।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥१३॥
अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् ।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥१४॥
त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यन्ति कलाविह ।
पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम् ॥१५॥
येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी ।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्तयः ॥१६॥
न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वासुरोऽपि वा ।
भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शने न प्रभुर्भवेत् ॥१७॥
न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा ।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥१८॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते ।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः १९
भक्तिद्रोहकरा ये च ते सीदन्ति जगत्त्रये ।
दुर्वासा दुःखमापन्नः पुरा भक्तविनिन्दकः ॥२०॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः ।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥२१॥

तब तुम मुक्ति, ज्ञान और वैराग्यको साथ लिये पृथ्वीतलपर आयीं और सत्ययुगसे द्वापरपर्यन्त बड़े आनन्दसे रहीं ॥ ९ ॥ कलियुगमें तुम्हारी दासी मुक्ति पाखण्डरूप रोगसे पीड़ित होकर क्षीण होने लगी थी, इसलिये वह तो तुरंत ही तुम्हारी आज्ञासे वैकुण्ठलोकको चली गयी ॥ १० ॥ इस लोकमें भी तुम्हारे स्मरण करनेसे ही वह आती है और फिर चली जाती है; किंतु इन ज्ञान-वैराग्यको तुमने पुत्र मानकर अपने पास ही रख छोड़ा है ॥ ११ ॥ फिर भी कलियुगमें इनकी उपेक्षा होनेके कारण तुम्हारे ये पुत्र उत्साहहीन और वृद्ध हो गये हैं; फिर भी तुम चिन्ता न करो, मैं इनके नवजीवनका उपाय सोचता हूँ ॥ १२ ॥ सुमुखि ! कलिके समान कोई भी युग नहीं है, इस युगमें मैं तुम्हें घर-घरमें प्रत्येक पुरुषके हृदयमें स्थापित कर दूँगा ॥ १३ ॥ देखो, अन्य सब धर्मोंको दबाकर और भक्तिविषयक महोत्सवोंको आगे रखकर यदि मैंने लोकमें तुम्हारा प्रचार न किया तो मैं श्रीहरिका दास नहीं ॥ १४ ॥ इस कलियुगमें जो जीव तुमसे युक्त होंगे, वे पापी होनेपर भी बेखटके भगवान् श्रीकृष्णके अभय धामको प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥ जिनके हृदयमें निरन्तर प्रेमरूपिणी भक्ति निवास करती है, वे शुद्धान्तःकरण पुरुष स्वप्नमें भी यमराजको नहीं देखते ॥ १६ ॥ जिनके हृदयमें भक्ति महारानीका निवास है, उन्हें प्रेत, पिशाच, राक्षस या दैत्य आदि स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं हो सकते ॥ १७ ॥ भगवान् तप, वेदाध्ययन, ज्ञान और कर्म आदि किसी भी साधनसे वशमें नहीं किये जा सकते; वे केवल भक्तिसे ही वशीभूत होते हैं । इसमें श्रीगोपीजन प्रमाण हैं ॥ १८ ॥ मनुष्योंका सहस्रों जन्मके पुण्य-प्रतापसे भक्तिमें अनुराग होता है । कलियुगमें केवल भक्ति, केवल भक्ति ही सार है । भक्तिसे तो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र सामने उपस्थित हो जाते हैं ॥ १९ ॥ जो लोग भक्तिसे द्रोह करते हैं, वे तीनों लोकोंमें दुःख-ही-दुःख पाते हैं । पूर्वकालमें भक्तका तिरस्कार करनेवाले दुर्वासा ऋषिको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था ॥ २० ॥ बस, बस—व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और ज्ञानचर्चा आदि बहुत-से साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं है; एकमात्र भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है ॥ २१ ॥

सूत उवाच

इति नारद निर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा ।
सर्वाङ्गपुष्टिसंयुक्ता नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥२२॥

भक्तिरुवाच

अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला ।
न कदाचिद्विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा ॥२३॥
कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात् ।
पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय ॥२४॥

सूत उवाच

तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गतः ।
तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन् ॥२५॥
मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन् ।
ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य प्रबुध्यताम् ॥२६॥
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः ।
बोध्यमानौ तदा तेन कथंचिच्चोत्थितौ बलात् ॥२७॥
नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ ।
बकवत्पलितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमाङ्गकौ ॥२८॥
क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ ।
ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च ॥२९॥
अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम् ।
चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव ॥३०॥
व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति ।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः ॥३१॥
एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर ।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः ॥३२॥
सत्कर्मणि कृते तस्मिन् सनिद्रा वृद्धतानयोः ।
गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति ॥३३॥
इत्याकाशवचः स्पष्टं तत्सर्वैरपि विश्रुतम् ।
नारदो विस्मयं लेभे नेदं ज्ञातमिति ब्रुवन् ॥३४॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार नारदजीके निर्णय किये हुए अपने माहात्म्यको सुनकर भक्तिके सारे अङ्ग पुष्ट हो गये और वे उनसे कहने लगीं ॥ २२ ॥

भक्तिने कहा—नारदजी ! आप धन्य हैं । आपकी मुझमें निश्चल प्रीति है । मैं सदा आपके हृदयमें रहूँगी, कभी आपको छोड़कर नहीं जाऊँगी ॥ २३ ॥ साधो ! आप बड़े कृपालु हैं । आपने क्षणभरमें ही मेरा सारा दुःख दूर कर दिया । किंतु अभी मेरे पुत्रोंमें चेतना नहीं आयी है; आप इन्हें शीघ्र ही सचेत कर दीजिये, जगा दीजिये ॥ २४ ॥

सूतजी कहते हैं—भक्तिके ये वचन सुनकर नारदजीको बड़ी करुणा आयी और वे उन्हें हाथसे हिला-डुलाकर जगाने लगे ॥ २५ ॥ फिर उनके कानके पास मुँह लगाकर जोरसे कहा, 'ओ ज्ञान ! जल्दी जग पड़ो; ओ वैराग्य ! जल्दी जग पड़ो' ॥ २६ ॥ फिर उन्होंने वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बार-बार गीतापाठ करके उन्हें जगाया; इससे वे जैसे-तैसे बहुत जोर लगाकर उठे ॥२७॥ किंतु आलस्यके कारण वे दोनों जँभाई लेते रहे, नेत्र उघाड़कर देख भी नहीं सके । उनके बाल बगुलोंकी तरह सफेद हो गये थे, उनके अङ्ग प्रायः सूखे काठके समान निस्तेज और कठोर हो गये थे ॥ २८ ॥ इस प्रकार भूख-प्यासके मारे अत्यन्त दुर्बल होनेके कारण उन्हें फिर सोते देख नारदजीको बड़ी चिन्ता हुई और वे सोचने लगे, 'अब मुझे क्या करना चाहिये ? ॥२९॥ इनकी यह नींद और इससे भी बढ़कर इनकी वृद्धावस्था कैसे दूर हो ?' शौनकजी ! इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे भगवान्का स्मरण करने लगे ॥ ३० ॥ उसी समय यह आकाशवाणी हुई कि 'मुने ! खेद मत करो, तुम्हारा यह उद्योग निःसंदेह सफल होगा ॥ ३१ ॥ देवर्षे ! इसके लिये तुम एक सत्कर्म करो, वह कर्म तुम्हें संतशिरोमणि महानुभाव बतायेंगे ॥ ३२ ॥ उस सत्कर्मका अनुष्ठान करते ही क्षणभरमें इनकी नींद और वृद्धावस्था चली जायँगी तथा सर्वत्र भक्तिका प्रसार होगा' ॥ ३३ ॥ यह आकाशवाणी वहाँ सभीको साफ-साफ सुनायी दी । इससे नारदजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे कहने लगे, 'मुझे तो इसका कुछ आशय समझमें नहीं आया' ॥३४॥

नारद उवाच

अनयाऽऽकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम् ।
किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः ॥३५॥
क्व भविष्यन्ति सन्तस्ते कथं दास्यन्ति साधनम् ।
मयात्र किं प्रकर्तव्यं यदुक्तं व्योमभाषया ॥३६॥

सूत उवाच

तत्र द्वावपि संस्थाप्य निर्गतो नारदो मुनिः ।
तीर्थं तीर्थं विनिष्क्रम्य पृच्छन्मार्गे मुनीश्वरान् ॥३७॥
वृत्तान्तः श्रूयते सर्वैः किंचिन्निश्चित्य नोच्यते ।
असाध्यं केचन प्रोचुर्दुर्ज्ञेयमिति चापरे ।
मूकीभूतास्तथान्ये तु कियन्तस्तु पलायिताः ॥३८॥
हाहाकारो महानासीत्त्रैलोक्ये विस्मयावहः ।
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्विबोधितम् ॥३९॥
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ।
उपायो नापरोऽस्तीति कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥४०॥
योगिना नारदेनापि स्वयं न ज्ञायते तु यत् ।
तत्कथं शक्यते वक्तुमितरैरिह मानुषैः ॥४१॥
एवमृषिगणैः पृष्टैर्निर्णीयोक्तं दुरासदम् ॥४२॥
ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः ।
तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः ॥४३॥
तावद्ददर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान् ।
कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः ॥४४॥

नारद उवाच

इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः संगमोऽभवत् ।
कुमारा ब्रुवतां शीघ्रं कृपां कृत्वा ममोपरि ॥४५॥
भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ॥४६॥

नारदजी बोले—इस आकाशवाणीने भी गुप्तरूपमें ही बात कही है। यह नहीं बताया कि वह कौन-सा साधन किया जाय, जिससे इनका कार्य सिद्ध हो ॥ ३५ ॥ वे संत न जाने कहाँ मिलेंगे और किस प्रकार उस साधनको बतायेंगे ? अब आकाशवाणीने जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मुझे क्या करना चाहिये ? ॥ ३६ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! तब ज्ञान-वैराग्य दोनोंको वहीं छोड़कर नारदमुनि वहाँसे चल पड़े और प्रत्येक तीर्थमें जा-जाकर मार्गमें मिलनेवाले मुनीश्वरोंसे वह साधन पूछने लगे ॥ ३७ ॥ उनकी उस बातको सुनते तो सब थे, किंतु उसके विषयमें कोई भी निश्चित उत्तर न देता । किन्हींने उसे असाध्य बताया; कोई बोले—'इसका ठीक-ठीक पता लगना ही कठिन है ।' कोई सुनकर चुप रह गये और कोई-कोई तो अपनी अवज्ञा होनेके भयसे बातको टाल-टूलकर खिसक गये ॥ ३८ ॥ त्रिलोकीमें महान् आश्चर्यजनक हाहाकार मच गया । लोग आपसमें कानाफूसी करने लगे—'भाई ! जब वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बार-बार गीतापाठ सुनानेपर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तीनों नहीं जगाये जा सके, तब और कोई उपाय नहीं है ॥ ३९-४० ॥ स्वयं योगिराज नारदको भी जिसका ज्ञान नहीं है, उसे दूसरे संसारी लोग कैसे बता सकते हैं ?' ॥ ४१ ॥ इस प्रकार जिन-जिन ऋषियोंसे इसके विषयमें पूछा गया, उन्होंने निर्णय करके यही कहा कि यह बात दुःसाध्य ही है ॥४२॥

तब नारदजी बहुत चिन्तातुर हुए और बदरीवनमें आये । ज्ञान-वैराग्यको जगानेके लिये वहाँ उन्होंने यह निश्चय किया कि 'मैं तप करूँगा' ॥ ४३ ॥ इसी समय उन्हें अपने सामने करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी सनकादि मुनीश्वर दिखायी दिये । उन्हें देखकर वे मुनिश्रेष्ठ कहने लगे ॥ ४४ ॥

नारदजीने कहा—महात्माओ ! इस समय बड़े भाग्यसे मेरा आपलोगोंके साथ समागम हुआ है, आप मुझपर कृपा करके शीघ्र ही वह साधन बताइये ॥४५॥ आप सभी लोग बड़े योगी, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं । आप देखनेमें पाँच-पाँच वर्षके बालक-से जान पड़ते हैं, किंतु हैं पूर्वजोंके भी पूर्वज ॥ ४६ ॥

सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः ।
लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः ॥४७॥
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः ।
अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते ॥४८॥
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा ।
भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ ॥४९॥
अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह ।
अनुग्रहस्तु कर्तव्यो मयि दीने दयापरैः ॥५०॥
अशरीरगिरोक्तं यत्तत्किं साधनमुच्यताम् ।
अनुष्ठेयं कथं तावत्प्रब्रुवन्तु सविस्तरम् ॥५१॥
भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम् ।
स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः ॥५२॥

कुमारा ऊचुः

मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह ।
उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि ॥५३॥
अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः ।
सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः ॥५४॥
त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि ।
घटते कृष्णदासस्य भक्तेः संस्थापना सदा ॥५५॥
ऋषिभिर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः ।
श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः ॥५६॥
वैकुण्ठसाधकः पन्था स तु गोप्यो हि वर्तते ।
तस्योपदेष्टा पुरुषः प्रायो भाग्येन लभ्यते ॥५७॥
सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा ।
तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः ॥५८॥

आपलोग सदा वैकुण्ठधाममें निवास करते हैं, निरन्तर हरिकीर्तनमें तत्पर रहते हैं, भगवल्लीलामृतका रसास्वादन कर सदा उसीमें उन्मत्त रहते हैं और एकमात्र भगवत्कथा ही आपके जीवनका आधार है ॥४७॥ 'हरिःशरणम्' (भगवान् ही हमारे रक्षक हैं) यह वाक्य (मन्त्र) सर्वदा आपके मुखमें रहता है; इसीसे कालप्रेरित वृद्धावस्था भी आपको बाधा नहीं पहुँचाती ॥ ४८ ॥ पूर्वकालमें आपके भ्रूभङ्गमात्रसे भगवान् विष्णुके द्वारपाल जय और विजय तुरंत पृथ्वीपर गिर गये थे और फिर आपकी ही कृपासे वे पुनः वैकुण्ठलोक पहुँच गये ॥४९॥ धन्य है, इस समय आपका दर्शन बड़े सौभाग्यसे ही हुआ है । मैं बहुत दीन हूँ और आपलोग स्वभावसे ही दयालु हैं; इसलिये मुझपर आपको अवश्य कृपा करनी चाहिये ॥५०॥ बताइये—आकाशवाणीने जिसके विषयमें कहा है, वह कौन-सा साधन है और मुझे किस प्रकार उसका अनुष्ठान करना चाहिये। आप इसका विस्तारसे वर्णन कीजिये ॥५१॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको किस प्रकार सुख मिल सकता है ? और किस तरह इनको प्रेमपूर्वक सब वर्णोंमें प्रतिष्ठा की जा सकती है ? ॥ ५२ ॥

सनकादिने कहा—देवर्षे ! आप चिन्ता न करें, मनमें प्रसन्न हों; उनके उद्धारका एक सरल उपाय पहलेसे ही विद्यमान है ॥ ५३ ॥ नारदजी ! आप धन्य हैं । आप विरक्तोंके शिरोमणि हैं । श्रीकृष्णदासोंके शाश्वत पथ-प्रदर्शक एवं भक्तियोगके भास्कर हैं ॥ ५४ ॥ आप भक्तिके लिये जो उद्योग कर रहे हैं, यह आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये । भगवान्‌के भक्तके लिये तो भक्तिकी सम्यक् स्थापना करना सदा उचित ही है॥५५॥ऋषियोंने संसारमें अनेकों मार्ग प्रकट किये हैं; किंतु वे सभी कष्टसाध्य हैं और परिणाममें प्रायः स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ ५६ ॥ अभीतक भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला मार्ग तो गुप्त ही रहा है । उसका उपदेश करनेवाला पुरुष प्रायः भाग्यसे ही मिलता है ॥ ५७ ॥ आपको आकाशवाणीने जिस सत्कर्मका संकेत किया है, उसे हम बतलाते हैं; आप प्रसन्न और समाहितचित्त होकर सुनिये ॥ ५८ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः ॥५९॥
सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः ।
श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः ॥६०॥
भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत् ।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति ॥६१॥
प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः ।
कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद् वृका इव ॥६२॥
ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा ।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति ॥६३॥

नारद उवाच

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ॥६४॥
श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति ।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥६५॥
छिन्दन्तु संशयं ह्येनं भवन्तोऽमोघदर्शनाः ।
विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः ॥६६॥

कुमारा ऊचुः

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः ॥६७॥
आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा ।
स भूयः सम्पृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः ॥६८॥
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते ।
पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रसवर्धनम् ॥६९॥
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति ।
पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा ॥७०॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।

नारदजी ! द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्याय-रूप ज्ञानयज्ञ—ये सब तो स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्मकी ही ओर संकेत करते हैं ॥ ५९ ॥ पण्डितोंने ज्ञानयज्ञको ही सत्कर्म (मुक्तिदायक कर्म) का सूचक माना है । वह श्रीमद्भागवतका पारायण है, जिसका गान शुकादि महानुभावोंने किया है ॥ ६० ॥ उसके शब्द सुननेसे ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको बड़ा बल मिलेगा । इससे ज्ञान-वैराग्यका कष्ट मिट जायगा और भक्तिको आनन्द मिलेगा ॥ ६१ ॥ सिंहकी गर्जना सुनकर जैसे भेड़िये भाग जाते हैं उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी ध्वनिसे कलियुगके सारे दोष नष्ट हो जायँगे ॥ ६२ ॥ तब प्रेमरस प्रवाहित करनेवाली भक्ति ज्ञान और वैराग्यको साथ लेकर प्रत्येक घर और व्यक्तिके हृदयमें क्रीड़ा करेगी॥ ६३ ॥

नारदजीने कहा—मैंने वेद-वेदान्तकी ध्वनि और गीतापाठ करके उन्हें बहुत जगाया, किंतु फिर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तीनों नहीं जगे ॥ ६४ ॥ ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवत सुनानेसे वे कैसे जगेंगे ? क्योंकि उस कथाके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक पदमें भी वेदोंका ही तो सारांश है ॥ ६५ ॥ आपलोग शरणागतवत्सल हैं तथा आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता; इसलिये मेरा यह संदेह दूर कर दीजिये, इस कार्यमें विलम्ब न कीजिये ॥ ६६ ॥

सनकादिने कहा—श्रीमद्भागवतकी कथा वेद और उपनिषदोंके सारसे बनी है । इसलिये उनसे अलग उनकी फलरूपा होनेके कारण वह बड़ी उत्तम जान पड़ती है ॥६७॥ जिस प्रकार रस वृक्षकी जड़से लेकर शाखाग्र-पर्यन्त रहता है, किंतु इस स्थितिमें उसका आस्वादन नहीं किया जा सकता; वही जब अलग होकर फलके रूपमें आ जाता है, तब संसारमें सभीको प्रिय लगने लगता है ॥ ६८ ॥ दूधमें घी रहता ही है, किंतु उस समय उसका अलग स्वाद नहीं मिलता; वही जब उससे अलग हो जाता है, तब देवताओंके लिये भी स्वादवर्धक हो जाता है ॥ ६९ ॥ खाँड ईखके ओर-छोर और बीचमें भी व्याप्त रहती है तथापि अलग होनेपर उसकी कुछ और ही मिठास होती है । ऐसी ही यह भागवतकी कथा है ॥ ७० ॥ यह भागवतपुराण वेदोंके समान है ।

भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम् ।।७१।।
वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि ।
परितापयति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे ।।७२।।
तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोकसमन्वितम् ।
तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः ।।७३।।
तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान् ।
श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम् ।।७४।।

श्रीव्यासदेवने इसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी स्थापनाके लिये प्रकाशित किया है ।। ७१ ।। पूर्वकालमें जिस समय वेद-वेदान्तके पारगामी और गीताकी भी रचना करनेवाले भगवान् व्यासदेव खिन्न होकर अज्ञानसमुद्रमें गोते खा रहे थे, उस समय आपने ही उन्हें चार श्लोकोंमें इसका उपदेश किया था । उसे सुनते ही उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी ।। ७२-७३ ।। फिर इसमें आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है, जो आप हमसे प्रश्न कर रहे हैं ? आपको उन्हें शोक और दुःखका विनाश करनेवाला श्रीमद्भागवतपुराण ही सुनाना चाहिये ।। ७४ ।।

नारद उवाच

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः
श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम् ।
निश्शेषशेषमुखगीतकथैकपानाः
प्रेमप्रकाशकृतये शरणं गतोऽस्मि ।।७५।।
भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ।।७६।।

नारदजीने कहा—महानुभावो ! आपका दर्शन जीवके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जो संसार-दुःखरूप दावानलसे तपे हुए हैं, उनपर शीघ्र ही शान्तिकी वर्षा करता है । आप निरन्तर शेषजीके सहस्र मुखोंसे गाये हुए भगवत्कथामृतका ही पान करते रहते हैं । मैं प्रेमलक्षणा भक्तिका प्रकाश करनेके उद्देश्यसे आपकी शरण लेता हूँ ।। ७५ ।। जब अनेकों जन्मोंके संचित पुण्य-पुञ्जका उदय होनेसे मनुष्यको सत्सङ्ग मिलता है, तब वह उसके अज्ञानजनित मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है ।। ७६ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये कुमारनारदसंवादो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

भक्तिके कष्टकी निवृत्ति

नारद उवाच

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः ।। १ ।।
कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह ।
महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः ।। २ ।।
कियद्भिर्दिवसैः श्राव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
को विधिस्तत्र कर्तव्यो ममेदं ब्रुवतामितः ।। ३ ।।

नारदजी कहते हैं—अब मैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको स्थापित करनेके लिये प्रयत्नपूर्वक श्रीशुकदेव-जीके कहे हुए भागवतशास्त्रकी कथाद्वारा उज्ज्वल ज्ञान-यज्ञ करूँगा ।। १ ।। यह यज्ञ मुझे कहाँ करना चाहिये, आप इसके लिये कोई स्थान बता दीजिये । आपलोग वेदके पारगामी हैं, इसलिये मुझे इस शुकशास्त्रकी महिमा सुनाइये ।। २ ।। यह भी बताइये कि श्रीमद्भाग-वतकी कथा कितने दिनोंमें सुनानी चाहिये और उसके सुननेकी विधि क्या है ।। ३ ।।

कुमारा ऊचुः

शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने ।
गङ्गाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम् ॥ ४ ॥
नानाऋषिगणैर्जुष्टं देवसिद्धनिषेवितम् ।
नानातरुलताकीर्णं नवकोमलवालुकम् ॥ ५ ॥
रम्यमेकान्तदेशस्थं हेमपद्मसुसौरभम् ।
यत्समीपस्थजीवानां वैरं चेतसि न स्थितम् ॥ ६ ॥
ज्ञानयज्ञस्त्वया तत्र कर्तव्यो ह्यप्रयत्नतः ।
अपूर्वरसरूपा च कथा तत्र भविष्यति ॥ ७ ॥
पुरःस्थं निर्बलं चैव जराजीर्णकलेवरम् ।
तद्द्वयं च पुरस्कृत्य भक्तिस्तत्रागमिष्यति ॥ ८ ॥
यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत् ।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्त्रिकं तरुणायते ॥ ९ ॥

सूत उवाच

एवमुक्त्वा कुमारास्ते नारदेन समं ततः ।
गङ्गातटं समाजग्मुः कथापानाय सत्वराः ॥१०॥
यदा यातास्तटं ते तु तदा कोलाहलोऽप्यभूत् ।
भूर्लोके देवलोके च ब्रह्मलोके तथैव च ॥११॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः ।
धावन्तोऽप्याययुः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः ॥१२॥
भृगुर्वसिष्ठश्च्यवनश्च गौतमो
मेधातिथिर्देवलदेवरातौ ।
रामस्तथा गाधिसुतश्च शाकलो
मृकण्डुपुत्रात्रिजपिप्पलादाः ॥१३॥
योगेश्वरौ व्यासपराशरौ च
छायाशुको जाजलिजह्नुमुख्याः ।
सर्वेऽप्यमी मुनिगणाः सहपुत्रशिष्याः
स्वस्त्रीभिराययुरतिप्रणयेन युक्ताः ॥१४॥
वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राः समूर्तयः ।
दश सप्तपुराणानि षट् शास्त्राणि तथाऽऽययुः ॥१५॥

सनकादि बोले—नारदजी ! आप बड़े विनीत और विवेकी हैं । सुनिये, हम आपको ये सब बातें बताते हैं । हरिद्वारके पास आनन्द नामका एक घाट है ॥ ४ ॥ वहाँ अनेकों ऋषि रहते हैं तथा देवता और सिद्धलोग भी उसका सेवन करते रहते हैं । भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताओंके कारण वह बड़ा सघन है और वहाँ बड़ी कोमल नवीन बालू बिछी हुई है ॥ ५ ॥ वह घाट बड़ा ही सुरम्य और एकान्त प्रदेशमें है, वहाँ हर समय सुनहले कमलोंकी सुगन्ध आया करती है । उसके आस-पास रहनेवाले सिंह, हाथी आदि परस्पर-विरोधी जीवोंके चित्तोंमें भी वैरभाव नहीं है ॥ ६ ॥ वहाँ आप बिना किसी विशेष प्रयत्नके ही ज्ञानयज्ञ आरम्भ कर दीजिये, उस स्थानपर कथामें अपूर्व रसका उदय होगा ॥ ७ ॥ भक्ति भी अपनी आँखोंके ही सामने निर्बल और जराजीर्ण-अवस्थामें पड़े हुए ज्ञान और वैराग्यको साथ लेकर वहाँ आ जायगी ॥ ८ ॥ क्योंकि जहाँ भी श्रीमद्भागवतकी कथा होती है, वहाँ ये भक्ति आदि अपने-आप पहुँच जाते हैं । वहाँ कानोंमें कथाके शब्द पड़नेसे ये तीनों तरुण हो जायँगे ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार कहकर नारदजीके साथ सनकादि भी श्रीमद्भागवतकथामृतका पान करनेके लिये वहाँसे तुरंत गङ्गातटपर चले आये ॥ १० ॥ जिस समय वे तटपर पहुँचे, भूलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक—सभी जगह इस कथाका हल्ला हो गया ॥ ११ ॥ जो-जो भगवत्कथाके रसिक विष्णुभक्त थे, वे सभी श्रीमद्भागवतामृतका पान करनेके लिये सबसे आगे दौड़-दौड़कर आने लगे ॥ १२ ॥ भृगु, वसिष्ठ, च्यवन, गौतम, मेधातिथि, देवल, देवरात, परशुराम, विश्वामित्र, शाकल, मार्कण्डेय, दत्तात्रेय, पिप्पलाद, योगेश्वर व्यास और पराशर, छायाशुक, जाजलि और जह्नु आदि सभी प्रधान-प्रधान मुनिगण अपने-अपने पुत्र, शिष्य और स्त्रियोंसमेत बड़े प्रेमसे वहाँ आये ॥ १३-१४ ॥ इनके सिवा वेद, वेदान्त (उपनिषद्), मन्त्र, तन्त्र, सत्रह पुराण और छहों शास्त्र भी मूर्तिमान् होकर वहाँ उपस्थित हुए ॥ १५ ॥

गङ्गाद्याः सरितस्तत्र पुष्करादिसरांसि च ।
क्षेत्राणि च दिशः सर्वा दण्डकादिवनानि च ॥१६॥
नगादयो ययुस्तत्र देवगन्धर्वदानवाः ।
गुरुत्वात्तत्र नायातान्भृगुः सम्बोध्य चानयत् ॥१७॥

गङ्गा आदि नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर, कुरुक्षेत्र आदि समस्त क्षेत्र, सारी दिशाएँ, दण्डक आदि वन, हिमालय आदि पर्वत तथा देव, गन्धर्व और दानव आदि सभी कथा सुनने चले आये । जो लोग अपने गौरवके कारण नहीं आये, महर्षि भृगु उन्हें समझा-बुझाकर ले आये ॥ १६-१७ ॥

दीक्षिता नारदेनाथ दत्तमासनमुत्तमम् ।
कुमारा वन्दिताः सर्वैर्निषेदुः कृष्णतत्पराः ॥१८॥
वैष्णवाश्च विरक्ताश्च न्यासिनो ब्रह्मचारिणः ।
मुखभागे स्थितास्ते च तदग्रे नारदः स्थितः ॥१९॥
एकभागे ऋषिगणास्तदन्यत्र दिवौकसः ।
वेदोपनिषदोऽन्यत्र तीर्थान्यत्र स्त्रियोऽन्यतः ॥२०॥
जयशब्दो नमश्शब्दः शङ्खशब्दस्तथैव च ।
चूर्णलाजाप्रसूनानां निक्षेपः सुमहानभूत् ॥२१॥
विमानानि समारुह्य कियन्तो देवनायकाः ।
कल्पवृक्षप्रसूनैस्तान् सर्वांस्तत्र समाकिरन् ॥२२॥

तब कथा सुनानेके लिये दीक्षित होकर श्रीकृष्ण-परायण सनकादि नारदजीके दिये हुए श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए । उस समय सभी श्रोताओंने उनकी वन्दना की ॥ १८ ॥ श्रोताओंमें वैष्णव, विरक्त, संन्यासी और ब्रह्मचारी लोग आगे बैठे और उन सबके आगे नारदजी विराजमान हुए ॥ १९ ॥ एक ओर ऋषिगण, एक ओर देवता, एक ओर वेद और उप-निषदादि तथा एक ओर तीर्थ बैठे और दूसरी ओर स्त्रियाँ बैठीं ॥ २० ॥ उस समय सब ओर जय-जयकार, नमस्कार और शङ्खोंका शब्द होने लगा और अबीर-गुलाल, खील एवं फूलोंकी खूब वर्षा होने लगी ॥ २१ ॥ कोई-कोई देवश्रेष्ठ तो विमानोंपर चढ़कर, वहाँ बैठे हुए सब लोगोंपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

सूत उवाच

एवं तेष्वेकचित्तेषु श्रीमद्भागवतस्य च ।
माहात्म्यमूचिरे स्पष्टं नारदाय महात्मने ॥२३॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार पूजा समाप्त होनेपर जब सब लोग एकाग्रचित्त हो गये, तब सनकादि ऋषि महात्मा नारदको श्रीमद्भागवतका माहात्म्य स्पष्ट करके सुनाने लगे ॥ २३ ॥

कुमारा ऊचुः

अथ ते वर्ण्यतेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः ।
यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता ॥२४॥
सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ॥२५॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः ।
परीक्षिच्छुकसंवादः शृणु भागवतं च तत् ॥२६॥
तावत्संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतेऽज्ञानतः पुमान् ।
यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम् ॥२७॥
किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः ।
एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति ॥२८॥

सनकादिने कहा—अब हम आपको इस भागवत-शास्त्रकी महिमा सुनाते हैं । इसके श्रवणमात्रसे मुक्ति हाथ लग जाती है ॥ २४ ॥ श्रीमद्भागवतकी कथाका सदा-सर्वदा सेवन, आस्वादन करना चाहिये । इसके श्रवणमात्रसे श्रीहरि हृदयमें आ विराजते हैं ॥ २५ ॥ इस ग्रन्थमें अठारह हजार श्लोक और बारह स्कन्ध हैं तथा श्रीशुकदेव और राजा परीक्षित्-का संवाद है । आप यह भागवतशास्त्र ध्यान देकर सुनिये ॥ २६ ॥ यह जीव तभीतक अज्ञानवश इस संसारचक्रमें भटकता है, जबतक क्षणभरके लिये भी कानोंमें इस शुकशास्त्रकी कथा नहीं पड़ती ॥ २७ ॥ बहुत-से शास्त्र और पुराण सुननेसे क्या लाभ है, इससे तो व्यर्थका भ्रम बढ़ता है । मुक्ति देनेके लिये तो एकमात्र भागवतशास्त्र ही गरज रहा है ॥ २८ ॥

कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ।
तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसतां पापनाशनम् ॥२९॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
शुकशास्त्रकथायाश्च कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३०॥
तावत्पापानि देहेऽस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः ।
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्भागवतं नरैः ॥३१॥
न गङ्गा न गया काशी पुष्करं न प्रयागकम् ।
शुकशास्त्रकथायाश्च फलेन समतां नयेत् ॥३२॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम् ॥३३॥
वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च ।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च ॥३४॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः ।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा ॥३५॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च ।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते ॥३६॥
यश्च भागवतं शास्त्रं वाचयेदर्थतोऽनिशम् ।
जन्मकोटिकृतं पापं नश्यते नात्र संशयः ॥३७॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद्भागवतं च यः ।
नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥३८॥
उक्तं भागवतं नित्यं कृतं च हरिचिन्तनम् ।
तुलसीपोषणं चैव धेनूनां सेवनं समम् ॥३९॥
अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक् ।
प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति ॥४०॥
हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति च ।
कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमाँल्लभते ध्रुवम् ॥४१॥

आजन्ममात्रमपि येन शठेन किंचि-
च्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता ।
चाण्डालवच्च खरवद्धत तेन नीतं
मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा ॥४२॥

जिस घरमें नित्यप्रति श्रीमद्भागवतकी कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है और जो लोग उसमें रहते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २९ ॥ हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ इस शुकशास्त्रकी कथाका सोलहवाँ अंश भी नहीं हो सकते ॥ ३० ॥ तपोधनो ! जबतक लोग अच्छी तरह श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं करते, तभीतक उनके शरीरमें पाप निवास करते हैं ॥ ३१ ॥ फलकी दृष्टिसे इस शुकशास्त्रकथाकी समता गङ्गा, गया, काशी, पुष्कर या प्रयाग—कोई तीर्थ भी नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

यदि आपको परम गतिकी इच्छा है तो अपने मुखसे ही श्रीमद्भागवतके आधे अथवा चौथाई श्लोकका भी नित्य नियमपूर्वक पाठ कीजिये ॥ ३३ ॥ ॐकार, गायत्री, पुरुषसूक्त, तीनों वेद, श्रीमद्भागवत, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—यह द्वादशाक्षर मन्त्र, बारह मूर्तियोंवाले सूर्यभगवान्, प्रयाग, संवत्सररूप काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, गौ, द्वादशी तिथि, तुलसी, वसन्त ऋतु और भगवान् पुरुषोत्तम—इन सबमें बुद्धिमान् लोग वस्तुतः कोई अन्तर नहीं मानते ॥ ३४–३६ ॥ जो पुरुष अहर्निश अर्थसहित श्रीमद्भागवत-शास्त्रका पाठ करता है, उसके करोड़ों जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ ३७ ॥ जो पुरुष नित्यप्रति भागवतका आधा या चौथाई श्लोक भी पढ़ता है, उसे राजसूय और अश्वमेध-यज्ञोंका फल मिलता है ॥ ३८ ॥ नित्य भागवतका पाठ करना, भगवान्का चिन्तन करना, तुलसीको सींचना और गौकी सेवा करना—ये चारों समान हैं ॥ ३९ ॥ जो पुरुष अन्तसमयमें श्रीमद्भागवतका वाक्य सुन लेता है, उसपर प्रसन्न होकर भगवान् उसे वैकुण्ठधाम देते हैं ॥ ४० ॥ जो पुरुष इसे सोनेके सिंहासनपर रखकर विष्णुभक्तको दान करता है, वह अवश्य ही भगवान्का सायुज्य प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

जिस दुष्टने अपनी सारी आयुमें चित्तको एकाग्र करके श्रीमद्भागवतामृतका थोड़ा-सा भी रसास्वादन नहीं किया, उसने तो अपना सारा जन्म चाण्डाल और गधेके समान व्यर्थ ही गँवा दिया; वह तो अपनी माताको प्रसव-पीड़ा पहुँचानेके लिये ही उत्पन्न हुआ ॥ ४२ ॥

जीवच्छवो निगदितः स तु पापकर्मा
येन श्रुतं शुककथावचनं न किंचित् ।
धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूप-
मेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः ॥४३॥
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥४४॥
तेन योगनिधे धीमन् श्रोतव्या सा प्रयत्नतः ।
दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम् ॥४५॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण सर्वदा श्रवणं मतम् ।
अशक्यत्वात्कलौ बोध्यो विशेषोऽत्र शुकाज्ञया ॥४६॥
मनोवृत्तिजयश्चैव नियमाचरणं तथा ।
दीक्षा कर्तुमशक्यत्वात्सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४७॥
श्रद्धातः श्रवणे नित्यं माघे तावद्धि यत्फलम् ।
तत्फलं शुकदेवेन सप्ताहश्रवणे कृतम् ॥४८॥
मनसश्चाजयाद्रोगात्पुंसां चैवायुषः क्षयात् ।
कलेर्दोषबहुत्वाच्च सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४९॥
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
अनायासेन तत्सर्वं सप्ताहश्रवणे लभेत् ॥५०॥
यज्ञाद्गर्जति सप्ताहः सप्ताहो गर्जति व्रतात् ।
तपसो गर्जति प्रोच्चैस्तीर्थान्नित्यं हि गर्जति ॥५१॥
योगाद्गर्जति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जति ।
किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति ॥५२॥

शौनक उवाच

साश्चर्यमेतत्कथितं कथानकं
ज्ञानादिधर्मान् विगणय्य साम्प्रतम् ।
निःश्रेयसे भागवतं पुराणं
जातं कुतो योगविदादिसूचकम् ॥५३॥

जिसने इस शुकशास्त्रके थोड़े-से भी वचन नहीं सुने, वह पापात्मा तो जीता हुआ ही मुर्देके समान है । 'पृथ्वीके भार-स्वरूप उस पशुतुल्य मनुष्यको धिक्कार है'—यों स्वर्गलोकमें देवताओंमें प्रधान इन्द्रादि कहा करते हैं ॥ ४३ ॥

संसारमें श्रीमद्भागवतकी कथाका मिलना अवश्य ही कठिन है; जब करोड़ों जन्मोंका पुण्य होता है, तभी इसकी प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥ नारदजी ! आप बड़े ही बुद्धिमान् और योगनिधि हैं। आप प्रयत्नपूर्वक कथाका श्रवण कीजिये । इसे सुननेके लिये दिनोंका कोई नियम नहीं है, इसे तो सर्वदा ही सुनना अच्छा है ॥ ४५ ॥ इसे सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सर्वदा ही सुनना श्रेष्ठ माना गया है । किंतु कलियुगमें ऐसा होना कठिन है; इसलिये इसकी शुकदेवजीने जो विशेष विधि बतायी है, वह जान लेनी चाहिये ॥ ४६ ॥ कलियुगमें बहुत दिनोंतक चित्तकी वृत्तियोंको वशमें रखना, नियमोंमें बँधे रहना और किसी पुण्यकार्यके लिये दीक्षित रहना कठिन है; इसलिये सप्ताह-श्रवणकी विधि है ॥ ४७ ॥ श्रद्धापूर्वक कभी भी श्रवण करनेसे अथवा माघमासमें श्रवण करनेसे जो फल होता है, वही फल श्रीशुकदेवजीने सप्ताहश्रवणमें निर्धारित किया है ॥ ४८ ॥ मनके असंयम, रोगोंकी बहुलता और आयुकी अल्पताके कारण तथा कलियुगमें अनेकों दोषोंकी सम्भावनासे ही सप्ताहश्रवणका विधान किया गया है ॥ ४९ ॥ जो फल तप, योग और समाधिसे भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह सर्वाङ्गरूपमें सप्ताहश्रवणसे सहजमें ही मिल जाता है ॥ ५० ॥ सप्ताहश्रवण यज्ञसे बढ़कर है, व्रतसे बढ़कर है, तपसे कहीं बढ़कर है । तीर्थसेवनसे तो सदा ही बड़ा है, योगसे बढ़कर है—यहाँतक कि ध्यान और ज्ञानसे भी बढ़कर है, अजी ! इसकी विशेषताका कहाँतक वर्णन करें, यह तो सभीसे बढ़-चढ़कर है ॥ ५१-५२ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! यह तो आपने बड़े आश्चर्यकी बात कही । अवश्य ही यह भागवतपुराण योगवेत्ता ब्रह्माजीके भी आदिकारण श्रीनारायणका निरूपण करता है; परंतु यह मोक्षकी प्राप्तिमें ज्ञानादि सभी साधनोंका तिरस्कार करके इस युगमें उनसे भी कैसे बढ़ गया ? ॥ ५३ ॥

सूत उवाच

यदा कृष्णो धरां त्यक्त्वा स्वपदं गन्तुमुद्यतः ।
एकादशं परिश्रुत्याप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत् ॥५४॥

उद्धव उवाच

त्वं तु यास्यसि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च ।
मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह ॥५५॥
आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः ।
तत्सङ्गेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा ॥५६॥
तदा भारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत् ।
अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन ॥५७॥
अतः सत्सु दयां कृत्वा भक्तवत्सल मा व्रज ।
भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥५८॥
त्वद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले।
निर्गुणोपासने कष्टमतः किंचिद्विचारय ॥५९॥
इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः ।
भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च ॥६०॥
स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात् ।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥६१॥
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ।
सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी ॥६२॥
सप्ताहश्रवणं तेन सर्वेभ्योऽप्यधिकं कृतम् ।
साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः ॥६३॥
दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च ।
कामक्रोधजयार्थं हि कलौ धर्मोऽयमीरितः ॥६४॥
अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा ।
कथं त्याज्या भवेत्पुम्भिः सप्ताहोऽतः प्रकीर्तितः॥६५॥

सूतजीने कहा—शौनकजी! जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधामको छोड़कर अपने नित्यधामको जाने लगे, तब उनके मुखारविन्दसे एकादश स्कन्धका ज्ञानोपदेश सुनकर भी उद्धवजीने पूछा ॥ ५४ ॥

उद्धवजी बोले—गोविन्द ! अब आप तो अपने भक्तोंका कार्य करके परमधामको पधारना चाहते हैं; किंतु मेरे मनमें एक बड़ी चिन्ता है । उसे सुनकर आप मुझे शान्त कीजिये ॥ ५५ ॥ अब घोर कलिकाल आया ही समझिये, इसलिये संसारमें फिर अनेकों दुष्ट प्रकट हो जायँगे; उनके संसर्गसे जब अनेकों सत्पुरुष भी उग्र प्रकृतिके हो जायँगे, तब उनके भारसे दबकर यह गोरूपिणी पृथ्वी किसकी शरणमें जायगी ? कमलनयन ! मुझे तो आपको छोड़कर इसकी रक्षा करनेवाला कोई दूसरा नहीं दिखायी देता ॥ ५६-५७ ॥ इसलिये भक्तवत्सल ! आप साधुओंपर कृपा करके यहाँसे मत जाइये । भगवन् ! आपने निराकार और चिन्मात्र होकर भी भक्तोंके लिये ही तो यह सगुण रूप धारण किया है ॥ ५८ ॥ फिर भला, आपका वियोग होनेपर वे भक्तजन पृथ्वीपर कैसे रह सकेंगे ? निर्गुणोपासनामें तो बड़ा कष्ट है । इसलिये कुछ और विचार कीजिये ॥ ५९ ॥

प्रभासक्षेत्रमें उद्धवजीके ये वचन सुनकर भगवान् सोचने लगे कि भक्तोंके अवलम्बके लिये मुझे क्या व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ६० ॥ शौनकजी ! तब भगवान्ने अपनी सारी शक्ति भागवतमें रख दी; वे अन्तर्धान होकर इस भागवतसमुद्रमें प्रवेश कर गये ॥ ६१ ॥ इसलिये यह भगवान्‌की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है । इसके सेवन, श्रवण, पाठ अथवा दर्शनसे ही मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ६२ ॥ इसीसे इसका सप्ताहश्रवण सबसे बढ़कर माना गया है और कलियुगमें तो अन्य सब साधनोंको छोड़कर यही प्रधान धर्म बताया गया है ॥ ६३ ॥ कलिकालमें यही ऐसा धर्म है, जो दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य और पापोंकी सफाई कर देता है तथा काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय दिलाता है ॥ ६४ ॥ अन्यथा, भगवान्‌की इस मायासे पीछा छुड़ाना देवताओंके लिये भी कठिन है, मनुष्य तो इसे छोड़ ही कैसे सकते हैं । अतः इससे छूटनेके लिये भी सप्ताहश्रवणका विधान किया गया है ॥ ६५ ॥

सूत उवाच

एवं नगाहश्रवणोरुधर्मे
प्रकाश्यमाने ऋषिभिः सभायाम् ।
आश्चर्यमेकं समभूत्तदानीं
तदुच्यते संशृणु शौनक त्वम् ॥६६॥
भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत् ।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती ॥६७॥
तां चागतां भागवतार्थभूषां
सुचारुवेषां ददृशुः सदस्याः ।
कथं प्रविष्टा कथमागतेयं
मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः ॥६८॥
ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं
कथार्थतो निष्पतिताधुनेयम् ।
एवं गिरः सा ससुता निशम्य
सनत्कुमारं निजगाद नम्रा ॥६९॥

भक्तिरुवाच

भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा
कलिप्रणष्टापि कथारसेन ।
क्वाहं तु तिष्ठाम्यधुना ब्रुवन्तु
ब्राह्मा इदं तां गिरमूचिरे ते ॥७०॥
भक्तेषु गोविन्दस्वरूपकर्त्री
प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री ।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया
निरन्तरं वैष्णवमानसानि ॥७१॥
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां
द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके ।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्ति-
स्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते ॥७२॥

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥७३॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! जिस समय सनकादि मुनीश्वर इस प्रकार सप्ताह-श्रवणकी महिमाका बखान कर रहे थे, उस सभामें एक बड़ा आश्चर्य हुआ; उसे मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥ ६६ ॥ वहाँ तरुणावस्थाको प्राप्त हुए अपने दोनों पुत्रोंको साथ लिये विशुद्ध प्रेमरूपा भक्ति बार-बार 'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे ! हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !' आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करती हुई अकस्मात् प्रकट हो गयीं ॥६७॥ सभी सदस्योंने देखा कि परम सुन्दरी भक्तिरानी भागवतके अर्थोंका आभूषण पहने वहाँ पधारीं । मुनियों-की उस सभामें सभी यह तर्क-वितर्क करने लगे कि ये यहाँ कैसे आयीं, कैसे प्रविष्ट हुईं ॥ ६८ ॥ तब सनकादिने कहा—'ये भक्तिदेवी अभी-अभी कथाके अर्थसे निकली हैं ।' उनके ये वचन सुनकर भक्तिने अपने पुत्रोंसमेत अत्यन्त विनम्र होकर सनत्कुमारजीसे कहा ॥ ६९ ॥

भक्ति बोलीं—मैं कलियुगमें नष्टप्राय हो गयी थी, आपने कथामृतसे सींचकर मुझे फिर पुष्ट कर दिया । अब आप यह बताइये कि मैं कहाँ रहूँ ? यह सुनकर सनकादिने उससे कहा—॥७०॥ 'तुम भक्तों-को भगवान्‌का स्वरूप प्रदान करनेवाली, अनन्यप्रेमका सम्पादन करनेवाली और संसार-रोगको निर्मूल करने-वाली हो; अतः तुम धैर्य धारण करके नित्य-निरन्तर विष्णुभक्तोंके हृदयोंमें ही निवास करो ॥ ७१ ॥ ये कलियुगके दोष भले ही सारे संसारपर अपना प्रभाव डालें, किंतु वहाँ तुमपर इनकी दृष्टि भी नहीं पड़ सकेगी ।' इस प्रकार उनकी आज्ञा पाते ही भक्ति तुरंत भगवद्भक्तोंके हृदयोंमें जा विराजीं ॥ ७२ ॥

जिनके हृदयमें एकमात्र श्रीहरिकी भक्ति निवास करती है, वे त्रिलोकीमें अत्यन्त निर्धन होनेपर भी परम धन्य हैं; क्योंकि इस भक्तिकी डोरीसे बँधकर तो साक्षात् भगवान् भी अपना परमधाम छोड़कर उनके हृदयमें आकर बस जाते हैं ॥ ७३ ॥

ब्रूमोऽद्य ते किमधिकं महिमानमेवं
ब्रह्मात्मकस्य भुवि भागवताभिधस्य।
यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता
श्रोतापि कृष्णसमतामलमन्यधर्मैः ॥७४॥

भूलोकमें यह भागवत साक्षात् परब्रह्मका विग्रह है, हम इसकी महिमा कहाँतक वर्णन करें। इसका आश्रय लेकर इसे सुनानेसे तो सुनने और सुनानेवाले दोनोंको ही भगवान् श्रीकृष्णकी समता प्राप्त हो जाती है। अतः इसे छोड़कर अन्य धर्मोंसे क्या प्रयोजन है ॥ ७४ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्तिकष्टनिवर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

गोकर्णोपाख्यान प्रारम्भ

सूत उवाच

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम्।
निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥ १ ॥
वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः।
काञ्चीकलापरुचिरो लसन्मुकुटकुण्डलः ॥ २ ॥
त्रिभङ्गललितश्चारुकौस्तुभेन विराजितः।
कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः ॥ ३ ॥
परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः।
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥ ४ ॥
वैकुण्ठवासिनो ये च वैष्णवा उद्धवादयः।
तत्कथाश्रवणार्थं ते गूढरूपेण संस्थिताः ॥ ५ ॥
तदा जयजयारावो रसपुष्टिरलौकिकी।
चूर्णप्रसूनवृष्टिश्च मुहुः शङ्खरवोऽप्यभूत् ॥ ६ ॥
तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः।
दृष्ट्वा च तन्मयावस्थां नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—मुनिवर! उस समय अपने भक्तोंके चित्तमें अलौकिक भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ देख भक्तवत्सल श्रीभगवान् अपना धाम छोड़कर वहाँ पधारे ॥ १ ॥ उनके गलेमें वनमाला शोभा पा रही थी, श्रीअङ्ग सजल जलधरके समान श्यामवर्ण था, उसपर मनोहर पीताम्बर सुशोभित था, कटिप्रदेश करधनीकी लड़ियोंसे सुसज्जित था, सिरपर मुकुटकी लटक और कानोंमें कुण्डलोंकी झलक देखते ही बनती थी ॥ २ ॥ वे त्रिभङ्गललित भावसे खड़े हुए चित्तको चुराये लेते थे। वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि दमक रही थी, सारा श्रीअङ्ग हरिचन्दनसे चर्चित था। उस रूपकी शोभा क्या कहें, उसने तो मानो करोड़ों कामदेवोंकी रूपमाधुरी छीन ली थी ॥ ३ ॥ वे परमानन्दचिन्मूर्ति मधुरातिमधुर मुरलीधर ऐसी अनुपम छबिसे अपने भक्तोंके निर्मल चित्तोंमें आविर्भूत हुए ॥ ४ ॥ भगवान्के नित्य लोकनिवासी लीलापरिकर उद्धवादि वहाँ गुप्तरूपसे उस कथाको सुननेके लिये आये हुए थे ॥५॥ प्रभुके प्रकट होते ही चारों ओर 'जय हो! जय हो!!' की ध्वनि होने लगी। उस समय भक्तिरसका अद्भुत प्रवाह चला, बार-बार अबीर-गुलाल और पुष्पोंकी वर्षा तथा शङ्खध्वनि होने लगी ॥६॥ उस सभामें जो लोग बैठे थे, उन्हें अपने देह, गेह और आत्माकी भी कोई सुधि न रही। उनकी ऐसी तन्मयता देखकर नारदजी कहने लगे—॥ ७ ॥

अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वराः
सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया।
मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र
सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति ॥ ८ ॥

मुनीश्वरगण! आज सप्ताह-श्रवणकी मैंने यह बड़ी ही अलौकिक महिमा देखी। यहाँ तो जो बड़े मूर्ख, दुष्ट और पशु-पक्षी भी हैं, वे सभी अत्यन्त निष्पाप हो गये हैं ॥८॥

अतो नृलोके ननु नास्ति किंचि-
चित्तस्य शोधाय कलौ पवित्रम् ।
अघौघविध्वंसकरं तथैव
कथासमानं भुवि नास्ति चान्यत् ॥ ९ ॥
के के विशुद्ध्यन्ति वदन्तु मह्यं
सप्ताहयज्ञेन कथामयेन ।
कृपालुभिर्लोकहितं विचार्य
प्रकाशितः कोऽपि नवीनमार्गः ॥१०॥

कुमारा ऊचुः

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः ।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥११॥
सत्येन हीनाः पितृमातृदूषका-
स्तृष्णाकुलाश्चाश्रमधर्मवर्जिताः ।
ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१२॥
पञ्चोग्रपापाश्छलछद्मकारिणः
क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये ।
ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१३॥
कायेन वाचा मनसापि पातकं
नित्यं प्रकुर्वन्ति शठा हठेन ये ।
परस्वपुष्टा मलिना दुराशयाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१४॥

अतः इसमें संदेह नहीं कि कलिकालमें चित्तकी शुद्धिके लिये इस भागवतकथाके समान मर्त्यलोकमें पापपुञ्जका नाश करनेवाला कोई दूसरा पवित्र साधन नहीं है ॥ ९ ॥ मुनिवर ! आपलोग बड़े कृपालु हैं, आपने संसारके कल्याणका विचार करके यह बिल्कुल निराला ही मार्ग निकाला है । आप कृपया यह तो बताइये कि इस कथारूप सप्ताहयज्ञके द्वारा संसारमें कौन-कौन लोग पवित्र हो जाते हैं ॥ १० ॥

सनकादिने कहा—जो लोग सदा तरह-तरहके पाप किया करते हैं, निरन्तर दुराचारमें ही तत्पर रहते हैं और उल्टे मार्गोंसे चलते हैं तथा जो क्रोधाग्निसे जलते रहनेवाले, कुटिल और कामपरायण हैं, वे सभी इस कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥ ११ ॥ जो सत्यसे च्युत, माता-पिताकी निन्दा करनेवाले, तृष्णाके मारे व्याकुल, आश्रमधर्मसे रहित, दम्भी, दूसरोंकी उन्नति देखकर कुढ़नेवाले और दूसरोंको दुःख देनेवाले हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥ १२ ॥ जो मदिरापान, ब्रह्महत्या, सुवर्णकी चोरी, गुरुस्त्रीगमन और विश्वासघात—ये पाँच महापाप करनेवाले, छल-छद्मपरायण, क्रूर, पिशाचोंके समान निर्दयी, ब्राह्मणोंके धनसे पुष्ट होनेवाले और व्यभिचारी हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥ १३ ॥ जो दुष्ट आग्रहपूर्वक सर्वदा मन, वाणी या शरीरसे पाप करते रहते हैं, दूसरेके धनसे ही पुष्ट होते हैं तथा मलिन मन और दुष्ट हृदयवाले हैं, वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥ १४ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्याम इतिहासं पुरातनम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण पापहानिः प्रजायते ॥१५॥
तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत्पत्तनमुत्तमम् ।
यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः ॥१६॥
आत्मदेवः पुरे तस्मिन् सर्ववेदविशारदः ।
श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः ॥१७॥
भिक्षुको वित्तवाँल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृता ।
स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुन्दरी सुकुलोद्भवा ॥१८॥

नारदजी ! अब हम तुम्हें इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं, उसके सुननेसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥ पूर्वकालमें तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक अनुपम नगर बसा हुआ था । वहाँ सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मोंका आचरण करते हुए सत्य और सत्कर्मोंमें तत्पर रहते थे ॥ १६ ॥ उस नगरमें समस्त वेदोंका विशेषज्ञ और श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें निपुण एक आत्मदेव नामक ब्राह्मण रहता था, वह साक्षात् दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी था ॥ १७ ॥ वह धनी होनेपर भी भिक्षाजीवी था । उसकी प्यारी पत्नी धुन्धुली कुलीन एवं सुन्दरी होनेपर भी सदा अपनी बातपर अड़ जानेवाली थी ॥ १८ ॥

लोकवार्तारता क्रूरा प्रायशो बहुजल्पिका ।
शूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया ॥१९॥
एवं निवसतोः प्रेम्णा दम्पत्यो रममाणयोः ।
अर्थाः कामास्तयोरासन्न सुखाय गृहादिकम् ॥२०॥
पश्चाद्धर्माः समारब्धास्ताभ्यां संतानहेतवे ।
गोभूहिरण्यवासांसि दीनेभ्यो यच्छतः सदा ॥२१॥
धनार्धं धर्ममार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च ।
न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम् ॥२२॥
एकदा स द्विजो दुःखाद् गृहं त्यक्त्वा वनं गतः ।
मध्याह्ने तृषितो जातस्तडागं समुपेयिवान् ॥२३॥
पीत्वा जलं निषण्णस्तु प्रजादुःखेन कर्शितः ।
मुहूर्तादपि तत्रैव संन्यासी कश्चिदागतः ॥२४॥
दृष्ट्वा पीतजलं तं तु विप्रो यातस्तदन्तिकम् ।
नत्वा च पादयोस्तस्य निःश्वसन् संस्थितः पुरः ॥२५॥

यतिरुवाच

कथं रोदिषि विप्र त्वं का ते चिन्ता बलीयसी ।
वद त्वं सत्वरं मह्यं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥२६॥

ब्राह्मण उवाच

किं ब्रवीमि ऋषे दुःखं पूर्वपापेन संचितम् ।
मदीयाः पूर्वजास्तोयं कवोष्णमुपभुञ्जते ॥२७॥
मद्दत्तं नैव गृह्णन्ति प्रीत्या देवा द्विजातयः ।
प्रजादुःखेन शून्योऽहं प्राणांस्त्यक्तुमिहागतः ॥२८॥
धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना ।
धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं संततिं विना ॥२९॥

उसे लोगोंकी बात करनेमें सुख मिलता था । स्वभाव था क्रूर । प्रायः कुछ-न-कुछ बकवाद करती रहती थी । गृहकार्यमें निपुण थी, कृपण थी और थी झगड़ालू भी ॥ १९ ॥ इस प्रकार ब्राह्मण-दम्पति प्रेमसे अपने घरमें रहते और विहार करते थे । उनके पास अर्थ और भोग-विलासकी सामग्री बहुत थी । घर-द्वार भी सुन्दर थे, परंतु उससे उन्हें सुख नहीं था ॥ २० ॥ जब अवस्था बहुत ढल गयी, तब उन्होंने संतानके लिये तरह-तरहके पुण्यकर्म आरम्भ किये और वे दीन-दुखियोंको गौ, पृथ्वी, सुवर्ण और वस्त्रादि दान करने लगे ॥ २१ ॥ इस प्रकार धर्ममार्गमें उन्होंने अपना आधा धन समाप्त कर दिया, तो भी उन्हें पुत्र या पुत्री किसीका भी मुख देखनेको न मिला । इसलिये अब वह ब्राह्मण बहुत ही चिन्तातुर रहने लगा ॥ २२ ॥

एक दिन वह ब्राह्मणदेवता बहुत दुखी होकर घरसे निकलकर वनको चल दिया । दोपहरके समय उसे प्यास लगी, इसलिये वह एक तालाबपर आया ॥ २३ ॥ संतानके अभावके दुःखने उसके शरीरको बहुत सुखा दिया था, इसलिये थक जानेके कारण जल पीकर वह वहीं बैठ गया था । दो घड़ी बीतनेपर वहाँ एक संन्यासी महात्मा आये ॥ २४ ॥ जब ब्राह्मणदेवताने देखा कि वे जल पी चुके हैं, तब वह उनके पास गया और चरणोंमें नमस्कार करनेके बाद सामने खड़े होकर लंबी-लंबी साँसें लेने लगा ॥ २५ ॥

संन्यासीने पूछा—कहो, ब्राह्मणदेवता ! रोते क्यों हो ? ऐसी तुम्हें क्या भारी चिन्ता है ? तुम जल्दी ही मुझे अपने दुःखका कारण बताओ ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाराज ! मैं अपने पूर्वजन्मके पापोंसे संचित दुःखका क्या वर्णन करूँ ? अब मेरे पितर मेरे द्वारा दी हुई जलाञ्जलिके जलको अपनी चिन्ताजनित साँससे कुछ गरम करके पीते हैं ॥ २७ ॥ देवता और ब्राह्मण मेरा दिया हुआ प्रसन्न मनसे स्वीकार नहीं करते । संतानके लिये मैं इतना दुखी हो गया हूँ कि मुझे सब सूना-ही-सूना दिखायी देता है । मैं प्राण त्यागनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ २८ ॥ संतानहीन जीवनको धिक्कार है, संतानहीन गृहको धिक्कार है ! संतानहीन धनको धिक्कार है और संतानहीन कुलको धिक्कार है !! ॥२९॥

पाल्यते या मया धेनुः सा वन्ध्या सर्वथा भवेत् ।
यो मया रोपितो वृक्षः सोऽपि वन्ध्यत्वमाश्रयेत् ॥३०॥
यत्फलं मद्गृहायातं तच्च शीघ्रं विनश्यति ।
निर्भाग्यस्यानपत्यस्य किमतो जीवितेन मे ॥३१॥
इत्युक्त्वा स रुरोदोच्चैस्तत्पार्श्वे दुःखपीडितः ।
तदा तस्य यतेश्चित्ते करुणाभूद्गरीयसी ॥३२॥
तद्भालाक्षरमालां च वाचयामास योगवान् ।
सर्वं ज्ञात्वा यतिः पश्चाद्विप्रमूचे सविस्तरम् ॥३३॥

यतिरुवाच

मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणो गतिः ।
विवेकं तु समासाद्य त्यज संसारवासनाम् ॥३४॥
शृणु विप्र मया तेऽद्य प्रारब्धं तु विलोकितम् ।
सप्तजन्मावधि तव पुत्रो नैव च नैव च ॥३५॥
संततेः सगरो दुःखमवापाङ्गः पुरा तथा ।
रे मुञ्चाद्य कुटुम्बाशां संन्यासे सर्वथा सुखम् ॥३६॥

ब्राह्मण उवाच

विवेकेन भवेत्किं मे पुत्रं देहि बलादपि ।
नो चेत्त्यजाम्यहं प्राणांस्त्वदग्रे शोकमूर्च्छितः ॥३७॥
पुत्रादिसुखहीनोऽयं संन्यासः शुष्क एव हि ।
गृहस्थः सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥३८॥
इति विप्राग्रहं दृष्ट्वा प्राब्रवीत्स तपोधनः ।
चित्रकेतुर्गतः कष्टं विधिलेखविमार्जनात् ॥३९॥
न यास्यसि सुखं पुत्राद्यथा दैवहतोद्यमः ।
अतो हठेन युक्तोऽसि ह्यर्थिनं किं वदाम्यहम् ॥४०॥
तस्याग्रहं समालोक्य फलमेकं स दत्तवान् ।

मैं जिस गायको पालता हूँ, वह भी सर्वथा बाँझ हो जाती है; जो पेड़ लगाता हूँ, उसपर भी फल-फूल नहीं लगते ॥ ३० ॥ मेरे घरमें जो फल आता है, वह भी बहुत जल्दी सड़ जाता है । जब मैं ऐसा अभागा और पुत्रहीन हूँ, तब फिर इस जीवनको ही रखकर मुझे क्या करना है ॥ ३१ ॥ यों कहकर वह ब्राह्मण दुःखसे व्याकुल हो उन संन्यासी महात्माके पास फूट-फूटकर रोने लगा । तब उन यतिवरके हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न हुई ॥ ३२ ॥ वे योगनिष्ठ थे; उन्होंने उसके ललाटकी रेखाएँ देखकर सारा वृत्तान्त जान लिया और फिर उसे विस्तारपूर्वक कहने लगे ॥ ३३ ॥

संन्यासीने कहा—ब्राह्मणदेवता ! इस प्रजाप्राप्तिका मोह त्याग दो । कर्मकी गति प्रबल है, विवेकका आश्रय लेकर संसारकी वासना छोड़ दो ॥ ३४ ॥ विप्रवर ! सुनो; मैंने इस समय तुम्हारा प्रारब्ध देखकर निश्चय किया है कि सात जन्मतक तुम्हारे कोई संतान किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥ ३५ ॥ पूर्वकालमें राजा सगर एवं अङ्गको संतानके कारण दुःख भोगना पड़ा था । ब्राह्मण ! अब तुम कुटुम्बकी आशा छोड़ दो । संन्यासमें ही सब प्रकारका सुख है ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणने कहा—महात्माजी ! विवेकसे मेरा क्या होगा । मुझे तो बलपूर्वक पुत्र दीजिये; नहीं तो मैं आपके सामने ही शोकमूर्च्छित होकर अपने प्राण त्यागता हूँ ॥ ३७ ॥ जिसमें पुत्र-स्त्री आदिका सुख नहीं है, ऐसा संन्यास तो सर्वथा नीरस ही है । लोक-में सरस तो पुत्र-पौत्रादिसे भरा-पूरा गृहस्थाश्रम ही है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणका ऐसा आग्रह देखकर उन तपोधनने कहा, 'विधाताके लेखको मिटानेका हठ करनेसे राजा चित्रकेतुको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था ॥ ३९ ॥ इसलिये दैव जिसके उद्योगको कुचल देता है, उस पुरुषके समान तुम्हें भी पुत्रसे सुख नहीं मिल सकेगा । तुमने तो बड़ा हठ पकड़ रक्खा है और अर्थीके रूपमें तुम मेरे सामने उपस्थित हो; ऐसी दशामें मैं तुमसे क्या कहूँ' ॥ ४० ॥

जब महात्माजीने देखा कि यह किसी प्रकार अपना आग्रह नहीं छोड़ता, तब उन्होंने उसे एक फल देकर

इदं भक्षय पत्न्या त्वं ततः पुत्रो भविष्यति ॥४१॥
सत्यं शौचं दया दानमेकभक्तं तु भोजनम् ।
वर्षावधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः ॥४२॥
एवमुक्त्वा ययौ योगी विप्रस्तु गृहमागतः ।
पत्न्याः पाणौ फलं दत्त्वा स्वयं यातस्तु कुत्रचित् ॥४३॥
तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह ।
अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये ॥४४॥
फलभक्षेण गर्भः स्याद्गर्भेणोदरवृद्धिता ।
स्वल्पभक्ष्यं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत् ॥४५॥
दैवाद् धाटी व्रजेद्ग्रामे पलायेद्गर्भिणी कथम् ।
शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत् ॥४६॥
तिर्यक्चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत् ।
प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे ॥४७॥
मन्दायां मयि सर्वस्वं ननान्दा संहरेत्तदा ।
सत्यशौचादिनियमो दुराराध्यः स दृश्यते ॥४८॥
लालने पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते ।
वन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः ॥४९॥
एवं कुतर्कयोगेन तत्फलं नैव भक्षितम् ।
पत्या पृष्टं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तयेरितम् ॥५०॥
एकदा भगिनी तस्यास्तद्गृहं स्वेच्छयाऽऽगता ।
तदग्रे कथितं सर्वं चिन्तेयं महती हि मे ॥५१॥
दुर्बला तेन दुःखेन ह्यनुजे करवाणि किम् ।
साब्रवीन्मम गर्भोऽस्ति तं दास्यामि प्रसूतितः ॥५२॥
तावत्कालं सगर्भेव गुप्ता तिष्ठ गृहे सुखम् ।
वित्तं त्वं मत्पतेर्यच्छ स ते दास्यति बालकम् ॥५३॥

कहा—'इसे तुम अपनी पत्नीको खिला देना, इससे उसके एक पुत्र होगा ॥ ४१ ॥ तुम्हारी स्त्रीको एक सालतक सत्य, शौच, दया, दान और एक समय एक ही अन्न खानेका नियम रखना चाहिये । यदि वह ऐसा करेगी तो बालक बहुत शुद्ध स्वभाववाला होगा' ॥ ४२ ॥

यों कहकर वे योगिराज चले गये और ब्राह्मण अपने घर लौट आया । वहाँ आकर उसने वह फल अपनी स्त्रीके हाथमें दे दिया और स्वयं कहीं चला गया ॥ ४३ ॥ उसकी स्त्री तो कुटिल स्वभावकी थी ही, वह रो-रोकर अपनी एक सखीसे कहने लगी—'सखी ! मुझे तो बड़ी चिन्ता हो गयी, मैं तो यह फल नहीं खाऊँगी ॥४४॥ फल खानेसे गर्भ रहेगा और गर्भसे पेट बढ़ जायगा । फिर कुछ खाया-पीया जायगा नहीं, इससे मेरी शक्ति क्षीण हो जायगी; तब बता, घरका धंधा कैसे होगा ?॥४५॥ और —दैववश— यदि कहीं गाँवमें डाकुओंका आक्रमण हो गया तो गर्भिणी स्त्री कैसे भागेगी । यदि शुकदेवजीकी तरह यह गर्भ भी पेटमें ही रह गया तो इसे बाहर कैसे निकाला जायगा ॥ ४६ ॥ और कहीं प्रसवकालके समय वह टेढ़ा हो गया तो फिर प्राणोंसे ही हाथ धोना पड़ेगा । यों भी प्रसवके समय बड़ी भयंकर पीड़ा होती है; मैं सुकुमारी भला, यह सब कैसे सह सकूँगी ? ॥४७॥ मैं जब दुर्बल पड़ जाऊँगी, तब ननदरानी आकर घरका सब माल-मता समेट ले जायँगी और मुझसे तो सत्य-शौचादि नियमोंका पालन होना भी कठिन ही जान पड़ता है ॥४८॥ जो स्त्री बच्चा जनती है, उसे उस बच्चेके लालन-पालनमें भी बड़ा कष्ट होता है । मेरे विचारसे तो वन्ध्या या विधवा स्त्रियाँ ही सुखी हैं' ॥४९॥

मनमें ऐसे ही तरह-तरहके कुतर्क उठनेसे उसने वह फल नहीं खाया और जब उसके पतिने पूछा—'फल खा लिया ?' तब उसने कह दिया—'हाँ, खा लिया' ॥ ५० ॥ एक दिन उसकी बहिन अपने-आप ही उसके घर आयी; तब उसने अपनी बहिनको सारा वृत्तान्त सुनाकर कहा कि 'मेरे मनमें इसकी बड़ी चिन्ता है ॥ ५१ ॥ मैं इस दुःखके कारण दिनोंदिन दुबली हो रही हूँ । बहिन ! मैं क्या करूँ ?' बहिनने कहा, 'मेरे पेटमें बच्चा है, प्रसव होनेपर वह बालक मैं तुझे दे दूँगी ॥ ५२ ॥ तबतक तू गर्भवतीके समान घरमें गुप्तरूपसे सुखसे रह । तू मेरे पतिको कुछ धन दे देगी तो वे तुझे अपना बालक दे देंगे ॥ ५३ ॥

षाण्मासिको मृतो बाल इति लोको वदिष्यति ।
तं बालं पोषयिष्यामि नित्यमागत्य ते गृहे ॥५४॥
फलमर्पय धेन्वै त्वं परीक्षार्थं तु साम्प्रतम् ।
तत्तदाचरितं सर्वं तथैव स्त्रीस्वभावतः ॥५५॥

(हम ऐसी युक्ति करेंगी) कि जिसमें सब लोग यही कहें कि 'इसका बालक छः महीनेका होकर मर गया' और मैं नित्यप्रति तेरे घर आकर उस बालकका पालन-पोषण करती रहूँगी ॥ ५४ ॥ तू इस समय इसकी जाँच करनेके लिये यह फल गौको खिला दे ।' ब्राह्मणीने स्त्रीस्वभाववश जो-जो उसकी बहिनने कहा था, वैसे ही सब किया॥५५॥

अथ कालेन सा नारी प्रसूता बालकं तदा ।
आनीय जनको बालं रहस्ये धुन्धुलीं ददौ ॥५६॥
तया च कथितं भर्त्रे प्रसूतः सुखमर्भकः ।
लोकस्य सुखमुत्पन्नमात्मदेवप्रजोदयात् ॥५७॥
ददौ दानं द्विजातिभ्यो जातकर्म विधाय च ।
गीतवादित्रघोषोऽभूत्तद्द्वारे मङ्गलं बहु ॥५८॥
भर्तुरग्रेऽब्रवीद्वाक्यं स्तन्यं नास्ति कुचे मम ।
अन्यस्तन्येन निर्दुग्धा कथं पुष्णामि बालकम् ॥५९॥
मत्स्वसुश्च प्रसूताया मृतो बालस्तु वर्तते ।
तामाकार्य गृहे रक्ष सा तेऽर्भं पोषयिष्यति ॥६०॥
पतिना तत्कृतं सर्वं पुत्ररक्षणहेतवे ।
पुत्रस्य धुन्धुकारीति नाम मात्रा प्रतिष्ठितम् ॥६१॥

इसके पश्चात् समयानुसार जब उस स्त्रीके पुत्र हुआ, तब उसके पिताने चुपचाप लाकर उसे धुन्धुलीको दे दिया ॥५६॥ और उसने आत्मदेवको सूचना दे दी कि मेरे सुख-पूर्वक बालक हो गया है । इस प्रकार आत्मदेवके पुत्र हुआ सुनकर सब लोगोंको बड़ा आनन्द हुआ ॥५७॥ ब्राह्मणने उसका जातकर्म-संस्कार करके ब्राह्मणोंको दान दिया और उसके द्वारपर गाना-बजाना तथा अनेक प्रकारके माङ्गलिक कृत्य होने लगे ॥ ५८ ॥ धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा, 'मेरे स्तनोंमें तो दूध ही नहीं है; फिर गौ आदि किसी अन्य जीवके दूधसे मैं इस बालकका किस प्रकार पालन करूँगी ? ॥ ५९ ॥ मेरी बहिनके अभी बालक हुआ था, वह मर गया है; उसे बुलाकर अपने यहाँ रख लें तो वह आपके इस बच्चेका पालन-पोषण कर लेगी ॥ ६० ॥ तब पुत्रकी रक्षाके लिये आत्मदेवने वैसा ही किया तथा माता धुन्धुलीने उस बालकका नाम धुन्धुकारी रक्खा ॥ ६१ ॥

त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम् ॥६२॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो विप्रस्तु संस्कारान् स्वयमादधे ।
मत्वाऽऽश्चर्यं जनाः सर्वे दिदृक्षार्थं समागताः ॥६३॥
भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत ।
धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥६४॥
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः ।
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥६५॥

इसके बाद तीन महीने बीतनेपर उस गौके भी एक मनुष्याकार बच्चा हुआ । वह सर्वाङ्गसुन्दर, दिव्य, निर्मल तथा सुवर्णकी-सी कान्तिवाला था ॥ ६२ ॥ उसे देखकर ब्राह्मणदेवताको बड़ा आनन्द हुआ और उसने स्वयं ही उसके सब संस्कार किये । इस समाचारसे और सब लोगोंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बालकको देखनेके लिये आये ॥६३॥ तथा आपसमें कहने लगे, 'देखो, भाई ! अब आत्मदेवका कैसा भाग्य उदय हुआ है ! कैसे आश्चर्यकी बात है कि गौके भी ऐसा दिव्यरूप बालक उत्पन्न हुआ है ॥ ६४ ॥ दैवयोगसे इस गुप्त रहस्यका किसीको भी पता न लगा । आत्मदेवने उस बालकके गौके-से कान देखकर उसका नाम 'गोकर्ण' रक्खा ॥ ६५ ॥

कियत्कालेन तौ जातौ तरुणौ तनयावुभौ ।
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ॥६६॥

कुछ काल बीतनेपर वे दोनों बालक जवान हो गये । उनमें गोकर्ण तो बड़ा पण्डित और ज्ञानी हुआ, किंतु धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट निकला ॥ ६६ ॥

स्नानशौचक्रियाहीनो दुर्भक्षी क्रोधवर्धितः ।
दुष्परिग्रहकर्ता च शवहस्तेन भोजनम् ॥६७॥
चौरः सर्वजनद्वेषी परवेश्मप्रदीपकः ।
लालनायार्भकान्धृत्वा सद्यः कूपे न्यपातयत् ॥६८॥
हिंसकः शस्त्रधारी च दीनान्धानां प्रपीडकः ।
चाण्डालाभिरतो नित्यं पाशहस्तः श्वसंगतः ॥६९॥
तेन वेश्याकुसङ्गेन पित्र्यं वित्तं तु नाशितम् ।
एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत् ॥७०॥
तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह ।
वन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥७१॥
क्व तिष्ठामि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहयेत् ।
प्राणांस्त्यजामि दुःखेन हा कष्टं मम संस्थितम् ॥७२॥
तदानीं तु समागत्य गोकर्णो ज्ञानसंयुतः ।
बोधयामास जनकं वैराग्यं परिदर्शयन् ॥७३॥
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः ।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम् ॥७४॥
न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥७५॥
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः ।
निपतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज ॥७६॥
तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताब्रवीत् ।
किं कर्तव्यं वने तात तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥७७॥
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः ।

स्नान-शौचादि ब्राह्मणोचित आचारोंका उसमें नाम भी न था और न खान-पानका ही कोई परहेज था । क्रोध उसमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था । वह बुरी-बुरी वस्तुओंका संग्रह किया करता था । मुर्देके हाथसे छुआया हुआ अन्न भी खा लेता था ॥६७॥ दूसरोंकी चोरी करना और सब लोगोंसे द्वेष बढ़ाना उसका स्वभाव बन गया था । छिपे-छिपे वह दूसरोंके घरोंमें आग लगा देता था । दूसरोंके बालकोंको खेलानेके लिये गोदमें लेता और उन्हें चट कुएँमें डाल देता ॥ ६८ ॥ हिंसाका उसे व्यसन-सा हो गया था । हर समय वह अस्त्र-शस्त्र धारण किये रहता और बेचारे अंधे और दीन-दुखियोंको व्यर्थ तंग करता । चाण्डालोंसे उसका विशेष प्रेम था; बस, हाथमें फंदा लिये कुत्तोंकी टोलीके साथ शिकारकी टोहमें घूमता रहता ॥ ६९ ॥ वेश्याओंके जालमें फँसकर उसने अपने पिताकी सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी । एक दिन माता-पिताको मार पीटकर घरके सब बर्तन-भाँडे उठा ले गया ॥ ७० ॥

इस प्रकार जब सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गयी, तब उसका कृपण पिता फूट-फूटकर रोने लगा और बोला—'इससे तो इसकी माँका बाँझ रहना ही अच्छा था; कुपुत्र तो बड़ा ही दुःखदायी होता है ॥७१॥ अब मैं कहाँ रहूँ ? कहाँ जाऊँ ? मेरे इस संकटको कौन काटेगा ? हाय ! मेरे ऊपर तो बड़ी विपत्ति आ पड़ी है, इस दुःखके कारण अवश्य मुझे एक दिन प्राण छोड़ने पड़ेंगे'॥ ७२ ॥ उसी समय परम ज्ञानी गोकर्णजी वहाँ आये और उन्होंने पिताको वैराग्यका उपदेश करते हुए बहुत समझाया ॥ ७३ ॥ वे बोले, "पिताजी ! यह संसार असार है । यह अत्यन्त दुःखरूप और मोहमें डालनेवाला है । पुत्र किसका ? धन किसका ? स्नेहवान् पुरुष रात-दिन दीपकके समान जलता रहता है ॥ ७४ ॥ इन्द्रको और चक्रवर्ती राजाको कुछ भी सुख नहीं है; सुख है तो केवल विरक्त, एकान्तजीवी मुनिको ॥ ७५ ॥ 'यह मेरा पुत्र है' इस अज्ञानको छोड़ दीजिये । मोहसे नरककी प्राप्ति होती है । यह शरीर तो नष्ट होगा ही । इसलिये सब कुछ छोड़कर वनमें चले जाइये" ॥ ७६ ॥

गोकर्णके वचन सुनकर आत्मदेव वनमें जानेके लिये तैयार हो गया और उनसे कहने लगा, 'बेटा ! वन-में रहकर मुझे क्या करना चाहिये, यह मुझसे विस्तारपूर्वक कहो ॥ ७७ ॥ मैं बड़ा मूर्ख हूँ, अबतक कर्मवश स्नेह-पाशमें बँधा हुआ अपङ्गकी भाँति इस घररूप

कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे ॥७८॥

अँधेरे कुएँमें ही पड़ा रहा हूँ। तुम बड़े दयालु हो, इससे मेरा उद्धार करो' ॥ ७८ ॥

गोकर्ण उवाच

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥७९॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥८०॥
एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय
यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययासौ
श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥८१॥

गोकर्णने कहा—पिताजी! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है; इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्य-रसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें ॥ ७९ ॥ भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा जल्दी-से-जल्दी दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवान्‌की कथाओंके रसका ही पान करें ॥ ८० ॥

इस प्रकार पुत्रकी वाणीसे प्रभावित होकर आत्मदेवने घर छोड़ दिया और वनकी यात्रा की। यद्यपि उसकी आयु उस समय साठ वर्षकी हो चुकी थी, फिर भी बुद्धिमें पूरी दृढ़ता थी। वहाँ रात-दिन भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे और नियमपूर्वक भागवतके दशमस्कन्धका पाठ करनेसे उसने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त कर लिया ॥ ८१ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
विप्रमोक्षो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

धुन्धुकारीको प्रेतयोनिकी प्राप्ति और उससे उद्धार

सूत उवाच

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम्।
क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत् ॥ १ ॥
इति तद्वाक्यसंत्रासाज्जनन्या पुत्रदुःखतः।
कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता ॥ २ ॥
गोकर्णस्तीर्थयात्रार्थं निर्गतो योगसंस्थितः।
न दुःखं न सुखं तस्य न वैरी नापि बान्धवः ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! पिताके वन चले जानेपर एक दिन धुन्धुकारीने अपनी माताको बहुत पीटा और कहा—'बता, धन कहाँ रक्खा है? नहीं तो अभी तेरी लुआठी (जलती लकड़ी) से खबर लूँगा ॥ १ ॥ उसकी इस धमकीसे डरकर और पुत्रके उपद्रवोंसे दुखी होकर वह रात्रिके समय कुएँमें जा गिरी और इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी ॥ २ ॥ योगनिष्ठ गोकर्णजी तीर्थयात्राके लिये निकल गये। उन्हें इन घटनाओंसे कोई सुख या दुःख नहीं होता था; क्योंकि उनका न कोई मित्र था न शत्रु ॥ ३ ॥

धुन्धुकारी गृहेऽतिष्ठत्पञ्चपण्यवधूवृतः ।
अत्युग्रकर्मकर्ता च तत्पोषणविमूढधीः ॥ ४ ॥
एकदा कुलटास्तास्तु भूषणान्यभिलिप्सवः ।
तदर्थं निर्गतो गेहात्कामान्धो मृत्युमस्मरन् ॥ ५ ॥
यतस्ततश्च संहृत्य वित्तं वेश्म पुनर्गतः ।
ताभ्योऽयच्छत्सुवस्त्राणि भूषणानि कियन्ति च ॥ ६ ॥
बहुवित्तचयं दृष्ट्वा रात्रौ नार्यो व्यचारयन् ।
चौर्यं करोत्यसौ नित्यमतो राजा ग्रहीष्यति ॥ ७ ॥
वित्तं हृत्वा पुनश्चैनं मारयिष्यति निश्चितम् ।
अतोऽर्थगुप्तये गूढमस्माभिः किं न हन्यते ॥ ८ ॥
निहत्यैनं गृहीत्वार्थं यास्यामो यत्र कुत्रचित् ।
इति ता निश्चयं कृत्वा सुप्तं सम्बद्ध्य रश्मिभिः ॥ ९ ॥
पाशं कण्ठे निधायास्य तन्मृत्युमुपचक्रमुः ।
त्वरितं न ममारासौ चिन्तायुक्तास्तदाभवन् ॥ १० ॥
तप्ताङ्गारसमूहांश्च तन्मुखे हि विचिक्षिपुः ।
अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः ॥ ११ ॥
तं देहं मुमुचुर्गर्ते प्रायः साहसिकाः स्त्रियः ।
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च ॥ १२ ॥
लोकैः पृष्टा वदन्ति स्म दूरं यातः प्रियो हि नः ।
आगमिष्यति वर्षेऽस्मिन् वित्तलोभविकर्षितः ॥ १३ ॥
स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद्बुधः ।
विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते ॥ १४ ॥
सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम् ॥ १५ ॥
संहृत्य वित्तं ता याताः कुलटा बहुभर्तृकाः ।

धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंके साथ घरमें रहने लगा । उनके लिये भोग-सामग्री जुटानेकी चिन्ताने उसकी बुद्धि नष्ट कर दी और वह नाना प्रकारके अत्यन्त क्रूर कर्म करने लगा ॥ ४ ॥ एक दिन उन कुलटाओंने उससे बहुत-से गहने माँगे । वह तो कामसे अंधा हो रहा था, मौतकी उसे कभी याद नहीं आती थी । बस, उन्हें जुटानेके लिये वह घरसे निकल पड़ा ॥ ५ ॥ वह जहाँ-तहाँसे बहुत-सा धन चुराकर घर लौट आया तथा उन्हें कुछ सुन्दर वस्त्र और आभूषण लाकर दिये ॥ ६ ॥ चोरीका बहुत माल देखकर रात्रिके समय स्त्रियोंने विचार किया कि 'यह नित्य ही चोरी करता है, इसलिये इसे किसी दिन अवश्य राजा पकड़ लेगा ॥ ७ ॥ राजा यह सारा धन छीनकर इसे निश्चय ही प्राणदण्ड देगा । जब एक दिन इसे मरना ही है, तब हम ही धनकी रक्षाके लिये गुप्तरूपसे इसको क्यों न मार डालें ॥ ८ ॥ इसे मारकर हम इसका माल-मता लेकर जहाँ-कहीं चली जायँगी ।' ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोये हुए धुन्धुकारीको रस्सियोंसे कस दिया और उसके गलेमें फाँसी लगाकर उसे मारनेका प्रयत्न किया । इससे जब वह जल्दी न मरा, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥ ९-१० ॥ तब उन्होंने उसके मुखपर बहुत-से दहकते अँगारे डाले; इससे वह अग्निकी लपटोंसे बहुत छटपटाकर मर गया ॥ ११ ॥ उन्होंने उसके शरीरको एक गड्ढेमें डालकर गाड़ दिया । सच है, स्त्रियाँ प्रायः बड़ी दुःसाहसी होती हैं । उनके इस कृत्यका किसीको भी पता न चला ॥ १२ ॥ लोगोंके पूछनेपर कह देती थीं कि 'हमारे प्रियतम पैसेके लोभसे अबकी बार कहीं दूर चले गये हैं, इसी वर्षके अंदर लौट आयेंगे' ॥ १३ ॥ बुद्धिमान् पुरुषको दुष्टा स्त्रियोंका कभी विश्वास न करना चाहिये । जो मूर्ख इनका विश्वास करता है, उसे दुखी होना पड़ता है ॥ १४ ॥ इनकी वाणी तो अमृतके समान कामियोंके हृदयमें रसका संचार करती है; किंतु हृदय छूरेकी धारके समान तीक्ष्ण होता है । भला, इन स्त्रियोंका कौन प्यारा है ? ॥ १५ ॥

वे कुलटाएँ धुन्धुकारीकी सारी सम्पत्ति समेटकर वहाँसे चंपत हो गयीं, उनके ऐसे न जाने कितने

धुन्धुकारी बभूवाथ महान् प्रेतः कुकर्मतः ॥१६॥
वात्यारूपधरो नित्यं धावन्दशदिशोऽन्तरम् ।
शीतातपपरिक्लिष्टो निराहारः पिपासितः ॥१७॥
न लेभे शरणं क्वापि हा दैवेति मुहुर्वदन् ।
कियत्कालेन गोकर्णो मृतं लोकादबुध्यत ॥१८॥
अनाथं तं विदित्वैव गयाश्राद्धमचीकरत् ।
यस्मिंस्तीर्थे तु संयाति तत्र श्राद्धमवर्तयत् ॥१९॥
एवं भ्रमन् स गोकर्णः स्वपुरं समुपेयिवान् ।
रात्रौ गृहाङ्गणे स्वप्तुमागतोऽलक्षितः परैः ॥२०॥
तत्र सुप्तं स विज्ञाय धुन्धुकारी स्वबान्धवम् ।
निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः ॥२१॥
सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत् ।
सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत् ॥२२॥
वैपरीत्यमिदं दृष्ट्वा गोकर्णो धैर्यसंयुतः ।
अयं दुर्गतिकः कोऽपि निश्चित्याथ तमब्रवीत् ॥२३॥

गोकर्ण उवाच

कस्त्वमुग्रतरो रात्रौ कुतो यातो दशामिमाम् ।
किं वा प्रेतः पिशाचो वा राक्षसोऽसीति शंस नः ॥२४॥

सूत उवाच

एवं पृष्टस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः ।
अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह ॥२५॥
ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत् ।
तत्सेकहतपापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥२६॥

प्रेत उवाच

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः ।
स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया ॥२७॥
कर्मणो नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनः ।
लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीभिर्दुःखेन मारितः ॥२८॥

पति थे और धुन्धुकारी अपने कुकर्मोंके कारण भयंकर प्रेत हुआ ॥ १६ ॥ वह बवंडरके रूपमें सर्वदा दसों दिशाओंमें भटकता रहता था तथा शीत-घामसे सन्तप्त और भूख-प्याससे व्याकुल होनेके कारण 'हा दैव ! हा दैव !' चिल्लाता रहता था । परंतु उसे कहीं भी कोई आश्रय न मिला । कुछ काल बीतनेपर गोकर्णने भी लोगोंके मुखसे धुन्धुकारीकी मृत्युका समाचार सुना ॥ १७-१८ ॥ तब उसे अनाथ समझकर उन्होंने उसका गयाजीमें श्राद्ध किया; और भी जहाँ-जहाँ वे जाते थे, उसका श्राद्ध अवश्य करते थे ॥ १९ ॥

इस प्रकार घूमते-घूमते गोकर्णजी अपने नगरमें आये और रात्रिके समय दूसरोंकी दृष्टिसे बचकर सीधे अपने घरके आँगनमें सोनेके लिये पहुँचे ॥ २० ॥ वहाँ अपने भाईको सोया देख आधी रातके समय धुन्धुकारीने अपना बड़ा विकट रूप दिखाया ॥ २१ ॥ वह कभी भेड़ा, कभी हाथी, कभी भैंसा, कभी इन्द्र और कभी अग्निका रूप धारण करता । अन्तमें वह मनुष्यके आकारमें प्रकट हुआ ॥ २२ ॥ ये विपरीत अवस्थाएँ देखकर गोकर्णने निश्चय किया कि यह कोई दुर्गतिको प्राप्त हुआ जीव है । तब उन्होंने उससे धैर्यपूर्वक पूछा ॥ २३ ॥

गोकर्णने कहा—तू कौन है ? रात्रिके समय ऐसे भयानक रूप क्यों दिखा रहा है ? तेरी यह दशा कैसे हुई ? हमें बता तो सही—तू प्रेत है, पिशाच है अथवा कोई राक्षस है ? ॥ २४ ॥

सूतजी कहते हैं—गोकर्णके इस प्रकार पूछनेपर वह बार-बार जोर-जोरसे रोने लगा । उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं थी, इसलिये उसने केवल संकेतमात्र किया ॥ २५ ॥ तब गोकर्णने अञ्जलिमें जल लेकर उसे अभिमन्त्रित करके उसपर छिड़का । इससे उसके पापोंका कुछ शमन हुआ और वह इस प्रकार कहने लगा ॥ २६ ॥

प्रेत बोला—'मैं तुम्हारा भाई हूँ । मेरा नाम है धुन्धुकारी । मैंने अपने ही दोषसे अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया ॥ २७ ॥ मेरे कुकर्मोंकी गिनती नहीं की जा सकती । मैं तो महान् अज्ञानमें चक्कर काट रहा था ! इसीसे मैंने लोगोंकी बड़ी हिंसा की । अन्तमें कुलटा स्त्रियोंने मुझे तड़पा-तड़पाकर मार डाला ॥ २८ ॥

अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम् ।
वाताहारेण जीवामि दैवाधीनफलोदयात् ॥२९॥
अहो बन्धो कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशु मोचय ।
गोकर्णो वचनं श्रुत्वा तस्मै वाक्यमथाब्रवीत् ॥३०॥

गोकर्ण उवाच

त्वदर्थं तु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः ।
तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत् ॥३१॥
गयाश्राद्धान्न मुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्विह ।
किं विधेयं मया प्रेत तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥३२॥

प्रेत उवाच

गयाश्राद्धशतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति ।
उपायमपरं कंचित्त्वं विचारय साम्प्रतम् ॥३३॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गोकर्णो विस्मयं गतः ।
शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव ॥३४॥
इदानीं तु निजं स्थानमातिष्ठ प्रेत निर्भयः ।
त्वन्मुक्तिसाधकं किंचिदाचरिष्ये विचार्य च ॥३५॥
धुन्धुकारी निजस्थानं तेनादिष्टस्ततो गतः ।
गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात् ॥३६॥
प्रातस्तमागतं दृष्ट्वा लोकाः प्रीत्या समागताः ।
तत्सर्वं कथितं तेन यज्जातं च यथा निशि ॥३७॥
विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः ।
तन्मुक्तिं नैव तेऽपश्यन् पश्यन्तः शास्त्रसंचयान् ॥३८॥
ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम् ।
गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा ॥३९॥
तुभ्यं नमो जगत्साक्षिन् ब्रूहि मे मुक्तिहेतुकम् ।
तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत ॥४०॥

इसीसे अब प्रेत-योनिमें पड़कर यह दुर्दशा भोग रहा हूँ । अब दैववश कर्मफलका उदय होनेसे मैं केवल वायुभक्षण करके जी रहा हूँ ॥ २९ ॥ भाई ! तुम दयाके समुद्र हो; अब किसी प्रकार जल्दी ही मुझे इस योनिसे छुड़ाओ ।' गोकर्णने धुन्धुकारीकी सारी बातें सुनीं और तब उससे बोले ॥ ३० ॥

गोकर्णने कहा—भाई ! मुझे इस बातका बड़ा आश्चर्य है—मैंने तुम्हारे लिये विधिपूर्वक गयाजीमें पिण्डदान किया, फिर भी तुम प्रेतयोनिसे मुक्त कैसे नहीं हुए ? ॥ ३१ ॥ यदि गया-श्राद्धसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई, तब इसका और कोई उपाय ही नहीं है । अच्छा, तुम सब बात खोलकर कहो—मुझे अब क्या करना चाहिये ? ॥ ३२ ॥

प्रेतने कहा—मेरी मुक्ति सैकड़ों गया-श्राद्ध करनेसे भी नहीं हो सकती । अब तो तुम इसका कोई और उपाय सोचो ॥ ३३ ॥

प्रेतकी यह बात सुनकर गोकर्णको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे कहने लगे—'यदि सैकड़ों गया-श्राद्धोंसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती, तब तो तुम्हारी मुक्ति असम्भव ही है ॥ ३४ ॥ अच्छा, अभी तो तुम निर्भय होकर अपने स्थानपर रहो; मैं विचार करके तुम्हारी मुक्तिके लिये कोई दूसरा उपाय करूँगा' ॥३५॥

गोकर्णकी आज्ञा पाकर धुन्धुकारी वहाँसे अपने स्थानपर चला आया । इधर गोकर्णने रातभर विचार किया, तब भी उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा ॥ ३६ ॥ प्रातःकाल उनको आया देख लोग प्रेमसे उनसे मिलने आये । तब गोकर्णने रातमें जो कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह सब उन्हें सुना दिया ॥ ३७ ॥ उनमें जो लोग विद्वान्, योगनिष्ठ, ज्ञानी और वेदज्ञ थे, उन्होंने भी अनेकों शास्त्रोंको उलट-पलटकर देखा; तो भी उसकी मुक्तिका कोई उपाय न मिला ॥ ३८ ॥ तब सबने यही निश्चय किया कि इस विषयमें सूर्यनारायण जो आज्ञा करें, वही करना चाहिये । अतः गोकर्णने अपने तपोबलसे सूर्यकी गतिको रोक दिया ॥३९॥ उन्होंने स्तुति की—'भगवन् ! आप सारे संसारके साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप मुझे कृपा करके धुन्धुकारीकी मुक्तिका साधन बताइये ।' गोकर्णकी यह प्रार्थना सुनकर

श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु ।
इति सूर्यवचः सर्वैर्धर्मरूपं तु विश्रुतम् ॥४१॥
सर्वेऽब्रुवन् प्रयत्नेन कर्तव्यं सुकरं त्विदम् ।
गोकर्णो निश्चयं कृत्वा वाचनार्थं प्रवर्तितः ॥४२॥
तत्र संश्रवणार्थाय देशग्रामाज्जना ययुः ।
पङ्ग्वन्धवृद्धमन्दाश्च तेऽपि पापक्षयाय वै ॥४३॥
समाजस्तु महाञ्जातो देवविस्मयकारकः ।
यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम् ॥४४॥
स प्रेतोऽपि तदाऽऽयातः स्थानं पश्यन्नितस्ततः।
सप्तग्रन्थियुतं तत्रापश्यत्कीचकमुच्छ्रितम् ॥४५॥
तन्मूलच्छिद्रमाविश्य श्रवणार्थं स्थितो ह्यसौ ।
वातरूपी स्थितिं कर्तुमशक्तो वंशमाविशत् ॥४६॥
वैष्णवं ब्राह्मणं मुख्यं श्रोतारं परिकल्प्य सः ।
प्रथमस्कन्धतः स्पष्टमाख्यानं धेनुजोऽकरोत् ॥४७॥
दिनान्ते रक्षिता गाथा तदा चित्रं बभूव ह ।
वंशैकग्रन्थिभेदोऽभूत्सशब्दं पश्यतां सताम् ॥४८॥
द्वितीयेऽह्नि तथा सायं द्वितीयग्रन्थिभेदनम् ।
तृतीयेऽह्नि तथा सायं तृतीयग्रन्थिभेदनम् ॥४९॥
एवं सप्तदिनैश्चैव सप्तग्रन्थिविभेदनम् ।
कृत्वा स द्वादशस्कन्धश्रवणात्प्रेततां जहौ ॥५०॥
दिव्यरूपधरो जातस्तुलसीदाममण्डितः ।
पीतवासा घनश्यामो मुकुटी कुण्डलान्वितः ॥५१॥
ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत् ।
त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात् ॥५२॥

सूर्यदेवने दूरसे ही स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'श्रीमद्भागवतसे मुक्ति हो सकती है, इसलिये तुम उसका सप्ताह-पारायण करो ।' सूर्यका यह धर्ममय वचन वहाँ सभीने सुना ॥ ४०-४१ ॥ तब सबने यही कहा कि 'प्रयत्नपूर्वक यही करो, है भी यह साधन बहुत सरल ।' अतः गोकर्णजी भी तदनुसार निश्चय करके कथा सुनानेके लिये तैयार हो गये ॥ ४२ ॥

देश और गाँवोंसे अनेकों लोग कथा सुननेके लिये आये । बहुत-से लँगड़े-लूले, अंधे, बूढ़े और मन्दबुद्धि पुरुष भी अपने पापोंकी निवृत्तिके उद्देश्यसे वहाँ आ पहुँचे ॥ ४३ ॥ इस प्रकार वहाँ इतनी भीड़ हो गयी कि उसे देखकर देवताओंको भी आश्चर्य होता था । जब गोकर्णजी व्यासगद्दीपर बैठकर कथा कहने लगे, तब वह प्रेत भी वहाँ आ पहुँचा और इधर-उधर बैठनेके लिये स्थान ढूँढ़ने लगा । इतनेमें ही उसकी दृष्टि एक सीधे रक्खे हुए सात गाँठके बाँसपर पड़ी ॥ ४४-४५ ॥ उसीके नीचेके छिद्रमें घुसकर वह कथा सुननेके लिये बैठ गया । वायुरूप होनेके कारण वह बाहर कहीं बैठ नहीं सकता था, इसलिये बाँसमें घुस गया ॥ ४६ ॥

गोकर्णजीने एक वैष्णव ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाया और प्रथम स्कन्धसे ही स्पष्ट स्वरमें कथा सुनानी आरम्भ कर दी ॥ ४७ ॥ सायंकालमें जब कथाको विश्राम दिया गया तब एक बड़ी विचित्र बात हुई । वहाँ सभासदोंके देखते-देखते उस बाँसकी एक गाँठ तड़-तड़ शब्द करती फट गयी ॥ ४८ ॥ इसी प्रकार दूसरे दिन सायंकालमें दूसरी गाँठ फटी और तीसरे दिन उसी समय तीसरी ॥ ४९ ॥ इस प्रकार सात दिनोंमें सातों गाँठोंको फोड़कर धुन्धुकारी बारहों स्कन्धोंके सुननेसे पवित्र होकर प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया और दिव्यरूप धारण करके सबके सामने प्रकट हुआ । उसका मेघके समान श्याम शरीर पीताम्बर और तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित था तथा सिरपर मनोहर मुकुट और कानोंमें कमनीय कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥ ५०-५१ ॥ उसने तुरंत अपने भाई गोकर्णको प्रणाम करके कहा—'भाई ! तुमने कृपा करके मुझे प्रेतयोनिकी यातनाओंसे मुक्त कर दिया ॥ ५२ ॥

धन्या भागवती वार्ता प्रेतपीडाविनाशिनी ।
सप्ताहोऽपि तथा धन्यः कृष्णलोकफलप्रदः ॥५३॥
कम्पन्ते सर्वपापानि सप्ताहश्रवणे स्थिते ।
अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति ॥५४॥
आर्द्रं शुष्कं लघु स्थूलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतम् ।
श्रवणं विदहेत्पापं पावकः समिधो यथा ॥५५॥
अस्मिन् वै भारते वर्षे सूरिभिर्देवसंसदि ।
अकथाश्राविणां पुंसां निष्फलं जन्म कीर्तितम् ॥५६॥
किं मोहतो रक्षितेन सुपुष्टेन बलीयसा ।
अध्रुवेण शरीरेण शुकशास्त्रकथां विना ॥५७॥
अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः ॥५८॥
जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम् ।
दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभङ्गुरम् ॥५९॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम् ।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि ॥६०॥
यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति ।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता ॥६१॥
सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः ।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थमेतदेव हि साधनम् ॥६२॥

यह प्रेतपीडाका नाश करनेवाली श्रीमद्भागवतकी कथा धन्य है तथा श्रीकृष्णचन्द्रके धामकी प्राप्ति करानेवाला इसका सप्ताह-पारायण भी धन्य है ! ॥ ५३ ॥ जब सप्ताह-श्रवणका योग लगता है, तब सब पाप थर्रा उठते हैं कि अब यह भागवतकी कथा जल्दी ही हमारा अन्त कर देगी ॥ ५४ ॥ जिस प्रकार आग गीली-सूखी, छोटी-बड़ी—सब तरहकी लकड़ियोंको जला डालती है, उसी प्रकार यह सप्ताह-श्रवण मन, वचन और कर्म-द्वारा किये हुए नये-पुराने, छोटे-बड़े—सभी प्रकारके पापोंको भस्म कर देता है ॥ ५५ ॥

विद्वानोंने देवताओंकी सभामें कहा है कि जो लोग इस भारतवर्षमें श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनते, उनका जन्म वृथा ही है ॥ ५६ ॥ भला, मोहपूर्वक लालन-पालन करके यदि इस अनित्य शरीरको हृष्ट-पुष्ट और बलवान् भी बना लिया, तो भी श्रीमद्भागवतकी कथा सुने बिना इससे क्या लाभ हुआ ? ॥ ५७ ॥ अस्थियाँ ही इस शरीरके आधारस्तम्भ हैं, नस-नाडीरूप रस्सियोंसे यह बँधा हुआ है, ऊपरसे इसपर मांस और रक्त थोपकर इसे चर्मसे मँढ़ दिया गया है। इसके प्रत्येक अङ्गमें दुर्गन्ध आती है; क्योंकि है तो यह मल-मूत्रका भाण्ड ही ॥ ५८ ॥ वृद्धावस्था और शोकके कारण यह परिणाममें दुःखमय ही है; रोगोंका तो घर ही ठहरा। यह निरन्तर किसी-न-किसी कामनासे पीड़ित रहता है, कभी इसकी तृप्ति नहीं होती। इसे धारण किये रहना भी एक भार ही है; इसके रोम-रोममें दोष भरे हुए हैं और नष्ट होनेमें इसे एक क्षण भी नहीं लगता ॥ ५९ ॥ अन्तमें यदि इसे गाड़ दिया जाता है तो इसके कीड़े बन जाते हैं; कोई पशु खा जाता है तो यह विष्ठा हो जाता है और अग्निमें जला दिया जाता है तो भस्मकी ढेरी हो जाता है। ये तीन ही इसकी गतियाँ बतायी गयी हैं। ऐसे अस्थिर शरीरसे मनुष्य अविनाशी फल देनेवाला काम क्यों नहीं बना लेता ? ॥ ६० ॥ जो अन्न प्रातःकाल पकाया जाता है, वह सायंकालतक बिगड़ जाता है; फिर उसीके रससे पुष्ट हुए शरीरकी नित्यता कैसी ॥ ६१ ॥

इस लोकमें सप्ताह-श्रवण करनेसे भगवान्‌की शीघ्र ही प्राप्ति हो सकती है। अतः सब प्रकारके दोषोंकी निवृत्तिके लिये एकमात्र यही साधन है ॥ ६२ ॥

बुद्बुदा इव तोयेषु मशका इव जन्तुषु ।
जायन्ते मरणायैव कथाश्रवणवर्जिताः ॥६३॥
जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम् ।
चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात् ॥६४॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते ॥६५॥
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि ।
कथातीर्थे स्थिते चित्ते मुक्तिरेव बुधैः स्मृता ॥६६॥
एवं ब्रुवति वै तस्मिन् विमानमागमत्तदा ।
वैकुण्ठवासिभिर्युक्तं प्रस्फुरद्दीप्तिमण्डलम् ॥६७॥
सर्वेषां पश्यतां भेजे विमानं धुन्धुलीसुतः ।
विमाने वैष्णवान् वीक्ष्य गोकर्णो वाक्यमब्रवीत् ॥६८॥

गोकर्ण उवाच

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो मम निर्मलाः ।
आनीतानि विमानानि न तेषां युगपत्कुतः ॥६९॥
श्रवणं समभागेन सर्वेषामिह दृश्यते ।
फलभेदः कुतो जातः प्रब्रुवन्तु हरिप्रियाः ॥७०॥

हरिदासा ऊचुः

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः ।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम् ।
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद ॥७१॥
सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम् ।
मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम् ॥७२॥
अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥७३॥
अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम् ।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम् ॥७४॥

जो लोग भागवतकी कथासे वञ्चित हैं, वे तो जलमें बुद्बुदे और जीवोंमें मच्छरोंके समान केवल मरनेके लिये ही पैदा होते हैं ॥ ६३ ॥ भला, जिसके प्रभावसे जड और सूखे हुए बाँसकी गाँठें फट सकती हैं, उस भागवतकथाका श्रवण करनेसे चित्तकी गाँठोंका खुल जाना कौन बड़ी बात है ॥ ६४ ॥ सप्ताह-श्रवण करनेसे मनुष्यके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ यह भागवतकथारूप तीर्थ संसारके कीचड़को धोनेमें बड़ा ही पटु है । विद्वानोंका कथन है कि जब यह हृदयमें स्थित हो जाता है, तब मनुष्यकी मुक्ति निश्चित ही समझनी चाहिये ॥ ६६ ॥

जिस समय धुन्धुकारी ये सब बातें कह रहा था, जिसके लिये वैकुण्ठवासी पार्षदोंके सहित एक विमान उतरा; उससे सब ओर मण्डलाकार प्रकाश फैल रहा था ॥ ६७ ॥ सब लोगोंके सामने ही धुन्धुकारी उस विमानपर चढ़ गया । तब उस विमानपर आये हुए पार्षदोंको देखकर उनसे गोकर्णने यह बात कही ॥ ६८ ॥

गोकर्णने पूछा—भगवान्‌के प्रिय पार्षदो ! यहाँ तो हमारे अनेकों शुद्धहृदय श्रोतागण हैं, उन सबके लिये आपलोग एक साथ बहुत-से विमान क्यों नहीं लाये ? हम देखते हैं कि यहाँ सभीने समानरूपसे कथा सुनी है, फिर फलमें इस प्रकारका भेद क्यों हुआ, यह बताइये ॥ ६९-७० ॥

भगवान्‌के सेवकोंने कहा—हे मानद ! इस फल-भेदका कारण इनके श्रवणका भेद ही है । यह ठीक है कि श्रवण तो सबने समानरूपसे ही किया है, किंतु इसके-जैसा मनन नहीं किया । इसीसे एक साथ भजन करनेपर भी उसके फलमें भेद रहा ॥ ७१ ॥ इस प्रेतने सात दिनोंतक निराहार रहकर श्रवण किया था तथा सुने हुए विषयका स्थिरचित्तसे यह खूब मनन-निदिध्यासन भी करता रहता था ॥७२॥ जो ज्ञान दृढ़ नहीं होता, वह व्यर्थ हो जाता है । इसी प्रकार ध्यान न देनेसे श्रवणका, संदेहसे मन्त्रका और चित्तके इधर-उधर भटकते रहनेसे जपका भी कोई फल नहीं होता ॥ ७३ ॥ वैष्णवहीन देश, अपात्रको कराया हुआ श्राद्धका भोजन, अश्रोत्रियको दिया हुआ दान एवं आचारहीन कुल—इन सबका नाश हो जाता है ॥ ७४ ॥

विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन्दीनत्वभावना।
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः ॥७५॥
एवमादि कृतं चेत्स्यात्तदा वै श्रवणे फलम्।
पुनः श्रवान्ते सर्वेषां वैकुण्ठे वसतिर्ध्रुवम् ॥७६॥
गोकर्ण तव गोविन्दो गोलोकं दास्यति स्वयम्।
एवमुक्त्वा ययुः सर्वे वैकुण्ठं हरिकीर्तनाः ॥७७॥
श्रावणे मासि गोकर्णः कथामूचे तथा पुनः।
सप्तरात्रवतीं भूयः श्रवणं तैः कृतं पुनः ॥७८॥
कथासमाप्तौ यज्जातं श्रूयतां तच्च नारद ॥७९॥
विमानैः सह भक्तैश्च हरिराविर्बभूव ह।
जयशब्दा नमश्शब्दास्तत्रासन् बहवस्तदा ॥८०॥
पाञ्चजन्यध्वनिं चक्रे हर्षात्तत्र स्वयं हरिः।
गोकर्णं तु समालिङ्ग्याकरोत्स्वसदृशं हरिः ॥८१॥
श्रोतॄनन्यान् घनश्यामान् पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनस्तथा चक्रे हरिः क्षणात् ॥८२॥
तद्ग्रामे ये स्थिता जीवा आश्वचाण्डालजातयः।
विमाने स्थापितास्तेऽपि गोकर्णकृपया तदा ॥८३॥
प्रेषिता हरिलोके ते यत्र गच्छन्ति योगिनः।
गोकर्णेन स गोपालो गोलोकं गोपवल्लभम्।
कथाश्रवणतः प्रीतो निर्ययौ भक्तवत्सलः ॥८४॥
अयोध्यावासिनः पूर्वं यथा रामेण संगताः।
तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम् ॥८५॥
यत्र सूर्यस्य सोमस्य सिद्धानां न गतिः कदा।
तं लोकं हि गतास्ते तु श्रीमद्भागवतश्रवात् ॥८६॥
ब्रूमोऽत्र ते किं फलवृन्दमुज्ज्वलं
सप्ताहयज्ञेन कथासु संचितम्।
कर्णेन गोकर्णकथाक्षरो यैः
पीतश्च ते गर्भगता न भूयः ॥८७॥

गुरुवचनोंमें विश्वास, दीनताका भाव, मनके दोषोंपर विजय और कथामें चित्तकी एकाग्रता इत्यादि नियमोंका यदि पालन किया जाय तो श्रवणका यथार्थ फल मिलता है। यदि ये श्रोता फिरसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुनें तो निश्चय ही सबको वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी ॥ ७५-७६ ॥ और गोकर्णजी! आपको तो भगवान् स्वयं आकर गोलोकधाममें ले जायँगे। यों कहकर वे सब पार्षद हरिकीर्तन करते वैकुण्ठलोकको चले गये ॥ ७७ ॥

श्रावण मासमें गोकर्णजीने फिर उसी प्रकार सप्ताह-क्रमसे कथा कही और उन श्रोताओंने उसे फिर सुना ॥ ७८ ॥ नारदजी! इस कथाकी समाप्तिपर जो कुछ हुआ, वह सुनिये ॥ ७९ ॥ वहाँ भक्तोंसे भरे हुए विमानोंके साथ भगवान् प्रकट हुए। सब ओरसे खूब जय-जयकार और नमस्कारकी ध्वनियाँ होने लगीं ॥ ८० ॥ भगवान् स्वयं हर्षित होकर अपने पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि करने लगे और उन्होंने गोकर्णको हृदयसे लगाकर अपने ही समान बना लिया ॥ ८१ ॥ उन्होंने क्षणभरमें ही अन्य सब श्रोताओंको भी मेघके समान श्यामवर्ण, रेशमी पीताम्बर-धारी तथा किरीट और कुण्डलादिसे विभूषित कर दिया ॥ ८२ ॥ उस गाँवमें कुत्ते और चाण्डालपर्यन्त जितने भी जीव थे, वे सभी गोकर्णजीकी कृपासे विमानोंपर चढ़ा लिये गये ॥ ८३ ॥ तथा जहाँ योगिजन जाते हैं, उस भगवद्धाममें वे भेज दिये गये। इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण कथा-श्रवणसे प्रसन्न होकर गोकर्णजीको साथ ले अपने ग्वालबालोंके प्रिय गोलोकधाममें चले गये ॥ ८४ ॥ पूर्वकालमें जैसे अयोध्यावासी भगवान् श्रीरामके साथ साकेतधाम सिधारे थे, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण उन सबको योगिदुर्लभ गोलोकधामको ले गये ॥ ८५ ॥ जिस लोकमें सूर्य, चन्द्रमा और सिद्धोंकी भी कभी गति नहीं हो सकती, उसमें वे श्रीमद्भागवत श्रवण करनेसे चले गये ॥ ८६ ॥

नारदजी! सप्ताहयज्ञके द्वारा कथा श्रवण करनेसे जैसा उज्ज्वल फल संचित होता है, उसके विषयमें हम आपसे क्या कहें? अजी! जिन्होंने अपने कर्ण-पुटसे गोकर्णजीकी कथाके एक अक्षरका भी पान किया था वे फिर माताके गर्भमें नहीं आये ॥ ८७ ॥

वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणै-
स्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसंचितैः ।
योगैश्च संयान्ति न तां गतिं वै
सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति याम् ॥८८॥
इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः ।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः ॥८९॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं
श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम् ।
श्राद्धे प्रयुक्तं पितृतृप्तिमावहे-
न्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च ॥९०॥

जिस गतिको लोग वायु, जल या पत्ते खाकर शरीर सुखानेसे बहुत कालतक घोर तपस्या करनेसे और योगाभ्याससे भी नहीं पा सकते, उसे वे सप्ताह-श्रवणसे सहजमें ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ ८८ ॥ इस परम पवित्र इतिहासका पाठ चित्रकूटपर विराजमान मुनीश्वर शाण्डिल्य भी ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर करते रहते हैं ॥ ८९ ॥ यह कथा बड़ी ही पवित्र है । एक बारके श्रवणसे ही समस्त पापराशिको भस्म कर देती है । यदि इसका श्राद्धके समय पाठ किया जाय, तो इससे पितृगणको बड़ी तृप्ति होती है और नित्य पाठ करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ९० ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोकर्णमोक्ष-
वर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सप्ताहयज्ञकी विधि

कुमारा ऊचुः

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् ।
सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥ १ ॥
दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छय यत्नतः ।
विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्पयेत् ॥ २ ॥
नभस्य आश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभाः ।
एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां मोक्षसूचकाः ॥ ३ ॥
मासानां विप्र हेयानि तानि त्याज्यानि सर्वथा ।
सहायाश्चेतरे तत्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये ॥ ४ ॥
देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रेष्या प्रयत्नतः ।
भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः ॥ ५ ॥
दूरेहरिकथाः केचिद्दूरेचाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत् ॥ ६ ॥
देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः ।
तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम् ॥ ७ ॥
सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः ।
अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति ॥ ८ ॥

श्रीसनकादि कहते हैं—नारदजी ! अब हम आपको सप्ताहश्रवणकी विधि बताते हैं । यह विधि प्रायः लोगोंकी सहायता और धनसे साध्य कही गयी है ॥ १ ॥ पहले तो यत्नपूर्वक ज्योतिषीको बुलाकर मुहूर्त्त पूछना चाहिये तथा विवाहके लिये जितने धनका प्रबन्ध किया जाता है, उतने ही धनकी व्यवस्था इसके लिये करनी चाहिये ॥ २ ॥ कथा आरम्भ करनेमें भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, आषाढ़ और श्रावण—ये छः महीने श्रोताओंके लिये मोक्षकी प्राप्तिके कारण हैं ॥ ३ ॥ देवर्षे ! इन महीनोंमें भी भद्रा-व्यतीपात आदि कुयोगोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये । तथा दूसरे लोग जो उत्साही हों, उन्हें अपना सहायक बना लेना चाहिये ॥ ४ ॥ फिर प्रयत्न करके देश-देशान्तरोंमें यह संवाद भेजना चाहिये कि यहाँ कथा होगी, सब लोगोंको सपरिवार पधारना चाहिये ॥ ५ ॥ स्त्री और शूद्रादि भगवत्कथा एवं संकीर्तनसे दूर पड़ गये हैं । उनको भी सूचना हो जाय, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये ॥ ६ ॥ देश-देशमें जो विरक्त वैष्णव और हरिकीर्तनके प्रेमी हों, उनके पास निमन्त्रणपत्र अवश्य भेजे । उसे लिखनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है ॥ ७ ॥ 'महानुभावो ! यहाँ सात दिनतक सत्पुरुषोंका बड़ा दुर्लभ समागम रहेगा और अपूर्व रसमयी श्रीमद्भागवतकी कथा होगी ॥ ८ ॥

श्रीभागवतपीयूषपानाय　　रसलम्पटाः ।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः ॥ ९ ॥
नावकाशः कदाचिच्चेद्दिनमात्रं तथापि तु ।
सर्वथाऽऽगमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः ॥१०॥
एवमाकारणं तेषां कर्तव्यं विनयेन च ।
आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत् ॥११॥
तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं मतम् ।
विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम् ॥१२॥
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम् ।
गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत् ॥१३॥
अर्वाक्पञ्चाहतो यत्नादास्तीर्णानि प्रमेलयेत् ।
कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीखण्डमण्डितः ॥१४॥
फलपुष्पदलैर्विष्वग्वितानेन　　विराजितः ।
चतुर्दिक्षु ध्वजारोपो बहुसम्पद्विराजितः ॥१५॥
ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च कल्पनीयाः सविस्तरम् ।
तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य च ॥१६॥
पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम् ।
वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत् ॥१७॥
उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा ।
प्राङ्मुखश्चेद्भवेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा ॥१८॥
अथवा पूर्वदिग्ज्ञेया पूज्यपूजकमध्यतः ।
श्रोतृणामागमे प्रोक्तो देशकालादिकोविदैः ॥१९॥
विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत् ।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः ॥२०॥
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः ।
शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः ॥२१॥
वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः ।
पण्डितः संशयच्छेत्ता लोकबोधनतत्परः ॥२२॥

आपलोग भगवद्रसके रसिक हैं, अतः श्रीभागवतामृतका पान करनेके लिये प्रेमपूर्वक शीघ्र ही पधारनेकी कृपा करें ॥ ९ ॥ यदि आपको विशेष अवकाश न हो, तो भी एक दिनके लिये तो अवश्य ही कृपा करनी चाहिये; क्योंकि यहाँका तो एक क्षण भी अत्यन्त दुर्लभ है' ॥ १० ॥ इस प्रकार विनयपूर्वक उन्हें निमन्त्रित करे और जो लोग आयें, उनके लिये यथोचित निवासस्थानका प्रबन्ध करे ॥ ११ ॥

कथाका श्रवण किसी तीर्थमें, वनमें अथवा अपने घरपर भी अच्छा माना गया है । जहाँ लंबा-चौड़ा मैदान हो, वहीं कथास्थल रखना चाहिये ॥ १२ ॥ भूमिका शोधन, मार्जन और लेपन करके रंग-बिरंगी धातुओंसे चौक पूरे । घरकी सारी सामग्री उठाकर एक कोनेमें रख दे ॥ १३ ॥ पाँच दिन पहलेसे ही यत्नपूर्वक बहुत-से बिछानेके वस्त्र एकत्र कर ले तथा केलेके खंभोंसे सुशोभित एक ऊँचा मण्डप तैयार कराये ॥ १४ ॥ उसे सब ओर फल, पुष्प, पत्र और चँदोवेसे अलंकृत करे तथा चारों ओर झंडियाँ लगाकर तरह-तरहके सामानोंसे सजा दे ॥ १५ ॥ उस मण्डपमें कुछ ऊँचाईपर सात विशाल लोकोंकी कल्पना करे और उनमें विरक्त ब्राह्मणोंको बुला-बुलाकर बैठाये ॥ १६ ॥ आगेकी ओर उनके लिये वहाँ यथोचित आसन तैयार रक्खे । इनके पीछे वक्ताके लिये भी एक दिव्य सिंहासनका प्रबन्ध करे ॥ १७ ॥ यदि वक्ताका मुख उत्तरकी ओर रहे तो श्रोता पूर्वाभिमुख होकर बैठे और यदि वक्ता पूर्वाभिमुख रहे तो श्रोताको उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये ॥ १८ ॥ अथवा वक्ता और श्रोताको पूर्वमुख होकर बैठना चाहिये । देश-काल आदिको जाननेवाले महानुभावोंने श्रोताके लिये ऐसा ही नियम बताया है ॥ १९ ॥ जो वेद-शास्त्रकी स्पष्ट व्याख्या करनेमें समर्थ हो, तरह-तरहके दृष्टान्त दे सकता हो तथा विवेकी और अत्यन्त निःस्पृह हो, ऐसे विरक्त और विष्णुभक्त ब्राह्मणको वक्ता बनाना चाहिये ॥ २० ॥ श्रीमद्भागवतके प्रवचनमें ऐसे लोगोंको नियुक्त नहीं करना चाहिये, जो पण्डित होनेपर भी अनेक धर्मोंके चक्करमें पड़े हुए, स्त्री-लम्पट एवं पाखण्डके प्रचारक हों ॥ २१ ॥ वक्ताके पास ही उसकी सहायताके लिये एक वैसा ही विद्वान् और स्थापित करना चाहिये । वह भी सब प्रकारके संशयोंकी निवृत्ति करनेमें समर्थ और लोगोंको समझानेमें कुशल हो ॥ २२ ॥

वक्त्रा क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाग्व्रताप्तये ।
अरुणोदयेऽसौ निर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत् ॥२३॥
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा संध्याद्यं स्वं प्रयत्नतः ।
कथाविघ्नविघाताय गणनाथं प्रपूजयेत् ॥२४॥
पितॄन् संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
मण्डलं च प्रकर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा ॥२५॥
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत्पूजाविधिं क्रमात् ।
प्रदक्षिणनमस्कारान् पूजान्ते स्तुतिमाचरेत् ॥२६॥
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे ।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात् ॥२७॥
श्रीमद्भागवतस्यापि ततः पूजा प्रयत्नतः ।
कर्तव्या विधिना प्रीत्या धूपदीपसमन्विता ॥२८॥
ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत् ।
स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तदा ॥२९॥
श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि ।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे ॥३०॥
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया ।
निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव ॥३१॥
एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं चाथ पूजयेत् ।
सम्भूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत् ॥३२॥
शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय ॥३३॥
तदग्रे नियमः पश्चात्कर्तव्यः श्रेयसे मुदा ।
सप्तरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि ॥३४॥
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये ।
कर्तव्यं तैर्हरेर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया ॥३५॥
ब्राह्मणान् वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः ।
नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत् ॥३६॥

कथा-प्रारम्भके दिनसे एक दिन पूर्व व्रत ग्रहण करनेके लिये वक्ताको क्षौर करा लेना चाहिये तथा अरुणोदयके समय शौचसे निवृत्त होकर अच्छी तरह स्नान करे ॥ २३ ॥ और संध्यादि अपने नित्यकर्मोंको संक्षेपसे समाप्त करके कथाके विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये गणेशजीका पूजन करे ॥ २४ ॥ तदनन्तर पितृगणका तर्पण कर पूर्व पापोंकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे और एक मण्डल बनाकर उसमें श्रीहरिको स्थापित करे ॥ २५ ॥ फिर भगवान् श्रीकृष्णको लक्ष्य करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रमशः षोडशोपचारविधिसे पूजन करे और उसके पश्चात् प्रदक्षिणा तथा नमस्कारादि कर इस प्रकार स्तुति करे ॥ २६ ॥ 'करुणानिधान ! मैं संसार-सागरमें डूबा हुआ और बड़ा दीन हूँ । कर्मोंके मोहरूपी ग्राहने मुझे पकड़ रक्खा है । आप इस संसार-सागरसे मेरा उद्धार कीजिये' ॥ २७ ॥ इसके पश्चात् धूप-दीप आदि सामग्रियोंसे श्रीमद्भागवतकी भी बड़े उत्साह और प्रीतिपूर्वक विधि-विधानसे पूजा करे ॥ २८ ॥ फिर पुस्तकके आगे नारियल रखकर नमस्कार करे और प्रसन्नचित्तसे इस प्रकार स्तुति करे—॥ २९ ॥ 'श्रीमद्भागवतके रूपमें आप साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजमान हैं । नाथ ! मैंने भवसागरसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण ली है ॥ ३० ॥ मेरा यह मनोरथ आप बिना किसी विघ्न-बाधाके साङ्गोपाङ्ग पूरा करें । केशव ! मैं आपका दास हूँ' ॥ ३१ ॥

इस प्रकार दीन वचन कहकर फिर वक्ताका पूजन करे । उसे सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करे और फिर पूजाके पश्चात् उसकी इस प्रकार स्तुति करे—॥ ३२ ॥ 'शुकस्वरूप भगवन् ! आप समझानेकी कलामें कुशल और सब शास्त्रोंमें पारंगत हैं; कृपया इस कथाको प्रकाशित करके मेरा अज्ञान दूर करें' ॥ ३३ ॥ फिर अपने कल्याणके लिये प्रसन्नतापूर्वक उसके सामने नियम ग्रहण करे और सात दिनोंतक यथाशक्ति उसका पालन करे ॥ ३४ ॥ कथामें विघ्न न हो, इसके लिये पाँच ब्राह्मणोंको और वरण करे; वे द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा भगवान्‌के नामोंका जप करें ॥ ३५ ॥ फिर ब्राह्मण, अन्य विष्णुभक्त एवं कीर्तन करनेवालोंको नमस्कार करके उनकी पूजा करे और उनकी आज्ञा पाकर स्वयं भी आसनपर बैठ

लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च।
कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत्फलमुत्तमम् ॥३७॥
आसूर्योदयमारभ्य सार्धत्रिप्रहरान्तकम्।
वाचनीया कथा सम्यग्धीरकण्ठं सुधीमता ॥३८॥
कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम्।
तत्कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा ॥३९॥
मलमूत्रजयार्थं हि लघ्वाहारः सुखावहः।
हविष्यान्नेन कर्तव्यो ह्येकवारं कथार्थिना ॥४०॥
उपोष्य सप्तरात्रं वै शक्तिश्चेच्छृणुयात्तदा।
घृतपानं पयःपानं कृत्वा वै शृणुयात्सुखम् ॥४१॥
फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः।
सुखसाध्यं भवेद्यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत् ॥४२॥
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम्।
नोपवासो वरः प्रोक्तः कथाविघ्नकरो यदि ॥४३॥
सप्ताहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु नारद।
विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे ॥४४॥
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिः पत्रावल्यां च भोजनम्।
कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४५॥
द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च।
भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४६॥
कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च।
दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती ॥४७॥
वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा।
स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेद्यः कथाव्रती ॥४८॥
रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैस्तदा ।
द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेद्यः कथाव्रती ॥४९॥
सत्यं शौचं दया मौनमार्जवं विनयं तथा।
उदारमानसं तद्वदेवं कुर्यात्कथाव्रती ॥५०॥
दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान्।
अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयाच्च कथामिमाम् ॥५१॥
अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका।

जाय ॥ ३६ ॥ जो पुरुष लोक, सम्पत्ति, धन, घर और पुत्रादिकी चिन्ता छोड़कर शुद्धचित्तसे केवल कथामें ही ध्यान रखता है, उसे इसके श्रवणका उत्तम फल मिलता है ॥३७॥

बुद्धिमान् वक्ताको चाहिये कि सूर्योदयसे कथा आरम्भ करके साढ़े तीन पहरतक मध्यम स्वरसे अच्छी तरह कथा बाँचे ॥ ३८ ॥ दोपहरके समय दो घड़ीतक कथा बंद रक्खे । उस समय कथाके प्रसङ्गके अनुसार वैष्णवोंको भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन करना चाहिये—व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिये ॥ ३९ ॥ कथाके समय मल-मूत्रके वेगको काबूमें रखनेके लिये अल्पाहार सुखकारी होता है; इसलिये श्रोता केवल एक ही समय हविष्यान्न भोजन करे ॥ ४० ॥ यदि शक्ति हो तो सातों दिन निराहार रहकर कथा सुने अथवा केवल घी या दूध पीकर सुखपूर्वक श्रवण करे ॥४१॥ अथवा फलाहार या एक समय एक अन्नका ही भोजन करे। जिससे जैसा नियम सुभीतेसे सध सके, उसीको कथाश्रवणके लिये ग्रहण करे॥ ४२ ॥ मैं तो उपवासकी अपेक्षा भोजन करना अच्छा समझता हूँ, यदि वह कथा-श्रवणमें सहायक हो । यदि उपवाससे श्रवणमें बाधा पहुँचती हो तो वह किसी कामका नहीं ॥ ४३ ॥

नारदजी ! नियमसे सप्ताह सुननेवाले पुरुषोंके नियम सुनिये । विष्णुभक्तकी दीक्षासे रहित पुरुष कथाश्रवणका अधिकारी नहीं है ॥ ४४ ॥ जो पुरुष नियमसे कथा सुने, उसे ब्रह्मचर्यसे रहना, भूमिपर सोना और नित्यप्रति कथा समाप्त होनेपर पत्तलमें भोजन करना चाहिये ॥४५॥ दाल, मधु, तेल, गरिष्ठ अन्न, भावदूषित पदार्थ और बासी अन्न—इनका उसे सर्वदा ही त्याग करना चाहिये ॥ ४६ ॥ काम, क्रोध, मद, मान, मत्सर, लोभ, दम्भ, मोह और द्वेषको तो अपने पास भी नहीं फटकने देना चाहिये ॥ ४७ ॥ वह वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गोसेवक तथा स्त्री, राजा और महापुरुषोंकी निन्दासे भी बचे ॥४८॥ नियमसे कथा सुननेवाले पुरुषको रजस्वला स्त्री, अन्त्यज, म्लेच्छ, पतित, गायत्रीहीन द्विज, ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले तथा वेदको न माननेवाले पुरुषोंसे बात नहीं करनी चाहिये ॥ ४९ ॥ सर्वदा सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, विनय और उदारताका बर्ताव करना चाहिये ॥ ५० ॥ धनहीन, क्षयरोगी, किसी अन्य रोगसे पीड़ित, भाग्यहीन, पापी, पुत्रहीन और मुमुक्षु भी यह कथा श्रवण करे ॥ ५१ ॥ जिस स्त्रीका रजोदर्शन रुक गया हो, जिसके एक ही संतान होकर रह गयी हो, जो

स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः ॥५२॥
एतेषु विधिना श्रावे तदक्षयतरं भवेत् ।
अत्युत्तमा कथा दिव्या कोटियज्ञफलप्रदा ॥५३॥
एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत् ।
जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥५४॥
अकिंचनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः ।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः ॥५५॥
एवं नगाहयज्ञेऽस्मिन् समाप्ते श्रोतृभिस्तदा ।
पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः ॥५६॥
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम् ।
मृदङ्गतालललितं कर्तव्यं कीर्तनं ततः ॥५७॥
जयशब्दं नमःशब्दं शङ्खशब्दं च कारयेत् ।
विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमन्नं च दीयताम् ॥५८॥
विरक्तश्चेद्भवेच्छ्रोता गीता वाच्या परेऽहनि ।
गृहस्थश्चेत्तदा होमः कर्तव्यः कर्मशान्तये ॥५९॥
प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना दशमस्य च ।
पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम् ॥६०॥
अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः ।
तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्य च तत्त्वतः ॥६१॥
होमाशक्तौ बुधो हौम्यं दद्यात्तत्फलसिद्धये ।
नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकतानयोः ॥६२॥
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम् ।
तेन स्यात्सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः ॥६३॥
द्वादश ब्राह्मणान् पश्चाद्भोजयेन्मधुपायसैः ।
दद्यात्सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णत्वहेतवे ॥६४॥
शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च ।
तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्यं लिखितं ललिताक्षरम् ॥६५॥
सम्पूज्यावाहनाद्यैस्तदुपचारैः सदक्षिणम् ।
वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय यतात्मने ॥६६॥

बाँझ हो, जिसकी संतान होकर मर जाती हो अथवा जिसका गर्भ गिर जाता हो, वह यत्नपूर्वक इस कथाको सुने ॥ ५२ ॥ ये सब यदि विधिवत् कथा सुनें तो इन्हें अक्षय फलकी प्राप्ति हो सकती है । यह अत्युत्तम दिव्य कथा करोड़ों यज्ञोंका फल देनेवाली है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार इस व्रतकी विधियोंका पालन करके फिर उद्यापन करे । जिन्हें इसके विशेष फलकी इच्छा हो, वे जन्माष्टमी-व्रतके समान ही इस कथाव्रतका उद्यापन करें ॥५४॥ किंतु जो भगवान्के अकिञ्चन भक्त हैं, उनके लिये उद्यापनका कोई आग्रह नहीं है । वे श्रवणसे ही पवित्र हैं; क्योंकि वे तो निष्काम भगवद्भक्त हैं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार जब सप्ताहयज्ञ समाप्त हो जाय, तब श्रोताओंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक पुस्तक और वक्ताकी पूजा करनी चाहिये ॥ ५६ ॥ फिर वक्ता श्रोताओंको प्रसाद, तुलसी और प्रसादी मालाएँ दे तथा सब लोग मृदङ्ग और झाँझकी मनोहर ध्वनिसे सुन्दर कीर्तन करें ॥ ५७ ॥ जय-जयकार, नमस्कार और शङ्खध्वनिका घोष कराये तथा ब्राह्मण और याचकोंको धन और अन्न दे ॥ ५८ ॥ श्रोता विरक्त हो तो कर्मकी शान्तिके लिये दूसरे दिन गीतापाठ करे, गृहस्थ हो तो हवन करे ॥ ५९ ॥ उस हवनमें दशमस्कन्धका एक-एक श्लोक पढ़कर विधिपूर्वक खीर, मधु, घृत, तिल और अन्नादि सामग्रियोंसे आहुति दे ॥ ६० ॥

अथवा एकाग्र चित्तसे गायत्री-मन्त्रद्वारा हवन करे; क्योंकि तत्त्वतः यह महापुराण गायत्रीस्वरूप ही है ॥६१॥ होम करनेकी शक्ति न हो तो उसका फल प्राप्त करनेके लिये ब्राह्मणोंको हवनसामग्री दान करे तथा नाना प्रकारकी त्रुटियोंको दूर करनेके लिये और विधिमें फिर जो न्यूनाधिकता रह गयी हो, उसके दोषोंकी शान्तिके लिये विष्णुसहस्रनाम-का पाठ करे । उससे सभी कर्म सफल हो जाते हैं; क्योंकि कोई भी कर्म इससे बढ़कर नहीं है ॥ ६२-६३ ॥

फिर बारह ब्राह्मणोंको खीर और मधु आदि उत्तम-उत्तम पदार्थ खिलाये तथा व्रतकी पूर्तिके लिये गौ और सुवर्ण-का दान करे ॥ ६४ ॥ सामर्थ्य हो तो तीन तोले सोनेका एक सिंहासन बनवाये, उसपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई श्रीमद्भागवतकी पोथी रखकर उसकी आवाहनादि विविध उपचारोंसे पूजा करे. और फिर जितेन्द्रिय आचार्यको—उसका वस्त्र, आभूषण एवं गन्धादिसे पूजनकर—दक्षिणाके सहित समर्पण कर दे ॥६५-६६॥

आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद्भवबन्धनैः ।
एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे ॥६७॥

फलदं स्यात्पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम् ।
धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यान्न संशयः ॥६८॥

कुमारा ऊचुः

इति ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।
श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥६९॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा ते महात्मानः प्रोचुर्भागवतीं कथाम् ।
सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम् ॥७०॥
शृण्वतां सर्वभूतानां सप्ताहं नियतात्मनाम् ।
यथाविधि ततो देवं तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥७१॥
तदन्ते ज्ञानवैराग्यभक्तीनां पुष्टता परा ।
तारुण्यं परमं चाभूत्सर्वभूतमनोहरम् ॥७२॥
नारदश्च कृतार्थोऽभूत्सिद्धे स्वीये मनोरथे ।
पुलकीकृतसर्वाङ्गः परमानन्दसम्भृतः ॥७३॥
एवं कथां समाकर्ण्य नारदो भगवत्प्रियः ।
प्रेमगद्गदया वाचा तानुवाच कृताञ्जलिः ॥७४॥

नारद उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवद्भिः करुणापरैः ।
अद्य मे भगवाँल्लब्धः सर्वपापहरो हरिः ॥७५॥
श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः ।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणादस्य लभ्यते ॥७६॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवति वै तत्र नारदे वैष्णवोत्तमे ।
परिभ्रमन् समायातः शुको योगेश्वरस्तदा ॥७७॥
तत्राययौ षोडशवार्षिकस्तदा
व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः ।
कथावसाने निजलाभपूर्णः
प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः ॥७८॥

यों करनेसे वह बुद्धिमान् दाता जन्म-मरणके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। यह सप्ताहपारायणकी विधि सब पापोंकी निवृत्ति करनेवाली है। इसका इस प्रकार ठीक-ठीक पालन करनेसे यह मङ्गलमय भागवत-पुराण अभीष्ट फल प्रदान करता है तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष——चारोंकी प्राप्तिका साधन हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ६७-६८ ॥

सनकादि कहते हैं—नारदजी ! इस प्रकार तुम्हें यह सप्ताह-श्रवणकी विधि हमने पूरी-पूरी सुना दी, अब और क्या सुनना चाहते हो ? इस श्रीमद्भागवतसे भोग और मोक्ष दोनों ही हाथ लग जाते हैं ॥ ६९ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! यों कहकर महामुनि सनकादिने एक सप्ताहतक विधिपूर्वक इस सर्वपापनाशिनी, परम पवित्र तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली भागवतकथाका प्रवचन किया। सब प्राणियोंने नियमपूर्वक इसे श्रवण किया। इसके पश्चात् उन्होंने विधिपूर्वक भगवान् पुरुषोत्तमकी स्तुति की ॥७०-७१॥ कथाके अन्तमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको बड़ी पुष्टि मिली और वे तीनों एकदम तरुण होकर सब जीवोंका चित्त अपनी ओर आकर्षित करने लगे ॥ ७२ ॥ अपना मनोरथ पूरा होनेसे नारदजीको भी बड़ी प्रसन्नता हुई, उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे परमानन्दसे पूर्ण हो गये ॥ ७३ ॥ इस प्रकार कथा श्रवणकर भगवान्के प्यारे नारदजी हाथ जोड़कर प्रेम-गद्गद वाणीसे सनकादिसे कहने लगे ॥ ७४ ॥

नारदजीने कहा—मैं धन्य हूँ, आपलोगोंने करुणा करके मुझे बड़ा ही अनुगृहीत किया है, आज मुझे सर्व-पापहारी भगवान् श्रीहरिकी ही प्राप्ति हो गयी ॥ ७५ ॥ तपोधनो ! मैं श्रीमद्भागवतश्रवणको ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि इसके श्रवणसे वैकुण्ठ (गोलोक)-विहारी श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है ॥ ७६ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! वैष्णवश्रेष्ठ नारदजी यों कह ही रहे थे कि वहाँ घूमते-फिरते योगेश्वर शुकदेवजी आ गये ॥ ७७ ॥ कथा समाप्त होते ही व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी वहाँ पधारे। सोलह वर्षकी-सी आयु, आत्मलाभसे पूर्ण, ज्ञानरूपी महासागरका संवर्धन करनेके लिये चन्द्रमाके समान वे प्रेमसे धीरे-धीरे श्रीमद्भागवतका पाठ कर रहे थे ॥ ७८ ॥

दृष्ट्वा सदस्याः परमोरुतेजसं
सद्यः समुत्थाय ददुर्महासनम् ।
प्रीत्या सुरर्षिस्तमपूजयत्सुखं
स्थितोऽवदत्संशृणुतामलां गिरम् ॥७९॥

श्रीशुक उवाच

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥८०॥

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ८१

श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद्वैष्णवानां धनं
यस्मिन् पारमहंस्यमेवममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् प्रपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः ।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥८३॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणौ
मध्ये सभायां हरिराविरासीत् ।
प्रह्लादबल्युद्धवफाल्गुनादिभि-
र्वृतः सुरर्षिस्तमपूजयच्च तान् ॥८४॥

दृष्ट्वा प्रसन्नं महदासने हरिं
ते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा ।
भवो भवान्या कमलासनस्तु
तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय ॥८५॥

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी

परमतेजस्वी शुकदेवजीको देखकर सारे सभासद् झटपट खड़े हो गये और उन्हें एक ऊँचे आसनपर बैठाया । फिर देवर्षि नारदजीने उनका प्रेमपूर्वक पूजन किया । उन्होंने सुखपूर्वक बैठकर कहा—'आपलोग मेरी निर्मल वाणी सुनिये' ॥ ७९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—रसिक एवं भावुक जन ! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका परिपक्व फल है । श्रीशुकदेवरूप शुकके मुखका संयोग होनेसे अमृतरससे परिपूर्ण है । यह रस-ही-रस है—इसमें न छिलका है न गुठली । यह इसी लोकमें सुलभ है । जबतक शरीरमें चेतना रहे, तबतक आपलोग बार-बार इसका पान करें ॥ ८० ॥ महामुनि व्यासदेवने श्रीमद्भागवत महापुराणकी रचना की है । इसमें निष्कपट—निष्काम परम धर्मका निरूपण है । इसमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषोंके जानने योग्य कल्याणकारी वास्तविक वस्तुका वर्णन है, जिससे तीनों तापोंकी शान्ति होती है । इसका आश्रय लेनेपर दूसरे शास्त्र अथवा साधनकी आवश्यकता नहीं रहती । जब कभी पुण्यात्मा पुरुष इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं, तभी ईश्वर अविलम्ब उनके हृदयमें अवरुद्ध हो जाता है ॥ ८१ ॥ यह भागवत पुराणोंका तिलक और वैष्णवोंका धन है । इसमें परमहंसोंके प्राप्य विशुद्ध ज्ञानका ही वर्णन किया गया है तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित निवृत्तिमार्गको प्रकाशित किया गया है । जो पुरुष भक्तिपूर्वक इसके श्रवण, पठन और मननमें तत्पर रहता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ८२ ॥ यह रस स्वर्गलोक, सत्यलोक, कैलास और वैकुण्ठमें भी नहीं है, इसलिये भाग्यवान् श्रोताओ ! तुम इसका खूब पान करो; इसे कभी मत छोड़ो, मत छोड़ो ॥ ८३ ॥

सूतजी कहते हैं—श्रीशुकदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि उस सभाके बीचोबीच प्रह्लाद, बलि, उद्धव और अर्जुन आदि पार्षदोंके सहित साक्षात् श्रीहरि प्रकट हो गये । तब देवर्षि नारदने भगवान् और उनके भक्तोंकी यथोचित पूजा की ॥ ८४ ॥ भगवान्को प्रसन्न देखकर देवर्षिने उन्हें एक विशाल सिंहासनपर बैठा दिया और सब लोग उनके सामने संकीर्तन करने लगे । उस कीर्तनको देखनेके लिये श्रीपार्वतीजीके सहित महादेवजी और ब्रह्माजी भी आये ॥ ८५ ॥ कीर्तन आरम्भ हुआ । प्रह्लादजी तो चञ्चलगति (फुर्तीले) होनेके कारण करताल बजाने लगे, उद्धवजीने झाँझें उठा लीं,

वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमारा
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव॥८६॥

ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र
भक्त्यादिकानां नटवत्सुतेजसाम्।
अलौकिकं कीर्तनमेतदीक्ष्य
हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत्तत्॥८७॥

मत्तो वरं भावबृताद् वृणुध्वं
प्रीतः कथाकीर्तनतोऽस्मि साम्प्रतम्।
श्रुत्वेति तद्वाक्यमतिप्रसन्नाः
प्रेमार्द्रचित्ता हरिमूचिरे ते॥८८॥

नगाहगाथासु च सर्वभक्तै-
रेभिस्त्वया भाव्यमिति प्रयत्नात्।
मनोरथोऽयं परिपूरणीय-
स्तथेति चोक्त्वान्तरधीयताच्युतः॥८९॥

ततोऽनमत्तच्चरणेषु नारद-
स्तथा शुकादीनपि तापसांश्च।
अथ प्रहृष्टाः परिनष्टमोहाः
सर्वे ययुः पीतकथामृतास्ते॥९०॥

भक्तिः सुताभ्यां सह रक्षिता सा
शास्त्रे स्वकीयेऽपि तदा शुकेन।
अतो हरिर्भागवतस्य सेवना-
च्चित्तं समायाति हि वैष्णवानाम्॥९१॥

दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां
मायापिशाचीपरिमर्दितानाम्।
संसारसिन्धौ परिपातितानां
क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति॥९२॥

शौनक उवाच

शुकेनोक्तं कदा राज्ञे गोकर्णेन कदा पुनः।
सुरर्षये कदा ब्राह्मैश्छिन्धि मे संशयं त्विमम्॥९३॥

सूत उवाच

आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ।
नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत्॥९४॥
परीक्षिच्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये।
शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम्॥९५॥

देवर्षि नारद वीणाकी ध्वनि करने लगे, स्वर-विज्ञान (गान-विद्या) में कुशल होनेके कारण अर्जुन राग अलापने लगे, इन्द्रने मृदङ्ग बजाना आरम्भ किया, सनकादि बीच-बीचमें जयघोष करने लगे और इन सबके आगे शुकदेवजी तरह-तरहकी सरस अङ्गभङ्गी करके भाव बताने लगे॥ ८६॥ इन सबके बीचमें परम तेजस्वी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य नटोंके समान नाचने लगे। ऐसा अलौकिक कीर्तन देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये और इस प्रकार कहने लगे—॥ ८७॥ 'मैं तुम्हारी इस कथा और कीर्तनसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारे भक्तिभावने इस समय मुझे अपने वशमें कर लिया है। अतः तुमलोग मुझसे वर माँगो।' भगवान्के ये वचन सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और प्रेमार्द्र चित्तसे भगवान्से कहने लगे॥ ८८॥ 'भगवन्! हमारी यह अभिलाषा है कि भविष्यमें भी जहाँ-कहीं सप्ताह कथा हो, वहाँ आप इन पार्षदोंके सहित अवश्य पधारें। हमारा यह मनोरथ पूर्ण कर दीजिये।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये॥ ८९॥

इसके पश्चात् नारदजीने भगवान् तथा उनके पार्षदों-के चरणोंको लक्ष्य करके प्रणाम किया और फिर शुकदेव-जी आदि तपस्वियोंको भी नमस्कार किया। कथा-मृतका पान करनेसे सब लोगोंको बड़ा ही आनन्द हुआ, उनका सारा मोह नष्ट हो गया। फिर वे सब लोग अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ९०॥ उस समय शुकदेवजीने भक्तिको उसके पुत्रोंसहित अपने शास्त्रमें स्थापित कर दिया। इसीसे भागवतका सेवन करनेसे श्रीहरि वैष्णवोंके हृदयमें आ विराजते हैं॥ ९१॥ जो लोग दरिद्रताके दुःखज्वरकी ज्वालासे दग्ध हो रहे हैं, जिन्हें माया-पिशाचीने रौंद डाला है तथा जो संसार-समुद्रमें डूब रहे हैं, उनका कल्याण करनेके लिये श्रीमद्भागवत सिंहनाद कर रहा है॥ ९२॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी! शुकदेवजीने राजा परीक्षित्को, गोकर्णने धुन्धुकारीको और सनकादिने नारदजीको किस-किस समय यह ग्रन्थ सुनाया था—मेरा यह संशय दूर कीजिये॥ ९३॥

सूतजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णके स्वधामगमनके बाद कलियुगके तीस वर्षसे कुछ अधिक बीत जानेपर भाद्रपद मासकी शुक्ला नवमीको शुकदेवजीने कथा आरम्भ की थी॥ ९४॥ राजा परीक्षित्के कथा सुनने-के बाद कलियुगके दो सौ वर्ष बीत जानेपर आषाढ़ मासकी शुक्ला नवमीको गोकर्णजीने यह कथा सुनायी

तस्मादपि कलौ प्राप्ते त्रिंशद्वर्षगते सति ।
ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः ॥९६॥
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी ॥९७॥

कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि ।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण
लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम् ॥९८॥

स्वपुरुषमपि वीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर भगवत्कथासु मत्तान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥९९॥

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥१००॥

रसप्रवाहसंस्थेन श्रीशुकेनेरिता कथा ।
कण्ठे सम्बध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत् ॥१०१॥

इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं
सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य ।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किंचित्
पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम् ।१०२।

एतां यो नियततया शृणोति भक्त्या
यश्चैनां कथयति शुद्धवैष्णवाग्रे ।
तौ सम्यग्विधिकरणात्फलं लभेते
याथार्थ्यान्न हि भुवने किमप्यसाध्यम् ।१०३।

थी ॥९५॥ इसके पीछे कलियुगके तीस वर्ष और निकल जानेपर कार्तिक शुक्ला नवमीसे सनकादिने कथा आरम्भ की थी ॥९६॥ निष्पाप शौनकजी ! आपने जो कुछ पूछा था, उसका उत्तर मैंने आपको दे दिया । इस कलियुगमें भागवतकी कथा भवरोगकी रामबाण औषध है ॥९७॥

संतजन ! आपलोग आदरपूर्वक इस कथामृतका पान कीजिये । यह श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय, सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला, मुक्तिका एकमात्र कारण और भक्तिको बढ़ानेवाला है । लोकमें अन्य कल्याणकारी साधनोंका विचार करने और तीर्थोंका सेवन करनेसे क्या होगा ॥ ९८ ॥ अपने दूतको हाथमें पाश लिये देखकर यमराज उसके कानमें कहते हैं—'देखो, जो भगवान्‌की कथा-वार्तामें मत्त हो रहे हों, उनसे दूर रहना; मैं औरोंको ही दण्ड देनेकी शक्ति रखता हूँ, वैष्णवोंको नहीं' ॥९९॥ इस असार संसारमें विषयरूप विषकी आसक्तिके कारण व्याकुल बुद्धिवाले पुरुषो ! अपने कल्याणके उद्देश्यसे आधे क्षणके लिये भी इस शुककथारूप अनुपम सुधाका पान करो । प्यारे भाइयो ! निन्दित कथाओंसे युक्त कुपथमें व्यर्थ ही क्यों भटक रहे हो ? इस कथाके कानमें प्रवेश करते ही मुक्ति हो जाती है, इस बातके साक्षी राजा परीक्षित् हैं ॥१००॥ श्रीशुकदेवजीने प्रेमरसके प्रवाहमें स्थित होकर इस कथाको कहा था । इसका जिसके कण्ठसे सम्बन्ध हो जाता है, वह वैकुण्ठका स्वामी बन जाता है ॥१०१॥ शौनकजी ! मैंने अनेक शास्त्रोंको देखकर आपको यह परम गोप्य रहस्य अभी-अभी सुनाया है । सब शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यही निचोड़ है । संसारमें इस शुकशास्त्रसे अधिक पवित्र और कोई वस्तु नहीं है; अतः आपलोग परमानन्दकी प्राप्तिके लिये इस द्वादशस्कन्धरूप रसका पान करें ॥ १०२ ॥ जो पुरुष नियमपूर्वक इस कथाका भक्ति-भावसे श्रवण करता है और जो शुद्धान्तःकरण भगवद्भक्तोंके सामने इसे सुनाता है, वे दोनों ही विधिका पूरा-पूरा पालन करनेके कारण इसका यथार्थ फल पाते हैं—उनके लिये त्रिलोकीमें कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता ॥ १०३ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम् ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

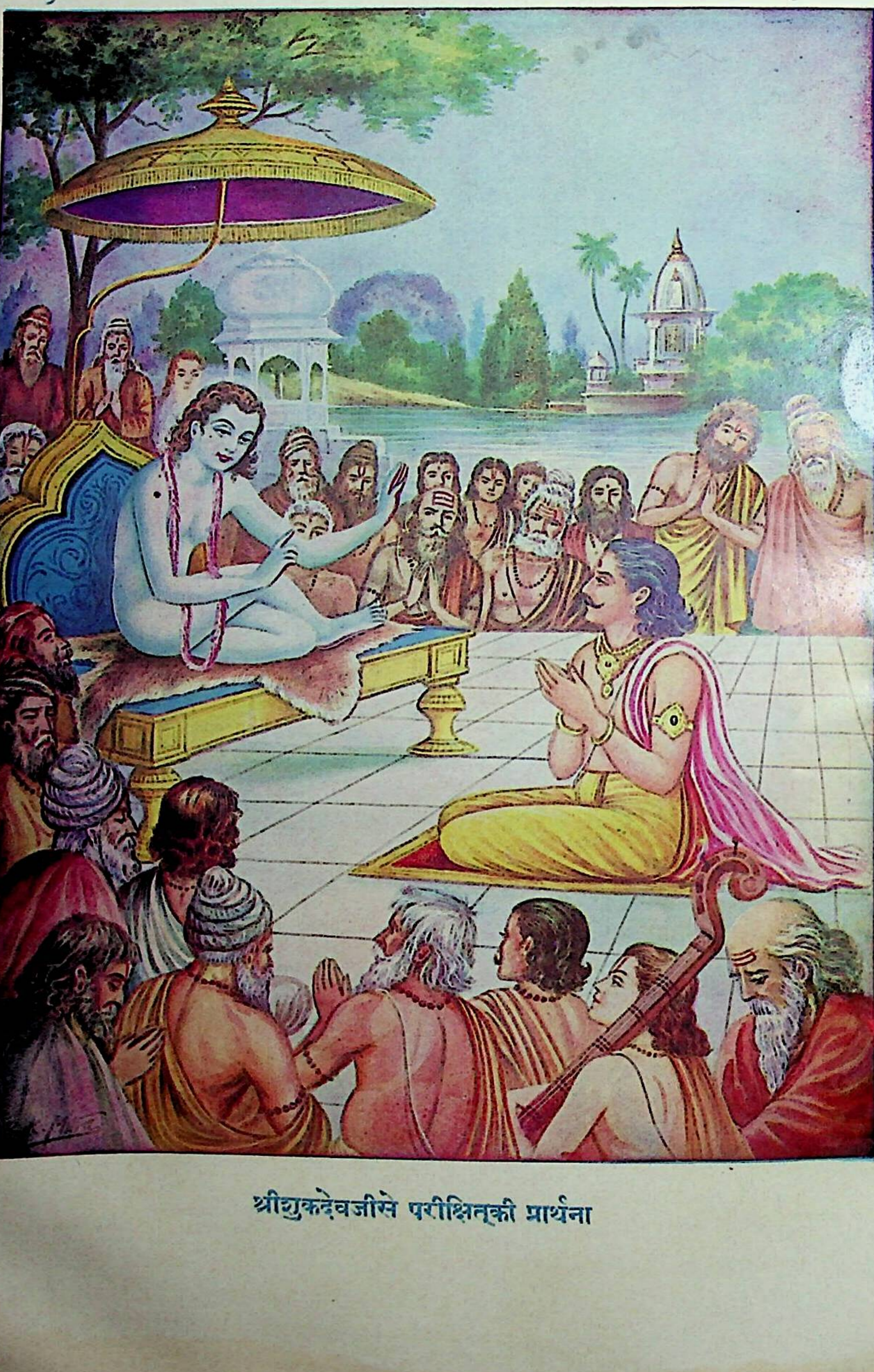
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

प्रथमः स्कन्धः



यो लीलालास्यसंलग्नो गतोऽलोलोऽपि लोलताम् ।
तं लीलावपुषं बालं वन्दे लीलार्थसिद्धये ।।



श्रीशुकदेवजीसे परीक्षित्की प्रार्थना

ॐ तत्सत्

श्रीगणेशाय नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

प्रथमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीसूतजीसे शौनकादि ऋषियोंका प्रश्न

मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत-
श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये
मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं
सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो
निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं
तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते
किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः
शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २ ॥
निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।

जिससे इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है; जड नहीं, चेतन है; परतन्त्र नहीं, स्वयंप्रकाश है; जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने संकल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है; जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं; जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जल-का, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान-सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं ॥ १ ॥ महामुनि व्यासदेवके द्वारा निर्मित इस श्रीमद्भागवत-महापुराणमें मोक्षपर्यन्त फलकी कामनासे रहित परम धर्मका निरूपण हुआ है। इसमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषों-के जाननेयोग्य उस वास्तविक वस्तु परमात्माका निरूपण हुआ है, जो तीनों तापोंका जड़से नाश करनेवाली और परम कल्याण देनेवाली है। अब और किसी साधन या शास्त्रसे क्या प्रयोजन। जिस समय भी सुकृती पुरुष इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं, ईश्वर उसी समय अविलम्ब उनके हृदयमें आकर बन्दी बन जाता है ॥ २ ॥ रसके मर्मज्ञ भक्तजन! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है। श्रीशुकदेवरूप तोतेके* मुखका सम्बन्ध हो जानेसे यह परमानन्दमयी सुधासे परिपूर्ण हो गया है। इस फलमें

* यह प्रसिद्ध है कि तोतेका काटा हुआ फल अधिक मीठा होता है।

पिबत भागवतं रसमालयं

मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ ३ ॥

छिल्का, गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है । यह मूर्तिमान् रस है । जबतक शरीरमें चेतना रहे, तबतक इस दिव्य भगवद्-रसका निरन्तर बार-बार पान करते रहो । यह पृथ्वीपर ही सुलभ है ॥ ३ ॥

कथाप्रारम्भ

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।

सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।

सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥ ५ ॥

एक बार भगवान् विष्णु एवं देवताओंके परम पुण्यमय क्षेत्र नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने भगवत्-प्राप्तिकी इच्छासे सहस्र वर्षोंमें पूरे होनेवाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ४ ॥ एक दिन उन लोगोंने प्रातःकाल अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर सूतजीका पूजन किया और उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाकर बड़े आदरसे यह प्रश्न किया ॥ ५ ॥

ऋषय ऊचुः

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ !

आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥ ६ ॥

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः ।

अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥ ७ ॥

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ८ ॥

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् ।

पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः ।

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ १० ॥

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।

अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ।

ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति ॥ ११ ॥

ऋषियोंने कहा—सूतजी ! आप निष्पाप हैं । आपने समस्त इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया है तथा उनकी भलीभाँति व्याख्या भी की है ॥ ६ ॥ वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् बादरायणने एवं भगवान्‌के सगुण-निर्गुण रूपको जाननेवाले दूसरे मुनियोंने जो कुछ जाना है—उन्हें जिन विषयोंका ज्ञान है, वह सब आप वास्तविक रूपमें जानते हैं । आपका हृदय बड़ा ही सरल और शुद्ध है, इसीसे आप उनकी कृपा और अनुग्रहके पात्र हुए हैं । गुरुजन अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बता दिया करते हैं ॥ ७-८ ॥ आयुष्मन् ! आप कृपा करके यह बतलाइये कि उन सब शास्त्रों, पुराणों और गुरुजनोंके उपदेशोंमें कलियुगी जीवोंके परम कल्याणका सहज साधन आपने क्या निश्चय किया है ॥ ९ ॥ आप संत-समाजके भूषण हैं । इस कलियुगमें प्रायः लोगोंकी आयु कम हो गयी है । साधन करनेमें लोगोंकी रुचि और प्रवृत्ति भी नहीं है । लोग आलसी हो गये हैं । उनका भाग्य तो मन्द है ही, समझ भी थोड़ी है; इसके साथ ही वे नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे घिरे हुए भी रहते हैं ॥ १० ॥ शास्त्र भी बहुत-से हैं । परंतु उनमें एक निश्चित साधनका नहीं, अनेक प्रकारके कर्मोंका वर्णन है । साथ ही वे इतने बड़े हैं कि उनका एक अंश सुनना भी कठिन है । आप परोपकारी हैं । अपनी बुद्धिसे उनका सार निकालकर प्राणियोंके परम कल्याणके लिये हम श्रद्धालुओंको सुनाइये, जिससे हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त हो ॥ ११ ॥

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥१२॥

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥१३॥

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥१४॥

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥१५॥

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः ।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥१६॥

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥१८॥

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥१९॥

कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥२०॥

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥२१॥

त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥२२॥

प्यारे सूतजी! आपका कल्याण हो। आप तो जानते ही हैं कि यदुवंशियोंके रक्षक भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेवकी धर्मपत्नी देवकीके गर्भसे क्या करनेकी इच्छासे अवतीर्ण हुए थे ॥ १२ ॥ हम उसे सुनना चाहते हैं। आप कृपा करके हमारे लिये उसका वर्णन कीजिये; क्योंकि भगवान्का अवतार जीवोंके परम कल्याण और उनकी भगवत्प्रेममयी समृद्धिके लिये ही होता है ॥ १३ ॥ यह जीव जन्म-मृत्युके घोर चक्रमें पड़ा हुआ है—इस स्थितिमें भी यदि वह कभी भगवान्के मङ्गलमय नामका उच्चारण कर ले तो उसी क्षण उससे मुक्त हो जाय; क्योंकि स्वयं भय भी भगवान्से डरता रहता है ॥ १४ ॥ सूतजी! परम विरक्त और परम शान्त मुनिजन भगवान्के श्रीचरणोंकी शरणमें ही रहते हैं, अतएव उनके स्पर्शमात्रसे संसारके जीव तुरंत पवित्र हो जाते हैं। इधर गङ्गाजीके जलका बहुत दिनोंतक सेवन किया जाय, तब कहीं पवित्रता प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ ऐसे पुण्यात्मा भक्त जिनकी लीलाओंका गान करते रहते हैं, उन भगवान्का कलिमलहारी पवित्र यश भला, आत्मशुद्धिकी इच्छावाला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो श्रवण न करे ॥ १६ ॥ वे लीलासे ही अवतार धारण करते हैं। नारदादि महात्माओंने उनके उदार कर्मोंका गान किया है। हम श्रद्धालुओंके प्रति आप उनका वर्णन कीजिये ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् सूतजी! सर्वसमर्थ प्रभु अपनी योगमायासे स्वच्छन्द लीला करते हैं। आप उन श्रीहरिकी मङ्गलमयी अवतार-कथाओंका अब वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥ पुण्यकीर्ति भगवान्की लीला सुननेसे हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर भगवान्की लीलाओंमें नये-नये रसका अनुभव होता है ॥ १९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको छिपाये हुए थे, लोगोंके सामने ऐसी चेष्टा करते थे मानो कोई मनुष्य हों। परंतु उन्होंने बलरामजीके साथ ऐसी लीलाएँ भी की हैं, ऐसा पराक्रम भी प्रकट किया है, जो मनुष्य नहीं कर सकते ॥ २० ॥ कलियुगको आया जानकर इस वैष्णवक्षेत्रमें हम दीर्घकालीन सत्रका संकल्प करके बैठे हैं। श्रीहरिकी कथा सुननेके लिये हमें अवकाश प्राप्त है ॥ २१ ॥ यह कलियुग अन्तःकरणकी पवित्रता और शक्तिका नाश करनेवाला है। इससे पार पाना कठिन है। जैसे समुद्रसे पार जानेवालोंको कर्णधार मिल जाय, उसी प्रकार इससे पार पानेकी इच्छा रखनेवाले हम-

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥२३॥

लोगोंसे ब्रह्माने आपको मिलाया है ॥ २२ ॥ धर्मरक्षक, ब्राह्मणभक्त, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके अपने धाममें पधार जानेपर धर्मने अब किसकी शरण ली है—यह बताइये ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवत्कथा और भगवद्भक्तिका माहात्म्य

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

श्रीव्यासजी कहते हैं—शौनकादि ब्रह्मवादी ऋषियोंके ये प्रश्न सुनकर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाको बड़ा ही आनन्द हुआ । उन्होंने ऋषियोंके इस मङ्गलमय प्रश्नका अभिनन्दन करके कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

सूतजीने कहा—जिस समय श्रीशुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, सुतरां लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अवसर भी नहीं आया था, उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके उद्देश्यसे जाते देखकर उनके पिता व्यासजी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा ! बेटा !' उस समय तन्मय होनेके कारण श्रीशुकदेवजीकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया । ऐसे सबके हृदयमें विराजमान श्रीशुकदेव मुनिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥ यह श्रीमद्भागवत अत्यन्त गोपनीय—रहस्यात्मक पुराण है । यह भगवत्स्वरूपका अनुभव करानेवाला और समस्त वेदोंका सार है । संसारमें फँसे हुए जो लोग इस घोर अज्ञानान्धकारसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिये आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला यह एक अद्वितीय दीपक है । वास्तवमें उन्हींपर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियोंके आचार्य श्रीशुकदेवजीने इसका वर्णन किया है । मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥ मनुष्योंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान्के अवतार नर-नारायण ऋषियोंको, सरस्वती देवीको और श्रीव्यासदेवजीको नमस्कार करके तब संसार और अन्तःकरणके समस्त विकारोंपर विजय प्राप्त करानेवाले इस श्रीमद्भागवत महापुराणका पाठ करना चाहिये ॥ ४ ॥

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ५ ॥
स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥ ६ ॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ ७ ॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥१०॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥१२॥
अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥१३॥
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥१४॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्॥१५॥

ऋषियो ! आपने सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिये यह बहुत सुन्दर प्रश्न किया है; क्योंकि यह प्रश्न श्रीकृष्णके सम्बन्धमें है और इससे भलीभाँति आत्मशुद्धि हो जाती है ॥ ५ ॥ मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे; ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ ६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति होते ही, अनन्य प्रेमसे उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव हो जाता है ॥ ७ ॥ धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌की लीला-कथाओंके प्रति अनुरागका उदय न हो तो वह निरा श्रम-ही-श्रम है ॥ ८ ॥ धर्मका फल है मोक्ष । उसकी सार्थकता अर्थ-प्राप्तिमें नहीं है। अर्थ केवल धर्मके लिये है । भोगविलास उसका फल नहीं माना गया है ॥ ९ ॥ भोग-विलासका फल इन्द्रियोंको तृप्त करना नहीं है, उसका प्रयोजन है केवल जीवन-निर्वाह । जीवनका फल भी तत्त्व-जिज्ञासा है । बहुत कर्म करके स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है ॥१०॥ तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं । उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं ॥ ११ ॥ श्रद्धालु मुनिजन भागवत-श्रवणसे प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिसे अपने हृदयमें उस परमतत्त्वरूप परमात्माका अनुभव करते हैं ॥ १२ ॥ शौनकादि ऋषियो ! यही कारण है कि अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुसार मनुष्य जो धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसकी पूर्ण सिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हों ॥ १३ ॥ इसलिये एकाग्र मनसे भक्तवत्सल भगवान्‌का ही नित्य-निरन्तर श्रवण, कीर्तन, ध्यान और आराधन करना चाहिये ॥ १४ ॥ कर्मोंकी गाँठ बड़ी कड़ी है । विचारवान् पुरुष भगवान्‌के चिन्तनकी तलवारसे उस गाँठको काट डालते हैं । तब भला, ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो भगवान्‌की लीलाकथामें प्रेम न करे ॥ १५ ॥

१.यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' यह पाठ अधिक है । २. प्रा० पा०—युक्तयः ।

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१८॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥१९॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥२०॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥२१॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥२२॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥
पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२४॥
भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥२५॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।

शौनकादि ऋषियो ! पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे महत्सेवा, तदनन्तर श्रवणकी इच्छा, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात् भगवत्-कथामें रुचि होती है ॥ १६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं । वे अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें आकर स्थित हो जाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं; क्योंकि वे संतोंके नित्यसुहृद् हैं ॥ १७ ॥ जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंके निरन्तर सेवनसे अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥ तब रजोगुण और तमोगुणके भाव—काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त इनसे रहित होकर सत्त्वगुणमें स्थित एवं निर्मल हो जाता है ॥ १९ ॥ इस प्रकार भगवान्‌की प्रेममयी भक्तिसे जब संसारकी समस्त आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदय आनन्दसे भर जाता है, तब भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव अपने आप हो जाता है ॥ २० ॥ हृदयमें आत्मस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है ॥ २१ ॥ इसीसे बुद्धिमान् लोग नित्य-निरन्तर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-भक्ति करते हैं, जिससे आत्मप्रसादकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । इनको स्वीकार करके इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके लिये एक अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र—ये तीन नाम ग्रहण करते हैं । फिर भी मनुष्योंका परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करनेवाले श्रीहरिसे ही होता है ॥ २३ ॥ जैसे पृथ्वीके विकार लकड़ीकी अपेक्षा धूआँ श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है अग्नि—क्योंकि वेदोक्त यज्ञ-यागादिके द्वारा अग्नि सद्गति देनेवाला है—वैसे ही तमोगुणसे रजोगुण श्रेष्ठ है और रजोगुणसे भी सत्त्वगुण श्रेष्ठ है; क्योंकि वह भगवान्‌का दर्शन करानेवाला है ॥ २४ ॥ प्राचीन युगमें महात्मालोग अपने कल्याणके लिये विशुद्ध सत्त्वमय भगवान् विष्णुकी ही आराधना किया करते थे । अब भी जो लोग उनका अनुसरण करते हैं, वे उन्हींके समान कल्याणभाजन होते हैं ॥२५॥ जो लोग इस संसारसागरसे पार जाना चाहते हैं, वे यद्यपि किसीकी निन्दा तो नहीं करते, न किसीमें दोष ही देखते हैं, फिर भी घोररूपवाले—तमोगुणी

१. प्रा० पा०—भगवदाश्रयात् ।

नारायणकलाः[1] शान्ता[2] भजन्ति ह्यनसूयवः ॥२६॥

रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।

पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।

वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।

वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।

सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ॥३०॥

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।

अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१॥

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।

नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥३२॥

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।

स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३३॥

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।

लीलावतारानुरतो[3] देवतिर्यङ्नरादिषु ॥३४॥

रजोगुणी भैरवादि भूतपतियोंकी उपासना न करके सत्त्वगुण विष्णुभगवान् और उनके अंश—कलास्वरूपोंका ही भजन करते हैं ॥ २६ ॥ परंतु जिनका स्वभाव रजोगुणी अथवा तमोगुणी है, वे धन, ऐश्वर्य और संतानकी कामनासे भूत, पितर और प्रजापतियोंकी उपासना करते हैं; क्योंकि इन लोगोंका स्वभाव उन (भूतादि) से मिलता-जुलता होता है ॥ २७ ॥ वेदोंका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है। यज्ञोंके उद्देश्य श्रीकृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्णके लिये ही किये जाते हैं और समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति भी श्रीकृष्णमें ही है ॥ २८ ॥ ज्ञानसे ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णकी ही प्राप्ति होती है । तपस्या श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही की जाती है । श्रीकृष्णके लिये ही धर्मोंका अनुष्ठान होता है और सब गतियाँ श्रीकृष्णमें ही समा जाती हैं ॥ २९ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत हैं, फिर भी अपनी गुणमयी मायासे, जो प्रपञ्चकी दृष्टिसे है और तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं है—उन्होंने ही सर्गके आदिमें इस संसारकी रचना की थी ॥ ३० ॥ ये सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण उसी मायाके विलास हैं; इनके भीतर रहकर भगवान् इनसे युक्त-सरीखे माल्रम पड़ते हैं। वास्तवमें तो वे परिपूर्ण विज्ञानानन्दघन हैं ॥ ३१ ॥ अग्नि तो वस्तुतः एक ही है; परंतु जब वह अनेक प्रकारकी लकड़ियोंमें प्रकट होती है तब अनेक-सी माल्रम पड़ती है । वैसे ही सबके आत्मरूप भगवान् तो एक ही हैं परंतु प्राणियोंकी अनेकतासे अनेक-जैसे जान पड़ते हैं ॥ ३२ ॥ भगवान् ही सूक्ष्म भूत—तन्मात्रा, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि गुणोंके विकारभूत भावोंके द्वारा नाना प्रकारकी योनियोंका निर्माण करते हैं और उनमें भिन्न-भिन्न जीवोंके रूपमें प्रवेश करके उन-उन योनियोंके अनुरूप विषयोंका उपभोग करते-कराते हैं ॥ ३३ ॥ वे ही सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करते हैं और देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियोंमें लीलावतार ग्रहण करके सत्त्वगुणके द्वारा जीवोंका पालन-पोषण करते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—कलां । २. प्रा० पा०—शान्तां । ३. प्रा० पा०—लीलावतारानुरतस्तिर्यङ्नरसुरादिषु ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

सूत उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥
एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्‌नरादयः ॥ ५ ॥
स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥
द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम् ।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥ ७ ॥
तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥ ८ ॥
तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।

श्रीसूतजी कहते हैं—सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने लोकोंके निर्माणकी इच्छा की । इच्छा होते ही उन्होंने महत्तत्त्व आदिसे निष्पन्न पुरुषरूप ग्रहण किया । उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं ॥ १ ॥ उन्होंने कारण-जलमें शयन करते हुए जब योगनिद्राका विस्तार किया, तब उनके नाभि-सरोवरमेंसे एक कमल प्रकट हुआ और उस कमलसे प्रजापतियोंके अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ भगवान्‌के उस विराट् रूपके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें ही समस्त लोकोंकी कल्पना की गयी है, वह भगवान्‌का विशुद्ध सत्त्वमय श्रेष्ठ रूप है ॥ ३ ॥ योगीलोग दिव्यदृष्टिसे भगवान्‌के उस रूपका दर्शन करते हैं । भगवान्‌का वह रूप हजारों पैर, जाँघें, भुजाएँ और मुखोंके कारण अत्यन्त विलक्षण है; उसमें सहस्रों सिर, हजारों कान, हजारों आँखें और हजारों नासिकाएँ हैं । हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणोंसे वह उल्लसित रहता है ॥४॥ भगवान्‌का यही पुरुषरूप जिसे नारायण कहते हैं, अनेक अवतारोंका अक्षय कोष है—इसीसे सारे अवतार प्रकट होते हैं । इस रूपके छोटे-से-छोटे अंशसे देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंकी सृष्टि होती है ॥ ५ ॥

उन्हीं प्रभुने पहले कौमारसर्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्राह्मणोंके रूपमें अवतार ग्रहण करके अत्यन्त कठिन अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया ॥६॥ दूसरी बार इस संसारके कल्याणके लिये समस्त यज्ञोंके स्वामी उन भगवान्‌ने ही रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको निकाल लानेके विचारसे सूकररूप ग्रहण किया ॥ ७ ॥ ऋषियोंकी सृष्टिमें उन्होंने देवर्षि नारदके रूपमें तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्रका (जिसे 'नारद-पाञ्चरात्र' कहते हैं) उपदेश किया; उसमें कर्मोंके द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धनसे मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है ॥ ८ ॥ धर्मपत्नी मूर्तिके गर्भसे उन्होंने नर-नारायणके रूपमें चौथा अवतार ग्रहण किया । इस अवतारमें उन्होंने ऋषि

भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः ॥ ९ ॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०॥

षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११॥

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥१२॥

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥१४॥

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥१५॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥१६॥

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥१७॥

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।
ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा ॥१८॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥१९॥

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥२०॥

बनकर मन और इन्द्रियोंका सर्वथा संयम करके बड़ी कठिन तपस्या की ॥ ९ ॥ पाँचवें अवतारमें वे सिद्धोंके स्वामी कपिलके रूपमें प्रकट हुए और तत्त्वोंका निर्णय करनेवाले सांख्य-शास्त्रका, जो समयके फेरसे लुप्त हो गया था, आसुरि नामक ब्राह्मणको उपदेश किया ॥ १० ॥ अनसूयाके वर माँगनेपर छठे अवतारमें वे अत्रिकी संतान—दत्तात्रेय हुए। इस अवतारमें उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदिको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया ॥ ११ ॥ सातवीं बार रुचि प्रजापतिकी आकूति नामक पत्नीसे यज्ञके रूपमें उन्होंने अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र याम आदि देवताओंके साथ स्वायम्भुव मन्वन्तरकी रक्षा की ॥ १२ ॥ राजा नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें भगवान्‌ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस रूपमें उन्होंने परमहंसोंका वह मार्ग, जो सभी आश्रमियोंके लिये वन्दनीय है, दिखाया ॥ १३ ॥ ऋषियोंकी प्रार्थनासे नवीं बार वे राजा पृथुके रूपमें अवतीर्ण हुए। शौनकादि ऋषियो! इस अवतारमें उन्होंने पृथ्वीसे समस्त ओषधियोंका दोहन किया था, इससे यह अवतार सबके लिये बड़ा ही कल्याणकारी हुआ ॥ १४ ॥ चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें जब सारी त्रिलोकी समुद्रमें डूब रही थी, तब उन्होंने मत्स्यके रूपमें दसवाँ अवतार ग्रहण किया और पृथ्वीरूपी नौकापर बैठाकर अगले मन्वन्तरके अधिपति वैवस्वत मनुकी रक्षा की ॥ १५ ॥ जिस समय देवता और दैत्य समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय ग्यारहवाँ अवतार धारण करके कच्छपरूपसे भगवान्‌ने मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया ॥ १६ ॥ बारहवीं बार धन्वन्तरिके रूपमें अमृत लेकर समुद्रसे प्रकट हुए और तेरहवीं बार मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंको मोहित करते हुए देवताओंको अमृत पिलाया ॥ १७ ॥ चौदहवें अवतारमें उन्होंने नरसिंहरूप धारण किया और अत्यन्त बलवान् दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी छाती अपने नखोंसे अनायास इस प्रकार फाड़ डाली, जैसे चटाई बनानेवाला सींकको चीर डालता है ॥ १८ ॥ पंद्रहवीं बार वामनका रूप धारण करके भगवान् दैत्यराज बलिके यज्ञमें गये। वे चाहते तो थे त्रिलोकीका राज्य, परंतु माँगी उन्होंने केवल तीन पग पृथ्वी ॥ १९ ॥ सोलहवें परशुराम-अवतारमें जब उन्होंने देखा कि राजालोग ब्राह्मणोंके द्रोही हो गये हैं, तब क्रोधित होकर उन्होंने पृथ्वीको

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥२१॥
नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥२२॥
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥२३॥
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः[1] कीकटेषु भविष्यति ॥२४॥
अथासौ युगसंध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५॥
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२८॥
जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥२९॥

इक्कीस बार क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया ॥ २० ॥ इसके बाद सत्रहवें अवतारमें सत्यवतीके गर्भसे पराशरजीके द्वारा वे व्यासके रूपमें अवतीर्ण हुए, उस समय लोगोंकी समझ और धारणाशक्ति कम देखकर आपने वेदरूप वृक्षकी कई शाखाएँ बना दीं ॥ २१ ॥ अठारहवीं बार देवताओंका कार्य सम्पन्न करनेकी इच्छासे उन्होंने राजाके रूपमें रामावतार ग्रहण किया और सेतु-बन्धन, रावण-वध आदि वीरतापूर्ण बहुत-सी लीलाएँ कीं ॥ २२ ॥ उन्नीसवें और बीसवें अवतारोंमें उन्होंने यदुवंशमें बलराम और श्रीकृष्णके नामसे प्रकट होकर पृथ्वीका भार उतारा ॥ २३ ॥ उसके बाद कलियुग आ जानेपर मगधदेश (बिहार) में देवताओंके द्वेषी दैत्योंको मोहित करनेके लिये अजनके पुत्ररूपमें आपका बुद्धावतार होगा ॥ २४ ॥ इसके भी बहुत पीछे जब कलियुगका अन्त समीप होगा और राजालोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे, तब जगत्के रक्षक भगवान् विष्णुयश नामक ब्राह्मणके घर कल्किरूपमें अवतीर्ण होंगे* ॥ २५ ॥

शौनकादि ऋषियो ! जैसे अगाध सरोवरसे हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरिके असंख्य अवतार हुआ करते हैं ॥ २६ ॥ ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्तिशाली हैं, वे सब-के-सब भगवान्के ही अंश हैं ॥२७॥ ये सब अवतार तो भगवान्के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) ही हैं। जब लोग दैत्योंके अत्याचारसे व्याकुल हो उठते हैं, तब युग-युगमें अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥ भगवान्के दिव्य जन्मोंकी यह कथा अत्यन्त गोपनीय—रहस्यमयी है; जो मनुष्य एकाग्र चित्तसे नियमपूर्वक सायङ्काल और प्रातःकाल प्रेमसे इसका पाठ करता है, वह सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—जिनसुतः ।

* यहाँ बाईस अवतारोंकी गणना की गयी है, परंतु भगवान्के चौबीस अवतार प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान् चौबीसकी संख्या यों पूर्ण करते हैं—राम-कृष्णके अतिरिक्त बीस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही, शेष चार अवतार श्रीकृष्णके ही अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण परमेश्वर हैं, वे अवतार नहीं—अवतारी हैं । अतः श्रीकृष्णको अवतारोंकी गणनामें नहीं गिनते। उनके चार अंश ये हैं—एक तो केशका अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्निपर कृपा करनेवाला अवतार, तीसरा संकर्षण-बलराम और चौथा परब्रह्म । इस प्रकार इन चार अवतारोंसे विशिष्ट पाँचवें साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं । दूसरे विद्वान् ऐसा मानते हैं कि बाईस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही, इनके अतिरिक्त दो और हैं—हंस और हयग्रीव ।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥३०॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥३१॥
अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणव्यूहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥३२॥
यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥
यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥३४॥
एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥३५॥
स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥३६॥
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
संतन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥३७॥

प्राकृत स्वरूपरहित चिन्मय भगवान्‌का जो यह स्थूल-जगदाकार रूप है, यह उनकी मायाके महत्तत्त्वादि गुणोंसे भगवान्‌में ही कल्पित है ॥ ३० ॥ जैसे बादल वायुके आश्रय रहते हैं और धूसरपना धूलमें होता है, परंतु अल्पबुद्धि मनुष्य बादलोंका आकाशमें और धूसरपनेका वायुमें आरोप करते हैं—वैसे ही अविवेकी पुरुष सबके साक्षी आत्मामें स्थूल दृश्यरूप जगत्‌का आरोप करते हैं ॥ ३१ ॥ इस स्थूल रूपसे परे भगवान्‌का एक सूक्ष्म अव्यक्त रूप है—जो न तो स्थूलकी तरह आकारादि गुणोंवाला है और न देखने, सुननेमें ही आ सकता है; वही सूक्ष्मशरीर है। आत्माका आरोप या प्रवेश होनेसे यही जीव कहलाता है और इसीका बार-बार जन्म होता है ॥ ३२ ॥ उपर्युक्त सूक्ष्म और स्थूल शरीर अविद्यासे ही आत्मामें आरोपित हैं। जिस अवस्थामें आत्मस्वरूपके ज्ञानसे यह आरोप दूर हो जाता है, उसी समय ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ॥ ३३ ॥ तत्त्वज्ञानी लोग जानते हैं कि जिस समय यह बुद्धिरूपा परमेश्वरकी माया निवृत्त हो जाती है उस समय जीव परमानन्दमय हो जाता है और अपनी स्वरूप-महिमामें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३४ ॥ वास्तवमें जिनके जन्म नहीं हैं और कर्म भी नहीं हैं, उन हृदयेश्वर भगवान्‌के अप्राकृत जन्म और कर्मोंका तत्त्वज्ञानी लोग इसी प्रकार वर्णन करते हैं; क्योंकि उनके जन्म और कर्म वेदोंके अत्यन्त गोपनीय रहस्य हैं ॥ ३५ ॥

भगवान्‌की लीला अमोघ है। वे लीलासे ही इस संसारका सृजन, पालन और संहार करते हैं, किंतु इसमें आसक्त नहीं होते। प्राणियोंके अन्तःकरणमें छिपे रहकर ज्ञानेन्द्रिय और मनके नियन्ताके रूपमें उनके विषयोंको ग्रहण भी करते हैं, परंतु उनसे अलग रहते हैं, वे परम स्वतन्त्र हैं—ये विषय कभी उन्हें लिप्त नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥ जैसे अनजान मनुष्य जादूगर अथवा नटके संकल्प और वचनोंसे की हुई करामातको नहीं समझ पाता, वैसे ही अपने संकल्प और वेदवाणीके द्वारा भगवान्‌के प्रकट किये हुए इन नाना नाम और रूपोंको तथा उनकी लीलाओंको कुबुद्धि जीव बहुत-सी तर्क-युक्तियोंके द्वारा नहीं पहचान सकता ॥ ३७ ॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥३८॥
अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे[1] ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥३९॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥४०॥
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
तदिदं[2] ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥४१॥
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥४२॥
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः ।
कृष्णे[3] स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ॥४३॥
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ।
तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ॥४४॥
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥४५॥

चक्रपाणि भगवान्‌की शक्ति और पराक्रम अनन्त हैं—उनकी कोई थाह नहीं पा सकता । वे सारे जगत्‌के निर्माता होनेपर भी उससे सर्वथा परे हैं । उनके स्वरूपको अथवा उनकी लीलाके रहस्यको वही जान सकता है, जो नित्य-निरन्तर निष्कपट भावसे उनके चरणकमलोंकी दिव्य गन्धका सेवन करता है—सेवा-भावसे उनके चरणोंका चिन्तन करता रहता है ॥ ३८ ॥ शौनकादि ऋषियो ! आपलोग बड़े ही सौभाग्यशाली तथा धन्य हैं जो इस जीवनमें और विघ्न-बाधाओंसे भरे इस संसारमें समस्त लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे वह सर्वात्मक आत्मभाव, वह अनिर्वचनीय अनन्य प्रेम करते हैं, जिससे फिर इस जन्म-मरणरूप संसारके भयंकर चक्रमें नहीं पड़ना होता ॥ ३९ ॥

भगवान् वेदव्यासने यह वेदोंके समान भगवच्चरित्रसे परिपूर्ण भागवत नामका पुराण बनाया है ॥ ४० ॥ उन्होंने इस श्लाघनीय, कल्याणकारी और महान् पुराणको लोगोंके परम कल्याणके लिये अपने आत्मज्ञानिशिरोमणि पुत्रको ग्रहण कराया ॥ ४१ ॥ इसमें सारे वेद और इतिहासोंका सार-सार संग्रह किया गया है । शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को यह सुनाया ॥ ४२ ॥ उस समय वे परमर्षियोंसे घिरे हुए आमरण अनशनका व्रत लेकर गङ्गातटपर बैठे हुए थे । भगवान् श्रीकृष्ण जब धर्म, ज्ञान आदिके साथ अपने परम धामको पधार गये, तब इस कलियुगमें जो लोग अज्ञानरूपी अन्धकारसे अंधे हो रहे हैं, उनके लिये यह पुराणरूपी सूर्य इस समय प्रकट हुआ है । शौनकादि ऋषियो ! जब महातेजस्वी श्रीशुकदेवजी महाराज वहाँ इस पुराणकी कथा कह रहे थे, तब मैं भी वहाँ बैठा था । वहीं मैंने उनकी कृपापूर्ण अनुमतिसे इसका अध्ययन किया । मेरा जैसा अध्ययन है और मेरी बुद्धिने जितना जिस प्रकार इसको ग्रहण किया है, उसीके अनुसार इसे मैं आपलोगोंको सुनाऊँगा ॥ ४३—४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे[4]
नैमिषीयोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

१. प्रा० पा०—ऽखिलविश्वनाथे । २. प्रा० पा०—ततः संग्राहयामास । ३. 'कृष्णे स्वधामोपगते……' यहाँसे लेकर '……ऽधुनोदितः ।' यहाँतकका पाठ प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ४. यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'जन्मगुह्यं' इतना पाठ अधिक है ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

महर्षि व्यासका असंतोष

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः संचोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥ ४ ॥

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥ ५ ॥

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।
उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥ ६ ॥

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
संवादः समभूत्तात यत्रैषा[1] सात्वती श्रुतिः ॥ ७ ॥

व्यासजी कहते हैं—उस दीर्घकालीन सत्रमें सम्मिलित हुए मुनियोंमें विद्यावयोवृद्ध कुलपति ऋग्वेदी शौनकजीने सूतजीकी पूर्वोक्त बात सुनकर उनकी प्रशंसा की और कहा ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—सूतजी! आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं तथा बड़े भाग्यशाली हैं, जो कथा भगवान् श्रीशुकदेवजीने कही थी, वही भगवान्‌की पुण्यमयी कथा कृपा करके आप हमें सुनाइये ॥ २ ॥ वह कथा किस युगमें, किस स्थानपर और किस कारणसे हुई थी? मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायनने किसकी प्रेरणासे इस परमहंसोंकी संहिताका निर्माण किया था? ॥ ३ ॥ उनके पुत्र शुकदेवजी बड़े योगी, समदर्शी, भेद-भाव-रहित, संसार-निद्रासे जगे एवं निरन्तर एकमात्र परमात्मामें ही स्थित रहते हैं। वे छिपे रहनेके कारण मूढ़-से प्रतीत होते हैं ॥ ४ ॥ व्यासजी जब संन्यासके लिये वनकी ओर जाते हुए अपने पुत्रका पीछा कर रहे थे, उस समय जलमें स्नान करनेवाली स्त्रियोंने नंगे शुकदेवको देखकर तो वस्त्र धारण नहीं किया, परंतु वस्त्र पहने हुए व्यासजीको देखकर लज्जासे कपड़े पहन लिये थे। इस आश्चर्यको देखकर जब व्यासजीने उन स्त्रियोंसे इसका कारण पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपकी दृष्टिमें तो अभी स्त्री-पुरुषका भेद बना हुआ है, परंतु आपके पुत्रकी शुद्ध दृष्टिमें यह भेद नहीं है' ॥ ५ ॥ कुरुजाङ्गल देशमें पहुँचकर हस्तिनापुरमें वे पागल, गूँगे तथा जडके समान विचरते होंगे। नगरवासियोंने उन्हें कैसे पहचाना? ॥ ६ ॥ पाण्डवनन्दन राजर्षि परीक्षित्‌का इन मौनी शुकदेवजीके साथ संवाद कैसे हुआ, जिसमें यह भागवतसंहिता कही गयी? ॥ ७ ॥

[1] प्रा० पा०—मप्सु मग्नाः।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥ ८॥
अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥ ९॥
स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट् श्रियम्॥१०॥
नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः॥११॥
शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम्॥१२॥
तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किंचन।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्॥१३॥

महाभाग श्रीशुकदेवजी तो गृहस्थोंके घरोंको तीर्थस्वरूप बना देनेके लिये उतनी ही देर उनके दरवाजेपर रहते हैं, जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है॥ ८॥ सूतजी! हमने सुना है कि अभिमन्युनन्दन परीक्षित् भगवान्‌के बड़े प्रेमी भक्त थे। उनके अत्यन्त आश्चर्यमय जन्म और कर्मोंका भी वर्णन कीजिये॥ ९॥ वे तो पाण्डव-वंशके गौरव बढ़ानेवाले सम्राट् थे। वे भला, किस कारणसे साम्राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके गङ्गा-तटपर मृत्युपर्यन्त अनशनका व्रत लेकर बैठे थे?॥१०॥ शत्रुगण अपने भलेके लिये बहुत-सा धन लाकर उनके चरण रखनेकी चौकीको नमस्कार करते थे। वे एक वीर युवक थे। उन्होंने उस दुस्त्यज लक्ष्मीको, अपने प्राणोंके साथ भला, क्यों त्याग देनेकी इच्छा की॥११॥ जिन लोगोंका जीवन भगवान्‌के आश्रित है, वे तो संसारके परम कल्याण, अभ्युदय और समृद्धिके लिये ही जीवन धारण करते हैं। उसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। उनका शरीर तो दूसरोंके हितके लिये था, उन्होंने विरक्त होकर उसका परित्याग क्यों किया॥१२॥ वेदवाणीको छोड़कर अन्य समस्त शास्त्रोंके आप पारदर्शी विद्वान् हैं। सूतजी! इसलिये इस समय जो कुछ हमने आपसे पूछा है, वह सब कृपा करके हमें कहिये॥ १३॥

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः॥१४॥
स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले॥१५॥
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥१६॥
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥१७॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।

सूतजीने कहा—इस वर्तमान चतुर्युगीके तीसरे युग द्वापरमें महर्षि पराशरके द्वारा वसु-कन्या सत्यवतीके गर्भसे भगवान्‌के कलावतार योगिराज व्यासजीका जन्म हुआ॥ १४॥ एक दिन वे सूर्योदयके समय सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नानादि करके एकान्त पवित्र स्थानपर बैठे हुए थे॥१५॥ महर्षि भूत और भविष्यको जानते थे। उनकी दृष्टि अचूक थी। उन्होंने देखा कि जिसको लोग जान नहीं पाते, ऐसे समयके फेरसे प्रत्येक युगमें धर्मसङ्करता और उसके प्रभावसे भौतिक वस्तुओंकी भी शक्तिका ह्रास होता रहता है। संसारके लोग श्रद्धाहीन और शक्तिरहित हो जाते हैं। उनकी बुद्धि कर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाती और आयु भी कम हो जाती है। लोगोंकी इस भाग्यहीनताको देखकर उन मुनीश्वरने अपनी दिव्यदृष्टिसे

सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥१८॥
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥१९॥
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥२०॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥२१॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥२२॥
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् २३
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥२४॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥
एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥२६॥
नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ॥२७॥
धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।

समस्त वर्णों और आश्रमोंका हित कैसे हो, इसपर विचार किया ॥ १६–१८ ॥ उन्होंने सोचा कि वेदोक्त चातुर्होत्र* कर्म लोगोंका हृदय शुद्ध करनेवाला है। इस दृष्टिसे यज्ञोंका विस्तार करनेके लिये उन्होंने एक ही वेदके चार विभाग कर दिये ॥ १९ ॥ व्यास-जीके द्वारा ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चार वेदोंका उद्धार (पृथक्करण) हुआ। इतिहास और पुराणोंको पाँचवाँ वेद कहा जाता है ॥ २० ॥ उनमेंसे ऋग्वेदके पैल, साम-गानके विद्वान् जैमिनि एवं यजुर्वेदके एकमात्र स्नातक वैशम्पायन हुए ॥ २१ ॥ अथर्ववेदमें प्रवीण हुए दरुणनन्दन सुमन्तु मुनि। इतिहास और पुराणोंके स्नातक मेरे पिता रोमहर्षण थे ॥ २२ ॥ इन पूर्वोक्त ऋषियोंने अपनी-अपनी शाखाको और भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। इस प्रकार शिष्य, प्रशिष्य और उनके शिष्योंद्वारा वेदोंकी बहुत-सी शाखाएँ बन गयीं ॥ २३ ॥ कम समझवाले पुरुषोंपर कृपा करके भगवान् वेदव्यासने इसलिये ऐसा विभाग कर दिया कि जिन लोगोंको स्मरणशक्ति नहीं है या कम है, वे भी वेदोंको धारण कर सकें ॥ २४ ॥

स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति—तीनों ही वेद-श्रवणके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये वे कल्याण-कारी शास्त्रोक्त कर्मोंके आचरणमें भूल कर बैठते हैं। अब इसके द्वारा उनका भी कल्याण हो जाय, यह सोचकर महामुनि व्यासजीने बड़ी कृपा करके महाभारत इतिहास-की रचना की ॥ २५ ॥ शौनकादि ऋषियो! यद्यपि व्यास-जी इस प्रकार अपनी पूरी शक्तिसे सदा-सर्वदा प्राणियोंके कल्याणमें ही लगे रहे, तथापि उनके हृदयको सन्तोष नहीं हुआ ॥ २६ ॥ उनका मन कुछ खिन्न-सा हो गया। सरस्वती नदीके पवित्र तटपर एकान्तमें बैठकर धर्मवेत्ता व्यासजी मन-ही-मन विचार करते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥ २७ ॥ 'मैंने निष्कपट भावसे ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करते हुए वेद, गुरुजन और

१. प्रा० पा०—एकस्तु।

* होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—ये चार होता हैं। इनके द्वारा सम्पादित होनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञको चातुर्होत्र कहते हैं।

मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥२८॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥२९॥
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥३०॥
किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३१॥
तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३२॥
तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥३३॥

अग्नियोंका सम्मान किया है और उनकी आज्ञाका पालन किया है ॥ २८ ॥ महाभारतकी रचनाके बहाने मैंने वेदके अर्थको खोल दिया है—जिससे स्त्री, शूद्र आदि भी अपने-अपने धर्म-कर्मका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ॥२९॥ यद्यपि मैं ब्रह्मतेजसे सम्पन्न एवं समर्थ हूँ, तथापि मेरा हृदय कुछ अपूर्णकाम-सा जान पड़ता है ॥ ३० ॥ अवश्य ही अबतक मैंने भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले धर्मोंका प्रायः निरूपण नहीं किया है । वे ही धर्म परमहंसोंको प्रिय हैं और वे ही भगवान्‌को भी प्रिय हैं (हो-न-हो मेरी अपूर्णताका यही कारण है)' ॥ ३१ ॥ श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास इस प्रकार अपनेको अपूर्ण-सा मानकर जब खिन्न हो रहे थे, उसी समय पूर्वोक्त आश्रमपर देवर्षि नारदजी आ पहुँचे ॥ ३२ ॥ उन्हें आया देख व्यासजी तुरंत खड़े हो गये । उन्होंने देवताओंके द्वारा सम्मानित देवर्षि नारदकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भगवान्‌के यश-कीर्तनकी महिमा और देवर्षि नारदजीका पूर्वचरित्र

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए वीणापाणि परम यशस्वी देवर्षि नारदने मुसकराकर अपने पास ही बैठे ब्रह्मर्षि व्यासजीसे कहा ॥ १ ॥

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

नारदजीने प्रश्न किया—महाभाग व्यासजी ! आपके शरीर एवं मन—दोनों ही अपने कर्म एवं चिन्तनसे संतुष्ट हैं न ? ॥ २ ॥ अवश्य ही आपकी जिज्ञासा तो भलीभाँति पूर्ण हो गयी है; क्योंकि आपने जो यह महाभारतकी रचना की है, वह बड़ी ही अद्भुत है । वह धर्म आदि सभी पुरुषार्थोंसे परिपूर्ण है ॥ ३ ॥ सनातन ब्रह्मतत्त्वको भी आपने खूब विचारा है और जान भी लिया है । फिर भी प्रभु ! आप अकृतार्थ पुरुषके समान अपने विषयमें शोक क्यों कर रहे हैं ? ॥ ४ ॥

---

१. यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'नारदागमनं' इतना पाठ अधिक है । २. प्रा० पा०—तथापि ।

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥
स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-
मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

श्रीनारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥१०॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥११॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

व्यासजीने कहा—आपने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है। वैसा होनेपर भी मेरा हृदय संतुष्ट नहीं है। पता नहीं, इसका क्या कारण है। आपका ज्ञान अगाध है। आप साक्षात् ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं, इसलिये मैं आपसे ही इसका कारण पूछता हूँ ॥ ५ ॥ नारदजी! आप समस्त गोपनीय रहस्योंको जानते हैं; क्योंकि आपने उन पुराणपुरुषकी उपासना की है, जो प्रकृति-पुरुष दोनोंके स्वामी हैं और असङ्ग रहते हुए ही अपने सङ्कल्पमात्रसे गुणोंके द्वारा संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते रहते हैं ॥ ६ ॥ आप सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें भ्रमण करते रहते हैं और योगबलसे प्राणवायुके समान सबके भीतर रहकर अन्तःकरणोंके साक्षी भी हैं। योगानुष्ठान और नियमोंके द्वारा परब्रह्म और शब्दब्रह्म दोनोंकी पूर्ण प्राप्ति कर लेनेपर भी मुझमें जो बड़ी कमी है, उसे आप कृपा करके बतलाइये ॥ ७ ॥

नारदजीने कहा—व्यासजी! आपने भगवान्के निर्मल यशका गान प्रायः नहीं किया। मेरी ऐसी मान्यता है कि जिससे भगवान् संतुष्ट नहीं होते, वह शास्त्र या ज्ञान अधूरा है ॥ ८ ॥ आपने धर्म आदि पुरुषार्थोंका जैसा निरूपण किया है, भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वैसा निरूपण नहीं किया ॥ ९ ॥ जिस वाणीसे—चाहे वह रस-भाव-अलङ्कारादिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अपवित्र मानी जाती है। मानसरोवरके कमनीय कमलवनमें विहरनेवाले हंसोंकी भाँति ब्रह्मधाममें विहार करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त कभी उसमें रमण नहीं करते ॥ १० ॥ इसके विपरीत, जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परंतु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवान्के सुयशसूचक नामोंसे युक्त है, वह वाणी लोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है; क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ११ ॥ वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥
अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥
ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥१४॥
जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥१५॥
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥१६॥
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥१७॥
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।

अमङ्गलरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है, ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है ॥ १२ ॥ महाभाग व्यासजी ! आपकी दृष्टि अमोघ है । आपकी कीर्ति पवित्र है । आप सत्यपरायण एवं दृढ़व्रत हैं । इसलिये अब आप सम्पूर्ण जीवोंको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये समाधिके द्वारा अचिन्त्यशक्ति भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण कीजिये ॥ १३ ॥ जो मनुष्य भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त और कुछ कहनेकी इच्छा करता है, वह उस इच्छासे ही निर्मित अनेक नाम और रूपोंके चक्करमें पड़ जाता है । उसकी बुद्धि भेदभावसे भर जाती है । जैसे हवाके झकोरोंसे डगमगाती हुई डोंगीको कहीं भी ठहरनेका ठौर नहीं मिलता, वैसे ही उसकी चञ्चलबुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती ॥ १४ ॥ संसारी लोग स्वभावसे ही विषयोंमें फँसे हुए हैं । धर्मके नामपर आपने उन्हें निन्दित (पशुहिंसायुक्त) सकाम कर्म करनेकी भी आज्ञा दे दी है । यह बहुत ही उल्टी बात हुई; क्योंकि मूर्खलोग आपके वचनोंसे पूर्वोक्त निन्दित कर्मको ही धर्म मानकर—'यही मुख्य धर्म है' ऐसा निश्चय करके उसका निषेध करनेवाले वचनोंको ठीक नहीं मानते ॥ १५ ॥ भगवान् अनन्त हैं । कोई विचारवान् ज्ञानी पुरुष ही संसारकी ओरसे निवृत्त होकर उनके स्वरूपभूत परमानन्दका अनुभव कर सकता है । अतः जो लोग पारमार्थिक बुद्धिसे रहित हैं और गुणोंके द्वारा नचाये जा रहे हैं, उनके कल्याणके लिये ही आप भगवान्‌की लीलाओंका सर्वसाधारणके हितकी दृष्टिसे वर्णन कीजिये ॥ १६ ॥ जो मनुष्य अपने धर्मका परित्याग करके भगवान्‌के चरणकमलोंका भजन-सेवन करता है—भजन परिपक्व हो जानेपर तो बात ही क्या है—यदि इससे पूर्व ही उसका भजन छूट जाय तो क्या कहीं भी उसका कोई अमङ्गल हो सकता है ? परंतु जो भगवान्‌का भजन नहीं करते और केवल स्वधर्मका पालन करते हैं, उन्हें कौन-सा लाभ मिलता है ॥ १७ ॥ बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे, जो तिनकेसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त समस्त ऊँची-नीची योनियोंमें कर्मोंके फलस्वरूप आने-जानेपर भी स्वयं प्राप्त नहीं होती । संसारके

तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥
न वै जनो जातु कथंचनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥१९॥
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै[1]
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥२०॥
त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥२१॥
इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धि[2]दत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानु[3]वर्णनम् ॥२२॥
अहं पुरातीतभवेऽभवं मु[4]ने
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥२३॥
ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥
उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।

विषय-सुख तो जैसे बिना चेष्टाके दुःख मिलते हैं वैसे ही, कर्मके फलरूपमें अचिन्त्यगति समयके फेरसे सबको सर्वत्र स्वभावसे ही मिल जाते हैं ॥ १८ ॥ व्यासजी ! जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दका सेवक है, वह भजन न करनेवाले कर्मी मनुष्योंके समान दैवात् कभी बुरा भाव हो जानेपर भी जन्म-मृत्युमय संसारमें नहीं आता । वह भगवान्के चरणकमलोंके आलिङ्गनका स्मरण करके फिर उसे छोड़ना नहीं चाहता; उसे रसका चसका जो लग चुका है ॥ १९ ॥ जिनसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वे भगवान् ही इस विश्वके रूपमें भी हैं । ऐसा होनेपर भी वे इससे विलक्षण हैं । इस बातको आप स्वयं जानते हैं, तथापि मैंने आपको संकेतमात्र कर दिया है ॥ २० ॥ व्यासजी ! आपकी दृष्टि अमोघ है; आप इस बातको जानिये कि आप पुरुषोत्तम भगवान्के कलावतार हैं । आपने अजन्मा होकर भी जगत्के कल्याणके लिये जन्म ग्रहण किया है। इसलिये आप विशेषरूपसे भगवान्की लीलाओंका कीर्तन कीजिये ॥ २१ ॥ विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय ॥ २२ ॥

मुने ! पिछले कल्पमें अपने पूर्वजीवनमें मैं वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीका लड़का था । वे योगी वर्षा-ऋतुमें एक स्थानपर चातुर्मास्य कर रहे थे । बचपनमें ही मैं उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया गया था ॥ २३ ॥ मैं यद्यपि बालक था, फिर भी किसी प्रकारकी चञ्चलता नहीं करता था, जितेन्द्रिय था, खेल-कूदसे दूर रहता था और आज्ञानुसार उनकी सेवा करता था । मैं बोलता भी बहुत कम था । मेरे इस शील-स्वभावको देखकर समदर्शी मुनियोंने मुझ सेवकपर अत्यन्त अनुग्रह किया ॥ २४ ॥ उनकी अनुमति प्राप्त करके बरतनोंमें लगा हुआ जूँठन मैं एक बार खा लिया करता था । इससे मेरे सारे पाप धुल गये । इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो

१. प्रा० पा०—ते प्रदेश० । २. प्रा० पा०—बुद्ध० । ३. प्रा० पा०—गुणानुकीर्तनम् । ४. प्रा० पा०—सुतो ।

एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥२५॥
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥२६॥
तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥२७॥
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोऽपहा ॥२८॥
तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२९॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥
येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥
एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥३४॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥

गया और वे लोग जैसा भजन-पूजन करते थे, उसीमें मेरी भी रुचि हो गयी ॥ २५ ॥ प्यारे व्यासजी ! उस सत्सङ्गमें उन लीलागानपरायण महात्माओंके अनुग्रहसे मैं प्रतिदिन श्रीकृष्णकी मनोहर कथाएँ सुना करता । श्रद्धापूर्वक एक-एक पद श्रवण करते-करते प्रियकीर्ति भगवान्‌में मेरी रुचि हो गयी ॥२६॥ महामुने ! जब भगवान्‌में मेरी रुचि हो गयी, तब उन मनोहरकीर्ति प्रभुमें मेरी बुद्धि भी निश्चल हो गयी । उस बुद्धिसे मैं इस सम्पूर्ण सत् और असत्-रूप जगत्‌को अपने परब्रह्मस्वरूप आत्मामें मायासे कल्पित देखने लगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार शरद् और वर्षा—इन दो ऋतुओंमें तीनों समय उन महात्मा मुनियोंने श्रीहरिके निर्मल यशका सङ्कीर्तन किया और मैं प्रेमसे प्रत्येक बात सुनता रहा । अब चित्तके रजोगुण और तमोगुणको नाश करनेवाली भक्तिका मेरे हृदयमें प्रादुर्भाव हो गया ॥२८॥ मैं उनका बड़ा ही अनुरागी था, विनयी था; उन लोगोंकी सेवासे मेरे पाप नष्ट हो चुके थे । मेरे हृदयमें श्रद्धा थी, इन्द्रियोंमें संयम था एवं शरीर, वाणी और मनसे मैं उनका आज्ञाकारी था ॥ २९ ॥ उन दीनवत्सल महात्माओंने जाते समय कृपा करके मुझे उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे किया है ॥ ३० ॥ उस उपदेशसे ही जगत्‌के निर्माता भगवान् श्रीकृष्णकी मायाके प्रभावको मैं जान सका, जिसके जान लेनेपर उनके परमपदकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३१ ॥

सत्यसंकल्प व्यासजी ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति समस्त कर्मोंको समर्पित कर देना ही संसारके तीनों तापोंकी एकमात्र ओषधि है, यह बात मैंने आपको बतला दी ॥ ३२ ॥ प्राणियोंको जिस पदार्थके सेवनसे जो रोग हो जाता है, वही पदार्थ चिकित्साविधिके अनुसार प्रयोग करनेपर क्या उस रोगको दूर नहीं करता ? ॥ ३३ ॥ इसी प्रकार यद्यपि सभी कर्म मनुष्योंको जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें डालनेवाले हैं, तथापि जब वे भगवान्‌को समर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनका कर्मपना ही नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥ इस लोकमें जो शास्त्रविहित कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, उन्हींसे पराभक्तियुक्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

१. प्रा० पा०—ममाभवद्रतिः । २. प्रा० पा०—महामते । ३. प्रा० पा०—तमोहरा ।

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥३६॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च ॥३७॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥
इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥३९॥
त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां
संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥४०॥

उस भगवदर्थ कर्मके मार्गमें भगवान्‌के आज्ञानुसार आचरण करते हुए लोग बार-बार भगवान् श्रीकृष्णके गुण और नामोंका कीर्तन तथा स्मरण करते हैं ॥३६॥ 'प्रभो ! आप भगवान् श्रीवासुदेवको नमस्कार है । हम आपका ध्यान करते हैं । प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणको भी नमस्कार है' ॥ ३७ ॥ इस प्रकार जो पुरुष चतुर्व्यूहरूपी भगवन्मूर्तियोंके नामद्वारा प्राकृत-मूर्तिरहित अप्राकृत मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन करता है, उसीका ज्ञान पूर्ण एवं यथार्थ है ॥ ३८ ॥ ब्रह्मन् ! जब मैंने भगवान्‌की आज्ञाका इस प्रकार पालन किया, तब इस बातको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने मुझे आत्मज्ञान, ऐश्वर्य, और अपनी भावरूपा प्रेमाभक्तिका दान किया ॥ ३९ ॥ व्यासजी ! आपका ज्ञान पूर्ण है; आप भगवान्‌की ही कीर्तिका—उनकी प्रेममयी लीलाका वर्णन कीजिये । उसीसे बड़े-बड़े ज्ञानियोंकी भी जिज्ञासा पूर्ण होती है । जो लोग दुःखोंके द्वारा बार-बार रौंदे जा रहे हैं, उनके दुःखकी शान्ति इसीसे हो सकती है और कोई उपाय नहीं है ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
व्यासनारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

नारदजीके पूर्वचरित्रका शेष भाग

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च ।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥ ३ ॥
प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम ।
न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी ! देवर्षि नारदके जन्म और साधनाकी बात सुनकर सत्यवतीनन्दन भगवान् श्रीव्यासजीने उनसे फिर यह प्रश्न किया ॥ १ ॥

श्रीव्यासजीने पूछा—नारदजी ! जब आपको ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मागण चले गये, तब आपने क्या किया ? उस समय तो आपकी अवस्था बहुत छोटी थी ॥ २ ॥ स्वायम्भुव ! आपकी शेष आयु किस प्रकार व्यतीत हुई और मृत्युके समय आपने किस विधिसे अपने शरीरका परित्याग किया ? ॥ ३ ॥ देवर्षे ! काल तो सभी वस्तुओंको नष्ट कर देता है, उसने आपकी इस पूर्वकल्पकी स्मृतिका कैसे नाश नहीं किया ? ॥४॥

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम्[1] ॥ ५ ॥

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किंकरी ।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥

सास्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥

अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया ।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि ।
सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।
खेटखर्वटवाटीश्च[2] वनान्युपवनानि च ॥११॥

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ॥१२॥

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद् भ्रमरश्रियः ।
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्[3][4] ॥१३॥

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।

श्रीनारदजीने कहा—मुझे ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मागण जब चले गये, तब मैंने इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया—यद्यपि उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी ॥ ५ ॥ मैं अपनी माका इकलौता लड़का था । एक तो वह स्त्री थी, दूसरे मूढ़ और तीसरे दासी थी । मुझे भी उसके सिवा और कोई सहारा नहीं था । उसने अपनेको मेरे स्नेहपाशसे जकड़ रक्खा था ॥ ६ ॥ वह मेरे योगक्षेमकी चिन्ता तो बहुत करती थी, परंतु पराधीन होनेके कारण कुछ कर नहीं पाती थी । जैसे कठपुतली नचानेवालेकी इच्छाके अनुसार ही नाचती है, वैसे ही यह सारा संसार ईश्वरके अधीन है ॥७॥ मैं भी अपनी माके स्नेहबन्धनमें बँधकर उस ब्राह्मण-बस्तीमें ही रहा । मेरी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी; मुझे दिशा, देश और कालके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं था ॥ ८ ॥ एक दिनकी बात है, मेरी मा गौ दुहनेके लिये रातके समय घरसे बाहर निकली । रास्तेमें उसके पैरसे साँप छू गया, उसने उस बेचारीको डस लिया । उस साँपका क्या दोष, कालकी ऐसी ही प्रेरणा थी ॥ ९ ॥ मैंने समझा, भक्तोंका मङ्गल चाहनेवाले भगवान्‌का यह भी एक अनुग्रह ही है । इसके बाद मैं उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा ॥१०॥

उस ओर मार्गमें मुझे अनेकों धन-धान्यसे सम्पन्न देश, नगर, गाँव, अहीरोंकी चलती-फिरती बस्तियाँ, खानें, खेड़े, नदी और पर्वतोंके तटवर्ती पड़ाव, वाटिकाएँ, वन-उपवन और रंग-बिरंगी धातुओंसे युक्त विचित्र पर्वत दिखायी पड़े । कहीं-कहीं जंगली वृक्ष थे, जिनकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ हाथियोंने तोड़ डाली थीं । शीतल जलसे भरे हुए जलाशय थे, जिनमें देवताओंके काममें आनेवाले कमल थे; उनपर पक्षी तरह-तरहकी बोली बोल रहे थे और भौंरे मँडरा रहे थे । यह सब देखता हुआ मैं आगे बढ़ा । मैं अकेला ही था । इतना लंबा मार्ग तै करनेपर मैंने एक घोर गहन जंगल देखा । उसमें नरकट, बाँस, सेंठा, कुश, कीचक आदि खड़े थे । उसकी लंबाई-चौड़ाई भी

१. प्रा० पा०—कारिषम् । २. प्रा० पा०—खेटान् । ३. प्रा० पा०—स्तरेणु० । ४. प्रा० पा०—कीचकमस्करि । ५. प्रा० पा०—एकाभि० ।

घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१४॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।

स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥१५॥

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थितः[1] ।

आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं[2] यथाश्रुतमचिन्तयम् ।१६।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।

औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१७॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।

आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥१८॥

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।

अपश्यन्[3] सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव ॥१९॥

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।

वीक्ष्यमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥२०॥

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।

गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥२१॥

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥२२॥

सकृद् यद् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।

बहुत थी और वह साँप, उल्लू, स्यार आदि भयंकर जीवोंका घर हो रहा था। देखनेमें बड़ा भयावना लगता था ॥ ११–१४ ॥ चलते-चलते मेरा शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी, भूखा तो था ही। वहाँ एक नदी मिली। उसके कुण्ड-में मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया। इससे मेरी थकावट मिट गयी ॥ १५ ॥ उस विजन वनमें एक पीपलके नीचे आसन लगाकर मैं बैठ गया। उन महात्माओंसे जैसा मैंने सुना था, हृदयमें रहनेवाले परमात्माके उसी स्वरूपका मैं मन-ही-मन ध्यान करने लगा ॥ १६ ॥ भक्तिभावसे वशीकृत चित्तद्वारा भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते ही भगवत्-प्राप्तिकी उत्कट लालसासे मेरे नेत्रोंमें आँसू छलछला आये और हृदयमें धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये ॥ १७ ॥ व्यासजी! उस समय प्रेमभावके अत्यन्त उद्रेकसे मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्दकी बाढ़में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तुका तनिक भी भान न रहा॥ १८ ॥ भगवान्‌का वह अनिर्वचनीय रूप समस्त शोकोंका नाश करने-वाला और मनके लिये अत्यन्त लुभावना था। सहसा उसे न देख मैं बहुत ही विकल हो गया और अनमना-सा होकर आसनसे उठ खड़ा हुआ ॥ १९ ॥

मैंने उस स्वरूपका दर्शन फिर करना चाहा, किंतु मनको हृदयमें समाहित-करके बार-बार दर्शनकी चेष्टा करनेपर भी मैं उसे नहीं देख सका। मैं अतृप्तके समान आतुर हो उठा ॥ २० ॥ इस प्रकार निर्जन वनमें मुझे प्रयत्न करते देख स्वयं भगवान्‌ने, जो वाणीके विषय नहीं हैं, बड़ी गम्भीर और मधुर वाणीसे मेरे शोकको शान्त करते हुए-से कहा—॥ २१ ॥ 'खेद है कि इस जन्ममें तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो गयी हैं, उन अधकचरे योगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है ॥२२॥ निष्पाप बालक! तुम्हारे हृदयमें मुझे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् करनेके लिये ही मैंने एक बार तुम्हें अपने रूप-

१. प्रा० पा०—आश्रितः। २. प्रा० पा०—आत्मनाऽऽत्मस्थमात्मानं। ३. प्राचीन प्रतिमें 'अपश्यन् सहसोत्तस्थे ……' से लेकर '…दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्' यहाँतक साढ़े तीन श्लोक नहीं हैं।

मत्कामः शनकैः साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥२३॥
सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥२४॥
मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥२५॥
एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥२६॥
नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ॥२७॥
एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः ।
कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥२८॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥२९॥
कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥३०॥
सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः ।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥३१॥
अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।

की झलक दिखायी है । मुझे प्राप्त करनेकी आकांक्षासे युक्त साधक धीरे-धीरे हृदयकी सम्पूर्ण वासनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है ॥२३॥ अल्पकालीन संतसेवासे ही तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गयी है । अब तुम इस प्राकृत-मलिन शरीरको छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे ॥२४॥ मुझे प्राप्त करनेका तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी किसी प्रकार नहीं टूटेगा । समस्त सृष्टिका प्रलय हो जानेपर भी मेरी कृपासे तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी' ॥ २५ ॥ आकाशके समान अव्यक्त सर्वशक्तिमान् महान् परमात्मा इतना कहकर चुप हो रहे । उनकी इस कृपाका अनुभव करके मैंने उन श्रेष्ठोंसे भी श्रेष्ठतर भगवान्‌को सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ २६ ॥ तभीसे मैं लज्जा-संकोच छोड़कर भगवान्‌के अत्यन्त रहस्यमय और मङ्गलमय मधुर नामों और लीलाओंका कीर्तन और स्मरण करने लगा । स्पृहा और मद-मत्सर मेरे हृदयसे पहले ही निवृत्त हो चुके थे, अब मैं आनन्दसे कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वीपर विचरने लगा ॥ २७ ॥

व्यासजी ! इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्ति मिट गयी और मैं श्रीकृष्णपरायण हो गया । कुछ समय बाद, जैसे एकाएक बिजली कौंध जाती है, वैसे ही अपने समयपर मेरी मृत्यु आ गयी ॥ २८ ॥ मुझे शुद्ध भगवत्पार्षद-शरीर प्राप्त होनेका अवसर आनेपर प्रारब्धकर्म समाप्त हो जानेके कारण पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया ॥ २९ ॥ कल्पके अन्तमें जिस समय भगवान् नारायण एकार्णव (प्रलय-कालीन समुद्र) के जलमें शयन करते हैं, उस समय उनके हृदयमें शयन करनेकी इच्छासे इस सारी सृष्टिको समेटकर ब्रह्माजी जब प्रवेश करने लगे, तब उनके श्वासके साथ मैं भी उनके हृदयमें प्रवेश कर गया ॥ ३० ॥ एक सहस्र चतुर्युगी बीत जानेपर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि करनेकी इच्छा की, तब उनकी इन्द्रियोंसे मरीचि आदि ऋषियोंके साथ मैं भी प्रकट हो गया ॥ ३१ ॥ तभीसे मैं भगवान्‌की कृपासे वैकुण्ठादिमें और तीनों लोकोंमें बाहर और भीतर बिना रोक-टोक विचरण किया करता हूँ।

१. प्रा० पा०—प्रतीक्षन्नमदो । २. प्रा० पा०—विद्युत् ।

अनुग्रहान्महा¹विष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३२॥
देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३३॥
प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥३४॥
एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३५॥
यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति ॥३६॥
सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥३७॥

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः॥३८॥
अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं² शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥३९॥

मेरे जीवनका व्रत भगवद्भजन अखण्डरूपसे चलता रहता है ॥ ३२ ॥ भगवान्‌की दी हुई इस स्वरब्रह्मसे* विभूषित वीणापर तान छेड़कर मैं उनकी लीलाओंका गान करता हुआ सारे संसारमें विचरता हूँ ॥ ३३ ॥ जब मैं उनकी लीलाओंका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु, जिनके चरणकमल समस्त तीर्थोंके उद्गमस्थान हैं और जिनका यशोगान मुझे बहुत ही प्रिय लगता है, बुलाये हुएकी भाँति तुरंत मेरे हृदयमें आकर दर्शन दे देते हैं ॥ ३४ ॥ जिन लोगोंका चित्त निरन्तर विषय-भोगोंकी कामनासे आतुर हो रहा है, उनके लिये भगवान्‌की लीलाओंका कीर्तन संसार-सागरसे पार जानेका जहाज है, यह मेरा अपना अनुभव है ॥ ३५ ॥ काम और लोभकी चोटसे बार-बार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्णसेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम-नियम आदि योगमार्गोंसे वैसी शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ३६ ॥ व्यासजी ! आप निष्पाप हैं । आपने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब अपने जन्म और साधनका रहस्य तथा आपकी आत्मतुष्टिका उपाय मैंने बतला दिया ॥ ३७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! देवर्षि नारदने व्यासजीसे इस प्रकार कहकर जानेकी अनुमति ली और वीणा बजाते हुए स्वच्छन्द विचरण करनेके लिये वे चल पड़े ॥ ३८ ॥ अहा ! ये देवर्षि नारद धन्य हैं; क्योंकि ये शार्ङ्गपाणि भगवान्‌की कीर्तिको अपनी वीणापर गा-गाकर स्वयं तो आनन्दमग्न होते ही हैं, साथ-साथ इस त्रितापतप्त जगत्‌को भी आनन्दित करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—अनुग्रहादहं विष्णो० । २. प्रा० पा०—यः कीर्तिं ।

* षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सातों स्वर ब्रह्मव्यञ्जक होनेके नाते ही ब्रह्मरूप कहे गये हैं ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाद्वारा द्रौपदीके पुत्रोंका मारा जाना और अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाका मानमर्दन

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः ।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥ २ ॥
तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥ ३ ॥
भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ॥ ४ ॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ ६ ॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ ७ ॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥ ८ ॥

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥ ९ ॥

सूत उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

श्रीशौनकजीने पूछा—सूतजी ! सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् व्यासभगवान्‌ने नारदजीका अभिप्राय सुन लिया । फिर उनके चले जानेपर उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

श्रीसूतजीने कहा—ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिम तटपर शम्याप्रास नामका एक आश्रम है । वहाँ ऋषियोंके यज्ञ चलते ही रहते हैं ॥ २ ॥ वहीं व्यासजीका अपना आश्रम है । उसके चारों ओर बेरका सुन्दर वन है । उस आश्रममें बैठकर उन्होंने आचमन किया और स्वयं अपने मनको समाहित किया ॥ ३ ॥ उन्होंने भक्तियोगके द्वारा अपने मनको पूर्णतया एकाग्र और निर्मल करके आदिपुरुष परमात्मा और उनके आश्रयसे रहनेवाली मायाको देखा ॥ ४ ॥ इसी मायासे मोहित होकर यह जीव तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर भी अपनेको त्रिगुणात्मक मान लेता है और इस मान्यताके कारण होनेवाले अनर्थोंको भोगता है ॥ ५ ॥ इन अनर्थोंकी शान्तिका साक्षात् साधन है—केवल भगवान्‌का भक्तियोग । परंतु संसारके लोग इस बातको नहीं जानते । यही समझकर उन्होंने इस परमहंसोंकी संहिता श्रीमद्भागवतकी रचना की ॥ ६ ॥ इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥ उन्होंने इस भागवत-संहिताका निर्माण और पुनरावृत्ति करके इसे अपने निवृत्तिपरायण पुत्र श्रीशुकदेवजीको पढ़ाया ॥ ८ ॥

श्रीशौनकजीने पूछा—श्रीशुकदेवजी तो अत्यन्त निवृत्तिपरायण हैं, उन्हें किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है । वे सदा आत्मामें ही रमण करते हैं । फिर उन्होंने किसलिये इस विशाल ग्रन्थका अध्ययन किया ? ॥ ९ ॥

श्रीसूतजीने कहा—जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥१०॥

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।

अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥११॥

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्।
संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥१२॥
यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥१३॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥१४॥
माता शिशूनां निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद्वाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥१५॥
तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाऽऽक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥१६॥
इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥१७॥
तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन।

करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं ॥ १० ॥ फिर श्रीशुकदेवजी तो भगवान्‌के भक्तोंके अत्यन्त प्रिय और स्वयं भगवान् वेदव्यासके पुत्र हैं। भगवान्‌के गुणोंने उनके हृदयको अपनी ओर खींच लिया और उन्होंने उससे विवश होकर ही इस विशाल ग्रन्थका अध्ययन किया ॥ ११ ॥

शौनकजी ! अब मैं राजर्षि परीक्षित्‌के जन्म, कर्म और मोक्षकी तथा पाण्डवोंके स्वर्गारोहणकी कथा कहता हूँ; क्योंकि इन्हींसे भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों कथाओंका उदय होता है ॥ १२ ॥ जिस समय महाभारत-युद्धमें कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके बहुत-से वीर वीरगतिको प्राप्त हो चुके थे और भीमसेनकी गदाके प्रहारसे दुर्योधनकी जाँघ टूट चुकी थी, तब अश्वत्थामाने अपने स्वामी दुर्योधनका प्रिय कार्य समझकर द्रौपदीके सोते हुए पुत्रोंके सिर काटकर उसे भेंट किये, यह घटना दुर्योधनको भी अप्रिय ही लगी; क्योंकि ऐसे नीच कर्मकी सभी निन्दा करते हैं ॥ १३-१४ ॥ उन बालकोंकी माता द्रौपदी अपने पुत्रोंका निधन सुनकर अत्यन्त दुखी हो गयी। उसकी आँखोंमें आँसू छलछला आये—वह रोने लगी। अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १५ ॥ 'कल्याणी! मैं तुम्हारे आँसू तब पोंछूँगा, जब उस आततायी* ब्राह्मणाधमका सिर गाण्डीव-धनुषके बाणोंसे काटकर तुम्हें भेंट करूँगा और पुत्रोंकी अन्त्येष्टि क्रियाके बाद तुम उसपर पैर रखकर स्नान करोगी' ॥ १६ ॥ अर्जुनने इन मीठी और विचित्र बातोंसे द्रौपदीको सान्त्वना दी और अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णकी सलाहसे उन्हें सारथि बनाकर, कवच धारणकर और अपने भयानक गाण्डीव धनुषको लेकर वे रथपर सवार हुए तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़ पड़े ॥ १७ ॥ बच्चोंकी हत्यासे अश्वत्थामाका भी मन उद्विग्न हो गया था। जब उसने दूरसे ही देखा कि अर्जुन मेरी ओर झपटे हुए आ रहे हैं तब वह अपने

१. प्रा० पा०—माता सुतानां निधनं शिशूनां। २. प्रा० पा०—विमृजामि। ३. प्रा० पा०—आक्रम्य।

* आग लगानेवाला, जहर देनेवाला, बुरी नीयतसे हाथमें शस्त्र ग्रहण करनेवाला, धन लूटनेवाला, खेत और स्त्रीको छीननेवाला—ये छः 'आततायी' कहलाते हैं।

पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथार्कः ॥१८॥
यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥१९॥
अथोपस्पृश्य सलिलं संदधे तत्समाहितः ।
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२०॥
ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥

अर्जुन[1] उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो[2] भक्तानामभयंकर ।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥२२॥
त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि २३
स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२४॥
तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
स्वानां चानन्य[3]भावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥२५॥
किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम् ।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥२६॥

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥२७॥
न ह्यस्यान्यतमं किंचिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥२८॥

प्राणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर जहाँतक भाग सकता था, रुद्रसे भयभीत सूर्यकी* भाँति भागता रहा ॥ १८ ॥ जब उसने देखा कि मेरे रथके घोड़े थक गये हैं और मैं बिल्कुल अकेला हूँ, तब उसने अपनेको बचानेका एकमात्र साधन ब्रह्मास्त्र ही समझा ॥ १९ ॥ यद्यपि उसे ब्रह्मास्त्रको लौटानेकी विधि मालूम न थी, फिर भी प्राणसङ्कट देखकर उसने आचमन किया और ध्यानस्थ होकर ब्रह्मास्त्रका संधान किया ॥ २० ॥ उस अस्त्रसे सब दिशाओंमें एक बड़ा प्रचण्ड तेज फैल गया । अर्जुनने देखा कि अब तो मेरे प्राणोंपर ही आ बनी है, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! तुम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हो । तुम्हारी शक्ति अनन्त है । तुम्हीं भक्तोंको अभय देनेवाले हो । जो संसारकी धधकती हुई आगमें जल रहे हैं, उन जीवोंको उससे उबारनेवाले एकमात्र तुम्हीं हो ॥ २२ ॥ तुम प्रकृतिसे परे रहनेवाले आदिपुरुष साक्षात् परमेश्वर हो । अपनी चित्-शक्ति (स्वरूप-शक्ति) से बहिरङ्ग एवं त्रिगुणमयी मायाको दूर भगाकर अपने अद्वितीय स्वरूपमें स्थित हो ॥२३॥ वही तुम अपने प्रभावसे माया-मोहित जीवोंके लिये धर्मादि-रूप कल्याणका विधान करते हो ॥ २४ ॥ तुम्हारा यह अवतार पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये और तुम्हारे अनन्यप्रेमी भक्तजनोंके निरन्तर स्मरण-ध्यान करनेके लिये है ॥ २५ ॥ स्वयम्प्रकाशस्वरूप श्रीकृष्ण ! यह भयङ्कर तेज सब ओरसे मेरी ओर आ रहा है । यह क्या है, कहाँसे, क्यों आ रहा है—इसका मुझे बिल्कुल पता नहीं है ! ॥ २६ ॥

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! यह अश्वत्थामाका चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है । यह बात समझ लो कि प्राण-संकट उपस्थित होनेसे उसने इसका प्रयोग तो कर दिया है, परंतु वह इस अस्त्रको लौटाना नहीं जानता ॥ २७ ॥ किसी भी दूसरे अस्त्रमें इसको दबा देनेकी शक्ति नहीं है । तुम शस्त्रास्त्रविद्याको भलीभाँति जानते ही हो, ब्रह्मास्त्रके तेजसे ही इस ब्रह्मास्त्रकी प्रचण्ड आगको बुझा दो ॥ २८ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'अर्जुन उवाच' इतना नहीं है । २. प्रा० पा०—महाभाग । ३. प्रा० पा०—स्वानामनन्य० ।

* शिवभक्त विद्युन्माली दैत्यको जब सूर्यने हरा दिया तब सूर्यपर क्रोधित हो भगवान् रुद्र त्रिशूल हाथमें लेकर उनकी ओर दौड़े । उस समय सूर्य भागते-भागते पृथ्वीपर काशीमें आकर गिरे, इसीसे वहाँ उनका 'लोलार्क' नाम पड़ा ।

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय संदधे ॥२९॥
संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥३०॥
दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रीँल्लोकान् प्रदहन्महत् ।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥३१॥
प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।
मतं च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम् ॥३२॥
तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥३३॥
शिविराय निनीषन्तं दाम्ना बध्वा रिपुं बलात् ।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥
मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥३५॥
मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् ।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥३६॥
स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥३७॥
प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥३८॥
तदसौ वध्यतां पाप आततताय्यात्मबन्धुहा ।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥३९॥
एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ।

सूतजी कहते हैं—अर्जुन विपक्षी वीरोंको मारनेमें बड़े प्रवीण थे । भगवान्‌की बात सुनकर उन्होंने आचमन किया और भगवान्‌की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्रके निवारणके लिये ब्रह्मास्त्रका ही संधान किया ॥ २९ ॥ बाणोंसे वेष्टित उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज प्रलयकालीन सूर्य एवं अग्निके समान आपसमें टकराकर सारे आकाश और दिशाओंमें फैल गये और बढ़ने लगे ॥३०॥ तीनों लोकोंको जलानेवाली उन दोनों अस्त्रोंकी बढ़ी हुई लपटोंसे प्रजा जलने लगी और उसे देखकर सबने यही समझा कि यह प्रलयकालकी सांवर्तक अग्नि है ॥३१॥ उस आगसे प्रजाका और लोकोंका नाश होते देखकर भगवान्‌की अनुमतिसे अर्जुनने उन दोनोंको ही लौटा लिया ॥ ३२ ॥ अर्जुनकी आँखें क्रोधसे लाल-लाल हो रही थीं । उन्होंने झपटकर उस क्रूर अश्वत्थामाको पकड़ लिया और जैसे कोई रस्सीसे पशुको बाँध ले, वैसे ही बाँध लिया ॥ ३३ ॥ अश्वत्थामाको बलपूर्वक बाँधकर अर्जुनने जब शिविरकी ओर ले जाना चाहा, तब उनसे कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने कुपित होकर कहा—॥ ३४ ॥ 'अर्जुन ! इस ब्राह्मणाधमको छोड़ना ठीक नहीं है, इसको तो मार ही डालो । इसने रातमें सोये हुए निरपराध बालकोंकी हत्या की है ॥ ३५ ॥ धर्मवेत्ता पुरुष असावधान, मतवाले, पागल, सोये हुए, बालक, स्त्री, विवेकज्ञानशून्य, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रुको कभी नहीं मारते ॥ ३६ ॥ परंतु जो दुष्ट और क्रूर पुरुष दूसरोंको मारकर अपने प्राणोंका पोषण करता है, उसका तो वध ही उसके लिये कल्याणकारी है, क्योंकि वैसी आदतको लेकर यदि वह जीता है तो और भी पाप करता है और उन पापोंके कारण नरकगामी होता है ॥ ३७ ॥ फिर मेरे सामने ही तुमने द्रौपदीसे प्रतिज्ञा की थी कि 'मानवती ! जिसने तुम्हारे पुत्रोंका वध किया है, उसका सिर मैं उतार लाऊँगा' ॥ ३८ ॥ इस पापी कुलाङ्गार आततायीने तुम्हारे पुत्रोंका वध किया है और अपने स्वामी दुर्योधनको भी दुःख पहुँचाया है । इसलिये अर्जुन ! इसे मार ही डालो' ॥ ३९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा की, परंतु अर्जुनका हृदय महान् था । यद्यपि अश्वत्थामाने

१. प्रा० पा०—रज्ज्वा ।

नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।

न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥४१॥

तथाऽऽहृतं पशुवत् पाशबद्ध-

मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।

निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं

वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥४२॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥४३॥

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।

अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥४४॥

स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।

तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥४५॥

तद् धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।

वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥४६॥

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।

यथाहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥४७॥

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।

तत् कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्[1] ॥४८॥

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।

राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥४९॥

नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनंजयः ।

भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥५०॥

उनके पुत्रोंकी हत्या की थी, फिर भी अर्जुनके मनमें गुरुपुत्रको मारनेकी इच्छा नहीं हुई ॥ ४० ॥

इसके बाद अपने मित्र और सारथि श्रीकृष्णके साथ वे अपने युद्ध-शिविरमें पहुँचे । वहाँ अपने मृत पुत्रोंके लिये शोक करती हुई द्रौपदीको उसे सौंप दिया ॥४१॥ द्रौपदीने देखा कि अश्वत्थामा पशुकी तरह बाँधकर लाया गया है । निन्दित कर्म करनेके कारण उसका मुख नीचे-की ओर झुका हुआ है । अपना अनिष्ट करनेवाले गुरु-पुत्र अश्वत्थामाको इस प्रकार अपमानित देखकर द्रौपदीका कोमल हृदय कृपासे भर आया और उसने अश्वत्थामाको नमस्कार किया ॥ ४२ ॥ गुरुपुत्रका इस प्रकार बाँध-कर लाया जाना सती द्रौपदीको सहन नहीं हुआ । उसने कहा—'छोड़ दो इन्हें, छोड़ दो । ये ब्राह्मण हैं, हमलोगोंके अत्यन्त पूजनीय हैं ॥ ४३ ॥ जिनकी कृपासे आपने रहस्यके साथ सारे धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहारके साथ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्रके रूपमें आपके सामने खड़े हैं । उनकी अर्धाङ्गिनी कृपी अपने वीर पुत्रकी ममता-से ही अपने पतिका अनुगमन नहीं कर सकीं, वे अभी जीवित हैं ॥ ४४-४५ ॥ महाभाग्यवान् आर्यपुत्र ! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं । जिस गुरुवंशकी नित्य पूजा और वन्दना करनी चाहिये, उसीको व्यथा पहुँचाना आपके योग्य कार्य नहीं है ॥ ४६ ॥ जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बार-बार आँसू निकल रहे हैं, वैसे ही इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें ॥ ४७ ॥ जो उच्छृङ्खल राजा अपने कुकृत्योंसे ब्राह्मणकुलको कुपित कर देते हैं, वह कुपित ब्राह्मणकुल उन राजाओंको सपरिवार शोकाग्नि-में डालकर शीघ्र ही भस्म कर देता है' ॥ ४८ ॥

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो ! द्रौपदीकी बात धर्म और न्यायके अनुकूल थी । उसमें कपट नहीं था, करुणा और समता थी । अतएव राजा युधिष्ठिरने रानीके इन हितभरे श्रेष्ठ वचनोंका अभिनन्दन किया ॥ ४९ ॥ साथ ही नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और वहाँपर उपस्थित सभी नर-नारियोंने द्रौपदीकी बातका समर्थन किया ॥ ५० ॥

१. प्रा० पा०—शुचार्दितम् ।

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥५१॥
निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥५२॥

श्रीकृष्ण[2] उवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः[3] ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥५३॥
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥५४॥

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय[4] हरेर्हार्दमथासिना ।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥५५॥
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥५६॥
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥५७॥
पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥५८॥

उस समय क्रोधित होकर भीमसेनने कहा, 'जिसने सोते हुए बच्चोंको न अपने लिये और न अपने स्वामीके लिये, बल्कि व्यर्थ ही मार डाला, उसका तो वध ही उत्तम है' ॥५१॥ भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदी और भीमसेनकी बात सुनकर और अर्जुनकी ओर देखकर कुछ हँसते हुए-से कहा ॥५२॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'पतित ब्राह्मणका भी वध नहीं करना चाहिये और आततायीको मार ही डालना चाहिये'—शास्त्रोंमें मैंने ही ये दोनों बातें कही हैं। इसलिये मेरी दोनों आज्ञाओंका पालन करो ॥ ५३ ॥ तुमने द्रौपदीको सान्त्वना देते समय जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी सत्य करो; साथ ही भीमसेन, द्रौपदी और मुझे जो प्रिय हो, वह भी करो ॥ ५४ ॥

सूतजी कहते हैं—अर्जुन भगवान्के हृदयकी बात तुरंत ताड़ गये और उन्होंने अपनी तलवारसे अश्वत्थामाके सिरकी मणि उसके बालोंके साथ उतार ली ॥ ५५ ॥ बालकोंकी हत्या करनेसे वह श्रीहीन तो पहले ही हो गया था, अब मणि और ब्रह्मतेजसे भी रहित हो गया । इसके बाद उन्होंने रस्सीका बन्धन खोलकर उसे शिबिरसे निकाल दिया ॥ ५६ ॥ मूँड़ देना, धन छीन लेना और स्थानसे बाहर निकाल देना—यही ब्राह्मणाधमोंका वध है । उनके लिये इससे भिन्न शारीरिक वधका विधान नहीं है ॥५७॥ पुत्रोंकी मृत्युसे द्रौपदी और पाण्डव सभी शोकातुर हो रहे थे । अब उन्होंने अपने मरे हुए भाई-बन्धुओंकी दाहादि अन्त्येष्टि क्रिया की ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
द्रौणिनिग्रहो[5] नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. २. प्राचीन प्रतिमें 'वृथा' शब्दसे लेकर 'श्रीकृष्ण उवाच' के 'श्री' तकका विषय खण्डित हो गया है तथा उसमें 'कृष्ण उवाच' की जगह 'भगवानुवाच' पाठ है । ३. प्रा० पा०—वधार्हकः । ४. प्रा० पा०—सहसा ज्ञात्वा । ५. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें 'द्रौणिनिग्रहो नाम' की जगह 'पारिक्षिते' पाठ है ।

अथाष्टमोऽध्यायः

गर्भमें परीक्षित्‌की रक्षा, कुन्तीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और युधिष्ठिरका शोक

सूत उवाच

अथ ते[1] सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः॥ १॥
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले॥ २॥
तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः॥ ३॥
सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्शुचार्पितान्[2]।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम्॥ ४॥
साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः॥ ५॥
याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत्॥ ६॥
आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः॥ ७॥
गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम्॥ ८॥

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते।

सूतजी कहते हैं—इसके बाद पाण्डव श्रीकृष्णके साथ जलाञ्जलिके इच्छुक मरे हुए स्वजनोंका तर्पण करनेके लिये स्त्रियोंको आगे करके गङ्गातटपर गये॥ १॥ वहाँ उन सबने मृत बन्धुओंको जल-दान दिया और उनके गुणोंका स्मरण करके बहुत विलाप किया। तदनन्तर भगवान्‌के चरण-कमलोंकी धूलिसे पवित्र गङ्गाजलमें पुनः स्नान किया॥ २॥ वहाँ अपने भाइयोंके साथ कुरुपति महाराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, पुत्रशोकसे व्याकुल गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदी—सब बैठकर मरे हुए स्वजनोंके लिये शोक करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने धौम्यादि मुनियोंके साथ उनको सान्त्वना दी और समझाया कि संसारके सभी प्राणी कालके अधीन हैं, मौतसे किसीको कोई बचा नहीं सकता॥ ३-४॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरको उनका वह राज्य, जो धूर्तोंने छलसे छीन लिया था, वापस दिलाया तथा द्रौपदीके केशोंका स्पर्श करनेसे जिनकी आयु क्षीण हो गयी थी, उन दुष्ट राजाओंका वध कराया॥ ५॥ साथ ही युधिष्ठिरके द्वारा उत्तम सामग्रियोंसे तथा पुरोहितोंसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। इस प्रकार युधिष्ठिरके पवित्र यशको सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके यशकी तरह सब ओर फैला दिया॥ ६॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने वहाँसे जानेका विचार किया। उन्होंने इसके लिये पाण्डवोंसे विदा ली और व्यास आदि ब्राह्मणोंका सत्कार किया। उन लोगोंने भी भगवान्‌का बड़ा ही सम्मान किया। तदनन्तर सात्यकि और उद्धवके साथ द्वारका जानेके लिये वे रथपर सवार हुए। उसी समय उन्होंने देखा कि उत्तरा भयसे विह्वल होकर सामनेसे दौड़ी चली आ रही है॥ ७-८॥

उत्तराने कहा—देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप महायोगी हैं। आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

१. प्रा० पा०—तेषां परेतानां। २. प्रा० पा०—शुचार्दितान्।

नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥ ९ ॥

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥१०॥

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।

अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥११॥

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।

आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः॥१२॥

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।

सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥१३॥

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ।

स्वमाययाऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१४॥

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।

वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥१५॥

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।

य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१६॥

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया ।

प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१७॥

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।

अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१८॥

आपके अतिरिक्त इस लोकमें मुझे अभय देनेवाला और कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी परस्पर एक दूसरेकी मृत्युके निमित्त बन रहे हैं ॥ ९ ॥ प्रभो ! आप सर्व-शक्तिमान् हैं । यह दहकते हुए लोहेका बाण मेरी ओर दौड़ा आ रहा है । स्वामिन् ! यह मुझे भले ही जला डाले, परंतु मेरे गर्भको नष्ट न करे—ऐसी कृपा कीजिये ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण उसकी बात सुनते ही जान गये कि अश्वत्थामाने पाण्डवों-के वंशको निर्बीज करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया है ॥ ११ ॥ शौनकजी ! उसी समय पाण्डवोंने भी देखा कि जलते हुए पाँच बाण हमारी ओर आ रहे हैं । इसलिये उन्होंने भी अपने-अपने अस्त्र उठा लिये ॥ १२ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने अपने अनन्य प्रेमियोंपर—शरणागत भक्तोंपर बहुत बड़ी विपत्ति आयी जानकर अपने निज अस्त्र सुदर्शन-चक्रसे उन निज जनोंकी रक्षा की ॥ १३ ॥ योगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान आत्मा हैं । उन्होंने उत्तराके गर्भको पाण्डवोंकी वंश-परम्परा चलानेके लिये अपनी मायाके कवचसे ढक दिया ॥ १४ ॥ शौनकजी ! यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है और उसके निवारणका कोई उपाय भी नहीं है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने आकर वह शान्त हो गया ॥ १५ ॥ यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि भगवान् तो सर्वाश्चर्यमय हैं, वे ही अपनी निज शक्ति मायासे स्वयं अजन्मा होकर भी इस संसारकी सृष्टि, रक्षा और संहार करते हैं ॥ १६ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्ण जाने लगे, तब ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे मुक्त अपने पुत्रोंके और द्रौपदीके साथ सती कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की ॥ १७ ॥

कुन्तीने कहा—आप समस्त जीवोंके बाहर और भीतर एकरस स्थित हैं, फिर भी इन्द्रियों और वृत्तियोंसे देखे नहीं जाते; क्योंकि आप प्रकृतिसे परे आदिपुरुष परमेश्वर हैं । मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—नान्यत्र त्वभयं । २. प्रा० पा०—दहति । ३. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' नहीं है । ४. प्रा० पा०—भृगुश्रेष्ठ । ५. प्रा० पा०—बहिरपि ध्रुवम् ।

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥२०॥
कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥२१॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२२॥
यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥
विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२६॥

इन्द्रियोंसे जो कुछ जाना जाता है, उसकी तहमें आप विद्यमान रहते हैं और अपनी ही मायाके परदेसे अपनेको ढके रहते हैं। मैं अबोध नारी आप अविनाशी पुरुषोत्तमको भला कैसे जान सकती हूँ? जैसे मूढ़ लोग दूसरा भेष धारण किये हुए नटको प्रत्यक्ष देखकर भी नहीं पहचान सकते, वैसे ही आप दीखते हुए भी नहीं दीखते ॥ १९ ॥ आप शुद्ध हृदयवाले विचारशील जीवन्मुक्त परमहंसोंके हृदयमें अपनी प्रेममयी भक्तिका सृजन करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। फिर हम अल्पबुद्धि स्त्रियाँ आपको कैसे पहचान सकती हैं ॥ २० ॥ आप श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्द गोपके लाड़ले लाल गोविन्दको हमारा बारंबार प्रणाम है ॥ २१ ॥ जिनकी नाभिसे ब्रह्माका जन्म-स्थान कमल प्रकट हुआ है, जो सुन्दर कमलोंकी माला धारण करते हैं, जिनके नेत्र कमलके समान विशाल और कोमल हैं, जिनके चरण-कमलोंमें कमलका चिह्न है—श्रीकृष्ण! ऐसे आपको मेरा बार-बार नमस्कार है ॥ २२ ॥ हृषीकेश! जैसे आपने दुष्ट कंसके द्वारा कैद की हुई और चिरकालसे शोकग्रस्त देवकीकी रक्षा की थी, वैसे ही पुत्रोंके साथ मेरी भी आपने बार-बार विपत्तियोंसे रक्षा की है। आप ही हमारे स्वामी हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं। श्रीकृष्ण! कहाँतक गिनाऊँ—विषसे, लाक्षागृहकी भयानक आगसे, हिडिम्ब आदि राक्षसोंकी दृष्टिसे, दुष्टोंकी द्यूत-सभासे, वनवासकी विपत्तियोंसे और अनेक बारके युद्धोंमें, अनेक महारथियोंके शस्त्रास्त्रोंसे और अभी-अभी इस अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे भी आपने ही हमारी रक्षा की है ॥ २३-२४ ॥ जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता ॥ २५ ॥ ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्तिके कारण जिसका घमंड बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिञ्चन हैं ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—त्ताः ।

नमोऽकिंचनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥
मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥२९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृर्षिषु[1] यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रु[2]कलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥३३॥

आप निर्धनोंके परम धन हैं । मायाका प्रपञ्च आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता । आप अपने-आपमें ही विहार करनेवाले, परम शान्तस्वरूप हैं । आप ही कैवल्य मोक्षके अधिपति हैं । आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥२७॥

मैं आपको अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सबके नियन्ता, कालरूप परमेश्वर समझती हूँ । संसारके समस्त पदार्थ और प्राणी आपसमें टकराकर विषमताके कारण परस्पर विरुद्ध हो रहे हैं, परंतु आप सबमें समानरूपसे विचर रहे हैं ॥ २८ ॥ भगवन् ! आप जब मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं, तब आप क्या करना चाहते हैं—यह कोई नहीं जानता । आपका कभी कोई न प्रिय है और न अप्रिय । आपके सम्बन्धमें लोगोंकी बुद्धि ही विषम हुआ करती है ॥ २९ ॥ आप विश्वके आत्मा हैं, विश्वरूप हैं । न आप जन्म लेते हैं और न कर्म ही करते हैं । फिर भी पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदिमें आप जन्म लेते हैं और उन योनियोंके अनुरूप दिव्य कर्म भी करते हैं । यह आपकी लीला ही तो है ॥ ३० ॥ जब बचपनमें आपने दूधकी मटकी फोड़कर यशोदा मैयाको खिझा दिया था और उन्होंने आपको बाँधनेके लिये हाथमें रस्सी ली थी, तब आपकी आँखोंमें आँसू छलक आये थे, काजल कपोलोंपर बह चला था, नेत्र चञ्चल हो रहे थे और भयकी भावनासे आपने अपने मुखको नीचेकी ओर झुका लिया था । आपकी उस दशाका—लीला-छविका ध्यान करके मैं मोहित हो जाती हूँ । भला, जिससे भय भी भय मानता है, उसकी यह दशा ! ॥ ३१ ॥ आपने अजन्मा होकर भी जन्म क्यों लिया है, इसका कारण बतलाते हुए कोई-कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जैसे मलयाचलकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये उसमें चन्दन प्रकट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त पुण्यश्लोक राजा यदुकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये ही आपने उनके वंशमें अवतार ग्रहण किया है ॥ ३२ ॥ दूसरे लोग यों कहते हैं कि वसुदेव और देवकीने पूर्वजन्ममें (सुतपा और पृश्निके रूपमें) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था, इसीलिये आप अजन्मा होते हुए भी जगत्के कल्याण और दैत्योंके नाशके लिये उनके पुत्र बने हैं ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—नृष्वपि यादस्सु । २. प्रा० पा०—मृषा० ।

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥३४॥
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति[1] केचन ॥३५॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः[2]
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥३६॥
अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित[3] प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥३७॥
के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥३८॥
नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥३९॥
इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः[4] ॥४०॥
अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥४१॥
त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा[5] गङ्गेवौघमुदन्वति ॥४२॥

कुछ और लोग यों कहते हैं कि यह पृथ्वी दैत्योंके अत्यन्त भारसे समुद्रमें डूबते हुए जहाजकी तरह डगमगा रही थी—पीड़ित हो रही थी, तब ब्रह्माकी प्रार्थनासे उसका भार उतारनेके लिये ही आप प्रकट हुए ॥ ३४ ॥ कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जो लोग इस संसारमें अज्ञान, कामना और कर्मोंके बन्धनमें जकड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं, उन लोगोंके लिये श्रवण और स्मरण करनेयोग्य लीला करनेके विचारसे ही आपने अवतार ग्रहण किया है ॥ ३५ ॥ भक्तजन बार-बार आपके चरित्रका श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं; वे ही अविलम्ब आपके उस चरणकमलका दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म-मृत्युके प्रवाहको सदाके लिये रोक देता है ॥३६॥

भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभो ! क्या अब आप अपने आश्रित और सम्बन्धी हमलोगोंको छोड़कर जाना चाहते हैं ? आप जानते हैं कि आपके चरणकमलोंके अतिरिक्त हमें और किसीका सहारा नहीं है । पृथ्वीके राजाओंके तो हम यों ही विरोधी हो गये हैं ॥ ३७ ॥ जैसे जीवके बिना इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, वैसे ही आपके दर्शन बिना यदुवंशियोंके और हमारे पुत्र पाण्डवोंके नाम तथा रूपका अस्तित्व ही क्या रह जाता है ॥ ३८ ॥ गदाधर ! आपके विलक्षण चरणचिह्नोंसे चिह्नित यह कुरुजाङ्गल-देशकी भूमि आज जैसी शोभायमान हो रही है, वैसी आपके चले जानेके बाद न रहेगी ॥ ३९ ॥ आपकी दृष्टिके प्रभावसे ही यह देश पकी हुई फसल तथा लता-वृक्षोंसे समृद्ध हो रहा है । ये वन, पर्वत, नदी और समुद्र भी आपकी दृष्टिसे ही वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ४० ॥ आप विश्वके स्वामी हैं, विश्वके आत्मा हैं और विश्वरूप हैं । यदुवंशियों और पाण्डवोंमें मेरी बड़ी ममता हो गयी है । आप कृपा करके स्वजनोंके साथ जोड़े हुए इस स्नेहकी दृढ़ फाँसीको काट दीजिये ॥ ४१ ॥ श्रीकृष्ण ! जैसे गङ्गाकी अखण्ड धारा समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती रहे ॥ ४२ ॥

१. प्रा० पा०—करिष्य इति । २. प्रा० पा०—वदन्त्य० । ३. प्रा० पा०—स्वकृतेहितः । ४. प्रा० पा०—वीक्षिताः । ५. प्रा० पा०—रतिमुद्वहतां तद्वत् ।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥४३॥

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥४४॥
तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥४५॥
व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः[1] ॥४६॥
आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥४७॥
अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥४८॥
बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥४९॥
नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।
इति मे न तु बोधाय कल्पते[2] शासनं वचः ॥५०॥
स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।

श्रीकृष्ण ! अर्जुनके प्यारे सखा यदुवंशशिरोमणे ! आप पृथ्वीके भाररूप राजवेशधारी दैत्योंको जलानेके लिये अग्निस्वरूप हैं । आपकी शक्ति अनन्त है । गोविन्द ! आपका यह अवतार गौ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख मिटानेके लिये ही है । योगेश्वर ! चराचरके गुरु भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥ ४३ ॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार कुन्तीने बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌की अधिकांश लीलाओंका वर्णन किया । यह सब सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायासे उसे मोहित करते हुए-से मन्द-मन्द मुसकराने लगे ॥ ४४ ॥ उन्होंने कुन्तीसे कह दिया—'अच्छा ठीक है' और रथके स्थानसे वे हस्तिनापुर लौट आये । वहाँ कुन्ती और सुभद्रा आदि देवियोंसे विदा लेकर जब वे जाने लगे, तब राजा युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे उन्हें रोक लिया ॥ ४५ ॥ राजा युधिष्ठिरको अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेका बड़ा शोक हो रहा था । भगवान्‌की लीलाका मर्म जाननेवाले व्यास आदि महर्षियोंने और स्वयं अद्भुत चरित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भी अनेकों इतिहास कहकर उन्हें समझानेकी बहुत चेष्टा की; परंतु उन्हें सान्त्वना न मिली, उनका शोक न मिटा ॥ ४६ ॥ शौनकादि ऋषियो ! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अपने स्वजनोंके वधसे बड़ी चिन्ता हुई । वे अविवेकयुक्त चित्तसे स्नेह और मोहके वशमें होकर कहने लगे—भला, मुझ दुरात्माके हृदयमें बद्धमूल हुए इस अज्ञानको तो देखो; मैंने सियार-कुत्तोंके आहार इस अनात्मा शरीरके लिये अनेक अक्षौहिणी* सेनाका नाश कर डाला ॥ ४७-४८ ॥ मैंने बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, चाचा-ताऊ-भाई-बन्धु और गुरुजनोंसे द्रोह किया है । करोड़ों बरसोंमें भी नरकसे मेरा छुटकारा नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥ यद्यपि शास्त्रका वचन है कि राजा यदि प्रजाका पालन करनेके लिये धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारे तो उसे पाप नहीं लगता, फिर भी इससे मुझे संतोष नहीं होता ॥५०॥ स्त्रियोंके पति और भाई-बन्धुओंको मारनेसे उनका मेरे द्वारा यहाँ जो अपराध हुआ है, उसका

१. प्रा० पा०—शुचार्दितः । २. प्रा० पा०—कल्पते शाश्वतं ।

* २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, १,०९,३५० पैदल और ६५,६१० घुड़सवार—इतनी सेनाको अक्षौहिणी कहते हैं। (महाभारत)

कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।

भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥५२॥

मैं गृहस्थोचित यज्ञ-यागादिकोंके द्वारा मार्जन करनेमें समर्थ नहीं हूँ ॥ ५१ ॥ जैसे कीचड़से गँदला जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता, मदिरासे मदिराकी अपवित्रता नहीं मिटायी जा सकती, वैसे ही बहुत-से हिंसाबहुल यज्ञोंके द्वारा एक भी प्राणीकी हत्याका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
कुन्तीस्तुतिर्युधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरादिका भीष्मजीके पास जाना और भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए भीष्मजीका प्राणत्याग करना

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥
तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥
भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनंजयः ।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥ ४ ॥
तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम ।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥
पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥ ६ ॥
वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥ ७ ॥
अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर प्रजाद्रोहसे भयभीत हो गये । फिर सब धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने कुरुक्षेत्रकी यात्रा की, जहाँ भीष्मपितामह शरशय्यापर पड़े हुए थे ॥ १ ॥ शौनकादि ऋषियो ! उस समय उन सब भाइयोंने स्वर्णजटित रथोंपर, जिनमें अच्छे-अच्छे घोड़े जुते हुए थे, सवार होकर अपने भाई युधिष्ठिरका अनुगमन किया । उनके साथ व्यास, धौम्य आदि ब्राह्मण भी थे ॥ २ ॥ शौनकजी ! अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी रथपर चढ़कर चले । उन सब भाइयोंके साथ महाराज युधिष्ठिरकी ऐसी शोभा हुई, मानो यक्षोंसे घिरे हुए स्वयं कुबेर ही जा रहे हों ॥३॥ अपने अनुचरों और भगवान् श्रीकृष्णके साथ वहाँ जाकर पाण्डवोंने देखा कि भीष्मपितामह स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान पृथ्वीपर पड़े हुए हैं । उन लोगोंने उन्हें प्रणाम किया ॥ ४ ॥ शौनकजी ! उसी समय भरतवंशियोंके गौरवरूप भीष्मपितामहको देखनेके लिये सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि वहाँ आये ॥ ५ ॥ पर्वत, नारद, धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्योंके साथ परशुरामजी, वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्धहृदय महात्मागण एवं शिष्योंके

१. प्रा० पा०—पङ्कोत्थं । २. प्रा० पा०—तथैकां तु । ३. प्रा० पा०—प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते युधिष्ठिरानुतापेऽष्टमो ।

शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।

पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।

हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥१०॥

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसंगतान्¹ ।

अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥११॥

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं² यद्यूयं धर्मनन्दनाः ।

जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥१२॥

संस्थितेऽतिरथे³ पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।

युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥१३॥

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।

सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥१४॥

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।

कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ।१५।

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।

यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥१६॥

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।

तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो⁴ ॥१७॥

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।

सहित कश्यप, अङ्गिरा-पुत्र बृहस्पति आदि मुनिगण भी वहाँ पधारे ॥ ६–८ ॥ भीष्मपितामह धर्मको और देश-कालके विभागको—कहाँ किस समय क्या करना चाहिये, इस बातको जानते थे । उन्होंने उन बड़भागी ऋषियोंको सम्मिलित हुआ देखकर उनका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ९ ॥ वे भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव भी जानते थे । अतः उन्होंने अपनी लीलासे मनुष्यका वेष धारण करके वहाँ बैठे हुए तथा जगदीश्वरके रूपमें हृदयमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णकी बाहर तथा भीतर दोनों जगह पूजा की ॥ १० ॥

पाण्डव बड़े विनय और प्रेमके साथ भीष्मपितामहके पास बैठ गये । उन्हें देखकर भीष्मपितामहकी आँखें प्रेमके आँसुओंसे भर गयीं । उन्होंने उनसे कहा—॥ ११ ॥ 'धर्मपुत्रो ! हाय-हाय ! यह बड़े कष्ट और अन्यायकी बात है कि तुमलोगोंको ब्राह्मण, धर्म और भगवान्‌के आश्रित रहनेपर भी इतने कष्टके साथ जीना पड़ा, जिसके तुम कदापि योग्य नहीं थे ॥ १२ ॥ अतिरथी पाण्डुकी मृत्युके समय तुम्हारी अवस्था बहुत छोटी थी । उन दिनों तुमलोगोंके लिये कुन्तीरानीको और साथ-साथ तुम्हें भी बार-बार बहुत-से कष्ट झेलने पड़े ॥ १३ ॥ जिस प्रकार बादल वायुके वशमें रहते हैं, वैसे ही लोकपालोंके सहित सारा संसार कालभगवान्‌के अधीन है । मैं समझता हूँ कि तुम लोगोंके जीवनमें ये जो अप्रिय घटनाएँ घटित हुई हैं, वे सब उन्हींकी लीला हैं ॥ १४ ॥ नहीं तो जहाँ साक्षात् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, गदाधारी भीमसेन और धनुर्धारी अर्जुन रक्षाका काम कर रहे हों, गाण्डीव धनुष हो और स्वयं श्रीकृष्ण सुहृद् हों—भला, वहाँ भी विपत्तिकी सम्भावना है ? ॥ १५ ॥ ये कालरूप श्रीकृष्ण कब क्या करना चाहते हैं, इस बातको कभी कोई नहीं जानता । बड़े-बड़े ज्ञानी भी इसे जाननेकी इच्छा करके मोहित हो जाते हैं ॥ १६ ॥ युधिष्ठिर ! संसारकी ये सब घटनाएँ ईश्वरेच्छाके अधीन हैं । उसीका अनुसरण करके तुम इस अनाथ प्रजाका पालन करो; क्योंकि अब तुम्हीं इसके स्वामी और इसे पालन करनेमें समर्थ हो ॥ १७ ॥

ये श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं । ये सबके आदि-कारण और परम पुरुष नारायण हैं । अपनी मायासे

१. प्रा० पा०—सन्नतान् । २. प्रा० पा०—कृच्छ्रं । ३. प्रा० पा०—संस्थिते विरथे । ४. प्रा० पा०—विभो ।

मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥१८॥
अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृपं ॥१९॥
यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥२०॥
सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहंकृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२१॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥२२॥
भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥२३॥
स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥२४॥

लोगोंको मोहित करते हुए ये यदुवंशियोंमें छिपकर लीला कर रहे हैं ॥ १८ ॥ इनका प्रभाव अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय है । युधिष्ठिर ! उसे भगवान् शंकर, देवर्षि नारद और स्वयं भगवान् कपिल ही जानते हैं ॥ १९॥ जिन्हें तुम अपना ममेरा भाई, प्रिय मित्र और सबसे बड़ा हितू मानते हो तथा जिन्हें तुमने प्रेमवश अपना मन्त्री, दूत और सारथितक बनानेमें संकोच नहीं किया है, वे स्वयं परमात्मा हैं ॥ २० ॥ इन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहङ्काररहित और निष्पाप परमात्मामें उन ऊँचे-नीचे कार्योंके कारण कभी किसी प्रकारकी विषमता नहीं होती ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर ! इस प्रकार सर्वत्र सम होनेपर भी, देखो तो सही, वे अपने अनन्यप्रेमी भक्तोंपर कितनी कृपा करते हैं ! यही कारण है कि ऐसे समयमें, जब कि मैं अपने प्राणोंका त्याग करने जा रहा हूँ, इन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे साक्षात् दर्शन दिया है ॥२२॥ भगवत्परायण योगी पुरुष भक्तिभावसे इनमें अपना मन लगाकर और वाणीसे इनके नामका कीर्तन करते हुए शरीरका त्याग करते हैं और कामनाओंसे तथा कर्मके बन्धनसे छूट जाते हैं ॥ २३ ॥ वे ही देवदेव भगवान् अपने प्रसन्न हास्य और रक्तकमलके समान अरुण नेत्रोंसे उल्लसित मुखवाले चतुर्भुजरूपसे जिसका और लोगोंको केवल ध्यानमें दर्शन होता है, तबतक यहीं स्थित रहकर प्रतीक्षा करें, जबतक मैं इस शरीरका त्याग न कर दूँ' ॥२४॥

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥२५॥
पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥२६॥
दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥२७॥
धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥२८॥

सूतजी कहते हैं—युधिष्ठिरने उनकी यह बात सुनकर शर-शय्यापर सोये हुए भीष्मपितामहसे बहुत-से ऋषियोंके सामने ही नाना प्रकारके धर्मोंके सम्बन्धमें अनेकों रहस्य पूछे ॥ २५ ॥ तब तत्त्ववेत्ता भीष्मपितामहने वर्ण और आश्रमके अनुसार पुरुषके स्वाभाविक धर्म और वैराग्य तथा रागके कारण विभिन्नरूपसे बतलाये हुए निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप द्विविध धर्म, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म और भगवद्धर्म—इन सबका अलग-अलग संक्षेप और विस्तारसे वर्णन किया । शौनकजी ! इनके साथ ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका तथा इनकी प्राप्तिके साधनोंका अनेकों उपाख्यान और इतिहास सुनाते हुए विभागशः वर्णन किया ॥२६–२८॥

१. प्रा० पा०—मुनिः । २. प्रा० पा०—भूतानु० । ३. प्रा० पा०—सर्व० । ४. प्रा० पा०—मुनिः ।

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः ।
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥२९॥
तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
र्विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥३०॥
विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः ।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥३१॥

श्रीभीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥३२॥
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥३३॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥३४॥
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।

भीष्मपितामह इस प्रकार धर्मका प्रवचन कर ही रहे थे कि वह उत्तरायणका समय आ पहुँचा, जिसे मृत्युको अपने अधीन रखनेवाले भगवत्परायण योगीलोग चाहा करते हैं ॥ २९ ॥ उस समय हजारों रथियोंके नेता भीष्मपितामहने वाणीका संयम करके मनको सब ओरसे हटाकर अपने सामने स्थित आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण-में लगा दिया । भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर चतुर्भुज विग्रह-पर उस समय पीताम्बर फहरा रहा था । भीष्मजीकी आँखें उसीपर एकटक लग गयीं ॥ ३० ॥ उनको शस्त्रोंकी चोटसे जो पीड़ा हो रही थी, वह तो भगवान्के दर्शनमात्रसे ही तुरंत दूर हो गयी तथा भगवान्की विशुद्ध धारणासे उनके जो कुछ अशुभ शेष थे, वे सभी नष्ट हो गये । अब शरीर छोड़नेके समय उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों-के वृत्ति-विलासको रोक दिया और बड़े प्रेमसे भगवान्की स्तुति की ॥ ३१ ॥

भीष्मजीने कहा—अब मृत्युके समय मैं अपनी यह बुद्धि, जो अनेक प्रकारके साधनोंका अनुष्ठान करनेसे अत्यन्त शुद्ध एवं कामनारहित हो गयी है, यदुवंश-शिरोमणि अनन्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित करता हूँ, जो सदा-सर्वदा अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही कभी विहार करनेकी—लीला करनेकी इच्छासे प्रकृतिको स्वीकार कर लेते हैं, जिससे यह सृष्टि-परम्परा चलती है ॥३२॥ जिनका शरीर त्रिभुवनसुन्दर एवं श्याम तमालके समान साँवला है, जिसपर सूर्यरश्मियोंके समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमल-सदृश मुखपर घुँघराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुन-सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्कपट प्रीति हो ॥ ३३ ॥ मुझे युद्धके समयकी उनकी वह विलक्षण छबि याद आती है । उनके मुखपर लहराते हुए घुँघराले बाल घोड़ोंकी टापकी धूलसे मटमैले हो गये थे और पसीनेकी छोटी-छोटी बूँदें शोभायमान हो रही थीं । मैं अपने तीखे बाणोंसे उनकी त्वचाको बींध रहा था । उन सुन्दर कवचमण्डित भगवान् श्रीकृष्णके प्रति मेरा शरीर, अन्तःकरण और आत्मा समर्पित हो जाय ॥ ३४ ॥ अपने मित्र अर्जुनकी बात सुनकर, जो तुरंत ही पाण्डव-सेना और कौरव-सेनाके बीचमें अपना रथ ले आये और वहाँ

१. प्रा० पा०—विमुक्तसङ्गो । २. प्रा० पा०—हता० । ३. प्रा० पा०—मति० । ४. प्रा० पा०—प्रवेश्य ।

स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥३५॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥३६॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३७॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम् ॥३९॥
ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥४०॥

स्थित होकर जिन्होंने अपनी दृष्टिसे ही शत्रुपक्षके सैनिकोंकी आयु छीन ली, उन पार्थसखा भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी परम प्रीति हो ॥ ३५ ॥ अर्जुनने जब दूरसे कौरवोंकी सेनाके मुखिया हमलोगोंको देखा, तब पाप समझकर वह अपने स्वजनोंके बधसे विमुख हो गया। उस समय जिन्होंने गीताके रूपमें आत्मविद्याका उपदेश करके उसके सामयिक अज्ञानका नाश कर दिया, उन परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरी प्रीति बनी रहे ॥ ३६ ॥ मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा; उसे सत्य एवं ऊँची करनेके लिये उन्होंने अपनी शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड़ दी। उस समय वे रथसे नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथीको मारनेके लिये उसपर टूट पड़ता है, वैसे ही रथका पहिया लेकर मुझपर झपट पड़े। उस समय वे इतने वेगसे दौड़े कि उनके कन्धेका दुपट्टा गिर गया और पृथ्वी काँपने लगी ॥ ३७ ॥ मुझ आततायीने तीखे बाण मार-मारकर उनके शरीरका कवच तोड़ डाला था, जिससे सारा शरीर लहूलुहान हो रहा था, अर्जुनके रोकनेपर भी वे बलपूर्वक मुझे मारनेके लिये मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। वे ही भगवान् श्रीकृष्ण जो ऐसा करते हुए भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्तवत्सलतासे परिपूर्ण थे, मेरी एकमात्र गति हों—आश्रय हों ॥ ३८ ॥ अर्जुनके रथकी रक्षामें सावधान जिन श्रीकृष्णके बायें हाथमें घोड़ोंकी रास थी और दाहिने हाथमें चाबुक, इन दोनोंकी शोभासे उस समय जिनकी अपूर्व छवि बन गयी थी तथा महाभारत-युद्धमें मरनेवाले वीर जिनकी इस छविका दर्शन करते रहनेके कारण सारूप्य मोक्षको प्राप्त हो गये, उन्हीं पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ मरणासन्नकी परम प्रीति हो ॥ ३९ ॥ जिनकी लटकीली सुन्दर चाल हाव-भावयुक्त चेष्टाएँ, मधुर मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे अत्यन्त सम्मानित गोपियाँ रासलीलामें उनके अन्तर्धान हो जानेपर प्रेमोन्मादसे मतवाली होकर जिनकी लीलाओंका अनुकरण करके तन्मय हो गयी थीं उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णमें मेरा

१. प्रा० पा०—नति० । २. प्रा० पा०—व्यवसित० । ३. प्रा० पा०—धर्मबुद्ध्या । ४. प्रा० पा०—मेऽस्तु तस्य

मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्त-
स्सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥
तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तश्श्वास उपारमत्॥४३॥
सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥४४॥
तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥४५॥
तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥४६॥
तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥४७॥
ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम्॥४८॥
पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥४९॥

परम प्रेम हो ॥ ४० ॥ जिस समय युधिष्ठिरका राजसूय-यज्ञ हो रहा था, मुनियों और बड़े-बड़े राजाओंसे भरी हुई सभामें सबसे पहले सबकी ओरसे इन्हीं सबके दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्णकी मेरी आँखोंके सामने पूजा हुई थी; वे ही सबके आत्मा प्रभु आज इस मृत्युके समय मेरे सामने खड़े हैं ॥ ४१ ॥ जैसे एक ही सूर्य अनेक आँखोंसे अनेक रूपोंमें दीखते हैं, वैसे ही अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने ही द्वारा रचित अनेक शरीरधारियोंके हृदयमें अनेक रूप-से जान पड़ते हैं, वास्तवमें तो वे एक और सबके हृदयमें विराजमान हैं ही। उन्हीं इन भगवान् श्रीकृष्णको मैं भेद-भ्रमसे रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ ॥ ४२ ॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार भीष्मपितामहने मन, वाणी और दृष्टिकी वृत्तियोंसे आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें अपने आपको लीन कर दिया। उनके प्राण वहीं विलीन हो गये और वे शान्त हो गये ॥ ४३ ॥ उन्हें अनन्त ब्रह्ममें लीन जानकर सब लोग वैसे ही चुप हो गये, जैसे दिनके बीत जानेपर पक्षियोंका कलरव शान्त हो जाता है ॥ ४४ ॥ उस समय देवता और मनुष्य नगारे बजाने लगे। साधुस्वभावके राजा उनकी प्रशंसा करने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ ४५ ॥ शौनकजी! युधिष्ठिरने उनके मृत शरीरकी अन्त्येष्टि क्रिया करायी और कुछ समयके लिये वे शोकमग्न हो गये ॥४६॥ उस समय मुनियोंने बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णकी उनके रहस्यमय नाम ले-लेकर स्तुति की। इसके पश्चात् अपने हृदयोंको श्रीकृष्णमय बनाकर वे अपने-अपने आश्रमोंको लौट गये ॥ ४७ ॥ तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णके साथ युधिष्ठिर हस्तिनापुर चले आये और उन्होंने वहाँ अपने चाचा धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारीको ढाढ़स बँधाया ॥ ४८ ॥ फिर धृतराष्ट्रकी आज्ञा और भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे समर्थ राजा युधिष्ठिर अपने वंशपरम्परागत साम्राज्यका धर्मपूर्वक शासन करने लगे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—विदधे स्थितमात्म०। २. प्रा० पा०—प्रतिदिशमिव। ३. प्रा० पा०—मनोवाग्वृत्तिदृष्टिभिः। ४. प्रा० पा०—दिवात्यये। ५. प्रा० पा०—दानव०। ६. प्रा० पा०—राजन्।

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका द्वारका-गमन

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—धार्मिकशिरोमणि महाराज युधिष्ठिरने अपनी पैतृक सम्पत्तिको हड़प जानेके इच्छुक आततायियोंका नाश करके अपने भाइयोंके साथ किस प्रकारसे राज्य-शासन किया और कौन-कौन-से काम किये; क्योंकि भोगोंमें तो उनकी प्रवृत्ति थी ही नहीं ॥ १ ॥

सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निर्हृनिर्तं
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥ २ ॥
निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥ ३ ॥
कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥ ४ ॥
नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥ ५ ॥
नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥ ६ ॥

सूतजी कहते हैं—सम्पूर्ण सृष्टिको उज्जीवित करनेवाले भगवान् श्रीहरि परस्परकी कलहाग्निसे दग्ध कुरुवंशको पुनः अंकुरित कर और युधिष्ठिरको उनके राज्य-सिंहासनपर बैठाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ भीष्मपितामह और भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशोंके श्रवणसे उनके अन्तःकरणमें विज्ञानका उदय हुआ और भ्रान्ति मिट गयी। भगवान्के आश्रयमें रहकर वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका इन्द्रके समान शासन करने लगे। भीमसेन आदि उनके भाई पूर्णरूपसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते थे ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरके राज्यमें आवश्यकतानुसार यथेष्ट वर्षा होती थी, पृथ्वीमें समस्त अभीष्ट वस्तुएँ पैदा होती थीं, बड़े-बड़े थनोंवाली बहुत-सी गौएँ प्रसन्न रहकर गोशालाओंको दूधसे सींचती रहती थीं ॥ ४ ॥ नदियाँ, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, लताएँ और ओषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें यथेष्टरूपसे अपनी-अपनी वस्तुएँ राजाको देती थीं ॥ ५ ॥ अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके राज्यमें किसी प्राणीको कभी भी आधि-व्याधि अथवा दैविक, भौतिक और आत्मिक क्लेश नहीं होते थे ॥ ६ ॥

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः ।
सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

अपने बन्धुओंका शोक मिटानेके लिये और अपनी बहिन सुभद्राकी प्रसन्नताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कई महीनोंतक हस्तिनापुरमें ही रहे ॥ ७ ॥

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् ।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ॥ ८ ॥

फिर जब उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे द्वारका जानेकी अनुमति माँगी, तब राजाने उन्हें अपने हृदयसे लगाकर स्वीकृति दे दी। भगवान् उनको प्रणाम करके रथपर सवार हुए। कुछ लोगों (समान उम्रवालों) ने उनका आलिङ्गन किया और कुछ (छोटी उम्रवालों) ने प्रणाम ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—निर्हृतं। २. प्रा० पा०—कामता मृत्युरत्र वै। ३. प्रा० पा०—भूता इहेतयः। ४. प्रा० पा०—तान्।

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा ।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ॥ ९ ॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ॥१०॥
सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥११॥
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥१२॥
सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥१३॥
न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥१४॥
मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥१५॥
प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥१६॥
सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥१७॥
उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते ।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि ॥१८॥
अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।

उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य और सत्यवती आदि सब मूर्च्छित-से हो गये। वे शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णका विरह नहीं सह सके ॥ ९-१० ॥ भगवद्भक्त सत्पुरुषोंके सङ्गसे जिसका दुःसङ्ग छूट गया है, वह विचारशील पुरुष भगवान्‌के मधुर-मनोहर सुयशको एक बार भी सुन लेनेपर फिर उसे छोड़नेकी कल्पना भी नहीं करता। उन्हीं भगवान्‌के दर्शन तथा स्पर्शसे, उनके साथ आलाप करनेसे तथा साथ-ही-साथ सोने, उठने-बैठने और भोजन करनेसे जिनका सम्पूर्ण हृदय उन्हें समर्पित हो चुका था, वे पाण्डव भला, उनका विरह कैसे सह सकते थे ॥ ११-१२ ॥ उनका चित्त द्रवित हो रहा था, वे सब निर्निमेष नेत्रोंसे भगवान्‌को देखते हुए स्नेह-बन्धनसे बँधकर जहाँ-तहाँ दौड़ रहे थे ॥ १३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके घरसे चलते समय उनके बन्धुओंकी स्त्रियोंके नेत्र उत्कण्ठावश उमड़ते हुए आँसुओंसे भर आये; परंतु इस भयसे कि कहीं यात्राके समय अशकुन न हो जाय, उन्होंने बड़ी कठिनाईसे उन्हें रोक लिया ॥ १४ ॥

भगवान्‌के प्रस्थानके समय मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, वीणा, ढोल, नरसिंगे, धुन्धुरी, नगारे, घण्टे और दुन्दुभियाँ आदि बाजे बजने लगे ॥ १५ ॥ भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे कुरुवंशकी स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़ गयीं और प्रेम, लज्जा एवं मुसकानसे युक्त चितवनसे भगवान्‌को देखती हुई उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं ॥ १६ ॥ उस समय भगवान्‌के प्रिय सखा घुँघराले बालोंवाले अर्जुनने अपने प्रियतम श्रीकृष्णका वह श्वेत छत्र, जिसमें मोतियोंकी झालर लटक रही थी और जिसका डंडा रत्नोंका बना हुआ था, अपने हाथमें ले लिया ॥ १७ ॥ उद्धव और सात्यकि बड़े विचित्र चँवर डुलाने लगे। मार्गमें भगवान् श्रीकृष्णपर चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी। बड़ी ही मधुर झाँकी थी ॥ १८ ॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मणोंके दिये हुए सत्य आशीर्वाद सुनायी पड़ रहे थे। वे सगुण भगवान्‌के

१. प्रा० पा०—तत्संगा०। २. प्रा० पा०—स्पर्शनालाप०। ३. प्रा० पा०—त्यागारतो। ४. प्रा० पा०—बान्धवाः स्त्रियः। ५. प्रा० पा०—ववर्षुः। ६. प्रा० पा०—अवकीर्यमाणः।

न ह्यनुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१९॥

अन्योन्यमासीत्संजल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।

कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥२०॥

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥२१॥

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥२२॥

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥२३॥

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥२४॥

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः[1] किल ।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥२५॥

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।

तो अनुरूप ही थे, क्योंकि उनमें सब कुछ है; परंतु निर्गुणके अनुरूप नहीं थे, क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण नहीं है ॥ १९ ॥ हस्तिनापुरकी कुलीन रमणियाँ, जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें रम गया था, आपसमें ऐसी बातें कर रही थीं जो सबके कान और मनको आकृष्ट कर रही थीं ॥ २० ॥

वे आपसमें कह रही थीं—'सखियो ! ये वे ही सनातन परम पुरुष हैं, जो प्रलयके समय भी अपने अद्वितीय निर्विशेष स्वरूपमें स्थित रहते हैं । उस समय सृष्टिके मूल ये तीनों गुण भी नहीं रहते । जगदात्मा ईश्वरमें जीव भी लीन हो जाते हैं और महत्तत्त्वादि समस्त शक्तियाँ अपने कारण अव्यक्तमें सो जाती हैं ॥२१॥ उन्होंने ही फिर अपने नाम-रूपरहित स्वरूपमें नाम-रूपके निर्माणकी इच्छा की तथा अपनी काल-शक्तिसे प्रेरित प्रकृतिका, जो कि उनके अंशभूत जीवोंको मोहित कर लेती है और सृष्टिकी रचनामें प्रवृत्त रहती है, अनुसरण किया और व्यवहारके लिये वेदादि शास्त्रोंकी रचना की ॥२२॥ इस जगत्‌में जिसके स्वरूपका साक्षात्कार जितेन्द्रिय योगी अपने प्राणोंको वशमें करके भक्तिसे प्रफुल्लित निर्मल हृदयमें किया करते हैं, ये श्रीकृष्ण वही साक्षात् परब्रह्म हैं । वास्तवमें इन्हींकी भक्तिसे अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि हो सकती है, योगादिके द्वारा नहीं ॥ २३ ॥ सखी ! वास्तवमें ये वही हैं, जिनकी सुन्दर लीलाओंका गायन वेदोंमें और दूसरे गोपनीय शास्त्रोंमें व्यासादि रहस्यवादी ऋषियोंने किया है—जो एक अद्वितीय ईश्वर हैं और अपनी लीलासे जगत्‌की सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं, परंतु उनमें आसक्त नहीं होते ॥ २४ ॥ जब तामसी बुद्धिवाले राजा अधर्मसे अपना पेट पालने लगते हैं तब ये ही सत्त्वगुणको स्वीकारकर ऐश्वर्य, सत्य, ऋत, दया और यश प्रकट करते और संसारके कल्याणके लिये युग-युगमें अनेकों अवतार धारण करते हैं ॥ २५ ॥ अहो ! यह यदुवंश परम प्रशंसनीय है; क्योंकि लक्ष्मीपति पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जन्म ग्रहण करके इस वंशको सम्मानित किया है । वह पवित्र मधुवन (व्रजमण्डल) भी अत्यन्त धन्य है, जिसे

१. प्रा० पा०—सात्वतः ।

यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः

स्वजन्मना[1] चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥२६॥

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी

कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।

पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं[2]

स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥२७॥

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः

समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।

पिबन्ति याः सख्यधरामृतं[3] मुहु-

र्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः ॥२८॥

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे

प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः[4]।

प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा[5]

याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः ॥२९॥

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं

निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।

यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-

र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥३०॥

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।

निरीक्षणे नाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥३१॥

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।

परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ॥३२॥

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्[6] ।

इन्होंने अपने शैशव एवं किशोरावस्थामें घूम-फिरकर सुशोभित किया है ॥ २६ ॥ बड़े हर्षकी बात है कि द्वारकाने स्वर्गके यशका तिरस्कार करके पृथ्वीके पवित्र यशको बढ़ाया है । क्यों न हो, वहाँकी प्रजा अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णको, जो बड़े प्रेमसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए उन्हें कृपादृष्टिसे देखते हैं, निरन्तर निहारती रहती है ॥२७॥ सखी ! जिनका इन्होंने पाणिग्रहण किया है, उन स्त्रियोंने अवश्य ही व्रत, स्नान, हवन आदिके द्वारा इन परमात्माकी आराधना की होगी; क्योंकि वे बार-बार इनकी उस अधर-सुधाका पान करती हैं, जिसके स्मरणमात्रसे ही व्रजबालाएँ आनन्दसे मूर्च्छित हो जाया करती थीं ॥ २८ ॥ ये स्वयंवरमें शिशुपाल आदि मतवाले राजाओंका मान मर्दन करके जिनको अपने बाहुबलसे हर लाये थे तथा जिनके पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, आम्ब आदि हैं, वे रुक्मिणी आदि आठों पटरानियाँ और भौमासुरको मारकर लायी हुई जो इनकी हजारों अन्य पत्नियाँ हैं, वे वास्तवमें धन्य हैं; क्योंकि इन सभीने स्वतन्त्रता और पवित्रतासे रहित स्त्रीजीवनको पवित्र और उज्ज्वल बना दिया है । इनकी महिमाका वर्णन कोई क्या करे । इनके स्वामी साक्षात् कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो नाना प्रकारकी प्रिय चेष्टाओं तथा पारिजातादि प्रिय वस्तुओंकी भेंटसे इनके हृदयमें प्रेम एवं आनन्दकी अभिवृद्धि करते हुए कभी एक क्षणके लिये भी इन्हें छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते ॥ २९-३० ॥

हस्तिनापुरकी स्त्रियाँ इस प्रकार बातचीत कर ही रही थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण मन्द मुसकान और प्रेमपूर्ण चितवनसे उनका अभिनन्दन करते हुए वहाँसे विदा हो गये ॥ ३१ ॥ अजातशत्रु युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना उनके साथ कर दी, उन्हें स्नेहवश यह शङ्का हो आयी थी कि कहीं रास्तेमें शत्रु इनपर आक्रमण न कर दें ॥ ३२ ॥ सुदृढ़ प्रेमके कारण कुरुवंशी पाण्डव भगवान्के साथ बहुत दूरतक चले गये। वे लोग उस समय भावी विरहसे व्याकुल हो रहे थे। भगवान्

१. प्रा० पा०—सुजन्मना । २. प्रा० पा०—यदनुग्रहोषितं स्मिता० । ३. प्रा० पा०—सख्यमृताधरं । ४. प्रा० पा०—विशुष्मिणः । ५. प्रा० पा०—साम्बप्रसवादयोऽपराः । ६. प्रा० पा०—विदुरान्विनान् ।

संनिवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः ॥३३॥
कुरुजाङ्गलपञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान्।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ ॥३४॥
मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः॥३५॥
तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥३६॥

श्रीकृष्णने उन्हें बहुत आग्रह करके विदा किया और सात्यकि, उद्धव आदि प्रेमी मित्रोंके साथ द्वारकाकी यात्रा की ॥ ३३ ॥ शौनकजी ! वे कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, यमुनाके तटवर्ती प्रदेश ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत और मरुधन्व देशको पार करके सौवीर और आभीर देशके पश्चिम आनर्त्त देशमें आये । उस समय अधिक चलनेके कारण भगवान्‌के रथके घोड़े कुछ थक-से गये थे ॥ ३४-३५ ॥ मार्गमें स्थान-स्थानपर लोग उपहारादिके द्वारा भगवान्‌का सम्मान करते, सायंकाल होनेपर वे रथपरसे भूमिपर उतर आते और जलाशयपर जाकर संध्या-वन्दन करते । यह उनकी नित्यचर्या थी ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने श्रीकृष्णद्वारकागमनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

द्वारकामें श्रीकृष्णका राजोचित स्वागत

सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं[2] तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥
स[3] उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥ २ ॥
तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥ ३ ॥
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—श्रीकृष्णने अपने समृद्ध आनर्त्त देशमें पहुँचकर वहाँके लोगोंकी विरह-वेदना बहुत कुछ शान्त करते हुए अपना श्रेष्ठ पाञ्चजन्य नामक शङ्ख बजाया ॥ १ ॥ भगवान्‌के होठोंकी लालीसे लाल हुआ वह श्वेत वर्णका शङ्ख बजते समय उनके कर-कमलोंमें ऐसा शोभायमान हुआ, जैसे लाल रंगके कमलोंपर बैठकर कोई राजहंस उच्चस्वरसे मधुर गान कर रहा हो ॥ २ ॥ भगवान्‌के शङ्खकी वह ध्वनि संसारके भयको भयभीत करनेवाली है । उसे सुनकर सारी प्रजा अपने स्वामी श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे नगरके बाहर निकल आयी ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, वे अपने आत्मलाभसे ही सदा-सर्वदा पूर्णकाम हैं, फिर भी जैसे लोग बड़े आदरसे भगवान् सूर्यको भी दीपदान करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकारकी भेंटोंसे प्रजाने श्रीकृष्णका स्वागत किया ॥ ४ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'इति'......'से लेकर'......'सूत उवाच' तक नहीं है । २. प्रा० पा०—शङ्खवरं । ३. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोक नहीं है ।

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदं[1]मवितारमिवार्भकाः ॥ ५ ॥
नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः[2] प्रभुः ॥ ६ ॥
भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ[3] सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥
अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत[4] ॥ ९ ॥
इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः ।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत्पुरीम्[5] ॥ १० ॥
मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥
सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

सबके मुख-कमल प्रेमसे खिल उठे। वे हर्षगद्गद वाणीसे सबके सुहृद् और संरक्षक भगवान् श्रीकृष्णकी ठीक वैसे ही स्तुति करने लगे, जैसे बालक अपने पितासे अपनी तोतली बोलीमें बातें करते हैं ॥ ५ ॥ स्वामिन्! हम आपके उन चरण-कमलोंको सदा-सर्वदा प्रणाम करते हैं, जिनकी वन्दना ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रतक करते हैं, जो इस संसारमें परम कल्याण चाहनेवालोंके लिये सर्वोत्तम आश्रय हैं, जिनकी शरण ले लेनेपर परम समर्थ काल भी एक बालतक बाँका नहीं कर सकता ॥ ६ ॥ विश्वभावन! आप ही हमारे माता, सुहृद्, स्वामी और पिता हैं; आप ही हमारे सद्गुरु और परम आराध्यदेव हैं। आपके चरणोंकी सेवासे हम कृतार्थ हो रहे हैं। आप ही हमारा कल्याण करें ॥ ७ ॥ अहा! हम आपको पाकर सनाथ हो गये; क्योंकि आपके सर्वसौन्दर्यसार अनुपम रूपका हम दर्शन करते रहते हैं। कितना सुन्दर मुख है। प्रेमपूर्ण मुसकानसे स्निग्ध चितवन! यह दर्शन तो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ८ ॥ कमलनयन श्रीकृष्ण! जब आप अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिये हस्तिनापुर अथवा मथुरा (व्रजमण्डल) चले जाते हैं, तब आपके बिना हमारा एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोंके समान लंबा हो जाता है। आपके बिना हमारी दशा वैसी हो जाती है, जैसे सूर्यके बिना आँखोंकी ॥ ९ ॥ भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण प्रजाके मुखसे ऐसे वचन सुनते हुए और अपनी कृपामयी दृष्टिसे उनपर अनुग्रहकी वृष्टि करते हुए द्वारकामें प्रविष्ट हुए ॥ १० ॥

जैसे नाग अपनी नगरी भोगवती (पातालपुरी) की रक्षा करते हैं, वैसे ही भगवान्‌की वह द्वारकापुरी भी मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंसे, जिनके पराक्रमकी तुलना और किसीसे भी नहीं की जा सकती, सुरक्षित थी ॥ ११ ॥ वह पुरी समस्त ऋतुओंके सम्पूर्ण वैभवसे सम्पन्न एवं पवित्र वृक्षों एवं लताओंके कुञ्जोंसे युक्त थी। स्थान-स्थानपर फलोंसे पूर्ण उद्यान, पुष्पवाटिकाएँ एवं क्रीडावन थे। बीच-बीचमें कमलयुक्त सरोवर नगरकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—सुहृदं सवितार० । २. प्रा० पा०—परः प्रभो । ३. प्रा० पा०—मातात्मसुहृत्पिता पतिः । ४. प्राचीन प्रतिमें नवम श्लोकके बाद एक श्लोक अधिक है, जो इस प्रकार है—'कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम् । जीवाम ते सुन्दरहासशोभितमपश्यमाना वदनं मनोहरम् ॥' ५. प्रा० पा०—पुरम् ।

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥१३॥
सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥१४॥
द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलंकृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः[1] ॥१५॥
निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥१६॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो[2] जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छशितशयनासनभोजनाः ॥१७॥
वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः[3] ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।
प्रत्युज्जग्मू[4] रथैर्हृष्टाः[5] प्रणयागतसाध्वसाः ॥१८॥
वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भात[6]कपोलवदनश्रियः ॥१९॥
नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः ।
गायन्ति[7] चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥२०॥
भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥२१॥

नगरके फाटकों, महलके दरवाजों और सड़कोंपर भगवान्‌के स्वागतार्थ बंदनवारें लगायी गयी थीं। चारों ओर चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनसे उन स्थानोंपर घामका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था ॥ १३ ॥ उसके राजमार्ग, अन्यान्य सड़कें, बाजार और चौक झाड़-बुहारकर सुगन्धित जलसे सींच दिये गये थे और भगवान्‌के स्वागतके लिये बरसाये हुए फल-फूल, अक्षत-अङ्कुर चारों ओर बिखरे हुए थे ॥ १४ ॥ घरोंके प्रत्येक द्वारपर दही, अक्षत, फल, ईख, जलसे भरे हुए कलश, उपहारकी वस्तुएँ और धूप-दीप आदि सजा दिये गये थे ॥ १५ ॥

उदारशिरोमणि वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत पराक्रमी बलराम, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और जाम्बवतीनन्दन साम्बने जब यह सुना कि हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तब उनके मनमें इतना आनन्द उमड़ा कि उन लोगोंने अपने सभी आवश्यक कार्य—सोना, बैठना और भोजन आदि छोड़ दिये। प्रेमके आवेगसे उनका हृदय उछलने लगा। वे मङ्गल-शकुनके लिये एक गजराजको आगे करके स्वस्त्ययन-पाठ करते हुए और माङ्गलिक सामग्रियोंसे सुसज्जित ब्राह्मणोंको साथ लेकर चले। शङ्ख और तुरही आदि बाजे बजने लगे और वेदध्वनि होने लगी। वे सब हर्षित होकर रथोंपर सवार हुए और बड़ी आदरबुद्धिसे भगवान्‌की अगवानी करने चले ॥ १६–१८ ॥ साथ ही भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये उत्सुक सैकड़ों श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ, जिनके मुख-कपोलोंपर चमचमाते हुए कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे बड़े सुन्दर दीखते थे, पालकियोंपर चढ़कर भगवान्‌की अगवानीके लिये चलीं ॥ १९ ॥ बहुत-से नट, नाचनेवाले, गानेवाले, विरद बखाननेवाले सूत, मागध और वंदीजन भगवान् श्रीकृष्णके अद्भुत चरित्रोंका गायन करते हुए चले ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने बन्धु-बान्धवों, नागरिकों और सेवकोंसे उनकी योग्यताके अनुसार अलग-अलग मिलकर सबका सम्मान किया ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—दीपधूपकैः। २. प्रा० पा०—चारुसाम्बगदादयः। ३. प्रा० पा०—ब्राह्मणैस्तु सुमङ्गलैः। ४. प्रा० पा०—प्रतिजग्मू। ५. प्रा० पा०—रथैर्ब्रह्मन्। ६. प्रा० पा०—निर्भिन्न०। ७. प्रा० पा०—गायन्त उत्तमश्लोक०।

प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२ ॥
स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥ २३ ॥
राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४ ॥
नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।
नैव तृप्यन्ति हि दृशः श्रियोधामाङ्गमच्युतम् ॥ २५ ॥
श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥ २६ ॥
सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः ॥ २७ ॥
प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥ २८ ॥
ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥ २९ ॥
अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् ।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥ ३० ॥

किसीको सिर झुकाकर प्रणाम किया, किसीको वाणीसे अभिवादन किया, किसीको हृदयसे लगाया, किसीसे हाथ मिलाया, किसीकी ओर देखकर मुसकरा भर दिया और किसीको केवल प्रेमभरी दृष्टिसे देख लिया । जिसकी जो इच्छा थी, उसे वही वरदान दिया । इस प्रकार चाण्डालपर्यन्त सबको संतुष्ट करके गुरुजन, सपत्नीक ब्राह्मण और वृद्धोंका तथा दूसरे लोगोंका भी आशीर्वाद ग्रहण करते एवं वंदीजनोंसे विरुदावली सुनते हुए सबके साथ भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया ॥ २२-२३ ॥

शौनकजी ! जिस समय भगवान् राजमार्गसे जा रहे थे, उस समय द्वारकाकी कुल-कामिनियाँ भगवान्के दर्शनको ही परमानन्द मानकर अपनी-अपनी अटारियोंपर चढ़ गयीं ॥ २४ ॥ भगवान्का वक्षःस्थल मूर्तिमान् सौन्दर्यलक्ष्मीका निवासस्थान है । उनका मुखारविन्द नेत्रोंके द्वारा पान करनेके लिये सौन्दर्य-सुधासे भरा हुआ पात्र है । उनकी भुजाएँ लोकपालोंको भी शक्ति देनेवाली हैं । उनके चरणकमल भक्त परमहंसोंके आश्रय हैं । उनके अङ्ग-अङ्ग शोभाके धाम हैं । भगवान्की इस छविको द्वारकावासी नित्य-निरन्तर निहारते रहते हैं, फिर भी उनकी आँखें एक क्षणके लिये भी तृप्त नहीं होतीं ॥ २५-२६ ॥ द्वारकाके राजपथपर भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर श्वेत वर्णका छत्र तना हुआ था, श्वेत चँवर डुलाये जा रहे थे, चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, वे पीताम्बर और वनमाला धारण किये हुए थे । इस समय वे ऐसे शोभायमान हुए, मानो श्याम मेघ एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष और बिजलीसे शोभायमान हो ॥ २७ ॥

भगवान् सबसे पहले अपने माता-पिताके महलमें गये । वहाँ उन्होंने बड़े आनन्दसे देवकी आदि सातों माताओंको चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया और माताओंने उन्हें अपने हृदयसे लगाकर गोदमें बैठा लिया । स्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी, उनका हृदय हर्षसे विह्वल हो गया और वे आनन्दके आँसुओंसे उनका अभिषेक करने लगीं ॥ २८-२९ ॥ माताओंसे आज्ञा लेकर वे अपने समस्त भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न सर्वश्रेष्ठ भवनमें गये । उसमें सोलह हजार पत्नियोंके अलग-अलग महल थे ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—बान्धवानथ आश्लिष्य । २. प्रा० पा०—पुरीम् । ३. प्रा० पा०—द्वारकायां । ४. प्रा० पा०—कृष्णः । ५. प्रा० पा०—परिष्वक्तश्च मातृभिः ।

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य संजातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात् सहसाऽऽसनाशयात्[1]
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥३१॥
तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां[2] भृगुवर्य वैक्लवात् ॥३२॥
यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि[3] तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥३३॥
एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्त[4]तेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो[5] निरायुधः ॥३४॥
स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥३५॥
उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।

अपने प्राणनाथ भगवान् श्रीकृष्णको बहुत दिन बाहर रहनेके बाद घर आया देखकर रानियोंके हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें अपने निकट देखकर वे एकाएक ध्यान छोड़कर उठ खड़ी हुईं; उन्होंने केवल आसनको ही नहीं, बल्कि उन नियमोंको* भी त्याग दिया जिन्हें उन्होंने पतिके प्रवासी होनेपर ग्रहण किया था। उस समय उनके मुख और नेत्रोंमें लज्जा छा गयी ॥ ३१ ॥ भगवान्के प्रति उनका भाव बड़ा ही गम्भीर था। उन्होंने पहले मन-ही-मन, फिर नेत्रोंके द्वारा और तत्पश्चात् पुत्रोंके बहाने शरीरसे उनका आलिङ्गन किया। शौनकजी ! उस समय उनके नेत्रोंमें जो प्रेमके आँसू छलक आये थे, उन्हें सङ्कोचवश उन्होंने बहुत रोका। फिर भी विवशताके कारण वे ढलक ही गये ॥ ३२ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्तमें सर्वदा ही उनके पास रहते थे तथापि उनके चरण-कमल उन्हें पद-पदपर नये-नये जान पड़ते। भला, स्वभावसे ही चञ्चल लक्ष्मी जिन्हें एक क्षणके लिये भी कभी नहीं छोड़तीं, उनकी संनिधिसे किस स्त्रीको तृप्ति हो सकती है ॥ ३३ ॥

जैसे वायु बाँसोंके संघर्षसे दावानल पैदा करके उन्हें जला देता है, वैसे ही पृथ्वीके भारभूत और शक्तिशाली राजाओंमें परस्पर फूट डालकर बिना शस्त्र ग्रहण किये ही भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कई अक्षौहिणी सेनासहित एक दूसरेसे मरवा डाला और उसके बाद आप भी उपराम हो गये ॥ ३४ ॥ साक्षात् परमेश्वर ही अपनी लीलासे इस मनुष्य-लोकमें अवतीर्ण हुए थे और सहस्रों रमणी-रत्नोंमें रहकर उन्होंने साधारण मनुष्यकी तरह क्रीड़ा की ॥ ३५ ॥ जिनकी निर्मल और मधुर हँसी उनके हृदयके उन्मुक्त भावोंको सूचित करनेवाली थी, जिनकी लजीली चितवनकी चोटसे बेसुध होकर

१. प्रा० पा०—सहसासनाश्रयात्सकञ्चुका व्रीडित०। २. प्रा० पा०—विलज्जितानां। ३. प्रा० पा०—रहोगतस्तासां तथाप्यङ्घ्रियुगं। ४. प्रा० पा०—परिवृद्ध०। ५. प्रा० पा०—वधायोपरतो।

* जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो, उसे इन नियमोंका पालन करना चाहिये।

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥

जिसका पति परदेश गया हो, उस स्त्रीको खेल-कूद, शृङ्गार, सामाजिक उत्सवोंमें भाग लेना, हँसी-मजाक करना और पराये घर जाना—इन पाँच कर्मोंको त्याग देना चाहिये।

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥३६॥

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् ।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः ॥३७॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदाऽऽत्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥३८॥

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥३९॥

विश्वविजयी कामदेवने भी अपने धनुषका परित्याग कर दिया था—वे कमनीय कामिनियाँ अपने काम-विलासोंसे जिनके मनमें तनिक भी क्षोभ नहीं पैदा कर सकीं, उन असङ्ग भगवान् श्रीकृष्णको संसारके लोग अपने ही समान कर्म करते देखकर आसक्त मनुष्य समझते हैं—यह उनकी मूर्खता है ॥ ३६-३७ ॥ यही तो भगवान्की भगवत्ता है कि वे प्रकृतिमें स्थित होकर भी उसके गुणोंसे कभी लिप्त नहीं होते, जैसे भगवान्की शरणागत बुद्धि अपनेमें रहनेवाले प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती ॥ ३८ ॥ वे मूढ़ स्त्रियाँ भी श्रीकृष्णको अपना एकान्तसेवी, स्त्रीपरायण भक्त ही समझ बैठी थीं; क्योंकि वे अपने स्वामीके ऐश्वर्यको नहीं जानती थीं—ठीक वैसे ही जैसे अहंकारकी वृत्तियाँ ईश्वरको अपने धर्मसे युक्त मानती हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने श्रीकृष्णद्वारकाप्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

परीक्षित्का जन्म

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥
तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥
तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

शौनकजीने कहा—अश्वत्थामाने जो अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मास्त्र चलाया था, उससे उत्तराका गर्भ नष्ट हो गया था; परंतु भगवान्ने उसे पुनः जीवित कर दिया ॥ १ ॥ उस गर्भसे पैदा हुए महाज्ञानी महात्मा परीक्षित्के, जिन्हें शुकदेवजीने ज्ञानोपदेश दिया था, जन्म, कर्म, मृत्यु और उसके बाद जो गति उन्हें प्राप्त हुई, वह सब, यदि आप ठीक समझें तो कहें; हमलोग बड़ी श्रद्धाके साथ सुनना चाहते हैं ॥ २-३ ॥

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादाब्जसेवया ॥ ४ ॥

सूतजीने कहा—धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रजाको प्रसन्न रखते हुए पिताके समान उसका पालन करने लगे । भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके सेवनसे वे समस्त भोगोंसे निःस्पृह हो गये थे ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—मन्यते तमयं लोको । २. प्रा० पा०—व्यापृण्वानमतोऽबुधः । ३. प्रा० पा०—अश्वत्थाम्ना विसृष्टेन । ४. प्रा० पा०—स स्वं वा । ५. प्रा० पा०—अपालयद् । ६. प्रा० पा०—पादानुसेवया ।

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही ।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥
किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः[1] ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥
मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा[2] भृगुनन्दन ।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानो[3]ऽस्त्रतेजसा ॥ ७ ॥
अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्[4] ।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥
श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
क्षतजाक्षं[5] गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥
अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।
विधमन्तं संनिकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥१०॥
विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥११॥
ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥१२॥

शौनकादि ऋषियो ! उनके पास अतुल सम्पत्ति थी, उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे तथा उनके फलस्वरूप श्रेष्ठ लोकोंका अधिकार प्राप्त किया था । उनकी रानियाँ और भाई अनुकूल थे, सारी पृथ्वी उनकी थी, वे जम्बूद्वीपके स्वामी थे और उनकी कीर्ति स्वर्गतक फैली हुई थी ॥ ५ ॥ उनके पास भोगकी ऐसी सामग्री थी, जिसके लिये देवतालोग भी लालायित रहते हैं । परंतु जैसे भूखे मनुष्यको भोजनके अतिरिक्त दूसरे पदार्थ नहीं सुहाते, वैसे ही उन्हें भगवान्‌के सिवा दूसरी कोई वस्तु सुख नहीं देती थी ॥ ६ ॥

शौनकजी ! उत्तराके गर्भमें स्थित वह वीर शिशु परीक्षित् जब अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलने लगा, तब उसने देखा कि उसकी आँखोंके सामने एक ज्योतिर्मय पुरुष है ॥ ७ ॥ वह देखनेमें तो अंगूठे-भरका है, परंतु उसका स्वरूप बहुत ही निर्मल है । अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, बिजलीके समान चमकता हुआ पीताम्बर धारण किये हुए है, सिरपर सोनेका मुकुट झिलमिला रहा है । उस निर्विकार पुरुषके बड़ी ही सुन्दर लंबी-लंबी चार भुजाएँ हैं । कानोंमें तपाये हुए स्वर्णके सुन्दर कुण्डल हैं, आँखोंमें लालिमा है, हाथमें लूकेके समान जलती हुई गदा लेकर उसे बार-बार घुमाता जा रहा है और स्वयं शिशुके चारों ओर घूम रहा है॥ ८-९ ॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे कुहरेको भगा देते हैं, वैसे ही वह उस गदाके द्वारा ब्रह्मास्त्रके तेजको शान्त करता जा रहा था । उस पुरुषको अपने समीप देखकर वह गर्भस्थ शिशु सोचने लगा कि यह कौन है ॥ १० ॥ इस प्रकार उस दस मासके गर्भस्थ शिशुके सामने ही धर्मरक्षक अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मास्त्रके तेजको शान्त करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

तदनन्तर अनुकूल ग्रहोंके उदयसे युक्त समस्त सद्गुणोंको विकसित करनेवाले शुभ समयमें पाण्डुके वंशधर परीक्षित्‌का जन्म हुआ । जन्मके समय ही वह बालक इतना तेजस्वी दीख पड़ता था, मानो स्वयं पाण्डुने ही फिरसे जन्म लिया हो ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—द्विज । २. प्रा० पा०—तथा । ३. प्रा० पा०—दह्यमानस्तु तेजसा । ४. प्रा० पा०—मौलिकम् । ५. प्रा० पा०—शङ्खचक्रगदा० ।

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः[1] ।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥१३॥
हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्[2] ।
प्रादात्स्वन्नं[3] च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥१४॥
तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ[4] ॥१५॥
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽ[5]नुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥१६॥
तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः ।
भविष्यति न संदेहो महाभागवतो महान् ॥१७॥

युधिष्ठिर[6] उवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन्[7] पुण्यश्लोकान् महात्मनः ।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥१८॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥१९॥
एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।
यशो[8] वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ।२०।
धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥२१॥
मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥२२॥

पौत्रके जन्मकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिर मनमें बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंसे मङ्गलवाचन और जातकर्म-संस्कार करवाये ॥ १३ ॥ महाराज युधिष्ठिर दानके योग्य समयको जानते थे । उन्होंने प्रजातीर्थ* नामक कालमें अर्थात् नाल काटनेके पहले ही ब्राह्मणोंको सुवर्ण, गौएँ, पृथ्वी, गाँव, उत्तम जातिके हाथी-घोड़े और उत्तम अन्नका दान दिया ॥ १४ ॥ ब्राह्मणोंने संतुष्ट होकर अत्यन्त विनयी युधिष्ठिरसे कहा—'पुरुवंश-शिरोमणे ! कालकी दुर्निवार गतिसे यह पवित्र पुरुवंश मिटना ही चाहता था, परंतु तुमलोगोंपर कृपा करनेके लिये भगवान् विष्णुने यह बालक देकर इसकी रक्षा कर दी ॥ १५-१६ ॥ इसीलिये इसका नाम विष्णुरात होगा । निस्संदेह यह बालक संसारमें बड़ा यशस्वी, भगवान्‌का परम भक्त और महापुरुष होगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ ! यह बालक क्या अपने उज्ज्वल यशसे हमारे वंशके पवित्रकीर्ति महात्मा राजर्षियोंका अनुसरण करेगा ? ॥ १८ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—धर्मराज ! यह मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान अपनी प्रजाका पालन करेगा तथा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ होगा ॥१९॥ यह उशीनर-नरेश शिबिके समान दाता और शरणागतवत्सल होगा तथा याज्ञिकोंमें दुष्यन्तके पुत्र भरतके समान अपने वंशका यश फैलायेगा ॥ २० ॥ धनुर्धरोंमें यह सहस्रबाहु अर्जुन और अपने दादा पार्थके समान अग्रगण्य होगा । यह अग्निके समान दुर्धर्ष और समुद्रके समान दुस्तर होगा ॥ २१ ॥ यह सिंहके समान पराक्रमी, हिमाचलकी तरह आश्रय लेनेयोग्य, पृथ्वीके सदृश तितिक्षु और माता-पिताके समान सहन-

१. प्रा० पा०—विप्रैर्जातक्रियादिभिः । २. प्रा० पा०—हयांश्च नृपति० । ३. प्रा० पा०—प्रादात्स्वयं च । ४. प्रा० पा०—पौरवर्षभः । ५. प्रा० पा०—यो । ६. प्रा० पा०—राजोवाच । ७. प्रा० पा०—राजर्षिः । ८. प्रा० पा०—यथोचितविधाता च दौष्यन्ति० ।

* नालच्छेदनसे पहले सूतक नहीं होता, जैसे कहा है—'यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥' इसी समयको 'प्रजातीर्थ' काल कहते हैं; इस समय जो दान दिया जाता है, वह अक्षय होता है । स्मृति कहती है—'पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति चाक्षयम् ।' अर्थात् 'पुत्रोत्पत्ति और व्यतीपातके समय दिया हुआ दान अक्षय होता है ।'

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥२३॥
सर्वसद्गुणमाहात्म्ये[1] एष कृष्णमनुव्रतः ।
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥२४॥
धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्राद इव सद्ग्रहः[2] ।
आहर्तैषो[3]ऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥२५॥
राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥२६॥
तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥२७॥
जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥२८॥
इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥२९॥
स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः ।
गर्भे[3] दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥३०॥
स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः ।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥३१॥
यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।
राज्ञा[4]लब्धधनो दध्यावन्यत्र[5] करदण्डयोः ॥३२॥
तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।

शील होगा ॥ २२ ॥ इसमें पितामह ब्रह्माके समान समता रहेगी, भगवान् शंकरकी तरह यह कृपालु होगा और सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेमें यह लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुके समान होगा ॥ २३ ॥ यह समस्त सद्गुणोंकी महिमा धारण करनेमें श्रीकृष्णका अनुयायी होगा, रन्तिदेवके समान उदार होगा और ययातिके समान धार्मिक होगा ॥ २४ ॥ धैर्यमें बलिके समान और भगवान् श्रीकृष्णके प्रति दृढ़ निष्ठामें यह प्रह्लादके समान होगा । यह बहुत-से अश्वमेध-यज्ञोंका करनेवाला और वृद्धोंका सेवक होगा ॥ २५ ॥ इसके पुत्र राजर्षि होंगे । मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालोंको यह दण्ड देगा । यह पृथ्वीमाता और धर्मकी रक्षाके लिये कलियुगका भी दमन करेगा ॥ २६ ॥ ब्राह्मणकुमारके शापसे तक्षकके द्वारा अपनी मृत्यु सुनकर यह सबकी आसक्ति छोड़ देगा और भगवान्के चरणोंकी शरण लेगा ॥ २७ ॥ राजन् ! व्यासनन्दन शुकदेवजीसे यह आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करेगा और अन्तमें गङ्गातटपर अपने शरीरको त्यागकर निश्चय ही अभयपद प्राप्त करेगा ॥ २८ ॥

ज्यौतिषशास्त्रके विशेषज्ञ ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको इस प्रकार बालकके जन्मलग्नका फल बतलाकर और भेंट-पूजा लेकर अपने-अपने घर चले गये ॥ २९ ॥ वही यह बालक संसारमें परीक्षित्के नामसे प्रसिद्ध हुआ; क्योंकि वह समर्थ बालक गर्भमें जिस पुरुषका दर्शन पा चुका था; उसका स्मरण करता हुआ लोगोंमें उसीकी परीक्षा करता रहता था कि देखें इनमेंसे कौन-सा वह है ॥ ३० ॥ जैसे शुक्लपक्षमें दिन-प्रतिदिन चन्द्रमा अपनी कलाओंसे पूर्ण होता हुआ बढ़ता है, वैसे ही वह राजकुमार भी अपने गुरुजनोंके लालन-पालनसे क्रमशः अनुदिन बढ़ता हुआ शीघ्र ही सयाना हो गया ॥ ३१ ॥

इसी समय स्वजनोंके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध-यज्ञके द्वारा भगवान्की आराधना करनेका विचार किया, परंतु प्रजासे वसूल किये हुए कर और दण्ड (जुर्माने) की रकमके अतिरिक्त और धन न होनेके कारण वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ ३२ ॥ उनका अभिप्राय समझकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे

१. प्रा० पा०—माहात्म्यमेष कृष्ण० । २. प्रा० पा०—निर्भरः । ३. प्रा० पा०—पूर्वदृष्ट० । ४. प्रा० पा०—राजा लब्ध० । ५. प्रा० पा०—दध्यौ नान्यत्र ।

धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥३३॥
तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥३४॥
आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम्।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥३५॥
ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः[3] ॥३६॥

उनके भाई उत्तर दिशामें राजा मरुत्त और ब्राह्मणोंद्वारा छोड़ा हुआ * बहुत-सा धन ले आये ॥ ३३ ॥ उससे यज्ञकी सामग्री एकत्र करके धर्मभीरु महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेध-यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा की ॥ ३४ ॥ युधिष्ठिरके निमन्त्रणसे पधारे हुए भगवान् ब्राह्मणोंद्वारा उनका यज्ञ सम्पन्न कराकर अपने सुहृद् पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये कई महीनोंतक वहीं रहे ॥ ३५ ॥ शौनकजी ! इसके बाद भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिर और द्रौपदीसे अनुमति लेकर अर्जुनके साथ यदुवंशियोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने परीक्षिज्जन्मायुत्कर्षो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें जाना

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥
यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः[4]।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥
तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः[5]।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—विदुरजी तीर्थयात्रामें महर्षि मैत्रेयसे आत्माका ज्ञान प्राप्त करके हस्तिनापुर लौट आये। उन्हें जो कुछ जाननेकी इच्छा थी, वह पूर्ण हो गयी थी ॥ १ ॥ विदुरजीने मैत्रेय ऋषिसे जितने प्रश्न किये थे, उनका उत्तर सुननेके पहले ही श्रीकृष्णमें अनन्य भक्ति हो जानेके कारण वे उत्तर सुननेसे उपराम हो गये ॥ २ ॥ शौनकजी ! अपने चाचा विदुरजीको आया देख धर्मराज युधिष्ठिर, उनके चारों भाई, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी तथा पाण्डव-परिवारके अन्य सभी नर-नारी और

१. प्रा० पा०—भूरिशो दिशि। २. प्रा० पा०—त्रिभी राजा यज्ञैः। ३. प्राचीन प्रतिमें 'यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥' के बाद 'यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवेशतः' इतना पाठ अधिक है। कुछ टीकाकारोंने ३५वें और ३६वें श्लोकोंको प्रक्षिप्त माना है। ४. प्राचीन प्रतिमें 'यावतः…'से लेकर 'कौषारवाग्रतः' यहाँतकका पाठ नहीं है। ५. प्रा० पा०—सहानुगः।

* पूर्वकालमें महाराज मरुत्तने ऐसा यज्ञ किया था, जिसमें सभी पात्र सुवर्णके थे। यज्ञ समाप्त हो जानेपर उन्होंने वे पात्र उत्तर दिशामें फेंकवा दिये थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको भी इतना धन दिया कि वे उसे ले जा न सके; वे भी उसे उत्तर दिशामें ही छोड़कर चले आये। परित्यक्त धनपर राजाका अधिकार होता है, इसलिये उस धनको मँगवाकर भगवान्‌ने युधिष्ठिरका यज्ञ कराया।

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।
अभिसंगम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥
मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥
तं[1] भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां[2] च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर[3] उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् ।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥
कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥
भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो[4] ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन[5] गदाभृता ॥ १० ॥
अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥ ११ ॥
इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो[6] विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२ ॥
नन्वप्रियं दुर्विषहं[7] नृणां स्वयमुपस्थितम् ।

अपने पुत्रोंसहित दूसरी स्त्रियाँ—सब-के-सब बड़ी प्रसन्नतासे, मानो मृत शरीरमें प्राण आ गया हो—ऐसा अनुभव करते हुए उनकी अगवानीके लिये सामने गये । यथायोग्य आलिङ्गन और प्रणामादिके द्वारा सब उनसे मिले और विरहजनित उत्कण्ठासे कातर होकर सबने प्रेमके आँसू बहाये । युधिष्ठिरने आसनपर बैठाकर उनका यथोचित सत्कार किया ॥ ३—६ ॥ जब वे भोजन एवं विश्राम करके सुखपूर्वक आसनपर बैठे थे तब युधिष्ठिरने विनयसे झुककर सबके सामने ही उनसे कहा ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—चाचाजी ! जैसे पक्षी अपने अंडोंको पंखोंकी छायाके नीचे रखकर उन्हें सेते और बढ़ाते हैं, वैसे ही आपने अत्यन्त वात्सल्यसे अपने कर-कमलोंकी छत्रच्छायामें हमलोगोंको पाला-पोसा है । बार-बार आपने हमें और हमारी माताको विषदान और लाक्षागृहके दाह आदि विपत्तियोंसे बचाया है । क्या आप कभी हमलोगोंको भी याद करते रहे हैं ? ॥ ८ ॥ आपने पृथ्वीपर विचरण करते समय किस वृत्तिसे जीवन-निर्वाह किया ? आपने पृथ्वीतलपर किन-किन तीर्थों और मुख्य क्षेत्रोंका सेवन किया ? ॥ ९ ॥ प्रभो ! आप-जैसे भगवान्‌के प्यारे भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं । आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं ॥ १० ॥ चाचाजी ! आप तीर्थयात्रा करते हुए द्वारका भी अवश्य ही गये होंगे । वहाँ हमारे सुहृद् एवं भाई-बन्धु यादवलोग, जिनके एकमात्र आराध्यदेव श्रीकृष्ण हैं, अपनी नगरीमें सुखसे तो हैं न ? आपने यदि जाकर देखा नहीं होगा तो सुना तो अवश्य ही होगा ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर विदुरजीने तीर्थों और यदुवंशियोंके सम्बन्धमें जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया था, सब क्रमसे बतला दिया, केवल यदुवंशके विनाशकी बात नहीं कही ॥ १२ ॥ करुणहृदय विदुरजी पाण्डवोंको दुखी नहीं देख सकते थे । इसलिये उन्होंने यह

१. प्राचीन प्रतिमें इस पूर्वार्धका पाठ इस प्रकार है—'तं सत्कृतं तु विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।' २. प्रा० पा०—स्वानां विशृण्वताम् । ३. प्राचीन प्रतिमें 'युधिष्ठिर उवाच' नहीं है । ४. प्रा० पा०—प्रभो । ५. प्रा० पा०—आत्मस्थेन । ६. प्रा० पा०—क्रमतो । ७. प्रा० पा०—दुर्विषह्यं ।

नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥१३॥

कंचित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां प्रीतिमावहन् ॥१४॥

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥१५॥

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलंधरम् ।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥१६॥

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥१७॥

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥१८॥

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥१९॥

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥२०॥

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः ।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥२१॥

अप्रिय एवं असह्य घटना पाण्डवोंको नहीं सुनायी; क्योंकि वह तो स्वयं ही प्रकट होनेवाली थी ॥ १३ ॥

पाण्डव विदुरजीका देवताके समान सेवा-सत्कार करते थे । वे कुछ दिनोंतक अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रकी कल्याण-कामनासे सब लोगोंको प्रसन्न करते हुए सुखपूर्वक हस्तिनापुरमें ही रहे ॥ १४ ॥ विदुरजी तो साक्षात् धर्मराज थे, माण्डव्य ऋषिके शापसे ये सौ वर्षके लिये शूद्र बन गये थे* । इतने दिनोंतक यमराजके पदपर अर्यमा थे और वही पापियोंको उचित दण्ड देते थे ॥ १५ ॥ राज्य प्राप्त हो जानेपर अपने लोकपालों-सरीखे भाइयों-के साथ राजा युधिष्ठिर वंशधर परीक्षित्को देखकर अपनी अतुल सम्पत्तिसे आनन्दित रहने लगे ॥ १६ ॥ इस प्रकार पाण्डव गृहस्थके काम-धन्धोंमें रम गये और उन्हींके पीछे एक प्रकारसे यह बात भूल गये कि अन-जानमें ही हमारा जीवन मृत्युकी ओर जा रहा है; अब देखते-देखते उनके सामने वह समय आ पहुँचा जिसे कोई टाल नहीं सकता ॥ १७ ॥

परंतु विदुरजीने कालकी गति जानकर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! देखिये, अब बड़ा भयंकर समय आ गया है, झटपट यहाँसे निकल चलिये ॥ १८ ॥ हम सब लोगोंके सिरपर वह सर्व-समर्थ काल मँडराने लगा है, जिसके टालनेका कहीं भी कोई उपाय नहीं है ॥ १९ ॥ कालके वशीभूत होकर जीवका अपने प्रियतम प्राणोंसे भी बात-की-बातमें वियोग हो जाता है; फिर धन, जन आदि दूसरी वस्तुओं-की तो बात ही क्या है ॥ २० ॥ आपके चाचा, ताऊ, भाई, सगे-सम्बन्धी और पुत्र—सभी मारे गये, आपकी उम्र भी ढल चुकी, शरीर बुढ़ापेका शिकार हो गया, आप पराये घरमें

१. प्रा० पा०—न्यवेदयत् । २. प्रा० पा०—स्वकैः । ३. प्रा० पा०—कुलोद्वहम् । ४. प्रा० पा०—प्रतिक्रियां न पश्येऽहं कुतश्चित् । ५. प्रा० पा०—वः ।

* एक समय किसी राजाके अनुचरोंने कुछ चोरोंको माण्डव्य ऋषिके आश्रमपर पकड़ा । उन्होंने समझा कि ऋषि भी चोरीमें शामिल होंगे । अतः वे भी पकड़ लिये गये और राजाज्ञासे सबके साथ उनको भी शूलीपर चढ़ा दिया गया । राजाको यह पता लगते ही कि ये महात्मा हैं—ऋषिको शूलीसे उतरवा दिया और हाथ जोड़कर उनसे अपना अपराध क्षमा कराया । माण्डव्यजीने यमराजके पास जाकर पूछा—'मुझे किस पापके फलस्वरूप यह दण्ड मिला ?' यमराजने बताया कि 'आपने लड़कपनमें एक टिड्डीको कुशकी नोकसे छेद दिया था, इसीलिये ऐसा हुआ ।' इसपर मुनिने कहा—'मैंने अज्ञानवश ऐसा किया होगा, उस छोटेसे अपराधके लिये तुमने मुझे बड़ा कठोर दण्ड दिया । इसलिये तुम सौ वर्षतक शूद्रयोनिमें रहोगे ।' माण्डव्यजीके इस शापसे ही यमराजने विदुरके रूपमें अवतार लिया था ।

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान् ।

भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥२२॥

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।

हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥२३॥

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।

परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥२४॥

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।

अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥२५॥

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।

हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥२६॥

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।

हतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥२७

एवं राजा विदुरेणानुजेन

प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।

छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो

निश्चक्राम भ्रातृसंदर्शिताध्वा ॥२८॥

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री

पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं

मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः ॥२९॥

पड़े हुए हैं ॥ २१ ॥ ओह ! इस प्राणीको जीवित रहनेकी कितनी प्रबल इच्छा होती है ! इसीके कारण तो आप भीमका दिया हुआ टुकड़ा खाकर कुत्तेका-सा जीवन बिता रहे हैं ॥ २२ ॥ जिनको आपने आगमें जलानेकी चेष्टा की, विष देकर मार डालना चाहा, भरी सभामें जिनकी विवाहिता पत्नीको अपमानित किया, जिनकी भूमि और धन छीन लिये, उन्हींके अन्नसे पले हुए प्राणोंको रखनेमें क्या गौरव है ॥ २३ ॥ आपके अज्ञानकी हद हो गयी कि अब भी आप जीना चाहते हैं ! परंतु आपके चाहनेसे क्या होगा; पुराने वस्त्रकी तरह बुढ़ापेसे गला हुआ—आपका शरीर आपके न चाहनेपर भी क्षीण हुआ जा रहा है ॥ २४ ॥ अब इस शरीरसे आपका कोई स्वार्थ सधनेवाला नहीं है; इसमें फँसिये मत, इसकी ममताका बन्धन काट डालिये । जो संसारके सम्बन्धियोंसे अलग रहकर उनके अनजानमें अपने शरीरका त्याग करता है, वही धीर कहा गया है ॥ २५ ॥ चाहे अपनी समझसे हो या दूसरेके समझानेसे—जो इस संसारको दुःखरूप समझकर इससे विरक्त हो जाता है और अपने अन्तःकरणको वशमें करके हृदयमें भगवान्‌को धारणकर संन्यासके लिये घरसे निकल पड़ता है, वही उत्तम मनुष्य है ॥ २६ ॥ इसके आगे जो समय आनेवाला है, वह प्रायः मनुष्योंके गुणोंको घटानेवाला होगा; इसलिये आप अपने कुटुम्बियोंसे छिपकर उत्तराखण्डमें चले जाइये' ॥ २७॥

जब छोटे भाई विदुरने अंधे राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार समझाया, तब उनकी प्रज्ञाके नेत्र खुल गये; वे भाई-बन्धुओंके सुदृढ़ स्नेह-पाशोंको काटकर अपने छोटे भाई विदुरके दिखलाये हुए मार्गसे निकल पड़े ॥ २८ ॥ जब परम पतिव्रता सुबलनन्दिनी गान्धारीने देखा कि मेरे पतिदेव तो उस हिमालयकी यात्रा कर रहे हैं, जो संन्यासियोंको वैसा ही सुख देता है, जैसा वीर पुरुषोंको लड़ाईके मैदानमें अपने शत्रुके द्वारा किये हुए न्यायोचित प्रहारसे होता है, तब वे भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ीं ॥ २९ ॥

---

१. प्रा० पा०—मति० । २. प्रा० पा०—सम्यक् प्रव्र० । ३. प्रा० पा०—सम्प्रसारम् ।

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
विंप्रान् नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
नँ चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥३०॥
तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।
गावल्गणे क्व नँस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥३१॥
अम्बा च हतपुत्राऽऽर्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृँत् ।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥३२॥
पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥३३॥

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः ।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥३४॥
विमृँज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥३५॥

सञ्जँय उवाच

नाँहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।
गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥३६॥

अजातशत्रु युधिष्ठिरने प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन तथा अग्निहोत्र करके ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और उन्हें तिल, गौ, भूमि और सुवर्णका दान दिया। इसके बाद जब वे गुरुजनोंकी चरणवन्दनाके लिये राजमहलमें गये, तब उन्हें धृतराष्ट्र, विदुर तथा गान्धारीके दर्शन नहीं हुए ॥ ३० ॥ युधिष्ठिरने उद्विग्नचित्त होकर वहीं बैठे हुए सञ्जयसे पूछा—'सञ्जय! मेरे वे वृद्ध और नेत्रहीन पिता धृतराष्ट्र कहाँ हैं? ॥ ३१ ॥ पुत्रशोकसे पीड़ित दुखिया माता गान्धारी और मेरे परम हितैषी चाचा विदुरजी कहाँ चले गये? ताऊजी अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे दुखी थे। मैं बड़ा मन्दबुद्धि हूँ—कहीं मुझसे किसी अपराधकी आशङ्का करके वे माता गान्धारीसहित गङ्गाजीमें तो नहीं कूद पड़े ॥ ३२ ॥ जब हमारे पिता पाण्डुकी मृत्यु हो गयी थी और हमलोग नन्हे-नन्हे बच्चे थे, तब इन्हीं दोनों चाचाओंने बड़े-बड़े दुःखोंसे हमें बचाया था! वे हमपर बड़ा ही प्रेम रखते थे। हाय! वे यहाँसे कहाँ चले गये? ॥ ३३ ॥

सूतजी कहते हैं—सञ्जय अपने स्वामी धृतराष्ट्रको न पाकर कृपा और स्नेहकी विकलतासे अत्यन्त पीड़ित और विरहातुर हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको कुछ उत्तर न दे सके ॥ ३४ ॥ फिर धीरे-धीरे बुद्धिके द्वारा उन्होंने अपने चित्तको स्थिर किया, हाथोंसे आँखोंके आँसू पोंछे और अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते हुए युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३५ ॥

सञ्जय बोले—कुरुकुलनन्दन! मुझे आपके दोनों चाचा और गान्धारीके सङ्कल्पका कुछ भी पता नहीं है। महाबाहो! मुझे तो उन महात्माओंने ठग लिया ॥ ३६ ॥

---

१. प्रा० पा०—कृतमैत्रसत्क्रियो विप्रान्। २. प्रा० पा०—वसु। ३. प्रा० पा०—परं न पश्यत् पितरौ सौबलीं च। ४. प्रा० पा०—यातोऽसौ। ५. प्रा० पा०—सुकृत्। ६. प्रा० पा०—विमृज्य पाणिनाश्रूणि विष्ट०। ७. प्राचीन प्रतिमें 'संजय उवाच' पाठ नहीं है। ८. प्राचीन प्रतिमें 'नाहं वेद'''से लेकर'''''वहन्ति बलमीशितः ॥' यहाँतक पाँच श्लोक इस प्रकार मिलते हैं—

'अहं व्यवसितं रात्रौ पित्रास्ते कुलनन्दन। न वेद साध्व्या गान्धार्या मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥
एतस्मिन्नन्तरे विप्र नारदः प्रत्यदृश्यत। वीणां त्रितन्त्रीं ध्वनयन् भगवान् सहतुम्बुरुः॥
राजा नत्वोपनीतार्घ्यः प्रत्युत्थायाभिवन्दितम्। परमासन आसीनं पौरवेन्द्रोऽभ्यभाषत॥
नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गताविति। कर्णधार इवापारे सीदतां पारदर्शकः॥

नारद उवाच—

मा कश्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशे जगत्। लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः॥'

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः ।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव ॥३७॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।
अम्बा वा हतपुत्राऽऽर्ता क्व गता च तपस्विनी ॥३८॥
कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः ।
अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥३९॥
मा कंचन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥४०॥
यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः ।
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥४१॥
यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥४२॥
यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा नहि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥४३॥
तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥४४॥
कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥४५॥
अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥४६॥
तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् ।

सञ्जय इस प्रकार कह ही रहे थे कि तुम्बुरुके साथ देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर उन्हें प्रणाम किया और उनका सम्मान करते हुए बोले—॥ ३७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—'भगवन्! मुझे अपने दोनों चाचाओंका पता नहीं लग रहा है; न जाने वे दोनों और पुत्र-शोकसे व्याकुल तपस्विनी माता गान्धारी यहाँसे कहाँ चले गये ॥ ३८ ॥ भगवन्! अपार समुद्रमें कर्णधारके समान आप ही हमारे पारदर्शक हैं।' तब भगवान्के परमभक्त भगवन्मय देवर्षि नारदने कहा—॥ ३९ ॥ 'धर्मराज! तुम किसीके लिये शोक मत करो; क्योंकि यह सारा जगत् ईश्वरके वशमें है। सारे लोक और लोकपाल विवश होकर ईश्वरकी ही आज्ञाका पालन कर रहे हैं। वही एक प्राणीको दूसरेसे मिलाता है और वही उन्हें अलग करता है ॥ ४० ॥ जैसे बैल बड़ी रस्सीमें बँधे और छोटी रस्सीसे नथे रहकर अपने स्वामीका भार ढोते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी वर्णाश्रमादि अनेक प्रकारके नामोंसे वेदरूप रस्सीमें बँधकर ईश्वरकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ४१ ॥ जैसे संसारमें खिलाड़ीकी इच्छासे ही खिलौनोंका संयोग और वियोग होता है, वैसे ही भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका मिलना-बिछुड़ना होता है ॥४२॥ तुम लोगोंको जीवरूपसे नित्य मानो या देहरूपसे अनित्य अथवा जडरूपसे अनित्य और चेतनरूपसे नित्य अथवा शुद्धब्रह्मरूपमें नित्य-अनित्य कुछ भी न मानो—किसी भी अवस्थामें मोहजन्य आसक्तिके अतिरिक्त वे शोक करने योग्य नहीं हैं ॥४३॥ इसलिये धर्मराज! वे दीन-दुखी चाचा-चाची असहाय अवस्थामें मेरे बिना कैसे रहेंगे, इस अज्ञानजन्य मनकी विकलताको छोड़ दो ॥४४॥ यह पाञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणोंके वशमें है। अजगरके मुँहमें पड़े हुए पुरुषके समान यह पराधीन शरीर दूसरोंकी रक्षा ही क्या कर सकता है ॥ ४५ ॥ हाथवालोंके बिना हाथवाले, चार पैरवाले पशुओंके बिना पैरवाले (तृणादि) और उनमें भी बड़े जीवोंके छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव दूसरे जीवके जीवनका कारण हो रहा है ॥ ४६ ॥ इन समस्त रूपोंमें जीवोंके बाहर और भीतर वही एक स्वयम्प्रकाश भगवान्

अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥४७॥

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।

कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥४८॥

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।

तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥४९॥

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया[1] ।

दक्षिणेन हिमवत[2] ऋषीणामाश्रमं गतः ॥५०॥

स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात्[3] ।

सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोतः[4] प्रचक्षते ॥५१॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।

अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥५२॥

जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः ।

हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः ॥५३॥

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।

ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥५४॥

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः ।

निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ।

तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः ॥५५॥

स वा अद्यतनाद् राजन् परतः पञ्चमेऽहनि ।

कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥५६॥

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे ।

जो सम्पूर्ण आत्माओंके आत्मा हैं, मायाके द्वारा अनेकों प्रकारसे प्रकट हो रहे हैं । तुम केवल उन्हींको देखो ॥ ४७ ॥ महाराज ! समस्त प्राणियोंको जीवन-दान देनेवाले वे ही भगवान् इस समय इस पृथ्वीतलपर देवद्रोहियोंका नाश करनेके लिये कालरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४८ ॥ अब वे देवताओंका कार्य पूरा कर चुके हैं । थोड़ा-सा काम और शेष है, उसीके लिये वे रुके हुए हैं । जबतक वे प्रभु यहाँ हैं, तबतक तुमलोग भी उनकी प्रतीक्षा करते रहो ॥ ४९ ॥

धर्मराज ! हिमालयके दक्षिण भागमें, जहाँ सप्तर्षियोंकी प्रसन्नताके लिये गङ्गाजीने अलग-अलग सात धाराओंके रूपमें अपनेको सात भागोंमें विभक्त कर दिया है, जिसे 'सप्तस्रोत' कहते हैं, वहीं ऋषियोंके आश्रमपर धृतराष्ट्र अपनी पत्नी गान्धारी और विदुरके साथ गये हैं ॥ ५०-५१ ॥ वहाँ वे त्रिकालस्नान और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं । अब उनके चित्तमें किसी प्रकारकी कामना नहीं है, वे केवल जल पीकर शान्तचित्तसे निवास करते हैं ॥ ५२ ॥ आसन जीतकर प्राणोंको वशमें करके उन्होंने अपनी छहों इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटा लिया है । भगवान्‌की धारणासे उनके तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणके मल नष्ट हो चुके हैं ॥ ५३ ॥ उन्होंने अहङ्कारको बुद्धिके साथ जोड़कर और उसे क्षेत्रज्ञ आत्मामें लीन करके उसे भी महाकाशमें घटाकाशके समान सर्वाधिष्ठान ब्रह्ममें एक कर दिया है । उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों और मनको रोककर समस्त विषयोंको बाहरसे ही लौटा दिया है और मायाके गुणोंसे होनेवाले परिणामोंको सर्वथा मिटा दिया है । समस्त कर्मोंका संन्यास करके वे इस समय ठूँठकी तरह स्थिर होकर बैठे हुए हैं, अतः तुम उनके मार्गमें विघ्नरूप मत बनना* ॥ ५४-५५ ॥ धर्मराज ! आजसे पाँचवें दिन वे अपने शरीरका परित्याग कर देंगे और वह जलकर भस्म हो जायगा ॥५६॥ गार्हपत्यादि अग्नियोंके द्वारा पर्णकुटीके साथ अपने पतिके मृतदेहको जलते देखकर बाहर खड़ी हुई

१. प्रा० पा०—सुभार्यया । २. प्रा० पा०—दक्षिणे हिमवत्पार्श्वे । ३. प्रा० पा० — सप्तधाभवत् । ४. प्रा० पा०—सप्तस्रोताः ।

* देवर्षि नारदजी त्रिकालदर्शी हैं । वे धृतराष्ट्रके भविष्य जीवनको वर्तमानकी भाँति प्रत्यक्ष देखते हुए उसी रूपमें वर्णन कर रहे हैं । धृतराष्ट्र पिछली रातको ही हस्तिनापुरसे गये हैं, अतः यह वर्णन भविष्यका ही समझना चाहिये ।

बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ।।५७।।
विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः ।।५८।।
इत्युक्त्वाथारुहत्[1] स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ।।५९।।

साध्वी गान्धारी भी पतिका अनुगमन करती हुई उसी आगमें प्रवेश कर जायँगी ।। ५७ ।। धर्मराज ! विदुरजी अपने भाईका आश्चर्यमय मोक्ष देखकर हर्षित और वियोग देखकर दुःखित होते हुए वहाँसे तीर्थ-सेवनके लिये चले जायँगे ।। ५८ ।। देवर्षि नारद यों कहकर तुम्बुरुके साथ स्वर्गको चले गये। धर्मराज युधिष्ठिरने उनके उपदेशोंको हृदयमें धारण करके शोकको त्याग दिया ।। ५९ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिरका शङ्का करना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं[2] च पुण्यश्लोकस्य[3] कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।। १ ।।
व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः[4] ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः[5] ।। २ ।।
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः[6] ।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ।। ३ ।।
जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ।। ४ ।।
निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ।। ५ ।।

सूतजी कहते हैं—स्वजनोंसे मिलने और पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण अब क्या करना चाहते हैं—यह जाननेके लिये अर्जुन द्वारका गये हुए थे ।। १ ।। कई महीने बीत जानेपर भी अर्जुन वहाँसे लौटकर नहीं आये। धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े भयंकर अपशकुन दीखने लगे ।। २ ।। उन्होंने देखा, कालकी गति बड़ी विकट हो गयी है। जिस समय जो ऋतु होनी चाहिये, उस समय वह नहीं होती और उनकी क्रियाएँ भी उल्टी ही होती हैं। लोग बड़े क्रोधी, लोभी और असत्यपरायण हो गये हैं। अपने जीवन-निर्वाहके लिये लोग पापपूर्ण व्यापार करने लगे हैं ।। ३ ।। सारा व्यवहार कपटसे भरा हुआ होता है, यहाँतक कि मित्रतामें भी छल मिला रहता है; पिता, माता, सगे-सम्बन्धी, भाई और पति-पत्नीमें भी झगड़ा-टंटा रहने लगा है ।। ४ ।। कलिकालके आ जानेसे लोगोंका स्वभाव ही लोभ, दम्भ आदि अधर्मसे अभिभूत हो गया है और प्रकृतिमें भी अत्यन्त अरिष्टसूचक अपशकुन होने लगे हैं, यह सब देखकर युधिष्ठिरने अपने छोटे भाई भीमसेनसे कहा ।। ५ ।।

१. प्रा० पा०—इत्युक्त्वा चारुहत् । २. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'पारीक्षिते' इतना अधिक पाठ है । ३. प्रा० पा०—शार्ङ्गं मायामनुष्यस्य वासुदेवस्य चेष्टितम् । ४. प्रा० पा०—पाण्डुसुतो नृपः । ५. प्रा० पा०—भृगूद्वह। ६. प्रा० पा०—धर्मणः ।

युधिष्ठिर उवाच

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ ६ ॥
गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥ ७ ॥
अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।
यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ॥ ८ ॥
यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥
पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणाञ्शंसतोऽदूराद्भयं नो[2] बुद्धिमोहनम् ॥ १० ॥
ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः ।
वेपथुश्चापि हृदये आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥ ११ ॥
शिवैषोद्यन्तमादित्यमभि[3] रौत्यनलानना ।
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत् ॥ १२ ॥
शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥ १३ ॥
मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ शून्यमिच्छतः ॥ १४ ॥
धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन ! अर्जुनको हमने द्वारका इसलिये भेजा था कि वह वहाँ जाकर, पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं—इसका पता लगा आये और सम्बन्धियोंसे मिल भी आये ॥ ६ ॥ तबसे सात महीने बीत गये, किंतु तुम्हारे छोटे भाई अबतक नहीं लौट रहे हैं । मैं ठीक-ठीक यह नहीं समझ पाता हूँ कि उनके न आनेका क्या कारण है ॥ ७ ॥ कहीं देवर्षि नारदके द्वारा बतलाया हुआ वह समय तो नहीं आ पहुँचा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने लीला-विग्रहका संवरण करना चाहते हैं ? ॥ ८ ॥ उन्हीं भगवान्‌की कृपासे हमें यह सम्पत्ति, राज्य, स्त्री, प्राण, कुल, संतान, शत्रुओंपर विजय और स्वर्गादि लोकोंका अधिकार प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥ भीमसेन ! तुम तो मनुष्योंमें व्याघ्रके समान बलवान् हो; देखो तो सही—आकाशमें उल्कापातादि, पृथ्वीमें भूकम्पादि और शरीरोंमें रोगादि कितने भयंकर अपशकुन हो रहे हैं ! इनसे इस बातकी सूचना मिलती है कि शीघ्र ही हमारी बुद्धिको मोहमें डालनेवाला कोई उत्पात होनेवाला है ॥ १० ॥ प्यारे भीमसेन ! मेरी बायीं जाँघ, आँख और भुजा बार-बार फड़क रही हैं । हृदय जोरसे धड़क रहा है, अवश्य ही बहुत जल्दी कोई अनिष्ट होनेवाला है ॥ ११ ॥ देखो यह सियारिन उदय होते हुए सूर्यकी ओर मुँह करके रो रही है । अरे ! उसके मुँहसे तो आग भी निकल रही है ! यह कुत्ता बिल्कुल निर्भय-सा होकर मेरी ओर देखकर चिल्ला रहा है ॥ १२ ॥ भीमसेन ! गौ आदि अच्छे पशु मुझे अपने बायें करके जाते हैं और गधे आदि बुरे पशु मुझे अपने दाहिने कर देते हैं । मेरे घोड़े आदि वाहन मुझे रोते हुए दिखायी देते हैं ॥ १३ ॥ यह मृत्युका दूत पेडुखी, उल्लू और उसका प्रतिपक्षी कौआ रातको अपने कर्ण-कठोर शब्दोंसे मेरे मनको कँपाते हुए विश्वको सूना कर देना चाहते हैं ॥ १४ ॥ दिशाएँ धुँधली हो गयी हैं, सूर्य और चन्द्रमाके चारों ओर बार-बार मण्डल बैठते हैं । यह पृथ्वी पहाड़ोंके साथ काँप उठती है, बादल बड़े जोर-जोरसे गरजते हैं और जहाँ-तहाँ बिजली

१. प्रा० पा०—घोरमाशंसतो । २. प्रा० पा०—मे । ३. प्रा० पा०—मरुणमभि० । ४. प्रा० पा०—ममाग्रे । ५. प्रा० पा०—भीत० । ६. प्रा० पा०—कुह्वानो रौद्रोऽसौ शून्यमिच्छति । ७. प्रा० पा०—दीप्ताः । ८. प्रा० पा०—तः सुमहां० ।

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥१६॥
सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि ।
ससंकुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥१७॥
नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥१८॥
न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥१९॥
दैवतानि रुदन्तीव खिद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥२०॥
मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ॥२१॥
इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥२२॥
तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥२३॥
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥२४॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते ।
मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः [1] ॥२५॥
शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः ।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥२६॥
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥२७॥

भीं गिरती ही रहती है ॥ १५ ॥ शरीरको छेदनेवाली एवं धूलिवर्षासे अंधकार फैलानेवाली आँधी चलने लगी है । बादल बड़ा डरावना दृश्य उपस्थित करके सब ओर खून बरसाते हैं ॥ १६ ॥ देखो! सूर्यकी प्रभा मन्द पड़ गयी है । आकाशमें ग्रह परस्पर टकराया करते हैं । भूतोंकी घनी भीड़में पृथ्वी और अन्तरिक्षमें आग-सी लगी हुई है ॥१७॥ नदी, नद, तालाब और लोगोंके मन क्षुब्ध हो रहे हैं । घीसे आग नहीं जलती । यह भयंकर काल न जाने क्या करेगा ॥ १८ ॥ बछड़े दूध नहीं पीते, गौएँ दुहने नहीं देतीं । गोशालामें गौएँ आँसू बहा-बहाकर रो रही हैं । बैल भी उदास हो रहे हैं ॥ १९ ॥ देवताओंकी मूर्तियाँ रो-सी रही हैं, उनमेंसे पसीना चूने लगता है और वे हिलती-डोलती भी हैं । भाई! ये देश, गाँव, शहर, बगीचे, खानें और आश्रम श्रीहीन और आनन्द-रहित हो गये हैं । पता नहीं ये हमारे किस दुःखकी सूचना दे रहे हैं ॥ २० ॥ इन बड़े-बड़े उत्पातोंको देखकर मैं तो ऐसा समझता हूँ कि निश्चय ही यह भाग्यहीना भूमि भगवान्‌के उन चरणकमलोंसे, जिनका सौन्दर्य तथा जिनके ध्वजा, वज्र, अङ्कुशादि विलक्षण चिह्न और किसीमें भी कहीं भी नहीं हैं, रहित हो गयी है ॥२१॥ शौनकजी! राजा युधिष्ठिर इन भयंकर उत्पातोंको देखकर मन-ही-मन चिन्तित हो रहे थे कि द्वारकासे लौटकर अर्जुन आये ॥ २२ ॥ युधिष्ठिरने देखा, अर्जुन इतने आतुर हो रहे हैं जितने पहले कभी नहीं देखे गये थे । मुँह लटका हुआ है, कमल-सरीखे नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं और शरीरमें बिल्कुल कान्ति नहीं है । उनको इस रूपमें अपने चरणोंमें पड़ा देखकर युधिष्ठिर घबरा गये । देवर्षि नारदकी बातें याद करके उन्होंने सुहृदोंके सामने ही अर्जुनसे पूछा ॥ २३-२४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—'भाई ! द्वारकापुरीमें हमारे स्वजन-सम्बन्धी मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिवंशी यादव कुशलसे तो हैं ? ॥२५॥ हमारे माननीय नाना शूरसेनजी प्रसन्न हैं ? अपने छोटे भाईसहित मामा वसुदेवजी तो कुशलपूर्वक हैं ? ॥२६॥ उनकी पत्नियाँ हमारी मामी देवकी आदि सातों बहिनें अपने पुत्रों और बहुओंके साथ आनन्दसे तो हैं ? ॥२७॥

१. प्रा० पा०—दशार्हास्ते कुकुरान्धक० ।

कच्चिद्राजाऽऽहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥२८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः॥२९॥
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥३०॥
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥३१॥
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥३२॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥३३॥
भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।
कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥३४॥
मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान्॥३५॥
यद्बाहुदण्ड[2]गुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽ[3]र्चिताः ।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥३६॥
यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥३७॥
[1] यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥३८॥
कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥३९॥

जिनका पुत्र कंस बड़ा ही दुष्ट था, वे राजा उग्रसेन अपने छोटे भाई देवकके साथ जीवित तो हैं न ? हृदीक, उनके पुत्र कृतवर्मा, अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित् आदि यादव वीर सकुशल हैं न ? यादवोंके प्रभु बलरामजी तो आनन्दसे हैं ? ॥ २८-२९ ॥ वृष्णिवंशके सर्वश्रेष्ठ महारथी प्रद्युम्न सुखसे तो हैं? युद्धमें बड़ी फुर्ती दिखलानेवाले भगवान् अनिरुद्ध आनन्दसे हैं न ? ॥ ३० ॥ सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती-नन्दन साम्ब और अपने पुत्रोंके सहित ऋषभ आदि भगवान् श्रीकृष्णके अन्य सब पुत्र भी प्रसन्न हैं न ? ।३१। भगवान् श्रीकृष्णके सेवक श्रुतदेव, उद्धव आदि और दूसरे सुनन्द-नन्द आदि प्रधान यदुवंशी, जो भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके बाहुबलसे सुरक्षित हैं, सब-के-सब सकुशल हैं न ? हमसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले वे लोग कभी हमारा कुशल-मङ्गल भी पूछते हैं ? ॥ ३२-३३॥

भक्तवत्सल ब्राह्मणभक्त भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वजनोंके साथ द्वारकाकी सुधर्मा-सभामें सुखपूर्वक विराजते हैं न ? ॥ ३४ ॥ वे आदिपुरुष बलरामजीके साथ संसारके परम मङ्गल, परम कल्याण और उन्नतिके लिये यदुवंशरूप क्षीरसागरमें विराजमान हैं । उन्हींके बाहुबलसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें यदुवंशीलोग सारे संसारके द्वारा सम्मानित होकर बड़े आनन्दसे विष्णुभगवान्के पार्षदोंके समान विहार कर रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥ सत्यभामा आदि सोलह हजार रानियाँ प्रधानरूपसे उनके चरणकमलोंकी सेवामें ही रत रहकर उनके द्वारा युद्धमें इन्द्रादि देवताओंको भी हराकर इन्द्राणीके भोगयोग्य तथा उन्हींकी अभीष्ट पारिजातादि वस्तुओंका उपभोग करती हैं ॥ ३७ ॥ यदुवंशी वीर श्रीकृष्णके बाहुदण्डके प्रभावसे सुरक्षित रहकर निर्भय रहते हैं और बलपूर्वक लायी हुई बड़े-बड़े देवताओंके बैठने योग्य सुधर्मासभाको अपने चरणोंसे आक्रान्त करते हैं ॥ ३८ ॥

भाई अर्जुन! यह भी बताओ कि तुम स्वयं तो कुशलसे हो न ? मुझे तुम श्रीहीन-से दीख रहे हो; वहाँ बहुत दिनोंतक रहे, कहीं तुम्हारे सम्मानमें तो किसी प्रकार-

१. प्रा० पा०—हि । २. प्रा० पा०—दण्डैर्गु० । ३. प्रा० पा०—यदवोऽजिताः ।

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥४०॥
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥४१॥
कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् ।
पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥४२॥
अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।
जुगुप्सितं कर्म किंचित्कृतवान्न यदक्षमम् ॥४३॥
कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना ।
शून्योऽसि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ॥४४॥

की कमी नहीं हुई ? किसीने तुम्हारा अपमान तो नहीं कर दिया ? ॥ ३९ ॥ कहीं किसीने दुर्भावपूर्ण अमङ्गल शब्द आदिके द्वारा तुम्हारा चित्त तो नहीं दुखाया ? अथवा किसी आशासे तुम्हारे पास आये हुए याचकोंको उनकी माँगी हुई वस्तु अथवा अपनी ओरसे कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके भी तुम नहीं दे सके ? ॥४०॥ तुम सदा शरणागतोंकी रक्षा करते आये हो; कहीं किसी भी ब्राह्मण, बालक, गौ, बूढ़े, रोगी, अबला अथवा अन्य किसी प्राणीका, जो तुम्हारी शरणमें आया हो, तुमने त्याग तो नहीं कर दिया ? ॥४१॥ कहीं तुमने अगम्या स्त्रीसे समागम तो नहीं किया ! अथवा गमन करनेयोग्य स्त्रीके साथ असत्कारपूर्वक समागम तो नहीं किया ? कहीं मार्गमें अपनेसे छोटे अथवा बराबरीवालोंसे हार तो नहीं गये ! ॥ ४२ ॥ अथवा भोजन करानेयोग्य बालक और बूढ़ोंको छोड़कर तुमने अकेले ही तो भोजन नहीं कर लिया ! मेरा विश्वास है कि तुमने ऐसा कोई निन्दित काम तो नहीं किया होगा, जो तुम्हारे योग्य न हो ॥ ४३ ॥ हो-न-हो अपने परम प्रियतम अभिन्न-हृदय परम सुहृद् भगवान् श्रीकृष्णसे तुम रहित हो गये हो । इसीसे अपनेको शून्य मान रहे हो । इसके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता, जिससे तुमको इतनी मानसिक पीड़ा हो ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरवितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

कृष्णविरहव्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्को राज्य देकर स्वर्ग सिधारना

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्राता राज्ञाऽऽविकल्पितः ।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा अर्जुन एक तो पहले ही श्रीकृष्णके विरहसे कृश हो रहे थे; उसपर राजा युधिष्ठिरने उनकी विषादग्रस्त मुद्रा देखकर उसके विषयमें कई प्रकारकी आशङ्काएँ करते हुए प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—रुदन्तं । २. प्रा० पा०—शरण्यो० । ३. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें बालवृद्धकान् । इसके बाद यह श्लोकार्ध अधिक है—'उपेक्ष्यातिथिभृत्यांश्च गर्भिण्यातुरकन्यकाः ।' ४. प्रा० पा०—कृतं वा यद् । ५. प्रा० पा०—पारीक्षितोपाख्याने युधिष्ठिरारिष्टदर्शनं चतु० । ६. प्रा० पा०—न शशाकास्य गदितुम् ।

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥
कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्ध[1]प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥
सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

अर्जुन[2] उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥
यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधि[3]गता च कृष्णा ॥ ७ ॥

यत्संनिधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥

यत्तेजसा[4] नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

शोकसे अर्जुनका मुख और हृदय-कमल सूख गया था, चेहरा फीका पड़ गया था । वे उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें ऐसे डूब रहे थे कि बड़े भाईके प्रश्नोंका कुछ भी उत्तर न दे सके ॥ २ ॥ श्रीकृष्णके आँखोंसे ओझल हो जानेके कारण वे बढ़ी हुई प्रेमजनित उत्कण्ठाके परवश हो रहे थे । रथ हाँकने, टहलने आदिके समय भगवान्‌ने उनके साथ जो मित्रता, अभिन्नहृदयता और प्रेमसे भरे हुए व्यवहार किये थे, उनकी याद-पर-याद आ रही थी; बड़े कष्टसे उन्होंने अपने शोकका वेग रोका, हाथसे नेत्रोंके आँसू पोंछे और फिर रुँधे हुए गलेसे अपने बड़े भाई महाराज युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३-४ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! मेरे ममेरे भाई अथवा अत्यन्त घनिष्ठ मित्रका रूप धारणकर श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया । मेरे जिस प्रबल पराक्रमसे बड़े-बड़े देवता भी आश्चर्यमें डूब जाते थे, उसे श्रीकृष्णने मुझसे छीन लिया ॥ ५ ॥ जैसे यह शरीर प्राणसे रहित होनेपर मृतक कहलाता है, वैसे ही उनके क्षणभरके वियोगसे यह संसार अप्रिय दीखने लगता है ॥ ६ ॥ उनके आश्रयसे द्रौपदी-स्वयंवरमें राजा द्रुपदके घर आये हुए कामोन्मत्त राजाओंका तेज मैंने हरण कर लिया, धनुषपर बाण चढ़ाकर मत्स्यवेध किया और इस प्रकार द्रौपदीको प्राप्त किया था ॥ ७ ॥ उनकी सन्निधिमात्रसे मैंने समस्त देवताओंके साथ इन्द्रको अपने बलसे जीतकर अग्निदेवको उनकी तृप्तिके लिये खाण्डव वनका दान कर दिया और मय दानवकी निर्माण की हुई अलौकिक कलाकौशलसे युक्त मायामयी सभा प्राप्त की और आपके यज्ञमें सब ओरसे आ-आकर राजाओंने अनेकों प्रकारकी भेंटें समर्पित कीं ॥ ८ ॥ दस हजार हाथियोंकी शक्ति और बलसे सम्पन्न आपके इन छोटे भाई भीमसेनने उन्हींकी शक्तिसे राजाओंके सिरपर पैर रखनेवाले अभिमानी जरासन्धका वध किया था; तदनन्तर उन्हीं भगवान्‌ने उन बहुत-से राजाओंको मुक्त किया, जिनको जरासन्धने महाभैरव-यज्ञमें बलि चढ़ानेके लिये बंदी बना रक्खा था । उन सब राजाओंने आपके यज्ञमें अनेकों

१. प्रा० पा०—सुसंनद्ध० । २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ३. प्रा० पा०—धनुषा विजिता । ४. प्राचीन प्रतिमें 'यत्तेजसा' से लेकर 'बलिमध्वरे ते' तक एक श्लोक नहीं है ।

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-

श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।

स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या

यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥१०॥

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्

दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ।

शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं

तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसंघः ॥११॥

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-

र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।

अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण

प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥१२॥

प्रकारके उपहार दिये थे ॥९॥ महारानी द्रौपदी राजसूय-यज्ञके महान् अभिषेकसे पवित्र हुए अपने उन सुन्दर केशोंको, जिन्हें दुष्टोंने भरी सभामें छूनेका साहस किया था, बिखेरकर तथा आँखोंमें आँसू भरकर जब श्रीकृष्ण-के चरणोंमें गिर पड़ी, तब उन्होंने उसके सामने उसके उस घोर अपमानका बदला लेनेकी प्रतिज्ञा करके उन धूर्तोंकी स्त्रियोंकी ऐसी दशा कर दी कि वे विधवा हो गयीं और उन्हें अपने केश अपने हाथों खोल देने पड़े ॥१०॥ वनवासके समय हमारे वैरी दुर्योधनके षड्यन्त्रसे दस हजार शिष्योंको साथ बिठाकर भोजन करनेवाले महर्षि दुर्वासाने हमें दुस्तर सङ्कटमें डाल दिया था। उस समय उन्होंने द्रौपदीके पात्रमें बची हुई शाककी एक पत्तीका ही भोग लगाकर हमारी रक्षा की। उनके ऐसा करते ही नदीमें स्नान करती हुई मुनिमण्डली-को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उनकी तो बात ही क्या, सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो गयी है* ॥ ११ ॥ उनके प्रतापसे मैंने युद्धमें पार्वतीसहित भगवान् शङ्करको आश्चर्यमें डाल दिया तथा उन्होंने मुझको अपना पाशुपत नामक अस्त्र दिया; साथ ही दूसरे लोकपालों-ने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने अस्त्र मुझे दिये; और तो क्या, उनकी कृपासे मैं इसी शरीरसे स्वर्गमें गया और देवराज इन्द्रकी सभामें उनके बराबर आधे आसन-पर बैठनेका सम्मान मैंने प्राप्त किया ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—गात्रः । २. प्रा० पा०—ऽस्त्रधरं ददन्मे ।

* एक बार राजा दुर्योधनने महर्षि दुर्वासाकी बड़ी सेवा की। उससे प्रसन्न होकर मुनिने दुर्योधनसे वर माँगनेको कहा। दुर्योधनने यह सोचकर कि ऋषिके शापसे पाण्डवोंको नष्ट करनेका अच्छा अवसर है, मुनिसे कहा—"ब्रह्मन्! हमारे कुलमें युधिष्ठिर प्रधान हैं, आप अपने दस सहस्र शिष्योंसहित उनका आतिथ्य स्वीकार करें। किंतु आप उनके यहाँ उस समय जायँ जब कि द्रौपदी भोजन कर चुकी हो, जिससे उसे भूखका कष्ट न उठाना पड़े।" द्रौपदीके पास सूर्यकी दी हुई एक ऐसी बटलोई थी, जिसमें सिद्ध किया हुआ अन्न द्रौपदीके भोजन कर लेनेसे पूर्व शेष नहीं होता था किंतु उसके भोजन करनेके बाद वह समाप्त हो जाता था। दुर्वासाजी दुर्योधनके कथनानुसार उसके भोजन कर चुकनेपर मध्याह्नमें अपनी शिष्यमण्डलीसहित पहुँचे और धर्मराजसे बोले—"हम नदीपर स्नान करने जाते हैं, तुम हमारे लिये भोजन तैयार रखना।" इससे द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई और उसने अति आर्त होकर आर्तबन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण ली। भगवान् तुरंत ही अपना विलासभवन छोड़कर द्रौपदीकी झोंपड़ीपर आये और उससे बोले—"कृष्णे! आज बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो।" द्रौपदी भगवान्‌की इस अनुपम दयासे गद्गद हो गयी और बोली—"प्रभो! मेरा बड़ा भाग्य है, जो आज विश्वम्भरने मुझसे भोजन माँगा; परंतु क्या करूँ ? अब तो कुटीमें कुछ भी नहीं है।" भगवान्‌ने कहा—"अच्छा, वह पात्र तो लाओ, उसमें कुछ होगा ही।" द्रौपदी बटलोई ले आयी; उसमें कहीं शाकका एक कण लगा था। विश्वात्मा हरिने उसीको भोग लगाकर त्रिलोकीको तृप्त कर दिया और भीमसेनसे कहा कि मुनिमण्डलीको भोजनके लिये बुला लाओ। किंतु मुनिगण तो पहले ही तृप्त होकर भाग गये थे। (महाभारत)

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥१३॥

उनके आग्रहसे जब मैं स्वर्गमें ही कुछ दिनोंतक रह गया, तब इन्द्रके साथ समस्त देवताओंने मेरी इन्हीं गाण्डीव धारण करनेवाली भुजाओंका निवातकवच आदि दैत्योंको मारनेके लिये आश्रय लिया। महाराज ! यह सब जिनकी महती कृपाका फल था, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने मुझे आज ठग लिया ! ॥ १३ ॥

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतार्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥१४॥

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥१५॥

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥१६॥

महाराज ! कौरवोंकी सेना भीष्म-द्रोण आदि अजेय महामत्स्योंसे पूर्ण अपार समुद्रके समान दुस्तर थी, परंतु उनका आश्रय ग्रहण करके अकेले ही रथपर सवार हो मैं उसे पार कर गया । उन्हींकी सहायतासे आपको याद होगा, मैंने शत्रुओंसे राजा विराट्का सारा गोधन तो वापिस ले ही लिया, साथ ही उनके सिरोंपरसे चमकते हुए मणिमय मुकुट तथा अङ्गोंके अलङ्कारतक छीन लिये ॥ १४ ॥ भाईजी ! कौरवोंकी सेना भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य तथा अन्य बड़े-बड़े राजाओं और क्षत्रिय वीरोंके रथोंसे शोभायमान थी। उसके सामने मेरे आगे-आगे चलकर वे अपनी दृष्टिसे ही उन महारथी यूथपतियोंकी आयु, मन, उत्साह और बलको छीन लिया करते थे ॥ १५ ॥ द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि वीरोंने मुझपर अपने कभी न चूकनेवाले अस्त्र चलाये थे; परंतु जैसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंके अस्त्र-शस्त्र भगवद्भक्त प्रह्लादका स्पर्श नहीं करते थे, वैसे ही उनके शस्त्रास्त्र मुझे छूतक नहीं सके। यह श्रीकृष्णके भुजदण्डोंकी छत्रच्छायामें रहनेका ही प्रभाव था ॥ १६ ॥

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥१७॥

श्रेष्ठ पुरुष संसारसे मुक्त होनेके लिये जिनके चरणकमलोंका सेवन करते हैं, अपने-आपतकको दे डालनेवाले उन भगवान्को मुझ दुर्बुद्धिने सारथितक बना डाला। अहा ! जिस समय मेरे घोड़े थक गये थे और मैं रथसे उतरकर पृथ्वीपर खड़ा था, उस समय बड़े-बड़े महारथी शत्रु भी मुझपर प्रहार न कर सके; क्योंकि श्रीकृष्णके प्रभावसे उनकी बुद्धि मारी गयी थी ॥ १७ ॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।

महाराज ! माधवके उन्मुक्त और मधुर मुसकानसे युक्त, विनोदभरे एवं हृदयस्पर्शी वचन और उनका मुझे 'पार्थ, अर्जुन, सखा, कुरुनन्दन' आदि कहकर पुकारना,

१. प्रा० पा०—पुरु । २. प्रा० पा०—कृप । ३. प्रा० पा०—सह उज्जहार । ४. प्रा० पा०—कर्मा ।

संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥१८॥
शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥१९॥
सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥२०॥
तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥२१॥
राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥२२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥२३॥
प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः॥२४॥
जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।
दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥२५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः ।

मुझे याद आनेपर मेरे हृदयमें उथल-पुथल मचा देते हैं॥ १८॥ सोने, बैठने, टहलने और अपने सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी बातें करने तथा भोजन आदि करनेमें हम प्रायः एक साथ रहा करते थे। किसी-किसी दिन मैं व्यंग्यसे उन्हें कह बैठता—'मित्र! तुम तो बड़े सत्यवादी हो!' उस समय भी वे महापुरुष अपनी महानुभावताके कारण, जैसे मित्र अपने मित्रका और पिता अपने पुत्रका अपराध सह लेता है, उसी प्रकार मुझ दुर्बुद्धिके अपराधोंको सह लिया करते थे॥ १९॥ महाराज! जो मेरे सखा, प्रिय मित्र—नहीं-नहीं मेरे हृदय ही थे, उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान्‌से मैं रहित हो गया हूँ। भगवान्‌की पत्नियोंको द्वारकासे अपने साथ ला रहा था, परंतु मार्गमें दुष्ट गोपोंने मुझे एक अबलाकी भाँति हरा दिया और मैं उनकी रक्षा नहीं कर सका ॥२०॥ वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही बाण हैं, वही रथ है, वही घोड़े हैं और वही मैं रथी अर्जुन हूँ, जिसके सामने बड़े-बड़े राजा लोग सिर झुकाया करते थे। श्रीकृष्णके बिना ये सब एक ही क्षणमें नहींके समान सारशून्य हो गये—ठीक उसी तरह, जैसे भस्ममें डाली हुई आहुति, कपटभरी सेवा और ऊसरमें बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है॥ २१॥

राजन्! आपने द्वारकावासी अपने जिन सुहृद्-सम्बन्धियोंकी बात पूछी है, वे ब्राह्मणोंके शापवश मोहग्रस्त हो गये और वारुणी मदिराके पानसे मदोन्मत्त होकर अपरिचितोंकी भाँति आपसमें ही एक-दूसरेसे भिड़ गये और घूँसोंसे मार-पीट करके सब-के-सब नष्ट हो गये। उनमेंसे केवल चार-पाँच ही बचे हैं॥ २२-२३॥ वास्तवमें यह सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की ही लीला है कि संसारके प्राणी परस्पर एक-दूसरेका पालन-पोषण भी करते हैं और एक-दूसरेको मार भी डालते हैं ॥२४॥ राजन्! जिस प्रकार जलचरोंमें बड़े जन्तु छोटोंको, बलवान् दुर्बलोंको एवं बड़े और बलवान् भी परस्पर एक-दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अतिशय बली और बड़े यदुवंशियोंके द्वारा भगवान्‌ने दूसरे राजाओंका संहार कराया। तत्पश्चात् यदुवंशियोंके द्वारा ही एकसे दूसरे

यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् संजहार ह ॥२६॥

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।

हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥२७॥

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्देनातिगाढेन शान्ताऽऽसीद्विमला मतिः ॥२८॥
वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा ।

भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥२९॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् संग्राममूर्धनि ।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् विभुः ॥३०॥

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।

लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥३१॥
निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥३२॥
पृथाप्यनुश्रुत्य धनंजयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥३३॥

यर्याहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।

कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥३४॥
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥३५॥
यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।

यदुवंशीका नाश कराके पूर्णरूपसे पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ २५-२६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने मुझे जो शिक्षाएँ दी थीं, वे देश, काल और प्रयोजनके अनुरूप तथा हृदयके तापको शान्त करनेवाली थीं, स्मरण आते ही वे हमारे चित्तका हरण कर लेती हैं ॥ २७ ॥

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका चिन्तन करते-करते अर्जुनकी चित्तवृत्ति अत्यन्त निर्मल और प्रशान्त हो गयी॥२८॥ उनकी प्रेममयी भक्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके अहर्निश चिन्तनसे अत्यन्त बढ़ गयी। भक्तिके वेगने उनके हृदयको मथकर उसमेंसे सारे विकारोंको बाहर निकाल दिया॥२९॥ उन्हें युद्धके प्रारम्भमें भगवान्‌के द्वारा उपदेश किया हुआ गीता-ज्ञान पुनः स्मरण हो आया, जिसकी काल-के व्यवधान और कर्मोंके विस्तारके कारण प्रमादवश कुछ दिनोंके लिये विस्मृति हो गयी थी॥३०॥ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिसे मायाका आवरण भङ्ग होकर गुणातीत अवस्था प्राप्त हो गयी। द्वैतका संशय निवृत्त हो गया। सूक्ष्मशरीर भङ्ग हुआ। वे शोक एवं जन्म-मृत्युके चक्रसे सर्वथा मुक्त हो गये ॥ ३१ ॥

भगवान्‌के स्वधाम-गमन और यदुवंशके संहारका वृत्तान्त सुनकर निश्चलमति युधिष्ठिरने स्वर्गारोहणका निश्चय किया ॥ ३२ ॥ कुन्तीने भी अर्जुनके मुखसे यदुवंशियोंके नाश और भगवान्‌के स्वधाम-गमनकी बात सुनकर अनन्य भक्तिसे अपने हृदयको भगवान् श्रीकृष्णमें लगा दिया और सदाके लिये इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे अपना मुँह मोड़ लिया ॥ ३३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने लोकदृष्टिमें जिस यादवशरीरसे पृथ्वीका भार उतारा था, उसका वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे कोई काँटेसे काँटा निकालकर फिर दोनोंको फेंक दे। भगवान्‌की दृष्टिमें दोनों ही समान थे ॥ ३४ ॥ जैसे वे नटके समान मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और फिर उनका त्याग कर देते हैं, वैसे ही उन्होंने जिस यादवशरीरसे पृथ्वीका भार दूर किया था, उसे त्याग भी दिया ॥ ३५ ॥ जिनकी मधुर लीलाएँ श्रवण करनेयोग्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने जब अपने मनुष्यके-से शरीरसे इस पृथ्वीका

१. प्राचीन प्रतिमें 'यर्याहरद्भुवो भारं' से लेकर 'जहौ तच्च कलेवरम् ॥' तक दो श्लोक नहीं हैं; विजयध्वजने भी इन दोनों श्लोकोंको तथा इनके पूर्ववर्ती श्लोकको भी नहीं माना है। भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य चिन्मय स्वरूपभूत शरीरका त्याग सम्भव नहीं, अतएव इन दो श्लोकोंको भक्तोंने नहीं माना है। प्राचीन प्रतिमें न होनेसे भी यही सिद्ध होता है।

तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मधर्महेतुः[1] कलिरन्ववर्तत ॥३६॥
युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः[2]
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथाऽऽत्मनि ।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥३७॥
स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः[3] सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥३८॥

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥३९॥
विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।
निर्ममो निरहंकारः संछिन्नाशेषबन्धनः ॥४०॥

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।

मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥४१॥

त्रित्वे हुत्वाथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।

सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥४२॥

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ् मुक्तमूर्धजः ।

दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥४३॥

अनपेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ।

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥४४॥

सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः[4] कृतनिश्चयाः ।

परित्याग कर दिया, उसी दिन विचारहीन लोगोंको अधर्ममें फँसानेवाला कलियुग आ धमका ॥३६॥ महाराज युधिष्ठिरसे कलियुगका फैलना छिपा न रहा। उन्होंने देखा—देशमें, नगरमें, घरोंमें और प्राणियोंमें लोभ, असत्य, छल, हिंसा आदि अधर्मोंकी बढ़ती हो गयी है। तब उन्होंने महाप्रस्थानका निश्चय किया ॥ ३७ ॥ उन्होंने अपने विनयी पौत्र परीक्षित्‌को, जो गुणोंमें उन्हींके समान थे, समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वीके सम्राट्-पदपर हस्तिनापुरमें अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने मथुरामें शूरसेनाधिपतिके रूपमें अनिरुद्धके पुत्र वज्रका अभिषेक किया। इसके बाद समर्थ युधिष्ठिरने प्राजापत्य यज्ञ करके आहवनीय आदि अग्नियोंको अपनेमें लीन कर दिया अर्थात् गृहस्थाश्रमके धर्मसे मुक्त होकर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया ॥ ३९ ॥ युधिष्ठिरने अपने सब वस्त्राभूषण आदि वहीं छोड़ दिये, एवं ममता और अहंकारसे रहित होकर समस्त बन्धन काट डाले ॥ ४० ॥ उन्होंने दृढ़ भावनासे वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी क्रियाके साथ मृत्युमें तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन कर लिया ॥४१॥ इस प्रकार शरीरको मृत्युरूप अनुभव करके उन्होंने उसे त्रिगुणमें मिला दिया, त्रिगुणको मूल प्रकृतिमें, सर्वकारणरूपा प्रकृतिको आत्मामें और आत्माको अविनाशी ब्रह्ममें विलीन कर दिया। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि यह सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप है ॥ ४२ ॥ इसके पश्चात् उन्होंने शरीरपर चीर-वस्त्र धारण कर लिया, अन्न-जलका त्याग कर दिया, मौन ले लिया और केश खोलकर बिखेर लिये। वे अपने रूपको ऐसा दिखाने लगे जैसे कोई जड, उन्मत्त या पिशाच हो ॥ ४३ ॥ फिर वे बिना किसीकी बाट देखे तथा बहरेकी तरह बिना किसीकी बात सुने, घरसे निकल पड़े। हृदयमें उस परब्रह्मका ध्यान करते हुए, जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं होता, उन्होंने उत्तर दिशाकी यात्रा की, जिस ओर पहले बड़े-बड़े महात्मा जन जा चुके हैं ॥ ४४ ॥

भीमसेन, अर्जुन आदि युधिष्ठिरके छोटे भाइयोंने भी देखा कि अब पृथ्वीमें सभी लोगोंको अधर्मके सहायक

१. प्रा० पा०—अभद्रहेतुः । २. प्रा० पा०—बुधो गृहे सराष्ट्रे च पुरे तदा० । ३. प्रा० पा०—विनियतमात्मनः । ४. प्रा० पा०—ग्मुस्त्वरिताः ।

कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥४५॥
ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वाऽऽत्यन्तिकमात्मनः ।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥४६॥
तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।
तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषास्थाने विरजेनात्मनैव हि ॥४८॥
विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मवान् ।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥४९॥
द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥५०॥

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥५१॥

कलियुगने प्रभावित कर डाला है; इसलिये वे भी श्रीकृष्ण-चरणोंकी प्राप्तिका दृढ़ निश्चय करके अपने बड़े भाईके पीछे-पीछे चल पड़े ॥ ४५ ॥ उन्होंने जीवनके सभी लाभ भलीभाँति प्राप्त कर लिये थे; इसलिये यह निश्चय करके कि भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमल ही हमारे परम पुरुषार्थ हैं, उन्होंने उन्हें हृदयमें धारण किया ॥ ४६ ॥ पाण्डवोंके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके ध्यानसे भक्तिभाव उमड़ आया, उनकी बुद्धि सर्वथा शुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णके उस सर्वोत्कृष्ट स्वरूपमें अनन्य भावसे स्थिर हो गयी; जिसमें निष्पाप पुरुष ही स्थिर हो पाते हैं। फलतः उन्होंने अपने विशुद्ध अन्तःकरणसे स्वयं ही वह गति प्राप्त की, जो विषयासक्त दुष्ट मनुष्योंको कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ४७-४८ ॥ संयमी एवं श्रीकृष्णके प्रेमावेशमें मुग्ध भगवन्मय विदुरजीने भी अपने शरीरको प्रभास-क्षेत्रमें त्याग दिया। उस समय उन्हें लेनेके लिये आये हुए पितरोंके साथ वे अपने लोक (यमलोक) को चले गये ॥ ४९ ॥ द्रौपदीने देखा कि अब पाण्डवलोग निरपेक्ष हो गये हैं; तब वे अनन्य प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णका ही चिन्तन करके उन्हें प्राप्त हो गयीं ॥ ५० ॥

भगवान्के प्यारे भक्त पाण्डवोंके महाप्रयाणकी इस परम पवित्र और मङ्गलमयी कथाको जो पुरुष श्रद्धासे सुनता है, वह निश्चय ही भगवान्की भक्ति और मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
पाण्डवस्वर्गारोहणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

परीक्षित्की दिग्विजय तथा धर्म और पृथ्वीका संवाद

सूत उवाच

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! पाण्डवोंके महाप्रयाण-के पश्चात् भगवान्के परम भक्त राजा परीक्षित् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी शिक्षाके अनुसार पृथ्वीका शासन करने लगे। उनके जन्मके समय ज्योतिषियोंने उनके सम्बन्धमें जो कुछ कहा था, वास्तवमें वे सभी महान् गुण उनमें

१. प्रा० पा०—सत्त्वार्थाः । २. प्रा० पा०—गतयो । ३. प्रा० पा०—देहमात्मनः ।

स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम् ।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान् ॥ २ ॥
आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः ॥ ३ ॥
निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४ ॥

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः ।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रकोऽसौ गां यः पदाहनत् ।
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ॥ ५ ॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः ॥ ६ ॥
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।
इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥ ७ ॥
न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्त इहान्तकः ।
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥
मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै ।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ९ ॥

सूत उवाच

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसत्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते ।

विद्यमान थे ॥ १ ॥ उन्होंने उत्तरकी पुत्री इरावतीसे विवाह किया । उससे उन्होंने जनमेजय आदि चार पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥ तथा कृपाचार्यको आचार्य बनाकर उन्होंने गङ्गाके तटपर तीन अश्वमेध-यज्ञ किये, जिनमें ब्राह्मणोंको पुष्कल दक्षिणा दी गयी । उन यज्ञोंमें देवताओंने प्रत्यक्षरूपमें प्रकट होकर अपना भाग ग्रहण किया था ॥ ३ ॥ एक बार दिग्विजय करते समय उन्होंने देखा कि शूद्रके रूपमें कलियुग राजाका वेष धारण करके एक गाय और बैलके जोड़ेको ठोकरोंसे मार रहा है । तब उन्होंने उसे बलपूर्वक पकड़कर दण्ड दिया ॥ ४ ॥

शौनकजीने पूछा—महाभाग्यवान् सूतजी ! दिग्विजयके समय महाराज परीक्षित्‌ने कलियुगको दण्ड देकर ही क्यों छोड़ दिया—मार क्यों नहीं डाला ? क्योंकि राजाका वेष धारण करनेपर भी था तो वह अधम शूद्र ही, जिसने गायको लातसे मारा था ? यदि यह प्रसङ्ग भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे अथवा उनके चरणकमलोंके मकरन्द-रसका पान करनेवाले रसिक महानुभावोंसे सम्बन्ध रखता हो तो अवश्य कहिये । दूसरी व्यर्थकी बातोंसे क्या लाभ । उनमें तो आयु व्यर्थ नष्ट होती है ॥ ५-६ ॥ प्यारे सूतजी ! जो लोग चाहते तो हैं मोक्ष परंतु अल्पायु होनेके कारण मृत्युसे ग्रस्त हो रहे हैं, उनके कल्याणके लिये भगवान् यमका आवाहन करके उन्हें यहाँ शान्तिकर्ममें नियुक्त कर दिया गया है ॥ ७ ॥ जबतक यमराज यहाँ इस कर्ममें नियुक्त हैं, तबतक किसीकी मृत्यु नहीं होगी । मृत्युसे ग्रस्त मनुष्यलोकके जीव भी भगवान्‌की सुधातुल्य लीला-कथाका पान कर सकें, इसीलिये महर्षियोंने भगवान् यमको यहाँ बुलाया है ॥ ८ ॥ एक तो थोड़ी आयु और दूसरे कम समझ । ऐसी अवस्थामें संसारके मन्दभाग्य विषयी पुरुषोंकी आयु व्यर्थ ही बीती जा रही है—नींदमें रात और व्यर्थके कामोंमें दिन ॥ ९ ॥

सूतजीने कहा—जिस समय राजा परीक्षित् कुरुजाङ्गल देशमें सम्राट्‌के रूपमें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि मेरी सेनाद्वारा सुरक्षित साम्राज्यमें कलियुगका प्रवेश हो गया है । इस समाचारसे उन्हें

१. प्राचीन प्रतिमें 'शारद्वतं'से लेकर 'यत्राक्षिगोचराः' तक नहीं है । २. प्रा० पा०—विष्णु० । ३. प्रा० पा०—भगवानुपहूतो महर्षिभिः ।

निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥१०॥
स्वलंकृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥११॥
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् ।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥१२॥
तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।
प्रगीयमाणं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥१३॥
आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥१४॥
तेभ्यः परमसंतुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥१५॥
सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥१६॥
तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् ।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे ॥१७॥

दुःख तो अवश्य हुआ; परंतु यह सोचकर कि युद्ध करनेका अवसर हाथ लगा, वे उतने दुखी नहीं हुए। इसके बाद युद्धवीर परीक्षित्ने धनुष हाथमें ले लिया ॥ १० ॥ वे श्यामवर्णके घोड़ोंसे जुते हुए, सिंहकी ध्वजावाले, सुसज्जित, रथपर सवार होकर दिग्विजय करनेके लिये नगरसे बाहर निकल पड़े। उस समय रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेना उनके साथ-साथ चल रही थी ॥ ११ ॥ उन्होंने भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तरकुरु और किम्पुरुष आदि सभी वर्षोंको जीतकर वहाँके राजाओंसे भेंट ली ॥ १२ ॥ उन्हें उन देशोंमें सर्वत्र अपने पूर्वज महात्माओंका सुयश सुननेको मिला। उस यशोगानसे पद-पदपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा प्रकट होती थी ॥ १३ ॥ इसके साथ ही उन्हें यह भी सुननेको मिलता था कि भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे किस प्रकार उनकी रक्षा की थी, यदुवंशी और पाण्डवोंमें परस्पर कितना प्रेम था तथा पाण्डवोंकी भगवान् श्रीकृष्णमें कितनी भक्ति थी ॥ १४ ॥ जो लोग उन्हें ये चरित्र सुनाते, उनपर महामना राजा परीक्षित् बहुत प्रसन्न होते; उनके नेत्र प्रेमसे खिल उठते। वे बड़ी उदारतासे उन्हें बहुमूल्य वस्त्र और मणियोंके हार उपहाररूपमें देते ॥ १५ ॥ वे सुनते कि भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमपरवश होकर पाण्डवोंके सारथिका काम किया, उनके सभासद् बने—यहाँतक कि उनके मनके अनुसार काम करके उनकी सेवा भी की। उनके सखा तो थे ही, दूत भी बने। वे रातको शस्त्र ग्रहण करके वीरासनसे बैठ जाते और शिविरका पहरा देते, उनके पीछे-पीछे चलते, स्तुति करते तथा प्रणाम करते; इतना ही नहीं, अपने प्रेमी पाण्डवोंके चरणोंमें उन्होंने सारे जगत्को झुका दिया। तब परीक्षित्की भक्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें और भी बढ़ जाती ॥ १६ ॥ इस प्रकार वे दिन-दिन पाण्डवोंके आचरणका अनुसरण करते हुए दिग्विजय कर रहे थे। उन्हीं दिनों उनके शिविरसे थोड़ी ही दूरपर एक आश्चर्यजनक घटना घटी। वह मैं आपको सुनाता हूँ ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—शौण्ड आददे । २. प्रा० पा०—गीयमानं च पुरतः । ३. प्रा० पा०—सूचनम् । ४. प्रा० पा०—स ।

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।

पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥१८॥

धर्म बैलका रूप धारण करके एक पैरसे घूम रहा था। एक स्थानपर उसे गायके रूपमें पृथ्वी मिली। पुत्रकी मृत्युसे दुःखिनी माताके समान उसके नेत्रोंसे आँसुओंके झरने झर रहे थे। उसका शरीर श्रीहीन हो गया था। धर्म पृथ्वीसे पूछने लगा ॥ १८ ॥

धर्म[1] उवाच

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥१९॥

पादैर्न्यूनं[2] शोचसि मैकपाद-
मात्मानं[3] वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥२०॥

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥२१॥

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।
इतस्ततो वाशनपानवासः-[4]
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥२२॥

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार-
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥२३॥

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि ।

धर्मने कहा—कल्याणि ! कुशलसे तो हो न ? तुम्हारा मुख कुछ-कुछ मलिन हो रहा है। तुम श्रीहीन हो रही हो। मालूम होता है, तुम्हारे हृदयमें कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य है। क्या तुम्हारा कोई सम्बन्धी दूर देशमें चला गया है, जिसके लिये तुम इतनी चिन्ता कर रही हो ? ॥ १९ ॥ कहीं तुम मेरी तो चिन्ता नहीं कर रही हो कि अब इसके तीन पैर टूट गये, एक ही पैर रह गया है ? सम्भव है, तुम अपने लिये शोक कर रही हो कि अब शूद्र तुम्हारे ऊपर शासन करेंगे। तुम्हें इन देवताओंके लिये भी खेद हो सकता है, जिन्हें अब यज्ञोंमें आहुति नहीं दी जाती अथवा उस प्रजाके लिये भी, जो वर्षा न होनेके कारण अकाल एवं दुर्भिक्षसे पीड़ित हो रही है ॥ २० ॥ देवि ! क्या तुम राक्षस-सरीखे मनुष्योंके द्वारा सतायी हुई अरक्षित स्त्रियों एवं आर्तबालकोंके लिये शोक कर रही हो ? सम्भव है, विद्या अब कुकर्मी ब्राह्मणोंके चंगुलमें पड़ गयी है और ब्राह्मण विप्रद्रोही राजाओंकी सेवा करने लगे हैं और इसीका तुम्हें दुःख हो ॥ २१ ॥ आजके नाममात्रके राजा तो सोलहों आने कलियुगी हो गये हैं, उन्होंने बड़े-बड़े देशोंको भी उजाड़ डाला है। क्या तुम उन राजाओं या देशोंके लिये शोक कर रही हो ? आजकी जनता खान-पान, वस्त्र, स्नान और स्त्री-सहवास आदिमें शास्त्रीय नियमोंका पालन न करके स्वेच्छाचार कर रही है; क्या इसके लिये तुम दुखी हो ? ॥ २२ ॥ मा पृथ्वी ! अब समझमें आया, हो-न-हो तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णकी याद आ रही होगी; क्योंकि उन्होंने तुम्हारा भार उतारनेके लिये ही अवतार लिया था और ऐसी लीलाएँ की थीं, जो मोक्षका भी अवलम्बन हैं। अब उनके लीला संवरण कर लेनेपर उनके परित्यागसे तुम दुखी हो रही हो ॥२३॥ देवि ! तुम तो धन-रत्नोंकी खान हो। तुम अपने क्लेशका कारण, जिससे तुम इतनी दुर्बल हो गयी हो, मुझे

१. प्राचीन प्रतिमें 'धर्म उवाच' नहीं है। २. प्रा० पा०—पादन्यूनं। ३. प्रा० पा०—युतात्मानं वृष०। ४. प्रा० पा०—वाससा उत व्यवा०।

कालेन वा ते बलिनां बलीयसा

सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम् ॥२४॥

धरण्युवाच[1]

भवान्[2] हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि ।

चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ॥२५॥

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः[3] सन्तोष आर्जवम् ।

शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥२६॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः[4] ।

स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं[5] मार्दवमेव च ॥२७॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।

गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥२८॥

एते[6] चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।

प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।

शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥३०॥

आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम् ।

देवान् पितॄनृषीन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाऽऽश्रमान् ।

ब्रह्मादयो बहुतिथं[7] यदपाङ्गमोक्ष-

कामास्तपः[8] समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।

सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय

यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥३२॥

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः

श्रीमत्पदैर्भगवतः समलंकृताङ्गी ।

बतलाओ । मालूम होता है, बड़े-बड़े बलवानोंको भी हरा देनेवाले कालने देवताओंके द्वारा वन्दनीय तुम्हारे सौभाग्यको छीन लिया है ॥ २४ ॥

पृथ्वीने कहा—धर्म ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब स्वयं जानते हो । जिन भगवान्‌के सहारे तुम सारे संसारको सुख पहुँचानेवाले अपने चारों चरणोंसे युक्त थे; जिनमें सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्त्ति, गौरव और निरहङ्कारता—ये उन्तालीस अप्राकृत गुण तथा महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंके द्वारा वाञ्छनीय (शरणागतवत्सलता आदि) और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते—उन्हीं समस्त गुणोंके आश्रय, सौन्दर्यधाम भगवान् श्रीकृष्णने इस समय इस लोकसे अपनी लीला संवरण कर ली और यह संसार पापमय कलियुगकी कुदृष्टिका शिकार हो गया । यही देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है ॥ २५—३० ॥ अपने लिये, देवताओंमें श्रेष्ठ तुम्हारे लिये, देवता, पितर, ऋषि, साधु और समस्त वर्णों तथा आश्रमोंके मनुष्योंके लिये मैं शोकग्रस्त हो रही हूँ ॥ ३१ ॥ जिनका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मा आदि देवता भगवान्‌के शरणागत होकर बहुत दिनोंतक तपस्या करते रहे, वही लक्ष्मीजी अपने निवासस्थान कमलवनका परित्याग करके बड़े प्रेमसे जिनके चरणकमलोंकी सुभग छत्रच्छायाका सेवन करती हैं, उन्हीं भगवान्‌के कमल, वज्र, अङ्कुश, ध्वजा आदि चिह्नोंसे युक्त श्रीचरणोंसे विभूषित होनेके कारण मुझे महान् वैभव प्राप्त हुआ था और मेरी तीनों लोकोंसे बढ़कर शोभा हुई थी; परंतु मेरे सौभाग्यका अब अन्त हो गया ! भगवान्‌ने मुझ अभागिनीको

१. प्रा० पा०—धरोवाच । २. प्रा० पा०—भवानेव हि तद्वेद यन्मां । ३. प्रा० पा०—दानं त्यागः । ४. प्रा० पा०—धृतिः । ५. प्रा० पा०—कान्तिः सौभाग्यं मार्दवं क्षमा । ६. प्रा० पा०—इमे । ७. प्रा० पा०—यदनिशं । ८. प्रा० पा०—तपोव्रतधरा भगव० ।

त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो[1] विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥
यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥३४॥
का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ॥३५॥
तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा ।
परीक्षिन्नाम[2] राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥३६॥

छोड़ दिया । मालूम होता है, मुझे अपने सौभाग्यपर गर्व हो गया था, इसीलिये उन्होंने मुझे यह दण्ड दिया है ॥ ३२-३३ ॥

तुम अपने तीन चरणोंके कम हो जानेसे मन-ही-मन कुढ़ रहे थे; अतः अपने पुरुषार्थसे तुम्हें अपने ही अंदर पुनः सब अङ्गोंसे पूर्ण एवं स्वस्थ कर देनेके लिये वे अत्यन्त रमणीय श्यामसुन्दर विग्रहसे यदुवंशमें प्रकट हुए और मेरे बड़े भारी भारको, जो असुरवंशी राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणियोंके रूपमें था, नष्ट कर डाला; क्योंकि वे परम स्वतन्त्र थे ॥ ३४ ॥ जिन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवन, मनोहर मुसकान और मीठी-मीठी बातोंसे सत्यभामा आदि मधुमयी मानिनियोंके मानके साथ धीरजको भी छीन लिया था और जिनके चरण-कमलोंके स्पर्शसे मैं निरन्तर आनन्दसे पुलकित रहती थी, उन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका विरह भला, कौन सह सकती है ॥ ३५ ॥

धर्म और पृथ्वी इस प्रकार आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि उसी समय राजर्षि परीक्षित् पूर्ववाहिनी सरस्वती-के तटपर आ पहुँचे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे पृथ्वीधर्म-संवादो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्द्वारा कलियुगका दमन

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥ १ ॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्[3] ॥ २ ॥
गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! वहाँ पहुँचकर राजा परीक्षित्ने देखा कि एक राजवेषधारी शूद्र हाथमें डंडा लिये हुए है और गाय-बैलके एक जोड़ेको इस तरह पीटता जा रहा है, जैसे उनका कोई स्वामी ही न हो ॥ १ ॥ वह कमल-तन्तुके समान श्वेत रंगका बैल एक पैरसे खड़ा काँप रहा था तथा शूद्रकी ताड़नासे पीड़ित और भयभीत होकर मूत्र-त्याग कर रहा था ॥ २ ॥ धर्मोपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थों-को देनेवाली वह गाय भी बार-बार शूद्रके पैरोंकी ठोकरें

१. प्रा० पा०—तपोविभूतिं । २. प्रा० पा०—पारिक्षिते षोड० । ३. प्रा० पा०—पीडितम् ।

विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥ ३ ॥
पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम् ।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥ ४ ॥
कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली ।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः ॥ ५ ॥
यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना ।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ॥ ६ ॥
त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ॥ ७ ॥
न जातु पौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ॥ ८ ॥
मा सौरभेयात्रशुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम् ।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥
यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः ॥ १० ॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः ।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥ ११ ॥
कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पदं ।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥ १२ ॥
आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥ १३ ॥

खाकर अत्यन्त दीन हो रही थी । एक तो वह स्वयं ही दुबली-पतली थी, दूसरे उसका बछड़ा भी उसके पास नहीं था । उसे भूख लगी हुई थी और उसकी आँखोंसे आँसू बहते जा रहे थे ॥ ३ ॥ स्वर्णजटित रथपर चढ़े हुए राजा परीक्षित्ने अपना धनुष चढ़ाकर मेघके समान गम्भीर वाणीसे उसको ललकारा ॥ ४ ॥ अरे ! तू कौन है, जो बलवान् होकर भी मेरे राज्यके इन दुर्बल प्राणियोंको बलपूर्वक मार रहा है ? तूने नटकी भाँति वेष तो राजाका-सा बना रक्खा है, परंतु कर्मसे तू शूद्र जान पड़ता है ॥ ५ ॥ हमारे दादा अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधार जानेपर इस प्रकार निर्जन स्थानमें निरपराधोंपर प्रहार करनेवाला तू अपराधी है, अतः वधके योग्य है ॥ ६ ॥

उन्होंने धर्मसे पूछा—कमलनालके समान आपका श्वेतवर्ण है । तीन पैर न होनेपर भी आप एक ही पैरसे चलते-फिरते हैं । यह देखकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है । बतलाइये, आप क्या बैलके रूपमें कोई देवता हैं ? ॥ ७ ॥ अभी यह भूमण्डल कुरुवंशी नरपतियोंके बाहुबलसे सुरक्षित है । इसमें आपके सिवा और किसी भी प्राणीकी आँखोंसे शोकके आँसू बहते मैंने नहीं देखे ॥ ८ ॥ धेनुपुत्र ! अब आप शोक न करें । इस शूद्रसे निर्भय हो जायँ । गोमाता ! मैं दुष्टोंको दण्ड देनेवाला हूँ । अब आप रोयें नहीं । आपका कल्याण हो ॥ ९ ॥ देवि ! जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥ राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दुखियोंका दुःख दूर करें । यह महादुष्ट और प्राणियोंको पीड़ित करनेवाला है । अतः मैं अभी इसे मार डालूँगा ॥ ११ ॥ सुरभिनन्दन ! आप तो चार पैरवाले जीव हैं । आपके तीन पैर किसने काट डाले ? श्रीकृष्णके अनुयायी राजाओंके राज्यमें कभी कोई भी आपकी तरह दुखी न हो ॥ १२ ॥ वृषभ ! आपका कल्याण हो । बताइये, आप-जैसे निरपराध साधुओंका अङ्ग-भङ्ग करके किस दुष्टने पाण्डवोंकी कीर्तिमें कलङ्क लगाया

१. प्रा० पा०—कृशां । २. प्रा० पा०—मार्तर्हिंस्यन्ते । ३. प्रा० पा०—राज्ञः । ४. प्रा० पा०—चतुष्पदः ।

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥१४॥
अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः ।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥१५॥
राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम् ।
शासतोऽन्यान् यथा शास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥१६॥

धर्म उवाच

एतद् वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः ।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः ॥१७॥
न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥१८॥
केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥१९॥
अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥२०॥

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम ।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ॥२१॥

राजोवाच

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥२२॥

है ॥ १३ ॥ जो किसी निरपराध प्राणीको सताता है, उसे, चाहे वह कहीं भी रहे, मेरा भय अवश्य होगा । दुष्टोंका दमन करनेसे साधुओंका कल्याण ही होता है ॥ १४ ॥ जो उद्दण्ड व्यक्ति निरपराध प्राणियोंको दुःख देता है, वह चाहे साक्षात् देवता ही क्यों न हो, मैं उसकी बाजूबंदसे विभूषित भुजाको काट डालूँगा ॥ १५ ॥ बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है ॥ १६ ॥

धर्मने कहा—राजन् ! आप महाराज पाण्डुके वंशज हैं। आपका इस प्रकार दुखियोंको आश्वासन देना आपके योग्य ही है; क्योंकि आपके पूर्वजोंके श्रेष्ठ गुणोंने भगवान् श्रीकृष्णको उनका सारथि और दूत आदि बना दिया था ॥ १७ ॥ नरेन्द्र ! शास्त्रोंके विभिन्न वचनोंसे मोहित होनेके कारण हम उस पुरुषको नहीं जानते, जिससे क्लेशोंके कारण उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥ जो लोग किसी भी प्रकारके द्वैतको स्वीकार नहीं करते, वे अपने-आपको ही अपने दुःखका कारण बतलाते हैं। कोई प्रारब्धको कारण बतलाते हैं, तो कोई कर्मको । कुछ लोग स्वभावको, तो कुछ लोग ईश्वरको दुःखका कारण मानते हैं ॥ १९ ॥ किन्हीं-किन्हींका ऐसा भी निश्चय है कि दुःखका कारण न तो तर्कके द्वारा जाना जा सकता है और न वाणीके द्वारा बतलाया जा सकता है । राजर्षे ! अब इनमें कौन-सा मत ठीक है, यह आप अपनी बुद्धिसे ही विचार लीजिये ॥ २० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषिश्रेष्ठ शौनकजी ! धर्मका यह प्रवचन सुनकर सम्राट् परीक्षित् बहुत प्रसन्न हुए, उनका खेद मिट गया । उन्होंने शान्तचित्त होकर उनसे कहा ॥ २१ ॥

परीक्षित्ने कहा—धर्मका तत्त्व जाननेवाले वृषभदेव ! आप धर्मका उपदेश कर रहे हैं । अवश्य ही आप वृषभके रूपमें स्वयं धर्म हैं । (आपने अपनेको दुःख देनेवालेका नाम इसलिये नहीं बताया है कि) अधर्म करनेवालेको जो नरकादि प्राप्त होते हैं, वे ही चुगली करनेवालेको भी मिलते हैं ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—यतस्त । २. प्रा० पा०—मात्मना । ३. प्रा० पा०—विभुम् । ४. प्रा० पा०—द्विजसत्तमाः । ५. प्रा० पा०—प्रत्यचष्ट । ६. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ७. प्रा० पा०—कृतं ।

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः ॥२३॥
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥२४॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥२५॥
इयं च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥२६॥
शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताधुना।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति॥२७॥

अथवा यही सिद्धान्त निश्चित है कि प्राणियोंके मन और वाणीसे परमेश्वरकी मायाके स्वरूपका निरूपण नहीं किया जा सकता ॥ २३ ॥ धर्मदेव ! सत्ययुगमें आपके चार चरण थे—तप, पवित्रता, दया और सत्य । इस समय अधर्मके अंश गर्व, आसक्ति और मदसे तीन चरण नष्ट हो चुके हैं ॥ २४ ॥ अब आपका चौथा चरण केवल 'सत्य' ही बच रहा है । उसीके बलपर आप जी रहे हैं । असत्यसे पुष्ट हुआ यह अधर्मरूप कलियुग उसे भी ग्रास कर लेना चाहता है ॥ २५ ॥ ये गौ माता साक्षात् पृथ्वी हैं । भगवान्‌ने इनका भारी बोझ उतार दिया था और ये उनके राशि-राशि सौन्दर्य बिखेरनेवाले चरण-चिह्नोंसे सर्वत्र उत्सवमयी हो गयी थीं ॥ २६ ॥ अब ये उनसे बिछुड़ गयी हैं । वे साध्वी अभागिनीके समान नेत्रोंमें जल भरकर यह चिन्ता कर रही हैं कि अब राजाका स्वाँग बनाकर ब्राह्मणद्रोही शूद्र मुझे भोगेंगे ॥ २७ ॥

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥२८॥
तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम्।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः ॥२९॥
पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः।
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥३०॥

महारथी परीक्षित्‌ने इस प्रकार धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना दी । फिर उन्होंने अधर्मके कारणरूप कलियुग-को मारनेके लिये तीक्ष्ण तलवार उठायी ॥ २८ ॥ कलियुग ताड़ गया कि ये तो अब मुझे मार ही डालना चाहते हैं; अतः झटपट उसने अपने राजचिह्न उतार डाले और भयविह्वल होकर उनके चरणोंमें अपना सिर रख दिया ॥ २९ ॥ परीक्षित् बड़े यशस्वी, दीनवत्सल और शरणागतरक्षक थे । उन्होंने जब कलियुगको अपने पैरोंपर पड़े देखा तो कृपा करके उसको मारा नहीं, अपि तु हँसते हुए-से उससे कहा ॥ ३० ॥

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किंचित्।
न वर्तितव्यं भवता कथंचन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥३१॥
त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनु प्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥३२॥

परीक्षित् बोले—जब तू हाथ जोड़कर शरण आ गया, तब अर्जुनके यशस्वी वंशमें उत्पन्न हुए किसी भी वीरसे तुझे कोई भय नहीं है । परंतु तू अधर्मका सहायक है, इसलिये तुझे मेरे राज्यमें बिल्कुल नहीं रहना चाहिये ॥ ३१ ॥ तेरे राजाओंके शरीरमें रहनेसे ही लोभ, झूठ, चोरी, दुष्टता, स्वधर्मत्याग, दरिद्रता, कपट, कलह, दम्भ और दूसरे पापोंकी बढ़ती हो रही है ॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—वचसो मनसश्चापि । २. प्रा० पा०—प्रेक्ष्य । ३. प्रा० पा०—बद्धाञ्जलेस्ते ।

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥३३॥
यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यामूर्तिर्[1]यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥३४॥

सूत[2] उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥३५॥

कलिरुवाच

यत्र क्वचन[3] वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥३६॥
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥३७॥

सूत उवाच

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥३८॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं[4] कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥३९॥
अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत् ॥४०॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥४१॥
वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति।

अतः अधर्मके साथी! इस ब्रह्मावर्तमें तू एक क्षणके लिये भी न ठहरना; क्योंकि यह धर्म और सत्यका निवासस्थान है। इस क्षेत्रमें यज्ञविधिके जाननेवाले महात्मा यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुष भगवान्की आराधना करते रहते हैं ॥ ३३ ॥ इस देशमें भगवान् श्रीहरि यज्ञोंके रूपमें निवास करते हैं, यज्ञोंके द्वारा उनकी पूजा होती है और वे यज्ञ करनेवालोंका कल्याण करते हैं। वे सर्वात्मा भगवान् वायुकी भाँति समस्त चराचर जीवोंके भीतर और बाहर एकरस स्थित रहते हुए उनकी कामनाओंको पूर्ण करते रहते हैं ॥ ३४ ॥

सूतजी कहते हैं—परीक्षित्की यह आज्ञा सुनकर कलियुग सिहर उठा। यमराजके समान मारनेके लिये उद्यत, हाथमें तलवार लिये हुए परीक्षित्से वह बोला ॥ ३५ ॥

कलिने कहा—सार्वभौम! आपकी आज्ञासे जहाँ कहीं भी मैं रहनेका विचार करता हूँ, वहीं देखता हूँ कि आप धनुषपर बाण चढ़ाये खड़े हैं ॥ ३६ ॥ धार्मिकशिरोमणे! आप मुझे वह स्थान बतलाइये, जहाँ मैं आपकी आज्ञाका पालन करता हुआ स्थिर होकर रह सकूँ ॥ ३७ ॥

सूतजी कहते हैं—कलियुगकी प्रार्थना स्वीकार करके राजा परीक्षित्ने उसे चार स्थान दिये—द्यूत, मद्यपान, स्त्री-सङ्ग और हिंसा। इन स्थानोंमें क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं ॥ ३८ ॥ उसने और भी स्थान माँगे। तब समर्थ परीक्षित्ने उसे रहनेके लिये एक और स्थान—'सुवर्ण' (धन)—दिया। इस प्रकार कलियुगके पाँच स्थान हो गये—झूठ, मद, काम, वैर और रजोगुण ॥३९॥ परीक्षित्के दिये हुए इन्हीं पाँच स्थानोंमें अधर्मका मूल कारण कलि उनकी आज्ञाओंका पालन करता हुआ निवास करने लगा ॥ ४० ॥ इसलिये आत्मकल्याणकामी पुरुषको इन पाँचों स्थानोंका सेवन कभी नहीं करना चाहिये। धार्मिक राजा, प्रजावर्गके लौकिक नेता और धर्मोपदेष्टा गुरुओंको तो बड़ी सावधानीसे इनका त्याग करना चाहिये ॥ ४१ ॥ राजा परीक्षित्ने इनके बाद वृषभरूप धर्मके तीनों चरण—

१. प्रा० पा०—ह्यात्ममूर्तिं०। २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है। ३. प्रा० पा०—क्व चाथ। ४. प्रा० पा०—मदः कामो।

प्रतिसंदध आश्वास्य¹ महीं च समवर्धयत् ॥४२॥
स एष एतर्ह्यध्यास्त² आसनं पार्थिवोचितम् ।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥४३॥
आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् ।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥४४॥
इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः ।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः³ ॥४५॥

तपस्या, शौच और दया जोड़ दिये और आश्वासन देकर पृथ्वीका संवर्धन किया ॥ ४२ ॥ वे ही महाराजा परीक्षित् इस समय अपने राजसिंहासनपर, जिसे उनके पितामह महाराज युधिष्ठिरने वनमें जाते समय उन्हें दिया था, विराजमान हैं ॥ ४३ ॥ वे परम यशस्वी सौभाग्यभाजन चक्रवर्ती सम्राट् राजर्षि परीक्षित् इस समय हस्तिनापुरमें कौरव-कुलकी राज्यलक्ष्मीसे शोभायमान हैं ॥ ४४ ॥ अभिमन्युनन्दन राजा परीक्षित् वास्तवमें ऐसे ही प्रभावशाली हैं, जिनके शासनकालमें आप लोग इस दीर्घकालीन यज्ञके लिये दीक्षित हुए हैं* ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

राजा परीक्षित्को शृङ्गी ऋषिका शाप

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।
अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥
ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।
न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥
उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः ।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—अद्भुतकर्मा भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे राजा परीक्षित् अपनी माताकी कोखमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल जानेपर भी मरे नहीं ॥ १ ॥ जिस समय ब्राह्मणके शापसे उन्हें डसनेके लिये तक्षक आया, उस समय वे प्राणनाशके महान् भयसे भी भयभीत नहीं हुए; क्योंकि उन्होंने अपना चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर रक्खा था ॥ २ ॥ उन्होंने सबकी आसक्ति छोड़ दी, गङ्गातटपर जाकर श्रीशुकदेवजीसे उपदेश ग्रहण किया और इस प्रकार भगवान्के स्वरूपको जानकर अपने शरीरको त्याग

१. प्रा० पा०—आस्थाय । २. प्रा० पा०—एतदध्यास्त । ३. प्रा० पा०—'पारिक्षिते पर्वणि' इतना अधिक है ।

* ४३ से ४५ तकके श्लोकोंमें महाराज परीक्षित्का वर्तमानके समान वर्णन किया गया है—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० सू० ३ । ३ । १३१) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार वर्तमानके निकटवर्ती भूत और भविष्यके लिये भी वर्तमानका प्रयोग किया जा सकता है । जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने अपनी टीकामें लिखा है कि यद्यपि परीक्षित्की मृत्यु हो गयी थी, फिर भी उनकी कीर्ति और प्रभाव वर्तमानके समान ही विद्यमान थे । उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये उनकी दूरी यहाँ मिटा दी गयी है । उन्हें भगवान्का सायुज्य प्राप्त हो गया था, इसलिये भी सूतजीको वे अपने सम्मुख ही दीख रहे हैं । न केवल उन्हींको, बल्कि सबको इस बातकी प्रतीति हो रही है । 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस श्रुतिके अनुसार जनमेजयके रूपमें भी वही राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं । इन सब कारणोंसे वर्तमानके रूपमें उनका वर्णन भी कथाके रसको पुष्ट ही करता है ।

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम्॥४॥
तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट्॥५॥
यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः॥६॥
नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥७॥
किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते॥८॥
उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत॥९॥
या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।
गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः॥१०॥

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः॥११॥
कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु॥१२॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥१३॥

दिया॥३॥ जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी लीला कथा कहते रहते हैं, उस कथामृतका पान करते रहते हैं और इन दोनों ही साधनोंके द्वारा उनके चरणकमलोंका स्मरण करते रहते हैं, उन्हें अन्त-कालमें भी मोह नहीं होता॥४॥ जबतक पृथ्वीपर अभिमन्युनन्दन महाराज परीक्षित् सम्राट् रहे, तबतक चारों ओर व्याप्त हो जानेपर भी कलियुगका कुछ भी प्रभाव नहीं था॥५॥ वैसे तो जिस दिन जिस क्षण श्रीकृष्णने पृथ्वीका परित्याग किया, उसी समय पृथ्वीमें अधर्मका मूलकारण कलियुग आ गया था॥६॥ भ्रमरके समान सारग्राही सम्राट् परीक्षित् कलियुगसे कोई द्वेष नहीं रखते थे; क्योंकि इसमें यह एक बहुत बड़ा गुण है कि पुण्यकर्म तो संकल्पमात्रसे ही फलीभूत हो जाते हैं; परंतु पापकर्मका फल शरीरसे करनेपर ही मिलता है, संकल्पमात्रसे नहीं॥७॥ यह भेड़ियेके समान बालकोंके प्रति शूरवीर और धीर-वीर पुरुषोंके लिये बड़ा भीरु है। यह प्रमादी मनुष्यों-को अपने वशमें करनेके लिये ही सदा सावधान रहता है॥८॥ शौनकादि ऋषियो! आपलोगोंको मैंने भगवान्‌की कथासे युक्त राजा परीक्षित्‌का पवित्र चरित्र सुनाया। आपलोगोंने यही पूछा था॥९॥ भगवान् श्रीकृष्ण कीर्तन करने योग्य बहुत-सी लीलाएँ करते हैं। इसलिये उनके गुण और लीलाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी कथाएँ हैं, कल्याणकामी पुरुषोंको उन सबका सेवन करना चाहिये॥१०॥

ऋषियोंने कहा—सौम्यस्वभाव सूतजी! आप युग-युग जीयें; क्योंकि मृत्युके प्रवाहमें पड़े हुए हमलोगोंको आप भगवान् श्रीकृष्णकी अमृतमयी उज्ज्वल कीर्तिका श्रवण कराते हैं॥११॥ यज्ञ करते-करते उसके धूएँसे हमलोगोंका शरीर धूमिल हो गया है। फिर भी इस कर्मका कोई विश्वास नहीं है। इधर आप तो वर्तमानमें ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंका मादक और मधुर मधु पिलाकर हमें तृप्त कर रहे हैं॥१२॥ भगवत्प्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती; फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात

१. प्रा० पा०—कुर्वतां। २. प्रा० पा०—नाभि०। ३. प्रा० पा०—नृपो। ४. प्रा० पा०—मेतद्धि।

को नाम तृप्येद् रसवित् कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥१४॥
तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥१५॥
स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥१६॥
तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१७॥

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥१८॥
कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥१९॥
एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥२०॥
अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद् विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।

ही क्या है ॥ १३ ॥ ऐसा कौन रस-मर्मज्ञ होगा, जो महापुरुषोंके एकमात्र जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे तृप्त हो जाय ? समस्त प्राकृत गुणोंसे अतीत भगवान्के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणगणोंका पार तो ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके ॥१४॥ विद्वन् ! आप भगवान्को ही अपने जीवनका ध्रुवतारा मानते हैं । इसलिये आप सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय भगवान्के उदार और विशुद्ध चरित्रोंका हम श्रद्धालु श्रोताओंके लिये विस्तारसे वर्णन कीजिये ॥ १५ ॥ भगवान्के परम प्रेमी महाबुद्धि परीक्षित्ने श्रीशुकदेवजीके उपदेश किये हुए जिस ज्ञानसे मोक्षस्वरूप भगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त किया, आप कृपा करके उसी ज्ञान और परीक्षित्के परम पवित्र उपाख्यानका वर्णन कीजिये; क्योंकि उसमें कोई बात छिपाकर नहीं कही गयी होगी और भगवत्प्रेमकी अद्भुत योगनिष्ठाका निरूपण किया गया होगा। उसमें पद-पदपर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन हुआ होगा । भगवान्के प्यारे भक्तोंको वैसा प्रसङ्ग सुननेमें बड़ा रस मिलता है ॥ १६-१७ ॥

सूतजी कहते हैं—अहो ! विलोम* जातिमें उत्पन्न होनेपर भी महात्माओंकी सेवा करनेके कारण आज हमारा जन्म सफल हो गया; क्योंकि महापुरुषोंके साथ बातचीत करनेमात्रसे ही नीच कुलमें उत्पन्न होनेकी मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है ॥ १८ ॥ फिर उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, जो सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय भगवान्का नाम लेते हैं । भगवान्की शक्ति अनन्त है, वे स्वयं अनन्त हैं । वास्तवमें उनके गुणोंकी अनन्तताके कारण ही उन्हें अनन्त कहा गया है ॥ १९ ॥ भगवान्के गुणोंकी समता भी जब कोई नहीं कर सकता, तब उनसे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है । उनके गुणोंकी यह विशेषता समझानेके लिये इतना कह देना ही पर्याप्त है कि लक्ष्मीजी अपनेको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रार्थना करनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको छोड़कर भगवान्के न चाहनेपर भी उनके चरणकमलोंकी रजका ही सेवन करती हैं ॥ २० ॥ ब्रह्माजीने भगवान्के चरणोंका प्रक्षालन करनेके लिये जो जल समर्पित किया था, वही उनके चरणनखोंसे निकलकर गङ्गाजीके रूपमें प्रवाहित

१. प्रा० पा०—ततो । २. प्रा० पा०—विद्वान् । ३. प्रा० पा०—बत । ४. प्रा० पा०—रसाम्यैरति० ।

* उच्चवर्णकी माता और निम्न वर्णके पितासे उत्पन्न संतानको 'विलोमज' कहते हैं । सूत जातिकी उत्पत्ति इसी प्रकार ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिताके द्वारा होनेसे उसे शास्त्रोंमें विलोम जाति माना गया है ।

सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥२१॥
यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥२२॥
अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥२३॥
एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥२४॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥२५॥
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥२६॥
विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च ।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥२७॥
अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥२८॥
अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥२९॥
स[१] तु ब्रह्मऋषेरंसे[२] गतासुमुरगं रुषा ।

हुआ । यह जल महादेवजीसहित सारे जगत्को पवित्र करता है । ऐसी अवस्थामें त्रिभुवनमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त 'भगवान्' शब्दका दूसरा और क्या अर्थ हो सकता है ॥ २१ ॥ जिनके प्रेमको प्राप्त करके धीर पुरुष बिना किसी हिचकके देह-गेह आदिकी दृढ़ आसक्तिको छोड़ देते हैं और उस अन्तिम परमहंस-आश्रमको स्वीकार करते हैं, जिसमें किसीको कष्ट न पहुँचाना और सब ओरसे उपशान्त हो जाना ही स्वधर्म होता है ॥ २२ ॥ सूर्यके समान प्रकाशमान महात्माओ ! आपलोगोंने मुझसे जो कुछ पूछा है, वह मैं अपनी समझके अनुसार सुनाता हूँ । जैसे पक्षी अपनी शक्तिके अनुसार आकाशमें उड़ते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ही श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन करते हैं २३

एक दिन राजा परीक्षित् धनुष लेकर वनमें शिकार खेलने गये हुए थे । हरिणोंके पीछे दौड़ते-दौड़ते वे थक गये और उन्हें बड़े जोरकी भूख और प्यास लगी ॥ २४ ॥ जब कहीं उन्हें कोई जलाशय नहीं मिला, तब वे पासके ही एक ऋषिके आश्रममें घुस गये । उन्होंने देखा कि वहाँ आँखें बंद करके शान्तभावसे एक मुनि आसनपर बैठे हुए हैं ॥२५॥ इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिके निरुद्ध हो जानेसे वे संसारसे ऊपर उठ गये थे । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे रहित निर्विकार ब्रह्मरूप तुरीय पदमें वे स्थित थे ॥ २६ ॥ उनका शरीर बिखरी हुई जटाओंसे और कृष्ण मृगचर्मसे ढका हुआ था । राजा परीक्षित्ने ऐसी ही अवस्थामें उनसे जल माँगा, क्योंकि प्याससे उनका गला सूखा जा रहा था ॥ २७ ॥ जब राजाको वहाँ बैठनेके लिये तिनकेका आसन भी न मिला, किसीने उन्हें भूमिपर भी बैठनेको न कहा—अर्घ्य और आदरभरी मीठी बातें तो कहाँसे मिलतीं—तब अपनेको अपमानित-सा मानकर वे क्रोधके वश हो गये ॥ २८ ॥ शौनकजी ! वे भूख-प्याससे छटपटा रहे थे, इसलिये एकाएक उन्हें ब्राह्मणके प्रति ईर्ष्या और क्रोध हो आया । उनके जीवनमें इस प्रकारका यह पहला ही अवसर था ॥ २९ ॥ वहाँसे लौटते समय उन्होंने क्रोधवश धनुषकी नोकसे एक मरा साँप उठाकर

१. प्रा० पा०—ते । २. प्रा० पा०—तस्य ब्रह्मर्षेरंसे ।

विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमत्[1] ।।३०।।

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।

मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ।।३१।।

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।

राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ।।३२।।

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।

स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव ।।३३।।

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो[2] निरूपितः ।

स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति[3] ।।३४।।

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।

तद्भिन्नसेतूनद्याहं[4] शास्मि पश्यत मे बलम् ।।३५।।

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।

कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ।।३६।।

इति[5] लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।

दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्[6] ।।३७।।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।

पितरं वीक्ष्य[7] दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ।।३८।।

स वा[8] आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।

उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे[9] मृतोरगम् ।।३९।।

विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।

ऋषिके गलेमें डाल दिया और अपनी राजधानीमें चले आये ।। ३० ।। उनके मनमें यह बात आयी कि इन्होंने जो अपने नेत्र बंद कर रक्खे हैं, सो क्या वास्तवमें इन्होंने अपनी सारी इन्द्रियवृत्तियोंका निरोध कर लिया है अथवा इन राजाओंसे हमारा क्या प्रयोजन है, यों सोचकर इन्होंने झूठ-मूठ समाधिका ढोंग रच रक्खा है ।। ३१ ।।

उन शमीक मुनिका पुत्र बड़ा तेजस्वी था। वह दूसरे ऋषिकुमारोंके साथ पास ही खेल रहा था। जब उस बालकने सुना कि राजाने मेरे पिताके साथ दुर्व्यवहार किया है, तब वह इस प्रकार कहने लगा—।।३२।। 'ये नरपति कहलानेवाले लोग उच्छिष्टभोजी कौओंके समान संड-मुसंड होकर कितना अन्याय करने लगे हैं! ब्राह्मणोंके दास होकर भी ये दरवाजेपर पहरा देनेवाले कुत्तेके समान अपने स्वामीका ही तिरस्कार करते हैं ।। ३३ ।। ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको अपना द्वारपाल बनाया है। उन्हें द्वारपर रहकर रक्षा करनी चाहिये, घरमें घुसकर स्वामीके बर्तनोंमें खानेका उसे अधिकार नहीं है ।। ३४ ।। अतएव उन्मार्गगामियोंके शासक भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधार जानेपर इन मर्यादा तोड़नेवालोंको आज मैं दण्ड देता हूँ। मेरा तपोबल देखो' ।। ३५ ।। अपने साथी बालकोंसे इस प्रकार कहकर क्रोधसे लाल-लाल आँखोंवाले उस ऋषिकुमारने कौशिकी नदीके जलसे आचमन करके अपने वाणीरूपी वज्रका प्रयोग किया—।। ३६ ।। 'कुलाङ्गार परीक्षित्ने मेरे पिताका अपमान करके मर्यादाका उल्लङ्घन किया है, इसलिये मेरी प्रेरणासे आजके सातवें दिन उसे तक्षक सर्प डस लेगा' ।। ३७ ।।

इसके बाद वह बालक अपने आश्रमपर आया और अपने पिताके गलेमें साँप देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ तथा वह ढाड़ मारकर रोने लगा ।।३८।। विप्रवर शौनकजी! शमीक मुनिने अपने पुत्रका रोना-चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और देखा कि उनके गलेमें एक मरा साँप पड़ा है ।। ३९ ।। उसे फेंककर उन्होंने अपने पुत्रसे पूछा—'बेटा! तुम क्यों रो रहे हो? किसने

१. प्रा० पा०—मागतः। २. प्रा० पा०—गृहपालो। ३. प्रा० पा०—भङ्क्तु०। ४. प्रा० पा०—सेतुमद्या०। ५. प्रा० पा०—अतो। ६. प्रा० पा०—पितृद्रुहम्। ७. प्रा० पा०—प्रेक्ष्य। ८. प्रा० पा०—स वैवाङ्गिरसो। ९. प्रा० पा०—चांसे।

केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥४०॥
निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।
अहो बतांहो महदद्य ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥४१॥
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे[1] ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥४२॥
अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्[2] क्षणात् ॥४३॥
तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य[3] वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥४४॥
तदाऽऽर्यधर्मश्च[4] विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः ॥४५॥
धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः ।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥४६॥
अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना ।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥४७॥
तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥४८॥
इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।

तुम्हारा अपकार किया है ?' उनके इस प्रकार पूछनेपर बालकने सारा हाल कह दिया ॥ ४० ॥ ब्रह्मर्षि शमीकने राजाके शापकी बात सुनकर अपने पुत्रका अभिनन्दन नहीं किया । उनकी दृष्टिमें परीक्षित् शापके योग्य नहीं थे । उन्होंने कहा—'ओह, मूर्ख बालक ! तूने बड़ा पाप किया ! खेद है कि उनकी थोड़ी-सी गलतीके लिये तूने उनको इतना बड़ा दण्ड दिया ॥ ४१ ॥ तेरी बुद्धि अभी कच्ची है । तुझे भगवत्स्वरूप राजाको साधारण मनुष्योंके समान नहीं समझना चाहिये; क्योंकि राजाके दुस्सह तेजसे सुरक्षित और निर्भय रहकर ही प्रजा अपना कल्याण सम्पादन करती है ॥ ४२ ॥ जिस समय राजाका रूप धारण करके भगवान् पृथ्वीपर नहीं दिखायी देंगे, उस समय चोर बढ़ जायँगे और अरक्षित भेड़ोंके समान एक क्षणमें ही लोगोंका नाश हो जायगा ॥४३॥ राजाके नष्ट हो जानेपर धन आदि चुरानेवाले चोर जो पाप करेंगे उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होनेपर भी वह हमपर भी लागू होगा; क्योंकि राजाके न रहनेपर लुटेरे बढ़ जाते हैं और वे आपसमें मार-पीट, गाली-गलौज करते हैं, साथ ही पशु, स्त्री और धन-सम्पत्ति भी लूट लेते हैं ॥ ४४ ॥ उस समय मनुष्योंका वर्णाश्रमाचारयुक्त वैदिक आर्यधर्म लुप्त हो जाता है, अर्थ-लोभ और काम-वासनाके विवश होकर लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसङ्कर हो जाते हैं ॥ ४५ ॥ सम्राट् परीक्षित् तो बड़े ही यशस्वी और धर्मधुरन्धर हैं । उन्होंने बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान्‌के परम प्यारे भक्त हैं; वे ही राजर्षि भूख-प्याससे व्याकुल होकर हमारे आश्रमपर आये थे, वे शापके योग्य कदापि नहीं हैं ॥ ४६ ॥ इस नासमझ बालकने हमारे निष्पाप सेवक राजाका अपराध किया है, सर्वात्मा भगवान् कृपा करके इसे क्षमा करें ॥ ४७ ॥ भगवान्‌के भक्तोंमें भी बदला लेनेकी शक्ति होती है; परंतु वे दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, धोखेबाजी, गाली-गलौज, आक्षेप और मार-पीटका कोई बदला नहीं लेते ॥ ४८ ॥ महामुनि शमीकको पुत्रके अपराधपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । राजा

१. प्रा० पा०—बुद्धिः । २. प्रा० पा०—हि विरुद्धलक्षणात् । ३. प्रा० पा०—नष्टस्य नाथस्य । ४. प्रा० पा०—तदाशु धर्मः सुविली० ।

स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥४९॥

परीक्षित्‌ने जो उनका अपमान किया था, उसपर तो उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया ॥ ४९ ॥

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ॥५०॥

महात्माओंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जगत्‌में जब दूसरे लोग उन्हें सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें डाल देते हैं, तब भी वे प्रायः हर्षित या व्यथित नहीं होते; क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे सर्वथा परे है ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे[1]
विप्रशापोपलम्भनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

परीक्षित्‌का अनशनव्रत और शुकदेवजीका आगमन

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—राजधानीमें पहुँचनेपर राजा परीक्षित्‌को अपने उस निन्दनीय कर्मके लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ । वे अत्यन्त उदास हो गये और सोचने लगे—'मैंने निरपराध एवं अपना तेज छिपाये हुए ब्राह्मणके साथ अनार्य पुरुषोंके समान बड़ा नीच व्यवहार किया । यह बड़े खेदकी बात है ॥ १ ॥

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं त्वघ[2]निष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा[3] ॥ २ ॥

अवश्य ही उन महात्माके अपमानके फलस्वरूप शीघ्र-से-शीघ्र मुझपर कोई घोर विपत्ति आवेगी । मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ; क्योंकि उससे मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा और फिर कभी मैं ऐसा काम करनेका दुःसाहस नहीं करूँगा ॥ २ ॥

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं[4]
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्[5]
पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणोंकी क्रोधाग्नि आज ही मेरे राज्य, सेना और भरे-पूरे खजानेको जलाकर खाक कर दे—जिससे फिर कभी मुझ दुष्टकी ब्राह्मण, देवता और गौके प्रति ऐसी पाप-बुद्धि न हो' ॥ ३ ॥

स चिन्तयन्नित्थ[6]मथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः[7] ।
स साधु मेने नचिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४ ॥

वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें मालूम हुआ—ऋषिकुमारके शापसे तक्षक मुझे डसेगा । उन्हें वह धधकती हुई आगके समान तक्षकका डसना बहुत भला मालूम हुआ । उन्होंने सोचा कि बहुत दिनोंसे मैं संसारमें आसक्त हो रहा था, अब मुझे शीघ्र वैराग्य होनेका कारण प्राप्त हो गया ॥ ४ ॥ वे

१. प्रा० पा०—'पारमहंस्यां संहितायां पारिक्षितोपाख्याने' इतना अधिक है, 'विप्र' शब्दके स्थानपर 'ब्रह्म' शब्द है । २. प्रा० पा०—ह्यघ । ३. प्रा० पा०—पुनरेव सद्यः । ४. प्रा० पा०—बलमूर्ज० । ५. प्रा० पा०—मेऽस्तु । ६. प्रा० पा०—चिन्तयन्निष्टमथा० । ७. प्रा० पा०—तक्षकादलं ।

अथो विहायेममसुं च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥
या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ६ ॥
इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७ ॥
तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥ ९ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-
र्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥
सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२ ॥

इस लोक और परलोकके भोगोंको तो पहलेसे ही तुच्छ और त्याज्य समझते थे । अब उनका स्वरूपतः त्याग करके भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाको ही सर्वोपरि मानकर आमरण अनशन व्रत लेकर वे गङ्गातटपर बैठ गये ॥ ५ ॥ गङ्गाजीका जल भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका वह पराग लेकर प्रवाहित होता है, जो श्रीमती तुलसीकी गन्धसे मिश्रित है । यही कारण है कि वे लोकपालोंके सहित ऊपर-नीचेके समस्त लोकोंको पवित्र करती हैं । कौन ऐसा मरणासन्न पुरुष होगा, जो उनका सेवन न करेगा ॥ ६ ॥

इस प्रकार गङ्गाजीके तटपर आमरण अनशनका निश्चय करके उन्होंने समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर दिया और वे मुनियोंका व्रत स्वीकार करके अनन्यभावसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान करने लगे ॥ ७ ॥ उस समय त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्योंके साथ वहाँ पधारे । संतजन प्रायः तीर्थयात्राके बहाने स्वयं उन तीर्थस्थानोंको ही पवित्र करते हैं ॥ ८ ॥ उस समय वहाँपर अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यास, नारद तथा इनके अतिरिक्त और भी कई श्रेष्ठ देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा अरुणादि राजर्षिवर्योंका शुभागमन हुआ । इस प्रकार विभिन्न गोत्रोंके मुख्य-मुख्य ऋषियोंको एकत्र देखकर राजाने सबका यथायोग्य सत्कार किया और उनके चरणोंपर सिर रखकर वन्दना की ॥ ९–११ ॥ जब सब लोग आरामसे अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, तब महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें फिरसे प्रणाम किया और उनके सामने खड़े होकर शुद्ध हृदयसे अञ्जलि बाँधकर वे जो कुछ करना चाहते थे, उसे सुनाने लगे ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—इन्द्रप्रमतिः सुबाहुः । २. प्रा० पा०—कवयः । ३. प्रा० पा०—देवर्षि महर्षि० । ४. प्रा० पा०—नानर्षिसंघान् पुरतः । ५. प्रा० पा०—महत् ।

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्[1]
दूराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥१३॥
तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥१४॥
तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥१५॥
पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः[2] प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥१६॥
इति स राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥१७॥
एवं च[3] तस्मिन्नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥१८॥
महर्षयो[4] वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।

राजा परीक्षित्‌ने कहा—अहो ! समस्त राजाओंमें हम धन्य हैं । धन्यतम हैं; क्योंकि अपने शीलस्वभावके कारण हम आप महापुरुषोंके कृपापात्र बन गये हैं । राजवंशके लोग प्रायः निन्दित कर्म करनेके कारण ब्राह्मणोंके चरण-धोवनसे दूर पड़ जाते हैं—यह कितने खेदकी बात है ॥ १३ ॥ मैं भी राजा ही हूँ । निरन्तर देह-गेहमें आसक्त रहनेके कारण मैं भी पाप-रूप ही हो गया हूँ । इससे स्वयं भगवान् ही ब्राह्मणके शापके रूपमें मुझपर कृपा करनेके लिये पधारे हैं । यह शाप वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है; क्योंकि इस प्रकारके शापसे संसारासक्त पुरुष भयभीत होकर विरक्त हो जाया करते हैं ॥ १४ ॥ ब्राह्मणो ! अब मैंने अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है । आप लोग और मा गङ्गाजी शरणागत जानकर मुझपर अनुग्रह करें, ब्राह्मणकुमारके शापसे प्रेरित कोई दूसरा कपटसे तक्षकका रूप धरकर मुझे डस ले अथवा स्वयं तक्षक आकर डस ले, इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं है । आपलोग कृपा करके भगवान्‌की रसमयी लीलाओंका गायन करें ॥ १५ ॥ मैं आप ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रणाम करके पुनः यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कर्मवश चाहे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओंसे विशेष प्रीति हो और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके प्रति मेरी एक-सी मैत्री रहे । ऐसा आप आशीर्वाद दीजिये ॥ १६ ॥

महाराज परीक्षित् परम धीर थे । वे ऐसा दृढ़ निश्चय करके गङ्गाजीके दक्षिण तटपर पूर्वाग्र कुशोंके आसनपर उत्तरमुख होकर बैठ गये । राज-काजका भार तो उन्होंने पहले ही अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया था ॥ १७ ॥ पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् परीक्षित् जब इस प्रकार आमरण अनशनका निश्चय करके बैठ गये, तब आकाशमें स्थित देवतालोग बड़े आनन्दसे उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँ पृथ्वीपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके नगारे बार-बार बजने लगे ॥ १८ ॥ सभी उपस्थित महर्षियोंने परीक्षित्‌के निश्चयकी प्रशंसा की और 'साधु-साधु' कहकर उनका अनुमोदन किया ।

१. प्रा० पा०—शौचाचाराद्विसृष्टं । २. प्रा० पा०—रतिप्रसङ्गश्च । ३. प्रा० पा०—तु । ४. प्रा० पा०—महर्षयस्ते ।

ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम्[1] ॥१९॥
न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु[2] ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥२०॥
सर्वे वयं तावदिहास्महेऽद्य[3]
कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥२१॥
आश्रुत्य तदृषिगणवचः[4] परीक्षित्
समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम् ।
आभाषतैनानभिनन्द्य[5] युक्तान्[6]
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥२२॥
समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे[7] ।
नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥२३॥
ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥२४॥
तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥२५॥

ऋषिलोग तो स्वभावसे ही लोगोंपर अनुग्रहकी वर्षा करते रहते हैं; यही नहीं, उनकी सारी शक्ति लोकपर कृपा करनेके लिये ही होती है। उन लोगोंने भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंसे प्रभावित परीक्षित्के प्रति उनके अनुरूप वचन कहे ॥ १९ ॥ 'राजर्षिशिरोमणे ! भगवान् श्रीकृष्णके सेवक और अनुयायी आप पाण्डुवंशियोंके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपलोगोंने भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे उस राज-सिंहासनका एक क्षणमें ही परित्याग कर दिया, उसकी सेवा बड़े-बड़े राजा अपने मुकुटोंसे करते थे ॥ २० ॥ हम सब तबतक यहीं रहेंगे, जबतक ये भगवान्‌के परम भक्त परीक्षित् अपने नश्वर शरीरको छोड़कर माया-दोष एवं शोकसे रहित भगवद्धाममें नहीं चले जाते'॥२१॥

ऋषियोंके ये वचन बड़े ही मधुर, गम्भीर, सत्य और समतासे युक्त थे । उन्हें सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उन योगयुक्त मुनियोंका अभिनन्दन किया और भगवान्‌के मनोहर चरित्र सुननेकी इच्छासे ऋषियोंसे प्रार्थना की ॥ २२ ॥ 'महात्माओ ! आप सभी सब ओरसे यहाँ पधारे हैं। आप सत्यलोकमें रहनेवाले मूर्तिमान् वेदोंके समान हैं । आपलोगोंका दूसरोंपर अनुग्रह करनेके अतिरिक्त, जो आपका सहज स्वभाव ही है, इस लोक या परलोकमें और कोई स्वार्थ नहीं है ॥ २३ ॥ विप्रवरो ! आपलोगोंपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें यह पूछने योग्य प्रश्न करता हूँ। आप सभी विद्वान् परस्पर विचार करके बतलाइये कि सबके लिये सब अवस्थाओं-में और विशेष करके थोड़े ही समयमें मरनेवाले पुरुषों-के लिये अन्तःकरण और शरीरसे करनेयोग्य विशुद्ध कर्म कौन-सा है' * ॥ २४ ॥

उसी समय पृथ्वीपर स्वेच्छासे विचरण करते हुए, किसीकी कोई अपेक्षा न रखनेवाले व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी महाराज वहाँ प्रकट हो गये । वे वर्ण अथवा आश्रमके बाह्य चिह्नोंसे रहित एवं आत्मानुभूतिमें संतुष्ट थे । बच्चों और स्त्रियोंने उन्हें घेर रखा था । उनका

१. प्रा० पा०—गुणानुरूपम्। २. प्रा० पा०—भवेद् ध्रुवं कृष्णमनुव्रतेषु। ३. प्रा० पा०—ऽथ। ४. प्रा० पा०—तदृषिगणस्य वचः। ५. प्रा० पा०—अभा०। ६. प्रा० पा०—युक्तः। ७. प्रा० पा०—त्रिपिष्टे।

* इस जगह राजाने ब्राह्मणोंसे दो प्रश्न किये हैं; पहला प्रश्न यह है कि जीवको सदा-सर्वदा क्या करना चाहिये और दूसरा यह कि जो थोड़े ही समयमें मरनेवाले हैं, उनका क्या कर्तव्य है ? ये ही दो प्रश्न उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे भी किये तथा क्रमशः इन्हीं दोनों प्रश्नोंका उत्तर द्वितीय स्कन्धसे लेकर द्वादशपर्यन्त श्रीशुकदेवजीने दिया है ।

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥२६॥
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥२७॥
श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥२८॥
स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥२९॥
स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
र्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥३०॥
प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥३१॥

परीक्षिदुवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः ।

वेष अवधूतका था ॥ २५ ॥ सोलह वर्षकी अवस्था थी । चरण, हाथ, जङ्घा, भुजाएँ, कंधे, कपोल और अन्य सब अङ्ग अत्यन्त सुकुमार थे । नेत्र बड़े-बड़े और मनोहर थे । नासिका कुछ ऊँची थी । कान बराबर थे । सुन्दर भौंहें थीं, इनसे मुख बड़ा ही शोभायमान हो रहा था । गला तो मानो सुन्दर शङ्ख ही था ॥ २६ ॥ हँसली ढकी हुई, छाती चौड़ी और उभरी हुई, नाभि भँवरके समान गहरी तथा उदर बड़ा ही सुन्दर त्रिवलीसे युक्त था । लंबी-लंबी भुजाएँ थीं, मुखपर घुँघराले बाल बिखरे हुए थे । इस दिगम्बर वेषमें वे श्रेष्ठ देवताके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ २७ ॥ श्याम रंग था । चित्तको चुरानेवाली भरी जवानी थी । वे शरीरकी छटा और मधुर मुसकानसे स्त्रियोंको सदा ही मनोहर जान पड़ते थे । यद्यपि उन्होंने अपने तेजको छिपा रक्खा था, फिर भी उनके लक्षण जाननेवाले मुनियोंने उन्हें पहचान लिया और वे सब-के-सब अपने-अपने आसन छोड़कर उनके सम्मानके लिये उठ खड़े हुए ॥ २८ ॥

राजा परीक्षित्ने अतिथिरूपसे पधारे हुए श्रीशुकदेवजीको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की । उनके स्वरूपको न जाननेवाले बच्चे और स्त्रियाँ उनकी यह महिमा देखकर वहाँसे लौट गये; सबके द्वारा सम्मानित होकर श्रीशुकदेवजी श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए ॥ २९ ॥ ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे आवृत श्रीशुकदेवजी अत्यन्त शोभायमान हुए । वास्तवमें वे महात्माओंके भी आदरणीय थे ॥ ३० ॥ जब प्रखरबुद्धि श्रीशुकदेवजी शान्तभावसे बैठ गये, तब भगवान्के परम भक्त परीक्षित्ने उनके समीप आकर और चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया । फिर खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया । इसके पश्चात् बड़ी मधुर वाणीसे उनसे यह पूछा ॥ ३१ ॥

परीक्षित्ने कहा—ब्रह्मस्वरूप भगवन् ! आज हम बड़भागी हुए; क्योंकि अपराधी क्षत्रिय होनेपर भी हमें संत-समागमका अधिकारी समझा गया । आज कृपापूर्वक

१. प्रा० पा०—चार्वारुणाक्षोन्नसतुल्यकर्णं शुभ्राननम् । २. प्रा० पा०—पीनवयो । ३. प्रा० पा०—स्मयेन । ४. प्रा० पा०—रातो मुनये ।

कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥३२॥
येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥३३॥
सांनिध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥३४॥
अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥३५॥
अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥३६॥
अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥३७॥
यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥३८॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥३९॥

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥४०॥

अतिथिरूपसे पधारकर आपने हमें तीर्थके तुल्य पवित्र बना दिया ॥ ३२ ॥ आप-जैसे महात्माओंके स्मरणमात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं; फिर दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसन-दानादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है ॥ ३३ ॥ महायोगिन् ! जैसे भगवान् विष्णुके सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते, वैसे ही आपकी सन्निधिसे बड़े-बड़े पाप भी तुरंत नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ अवश्य ही पाण्डवोंके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर अत्यन्त प्रसन्न हैं; उन्होंने अपने फुफेरे भाइयोंकी प्रसन्नताके लिये उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए मेरे साथ भी अपनेपनका व्यवहार किया है ॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा न होती तो आप-सरीखे एकान्त वनवासी अव्यक्तगति परम सिद्ध पुरुष स्वयं पधारकर इस मृत्युके समय हम-जैसे प्राकृत मनुष्योंको क्यों दर्शन देते ॥ ३६ ॥ आप योगियोंके परम गुरु हैं, इसलिये मैं आपसे परम सिद्धिके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ । जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है, उसको क्या करना चाहिये ? ॥ ३७ ॥ भगवन् ! साथ ही यह भी बतलाइये कि मनुष्यमात्रको क्या करना चाहिये ? वे किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करें तथा किसका त्याग करें ? ॥ ३८ ॥ भगवत्स्वरूप मुनिवर ! आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि जितनी देर एक गाय दुही जाती है, गृहस्थोंके घरपर उतनी देर भी तो आप नहीं ठहरते ॥ ३९ ॥

सूतजी कहते हैं—जब राजाने बड़ी ही मधुर वाणीमें इस प्रकार सम्भाषण एवं प्रश्न किये, तब समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी उनका उत्तर देने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे शुकागमनं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इति प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्रा० पा०—पुंसः । २. प्रा० पा०—वरीयसः ।

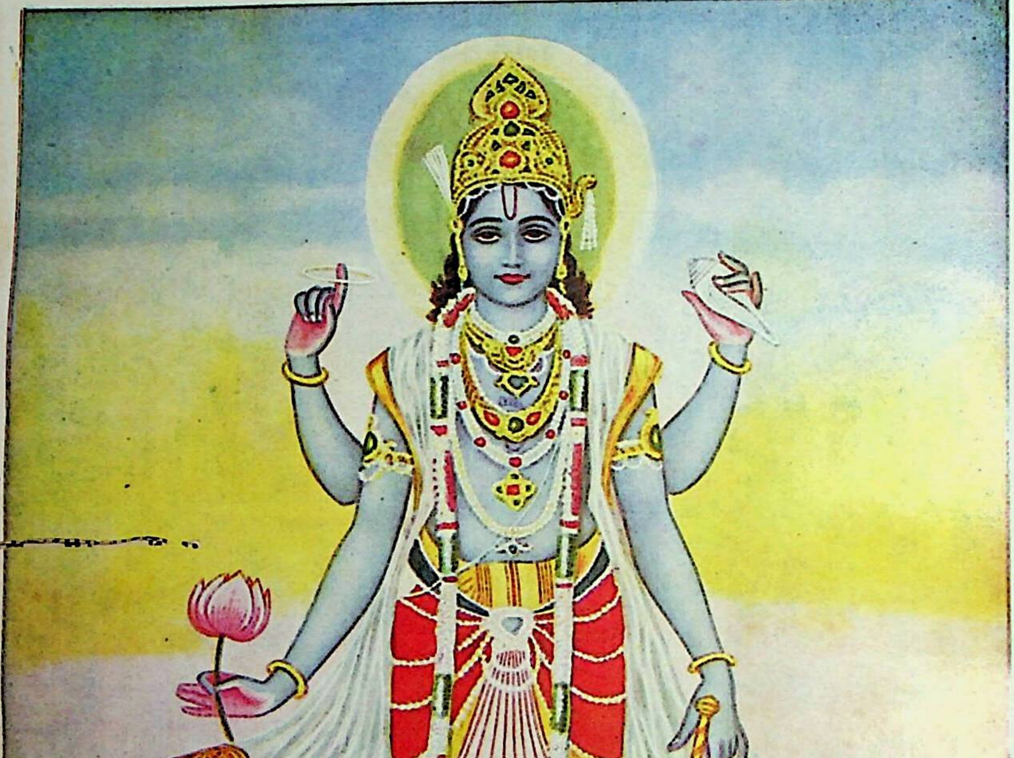
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वितीयः स्कन्धः



यस्य दीप्तिलवेनैव देवता देवतां गताः ।
वन्दे तं देवदेवेशं सर्वदेवमयं हरिम् ॥



भगवान् विष्णु

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वितीयः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

ध्यान-विधि और भगवान्‌के विराट्‌स्वरूपका वर्णन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीशुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं[2] नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥ ३ ॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्ये[3]ष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४ ॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ५ ॥

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! तुम्हारा लोकहितके लिये किया हुआ यह प्रश्न बहुत ही उत्तम है । मनुष्योंके लिये जितने भी बातें सुनने, स्मरण करने या कीर्तन करनेकी हैं, उन सबमें यह श्रेष्ठ है । आत्मज्ञानी महापुरुष ऐसे प्रश्नका बड़ा आदर करते हैं ॥ १ ॥ राजेन्द्र ! जो गृहस्थ घरके काम-धन्धोंमें उलझे हुए हैं, अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनके लिये हजारों बातें कहने-सुनने एवं सोचने, करनेकी रहती हैं ॥ २ ॥ उनकी सारी उम्र यों ही बीत जाती है । उनकी रात नींद या स्त्री-प्रसङ्गसे कटती है और दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण-पोषणमें समाप्त हो जाता है ॥३॥ संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं; परंतु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं ॥ ४ ॥ इसलिये परीक्षित् ! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ॥ ५ ॥ मनुष्य-जन्मका यही—इतना ही लाभ है कि चाहे जैसे हो—ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा अपने धर्मकी निष्ठासे

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—लोकहितो । ३. प्रा० पा०—सौख्येष्व० । ४. प्रा० पा०—व्यः स्वेच्छया विभुः ।

जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥ ६ ॥

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः ।

नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।

अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।

गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ ९ ॥

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् ।

यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥१०॥

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥११॥

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।

वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥१२॥

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।

मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥१३॥

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।

उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥१४॥

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः ।

छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥१५॥

जीवनको ऐसा बना लिया जाय कि मृत्युके समय भगवान्‌की स्मृति अवश्य बनी रहे ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! जो निर्गुण स्वरूपमें स्थित हैं एवं विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघ चुके हैं, वे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी प्रायः भगवान्‌के अनन्त कल्याणमय गुणगणोंके वर्णनमें रमे रहते हैं ॥ ७ ॥ द्वापरके अन्तमें इस भगवद्रूप अथवा वेदतुल्य श्रीमद्भागवत नामके महापुराणका अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनसे मैंने अध्ययन किया था ॥ ८ ॥ राजर्षे ! मेरी निर्गुणस्वरूप परमात्मामें पूर्ण निष्ठा है। फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंने बलात् मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित कर लिया । यही कारण है कि मैंने इस पुराणका अध्ययन किया ॥ ९ ॥ तुम भगवान्‌के परम भक्त हो, इसलिये तुम्हें मैं इसे सुनाऊँगा । जो इसके प्रति श्रद्धा रखते हैं, उनकी शुद्ध चित्तवृत्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेमके साथ बहुत शीघ्र लग जाती है ॥ १० ॥ जो लोग लोक या परलोककी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखते हैं, या इसके विपरीत संसारमें दुःखका अनुभव करके जो उससे विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंके लिये तथा योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानियोंके लिये भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे भगवान्‌के नामोंका प्रेमसे संकीर्तन करें ॥११॥ अपने कल्याण-साधनकी ओरसे असावधान रहनेवाले पुरुषकी वर्षों लम्बी आयु भी अनजानमें ही व्यर्थ बीत जाती है। उससे क्या लाभ ! सावधानीसे ज्ञानपूर्वक बितायी हुई घड़ी, दो घड़ी भी श्रेष्ठ है; क्योंकि उसके द्वारा अपने कल्याणकी चेष्टा तो की जा सकती है ॥ १२ ॥ राजर्षि खट्वाङ्ग अपनी आयुकी समाप्तिका समय जानकर दो घड़ीमें ही सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के अभयपदको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! अभी तो तुम्हारे जीवनकी अवधि सात दिनकी है। इस बीचमें ही तुम अपने परम कल्याणके लिये जो कुछ करना चाहिये, सब कर लो ॥ १४ ॥

मृत्युका समय आनेपर मनुष्य घबराये नहीं। उसे चाहिये कि वह वैराग्यके शस्त्रसे शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवालोंके प्रति ममताको काट डाले ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—नृपते गीतं । २. प्रा० पा०—यतते । ३. प्रा० पा०—ऽपि । ४. प्रा० पा०—देहानुयायिनीम् ।

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।

शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥१६॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।

मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥१७॥

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः ।

मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥१८॥

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।

मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।

पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥१९॥

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।

यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥२०॥

यस्यां संधार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः ।

आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥२१॥

धैर्यके साथ घरसे निकलकर पवित्र तीर्थके जलमें स्नान करे और पवित्र तथा एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक आसन लगाकर बैठ जाय ॥ १६ ॥ तत्पश्चात् परम पवित्र 'अ उ म्' इन तीन मात्राओंसे युक्त प्रणवका मन-ही-मन जप करे । प्राणवायुको वशमें करके मनका दमन करे और एक क्षणके लिये भी प्रणवको न भूले ॥ १७ ॥ बुद्धिकी सहायतासे मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयों-से हटा ले और कर्मकी वासनाओंसे चञ्चल हुए मनको विचारके द्वारा रोककर भगवान्‌के मङ्गलमय रूपमें लगाये ॥ १८ ॥ स्थिर चित्तसे भगवान्‌के श्रीविग्रहमेंसे किसी एक अङ्गका ध्यान करे । इस प्रकार एक-एक अङ्गका ध्यान करते-करते विषय-वासनासे रहित मनको पूर्णरूपसे भगवान्‌में ऐसा तल्लीन कर दे कि फिर और किसी विषयका चिन्तन ही न हो । वही भगवान् विष्णुका परमपद है, जिसे प्राप्त करके मन भगवत्प्रेमरूप आनन्दसे भर जाता है ॥ १९ ॥ यदि भगवान्‌का ध्यान करते समय मन रजोगुणसे विक्षिप्त या तमोगुणसे मूढ़ हो जाय तो घबराये नहीं । धैर्यके साथ योगधारणाके द्वारा उसे वशमें करना चाहिये; क्योंकि धारणा उक्त दोनों गुणोंके दोषोंको मिटा देती है ॥ २० ॥ धारणा स्थिर हो जानेपर ध्यानमें जब योगी अपने परम मङ्गलमय आश्रय (भगवान्) को देखता है, तब उसे तुरंत ही भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

राजोवाच

यथा संधार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।

यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥२२॥

परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन् ! धारणा किस साधनसे किस वस्तुमें किस प्रकार की जाती है और उसका क्या स्वरूप माना गया है, जो शीघ्र ही मनुष्यके मनका मैल मिटा देती है ? ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥२३॥
विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥२४॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! आसन, श्वास, आसक्ति और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके फिर बुद्धिके द्वारा मनको भगवान्‌के स्थूल रूपमें लगाना चाहिये ॥ २३ ॥ यह कार्यरूप सम्पूर्ण विश्व जो कुछ कभी था, है या होगा—सब-का-सब जिसमें दीख पड़ता है, वही भगवान्‌का स्थूल-से-स्थूल

१. प्रा० पा०—परिप्लुताः । २. प्रा० पा०—मनुस्स० ।

आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥२५॥
पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥२७॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥२८॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम् ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः ॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु संध्यां कुरुवर्य भूम्नः ।

और विराट् शरीर है ॥२४॥ जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन सात आवरणोंसे घिरे हुए इस ब्रह्माण्डशरीरमें जो विराट् पुरुष भगवान् हैं, वे ही धारणाके आश्रय हैं, उन्हींकी धारणा की जाती है ॥२५॥ तत्त्वज्ञ पुरुष उनका इस प्रकार वर्णन करते हैं—पाताल विराट् पुरुषके तलवे हैं, उनकी एड़ियाँ और पंजे रसातल हैं। दोनों गुल्फ—एड़ीके ऊपरकी गाँठें महातल हैं, उनके पैरके पिंडे तलातल हैं ॥२६॥ विश्वमूर्ति भगवान्‌के दोनों घुटने सुतल हैं, जाँघें वितल और अतल हैं, पेड़ू भूतल है और परीक्षित्! उनके नाभिरूप सरोवरको ही आकाश कहते हैं ॥ २७ ॥ आदिपुरुष परमात्माकी छातीको स्वर्गलोक, गलेको महर्लोक, मुखको जनलोक और ललाटको तपोलोक कहते हैं। उन सहस्र सिरवाले भगवान्‌का मस्तकसमूह ही सत्यलोक है ॥२८॥ इन्द्रादि देवता उनकी भुजाएँ हैं। दिशाएँ कान और शब्द श्रवणेन्द्रिय हैं। दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके छिद्र हैं; गन्ध घ्राणेन्द्रिय है और धधकती हुई आग उनका मुख है ॥२९॥ भगवान् विष्णुके नेत्र अन्तरिक्ष हैं, उनमें देखनेकी शक्ति सूर्य है, दोनों पलकें रात और दिन हैं, उनका भ्रूविलास ब्रह्मलोक है। तालु जल है और जिह्वा रस ॥३०॥ वेदोंको भगवान्‌का ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और यमको दाढ़ें। सब प्रकारके स्नेह दाँत हैं और उनकी जगन्मोहिनी मायाको ही उनकी मुसकान कहते हैं। यह अनन्त सृष्टि उसी मायाका कटाक्ष-विक्षेप है ॥३१॥ लज्जा ऊपरका होठ और लोभ नीचेका होठ है। धर्म स्तन और अधर्म पीठ है। प्रजापति उनके मूत्रेन्द्रिय हैं, मित्रावरुण अण्डकोश हैं, समुद्र कोख है और बड़े-बड़े पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं ॥३२॥ राजन्! विश्वमूर्ति विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ नदियाँ हैं। वृक्ष रोम हैं। परम प्रबल वायु श्वास है। काल उनकी चाल है और गुणोंका चक्कर चलाते रहना ही उनका कर्म है ॥ ३३ ॥ परीक्षित्! बादलोंको उनके केश मानते हैं। सन्ध्या उन अनन्तका वस्त्र है। महात्माओंने अव्यक्त (मूलप्रकृति) को

१. प्रा० पा०—अण्डकोशे। २. प्रा० पा०—संयुक्तः। ३. प्रा० पा०—तज्जघने। ४. प्रा० पा०—ललाटं। ५. प्रा० पा०—नासा। ६. प्रा० पा०—घ्राणं च। ७. प्रा० पा०—स्वेदकला द्विजालयः। ८. प्रा० पा०—हि। ९. प्रा० पा०—धर्मपथः स्वपृष्ठः। १०. प्रा० पा०—मित्रः।

अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः[1] ॥३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्ूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥३७॥
इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः संनिवेशः कथितो मया ते ।
संधार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनःस्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥३८॥
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ॥३९॥

ही उनका हृदय बतलाया है और सब विकारोंका खजाना उनका मन चन्द्रमा कहा गया है ॥ ३४ ॥ महत्तत्त्वको सर्वात्मा भगवान्‌का चित्त कहते हैं और रुद्र उनके अहङ्कार कहे गये हैं । घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी उनके नख हैं । वनमें रहनेवाले सारे मृग और पशु उनके कटिप्रदेशमें स्थित हैं ॥ ३५ ॥ तरह-तरहके पक्षी उनके अद्भुत रचनाकौशल हैं । स्वायम्भुव मनु उनकी बुद्धि हैं और मनुकी संतान मनुष्य उनके निवासस्थान हैं । गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ उनके षड्ज आदि स्वरोंकी स्मृति हैं । दैत्य उनके वीर्य हैं ॥ ३६ ॥ ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य जङ्घाएँ और शूद्र उन विराट् पुरुषके चरण हैं । विविध देवताओंके नामसे जो बड़े-बड़े द्रव्यमय यज्ञ किये जाते हैं, वे उनके कर्म हैं ॥ ३७ ॥ परीक्षित् ! विराट् भगवान्‌के स्थूलशरीरका यही स्वरूप है, सो मैंने तुम्हें सुना दिया । इसीमें मुमुक्षु पुरुष बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करते हैं; क्योंकि इससे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है ॥ ३८ ॥ जैसे स्वप्न देखनेवाला स्वप्नावस्थामें अपने-आपको ही विविध पदार्थोंके रूपमें देखता है, वैसे ही सबकी बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा सब कुछ अनुभव करनेवाला सर्वान्तर्यामी परमात्मा भी एक ही है । उन सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये, अन्य किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह आसक्ति जीवके अधःपतनका हेतु है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे
महा[2]पुरुषसंस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टि-
र्यथाप्ययात्[3] प्राग् व्यवसायबुद्धिः ॥१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने इसी धारणाके द्वारा प्रसन्न हुए भगवान्‌से वह सृष्टिविषयक स्मृति प्राप्त की थी, जो पहले प्रलयकालमें विलुप्त हो गयी थी । इससे उनकी दृष्टि अमोघ और बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी । तब उन्होंने इस जगत्‌को वैसे ही रचा जैसा कि यह प्रलयके पहले था ॥ १ ॥

---

१. प्रा० पा०—स्वरः स्मृतिर्वै भासुरानीकवीर्यः । २. प्राचीन प्रतिमें 'महा' पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—यथाश्रयात्प्राग् ।

शब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः ॥२॥

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र[2] समीक्षमाणः ॥ ३ ॥

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे[3] ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥४॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः[4] सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥५॥

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो[5] भगवाननन्तः ।
तं[6] निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥६॥

वेदोंकी वर्णन-शैली ही इस प्रकारकी है कि लोगोंकी बुद्धि स्वर्ग आदि निरर्थक नामोंके फेरमें फँस जाती है, जीव वहाँ सुखकी वासनासे स्वप्न-सा देखता हुआ भटकने लगता है; किंतु उन मायामय लोकोंमें कहीं भी उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥ इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह विविध नामवाले पदार्थोंसे उतना ही व्यवहार करे, जितना प्रयोजनीय हो । अपनी बुद्धिको उनकी निस्सारताके निश्चयसे परिपूर्ण रक्खे और एक क्षणके लिये भी असावधान न हो । यदि संसारके पदार्थ प्रारब्धवश बिना परिश्रमके यों ही मिल जायँ, तब उनके उपार्जनका परिश्रम व्यर्थ समझकर उनके लिये कोई प्रयत्न न करे ॥ ३ ॥ जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तब पलँगके लिये प्रयत्न करनेसे क्या प्रयोजन । जब भुजाएँ अपनेको भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही मिली हुई हैं, तब तकियोंकी क्या आवश्यकता । जब अञ्जलिसे काम चल सकता है तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरें । वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता ॥ ४ ॥ पहननेको क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं ? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते ? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिलकुल सूख गयी हैं ? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं ? अरे भाई ! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते ? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं ? ॥ ५ ॥ इस प्रकार विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् हैं बड़े प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय करके उन्हींका भजन करे; क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—शब्दस्य । २. प्रा० पा०—स्वत्र । ३. प्रा० पा०—बाहौ च सिद्धे । ४. प्रा० पा०—फलभृतः । ५. प्रा० पा०—प्रियार्थो । ६. प्रा० पा०—सुनिर्वृतो ।

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां
स्वकर्मजान् परितापाञ्जुषाणम् ॥ ७ ॥

पशुओंकी बात तो अलग है; परंतु मनुष्योंमें भला ऐसा कौन है, जो लोगोंको इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरकर अपने कर्मजन्य दुःखोंको भोगते हुए देखकर भी भगवान्‌का मङ्गलमय चिन्तन नहीं करेगा, इन असत् विषय-भोगोंमें ही अपने चित्तको भटकने देगा ? ॥ ७ ॥

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे[1]
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥

कोई-कोई साधक अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें विराजमान भगवान्‌के प्रादेशमात्र स्वरूपकी धारणा करते हैं । वे ऐसा ध्यान करते हैं कि भगवान्‌की चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं ॥ ८ ॥

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं[2]
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥ ९ ॥

उनके मुखपर प्रसन्नता झलक रही है । कमलके समान विशाल और कोमल नेत्र हैं । कदम्बके पुष्पकी केसरके समान पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं । भुजाओंमें श्रेष्ठ रत्नोंसे जड़े हुए सोनेके बजूबंद शोभायमान हैं । सिरपर बड़ा ही सुन्दर मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, जिनमें जड़े हुए बहुमूल्य रत्न जगमगा रहे हैं ॥ ९ ॥

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये[3]
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्षणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽऽचितम् ॥ १० ॥

उनके चरण-कमल योगेश्वरोंके खिले हुए हृदयकमलकी कर्णिकापर विराजित हैं । उनके हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न—एक सुनहरी रेखा है । गलेमें कौस्तुभमणि लटक रही है । वक्षःस्थल कभी न कुम्हलानेवाली वनमालासे घिरा हुआ है ॥ १० ॥

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-[4]
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११ ॥

वे कमरमें करधनी, अँगुलियोंमें बहुमूल्य अँगूठी, चरणोंमें नूपुर और हाथोंमें कंगन आदि आभूषण धारण किये हुए हैं । उनके बालोंकी लटें बहुत चिकनी, निर्मल, घुँघराली और नीली हैं । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिल रहा है ॥ ११ ॥

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं[5]
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ १२ ॥

लीलापूर्ण उन्मुक्त हास्य और चितवनसे शोभायमान भौंहोंके द्वारा वे भक्तजनोंपर अनन्त अनुग्रहकी वर्षा कर रहे हैं । जबतक मन इस धारणाके द्वारा स्थिर न हो जाय, तबतक बार-बार इन चिन्तनस्वरूप भगवान्‌को देखते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्[6]
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥[7]

भगवान्‌के चरणकमलोंसे लेकर उनके मुसकानयुक्त मुख-कमलपर्यन्त समस्त अङ्गोंकी एक-एक करके बुद्धिके द्वारा धारणा करनी चाहिये । जैसे-जैसे बुद्धि शुद्ध होती जायगी, वैसे-वैसे चित्त स्थिर होता जायगा; जब एक अङ्गका ध्यान ठीक-ठीक होने लगे, तब उसे छोड़कर दूसरे अङ्गका ध्यान करना

१. प्रा० पा०—केचित्स्वदेहेऽन्तर्हृदोऽवकाशे । २. प्रा० पा०—महाहारहिरण्मया० । ३. प्रा० पा०—कर्णिकालयम् । ४. प्रा० पा०—स्निग्धामलैः । ५. प्रा० पा०—मयमेतमीश्व० । ६. प्रा० पा०—भावयन् । ७. प्रा० पा०—चात्मनि ।

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥१४॥

स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥१५॥

मनः[1] स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ[2] एतां निनयेत् तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥१६॥

न यत्र कालोऽनिमिषां परः[3] प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो[4] न महान् प्रधानम् ॥१७॥

परं पदं[5] वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥१८॥

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो
विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥१९॥

चाहिये ॥ १३ ॥ ये विश्वेश्वर भगवान् दृश्य नहीं, द्रष्टा हैं । सगुण, निर्गुण—सब कुछ इन्हींका स्वरूप है । जबतक इनमें अनन्य प्रेममय भक्तियोग न हो जाय, तबतक साधकको नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके बाद एकाग्रतासे भगवान्के उपर्युक्त स्थूल रूपका ही चिन्तन करना चाहिये ॥ १४ ॥

परीक्षित् ! जब योगी पुरुष इस मनुष्य-लोकको छोड़ना चाहे, तब देश और कालमें मनको न लगाये । सुखपूर्वक स्थिर आसनसे बैठकर प्राणोंको जीतकर मनसे इन्द्रियोंका संयम करे ॥ १५ ॥ तदनन्तर अपनी निर्मल बुद्धिसे मनको नियमित करके मनके साथ बुद्धिको क्षेत्रज्ञमें और क्षेत्रज्ञको अन्तरात्मामें लीन कर दे । फिर अन्तरात्माको परमात्मामें लीन करके धीर पुरुष उस परम शान्तिमय अवस्थामें स्थित हो जाय । फिर उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता ॥ १६ ॥ इस अवस्थामें सत्त्वगुण भी नहीं है, फिर रजोगुण और तमोगुणकी तो बात ही क्या है । अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृतिका भी वहाँ अस्तित्व नहीं है । उस स्थितिमें जब देवताओंके नियामक कालकी भी दाल नहीं गलती, तब देवता और उनके अधीन रहनेवाले प्राणी तो रह ही कैसे सकते हैं ? ॥ १७ ॥ योगी लोग 'यह नहीं, यह नहीं'—इस प्रकार परमात्मासे भिन्न पदार्थोंका त्याग करना चाहते हैं और शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थोंमें आत्म-बुद्धिका त्याग करके हृदयके द्वारा पद-पदपर भगवान्के जिस परमपूज्य स्वरूपका आलिङ्गन करते हुए अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण रहते हैं, वही भगवान् विष्णुका परम पद है—इस विषयमें समस्त शास्त्रोंकी सम्मति है ॥ १८ ॥

ज्ञानदृष्टिके बलसे जिसके चित्तकी वासना नष्ट हो गयी है, उस ब्रह्मनिष्ठ योगीको इस प्रकार अपने शरीरका त्याग करना चाहिये । पहले एड़ीसे अपनी गुदाको दबाकर स्थिर हो जाय और तब बिना घबड़ाहटके प्राणवायुको षट्चक्रभेदनकी रीतिसे ऊपर ले

१. प्रा० पा०—मनश्च बुद्ध्या । २. प्रा० पा०—क्षेत्रज्ञमेतं निनयेद् य आत्मनि । ३. प्रा० पा०—प्रभुः । ४. प्रा० पा०—विकाराः । ५. प्रा० पा०—पदं परं ।

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥२०॥
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥२१॥
यदि प्रयास्यन्[1] नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद् विहारम्[2] ।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥२२॥
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न[3] कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥२३॥
वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्णया ब्रह्मपथेन[4] शोचिषा[5] ।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२४॥
तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति
कल्पायुषो यद्[6] विबुधा रमन्ते ॥२५॥
अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।

जाय ॥ १९ ॥ मनस्वी योगीको चाहिये कि नाभिचक्र मणिपूरकमें स्थित वायुको हृदयचक्र अनाहतमें, वहाँसे उदानवायुके द्वारा वक्षःस्थलके ऊपर विशुद्ध चक्रमें, फिर उस वायुको धीरे-धीरे तालुमूलमें (विशुद्ध चक्रके अग्रभागमें) चढ़ा दे ॥ २० ॥ तदनन्तर दो आँख, दो कान, दो नासाछिद्र और मुख—इन सातों छिद्रोंको रोककर उस तालुमूलमें स्थित वायुको भौंहोंके बीच आज्ञाचक्रमें ले जाय । यदि किसी लोकमें जानेकी इच्छा न हो तो आधी घड़ीतक उस वायुको वहीं रोककर स्थिर लक्ष्यके साथ उसे सहस्रारमें ले जाकर परमात्मामें स्थित हो जाय । इसके बाद ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके शरीर-इन्द्रियादिको छोड़ दे ॥ २१ ॥

परीक्षित् ! यदि योगीकी इच्छा हो कि मैं ब्रह्मलोकमें जाऊँ, आठों सिद्धियाँ प्राप्त करके आकाशचारी सिद्धोंके साथ विहार करूँ अथवा त्रिगुणमय ब्रह्माण्डके किसी भी प्रदेशमें विचरण करूँ, तो उसे मन और इन्द्रियोंको साथ ही लेकर शरीरसे निकलना चाहिये ॥ २२ ॥ योगियोंका शरीर वायुकी भाँति सूक्ष्म होता है । उपासना, तपस्या, योग और ज्ञानका सेवन करनेवाले योगियोंको त्रिलोकीके बाहर और भीतर सर्वत्र स्वच्छन्दरूपसे विचरण करनेका अधिकार होता है । केवल कर्मोंके द्वारा इस प्रकार बेरोक-टोक विचरना नहीं हो सकता ॥२३॥ परीक्षित् ! योगी ज्योतिर्मय मार्ग सुषुम्णाके द्वारा जब ब्रह्मलोकके लिये प्रस्थान करता है, तब पहले वह आकाशमार्गसे अग्निलोकमें जाता है; वहाँ उसके बचे-खुचे मल भी जल जाते हैं । इसके बाद वह वहाँसे ऊपर भगवान् श्रीहरिके शिशुमार नामक ज्योतिर्मय चक्रपर पहुँचता है ॥ २४ ॥ भगवान् विष्णुका यह शिशुमार चक्र विश्वब्रह्माण्डके भ्रमणका केन्द्र है । उसका अतिक्रमण करके अत्यन्त सूक्ष्म एवं निर्मल शरीरसे वह अकेला ही महर्लोकमें जाता है । वह लोक ब्रह्मवेत्ताओंके द्वारा भी वन्दित है और उसमें कल्पपर्यन्त जीवित रहनेवाले देवता विहार करते रहते हैं ॥ २५ ॥ फिर जब प्रलय-का समय आता है, तब नीचेके लोकोंको शेषके मुखसे निकली हुई आगके द्वारा भस्म होते देख वह ब्रह्मलोकमें

१. प्रा० पा०—प्रयास्यन्नथ । २. प्रा० पा०—विहारान् । ३. प्रा० पा०—तत्कर्म० । ४. प्रा० पा०—ब्रह्मपदेन । ५. प्रा० पा०—योऽचिषा । ६. प्रा० पा०—विबुधा यद्रमन्ते ।

निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं
यद् द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥२६॥
न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां
दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥२७॥
ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ॥२८॥
घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपं तु दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥२९॥
स[२] भूतसूक्ष्मेन्द्रियसंनिकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञानतत्त्वं गुणसंनिरोधम् ॥३०॥

चला जाता है, जिस ब्रह्मलोकमें बड़े-बड़े सिद्धेश्वर विमानोंपर निवास करते हैं । उस ब्रह्मलोककी आयु ब्रह्माकी आयुके समान ही दो परार्द्धकी है ॥ २६ ॥ वहाँ न शोक है न दुःख, न बुढ़ापा है न मृत्यु । फिर वहाँ किसी प्रकारका उद्वेग या भय तो हो ही कैसे सकता है । वहाँ यदि दुःख है तो केवल एक बातका । वह यही कि इस परमपदको न जाननेवाले लोगोंके जन्म-मृत्युमय अत्यन्त घोर संकटोंको देखकर दयावश वहाँके लोगोंके मनमें बड़ी व्यथा होती है ॥ २७ ॥ सत्यलोकमें पहुँचनेके पश्चात् वह योगी निर्भय होकर अपने सूक्ष्म शरीरको पृथ्वीसे मिला देता है और फिर उतावली न करते हुए सात आवरणोंका भेदन करता है । पृथ्वीरूपसे जलको और जलरूपसे अग्निमय आवरणोंको प्राप्त होकर वह ज्योतिरूपसे वायुरूप आवरणमें आ जाता है और वहाँसे समयपर ब्रह्मकी अनन्तताका बोध करानेवाले आकाशरूप आवरणको प्राप्त करता है ॥२८॥ इस प्रकार स्थूल आवरणोंको पार करते समय उसकी इन्द्रियाँ भी अपने सूक्ष्म अधिष्ठानमें लीन होती जाती हैं । घ्राणेन्द्रिय गन्धतन्मात्रामें, रसना रसतन्मात्रामें, नेत्र रूपतन्मात्रामें, त्वचा स्पर्शतन्मात्रामें, श्रोत्र शब्दतन्मात्रामें और कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी क्रियाशक्तिमें मिलकर अपने-अपने सूक्ष्मस्वरूपको प्राप्त हो जाती हैं ॥२९॥ इस प्रकार योगी पञ्चभूतोंके स्थूल-सूक्ष्म आवरणोंको पार करके अहङ्कारमें प्रवेश करता है । वहाँ सूक्ष्म भूतोंको तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंको राजस अहङ्कारमें तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहङ्कारमें लीन कर देता है । इसके बाद अहङ्कारताके सहित लय-रूप गतिके द्वारा महत्तत्त्वमें प्रवेश करके अन्तमें समस्त गुणोंके लयस्थान प्रकृतिरूप आवरणमें जा मिलता

१. प्रा० पा०—विश्वेश्वर० । २. प्राचीन प्रतिमें 'स भूतसूक्ष्मे०·· ···'से लेकर '······ऽवसाने' तक डेढ़ श्लोककी जगह कुछ परिवर्तनके साथ दो चरण और बढ़ाकर पूरे दो श्लोक मिलते हैं, यथा—

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षात् सनातनोऽसौ भगवाननादिः ।
अनामयं देवमयं विकार्यं संसाद्य गत्या सह तेन याति ॥ १ ॥
विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधं तेनात्मनात्मानमुपैति शान्तम् ।
आनन्दमानन्दमयोऽवसाने सर्वात्मके ब्रह्मणि वासुदेवे ॥ २ ॥

—इसके आगे मूलके ही अनुसार है ।

तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥३१॥
एते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे ह[1] सनातने च ।
ये[2] वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥३२॥
न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥३३॥
भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥३४॥
भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥३५॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥३६॥
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु[3] सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥३७॥

है ॥ ३० ॥ परीक्षित् ! महाप्रलयके समय प्रकृतिरूप आवरणका भी लय हो जानेपर वह योगी स्वयं आनन्दस्वरूप होकर अपने उस निरावरण रूपसे आनन्दस्वरूप शान्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जिसे इस भगवन्मयी गतिकी प्राप्ति हो जाती है, उसे फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता ॥३१॥ परीक्षित् ! तुमने जो पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने वेदोक्त द्विविध सनातन मार्ग सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका तुमसे वर्णन किया । पहले ब्रह्माजीने भगवान् वासुदेवकी आराधना करके उनसे जब प्रश्न किया था, तब उन्होंने उत्तरमें इन्हीं दोनों मार्गोंकी बात ब्रह्माजीसे कही थी ॥ ३२ ॥

संसार-चक्रमें पड़े हुए मनुष्यके लिये, जिस साधनके द्वारा उसे भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है ॥ ३३ ॥ भगवान् ब्रह्माने एकाग्र चित्तसे सारे वेदोंका तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धिसे यही निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम प्राप्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है ॥ ३४ ॥ समस्त चर-अचर प्राणियोंमें उनके आत्मारूपसे भगवान् श्रीकृष्ण ही लक्षित होते हैं; क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्यपदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं, वे इन सबके साक्षी एकमात्र द्रष्टा हैं ॥३५॥ परीक्षित् ! इसलिये मनुष्योंको चाहिये कि सब समय और सभी स्थितियोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण-कीर्तन और स्मरण करें ॥३६॥ राजन् ! संत पुरुष आत्मस्वरूप भगवान्की कथाका मधुर अमृत बाँटते ही रहते हैं; जो अपने कानके दोनोंमें भर-भरकर उनका पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है, वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी सन्निधि प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे
पुरुषसंस्थावर्णनं[4] नाम[5] द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

१. प्रा० पा०—च । २. प्रा० पा०—यद्वै । ३. प्रा० पा०—पुटेन । ४. प्रा० पा०—महापुरुष० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' नहीं है ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना तथा भगवद्भक्तिके प्राधान्यका निरूपण

श्रीशुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद् भवान् मम ।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥ १ ॥
ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥ २ ॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं[2] स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम् ४
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥ ५ ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥ ६ ॥
यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ[3] उमां सतीम् ॥ ७ ॥
धर्मार्थ[4] उत्तमश्लोकं तन्तुं[5] तन्वन् पितॄन् यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥ ८ ॥
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्[6] ।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्[7] ॥ ९ ॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! तुमने मुझसे जो पूछा था कि मरते समय बुद्धिमान् मनुष्यको क्या करना चाहिये, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया ॥ १ ॥ जो ब्रह्मतेजका इच्छुक हो, वह बृहस्पतिकी, जिसे इन्द्रियोंकी विशेष शक्तिकी कामना हो, वह इन्द्रकी और जिसे संतानकी लालसा हो, वह प्रजापतियोंकी उपासना करे ॥ २ ॥ जिसे लक्ष्मी चाहिये वह मायादेवीकी, जिसे तेज चाहिये वह अग्निकी, जिसे धन चाहिये वह वसुओंकी और जिस प्रभावशाली पुरुषको वीरताकी चाह हो, उसे रुद्रोंकी उपासना करनी चाहिये ॥ ३ ॥ जिसे बहुत अन्न प्राप्त करनेकी इच्छा हो, वह अदितिका, जिसे स्वर्गकी कामना हो, वह अदितिके पुत्र देवताओंका, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो, वह विश्वेदेवोंका और जो प्रजाको अपने अनुकूल बनानेकी इच्छा रखता हो उसे साध्य देवताओंका आराधन करना चाहिये ॥ ४ ॥ आयुकी इच्छासे अश्विनीकुमारोंका, पुष्टिकी इच्छासे पृथ्वीका और प्रतिष्ठाकी चाह हो तो लोकमाता पृथ्वी और द्यौ (आकाश) का सेवन करना चाहिये ॥ ५ ॥ सौन्दर्यकी चाहसे गन्धर्वोंकी, पत्नीकी प्राप्तिके लिये उर्वशी अप्सराकी और सबका स्वामी बननेके लिये ब्रह्माकी आराधना करनी चाहिये ॥ ६ ॥ जिसे यशकी इच्छा हो वह यज्ञपुरुषकी, जिसे खजानेकी लालसा हो वह वरुणकी, विद्या प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा हो तो भगवान् शंकरकी और पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम बनाये रखनेके लिये पार्वतीजीकी उपासना करनी चाहिये ॥ ७ ॥ धर्म उपार्जन करनेके लिये विष्णुभगवान्‌की, वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये पितरोंकी, बाधाओंसे बचनेके लिये यक्षोंकी और बलवान् होनेके लिये मरुद्गणोंकी आराधना करनी चाहिये ॥ ८ ॥ राज्यके लिये मन्वन्तरोंके अधिपति देवोंको, अभिचारके लिये निर्ऋतिको, भोगोंके लिये चन्द्रमाको और निष्कामता प्राप्त करनेके लिये परम पुरुष नारायणको भजना चाहिये ॥ ९ ॥ और जो बुद्धिमान् पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—उसे तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—कामाय । २. प्रा० पा०—त्वतिथिं । ३. प्रा० पा०—त्यार्थमुमां । ४. प्रा० पा०—धर्मार्थमुत्तम० । ५. प्रा० पा०—तन्तुकामः पितॄन् । ६. प्रा० पा०—नरः । ७. प्रा० पा०—पुमान् ।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः ॥११॥

ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥१२॥

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः ।
किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥१३॥

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ॥१४॥

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः ।
बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे ॥१५॥

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः ।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥१६॥

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥१७॥

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥१९॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।

जितने भी उपासक हैं, उनका सबसे बड़ा हित इसीमें है कि वे भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करके भगवान्‌में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें ॥११॥ ऐसे पुरुषोंके सत्सङ्गमें जो भगवान्‌की लीला-कथाएँ होती हैं, उनसे उस दुर्लभ ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे संसार-सागरकी त्रिगुणमयी तरङ्गमालाओंके थपेड़े शान्त हो जाते हैं, हृदय शुद्ध होकर आनन्दका अनुभव होने लगता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति नहीं रहती, कैवल्यमोक्षका सर्वसम्मत मार्ग भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌की ऐसी रसमयी कथाओंका चस्का लग जानेपर भला कौन ऐसा है, जो उनमें प्रेम न करे ॥१२॥

शौनकजीने कहा—सूतजी ! राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीकी यह बात सुनकर उनसे और क्या पूछा ? वे तो सर्वज्ञ होनेके साथ-ही-साथ मधुर वर्णन करनेमें भी बड़े निपुण थे ॥१३॥ सूतजी ! आप तो सब कुछ जानते हैं। हमलोग उनकी वह बातचीत बड़े प्रेमसे सुनना चाहते हैं, आप कृपा करके अवश्य सुनाइये। क्योंकि संतोंकी सभामें ऐसी ही बातें होती हैं, जिनका पर्यवसान भगवान्‌की रसमयी लीला-कथामें ही होता है ॥१४॥ पाण्डुनन्दन महारथी राजा परीक्षित् बड़े भगवद्भक्त थे। बाल्यावस्थामें खिलौनोंसे खेलते समय भी वे श्रीकृष्णलीलाका ही रस लेते थे ॥१५॥ भगवन्मय श्रीशुकदेवजी भी जन्मसे ही भगवत्परायण हैं। ऐसे संतोंके सत्सङ्गमें भगवान्‌के मङ्गलमय गुणोंकी दिव्य चर्चा अवश्य ही हुई होगी ॥१६॥ जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्योंकी आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान् सूर्य प्रतिदिन अपने उदय और अस्तसे उनकी आयु छीनते जा रहे हैं ॥१७॥ क्या वृक्ष नहीं जीते ? क्या लुहारकी धौंकनी साँस नहीं लेती ? गाँवके अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य-पशुकी ही तरह खाते-पीते या मैथुन नहीं करते ? ॥१८॥ जिसके कानमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथा कभी नहीं पड़ी, वह नर-पशु, कुत्ते, ग्राम-सूकर, ऊँट और गधेसे भी गया-बीता है ॥१९॥

सूतजी ! जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिलके समान हैं। जो जीभ

१. प्रा० पा०—उभयत्र। यह पाठान्तर श्रीधरस्वामीने भी माना है।

जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो[1] हरेर्यौ ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्री[2]विष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥२४॥
अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवत[3]प्रधानः ।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥२५॥

भगवान्‌की लीलाओंका गायन नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है; उसका तो न रहना ही अच्छा है ॥ २० ॥ जो सिर कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें झुकता नहीं, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी बोझमात्र ही है । जो हाथ भगवान्‌की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सोने-के कंगनसे भूषित होनेपर भी मुर्देके हाथ हैं ॥ २१ ॥ जो आँखें भगवान्‌की याद दिलानेवाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदिका दर्शन नहीं करतीं, वे मोरोंकी पाँखमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान निरर्थक हैं । मनुष्योंके वे पैर चलनेकी शक्ति रखनेपर भी न चलनेवाले पेड़ों-जैसे ही हैं, जो भगवान्‌की लीला-स्थलियोंकी यात्रा नहीं करते ॥ २२ ॥ जिस मनुष्यने भगवत्प्रेमी संतोंके चरणोंकी धूल कभी सिरपर नहीं चढ़ायी, वह जीता हुआ भी मुर्दा है । जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की, वह श्वास लेता हुआ भी श्वासरहित शव है ॥ २३ ॥ सूतजी ! वह हृदय नहीं, लोहा है, जो भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंका श्रवण-कीर्तन करनेपर भी पिघलकर उन्हींकी ओर बह नहीं जाता । जिस समय हृदय पिघल जाता है, उस समय नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरका रोम-रोम खिल उठता है ॥ २४ ॥ प्रिय सूतजी ! आपकी वाणी हमारे हृदयको मधुरतासे भर देती है । इसलिये भगवान्‌के परम भक्त, आत्मविद्या-विशारद श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्‌के सुन्दर प्रश्न करनेपर जो कुछ कहा, वह संवाद आप कृपा करके हमलोगोंको सुनाइये ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—व्रजतां । २. प्रा० पा०—यो विष्णु० । ३. प्रा० पा०—···तः प्र० । ४. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'महापुरुषवर्णनं' इतना पाठ अधिक है ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

राजाका सृष्टिविषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः ।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥ १ ॥
आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥ २ ॥
पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः[1] ॥ ३ ॥
संस्थां विज्ञाय संन्यस्य[2] कर्म त्रैवर्गिकं च यत् ।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ॥ ४ ॥

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवानघ ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ॥ ५ ॥
भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया ।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥ ६ ॥
यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान् ।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥ ७ ॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः ।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥ ८ ॥

सूतजी कहते हैं—शुकदेवजीके वचन भगवत्तत्त्वका निश्चय करानेवाले थे । उत्तरानन्दन राजा परीक्षित्‌ने उन्हें सुनकर अपनी शुद्ध बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्यभावसे समर्पित कर दी ॥ १ ॥ शरीर, पत्नी, पुत्र, महल, पशु, धन, भाई-बन्धु और निष्कण्टक राज्यमें नित्यके अभ्यासके कारण उनकी दृढ़ ममता हो गयी थी । एक क्षणमें ही उन्होंने उस ममताका त्याग कर दिया ॥ २ ॥ शौनकादि ऋषियो ! महामनस्वी परीक्षित्‌ने अपनी मृत्युका निश्चित समय जान लिया था । इसलिये उन्होंने धर्म, अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी कर्म थे, उनका संन्यास कर दिया । इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णमें सुदृढ़ आत्मभावको प्राप्त होकर बड़ी श्रद्धासे भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुननेके लिये उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे यही प्रश्न किया, जिसे आपलोग मुझसे पूछ रहे हैं॥३-४॥

परीक्षित्‌ने पूछा—भगवत्स्वरूप मुनिवर ! आप परम पवित्र और सर्वज्ञ हैं । आपने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं उचित है । आप ज्यों-ज्यों भगवान्‌की कथा कहते जा रहे हैं, त्यों-त्यों मेरे अज्ञानका परदा फटता जा रहा है ॥ ५ ॥ मैं आपसे फिर भी यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् अपनी मायासे इस संसारकी सृष्टि कैसे करते हैं । इस संसारकी रचना तो इतनी रहस्यमयी है कि ब्रह्मादि समर्थ लोकपाल भी इसके समझनेमें भूल कर बैठते हैं ॥ ६ ॥ भगवान् कैसे इस विश्वकी रक्षा और फिर संहार करते हैं ? अनन्तशक्ति परमात्मा किन-किन शक्तियोंका आश्रय लेकर अपने-आपको ही खिलौने बनाकर खेलते हैं ? वे बच्चोंके बनाये हुए घरौंदोंकी तरह ब्रह्माण्डोंको कैसे बनाते हैं और फिर किस प्रकार बात-की-बातमें मिटा देते हैं ? ॥ ७ ॥ भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ बड़ी ही अद्भुत—अचिन्त्य हैं । इसमें संदेह नहीं कि बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी उनकी लीलाका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—महायशाः । २. प्रा० पा०—विन्यस्य ।

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥
विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु ॥ १० ॥

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः[1] ।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥ १२ ॥
भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥ १३ ॥
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ १४ ॥
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।

भगवान् तो अकेले ही हैं । वे बहुत-से कर्म करनेके लिये पुरुषरूपसे प्रकृतिके विभिन्न गुणोंको एक साथ ही धारण करते हैं अथवा अनेकों अवतार ग्रहण करके उन्हें क्रमशः धारण करते हैं ? ॥ ९ ॥ मुनिवर ! आप वेद और महत्तत्त्व दोनोंके पूर्ण मर्मज्ञ हैं, इसलिये मेरे इस संदेह-का निवारण कीजिये ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—जब राजा परीक्षित्‌ने भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीशुकदेवजीने भगवान् श्रीकृष्ण-का बार-बार स्मरण करके अपना प्रवचन प्रारम्भ किया ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—उन पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरणकमलोंमें मेरे कोटि-कोटि प्रणाम हैं, जो संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करनेके लिये सत्त्व, रज तथा तमोगुणरूप तीन शक्तियोंको स्वीकारकर ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका रूप धारण करते हैं, जो समस्त चर-अचर प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धि-का मार्ग बुद्धिके विषय नहीं हैं, जो स्वयं अनन्त हैं तथा जिनकी महिमा भी अनन्त है ॥ १२ ॥ हम पुनः बार-बार उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं, जो सत्पुरुषों-का दुःख मिटाकर उन्हें अपने प्रेमका दान करते हैं, दुष्टोंकी सांसारिक बढ़ती रोककर उन्हें मुक्ति देते हैं तथा जो लोग परमहंस आश्रममें स्थित हैं, उन्हें उनकी भी अभीष्ट वस्तुका दान करते हैं । क्योंकि चर-अचर समस्त प्राणी उन्हींकी मूर्ति हैं, इसलिये किसीसे भी उनका पक्षपात नहीं है ॥ १३ ॥ जो बड़े ही भक्त-वत्सल हैं और हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करनेवाले लोग जिनकी छाया भी नहीं छू सकते, जिनके समान भी किसी-का ऐश्वर्य नहीं है, फिर उससे अधिक तो हो ही कैसे सकता है तथा ऐसे ऐश्वर्यसे युक्त होकर जो निरन्तर ब्रह्म-स्वरूप अपने धाममें विहार करते रहते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥ जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन जीवों-

१. प्रा० पा०—विभोः ।

लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१५॥
विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१७॥
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥१८॥
स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१९॥
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥२०॥
यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२१॥

के पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है, उन पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णको बार-बार नमस्कार है ॥१५॥ विवेकी पुरुष जिनके चरणकमलोंकी शरण लेकर अपने हृदयसे इस लोक और परलोककी आसक्ति निकाल डालते हैं और बिना किसी परिश्रमके ही ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेते हैं, उन मङ्गलमय कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णको अनेक बार नमस्कार है ॥ १६ ॥ बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रवेत्ता जबतक अपनी साधनाओं-को तथा अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित नहीं कर देते, तबतक उन्हें कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। जिनके प्रति आत्मसमर्पणकी ऐसी महिमा है, उन कल्याण-मयी कीर्तिवाले भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है ॥ १७ ॥ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है ॥ १८ ॥ वे ही भगवान् ज्ञानियोंके आत्मा हैं, भक्तोंके स्वामी हैं, कर्मकाण्डियोंके लिये वेदमूर्ति हैं, धार्मिकोंके लिये धर्ममूर्ति हैं और तपस्वियोंके लिये तपः-स्वरूप हैं। ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े देवता भी अपने शुद्ध हृदयसे उनके स्वरूपका चिन्तन करते और आश्चर्य-चकित होकर देखते रहते हैं। वे मुझपर अपने अनुग्रह-की—प्रसादकी वर्षा करें ॥१९॥ जो समस्त सम्पत्तियों-की स्वामिनी लक्ष्मीदेवीके पति हैं, समस्त यज्ञोंके भोक्ता एवं फलदाता हैं, प्रजाके रक्षक हैं, सबके अन्तर्यामी और समस्त लोकोंके पालनकर्ता हैं तथा पृथ्वीदेवीके स्वामी हैं, जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट होकर अन्धक, वृष्णि एवं यदुवंशके लोगोंकी रक्षा की है तथा जो उन लोगोंके एकमात्र सहारे रहे हैं—वे भक्तवत्सल, संतजनोंके सर्वस्व श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥ २० ॥ विद्वान् पुरुष जिनके चरणकमलोंके चिन्तनरूप समाधिसे शुद्ध हुई बुद्धि-के द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं तथा उनके दर्शनके अनन्तर अपनी-अपनी मति और रुचिके अनुसार जिनके स्वरूपका वर्णन करते रहते हैं, वे प्रेम और मुक्ति-के लुटानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥२१॥

१. प्रा० पा० – व्यतर्क्य ।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥२२॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे॥२३॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥२४॥

एतदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यदाह हरिरात्मनः॥२५॥

जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिये ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अङ्गोंके सहित वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुईं, वे ज्ञानके मूलकारण भगवान् मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों॥२२॥ भगवान् ही पञ्च-महाभूतोंसे इन शरीरोंका निर्माण करके इनमें जीवरूपसे शयन करते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और एक मन—इन सोलह कलाओंसे युक्त होकर इनके द्वारा सोलह विषयोंका भोग करते हैं। वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अपने गुणोंसे अलंकृत कर दें॥ २३ ॥ संत पुरुष जिनके मुखकमलसे मकरन्दके समान झरती हुई ज्ञानमयी सुधाका पान करते रहते हैं उन वासुदेवावतार सर्वज्ञ भगवान् व्यासके चरणोंमें मेरा बार-बार नमस्कार है॥ २४ ॥

परीक्षित्! वेदगर्भ स्वयम्भू ब्रह्माने नारदके प्रश्न करनेपर यही बात कही थी, जिसका स्वयं भगवान् नारायणने उन्हें उपदेश किया था (और वही मैं तुमसे कह रहा हूँ)॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीय-स्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सृष्टि-वर्णन

नारद उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।
तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्॥ १ ॥

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः॥ २ ॥

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः।

नारदजीने पूछा—पिताजी! आप केवल मेरे ही नहीं, सबके पिता, समस्त देवताओंसे श्रेष्ठ एवं सृष्टिकर्ता हैं। आपको मेरा प्रणाम है। आप मुझे वह ज्ञान दीजिये, जिससे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है॥ १ ॥ पिताजी! इस संसारका क्या लक्षण है? इसका आधार क्या है? इसका निर्माण किसने किया है? इसका प्रलय किसमें होता है? यह किसके अधीन है? और वास्तवमें यह है क्या वस्तु? आप इसका तत्त्व बतलाइये॥ २ ॥ आप तो यह सब कुछ जानते हैं; क्योंकि जो कुछ हुआ है, हो रहा है या होगा, उसके स्वामी आप ही हैं। यह सारा संसार

१. प्रा० पा०—वितन्वतोऽजस्य। २. प्रा० पा०—विलक्षणा। ३. प्रा० पा०—सर्वं यदाह हरिरीश्वरः। ४. प्राचीन प्रतिमें 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना पाठ अधिक है।

करामलकवद् विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥ ३ ॥

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ।

एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया ॥ ४ ॥

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम् ।

आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः ॥ ५ ॥

नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो ।

नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ॥ ६ ॥

न भवानचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः ।

तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि ॥ ७ ॥

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर ।

विजानीहि यथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।

यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने ॥ ९ ॥

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ।

अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥ १० ॥

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।

यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः ॥ ११ ॥

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।

यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥ १२ ॥

हथेलीपर रक्खे हुए आँवलेके समान आपकी ज्ञान-दृष्टिके अन्तर्गत ही है ॥ ३ ॥ पिताजी ! आपको यह ज्ञान कहाँसे मिला ? आप किसके आधारपर ठहरे हुए हैं ? आपका स्वामी कौन है ? और आपका स्वरूप क्या है ? आप अकेले ही अपनी मायासे पञ्चभूतोंके द्वारा प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं, कितना अद्भुत है ! ॥ ४ ॥ जैसे मकड़ी अनायास ही अपने मुँहसे जाला निकाल-कर उसमें खेलने लगती है, वैसे ही आप अपनी शक्ति-के आश्रयसे जीवोंको अपनेमें ही उत्पन्न करते हैं और फिर भी आपमें कोई विकार नहीं होता ॥ ५ ॥ जगत्-में नाम, रूप और गुणोंसे जो कुछ जाना जाता है, उसमें मैं ऐसी कोई सत्, असत्, उत्तम, मध्यम या अधम वस्तु नहीं देखता, जो आपके सिवा और किसीसे उत्पन्न हुई हो ॥ ६ ॥ इस प्रकार सबके ईश्वर होकर भी आपने एकाग्र चित्तसे घोर तपस्या की, इस बातसे मुझे मोहके साथ-साथ बहुत बड़ी शङ्का भी हो रही है कि आपसे बड़ा भी कोई है क्या ? ॥ ७ ॥ पिताजी ! आप सर्वज्ञ और सर्वेश्वर हैं । जो कुछ मैं पूछ रहा हूँ, वह सब आप कृपा करके मुझे इस प्रकार समझाइये कि जिससे मैं आपके उपदेशको ठीक-ठीक समझ सकूँ ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा नारद ! तुमने जीवोंके प्रति करुणाके भावसे भरकर यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया है; क्योंकि इससे भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई है ॥ ९ ॥ तुमने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, तुम्हारा वह कथन भी असत्य नहीं है; क्योंकि जबतक मुझसे परेका तत्त्व—जो स्वयं भगवान् ही हैं—जान नहीं लिया जाता, तबतक मेरा ऐसा ही प्रभाव प्रतीत होता है ॥ १० ॥ जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित होकर जगत्में प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही मैं भी उन्हीं स्वयंप्रकाश भगवान्के चिन्मय प्रकाशसे प्रकाशित होकर संसारको प्रकाशित कर रहा हूँ ॥ ११ ॥ उन भगवान् वासुदेव-की मैं वन्दना करता हूँ और ध्यान भी, जिनकी दुर्जय मायासे मोहित होकर लोग मुझे जगद्गुरु

१. प्रा० पा०—सूत्रनाभि० । २. प्रा० पा०—तस्मि० । ३. प्रा० पा०—तत्त्वमेतावत्त्वं । ४. प्रा० पा०—दुर्जयया मां वदन्ति ।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥१३॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥१४॥

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥१५॥

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥१६॥

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥१७॥

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥१८॥

कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः ।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥१९॥

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः ।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥२०॥

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥२१॥

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥२२॥

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात् ।
तमःप्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥२३॥

कहते हैं ॥ १२ ॥ यह माया तो उनकी आँखोंके सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूरसे ही भाग जाती है। परंतु संसारके अज्ञानी जन उसीसे मोहित होकर 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार बकते रहते हैं ॥ १३ ॥ भगवत्स्वरूप नारद! द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—वास्तवमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है ॥ १४ ॥ वेद नारायणके परायण हैं। देवता भी नारायणके ही अङ्गोंमें कल्पित हुए हैं और समस्त यज्ञ भी नारायणकी प्रसन्नताके लिये ही हैं और उनसे जिन लोगोंकी प्राप्ति होती है, वे भी नारायणमें ही कल्पित हैं ॥ १५ ॥ सब प्रकारके योग भी नारायणकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। सारी तपस्याएँ नारायणकी ओर ही ले जानेवाली हैं, ज्ञानके द्वारा भी नारायण ही जाने जाते हैं। समस्त साध्य और साधनोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है ॥ १६ ॥ वे द्रष्टा होनेपर भी ईश्वर हैं, स्वामी हैं; निर्विकार होनेपर भी सर्वस्वरूप हैं। उन्होंने ही मुझे बनाया है और उनकी दृष्टिसे ही प्रेरित होकर मैं उनके इच्छानुसार सृष्टि-रचना करता हूँ ॥ १७ ॥ भगवान् मायाके गुणोंसे रहित एवं अनन्त हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिये रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—ये तीन गुण मायाके द्वारा उनमें स्वीकार किये गये हैं ॥ १८ ॥ ये ही तीनों गुण द्रव्य, ज्ञान और क्रियाका आश्रय लेकर मायातीत नित्यमुक्त पुरुषको ही मायामें स्थित होनेपर कार्य, कारण और कर्तापनके अभिमानसे बाँध लेते हैं ॥ १९ ॥ नारद! इन्द्रियातीत भगवान् गुणोंके इन तीन आवरणों-से अपने स्वरूपको भलीभाँति ढक लेते हैं, इसलिये लोग उनको नहीं जान पाते। सारे संसारके और मेरे भी एकमात्र स्वामी वे ही हैं ॥ २० ॥

मायापति भगवान्‌ने एकसे बहुत होनेकी इच्छा होनेपर अपनी मायासे अपने स्वरूपमें स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार कर लिया ॥ २१ ॥ भगवान्‌की शक्तिसे ही कालने तीनों गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न कर दिया, स्वभावने उन्हें रूपान्तरित कर दिया और कर्मने महत्तत्त्वको जन्म दिया ॥ २२ ॥ रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि होनेपर महत्तत्त्वका जो विकार हुआ उससे ज्ञान, क्रिया और द्रव्यरूप तमःप्रधान

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो ॥२४॥
तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः॥२५॥
नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः ।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥२६॥
वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः ।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवत् ॥२७॥
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् ।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥२८॥
विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् ।
परान्वयाद् रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः ॥२९॥
वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥३०॥
तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः ॥३१॥
यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तमम् ॥३२॥
तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः ।

विकार हुआ ॥ २३ ॥ वह अहंकार कहलाया और विकारको प्राप्त होकर तीन प्रकारका हो गया। उसके भेद हैं—वैकारिक, तैजस और तामस। नारदजी! वे क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्तिप्रधान हैं ॥२४॥ जब पञ्चमहाभूतोंके कारणरूप तामस अहंकारमें विकार हुआ, तब उससे आकाशकी उत्पत्ति हुई। आकाशकी तन्मात्रा और गुण शब्द है। इस शब्दके द्वारा ही द्रष्टा और दृश्यका बोध होता है ॥२५॥ जब आकाशमें विकार हुआ, तब उससे वायुकी उत्पत्ति हुई; उसका गुण स्पर्श है। अपने कारणका गुण आ जानेसे यह शब्दवाला भी है। इन्द्रियोंमें स्फूर्ति, शरीरमें जीवनीशक्ति, ओज और बल—इसीके रूप हैं ॥ २६ ॥ काल, कर्म और स्वभावसे वायुमें भी विकार हुआ। उससे तेजकी उत्पत्ति हुई। इसका प्रधान गुण रूप है। साथ ही इसके कारण आकाश और वायुके गुण शब्द एवं स्पर्श भी इसमें हैं ॥ २७ ॥ तेजके विकारसे जलकी उत्पत्ति हुई। इसका गुण है रस; कारण-तत्त्वोंके गुण शब्द, स्पर्श और रूप भी इसमें हैं ॥ २८ ॥ जलके विकारसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, इसका गुण है गन्ध। कारणके गुण कार्यमें आते हैं—इस न्यायसे शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चारों गुण भी इसमें विद्यमान हैं ॥ २९ ॥ वैकारिक अहंकारसे मनकी और इन्द्रियोंके दस अधिष्ठातृ-देवताओंकी भी उत्पत्ति हुई। उनके नाम हैं—दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति ॥ ३० ॥ तैजस अहंकारके विकारसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही ज्ञानशक्तिरूप बुद्धि और क्रियाशक्तिरूप प्राण भी तैजस अहंकारसे ही उत्पन्न हुए ॥ ३१ ॥

श्रेष्ठ ब्रह्मवित्! जिस समय ये पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन और सत्त्व आदि तीनों गुण परस्पर संगठित नहीं थे, तब अपने रहनेके लिये भोगोंके साधनरूप शरीरकी रचना नहीं कर सके ॥ ३२ ॥ जब भगवान्‌ने इन्हें अपनी शक्तिसे प्रेरित किया, तब वे तत्त्व परस्पर एक दूसरेके साथ मिल गये और उन्होंने आपसमें कार्य-

१. प्रा० पा०—सोऽभवत्त्रिधा। २. प्रा० पा०—य एते।

सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥३३॥
वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥३४॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥३५॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥३६॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥३७॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥३८॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥३९॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥४०॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ॥४१॥
भूर्लोकः[1] कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥४२॥

कारणभाव स्वीकार करके व्यष्टि-समष्टिरूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड—दोनोंकी रचना की ॥ ३३ ॥ वह ब्रह्माण्डरूप अंडा एक सहस्र वर्षतक निर्जीवरूपसे जलमें पड़ा रहा; फिर काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार करनेवाले भगवान्‌ने उसे जीवित कर दिया ॥ ३४ ॥ उस अंडेको फोड़कर उसमेंसे वही विराट् पुरुष निकला, जिसकी जङ्घा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और सिर सहस्रोंकी संख्यामें हैं ॥ ३५ ॥ विद्वान् पुरुष (उपासनाके लिये) उसीके अङ्गोंमें समस्त लोक और उनमें रहनेवाली वस्तुओंकी कल्पना करते हैं । उसकी कमरसे नीचेके अङ्गोंमें सातों पातालकी और उसके पेड़ूसे ऊपरके अङ्गोंमें सातों स्वर्गकी कल्पना की जाती है ॥ ३६ ॥ ब्राह्मण इस विराट् पुरुषका मुख हैं, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, जाँघोंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं ॥ ३७ ॥ पैरोंसे लेकर कटिपर्यन्त सातों पाताल तथा भूलोककी कल्पना की गयी है; नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्लोककी और परमात्माके वक्षःस्थलमें महार्लोककी कल्पना की गयी है ॥ ३८ ॥ उसके गलेमें जनलोक, दोनों स्तनोंमें तपोलोक और मस्तकमें ब्रह्माका नित्य निवासस्थान सत्यलोक है ॥ ३९ ॥ उस विराट् पुरुषकी कमरमें अतल, जाँघोंमें वितल, घुटनोंमें पवित्र सुतललोक और जङ्घाओंमें तलातलकी कल्पना की गयी है ॥ ४० ॥ एड़ीके ऊपरकी गाँठोंमें महातल, पंजे और एड़ियोंमें रसातल और तलुओंमें पाताल समझना चाहिये । इस प्रकार विराट् पुरुष सर्वलोकमय है ॥ ४१ ॥ विराट् भगवान्‌के अङ्गोंमें इस प्रकार भी लोकोंकी कल्पना की जाती है कि उनके चरणोंमें पृथ्वी है, नाभिमें भुवर्लोक है और सिरमें स्वर्लोक है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोक नहीं है । २. प्रा० पा०—इसके पहले 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना अधिक पाठ है ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

विराट् स्वरूपकी विभूतियोंका वर्णन

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥ १ ॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने ।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥ २ ॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी ।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ।
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम् ॥ ३ ॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ।
रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः ॥ ४ ॥
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् ॥ ५ ॥
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥ ६ ॥
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ॥ ७ ॥
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः ॥ ८ ॥
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः ॥ ९ ॥
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।

ब्रह्माजी कहते हैं—उन्हीं विराट् पुरुषके मुखसे वाणी और उसके अधिष्ठातृदेवता अग्नि उत्पन्न हुए हैं। सातों छन्द* उनकी सात धातुओंसे निकले हैं। मनुष्यों, पितरों और देवताओंके भोजन करनेयोग्य अमृतमय अन्न, सब प्रकारके रस, रसनेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृदेवता वरुण विराट् पुरुषकी जिह्वासे उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥ उनके नासाछिद्रोंसे प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण और वायु तथा घ्राणेन्द्रियसे अश्विनीकुमार, समस्त ओषधियाँ एवं साधारण तथा विशेष गन्ध उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ उनकी नेत्रेन्द्रिय रूप और तेजकी तथा नेत्र-गोलक स्वर्ग और सूर्यकी जन्मभूमि हैं। समस्त दिशाएँ और पवित्र करनेवाले तीर्थ कानोंसे तथा आकाश और शब्द श्रोत्रेन्द्रियसे निकले हैं। उनका शरीर संसारकी सभी वस्तुओंके सारभाग तथा सौन्दर्यका खजाना है ॥ ३ ॥ सारे यज्ञ, स्पर्श और वायु उनकी त्वचासे निकले हैं; उनके रोम सभी उद्भिज्ज पदार्थोंके जन्मस्थान हैं, अथवा केवल उन्हींके, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥ उनके केश, दाढ़ी-मूँछ और नखोंसे मेघ, बिजली, शिला एवं लोहा आदि धातुएँ तथा भुजाओंसे प्रायः संसारकी रक्षा करनेवाले लोकपाल प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥ उनका चलना-फिरना भूः भुवः स्वः—तीनों लोकोंका आश्रय है। उनके चरणकमल प्राप्तकी रक्षा करते हैं और भयोंको भगा देते हैं तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति उन्हींसे होती है ॥ ६ ॥ विराट् पुरुषका लिङ्ग जल, वीर्य, सृष्टि, मेघ और प्रजापतिका आधार है तथा उनकी जननेन्द्रिय मैथुनजनित आनन्दका उद्गम है ॥ ७ ॥ नारदजी! विराट् पुरुषकी पायु-इन्द्रिय यम, मित्र और मलत्यागका तथा गुदाद्वार हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु और नरकका उत्पत्तिस्थान है ॥ ८ ॥ उनकी पीठसे पराजय, अधर्म और अज्ञान, नाड़ियोंसे नद-नदी और हड्डियोंसे पर्वतोंका निर्माण हुआ है ॥ ९ ॥ उनके उदरमें मूल प्रकृति, रस नामकी धातु तथा समुद्र, समस्त प्राणी और उनकी मृत्यु समायी हुई है। उनका

* गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पङ्क्ति और जगती—ये सात छन्द हैं।

उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥१०॥
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥११॥
अहं भवान् भवश्चैव त[1] इमे मुनयोऽग्रजाः ।
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ॥१२॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥१३॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥१४॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥१५॥
स्वधिष्ण्यं प्रतपन्[2] प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥१६॥
सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥१७॥
पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि[3] मूर्धसु ॥१८॥
पादास्त्रयो बहिश्चा[4]सन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृ[5]हद्व्रतः ॥१९॥

हृदय ही मनकी जन्मभूमि है ॥ १० ॥ नारद ! हम, तुम, धर्म, सनकादि, शंकर, विज्ञान और अन्तःकरण—सब-के-सब उनके चित्तके आश्रित हैं ॥११॥ (कहाँतक गिनायें—) मैं, तुम, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि, शंकर, देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, रेंगनेवाले जन्तु, गन्धर्व, अप्सराएँ, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, सर्प, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष और भी नाना प्रकारके जीव—जो आकाश, जल या स्थलमें रहते हैं—ग्रह-नक्षत्र, केतु (पुच्छल तारे), तारे, बिजली और बादल—ये सब-के-सब विराट् पुरुष ही हैं। यह सम्पूर्ण विश्व—जो कुछ कभी था, है या होगा—सबको वह घेरे हुए है और उसके अंदर यह विश्व उसके केवल दस अंगुलके* परिमाणमें ही स्थित है ॥१२—१५॥ जैसे सूर्य अपने मण्डलको प्रकाशित करते हुए ही बाहर भी प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही पुराणपुरुष परमात्मा भी सम्पूर्ण विराट् विग्रहको प्रकाशित करते हुए ही उसके बाहर-भीतर—सर्वत्र एकरस प्रकाशित हो रहा है॥ १६ ॥ मुनिवर ! जो कुछ मनुष्यकी क्रिया और सङ्कल्पसे बनता है, उससे वह परे है और अमृत एवं अभयपद (मोक्ष) का स्वामी है। यही कारण है कि कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता ॥ १७ ॥ सम्पूर्ण लोक भगवान्के एक पादमात्र (अंशमात्र) हैं तथा उनके अंशमात्र लोकोंमें समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन, तप और सत्यलोकोंमें क्रमशः अमृत, क्षेम एवं अभयका नित्य निवास है ॥ १८ ॥

जन, तप और सत्य—इन तीनों लोकोंमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी निवास करते हैं। दीर्घकालीन ब्रह्मचर्यसे रहित गृहस्थ भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके भीतर ही निवास करते हैं ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—य इमे । २. प्रा० पा०—प्रातपत्प्राणो । ३. प्रा० पा०—वापि । ४. प्रा० पा०—बहिस्त्वासन् प्रजानां त्रय आश्रमाः । ५. प्रा० पा०—महद्व्रतम् ।

* ब्रह्माण्डके सात आवरणोंका वर्णन करते हुए वेदान्त-प्रक्रियामें ऐसा माना है कि पृथ्वीसे दसगुना जल है, जलसे दसगुना अग्नि, अग्निसे दसगुना वायु, वायुसे दसगुना आकाश, आकाशसे दसगुना अहंकार, अहंकारसे दसगुना महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे दसगुनी मूल प्रकृति है। वह प्रकृति भगवान्के केवल एक पादमें है। इस प्रकार भगवान्की महत्ता प्रकट की गयी है। यह दशाङ्गुल-न्याय कहलाता है।

सृती विचक्रमे विष्वङ्[1] साशनानशने उभे ।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः[2] ॥२०॥

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः ।
तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्[3] ॥२१॥

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते ॥२२॥
तेषु यज्ञस्य[4] पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः ॥२३॥
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥२४॥
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च ॥२५॥
गतयो मतयः श्रद्धा प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते[5] सम्भाराः सम्भृता मया ॥२६॥
इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥२७॥
ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः ॥२८॥
ततश्च मनवः काले[6] ईजिरे ऋषयोऽपरे ।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥२९॥
नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥३०॥

शास्त्रोंमें दो मार्ग बतलाये गये हैं—एक अविद्यारूप कर्म-मार्ग, जो सकाम पुरुषोंके लिये है और दूसरा उपासनारूप विद्याका मार्ग, जो निष्काम उपासकोंके लिये है। मनुष्य दोनोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर भोग प्राप्त करानेवाले दक्षिण-मार्गसे अथवा मोक्ष प्राप्त करानेवाले उत्तरमार्गसे यात्रा करता है; किंतु पुरुषोत्तम भगवान् दोनोंके आधारभूत हैं ॥ २० ॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करते हुए भी सबसे अलग हैं, वैसे ही जिन परमात्मासे इस अण्डकी और पञ्चभूत, एकादश इन्द्रिय एवं गुणमय विराट्की उत्पत्ति हुई है—वे प्रभु भी इन समस्त वस्तुओंके अंदर और उनके रूपमें रहते हुए भी उनसे सर्वथा अतीत हैं ॥ २१ ॥

जिस समय इस विराट् पुरुषके नाभि-कमलसे मेरा जन्म हुआ, उस समय इस पुरुषके अङ्गोंके अतिरिक्त मुझे और कोई भी यज्ञकी सामग्री नहीं मिली ॥२२॥ तब मैंने उनके अङ्गोंमें ही यज्ञके पशु, यूप (स्तम्भ), कुश, यह यज्ञभूमि और यज्ञके योग्य उत्तम कालकी कल्पना की ॥२३॥ ऋषि-श्रेष्ठ! यज्ञके लिये आवश्यक पात्र आदि वस्तुएँ, जौ, चावल आदि ओषधियाँ, घृत आदि स्नेहपदार्थ, छः रस, लोहा, मिट्टी, जल, ऋक्, यजुः, साम, चातुर्होत्र, यज्ञोंके नाम, मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवताओंके नाम, पद्धतिग्रन्थ, सङ्कल्प, तन्त्र (अनुष्ठानकी रीति), गति, मति, श्रद्धा, प्रायश्चित्त और समर्पण—यह समस्त यज्ञ-सामग्री मैंने विराट् पुरुषके अङ्गोंसे ही इकट्ठी की ॥२४–२६॥ इस प्रकार विराट् पुरुषके अङ्गोंसे ही सारी सामग्रीका संग्रह करके मैंने उन्हीं सामग्रियोंसे उन यज्ञस्वरूप परमात्माका यज्ञके द्वारा यजन किया ॥ २७ ॥ तदनन्तर तुम्हारे बड़े भाई इन नौ प्रजापतियोंने अपने चित्तको पूर्ण समाहित करके विराट् एवं अन्तर्यामीरूपसे स्थित उस पुरुषकी आराधना की ॥२८॥ इसके पश्चात् समय-समयपर मनु, ऋषि, पितर, देवता, दैत्य और मनुष्योंने यज्ञोंके द्वारा भगवान्की आराधना की ॥ २९ ॥ नारद! यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं भगवान् नारायणमें स्थित है, जो स्वयं तो प्राकृत गुणोंसे रहित हैं, परंतु सृष्टिके प्रारम्भमें मायाके द्वारा बहुत-से गुण

१. प्रा० पा०—विष्वक्। २. प्रा० पा०—गुणाश्रयः। ३. प्रा० पा०—इवातपत्। ४. प्रा० पा०—यज्ञेषु। ५. प्रा० पा०—रेतैः। ६. प्रा० पा०—काल्मीजिरे।

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।

विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥३१॥

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।

नान्यद्भगवतः किंचिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३२॥

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न[1] वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥३३॥

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः ॥३४॥

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो[2] ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥३५॥

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चा[3]त्मसमं विचक्ष्महे ॥३६॥

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।

न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥३७॥

ग्रहण कर लेते हैं ॥ ३० ॥ उन्हींकी प्रेरणासे मैं इस संसारकी रचना करता हूँ । उन्हींके अधीन होकर रुद्र इसका संहार करते हैं और वे स्वयं ही विष्णुके रूपसे इसका पालन करते हैं; क्योंकि उन्होंने सत्त्व, रज और तमकी तीन शक्तियाँ स्वीकार कर रक्खी हैं ॥३१॥ बेटा ! जो कुछ तुमने पूछा था, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया; भाव या अभाव, कार्य या कारणके रूपमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो भगवान्‌से भिन्न हो ॥ ३२ ॥

प्यारे नारद ! मैं प्रेमपूर्ण एवं उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्‌के स्मरणमें मग्न रहता हूँ, इसीसे मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य सङ्कल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादाका उल्लङ्घन करके कुमार्गमें नहीं जातीं ॥ ३३ ॥ मैं वेदमूर्ति हूँ, मेरा जीवन तपस्यामय है, बड़े-बड़े प्रजापति मेरी वन्दना करते हैं और मैं उनका स्वामी हूँ । पहले मैंने बड़ी निष्ठासे योगका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया था, परंतु मैं अपने मूलकारण परमात्माके स्वरूपको नहीं जान सका ॥ ३४ ॥ (क्योंकि वे तो एकमात्र भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं ।) मैं तो परम मङ्गलमय एवं शरण आये हुए भक्तोंको जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले परम कल्याणस्वरूप भगवान्‌के चरणोंको ही नमस्कार करता हूँ । उनकी मायाकी शक्ति अपार है; जैसे आकाश अपने अन्तको नहीं जानता, वैसे ही वे भी अपनी महिमाका विस्तार नहीं जानते । ऐसी स्थितिमें दूसरे तो उसका पार पा ही कैसे सकते हैं ? ॥ ३५ ॥ मैं, मेरे पुत्र तुमलोग और शंकरजी भी उनके सत्य स्वरूपको नहीं जानते; तब दूसरे देवता तो उन्हें जान ही कैसे सकते हैं । हम सब इस प्रकार मोहित हो रहे हैं कि उनकी मायाके द्वारा रचे हुए जगत्‌को भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ही अटकल लगाते हैं ॥ ३६ ॥

हमलोग केवल जिनके अवतारकी लीलाओंका गान ही करते रहते हैं, उनके तत्त्वको नहीं जानते—उन भगवान्‌के श्रीचरणोंमें मैं नमस्कार करता हूँ ॥३७॥

१. प्रा० पा०—न कर्हिचिन्मे । २. प्रा० पा०—यस्त्वात्ममायाविभवं स्वयं गतो यथा । ३. प्रा० पा०—स्वात्म० ।

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः[1]।
आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च[2]॥ ३८॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥ ३९॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्॥ ४०॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥ ४१॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला
नृलोकपालास्तललोकपालाः॥ ४२॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा
ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः[3] पितॄणां
दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-
कूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः॥ ४३॥
यत्किं च लोके भगवन्महस्व-
दोजःसहस्वद् बलवत् क्षमावत्।
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥ ४४॥
प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।
आपीयतां कर्णकषायशोषा-
ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्[4]॥ ४५॥

वे अजन्मा एवं पुरुषोत्तम हैं। प्रत्येक कल्पमें वे स्वयं अपने आपमें अपने आपकी ही सृष्टि करते हैं, रक्षा करते हैं और संहार कर लेते हैं॥ ३८॥ वे मायाके लेशसे रहित, केवल ज्ञानस्वरूप हैं और अन्तरात्माके रूपमें एकरस स्थित हैं। वे तीनों कालमें सत्य एवं परिपूर्ण हैं; न उनका आदि है न अन्त। वे तीनों गुणोंसे रहित, सनातन एवं अद्वितीय हैं॥ ३९॥ नारद! महात्मालोग जिस समय अपने अन्तःकरण, इन्द्रिय और शरीरको शान्त कर लेते हैं, उस समय उनका साक्षात्कार करते हैं। परंतु जब असत्पुरुषोंके द्वारा कुतर्कोंका जाल बिछाकर उनको ढक दिया जाता है, तब उनके दर्शन नहीं हो पाते॥ ४०॥

परमात्माका पहला अवतार विराट् पुरुष है; उसके सिवा काल, स्वभाव, कार्य, कारण, मन, पञ्च-भूत, अहङ्कार, तीनों गुण, इन्द्रियाँ, ब्रह्माण्ड-शरीर, उसका अभिमानी, स्थावर और जङ्गम जीव—सब-के-सब उन अनन्त भगवान्‌के ही रूप हैं॥ ४१॥ मैं, शंकर, विष्णु, दक्ष आदि ये प्रजापति, तुम और तुम्हारे-जैसे अन्य भक्तजन, स्वर्गलोकके रक्षक, पक्षियोंके राजा, मनुष्य-लोकके राजा, नीचेके लोकोंके राजा; गन्धर्व, विद्याधर और चारणोंके अधिनायक; यक्ष, राक्षस, साँप और नागोंके स्वामी; महर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवराज; और भी प्रेत-पिशाच, भूत-कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग और पक्षियोंके स्वामी; संसारमें और भी जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियबल, मनोबल, शरीर-बल या क्षमासे युक्त हैं; अथवा जो भी विशेष सौन्दर्य, लज्जा, वैभव तथा विभूतिसे युक्त हैं; एवं जितनी भी वस्तुएँ अद्भुत वर्णवाली, रूपवान् या अरूप हैं—वे सब-के-सब परमतत्त्वमय भगवत्स्वरूप ही हैं॥ ४२—४४॥ नारद! इनके सिवा परम पुरुष परमात्माके परम पवित्र एवं प्रधान-प्रधान लीलावतार भी शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनका मैं क्रमशः वर्णन करता हूँ। उनके चरित्र सुननेमें बड़े मधुर एवं श्रवणेन्द्रियके दोषोंको दूर करनेवाले हैं। तुम सावधान होकर उनका रस लो॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

१. प्रा० पा०—ऽसृजत्प्रजाः। २. प्रा० पा०—समं गच्छति पाति। ३. प्रा० पा०—मृषयः। ४. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना पाठ अधिक है।

अथ सप्तमोऽध्यायः

भगवान्‌के लीलावतारोंकी कथा

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्

क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।

अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं

तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥ १ ॥

ब्रह्माजी कहते हैं—अनन्त भगवान्‌ने प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये समस्त यज्ञमय वराह-शरीर ग्रहण किया था। आदिदैत्य हिरण्याक्ष जलके अंदर ही लड़नेके लिये उनके सामने आया। जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंके पंख काट डाले थे, वैसे ही वराह भगवान्‌ने अपनी दाढ़ोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ १ ॥

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ

आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।

लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदाऽऽर्तिं

स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥२॥

फिर उन्हीं प्रभुने रुचि नामक प्रजापतिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे सुयज्ञके रूपमें अवतार ग्रहण किया। उस अवतारमें उन्होंने दक्षिणा नामकी पत्नीसे सुयम नामके देवताओंको उत्पन्न किया और तीनों लोकोंके बड़े-बड़े सङ्कट हर लिये। इसीसे स्वायम्भुव मनुने उन्हें 'हरि'के नामसे पुकारा ॥ २ ॥

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां

स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे ।

ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-

मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥३॥

नारद ! कर्दम प्रजापतिके घर देवहूतिके गर्भसे नौ बहिनोंके साथ भगवान्‌ने कपिलके रूपमें अवतार ग्रहण किया। उन्होंने अपनी माताको उस आत्मज्ञानका उपदेश किया, जिससे वे इसी जन्ममें अपने हृदयके सम्पूर्ण मल—तीनों गुणोंकी आसक्तिका सारा कीचड़ धोकर कपिल भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको प्राप्त हो गयीं ॥ ३ ॥

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो

दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः ।

यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा

योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥४॥

महर्षि अत्रि भगवान्‌को पुत्ररूपमें प्राप्त करना चाहते थे। उनपर प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उनसे एक दिन कहा कि 'मैंने अपने आपको तुम्हें दे दिया।' इसीसे अवतार लेनेपर भगवान्‌का नाम 'दत्त' (दत्तात्रेय) पड़ा। उनके चरणकमलोंके परागसे अपने शरीरको पवित्र करके राजा यदु और सहस्रार्जुन आदिने योगकी भोग और मोक्ष दोनों ही सिद्धियाँ प्राप्त कीं ॥४॥

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे

आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।

नारद ! सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने विविध लोकोंको रचनेकी इच्छासे तपस्या की। मेरे उस अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर उन्होंने 'तप' अर्थवाले 'सन' नामसे युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारके रूपमें अवतार ग्रहण किया। इस अवतारमें उन्होंने प्रलयके

१. प्रा० पा०—य ।

प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥५॥

कारण पहले कल्पके भूले हुए आत्मज्ञानका ऋषियोंके प्रति यथावत् उपदेश किया, जिससे उन लोगोंने तत्काल परम तत्त्वका अपने हृदयमें साक्षात्कार कर लिया ॥ ५ ॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः ।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥६॥

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे वे नर-नारायणके रूपमें प्रकट हुए। उनकी तपस्याका प्रभाव उन्हींके जैसा है। इन्द्रकी भेजी हुई कामकी सेना अप्सराएँ उनके सामने जाते ही अपना स्वभाव खो बैठीं। वे अपने हाव-भावसे उन आत्मस्वरूप भगवान्‌की तपस्यामें विघ्न नहीं डाल सकीं ॥ ६ ॥

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥७॥

नारद! शंकर आदि महानुभाव अपनी रोषभरी दृष्टिसे कामदेवको जला देते हैं, परंतु अपने आपको जलानेवाले असह्य क्रोधको वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायणके निर्मल हृदयमें प्रवेश करनेके पहले ही डरके मारे काँप जाता है। फिर भला उनके हृदयमें कामका प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है ॥ ७ ॥

विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥८॥

अपने पिता राजा उत्तानपादके पास बैठे हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुवको उनकी सौतेली माता सुरुचिने अपने वचन-बाणोंसे बेध दिया था। इतनी छोटी अवस्था होनेपर भी वे उस ग्लानिसे तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये। उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने ध्रुवको ध्रुवपदका वरदान दिया। आज भी ध्रुवके ऊपर-नीचे प्रदक्षिणा करते हुए दिव्य महर्षिगण उनकी स्तुति करते रहते हैं ॥ ८ ॥

यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
विप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥९॥

कुमार्गगामी वेनका ऐश्वर्य और पौरुष ब्राह्मणोंके हुंकाररूपी वज्रसे जलकर भस्म हो गया। वह नरकमें गिरने लगा। ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने उसके शरीर-मन्थनसे पृथुके रूपमें अवतार धारण कर उसे नरकोंसे उबारा और इस प्रकार 'पुत्र'* शब्दको चरितार्थ किया। उसी अवतारमें पृथ्वीको गाय बनाकर उन्होंने उससे जगत्‌के लिये समस्त ओषधियोंका दोहन किया ॥ ९ ॥

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।

राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान्‌ने ऋषभदेवके रूपमें जन्म लिया। इस अवतारमें समस्त आसक्तियोंसे रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मनको

१. प्रा० पा०—भवत्स्वमूर्त्यां। २. प्रा० पा०—प्रभावात्।

* 'पुत्र' शब्दका अर्थ ही है 'पुत्' नामक नरकसे रक्षा करनेवाला।

यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति

स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥१०॥

अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीके रूपमें उन्होंने जड़ोंकी भाँति योगचर्याका आचरण किया। इस स्थितिको महर्षिलोग परमहंसपद अथवा अवधूतचर्या कहते हैं ॥ १० ॥

सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो

साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः।

छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा

वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः॥११॥

इसके बाद स्वयं उन्हीं यज्ञपुरुषने मेरे यज्ञमें स्वर्णके समान कान्तिवाले हयग्रीवके रूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान्‌का वह विग्रह वेदमय, यज्ञमय और सर्वदेवमय है। उन्हींकी नासिकासे श्वासके रूपमें वेदवाणी प्रकट हुई ॥ ११ ॥

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः

क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।

विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे

आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥१२॥

चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें भावी मनु सत्यव्रतने मत्स्यरूपमें भगवान्‌को प्राप्त किया था। उस समय पृथ्वीरूप नौकाके आश्रय होनेके कारण वे ही समस्त जीवोंके आश्रय बने। प्रलयके उस भयंकर जलमें मेरे मुखसे गिरे हुए वेदोंको लेकर वे उसीमें विहार करते रहे ॥ १२ ॥

क्षीरोदधावमरदानवयूथपाना-

मुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।

पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं

निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः ॥१३॥

जब मुख्य-मुख्य देवता और दानव अमृतकी प्राप्तिके लिये क्षीरसागरको मथ रहे थे, तब भगवान्‌ने कच्छपके रूपमें अपनी पीठपर मन्दराचल धारण किया। उस समय पर्वतके घूमनेके कारण उसकी रगड़से उनकी पीठकी खुजलाहट थोड़ी मिट गयी, जिससे वे कुछ क्षणोंतक सुखकी नींद सो सके ॥ १३ ॥

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं

कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।

दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-

दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥१४॥

देवताओंका महान् भय मिटानेके लिये उन्होंने नृसिंहका रूप धारण किया। फड़कती हुई भौंहों और तीखी दाढ़ोंसे उनका मुख बड़ा भयावना लगता था। हिरण्यकशिपु उन्हें देखते ही हाथमें गदा लेकर उनपर टूट पड़ा। इसपर भगवान् नृसिंहने दूरसे ही उसे पकड़कर अपनी जाँघोंपर डाल दिया और उसके छटपटाते रहनेपर भी अपने नखोंसे उसका पेट फाड़ डाला ॥ १४ ॥

अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो

ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।

आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ

तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥१५॥

बड़े भारी सरोवरमें महाबली ग्राहने गजेन्द्रका पैर पकड़ लिया। जब बहुत थककर वह घबरा गया, तब उसने अपनी सूँड़में कमल लेकर भगवान्‌को पुकारा—'हे आदिपुरुष! हे समस्त लोकोंके स्वामी! हे श्रवणमात्रसे कल्याण करनेवाले!' ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—शीर्षशीर्षा। २. प्रा० पा०—मखात्मा। ३. प्रा० पा०—निद्रे०।

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥१६॥

उसकी पुकार सुनकर अनन्तशक्ति भगवान् चक्रपाणि गरुड़की पीठपर चढ़कर वहाँ आये और अपने चक्रसे उन्होंने ग्राहका मस्तक उखाड़ डाला । इस प्रकार कृपा-परवश भगवान्‌ने अपने शरणागत गजेन्द्रकी सूँड़ पकड़-कर उस विपत्तिसे उसका उद्धार किया ॥ १६ ॥

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः ॥१७॥

भगवान् वामन अदितिके पुत्रोंमें सबसे छोटे थे, परंतु गुणोंकी दृष्टिसे वे सबसे बड़े थे; क्योंकि यज्ञपुरुष भगवान्‌ने इस अवतारमें बलिके संकल्प छोड़ते ही सम्पूर्ण लोकोंको अपने चरणोंसे ही नाप लिया था । वामन बनकर उन्होंने तीन पग पृथ्वीके बहाने बलिसे सारी पृथ्वी ले तो ली, परंतु इससे यह बात सिद्ध कर दी कि सन्मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको याचनाके सिवा और किसी उपायसे समर्थ पुरुष भी अपने स्थानसे नहीं हटा सकते, ऐश्वर्यसे च्युत नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच-
मापः शिखाधृतवतो विबुधाधिपत्यम् ।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग[2] शिरसा हरयेऽभिमेने ॥१८॥

दैत्यराज बलिने अपने सिरपर स्वयं वामनभगवान्‌का चरणामृत धारण किया था । ऐसी स्थितिमें उन्हें जो देवताओंके राजा इन्द्रकी पदवी मिली, इसमें कोई बलिका पुरुषार्थ नहीं था । अपने गुरु शुक्राचार्यके मना करनेपर भी वे अपनी प्रतिज्ञाके विपरीत कुछ भी करनेको तैयार नहीं हुए और तो क्या, भगवान्‌का तीसरा पग पूरा करनेके लिये उनके चरणोंमें सिर रखकर उन्होंने अपने आपको भी समर्पित कर दिया ॥ १८ ॥

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥१९॥

नारद ! तुम्हारे अत्यन्त प्रेमभावसे परम प्रसन्न होकर हंसके रूपमें भगवान्‌ने तुम्हें योग, ज्ञान और आत्मतत्त्व-को प्रकाशित करनेवाले भागवतधर्मका उपदेश किया । वह केवल भगवान्‌के शरणागत भक्तोंको ही सुगमतासे प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति ।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥२०॥

वे ही भगवान् स्वायम्भुव आदि मन्वन्तरोंमें मनुके रूपमें अवतार लेकर मनुवंशकी रक्षा करते हुए दसों दिशाओंमें अपने सुदर्शनचक्रके समान तेजसे बेरोक-टोक—निष्कण्टक राज्य करते हैं । तीनों लोकोंके ऊपर सत्यलोकतक उनके चरित्रोंकी कमनीय कीर्ति फैल जाती है और उसी रूपमें वे समय-समयपर पृथ्वीके भारभूत दुष्ट राजाओंका दमन भी करते रहते हैं ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—हरिः स्वम० । २. प्रा० पा०—मनसा ।

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥२१॥
क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु ।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥२२॥
अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ।२३।
यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद् दिधक्षोः ।
दूरेसुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः ॥२४॥
वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बितककुब्जुष ऊढहासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥२५॥

स्वनामधन्य भगवान् धन्वन्तरि अपने नामसे ही बड़े-बड़े रोगियोंके रोग तत्काल नष्ट कर देते हैं। उन्होंने अमृत पिलाकर देवताओंको अमर कर दिया और दैत्योंके द्वारा हरण किये हुए उनके यज्ञभाग उन्हें फिरसे दिला दिये। उन्होंने ही अवतार लेकर संसारमें आयुर्वेदका प्रवर्तन किया॥ २१ ॥

जब संसारमें ब्राह्मणद्रोही आर्यमर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले नारकीय क्षत्रिय अपने नाशके लिये ही दैववश बढ़ जाते हैं और पृथ्वीके काँटे बन जाते हैं, तब भगवान् महापराक्रमी परशुरामके रूपमें अवतीर्ण होकर अपनी तीखी धारवाले फरसेसे इक्कीस बार उनका संहार करते हैं॥ २२ ॥

मायापति भगवान् हमपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी कलाओं—भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मणके साथ श्रीरामके रूपमें इक्ष्वाकुके वंशमें अवतीर्ण होते हैं। इस अवतारमें अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी पत्नी और भाईके साथ वे वनमें निवास करते हैं। उसी समय उनसे विरोध करके रावण उनके हाथों मरता है॥ २३ ॥ त्रिपुर विमानको जलानेके लिये उद्यत शंकरके समान, जिस समय भगवान् राम शत्रुकी नगरी लङ्काको भस्म करनेके लिये समुद्रतटपर पहुँचते हैं, उस समय सीताके वियोगके कारण बढ़ी हुई क्रोधाग्निसे उनकी आँखें इतनी लाल हो जाती हैं कि उनकी दृष्टिसे ही समुद्रके मगरमच्छ, साँप और ग्राह आदि जीव जलने लगते हैं और भयसे थर-थर काँपता हुआ समुद्र झटपट उन्हें मार्ग दे देता है॥ २४ ॥ जब रावणकी कठोर छातीसे टकराकर इन्द्रके वाहन ऐरावतके दाँत चूर-चूर होकर चारों ओर फैल गये थे, जिससे दिशाएँ सफेद हो गयी थीं, तब दिग्विजयी रावण घमंडसे फूलकर हँसने लगा था, वही रावण जब श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीको चुराकर ले जाता है और लड़ाईके मैदानमें उनसे लड़नेके लिये गर्वपूर्वक आता है, तब भगवान् श्रीरामके धनुषकी टङ्कारसे ही उसका वह घमंड प्राणोंके साथ तत्क्षण विलीन हो जाता है॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—स्वाप दुःखमायुश्च। २. प्रा० पा०—उद्यन्नसाव०। ३. प्रा० पा०—भग्नमहे०। ४. प्रा० पा०—विलम्बित। ५. प्रा० पा०—जयरूढ। ६. प्रा० पा०—तोऽरि०।

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥२६॥
तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।
यद् रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ॥२७॥
यद् वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीतान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ॥२८॥
तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाय्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः ॥२९॥
गृह्णीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति ।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधिताऽऽसीत् ॥३०॥
नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च ।

जिस समय झुंड-के-झुंड दैत्य पृथ्वीको रौंद डालेंगे, उस समय उसका भार उतारनेके लिये भगवान् अपने सफेद और काले केशसे बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें कलावतार ग्रहण करेंगे।* वे अपनी महिमाको प्रकट करनेवाले इतने अद्भुत चरित्र करेंगे कि संसारके मनुष्य उनकी लीलाओंका रहस्य बिलकुल नहीं समझ सकेंगे ॥ २६ ॥ बचपनमें ही पूतनाके प्राण हर लेना, तीन महीनेकी अवस्थामें पैर उछालकर बड़ा भारी छकड़ा उलट देना और घुटनोंके बल चलते-चलते आकाशको छूनेवाले यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें जाकर उन्हें उखाड़ डालना—ये सब ऐसे कर्म हैं, जिन्हें भगवान्‌के सिवा और कोई नहीं कर सकता ॥ २७ ॥ जब कालियनागके विषसे दूषित हुआ यमुना-जल पीकर बछड़े और गोप-बालक मर जायँगे, तब वे अपनी सुधामयी कृपादृष्टिकी वर्षासे ही उन्हें जीवित कर देंगे और यमुना-जलको शुद्ध करनेके लिये वे उसमें विहार करेंगे तथा विषकी शक्तिसे जीभ लपलपाते हुए कालियनागको वहाँसे निकाल देंगे ॥ २८ ॥ उसी दिन रातको जब सब लोग वहीं यमुनातटपर सो जायँगे और दावाग्निसे आस-पासका मूँजका वन चारों ओरसे जलने लगेगा, तब बलरामजीके साथ वे प्राणसङ्कटमें पड़े हुए व्रजवासियोंको उनकी आँखें बंद कराकर उस अग्निसे बचा लेंगे। उनकी यह लीला भी अलौकिक ही होगी। उनकी शक्ति वास्तवमें अचिन्त्य है ॥ २९ ॥ उनकी माता उन्हें बाँधनेके लिये जो-जो रस्सी लायेंगी, वही उनके उदरमें पूरी नहीं पड़ेगी, दो अंगुल छोटी ही रह जायगी तथा जँभाई लेते समय श्रीकृष्णके मुखमें चौदहों भुवन देखकर पहले तो यशोदा भयभीत हो जायँगी, परंतु फिर वे सम्हल जायँगी ॥३०॥ वे नन्दबाबाको अजगरके भयसे और वरुणके पाशसे छुड़ायेंगे। मय दानवका पुत्र व्योमासुर जब गोपबालोंको पहाड़की गुफाओंमें बंद कर देगा, तब वे उन्हें भी वहाँसे

१. प्रा० पा०—काले।

* केशोंके अवतार कहनेका अभिप्राय यह है कि पृथ्वीका भार उतारनेके लिये तो भगवान्‌का एक केश ही काफी है। इसके अतिरिक्त श्रीबलरामजी और श्रीकृष्णके वर्णोंकी सूचना देनेके लिये भी उन्हें क्रमशः सफेद और काले केशोंका अवतार कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण तो पूर्णपुरुष स्वयं भगवान् हैं— कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण

लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म ॥३१॥

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय

देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।

धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-

वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम् ॥३२॥

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां

रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन ।

उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां

हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥३३॥

ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट-

मल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः ।

अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्र-

सप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः ॥३४॥

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः

काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयाद्याः ।

यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-

व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥३५॥

कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां

स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ।

आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां

वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म ॥३६॥

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां

पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः ।

बचा लायेंगे । गोकुलके लोगोंको, जो दिनभर तो काम-धंधोंमें व्याकुल रहते हैं और रातको अत्यन्त थककर सो जाते हैं, साधनाहीन होनेपर भी, वे अपने परमधाममें ले जायँगे ॥३१॥ निष्पाप नारद ! जब श्रीकृष्णकी सलाहसे गोपलोग इन्द्रका यज्ञ बंद कर देंगे, तब इन्द्र व्रजभूमिका नाश करनेके लिये चारों ओरसे मूसलधार वर्षा करने लगेंगे। उससे उनकी तथा उनके पशुओंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् कृपापरवश हो सात वर्षकी अवस्थामें ही सात दिनों-तक गोवर्द्धन पर्वतको एक ही हाथसे छत्रकपुष्प (कुकुरमुत्ते) की तरह खेल-खेलमें ही धारण किये रहेंगे ॥ ३२ ॥ वृन्दावनमें विहार करते हुए रास करनेकी इच्छासे वे रातके समय, जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल चाँदनी चारों ओर छिटक रही होगी, अपनी बाँसुरीपर मधुर सङ्गीतकी लंबी तान छेड़ेंगे । उससे प्रेमविवश होकर आयी हुई गोपियोंको जब कुबेरका सेवक शङ्खचूड़ हरण करेगा, तब वे उसका सिर उतार लेंगे ॥ ३३ ॥ और भी बहुत-से प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, अरिष्टासुर आदि दैत्य, चाणूर आदि पहलवान, कुवलयापीड हाथी, कंस, कालयवन, भौमासुर, मिथ्यावासुदेव, शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्त्र, राजा नग्नजित्‌के सात बैल, शम्बरा-सुर, विदूरथ और रुक्मी आदि तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय और सृञ्जय आदि देशोंके राजालोग एवं जो भी योद्धा धनुष धारण करके युद्धके मैदानमें सामने आयेंगे वे सब बलराम, भीमसेन और अर्जुन आदि नामोंकी आड़में स्वयं भगवान्‌के द्वारा मारे जाकर उन्हींके धाममें चले जायँगे ॥ ३४-३५ ॥

समयके फेरसे लोगोंकी समझ कम हो जाती है, आयु भी कम होने लगती है । उस समय जब भगवान् देखते हैं कि अब ये लोग मेरे तत्त्वको बतलानेवाली वेदवाणीको समझनेमें असमर्थ होते जा रहे हैं, तब प्रत्येक कल्पमें सत्यवतीके गर्भसे व्यासके रूपमें प्रकट होकर वे वेदरूपी वृक्षका विभिन्न शाखाओंके रूपमें विभाजन कर देते हैं ॥ ३६ ॥

देवताओंके शत्रु दैत्यलोग भी वेदमार्गका सहारा लेकर मयदानवके बनाये हुए अदृश्य वेगवाले नगरोंमें

१. प्रा० पा०—उपधास्यति । २. प्रा० पा०—कुरुसृञ्जयकैकयाद्याः । ३. प्रा० पा०—युधि पार्थभीमव्या० । ४. प्रा० पा०—रदृश्यमूर्तिः ।

लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥३७॥
यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते॥३८॥
सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ॥३९॥
विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम् ॥४०॥
नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥४१॥
येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥४२॥

रहकर लोगोंका सत्यानाश करने लगेंगे, तब भगवान् लोगोंकी बुद्धिमें मोह और अत्यन्त लोभ उत्पन्न करनेवाला वेष धारण करके बुद्धके रूपमें बहुत-से उपधर्मोंका उपदेश करेंगे ॥ ३७ ॥ कलियुगके अन्तमें जब सत्पुरुषोंके घर भी भगवान्‌की कथा होनेमें बाधा पड़ने लगेगी; ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पाखण्डी और शूद्र राजा हो जायँगे, यहाँतक कि कहीं भी 'स्वाहा', 'स्वधा' और 'वषट्कार' की ध्वनि—देवता-पितरोंके यज्ञ-श्राद्धकी बाततक नहीं सुनायी पड़ेगी, तब कलियुगका शासन करनेके लिये भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे ॥ ३८ ॥

जब संसारकी रचनाका समय होता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति, मरीचि आदि ऋषि और मेरे रूपमें; जब सृष्टिकी रक्षाका समय होता है, तब धर्म, विष्णु, मनु, देवता और राजाओंके रूपमें तथा जब सृष्टिके प्रलयका समय होता है, तब अधर्म रुद्र तथा क्रोधवश नामके सर्प एवं दैत्य आदिके रूपमें सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की माया-विभूतियाँ ही प्रकट होती हैं ॥ ३९ ॥ अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलि-कणको गिन चुकनेपर भी जगत्‌में ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान्‌की शक्तियोंकी गणना कर सके। जब वे त्रिविक्रम-अवतार लेकर त्रिलोकीको नाप रहे थे, उस समय उनके चरणोंके अदम्य वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोकतक सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा था। तब उन्होंने ही अपनी शक्तिसे उसे स्थिर किया था ॥४०॥ समस्त सृष्टिकी रचना और संहार करनेवाली माया उनकी एक शक्ति है। ऐसी-ऐसा अनन्य शक्तियोंके आश्रय उनके स्वरूपको न मैं जानता हूँ और न वे तुम्हारे बड़े भाई सनकादि ही; फिर दूसरोंका तो कहना ही क्या है। आदिदेव भगवान् शेष सहस्र मुखसे उनके गुणोंका गायन करते आ रहे हैं; परंतु वे अब भी उसके अन्तकी कल्पना नहीं कर सके ॥४१॥ जो निष्कपटभावसे अपना सर्वस्व और अपने आपको भी उनके चरणकमलोंमें निछावर कर देते हैं, उनपर वे अनन्त भगवान् स्वयं ही अपनी ओरसे दया करते हैं और उनकी दयाके पात्र ही उनकी दुस्तर मायाका स्वरूप जानते हैं और उसके पार जा पाते हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुष ही कुत्ते और सियारोंके कलेवारूप अपने और पुत्रादिके शरीरमें 'यह मैं हूँ और यह मेरा

१. प्रा० पा०—कथा हरेः। २. प्रा० पा०—दयया ह्यनन्तः।

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥४३॥
इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधि-
रघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः ।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥४४॥
सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद-
सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्त-
पार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः ॥४५॥

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥४६॥

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥४७॥

तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सँध्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ॥४८॥

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।

है' ऐसा भाव नहीं करते ॥ ४२ ॥ प्यारे नारद ! परम पुरुषकी उस योगमायाको मैं जानता हूँ तथा तुमलोग, भगवान् शंकर, दैत्यकुलभूषण प्रह्लाद, शतरूपा, मनु, मनुपुत्र प्रियव्रत आदि, प्राचीनबर्हि, ऋभु और ध्रुव भी जानते हैं ॥ ४३ ॥ इनके सिवा इक्ष्वाकु, पुरूरवा, मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति आदि तथा मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप, सौभरि, उत्तङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण एवं विभीषण, हनुमान्, शुकदेव, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर और श्रुतदेव आदि महात्मा भी जानते हैं ॥४४-४५॥ जिन्हें भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका-सा स्वभाव बनानेकी शिक्षा मिली है, वे स्त्री, शूद्र, हूण, भील और पापके कारण पशु-पक्षी आदि योनियोंमें रहनेवाले भी भगवान्‌की मायाका रहस्य जान जाते हैं; और इस संसार-सागरसे सदाके लिये पार हो जाते हैं फिर जो लोग वैदिक सदाचारका पालन करते हैं, उनके सम्बन्ध-में तो कहना ही क्या है ॥ ४६ ॥

परमात्माका वास्तविक स्वरूप एकरस, शान्त, अभय एवं केवल ज्ञानस्वरूप है । न उसमें मायाका मल है और न तो उसके द्वारा रची हुई विषमताएँ ही । वह सत् और असत् दोनोंसे परे है । किसी भी वैदिक या लौकिक शब्दकी वहाँतक पहुँच नहीं है । अनेक प्रकारके साधनोंसे सम्पन्न होनेवाले कर्मोंका फल भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता । और तो क्या, स्वयं माया भी उसके सामने नहीं जा पाती, लजाकर भाग खड़ी होती है॥४७॥ परमपुरुष भगवान्‌का वही परमपद है । महात्मालोग उसीका शोकरहित अनन्त आनन्दस्वरूप ब्रह्मके रूपमें साक्षात्कार करते हैं । संयमशील पुरुष उसीमें अपने मनको समाहित करके स्थित हो जाते हैं । जैसे इन्द्र स्वयं मेघरूपसे विद्यमान होनेके कारण जलके लिये कुआँ खोदनेकी कुदाल नहीं रखते, वैसे ही वे भेद दूर करने-वाले ज्ञान-साधनोंको भी छोड़ देते हैं ॥ ४८ ॥ समस्त कर्मोंके फल भी भगवान् ही देते हैं; क्योंकि मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार जो शुभ कर्म करता है, वह

१. प्रा० पा०—पिप्पलादाः । २. प्रा० पा०—दत्ताः । ३. प्रा० पा०—देवभूपाः । ४. प्रा० पा०—सम्यङ् ।

देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे

व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥४९॥
सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः ।

समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥५०॥

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।

संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ॥५१॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।

सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय ॥५२॥

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः ।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति ॥५३॥

सब उन्हींकी प्रेरणासे होता है । इस शरीरमें रहनेवाले पञ्चभूतोंके अलग-अलग हो जानेपर जब यह शरीर नष्ट हो जाता है, तब भी इसमें रहनेवाला अजन्मा पुरुष आकाशके समान नष्ट नहीं होता ॥ ४९ ॥

बेटा नारद ! सङ्कल्पसे विश्वकी रचना करनेवाले षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीहरिका मैंने तुम्हारे सामने संक्षेपसे वर्णन किया । जो कुछ कार्य-कारण अथवा भाव-अभाव है, वह सब भगवान्‌से भिन्न नहीं है । फिर भी भगवान् तो इससे पृथक् भी हैं ही ॥५०॥ भगवान्‌ने मुझे जो उपदेश किया था, वह यही 'भागवत' है । इसमें भगवान्‌की विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन है । तुम इसका विस्तार करो ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार सबके आश्रय और सर्वस्वरूप भगवान् श्रीहरिमें लोगोंकी प्रेममयी भक्ति हो, ऐसा निश्चय करके इसका वर्णन करो ॥५२॥ जो पुरुष भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति मायाका वर्णन या दूसरेके द्वारा किये हुए वर्णनका अनुमोदन करते हैं अथवा श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण करते हैं, उनका चित्त मायासे कभी मोहित नहीं होता ॥५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे
ब्रह्मनारदसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌के विविध प्रश्न

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च ।

यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः ॥ १ ॥

एतद् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदां वर ।

हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकेसुमङ्गलाः ॥ २ ॥

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि ।

कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन् ! आप वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि जब ब्रह्माजीने निर्गुण भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेके लिये नारदजीको आदेश दिया, तब उन्होंने किन-किनको किस रूपमें उपदेश किया ? एक तो अचिन्त्यशक्तियोंके आश्रय भगवान्‌की कथाएँ ही लोगोंका परम मङ्गल करनेवाली हैं, दूसरे देवर्षि नारदका सबको भगवद्दर्शन करानेका स्वभाव है । अवश्य ही आप उनकी बातें मुझे सुनाइये ॥ १-२ ॥ महाभाग्यवान् शुकदेवजी ! आप मुझे ऐसा उपदेश कीजिये कि मैं अपने आसक्तिरहित मनको सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय करके अपना शरीर छोड़ सकूँ ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—ऽतः । २. प्रा० पा०—तदेतद् । ३. प्रा० पा०—वर्ण्यताम् । ४. प्रा० पा०—योगे सुमङ्गलाः ।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥ ४ ॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥ ५ ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः[1] पान्थः स्वशरणं यथा ॥ ६ ॥
यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः ।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥ ७ ॥
आसीद् यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम् ।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव ॥ ८ ॥
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात् ।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः ॥ ९ ॥
स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।
मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः ॥ १० ॥
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः ।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम ॥ ११ ॥
यावान् कल्पो[2] विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।
भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत् सतः ॥ १२ ॥
कालस्यानुगतिर्या[3] तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि ।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम ॥ १३ ॥

जो लोग उनकी लीलाओंका श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण और कथन करते हैं, उनके हृदयमें थोड़े ही समयमें भगवान् प्रकट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ श्रीकृष्ण कानके छिद्रोंके द्वारा अपने भक्तोंके भावमय हृदयकमलपर जाकर बैठ जाते हैं और जैसे शरद् ऋतु जलका गँदलापन मिटा देती है, वैसे ही वे भक्तोंके मनोमलका नाश कर देते हैं ॥ ५ ॥ जिसका हृदय शुद्ध हो जाता है, वह श्रीकृष्णके चरणकमलोंको एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता—जैसे मार्गके समस्त क्लेशोंसे छूटकर घर आया हुआ पथिक अपने घरको नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

भगवन्! जीवका पञ्चभूतोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इसका शरीर पञ्चभूतोंसे ही बनता है। तो क्या स्वभावसे ही ऐसा होता है, अथवा किसी कारणवश—आप इस बातका मर्म पूर्णरीतिसे जानते हैं ॥ ७ ॥ (आपने बतलाया कि) भगवान्‌की नाभिसे वह कमल प्रकट हुआ, जिसमें लोकोंकी रचना हुई। यह जीव अपने सीमित अवयवोंसे जैसे परिच्छिन्न है, वैसे ही आपने परमात्माको भी सीमित अवयवोंसे परिच्छिन्न-सा वर्णन किया (यह क्या बात है?) ॥ ८ ॥ जिनकी कृपासे सर्वभूतमय ब्रह्माजी प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं, जिनके नाभिकमलसे पैदा होनेपर भी जिनकी कृपासे ही ये उनके रूपका दर्शन कर सके थे, वे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके हेतु, सर्वान्तर्यामी और मायाके स्वामी परमपुरुष परमात्मा अपनी मायाका त्याग करके किसमें किस रूपसे शयन करते हैं ॥ ९-१० ॥ पहले आपने बतलाया था कि विराट् पुरुषके अङ्गोंसे लोक और लोकपालोंकी रचना हुई और फिर यह भी बतलाया कि लोक और लोकपालोंके रूपमें उसके अङ्गोंकी कल्पना हुई। इन दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है? ॥ ११ ॥

महाकल्प और उनके अन्तर्गत अवान्तर कल्प कितने हैं? भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालका अनुमान किस प्रकार किया जाता है? क्या स्थूल देहाभिमानी जीवोंकी आयु भी बँधी हुई है? ॥ १२ ॥ ब्राह्मणश्रेष्ठ! कालकी सूक्ष्म गति त्रुटि आदि और स्थूलगति वर्ष आदि किस प्रकारसे जानी जाती है? विविध कर्मोंसे जीवोंकी कितनी और कैसी

१. प्रा० पा०—मुक्तः सर्वपरिक्लेशैः । २. प्रा० पा०—यावत्कल्पो । ३. प्रा० पा०—नुमतिर्यावल्लक्ष्यते ।

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते ।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥१४॥
भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम् ।
सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम् ॥१५॥
प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः[१] ।
महतां चानुचरितं[२] वर्णाश्रमविनिश्चयः ॥१६॥
युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे ।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं[३] हरेः ॥१७॥
नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ॥१८॥
तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम् ।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च ॥१९॥
योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम् ।
वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः ॥२०॥
सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः ।
इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः ॥२१॥
यश्चानुशायिनां सर्गः पाखण्डस्य च सम्भवः ।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः ॥२२॥
यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया ।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद् विभुः ॥२३॥
सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः ।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने[४] ॥२४॥

गतियाँ होती हैं ? ॥ १३ ॥ देव, मनुष्य आदि योनियाँ सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके फलस्वरूप ही प्राप्त होती हैं । उनको चाहनेवाले जीवोंमेंसे कौन-कौन किस-किस योनिको प्राप्त करनेके लिये किस-किस प्रकारसे कौन-कौन कर्म स्वीकार करते हैं ? ॥१४॥ पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप और उनमें रहनेवाले जीवोंकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ॥१५॥ ब्रह्माण्ड-का परिमाण भीतर और बाहर—दोनों प्रकारसे बतलाइये । साथ ही महापुरुषोंके चरित्र, वर्णाश्रमके भेद और उनके धर्मका निरूपण कीजिये ॥१६॥ युगोंके भेद, उनके परिमाण और उनके अलग-अलग धर्म तथा भगवान्‌के विभिन्न अवतारों-के परम आश्चर्यमय चरित्र भी बतलाइये ॥ १७ ॥ मनुष्यों-के साधारण और विशेष धर्म कौन-कौन-से हैं ? विभिन्न व्यवसायवाले लोगोंके, राजर्षियोंके और विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके धर्मका भी उपदेश कीजिये ॥१८॥ तत्त्वोंकी संख्या कितनी है, उनके स्वरूप और लक्षण क्या हैं ? भगवान्‌की आराधनाकी और अध्यात्मयोगकी विधि क्या है ? ॥१९॥ योगेश्वरोंको क्या-क्या ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं तथा अन्तमें उन्हें कौन-सी गति मिलती है ? योगियोंका लिङ्गशरीर किस प्रकार भङ्ग होता है ? वेद, उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणोंका स्वरूप एवं तात्पर्य क्या है ? ॥ २० ॥ समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कैसे होता है ? बावली, कुआँ खुदवाना आदि स्मार्त्त, यज्ञ-यागादि वैदिक एवं काम्य कर्मोंकी तथा अर्थ-धर्म-कामके साधनोंकी विधि क्या है ? ॥ २१ ॥ प्रलयके समय जो जीव प्रकृतिमें लीन रहते हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? पाखण्डकी उत्पत्ति कैसे होती है ? आत्माके बन्ध-मोक्षका स्वरूप क्या है ? और वह अपने स्वरूपमें किस प्रकार स्थित होता है ? ॥ २२ ॥ भगवान् तो परम स्वतन्त्र हैं । वे अपनी मायासे किस प्रकार क्रीडा करते हैं और उसे छोड़कर साक्षीके समान उदासीन कैसे हो जाते हैं ? ॥ २३ ॥ भगवन् ! मैं यह सब आपसे पूछ रहा हूँ । मैं आपकी शरणमें हूँ । महामुने ! आप कृपा करके क्रमशः इनका तात्त्विक

१. प्रा० पा०—भ्यन्तरवस्तुनः । २. प्रा० पा०—चारु चरितं । ३. प्रा० पा०—मयं । ४. प्रा० पा०—महामते ।

अत्र प्रमाणं हि[1] भवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः ।

परे[2] चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् ॥२५॥

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ।

पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात् ॥२६॥

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः ।

ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥२७॥

प्राह[3] भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।

ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं[4] ब्रह्मकल्प उपागते ॥२८॥

यद् यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति ।

आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥२९॥

निरूपण कीजिये ॥ २४ ॥ इस विषयमें आप स्वयम्भू ब्रह्माके समान परम प्रमाण हैं । दूसरे लोग तो अपनी पूर्वपरम्परासे सुनी-सुनायी बातोंका ही अनुष्ठान करते हैं ॥ २५ ॥ ब्रह्मन् ! आप मेरी भूख-प्यासकी चिन्ता न करें । मेरे प्राण कुपित ब्राह्मणके शापके अतिरिक्त और किसी कारणसे निकल नहीं सकते; क्योंकि मैं आपके मुखारविन्दसे निकलनेवाली भगवान्‌की अमृतमयी लीला-कथाका पान कर रहा हूँ ॥ २६ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! जब राजा परीक्षित्‌ने संतोंकी सभामें भगवान्‌की लीला-कथा सुनानेके लिये इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीशुकदेवजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २७ ॥ उन्होंने उन्हें वही वेदतुल्य श्रीमद्भागवत-महापुराण सुनाया, जो ब्राह्मकल्पके आरम्भमें स्वयं भगवान्‌ने ब्रह्माजीको सुनाया था ॥ २८ ॥ पाण्डुवंशशिरोमणि परीक्षित्‌ने उनसे जो-जो प्रश्न किये थे, वे उन सबका उत्तर क्रमशः देने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे प्रश्नविधिर्नामाष्टमोऽध्यायः[5] ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका भगवद्धामदर्शन और भगवान्‌के द्वारा उन्हें चतुःश्लोकी भागवतका उपदेश

श्रीशुक उवाच

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।

न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥ १ ॥

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया ।

रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥ २ ॥

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः ।

रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जैसे स्वप्नमें देखे जानेवाले पदार्थोंके साथ उसे देखनेवालेका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहादिसे अतीत अनुभवस्वरूप आत्माका मायाके बिना दृश्य पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥१॥ विविध रूपवाली मायाके कारण वह विविध रूपवाला प्रतीत होता है और जब उसके गुणोंमें रम जाता है तब 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार मानने लगता है ॥ २ ॥ किंतु जब यह गुणोंको क्षुब्ध करनेवाले काल और मोह उत्पन्न करनेवाली माया—इन दोनोंसे परे अपने अनन्त स्वरूपमें मोहरहित होकर रमण करने लगता है—आत्माराम हो जाता है; तब यह 'मैं, मेरा' का भाव छोड़कर पूर्ण उदासीन—गुणातीत हो जाता है ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—भगवान् पर० । २. प्रा० पा०—अपरे ह्यनुतिष्ठन्ति । ३. प्रा० पा०—आह । ४. प्रा० पा०—भगवता प्रोक्तं । ५. प्रा० पा०—विवक्षितानुप्रश्नोऽष्टमो ।

आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।

ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः ॥ ४ ॥
स आदिदेवो जगतां[1] परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत् ॥ ५ ॥
स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः ॥ ६ ॥
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः ।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ॥ ७ ॥
दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥
तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥
प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः[2] ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥ १० ॥

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थ वस्तुका उपदेश किया (वही बात मैं तुम्हें सुनाता हूँ) ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंके परम गुरु आदिदेव ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे । परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था और जो सृष्टि-व्यापारके लिये वाञ्छनीय है वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई ॥ ५ ॥ एक दिन वे यही चिन्ता कर रहे थे कि प्रलयके समुद्रमें उन्होंने व्यञ्जनोंके सोलहवें एवं इक्कीसवें अक्षर 'त' तथा 'प' को—'तप-तप' ('तप करो') इस प्रकार दो बार सुना । परीक्षित् ! महात्मालोग इस तपको ही त्यागियोंका धन मानते हैं ॥ ६ ॥ यह सुनकर ब्रह्माजीने वक्ताको देखनेकी इच्छासे चारों ओर देखा, परंतु वहाँ दूसरा कोई दिखायी न पड़ा । वे अपने कमलपर बैठ गये और 'मुझे तप करनेकी प्रत्यक्ष आज्ञा मिली है, ऐसा निश्चय कर और उसीमें अपना हित समझकर उन्होंने अपने मनको तपस्यामें लगा दिया ॥ ७ ॥ ब्रह्माजी तपस्वियोंमें सबसे बड़े तपस्वी हैं । उनका ज्ञान अमोघ है । उन्होंने उस समय एक सहस्र दिव्य वर्षपर्यन्त एकाग्र चित्तसे अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करके ऐसी तपस्या की, जिससे वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सके ॥ ८ ॥

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना वह लोक दिखाया, जो सबसे श्रेष्ठ है और जिससे परे कोई दूसरा लोक नहीं है । उस लोकमें किसी भी प्रकारके क्लेश, मोह और भय नहीं हैं । जिन्हें कभी एक बार भी उसके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे देवता बार-बार उसकी स्तुति करते रहते हैं ॥ ९ ॥ वहाँ रजोगुण, तमोगुण और इनसे मिला हुआ सत्त्वगुण भी नहीं है । वहाँ न कालकी दाल गलती है और न माया ही कदम रख सकती है; फिर मायाके बाल-बच्चे तो जा ही कैसे सकते हैं । वहाँ भगवान्‌के वे पार्षद निवास करते हैं, जिनका पूजन देवता और दैत्य दोनों ही करते हैं ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—भजतां । २. प्रा० पा०—कालविभ्रमः ।

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः ।
प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः
परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥

उनका उज्ज्वल आभासे युक्त श्याम शरीर शतदल कमलके समान कोमल नेत्र और पीले रंगके वस्त्रसे शोभायमान है । अङ्ग-अङ्गसे राशि-राशि सौन्दर्य बिखरता रहता है । वे कोमलताकी मूर्ति हैं । सभीके चार-चार भुजाएँ हैं । वे स्वयं तो अत्यन्त तेजस्वी हैं ही, मणिजटित सुवर्णके प्रभामय आभूषण भी धारण किये रहते हैं । उनकी छवि मूँगे, वैदूर्यमणि और कमलके उज्ज्वल तन्तुके समान है । उनके कानोंमें कुण्डल, मस्तकपर मुकुट और कण्ठमें मालाएँ शोभायमान हैं ॥ ११ ॥

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥१२॥

जिस प्रकार आकाश बिजली-सहित बादलोंसे शोभायमान होता है, वैसे ही वह लोक मनोहर कामिनियोंकी कान्तिसे युक्त महात्माओंके दिव्य तेजोमय विमानोंसे स्थान-स्थानपर सुशोभित होता रहता है ॥ १२ ॥

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः
करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रियकर्म गायती ॥१३॥

उस वैकुण्ठलोकमें लक्ष्मीजी सुन्दर रूप धारण करके अपनी विविध विभूतियोंके द्वारा भगवान्‌के चरणकमलोंकी अनेकों प्रकारसे सेवा करती रहती हैं । कभी-कभी जब वे झूलेपर बैठकर अपने प्रियतम भगवान्‌की लीलाओंका गायन करने लगती हैं, तब उनके सौन्दर्य और सुरभिसे उन्मत्त होकर भौंरे स्वयं उन लक्ष्मीजीका गुण-गान करने लगते हैं ॥१३॥

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः
स्वपार्षदमुख्यैः[1] परिसेवितं विभुम्[2] ॥१४॥

ब्रह्माजीने देखा कि उस दिव्य लोकमें समस्त भक्तोंके रक्षक, लक्ष्मीपति, यज्ञपति एवं विश्वपति भगवान् विराजमान हैं । सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण आदि मुख्य-मुख्य पार्षदगण उन प्रभुकी सेवा कर रहे हैं ॥ १४ ॥

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीताम्बरं[3] वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥१५॥

उनका मुख-कमल प्रसाद-मधुर मुसकान-से युक्त है । आँखोंमें लाल-लाल डोरियाँ हैं । बड़ी मोहक और मधुर चितवन है । ऐसा जान पड़ता है कि अभी-अभी अपने प्रेमी भक्तको अपना सर्वस्व दे देंगे । सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और कंधेपर पीताम्बर जगमगा रहे हैं । वक्षःस्थलपर एक सुनहरी रेखाके रूपमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं और सुन्दर चार भुजाएँ हैं ॥ १५ ॥

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः ।

वे एक सर्वोत्तम और बहुमूल्य आसनपर विराजमान हैं । पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, दस इन्द्रिय, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ और पञ्चभूत—ये पचीस शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर उनके चारों ओर खड़ी हैं । समग्र ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान और

१. प्रा० पा०—प्रमुखा० । २. प्रा० पा०—'स्व' शब्द नहीं है । ३. प्रा० पा०—पीतांशुकं ।

युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः

स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥१६॥

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो

हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।

ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्

यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥१७॥

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा

प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।

बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा

प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेदगर्भ सिसृक्षया ।

चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम् ॥१९॥

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् ।

ब्रह्मञ्छ्रेयः परिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः ॥२०॥

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।

यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥२१॥

प्रत्यादिष्टं[1] मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते ।

तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥२२॥

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।

बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।

वैराग्य—इन छः नित्यसिद्ध स्वरूपभूत शक्तियोंसे वे सर्वदा युक्त रहते हैं । उनके अतिरिक्त और कहीं भी ये नित्यरूपसे निवास नहीं करतीं । वे सर्वेश्वर प्रभु अपने नित्य आनन्दमय स्वरूपमें ही नित्य-निरन्तर निमग्न रहते हैं ॥ १६ ॥ उनका दर्शन करते ही ब्रह्माजीका हृदय आनन्दके उद्रेकसे लबालब भर गया । शरीर पुलकित हो उठा, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये । ब्रह्माजी-ने भगवान्‌के उन चरणकमलोंमें, जो परमहंसोंके निवृत्ति-मार्गसे प्राप्त हो सकते हैं, सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ १७ ॥ ब्रह्माजीके प्यारे भगवान् अपने प्रिय ब्रह्माको प्रेम और दर्शनके आनन्दमें निमग्न शरणागत तथा प्रजा-सृष्टिके लिये आदेश देनेके योग्य देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने ब्रह्माजीसे हाथ मिलाया तथा मन्द मुस्कानसे अलंकृत वाणीमें कहा—॥ १८ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ब्रह्माजी ! तुम्हारे हृदयमें तो समस्त वेदोंका ज्ञान विद्यमान है । तुमने सृष्टिरचनाकी इच्छासे चिरकालतक तपस्या करके मुझे भलीभाँति सन्तुष्ट कर दिया है । मनमें कपट रखकर योगसाधन करनेवाले मुझे कभी प्रसन्न नहीं कर सकते ॥ १९ ॥ तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो; क्योंकि मैं मुँहमाँगी वस्तु देनेमें समर्थ हूँ । ब्रह्माजी ! जीवके समस्त कल्याणकारी साधनोंका विश्राम—पर्यवसान मेरे दर्शनमें ही है ॥ २० ॥ तुमने मुझे देखे बिना ही उस सूने जलमें मेरी वाणी सुनकर इतनी घोर तपस्या की है, इसीसे मेरी इच्छासे तुम्हें मेरे लोकका दर्शन हुआ है ॥ २१ ॥ तुम उस समय सृष्टिरचनाका कर्म करनेमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे । इसीसे मैंने तुम्हें तपस्या करनेको आज्ञा दी थी; क्योंकि निष्पाप ! तपस्या मेरा हृदय है और मैं स्वयं तपस्याका आत्मा हूँ ॥ २२ ॥ मैं तपस्यासे ही इस संसारकी सृष्टि करता हूँ, तपस्यासे ही इसका धारण-पोषण करता हूँ और फिर तपस्यासे ही इसे अपनेमें लीन कर लेता हूँ । तपस्या मेरी एक दुर्लङ्घ्य शक्ति है ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विराजमान रहते हैं ।

[1] प्राचीन प्रतिमें 'प्रत्यादिष्टं मया तत्र' से लेकर 'वीर्यं मे दुश्चरं तपः' तक दो श्लोक नहीं हैं ।

वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥२४॥
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥२५॥
यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम् ।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥२६॥
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥२७॥
भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥२८॥
यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥२९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥३०॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥३१॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥३२॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।

आप अपने अप्रतिहत ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ ॥ २४ ॥ नाथ ! आप कृपा करके मुझ याचककी यह माँग पूरी कीजिये कि मैं रूपरहित आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ ॥ २५ ॥ आप मायाके स्वामी हैं, आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाका आश्रय लेकर इस विविधशक्तिसम्पन्न जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये अपने आपको ही अनेक रूपोंमें बना देते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये ॥ २६-२७ ॥ आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सजग रहकर सावधानीसे आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे बँध न जाऊँ ॥ २८ ॥ प्रभो ! आपने एक मित्रके समान हाथ पकड़कर मुझे अपना मित्र स्वीकार किया है। अतः जब मैं आपकी इस सेवा—सृष्टिरचनामें लगूँ और सावधानीसे पूर्वसृष्टिके गुण-कर्मानुसार जीवोंका विभाजन करने लगूँ, तब कहीं अपनेको जन्म-कर्मसे स्वतन्त्र मानकर अभिमान न कर बैठूँ ॥ २९ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अनुभव, प्रेमा भक्ति और साधनोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूपका ज्ञान मैं तुम्हें कहता हूँ; तुम उसे ग्रहण करो ॥ ३० ॥ मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो ॥ ३१ ॥ सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं-ही-मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ ॥ ३२ ॥ वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी तरह मिथ्या

१. प्रा० पा०—अथापि । २. प्रा० पा०—नाथनाथ जनार्चित । ३. प्रा० पा०—मम ।

तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥३३॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु[1] ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३४॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥३५॥

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥३६॥

श्रीशुक[2] उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।
पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥३७॥
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥३८॥
प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान् ।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थकाम्यया ॥३९॥
तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥४०॥
मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः ।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥४१॥

ही प्रतीत हो रही है, अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये ॥३३॥ जैसे प्राणियोंके पञ्चभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पञ्चमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ ॥ ३४ ॥ यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं, वही वास्तविक तत्त्व है । जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है ॥ ३५ ॥ ब्रह्माजी ! तुम अविचल समाधिके द्वारा मेरे इस सिद्धान्तमें पूर्ण निष्ठा कर लो । इससे तुम्हें कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टिरचना करते रहनेपर भी कभी मोह नहीं होगा ॥३६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—लोकपितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश देकर अजन्मा भगवान्ने उनके देखते-ही-देखते अपने उस रूपको छिपा लिया ॥ ३७॥ जब सर्वभूतस्वरूप ब्रह्माजीने देखा कि भगवान्ने अपने इन्द्रियगोचर स्वरूपको हमारे नेत्रोंके सामनेसे हटा लिया है, तब उन्होंने अञ्जलि बाँधकर उन्हें प्रणाम किया और पहले कल्पमें जैसी सृष्टि थी, उसी रूपमें इस विश्वकी रचना की ॥ ३८ ॥ एक बार धर्मपति, प्रजापति ब्रह्माजीने सारी जनताका कल्याण हो, अपने इस स्वार्थकी पूर्तिके लिये विधिपूर्वक यम-नियमोंको धारण किया ॥ ३९ ॥ उस समय उनके पुत्रोंमें सबसे अधिक प्रिय, परम भक्त देवर्षि नारदजीने मायापति भगवान्की मायाका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बड़े संयम, विनय और सौम्यतासे अनुगत होकर उनकी सेवा की । उन्होंने सेवासे ब्रह्माजीको बहुत ही सन्तुष्ट कर लिया ॥४०-४१॥

१. प्रा० पा०—चेषु च । २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्मानुपृच्छति ॥४२॥
तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् ।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ॥४३॥
नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे ॥४४॥
यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम् ।
यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥४५॥

परीक्षित् ! जब देवर्षि नारदने देखा कि मेरे लोकपितामह पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, तब उन्होंने उनसे यही प्रश्न किया, जो तुम मुझसे कर रहे हो ॥ ४२ ॥ उनके प्रश्नसे ब्रह्माजी और भी प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने यह दस लक्षणवाला भागवतपुराण अपने पुत्र नारदको सुनाया, जिसका स्वयं भगवान्ने उन्हें उपदेश किया था ॥४३॥ परीक्षित् ! जिस समय मेरे परमतेजस्वी पिता सरस्वतीके तटपर बैठकर परमात्माके ध्यानमें मग्न थे, उस समय देवर्षि नारदजीने वही भागवत उन्हें सुनाया ॥ ४४ ॥ तुमने मुझसे जो यह प्रश्न किया है कि विराट् पुरुषसे इस जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई तथा दूसरे भी जो बहुत-से प्रश्न किये हैं, उन सबका उत्तर मैं उसी भागवतपुराणके रूपमें देता हूँ ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीय-
स्कन्धे[2] नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

भागवतके दस लक्षण

श्रीशुक[3] उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस भागवत-पुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन है ॥ १ ॥ इनमें जो दसवाँ आश्रय-तत्त्व है, उसीका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये कहीं श्रुतिसे, कहीं तात्पर्यसे और कहीं दोनोंके अनुकूल अनुभवसे महात्माओंने अन्य नौ विषयोंका बड़ी सुगम रीतिसे वर्णन किया है ॥ २ ॥ ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होकर रूपान्तर होनेसे जो आकाशादि पञ्चभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसको 'सर्ग' कहते हैं । उस विराट् पुरुषसे उत्पन्न ब्रह्माजीके द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियोंका निर्माण होता है, उसका नाम है

१. प्रा० पा०—भवान् यदनु । २. प्रा० पा०—यहाँ 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना अधिक है । ३. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच ।

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥ ४ ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
सतामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥५॥
निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ ७ ॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥ ८ ॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९ ॥
पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥१०
तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥११॥

'विसर्ग' ॥ ३ ॥ प्रतिपद नाशकी ओर बढ़नेवाली सृष्टिको एक मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् विष्णुकी जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है । अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टिमें भक्तोंके ऊपर उनकी जो कृपा होती है, उसका नाम है 'पोषण' । मन्वन्तरोंके अधिपति जो भगवद्भक्ति और प्रजापालनरूप शुद्धधर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं । जीवोंकी वे वासनाएँ, जो कर्मके द्वारा उन्हें बन्धनमें डाल देती हैं, 'ऊति' नामसे कही जाती हैं ॥ ४ ॥ भगवान्‌के विभिन्न अवतारोंके और उनके प्रेमी भक्तोंकी विविध आख्यानोंसे युक्त गाथाएँ 'ईशकथा' हैं ॥ ५ ॥ जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीवका अपनी उपाधियोंके साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है । अज्ञानकल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभावका परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मामें स्थित होना ही 'मुक्ति' है ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! इस चराचर जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्त्वसे प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही 'आश्रय' है । शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है ॥ ७ ॥ जो नेत्र आदि इन्द्रियोंका अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता सूर्य आदिके रूपमें भी है और जो नेत्र-गोलक आदिसे युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनोंको अलग-अलग करता है ॥ ८ ॥ इन तीनोंमें यदि एकका भी अभाव हो जाय तो दूसरे दोकी उपलब्धि नहीं हो सकती । अतः जो इन तीनोंको जानता है, वह परमात्मा ही, सबका अधिष्ठान 'आश्रय' तत्त्व है । उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं ॥ ९ ॥

जब पूर्वोक्त विराट् पुरुष ब्रह्माण्डको फोड़कर निकला तब वह अपने रहनेका स्थान ढूँढ़ने लगा और स्थानकी इच्छासे उस शुद्ध-संकल्प पुरुषने अत्यन्त पवित्र जलकी सृष्टि की ॥ १० ॥ विराट् पुरुषरूप 'नर' से उत्पन्न होनेके कारण ही जलका नाम 'नार' पड़ा और उस अपने उत्पन्न किये हुए 'नार' में वह पुरुष एक हजार वर्षोंतक रहा, इसीसे उसका नाम 'नारायण' हुआ ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—नुवर्णितम् । २. प्रा० पा०—तपस्तद् यत्र गीयते । ३. प्रा० पा०—जप्यते । ४. प्रा० पा०—स स्मृतो । ५. प्रा० पा०—विसर्गतः ।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥१२॥
एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥१३॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥१४॥
अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥१५॥
अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ॥१६॥
प्राणेन-क्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते प्रभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥१७॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥१८॥
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः।
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥१९॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥२०॥
यदाऽऽत्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥२१॥
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।

उन नारायणभगवान्‌की कृपासे ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदिकी सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देनेपर और किसीका अस्तित्व नहीं रहता ॥१२॥ उन अद्वितीय भगवान् नारायणने योगनिद्रासे जगकर अनेक होनेकी इच्छा की तब अपनी मायासे उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप अपने सुवर्णमय वीर्यको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया—अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत। परीक्षित्! विराट् पुरुषका एक ही वीर्य तीन भागोंमें कैसे विभक्त हुआ, सो सुनो ॥ १३-१४ ॥

विराट् पुरुषके हिलने-डोलनेपर उनके शरीरमें रहनेवाले आकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबलकी उत्पत्ति हुई। उनसे इन सबका राजा प्राण उत्पन्न हुआ ॥१५॥ जैसे सेवक अपने स्वामी राजाके पीछे-पीछे चलते हैं, वैसे ही सबके शरीरोंमें प्राणके प्रबल रहनेपर ही सारी इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं और जब वह सुस्त पड़ जाता है, तब सारी इन्द्रियाँ भी सुस्त हो जाती हैं ॥ १६ ॥ जब प्राण जोरसे आने-जाने लगा, तब विराट् पुरुषको भूख-प्यासका अनुभव हुआ। खाने-पीनेकी इच्छा करते ही सबसे पहले उनके शरीरमें मुख प्रकट हुआ ॥१७॥ मुखसे तालु और तालुसे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। इसके बाद अनेकों प्रकारके रस उत्पन्न हुए, जिन्हें रसना ग्रहण करती है॥ १८ ॥ जब उनकी इच्छा बोलनेकी हुई, तब वाक्-इन्द्रिय, उसके अधिष्ठातृ-देवता अग्नि और उनका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए। इसके बाद बहुत दिनोंतक उस जलमें ही वे रुके रहे ॥१९॥ श्वासके वेगसे नासिका-छिद्र प्रकट हो गये। जब उन्हें सूँघनेकी इच्छा हुई, तब उनकी नाक घ्राणेन्द्रिय आकर बैठ गयी और उसके देवता गन्धको फैलानेवाले वायुदेव प्रकट हुए ॥ २० ॥ पहले उनके शरीरमें प्रकाश नहीं था; फिर जब उन्हें अपनेको तथा दूसरी वस्तुओंको देखनेकी इच्छा हुई, तब नेत्रोंके छिद्र, उनका अधिष्ठाता सूर्य और नेत्रेन्द्रिय प्रकट हो गये। इन्हींसे रूपका ग्रहण होने लगा ॥ २१ ॥ जब वेद-रूप ऋषि विराट् पुरुषको स्तुतियोंके द्वारा जगाने लगे, तब उन्हें सुननेकी इच्छा हुई। उसी समय

१. प्रा० पा०—तेजस्ततः। २. प्रा० पा०—विभोः। ३. प्रा० पा०—सुचिरं तस्य। ४. प्रा० पा०—अक्षिणी।

कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥२२॥
वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः ॥२३॥
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया ।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम् ॥२४॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ॥२५॥
निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥२६॥
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥२७॥
आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः ।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥२८॥
आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥२९॥

कान, उनकी अधिष्ठातृ-देवता, दिशाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुईं। इसीसे शब्द सुनायी पड़ता है ॥२२॥ जब उन्होंने वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हल्कापन, भारीपन, उष्णता और शीतलता आदि जाननी चाही तब उनके शरीरमें चर्म प्रकट हुआ। पृथ्वीमेंसे जैसे वृक्ष निकल आते हैं, उसी प्रकार उस चर्ममें रोएँ पैदा हुए और उसके भीतर-बाहर रहनेवाला वायु भी प्रकट हो गया। स्पर्श ग्रहण करनेवाली त्वचा-इन्द्रिय भी साथ-ही साथ शरीरमें चारों ओर लिपट गयी और उससे उन्हें स्पर्शका अनुभव होने लगा ॥ २३ ॥ जब उन्हें अनेकों प्रकारके कर्म करनेकी इच्छा हुई, तब उनके हाथ उग आये। उन हाथोंमें ग्रहण करनेकी शक्ति हस्तेन्द्रिय तथा उनके अधिदेवता इन्द्र प्रकट हुए और दोनोंके आश्रयसे होनेवाला ग्रहणरूप कर्म भी प्रकट हो गया ॥ २४ ॥ जब उन्हें अभीष्ट स्थानपर जानेकी इच्छा हुई, तब उनके शरीरमें पैर उग आये। चरणोंके साथ ही चरण-इन्द्रियके अधिष्ठातारूपमें वहाँ स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु स्थित हो गये और उन्हींमें चलनारूप कर्म प्रकट हुआ। मनुष्य इसी चरणेन्द्रियसे चलकर यज्ञ-सामग्री एकत्र करते हैं ॥ २५ ॥ संतान, रति और स्वर्ग-भोगकी कामना होनेपर विराट् पुरुषके शरीरमें लिङ्गकी उत्पत्ति हुई। उसमें उपस्थेन्द्रिय और प्रजापति देवता तथा इन दोनोंके आश्रय रहनेवाले कामसुखका आविर्भाव हुआ ॥ २६ ॥ जब उन्हें मलत्यागकी इच्छा हुई, तब गुदाद्वार प्रकट हुआ। तत्पश्चात् उसमें पायु-इन्द्रिय और मित्र-देवता उत्पन्न हुए। इन्हीं दोनोंके द्वारा मलत्यागकी क्रिया सम्पन्न होती है ॥२७॥ अपानमार्गद्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा होनेपर नाभिद्वार प्रकट हुआ। उससे अपान और मृत्यु देवता प्रकट हुए। इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण और अपानका बिछोह यानी मृत्यु होती है ॥२८॥ जब विराट् पुरुषको अन्न-जल ग्रहण करनेकी इच्छा हुई, तब कोख, आँतें और नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही कुक्षिके देवता समुद्र, नाड़ियोंके देवता नदियाँ एवं तुष्टि और पुष्टि—ये दोनों उनके आश्रित विषय उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—बलवानिन्द्र आदा०। २. प्रा० पा०—त्रिभिः।

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनस्ततश्चन्द्रः सङ्कल्पः काम एव च ॥३०॥
त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥
गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः ।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥३२॥
एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥३३॥
अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥३४॥
अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥३५॥
स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥३६॥
प्रजापतीन्मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक् ।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान् ॥३७॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषोरगान् ।
मातॄ रक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान् ॥३८॥
कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।
खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृपसरीसृपान् ॥३९॥
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः ।

जब उन्होंने अपनी मायापर विचार करना चाहा, तब हृदयकी उत्पत्ति हुई । उससे मनरूप इन्द्रिय और मनसे उसका देवता चन्द्रमा तथा विषय-कामना और संकल्प प्रकट हुए ॥ ३० ॥ विराट् पुरुषके शरीरमें पृथ्वी, जल और तेजसे सात धातुएँ प्रकट हुईं—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि । इसी प्रकार आकाश, जल और वायुसे प्राणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ३१ ॥ श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं । वे विषय अहङ्कारसे उत्पन्न हुए हैं । मन सब विकारोंका उत्पत्तिस्थान है और बुद्धि समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाली है ॥ ३२ ॥ मैंने भगवान्‌के इस स्थूल रूपका वर्णन तुम्हें सुनाया है । यह बाहरकी ओरसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन आठ आवरणोंसे घिरा हुआ है ॥ ३३ ॥ इससे परे भगवान्‌का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है । वह अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं नित्य है । वाणी और मनकी वहाँतक पहुँच नहीं है ॥ ३४ ॥

मैंने तुम्हें भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म—व्यक्त और अव्यक्त जिन दो रूपोंका वर्णन सुनाया है, ये दोनों ही भगवान्‌की मायाके द्वारा रचित हैं । इसलिये विद्वान् पुरुष इन दोनोंको ही स्वीकार नहीं करते ॥ ३५ ॥ वास्तवमें भगवान् निष्क्रिय हैं । अपनी शक्तिसे ही वे सक्रिय बनते हैं । फिर तो वे ब्रह्माका या विराट् रूप धारण करके वाच्य और वाचक—शब्द और उसके अर्थके रूपमें प्रकट होते हैं और अनेकों नाम, रूप तथा क्रियाएँ स्वीकार करते हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित् ! प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर, अप्सराएँ, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृकाएँ, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप इत्यादि जितने भी संसारमें नाम-रूप हैं, सब भगवान्‌के ही हैं ॥ ३७-३९ ॥ संसारमें चर और अचर भेदसे दो प्रकारके तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके जितने भी जलचर, थलचर तथा

१. प्रा० पा०—मनश्चन्द्र इति । २. प्रा० पा०—भूतात्म० । ३. प्रा० पा०—मातृरक्षः० ।

कुशलाकुशला मिश्रा कर्मणां गतयस्त्विमाः ॥४०॥
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः ।
तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ॥४१॥
स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक् ।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः ॥४२॥
ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।
संनियच्छति कालेन घनानीकमिवानिलः ॥४३॥
इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः ।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥४४॥
नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥४५॥
अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ॥४६॥
परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् ।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ॥४७॥

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।

आकाशचारी प्राणी हैं, सब-के-सब शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मोंके तदनुरूप फल हैं ॥ ४० ॥ सत्त्वकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे नारकीय योनियाँ मिलती हैं। इन गुणोंमें भी जब एक गुण दूसरे दो गुणोंसे अभिभूत हो जाता है, तब प्रत्येक गतिके तीन-तीन भेद और हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ वे भगवान् जगत्के धारण-पोषणके लिये धर्ममय विष्णुरूप स्वीकार करके देवता, मनुष्य और पशु, पक्षी आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तथा विश्वका पालन-पोषण करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रलयका समय आनेपर वे ही भगवान् अपने बनाये हुए इस विश्वको कालाग्निस्वरूप रुद्रका रूप ग्रहण करके अपनेमें वैसे ही लीन कर लेते हैं, जैसे वायु मेघमालाको ॥ ४३ ॥

परीक्षित्! महात्माओंने अचिन्त्यैश्वर्य भगवान्का इसी प्रकार वर्णन किया है। परंतु तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको केवल इस सृष्टि, पालन और प्रलय करनेवाले रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे तो इससे परे भी हैं ॥ ४४ ॥ सृष्टिकी रचना आदि कर्मोंका निरूपण करके पूर्ण परमात्मासे कर्म या कर्तापनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। वह तो मायासे आरोपित होनेके कारण कर्तृत्वका निषेध करनेके लिये ही है ॥ ४५ ॥ यह मैंने ब्रह्माजीके महाकल्पका अवान्तर कल्पोंके साथ वर्णन किया है। सब कल्पोंमें सृष्टिक्रम एक-सा ही है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि महाकल्पके प्रारम्भमें प्रकृतिसे क्रमशः महत्तत्त्वादिकी उत्पत्ति होती है और कल्पोंके प्रारम्भमें प्राकृत सृष्टि तो ज्यों-की-त्यों रहती ही है, चराचर प्राणियोंकी वैकृत सृष्टि नवीन रूपसे होती है ॥४६॥ परीक्षित्! कालका परिमाण कल्प और उसके अन्तर्गत मन्वन्तरोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे। अब तुम पाद्मकल्पका वर्णन सावधान होकर सुनो ॥ ४७ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी! आपने हमलोगोंसे कहा था कि भगवान्के परम भक्त विदुरजीने अपने

१. प्रा० पा०—कुशलाकुशलमिश्राणां। २. प्रा० पा०—सुरादिभिः। ३. प्रा० पा०—तत्काले। ४. प्रा० पा०—कल्पमिमं।

चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान्[1] ४८
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः[2] ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥४९॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान् पुनः ॥५०॥

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः ।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥५१॥

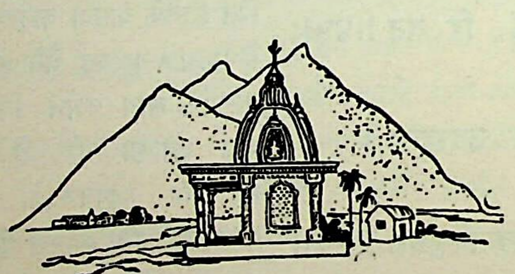
अति दुस्त्यज कुटुम्बियोंको भी छोड़कर पृथ्वीके विभिन्न तीर्थोंमें विचरण किया था ॥४८॥ उस यात्रामें मैत्रेय ऋषिके साथ अध्यात्मके सम्बन्धमें उनकी बातचीत कहाँ हुई तथा मैत्रेयजीने उनके प्रश्न करनेपर किस तत्त्वका उपदेश किया ? ॥ ४९ ॥ सूतजी ! आपका स्वभाव बड़ा सौम्य है । आप विदुरजीका वह चरित्र हमें सुनाइये । उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंको क्यों छोड़ा और फिर उनके पास क्यों लौट आये ? ॥ ५० ॥

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो ! राजा परीक्षित्‌ने भी यही बात पूछी थी । उनके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी महाराजने जो कुछ कहा था, वही मैं आपलोगोंसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धेऽष्टादशसाहस्र्यां[3] संहितायां पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति द्वितीयः स्कन्धः समाप्तः

ॐ ॐ ॐ



१. प्रा० पा०—कृत्स्नं च दुस्त्यजम् । २. प्रा० पा०—संश्रयः । ३. प्राचीन प्रतिमें—'ऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां' इतना अंश नहीं है ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

तृतीयः स्कन्धः



यस्य भासा विभातीदं सर्वं सदसदात्मकम् ।
सर्वाधारं सदानन्दं स्वात्मानं तं हरिं भजे ॥



पार्षदोंसे सेवित श्रीलक्ष्मीजीसहित भगवान् विष्णु

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

तृतीयः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

उद्धव और विदुरकी भेंट

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल ।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥ १ ॥
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥ २ ॥

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः ।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥ ३ ॥
न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः ।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥ ४ ॥

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं[1] पृष्टो राज्ञा परीक्षिता ।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ५ ॥

श्रीशु[2]क उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः ।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥ ६ ॥
यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जो बात तुमने पूछी है, वही पूर्वकालमें अपने सुख-समृद्धिसे पूर्ण घरको छोड़कर वनमें गये हुए विदुरजीने भगवान् मैत्रेयजीसे पूछी थी ॥ १ ॥ जब सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर गये थे, तब वे दुर्योधनके महलोंको छोड़कर, उसी विदुरजीके घरमें उसे अपना ही समझकर बिना बुलाये चले गये थे ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—प्रभो ! यह तो बतलाइये कि भगवान् मैत्रेयके साथ विदुरजीका समागम कहाँ और किस समय हुआ था ? ॥ ३ ॥ पवित्रात्मा विदुरने महात्मा मैत्रेयजीसे कोई साधारण प्रश्न नहीं किया होगा; क्योंकि उसे तो मैत्रेयजी-जैसे साधुशिरोमणिने अभिनन्दनपूर्वक उत्तर देकर महिमान्वित किया था ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—सर्वज्ञ शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेपर अति प्रसन्न होकर कहा—सुनो ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—परीक्षित् ! यह उन दिनोंकी बात है, जब अन्धे राजा धृतराष्ट्रने अन्यायपूर्वक अपने दुष्ट पुत्रोंका पालन-पोषण करते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षाभवनमें भेजकर आग लगवा दी ॥ ६ ॥ जब उनकी पुत्रवधू और महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश दुःशासनने भरी सभामें खींचे, उस समय द्रौपदीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और उस प्रवाहसे उसके वक्षःस्थलपर लगा हुआ केसर भी बह चला; किंतु धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको उस कुकर्मसे नहीं

१. प्रा० पा०—एवं मुनिवर्योऽथ । २. प्राचीन प्रतिमें केवल 'श्री' नहीं है ।

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ॥८॥
यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥९॥
यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥१०॥
अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो[1] यत्र वृकोदराहिः
श्वसन् रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥११॥
पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान् सक्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥१२॥
स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥१३॥
इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।

रोका ॥ ७ ॥ दुर्योधनने सत्यपरायण और भोले-भाले युधिष्ठिरका राज्य जुएमें अन्यायसे जीत लिया और उन्हें वनमें निकाल दिया । किंतु वनसे लौटनेपर प्रतिज्ञानुसार जब उन्होंने अपना न्यायोचित पैतृक भाग माँगा, तब भी मोहवश उन्होंने उन अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका हिस्सा नहीं दिया ॥ ८ ॥ महाराज युधिष्ठिरके भेजनेपर जब जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें हितभरे सुमधुर वचन कहे, जो भीष्मादि सज्जनोंको अमृत-से लगे, पर कुरुराजने उनके कथनको कुछ भी आदर नहीं दिया । देते कैसे ? उनके तो सारे पुण्य नष्ट हो चुके थे ॥ ९ ॥ फिर जब सलाहके लिये विदुरजीको बुलाया गया, तब मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने राजभवनमें जाकर बड़े भाई धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें वह सम्मति दी, जिसे नीति-शास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'विदुरनीति' कहते हैं ॥ १० ॥

उन्होंने कहा— 'महाराज ! आप अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये । वे आपके न सहनेयोग्य अपराधको भी सह रहे हैं । भीमरूप काले नागसे तो आप भी बहुत डरते हैं, देखिये, वह अपने छोटे भाइयोंके सहित बदला लेनेके लिये बड़े क्रोधसे फुफकारें मार रहा है ॥ ११ ॥ आपको पता नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है । वे यदुवीरों-के आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं । उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी उन्हींके पक्षमें हैं ॥ १२ ॥ जिसे आप पुत्र मानकर पाल रहे हैं तथा जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाते जा रहे हैं, उस दुर्योधनके रूपमें तो मूर्तिमान् दोष ही आपके घरमें घुसा बैठा है । यह तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाला है । इसीके कारण आप भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं । अतएव यदि आप अपने कुलकी कुशल चाहते हैं तो इस दुष्टको तुरंत ही त्याग दीजिये' ॥ १३ ॥

विदुरजीका ऐसा सुन्दर स्वभाव था कि साधुजन भी उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे । किंतु उनकी यह

१. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'सहानुजो…' से लेकर '…नृदेवदेवः' तक डेढ़ श्लोक नहीं है, पश्चात् लिखी हुई टिप्पणीमें है ।

असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥१४॥
क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥१५॥
स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥१६॥
स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥१७॥
पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥१८॥
गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाऽऽप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥१९॥
इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान् प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥२०॥
तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥२१॥
तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।

बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन और शकुनिके सहित दुर्योधनके होठ अत्यन्त क्रोधसे फड़कने लगे और उसने उनका तिरस्कार करते हुए कहा—'अरे ! इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है ? यह जिनके टुकड़े खा-खाकर जीता है, उन्हींके प्रतिकूल होकर शत्रु-का काम बनाना चाहता है। इसके प्राण तो मत लो, परंतु इसे हमारे नगरसे तुरंत बाहर निकाल दो' ॥१४-१५॥ भाईके सामने ही कानोंमें बाणके समान लगनेवाले इन अत्यन्त कठोर वचनोंसे मर्माहत होकर भी विदुरजीने कुछ बुरा न माना और भगवान्की मायाको प्रबल समझ-कर अपना धनुष राजद्वारपर रख वे हस्तिनापुरसे चल दिये ॥ १६ ॥ कौरवोंको विदुर-जैसे महात्मा बड़े पुण्य-से प्राप्त हुए थे । वे हस्तिनापुरसे चलकर पुण्य करनेकी इच्छासे भूमण्डलमें तीर्थपाद भगवान्के क्षेत्रोंमें विचरने लगे, जहाँ श्रीहरि ब्रह्मा, रुद्र, अनन्त आदि अनेकों मूर्तियोंके रूपमें विराजमान हैं ॥ १७ ॥ जहाँ-जहाँ भगवान्की प्रतिमाओंसे सुशोभित तीर्थस्थान, नगर, पवित्र वन, पर्वत, निकुञ्ज और निर्मल जलसे भरे हुए नदी-सरोवर आदि थे, उन सभी स्थानोंमें वे अकेले ही विचरते रहे ॥ १८ ॥ वे अवधूत-वेषमें स्वच्छन्दतापूर्वक पृथ्वीपर विचरते थे, जिससे आत्मीय-जन उन्हें पहचान न सकें । वे शरीरको सजाते न थे, पवित्र और साधारण भोजन करते, शुद्धवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते, प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, जमीनपर सोते और भगवान्को प्रसन्न करनेवाले व्रतोंका पालन करते रहते थे ॥ १९ ॥

इस प्रकार भारतवर्षमें ही विचरते-विचरते जबतक वे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे, तबतक भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे महाराज युधिष्ठिर पृथ्वीका एकच्छत्र अखण्ड राज्य करने लगे थे ॥ २० ॥ वहाँ उन्होंने अपने कौरव-बन्धुओंके विनाशका समाचार सुना, जो आपसकी कलह-के कारण परस्पर लड़-भिड़कर उसी प्रकार नष्ट हो गये थे, जैसे अपनी ही रगड़से उत्पन्न हुई आगसे बाँसोंका सारा जंगल जलकर खाक हो जाता है । यह सुनकर वे शोक करते हुए चुपचाप सरस्वतीके तीरपर आये ॥ २१ ॥ वहाँ उन्होंने त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित,

१. प्रा० पा०—संस्पृह० । २. प्रा० पा०—तदाथ । ३. प्रा० पा०—वह्निनाश्रयम् । ४. प्रा. पा०—प्रत्यगियात्ततश्च ।

तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥२२॥
अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥२३॥
ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥२४॥
स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥२५॥
कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥२६॥
कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति
वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ॥२७॥
कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे ॥२८॥
कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥२९॥
कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥३०॥

वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेवके नामोंसे प्रसिद्ध ग्यारह तीर्थोंका सेवन किया ॥२२॥ इनके सिवा पृथ्वीमें ब्राह्मण और देवताओंके स्थापित किये हुए जो भगवान् विष्णुके और भी अनेकों मन्दिर थे, जिनके शिखरोंपर भगवान्‌के प्रधान आयुध चक्रके चिह्न थे और जिनके दर्शन-मात्रसे श्रीकृष्णका स्मरण हो आता था; उनका भी सेवन किया ॥ २३ ॥ वहाँसे चलकर वे धन-धान्यपूर्ण सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल आदि देशोंमें होते हुए जब कुछ दिनोंमें यमुना-तटपर पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने परमभागवत उद्धवजीका दर्शन किया ॥ २४ ॥ वे भगवान् श्रीकृष्ण-के प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्तस्वभाव थे। वे पहले बृहस्पतिजीके शिष्य रह चुके थे । विदुरजीने उन्हें देखकर प्रेमसे गाढ़ आलिङ्गन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

विदुरजी कहने लगे—उद्धवजी! पुराणपुरुष बलराम-जी और श्रीकृष्णने अपने ही नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे इस जगत्‌में अवतार लिया है। वे पृथ्वीका भार उतारकर सबको आनन्द देते हुए अब श्रीवसुदेवजीके घर कुशलसे रह रहे हैं न?॥ २६ ॥ प्रियवर ! हम कुरुवंशियोंके परम सुहृद् और पूज्य वसुदेवजी, जो पिताके समान उदारतापूर्वक अपनी कुन्ती आदि बहिनोंको उनके स्वामियोंका संतोष कराते हुए उनकी सभी मनचाही वस्तुएँ देते आये हैं, आनन्दपूर्वक हैं न ? ॥२७॥ प्यारे उद्धवजी ! यादवोंके सेनापति वीरवर प्रद्युम्नजी तो प्रसन्न हैं न, जो पूर्वजन्म-में कामदेव थे तथा जिन्हें देवी रुक्मिणीजीने ब्राह्मणोंकी आराधना करके भगवान्‌से प्राप्त किया था ॥ २८ ॥ सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी यादवोंके अधि-पति महाराज उग्रसेन तो सुखसे हैं न, जिन्होंने राज्य पानेकी आशाका सर्वथा परित्याग कर दिया था किंतु कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने जिन्हें फिरसे राजसिंहासन-पर बैठाया ॥ २९ ॥ सौम्य ! अपने पिता श्रीकृष्णके समान समस्त रथियोंमें अग्रगण्य श्रीकृष्णतनय साम्ब सकुशल तो हैं ? ये पहले पार्वतीजीके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए स्वामिकार्तिक हैं । अनेकों व्रत करके जाम्बवती-

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥३१॥
कच्चिद् बुधः स्वस्त्ययनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥३२॥
कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥३३॥
अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म ह शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥३४॥
अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥३५॥
अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥३६॥
किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥३७॥
कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥३८॥

ने इन्हें जन्म दिया था ॥ ३० ॥ जिन्होंने अर्जुनसे रहस्ययुक्त धनुर्विद्याकी शिक्षा पायी है, वे सात्यकि तो कुशलपूर्वक हैं ? वे भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे अनायास ही भगवज्जनोंकी उस महान् स्थितिपर पहुँच गये हैं, जो बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है ॥ ३१ ॥ भगवान्के शरणागत निर्मल भक्त बुद्धिमान् अक्रूरजी भी प्रसन्न हैं न, जो श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंसे अङ्कित व्रजके मार्गकी रजमें प्रेमसे अधीर होकर लोटने लगे थे ? ॥ ३२ ॥ भोजवंशी देवककी पुत्री देवकीजी अच्छी तरह हैं न, जो देवमाता अदितिके समान ही साक्षात् विष्णुभगवान्की माता हैं ? जैसे वेदत्रयी यज्ञविस्ताररूप अर्थको अपने मन्त्रोंमें धारण किये रहती हैं; उसी प्रकार उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको अपने गर्भमें धारण किया था ॥ ३३ ॥ आप भक्तजनोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले भगवान् अनिरुद्धजी सुखपूर्वक हैं न, जिन्हें शास्त्र-वेदोंके आदिकारण और अन्तःकरणचतुष्टयके चौथे अंश मनके अधिष्ठाता बतलाते हैं* ॥ ३४ ॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी ! अपने हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका अनन्यभावसे अनुसरण करनेवाले जो हृदीक, सत्यभामानन्दन चारुदेष्ण और गद आदि अन्य भगवान्के पुत्र हैं, वे सब भी कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ३५ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अर्जुन और श्रीकृष्णरूप दोनों भुजाओंकी सहायतासे धर्ममर्यादाका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न ? मय दानवकी बनायी हुई सभामें इनके राज्यवैभव और दबदबेको देखकर दुर्योधनको बड़ा डाह हुआ था ॥ ३६ ॥ अपराधियोंके प्रति अत्यन्त असहिष्णु भीमसेनने सर्पके समान दीर्घकालीन क्रोधको छोड़ दिया है क्या ? जब वे गदायुद्धमें तरह-तरहके पैंतरे बदलते थे, तब उनके पैरोंकी धमकसे धरती डोलने लगती थी ॥ ३७ ॥ जिनके बाणोंके जालसे छिपकर किरातवेषधारी, अतएव किसीकी पहचानमें न आनेवाले भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये थे, वे रथी और यूथपतियोंका सुयश बढ़ानेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन तो प्रसन्न हैं न ? अब तो उनके सभी शत्रु शान्त हो चुके होंगे ? ॥ ३८ ॥

---

१. प्रा० पा०—हि ।

* चित्त, अहङ्कार, बुद्धि और मन—ये अन्तःकरणके चार अंश हैं । इनके अधिष्ठाता क्रमशः वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं ।

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥३९॥
अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो[1] विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥४०॥
सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे[2] यः ।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ॥४१॥
सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र ॥४२॥
नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम् ॥४३॥
अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥४४॥

पलक जिस प्रकार नेत्रोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिरादि जिनकी सर्वदा सँभाल रखते हैं और कुन्तीने ही जिनका लालन-पालन किया है, वे माद्रीके यमज पुत्र नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? उन्होंने युद्धमें शत्रुसे अपना राज्य उसी प्रकार छीन लिया, जैसे दो गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृत निकाल लायें ॥ ३९ ॥ अहो ! बेचारी कुन्ती तो राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके वियोगमें मृतप्राय-सी होकर भी इन बालकोंके लिये ही प्राण धारण किये हुए है । रथियोंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु ऐसे अनुपम वीर थे कि उन्होंने केवल एक धनुष लेकर ही अकेले चारों दिशाओंको जीत लिया था ॥ ४० ॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी ! मुझे तो अधःपतनकी ओर जानेवाले उन धृतराष्ट्रके लिये बार-बार शोक होता है, जिन्होंने पाण्डवोंके रूपमें अपने परलोकवासी भाई पाण्डुसे ही द्रोह किया तथा अपने पुत्रोंकी हाँ-में-हाँ मिलाकर अपने हितचिन्तक मुझको भी नगरसे निकलवा दिया ॥ ४१ ॥ किंतु भाई ! मुझे इसका कुछ भी खेद अथवा आश्चर्य नहीं है । जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण ही मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करके लोगोंकी मनोवृत्तियोंको भ्रमित कर देते हैं । मैं तो उन्हींकी कृपासे उनकी महिमाको देखता हुआ दूसरोंकी दृष्टिसे दूर रहकर सानन्द विचर रहा हूँ ॥ ४२ ॥ यद्यपि कौरवोंने उनके बहुत-से अपराध किये, फिर भी भगवान्‌ने उनकी इसीलिये उपेक्षा कर दी थी कि वे उनके साथ उन दुष्ट राजाओंको भी मारकर अपने शरणागतोंका दुःख दूर करना चाहते थे, जो धन, विद्या और जातिके मदसे अंधे होकर कुमार्गगामी हो रहे थे और बार-बार अपनी सेनाओंसे पृथ्वीको कँपा रहे थे ॥४३॥ उद्धवजी ! भगवान् श्रीकृष्ण जन्म और कर्मसे रहित हैं, फिर भी दुष्टोंका नाश करनेके लिये और लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये उनके दिव्य जन्म-कर्म हुआ करते हैं । नहीं तो, भगवान्‌की तो बात ही क्या—दूसरे जो लोग गुणोंसे पार हो गये हैं, उनमें भी ऐसा कौन है, जो इस कर्माधीन देहके बन्धनमें

१. प्रा० पा०—ऽविरथो । २. प्रा० पा०—च द्रुद्रुहे यः ।

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥४५॥

पड़ना चाहेगा ॥ ४४ ॥ अतः मित्र ! जिन्होंने अजन्मा होकर भी अपनी शरणमें आये हुए समस्त लोकपाल और आज्ञाकारी भक्तोंका प्रिय करनेके लिये यदुकुलमें जन्म लिया है, उन पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी बातें सुनाओ ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
विदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

उद्धवजीद्वारा भगवान्की बाललीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १ ॥
यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया ॥ २ ॥
स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३ ॥
स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥ ४ ॥
पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः ॥ ५ ॥
शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुरजीने परम भक्त उद्धवसे इस प्रकार उनके प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें पूछीं, तब उन्हें अपने स्वामीका स्मरण हो आया और वे हृदय भर आनेके कारण कुछ भी उत्तर न दे सके ॥ १ ॥ जब ये पाँच वर्षके थे, तब बालकोंकी तरह खेलमें ही श्रीकृष्णकी मूर्ति बनाकर उसकी सेवा-पूजामें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेवेके लिये माताके बुलानेपर भी उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते थे ॥ २ ॥ अब तो दीर्घकालसे उन्हींकी सेवामें रहते-रहते ये बूढ़े हो चले थे; अतः विदुरजीके पूछनेसे उन्हें अपने प्यारे प्रभुके चरणकमलोंका स्मरण हो आया—उनका चित्त विरहसे व्याकुल हो गया । फिर वे कैसे उत्तर दे सकते थे ॥ ३ ॥ उद्धवजी श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्द-सुधासे सराबोर होकर दो घड़ीतक कुछ भी नहीं बोल सके । तीव्र भक्तियोगसे उसमें डूबकर वे आनन्द-मग्न हो गये ॥ ४ ॥ उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया तथा मूँदे हुए नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बहने लगी । उद्धवजीको इस प्रकार प्रेम-प्रवाहमें डूबे हुए देखकर विदुरजीने उन्हें कृतकृत्य माना ॥ ५ ॥ कुछ समय बाद जब उद्धवजी भगवान्के प्रेमधामसे उतरकर पुनः धीरे-धीरे संसारमें आये, तब अपने नेत्रोंको पोंछकर भगवल्लीलाओंका स्मरण हो आनेसे विस्मित हो विदुरजीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—अथोपजातस्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्री' नहीं है । ३. प्रा० पा०—रजसं ।

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७ ॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८ ॥
इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९ ॥
देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥१०॥
प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥११॥
यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥१२॥
यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु-
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥१३॥
यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।

उद्धवजी बोले—विदुरजी ! श्रीकृष्णरूप सूर्यके छिप जानेसे हमारे घरोंको कालरूप अजगरने खा डाला है, वे श्रीहीन हो गये हैं; अब मैं उनकी क्या कुशल सुनाऊँ ॥ ७ ॥ ओह ! यह मनुष्यलोक बड़ा ही अभागा है; इसमें भी यादव तो नितान्त भाग्यहीन हैं, जिन्होंने निरन्तर श्रीकृष्णके साथ रहते हुए भी उन्हें नहीं पहचाना—जिस तरह अमृतमय चन्द्रमाके समुद्रमें रहते समय मछलियाँ उन्हें नहीं पहचान सकी थीं ॥ ८ ॥ यादवलोग मनके भावको ताड़नेवाले, बड़े समझदार और भगवान्‌के साथ एक ही स्थानमें रहकर क्रीड़ा करनेवाले थे; तो भी उन सबने समस्त विश्वके आश्रय, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको एक श्रेष्ठ यादव ही समझा ॥९॥ किंतु भगवान्‌की मायासे मोहित इन यादवों और इनसे व्यर्थका वैर ठाननेवाले शिशुपाल आदिके अवहेलना और निन्दासूचक वाक्योंसे भगवत्प्राण महानुभावोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती थी ॥ १० ॥ जिन्होंने कभी तप नहीं किया, उन लोगोंको भी इतने दिनोंतक दर्शन देकर अब उनकी दर्शन-लालसाको तृप्त किये बिना ही वे भगवान् श्रीकृष्ण अपने त्रिभुवनमोहन श्रीविग्रहको छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं और इस प्रकार उन्होंने मानो उनके नेत्रोंको ही छीन लिया है ॥ ११ ॥ भगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानवलीलाओंके योग्य जो दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। सौभाग्य और सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी उस रूपमें। उससे आभूषण (अङ्गोंके गहने) भी विभूषित हो जाते थे ॥ १२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जब भगवान्‌के उस नयनाभिराम रूपपर लोगोंकी दृष्टि पड़ी थी, तब त्रिलोकीने यही माना था कि मानवसृष्टिकी रचनामें विधाताकी जितनी चतुराई है, सब इसी रूपमें पूरी हो गयी है ॥ १३ ॥ उनके प्रेमपूर्ण हास्य-विनोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित होनेपर व्रजबालाओंकी आँखें उन्हींकी ओर लग जाती थीं और उनका चित्त

१. प्रा० पा०—किं पुनः । २. प्रा० पा०—चाद्यैव ।

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥१४॥
स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ॥१५॥
मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद् व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥१६॥
दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
तताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥१७॥
को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥१८॥
दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥१९॥
तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ॥२०॥
स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥२१॥

भी ऐसा तल्लीन हो जाता था कि वे घरके काम-धंधोंको अधूरा ही छोड़कर जड पुतलियोंकी तरह खड़ी रह जाती थीं ॥ १४ ॥ चराचर जगत् और प्रकृतिके स्वामी भगवान्ने जब अपने शान्त-रूप महात्माओंको अपने ही घोररूप असुरोंसे सताये जाते देखा, तब वे करुणाभावसे द्रवित हो गये और अजन्मा होनेपर भी अपने अंश बलरामजीके साथ काष्ठमें अग्निके समान प्रकट हुए ॥ १५ ॥ अजन्मा होकर भी वसुदेवजीके यहाँ जन्म लेनेकी लीला करना, सबको अभय देनेवाले होनेपर भी मानो कंसके भयसे व्रजमें जाकर छिप रहना और अनन्तपराक्रमी होनेपर भी कालयवनके सामने मथुरापुरीको छोड़कर भाग जाना—भगवान्की ये लीलाएँ याद आ-आकर मुझे बेचैन कर डालती हैं ॥ १६ ॥ उन्होंने जो देवकी-वसुदेवकी चरण-वन्दना करके कहा था—'पिताजी, माताजी ! कंसका बड़ा भय रहनेके कारण मुझसे आपकी कोई सेवा न बन सकी, आप मेरे इस अपराधपर ध्यान न देकर मुझपर प्रसन्न हों ।' श्रीकृष्णकी ये बातें जब याद आती हैं तब आज भी मेरा चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है ॥ १७ ॥ जिन्होंने कालरूप अपने भ्रुकुटिविलाससे ही पृथ्वीका सारा भार उतार दिया था, उन श्रीकृष्णके पाद-पद्मपरागका सेवन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उसे भूल सके ॥ १८ ॥ आपलोगोंने राजसूय यज्ञमें प्रत्यक्ष ही देखा था कि श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाले शिशुपालको वह सिद्धि मिल गयी, जिसकी बड़े-बड़े योगी भली-भाँति योग-साधना करके स्पृहा करते रहते हैं, उनका विरह भला, कौन सह सकता है ॥ १९ ॥ शिशुपालके ही समान महाभारत-युद्धमें जिन दूसरे योद्धाओंने अपनी आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णके नयनाभिराम मुख-कमलका मकरन्द पान करते हुए, अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर प्राणत्याग किया, वे पवित्र होकर सब-के-सब भगवान्के परमधामको प्राप्त हो गये ॥२०॥ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके अधीश्वर हैं। उनके समान भी कोई नहीं है, उनसे बढ़कर तो कौन होगा । वे अपने स्वतःसिद्ध ऐश्वर्यसे ही सर्वदा पूर्णकाम हैं । इन्द्रादि असंख्य लोकपालगण नाना प्रकारकी भेंटें ला-लाकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको

१. प्रा० पा०—प्रशान्त० । २. प्रा० पा०—साम्राज्य० ।

तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम्।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद् देव निधारयेति ॥२२॥
अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥२३॥
मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥२४॥
वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥२५॥
ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥२६॥
परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः[1] ।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे ॥२७॥
कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥२८॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥२९॥
प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव ॥३०॥

प्रणाम किया करते हैं ॥ २१ ॥ विदुरजी ! वे ही भगवान् श्रीकृष्ण राजसिंहासनपर बैठे हुए उग्रसेनके सामने खड़े होकर निवेदन करते थे, 'देव ! हमारी प्रार्थना सुनिये ।' उनके इस सेवाभावकी याद आते ही हम-जैसे सेवकोंका चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है ॥ २२ ॥ पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था; उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ॥२३॥ मैं असुरोंको भी भगवान्‌का भक्त समझता हूँ, क्योंकि वैरभावजनित क्रोधके कारण उनका चित्त सदा श्रीकृष्णमें लगा रहता था और उन्हें रणभूमिमें सुदर्शन-चक्रधारी भगवान्‌को कंधेपर चढ़ाकर झपटते हुए गरुड़जीके दर्शन हुआ करते थे ॥ २४ ॥

ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारकर उसे सुखी करनेके लिये कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकीके यहाँ भगवान्‌ने अवतार लिया था ॥२५॥ उस समय कंसके डरसे पिता वसुदेवजीने उन्हें नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँ वे बलरामजीके साथ ग्यारह वर्षतक इस प्रकार छिपकर रहे कि उनका प्रभाव व्रजके बाहर किसीपर प्रकट नहीं हुआ ॥ २६ ॥ यमुनाके उपवनमें, जिसके हरे-भरे वृक्षोंपर कलरव करते हुए पक्षियोंके झुंड-के-झुंड रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने बछड़ोंको चराते हुए ग्वाल-बालोंकी मण्डलीके साथ विहार किया था ॥ २७ ॥ वे व्रजवासियोंकी दृष्टि आकृष्ट करनेके लिये अनेकों बाल-लीला उन्हें दिखाते थे । कभी रोने-से लगते, कभी हँसते और कभी सिंह-शावकके समान मुग्ध-दृष्टिसे देखते ॥ २८ ॥ फिर कुछ बड़े होनेपर वे सफेद बैल और रंग-बिरंगी शोभाकी मूर्ति गौओंको चराते हुए अपने साथी गोपोंको बाँसुरी बजा-बजाकर रिझाने लगे ॥ २९ ॥ इसी समय जब कंसने उन्हें मारनेके लिये बहुत-से मायावी और मनमाना रूप धारण करनेवाले राक्षस भेजे तब उनको खेल-ही-खेलमें भगवान्‌ने मार डाला—जैसे बालक खिलौनोंको तोड़-फोड़ डालता है ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—व्यचरद् भुवि ।

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥३१॥
अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः ॥३२॥
वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥३३॥
शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥३४॥

कालियनागका दमन करके विष मिला हुआ जल पीनेसे मरे हुए ग्वालबालों और गौओंको जीवितकर उन्हें कालियदहका निर्दोष जल पीनेकी सुविधा कर दी ॥३१॥ भगवान् श्रीकृष्णने बढ़े हुए धनका सद्व्यय करानेकी इच्छासे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा नन्दबाबासे गोवर्धन-पूजारूप गोयज्ञ करवाया ॥ ३२ ॥ भद्र ! इससे अपना मानभङ्ग होनेके कारण जब इन्द्रने क्रोधित होकर व्रजका विनाश करनेके लिये मूसलधार जल बरसाना आरम्भ किया, तब भगवान्ने करुणावश खेल-ही-खेलमें छत्तेके समान गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और अत्यन्त घबराये हुए व्रजवासियोंकी तथा उनके पशुओंकी रक्षा की ॥ ३३ ॥ सन्ध्याके समय जब सारे वृन्दावनमें शरद्के चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक जाती, तब श्रीकृष्ण उसका सम्मान करते हुए मधुर गान करते और गोपियोंके मण्डलकी शोभा बढ़ाते हुए उनके साथ रासविहार करते ॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीय-
स्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्के अन्य लीलाचरित्रोंका वर्णन

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १ ॥
सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २ ॥
समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः[1] ॥ ३ ॥

उद्धवजी कहते हैं—इसके बाद श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवको सुख पहुँचानेकी इच्छासे बलदेवजीके साथ मथुरा पधारे और उन्होंने शत्रुसमुदायके स्वामी कंसको ऊँचे सिंहासनसे नीचे पटककर तथा उसके प्राण लेकर उसकी लाशको बड़े जोरसे पृथ्वीपर घसीटा ॥ १ ॥ सान्दीपनि मुनिके द्वारा एक बार उच्चारण किये हुए साङ्गोपाङ्ग वेदका अध्ययन करके दक्षिणास्वरूप उनके मरे हुए पुत्रको पञ्चजन नामक राक्षसके पेटसे (यमपुरीसे) लाकर दे दिया ॥ २ ॥ भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीके सौन्दर्यसे अथवा रुक्मीके बुलानेसे जो शिशुपाल और उसके सहायक वहाँ आये हुए थे, उनके सिरपर पैर रखकर गान्धर्व विधिके द्वारा विवाह करनेके लिये अपनी नित्यसंगिनी रुक्मिणीको वे वैसे ही हरण कर लाये, जैसे गरुड़ अमृत-कलशको ले आये थे ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—ददत् ।

ककुद्मतोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह[1] ।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥ ४ ॥
प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद् द्युतरुं यदर्थे ।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५ ॥
सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं[2]
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥ ६ ॥
तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः[3] ॥ ७ ॥
आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः[4] स्वमायया ॥ ८ ॥
तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः[5] ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९ ॥
कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥ १० ॥
शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्[6] ॥ ११ ॥
अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥ १२ ॥

स्वयंवरमें सात बिना नथे हुए बैलोंको नाथकर नाग्नजिती (सत्या) से विवाह किया । इस प्रकार मानभङ्ग हो जानेपर मूर्ख राजाओंने शस्त्र उठाकर राजकुमारीको छीनना चाहा । तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बिना घायल हुए अपने शस्त्रोंसे उन्हें मार डाला ॥ ४ ॥ भगवान् विषयी पुरुषोंकी-सी लीला करते हुए अपनी प्राणप्रिया सत्यभामाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उनके लिये स्वर्गसे कल्पवृक्ष उखाड़ लाये । उस समय इन्द्रने क्रोधसे अंधे होकर अपने सैनिकोंसहित उनपर आक्रमण कर दिया; क्योंकि वह निश्चय ही अपनी स्त्रियोंका क्रीड़ामृग बना हुआ है ॥ ५ ॥ अपने विशाल डील-डौलसे आकाशको भी ढक देनेवाले अपने पुत्र भौमासुरको भगवान्के हाथसे मरा हुआ देखकर पृथ्वीने जब उनसे प्रार्थना की तब उन्होंने भौमासुरके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ६ ॥ वहाँ भौमासुरद्वारा हरकर लायी हुई बहुत-सी राजकन्याएँ थीं । वे दीनबन्धु श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही खड़ी हो गयीं और सबने महान् हर्ष, लज्जा एवं प्रेमपूर्ण चितवनसे तत्काल ही भगवान्को पतिरूपमें वरण कर लिया ॥ ७ ॥

तब भगवान्ने अपनी निजशक्ति योगमायासे उन ललनाओंके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर उन सबका अलग-अलग महलोंमें एक ही मुहूर्तमें विधिवत् पाणिग्रहण किया ॥ ८ ॥ अपनी लीलाका विस्तार करनेके लिये उन्होंने उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे सभी गुणोंमें अपने ही समान दस-दस पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥ जब कालयवन, जरासन्ध और शाल्वादिने अपनी सेनाओंसे मथुरा और द्वारकापुरीको घेरा था, तब भगवान्ने निजजनोंको अपनी अलौकिक शक्ति देकर उन्हें स्वयं मरवाया था ॥ १० ॥ शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल तथा दन्तवक्त्र आदि अन्य योद्धाओंमेंसे भी किसीको उन्होंने स्वयं मारा था और किसीको दूसरोंसे मरवाया ॥ ११ ॥ इसके बाद उन्होंने आपके भाई धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्रोंका पक्ष लेकर आये हुए राजाओंका भी संहार किया, जिनके सेनासहित कुरुक्षेत्रमें पहुँचनेपर पृथ्वी डगमगाने लगी थी ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—नाग्नजितीं न्युवाह । २. प्रा० पा०—राज्यं । ३. प्रा० पा०—लोकाः । ४. प्रा० पा०—पाणीनुरुरूपः । ५. प्रा० पा०—सर्वशः । ६. प्रा० पा०—घातयन् ।

स कर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्[1]।
सुयोधनं सानुचरं[2] शयानं
भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥१३॥
कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥१४॥
मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वाँमदाताम्रविलोचनानाम्[3] ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स ॥१५॥
एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥१६॥
उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः पुनर्भगवता धृतः ॥१७॥
अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥१८॥
भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
कामान् सिषेवे[4] द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः ॥१९॥
स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन[5] श्रीनिकेतेन चात्मना ॥२०॥
इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥२१॥
तस्यैवं[6] रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥२२॥

कर्ण, दुःशासन और शकुनिकी खोटी सलाहसे जिसकी आयु और श्री—दोनों नष्ट हो चुकी थीं तथा भीमसेनकी गदासे जिसकी जाँघ टूट चुकी थी, उस दुर्योधनको अपने साथियोंके सहित पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी उन्हें प्रसन्नता न हुई ॥ १३ ॥ वे सोचने लगे—यदि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेनके द्वारा इस अठारह अक्षौहिणी सेनाका विपुल संहार हो भी गया, तो इससे पृथ्वीका कितना भार हल्का हुआ। अभी तो मेरे अंशरूप प्रद्युम्न आदिके बलसे बढ़े हुए यादवोंका दुःसह दल बना ही हुआ है ॥ १४ ॥ जब ये मधु-पानसे मतवाले हो लाल-लाल आँखें करके आपसमें लड़ने लगेंगे, तब उससे ही इनका नाश होगा। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। असलमें मेरे संकल्प करनेपर ये स्वयं ही अन्तर्धान हो जायँगे ॥ १५ ॥

यों सोचकर भगवान्ने युधिष्ठिरको अपनी पैतृक राजगद्दीपर बैठाया और अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंको सत्पुरुषोंका मार्ग दिखाकर आनन्दित किया ॥ १६ ॥ उत्तराके उदरमें जो अभिमन्युने पूरुवंशका बीज स्थापित किया था, वह भी अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे नष्ट-सा हो चुका था; किंतु भगवान्ने उसे बचा लिया ॥ १७ ॥ उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेध-यज्ञ करवाये और वे भी श्रीकृष्णके अनुगामी होकर अपने छोटे भाइयोंकी सहायतासे पृथ्वीकी रक्षा करते हुए बड़े आनन्दसे रहने लगे ॥ १८ ॥ विश्वात्मा श्रीभगवान्ने भी द्वारकापुरीमें रहकर लोक और वेदकी मर्यादाका पालन करते हुए सब प्रकारके भोग भोगे, किंतु सांख्ययोगकी स्थापना करनेके लिये उनमें कभी आसक्त नहीं हुए ॥ १९ ॥ मधुर मुसकान, स्नेहमयी चितवन, सुधामयी वाणी, निर्मल चरित्र तथा समस्त शोभा और सुन्दरताके निवास अपने श्रीविग्रहसे लोक-परलोक और विशेषतया यादवोंको आनन्दित किया तथा रात्रिमें अपनी प्रियाओंके साथ क्षणिक अनुरागयुक्त होकर समयोचित विहार किया और इस प्रकार उन्हें भी सुख दिया ॥ २०-२१ ॥ इस तरह बहुत वर्षोंतक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थ-आश्रम-सम्बन्धी भोग-सामग्रियोंसे वैराग्य हो गया ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—श्रियाञ्जुषाम्। २. प्रा० पा०—सानुबलं। ३. प्रा० पा०—मध्वामदार्ताम्बुजलोच०। ४. प्रा० पा०—निषेवे। ५. प्रा० पा०—चारित्र्येणा०। ६. प्रा० पा०—तस्येत्थं।

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्।

को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥२३॥

पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः।

कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥२४॥

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः।

ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥२५॥

तत्र स्नात्वा पितॄन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा।

तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥२६॥

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान्।

यानं[1] रथानिभान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥२७॥

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम्।

गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥२८॥

ये भोग-सामग्रियाँ ईश्वरके अधीन हैं और जीव भी उन्हींके अधीन है। जब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ही उनसे वैराग्य हो गया तब भक्तियोगके द्वारा उनका अनुगमन करनेवाला भक्त तो उनपर विश्वास ही कैसे करेगा ? ॥ २३ ॥ एक बार द्वारकापुरीमें खेलते हुए यदुवंशी और भोजवंशी बालकोंने खेल-खेलमें कुछ मुनीश्वरोंको चिढ़ा दिया। तब यादवकुलका नाश ही भगवान्को अभीष्ट है—यह समझकर उन ऋषियोंने बालकोंको शाप दे दिया ॥ २४ ॥ इसके कुछ ही महीने बाद भावीवश वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी यादव बड़े हर्षसे रथोंपर चढ़कर प्रभासक्षेत्रको गये ॥ २५ ॥ वहाँ स्नान करके उन्होंने उस तीर्थके जलसे पितर, देवता और ऋषियोंका तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ गौएँ दीं ॥ २६ ॥ उन्होंने सोना, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, हाथी, कन्याएँ और ऐसी भूमि जिससे जीविका चल सके तथा नाना प्रकारके सरस अन्न भी भगवदर्पण करके ब्राह्मणोंको दिये। इसके पश्चात् गौ और ब्राह्मणोंके लिये ही प्राण धारण करनेवाले उन वीरोंने पृथ्वीपर सिर टेककर उन्हें प्रणाम किया ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

उद्धवजीसे विदा होकर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।

तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १ ॥

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम्।

निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २ ॥

भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः।

सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३ ॥

उद्धवजीने कहा—फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाकर यादवोंने भोजन किया और वारुणी मदिरा पी। उससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और वे दुर्वचनोंसे एक दूसरेके हृदयको चोट पहुँचाने लगे ॥ १ ॥ मदिराके नशेसे उनकी बुद्धि बिगड़ गयी और जैसे आपसकी रगड़से बाँसोंमें आग लग जाती है, उसी प्रकार सूर्यास्त होते-होते उनमें मार-काट होने लगी ॥ २ ॥ भगवान् अपनी मायाकी उस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके जलसे आचमन करके एक वृक्षके नीचे बैठ गये ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—ह्यान्रथानिभान्कन्यां।

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा ॥ ४ ॥
अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५ ॥
अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६ ॥
श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७ ॥
वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८ ॥
तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखः ।
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९ ॥
तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं[1] ते
ददामि यत्तद् दुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥११॥
स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्[2] ।
यन्मां नृलोकान्[3] रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ॥१२॥
पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।

इससे पहले ही शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छा होनेपर मुझसे कह दिया था कि तुम बदरिकाश्रम चले जाओ ॥ ४ ॥ विदुरजी ! इससे यद्यपि मैं उनका आशय समझ गया था, तो भी स्वामीके चरणोंका वियोग न सह सकनेके कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया ॥ ५ ॥ वहाँ मैंने देखा कि जो सबके आश्रय हैं; किंतु जिनका कोई और आश्रय नहीं है, वे प्रियतम प्रभु शोभाधाम श्यामसुन्दर सरस्वती-के तटपर अकेले ही बैठे हैं ॥ ६ ॥ दिव्य विशुद्ध सत्त्वमय अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, शान्तिसे भरी रतनारी आँखें हैं । उनकी चार भुजाएँ और रेशमी पीताम्बर देखकर मैंने उनको दूरसे ही पहचान लिया ॥ ७ ॥ वे एक पीपलके छोटे-से वृक्षका सहारा लिये बायीं जाँघपर दायाँ चरणकमल रक्खे बैठे थे । भोजन-पानका त्याग कर देनेपर भी वे आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहे थे ॥ ८ ॥ इसी समय व्यासजीके प्रिय मित्र परम भागवत सिद्ध मैत्रेयजी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ९ ॥ मैत्रेय मुनि भगवान्के अनुरागी भक्त हैं । आनन्द और भक्तिभावसे उनकी गर्दन झुक रही थी । उनके सामने ही श्रीहरिने प्रेम एवं मुसकानयुक्त चितवनसे मुझे आनन्दित करते हुए कहा ॥ १० ॥

श्रीभगवान् कहने लगे—मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा जानता हूँ; इसलिये मैं तुम्हें वह साधन देता हूँ, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है । उद्धव ! तुम पूर्व-जन्ममें वसु थे । विश्वकी रचना करनेवाले प्रजा-पतियों और वसुओंके यज्ञमें मुझे पानेकी इच्छासे ही तुमने मेरी आराधना की थी ॥ ११ ॥ साधुस्वभाव उद्धव ! संसारमें तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है, क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है । अब मैं मर्त्यलोक-को छोड़कर अपने धाममें जाना चाहता हूँ । इस समय यहाँ एकान्तमें तुमने अपनी अनन्य भक्तिके कारण ही मेरा दर्शन पाया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १२ ॥ पूर्वकालमें पाद्मकल्पके आरम्भमें मैंने अपने नाभि-कमलपर बैठे हुए ब्रह्माको अपनी

१. प्रा० पा०—मनसेप्सितं । २. प्रा० पा०—यः । ३. प्रा० पा०—कानिह ।

ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥१३॥
इत्याद्दतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥१४॥
को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥१५॥
कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥१६॥
मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥१७॥
ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ॥१८॥
इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः ।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम्[1] ॥१९॥
स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।

महिमाके प्रकट करनेवाले जिस श्रेष्ठ ज्ञानका उपदेश किया था और जिसे विवेकी लोग 'भागवत' कहते हैं; वही मैं तुम्हें देता हूँ ॥ १३ ॥

विदुरजी ! मुझपर तो प्रतिक्षण उन परम पुरुषकी कृपा बरसा करती थी । इस समय उनके इस प्रकार आदरपूर्वक कहनेसे स्नेहवश मुझे रोमाञ्च हो आया, मेरी वाणी गद्गद हो गयी और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी । उस समय मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा—॥ १४ ॥ 'स्वामिन् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको इस संसारमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है; तथापि मुझे उनमेंसे किसीकी इच्छा नहीं है । मैं तो केवल आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिये ही लालायित रहता हूँ ॥ १५ ॥ प्रभो ! आप निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; कालरूप होकर भी शत्रुके डरसे भागते हैं और द्वारकाके किलेमें जाकर छिप रहते हैं तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं—इन विचित्र चरित्रोंको देखकर विद्वानोंकी बुद्धि भी चक्करमें पड़ जाती है ॥ १६ ॥ देव ! आपका स्वरूपज्ञान सर्वथा अबाध और अखण्ड है । फिर भी आप सलाह लेनेके लिये मुझे बुलाकर जो भोले मनुष्योंकी तरह बड़ी सावधानीसे मेरी सम्मति पूछा करते थे, प्रभो ! आपकी वह लीला मेरे मनको मोहित-सा कर देती है ॥ १७ ॥ स्वामिन् ! अपने स्वरूपका गूढ रहस्य प्रकट करनेवाला जो श्रेष्ठ एवं समग्र ज्ञान आपने ब्रह्माजीको बतलाया था, वह यदि मेरे समझने योग्य हो तो मुझे भी सुनाइये, जिससे मैं भी इस संसार-दुःखको सुगमतासे पार कर जाऊँ' ॥ १८ ॥

जब मैंने इस प्रकार अपने हृदयका भाव निवेदित किया, तब परमपुरुष कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे अपने स्वरूपकी परम स्थितिका उपदेश दिया ॥१९॥ इस प्रकार पूज्यपाद गुरु श्रीकृष्णसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका

१. प्रा० पा०—नूनं ।

प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥२०॥
सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥२१॥
यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥२३॥
स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः ।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥२४॥

विदुर उवाच[1]

ज्ञानं परं स्वात्मरहः प्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥२५॥

उद्धव उवाच

ननु[2] ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।
साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥२७॥

साधन सुनकर तथा उन प्रभुके चरणोंकी वन्दना और परिक्रमा करके मैं यहाँ आया हूँ । इस समय उनके विरहसे मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है ॥ २० ॥ विदुरजी ! पहले तो उनके दर्शन पाकर मुझे आनन्द हुआ था, किंतु अब तो मेरे हृदयको उनकी विरहव्यथा अत्यन्त पीड़ित कर रही है । अब मैं उनके प्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रमको जा रहा हूँ, जहाँ भगवान् श्रीनारायणदेव और नर—ये दोनों ऋषि लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये दीर्घकालीन सौम्य दूसरोंको सुख पहुँचानेवाली एवं कठिन तपस्या कर रहे हैं ॥ २१-२२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार उद्धवजीके मुखसे अपने प्रिय बन्धुओंके विनाशका असह्य समाचार सुनकर परम ज्ञानी विदुरजीको जो शोक उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने ज्ञानद्वारा शान्त कर दिया ॥ २३ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णके परिकरोंमें प्रधान महाभागवत उद्धवजी बदरिकाश्रमकी ओर जाने लगे, तब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने श्रद्धापूर्वक उनसे पूछा ॥ २४ ॥

विदुरजीने कहा—उद्धवजी ! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाला जो परमज्ञान आपसे कहा था, वह आप हमें भी सुनाइये; क्योंकि भगवान्‌के सेवक तो अपने सेवकोंका कार्य सिद्ध करनेके लिये ही विचरा करते हैं ॥ २५ ॥

उद्धवजीने कहा—उस तत्त्वज्ञानके लिये आपको मुनिवर मैत्रेयजीकी सेवा करनी चाहिये । इस मर्त्यलोकको छोड़ते समय मेरे सामने स्वयं भगवान्‌ने ही आपको उपदेश करनेके लिये उन्हें आज्ञा दी थी ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंकी चर्चा होनेसे उस कथामृतके द्वारा उद्धवजीका वियोगजनित महान् ताप शान्त हो गया । यमुनाजीके तीरपर उनकी वह रात्रि एक क्षणके समान बीत गयी । फिर प्रातःकाल होते ही वे वहाँसे चल दिये ॥ २७ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'विदुर उवाच' नहीं है । २. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'ननु ते' से लेकर 'आकृतिं त्र्यधीशः' तक तीन श्लोक तथा बीचके 'उवाच' आदि पूरा पाठ नहीं है, टिप्पणीमें है । शायद लिखते समय भूलसे रह गया हो और पश्चात् टिप्पणीके रूपमें सुधारा गया हो।

राजोवाच

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो
यद्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥२९॥
अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥३०॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥३१॥
एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना ।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥३२॥
विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥३३॥
देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥३४॥
आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥३५॥
कालिन्द्याः[1] कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभः[2] ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥३६॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! वृष्णिकुल और भोजवंशके सभी रथी और यूथपतियोंके भी यूथपति नष्ट हो गये थे । यहाँतक कि त्रिलोकीनाथ श्रीहरिको भी अपना वह रूप छोड़ना पड़ा था । फिर उन सबके मुखिया उद्धवजी ही कैसे बच रहे ?॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—जिनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती, उन श्रीहरिने ब्राह्मणोंके शापरूप कालके बहाने अपने कुलका संहार कर अपने श्रीविग्रहको त्यागते समय विचार किया ॥ २९ ॥ 'अब इस लोकसे मेरे चले जानेपर संयमीशिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञानको ग्रहण करनेके सच्चे अधिकारी हैं ॥ ३० ॥ उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं; क्योंकि वे आत्मजयी हैं, विषयोंसे कभी विचलित नहीं हुए । अतः लोगोंको मेरे ज्ञानकी शिक्षा देते हुए वे यहीं रहें' ॥ ३१ ॥ वेदोंके मूल कारण जगद्गुरु श्रीकृष्णके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उद्धवजी बदरिकाश्रममें जाकर समाधियोगद्वारा श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ३२ ॥ कुरुश्रेष्ठ परीक्षित् ! परमात्मा श्रीकृष्णने लीलासे ही अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था और लीलासे ही उसे अन्तर्धान भी कर दिया । उनका वह अन्तर्धान होना भी धीर पुरुषोंका उत्साह बढ़ानेवाला तथा दूसरे पशुतुल्य अधीर पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था । परम भागवत उद्धवजीके मुखसे उनके प्रशंसनीय कर्म और इस प्रकार अन्तर्धान होनेका समाचार पाकर तथा यह जानकर कि भगवान्‌ने परमधाम जाते समय मुझे भी स्मरण किया था, विदुरजी उद्धवजीके चले जानेपर प्रेमसे विह्वल होकर रोने लगे ॥ ३३–३५ ॥ इसके पश्चात् सिद्धशिरोमणि विदुरजी यमुनातटसे चलकर कुछ दिनोंमें गङ्गाजीके किनारे जा पहुँचे, जहाँ श्रीमैत्रेयजी रहते थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—कालिन्द्यां। २. प्रा० पा०—भागवतर्षभः।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमवर्णन

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥ २ ॥
जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३ ॥
तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः
संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४ ॥
करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५ ॥
यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ॥ ६ ॥
क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परमज्ञानी मैत्रेय मुनि (हरिद्वारक्षेत्र) में विराजमान थे। भगवद्भक्तिसे शुद्ध हुए हृदयवाले विदुरजी उनके पास जा पहुँचे और उनके साधुस्वभावसे आप्यायित होकर उन्होंने पूछा ॥ १ ॥

विदुरजीने कहा—भगवन् ! संसारमें सब लोग सुखके लिये कर्म करते हैं; परंतु उनसे न तो उन्हें सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है, बल्कि उससे भी उनके दुःखकी वृद्धि ही होती है। अतः इस विषयमें क्या करना उचित है, यह आप मुझे कृपा करके बतलाइये ॥ २ ॥ जो लोग दुर्भाग्यवश भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख, अधर्मपरायण और अत्यन्त दुखी हैं, उनपर कृपा करनेके लिये ही आप-जैसे भाग्यशाली भगवद्भक्त संसारमें विचरा करते हैं ॥ ३ ॥ साधुशिरोमणे ! आप मुझे उस शान्तिप्रद साधनका उपदेश दीजिये, जिसके अनुसार आराधना करनेसे भगवान् अपने भक्तोंके भक्तिपूत हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं और अपने स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव करानेवाला सनातन ज्ञान प्रदान करते हैं ॥ ४ ॥ त्रिलोकीके नियन्ता और परम स्वतन्त्र श्रीहरि अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ करते हैं, जिस प्रकार अकर्ता होकर भी उन्होंने कल्पके आरम्भमें इस सृष्टिकी रचना की, जिस प्रकार इसे स्थापित कर वे जगत्के जीवोंकी जीविकाका विधान करते हैं, फिर जिस प्रकार इसे अपने हृदयाकाशमें लीनकर वृत्तिशून्य हो योगमायाका आश्रय लेकर शयन करते हैं और जिस प्रकार वे योगेश्वरेश्वर प्रभु एक होनेपर भी इस ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रविष्ट होकर अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं—वह सब रहस्य आप हमें समझाइये ॥५-६॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंके कल्याणके लिये जो अनेकों अवतार धारण करके लीलासे ही नाना प्रकारके दिव्य कर्म करते हैं, वे भी हमें सुनाइये। यशस्वियोंके मुकुटमणि श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते हमारा मन तृप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—वारमेद्वा। २. प्रा० पा०—साधुवर्त्म संरा०। ३. प्रा० पा०—तारूपैः। ४. प्रा० पा०—त्यधिशृण्वतां।

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान् सहलोकपालान् ।
अचीक्लृपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८ ॥
येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृडात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९ ॥
परावरेषां भगवन् व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥१०॥
कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥११॥
गवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥१२॥
सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः[1] ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥१३॥
ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥१४॥
तदस्य कौषारव शर्मदातु-
र्हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥१५॥

हमें यह भी सुनाइये कि उन समस्त लोकपतियोंके स्वामी श्रीहरिने इन लोकों, लोकपालों और लोकालोक-पर्वतसे बाहरके भागोंको, जिनमें ये सब प्रकारके प्राणियों-के अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत हो रहे हैं, किन तत्त्वोंसे रचा है ॥ ८ ॥ द्विजवर ! उन विश्वकर्ता स्वयम्भू श्रीनारायणने अपनी प्रजाके स्वभाव, कर्म, रूप और नामोंके भेदकी किस प्रकार रचना की है ? भगवन् ! मैंने श्रीव्यासजीके मुखसे ऊँच-नीच वर्णोंके धर्म तो कई बार सुने हैं; किंतु अब श्रीकृष्णकथामृतके प्रवाहको छोड़कर अन्य स्वल्पसुखदायक धर्मोंसे मेरा चित्त ऊब गया है ॥ ९-१० ॥ उन तीर्थपाद श्रीहरिके गुणानुवादसे तृप्त हो भी कौन सकता है । उनका तो नारदादि महात्मागण भी आप-जैसे साधुओंके समाजमें कीर्तन करते हैं तथा जब ये मनुष्योंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते हैं, तब उनकी संसारचक्रमें डालनेवाली घर-गृहस्थीकी आसक्तिको काट डालते हैं ॥ ११ ॥ भगवन्! आपके सखा मुनिवर कृष्णद्वैपायनने भी भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी इच्छासे ही महाभारत रचा है । उसमें भी विषयसुखोंका उल्लेख करते हुए मनुष्योंकी बुद्धिको भगवान्की कथाओंकी ओर लगानेका ही प्रयत्न किया गया है ॥ १२ ॥ यह भगवत्कथाकी रुचि श्रद्धालु पुरुषके हृदयमें जब बढ़ने लगती है, तब अन्य विषयोंसे उसे विरक्त कर देती है । वह भगवच्चरणोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दमग्न हो जाता है और उस पुरुषके सभी दुःखोंका तत्काल अन्त हो जाता है ॥ १३ ॥ मुझे तो उन शोचनीयोंके भी शोचनीय अज्ञानी पुरुषोंके लिये निरन्तर खेद रहता है, जो अपने पिछले पापोंके कारण श्रीहरिकी कथाओंसे विमुख रहते हैं । हाय ! कालभगवान् उनके अमूल्य जीवनको काट रहे हैं और वे वाणी, देह और मनसे व्यर्थ वाद-विवाद, व्यर्थ चेष्टा और व्यर्थ चिन्तनमें लगे रहते हैं ॥ १४ ॥ मैत्रेयजी ! आप दीनोंपर कृपा करनेवाले हैं; अतः भौंरा जैसे फूलोंमेंसे रस निकाल लेता है, उसी प्रकार इन लौकिक कथाओंमेंसे इनकी सारभूता परम कल्याणकारी पवित्र-कीर्ति श्रीहरिकी कथाएँ छाँटकर हमारे कल्याणके लिये

१ प्रा० पा०—पुंसां ।

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥१८॥
नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥१९॥
माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥२०॥
भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च ।
यस्य ज्ञानोपदेशाय माऽऽदिशद्भगवान् व्रजन्[1] ॥२१॥
अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥२२॥
भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥२३॥
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥२४॥

सुनाइये ॥ १५ ॥ उन सर्वेश्वरने संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये अपनी मायाशक्तिको स्वीकार कर राम-कृष्णादि अवतारोंके द्वारा जो अनेकों अलौकिक लीलाएँ की हैं, वे सब मुझे सुनाइये ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुरजीने जीवोंके कल्याणके लिये इस प्रकार प्रश्न किया, तब तो मुनिश्रेष्ठ भगवान् मैत्रेयजीने उनकी बहुत बड़ाई करते हुए यों कहा ॥ १७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—साधुस्वभाव विदुरजी ! आपने सब जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह करके यह बड़ी अच्छी बात पूछी है । आपका चित्त तो सर्वदा श्रीभगवान्में ही लगा रहता है, तथापि इससे संसारमें भी आपका बहुत सुयश फैलेगा ॥ १८ ॥ आप श्रीव्यासजीके औरस पुत्र हैं; इसलिये आपके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि आप अनन्यभावसे सर्वेश्वर श्रीहरिके ही आश्रित हो गये हैं ॥ १९ ॥ आप प्रजाको दण्ड देनेवाले भगवान् यम ही हैं । माण्डव्य ऋषिका शाप होनेके कारण ही आपने श्रीव्यासजीके वीर्यसे उनके भाई विचित्रवीर्यकी भोगपत्नी दासीके गर्भसे जन्म लिया है ॥ २० ॥ आप सर्वदा ही श्रीभगवान् और उनके भक्तोंको अत्यन्त प्रिय हैं; इसीलिये भगवान् निजधाम पधारते समय मुझे आपको ज्ञानोपदेश करनेकी आज्ञा दे गये हैं ॥ २१ ॥ इसलिये अब मैं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये योगमायाके द्वारा विस्तारित हुई भगवान्की विभिन्न लीलाओंका क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ २२ ॥

सृष्टिरचनाके पूर्व समस्त आत्माओंके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे—न द्रष्टा था न दृश्य ! सृष्टिकालमें अनेक वृत्तियोंके भेदसे जो अनेकता दिखायी पड़ती है, वह भी वही थे; क्योंकि उनकी इच्छा अकेले रहनेकी थी ॥ २३ ॥ वे ही द्रष्टा होकर देखने लगे, परंतु उन्हें दृश्य दिखायी नहीं पड़ा; क्योंकि उस समय वे ही अद्वितीय रूपसे प्रकाशित हो रहे थे । ऐसी अवस्थामें वे अपनेको असत्के समान समझने लगे । वस्तुतः वे असत् नहीं थे, क्योंकि उनकी शक्तियाँ ही सोयी थीं ।

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—यज्ज्ञानादेशये चैव माऽऽदिशद्भगवानिह ।

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥२५॥
कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥२६॥
ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ।२७।
सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥२८॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥२९॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥३१॥
कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥३२॥
अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥३३॥
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥३४॥
ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥३५॥

उनके ज्ञानका लोप नहीं हुआ था ॥२४॥ यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली शक्ति ही—कार्यकारणरूपा माया है । महाभाग विदुरजी ! इस भावाभावरूप अनिर्वचनीय मायाके द्वारा ही भगवान्‌ने इस विश्वका निर्माण किया है ॥ २५॥ कालशक्तिसे जब यह त्रिगुणमयी माया क्षोभको प्राप्त हुई, तब उन इन्द्रियातीत चिन्मय परमात्माने अपने अंश पुरुषरूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया ॥ २६ ॥ तब कालकी प्रेरणासे उस अव्यक्त मायासे महत्तत्त्व प्रकट हुआ । वह मिथ्या अज्ञानका नाशक होनेके कारण विज्ञानस्वरूप और अपनेमें सूक्ष्मरूपसे स्थित प्रपञ्चकी अभिव्यक्ति करनेवाला था ॥ २७ ॥ फिर चिदाभास, गुण और कालके अधीन उस महत्तत्त्वने भगवान्‌की दृष्टि पड़नेपर इस विश्वकी रचनाके लिये अपना रूपान्तर किया ॥ २८ ॥ महत्तत्त्वके विकृत होनेपर अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई—जो कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्ता (अधिदैव) रूप होनेके कारण भूत, इन्द्रिय और मनका कारण है ॥ २९ ॥ वह अहङ्कार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है; अतः अहंतत्त्वमें विकार होनेपर वैकारिक अहङ्कारसे मन और जिनसे विषयोंका ज्ञान होता है वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता हुए ॥ ३० ॥ तैजस अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां हुईं तथा तामस अहङ्कारसे सूक्ष्म भूतोंका कारण शब्दतन्मात्र हुआ और उससे दृष्टान्तरूपसे आत्माका बोध करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ भगवान्‌की दृष्टि जब आकाशपर पड़ी, तब उससे फिर काल, माया और चिदाभासके योगसे स्पर्शतन्मात्र हुआ और उसके विकृत होनेपर उससे वायुकी उत्पत्ति हुई ॥ ३२ ॥ अत्यन्त बलवान् वायुने आकाशके सहित विकृत होकर रूपतन्मात्रकी रचना की और उससे संसारका प्रकाशक तेज उत्पन्न हुआ ॥३३॥ फिर परमात्माकी दृष्टि पड़नेपर वायुयुक्त तेजने काल, माया और चिदंशके योगसे विकृत होकर रसतन्मात्रके कार्य जलको उत्पन्न किया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर तेजसे युक्त जलने ब्रह्मका दृष्टिपात होनेपर काल, माया और चिदंशके योगसे गन्धगुणमयी पृथ्वीको उत्पन्न किया ॥३५॥

१. प्रा० पा०—मनोभवः ।

भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम्[1] ।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथासंख्यं गुणान् विदुः ॥३६॥
एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।
नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ॥३७॥

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३८॥
धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥३९॥
मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः[2] प्रपन्नाः ॥४०॥
यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम[3] तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥४१॥
विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥४२॥
यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम् ॥४३॥
तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥४४॥

विदुरजी ! इन आकाशादि भूतोंमेंसे जो-जो भूत पीछे-पीछे उत्पन्न हुए हैं, उनमें क्रमशः अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुण भी अनुगत समझने चाहिये ॥ ३६ ॥ ये महत्-तत्त्वादिके अभिमानी विकार, विक्षेप और चेतनांशविशिष्ट देवगण श्रीभगवान्‌के ही अंश हैं । किंतु पृथक्-पृथक् रहनेके कारण जब वे विश्वरचनारूप अपने कार्यमें सफल नहीं हुए, तब हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहने लगे ॥३७॥

देवताओंने कहा—देव ! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं । ये अपनी शरणमें आये हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिये छत्रके समान हैं तथा इनका आश्रय लेनेसे यतिजन अनन्त संसार-दुःखको सुगमतासे ही दूर फेंक देते हैं ॥ ३८ ॥ जगत्कर्ता जगदीश्वर ! इस संसारमें तापत्रयसे व्याकुल रहनेके कारण जीवोंको जरा भी शान्ति नहीं मिलती । इसलिये भगवन् ! हम आपके चरणोंकी ज्ञानमयी छायाका आश्रय लेते हैं ॥३९॥ मुनिजन एकान्त स्थानमें रहकर आपके मुख-कमलका आश्रय लेनेवाले वेदमन्त्ररूप पक्षियोंके द्वारा जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं तथा जो सम्पूर्ण पाप-नाशिनी नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजीके उद्गमस्थान हैं, आपके उन परम पावन पादपद्मोंका हम आश्रय लेते हैं ॥४०॥ हम आपके चरणकमलोंकी उस चौकीका आश्रय ग्रहण करते हैं, जिसे भक्तजन श्रद्धा और श्रवण-कीर्तनादिरूप भक्तिसे परिमार्जित अन्तःकरणमें धारण करके वैराग्यपुष्ट ज्ञानके द्वारा परम धीर हो जाते हैं ॥४१॥ ईश ! आप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये ही अवतार लेते हैं; अतः हम सब आपके उन चरणकमलोंकी शरण लेते हैं, जो अपना स्मरण करनेवाले भक्तजनोंको अभय कर देते हैं॥४२॥ जिन पुरुषोंका देह, गेह तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य तुच्छ पदार्थोंमें अहंता, ममताका दृढ़ दुराग्रह है, उनके शरीरमें (आपके अन्तर्यामीरूपसे) रहनेपर भी जो अत्यन्त दूर हैं—उन्हीं आपके चरणारविन्दोंको हम भजते हैं ॥ ४३ ॥ परम यशस्वी परमेश्वर ! इन्द्रियोंके विषयाभिमुख रहनेके कारण जिनका मन सर्वदा बाहर ही भटका करता है, वे पामरलोग आपके विलासपूर्ण पाद-विन्यासकी शोभाके विशेषज्ञ भक्तजनोंका दर्शन नहीं कर पाते; इसीसे वे आपके चरणोंसे दूर रहते हैं ॥ ४४॥ देव !

१. प्रा० पा०—द्व्याव्यं चराचरम् । २. प्रा० पा०—तीर्थपदं । ३. प्रा० पा०—व्रजन्ति । ४. प्रा० पा०—तत्त्वा ।

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥४५॥

आपके कथामृतका पान करनेसे उमड़ी हुई भक्तिके कारण जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, वे लोग—वैराग्य ही जिसका सार है—ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करके अनायास ही आपके वैकुण्ठधामको चले जाते हैं ॥४५॥

तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥४६॥

दूसरे धीर पुरुष चित्तनिरोधरूप समाधिके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आपमें ही लीन तो हो जाते हैं, पर उन्हें श्रम बहुत होता है; किंतु आपकी सेवाके मार्गमें कुछ भी कष्ट नहीं है ॥ ४६ ॥

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाऽऽद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे[1] ते ॥४७॥

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥४८॥

आदिदेव ! आपने सृष्टि-रचनाकी इच्छासे हमें त्रिगुणमय रचा है । इसलिये विभिन्न स्वभाववाले होनेके कारण हम आपसमें मिल नहीं पाते और इसीसे आपकी क्रीडाके साधनरूप ब्रह्माण्डकी रचना करके उसे आपको समर्पण करनेमें असमर्थ हो रहे हैं ॥ ४७ ॥ अतः जन्मरहित भगवन् ! जिससे हम ब्रह्माण्ड रचकर आपको सब प्रकारके भोग समयपर समर्पण कर सकें और जहाँ स्थित होकर हम भी अपनी योग्यताके अनुसार अन्न ग्रहण कर सकें तथा ये सब जीव भी सब प्रकारकी विघ्नबाधाओंसे दूर रहकर हम और आप दोनोंको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण कर सकें, ऐसा कोई उपाय कीजिये ॥४८॥

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥४९॥

आप निर्विकार पुराणपुरुष ही अन्य कार्यवर्गके सहित हम देवताओंके आदि कारण हैं । देव ! पहले आप अजन्माहीने सत्त्वादि गुण और जन्मादि कर्मोंकी कारणरूपा मायाशक्तिमें चिदाभासरूप वीर्य स्थापित किया था ॥ ४९ ॥

ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन् करवाम किं ते ।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या
देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्[2] ॥५०॥

परमात्मदेव ! महत्तत्त्वादिरूप हम देवगण जिस कार्यके लिये उत्पन्न हुए हैं, उसके सम्बन्धमें हम क्या करें ? देव ! हमपर आप ही अनुग्रह करनेवाले हैं । इसलिये ब्रह्माण्डरचनाके लिये आप हमें क्रियाशक्तिके सहित अपनी ज्ञानशक्ति भी प्रदान कीजिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—हर्तुरते । २. प्रा० पा०—ग्रहेण ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

विराट् शरीरकी उत्पत्ति

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥ १॥
कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥ २॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥ ३॥
प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम्॥ ४॥
परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥ ५॥
हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ६॥
स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनाऽऽत्मानमेकधा दशधा त्रिधा॥ ७॥
एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥ ८॥
साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥ ९॥

मैत्रेय ऋषिने कहा—सर्वशक्तिमान् भगवान्ने जब देखा कि आपसमें संगठित न होनेके कारण ये मेरी महत्तत्त्व आदि शक्तियाँ विश्व-रचनाके कार्यमें असमर्थ हो रही हैं, तब वे कालशक्तिको स्वीकार करके एक साथ ही महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्त्वोंके समुदायमें प्रविष्ट हो गये॥ १-२॥ उनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने जीवोंके सोये हुए अदृष्टको जाग्रत् किया और परस्पर विलग हुए उस तत्त्वसमूहको अपनी क्रियाशक्तिके द्वारा आपसमें मिला दिया॥ ३॥ इस प्रकार जब भगवान्ने अदृष्टको कार्योन्मुख किया, तब उस तेईस तत्त्वोंके समूहने भगवान्की प्रेरणासे अपने अंशोंद्वारा अधिपुरुष—विराट्को उत्पन्न किया॥ ४॥ अर्थात् जब भगवान्ने अंशरूपसे अपने उस शरीरमें प्रवेश किया, तब वह विश्वरचना करनेवाला महत्तत्त्वादिका समुदाय एक-दूसरेसे मिलकर परिणामको प्राप्त हुआ। यह तत्त्वोंका परिणाम ही विराट् पुरुष है, जिसमें चराचर जगत् विद्यमान है॥ ५॥ जलके भीतर जो अण्डरूप आश्रयस्थान था, उसमें वह हिरण्यमय विराट् पुरुष सम्पूर्ण जीवोंको साथ लेकर एक हजार दिव्य वर्षोंतक रहा॥ ६॥ वह विश्वरचना करनेवाले तत्त्वोंका गर्भ (कार्य) था तथा ज्ञान, क्रिया और आत्मशक्तिसे सम्पन्न था। इन शक्तियोंसे उसने स्वयं अपने क्रमशः एक (हृदयरूप), दस (प्राणरूप) और तीन (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) विभाग किये॥ ७॥ यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होनेके कारण समस्त जीवोंका आत्मा, जीवरूप होनेके कारण परमात्माका अंश और प्रथम अभिव्यक्त होनेके कारण भगवान्का आदि-अवतार है। यह सम्पूर्ण भूत-समुदाय इसीमें प्रकाशित होता है॥ ८॥ यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूपसे तीन प्रकारका, प्राणरूपसे दस प्रकारका* और हृदयरूपसे एक प्रकारका है॥ ९॥

१. प्रा० पा०—प्रसुप्तो लो०। २. प्रा० पा०—निशम्य। ३. प्रा० पा०—प्रेरितो जनितस्ताभिर्मात्रा०। ४. प्रा० पा०—अण्डकोश०। ५. प्रा० पा०—साधिभूतश्च साधिदैव इति।

* दस इन्द्रियोंसहित मन अध्यात्म है, इन्द्रियादिके विषय अधिभूत हैं, इन्द्रियाधिष्ठाता देव अधिदैव हैं तथा प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राण हैं।

स्मरन्[1] विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥१०॥
अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह ।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥११॥
तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥१२॥
निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः ।
जिह्वयांशेन च रसं[2] ययासौ प्रतिपद्यते ॥१३॥
निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१४॥
निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१५॥
निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि[3] लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥१६॥
कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥१७॥
त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥१८॥
मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥१९॥
गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥२०॥
हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥२१॥
पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥२२॥

फिर विश्वकी रचना करनेवाले महत्तत्त्वादिके अधिपति श्रीभगवान्‌ने उनकी प्रार्थनाको स्मरण कर उनकी वृत्तियोंको जगानेके लिये अपने चेतनरूप तेजसे उस विराट् पुरुषको प्रकाशित किया, उसे जगाया ॥१०॥ उसके जाग्रत् होते ही देवताओंके लिये कितने स्थान प्रकट हुए—यह मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥ विराट् पुरुषके पहले मुख प्रकट हुआ; उसमें लोकपाल अग्नि अपने अंश वागिन्द्रियके समेत प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है ॥ १२ ॥ फिर विराट् पुरुषके तालु उत्पन्न हुआ; उसमें लोकपाल वरुण अपने अंश रसनेन्द्रियके सहित स्थित हुआ, जिससे जीव रस ग्रहण करता है ॥ १३ ॥ इसके पश्चात् उस विराट् पुरुषके नथुने प्रकट हुए; उनमें दोनों अश्विनीकुमार अपने अंश घ्राणेन्द्रियके सहित प्रविष्ट हुए, जिससे जीव गन्ध ग्रहण करता है ॥१४॥ इसी प्रकार जब उस विराट् देहमें आँखें प्रकट हुईं, तब उनमें अपने अंश नेत्रेन्द्रियके सहित—लोकपति सूर्यने प्रवेश किया, जिस नेत्रेन्द्रियसे पुरुषको विविध रूपोंका ज्ञान होता है ॥१५॥ फिर उस विराट् विग्रहमें त्वचा उत्पन्न हुई, उसमें अपने अंश त्वगिन्द्रियके सहित वायु स्थित हुआ, जिस त्वगिन्द्रियसे जीव स्पर्शका अनुभव करता है ॥ १६ ॥ जब इसके कर्णछिद्र प्रकट हुए, तब उनमें अपने अंश श्रवणेन्द्रियके सहित दिशाओंने प्रवेश किया, जिस श्रवणेन्द्रियसे जीवको शब्दका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥ फिर विराट् शरीरमें चर्म उत्पन्न हुआ, उसमें अपने अंश रोमोंके सहित ओषधियाँ स्थित हुईं, जिन रोमोंसे जीव खुजली आदिको अनुभव करता है ॥१८॥ अब उसके लिङ्ग उत्पन्न हुआ। अपने इस आश्रयमें प्रजापतिने अपने अंश वीर्यके सहित प्रवेश किया, जिससे जीव आनन्दका अनुभव करता है ॥ १९ ॥ फिर विराट् पुरुषके गुदा प्रकट हुई; उसमें लोकपाल मित्रने अपने अंश पायु-इन्द्रियके सहित प्रवेश किया, इससे जीव मलत्याग करता है ॥ २० ॥ इसके पश्चात् उसके हाथ प्रकट हुए; उनमें अपनी ग्रहण-त्याग-रूपा शक्तिके सहित देवराज इन्द्रने प्रवेश किया, इस शक्तिसे जीव अपनी जीविका प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ जब इसके चरण उत्पन्न हुए, तब उनमें अपनी शक्ति गतिके सहित लोकेश्वर विष्णुने प्रवेश किया—इस गति-शक्तिद्वारा जीव अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है ॥२२॥

१. प्रा० पा०—स्फु० । २. प्रा० पा०—रसान् । ३. प्रा० पा०—मर्माणि ।

बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् ।
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥२३॥
हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् ।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥२४॥
आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम् ।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥२५॥
सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत् ।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥२६॥
शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥२७॥
आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।
धरां रजःस्वभावेन प[1]णयो ये चताननु ॥२८॥
तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्[2]नाभिमाश्रिताः ।
उभयोरन्तरं व्योम ये[3] रुद्रपार्षदां गणाः ॥२९॥
मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥३०॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥३१॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥३२॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥३३॥

फिर इसके बुद्धि उत्पन्न हुई; अपने इस स्थानमें अपने अंश बुद्धिशक्तिके साथ वाक्पति ब्रह्माने प्रवेश किया, इस बुद्धिशक्तिसे जीव ज्ञातव्य विषयोंको जान सकता है ॥ २३ ॥ फिर इसमें हृदय प्रकट हुआ; उसमें अपने अंश मनके सहित चन्द्रमा स्थित हुआ । इस मनःशक्तिके द्वारा जीव संकल्प-विकल्पादिरूप विकारोंको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ तत्पश्चात् विराट् पुरुषमें अहंकार उत्पन्न हुआ; इस अपने आश्रयमें क्रियाशक्तिसहित अभिमान (रुद्र) ने प्रवेश किया । इससे जीव अपने कर्तव्यको स्वीकार करता है ॥ २५ ॥ अब इसमें चित्त प्रकट हुआ । उसमें चित्तशक्तिके सहित महत्तत्त्व (ब्रह्मा) स्थित हुआ; इस चित्तशक्तिसे जीव विज्ञान (चेतना) को उपलब्ध करता है ॥२६॥ इस विराट् पुरुषके सिरसे स्वर्गलोक, पैरोंसे पृथ्वी और नाभिसे अन्तरिक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ । इनमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके परिणामरूप देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं ॥२७॥ इनमें देवतालोग सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्गलोकमें, मनुष्य और उनके उपयोगी गौ आदि जीव रजोगुणकी प्रधानताके कारण पृथ्वीमें तथा तमोगुणी स्वभाववाले होनेसे रुद्रके पार्षदगण (भूत, प्रेत आदि) दोनोंके बीचमें स्थित भगवान्के नाभिस्थानीय अन्तरिक्षलोकमें रहते हैं ॥ २८-२९ ॥

विदुरजी ! वेद और ब्राह्मण भगवान्के मुखसे प्रकट हुए । मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबका गुरु है ॥ ३० ॥ उनकी भुजाओंसे क्षत्रियवृत्ति और उसका अवलम्बन करनेवाला क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न हुआ, जो विराट् भगवान्का अंश होनेके कारण जन्म लेकर सब वर्णोंकी चोर आदिके उपद्रवोंसे रक्षा करता है ॥३१॥ भगवान्की दोनों जाँघोंसे सब लोगोंका निर्वाह करनेवाली वैश्यवृत्ति उत्पन्न हुई और उन्हींसे वैश्य वर्णका भी प्रादुर्भाव हुआ । यह वर्ण अपनी वृत्तिसे सब जीवोंकी जीविका चलाता है ॥ ३२ ॥ फिर सब धर्मोंकी सिद्धिके लिये भगवान्के चरणोंसे सेवावृत्ति प्रकट हुई और उन्हींसे पहले-पहल उस वृत्तिका अधिकारी शूद्रवर्ण भी प्रकट हुआ, जिसकी वृत्तिसे ही श्रीहरि

१. प्रा० पा०—प्राणयोगेन चैव तत् । २. प्रा० पा०—भगवान्नाभिमाश्रितः । ३. प्राचीन प्रतिमें इस श्लोकका चतुर्थ पाद इस प्रकार है—सरुद्राः पार्षदा गणाः । ४. प्रा० पा०—प० ।

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥३४॥
एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥३५॥
अथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥३६॥

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥३७॥

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनाऽऽदिना ।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्कया ॥३८॥
अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥३९॥
यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥४०॥

प्रसन्न हो जाते हैं* ॥ ३३ ॥ ये चारों वर्ण अपनी-अपनी वृत्तियोंके सहित जिनसे उत्पन्न हुए हैं, उन अपने गुरु श्रीहरिका अपने-अपने धर्मोंसे चित्तशुद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं ॥ ३४ ॥ विदुरजी ! यह विराट् पुरुष काल, कर्म और स्वभावशक्तिसे युक्त भगवान्की योगमायाके प्रभावको प्रकट करनेवाला है । इसके स्वरूप-का पूरा-पूरा वर्णन करनेका कौन साहस कर सकता है ॥ ३५ ॥ तथापि प्यारे विदुरजी ! अन्य व्यावहारिक चर्चाओंसे अपवित्र हुई अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये, जैसी मेरी बुद्धि है और जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना है वैसा, श्रीहरिका सुयश वर्णन करता हूँ ॥ ३६ ॥ महापुरुषोंका मत है कि पुण्यश्लोकशिरोमणि श्रीहरिके गुणोंका गान करना ही मनुष्योंकी वाणीका तथा विद्वानोंके मुखसे भगवत्कथामृतका पान करना ही उनके कानोंका सबसे बड़ा लाभ है ॥ ३७ ॥ वत्स ! हम ही नहीं, आदिकवि श्रीब्रह्माजीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक अपनी योगपरिपक्व बुद्धिसे विचार किया; तो भी क्या वे भगवान्की अमित महिमाका पार पा सके ? ॥ ३८ ॥ अतः भगवान्की माया बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देनेवाली है । उसकी चक्करमें डालनेवाली चाल अनन्त है; अतएव स्वयं भगवान् भी उसकी थाह नहीं लगा सकते, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है ॥ ३९ ॥ जहाँ न पहुँचकर मनके सहित वाणी भी लौट आती है तथा जिनका पार पानेमें अहंकारके अभिमानी रुद्र तथा अन्य इन्द्रियाभिष्ठाता देवता भी समर्थ नहीं हैं, उन श्रीभगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीय-
स्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

* सब धर्मोंकी सिद्धिका मूल सेवा है, सेवा किये बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं होता । अतः सब धर्मोंकी मूलभूता सेवा ही जिसका धर्म है, वह शूद्र सब वर्णोंमें महान् है । ब्राह्मणका धर्म मोक्षके लिये है, क्षत्रियका धर्म भोगके लिये है, वैश्यका धर्म अर्थके लिये है और शूद्रका धर्म धर्मके लिये है । इस प्रकार प्रथम तीन वर्णोंके धर्म अन्य पुरुषार्थोंके लिये हैं, किंतु शूद्रका धर्म स्वपुरुषार्थके लिये है; अतः इसकी वृत्तिसे ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

विदुरजीके प्रश्न

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

विदुर उवाच

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३ ॥
अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ॥ ४ ॥
देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥ ५ ॥
भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६ ॥
एतस्मिन्मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८ ॥

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥
यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजीका यह भाषण सुनकर बुद्धिमान् व्यासनन्दन विदुरजीने उन्हें अपनी वाणीसे प्रसन्न करते हुए कहा ॥ १ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! भगवान् तो शुद्ध-बोधस्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं; उनके साथ लीलासे भी गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥२॥ बालकमें तो कामना और दूसरोंके साथ खेलनेकी इच्छा रहती है, इसीसे वह खेलनेके लिये प्रयत्न करता है; किंतु भगवान् तो स्वतः नित्यतृप्त—पूर्णकाम और सर्वदा असङ्ग हैं, वे क्रीडाके लिये भी क्यों सङ्कल्प करेंगे ॥३॥ भगवान्ने अपनी गुणमयी मायासे जगत्‌की रचना की है, उसीसे वे इसका पालन करते हैं और फिर उसीसे संहार भी करेंगे ॥४॥ जिनके ज्ञानका देश, काल अथवा अवस्थासे, अपने-आप या किसी दूसरे निमित्तसे भी कभी लोप नहीं होता, उनका मायाके साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है ॥ ५ ॥ एकमात्र ये भगवान् ही समस्त क्षेत्रोंमें उनके साक्षीरूपसे स्थित हैं, फिर इन्हें दुर्भाग्य या किसी प्रकारके कर्मजनित क्लेशकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ ६ ॥ भगवन् ! इस अज्ञान-सङ्कटमें पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है, आप मेरे मनके इस महान् मोहको कृपा करके दूर कीजिये ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तत्त्वजिज्ञासु विदुरजीकी यह प्रेरणा प्राप्तकर अहङ्कारहीन श्रीमैत्रेयजीने भगवान्‌का स्मरण करते हुए मुसकराते हुए कहा ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धनको प्राप्त हो—यह बात युक्तिविरुद्ध अवश्य है; किंतु वस्तुतः यही तो भगवान्‌की माया है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको अपना सिर कटना आदि व्यापार न होनेपर भी अज्ञानके कारण सत्यवत् भासते हैं, उसी प्रकार इस जीवको बन्धनादि न होते हुए भी अज्ञानवश

१. प्रा० पा०—त्येष भू० । २. प्रा० पा०—प्रत्यभि० । इस पाठान्तरका श्रीधरस्वामीने भी उल्लेख किया है ।
३. प्रा० पा०—यदर्थमात्मनामु० ।

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥११॥
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥१२॥
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥१३॥
अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥१४॥

विदुर उवाच

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥१५॥
साध्वेतद् व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥१६॥
यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१७॥
अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।
तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥१८॥
यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१९॥

भास रहे हैं ॥ १० ॥ यदि यह कहा जाय कि फिर ईश्वरमें इनकी प्रतीति क्यों नहीं होती, तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जलमें होनेवाली कम्प आदि क्रिया जलमें दीखनेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बमें न होनेपर भी भासती है, आकाशस्थ चन्द्रमामें नहीं, उसी प्रकार देहाभिमानी जीवमें ही देहके मिथ्या धर्मोंकी प्रतीति होती है, परमात्मामें नहीं ॥ ११ ॥ निष्कामभावसे धर्मोंका आचरण करनेपर भगवत्कृपासे प्राप्त हुए भक्ति-योगके द्वारा यह प्रतीति धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है ॥ १२ ॥ जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर साक्षी परमात्मा श्रीहरिमें निश्चलभावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यके समान जीवके राग-द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन एवं श्रवण अशेष दुःखराशिको शान्त कर देता है; फिर यदि हमारे हृदयमें उनके चरणकमलकी रजके सेवनका प्रेम जग पड़े, तब तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

विदुरजीने कहा—भगवन् ! आपके युक्तियुक्त वचनोंकी तलवारसे मेरे संदेह छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अब मेरा चित्त भगवान्की स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—दोनों ही विषयोंमें खूब प्रवेश कर रहा है ॥१५॥ विद्वन् ! आपने यह बात बहुत ठीक कही कि जीवको जो क्लेशादिकी प्रतीति हो रही है, उसका आधार केवल भगवान्की माया ही है । वह क्लेश मिथ्या एवं निर्मूल ही है; क्योंकि इस विश्वका मूल कारण ही मायाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥ १६ ॥ इस संसारमें दो ही प्रकारके लोग सुखी हैं—या तो जो अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानग्रस्त) हैं, या जो बुद्धि आदिसे अतीत श्रीभगवान्को प्राप्त कर चुके हैं । बीचकी श्रेणीके संशयापन्न लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं ॥ १७ ॥ भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे यह निश्चय हो गया कि ये अनात्म-पदार्थ वस्तुतः हैं नहीं, केवल प्रतीत ही होते हैं । अब मैं आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उस प्रतीतिको भी हटा दूँगा ॥ १८ ॥ इन श्रीचरणोंकी सेवासे नित्यसिद्ध भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें उत्कट प्रेम और आनन्दकी वृद्धि होती है, जो आवागमनकी यन्त्रणाका

१. प्रा० पा०—किं वा । २. प्रा० पा०—त० । ३. प्रा० पा०—तश्चा० ।

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥२०॥
सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥२१॥
यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकासं समासते ॥२२॥
यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥२३॥
यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।
प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम् ॥२४॥
प्रजापतीनां स पतिश्चक्लृपे कान् प्रजापतीन् ।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥२५॥
एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च ।
उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ॥२६॥
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ।
तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्त्रिणाम् ।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥२७॥
गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्[1] ।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥२८॥
वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
ऋषीणां जन्मकर्मादि[2] वेदस्य च विकर्षणम् ॥२९॥

नाश कर देती है ॥ १९ ॥ महात्मालोग भगवत्प्राप्तिके साक्षात् मार्ग ही होते हैं, उनके यहाँ सर्वदा देवदेव श्रीहरिके गुणोंका गान होता रहता है; अल्पपुण्य पुरुषको उनकी सेवाका अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है ॥२०॥

भगवन् ! आपने कहा कि सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्‌ने क्रमशः महदादि तत्त्व और उनके विकारोंको रचकर फिर उनके अंशोंसे विराट्‌को उत्पन्न किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये ॥ २१ ॥ उन विराट्‌के हजारों पैर, जाँघें और बाँहें हैं; उन्हींको वेद आदिपुरुष कहते हैं; उन्हींमें ये सब लोक विस्तृतरूपसे स्थित हैं ॥ २२ ॥ उन्हींमें इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियाभिमानी देवताओंके सहित दस प्रकारके प्राणोंका जो इन्द्रियबल, मनोबल और शारीरिक बलरूपसे तीन प्रकारके हैं—आपने वर्णन किया है और उन्हींसे ब्राह्मणादि वर्ण भी उत्पन्न हुए हैं । अब आप मुझे उनकी ब्रह्मादि विभूतियोंका वर्णन सुनाइये—जिनसे पुत्र, पौत्र, नाती और कुटुम्बियोंके सहित तरह-तरहकी प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सारा ब्रह्माण्ड भर गया ॥ २३-२४ ॥ वह विराट् ब्रह्मादि प्रजापतियोंका भी प्रभु है । उसने किन-किन प्रजापतियोंको उत्पन्न किया तथा सर्ग, अनुसर्ग और मन्वन्तरोंके अधिपति मनुओंकी भी किस क्रमसे रचना की ? ॥ २५ ॥ मैत्रेयजी ! उन मनुओंके वंश और वंशधर राजाओंके चरित्रोंका, पृथ्वीके ऊपर और नीचेके लोकों तथा भूर्लोकके विस्तार और स्थितिका भी वर्णन कीजिये तथा यह भी बताइये कि तिर्यक्, मनुष्य, देवता, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु) और पक्षी तथा जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी किस प्रकार उत्पन्न हुए ॥ २६-२७ ॥ श्रीहरिने सृष्टि करते समय जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये अपने गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूपसे जो कल्याणकारी लीलाएँ कीं, उनका भी वर्णन कीजिये ॥ २८ ॥ वेष, आचरण और स्वभावके अनुसार वर्णाश्रमका विभाग, ऋषियोंके जन्म-कर्मादि, वेदोंका विभाग, यज्ञोंके विस्तार, योगका मार्ग, ज्ञानमार्ग और उसका साधन सांख्यमार्ग तथा भगवान्‌के कहे हुए नारदपाञ्चरात्र आदि तन्त्रशास्त्र,

१. प्रा० पा०—स्थित्युद्भवा० । २. प्रा० पा०—कर्माणि देवस्य ।

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥३०॥
पाखण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥३१॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥३२॥
श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितॄणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥३३॥
दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥३४॥
येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि चानघ ॥३५॥
अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥३६॥
तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते ॥३७॥
पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥३८॥
निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥३९॥
एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥४०॥
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥४१॥

विभिन्न पाखण्डमार्गोंके प्रचारसे होनेवाली विषमता, नीचवर्णके पुरुषसे उच्चवर्णकी स्त्रीमें होनेवाली संतानोंके प्रकार तथा भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके कारण जीवकी जैसी और जितनी गतियाँ होती हैं, वे सब हमें सुनाइये ॥ २९–३१ ॥

ब्रह्मन् ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके परस्पर अविरोधी साधनोंका, वाणिज्य, दण्डनीति और शास्त्रश्रवणकी विधियोंका, श्राद्धकी विधिका, पितृगणोंकी सृष्टिका तथा कालचक्रमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणकी स्थितिका भी अलग-अलग वर्णन कीजिये ॥ ३२-३३ ॥ दान, तप तथा इष्ट और पूर्त्त कर्मोंका क्या फल है ? प्रवास और आपत्तिके समय मनुष्यका क्या धर्म होता है ? ॥ ३४ ॥ निष्पाप मैत्रेयजी ! धर्मके मूल कारण श्रीजनार्दन भगवान् किस आचरणसे संतुष्ट होते हैं और किनपर अनुग्रह करते हैं, यह वर्णन कीजिये ॥ ३५ ॥ द्विजवर ! दीनवत्सल गुरुजन अपने अनुगत शिष्यों और पुत्रोंको विना पूछे भी उनके हितकी बात बतला दिया करते हैं ॥ ३६ ॥ भगवन् ! उन महदादि तत्त्वोंका प्रलय कितने प्रकारका है ? तथा जब भगवान् योगनिद्रामें शयन करते हैं, तब उनमेंसे कौन-कौन तत्त्व उनकी सेवा करते हैं और कौन उनमें लीन हो जाते हैं ? ॥ ३७ ॥ जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप, उपनिषत्-प्रतिपादित ज्ञान तथा गुरु और शिष्यका पारस्परिक प्रयोजन क्या है ? ॥३८॥ पवित्रात्मन् ! विद्वानोंने उस ज्ञानकी प्राप्तिके क्या-क्या उपाय बतलाये हैं ? क्योंकि मनुष्योंको ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्यकी प्राप्ति अपने-आप तो हो नहीं सकती ॥ ३९ ॥ ब्रह्मन् ! माया-मोहके कारण मेरी विचार-दृष्टि नष्ट हो गयी है । मैं अज्ञ हूँ, आप मेरे परम सुहृद् हैं; अतः श्रीहरिलीलाका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे मैंने जो प्रश्न किये हैं, उनका उत्तर मुझे दीजिये ॥ ४० ॥ पुण्यमय मैत्रेयजी ! भगवत्तत्त्वके उपदेशद्वारा जीवको जन्म-मृत्युसे छुड़ाकर उसे अभय कर देनेमें जो पुण्य होता है, समस्त वेदोंके अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादिसे होनेवाला पुण्य उस पुण्यके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने मुनिवर मैत्रेयजीसे इस प्रकार पुराणविषयक प्रश्न किये, तब भगवच्चर्चाके लिये प्रेरित किये जानेके कारण वे बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराकर उनसे कहने लगे ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

मैत्रेय उवाच

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥ १ ॥

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य ।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं
यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥ २ ॥

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम् ।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥ ३ ॥

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं
यं वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीष-
दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥ ४ ॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेम नानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! आप भगवद्भक्तोंमें प्रधान लोकपाल यमराज ही हैं; आपके पूरुवंशमें जन्म लेनेके कारण वह वंश साधुपुरुषोंके लिये भी सेव्य हो गया है । धन्य हैं ! आप निरन्तर पद-पदपर श्रीहरिकी कीर्तिमयी मालाको नित्य नूतन बना रहे हैं ॥ १ ॥ अब मैं, क्षुद्र विषय-सुखकी कामनासे महान् दुःखको मोल लेनेवाले पुरुषोंकी दुःखनिवृत्तिके लिये, श्रीमद्भागवतपुराण प्रारम्भ करता हूँ—जिसे स्वयं श्रीसङ्कर्षण भगवान्ने सनकादि ऋषियोंको सुनाया था ॥ २ ॥

अखण्ड ज्ञानसम्पन्न आदिदेव भगवान् सङ्कर्षण पाताललोकमें विराजमान थे । सनत्कुमार आदि ऋषियोंने उनसे परम पुरुषोत्तम ब्रह्मका तत्त्व जाननेके लिये प्रश्न किया ॥ ३ ॥ उस समय शेषजी अपने आश्रयस्वरूप उन परमात्माकी मानसिक पूजा कर रहे थे, जिनका वेद वासुदेवके नामसे निरूपण करते हैं । उनके कमलकोश-सरीखे नेत्र बंद थे । प्रश्न करनेपर सनत्कुमारादि ज्ञानीजनोंके आनन्दके लिये उन्होंने अधखुले नेत्रोंसे देखा ॥ ४ ॥

सनत्कुमार आदि ऋषियोंने मन्दाकिनीके जलसे भीगे अपने जटासमूहसे उनके चरणोंकी चौकीके रूपमें स्थित कमलका स्पर्श किया, जिसकी नागराजकुमारियाँ अभिलषित वरकी प्राप्तिके लिये प्रेमपूर्वक अनेकों उपहार-सामग्रियोंसे पूजा करती हैं ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—तुभ्यम् ।

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६ ॥
प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७ ॥
सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८ ॥
प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम्।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९ ॥
उदाप्लुतं[1] विश्वमिदं तदाऽऽसीद्
यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ[2] निरीहः ॥१०॥
सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥११॥
चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययाऽऽसादितकर्मतन्त्रो[3]
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥१२॥
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूक्ष्मं तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥१३॥

सनत्कुमारादि उनकी लीलाके मर्मज्ञ हैं। उन्होंने बार-बार प्रेम-गद्गद वाणीसे उनकी लीलाका गान किया। उस समय शेषभगवान्‌के उठे हुए सहस्रों फण किरीटोंकी सहस्र-सहस्र श्रेष्ठ मणियोंकी छिटकती हुई रश्मियोंसे जगमगा रहे थे ॥६॥ भगवान् सङ्कर्षणने निवृत्तिपरायण सनत्कुमारजीको यह भागवत सुनाया था—ऐसा प्रसिद्ध है। सनत्कुमारजीने फिर इसे परम व्रतशील सांख्यायन मुनिको, उनके प्रश्न करनेपर सुनाया ॥७॥ परमहंसोंमें प्रधान श्रीसांख्यायनजीको जब भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने इसे अपने अनुगत शिष्य, हमारे गुरु श्रीपराशरजीको और बृहस्पतिजीको सुनाया ॥ ८ ॥ इसके पश्चात् परम दयालु पराशरजीने पुलस्त्य मुनिके कहनेसे वह आदिपुराण मुझसे कहा। वत्स! श्रद्धालु और सदा अनुगत देखकर अब वही पुराण मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

सृष्टिके पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र श्रीनारायणदेव शेषशय्यापर पौढ़े हुए थे। वे अपनी ज्ञानशक्तिको अक्षुण्ण रखते हुए ही योगनिद्राका आश्रय ले, अपने नेत्र मूँदे हुए थे। सृष्टिकर्मसे अवकाश लेकर आत्मानन्दमें मग्न थे। उनमें किसी भी क्रियाका उन्मेष नहीं था ॥ १० ॥ जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको अपने शरीरमें लीन करके अपने आधारभूत उस जलमें शयन किया, उन्हें सृष्टिकाल आनेपर पुनः जगानेके लिये केवल कालशक्तिको जाग्रत् रक्खा ॥ ११ ॥ इस प्रकार अपनी स्वरूपभूता चिच्छक्तिके साथ एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जलमें शयन करनेके अनन्तर जब उन्हींके द्वारा नियुक्त उनकी कालशक्तिने उन्हें जीवोंके कर्मोंकी प्रवृत्तिके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने अपने शरीरमें लीन हुए अनन्त लोक देखे ॥ १२ ॥ जिस समय भगवान्‌की दृष्टि अपनेमें निहित लिङ्गशरीरादि सूक्ष्म-तत्त्वपर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुणसे क्षुभित होकर सृष्टिरचनाके निमित्त उनके नाभिदेशसे बाहर निकला ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—उदप्लुतं। २. प्रा० पा०—स्वावनीहः। ३. प्रा० पा०—कालात्ययोत्पादित०।

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥१४॥
तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम्[1] ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥१५॥
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१६॥
तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥१७॥
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥१८॥
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-[2]
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥१९॥
तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं[3]
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥२०॥
ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥२१॥
कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।

कर्मशक्तिको जाग्रत् करनेवाले कालके द्वारा विष्णुभगवान्‌की नाभिसे प्रकट हुआ वह सूक्ष्मतत्त्व कमलकोशके रूपमें सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्यके समान अपने तेजसे उस अपार जलराशिको देदीप्यमान कर दिया ॥ १४ ॥ सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वलोकमय कमलमें वे विष्णुभगवान् ही अन्तर्यामी-रूपसे प्रविष्ट हो गये । तब उसमेंसे बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाले साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए, जिन्हें लोग स्वयम्भू कहते हैं ॥ १५ ॥ उस कमलकी कर्णिका (गद्दी) में बैठे हुए ब्रह्माजीको जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया, तब वे आँखें फाड़कर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओंमें चार मुख हो गये ॥ १६ ॥ उस समय प्रलयकालीन पवनके थपेड़ोंसे उछलती हुई जलकी तरङ्गमालाओंके कारण उस जलराशिसे ऊपर उठे हुए कमलपर विराजमान आदिदेव ब्रह्माजीको अपना तथा उस लोकतत्त्वरूप कमलका कुछ भी रहस्य न जान पड़ा ॥ १७ ॥

वे सोचने लगे, 'इस कमलकी कर्णिकापर बैठा हुआ मैं कौन हूँ ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके जलमें कहाँसे उत्पन्न हो गया ? इसके नीचे अवश्य कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जिसके आधारपर यह स्थित है' ॥ १८ ॥

ऐसा सोचकर वे उस कमलकी नालके सूक्ष्म छिद्रोंमें होकर उस जलमें घुसे । किंतु उस नालके आधारको खोजते-खोजते नाभिदेशके समीप पहुँच जानेपर भी वे उसे पा न सके ॥ १९ ॥ विदुरजी ! उस अपार अन्धकारमें अपने उत्पत्ति-स्थानको खोजते-खोजते ब्रह्माजीको बहुत काल बीत गया । यह काल ही भगवान्‌का चक्र है, जो प्राणियोंको भयभीत (करता हुआ उनकी आयुको क्षीण) करता रहता है ॥२०॥ अन्तमें विफलमनोरथ हो वे वहाँसे लौट आये और पुनः अपने आधारभूत कमलपर बैठकर धीरे-धीरे प्राणवायुको जीतकर चित्तको निःसङ्कल्प किया और समाधिमें स्थित हो गये ॥ २१ ॥ इस प्रकार पुरुषकी पूर्ण आयुके बराबर कालतक (अर्थात् दिव्य सौ वर्षतक) अच्छी तरह योगाभ्यास करनेपर

१. प्रा० पा०—स्वकमेव धिष्ण्यं प्रावी० । २. प्रा० पा०—नालीभि० । ३. प्रा० पा०—खरनालवाभिं स वै विचि० ।

स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥२२॥
मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥२३॥
प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः[2] ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥२४॥
आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम्[1] ॥२५॥
पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥२६॥
मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥२७॥
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा[2]
स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥२८॥

ब्रह्माजीको ज्ञान प्राप्त हुआ; तब उन्होंने अपने उस अधिष्ठानको, जिसे वे पहले खोजनेपर भी नहीं देख पाये थे, अपने ही अन्तःकरणमें प्रकाशित होते देखा ॥ २२ ॥ उन्होंने देखा कि उस प्रलयकालीन जलमें शेषजीके कमलनालसदृश गौर और विशाल विग्रह-की शय्यापर पुरुषोत्तम भगवान् अकेले ही लेटे हुए हैं। शेषजीके दस हजार फण छत्रके समान फैले हुए हैं। उनके मस्तकोंपर किरीट शोभायमान हैं, उनमें जो मणियाँ जड़ी हुई हैं, उनकी कान्तिसे चारों ओर-का अन्धकार दूर हो गया है ॥ २३ ॥ वे अपने श्याम शरीरकी आभासे मरकतमणिके पर्वतकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं। उनकी कमरका पीतपट पर्वतके प्रान्त-देशमें छाये हुए सायङ्कालके पीले-पीले चमकीले मेघों-की आभाको मलिन कर रहा है, सिरपर सुशोभित सुवर्णमुकुट सुवर्णमय शिखरोंका मान मर्दन कर रहा है। उनकी वनमाला पर्वतके रत्न, जलप्रपात, ओषधि और पुष्पोंकी शोभाको परास्त कर रही है तथा उनके भुजदण्ड वेणुदण्डका और चरण वृक्षोंका तिरस्कार करते हैं ॥ २४ ॥ उनका वह श्रीविग्रह अपने परिमाण-से लंबाई-चौड़ाईमें त्रिलोकीका संग्रह किये हुए है। वह अपनी शोभासे विचित्र एवं दिव्य वस्त्राभूषणोंकी शोभा-को सुशोभित करनेवाला होनेपर भी पीताम्बर आदि अपनी वेष-भूषासे सुसज्जित है ॥ २५ ॥ अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पूजा करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक अपने भक्तवाञ्छा-कल्पतरु चरणकमलोंका दर्शन दे रहे हैं, जिनके सुन्दर अंगुलिदल नखचन्द्रकी चन्द्रिकासे अलग-अलग स्पष्ट चमकते रहते हैं ॥ २६ ॥ सुन्दर नासिका, अनुग्रह-वर्षी भौंहें, कानोंमें झिलमिलाते हुए कुण्डलोंकी शोभा, बिम्बाफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति एवं लोकार्तिहारी मुसकानसे युक्त मुखारविन्दके द्वारा वे अपने उपासकोंका सम्मान—अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ २७ ॥ वत्स! उनके नितम्बदेशमें कदम्ब-कुसुमकी केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला सुशोभित है तथा वक्षःस्थलमें अमूल्य हार और सुनहरी रेखावाले श्रीवत्सचिह्नकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥२८॥

१. प्रा० पा०—श्रितदेहवेषम् । २. प्रा० पा०—सुपीतवाससा ।

परार्घ्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥२९॥

वे अव्यक्तमूल चन्दनवृक्षके समान हैं। महामूल्य केयूर और उत्तम-उत्तम मणियोंसे सुशोभित उनके विशाल भुजदण्ड ही मानो उसकी सहस्रों शाखाएँ हैं और चन्दनके वृक्षोंमें जैसे बड़े-बड़े साँप लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उनके कंधोंको शेषजीके फणोंने लपेट रक्खा है ॥ २९ ॥

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥३०॥

वे नागराज अनन्तके बन्धु श्रीनारायण ऐसे जान पड़ते हैं, मानो कोई जलसे घिरे हुए पर्वतराज ही हों। पर्वतपर जैसे अनेकों जीव रहते हैं, उसी प्रकार वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय हैं; शेषजीके फणोंपर जो सहस्रों मुकुट हैं, वे ही मानो उस पर्वतके सुवर्णमण्डित शिखर हैं तथा वक्षःस्थलमें विराजमान कौस्तुभमणि उसके गर्भसे प्रकट हुआ रत्न है ॥ ३० ॥

निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥३१॥

प्रभुके गलेमें वेदरूप भौंरोंसे गुञ्जायमान अपनी कीर्तिमयी वनमाला विराज रही है; सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि आदि देवताओंकी भी आपतक पहुँच नहीं है तथा त्रिभुवनमें बेरोक-टोक विचरण करनेवाले सुदर्शन-चक्रादि आयुध भी प्रभुके आसपास ही घूमते रहते हैं, उनके लिये भी आप अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ३१ ॥

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः ॥३२॥

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीडय-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥३३॥

तब विश्वरचनाकी इच्छावाले लोकविधाता ब्रह्माजीने भगवान्‌के नाभिसरोवरसे प्रकट हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर—केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, इनके सिवा और कुछ उन्हें दिखायी न दिया ॥ ३२ ॥ रजोगुणसे व्याप्त ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करना चाहते थे। जब उन्होंने सृष्टिके कारणरूप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, तब लोकरचनाके लिये उत्सुक होनेके कारण वे अचिन्त्यगति श्रीहरिमें चित्त लगाकर उन परमपूजनीय प्रभुकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—सरोरुह० ।

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌की स्तुति

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥
रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥
नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३ ॥
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥ ४ ॥
ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५ ॥
तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो ! आज बहुत समयके बाद मैं आपको जान सका हूँ । अहो ! कैसे दुर्भाग्यकी बात है कि देहधारी जीव आपके स्वरूपको नहीं जान पाते । भगवन् ! आपके सिवा और कोई वस्तु नहीं है । जो वस्तु प्रतीत होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है; क्योंकि मायाके गुणोंके क्षुभित होनेके कारण केवल आप ही अनेकों रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं ॥ १ ॥ देव ! आपकी चित्-शक्तिके प्रकाशित रहनेके कारण अज्ञान आपसे सदा ही दूर रहता है । आपका यह रूप, जिसके नाभि-कमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ, सैकड़ों अवतारोंका मूल कारण है । इसे आपने सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही पहले-पहल प्रकट किया है ॥२॥ परमात्मन् ! आपका जो आनन्दमात्र, भेदरहित, अखण्ड तेजोमय स्वरूप है, उसे मैं इससे भिन्न नहीं समझता । इसलिये मैंने विश्वकी रचना करनेवाले होनेपर भी विश्वातीत आपके इस अद्वितीय रूपकी ही शरण ली है । यही सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंका भी अधिष्ठान है ॥ ३ ॥ हे विश्वकल्याणमय ! मैं आपका उपासक हूँ, आपने मेरे हितके लिये ही मुझे ध्यानमें अपना यह रूप दिखलाया है । जो पापात्मा विषयासक्त जीव हैं, वे ही इसका अनादर करते हैं । मैं तो आपको इसी रूपमें बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥ मेरे स्वामी ! जो लोग वेदरूप वायुसे लायी हुई आपके चरणरूप कमलकोशकी गन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं, उन अपने भक्तजनोंके हृदय-कमलसे आप कभी दूर नहीं होते; क्योंकि वे पराभक्तिरूप डोरीसे आपके पादपद्मोंको बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥ जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता; तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण

१. प्रा० पा०—तत्त्वशुद्धं । २. प्रा० पा०—स्वमुपा० । ३. प्रा० पा०—द्रविणदेह० ।

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गा-
त्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया[1] ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥७॥
क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥८॥
यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि[3] दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥९॥
अह्न्याप‍ृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय[4] ॥११॥
नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥१२॥

है ॥ ६ ॥ जो लोग सब प्रकारके अमङ्गलोंको नष्ट करनेवाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसङ्गोंसे इन्द्रियोंको हटाकर लेशमात्र विषय-सुखके लिये दीन और मन-ही-मन लालायित होकर निरन्तर दुष्कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन बेचारोंकी बुद्धि दैवने हर ली है ॥ ७ ॥ अच्युत ! उरुक्रम ! इस प्रजाको भूख-प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी, गर्मी, हवा और वर्षासे, परस्पर एक-दूसरेसे तथा कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बार-बार कष्ट उठाते देखकर मेरा मन बड़ा खिन्न होता है ॥८॥ स्वामिन् ! जबतक मनुष्य इन्द्रिय और विषयरूपी मायाके प्रभावसे आपसे अपनेको भिन्न देखता है, तबतक उसके लिये इस संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं होती । यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफल-भोगका क्षेत्र होनेके कारण उसे नाना प्रकारके दुःखोंमें डालता रहता है ॥ ९ ॥

देव ! औरोंकी तो बात ही क्या—जो साक्षात् मुनि हैं, वे भी यदि आपके कथाप्रसङ्गसे विमुख रहते हैं तो उन्हें संसारमें फँसना पड़ता है । वे दिनमें अनेक प्रकारके व्यापारोंके कारण विक्षिप्तचित्त रहते हैं, रात्रिमें निद्रामें अचेत पड़े रहते हैं; उस समय भी तरह-तरहके मनोरथोंके कारण क्षण-क्षणमें उनकी नींद टूटती रहती है तथा दैववश उनकी अर्थसिद्धिके सब उद्योग भी विफल होते रहते हैं ॥ १० ॥ नाथ ! आपका मार्ग केवल गुण-श्रवणसे ही जाना जाता है । आप निश्चय ही मनुष्योंके भक्तियोगके द्वारा परिशुद्ध हुए हृदयकमलमें निवास करते हैं । पुण्यश्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥ भगवन् ! आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं । इसलिये यदि देवतालोग भी हृदयमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखकर भाँति-भाँतिकी विपुल सामग्रियोंसे आपका पूजन करते हैं, तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सब प्राणियोंपर दया करनेसे होते हैं । किंतु वह सर्वभूत-दया असत् पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—सर्वासुखोप० । २. प्रा० पा०—पृथक्स्थितमिदं मन इन्द्रियार्थे मा० । ३. प्रा० पा०—व्यर्थातिदुःख० ।
४. प्रा० पा०—तदनुग्रहाय ।

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥१३॥
शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥१४॥
यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५॥
यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥१७॥
यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।

जो कर्म आपको अर्पण कर दिया जाता है, उसका कभी नाश नहीं होता—वह अक्षय हो जाता है । अतः नाना प्रकारके कर्म—यज्ञ, दान, कठिन तपस्या और व्रतादिके द्वारा आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना ही मनुष्यका सबसे बड़ा कर्मफल है; क्योंकि आपकी प्रसन्नता होनेपर ऐसा कौन फल है जो सुलभ नहीं हो जाता ॥ १३ ॥ आप सर्वदा अपने स्वरूपके प्रकाशसे ही प्राणियोंके भेद-भ्रमरूप अन्धकारका नाश करते रहते हैं तथा ज्ञानके अधिष्ठान साक्षात् परमपुरुष हैं; मैं आपको नमस्कार करता हूँ । संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके निमित्तसे जो मायाकी लीला होती है, वह आपका ही खेल है; अतः आप परमेश्वरको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१४॥ जो लोग प्राणत्याग करते समय आपके अवतार, गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, जनार्दन, कंसनिकन्दन आदि नामोंका विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेकों जन्मोंके पापोंसे तत्काल छूटकर मायादि आवरणोंसे रहित ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं । आप नित्य अजन्मा हैं, मैं आपकी शरण लेता हूँ ॥ १५ ॥ भगवन् ! इस विश्ववृक्षके रूपमें आप ही विराजमान हैं । आप ही अपनी मूलप्रकृतिको स्वीकार करके जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये मेरे, अपने और महादेवजीके रूपमें तीन प्रधान शाखाओंमें विभक्त हुए हैं और फिर प्रजापति एवं मनु आदि शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत विस्तृत हो गये हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥ भगवन् ! आपने अपनी आराधनाको ही लोकोंके लिये कल्याणकारी स्वधर्म बताया है, किंतु वे इस ओरसे उदासीन रहकर सर्वदा विपरीत (निषिद्ध) कर्मोंमें लगे रहते हैं । ऐसी प्रमादकी अवस्थामें पड़े हुए इन जीवोंकी जीवन-आशाको जो सदा सावधान रहकर बड़ी शीघ्रतासे काटता रहता है, वह बलवान् काल भी आपका ही रूप है; मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥ यद्यपि मैं सत्यलोकका अधिष्ठाता हूँ, जो दो परार्द्धपर्यन्त रहनेवाला और समस्त लोकोंका

१. प्रा० पा०—बोधविषयाय । २. प्रा० पा०—जन्मजमलं । ३. प्रा० पा०—ण्यपि ।

तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥१८॥
तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥
योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां[2]
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥
यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥
सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ[3] ॥२२॥
एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः[4] ।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं[5] सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥२३॥
नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।

वन्दनीय है, तो भी आपके उस कालरूपसे डरता रहता हूँ । उससे बचने और आपको प्राप्त करनेके लिये ही मैंने बहुत समयतक तपस्या की है । आप ही अधियज्ञरूपसे मेरी इस तपस्याके साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥ आप पूर्णकाम हैं, आपको किसी विषयसुखकी इच्छा नहीं है; तो भी आपने अपनी बनायी हुई धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीवयोनियोंमें अपनी ही इच्छासे शरीर धारण कर अनेकों लीलाएँ की हैं । ऐसे आप पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा नमस्कार है ॥ १९ ॥ प्रभो ! आप अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—पाँचोंमेंसे किसीके भी अधीन नहीं हैं; तथापि इस समय जो सारे संसारको अपने उदरमें लीनकर भयंकर तरङ्गमालाओंसे विक्षुब्ध प्रलयकालीन जलमें अनन्तविग्रहकी कोमल शय्यापर शयन कर रहे हैं, वह पूर्वकल्पकी कर्मपरम्परासे श्रमित हुए जीवोंको विश्राम देनेके लिये ही है ॥ २० ॥ आपके नाभिकमलरूप भवनसे मेरा जन्म हुआ है । यह सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समाया हुआ है । आपकी कृपासे ही मैं त्रिलोकीकी रचनारूप उपकारमें प्रवृत्त हुआ हूँ । इस समय योगनिद्राका अन्त हो जानेके कारण आपके नेत्र-कमल विकसित हो रहे हैं, आपको मेरा नमस्कार है ॥ २१ ॥ आप सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र सुहृद् और आत्मा हैं तथा शरणागतोंपर कृपा करनेवाले हैं । अतः अपने जिस ज्ञान और ऐश्वर्यसे आप विश्वको आनन्दित करते हैं, उसीसे मेरी बुद्धिको भी युक्त करें—जिससे मैं पूर्वकल्पके समान इस समय भी जगत्‌की रचना कर सकूँ ॥ २२ ॥ आप भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं । अपनी शक्ति लक्ष्मीजीके सहित अनेकों गुणावतार लेकर आप जो-जो अद्भुत कर्म करेंगे, मेरा यह जगत्‌की रचना करनेका उद्यम भी उन्हींमेंसे एक है । अतः इसे रचते समय आप मेरे चित्तको प्रेरित करें—शक्ति प्रदान करें, जिससे मैं सृष्टिरचनाविषयक अभिमानरूप मलसे दूर रह सकूँ ॥ २३ ॥ प्रभो ! इस प्रलयकालीन जलमें शयन करते हुए आप अनन्तशक्ति परमपुरुषके नाभि-कमल-

१. प्रा० पा०—सवो विरु० । २. प्रा० पा०—नुयोगाद् । ३. प्रा० पा०—प्रियोऽस्मि । ४. प्रा० पा०—गुणेषु गुणा० । ५. प्रा० पा०—मिमं ।

रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः॥२४॥
सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः॥२५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्॥२६॥
अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा॥२७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह।
तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्॥२९॥
भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥३०॥
तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः॥३१॥
यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम्॥३२॥
यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥३३॥
नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः॥३४॥

से मेरा प्रादुर्भाव हुआ है और मैं हूँ भी आपकी ही विज्ञानशक्ति; अतः इस जगत्के विचित्र रूपका विस्तार करते समय आपकी कृपासे मेरी वेदरूप वाणीका उच्चारण लुप्त न हो॥ २४॥ आप अपार करुणामय पुराणपुरुष हैं। आप परमप्रेममयी मुसकानके सहित अपने नेत्रकमल खोलिये और शेष-शय्यासे उठकर विश्वके उद्भवके लिये अपनी सुमधुर वाणीसे मेरा विषाद दूर कीजिये॥ २५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार तप, विद्या और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान श्रीभगवान्को देखकर तथा अपने मन और वाणीकी शक्तिके अनुसार उनकी स्तुति कर ब्रह्माजी थके-से होकर मौन हो गये॥ २६॥ श्रीमधुसूदन भगवान्ने देखा कि ब्रह्माजी इस प्रलयजलराशिसे बहुत घबराये हुए हैं तथा लोकरचनाके विषयमें कोई निश्चित विचार न होनेके कारण उनका चित्त बहुत खिन्न है। तब उनके अभिप्रायको जानकर वे अपनी गम्भीर वाणीसे उनका खेद शान्त करते हुए कहने लगे॥२७-२८॥

श्रीभगवान्ने कहा—वेदगर्भ! तुम विषादके वशीभूत हो आलस्य न करो, सृष्टिरचनाके उद्यममें तत्पर हो जाओ। तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, उसे तो मैं पहले ही कर चुका हूँ॥ २९॥ तुम एक बार फिर तप करो और भागवत-ज्ञानका अनुष्ठान करो। उनके द्वारा तुम सब लोकोंको स्पष्टतया अपने अन्तःकरणमें देखोगे॥ ३०॥ फिर भक्तियुक्त और समाहितचित्त होकर तुम सम्पूर्ण लोक और अपनेमें मुझको व्याप्त देखोगे तथा मुझमें सम्पूर्ण लोक और अपने आपको देखोगे॥ ३१॥ जिस समय जीव काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान समस्त भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मलसे मुक्त हो जाता है॥ ३२॥ जब वह अपनेको भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित तथा स्वरूपतः मुझसे अभिन्न देखता है, तब मोक्षपद प्राप्त कर लेता है॥ ३३॥ ब्रह्माजी! नाना प्रकारके कर्मसंस्कारोंके अनुसार अनेक प्रकारकी जीवसृष्टिको रचनेकी इच्छा होनेपर भी तुम्हारा चित्त मोहित नहीं होता, यह मेरी अतिशय

१. प्रा० पा०—वान् प्रवृ०। २. प्रा० पा०—निद्रा०। ३. प्रा० पा०—प्रेत्य०। ४. प्रा० पा०—प्रवि०। ५. प्रा० पा०—जह्या त०। ६. प्रा० पा०—गुणाश्रयैः। ७. प्रा० पा०—वरीयान्।

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥३५॥
ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥३६॥
तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः[1] ।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥३७॥
यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥३८॥
प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन्[3] ॥३९॥
य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥४०॥
पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्[2] ॥४१॥
अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥४२॥
सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना ।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥४४॥

कृपाका ही फल है ॥ ३४ ॥ तुम सबसे पहले मन्त्र-द्रष्टा हो । प्रजा उत्पन्न करते समय भी तुम्हारा मन मुझमें ही लगा रहता है, इसीसे पापमय रजोगुण तुमको बाँध नहीं पाता ॥ ३५ ॥ तुम मुझे भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित समझते हो; इससे जान पड़ता है कि यद्यपि देहधारी जीवोंको मेरा ज्ञान होना बहुत कठिन है, तथापि तुमने मुझे जान लिया है ॥ ३६ ॥ 'मेरा आश्रय कोई है या नहीं' इस संदेहसे तुम कमलनालके द्वारा जलमें उसका मूल खोज रहे थे, सो मैंने तुम्हें अपना यह स्वरूप अन्तः-करणमें ही दिखलाया है ॥ ३७ ॥

प्यारे ब्रह्माजी ! तुमने जो मेरी कथाओंके वैभवसे युक्त मेरी स्तुति की है और तपस्यामें जो तुम्हारी निष्ठा है, वह भी मेरी ही कृपाका फल है ॥ ३८ ॥ लोक-रचनाकी इच्छासे तुमने सगुण प्रतीत होनेपर भी जो निर्गुणरूपसे मेरा वर्णन करते हुए स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ; तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३९ ॥ मैं समस्त कामनाओं और मनोरथोंको पूर्ण करनेमें समर्थ हूँ । जो पुरुष नित्यप्रति इस स्तोत्रद्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेगा, उसपर मैं शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा ॥ ४० ॥ तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि पूर्त, तप, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनोंसे प्राप्त होनेवाला जो परम कल्याणमय फल है, वह मेरी प्रसन्नता ही है ॥ ४१ ॥ विधाता ! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ । देहादि भी मेरे ही लिये प्रिय हैं । अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिये ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजी ! त्रिलोकीको तथा जो प्रजा इस समय मुझमें लीन है, उसे तुम पूर्वकल्प-के समान मुझसे उत्पन्न हुए अपने सर्ववेदमय स्वरूपसे स्वयं ही रचो ॥ ४३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रकृति और पुरुषके स्वामी कमलनाभ भगवान् सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको इस प्रकार जगत्की अभिव्यक्ति करवाकर अपने उस नारायणरूपसे अदृश्य हो गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—संदर्शि० । २. प्रा० पा०—मता । ३. प्रा० पा०—मामनु० ।

अथ दशमोऽध्यायः

दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

विदुर उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥ १ ॥
ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम ।
तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥ २ ॥

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ॥ ४ ॥
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः ।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥ ५ ॥
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा ॥ ६ ॥
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ॥ ७ ॥
पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥ ८ ॥
एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः ।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो ॥ १० ॥

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! भगवान् नारायणके अन्तर्धान हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने अपने देह और मनसे कितने प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न की ? ॥ १ ॥ भगवन् ! इनके सिवा मैंने आपसे और जो-जो बातें पूछी हैं, उन सबका भी क्रमशः वर्णन कीजिये और मेरे सब संशयोंको दूर कीजिये; क्योंकि आप सभी बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! विदुरजीके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर मैत्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और अपने हृदयमें स्थित उन प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देने लगे ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—अजन्मा भगवान् श्रीहरिने जैसा कहा था, ब्रह्माजीने भी उसी प्रकार चित्तको अपने आत्मा श्रीनारायणमें लगाकर सौ दिव्य वर्षोंतक तप किया ॥ ४ ॥ ब्रह्माजीने देखा कि प्रलयकालीन प्रबल वायुके झकोरोंसे, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं तथा जिसपर वे बैठे हुए हैं वह कमल तथा जल काँप रहे हैं ॥ ५ ॥ प्रबल तपस्या एवं हृदयमें स्थित आत्मज्ञानसे उनका विज्ञान-बल बढ़ गया । और उन्होंने जलके साथ वायुको पी लिया ॥ ६ ॥ फिर जिसपर स्वयं बैठे हुए थे, उस आकाशव्यापी कमलको देखकर उन्होंने विचार किया कि 'पूर्वकल्पमें लीन हुए लोकोंको मैं इसीसे रचूँगा' ॥ ७ ॥ तब भगवान्‌के द्वारा सृष्टिकार्यमें नियुक्त ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और उस एकके ही भूः, भुवः, स्वः—ये तीन भाग किये, यद्यपि वह कमल इतना बड़ा था कि उसके चौदह भुवन या इससे भी अधिक लोकोंके रूपमें विभाग किये जा सकते थे ॥ ८ ॥ जीवोंके भोगस्थानके रूपमें इन्हीं तीन लोकोंका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है; जो निष्काम कर्म करनेवाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्यलोकरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन् ! आपने अद्भुतकर्मा विश्वरूप श्रीहरिकी जिस काल नामक शक्तिकी बात कही थी, प्रभो ! उसका कृपया विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १० ॥

---

१. प्रा० पा०—द्दितः ।

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥११॥
विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥१२॥
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥१३॥
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ॥१४॥
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥१५॥
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ॥१६॥
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो ।
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥१७॥
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ॥१८॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विषयोंका रूपान्तर (बदलना) ही कालका आकार है। स्वयं तो वह निर्विशेष, अनादि और अनन्त है। उसीको निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेलमें अपने आपको ही सृष्टिके रूपमें प्रकट कर देते हैं॥ ११ ॥ पहले यह सारा विश्व भगवान्‌की मायासे लीन होकर ब्रह्मरूपसे स्थित था। उसीको अव्यक्तमूर्ति कालके द्वारा भगवान्‌ने पुनः पृथक्‌रूपसे प्रकट किया है ॥ १२ ॥ यह जगत् जैसा अब है वैसा ही पहले था और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा। इसकी सृष्टि नौ प्रकारकी होती है, तथा प्राकृत-वैकृत भेदसे एक दसवीं सृष्टि और भी है ॥ १३ ॥ और इसका प्रलय काल, द्रव्य तथा गुणोंके द्वारा तीन प्रकारसे होता है। (अब पहले मैं दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन करता हूँ।) पहली सृष्टि महत्तत्त्वकी है। भगवान्‌की प्रेरणासे सत्त्वादि गुणोंमें विषमता होना ही इसका स्वरूप है ॥ १४ ॥ दूसरी सृष्टि अहंकारकी है, जिससे पृथ्वी आदि पञ्चभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। तीसरी सृष्टि भूतसर्ग है, जिसमें पञ्चमहाभूतोंको उत्पन्न करनेवाला तन्मात्रवर्ग रहता है ॥ १५ ॥ चौथी सृष्टि इन्द्रियोंकी है, यह ज्ञान और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होती है। पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी है, मन भी इसी सृष्टिके अन्तर्गत है ॥ १६ ॥ छठी सृष्टि अविद्याकी है। इसमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—ये पाँच गाँठें हैं। यह जीवोंकी बुद्धिका आवरण और विक्षेप करनेवाली है। ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं, अब वैकृत सृष्टियोंका भी विवरण सुनो ॥ १७ ॥

जो भगवान् अपना चिन्तन करनेवालोंके समस्त दुःखोंको हर लेते हैं, यह सारी लीला उन्हीं श्रीहरिकी है। वे ही ब्रह्माके रूपमें रजोगुणको स्वीकार करके जगत्‌की रचना करते हैं। छः प्रकारकी प्राकृत सृष्टियोंके बाद सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकारके स्थावर वृक्षोंकी होती है ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—अप्रमाणतः । २. प्रा० पा०—यन्मनोमयः । ३. प्रा० पा०—तामसः । ४. प्रा० पा०—सीमेयं ।

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥१९॥
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः[1] ॥२०॥
गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ॥२१॥
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः[3] क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥२२॥
श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥२३॥
कङ्कगृध्रवट[2]श्येनभासभल्लूकबर्हिणः ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥२४॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥२५॥
वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥२६॥

वनस्पति[1], ओषधि[2], लता[3], त्वक्सार[4], वीरुध्[5] और द्रुम[6]। इनका संचार नीचे (जड़) से ऊपरकी ओर होता है। इनमें प्रायः ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं रहती, ये भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्शका अनुभव करते हैं तथा इनमेंसे प्रत्येकमें कोई विशेष गुण रहता है ॥ १९ ॥ आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षियों) की है। वह अट्ठाईस प्रकारकी मानी जाती है। इन्हें कालका ज्ञान नहीं होता, तमोगुणकी अधिकताके कारण ये केवल खाना-पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं, इन्हें सूँघनेमात्रसे वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है। इनके हृदयमें विचारशक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती ॥ २० ॥ साधुश्रेष्ठ ! इन तिर्यकोंमें गौ, बकरा, भैंसा, कृष्ण-मृग, सूअर, नील-गाय, रुरु नामका मृग, भेड़ और ऊँट—ये द्विशफ (दो खुरोंवाले) पशु कहलाते हैं ॥ २१ ॥ गधा, घोड़ा, खच्चर, गौरमृग, शरभ और चमरी—ये एकशफ (एक खुरवाले) हैं। अब पाँच नखवाले पशु-पक्षियोंके नाम सुनो ॥ २२ ॥ कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि (पशु) हैं। २३। कंक (बगुला), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि उड़नेवाले जीव पक्षी कहलाते हैं ॥ २४ ॥ विदुरजी ! नवीं सृष्टि मनुष्योंकी है। यह एक ही प्रकारकी है। इसके आहारका प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचेकी ओर होता है। मनुष्य रजोगुणप्रधान, कर्मपरायण और दुःखरूप विषयोंमें ही सुख माननेवाले होते हैं ॥ २५ ॥ स्थावर, पशु-पक्षी और मनुष्य—ये तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ तथा आगे कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि हैं तथा जो महत्तत्त्वादिरूप वैकारिक देवसर्ग है, उसकी गणना पहले प्राकृत सृष्टिमें की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियोंका जो कौमारसर्ग है, वह प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकारका है ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—हृदि वेदिनः । २. प्रा० पा०—वकश्ये० । ३. प्रा० पा०—एते वै ।

१. जो बिना मौर आये ही फलते हैं, जैसे गूलर, बड़, पीपल आदि । २. जो फलोंके पक जानेपर नष्ट हो जाते हैं, जैसे धान, गेहूँ, चना आदि । ३. जो किसीका आश्रय लेकर बढ़ते हैं, जैसे ब्राह्मी, गिलोय आदि । ४. जिनकी छाल बहुत कठोर होती है, जैसे बाँस आदि । ५. जो लता पृथ्वीपर ही फैलती है, किंतु कठोर होनेसे ऊपरकी ओर नहीं चढ़ती—जैसे खरबूजा, तरबूजा आदि । ६. जिनमें पहले फूल आकर फिर उन फूलोंके स्थानमें ही फल लगते हैं, जैसे आम, जामुन आदि ।

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥२७॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥२८॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च ।
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥२९॥

देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध, चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख आदि भेदसे देवसृष्टि आठ प्रकारकी है । विदुरजी ! इस प्रकार जगत्कर्त्ता श्रीब्रह्माजीकी रची हुई यह दस प्रकारकी सृष्टि मैंने तुमसे कही ॥ २७-२८ ॥ अब आगे मैं वंश और मन्वन्तरादिका वर्णन करूँगा । इस प्रकार सृष्टि करनेवाले सत्यसंकल्प भगवान् हरि ही ब्रह्माके रूपसे प्रत्येक कल्पके आदिमें रजोगुणसे व्याप्त होकर स्वयं ही जगत्‌के रूपमें अपनी ही रचना करते हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

मन्वन्तरादि कालविभागका वर्णन

मैत्रेय उवाच

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! पृथ्वी आदि कार्यवर्गका जो सूक्ष्मतम अंश है—जिसका और विभाग नहीं हो सकता तथा जो कार्यरूपको प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओंके साथ संयोग भी नहीं हुआ है, उसे परमाणु कहते हैं । इन अनेक परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्योंको भ्रमवश उनके समुदायरूप एक अवयवीकी प्रतीति होती है ॥ १ ॥

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥ २ ॥

यह परमाणु जिसका सूक्ष्मतम अंश है, अपने सामान्य स्वरूपमें स्थित उस पृथ्वी आदि कार्योंकी एकता (समुदाय अथवा समग्ररूप) का नाम परम महान् है । इस समय उसमें न तो प्रलयादि अवस्थाभेदकी स्फूर्ति होती है, न नवीन-प्राचीन आदि कालभेदका भान होता है और न घट-पटादि वस्तुभेदकी ही कल्पना होती है ॥ २ ॥

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये[1] स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥३॥

साधुश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्मतम और महत्तम स्वरूपका विचार हुआ । इसीके सादृश्यसे परमाणु आदि अवस्थाओंमें व्याप्त होकर व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाले सृष्टि आदिमें समर्थ, अव्यक्तस्वरूप भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जा सकता है ॥ ३ ॥

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स[2] कालः परमो महान् ॥४॥

जो काल प्रपञ्चकी परमाणु-जैसी सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है और जो सृष्टिसे लेकर प्रलयपर्यन्त उसकी सभी अवस्थाओं-का भोग करता है, वह परम महान् है ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—सूक्ष्मे स्थूले च । २. प्रा० पा०—कालः स ।

अणुर्द्वौ[1] परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः[2] खमेवानुपतन्नगात्[3] ॥५॥
त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥६॥
निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ॥७॥
लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥८॥
नं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः[4] ।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥९॥
यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे ।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥१०॥
तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम् ।
द्वौ तावृतुः[5] षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥११॥
अयने चाहनी[6] प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥१२॥
ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।

दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है और तीन अणुओंके मिलनेसे एक 'त्रसरेणु' होता है, जो झरोखेमें-से होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है ॥ ५ ॥ ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है ॥ ६ ॥ तीन लवको एक 'निमेष' और तीन निमेषको एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' होती है और पंद्रह काष्ठाका एक 'लघु' ॥ ७ ॥ पंद्रह लघुकी एक 'नाडिका' (दण्ड) कही जाती है, दो नाडिकाका एक 'मुहूर्त' होता है और दिनके घटने-बढ़नेके अनुसार (दिन एवं रात्रिकी दोनों सन्धियोंके दो मुहूर्तोंको छोड़कर) छः या सात नाडिकाका एक 'प्रहर' होता है। यह 'याम' कहलाता है, जो मनुष्यके दिन या रातका चौथा भाग होता है ॥ ८ ॥ छः पल ताँबेका एक ऐसा बरतन बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ जल आ सके और चार माशे सोनेकी चार अंगुल लंबी सलाई बनवाकर उसके द्वारा उस बरतनके पेंदेमें छेद करके उसे जलमें छोड़ दिया जाय। जितने समयमें एक प्रस्थ जल उस बरतनमें भर जाय, वह बरतन जलमें डूब जाय, उतने समयको एक 'नाडिका' कहते हैं ॥९॥ विदुरजी ! चार-चार पहरके मनुष्यके 'दिन' और 'रात' होते हैं और पंद्रह दिन-रातका एक 'पक्ष' होता है, जो शुक्ल और कृष्ण-भेदसे दो प्रकारका माना गया है ॥ १० ॥ इन दोनों पक्षोंको मिलाकर एक 'मास' होता है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासका एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है। अयन 'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' भेदसे दो प्रकारका है ॥ ११ ॥ ये दोनों अयन मिलकर देवताओंके एक दिन-रात होते हैं तथा मनुष्यलोकमें ये 'वर्ष' या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे सौ वर्षकी मनुष्यकी परम आयु बतायी गयी है ॥ १२ ॥ चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और समस्त तारामण्डलके अधिष्ठाता कालस्वरूप भगवान् सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरपर्यन्त

१. प्रा० पा०—अणू द्वौ द्व्यणुकः प्रोक्तः त्र० । २. प्रा० पा०—जालाक्षार्करश्मिगतः । ३. प्रा० पा०—पतन्नगाम् । इसका उल्लेख श्रीधरस्वामीने भी किया है । ४. प्रा० पा०—चतुरङ्गुलम् । ५. प्रा० पा०—तौ ऋतुः । ६. प्रा० पा०—अयने अहनी ।

संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥१३॥
संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च ।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥१४॥
यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥१५॥

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्[1] ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः ॥१६॥
भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥१८॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥१९॥
संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः ।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥२०॥

कालमें द्वादश राशिरूप सम्पूर्ण भुवनकोशकी निरन्तर परिक्रमा किया करते हैं ॥ १३ ॥ सूर्य, बृहस्पति, सवन, चन्द्रमा और नक्षत्रसम्बन्धी महीनोंके भेदसे यह वर्ष ही संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता है ॥ १४ ॥ विदुरजी ! इन पाँच प्रकारके वर्षोंकी प्रवृत्ति करनेवाले भगवान् सूर्यकी तुम उपहारादि समर्पण करके पूजा करो । ये सूर्यदेव पञ्चभूतोंमेंसे तेज:स्वरूप हैं और अपनी कालशक्तिसे बीजादि पदार्थोंकी अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनेक प्रकारसे कार्योन्मुख करते हैं । ये पुरुषोंकी मोहनिवृत्तिके लिये उनकी आयुका क्षय करते हुए आकाशमें विचरते रहते हैं तथा ये ही सकाम पुरुषोंको यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि मङ्गलमय फलोंका विस्तार करते हैं ॥ १५ ॥

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! आपने देवता, पितर और मनुष्योंकी परमायुका वर्णन तो किया । अब जो सनकादि ज्ञानी मुनिजन त्रिलोकीसे बाहर कल्पसे भी अधिक कालतक रहनेवाले हैं, उनकी भी आयुका वर्णन कीजिये ॥ १६ ॥ आप भगवान् कालकी गति भलीभाँति जानते हैं; क्योंकि ज्ञानीलोग अपनी योगसिद्ध दिव्य दृष्टिसे सारे संसारको देख लेते हैं ॥ १७ ॥

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंके सहित देवताओंके बारह सहस्र वर्षतक रहते हैं, ऐसा बतलाया गया है ॥ १८ ॥ इन सत्यादि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं और प्रत्येकमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं, उससे दुगुने सौ वर्ष उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंमें होते हैं* ॥ १९ ॥ युगकी आदिमें सन्ध्या होती है और अन्तमें सन्ध्यांश । इनकी वर्ष-गणना सैकड़ोंकी संख्यामें बतलायी गयी है । इनके बीचका जो काल होता है, उसीको कालवेत्ताओंने युग कहा है । प्रत्येक युगमें एक-एक विशेष धर्मका विधान पाया

१. प्रा० पा०—श्रुतम् ।

* अर्थात् सत्ययुगमें ४,००० दिव्य वर्ष युगके और ८०० सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके—इस प्रकार ४,८०० वर्ष होते हैं । इसी प्रकार त्रेतामें ३,६००, द्वापरमें २,४०० और कलियुगमें १,२०० दिव्यवर्ष होते हैं । मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है; अतः देवताओंका एक वर्ष मनुष्योंके ३६० वर्षके बराबर हुआ । इस प्रकार मानवीय मानसे कलियुगमें ४,३२,००० वर्ष हुए तथा इससे दुगुने द्वापरमें, तिगुने त्रेतामें और चौगुने सत्ययुगमें होते हैं ।

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥२१॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्[1] ॥२२॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते[2]।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश ॥२३॥
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ।
मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव[3] युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥२४॥
एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥२५॥
मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥२६॥
तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥२७॥
तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां[4] निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥२८॥
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥२९॥
तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥३०॥

जाता है ॥ २० ॥ सत्ययुगके मनुष्योंमें धर्म अपने चारों चरणोंसे रहता है; फिर अन्य युगोंमें अधर्मकी वृद्धि होनेसे उसका एक-एक चरण क्षीण होता जाता है ॥ २१ ॥ प्यारे विदुरजी ! त्रिलोकीसे बाहर महर्लोक-से ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है, जिसमें जगत्कर्ता ब्रह्माजी शयन करते हैं ॥ २२ ॥ उस रात्रिका अन्त होनेपर इस लोकका कल्प आरम्भ होता है; उसका क्रम जबतक ब्रह्माजीका दिन रहता है तबतक चलता रहता है । उस एक कल्पमें चौदह मनु हो जाते हैं ॥ २३ ॥ प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक काल (७१ ६/१४ चतुर्युगी) तक अपना अधिकार भोगता है । प्रत्येक मन्वन्तर-में भिन्न-भिन्न मनुवंशी राजालोग, सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना अधिकार भोगते हैं ॥ २४ ॥ यह ब्रह्माजी-की प्रतिदिनकी सृष्टि है, जिसमें तीनों लोकोंकी रचना होती है । उसमें अपने-अपने कर्मानुसार पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर और देवताओंकी उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥ इन मन्वन्तरोंमें भगवान् सत्त्वगुणका आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियोंके द्वारा पौरुष प्रकट करते हुए इस विश्वका पालन करते हैं ॥ २६ ॥ कालक्रमसे जब ब्रह्माजीका दिन बीत जाता है, तब वे तमोगुणके सम्पर्कको स्वीकार कर अपने सृष्टिरचना-रूप पौरुषको स्थगित करके निश्चेष्टभावसे स्थित हो जाते हैं ॥ २७ ॥ उस समय सारा विश्व उन्हींमें लीन हो जाता है । सूर्य और चन्द्रमादिसे रहित वह प्रलयरात्रि आती है, तब वे भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोक उन्हीं ब्रह्माजीके शरीरमें छिप जाते हैं ॥ २८ ॥ उस अवसर-पर तीनों लोक शेषजीके मुखसे निकली हुई अग्नि-रूप भगवान्‌की शक्तिसे जलने लगते हैं । इसलिये उसके तापसे व्याकुल होकर भृगु आदि मुनीश्वरगण महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं ॥ २९ ॥ इतनेमें ही सातों समुद्र प्रलयकालके प्रचण्ड पवनसे उमड़कर अपनी उछलती हुई उत्ताल तरङ्गोंसे त्रिलोकीको डुबो देते हैं ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—दृक् । २. प्रा० पा०—वर्धते । ३. प्रा० पा०—चैके । ४. प्रा० पा०—मथ वृत्ता ।

अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः ।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥३१॥

तब उस जलके भीतर भगवान् शेषशायी योगनिद्रासे नेत्र मूँदकर शयन करते हैं। उस समय जनलोकनिवासी मुनिगण उनकी स्तुति किया करते हैं ॥ ३१ ॥

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥३२॥

इस प्रकार कालकी गतिसे एक-एक सहस्र चतुर्युगके रूपमें प्रतीत होनेवाले दिन-रातके हेर-फेरसे ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी परमायु भी बीती हुई-सी दिखायी देती है ॥ ३२ ॥

यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते ।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥३३॥

ब्रह्माजीकी आयुके आधे भागको परार्ध कहते हैं। अबतक पहला परार्ध तो बीत चुका है, दूसरा चल रहा है ॥ ३३ ॥

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥३४॥

पूर्व परार्धके आरम्भमें ब्राह्म नामक महान् कल्प हुआ था। उसीमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई थी। पण्डितजन इन्हें शब्दब्रह्म कहते हैं ॥ ३४ ॥

तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥३५॥

उसी परार्धके अन्तमें जो कल्प हुआ था, उसे पाद्मकल्प कहते हैं। इसमें भगवान्‌के नाभिसरोवरसे सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ था ॥ ३५ ॥

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि[2] भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीत्सूकरो हरिः ॥३६॥

विदुरजी ! इस समय जो कल्प चल रहा है, वह दूसरे परार्धका आरम्भक बतलाया जाता है। यह वाराहकल्प नामसे विख्यात है, इसमें भगवान्‌ने सूकररूप धारण किया था ॥ ३६ ॥

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ॥३७॥

यह दो परार्धका काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि, विश्वात्मा श्रीहरिका एक निमेष माना जाता है ॥ ३७ ॥

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥३८॥

यह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त फैला हुआ काल सर्वसमर्थ होनेपर भी सर्वात्मा श्रीहरिपर किसी प्रकारकी प्रभुता नहीं रखता। यह तो देहादिमें अभिमान रखनेवाले जीवोंका ही शासन करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
आ[3]ण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥३९॥
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥४०॥
तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥४१॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र—इन आठ प्रकृतियोंके सहित दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्च-भूत—इन सोलह विकारोंसे मिलकर बना हुआ यह ब्रह्माण्डकोश भीतरसे पचास करोड़ योजन विस्तारवाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस-दस गुने सात आवरण हैं। उन सबके सहित यह जिसमें परमाणुके समान पड़ा हुआ दीखता है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्माण्डराशियाँ हैं, वह इन प्रधानादि समस्त कारणोंका कारण अक्षर ब्रह्म कहलाता है और यही पुराणपुरुष परमात्मा श्रीविष्णुभगवान्‌का श्रेष्ठ धाम (स्वरूप) है ॥ ३९—४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

१. प्रा० पा०—अपे० । २. प्रा० पा०—स्याधनन्तरः । ३. प्रा० पा०—अण्ड० ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

सृष्टिका विस्तार

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः ।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे ॥ १ ॥
ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ २ ॥
दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥ ३ ॥
सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः ।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ॥ ४ ॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ ५ ॥
सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः[1] कुमारो नीललोहितः ॥७॥
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः ।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥८॥
इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन् ।
अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥९॥
यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥१०॥
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे[2] ॥११॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! यहाँतक मैंने आपको भगवान्‌की कालरूप महिमा सुनायी । अब जिस प्रकार ब्रह्माजीने जगत्‌की रचना की, वह सुनिये ॥१॥ सबसे पहले उन्होंने अज्ञानकी पाँच वृत्तियाँ—तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं ॥२॥ किंतु इस अत्यन्त पापमयी सृष्टिको देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई । तब उन्होंने अपने मनको भगवान्‌के ध्यानसे पवित्र कर उससे दूसरी सृष्टि रची ॥ ३ ॥ इस बार ब्रह्माजीने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न किये ॥ ४ ॥ अपने इन पुत्रोंसे ब्रह्माजीने कहा, पुत्रो ! तुमलोग सृष्टि उत्पन्न करो ।' किंतु वे जन्मसे ही मोक्षमार्ग (निवृत्तिमार्ग) का अनुसरण करनेवाले और भगवान्‌के ध्यानमें तत्पर थे, इसलिये उन्होंने ऐसा करना नहीं चाहा ॥ ५ ॥ जब ब्रह्माजीने देखा कि मेरी आज्ञा न मानकर ये मेरे पुत्र मेरा तिरस्कार कर रहे हैं तब उन्हें असह्य क्रोध हुआ । उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न किया ॥ ६ ॥ किंतु बुद्धिद्वारा उनके बहुत रोकनेपर भी वह क्रोध तत्काल प्रजापतिकी भौंहोंके बीचमेंसे एक नीललोहित (नीले और लाल रंगके) बालकके रूपमें प्रकट हो गया ॥ ७ ॥ वे देवताओंके पूर्वज भगवान् भव (रुद्र) रो-रोकर कहने लगे—'जगत्पिता ! विधाता ! मेरे नाम और रहनेके स्थान बतलाइये' ॥ ८ ॥

तब कमलयोनि भगवान् ब्रह्माने उस बालककी प्रार्थना पूर्ण करनेके लिये मधुर वाणीमें कहा, 'रोओ मत, मैं अभी तुम्हारी इच्छा पूरी करता हूँ ॥ ९ ॥ देवश्रेष्ठ ! तुम जन्म लेते ही बालकके समान फूट-फूटकर रोने लगे इसलिये प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी ॥ १० ॥ तुम्हारे रहनेके लिये मैंने पहलेसे ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप—ये स्थान रच दिये हैं ॥११॥

१. प्रा० पा०—तन्मन्योः । २. प्रा० पा०—ते ।

मन्युर्म[1]नुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः ।
उ[2]ग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥१२॥
धी[3]र्वृत्तिरुशनोमा च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका ।
इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः॥१३॥
गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः॥१४॥
इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान्नीललोहितः ।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥१५॥
रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत् ।
निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत ॥१६॥
अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥१७॥
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥१८॥
तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥१९॥

मैत्रेय उवाच

एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ॥२०॥
अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
[4]भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥२१॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥२२॥

तुम्हारे नाम मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत होंगे ॥ १२ ॥ तथा धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये ग्यारह रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी ॥ १३ ॥ तुम उपर्युक्त नाम, स्थान और स्त्रियोंको स्वीकार करो और इनके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो; क्योंकि तुम प्रजापति हो' ॥ १४ ॥

लोकपिता ब्रह्माजीसे ऐसी आज्ञा पाकर भगवान् नीललोहित बल, आकार और स्वभावमें अपने-ही-जैसी प्रजा उत्पन्न करने लगे ॥ १५ ॥ भगवान् रुद्रके द्वारा उत्पन्न हुए उन रुद्रोंको असंख्य यूथ बनाकर सारे संसारको भक्षण करते देख ब्रह्माजीको बड़ी शङ्का हुई ॥ १६ ॥ तब उन्होंने रुद्रसे कहा, 'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हारी प्रजा तो अपनी भयंकर दृष्टिसे मुझे और सारी दिशाओंको भस्म किये डालती है; अतः ऐसी सृष्टि और न रचो ॥ १७ ॥ तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम समस्त प्राणियोंको सुख देनेके लिये तप करो । फिर उस तपके प्रभावसे ही तुम पूर्ववत् इस संसारकी रचना करना ॥ १८ ॥ पुरुष तपके द्वारा ही इन्द्रियातीत, सर्वान्तर्यामी, ज्योतिःस्वरूप श्रीहरिको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है' ॥ १९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—जब ब्रह्माजीने ऐसी आज्ञा दी, तब रुद्रने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे शिरोधार्य किया और फिर उनकी अनुमति लेकर तथा उनकी परिक्रमा करके वे तपस्या करनेके लिये वनको चले गये ॥ २० ॥

इसके पश्चात् जब भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने सृष्टिके लिये सङ्कल्प किया, तब उनके दस पुत्र और उत्पन्न हुए । उनसे लोककी बहुत वृद्धि हुई । २१ । उनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और दसवें नारद थे ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—मंनुर्महान्सोमो महान् । २. प्रा० पा०—ऊर्ध्वरेता । ३. प्रा० पा०—धीवृत्तिरसरोमा च निजसर्पि०। ४. प्राचीन प्रतिमें २१वें श्लोकके उत्तरार्ध 'भगवच्छक्तियुक्तस्य···' से लेकर २४वें श्लोकके उत्तरार्धमें 'अङ्गिरा मुख' तकका अंश नहीं है । इसके अतिरिक्त २५वें श्लोकका 'दक्षिणतो' शब्द और २६वें श्लोकका 'भ्रुवः' शब्द नहीं हैं । जान पड़ता है, खण्डित हो गये हैं या लिखनेमें छूट गये हैं ।

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥२३॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥२४॥
धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥२५॥
हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः॥२६
छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥२७॥
वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥२९॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे[1] ।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं[2] प्रभुः ॥३०॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो ।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥३१॥
तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥३२॥
स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं[3] तत्याज व्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥३३॥

इनमें नारदजी प्रजापति ब्रह्माजीकी गोदसे, दक्ष अँगूठेसे, वसिष्ठ प्राणसे, भृगु त्वचासे, क्रतु हाथसे, पुलह नाभिसे, पुलस्त्यऋषि कानोंसे, अङ्गिरा मुखसे, अत्रि नेत्रोंसे और मरीचि मनसे उत्पन्न हुए ॥ २३-२४ ॥ फिर उनके दायें स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसकी पत्नी मूर्तिसे स्वयं नारायण अवतीर्ण हुए तथा उनकी पीठसे अधर्म-का जन्म हुआ और उससे संसारको भयभीत करने-वाला मृत्यु उत्पन्न हुआ ॥ २५ ॥ इसी प्रकार ब्रह्माजी-के हृदयसे काम, भौंहोंसे क्रोध, नीचेके ओठसे लोभ, मुखसे वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, लिङ्गसे समुद्र, गुदासे पापका निवासस्थान (राक्षसोंका अधिपति) निर्ऋति ॥ २६ ॥ छायासे देवहूतिके पति भगवान् कर्दमजी उत्पन्न हुए । इस तरह यह सारा जगत् जगत्कर्ता ब्रह्माजीके शरीर और मनसे उत्पन्न हुआ ॥२७॥

विदुरजी ! भगवान् ब्रह्माकी कन्या सरस्वती बड़ी ही सुकुमारी और मनोहर थी । हमने सुना है—एक बार उसे देखकर ब्रह्माजी काममोहित हो गये थे, यद्यपि वह स्वयं वासनाहीन थी ॥ २८ ॥ उन्हें ऐसा अधर्ममय सङ्कल्प करते देख, उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियोंने उन्हें विश्वासपूर्वक समझाया—॥ २९ ॥ 'पिताजी ! आप समर्थ हैं, फिर भी अपने मनमें उत्पन्न हुए कामके वेगको न रोककर पुत्रीगमन-जैसा दुस्तर पाप करनेका सङ्कल्प कर रहे हैं । ऐसा तो आपसे पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्माने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा ॥३०॥ जगद्गुरो ! आप-जैसे तेजस्वी पुरुषोंको भी ऐसा काम शोभा नहीं देता; क्योंकि आपलोगोंके आचरणोंका अनुसरण करनेसे ही तो संसारका कल्याण होता है ॥ ३१ ॥ जिन भगवान्ने अपने स्वरूपमें स्थित इस जगत्को अपने ही तेजसे प्रकट किया है, उन्हें नमस्कार है । इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं' ॥ ३२ ॥ अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने सामने इस प्रकार कहते देख प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी बड़े लज्जित हुए और उन्होंने उस शरीरको उसी समय छोड़ दिया । तब उस घोर शरीरको दिशाओंने ले लिया । वही कुहरा हुआ, जिसे अन्धकार भी कहते हैं ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—ये परे । २. प्रा० पा०—ह्यात्मजां प्रभो । ३. प्रा० पा०—तन्वीं ।

कदाचिद् ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा ॥३४॥
चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥३५॥

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत् ।
यद् यद् येनासृजद् देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥३६॥

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ३७
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥३८॥
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥३९॥
षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥४०॥
विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥४१॥
सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा ।
वार्तासञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ॥४२॥

एक बार ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि 'मैं पहलेकी तरह सुव्यवस्थित रूपसे सब लोकोंकी रचना किस प्रकार करूँ ?' इसी समय उनके चार मुखोंसे चार वेद प्रकट हुए ॥ ३४ ॥ इनके सिवा उपवेद, न्यायशास्त्र, होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके कर्म, यज्ञोंका विस्तार, धर्मके चार चरण और चारों आश्रम तथा उनकी वृत्तियाँ—ये सब भी ब्रह्माजीके मुखोंसे ही उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

विदुरजीने पूछा—तपोधन ! विश्वरचयिताओंके स्वामी श्रीब्रह्माजीने जब अपने मुखोंसे इन वेदादिको रचा, तो उन्होंने अपने किस मुखसे कौन वस्तु उत्पन्न की—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ३६ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! ब्रह्माने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके मुखसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेदोंको रचा तथा इसी क्रमसे शस्त्र (होताका कर्म), इज्या (अध्वर्युका कर्म), स्तुतिस्तोम (उद्गाताका कर्म) और प्रायश्चित्त (ब्रह्माका कर्म)—इन चारोंकी रचना की ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्रविद्या), गान्धर्ववेद (सङ्गीतशास्त्र) और स्थापत्यवेद (शिल्पविद्या)—इन चार उपवेदोंको भी क्रमशः उन पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ फिर सर्वदर्शी भगवान् ब्रह्माने अपने चारों मुखोंसे इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद बनाया ॥३९॥ इसी क्रमसे षोडशी और उक्थ, चयन और अग्निष्टोम, आप्तोर्याम और अतिरात्र तथा वाजपेय और गोसव—ये दो-दो याग भी उनके पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥ विद्या, दान, तप और सत्य—ये धर्मके चार पाद और वृत्तियोंके सहित चार आश्रम भी इसी क्रमसे प्रकट हुए ॥ ४१ ॥ सावित्र*, प्राजापत्य[1], ब्राह्म[2] और बृहत्[3]—ये चार वृत्तियाँ ब्रह्मचारीकी हैं तथा वार्ता[4], सञ्चय[5], शालीन[6] और शिलोञ्छ[7]—ये चार वृत्तियाँ

१. प्रा० पा०—दिष्टया तन्मे । २. प्रा० पा०—षोडशोक्षः पूर्व० ।

* उपनयन-संस्कारके पश्चात् गायत्रीका अध्ययन करनेके लिये धारण किया जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्यव्रत ।

१. एक वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत । २. वेदाध्ययनकी समाप्तितक रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ३. आयुपर्यन्त रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ४. कृषि आदि शास्त्रविहित वृत्तियाँ । ५. यागादि कराना । ६. अयाचितवृत्ति । ७. खेत कट जानेपर पृथ्वीपर पड़े हुए तथा अनाजकी मंडीमें गिरे हुए दानोंको बीनकर निर्वाह करना ।

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।
न्यासे[1] कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥४३॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दहतः[2] ॥४४॥
तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ॥४५॥
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ।
स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः ॥४६॥
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः ।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥४७॥
शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥४८॥
ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥४९॥
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ।
अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ॥५०॥
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् ।
एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ॥५१॥

गृहस्थकी हैं ॥ ४२ ॥ इसी प्रकार वृत्तिभेदसे वैखानस[1], वालखिल्य[2], औदुम्बर[3] और फेनप[4]—ये चार भेद वानप्रस्थोंके तथा कुटीचक[5], बहूदक[6], हंस[7] और निष्क्रिय (परमहंस[8])—ये चार भेद संन्यासियोंके हैं ॥ ४३ ॥ इसी क्रमसे आन्वीक्षिकी[9], त्रयी[10], वार्ता[11] और दण्डनीति[12]—ये चार विद्याएँ तथा चार व्याहृतियाँ[13] भी ब्रह्माजीके चार मुखोंसे ही उत्पन्न हुईं तथा उनके हृदयाकाशसे ॐकार प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥ उनके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, मांससे त्रिष्टुप्, स्नायुसे अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती, मज्जासे पङ्क्ति और प्राणोंसे बृहती छन्द उत्पन्न हुआ । ऐसे ही उनका जीव स्पर्शवर्ण (कवर्गादि पञ्चवर्ग) और देह स्वरवर्ण (अकारादि) कहलाया।४५-४६। उनकी इन्द्रियोंको ऊष्मवर्ण (श ष स ह) और बलको अन्तःस्थ (य र ल व) कहते हैं तथा उनकी क्रीडासे निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम—ये सात स्वर हुए ॥ ४७ ॥ हे तात ! ब्रह्माजी शब्द-ब्रह्मस्वरूप हैं । वे वैखरीरूपसे व्यक्त और ओङ्कार-रूपसे अव्यक्त हैं तथा उनसे परे जो सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म है, वही अनेकों प्रकारकी शक्तियोंसे विकसित होकर इन्द्रादि रूपोंमें भास रहा है ॥ ४८ ॥

विदुरजी ! ब्रह्माजीने पहला कामासक्त शरीर—जिससे कुहरा बना था—छोड़नेके बाद दूसरा शरीर धारण करके विश्वविस्तारका विचार किया; वे देख चुके थे कि मरीचि आदि महान् शक्तिशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका विस्तार अधिक नहीं हुआ, अतः वे मन-ही-मन पुनः चिन्ता करने लगे—'अहो ! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करनेपर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है । मालूम होता है, इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है ।' जिस समय यथोचित क्रिया करनेवाले श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैवके विषयमें विचार कर रहे थे,

१. प्रा० पा०—न्यासी । २. प्रा० पा०—दक्षतः ।

१. बिना जोती-बोयी भूमिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करनेवाले । २. नवीन अन्न मिलनेपर पहला संचय करके रक्खा हुआ अन्न दान कर देनेवाले । ३. प्रातःकाल उठनेपर जिस दिशाकी ओर मुख हो, उसी ओरसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाले । ४. अपने-आप झड़े हुए फलादि खाकर रहनेवाले । ५. कुटी बनाकर एक जगह रहने और आश्रमके धर्मोंका पूरा पालन करनेवाले । ६. कर्मकी ओर गौणदृष्टि रखकर ज्ञानको ही प्रधान माननेवाले । ७. ज्ञानाभ्यासी । ८. ज्ञानी जीवन्मुक्त । ९. मोक्ष प्राप्त करानेवाली आत्मविद्या । १०. स्वर्गादि फल देनेवाली कर्मविद्या । ११. खेती-व्यापारादि-सम्बन्धी विद्या । १२. राजनीति । १३. भूः, भुवः, स्वः—ये तीन और चौथी महःको मिलाकर इस प्रकार चार व्याहृतियाँ आश्वलायनने अपने गृह्यसूत्रोंमें बतलायी हैं—'एवं व्याहृतयः प्रोक्ता व्यस्ताः समस्ताः ।' अथवा भूः, भुवः, स्वः और महः—ये चार व्याहृतियाँ, जैसा कि श्रुति कहती है—'भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयस्तासामु ह स्मैतां चतुर्थीमाह । वाचमस्य प्रवेदयते महः' इत्यादि ।

कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥५२॥
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।
स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः॥५३
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ।
स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥५४॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥५५॥
आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥५६॥

उसी समय अकस्मात् उनके शरीरके दो भाग हो गये । 'क' ब्रह्माजीका नाम है, उन्हींसे विभक्त होनेके कारण शरीरको 'काय' कहते हैं । उन दोनों विभागोंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ ॥ ४९—५२ ॥ उनमें जो पुरुष था, वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुईं ॥ ५३ ॥ तबसे मिथुनधर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग) से प्रजाकी वृद्धि होने लगी । महाराज स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच संतानें उत्पन्न कीं ॥ ५४ ॥ साधु-शिरोमणि विदुरजी ! उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद—दो पुत्र थे तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति—तीन कन्याएँ थीं ॥ ५५ ॥ मनुजीने आकूतिका विवाह रुचि प्रजापति-से किया, मझली कन्या देवहूति कर्दमजीको दी और प्रसूति दक्ष प्रजापतिको । इन तीनों कन्याओंकी संततिसे सारा संसार भर गया ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीय-
स्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

वाराह अवतारकी कथा

श्रीशुक उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १ ॥

विदुर उवाच

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥२॥
चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३ ॥
श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! मुनिवर मैत्रेयजीके मुखसे यह परम पुण्यमयी कथा सुनकर श्रीविदुरजीने फिर पूछा; क्योंकि भगवान्‌की लीलाकथामें इनका अत्यन्त अनुराग हो गया था ॥ १ ॥

विदुरजीने कहा—मुने ! स्वयम्भू ब्रह्माजीके प्रिय पुत्र महाराज स्वायम्भुव मनुने अपनी प्रिय पत्नी शतरूपाको पाकर फिर क्या किया ? ॥२॥ आप साधुशिरोमणि हैं। आप मुझे आदिराज राजर्षि स्वायम्भुव मनुका पवित्र चरित्र सुनाइये । वे श्रीविष्णुभगवान्‌के शरणापन्न थे, इसलिये उनका चरित्र सुननेमें मेरी बहुत श्रद्धा है ॥३॥ जिनके हृदयमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत

१. प्रा० पा०—वासी० । २. प्रा० पा०—महिष्यथ । ३. प्रा० पा०—ह्येवं बभूविरे । ४. प्रा० पा०—श्रद्दधानस्य । ५. प्रा० पा०—चिरं श्र० ।

यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६ ॥
त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद् वृत्तिदः[1] पिता ।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥७॥
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥ ९ ॥
एतावत्यात्मजैर्वीर[2] कार्या ह्यपचितिर्गुरौ ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥१०॥
स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥११॥
परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥१२॥
येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥१३॥

मनुरुवाच

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन[3] ।

दिनोंतक किये हुए शास्त्राभ्यासके श्रमका मुख्य फल है, ऐसा विद्वानोंका श्रेष्ठ मत है ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! विदुरजी सहस्रशीर्षा भगवान् श्रीहरिके चरणाश्रित भक्त थे । उन्होंने जब विनयपूर्वक भगवान्‌की कथाके लिये प्रेरणा की, तब मुनिवर मैत्रेयका रोम-रोम खिल उठा । उन्होंने कहा ॥५॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—जब अपनी भार्या शतरूपाके साथ स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ, तब उन्होंने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर श्रीब्रह्माजीसे कहा—॥ ६ ॥ भगवन् ! एकमात्र आप ही समस्त जीवोंके जन्मदाता और जीविका प्रदान करनेवाले पिता हैं तथापि हम आपकी संतान ऐसा कौन-सा कर्म करें, जिससे आपकी सेवा बन सके ? ॥ ७ ॥ पूज्यपाद ! हम आपको नमस्कार करते हैं । आप हमसे हो सकने योग्य किसी ऐसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दीजिये, जिससे इस लोकमें हमारी सर्वत्र कीर्ति हो और परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—तात ! पृथ्वीपते ! तुम दोनोंका कल्याण हो । मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुमने निष्कपट भावसे 'मुझे आज्ञा दीजिये' यों कहकर मुझे आत्मसमर्पण किया है ॥ ९ ॥ वीर ! पुत्रोंको अपने पिताकी इसी रूपमें पूजा करनी चाहिये । उन्हें उचित है कि दूसरोंके प्रति ईर्ष्याका भाव न रखकर जहाँतक बने उनकी आज्ञाका आदरपूर्वक सावधानीसे पालन करें ॥ १० ॥ तुम अपनी इस भार्यासे अपने ही समान गुणवती संतति उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंद्वारा श्रीहरिकी आराधना करो ॥ ११ ॥ राजन् ! प्रजापालनसे मेरी बड़ी सेवा होगी और तुम्हें प्रजाका पालन करते देखकर भगवान् श्रीहरि भी तुमसे प्रसन्न होंगे । जिनपर यज्ञमूर्ति जनार्दन भगवान् प्रसन्न नहीं होते, उनका सारा श्रम व्यर्थ ही होता है; क्योंकि वे तो एक प्रकारसे अपने आत्माका ही अनादर करते हैं ॥ १२-१३ ॥

मनुजीने कहा—पापका नाश करनेवाले पिताजी ! मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा; किंतु आप

१. प्रा० पा०—वृद्धिदः । २. प्रा० पा०—त्मजैर्वीरैः । ३. प्रा० पा०—वर्तेयमरिसूदन ।

स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥१४॥
यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥१५॥

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥१६॥
सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता ।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥१७॥
इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥१८॥
तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत ।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥१९॥
मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥२०॥
किमेतत्सौकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥२१॥
दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः ।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥२२॥
इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ॥२३॥
ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ॥२४॥

इस जगत्‌में मेरे और मेरी भावी प्रजाके रहनेके लिये स्थान बतलाइये ।१४। देव ! सब जीवोंका निवासस्थान पृथ्वी इस समय प्रलयके जलमें डूबी हुई है । आप इस देवीके उद्धारका प्रयत्न कीजिये ॥ १५ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—पृथ्वीको इस प्रकार अथाह जलमें डूबी देखकर ब्रह्माजी बहुत देरतक मनमें यह सोचते रहे कि "इसे कैसे निकालूँ ॥ १६ ॥ जिस समय मैं लोकरचनामें लगा हुआ था, उस समय पृथ्वी जलमें डूब जानेसे रसातलको चली गयी । हमलोग सृष्टिकार्यमें नियुक्त हैं, अतः इसके लिये हमें क्या करना चाहिये ? अब तो, जिनके सङ्कल्पमात्रसे मेरा जन्म हुआ है, वे सर्वशक्तिमान् श्रीहरि ही मेरा यह काम पूरा करें" ॥ १७ ॥

निष्पाप विदुरजी ! ब्रह्माजी इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उनके नासाछिद्रसे अकस्मात् अँगूठेके बराबर आकारका एक वराह-शिशु निकला ॥ १८ ॥ भारत ! बड़े आश्चर्यकी बात तो यही हुई कि आकाशमें खड़ा हुआ वह वराह-शिशु ब्रह्माजीके देखते-ही-देखते बड़ा होकर क्षणभरमें हाथीके बराबर हो गया ॥ १९ ॥ उस विशाल वराह-मूर्तिको देखकर मरीचि आदि मुनिजन, सनकादि और स्वायम्भुव मनुके सहित श्रीब्रह्माजी तरह-तरहके विचार करने लगे—॥२०॥ अहो ! सूकरके रूपमें आज यह कौन दिव्य प्राणी यहाँ प्रकट हुआ है ? कैसा आश्चर्य है ! यह अभी-अभी मेरी नाकसे निकला था ।२१। पहले तो यह अँगूठेके पोरुएके बराबर दिखायी देता था, किंतु एक क्षणमें ही बड़ी भारी शिलाके समान हो गया । अवश्य ही यज्ञमूर्ति भगवान् हमलोगोंके मनको मोहित कर रहे हैं ॥ २२ ॥ ब्रह्माजी और उनके पुत्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि भगवान् यज्ञपुरुष पर्वताकार होकर गरजने लगे ॥ २३ ॥ सर्वशक्तिमान् श्रीहरिने अपनी गर्जनासे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके ब्रह्मा और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको हर्षसे भर दिया ॥२४॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'सृजतो मे' इस श्लोकके पहले—
पीतं मया जलं सर्वं पृथिवी वापि वेष्टिता । प्रजा देवासुरपितॄन् मनुष्यपशुपक्षिणः ॥
सरीसृपा नगा नागा भूतान्युच्चावचानि च ॥
—ये डेढ़ श्लोक अधिक हैं ।

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म ॥२५॥
तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥२६॥
उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥२७॥
घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत्कम् ॥२८॥
स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥२९॥
खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाऽऽप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम् ।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥३०॥
स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदयाऽऽपतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥३१॥

अपना खेद दूर करनेवाली मायामय वराह भगवान्‌की घुरघुराहटको सुनकर वे जनलोक, तपलोक और सत्यलोकनिवासी मुनिगण तीनों वेदोंके परम पवित्र मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥ भगवान्‌के स्वरूपका वेदोंमें विस्तारसे वर्णन किया गया है; अतः उन मुनीश्वरोंने जो स्तुति की, उसे वेदरूप मानकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और एक बार फिर गरजकर देवताओंके हितके लिये गजराजकी-सी लीला करते हुए जलमें घुस गये ॥ २६ ॥ पहले वे सूकररूप भगवान् पूँछ उठाकर बड़े वेगसे आकाशमें उछले और अपनी गर्दनके बालोंको फटकारकर खुरोंके आघातसे बादलोंको छितराने लगे। उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, दाढ़ें सफेद थीं और नेत्रोंसे तेज निकल रहा था, उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥२७॥ भगवान् स्वयं यज्ञपुरुष हैं, तथापि सूकररूप धारण करनेके कारण अपनी नाकसे सूँघ-सूँघकर पृथ्वीका पता लगा रहे थे। उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थीं। इस प्रकार यद्यपि वे बड़े क्रूर जान पड़ते थे, तथापि अपनी स्तुति करनेवाले मरीचि आदि मुनियोंकी ओर बड़ी सौम्य दृष्टिसे निहारते हुए उन्होंने जलमें प्रवेश किया ॥२८॥ जिस समय उनका वज्रमय पर्वतके समान कठोर कलेवर जलमें गिरा, तब उसके वेगसे मानो समुद्रका पेट फट गया और उसमें बादलोंकी गड़गड़ाहटके समान बड़ा भीषण शब्द हुआ। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो अपनी उत्ताल तरङ्गरूप भुजाओंको उठाकर वह बड़े आर्तस्वरसे 'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार पुकार रहा है ॥२९॥ तब भगवान् यज्ञमूर्ति अपने बाणके समान पैने खुरोंसे जलको चीरते हुए उस अपार जलराशिके उस पार पहुँचे। वहाँ रसातलमें उन्होंने समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको देखा, जिसे कल्पान्तमें शयन करनेके लिये उद्यत श्रीहरिने स्वयं अपने ही उदरमें लीन कर लिया था ॥ ३० ॥

फिर, वे जलमें डूबी हुई पृथ्वीको अपनी दाढ़ोंपर लेकर रसातलसे ऊपर आये। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। जलसे बाहर आते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे आक्रमण किया। इससे

१. प्रा० पा०—सितशृङ्ग। २. प्रा० पा०—र्मिकरै०। ३. प्रा० पा०—नृपते। ४. प्रा० पा०—विमग्नां। ५. प्रा० पा०—सन्नादसंदी०।

जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं

स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।

तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो

यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥३२॥

तमालनीलं सितदन्तकोट्या

क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।

प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-

र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥३३॥

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन

त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।

यद्रोमगर्तेषु[1] निलिल्युरध्वरा-

स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते[2] ॥३४॥

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां

दुर्दर्शनं[3] देव यदध्वरात्मकम् ।

छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-

स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥३५॥

स्रुक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयो-

रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।

प्राशित्रमास्ये[4] ग्रसने ग्रहास्तु ते

यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३६॥

दीक्षानुजन्मोपसदः[5] शिरोधरं

त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।

जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव[6] शीर्षकं क्रतोः

सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो[7] हि ते ॥३७॥

उनका क्रोध चक्रके समान तीक्ष्ण हो गया और उन्होंने उसे लीलासे ही इस प्रकार मार डाला, जैसे सिंह हाथीको मार डालता है। उस समय उसके रक्तसे थूथनी तथा कनपटी सन जानेके कारण वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो कोई गजराज लाल मिट्टीके टीलेमें टक्कर मारकर आया हो ॥ ३१-३२ ॥ तात ! जैसे गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण कर ले, उसी प्रकार अपने सफेद दाँतोंकी नोकपर पृथ्वीको धारण कर जलसे बाहर निकले हुए, तमालके समान नीलवर्ण वराह भगवान्‌को देखकर ब्रह्मा, मरीचि आदिको निश्चय हो गया कि ये भगवान् ही हैं। तब वे हाथ जोड़कर वेदवाक्योंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवान् अजित ! आपकी जय हो, जय हो। यज्ञपते ! आप अपने वेदत्रयीरूप विग्रहको फटकार रहे हैं; आपको नमस्कार है। आपके रोम-कूपोंमें सम्पूर्ण यज्ञ लीन हैं। आपने पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये ही यह सूकररूप धारण किया है, आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ देव ! दुराचारियोंको आपके इस शरीरका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह यज्ञरूप है। इसकी त्वचामें गायत्री आदि छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत तथा चारों चरणोंमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चारों ऋत्विजोंके कर्म हैं ॥ ३५ ॥ ईश ! आपकी थूथनी (मुखके अग्रभाग) में स्रुक् है, नासिकाछिद्रोंमें स्रुवा है, उदरमें इडा (यज्ञीय भक्षणपात्र) है, कानोंमें चमस है, मुखमें प्राशित्र (ब्रह्मभागपात्र) है और कण्ठछिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) हैं। भगवन् ! आपका जो चबाना है, वही अग्निहोत्र है ॥ ३६ ॥ बार-बार अवतार लेना यज्ञस्वरूप आपकी दीक्षणीय इष्टि है, गरदन उपसद (तीन इष्टियाँ) हैं; दोनों दाढ़ें प्रायणीय (दीक्षाके बादकी इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि) हैं; जिह्वा प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक कर्म) है, सिर सभ्य (होमरहित अग्नि) और आवसथ्य (औपासनाग्नि) हैं तथा प्राण चिति (इष्टकाचयन)

१. प्रा० पा०—मकूपेषु । २. प्राचीन प्रतिमें 'ते' नहीं है। ३. प्रा० पा०—न रोचते देव । ४. प्रा० पा०—प्रोशित्र० । ५. प्रा० पा०—भृजन्योप० । ६. प्रा० पा०—प्रवस्यास्तव । ७. प्रा० पा०—ऽवरं ते ।

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥३८॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥३९॥
दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥४०॥
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥४१॥
संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥४२॥
कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥४३॥
विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥४४॥

हैं ॥ ३७ ॥ देव ! आपका वीर्य सोम है; आसन (बैठना) प्रातःसवनादि तीन सवन हैं; सातों धातु अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामकी सात संस्थाएँ हैं तथा शरीरकी सन्धियाँ (जोड़) सम्पूर्ण सत्र हैं । इस प्रकार आप सम्पूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) और क्रतु (सोमसहित याग) रूप हैं । यज्ञानुष्ठानरूप इष्टियाँ आपके अङ्गोंको मिलाये रखनेवाली मांसपेशियाँ हैं ॥ ३८ ॥ समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, यज्ञ और कर्म आपके ही स्वरूप हैं; आपको नमस्कार है । वैराग्य, भक्ति और मनकी एकाग्रतासे जिस ज्ञानका अनुभव होता है, वह आपका स्वरूप ही है तथा आप ही सबके विद्यागुरु हैं; आपको पुनः-पुनः प्रणाम है ॥ ३९ ॥ पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवन् ! आपकी दाढ़ोंकी नोकपर रक्खी हुई यह पर्वतादि-मण्डित पृथ्वी ऐसी सुशोभित हो रही है, जैसे वनमेंसे निकलकर बाहर आये हुए किसी गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी रक्खी हो ॥ ४० ॥ आपके दाँतोंपर रक्खे हुए भूमण्डलके सहित आपका यह वेदमय वराहविग्रह ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसे शिखरोंपर छायी हुई मेघमालासे कुलपर्वतकी शोभा होती है ॥ ४१ ॥ नाथ ! चराचर जीवोंके सुखपूर्वक रहनेके लिये आप अपनी पत्नी इन जगन्माता पृथ्वीको जलपर स्थापित कीजिये । आप जगत्‌के पिता हैं और अरणिमें अग्निस्थापनके समान आपने इसमें धारणशक्तिरूप अपना तेज स्थापित किया है । हम आपको और इस पृथ्वीमाताको प्रणाम करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रभो ! रसातलमें डूबी हुई इस पृथ्वीको निकालनेका साहस आपके सिवा और कौन कर सकता था । किंतु आप तो सम्पूर्ण आश्चर्योंके आश्रय हैं, आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आपने ही तो अपनी मायासे इस अत्याश्चर्यमय विश्वकी रचना की है ॥ ४३ ॥ जब आप अपने वेदमय विग्रहको हिलाते हैं, तब हमारे ऊपर आपकी गरदनके बालोंसे झरती हुई शीतल जलकी बूँदें गिरती हैं । ईश ! उनसे भीगकर हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनिजन सर्वथा पवित्र हो जाते

१. प्रा० पा०—सोमश्च । २. प्रा० पा०—ग्निरिवा० ।

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥४५॥

हैं ॥४४॥ जो पुरुष आपके कर्मोंका पार पाना चाहता है, अवश्य ही उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है; क्योंकि आपके कर्मोंका कोई पार ही नहीं है। आपकी ही योगमायाके सत्त्वादि गुणोंसे यह सारा जगत् मोहित हो रहा है । भगवन् ! आप इसका कल्याण कीजिये ॥४५॥

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम् ॥४६॥
स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥४७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! उन ब्रह्मवादी मुनियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर सबकी रक्षा करनेवाले वराह भगवान्‌ने अपने खुरोंसे जलको स्तम्भित कर उसपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया ॥ ४६ ॥ इस प्रकार रसातलसे लीलापूर्वक लायी हुई पृथ्वीको जलपर रखकर वे विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये ॥ ४७ ॥

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ॥४८॥
तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥४९॥
को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥५०॥

विदुरजी ! भगवान्‌के लीलामय चरित्र अत्यन्त कीर्तनीय हैं और उनमें लगी हुई बुद्धि सब प्रकारके पाप-तापोंको दूर कर देती है । जो पुरुष उनकी इस मङ्गलमयी मञ्जुल कथाको भक्तिभावसे सुनता या सुनाता है, उसके प्रति भक्तवत्सल भगवान् अन्तस्तलसे बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं ॥४८॥ भगवान् तो सभी कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं, उनके प्रसन्न होनेपर संसारमें क्या दुर्लभ है । किंतु उन तुच्छ कामनाओंकी आवश्यकता ही क्या है ? जो लोग उनका अनन्यभावसे भजन करते हैं; उन्हें तो वे अन्तर्यामी परमात्मा स्वयं अपना परम पद ही दे देते हैं ॥४९॥ अरे ! संसारमें पशुओंको छोड़कर अपने पुरुषार्थका सार जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमनसे छुड़ा देनेवाली भगवान्‌की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी अमृतमयी कथाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उनकी ओरसे मन हटा लेगा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे वराह-
प्रादुर्भावानुवर्णने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

दितिका गर्भधारण

श्रीशुक उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! प्रयोजनवश सूकर बने श्रीहरिकी कथाको मैत्रेयजीके मुखसे सुनकर

१. प्रा० पा०—र्दनस्तस्य हृदि । २. प्राचीन प्रतिमें 'वराहप्रादुर्भावानुवर्णने' इतना अंश नहीं है ।

पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥ १ ॥

भी भक्तिव्रतधारी विदुरजीकी पूर्ण तृप्ति न हुई; अतः उन्होंने हाथ जोड़कर फिर पूछा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना ।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ॥ २ ॥
तस्य चोद्धरतः क्षौणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! हमने यह बात आपके मुखसे अभी सुनी है कि आदिदैत्य हिरण्याक्षको भगवान् यज्ञमूर्तिने ही मारा था ॥ २ ॥ ब्रह्मन् ! जिस समय भगवान् लीलासे ही अपनी दाढ़ोंपर रखकर पृथ्वीको जल-मेंसे निकाल रहे थे, उस समय उनसे दैत्यराज हिरण्याक्ष-की मुठभेड़ किस कारण हुई ? ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥ ४ ॥
ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥ ५ ॥
अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥ ६ ॥
दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥ ७ ॥
इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है; क्योंकि तुम श्रीहरिकी अवतारकथाके विषयमें ही पूछ रहे हो, जो मनुष्योंके मृत्युपाशका छेदन करनेवाली है ॥ ४ ॥ देखो, उत्तानपादका पुत्र ध्रुव बालकपनमें श्रीनारदजीकी सुनायी हुई हरिकथाके प्रभाव-से ही मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्‌के परमपदपर आरूढ़ हो गया था ॥ ५ ॥ पूर्वकालमें एक बार इसी वाराह भगवान् और हिरण्याक्षके युद्धके विषयमें देवताओंके प्रश्न करनेपर देवदेव श्रीब्रह्माजीने उन्हें यह इतिहास सुनाया था और उसीके परम्परासे मैंने सुना है ॥६॥ विदुरजी ! एक बार दक्षकी पुत्री दितिने पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे कामातुर होकर सायंकालके समय ही अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपजीसे प्रार्थना की ॥७॥ उस समय कश्यपजी खीरकी आहुतियों-द्वारा अग्निजिह्व भगवान् यज्ञपतिकी आराधनाकर सूर्यास्तका समय जान अग्निशालामें ध्यानस्थ होकर बैठे थे ॥ ८ ॥

दितिरुवाच[1]

एष मां त्वत्कृते विद्वन्[2] काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ ९ ॥
तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥१०॥
भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥११॥
पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः ।

दितिने कहा—विद्वन् ! मतवाला हाथी जैसे केले-के वृक्षको मसल डालता है, उसी प्रकार यह प्रसिद्ध धनुर्धर कामदेव मुझ अबलापर जोर जताकर आपके लिये मुझे बेचैन कर रहा है ॥ ९ ॥ अपनी पुत्रवती सौतोंकी सुख-समृद्धिको देखकर मैं ईर्ष्याकी आगसे जली जाती हूँ । अतः आप मुझपर कृपा कीजिये, आपका कल्याण हो ॥ १० ॥ जिनके गर्भसे आप-जैसा पति पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, वे ही स्त्रियाँ अपने पतियोंसे सम्मानिता समझी जाती हैं । उनका सुयश संसारमें सर्वत्र फैल जाता है ॥ ११ ॥ हमारे पिता प्रजापति दक्षका अपनी पुत्रियोंपर बड़ा स्नेह था । एक बार उन्होंने हम सबको

१. प्राचीन प्रतिमें 'दितिरुवाच' यह अंश मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है । २. प्रा० पा०—ब्रह्मन् ।

कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥१२॥
स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥१३॥
अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्जविलोचन ।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि ॥१४॥
इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥१५॥
एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥१६॥
सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥१७॥
यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥१८॥
यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥१९॥
न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः ॥२०॥
अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम् ।
यथा मां नातिवोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥२१॥
एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।

अलग-अलग बुलाकर पूछा कि 'तुम किसे अपना पति बनाना चाहती हो ?' ॥ १२ ॥ वे अपनी संतानकी सब प्रकारकी चिन्ता रखते थे । अतः हमारा भाव जानकर उन्होंने उनमेंसे हम तेरह पुत्रियोंको, जो आपके गुण-स्वभावके अनुरूप थीं, आपके साथ ब्याह दिया ॥१३॥ अतः मङ्गलमूर्ते ! कमलनयन ! आप मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये; क्योंकि हे महत्तम ! आप-जैसे महापुरुषोंके पास दीनजनोंका आना निष्फल नहीं होता ॥ १४ ॥

विदुरजी ! दिति कामदेवके वेगसे अत्यन्त बेचैन और बेबस हो रही थी । उसने इसी प्रकार बहुत-सी बातें बनाते हुए दीन होकर कश्यपजीसे प्रार्थना की, तब उन्होंने उसे सुमधुर वाणीसे समझाते हुए कहा ॥१५॥ 'भीरु ! तुम्हारी इच्छाके अनुसार मैं अभी-अभी तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा । भला, जिसके द्वारा अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी सिद्धि होती है, अपनी ऐसी पत्नीकी कामना कौन पूर्ण नहीं करेगा ॥ १६ ॥ जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर मनुष्य महासागरको पार कर लेता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी दूसरे आश्रमोंको आश्रय देता हुआ अपने आश्रमद्वारा स्वयं भी दुःखसमुद्रके पार हो जाता है ॥ १७ ॥ मानिनि ! स्त्रीको तो त्रिविध पुरुषार्थकी कामनावाले पुरुषका आधा अङ्ग कहा गया है । उसपर अपनी **गृहस्थीका भार** डालकर पुरुष निश्चिन्त होकर विचरता है ॥ १८ ॥ इन्द्रियरूप शत्रु अन्य आश्रमवालोंके लिये अत्यन्त दुर्जय हैं; किंतु जिस प्रकार किलेका स्वामी सुगमतासे ही लुटनेवाले शत्रुओंको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार हम अपनी विवाहिता पत्नीका आश्रय लेकर इन इन्द्रियरूप शत्रुओंको सहजमें ही जीत लेते हैं ॥ १९ ॥ गृहेश्वरि ! तुम-जैसी भार्याके उपकारोंका बदला तो हम अथवा और कोई भी गुणग्राही पुरुष अपनी सारी उम्रमें अथवा जन्मान्तरमें भी पूर्णरूपसे नहीं चुका सकते ॥२०॥ तो भी तुम्हारी इस संतान-प्राप्तिकी इच्छाको मैं यथाशक्ति अवश्य पूर्ण करूँगा । परंतु अभी तुम एक मुहूर्त्त ठहरो, जिससे लोग मेरी निन्दा न करें ॥२१॥ यह अत्यन्त घोर समय राक्षसादि घोर जीवोंका

१. प्रा० पा०—कर्तुमर्हसि । २. प्रा० पा०—तस्यां । ३. प्रा० पा०—मध्यास्य । ४. प्रा० पा०—च । ५. प्रा० पा०—कामगृध्नवः । ६. प्रा० पा०—मेतच्चे प्रजायै । ७. प्रा० पा०—यथा मानिनि बोधन्ति मुहु० ।

चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥२२॥
एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः ।
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥२३॥
श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥२४॥
न यस्य[1] लोके स्वजनः परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥२५॥
यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ॥२६॥
हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥२७॥
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२८॥

मैत्रेय[2] उवाच

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्[3]वृषलीव गतत्रपा ॥२९॥
स विदित्वार्थं[4] भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह ॥३०॥

है और देखनेमें भी बड़ा भयानक है। इसमें भगवान् भूतनाथके गण भूत-प्रेतादि घूमा करते हैं ॥ २२ ॥ साध्वि ! इस सन्ध्याकालमें भूतभावन भूतपति भगवान् शंकर अपने गण भूत-प्रेतादिको साथ लिये बैलपर चढ़कर विचरा करते हैं ॥२३॥ जिनका जटाजूट श्मशान-भूमिसे उठे हुए बवंडरकी धूलिसे धूसरित होकर देदीप्यमान हो रहा है तथा जिनके सुवर्ण-कान्तिमय गौर शरीरमें भस्म लगी हुई है, वे तुम्हारे देवर (श्वशुर) महादेवजी अपने सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूप तीन नेत्रोंसे सभीको देखते रहते हैं ॥ २४ ॥ संसारमें उनका कोई अपना या पराया नहीं है। न कोई अधिक आदरणीय और न निन्दनीय ही है। हमलोग तो अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन करके उनकी मायाको ही ग्रहण करना चाहते हैं, जिसे उन्होंने भोगकर लात मार दी है ॥ २५ ॥ विवेकी पुरुष अविद्याके आवरणको हटानेकी इच्छासे उनके निर्मल चरित्रका गान किया करते हैं; उनसे बढ़कर तो क्या, उनके समान भी कोई नहीं है और उनतक केवल सत्पुरुषोंकी ही पहुँच है। यह सब होनेपर भी वे स्वयं पिशाचोंका-सा आचरण करते हैं ॥ २६ ॥ यह नर-शरीर कुत्तोंका भोजन है; जो अविवेकी पुरुष आत्मा मानकर वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे इसीको सजाते-सँवारते रहते हैं—वे अभागे ही आत्माराम भगवान् शंकरके आचरणको हँसते हैं ॥२७॥ हमलोग तो क्या, ब्रह्मादि लोकपाल भी उन्हींकी बाँधी हुई धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं; वे ही इस विश्वके अधिष्ठान हैं तथा यह माया भी उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाली है। ऐसे होकर भी वे प्रेतोंका सा आचरण करते हैं। अहो ! उन जगद्व्यापक प्रभुकी यह अद्भुत लीला कुछ समझमें नहीं आती' ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—पतिके इस प्रकार समझानेपर भी कामातुरा दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपजीका वस्त्र पकड़ लिया ॥ २९ ॥ तब कश्यपजीने उस निन्दित कर्ममें अपनी भार्याका बहुत आग्रह देख दैवको नमस्कार किया और एकान्तमें उसके

१. प्रा० पा०—तस्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—विप्रर्षे० । ४. प्रा० पा०—विदित्वा स्वभार्या० ।

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥३१॥
दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥३२॥

दितिरुवाच[1]

मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभो वधीत् ।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥३३॥
नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥३४॥
स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः॥३५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥३६॥

कश्यप उवाच

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात्[2] ॥३७॥
भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ ।
लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥३८॥
प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥३९॥
तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः[3] ।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक् ॥४०॥

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्विभो[4] ॥४१॥

साथ समागम किया ॥ ३० ॥ फिर जलमें स्नानकर प्राण और वाणीका संयम करके विशुद्ध ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्मका ध्यान करते हुए उसीका जप करने लगे ॥३१॥ विदुरजी ! दितिको भी उस निन्दित कर्मके कारण बड़ी लज्जा आयी और वह ब्रह्मर्षिके पास जा, सिर नीचा करके इस प्रकार कहने लगी ॥ ३२ ॥

दिति बोलीं—ब्रह्मन् ! भगवान् रुद्र भूतोंके स्वामी हैं, मैंने उनका अपराध किया है; किंतु वे भूतश्रेष्ठ मेरे इस गर्भको नष्ट न करें ॥ ३३ ॥ मैं भक्तवाञ्छाकल्पतरु, उग्र एवं रुद्ररूप महादेवको नमस्कार करती हूँ । वे सत्पुरुषोंके लिये कल्याणकारी एवं दण्ड देनेके भावसे रहित हैं, किंतु दुष्टोंके लिये क्रोधमूर्ति दण्डपाणि हैं ॥ ३४ ॥ हम स्त्रियोंपर तो व्याध भी दया करते हैं, फिर वे सतीपति तो मेरे बहनोई और परम कृपालु हैं; अतः वे मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! प्रजापति कश्यपने सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दनादि कर्मसे निवृत्त होनेपर देखा कि दिति थर-थर काँपती हुई अपनी संतानकी लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके लिये प्रार्थना कर रही है । तब उन्होंने उससे कहा ॥ ३६ ॥

कश्यपजीने कहा—तुम्हारा चित्त कामवासनासे मलिन था, वह समय भी ठीक नहीं था और तुमने मेरी बात भी नहीं मानी तथा देवताओंकी भी अवहेलना की ॥ ३७ ॥ अमङ्गलमयी चण्डी ! तुम्हारी कोखसे दो बड़े ही अमङ्गलमय और अधम पुत्र उत्पन्न होंगे । वे बार-बार सम्पूर्ण लोक और लोकपालोंको अपने अत्याचारोंसे रुलायेंगे ॥ ३८ ॥ जब उनके हाथसे बहुत-से निरपराध और दीन प्राणी मारे जाने लगेंगे, स्त्रियोंपर अत्याचार होने लगेंगे और महात्माओंको क्षुब्ध किया जाने लगेगा, उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले श्रीजगदीश्वर कुपित होकर अवतार लेंगे और इन्द्र जैसे पर्वतोंका दमन करता है, उसी प्रकार उनका वध करेंगे ॥ ३९-४० ॥

दितिने कहा—प्रभो ! यही मैं भी चाहती हूँ कि यदि मेरे पुत्रोंका वध हो तो वह साक्षात् भगवान् चक्रपाणिके हाथसे ही हो, कुपित ब्राह्मणोंके शापादिसे

१. प्राचीन प्रतिमें 'दितिरुवाच' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—चैव हेल० । ३. प्रा० पा०—भावितः । ४. प्रा० पा०—णात्प्रभो ।

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥४२॥

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात्।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि[1] चादरात् ॥४३॥
पुत्रस्यैव तु[2] पुत्राणां भवितैकः सतां मतः।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥४४॥
योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥४५॥
यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्।
स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥४६॥
स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥४७॥
अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता[3]
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥४८॥
अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥४९॥

न हो ॥ ४१ ॥ जो जीव ब्राह्मणोंके शापसे दग्ध अथवा प्राणियोंको भय देनेवाला होता है, वह किसी भी योनिमें जाय—उसपर नारकी जीव भी दया नहीं करते ॥ ४२ ॥

कश्यपजीने कहा—देवि ! तुमने अपने कियेपर शोक और पश्चात्ताप प्रकट किया है, तुम्हें शीघ्र ही उचित-अनुचितका विचार भी हो गया तथा भगवान् विष्णु, शिव और मेरे प्रति भी तुम्हारा बहुत आदर जान पड़ता है; इसलिये तुम्हारे एक पुत्रके चार पुत्रोंमेंसे एक ऐसा होगा, जिसका सत्पुरुष भी मान करेंगे और जिसके पवित्र यशको भक्तजन भगवान्‌के गुणोंके साथ गायेंगे ॥ ४३-४४ ॥ जिस प्रकार खोटे सोनेको बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार साधुजन उसके स्वभावका अनुकरण करनेके लिये निर्वैरता आदि उपायोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे ॥ ४५ ॥ जिनकी कृपासे उन्हींका स्वरूपभूत यह जगत् आनन्दित होता है, वे स्वयंप्रकाश भगवान् भी उसकी अनन्य भक्तिसे संतुष्ट हो जायँगे ॥ ४६ ॥ दिति ! वह बालक बड़ा ही भगवद्भक्त, उदारहृदय, प्रभावशाली और महान् पुरुषोंका भी पूज्य होगा तथा प्रौढ़ भक्तिभावसे विशुद्ध और भावान्वित हुए अन्तःकरणमें श्रीभगवान्‌को स्थापित करके देहाभिमानको त्याग देगा ॥ ४७ ॥ वह विषयोंमें अनासक्त, शीलवान्, गुणोंका भंडार तथा दूसरोंकी समृद्धिमें सुख और दुःखमें दुःख माननेवाला होगा। उसका कोई शत्रु न होगा तथा चन्द्रमा जैसे ग्रीष्म ऋतुके तापको हर लेता है, वैसे ही वह संसारके शोकको शान्त करनेवाला होगा ॥ ४८ ॥ जो इस संसारके बाहर-भीतर सब ओर विराजमान हैं, अपने भक्तोंके इच्छानुसार समय-समयपर मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं और लक्ष्मीरूप लावण्यमूर्ति ललनाकी भी शोभा बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका मुखमण्डल झिलमिलाते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित है—उन परम पवित्र कमलनयन श्रीहरिका तुम्हारे पौत्रको प्रत्यक्ष दर्शन होगा ॥ ४९ ॥

१. प्रा० पा०—भवे चाप्यधिकादरात्। २. प्रा० पा०—च। ३. प्रा० पा०—शोकहन्ता।

मैत्रेय उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम्[1]।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः॥५०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! दितिने जब सुना कि मेरा पौत्र भगवान्‌का भक्त होगा, तब उसे बड़ा आनन्द हुआ तथा यह जानकर कि मेरे पुत्र साक्षात् श्रीहरिके हाथसे मारे जायँगे, उसे और भी अधिक उत्साह हुआ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दितिकश्यपसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

जय-विजयको सनकादिका शाप

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्॥१॥
लोके तेन हतालोके[2] लोकपाला हतौजसः।
न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्॥२॥

देवा[3] ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः॥३॥
देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे[4]।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित्॥४॥
नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये॥५॥
ये त्वानन्येन भावेन[5] भावयन्त्यात्मभावनम्।

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! दितिको अपने पुत्रोंसे देवताओंको कष्ट पहुँचनेकी आशङ्का थी, इसलिये उसने दूसरोंके तेजका नाश करनेवाले उस कश्यपजीके तेज (वीर्य) को सौ वर्षोंतक अपने उदरमें ही रक्खा॥१॥ उस गर्भस्थ तेजसे ही लोकोंमें सूर्यादिका प्रकाश क्षीण होने लगा तथा इन्द्रादि लोकपाल भी तेजोहीन हो गये। तब उन्होंने ब्रह्माजीके पास जाकर कहा कि सब दिशाओंमें अन्धकारके कारण बड़ी अव्यवस्था हो रही है॥२॥

देवताओंने कहा—भगवन्! काल आपकी ज्ञानशक्तिको कुण्ठित नहीं कर सकता, इसलिये आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आप इस अन्धकारके विषयमें भी जानते ही होंगे, हम तो इससे बड़े ही भयभीत हो रहे हैं॥३॥ देवाधिदेव! आप जगत्‌के रचयिता और समस्त लोकपालोंके मुकुटमणि हैं। आप छोटे-बड़े सभी जीवोंका भाव जानते हैं॥४॥ देव! आप विज्ञानबलसम्पन्न हैं; आपने मायासे ही यह चतुर्मुख रूप और रजोगुण स्वीकार किया है; आपकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको कोई नहीं जान सकता। हम आपको नमस्कार करते हैं॥५॥ आपमें सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं, कार्य-कारणरूप सारा प्रपञ्च आपका शरीर है; किंतु वास्तवमें आप इससे परे हैं। जो

१. प्रा० पा०—पौत्रं मुमोद च दिति०। २. प्रा० पा०—कृतालोके। ३. प्राचीन प्रतिमें 'देवा ऊचुः' यह अंश नहीं है। ४. प्रा० पा०—शिरोमणे। ५. प्रा० पा०—ये त्वामनन्यभावेन।

आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥ ६ ॥
तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥ ७ ॥
यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय[1] ते नमः ॥ ८ ॥
स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा[2] लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥ ९ ॥
एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धते[3]ऽग्निरिवैधसि ॥१०॥

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान् शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा ॥११॥

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥१२॥
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥१३॥
वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ॥१४॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः ॥१५॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥१६॥

समस्त जीवोंके उत्पत्तिस्थान आपका अनन्य भावसे ध्यान करते हैं, उन सिद्ध योगियोंका किसी प्रकार भी ह्रास नहीं हो सकता; क्योंकि वे आपके कृपाकटाक्षसे कृतकृत्य हो जाते हैं तथा प्राण, इन्द्रिय और मनको जीत लेनेके कारण उनका योग भी परिपक्व हो जाता है ॥ ६-७ ॥ रस्सीसे बँधे हुए बैलोंकी भाँति आपकी वेदवाणीसे जकड़ी हुई सारी प्रजा आपकी अधीनतामें नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान करके आपको बलि समर्पण करती है। आप सबके नियन्ता मुख्यप्राण हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥८॥ भूमन्! इस अन्धकारके कारण दिन-रातका विभाग अस्पष्ट हो जानेसे लोकोंके सारे कर्म लुप्त होते जा रहे हैं, जिससे वे दुखी हो रहे हैं; उनका कल्याण कीजिये और हम शरणागतोंकी ओर अपनी अपार दयादृष्टिसे निहारिये ॥ ९ ॥ देव! आग जिस प्रकार ईंधनमें पड़कर बढ़ती रहती है, उसी प्रकार कश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ यह दितिका गर्भ सारी दिशाओंको अन्धकारमय करता हुआ क्रमशः बढ़ रहा है ॥ १० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् ब्रह्माजी हँसे और उन्हें अपनी मधुर वाणीसे आनन्दित करते हुए कहने लगे ॥११॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवताओ! तुम्हारे पूर्वज, मेरे मानसपुत्र सनकादि लोकोंकी आसक्ति त्यागकर समस्त लोकोंमें आकाशमार्गसे विचरा करते थे ॥१२॥ एक बार वे भगवान् विष्णुके शुद्ध-सत्त्वमय सब लोकोंके शिरोभागमें स्थित, वैकुण्ठधाममें जा पहुँचे ॥ १३ ॥ वहाँ सभी लोग विष्णुरूप होकर रहते हैं और वह प्राप्त भी उन्हींको होता है, जो अन्य सब प्रकारकी कामनाएँ छोड़कर केवल भगवच्चरण-शरणकी प्राप्तिके लिये ही अपने धर्मद्वारा उनकी आराधना करते हैं ॥ १४ ॥ वहाँ वेदान्तप्रतिपाद्य धर्ममूर्ति श्रीआदिनारायण हम अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये शुद्धसत्त्वमय स्वरूप धारण-कर हर समय विराजमान रहते हैं ॥ १५ ॥ उस लोकमें नैःश्रेयस नामका एक वन, जो मूर्तिमान् कैवल्य-सा ही जान पड़ता है। वह सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित है, जो स्वयं हर समय छहों ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न रहते हैं ॥१६॥

१. प्रा० पा०—मुख्यात्मने नमः। २. प्रा० पा०—भूमँल्लोकानां। ३. प्रा० पा०—एधते।

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां[1]
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः[2] ॥१७॥

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरि बर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥१८॥

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते[3] तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपःसुमनसो बहु मानयन्ति ॥१९॥

यत्संकुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
र्वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥२०॥

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥२१॥

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।

वहाँ विमानचारी गन्धर्वगण अपनी प्रियाओंके सहित अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गान करते रहते हैं, जो लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको भस्म कर देनेवाली हैं। उस समय सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दपूर्ण वासन्तिक माधवी लताकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर खींचना चाहती है; परंतु वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते वरं उस गन्धको उड़ाकर लानेवाले वायुको ही बुरा-भला कहते हैं ॥१७॥ जिस समय भ्रमरराज ऊँचे स्वरसे गुंजार करते हुए मानो हरिकथाका गान करते हैं, उस समय थोड़ी देरके लिये कबूतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर और मोरोंका कोलाहल बंद हो जाता है—मानो वे भी उस कीर्तनानन्दमें बेसुध हो जाते हैं ॥ १८ ॥ श्रीहरि तुलसीसे अपने श्रीविग्रहको सजाते हैं और तुलसीकी गन्धका ही अधिक आदर करते हैं—यह देखकर वहाँके मन्दार, कुन्द, कुरबक (तिलकवृक्ष), उत्पल (रात्रिमें खिलनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेसर, बकुल (मौलसिरी), अम्बुज (दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि पुष्प सुगन्धयुक्त होनेपर भी तुलसीका ही तप अधिक मानते हैं ॥ १९ ॥ वह लोक वैदूर्य, मरकत-मणि (पन्ने) और सुवर्णके विमानोंसे भरा हुआ है। ये सब किसी कर्मफलसे नहीं, बल्कि एकमात्र श्रीहरिके पादपद्मोंकी वन्दना करनेसे ही प्राप्त होते हैं। उन विमानोंपर चढ़े हुए कृष्णप्राण भगवद्भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुमुखी सुन्दरियाँ भी अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास-परिहाससे कामविकार नहीं उत्पन्न कर सकतीं ॥ २० ॥

परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये देवगण भी यत्नशील रहते हैं, श्रीहरिके भवनमें चञ्चलतारूप दोषको त्याग कर रहती हैं। जिस समय अपने चरण-कमलोंके नूपुरोंकी झनकार करती हुई वे अपना लीलाकमल घुमाती हैं, उस समय उस कनकभवन-की स्फटिकमय दीवारोंमें उनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है, मानो वे उन्हें बुहार रही हों ॥२१॥ प्यारे देवताओ ! जिस समय दासियोंको साथ लिये वे अपने क्रीडावनमें तुलसीदलद्वारा भगवान्‌का पूजन करती हैं, तब वहाँके निर्मल जलसे भरे हुए सरोवरोंमें, जिनमें मूँगेके

[1] प्रा० पा०—जले तु विक०। [2] प्रा० पा०—क्षिपन्ति। [3] प्रा० पा०—गन्धेऽन्विते।

अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-

मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥२२॥

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-

च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।

यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-

स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥२३॥

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना

ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।

नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य

सम्मोहिता विततया बत मायया ते ॥२४॥

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या

दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।

भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-

वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२५॥

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं

दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।

आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-

मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥२६॥

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः

कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।

देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-

केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥२७॥

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ

विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।

घाट बने हुए हैं, अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखारविन्द देखकर 'यह भगवान्‌का चुम्बन किया हुआ है' यों जानकर उसे बड़ा सौभाग्यशाली समझती हैं ॥ २२ ॥ जो लोग भगवान्‌की पापापहारिणी लीलाकथाओंको छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली अर्थ-कामसम्बन्धिनी अन्य निन्दित कथाएँ सुनते हैं, वे उस वैकुण्ठलोकमें नहीं जा सकते। हाय ! जब वे अभागे लोग इन सारहीन बातोंको सुनते हैं, तब ये उनके पुण्योंको नष्टकर उन्हें आश्रयहीन घोर नरकोंमें डाल देती हैं ॥ २३ ॥ अहा! इस मनुष्ययोनिकी बड़ी महिमा है, हम देवतालोग भी इसकी चाह करते हैं। इसीमें तत्त्वज्ञान और धर्मकी भी प्राप्ति हो सकती है। इसे पाकर भी जो लोग भगवान्‌की आराधना नहीं करते, वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हैं ॥ २४ ॥ देवाधिदेव श्रीहरिका निरन्तर चिन्तन करते रहनेके कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, आपसमें प्रभुके सुयशकी चर्चा चलनेपर अनुरागजन्य विह्वलतावश जिनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगती है तथा शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है और जिनके-से शील-स्वभावकी हमलोग भी इच्छा करते हैं—वे परमभागवत ही हमारे लोकोंसे ऊपर उस वैकुण्ठधाममें जाते हैं ॥ २५ ॥ जिस समय सनकादि मुनि विश्वगुरु श्रीहरिके निवासस्थान, सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय और श्रेष्ठ देवताओंके विचित्र विमानोंसे विभूषित उस परम दिव्य और अद्भुत वैकुण्ठधाममें अपने योगबलसे पहुँचे, तब उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ ॥ २६ ॥

भगवद्दर्शनकी लालसासे अन्य दर्शनीय सामग्रीकी उपेक्षा करते हुए वैकुण्ठधामकी छः ड्योढ़ियाँ पार करके जब वे सातवींपर पहुँचे, तब वहाँ उन्हें हाथमें गदा लिये दो समान आयुवाले देवश्रेष्ठ दिखलायी दिये—जो बाजूबंद, कुण्डल और किरीट आदि अनेकों अमूल्य आभूषणोंसे अलङ्कृत थे ॥ २७ ॥ उनकी चार श्यामल भुजाओंके बीचमें मतवाले मधुकरोंसे गुञ्जायमान वनमाला सुशोभित थी तथा बाँकी भौंहें, फड़कते हुए नासिकारन्ध्र और

१. प्रा० पा०—त्ववीर्या । २. प्रा० पा०—ऽभ्यर्चिता० । ३. प्रा० पा०—ननु । ४-५. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'विबुधाभ्य' शब्दके बाद ४ के चिह्नसे लेकर ५के चिह्नतक अर्थात् 'निवीतौ' शब्दके 'निवी' तकका सम्पूर्ण विषय लिखनेमें छूट गया है, अतः टिप्पणीमें लिखा गया है ।

वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥२८॥
द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या[2]
ये सञ्चरन्त्यविहिता विगताभिशङ्काः ॥२९॥
तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्
वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो[3] विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥३०॥
ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-
त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥३१॥

मुनय[4] ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां
को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥३२॥
न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥३३॥

अरुण नयनोंके कारण उनके चेहरेपर कुछ क्षोभके-से चिह्न दिखायी दे रहे थे ॥ २८ ॥ उनके इस प्रकार देखते रहनेपर भी वे मुनिगण उनसे बिना कुछ पूछताछ किये, जैसे सुवर्ण और वज्रमय किवाड़ोंसे युक्त पहली छः ड्योढ़ी लाँघकर आये थे, उसी प्रकार उनके द्वारमें भी घुस गये । उनकी दृष्टि तो सर्वत्र समान थी और वे निःशङ्क होकर सर्वत्र बिना किसी रोक-टोकके विचरते थे ॥ २९ ॥ वे चारों कुमार पूर्ण तत्त्वज्ञ थे तथा ब्रह्माकी सृष्टिमें आयुमें सबसे बड़े होनेपर भी देखनेमें पाँच वर्षके बालकों-से जान पड़ते थे और दिगम्बर-वृत्तिसे (नंग-धड़ंग) रहते थे । उन्हें इस प्रकार निःसङ्कोचरूपसे भीतर जाते देख उन द्वारपालोंने भगवान्के शील-स्वभावके विपरी त सनकादिके तेजकी हँसी उड़ाते हुए उन्हें बेंत अड़ाकर रोक दिया, यद्यपि वे ऐसे दुर्व्यवहारके योग्य नहीं थे ॥ ३० ॥ जब उन द्वारपालोंने वैकुण्ठवासी देवताओंके सामने पूजाके सर्वश्रेष्ठ पात्र उन कुमारोंको इस प्रकार रोका, तब अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनोंमें विघ्न पड़नेके कारण उनके नेत्र सहसा कुछ-कुछ क्रोधसे लाल हो उठे और वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

मुनियोंने कहा—अरे द्वारपालो ! जो लोग भगवान्की महती सेवाके प्रभावसे इस लोकको प्राप्त होकर यहाँ निवास करते हैं, वे तो भगवान्के समान ही समदर्शी होते हैं । तुम दोनों भी उन्हींमेंसे हो, किंतु तुम्हारे स्वभावमें यह विषमता क्यों है ? भगवान् तो परम शान्तस्वभाव हैं, उनका किसीसे विरोध भी नहीं है; फिर यहाँ ऐसा कौन है, जिसपर शङ्का की जा सके ? तुम स्वयं कपटी हो, इसीसे अपने ही समान दूसरोंपर शङ्का करते हो ॥ ३२ ॥ भगवान्के उदरमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है; इसलिये यहाँ रहनेवाले ज्ञानीजन सर्वात्मा श्रीहरिसे अपना कोई भेद नहीं देखते, बल्कि महाकाशमें घटाकाशकी भाँति उनमें अपना अन्तर्भाव देखते हैं । तुम तो देव-रूपधारी हो; फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखायी देता है, जिससे तुमने भगवान्के साथ कुछ भेदभावके कारण होनेवाले भयकी कल्पना कर ली ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—सर्वेऽपि ते । २. प्रा० पा०—स्ववृत्त्या । ३. प्रा० पा०—सम्यग्विहस्य । ४. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' इतना अंश नहीं है । ५. प्रा० पा०—तद्धर्मणां ।

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥३४॥

तुम हो तो इन भगवान् वैकुण्ठनाथके पार्षद, किंतु तुम्हारी बुद्धि बहुत मंद है। अतएव तुम्हारा कल्याण करनेके लिये हम तुम्हारे अपराधके योग्य दण्डका विचार करते हैं। तुम अपनी भेदबुद्धिके दोषसे इस वैकुण्ठलोकसे निकलकर उन पापमय योनियोंमें जाओ, जहाँ काम, क्रोध, लोभ—प्राणियोंके ये तीन शत्रु निवास करते हैं ॥ ३४ ॥

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥३५॥

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥३६॥

सनकादिके ये कठोर वचन सुनकर और ब्राह्मणोंके शापको किसी भी प्रकारके शस्त्रसमूहसे निवारण होनेयोग्य न जानकर श्रीहरिके वे दोनों पार्षद अत्यन्त दीनभावसे उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर लोट गये। वे जानते थे कि उनके स्वामी श्रीहरि भी ब्राह्मणोंसे बहुत डरते हैं ॥ ३५ ॥ फिर उन्होंने अत्यन्त आतुर होकर कहा—'भगवन्! हम अवश्य अपराधी हैं; अतः आपने हमें जो दण्ड दिया है, वह उचित ही है और वह हमें मिलना ही चाहिये। हमने भगवान्का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। इससे हमें जो पाप लगा है, वह आपके दिये हुए दण्डसे सर्वथा धुल जायगा। किंतु हमारी इस दुर्दशाका विचार करके यदि करुणावश आपको थोड़ा-सा भी अनुताप हो, तो ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे उन अधमाधम योनियोंमें जानेपर भी हमें भगवत्स्मृतिको नष्ट करनेवाला मोह न प्राप्त हो ॥ ३६ ॥

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः[1] ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥३७॥

इधर जब साधुजनोंके हृदयधन भगवान् कमलनाभको मालूम हुआ कि मेरे द्वारपालोंने सनकादि साधुओंका अनादर किया है, तब वे लक्ष्मीजीके सहित अपने उन्हीं श्रीचरणसे चलकर ही, वहाँ पहुँचे, जिन्हें परमहंस मुनिजन भी ढूँढ़ते रहते हैं—सहजमें पाते नहीं, ॥ ३७ ॥

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं[2] स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥३८॥

सनकादिने देखा कि उनकी समाधिके विषय श्रीवैकुण्ठनाथ स्वयं उनके नेत्रगोचर होकर पधारे हैं, उनके साथ-साथ पार्षदगण छत्र-चामरादि लिये चल रहे हैं तथा प्रभुके दोनों ओर राजहंसके पंखोंके समान दो श्वेत चँवर डुलाये जा रहे हैं। उनकी शीतल वायुसे उनके श्वेत छत्रमें लगी हुई मोतियोंकी झालर हिलती हुई ऐसी शोभा दे रही है मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतकी बूँदें झर रही हों ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—तमभिक्रम० । २. प्रा० पा०—प्रतिहृतौ० ।

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥३९॥
पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥४०॥
विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥४१॥
अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥४२॥
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥४३॥
ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥४४॥

प्रभु समस्त सद्गुणोंके आश्रय हैं, उनकी सौम्य मुखमुद्राको देखकर जान पड़ता था, मानो वे समीपर अनवरत कृपासुधाकी वर्षा कर रहे हैं। अपनी स्नेहमयी चितवनसे वे भक्तोंका हृदय स्पर्श कर रहे थे तथा उनके सुविशाल श्याम वक्षःस्थलपर स्वर्गरेखाके रूपमें जो साक्षात् लक्ष्मी विराजमान थीं, उनसे मानो वे समस्त दिव्यलोकोंके चूडामणि वैकुण्ठधामको सुशोभित कर रहे थे ॥ ३९ ॥ उनके पीताम्बरमण्डित विशाल नितम्बोंपर झिलमिलाती हुई करधनी और गलेमें भ्रमरोंसे मुखरित वनमाला विराज रही थी; तथा वे कलाइयोंमें सुन्दर कंगन पहने अपना एक हाथ गरुड़जीके कंधेपर रख दूसरेसे कमलका पुष्प घुमा रहे थे ॥४०॥ उनके अमोल कपोल बिजलीकी प्रभाको भी लजानेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी शोभा बढ़ा रहे थे, उभरी हुई सुघड़ नासिका थी, बड़ा ही सुन्दर मुख था, सिरपर मणिमय मुकुट विराजमान था तथा चारों भुजाओंके बीच महामूल्यवान् मनोहर हारकी और गलेमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व शोभा थी ॥ ४१ ॥ भगवान्का श्रीविग्रह बड़ा ही सौन्दर्यशाली था । उसे देखकर भक्तोंके मनमें ऐसा वितर्क होता था कि इसके सामने लक्ष्मीजीका सौन्दर्याभिमान भी गलित हो गया है। ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ ! इस प्रकार मेरे, महादेवजीके और तुम्हारे लिये परम सुन्दर विग्रह धारण करनेवाले श्रीहरिको देखकर सनकादि मुनीश्वरोंने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय उनकी अद्भुत छबिको निहारते-निहारते उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे ॥ ४२ ॥

सनकादि मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहा करते थे। किंतु जिस समय भगवान् कमलनयनके चरणारविन्दमकरन्दसे मिली हुई तुलसीमञ्जरीके गन्धसे सुवासित वायुने नासिकारन्ध्रोंके द्वारा उनके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीरको सँभाल न सके और उस दिव्य गन्धने उनके मनमें भी खलबली पैदा कर दी ॥ ४३ ॥ भगवान्का मुख नील कमलके समान था, अति सुन्दर अधर और कुन्दकलीके समान मनोहर हाससे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। उसकी झाँकी करके वे कृतकृत्य हो गये और फिर पद्मरागके समान लाल-लाल नखोंसे सुशोभित उनके चरणकमल देखकर वे उन्हींका

१. प्रा० पा०— च चूडा०। २. प्रा० पा०—मण्डलार्ह०।

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः ॥४५॥

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं[1]
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥४६॥

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-[2]
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥४७॥

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
ये[3]ऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥४८॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥४९॥

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।

ध्यान करने लगे ॥ ४४ ॥ इसके पश्चात् वे मुनिगण अन्य साधनोंसे सिद्ध न होनेवाली, स्वाभाविक अष्ट-सिद्धियोंसे सम्पन्न श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—जो योगमार्गद्वारा मोक्षपदकी खोज करनेवाले पुरुषोंके लिये उनके ध्यानका विषय अत्यन्त आदरणीय और नयनानन्दकी वृद्धि करनेवाला पुरुषरूप प्रकट करते हैं ॥४५॥

सनकादि मुनियोंने कहा—अनन्त ! यद्यपि आप अन्तर्यामीरूपसे दुष्टचित्त पुरुषोंके हृदयमें भी स्थित रहते हैं तथापि उनकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं। किंतु आज हमारे नेत्रोंके सामने तो आप साक्षात् विराजमान हैं । प्रभो ! जिस समय आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता ब्रह्माजीने आपका रहस्य वर्णन किया था, उसी समय श्रवणरन्ध्रोंद्वारा हमारी बुद्धिमें तो आप आ विराजे थे; किंतु प्रत्यक्ष दर्शनका महान् सौभाग्य तो हमें आज ही प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥ भगवन् ! हम आपको साक्षात् परमात्मतत्त्व ही जानते हैं । इस समय आप अपने विशुद्ध सत्त्वमय विग्रहसे अपने इन भक्तोंको आनन्दित कर रहे हैं । आपकी इस सगुण साकार मूर्तिको राग और अहङ्कारसे युक्त मुनिजन आपकी कृपा-दृष्टिसे प्राप्त हुए सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा अपने हृदयमें उपलब्ध करते हैं ॥ ४७ ॥ प्रभो ! आपका सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला है । आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले जो महाभाग आपकी कथाओंके रसिक हैं, वे आपके आत्यन्तिक प्रसाद मोक्षपदको भी कुछ अधिक नहीं गिनते; फिर जिन्हें आपकी जरा-सी टेढ़ी भौंह ही भयभीत कर देती है, उन इन्द्रपद आदि अन्य भोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ ४८ ॥ भगवन् ! यदि हमारा चित्त भौंरेकी तरह आपके चरणकमलोंमें ही रमण करता रहे, हमारी वाणी तुलसीके समान आपके चरण-सम्बन्धसे ही सुशोभित हो और हमारे कान आपकी सुयश-सुधासे परिपूर्ण रहें तो अपने पापोंके कारण भले ही हमारा जन्म नरकादि योनियोंमें हो जाय—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है ॥ ४९ ॥ विपुलकीर्ति प्रभो ! आपने हमारे सामने जो यह मनोहर रूप प्रकट किया है, उससे हमारे नेत्रोंको बड़ा ही सुख मिला है; विषयासक्त अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इसका

१. प्रा० पा०—त्वमद्यैव । २. प्रा० पा०—भक्तियुक्तै० । ३. प्रा० पा०—ये वा ।

तस्मा[1] इदं भगवते नम इद्विधेम

योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः ॥५०॥

दृष्टिगोचर होना अत्यन्त कठिन है। आप साक्षात् भगवान् हैं और इस प्रकार स्पष्टतया हमारे नेत्रोंके सामने प्रकट हुए हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे जय[2]विजययोः सनकादिशापो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

जय-विजयका वैकुण्ठसे पतन

ब्रह्मोवाच

इति तद् गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥ २ ॥

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः[4] ।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३ ॥

तद्वः[3] प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४ ॥

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५ ॥

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदा श्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवगण! जब योगनिष्ठ सनकादि मुनियोंने इस प्रकार स्तुति की तब वैकुण्ठनिवास श्रीहरिने उनकी प्रशंसा करते हुए यह कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुनिगण! ये जय-विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होंने मेरी कुछ भी परवा न करके आपका बहुत बड़ा अपराध किया है ॥ २ ॥ आपलोग भी मेरे अनुगत भक्त हैं; अतः इस प्रकार मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, वह मुझे भी अभिमत है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं; मेरे अनुचरोंके द्वारा आपलोगोंका जो तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपना ही किया हुआ मानता हूँ। इसलिये मैं आपलोगोंसे प्रसन्नताकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ ४ ॥ सेवकोंके अपराध करनेपर संसार उनके स्वामीका ही नाम लेता है। वह अपयश उसकी कीर्तिको इस प्रकार दूषित कर देता है, जैसे त्वचाको चर्मरोग ॥ ५ ॥ मेरी निर्मल सुयश-सुधामें गोता लगानेसे चाण्डालपर्यन्त सारा जगत् तुरंत पवित्र हो जाता है, इसीलिये मैं 'विकुण्ठ' कहलाता हूँ। किंतु यह पवित्र कीर्ति मुझे आपलोगोंसे ही प्राप्त हुई है। इसलिये जो कोई आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरी भुजा ही क्यों न हो—मैं उसे तुरंत काट डालूँगा ॥ ६ ॥ आपलोगोंकी सेवा करनेसे ही मेरी चरण-रजको ऐसी पवित्रता प्राप्त हुई है कि वह सारे पापोंको तत्काल नष्ट कर देती है और मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव मिला है कि

१. प्रा० पा०—तस्मादिदं। २. प्राचीन प्रतिमें 'जयविजययोः सनकादिशापो नाम' इतना अंश नहीं है। ३. प्रा० पा०—तद्भवतां। ४. प्रा० पा०— मय्यनुव्रतैः।

न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति ॥ ७ ॥
नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८ ॥
येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९ ॥
ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥१०॥
ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयाऽऽत्मजवद् गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः ॥११॥
तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥१२॥
ब्रह्मोवाच
अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।

मेरे उदासीन रहनेपर भी लक्ष्मीजी मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़तीं—यद्यपि इन्हींके लेशमात्र कृपा-कटाक्षके लिये अन्य ब्रह्मादि देवता नाना प्रकारके नियमों एवं व्रतोंका पालन करते हैं ॥ ७ ॥ जो अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पणकर सदा संतुष्ट रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण ग्रास-ग्रासपर तृप्त होते हुए घीसे तर तरह-तरहके पकवानोंका जब भोजन करते हैं, तब उनके मुखसे मैं जैसा तृप्त होता हूँ, वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुख-से यजमानकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण करके नहीं होता ॥ ८ ॥ योगमायाका अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है तथा मेरी चरणोदकरूपिणी गङ्गाजी चन्द्रमाको मस्तकपर धारण करनेवाले भगवान् शंकरके सहित समस्त लोकोंको पवित्र करती हैं । ऐसा परम पवित्र एवं परमेश्वर होकर भी मैं जिनकी पवित्र चरण-रजको अपने मुकुटपर धारण करता हूँ, उन ब्राह्मणोंके कर्मको कौन नहीं सहन करेगा ॥ ९ ॥ ब्राह्मण, दूध देनेवाली गौएँ और अनाथ प्राणी—ये मेरे ही शरीर हैं । पापोंके द्वारा विवेकदृष्टि नष्ट हो जानेके कारण जो लोग इन्हें मुझसे भिन्न समझते हैं, उन्हें मेरे द्वारा नियुक्त यमराजके गृध्र-जैसे दूत—जो सर्पके समान क्रोधी हैं—अत्यन्त क्रोधित होकर अपनी चोंचोंसे नोचते हैं ॥ १० ॥ ब्राह्मण तिरस्कारपूर्वक कटुभाषण भी करे, तो भी जो उसमें मेरी भावना करके प्रसन्नचित्तसे तथा अमृतभरी मुसकानसे युक्त मुखकमलसे उसका आदर करते हैं तथा जैसे रूठे हुए पिताको पुत्र और आपलोगोंको मैं मनाता हूँ, उसी प्रकार जो प्रेमपूर्ण वचनोंसे प्रार्थना करते हुए उन्हें शान्त करते हैं, वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ११ ॥ मेरे इन सेवकोंने मेरा अभिप्राय न समझकर ही आप-लोगोंका अपमान किया है । इसलिये मेरे अनुरोधसे आप केवल इतनी कृपा कीजिये कि इनका यह निर्वासनकाल शीघ्र ही समाप्त हो जाय, ये अपने अपराधके अनुरूप अधम गतिको भोगकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आयें ॥ १२ ॥

ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ ! सनकादि मुनि क्रोधरूप सर्पसे डसे हुए थे, तो भी उनका चित्त

१. प्राचीन प्रतिमें 'रजः' शब्दसे लेकर ११वें श्लोकके 'क्षिप०' शब्दतकका अंश लेखककी भूलसे मूलमें नहीं लिखा गया है; टिप्पणीमें है ।

नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥१३॥
सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥१४॥
ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः[1] ॥१५॥

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन् विद्मस्तव देव चिकीर्षितम्।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति[2] यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥१६॥
ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥१७॥
त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥१८॥
तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्।
योगिनः स भवान् किं स्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥१९॥
यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
र्रथार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥२०॥
यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां[3]
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।

अन्तःकरणको प्रकाशित करनेवाली भगवान्‌की मन्त्रमयी सुमधुर वाणी सुनते-सुनते तृप्त नहीं हुआ ॥ १३ ॥ भगवान्‌की उक्ति बड़ी ही मनोहर और थोड़े अक्षरोंवाली थी; किंतु वह इतनी अर्थपूर्ण, सारयुक्त, दुर्विज्ञेय और गम्भीर थी कि बहुत ध्यान देकर सुनने और विचार करनेपर भी वे यह न जान सके कि भगवान् क्या करना चाहते हैं ॥ १४ ॥ भगवान्‌की इस अद्भुत उदारताको देखकर वे बहुत आनन्दित हुए और उनका अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो गया। फिर योगमायाके प्रभावसे अपने परम ऐश्वर्यका प्रभाव प्रकट करनेवाले प्रभुसे वे हाथ जोड़कर कहने लगे ॥ १५ ॥

मुनियोंने कहा—स्वप्रकाश भगवन्! आप सर्वेश्वर होकर भी जो यह कह रहे हैं कि 'यह आपने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया' सो इससे आपका क्या अभिप्राय है—यह हम नहीं जान सके हैं ॥ १६ ॥ प्रभो! आप ब्राह्मणोंके परम हितकारी हैं; इससे लोक-शिक्षाके लिये आप भले ही ऐसा मानें कि ब्राह्मण मेरे आराध्यदेव हैं। वस्तुतः तो ब्राह्मण तथा देवताओंके भी देवता ब्रह्मादिके भी आप ही आत्मा और आराध्यदेव हैं ॥ १७ ॥ सनातन धर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आपके अवतारोंद्वारा ही समय-समयपर उसकी रक्षा होती है तथा निर्विकारस्वरूप आप ही धर्मके परम गुह्य रहस्य हैं—यह शास्त्रोंका मत है ॥ १८ ॥ आपकी कृपासे निवृत्ति-परायण योगीजन सहजमें ही मृत्युरूप संसार-सागरसे पार हो जाते हैं; फिर भला, दूसरा कोई आपपर क्या कृपा कर सकता है ॥ १९ ॥ भगवन्! दूसरे अर्थार्थी जन जिनकी चरण-रजको सर्वदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे लक्ष्मीजी निरन्तर आपकी सेवामें लगी रहती हैं, सो ऐसा जान पड़ता है कि भाग्यवान् भक्तजन आपके चरणोंपर जो नूतन तुलसीकी मालाएँ अर्पण करते हैं; उनपर गुंजार करते हुए भौंरोंके समान वे भी आपके पादपद्मोंको ही अपना निवासस्थान बनाना चाहती हैं ॥ २० ॥ किंतु अपने पवित्र चरित्रोंसे निरन्तर सेवामें तत्पर रहनेवाली उन लक्ष्मीजीका भी आप विशेष आदर नहीं करते, आप तो अपने भक्तोंसे ही विशेष प्रेम रखते हैं। आप स्वयं ही सम्पूर्ण भजनीय

१. प्रा० पा०—कुपितं वचः। २. प्रा० पा०—नुग्राहयते परम्। ३. प्रा० पा०—मानो।

स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः

श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥२१॥

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः

पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।

नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च

सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥२२॥

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं

गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।

तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था

लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥२३॥

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः

क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।

नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-

स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥२४॥

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते

वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।

अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो

येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥२५॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः

संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।

भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः

शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः ॥२६॥

गुणोंके आश्रय हैं; क्या जहाँ-तहाँ विचरते हुए ब्राह्मणों-के चरणोंमें लगनेसे पवित्र हुई मार्गकी धूलि और श्री-वत्सका चिह्न आपको पवित्र कर सकते हैं ? क्या इनसे आपकी शोभा बढ़ सकती है ? ॥ २१ ॥

भगवन् ! आप साक्षात् धर्मस्वरूप हैं । आप सत्यादि तीनों युगोंमें प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान रहते हैं तथा ब्राह्मण और देवताओंके लिये तप, शौच और दया—अपने इन तीन चरणोंसे इस चराचर जगत्की रक्षा करते हैं । अब आप अपनी शुद्धसत्त्वमयी वरदायिनी मूर्तिसे हमारे धर्मविरोधी रजोगुण-तमोगुणको दूर कर दीजिये ॥ २२ ॥ देव ! यह ब्राह्मणकुल आपके द्वारा अवश्य रक्षणीय है । यदि साक्षात् धर्मरूप होकर भी आप सुमधुर वाणी और पूजनादिके द्वारा इस उत्तम कुलकी रक्षा न करें तो आपका निश्चित किया हुआ कल्याणमार्ग ही नष्ट हो जाय; क्योंकि लोक तो श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणको ही प्रमाणरूपसे ग्रहण करता है ॥ २३ ॥ प्रभो ! आप सत्त्वगुणकी खान हैं और सभी जीवोंका कल्याण करनेके लिये उत्सुक हैं । इसीसे आप अपनी शक्तिरूप राजा आदिके द्वारा धर्मके शत्रुओं-का संहार करते हैं; क्योंकि वेदमार्गका उच्छेद आपको अभीष्ट नहीं है । आप त्रिलोकीनाथ और जगत्प्रतिपालक होकर भी ब्राह्मणोंके प्रति इतने नम्र रहते हैं, इससे आपके तेजकी कोई हानि नहीं होती; यह तो आपकी लीलामात्र है ॥ २४ ॥ सर्वेश्वर ! इन द्वारपालोंको आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा पुरस्काररूपमें इनकी वृत्ति बढ़ा दें—हम निष्कपट भावसे सब प्रकार आपसे सहमत हैं । अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरोंको शाप दिया है, इसके लिये हमीको उचित दण्ड दें । हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है ॥ २५ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुनिगण ! आपने इन्हें जो शाप दिया है—सच जानिये, वह मेरी ही प्रेरणासे हुआ है । अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे और वहाँ क्रोधावेशसे बढ़ी हुई एकाग्रताके कारण सुदृढ़ योगसम्पन्न होकर फिर जल्दी ही मेरे पास लौट आयेंगे ॥ २६॥

१. प्रा० पा०—विचष्टे । २. प्रा० पा०—निहित० ।

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम्।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम्॥२७॥
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्॥२८॥
भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे॥२९॥
एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते॥३०॥
मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः॥३१॥
द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत्॥३२॥
तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ॥३३॥
तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः॥३४॥
तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम्॥३५॥
तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति॥३६॥

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥३७॥

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—तदनन्तर उन मुनीश्वरोंने नयनाभिराम भगवान् विष्णु और उनके स्वयंप्रकाश वैकुण्ठ-धामके दर्शन करके प्रभुकी परिक्रमा की और उन्हें प्रणामकर तथा उनकी आज्ञा पा भगवान्के ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए प्रमुदित हो वहाँसे लौट गये॥२७-२८॥ फिर भगवान्ने अपने अनुचरोंसे कहा, 'जाओ, मनमें किसी प्रकारका भय मत करो; तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा ही मुझे अभिमत भी है॥ २९॥ एक बार जब मैं योगनिद्रामें स्थिर हो गया था, तब तुमने द्वारमें प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजीको रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें यह शाप दे दिया था॥ ३०॥ अब दैत्ययोनिमें मेरे प्रति क्रोधाकारवृत्ति रहनेसे तुम्हें जो एकाग्रता होगी, उससे तुम इस विप्र-तिरस्कारजनित पापसे मुक्त हो जाओगे और फिर थोड़े ही समयमें मेरे पास लौट आओगे'॥ ३१॥ द्वारपालोंको इस प्रकार आज्ञा दे, भगवान्ने विमानोंकी श्रेणियोंसे सुसज्जित अपने सर्वाधिक श्रीसम्पन्न धाममें प्रवेश किया॥ ३२॥ वे देवश्रेष्ठ जय-विजय तो ब्रह्मशापके कारण उस अलङ्घनीय भगवद्धाममें ही श्रीहीन हो गये तथा उनका सारा गर्व गलित हो गया॥ ३३॥ पुत्रो! फिर जब वे वैकुण्ठलोकसे गिरने लगे, तब वहाँ श्रेष्ठ विमानोंपर बैठे हुए वैकुण्ठवासियोंमें महान् हाहाकार मच गया॥ ३४॥ इस समय दितिके गर्भमें स्थित जो कश्यपजीका उग्र तेज है, उसमें भगवान्के उन पार्षदप्रवरोंने ही प्रवेश किया है॥ ३५॥ उन दोनों असुरोंके तेजसे ही तुम सबका तेज फीका पड़ गया है। इस समय भगवान् ऐसा ही करना चाहते हैं॥ ३६॥ जो आदिपुरुष संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, जिनकी योगमायाको बड़े-बड़े योगिजन भी बड़ी कठिनतासे पार कर पाते हैं—वे सत्त्वादि तीनों गुणोंके नियन्ता श्रीहरि ही हमारा कल्याण करेंगे। अब इस विषयमें हमारे विशेष विचार करनेसे क्या लाभ हो सकता है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

१. प्रा० पा०— प्रभुः। २. प्रा० पा०—भाव्य च।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः ।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥ १ ॥
दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥ २ ॥
उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ ३ ॥
सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥ ४ ॥
ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥ ५ ॥
उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स व्यादृश्यते पदम् ॥ ६ ॥
चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः[1] क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥ ७ ॥
मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥ ८ ॥
अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः[2] ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! ब्रह्माजीके कहनेसे अन्धकारका कारण जानकर देवताओंकी शङ्का निवृत्त हो गयी और फिर वे सब स्वर्गलोकको लौट आये ॥ १ ॥

इधर दितिको अपने पतिदेवके कथनानुसार पुत्रोंकी ओरसे उपद्रवादिकी आशङ्का बनी रहती थी । इसलिये जब पूरे सौ वर्ष बीत गये, तब उस साध्वीने दो यमज (जुड़वे) पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥ उनके जन्म लेते समय स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें अनेकों उत्पात होने लगे—जिनसे लोग अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ३ ॥ जहाँ-तहाँ पृथ्वी और पर्वत काँपने लगे, सब दिशाओंमें दाह होने लगा । जगह-जगह उल्कापात होने लगा, बिजलियाँ गिरने लगीं और आकाशमें अनिष्टसूचक धूमकेतु (पुच्छल तारे) दिखायी देने लगे ॥ ४ ॥ बार-बार सायँ-सायँ करती और बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ती हुई बड़ी विकट और असह्य वायु चलने लगी । उस समय आँधी उसकी सेना और उड़ती हुई धूल ध्वजाके समान जान पड़ती थी ॥ ५ ॥ बिजली जोर-जोरसे चमककर मानो खिलखिला रही थी । घटाओंने ऐसा सघन रूप धारण किया कि सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंके लुप्त हो जानेसे आकाशमें गहरा अँधेरा छा गया । उस समय कहीं कुछ भी दिखायी न देता था ॥ ६ ॥ समुद्र दुखी मनुष्यकी भाँति कोलाहल करने लगा, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंमें बड़ी हलचल मच गयी । नदियों तथा अन्य जलाशयोंमें भी बड़ी खलबली मच गयी और उनके कमल सूख गये ॥ ७ ॥ सूर्य और चन्द्रमा बार-बार ग्रसे जाने लगे तथा उनके चारों ओर अमङ्गलसूचक मण्डल बैठने लगे । बिना बादलोंके ही गरजनेका शब्द होने लगा तथा गुफाओंमेंसे रथकी घरघराहटका-सा शब्द निकलने लगा ॥ ८ ॥ गाँवोंमें गीदड़ और उल्लुओंके भयानक शब्दके साथ ही सियारियाँ मुखसे दहकती हुई आग उगलकर बड़ा अमङ्गल शब्द करने लगीं ॥ ९ ॥ जहाँ-तहाँ कुत्ते अपनी गरदन ऊपर

१. प्रा० पा०—रूर्मिभिः क्षुभि० । २. प्रा० पा०—शिवाः ।

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम्।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥१०॥
खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम्।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ॥११॥
रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ॥१२॥
गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥१३॥
ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥१४॥
दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥१५॥
तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥१६॥
दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
र्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ[1]।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः ॥१७॥
प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्
यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥१८॥

उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे ॥ १० ॥ विदुरजी! झुंड-के-झुंड गधे अपने कठोर खुरोंसे पृथ्वी खोदते और रेंकनेका शब्द करते मतवाले होकर इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ११ ॥ पक्षी गधोंके शब्दसे डरकर रोते-चिल्लाते अपने घोंसलोंसे उड़ने लगे। अपनी खिरकोंमें बँधे हुए और वनमें चरते हुए गाय-बैल आदि पशु डरके मारे मल-मूत्र त्यागने लगे ॥ १२ ॥ गौएँ ऐसी डर गयीं कि दुहनेपर उनके थनोंसे खून निकलने लगा, बादल पीबकी वर्षा करने लगे, देवमूर्तियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और आँधीके बिना ही वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लगे ॥ १३ ॥ शनि, राहु आदि क्रूर ग्रह प्रबल होकर चन्द्र, बृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा बहुत-से नक्षत्रोंको लाँघकर वक्रगतिसे चलने लगे तथा आपसमें युद्ध करने लगे ॥ १४ ॥ ऐसे ही और भी अनेकों भयंकर उत्पात देखकर सनकादिके सिवा और सब जीव भयभीत हो गये तथा उन उत्पातोंका मर्म न जाननेके कारण उन्होंने यही समझा कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है ॥ १५ ॥

वे दोनों आदिदैत्य जन्मके अनन्तर शीघ्र ही अपने फौलादके समान कठोर शरीरोंसे बढ़कर महान् पर्वतोंके सदृश हो गये तथा उनका पूर्व पराक्रम भी प्रकट हो गया ॥ १६ ॥ वे इतने ऊँचे थे कि उनके सुवर्णमय मुकुटोंका अग्रभाग स्वर्गको स्पर्श करता था और उनके विशाल शरीरोंसे सारी दिशाएँ आच्छादित हो जाती थीं। उनकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमचमा रहे थे। पृथ्वीपर जो वे एक-एक कदम रखते थे, उससे भूकम्प होने लगता था और जब वे खड़े होते थे, तब उनकी जगमगाती हुई चमकीली करधनीसे सुशोभित कमर अपने प्रकाशसे सूर्यको भी मात करती थी ॥ १७ ॥ वे दोनों यमज थे। प्रजापति कश्यपजीने उनका नामकरण किया। उनमेंसे जो उनके वीर्यसे दितिके गर्भमें पहले स्थापित हुआ था, उसका नाम हिरण्यकशिपु रक्खा और जो दितिके उदरसे पहले निकला, वह हिरण्याक्षके नामसे विख्यात हुआ ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—दावुभौ।

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥१९॥
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥२०॥
तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥२१॥
मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥२२॥
स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान्देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद् भृशम् ॥२३॥
ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिस्वनम् ।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥२४॥
तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥२५॥
स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः[1] ।
मौर्व्याभिजघ्ने[2] गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं[3] प्रचेतसः ॥२६॥
तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥२७॥
त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।

हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीके वरसे मृत्युभयसे मुक्त हो जानेके कारण बड़ा उद्धत हो गया था । उसने अपनी भुजाओंके बलसे लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया ॥ १९ ॥ वह अपने छोटे भाई हिरण्याक्षको बहुत चाहता था और वह भी सदा अपने बड़े भाईका प्रिय कार्य करता रहता था । एक दिन वह हिरण्याक्ष हाथमें गदा लिये युद्धका अवसर ढूँढ़ता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा ॥ २० ॥ उसका वेग बड़ा असह्य था । उसके पैरोंमें सोनेके नूपुरोंकी झनकार हो रही थी, गलेमें विजय-सूचक माला धारण की हुई थी और कंधेपर विशाल गदा रक्खी हुई थी ॥ २१ ॥ उसके मनोबल, शारीरिक बल तथा ब्रह्माजीके वरने उसे मतवाला कर रक्खा था; इसलिये वह सर्वथा निरङ्कुश और निर्भय हो रहा था । उसे देखकर देवता लोग डरके मारे वैसे ही जहाँ-तहाँ छिप गये, जैसे गरुड़के डरसे साँप छिप जाते हैं ॥२२॥ जब दैत्यराज हिरण्याक्षने देखा कि मेरे तेजके सामने बड़े-बड़े गर्वीले इन्द्रादि देवता भी छिप गये हैं, तब उन्हें अपने सामने न देखकर वह बार-बार भयङ्कर गर्जना करने लगा ॥ २३ ॥ फिर वह महाबली दैत्य वहाँसे लौटकर जलक्रीडा करनेके लिये मतवाले हाथीके समान गहरे समुद्रमें घुस गया, जिसमें लहरोंकी बड़ी भयङ्कर गर्जना हो रही थी ॥ २४ ॥ ज्यों ही उसने समुद्रमें पैर रक्खा कि डरके मारे वरुणके सैनिक जलचर जीव हकबका गये और किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न करनेपर भी वे उसकी धाकसे ही घबराकर बहुत दूर भाग गये ॥ २५ ॥ महाबली हिरण्याक्ष अनेक वर्षोंतक समुद्रमें ही घूमता और सामने किसी प्रतिपक्षीको न पाकर बार-बार वायु-वेगसे उठी हुई उसकी प्रचण्ड तरङ्गोंपर ही अपनी लोहमयी गदाको आजमाता रहा । इस प्रकार घूमते-घूमते वह वरुणकी राजधानी विभावरीपुरीमें जा पहुँचा ॥ २६ ॥ वहाँ पाताललोकके स्वामी, जलचरोंके अधिपति वरुणजीको देखकर उसने उनकी हँसी उड़ाते हुए नीच मनुष्यकी भाँति प्रणाम किया और कुछ मुसकराते हुए व्यङ्गसे कहा—'महाराज ! मुझे युद्धकी भिक्षा दीजिये ॥ २७ ॥ प्रभो ! आप तो लोकपालक, राजा और बड़े कीर्तिशाली हैं । जो लोग अपनेको बाँका वीर समझते थे, उनके वीर्यमदको भी आप चूर्ण

१. प्रा० पा०—महोर्म्युच्छ्वस० । २. प्रा० पा०—मौर्व्या निज० । ३. प्रा० पा०—पुरं ।

विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान्[1]
यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो[2] ॥२८॥
स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥२९॥
पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम्।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥३०॥
तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥३१॥

कर चुके हैं और पहले एक बार आपने संसारके समस्त दैत्य-दानवोंको जीतकर राजसूययज्ञ भी किया था' ॥२८॥

उस मदोन्मत्त शत्रुके इस प्रकार बहुत उपहास करनेसे भगवान् वरुणको क्रोध तो बहुत आया, किंतु अपने बुद्धिबलसे वे उसे पी गये और बदलेमें उससे कहने लगे—'भाई ! हमें तो अब युद्धादिका कोई चाव नहीं रह गया है ॥ २९ ॥ भगवान् पुराणपुरुषके सिवा हमें और कोई ऐसा दीखता भी नहीं, जो तुम-जैसे रण-कुशल वीरको युद्धमें संतुष्ट कर सके । दैत्यराज ! तुम उन्हींके पास जाओ, वे ही तुम्हारी कामना पूरी करेंगे । तुम-जैसे वीर उन्हींका गुणगान किया करते हैं ॥३०॥ वे बड़े वीर हैं । उनके पास पहुँचते ही तुम्हारी सारी शेखी पूरी हो जायगी और तुम कुत्तोंसे घिरकर वीरशय्या-पर शयन करोगे । वे तुम-जैसे दुष्टोंको मारने और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अनेक प्रकारके रूप धारण किया करते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्ष-दिग्विजये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

हिरण्याक्षके साथ वराहभगवान्‌का युद्ध

मैत्रेय उवाच

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ १ ॥
ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ २ ॥
आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता।

श्रीमैत्रेयजीने कहा—तात ! वरुणजीकी यह बात सुनकर वह मदोन्मत्त दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने उनके इस कथनपर कि 'तू उनके हाथसे मारा जायगा' कुछ भी ध्यान नहीं दिया और चट नारदजीसे श्रीहरिका पता लगाकर रसातलमें पहुँच गया ॥ १ ॥ वहाँ उसने विश्वविजयी वराहभगवान्‌को अपनी दाढ़ोंकी नोकपर पृथ्वीको ऊपरकी ओर ले जाते हुए देखा । वे अपने लाल-लाल चमकीले नेत्रोंसे उसके तेजको हरे लेते थे । उन्हें देखकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला, 'अरे ! यह जंगली पशु यहाँ जलमें कहाँसे आया' ॥ २ ॥ फिर वराहजीसे कहा, 'अरे नासमझ ! इधर आ, इस पृथ्वीको छोड़ दे; इसे विश्वविधाता

१. प्रा० पा०—खिलदेवदान० । २. प्रा० पा०—प्रभुः ।

न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते[1] ॥ ३ ॥
त्वं नः सपत्नैरभवाय[2] किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित् ।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४ ॥
त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीने हमें रसातलवासियोंके हवाले कर दिया है। रे सूकररूपधारी सुराधम ! मेरे देखते-देखते तू इसे लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकता ॥ ३ ॥ तू मायासे छुक-छिपकर ही दैत्योंको जीत लेता और मार डालता है। क्या इसीसे हमारे शत्रुओंने हमारा नाश करानेके लिये तुझे पाला है ? मूढ़ ! तेरा बल तो योगमाया ही है; और कोई पुरुषार्थ तुझमें थोड़े ही है। आज तुझे समाप्तकर मैं अपने बन्धुओंका शोक दूर करूँगा ॥ ४ ॥ जब मेरे हाथसे छूटी हुई गदाके प्रहारसे सिर फट जानेके कारण तू मर जायगा, तब तेरी आराधना करनेवाले जो देवता और ऋषि हैं, वे सब भी जड़ कटे हुए वृक्षोंकी भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे' ॥ ५ ॥

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
र्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम् ।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ॥ ६ ॥
तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः ।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिस्वनोऽब्रवीद्
गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥ ७ ॥

हिरण्याक्ष भगवान्‌को दुर्वचन-बाणोंसे छेदे जा रहा था; परंतु उन्होंने दाँतकी नोकपर स्थित पृथ्वीको भयभीत देखकर वह चोट सह ली तथा जलसे उसी प्रकार बाहर निकल आये, जैसे ग्राहकी चोट खाकर हथिनी-सहित गजराज ॥६॥ जब उसकी चुनौतीका कोई उत्तर न देकर वे जलसे बाहर आने लगे, तब ग्राह जैसे गजका पीछा करता है, उसी प्रकार पीले केश और तीखी दाढ़ोंवाले उस दैत्यने उनका पीछा किया तथा वज्रके समान कड़ककर वह कहने लगा, 'तुझे भागनेमें लज्जा नहीं आती ? सच है, असत् पुरुषोंके लिये कौन-सा काम न करने योग्य है !' ॥ ७ ॥

स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥ ८ ॥
परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं[3] बभाषे ॥ ९ ॥

भगवान्‌ने पृथ्वीको ले जाकर जलके ऊपर व्यवहार-योग्य स्थानमें स्थित कर दिया और उसमें अपनी आधारशक्तिका सञ्चार किया। उस समय हिरण्याक्षके सामने ही ब्रह्माजीने उनकी स्तुति की और देवताओंने फूल बरसाये ॥ ८ ॥ तब श्रीहरिने बड़ी भारी गदा लिये अपने पीछे आ रहे हिरण्याक्षसे, जो सोनेके आभूषण और अद्भुत कवच धारण किये था तथा अपने कटुवाक्योंसे उन्हें निरन्तर मर्माहत कर रहा था; अत्यन्त क्रोधपूर्वक हँसते हुए कहा ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—कृति । २. प्रा० पा०—रभयाय । ३. प्रा० पा०—प्रसभं तं ।

श्रीभगवानुवाच

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान्[1] ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥१०॥
एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्राविताास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि[3] कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो[4] बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥११॥
त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ॥१२॥

मैत्रेय[5] उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥१३॥
सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम् ॥१४॥
भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं[6] रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥१५॥
पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः ।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम्[7] ॥१६॥
ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।
आजघ्ने स तु[8] तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥१७॥
एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥१८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अरे ! सचमुच ही हम जंगली जीव हैं, जो तुझ-जैसे ग्राम-सिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ते फिरते हैं । दुष्ट ! वीर पुरुष तुझ-जैसे मृत्यु-पाशमें बँधे हुए अभागे जीवोंकी आत्मश्लाघापर ध्यान नहीं देते ।१०। हाँ, हम रसातलवासियोंकी धरोहर चुराकर और लज्जा छोड़कर तेरी गदाके भयसे यहाँ भाग आये हैं । हममें ऐसी सामर्थ्य ही कहाँ है कि तेरे-जैसे अद्वितीय वीरके सामने युद्धमें ठहर सकें । फिर भी हम जैसे-तैसे तेरे सामने खड़े हैं; तुझ-जैसे बलवानोंसे वैर बाँधकर हम जा भी कहाँ सकते हैं ? ॥ ११ ॥ तू पैदल वीरोंका सरदार है, इसलिये अब निःशङ्क होकर—उधेड़-बुन छोड़कर हमारा अनिष्ट करनेका प्रयत्न कर और हमें मारकर अपने भाई-बन्धुओंके आँसू पोंछ । अब इसमें देर न कर । जो अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता, वह असभ्य है—भले आदमियोंमें बैठनेलायक नहीं है ॥ १२ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जब भगवान्‌ने रोषसे उस दैत्यका इस प्रकार खूब उपहास और तिरस्कार किया; तब वह पकड़कर खेलाये जाते हुए सर्पके समान क्रोधसे तिलमिला उठा ॥ १३ ॥ वह खीझकर लंबी-लंबी साँसें लेने लगा, उसकी इन्द्रियाँ क्रोधसे क्षुब्ध हो उठीं और उस दुष्ट दैत्यने बड़े वेगसे लपककर भगवान्‌पर गदाका प्रहार किया ॥ १४ ॥ किंतु भगवान्‌ने अपनी छातीपर चलायी हुई शत्रुकी गदाके प्रहारको कुछ टेढ़े होकर बचा लिया—ठीक वैसे ही, जैसे योगसिद्ध पुरुष मृत्युके आक्रमणसे अपनेको बचा लेता है ॥ १५ ॥ फिर जब वह क्रोधसे होठ चबाता अपनी गदा लेकर बार-बार घुमाने लगा, तब श्रीहरि कुपित होकर बड़े वेगसे उसकी ओर झपटे ॥ १६ ॥ सौम्यस्वभाव विदुरजी ! तब प्रभुने शत्रुकी दायीं भौंहपर गदाकी चोट की, किंतु गदायुद्धमें कुशल हिरण्याक्षने उसे बीचमें ही अपनी गदापर ले लिया ॥ १७ ॥ इस प्रकार श्रीहरि और हिरण्याक्ष एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रुद्ध होकर आपसमें अपनी भारी गदाओंसे प्रहार करने

१. प्रा० पा०—द्विधं मृग० । २. प्रा० पा०—सिंहम् । ३. प्रा० पा०—महे चापि । ४. प्रा० पा०—स्त्वया । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । ६. प्रा० पा०—विसृ० । ७. प्रा० पा०—समा० । ८. प्रा० पा०—च तं ।

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्ध मन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥१९॥
दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया-
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥२०॥
आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥२२॥
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥२३॥
मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
आक्रीड बालवद्देव यथाऽऽशीविषमुत्थितम् ॥२४॥
न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥२५॥
एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो ।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह ॥२६॥
अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥२७॥

लगे ॥ १८ ॥ उस समय उन दोनोंमें ही जीतनेकी होड़ लग गयी, दोनोंके ही अङ्ग गदाओंकी चोटोंसे घायल हो गये थे, अपने अङ्गोंके घावोंसे बहनेवाले रुधिरकी गन्धसे दोनोंका ही क्रोध बढ़ रहा था, और वे दोनों ही तरह-तरहके पैंतरे बदल रहे थे। इस प्रकार गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान उन दोनोंमें एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ १९ ॥ विदुरजी ! जब इस प्रकार हिरण्याक्ष और मायासे वराहरूप धारण करनेवाले भगवान् यज्ञमूर्ति पृथ्वीके लिये द्वेष बाँधकर युद्ध करने लगे, तब उसे देखनेके लिये वहाँ ऋषियोंके सहित ब्रह्माजी आये ॥ २० ॥ वे हजारों ऋषियोंसे घिरे हुए थे। जब उन्होंने देखा कि वह दैत्य बड़ा शूरवीर है, उसमें भयका नाम भी नहीं है, वह मुकाबला करनेमें भी समर्थ है और उसके पराक्रमको चूर्ण करना बड़ा कठिन काम है, तब वे भगवान् आदिसूकररूप नारायणसे इस प्रकार कहने लगे ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देव ! मुझसे वर पाकर यह दुष्ट दैत्य बड़ा प्रबल हो गया है। इस समय यह आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं तथा अन्य निरपराध जीवोंको बहुत ही हानि पहुँचानेवाला, दुःखदायी और भयप्रद हो रहा है। इसकी जोड़का और कोई योद्धा नहीं है, इसलिये यह महाकण्टक अपना मुकाबला करनेवाले वीरकी खोजमें समस्त लोकोंमें घूम रहा है ॥ २२-२३ ॥ यह दुष्ट बड़ा ही मायावी, घमण्डी और निरङ्कुश है। बच्चा जिस प्रकार क्रुद्ध हुए साँपसे खेलता है, वैसे ही आप इससे खिलवाड़ न करें ॥ २४ ॥ देव ! अच्युत ! जबतक यह दारुण दैत्य अपनी बलवृद्धिकी वेलाको पाकर प्रबल हो, उससे पहले-पहले ही आप अपनी योगमायाको स्वीकार करके इस पापीको मार डालिये ॥ २५ ॥ प्रभो ! देखिये, लोकोंका संहार करनेवाली सन्ध्याकी भयङ्कर वेला आना ही चाहती है। सर्वात्मन् ! आप उससे पहले ही इस असुरको मारकर देवताओंको विजय प्रदान कीजिये ॥ २६ ॥ इस समय अभिजित् नामक मङ्गलमय मुहूर्तका भी योग आ गया है। अतः अपने सुहृद् हमलोगोंके कल्याणके लिये शीघ्र ही इस दुर्जय दैत्यसे निपट लीजिये ॥ २७ ॥ प्रभो ! इसकी

१. प्रा० प्रा०—तयोर्मृधे तिग्मगदाहृ०। २. प्रा० पा०—युद्धयोः। ३. प्रा० पा०—भेयाणां। ४. प्राचीन प्रतिमें "आगस्कृद्..." यह पूर्वार्ध मूलमें नहीं है। ५. प्रा० पा०—नैनं। ६. प्रा० पा०—च्छद्मकरी।

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ॥२८॥

मृत्यु आपके ही हाथ बदी है। हमलोगोंके बड़े भाग्य हैं कि यह स्वयं ही अपने कालरूप आपके पास आ पहुँचा है। अब आप युद्धमें बलपूर्वक इसे मारकर लोकोंको शान्ति प्रदान कीजिये ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
हिरण्याक्षवधेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

हिरण्याक्षवध

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १ ॥
ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः ॥ २ ॥
सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात्।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥
स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४ ॥
गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५ ॥
तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम्।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रास्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६ ॥
स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम्।

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ब्रह्माजीके ये कपटरहित अमृतमय वचन सुनकर भगवान्‌ने उनके भोलेपनपर मुसकराकर अपने प्रेमपूर्ण कटाक्षके द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १ ॥ फिर उन्होंने झपटकर अपने सामने निर्भय विचरते हुए शत्रुकी ठुड्डीपर गदा मारी। किंतु हिरण्याक्षकी गदासे टकराकर वह गदा भगवान्‌के हाथसे छूट गयी और चक्कर काटती हुई जमीनपर गिरकर सुशोभित हुई। किंतु यह बड़ी अद्भुत-सी घटना हुई ॥ २-३ ॥ उस समय शत्रुपर वार करनेका अच्छा अवसर पाकर भी हिरण्याक्षने उन्हें निरस्त्र देखकर युद्धधर्मका पालन करते हुए उनपर आक्रमण नहीं किया। उसने भगवान्‌का क्रोध बढ़ानेके लिये ही ऐसा किया था ॥ ४ ॥ गदा गिर जानेपर और लोगोंका हाहाकार बंद हो जानेपर प्रभुने उसकी धर्मबुद्धिकी प्रशंसा की और अपने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया ॥५॥

चक्र तुरंत ही उपस्थित होकर भगवान्‌के हाथमें घूमने लगा। किंतु वे अपने प्रमुख पार्षद दैत्याधम हिरण्याक्षके साथ विशेषरूपसे क्रीडा करने लगे। उस समय उनके प्रभावको न जाननेवाले देवताओंके ये विचित्र वचन सुनायी देने लगे—'प्रभो ! आपकी जय हो; इसे और न खेलाइये, शीघ्र ही मार डालिये' ॥६॥ जब हिरण्याक्षने देखा कि कमल-दल-लोचन श्रीहरि उसके सामने चक्र लिये खड़े हैं, तब उसकी सारी

१. प्रा० पा०—विननादाथ सुस्वरम्। २. प्राचीन प्रतिमें 'विघूर्णिता०' यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं है। ३. प्रा० पा०—च निर्गते।

विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो

रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥ ७ ॥

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव ।

अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८ ॥

पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञसूकरः ।

लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९ ॥

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।

इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन् व्यनदद् भृशम् ॥१०॥

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः ।

जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥११॥

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।

नैच्छद्गदां[1] दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥१२॥

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।

यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा ॥१३॥

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं

चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति ।

चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना

हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्रमुज्झितम् ॥१४॥

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः

प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।

इन्द्रियाँ क्रोधसे तिलमिला उठीं और वह लंबी साँसें लेता हुआ अपने दाँतोंसे होठ चबाने लगा ॥७॥ उस समय वह तीखी दाढ़ोंवाला दैत्य, अपने नेत्रोंसे इस प्रकार उनकी ओर घूरने लगा, मानो वह भगवान्‌को भस्म कर देगा। उसने उछलकर 'ले, अब तू नहीं बच सकता' इस प्रकार ललकारते हुए श्रीहरिपर गदासे प्रहार किया ॥ ८ ॥ साधुस्वभाव विदुरजी ! यज्ञमूर्ति श्रीवराहभगवान्‌ने शत्रुके देखते-देखते लीलासे ही अपने बायें पैरसे उसकी वह वायुके समान वेगवाली गदा पृथ्वीपर गिरा दी और उससे कहा, 'अरे दैत्य ! तू मुझे जीतना चाहता है, इसलिये अपना शस्त्र उठा ले और एक बार फिर वार कर।' भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर उसने फिर गदा चलायी और बड़ी भीषण गर्जना करने लगा ॥ ९-१० ॥ गदाको अपनी ओर आते देखकर भगवान्‌ने, जहाँ खड़े थे वहींसे उसे आते ही अनायास इस प्रकार पकड़ लिया, जैसे गरुड़ साँपिनको पकड़ ले ॥ ११ ॥

अपने उद्यमको इस प्रकार व्यर्थ हुआ देख उस महादैत्यका घमंड ठंडा पड़ गया और उसका तेज नष्ट हो गया। अबकी बार भगवान्‌के देनेपर उसने उस गदाको लेना न चाहा ॥ १२ ॥ किंतु जिस प्रकार कोई ब्राह्मणके ऊपर निष्फल अभिचार (मारणादि प्रयोग) करे—मूठ आदि चलाये, वैसे ही उसने श्रीयज्ञपुरुषपर प्रहार करनेके लिये एक प्रज्वलित अग्निके समान लपलपाता हुआ त्रिशूल लिया ॥ १३ ॥ महाबली हिरण्याक्षका अत्यन्त वेगसे छोड़ा हुआ वह तेजस्वी त्रिशूल आकाशमें बड़ी तेजीसे चमकने लगा। तब भगवान्‌ने उसे अपनी तीखी धारवाले चक्रसे इस प्रकार काट डाला, जैसे इन्द्रने गरुड़जीके छोड़े हुए तेजस्वी पंखको काट डाला था* ॥ १४ ॥ भगवान्‌के चक्रसे अपने त्रिशूलके बहुत-से टुकड़े हुए देखकर उसे बड़ा क्रोध हुआ। उसने पास आकर उनके विशाल वक्षःस्थलपर, जिसपर

१. प्रा० पा०—नैच्छद् ग्रहीतुं सुगमां हरि० ।

* एक बार गरुड़जी अपनी माता विनताको सर्पोंकी माता कद्रूके दासीपनेसे मुक्त करनेके लिये देवताओंके पाससे अमृत छीन लाये थे। तब इन्द्रने उनके ऊपर अपना वज्र छोड़ा। इन्द्रका वज्र कभी व्यर्थ नहीं जाता, इसलिये उसका मान रखनेके लिये गरुड़जीने अपना एक पर गिरा दिया। उसे वज्रने काट डाला।

प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन् प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः ॥१५॥
तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥१६॥
अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥१७॥
प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥१८॥
द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥१९॥
गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥२०॥
बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः[1] ॥२१॥
प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥२२॥
तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे ॥२३॥
विनष्टासु[2] स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥२४॥

श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है, कसकर घूँसा मारा और फिर बड़े जोरसे गरजकर अन्तर्धान हो गया ॥१५॥

विदुरजी ! जैसे हाथीपर पुष्पमालाकी चोटका कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार उसके इस प्रकार घूँसा मारनेसे भगवान् आदिवराह तनिक भी टस-से-मस नहीं हुए ॥ १६ ॥ तब वह महामायावी दैत्य मायापति श्रीहरिपर अनेक प्रकारकी मायाओंका प्रयोग करने लगा, जिन्हें देखकर सभी प्रजा बहुत डर गयी और समझने लगी कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है ॥ १७ ॥ बड़ी प्रचण्ड आँधी चलने लगी, जिसके कारण धूलसे सब ओर अन्धकार छा गया। सब ओरसे पत्थरोंकी वर्षा होने लगी, जो ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी क्षेपणयन्त्र (गुलेल) से फेंके जा रहे हों ॥ १८ ॥ बिजलीकी चमचमाहट और कड़कके साथ बादलोंके घिर आनेसे आकाशमें सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह छिप गये तथा उनसे निरन्तर पीब, केश, रुधिर, विष्ठा, मूत्र और हड्डियोंकी वर्षा होने लगी ॥ १९ ॥ विदुरजी ! ऐसे-ऐसे पहाड़ दिखायी देने लगे, जो तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र बरसा रहे थे। हाथमें त्रिशूल लिये बाल खोले नंगी राक्षसियाँ दीखने लगीं ॥ २० ॥ बहुत-से पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंपर चढ़े सैनिकोंके साथ आततायी यक्ष-राक्षसोंका 'मारो-मारो, काटो-काटो' ऐसा अत्यन्त क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ २१ ॥

इस प्रकार प्रकट हुए उस आसुरी माया-जालका नाश करनेके लिये यज्ञमूर्ति भगवान् वराहने अपना प्रिय सुदर्शनचक्र छोड़ा ॥ २२ ॥ उस समय अपने पतिका कथन स्मरण हो आनेसे दितिका हृदय सहसा काँप उठा और उसके स्तनोंसे रक्त बहने लगा ॥ २३ ॥ अपना माया-जाल नष्ट हो जानेपर वह दैत्य फिर भगवान्के पास आया। उसने उन्हें क्रोधसे दबाकर चूर-चूर करनेकी इच्छासे भुजाओंमें भर लिया, किंतु देखा कि वे तो बाहर ही खड़े हैं ॥ २४ ॥ अब वह भगवान्को

१. प्रा० पा०—ऽभिवै० । २. प्रा० पा०—व्युदस्तासु च मायासु ।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥२५॥
स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥२६॥
क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम् ॥२७॥
यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥२८॥
एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥२९॥

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः ॥३०॥

मैत्रेय उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥३१॥

वज्रके समान कठोर मुक्कोंसे मारने लगा । तब इन्द्रने जैसे वृत्रासुरपर प्रहार किया था, उसी प्रकार भगवान्‌ने उसकी कनपटीपर एक तमाचा मारा ॥ २५ ॥

विश्वविजयी भगवान्‌ने यद्यपि बड़ी उपेक्षासे तमाचा मारा था, तो भी उसकी चोटसे हिरण्याक्षका शरीर घूमने लगा, उसके नेत्र बाहर निकल आये तथा हाथ-पैर और बाल छिन्न-भिन्न हो गये और वह निष्प्राण होकर आँधीसे उखड़े हुए विशाल वृक्षके समान पृथ्वी-पर गिर पड़ा ॥ २६ ॥ हिरण्याक्षका तेज अब भी मलिन नहीं हुआ था । उस कराल दाढ़ोंवाले दैत्यको दाँतोंसे होठ चबाते पृथ्वीपर पड़ा देख वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए ब्रह्मादि देवता उसकी प्रशंसा करने लगे कि 'अहो ! ऐसी अलभ्य मृत्यु किसको मिल सकती है ॥ २७ ॥ अपनी मिथ्या उपाधिसे छूटनेके लिये जिनका योगिजन समाधियोगके द्वारा एकान्तमें ध्यान करते हैं, उन्हींके चरण-प्रहारसे उनका मुख देखते-देखते इस दैत्यराजने अपना शरीर त्यागा ॥ २८ ॥ ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान्‌के ही पार्षद हैं । इन्हें शापवश यह अधोगति प्राप्त हुई है । अब कुछ जन्मोंमें ये फिर अपने स्थानपर पहुँच जायँगे' ॥ २९ ॥

देवतालोग कहने लगे—प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है । आप सम्पूर्ण यज्ञोंका विस्तार करनेवाले हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये शुद्धसत्त्वमय मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं । बड़े आनन्दकी बात है कि संसारको कष्ट देनेवाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया । अब आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे हमें भी सुख-शान्ति मिल गयी ॥ ३० ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार महा-पराक्रमी हिरण्याक्षका वध करके भगवान् आदिवराह अपने अखण्ड आनन्दमय धामको पधार गये । उस समय ब्रह्मादि देवता उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३१ ॥

---

१. प्रा० पा०—विश्वसृजा । २. प्रा० पा०—विकीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोधरो । ३. प्रा० पा०—कोऽत्र । ४. प्राचीन प्रतिमें "मैत्रेय उवाच" यह पाठ नहीं है । ५. प्रा० पा०—समीलितः ।

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥३२॥

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥३३॥
अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ॥३४॥
यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम्॥३५॥
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥३६॥
यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते[1] ब्रह्मवधादपि द्विजाः[2] ॥३७॥
एतन्महापुण्यमलं[3] पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥३८॥

भगवान् अवतार लेकर जैसी लीलाएँ करते हैं और जिस प्रकार उन्होंने भीषण संग्राममें खिलौनेकी भाँति महापराक्रमी हिरण्याक्षका वध कर डाला, मित्र विदुरजी ! वह सब चरित जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, तुम्हें सुना दिया ॥ ३२ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! मैत्रेयजीके मुखसे भगवान्‌की यह कथा सुनकर परम भागवत विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ ॥ ३३ ॥ जब अन्य पवित्रकीर्ति और परम यशस्वी महापुरुषोंका चरित्र सुननेसे ही बड़ा आनन्द होता है, तब श्रीवत्सधारी भगवान्‌की ललित-ललाम लीलाओंकी तो बात ही क्या है ॥ ३४ ॥ जिस समय ग्राहके पकड़नेपर गजराज प्रभुके चरणोंका ध्यान करने लगे और उनकी हथिनियाँ दुःखसे चिग्घाड़ने लगीं, उस समय जिन्होंने उन्हें तत्काल दुःखसे छुड़ाया और जो सब ओरसे निराश होकर अपनी शरणमें आये हुए सरलहृदय भक्तोंसे सहजमें ही प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु दुष्ट पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुराराध्य हैं— उनपर जल्दी प्रसन्न नहीं होते, उन प्रभुके उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उनका सेवन न करेगा ? ॥ ३५-३६ ॥ शौनकादि ऋषियो ! पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये-वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी इस हिरण्याक्ष-वध नामक परम अद्भुत लीलाको जो पुरुष सुनता, गाता अथवा अनुमोदन करता है, वह ब्रह्महत्या-जैसे घोर पापसे भी सहजमें ही छूट जाता है ॥ ३७ ॥ यह चरित्र अत्यन्त पुण्यप्रद, परम पवित्र, धन और यशकी प्राप्ति करानेवाला, आयुवर्द्धक और कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला तथा युद्धमें प्राण और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ानेवाला है । जो लोग इसे सुनते हैं, उन्हें अन्तमें श्रीभगवान्‌का आश्रय प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षवधो[4] नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—स मुच्यते । २. प्रा० पा०—ध्रुवम् । ३. प्रा० पा०—फलं । ४. प्राचीन प्रतिमें 'वधो नाम' के स्थानमें 'वधे' पाठ है ।

अथ विंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी रची हुई अनेक प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य[1] सौते स्वायम्भुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥ १ ॥
क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥ २ ॥
द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मनाश्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३ ॥
किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम्[2] ॥ ४ ॥
तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५ ॥
ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६ ॥
एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७ ॥

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ॥ ८ ॥

शौनकजी कहते हैं—सूतजी ! पृथ्वीरूप आधार पाकर स्वायम्भुव मनुने आगे होनेवाली संततिको उत्पन्न करनेके लिये किन-किन उपायोंका अवलम्बन किया ? ॥ १ ॥ विदुरजी बड़े ही भगवद्भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य सुहृद् थे । इसीलिये उन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको, उनके पुत्र दुर्योधनके सहित भगवान् श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर त्याग दिया था ॥ २ ॥ वे महर्षि द्वैपायनके पुत्र थे और महिमामें उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे तथा सब प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित और कृष्णभक्तोंके अनुगामी थे ॥ ३ ॥ तीर्थसेवनसे उनका अन्तःकरण और भी शुद्ध हो गया था । उन्होंने कुशावर्त्तक्षेत्र (हरिद्वार) में बैठे हुए तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेयजीके पास जाकर और क्या पूछा ? ॥ ४ ॥ सूतजी ! उन दोनोंमें वार्तालाप होनेपर श्रीहरिके चरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी पवित्र कथाएँ हुई होंगी, जो उन्हीं चरणोंसे निकले हुए गङ्गाजलके समान सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली होंगी ॥ ५ ॥ सूतजी ! आपका मङ्गल हो, आप हमें भगवान्की वे पवित्र कथाएँ सुनाइये । प्रभुके उदार चरित्र तो कीर्तन करनेयोग्य होते हैं । भला, ऐसा कौन रसिक होगा, जो श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते तृप्त हो जाय ॥ ६ ॥

नैमिषारण्यवासी मुनियोंके इस प्रकार पूछनेपर उग्रश्रवा सूतजीने भगवान्में चित्त लगाकर उनसे कहा—'सुनिये' ॥ ७ ॥

सूतजीने कहा—मुनिगण ! अपनी मायासे वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी रसातलसे पृथ्वीको निकालने और खेलमें ही तिरस्कारपूर्वक हिरण्याक्षको मार डालनेकी लीला सुनकर विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने मुनिवर मैत्रेयजीसे कहा ॥ ८ ॥

---

१. प्रा० पा०—मध्यास्य । २. प्रा० पा०—सारवित् ।

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९ ॥
ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥१०॥
सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म[1] समकल्पयन् ॥११॥

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन् ! आप परोक्ष विषयोंको भी जाननेवाले हैं; अतः यह बतलाइये कि प्रजापतियों-के पति श्रीब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न करके फिर सृष्टिको बढ़ानेके लिये क्या किया ॥ ९ ॥ मरीचि आदि मुनीश्वरोंने और स्वायम्भुव मनुने भी ब्रह्मा-जीकी आज्ञासे किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि की ? ॥१०॥ क्या उन्होंने इस जगत्‌को पत्नियोंके सहयोगसे उत्पन्न किया या अपने-अपने कार्यमें स्वतन्त्र रहकर अथवा सबने एक साथ मिलकर इस जगत्‌की रचना की ? ॥ ११ ॥

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात् ॥१२॥
रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि[2] पञ्चशः ॥१३॥
तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥१४॥
सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥१५॥
तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥१६॥
सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥१७॥
ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो[3] महातमः ॥१८॥

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! जिसकी गतिको जानना अत्यन्त कठिन है—उस जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृतिके नियन्ता पुरुष और काल—इन तीन हेतुओंसे तथा भगवान्‌की सन्निधिसे त्रिगुणमय प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर उससे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ दैवकी प्रेरणासे रजःप्रधान महत्तत्त्वसे वैकारिक (सात्त्विक), राजस और तामस—तीन प्रकारका अहङ्कार उत्पन्न हुआ । उसने आकाशादि पाँच-पाँच तत्त्वोंके अनेक वर्ग* प्रकट किये ॥ १३ ॥ वे सब अलग-अलग रहकर भूतोंके कार्यरूप ब्रह्माण्डकी रचना नहीं कर सकते थे; इसलिये उन्होंने भगवान्‌की शक्तिसे परस्पर संगठित होकर एक सुवर्णवर्ण अण्डकी रचना की ॥ १४ ॥ वह अण्ड चेतनाशून्य अवस्थामें एक हजार वर्षोंसे भी अधिक समयतक कारणाब्धिके जलमें पड़ा रहा । फिर उसमें श्रीभगवान्‌ने प्रवेश किया ॥ १५ ॥ उसमें अधिष्ठित होनेपर उनकी नाभिसे सहस्र सूर्योंके समान अत्यन्त देदीप्यमान एक कमल प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण जीव-समुदायका आश्रय था । उसीसे स्वयं ब्रह्माजीका भी आविर्भाव हुआ ॥ १६ ॥

जब ब्रह्माण्डके गर्भरूप जलमें शयन करनेवाले श्रीनारायणदेवने ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, तब वे पूर्वकल्पोंमें अपने ही द्वारा निश्चित की हुई नाम-रूपमयी व्यवस्थाके अनुसार लोकोंकी रचना करने लगे ॥ १७ ॥ सब-से पहले उन्होंने अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—यों पाँच प्रकारकी अविद्या उत्पन्न

१. प्रा० पा०—सर्वमकल्पयन् । २. प्रा० पा०—भूतानि विय० । ३. प्रा० पा०—मोहं ।

* पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और उनके पाँच-पाँच देवता—इन्हीं छः वर्गोंका यहाँ संकेत समझना चाहिये ।

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।

जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥१९॥

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।

मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः[1] क्षुत्तृडर्दिताः ॥२०॥

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।

अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥२१॥

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत् ।

ते[2] अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥२२॥

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।

त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥२३॥

ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।

अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥२४॥

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।

अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥२५॥

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।

ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥२६॥

त्वमेकः[3] किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।

त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥२७॥

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।

विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥२८॥

की ॥ १८ ॥ ब्रह्माजीको अपना वह तमोमय शरीर अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने उसे त्याग दिया । तब, जिससे भूख-प्यासकी उत्पत्ति होती है—ऐसे रात्रिरूप उस शरीरको उसीसे उत्पन्न हुए यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर लिया ॥ १९ ॥ उस समय भूख-प्याससे अभिभूत होकर वे ब्रह्माजीको खानेको दौड़ पड़े और कहने लगे—'इसे खा जाओ, इसकी रक्षा मत करो,' क्योंकि वे भूख-प्याससे व्याकुल हो रहे थे ॥ २० ॥ ब्रह्माजीने घबराकर उनसे कहा, 'अरे यक्ष-राक्षसो ! तुम मेरी संतान हो; इसलिये मुझे भक्षण मत करो, मेरी रक्षा करो ।' (उनमेंसे जिन्होंने कहा 'खा जाओ', वे यक्ष हुए और जिन्होंने कहा 'रक्षा मत करो', वे राक्षस कहलाये) ॥ २१ ॥

फिर ब्रह्माजीने सात्त्विकी प्रभासे देदीप्यमान होकर मुख्य-मुख्य देवताओंकी रचना की । उन्होंने क्रीडा करते हुए, ब्रह्माजीके त्यागनेपर, उनका वह दिनरूप प्रकाशमय शरीर ग्रहण कर लिया ॥ २२ ॥ इसके पश्चात् ब्रह्माजीने अपने जघनदेशसे कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया । वे अत्यन्त कामलोलुप होनेके कारण उत्पन्न होते ही मैथुनके लिये ब्रह्माजीकी ओर चले ॥ २३ ॥ यह देखकर पहले तो वे हँसे; किंतु फिर उन निर्लज्ज असुरोंको अपने पीछे लगा देख भयभीत और क्रोधित होकर बड़े जोरसे भागे ॥ २४ ॥ तब उन्होंने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार दर्शन देनेवाले, शरणागतवत्सल वरदायक श्रीहरिके पास जाकर कहा—॥ २५ ॥ 'परमात्मन् ! मेरी रक्षा कीजिये; मैंने आपकी ही आज्ञासे प्रजा उत्पन्न की थी, किंतु यह तो पापमें प्रवृत्त होकर मुझको ही तंग करने चली है ॥ २६ ॥ नाथ ! एकमात्र आप ही दुखी जीवोंका दुःख दूर करनेवाले हैं और जो आपकी चरण-शरणमें नहीं आते, उन्हें दुःख देनेवाले भी एकमात्र आप ही हैं ॥ २७ ॥

प्रभु तो प्रत्यक्षवत् सबके हृदयकी जाननेवाले हैं । उन्होंने ब्रह्माजीकी आतुरता देखकर कहा, 'तुम अपने इस कामकलुषित शरीरको त्याग दो ।' भगवान्‌के यों कहते ही उन्होंने वह शरीर भी छोड़ दिया ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—त्युच्चैः । २. प्रा० पा०—तेऽहारिषुर्दे० । ३. प्रा० पा०—त्वमेव ।

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥२९॥
अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥३०॥
गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम् ॥३१॥
अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥३२॥
वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन् कुमेधसः ॥३३॥
कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥३४॥
या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥३५॥
नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्[1] ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं[2]
शान्तेव दृष्टिरमला[3] सुशिखासमूहः ॥३६॥
इति सायंतनीं संध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥३७॥

(ब्रह्माजीका छोड़ा हुआ वह शरीर एक सुन्दरी स्त्री—सन्ध्यादेवी—के रूपमें परिणत हो गया ।) उसके चरणकमलोंके पायजेब झङ्कृत हो रहे थे । उसकी आँखें मतवाली हो रही थीं और कमर करधनीकी लड़ोंसे सुशोभित सजीली साड़ीसे ढकी हुई थी ॥ २९ ॥ उसके उभरे हुए स्तन इस प्रकार एक-दूसरेसे सटे हुए थे कि उनके बीचमें कोई अन्तर ही नहीं रह गया था । उसकी नासिका और दन्तावली बड़ी ही सुघड़ थी तथा वह मधुर-मधुर मुसकराती हुई असुरोंकी ओर हाव-भावपूर्ण दृष्टिसे देख रही थीं ॥ ३० ॥ वह नीली-नीली अलकावलीसे सुशोभित सुकुमारी मानो लज्जाके मारे अपने अञ्चलमें ही सिमिटी जाती थी । विदुरजी ! उस सुन्दरीको देखकर सब-के-सब असुर मोहित हो गये ॥ ३१ ॥ 'अहो ! इसका कैसा विचित्र रूप, कैसा अलौकिक धैर्य और कैसी नयी अवस्था है । देखो, हम कामपीड़ितोंके बीचमें यह कैसी बेपरवाह-सी विचर रही है' ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उन कुबुद्धि दैत्योंने स्त्रीरूपिणी सन्ध्याके विषयमें तरह-तरहके तर्क-वितर्क करके फिर उसका बहुत आदर करते हुए प्रेमपूर्वक पूछा—॥ ३३ ॥ 'सुन्दरि ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो ? भामिनि ! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है ? तुम अपने अनूप रूपका यह बेमोल सौदा दिखाकर हम अभागोंको क्यों तरसा रही हो ॥ ३४ ॥ अबले ! तुम कोई भी क्यों न हो, हमें तुम्हारा दर्शन हुआ—यह बड़े सौभाग्यकी बात है । तुम अपनी गेंद उछाल-उछालकर तो हम दर्शकोंके मनको मथे डालती हो ॥ ३५ ॥ सुन्दरि ! जब तुम उछलती हुई गेंदपर अपनी हथेलीकी थपकी मारती हो, तब तुम्हारा चरण-कमल एक जगह नहीं ठहरता, तुम्हारा कटिप्रदेश स्थूल स्तनोंके भारसे थक-सा जाता है और तुम्हारी निर्मल दृष्टिसे भी थकावट झलकने लगती है । अहो ! तुम्हारा केशपाश कैसा सुन्दर है ॥ ३६ ॥ इस प्रकार स्त्रीरूपसे प्रकट हुई उस सायङ्कालीन सन्ध्याने उन्हें अत्यन्त कामासक्त कर दिया और उन मूढ़ोंने उसे कोई रमणीरत्न समझकर ग्रहण कर लिया ॥ ३७ ॥

१. प्रा० पा०—का स्यास्त्वम० । २. प्रा० पा०—भीत्या । ३. प्रा० पा०—रचला ।

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।
कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।३८।
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ।।३९।।
सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा[1] ।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद् दृशौ ।४०।
जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः[2] ।
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ।।४१।।
ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत्प्रभुः।४२।
त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ।।४३।।
सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ।।४४।।
सकिंनरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।
मानयन्नात्मनाऽऽत्मानमात्माभासं विलोकयन् ।४५।
ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ।।४६।।
देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ।।४७।।

तदनन्तर ब्रह्माजीने गम्भीर भावसे हँसकर अपनी कान्तिमयी मूर्तिसे, जो अपने सौन्दर्यका मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्व और अप्सराओंको उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) रूप अपने उस कान्तिमय प्रिय शरीरको त्याग दिया। उसीको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ ३९ ॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माने अपनी तन्द्रासे भूत-पिशाच उत्पन्न किये । उन्हें दिगम्बर (वस्त्रहीन) और बाल बिखेरे देख उन्होंने आँखें मूँद लीं ॥ ४० ॥ ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस जँभाईरूप शरीरको भूत-पिशाचोंने ग्रहण किया । इसीको निद्रा भी कहते हैं, जिससे जीवोंकी इन्द्रियोंमें शिथिलता आती देखी जाती है । यदि कोई मनुष्य जूठे मुँह सो जाता है तो उसपर भूत-पिशाचादि आक्रमण करते हैं; उसीको उन्माद कहते हैं ॥ ४१ ॥

फिर भगवान् ब्रह्माने भावना की कि मैं तेजोमय हूँ और अपने अदृश्य रूपसे साध्यगण एवं पितृगणको उत्पन्न किया ॥ ४२ ॥ पितरोंने अपनी उत्पत्तिके स्थान उस अदृश्य शरीरको ग्रहण कर लिया । इसीको लक्ष्यमें रखकर पण्डितजन श्राद्धादिके द्वारा पितर और साध्यगणको क्रमशः कव्य (पिण्ड) और हव्य अर्पण करते हैं ॥ ४३ ॥

अपनी तिरोधानशक्तिसे ब्रह्माजीने सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि की और उन्हें अपना वह अन्तर्धाननामक अद्भुत शरीर दिया ॥ ४४ ॥ एक बार ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखा । तब अपनेको बहुत सुन्दर मानकर उस प्रतिबिम्बसे किन्नर और किम्पुरुष उत्पन्न किये ॥ ४५ ॥ उन्होंने ब्रह्माजीके त्याग देनेपर उनका वह प्रतिबिम्ब-शरीर ग्रहण किया । इसीलिये ये सब उषःकालमें अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर ब्रह्माजीके गुण-कर्मादिका गान किया करते हैं ॥ ४६ ॥

एक बार ब्रह्माजी सृष्टिकी वृद्धि न होनेके कारण बहुत चिन्तित होकर हाथ-पैर आदि अवयवोंको फैलाकर लेट गये और फिर क्रोधवश उस भोगमय शरीरको

१. प्रा० पा०—तन्त्रिणः । २. प्रा० पा०—विभोः ।

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे ।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥४८॥

त्याग दिया ॥ ४७ ॥ उससे जो बाल झड़कर गिरे, वे अहि हुए तथा उसके हाथ-पैर सिकोड़कर चलनेसे क्रूरस्वभाव सर्प और नाग हुए, जिनका शरीर फणरूपसे कंधेके पास बहुत फैला होता है ॥ ४८ ॥

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥४९॥

एक बार ब्रह्माजीने अपनेको कृतकृत्य-सा अनुभव किया । उस समय अन्तमें उन्होंने अपने मनसे मनुओंकी सृष्टि की । ये सब प्रजाकी वृद्धि करनेवाले हैं ॥४९॥

तेभ्यः सोऽत्यसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।
तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥५०॥

मनस्वी ब्रह्माजीने उनके लिये अपना पुरुषाकार शरीर त्याग दिया । मनुओंको देखकर उनसे पहले उत्पन्न हुए देवता-गन्धर्वादि ब्रह्माजीकी स्तुति करने लगे ॥५०॥

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदामहे ॥५१॥

वे बोले, 'विश्वकर्ता ब्रह्माजी ! आपकी यह (मनुओंकी) सृष्टि बड़ी ही सुन्दर है । इसमें अग्निहोत्र आदि सभी कर्म प्रतिष्ठित हैं । इसकी सहायतासे हम भी अपना अन्न (हविर्भाग) ग्रहण कर सकेंगे' ॥ ५१ ॥

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥५२॥
तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः ।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥५३॥

फिर आदिऋषि ब्रह्माजीने इन्द्रियसंयमपूर्वक तप, विद्या, योग और समाधिसे सम्पन्न हो अपनी प्रिय संतान ऋषिगणकी रचना की और उनमेंसे प्रत्येकको अपने समाधि, योग, ऐश्वर्य, तप, विद्या और वैराग्यमय शरीरका अंश दिया ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।
कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १ ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ २ ॥
तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३ ॥

विदुरजीने पूछा—भगवन् ! स्वायम्भुव मनुका वंश बड़ा आदरणीय माना गया है । उसमें मैथुनधर्मके द्वारा प्रजाकी वृद्धि हुई थी । अब आप मुझे उसीकी कथा सुनाइये ॥ १ ॥ ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया था तथा उनकी पुत्री, जो देवहूति नामसे विख्यात थी, कर्दमप्रजापतिको ब्याही गयी थी ॥ २-३ ॥ देवहूति योगके लक्षण

१. प्रा० पा०—ऽहीयन्त शिरः केशा । २. प्रा० पा०—ते च । ३. प्रा० पा०—ऽसृजद्देहं पुरं पुरुषमात्मनः । ४. प्रा० पा०—स समा० । ५. प्रा० पा०—कशस्तस्य ।

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४ ॥
रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ॥५॥

यमादिसे सम्पन्न थी, उससे महायोगी कर्दमजीने कितनी संतानें उत्पन्न कीं ? वह सब प्रसङ्ग आप मुझे सुनाइये, मुझे उसके सुननेकी बड़ी इच्छा है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार भगवान् रुचि और ब्रह्माजीके पुत्र दक्ष-प्रजापतिने भी मनुजीकी कन्याओंका पाणिग्रहण करके उनसे किस प्रकार क्या-क्या संतान उत्पन्न की, यह सब चरित भी मुझे सुनाइये ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥ ६ ॥
ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम्[1] ॥ ७ ॥
तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८ ॥
स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥ ९ ॥
किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥१०॥
विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥११॥
जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः ।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः १२

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! जब ब्रह्माजीने भगवान् कर्दमको आज्ञा दी कि तुम संतानकी उत्पत्ति करो तो उन्होंने दस हजार वर्षोंतक सरस्वती नदीके तीरपर तपस्या की ॥ ६ ॥ वे एकाग्र चित्तसे प्रेमपूर्वक पूजनोपचारद्वारा शरणागतवरदायक श्रीहरिकी आराधना करने लगे ॥ ७ ॥ तब सत्ययुगके आरम्भमें कमलनयन भगवान् श्रीहरिने उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्हें अपने शब्दब्रह्ममय स्वरूपसे मूर्तिमान् होकर दर्शन दिये ॥ ८ ॥

भगवान्‌की वह भव्य मूर्ति सूर्यके समान तेजोमयी थी । वे गलेमें श्वेत कमल और कुमुदके फूलोंकी माला धारण किये हुए थे, मुखकमल नीली और चिकनी अलकावलीसे सुशोभित था । वे निर्मल वस्त्र धारण किये हुए थे ॥ ९ ॥ सिरपर झिलमिलाता हुआ सुवर्णमय मुकुट, कानोंमें जगमगाते हुए कुण्डल और कर-कमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध विराजमान थे । उनके एक हाथमें क्रीडाके लिये श्वेत कमल सुशोभित था । प्रभुकी मधुर मुसकानभरी चितवन चित्तको चुराये लेती थी ॥ १० ॥ उनके चरणकमल गरुड़जीके कंधोंपर विराजमान थे तथा वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी और कण्ठ-में कौस्तुभमणि सुशोभित थी । प्रभुकी इस आकाश-स्थित मनोहर मूर्तिका दर्शन करके कर्दमजीको बड़ा हर्ष हुआ, मानो उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं । उन्होंने सानन्द हृदयसे पृथ्वीपर सिर देकर भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और फिर प्रेमप्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर सुमधुर वाणीमें वे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ११-१२ ॥

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः[2]
सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।

कर्दमजीने कहा—स्तुति करनेयोग्य परमेश्वर ! आप सम्पूर्ण सत्त्वगुणके आधार हैं ! योगिजन उत्तरोत्तर शुभ योनियोंमें जन्म लेकर अन्तमें योगस्थ होनेपर

१. प्रा० पा०—दाशिषम् । २. प्रा० पा०—तत्त्वरा० ।

यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥१३॥
ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥१४॥
तथा स चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥१५॥
प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥१६॥
लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥१७॥
न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥१८॥
एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययाऽऽत्मन्नधियोगमायया ।

आपके दर्शनोंकी इच्छा करते हैं; आज आपका वही दर्शन पाकर हमें नेत्रोंका फल मिल गया ॥ १३ ॥ आपके चरणकमल भवसागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। जिनकी बुद्धि आपकी मायासे मारी गयी है, वे ही उन तुच्छ क्षणिक विषय-सुखोंके लिये, जो नरकमें भी मिल सकते हैं, उन चरणोंका आश्रय लेते हैं; किंतु स्वामिन् ! आप तो उन्हें वे विषय-भोग भी दे देते हैं ॥ १४ ॥ प्रभो ! आप कल्पवृक्ष हैं। आपके चरण समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। मेरा हृदय काम-कलुषित है। मैं भी अपने अनुरूप स्वभाववाली और गृहस्थधर्मके पालनमें सहायक शीलवती कन्यासे विवाह करनेके लिये आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ ॥ १५ ॥ सर्वेश्वर ! आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हैं। नाना प्रकारकी कामनाओंमें फँसा हुआ यह लोक आपकी वेद-वाणीरूप डोरीमें बँधा है। धर्ममूर्ते ! उसीका अनुगमन करता हुआ मैं भी कालरूप आपको आज्ञा-पालनरूप पूजोपहारादि समर्पण करता हूँ ॥ १६ ॥

प्रभो ! आपके भक्त विषयासक्त लोगों और उन्हींके मार्गका अनुसरण करनेवाले मुझ-जैसे कर्मजड पशुओं-को कुछ भी न गिनकर आपके चरणोंकी छत्रच्छायाका ही आश्रय लेते हैं तथा परस्पर आपके गुणगानरूप मादक सुधाका ही पान करके अपने क्षुधा-पिपासादि देहधर्मोंको शान्त करते रहते हैं ॥ १७ ॥ प्रभो ! यह कालचक्र बड़ा प्रबल है। साक्षात् ब्रह्म ही इसके घूमनेकी धुरी है, अधिक माससहित तेरह महीने अरे हैं, तीन सौ साठ दिन जोड़ हैं, छः ऋतुएँ नेमि (हाल) हैं, अनन्त क्षण-पल आदि इसमें पत्राकार धाराएँ हैं तथा तीन चातुर्मास्य इसके आधारभूत नाभि हैं। यह अत्यन्त वेगवान् संवत्सररूप कालचक्र चराचर जगत्की आयुका छेदन करता हुआ घूमता रहता है, किंतु आपके भक्तोंकी आयुका ह्रास नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ भगवन् ! जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही जालेको फैलाती, उसकी रक्षा करती और अन्तमें उसे निगल जाती है—उसी प्रकार आप अकेले ही जगत्की रचना करनेके लिये अपनेसे अभिन्न अपनी योगमाया-

१. प्रा० पा०—भ्रमिवायु० । २. प्रा० पा०—धावद्व ।

सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥१९॥
नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या तनुवा विलक्षितः ॥२०॥
तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम्।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥२१॥

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः[1] ॥२२॥

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥२३॥
न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥२४॥
प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥२५॥
स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥२६॥
आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम्।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥२७॥

को स्वीकारकर उससे अभिव्यक्त हुई अपनी सत्त्वादि शक्तियोंद्वारा स्वयं ही इस जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ १९ ॥ प्रभो ! इस समय आपने हमें अपनी तुलसीमालामण्डित, मायासे परिच्छिन्न-सी दिखायी देनेवाली सगुणमूर्तिसे दर्शन दिया है। आप हम भक्तोंको जो शब्दादि विषय-सुख प्रदान करते हैं, वे मायिक होनेके कारण यद्यपि आपको पसंद नहीं हैं, तथापि परिणाममें हमारा शुभ करनेके लिये वे हमें प्राप्त हों—॥ २० ॥

नाथ ! आप स्वरूपसे निष्क्रिय होनेपर भी मायाके द्वारा सारे संसारका व्यवहार चलानेवाले हैं तथा थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी समस्त अभिलषित वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं। आपके चरणकमल वन्दनीय हैं, मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्‌की भौंहें प्रणय-मुसकानभरी चितवनसे चञ्चल हो रही थीं, वे गरुड़जीके कंधेपर विराजमान थे। जब कर्दमजीने इस प्रकार निष्कपटभावसे उनकी स्तुति की तब वे उनसे अमृतमयी वाणीसे कहने लगे ॥ २२ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्मसंयमादिके द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर दी है ॥ २३ ॥ प्रजापते ! मेरी आराधना तो कभी भी निष्फल नहीं होती; फिर जिनका चित्त निरन्तर एकान्तरूपसे मुझमें ही लगा रहता है, उन तुम-जैसे महात्माओंके द्वारा की हुई उपासनाका तो और भी अधिक फल होता है ॥ २४ ॥ प्रसिद्ध यशस्वी सम्राट् स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्तमें रहकर सात समुद्रवाली सारी पृथ्वीका शासन करते हैं ॥ २५ ॥ विप्रवर ! वे परम धर्मज्ञ महाराज महारानी शतरूपाके साथ तुमसे मिलनेके लिये परसों यहाँ आयेंगे ॥ २६ ॥ उनकी एक रूप-यौवन, शील और गुणोंसे सम्पन्न श्यामलोचना कन्या इस समय विवाहके योग्य है। प्रजापते ! तुम सर्वथा उसके योग्य हो, इसलिये वे तुम्हींको वह कन्या अर्पण

१. प्रा० पा०—भगवान् वि०।

संमाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥२८॥
या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसाऽऽत्मनः॥२९॥
त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥३०॥
कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्३१
सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥३२॥

मैत्रेय उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ॥३३॥

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥३४॥

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥३५॥
मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम्।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥३६॥
तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत्समादिशत्।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥३७॥

करेंगे ॥ २७ ॥ ब्रह्मन्! गत अनेकों वर्षोंसे तुम्हारा चित्त जैसी भार्याके लिये समाहित रहा है, अब शीघ्र ही वह राजकन्या तुम्हारी वैसी ही पत्नी होकर यथेष्ट सेवा करेगी ॥ २८ ॥ वह तुम्हारा वीर्य अपने गर्भमें धारणकर उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी और फिर तुम्हारी उन कन्याओंसे लोकरीतिके अनुसार मरीचि आदि ऋषिगण पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ २९ ॥ तुम भी मेरी आज्ञाका अच्छी तरह पालन करनेसे शुद्धचित्त हो, फिर अपने सब कर्मोंका फल मुझे अर्पणकर मुझको ही प्राप्त होओगे ॥ ३० ॥ जीवोंपर दया करते हुए तुम आत्मज्ञान प्राप्त करोगे और फिर सबको अभयदान दे अपने सहित सम्पूर्ण जगत्‌को मुझमें और मुझको अपनेमें स्थित देखोगे ॥ ३१ ॥ महामुने! मैं भी अपने अंश-कला-रूपसे तुम्हारे वीर्यद्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भमें अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्रकी रचना करूँगा ॥ ३२ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! कर्दमऋषिसे इस प्रकार सम्भाषण करके, इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होनेवाले श्रीहरि सरस्वती नदीसे घिरे हुए बिन्दुसर-तीर्थसे (जहाँ कर्दमऋषि तप कर रहे थे) अपने लोकको चले गये ॥ ३३ ॥ भगवान्‌के सिद्ध मार्ग (वैकुण्ठमार्ग) की सभी सिद्धेश्वर प्रशंसा करते हैं। वे कर्दमजीके देखते-देखते अपने लोकको सिधार गये। उस समय गरुड़जीके पक्षोंसे जो सामकी आधारभूता ऋचाएँ निकल रही थीं, उन्हें वे सुनते जाते थे ॥ ३४ ॥

विदुरजी! श्रीहरिके चले जानेपर भगवान् कर्दम उनके बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु-सरोवरपर ही ठहरे रहे ॥ ३५ ॥ वीरवर! इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्णजटित रथपर सवार होकर तथा उसपर अपनी कन्याको भी बिठाकर पृथ्वीपर विचरते हुए, जो दिन भगवान्‌ने बताया था, उसी दिन शान्तिपरायण महर्षि कर्दमके उस आश्रमपर पहुँचे ॥ ३६-३७ ॥ सरस्वतीके जलसे भरा हुआ यह बिन्दु-

१. प्रा० पा०—सम्मोहितं। २. प्रा० पा०—महामते। ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है। ४. प्रा० पा०—आस्तेऽस्मिन्। ५. प्रा० पा०—सुधन्ये न्वहनि।

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः[1]।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥३८॥
तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥३९॥
पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥४०॥
मत्तद्विजगणैर्घुष्टं[2] मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम्[3] ॥४१॥
कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः[4]।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥४२॥
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥४३॥
तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥४४॥
प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः[5]।
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम् ॥४५॥
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा[6] चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥४६॥
प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम्।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥४७॥

सरोवर वह स्थान है, जहाँ अपने शरणागत भक्त कर्दमके प्रति उत्पन्न हुई अत्यन्त करुणाके वशीभूत हुए भगवान्‌के नेत्रोंसे आँसुओंकी बूँदें गिरी थीं। यह तीर्थ बड़ा पवित्र है, इसका जल कल्याणमय और अमृतके समान मधुर है तथा महर्षिगण सदा इसका सेवन करते हैं ॥ ३८-३९ ॥ उस समय बिन्दु-सरोवर पवित्र वृक्ष-लताओंसे घिरा हुआ था, जिनमें तरह-तरहकी बोली बोलनेवाले पवित्र मृग और पक्षी रहते थे वह स्थान सभी ऋतुओंके फल और फूलोंसे सम्पन्न था और सुन्दर वनश्रेणी भी उसकी शोभा बढ़ाती थी ॥ ४० ॥ वहाँ झुंड-के-झुंड मतवाले पक्षी चहक रहे थे, मतवाले भौंरे मँडरा रहे थे, उन्मत्त मयूर अपने पिच्छ फैला-फैलाकर नटकी भाँति नृत्य कर रहे थे और मतवाले कोकिल कुहू-कुहू करके मानो एक दूसरेको बुला रहे थे ॥ ४१ ॥ वह आश्रम कदम्ब, चम्पक, अशोक, करञ्ज, बकुल, असन, कुन्द, मन्दार, कुटज और नये-नये आमके वृक्षोंसे अलंकृत था ॥ ४२ ॥ वहाँ जलकाग, बत्तख आदि जलपर तैरनेवाले पक्षी हंस, कुरर, जलमुर्ग, सारस, चकवा और चकोर मधुर स्वरसे कलरव कर रहे थे ॥ ४३ ॥ हरिन, सूअर, स्याही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, सिंह, वानर, नेवले और कस्तूरीमृग आदि पशुओंसे भी वह आश्रम घिरा हुआ था ॥ ४४ ॥

आदिराज महाराज मनुने उस उत्तम तीर्थमें कन्याके सहित पहुँचकर देखा कि मुनिवर कर्दम अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर बैठे हुए हैं ॥ ४५ ॥ बहुत दिनोंतक उग्र तपस्या करनेके कारण वे शरीरसे बड़े तेजस्वी दीख पड़ते थे तथा भगवान्‌के स्नेहपूर्ण चितवनके दर्शन और उनके उच्चारण किये हुए कर्णामृतरूप सुमधुर वचनोंको सुननेसे इतने दिनोंतक तपस्या करनेपर भी वे विशेष दुर्बल नहीं जान पड़ते थे ॥ ४६ ॥ उनका शरीर लंबा था, नेत्र कमलदलके समान विशाल और मनोहर थे, सिरपर जटाएँ सुशोभित थीं और कमरमें चीर-वस्त्र थे। वे निकटसे देखनेपर बिना सानपर चढ़ी हुई महामूल्य मणिके समान मलिन जान पड़ते थे ॥ ४७ ॥

---

१. प्रा० पा०—पतन्हर्षबिन्दवः। २. प्रा० पा०—गणैर्जुष्टं। ३. प्रा० पा०—बर्हिणव्याघोषमा०। ४. प्रा० पा०—कदम्बबकुलाशोककरञ्जवञ्जुलासनैः। ५. प्रा० पा०—सहानुगः। ६. प्रा० पा०—रुजा।

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥४८॥

महाराज स्वायम्भुवमनुको अपनी कुटीमें आकर प्रणाम करते देख उन्होंने उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न किया और यथोचित आतिथ्यकी रीतिसे उनका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४८ ॥

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥४९॥
नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥५०॥
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥५१॥
न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥५२॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन् बृहतीं[1] सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥५३॥
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता[2] राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः ॥५४॥
अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः ।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति॥५५॥
अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥५६॥

जब मनुजी उनकी पूजा ग्रहण कर स्वस्थचित्तसे आसनपर बैठ गये, तब मुनिवर कर्दमने भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण कर उन्हें मधुर वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥ 'देव ! आप भगवान् विष्णुकी पालनशक्तिरूप हैं, इसलिये आपका घूमना-फिरना निःसंदेह सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके लिये ही होता है ॥ ५० ॥ आप साक्षात् विशुद्ध विष्णुस्वरूप हैं तथा भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं; आपको नमस्कार है ॥ ५१ ॥ आप मणियोंसे जड़े हुए जयदायक रथपर सवार हो अपने प्रचण्ड धनुषकी टङ्कार करते हुए उस रथकी घरघराहटसे ही पापियोंको भयभीत कर देते हैं और अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए भूमण्डलको कँपाते अपनी उस विशाल सेनाको साथ लेकर पृथ्वीपर सूर्यके समान विचरते हैं। यदि आप ऐसा न करें तो चोर-डाकू भगवान्‌की बनायी हुई वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको तत्काल नष्ट कर दें तथा विषयलोलुप निरंकुश मानवोंद्वारा सर्वत्र अधर्म फैल जाय। यदि आप संसारकी ओरसे निश्चिन्त हो जायँ तो यह लोक दुराचारियोंके पंजेमें पड़कर नष्ट हो जाय ॥ ५२—५५ ॥ तो भी वीरवर ! मैं आपसे पूछता हूँ कि इस समय यहाँ आपका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ है; मेरे लिये जो आज्ञा होगी, उसे मैं निष्कपट भावसे सहर्ष स्वीकार करूँगा ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—महतीं । २. प्रा० पा०—भगवद्ग्रथिता ।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

देवहूतिके साथ कर्दमप्रजापतिका विवाह

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १ ॥

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २ ॥
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३ ॥
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥ ४ ॥
तव सन्दर्शनादेवच्छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।
यत्स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥ ५ ॥
दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥ ६ ॥
दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७ ॥
स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८ ॥
प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥ ९ ॥
यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥ १० ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार जब कर्दमजीने मनुजीके सम्पूर्ण गुणों और कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन किया, तो उन्होंने उन निवृत्तिपरायण मुनिसे कुछ सकुचाकर कहा ॥ १ ॥

मनुजीने कहा—मुने ! वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माने अपने वेदमय विग्रहकी रक्षाके लिये तप, विद्या और योगसे सम्पन्न तथा विषयोंमें अनासक्त आप ब्राह्मणोंको अपने मुखसे प्रकट किया है और फिर उन सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषने आपलोगोंकी रक्षाके लिये ही अपनी सहस्रों भुजाओंसे हम क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है । इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहलाते हैं ॥ २-३ ॥ अतः एक ही शरीरसे सम्बद्ध होनेके कारण अपनी-अपनी और एक दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी वास्तवमें श्रीहरि ही रक्षा करते हैं, जो समस्त कार्य-कारणरूप होकर भी वास्तवमें निर्विकार हैं ॥ ४ ॥ आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे सारे संदेह दूर हो गये; क्योंकि आपने मेरी प्रशंसाके मिससे स्वयं ही प्रजापालनकी इच्छावाले राजाके धर्मोंका बड़े प्रेमसे निरूपण किया है ॥ ५ ॥ आपका दर्शन अजितेन्द्रिय पुरुषोंको बहुत दुर्लभ है; मेरा बड़ा भाग्य है, जो मुझे आपका दर्शन हुआ और मैं आपके चरणोंकी मङ्गलमयी रज अपने सिरपर चढ़ा सका ॥ ६ ॥ मेरे भाग्योदयसे ही आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है और मैंने भी शुभ प्रारब्धका उदय होनेसे ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर सुनी है ॥ ७ ॥

मुने ! इस कन्याके स्नेहवश मेरा चित्त बहुत चिन्ताग्रस्त हो रहा है; अतः मुझ दीनकी यह प्रार्थना आप कृपापूर्वक सुनें ॥ ८ ॥ यह मेरी कन्या—जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन है—अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पतिको पानेकी इच्छा रखती है ॥ ९ ॥ जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप, आयु और गुणोंका वर्णन सुना है, तभीसे यह आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है ॥ १० ॥ द्विजवर ! मैं

१. प्रा० पा०—ब्रह्मन्नुत्तमाङ्गं प्र० ।

तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपहृतां मया।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥११॥
उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥१२॥
य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥१३॥
अहं त्वाशृणवं विद्वन्[1] विवाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे[2] ॥१४॥

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥१५॥
कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥१६॥
यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥१७॥
तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम्।

बड़ी श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पण करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये। यह गृहस्थोचित कार्योंके लिये सब प्रकार आपके योग्य है ॥११॥ जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय, उसकी अवहेलना करना विरक्त पुरुषको भी उचित नहीं है; फिर विषयासक्तकी तो बात ही क्या है ॥१२॥ जो पुरुष स्वयं प्राप्त हुए भोगका निरादर कर फिर किसी कृपणके आगे हाथ पसारता है, उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभङ्ग भी होता है ॥ १३ ॥ विद्वन्! मैंने सुना है, आप विवाह करनेके लिये उद्यत हैं। आपका ब्रह्मचर्य एक सीमातक है, आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो हैं नहीं। इसलिये अब आप इस कन्याको स्वीकार कीजिये, मैं इसे आपको अर्पण करता हूँ ॥ १४ ॥

श्रीकर्दम मुनिने कहा—ठीक है, मैं विवाह करना चाहता हूँ और आपकी कन्याका अभी किसीके साथ वाग्दान नहीं हुआ है, इसलिये हम दोनोंका सर्वश्रेष्ठ ब्राह्म*विधिसे विवाह होना उचित ही होगा ॥ १५ ॥ राजन्! वेदोक्त विवाह-विधिमें प्रसिद्ध जो 'गृभ्णामि ते' इत्यादि मन्त्रोंमें बताया हुआ काम (संतानोत्पादन-रूप मनोरथ है, वह) आपकी इस कन्याके साथ हमारा सम्बन्ध होनेसे सफल होगा। भला, जो अपनी अङ्ग-कान्तिसे आभूषणादिकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही है, आपकी उस कन्याका कौन आदर न करेगा? ॥ १६ ॥ एक बार यह अपने महलकी छतपर गेंद खेल रही थी। गेंदके पीछे इधर-उधर दौड़नेके कारण इसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे तथा पैरोंके पायजेब मधुर झनकार करते जाते थे! उस समय इसे देखकर विश्वावसु गन्धर्व मोहवश अचेत होकर अपने विमानसे गिर पड़ा था ॥ १७ ॥ वही इस समय यहाँ स्वयं आकर प्रार्थना कर रही है; ऐसी अवस्थामें कौन समझदार पुरुष इसे स्वीकार न करेगा? यह तो साक्षात् आप महाराज श्रीस्वायम्भुवमनुकी दुलारी कन्या और उत्तानपादकी प्यारी बहिन है तथा यह रमणियोंमें

१. प्रा० पा०—विद्वन्नुद्वाहार्थे। २. प्रा० पा०—प्रपन्नां प्रतिगृह्ण मे।

* मनुस्मृतिमें आठ प्रकारके विवाहोंका उल्लेख पाया जाता है—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) पैशाच। इनके लक्षण वहीं तीसरे अध्यायमें देखने चाहिये। इनमें पहला सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसमें पिता योग्य वरको कन्याका दान करता है।

वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥१८॥
अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥१९॥
यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥२०॥

मैत्रेय उवाच[2]

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम्।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥२१॥
सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम्।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥२२॥
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान्।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥२३॥
प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥२४॥
अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥२५॥
आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥२६॥
उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥२७॥

रत्नके समान है। जिन लोगोंने कभी श्रीलक्ष्मीजीके चरणोंकी उपासना नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन भी नहीं हो सकता ॥ १८ ॥ अतः मैं आपकी इस साध्वी कन्याको अवश्य स्वीकार करूँगा, किंतु एक शर्तके साथ। जबतक इसके संतान न हो जायगी, तबतक मैं गृहस्थधर्मानुसार इसके साथ रहूँगा। उसके बाद भगवान्‌के बताये हुए संन्यासप्रधान हिंसारहित शम-दमादि धर्मोंको ही अधिक महत्त्व दूँगा ॥१९॥ जिनसे इस विचित्र जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रयसे यह स्थित है—मुझे तो वे प्रजापतियोंके भी पति भगवान् श्रीअनन्त ही सबसे अधिक मान्य हैं ॥२०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रचण्ड धनुर्धर विदुर! कर्दमजी केवल इतना ही कह सके, फिर वे हृदयमें भगवान् कमलनाभका ध्यान करते हुए मौन हो गये। उस समय उनके मन्द हास्ययुक्त मुखकमलको देखकर देवहूतिका चित्त लुभा गया ॥ २१ ॥ मनुजीने देखा कि इस सम्बन्धमें महारानी शतरूपा और राजकुमारीकी स्पष्ट अनुमति है, अतः उन्होंने अनेक गुणोंसे सम्पन्न कर्दमजीको उन्हींके समान गुणवती कन्याका प्रसन्नतापूर्वक दान कर दिया ॥२२॥ महारानी शतरूपाने भी बेटी और दामादको बड़े प्रेमपूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्रादि दहेजमें दिये ॥ २३ ॥ इस प्रकार सुयोग्य वरको अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये। चलती बार उसका वियोग न सह सकनेके कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त होकर उसे अपनी छातीसे चिपटा लिया और 'बेटी! बेटी!' कहकर रोने लगे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी और उनसे उन्होंने देवहूतिके सिरके सारे बाल भिगो दिये ॥२४-२५॥ फिर वे मुनिवर कर्दमसे पूछकर, उनकी आज्ञा ले रानीके सहित रथपर सवार हुए और अपने सेवकोंसहित ऋषिकुलसेवित सरस्वती नदीके दोनों तीरोंपर मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा देखते हुए अपनी राजधानीमें चले आये ॥ २६-२७ ॥

१. प्रा० पा०—वरिष्ये। २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है। ३. प्रा० पा०—धन्वन्नृप आबभा०। ४. प्रा० पा०—पारिहार्यं महाधनम्। ५. प्रा० पा०—पिता। ६. प्रा० पा०—आसिञ्चजिव चाल्मेति नेत्रो०।

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥२८॥
बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥२९॥
कुशाः काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः ।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे ॥३०॥
कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः ।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम्[2] ॥३१॥
बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् ।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥३२॥
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः ।
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः ॥३३॥
निष्णातं योगमायासु मुनिं[3] स्वायम्भुवं मनुम्[4] ।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥३४॥
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥३५॥
स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥३६॥
शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।

जब ब्रह्मावर्तकी प्रजाको यह समाचार मिला कि उसके स्वामी आ रहे हैं, तब वह अत्यन्त आनन्दित होकर स्तुति, गीत एवं बाजे-गाजेके साथ अगवानी करनेके लिये ब्रह्मावर्तकी राजधानीसे बाहर आयी ॥ २८ ॥ सब प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नगरी मनुजीकी राजधानी थी, जहाँ पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् शरीर कँपाते समय श्रीवराहभगवान्‌के रोम झड़कर गिरे थे ॥ २९ ॥ वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास हुए, जिनके द्वारा मुनियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंका तिरस्कार कर भगवान् यज्ञपुरुषकी यज्ञोंद्वारा आराधना की है ॥३०॥ महाराज मनुने भी श्रीवराहभगवान्‌से भूमिरूप निवासस्थान प्राप्त होनेपर इसी स्थानमें कुश और कासकी बर्हि (चटाई) बिछाकर श्रीयज्ञभगवान्‌की पूजा की थी ॥ ३१ ॥

जिस बर्हिष्मतीपुरीमें मनुजी निवास करते थे, उसमें पहुँचकर उन्होंने अपने त्रितापनाशक भवनमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥ वहाँ अपनी भार्या और संततिके सहित वे धर्म, अर्थ और मोक्षके अनुकूल भोगोंको भोगने लगे । प्रातःकाल होनेपर गन्धर्वगण अपनी स्त्रियोंके सहित उनका गुणगान करते थे; किंतु मनुजी उसमें आसक्त न होकर प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीहरिकी कथाएँ ही सुना करते थे ॥ ३३ ॥ वे इच्छानुसार भोगोंका निर्माण करनेमें कुशल थे; किंतु मननशील और भगवत्परायण होनेके कारण भोग उन्हें किंचित् भी विचलित नहीं कर पाते थे ॥ ३४ ॥ भगवान् विष्णुकी कथाओंका श्रवण, ध्यान, रचना और निरूपण करते रहनेके कारण उनके मन्वन्तरको व्यतीत करनेवाले क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे ॥३५॥ इस प्रकार अपनी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं अथवा तीनों गुणोंको अभिभूत करके उन्होंने भगवान् वासुदेवके कथाप्रसङ्गमें अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग पूरे कर दिये ॥ ३६ ॥ व्यासनन्दन विदुरजी ! जो पुरुष श्रीहरिके आश्रित रहता है उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार

१. प्रा० पा०—कुशकाशास्त । २. प्रा० पा०—भुवः । ३. प्रा० पा०—मनुं । ४. प्रा० पा०—मुनिम् ।

भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥३७॥

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् ।

नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥३८॥

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।

वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥३९॥

कष्ट पहुँचा सकते हैं ॥ ३७ ॥ मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे । मुनियोंके पूछनेपर उन्होंने मनुष्योंके तथा समस्त वर्ण और आश्रमोंके अनेक प्रकारके मङ्गलमय धर्मोंका भी वर्णन किया (जो मनु-संहिताके रूपमें अब भी उपलब्ध है) ॥ ३८ ॥

जगत्‌के सर्वप्रथम सम्राट् महाराज मनु वास्तवमें कीर्तनके योग्य थे । यह मैंने उनके अद्भुत चरित्रका वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूतिका प्रभाव सुनो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

कर्दम और देवहूतिका विहार

मैत्रेय उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।

नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥ १ ॥

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।

शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च[1] भोः ॥ २ ॥

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।

अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥ ३ ॥

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।

दैवाद्[2]गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः ॥ ४ ॥

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।

प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत् ॥ ५ ॥

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः

शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! माता-पिताके चले जानेपर पतिके अभिप्रायको समझ लेनेमें कुशल साध्वी देवहूति कर्दमजीकी प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी, ठीक उसी तरह, जैसे श्रीपार्वतीजी भगवान् शंकरकी सेवा करती हैं ॥ १ ॥ उसने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप और मदका त्यागकर बड़ी सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणादि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको संतुष्ट कर लिया ॥२-३॥ देवहूति समझती थी कि मेरे पतिदेव दैवसे भी बढ़कर हैं, इसलिये वह उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखकर उनकी सेवामें लगी रहती थी । इस प्रकार बहुत दिनोंतक अपना अनुवर्तन करनेवाली उस मनुपुत्रीको व्रतादिका पालन करनेसे दुर्बल हुई देख देवर्षिश्रेष्ठ कर्दमको दयावश कुछ खेद हुआ और उन्होंने उससे प्रेमगद्गद वाणीमें कहा ॥ ४-५ ॥

कर्दमजी बोले—मनुनन्दिनि ! तुमने मेरा बड़ा आदर किया है । मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ । सभी देहधारियोंको अपना

१. प्रा० पा०—तथा । २. प्रा० पा०—दयितां गरीयसीं ।

यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६ ॥
ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७ ॥
अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान्
दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः ॥ ८ ॥
एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाऽऽह ॥ ९ ॥

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥ १० ॥
तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयाऽऽत्मा ।

शरीर बहुत प्रिय एवं आदरकी वस्तु होता है, किंतु तुमने मेरी सेवाके आगे उसके क्षीण होनेकी भी कोई परवा नहीं की ॥ ६ ॥ अतः अपने धर्मका पालन करते रहनेसे मुझे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित भगवत्प्रसाद-स्वरूप विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनपर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है । मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा तुम उन्हें देखो ॥ ७ ॥ अन्य जितने भी भोग हैं, वे तो भगवान् श्रीहरिके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे नष्ट हो जाते हैं; अतः वे इनके आगे कुछ भी नहीं हैं । तुम मेरी सेवासे भी कृतार्थ हो गयी हो; अपने पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे तुम्हें ये दिव्य भोग प्राप्त हो गये हैं, तुम इन्हें भोग सकती हो । हम राजा हैं, हमें सब कुछ सुलभ है, इस प्रकार जो अभिमान आदि विकार हैं, उनके रहते हुए मनुष्योंको इन दिव्य भोगोंकी प्राप्ति होनी कठिन है ॥ ८ ॥

कर्दमजीके इस प्रकार कहनेसे अपने पतिदेवको सम्पूर्ण योगमाया और विद्याओंमें कुशल जानकर उस अबलाकी सारी चिन्ता जाती रही । उसका मुख किंचित् संकोचभरी चितवन और मधुर मुसकानसे खिल उठा और वह विनय एवं प्रेमसे गद्गद वाणीमें इस प्रकार कहने लगी ॥ ९ ॥

देवहूतिने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! स्वामिन् ! मैं यह जानती हूँ कि कभी निष्फल न होनेवाली योगशक्ति और त्रिगुणात्मिका मायापर अधिकार रखनेवाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त हैं । किंतु प्रभो ! आपने विवाहके समय जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होनेतक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुखका उपभोग करूँगा, उसकी अब पूर्ति होनी चाहिये; क्योंकि श्रेष्ठ पतिके द्वारा संतान प्राप्त होना पतिव्रता स्त्रीके लिये महान् लाभ है ॥ १० ॥ हम दोनोंके समागमके लिये शास्त्रके अनुसार जो कर्तव्य हो, उसका आप उपदेश दीजिये और उबटन, गन्ध, भोजन आदि उपयोगी सामग्रियाँ भी जुटा दीजिये, जिससे मिलनकी इच्छासे अत्यन्त दीन, दुर्बल हुआ मेरा यह शरीर आपके अङ्ग-संगके योग्य हो

१. प्रा० पा०—निजवर्त्मदो० । २. प्रा० पा०—तव । ३. प्रा० पा०—प्रभवः ।

सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया

दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥११॥

मैत्रेय उवाच

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः ।

विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥१२॥

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।

सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥१३॥

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।

पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलंकृतम् ॥१४॥

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः ।

दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥१५॥

उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक् ।

क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः ॥१६॥

तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।

महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥१७॥

द्वाःसु[2] विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत् ।

शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥१८॥

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः ।

जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः ॥१९॥

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्[3] ।

कृत्रिमान् मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥२०॥

जाय; क्योंकि आपकी ही बढ़ायी हुई कामवेदनासे मैं पीड़ित हो रही हूँ। स्वामिन्! इस कार्यके लिये एक उपयुक्त भवन तैयार हो जाय, इसका भी विचार कीजिये ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! कर्दम मुनिने अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय योगमें स्थित होकर एक विमान रचा, जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था ॥ १२ ॥ यह विमान सब प्रकारके इच्छित भोग-सुख प्रदान करनेवाला, अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त, सब सम्पत्तियोंकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे सम्पन्न तथा मणिमय खंभोंसे सुशोभित था ॥ १३ ॥ वह सभी ऋतुओंमें सुखदायक था और उसमें जहाँ-तहाँ सब प्रकारकी दिव्य सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं तथा उसे चित्र-विचित्र रेशमी झंडियों और पताकाओंसे खूब सजाया गया था ॥ १४ ॥ जिनपर भ्रमरगण मधुर गुंजार कर रहे थे, ऐसे रंग-बिरंगे पुष्पोंकी मालाओंसे तथा अनेक प्रकारके सूती और रेशमी वस्त्रोंसे वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥ १५ ॥ एकके ऊपर एक बनाये हुए कमरोंमें अलग-अलग रक्खी हुई शय्या, पलंग, पंखे और आसनोंके कारण वह बड़ा सुन्दर जान पड़ता था ॥ १६ ॥ जहाँ-तहाँ दीवारोंमें की हुई शिल्परचनासे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उसमें पन्नेका फर्श था और बैठनेके लिये मूँगेकी वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ १७ ॥ मूँगेकी ही देहलियाँ थीं। उसके द्वारोंमें हीरेके किवाड़ थे तथा इन्द्रनील मणिके शिखरोंपर सोनेके कलश रक्खे हुए थे ॥ १८ ॥ उसकी हीरेकी दीवारोंमें बढ़िया लाल जड़े हुए थे, जो ऐसे जान पड़ते थे, मानो विमानकी आँखें हों तथा उसे रंग-बिरंगे चँदोवे और बहुमूल्य सुनहरी बंदनवारोंसे सजाया गया था ॥ १९ ॥ उस विमानमें जहाँ-तहाँ कृत्रिम हंस और कबूतर आदि पक्षी बनाये गये थे, जो बिल्कुल सजीव-से मालूम पड़ते थे; उन्हें अपना सजातीय समझकर बहुत-से हंस और कबूतर उनके पास बैठ-बैठकर अपनी बोली बोलते थे ॥ २० ॥ उसमें सुविधानुसार

१. प्रा० पा०—मालभि० । २. प्रा० पा०—द्वाःस्थविद्रु० । ३. प्रा० पा०—विकू० । ४. प्रा० पा०—स्वबिमानांश्च समन्तादधिरुह्य ।

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।

यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥२१॥

ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा[1] ।

सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः[2] स्वयम् ॥२२॥

निमज्ज्यास्मिन् ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह ।

इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं[3] नृणाम् ॥२३॥

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।

सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥२४॥

अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम् ।

आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥२५॥

सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।

सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥२६॥

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।

वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥२७॥

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।

दुकूले निर्मले नूत्ने[4] ददुरस्यै च मानदाः[5] ॥२८॥

भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।

अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥२९॥

अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम् ।

विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥३०॥

क्रीडास्थली, शयनगृह, बैठक, आँगन और चौक आदि बनाये गये थे—जिनके कारण वह विमान स्वयं कर्दमजीको भी विस्मित-सा कर रहा था ॥ २१ ॥

ऐसे सुन्दर घरको भी जब देवहूतिने बहुत प्रसन्न चित्तसे नहीं देखा, तो सबके आन्तरिक भावको परख लेनेवाले कर्दमजीने स्वयं ही कहा ॥ २२ ॥ 'भीरु ! तुम इस बिन्दुसरोवरमें स्नान करके विमानपर चढ़ जाओ, यह विष्णुभगवान्‌का रचा हुआ तीर्थ मनुष्योंको सभी कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है' ॥ २३ ॥

कमललोचना देवहूतिने अपने पतिकी बात मानकर सरस्वतीके पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमें प्रवेश किया । उस समय वह बड़ी मैली-कुचैली साड़ी पहने हुए थी; उसके सिरके बाल चिपक जानेसे उसमें लटें पड़ गयी थीं, शरीरमें मैल जम गया था तथा स्तन कान्तिहीन हो गये थे ॥ २४-२५ ॥ सरोवरमें गोता लगानेपर उसने उसके भीतर एक महलमें एक हजार कन्याएँ देखीं । वे सभी किशोर अवस्थाकी थीं और उनके शरीरोंसे कमलकी-सी गन्ध आती थी ॥ २६ ॥ देवहूतिको देखते ही वे सब स्त्रियाँ सहसा खड़ी हो गयीं और हाथ जोड़कर कहने लगीं, 'हम आपकी दासियाँ हैं; हमें आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें ?' ॥ २७ ॥

विदुरजी ! तब स्वामिनीको सम्मान देनेवाली उन रमणियोंने बहुमूल्य मसालों तथा गन्ध आदिसे मिश्रित जलके द्वारा मनस्विनी देवहूतिको स्नान कराया तथा उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र पहननेको दिये ॥२८॥ फिर उन्होंने ये बहुत मूल्यके बड़े सुन्दर और कान्तिमान् आभूषण, सर्वगुणसम्पन्न भोजन और पीनेके लिये अमृत-के समान स्वादिष्ट आसव प्रस्तुत किये ॥ २९ ॥ अब देवहूतिने दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे मालूम हुआ कि वह भाँति-भाँतिके सुगन्धित फूलोंके हारोंसे विभूषित है, स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए है, उसका शरीर भी निर्मल और कान्तिमान् हो गया है तथा उन कन्याओंने बड़े आदरपूर्वक उसका माङ्गलिक शृङ्गार

१. प्रा० पा०—इत्थं गृहं तस्य पश्यन्नतिप्रीतेन । २. प्रा० पा०—प्रोवाच कर्दमः । ३. प्रा० पा०—यद्भवेन्द्र० । ४. प्रा० पा०—भूते । ५. प्रा० पा०—मानिताः ।

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम् ।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥३१॥
श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया ।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥३२॥
सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥३३॥
यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥३४॥
भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥३५॥
स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥३६॥
विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥३७॥
तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥३८॥
तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।

किया है ॥ ३० ॥ उसे सिरसे स्नान कराया गया है, स्नानके पश्चात् अङ्ग-अङ्गमें सब प्रकारके आभूषण सजाये गये हैं तथा उसके गलेमें हार-हुमेल, हाथोंमें कङ्कण और पैरोंमें छमछमाते हुए सोनेके पायजेब सुशोभित हैं ॥ ३१ ॥ कमरमें पड़ी हुई सोनेकी रत्नजटित करधनीसे, बहुमूल्य मणियोंके हारसे और अङ्ग-अङ्गमें लगे हुए कुङ्कुमादि मङ्गलद्रव्योंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ ३२ ॥ उसका मुख सुन्दर दन्तावली, मनोहर भौंहें, कमलकी कली-से स्पर्धा करनेवाले प्रेमकटाक्षमय सुन्दर नेत्र और नीली अलकावलीसे बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है ॥ ३३ ॥ विदुरजी ! जब देवहूतिने अपने प्रिय पतिदेवका स्मरण किया, तो अपनेको सहेलियोंके सहित वहीं पाया, जहाँ प्रजापति कर्दमजी विराजमान थे ॥ ३४ ॥ उस समय अपनेको सहस्रों स्त्रियोंके सहित अपने प्राणनाथके सामने देख और इसे उनके योगका प्रभाव समझकर देवहूतिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

शत्रुविजयी विदुर ! जब कर्दमजीने देखा कि देवहूतिका शरीर स्नान करनेसे अत्यन्त निर्मल हो गया है और विवाहकालसे पूर्व उसका जैसा रूप था, उसी रूपको पाकर वह अपूर्व शोभासे सम्पन्न हो गयी है, उसका सुन्दर वक्षःस्थल चोलीसे ढका हुआ है, हजारों विद्याधरियाँ उसकी सेवामें लगी हुई हैं तथा उसके शरीरपर बढ़िया-बढ़िया वस्त्र शोभा पा रहे हैं, तब उन्होंने बड़े प्रेमसे उसे विमानपर चढ़ाया ॥ ३६-३७ ॥ उस समय अपनी प्रियाके प्रति अनुरक्त होनेपर भी कर्दमजीकी महिमा (मन और इन्द्रियोंपर प्रभुता) कम नहीं हुई । विद्याधरियाँ उनके शरीरकी सेवा कर रही थीं । खिले हुए कुमुदके फूलोंसे श्रृङ्गार करके अत्यन्त सुन्दर बने हुए वे विमानपर इस प्रकार शोभा पा रहे थे, मानो आकाशमें तारागणसे घिरे हुए चन्द्रदेव विराजमान हों ॥ ३८ ॥ उस विमानपर निवासकर उन्होंने दीर्घकालतक कुबेरजीके समान मेरुपर्वतकी घाटियोंमें विहार किया । ये घाटियाँ आठों लोकपालोंकी विहारभूमि हैं; इनमें कामदेवको बढ़ानेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलकर इनकी कमनीय शोभाका विस्तार करती है तथा

१. प्रा० पा०—सुभ्रुवा सुदता । २. प्रा० पा०—चास्ति ततः स्त्री० । ३. प्रा० पा०—वान्परार्घ्य० । ४. प्रा०पा०—सौरभासु ।

सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु

रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥३९॥

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।

मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥४०॥

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।

वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान् यथानिलः ॥४१॥

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।

यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥४२॥

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया ।

बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥४३॥

विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।

रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥४४॥

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।

न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन सङ्गता ॥४५॥

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।

शतं व्यतीयुः शरदः[1] कामलालसयोर्मनाक् ॥४६॥

तस्यामाधत्त रेतस्तां[2] भावयन्नात्मनाऽऽत्मवित् ।

नोधा[3] विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः ॥४७॥

श्रीगङ्गाजीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मङ्गलमय ध्वनि निरन्तर गूँजती रहती है। उस समय भी दिव्य विद्याधरियोंका समुदाय उनकी सेवामें उपस्थित था और सिद्धगण वन्दना किया करते थे ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार प्राणप्रिया देवहूतिके साथ उन्होंने वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र और चैत्ररथ आदि अनेकों देवोद्यानों तथा मानस सरोवरमें अनुरागपूर्वक विहार किया ॥ ४० ॥ उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ विमानपर बैठकर वायुके समान सभी लोकोंमें विचरते हुए कर्दमजी विमानविहारी देवताओंसे भी आगे बढ़ गये ॥ ४१ ॥ विदुरजी ! जिन्होंने भगवान्‌के भवभयहारी पवित्र पादपद्मोंका आश्रय लिया है, उन धीर पुरुषोंके लिये कौन-सी वस्तु या शक्ति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सारा भूमण्डल जो द्वीप-वर्ष आदिकी विचित्र रचनाके कारण बड़ा आश्चर्यमय प्रतीत होता है, अपनी प्रियाको दिखाकर अपने आश्रमको लौट आये ॥ ४३ ॥ फिर उन्होंने अपनेको नौ रूपोंमें विभक्त कर रतिसुखके लिये अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूतिको आनन्दित करते हुए उसके साथ बहुत वर्षोंतक विहार किया, किंतु उनका इतना लम्बा समय एक मुहूर्तके समान बीत गया ॥ ४४ ॥ उस विमानमें रतिसुखको बढ़ानेवाली बड़ी सुन्दर शय्याका आश्रय ले अपने परम रूपवान् प्रियतमके साथ रहती हुई देवहूतिको इतना काल कुछ भी न जान पड़ा ॥४५॥ इस प्रकार उस कामासक्त दम्पतिको अपने योगबलसे सैकड़ों वर्षोंतक विहार करते हुए भी वह काल बहुत थोड़े समयके समान निकल गया ॥ ४६ ॥ आत्मज्ञानी कर्दमजी सब प्रकारके संकल्पोंको जानते थे; अतः देवहूतिको संतानप्राप्तिके लिये उत्सुक देख तथा भगवान्‌के आदेशको स्मरणकर उन्होंने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये तथा कन्याओंकी उत्पत्तिके लिये एकाग्रचित्तसे अर्धाङ्गरूपमें अपनी पत्नीकी भावना करते हुए उसके गर्भमें वीर्य स्थापित किया ॥ ४७ ॥

१. प्रा० पा०—शरदां । २. प्रा० पा०—रेतः स्वं । ३. प्रा० पा०—नवधा ।

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः ॥४८॥
पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥४९॥
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥५०॥

देवहूतिरुवाच[1]

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥
ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥५२॥
एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥
इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥५४॥
सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥५५॥
नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥५६॥
साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥५७॥

इससे देवहूतिके एक ही साथ नौ कन्याएँ पैदा हुईं। वे सभी सर्वाङ्गसुन्दरी थीं और उनके शरीरसे लाल कमलकी-सी सुगन्ध निकलती थी ॥ ४८ ॥

इसी समय शुद्ध स्वभाववाली सती देवहूतिने देखा कि पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार उसके पतिदेव संन्यासाश्रम ग्रहण करके वनको जाना चाहते हैं, तो उसने अपने आँसुओंको रोककर ऊपरसे मुसकराते हुए व्याकुल एवं संतप्त हृदयसे धीरे-धीरे अति मधुर वाणीमें कहा। उस समय वह सिर नीचा किये हुए अपने नखमणिमण्डित चरण-कमलसे पृथ्वीको कुरेद रही थी ॥ ४९-५० ॥

देवहूतिने कहा—भगवन् ! आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी, वह सब तो पूर्णतः निभा दी; तो भी मैं आपकी शरणागत हूँ, अतः आप मुझे अभयदान और दीजिये ॥ ५१ ॥ ब्रह्मन् ! इन कन्याओंके लिये योग्य वर खोजने पड़ेंगे और आपके वनको चले जानेके बाद मेरे जन्म-मरणरूप शोकको दूर करनेके लिये भी कोई होना चाहिये ॥ ५२ ॥ प्रभो ! अबतक परमात्मासे विमुख रहकर मेरा जो समय इन्द्रियसुख भोगनेमें बीता है, वह तो निरर्थक ही गया ॥ ५३ ॥ आपके परम प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहकर आपसे अनुराग किया। तथापि यह भी मेरे संसार-भयको दूर करनेवाला ही होना चाहिये ॥ ५४ ॥ अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो संग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर असङ्गता प्रदान करता है ॥५५॥ संसारमें जिस पुरुषके कर्मोंसे न तो धर्मका सम्पादन होता है, न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान्‌की सेवा ही सम्पन्न होती है, वह पुरुष जीते ही मुर्देके समान है ॥ ५६ ॥ अवश्य ही मैं भगवान्‌की मायासे बहुत ठगी गयी, जो आप-जैसे मुक्तिदाता पतिदेवको पाकर भी मैंने संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं की ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने[2] त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'देवहूतिरुवाच' मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है। २. प्रा० पा०—कापिलोपा।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकपिलदेवजीका जन्म

मैत्रेय उवाच

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥ २ ॥
धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥ ३ ॥
स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥ ४ ॥

मैत्रेय उवाच

देवहूत्यपि संदेशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥ ५ ॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो यज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥ ६ ॥
अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥ ७ ॥
पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८ ॥
तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—उत्तम गुणोंसे सुशोभित मनुकुमारी देवहूतिने जब ऐसी वैराग्ययुक्त बातें कहीं तब कृपालु कर्दम मुनिको भगवान् विष्णुके कथनका स्मरण हो आया और उन्होंने उससे कहा ॥ १ ॥

कर्दमजी बोले—दोषरहित राजकुमारी ! तुम अपने विषयमें इस प्रकार खेद न करो; तुम्हारे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे ॥ २ ॥ प्रिये ! तुमने अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन किया है, अतः तुम्हारा कल्याण होगा । अब तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन करो ॥ ३ ॥ इस प्रकार आराधना करनेपर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण होकर मेरा यश बढ़ावेंगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहंकारमयी ग्रन्थिका छेदन करेंगे ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! प्रजापति कर्दमके आदेशमें गौरव-बुद्धि होनेसे देवहूतिने उसपर पूर्ण विश्वास किया और वह निर्विकार, जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी ॥ ५ ॥ इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर भगवान् मधुसूदन कर्दमजीके वीर्यका आश्रय ले उसके गर्भसे इस प्रकार प्रकट हुए, जैसे काष्ठमेंसे अग्नि ॥ ६ ॥ उस समय आकाशमें मेघ जल बरसाते हुए गरज-गरजकर बाजे बजाने लगे, गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दित होकर नाचने लगीं ॥ ७ ॥ आकाशसे देवताओंके बरसाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी, सब दिशाओंमें आनन्द छा गया, जलाशयोंका जल निर्मल हो गया और सभी जीवोंके मन प्रसन्न हो गये ॥ ८ ॥ इसी समय सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दमजीके उस आश्रममें मरीचि आदि मुनियोंके सहित श्रीब्रह्माजी आये ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—व्रता सुभद्रं । २. प्रा० पा०—यमेन । ३. प्रा० पा०—स स गन्धर्वा । ४. प्रा० पा०—परिश्रुतम् ।

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥१०॥
सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥११॥

ब्रह्मोवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः ।
यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥१२॥
एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥१३॥
इमा दुहितरः सभ्य तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥१४॥
अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥१५॥
वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥१६॥
ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरञ्जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥१७॥
एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥१८॥
अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥१९॥

मैत्रेय उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ ॥२०॥

शत्रुदमन विदुरजी ! स्वतःसिद्ध ज्ञानसे सम्पन्न अजन्मा ब्रह्माजीको यह मालूम हो गया था कि साक्षात् परब्रह्म भगवान् विष्णु सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिये अपने विशुद्ध सत्त्वमय अंशसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १० ॥ अतः भगवान् जिस कार्यको करना चाहते थे, उसका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे अनुमोदन एवं आदर किया और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्दमजीसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—प्रिय कर्दम ! तुम दूसरोंको मान देनेवाले हो । तुमने मेरा सम्मान करते हुए जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारे द्वारा निष्कपट-भावसे मेरी पूजा सम्पन्न हुई है ॥ १२ ॥ पुत्रोंको अपने पिता-की सबसे बड़ी सेवा यही करनी चाहिये कि 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदरपूर्वक उनके आदेशको स्वीकार करें ॥ १३ ॥ बेटा ! तुम सभ्य हो, तुम्हारी ये सुन्दरी कन्याएँ अपने वंशोंद्वारा इस सृष्टिको अनेक प्रकारसे बढ़ावेंगी ॥ १४ ॥ अब तुम इन मरीचि आदि मुनिवरों-को इनके स्वभाव और रुचिके अनुसार अपनी कन्याएँ समर्पण करो और संसारमें अपना सुयश फैलाओ ॥ १५ ॥ मुने ! मैं जानता हूँ जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी निधि हैं—उनके अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं, वे आदिपुरुष श्रीनारायण ही अपनी योगमायासे कपिलके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६ ॥ [फिर देवहूतिसे बोले—] राजकुमारी ! सुनहरे बाल, कमल-जैसे विशाल नेत्र और कमलाङ्कित चरणकमलोंवाले शिशुके रूपमें कैटभासुरको मारनेवाले साक्षात् श्रीहरिने ही, ज्ञान-विज्ञानद्वारा कर्मोंकी वासनाओं-का मूलोच्छेदन करनेके लिये, तेरे गर्भमें प्रवेश किया है ! ये अविद्याजनित मोहकी ग्रन्थियोंको काटकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरेंगे ॥ १७-१८ ॥ ये सिद्धगणोंके स्वामी और सांख्याचार्योंके भी माननीय होंगे । लोकमें तेरी कीर्तिका विस्तार करेंगे और 'कपिल' नामसे विख्यात होंगे ॥ १९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जगत्‌की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी उन दोनोंको इस प्रकार आश्वासन देकर नारद और सनकादिको साथ ले, हंसपर चढ़कर ब्रह्म-लोकको चले गये ॥ २० ॥ ब्रह्माजीके चले जानेपर

१. प्रा० पा०—मब्रवीत् । २. प्रा० पा०—ष्यन्ति नैकधा । ३. प्रा० पा०—त्रिधामप्रत्यपद्यत ।

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितॄः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥२१॥
मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥२२॥
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम् ।२३।
अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् ।२४।
ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥२५॥

कर्दमजीने उनके आज्ञानुसार मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ अपनी कन्याओंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥२१॥ उन्होंने अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अङ्गिराको और हविर्भू पुलस्त्यको समर्पण की ॥ २२ ॥ पुलहको उनके अनुरूप गति नामकी कन्या दी, क्रतुके साथ परम साध्वी क्रियाका विवाह किया, भृगुजीको ख्याति और वसिष्ठजीको अरुन्धती समर्पण की ।२३। अथर्वा ऋषिको शान्ति नामकी कन्या दी, जिससे यज्ञ कर्मका विस्तार किया जाता है । कर्दमजीने उन विवाहित ऋषियोंका उनकी पत्नियोंके सहित खूब सत्कार किया ॥ २४ ॥ विदुरजी ! इस प्रकार विवाह हो जानेपर वे सब ऋषि कर्दमजीकी आज्ञा ले अति आनन्दपूर्वक अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥ २५ ॥

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥२६॥
अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥२७॥
बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥२८॥
स एव भगवानद्य हेलनं नगणय्य नः ।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ॥२९॥
स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥३०॥
तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३१॥
त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये ॥३२॥

कर्दमजीने देखा कि उनके यहाँ साक्षात् देवाधिदेव श्रीहरिने ही अवतार लिया है, तो वे एकान्तमें उनके पास गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगे ॥२६॥ 'अहो ! अपने पापकर्मोंके कारण इस दुःखमय संसारमें नाना प्रकारसे पीड़ित होते हुए पुरुषोंपर देवगण तो बहुत काल बीतनेपर प्रसन्न होते हैं ॥ २७ ॥ किंतु जिनके स्वरूपको योगिजन अनेकों जन्मोंके साधनसे सिद्ध हुई सुदृढ़ समाधिके द्वारा एकान्तमें देखनेका प्रयत्न करते हैं, अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले वे ही श्रीहरि हम विषयलोलुपोंके द्वारा होनेवाली अपनी अवज्ञाका कुछ भी विचार न कर आज हमारे घर अवतीर्ण हुए हैं ॥२८-२९॥ आप वास्तवमें अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं । आपने अपने वचनोंको सत्य करने और सांख्ययोगका उपदेश करनेके लिये ही मेरे यहाँ अवतार लिया है ॥ ३० ॥ भगवन् ! आप प्राकृतरूपसे रहित हैं, आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं, वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश रूप आपके भक्तोंको प्रिय लगते हैं, वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं ॥३१॥ आपका पाद-पीठ तत्त्वज्ञानकी इच्छासे विद्वानोंद्वारा सर्वदा वन्दनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री—इन छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं । मैं आपकी शरणमें हूँ ॥३२॥

१. प्रा० पा०—सत्यव्रते । २. प्रा० पा०—सुदु० । ३. प्रा० पा०—स । ४. प्रा० पा०—यत् ।

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥३३॥
आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्[1] विशोकः ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके[2] ।
अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥३५॥
एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥३६॥
एष आत्मपथो[3]ऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा ।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥३७॥
गच्छ कामं मयाऽऽपृष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा ।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥३८॥
मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् ।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥३९॥
मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥४०॥

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥४१॥

भगवन् ! आप परब्रह्म हैं; सारी शक्तियाँ आपके अधीन हैं; प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, काल, त्रिविध अहंकार, समस्त लोक एवं लोकपालोंके रूपमें आप ही प्रकट हैं; तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपञ्चको चेतनशक्तिके द्वारा अपनेमें लीन कर लेते हैं । अतः इन सबसे परे भी आप ही हैं । मैं आप भगवान् कपिलकी शरण लेता हूँ ॥ ३३ ॥ प्रभो ! आपकी कृपासे मैं तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गया हूँ और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं । अब मैं संन्यास-मार्गको ग्रहणकर आपका चिन्तन करते हुए शोकरहित होकर विचरूँगा । आप समस्त प्रजाओंके स्वामी हैं, अतएव इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—मुने ! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमें संसारके लिये मेरा कथन ही प्रमाण है । इसलिये मैंने जो तुमसे कहा था कि 'मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा', उसे सत्य करनेके लिये ही मैंने यह अवतार लिया है ॥३५॥ इस लोकमें मेरा यह जन्म लिङ्गशरीरसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मुनियोंके लिये आत्मदर्शनमें उपयोगी प्रकृति आदि तत्त्वोंका विवेचन करनेके लिये ही हुआ है ॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग बहुत समयसे लुप्त हो गया है । इसे फिरसे प्रवर्तित करनेके लिये ही मैंने यह शरीर ग्रहण किया है—ऐसा जानो ॥ ३७ ॥ मुने ! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्युको जीतकर मोक्षपद प्राप्त करनेके लिये मेरा भजन करो ॥ ३८ ॥ मैं स्वयंप्रकाश और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाला परमात्मा ही हूँ । अतः जब तुम विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मेरा साक्षात्कार कर लोगे तब सब प्रकारके शोकोंसे छूटकर निर्भय पद (मोक्ष) प्राप्त कर लोगे ॥ ३९ ॥ माता देवहूतिको भी मैं सम्पूर्ण कर्मोंसे छुड़ानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे यह संसाररूप भयसे पार हो जायगी ॥ ४० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् कपिलके इस प्रकार कहनेपर प्रजापति कर्दमजी उनकी परिक्रमा कर प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये ॥ ४१ ॥

१. प्रा० पा०—युञ्जन्नशोकः । २. प्रा० पा०—लौकिकम् । ३. प्रा० पा०—थो नष्टोऽव्यक्तः ।

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।
निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥४२॥
मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् ।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥४३॥
निरहंकृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥४४॥
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥४५॥
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥४६॥
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥४७॥

वहाँ अहिंसामय संन्यास-धर्मका पालन करते हुए वे एकमात्र श्रीभगवान्‌की शरण हो गये तथा अग्नि और आश्रमका त्याग करके निःसङ्गभावसे पृथ्वीपर विचरने लगे॥४२॥ जो कार्यकारणसे अतीत है, सत्त्वादि गुणोंका प्रकाशक एवं निर्गुण है और अनन्य भक्तिसे ही प्रत्यक्ष होता है, उस परब्रह्ममें उन्होंने अपना मन लगा दिया॥ ४३ ॥ वे अहंकार, ममता और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटकर समदर्शी (भेददृष्टिसे रहित) हो, सबमें अपने आत्माको ही देखने लगे। उनकी बुद्धि अन्तर्मुख एवं शान्त हो गयी। उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहरोंवाले समुद्रके समान जान पड़ने लगे॥ ४४ ॥ परम भक्तिभावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त स्थिर हो जानेसे वे सारे बन्धनोंसे मुक्त हो गये ॥ ४५ ॥ सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मा श्रीभगवान्‌को और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मस्वरूप श्रीहरिमें स्थित देखने लगे ॥४६॥ इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समबुद्धि और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न होकर श्रीकर्दमजीने भगवान्‌का परमपद प्राप्त कर लिया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये[2] चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

देवहूतिका प्रश्न तथा भगवान् कपिलद्वारा भक्तियोगकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १ ॥
न[3] ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥ २ ॥
यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया ।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले भगवान् कपिल साक्षात् अजन्मा नारायण होकर भी लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश करनेके लिये अपनी मायासे उत्पन्न हुए थे ॥ १ ॥ मैंने भगवान्‌के बहुत-से चरित्र सुने हैं, तथापि इन योगिप्रवर पुरुषश्रेष्ठ कपिलजीकी कीर्तिको सुनते-सुनते मेरी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होतीं ॥ २ ॥ सर्वथा स्वतन्त्र श्रीहरि अपनी योगमायाद्वारा भक्तोंकी इच्छाके अनुसार शरीर धारण करके जो-जो लीलाएँ करते हैं, वे सभी कीर्तन करने योग्य हैं, अतः आप मुझे वे सभी सुनाइये, मुझे उन्हें सुननेमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—कृतिर्मम० । २. प्रा० पा०—कापिले । ३. प्रा० पा०—तर्ह्यस्य ।

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४ ॥

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल ।५।

तमासीनमकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम् ।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६ ॥

देवहूतिरुवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥

य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ॥१०॥

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥११॥

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥१२॥

सूतजी कहते हैं—मुने ! आपकी ही भाँति जब विदुरने भी यह आत्मज्ञानविषयक प्रश्न किया, तो श्रीव्यासजीके सखा भगवान् मैत्रेयजी प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! पिताके वनमें चले जानेपर भगवान् कपिलजी माताका प्रिय करनेकी इच्छासे उस बिन्दुसर तीर्थमें रहने लगे ॥ ५ ॥ एक दिन तत्त्वसमूहके पारदर्शी भगवान् कपिल कर्मकलापसे विरत हो आसनपर विराजमान थे । उस समय ब्रह्माजीके वचनोंका स्मरण करके देवहूतिने उनसे कहा ॥ ६ ॥

देवहूति बोली—भूमन् ! प्रभो ! इन दुष्ट इन्द्रियोंकी विषय-लालसासे मैं बहुत ऊब गयी हूँ और इनकी इच्छा पूरी करते रहनेसे ही घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई हूँ ॥ ७ ॥ अब आपकी कृपासे मेरी जन्मपरम्परा समाप्त हो चुकी है, इसीसे इस दुस्तर अज्ञानान्धकारसे पार लगानेके लिये सुन्दर नेत्ररूप आप प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥ आप सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी भगवान् आदिपुरुष हैं तथा अज्ञानान्धकारसे अन्धे पुरुषोंके लिये नेत्र-स्वरूप सूर्यकी भाँति उदित हुए हैं ॥ ९ ॥ देव ! इन देह-गेह आदिमें जो मैं-मेरेपनका दुराग्रह होता है, वह भी आपका ही कराया हुआ है; अतः अब आप मेरे इस महामोहको दूर कीजिये ॥ १० ॥ आप अपने भक्तोंके संसाररूप वृक्षके लिये कुठारके समान हैं; मैं प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आप शरणागत-वत्सलकी शरणमें आयी हूँ । आप भागवतधर्म जाननेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, मैं आपको प्रणाम करती हूँ ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार माता देवहूतिने अपनी जो अभिलाषा प्रकट की, वह परम पवित्र और लोगोंका मोक्षमार्गमें अनुराग उत्पन्न करनेवाली थी, उसे सुनकर आत्मज्ञ सत्पुरुषोंकी गति श्रीकपिलजी उसकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे और फिर मृदु मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दसे इस प्रकार कहने लगे ॥१२॥

१. प्रा० पा०—आहेदं । २. प्रा० पा०—मार्गप्रदर्शकम् । ३. प्राचीन प्रतिमें 'देवहूतिरुवाच' इतना अंश टिप्पणीमें है । ४. प्रा० पा०—ज्ञानेन । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' यह पाठ नहीं है ।

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥१३॥
तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥१४॥
चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु[1] सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥१५॥
अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥१६॥
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥१७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना[2] ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥१८॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥१९॥
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२०॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥२१॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२२॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः[3] ॥२३॥

भगवान् कपिलने कहा—माता ! यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्मयोग ही मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणका मुख्य साधन है, जहाँ दुःख और सुखकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है ॥ १३ ॥ साध्वि ! सब अङ्गोंसे सम्पन्न उस योगका मैंने पहले नारदादि ऋषियोंके सामने, उनकी सुननेकी इच्छा होनेपर, वर्णन किया था । वही अब मैं आपको सुनाता हूँ ॥ १४ ॥

इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है । विषयोंमें आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मोक्षका कारण बन जाता है ॥ १५ ॥ जिस समय यह मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभ आदि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखसे छूटकर सम अवस्थामें आ जाता है ॥१६॥ तब जीव अपने ज्ञान-वैराग्य और भक्तिसे युक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेद-रहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन (सुख-दुःखशून्य) देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है ॥ १७-१८ ॥ योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके निमित्त सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है ॥ १९ ॥ विवेकीजन सङ्ग या आसक्तिको ही आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं; किंतु वही सङ्ग या आसक्ति जब संतों—महापुरुषोंके प्रति हो जाती है, तो मोक्षका खुला द्वार बन जाती है ॥ २० ॥

जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियोंके अकारण हितू, किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त, सरलस्वभाव और सत्पुरुषोंका सम्मान करनेवाले होते हैं, जो मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ प्रेम करते हैं, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी त्याग देते हैं और मेरे परायण रहकर मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण, कीर्तन करते हैं तथा मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तोंको संसारके तरह-तरहके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं ॥२१—२३॥ साध्वि !

१. प्रा० पा०—गुणे प्रसक्तं । २. प्रा० पा०—चेतसा । ३. प्रा० पा०—नैकात्मगत० ।

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः¹।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥२४॥
सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२५॥
भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥२६॥
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥२७॥

ऐसे-ऐसे सर्वसङ्गपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हींके सङ्गकी इच्छा करनी चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेनेवाले हैं ॥ २४ ॥ सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होगा ॥ २५ ॥ फिर मेरी सृष्टि आदि लीलाओंका चिन्तन करनेसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य हो जानेपर मनुष्य सावधानतापूर्वक योगके भक्तिप्रधान सरल उपायोंसे समाहित होकर मनोनिग्रहके लिये यत्न करेगा ॥ २६ ॥ इस प्रकार प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न हुए शब्दादि विषयोंका त्याग करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्माको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥२८॥
यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥२९॥
तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे ।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥३०॥

देवहूतिने कहा—भगवन्! आपकी समुचित भक्तिका स्वरूप क्या है? और मेरी-जैसी अबलाओंके लिये कैसी भक्ति ठीक है, जिससे कि मैं सहजमें ही आपके निर्वाणपदको प्राप्त कर सकूँ? ॥ २८ ॥ निर्वाणस्वरूप प्रभो! जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है और जो लक्ष्यको बेधनेवाले बाणके समान भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है, वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं? ॥ २९ ॥ हरे! यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाइये जिससे कि आपकी कृपासे मैं मन्दमति स्त्रीजाति भी इस दुर्बोध विषयको सुगमतासे समझ सकूँ ॥ ३० ॥

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच² वै भक्तिवितानयोगम् ॥३१॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! जिसके शरीरसे उन्होंने स्वयं जन्म लिया था, उस अपनी माताका ऐसा अभिप्राय जानकर कपिलजीके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले शास्त्रका, जिसे सांख्य कहते हैं, उपदेश किया। साथ ही भक्ति-विस्तार एवं योगका भी वर्णन किया ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—विनिर्गताः। २. प्रा० पा०—प्रावोचद्वै।

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥३२॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३३॥
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्-
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३४॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥३५॥
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥३६॥
अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥३७॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥३८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—माता ! जिसका चित्त एकमात्र भगवान्‌में ही लग गया है, ऐसे मनुष्यकी वेद-विहित कर्मोंमें लगी हुई तथा विषयोंका ज्ञान करानेवाली (कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय—दोनों प्रकारकी) इन्द्रियोंकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति है । यह मुक्तिसे भी बढ़कर है; क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्मसंस्कारोंके भंडाररूप लिङ्गशरीरको तत्काल भस्म कर देती है ॥ ३२-३३ ॥ मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो एक दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष) की भी इच्छा नहीं करते ॥ ३४ ॥ मा ! वे साधुजन अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्दसे युक्त मेरे परम सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंकी झाँकी करते हैं और उनके साथ सप्रेम सम्भाषण भी करते हैं, जिसके लिये बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं ॥ ३५ ॥ दर्शनीय अङ्ग-प्रत्यङ्ग, उदार हास-विलास, मनोहर चितवन और सुमधुर वाणीसे युक्त मेरे उन रूपोंकी माधुरीमें उनका मन और इन्द्रियाँ फँस जाती हैं । ऐसी मेरी भक्ति न चाहनेपर भी उन्हें परमपदकी प्राप्ति करा देती है ॥ ३६ ॥ अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर यद्यपि वे मुझ मायापतिके सत्यादि लोकोंकी भोगसम्पत्ति, भक्तिकी प्रवृत्तिके पश्चात् स्वयं प्राप्त होनेवाली अष्ट-सिद्धि अथवा वैकुण्ठलोकके भगवदीय ऐश्वर्यकी भी इच्छा नहीं करते, तथापि मेरे धाममें पहुँचनेपर उन्हें ये सब विभूतियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३७ ॥ जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ । वे मेरे ही आश्रयमें रहनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर किसी प्रकार भी इन दिव्य भोगोंसे रहित नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस सकता है ॥ ३८ ॥

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥३९॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरति[1]पारये ॥४०॥
नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं[2] निवर्तते ॥४१॥
मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥४२॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्[3] ॥४३॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥४४॥

माताजी ! जो लोग इहलोक, परलोक और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गदेहको तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जो धन, पशु एवं गृह आदि पदार्थ हैं, उन सबको और अन्यान्य संग्रहोंको भी छोड़कर अनन्य भक्तिसे सब प्रकार मेरा ही भजन करते हैं—उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागरसे पार कर देता हूँ ॥ ३९-४० ॥ मैं साक्षात् भगवान् हूँ, प्रकृति और पुरुषका भी प्रभु हूँ तथा समस्त प्राणियोंका आत्मा हूँ । मेरे सिवा और किसीका आश्रय लेनेसे मृत्युरूप महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता ॥ ४१ ॥ मेरे भयसे यह वायु चलती है, मेरे भयसे सूर्य तपता है, मेरे भयसे इन्द्र वर्षा करता और अग्नि जलाती है तथा मेरे ही भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥ योगिजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोगके द्वारा शान्ति प्राप्त करनेके लिये मेरे निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं ॥ ४३ ॥ संसारमें मनुष्यके लिये सबसे बड़ी कल्याणप्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने[4] पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥
ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी ! अब मैं तुम्हें प्रकृति आदि सब तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बतलाता हूँ; इन्हें जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥ आत्मदर्शनरूप ज्ञान ही पुरुषके मोक्षका कारण है और वही उसकी अहङ्काररूप हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं । उस ज्ञानका मैं तुम्हारे आगे वर्णन करता

१. प्रा० पा०—रभिपारये । २. प्रा० पा०—सर्वे । ३. प्रा० पा०—कुतोभयाः । ४. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है ।

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्[1] ॥ ३ ॥
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४ ॥
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥ ५ ॥
एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६ ॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं[2] प्रकृतेः परम् ॥ ८ ॥

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १० ॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११ ॥
महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२ ॥

हूँ ॥ २ ॥ यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है । वह अनादि, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला और स्वयंप्रकाश है ॥ ३ ॥ उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास लीला-विलासपूर्वक आयी हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको स्वेच्छासे स्वीकार कर लिया ॥ ४ ॥ लीलापरायण प्रकृति अपने सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप प्रजाकी सृष्टि करने लगी; यह देख पुरुष ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्तिसे मोहित हो गया, अपने स्वरूपको भूल गया ॥ ५ ॥ इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृतिको ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको ही कर्ता मानने लगता है ॥ ६ ॥ इस कर्तृत्वाभिमानसे ही अकर्ता स्वाधीन, साक्षी और आनन्दस्वरूप पुरुषको जन्म-मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रिय तथा कर्तारूप इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंमें पुरुष जो अपनेपनका आरोप कर लेता है, उसमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण मानते हैं तथा वास्तवमें प्रकृतिसे परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है, उस पुरुषको सुख-दुःखोंके भोगनेमें कारण मानते हैं ॥ ८ ॥

देवहूतिने कहा—पुरुषोत्तम ! इस विश्वके स्थूल-सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृति और पुरुषका लक्षण भी आप मुझसे कहिये ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है, उस प्रधान नामक तत्त्वको ही प्रकृति कहते हैं ॥ १० ॥ पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रिय—इन चौबीस तत्त्वोंके समूहको विद्वान् लोग प्रकृतिका कार्य मानते हैं ॥ ११ ॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्र माने गये हैं ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—प्रकाशितम् । २. प्रा० पा०—पुरुषः प्रकृतेः परः ।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः ।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥१३॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥१४॥
एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥१५॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् ।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥१६॥
प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥१७॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥१८॥
दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥१९॥
विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥२०॥
यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥२१॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—ये दस इन्द्रियाँ हैं ॥ १३ ॥ मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—इन चारके रूपमें एक ही अन्तःकरण अपनी सङ्कल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमानरूपा चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है ॥ १४ ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने सगुण ब्रह्मके सन्निवेशस्थान इन चौबीस तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है । इनके सिवा जो काल है, वह पचीसवाँ तत्त्व है ॥ १५ ॥ कुछ लोग कालको पुरुषसे भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुषका प्रभाव अर्थात् ईश्वरकी संहारकारिणी शक्ति बताते हैं । जिससे मायाके कार्यरूप देहादिमें आत्मत्वका अभिमान करके अहङ्कारसे मोहित और अपनेको कर्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय लगा रहता है ॥ १६ ॥ मनुपुत्रि ! जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वास्तवमें वे पुरुषरूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं ॥ १७ ॥ इस प्रकार जो अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पचीसवें तत्त्व हैं ॥ १८ ॥

जब परमपुरुष परमात्माने जीवोंके अदृष्टवश शोकको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्तिस्थानरूपा अपनी मायामें चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित किया, तो उससे तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥ लय-विक्षेपादिरहित तथा जगत्के अङ्कुररूप इस महत्तत्त्वने अपनेमें स्थित विश्वको प्रकट करनेके लिये अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया ॥ २० ॥

जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्‌की उपलब्धिका स्थानरूप चित्त है, वही महत्तत्त्व है और उसीको 'वासुदेव' कहते हैं* ॥ २१ ॥ जिस प्रकार

१. प्रा० पा०—प्रधानं पुरुषं प्रा० ।

* जिसे अध्यात्ममें चित्त कहते हैं; उसको अधिभूतमें महत्तत्त्व कहा जाता है । चित्तमें अधिष्ठाता 'क्षेत्रज्ञ' और उपास्यदेव 'वासुदेव' हैं । इसी प्रकार अहङ्कारमें अधिष्ठाता 'रुद्र' और उपास्यदेव 'सङ्कर्षण' हैं, बुद्धिमें अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' और उपास्यदेव 'प्रद्युम्न' हैं तथा मनमें अधिष्ठाता 'चन्द्रमा' और उपास्यदेव 'अनिरुद्ध' हैं ।

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥२२॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥२३॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥२४॥
सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्ष्ते[1] ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥२५॥
कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति[2] वा स्यादहंकृतेः ॥२६॥
वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः[3] ॥२७॥
यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥२८॥
तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥२९॥
संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्[4] ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥३१॥

पृथ्वी आदि अन्य पदार्थोंके संसर्गसे पूर्व जल अपनी स्वाभाविक (फेन-तरङ्गादिरहित) अवस्थामें अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य एवं शान्त होता है, उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्थाकी दृष्टिसे स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व ही वृत्तियोंसहित चित्तका लक्षण कहा गया है ॥ २२ ॥ तदनन्तर भगवान्‌की वीर्यरूप चित्-शक्तिसे उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे क्रियाशक्तिप्रधान अहङ्कार उत्पन्न हुआ । वह वैकारिक, तैजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है । उसीसे क्रमशः मन, इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई ॥ २३-२४ ॥ इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहङ्कारको ही पण्डितजन साक्षात् 'सङ्कर्षण' नामक सहस्र सिरवाले अनन्तदेव कहते हैं ॥ २५ ॥ इस अहङ्कारका देवतारूपसे कर्तृत्व, इन्द्रियरूपसे करणत्व और पञ्चभूतरूपसे कार्यत्व लक्षण है तथा सत्त्वादि गुणोंके सम्बन्धसे शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व भी इसीके लक्षण हैं ॥ २६ ॥ उपर्युक्त तीन प्रकारके अहङ्कारमेंसे वैकारिक अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे मन हुआ, जिसके सङ्कल्प-विकल्पोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥ यह मनस्तत्त्व ही इन्द्रियोंके अधिष्ठाता 'अनिरुद्ध' के नामसे प्रसिद्ध है । योगिजन शरत्कालीन नीलकमलके समान श्याम वर्णवाले इन अनिरुद्धजीकी शनैः-शनैः मनको वशीभूत करके आराधना करते हैं ॥ २८ ॥ साध्वि ! फिर तैजस अहङ्कारमें विकार होनेपर उससे बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ । वस्तुका स्फुरणरूप विज्ञान और इन्द्रियोंके व्यापारमें सहायक होना—पदार्थोंका विशेष ज्ञान करना—ये बुद्धिके कार्य हैं ॥ २९ ॥ वृत्तियोंके भेदसे संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान), निश्चय, स्मृति और निद्रा भी बुद्धिके ही लक्षण हैं । यह बुद्धितत्त्व ही 'प्रद्युम्न' है ॥ ३० ॥ इन्द्रियाँ भी तैजस अहङ्कारका ही कार्य हैं । कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भेद हैं । इनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—प्रवर्तते । २. प्रा० पा०—शान्तं घोरं वि० । ३. प्रा० पा०—कार्यसं० । ४. प्रा० पा०—क्वचित् ।

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः[1] श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥३२॥
अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥३३॥
भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३४॥
नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ॥३५॥
मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥३६॥
चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥३७॥
वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥३८॥
द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥३९॥
द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥४०॥
रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥४१॥

भगवान्‌की चेतनशक्तिकी प्रेरणासे तामस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे शब्दतन्मात्रका प्रादुर्भाव हुआ । शब्दतन्मात्रसे आकाश तथा शब्दका ज्ञान करानेवाली श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥ ३२ ॥ अर्थका प्रकाशक होना, ओटमें खड़े हुए वक्ताका भी ज्ञान करा देना और आकाशका सूक्ष्म रूप होना—विद्वानोंके मतमें यही शब्दके लक्षण हैं ॥ ३३ ॥ भूतोंको अवकाश देना, सबके बाहर-भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये आकाशके वृत्ति (कार्य) रूप लक्षण हैं ॥ ३४ ॥

फिर शब्दतन्मात्रके कार्य आकाशमें कालगतिसे विकार होनेपर स्पर्शतन्मात्र हुआ और उससे वायु तथा स्पर्शका ग्रहण करानेवाली त्वगिन्द्रिय (त्वचा) उत्पन्न हुई ॥ ३५ ॥ कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता तथा वायुका सूक्ष्म रूप होना—ये स्पर्शके लक्षण हैं ॥ ३६ ॥ वृक्षकी शाखा आदिको हिलाना, तृणादिको इकट्ठा कर देना, सर्वत्र पहुँचना, गन्धादियुक्त द्रव्यको घ्राणादि इन्द्रियोंके पास तथा शब्दको श्रोत्रेन्द्रियके समीप ले जाना तथा समस्त इन्द्रियोंको कार्यशक्ति देना—ये वायुकी वृत्तियोंके लक्षण हैं ॥ ३७ ॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे स्पर्शतन्मात्रविशिष्ट वायुके विकृत होनेपर उससे रूपतन्मात्र हुआ तथा उससे तेज और रूपको उपलब्ध करानेवाली नेत्रेन्द्रियका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३८ ॥ साध्वि ! वस्तुके आकारका बोध कराना, गौण होना—द्रव्यके अङ्गरूपसे प्रतीत होना, द्रव्यका जैसा आकार-प्रकार और परिमाण आदि हो उसी रूपमें उपलक्षित होना तथा तेजका स्वरूपभूत होना—ये सब रूपतन्मात्रकी वृत्तियाँ हैं ॥ ३९ ॥ चमकना, पकाना, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास पैदा करना और उनकी निवृत्तिके लिये भोजन एवं जलपान कराना—ये तेजकी वृत्तियाँ हैं ॥ ४० ॥

फिर दैवकी प्रेरणासे रूपतन्मात्रमय तेजके विकृत होनेपर उससे रसतन्मात्र हुआ और उससे जल तथा रसको ग्रहण करानेवाली रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई ॥ ४१ ॥

१. प्रा० पा०—तस्वन्नभः ।

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा[1] ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥४२॥
क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥४३॥
रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥४४॥
करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः[2] पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥४५॥
भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥४६॥
नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥४७॥
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥४८॥
परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते[3] ॥४९॥
एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥५०॥

रस अपने शुद्ध स्वरूपमें एक ही है, किंतु अन्य भौतिक पदार्थोंके संयोगसे वह कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि कई प्रकारका हो जाता है ॥ ४२ ॥ गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास बुझाना, पदार्थोंको मृदु कर देना, तापकी निवृत्ति करना और कूपादिमेंसे निकाल लिये जानेपर भी वहाँ बार-बार पुनः प्रकट हो जाना—ये जलकी वृत्तियाँ हैं ॥ ४३ ॥

इसके पश्चात् दैवप्रेरित रसस्वरूप जलके विकृत होनेपर उससे गन्धतन्मात्र हुआ और उससे पृथ्वी तथा गन्धको ग्रहण करानेवाली घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुई ॥ ४४ ॥ गन्ध एक ही है; तथापि परस्पर मिले हुए द्रव्यभागोंकी न्यूनाधिकतासे वह मिश्रितगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, मृदु, तीव्र और अम्ल (खट्टा) आदि अनेक प्रकारका हो जाता है ॥ ४५ ॥ प्रतिमादिरूपसे ब्रह्मकी साकार-भावनाका आश्रय होना, जल आदि कारण तत्त्वोंसे भिन्न किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा किये बिना ही स्थित रहना, जल आदि अन्य पदार्थोंको धारण करना, आकाशादिका अवच्छेदक होना (घटाकाश, मठाकाश आदि भेदोंको सिद्ध करना) तथा परिणामविशेषसे सम्पूर्ण प्राणियोंके [स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि] गुणोंको प्रकट करना—ये पृथ्वीके कार्यरूप लक्षण हैं ॥ ४६ ॥

आकाशका विशेष गुण शब्द जिसका विषय है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है; वायुका विशेष गुण स्पर्श जिसका विषय है, वह त्वगिन्द्रिय है ॥ ४७ ॥ तेजका विशेष गुण रूप जिसका विषय है, वह नेत्रेन्द्रिय है; जलका विशेष गुण रस जिसका विषय है, वह रसनेन्द्रिय है और पृथ्वीका विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं ॥ ४८ ॥ वायु आदि कार्य-तत्त्वोंमें आकाशादि कारण-तत्त्वोंके रहनेसे उनके गुण भी अनुगत देखे जाते हैं, इसलिये समस्त महाभूतोंके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध केवल पृथ्वीमें ही पाये जाते हैं ॥ ४९ ॥ जब महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चभूत—ये सात तत्त्व परस्पर मिल न सके—पृथक्-पृथक् ही रह गये, तब जगत्‌के आदिकारण श्रीनारायणने काल, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणोंके सहित उनमें प्रवेश किया ॥५०॥

१. प्रा० पा०—नैकशः । २. प्रा० पा०—म्राच्छा० । ३. प्रा० पा०—लभ्यते ।

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥५१॥
एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥५२॥
हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥५३॥
निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ॥५४॥
घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥५५॥
निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥५६॥
रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥५७॥
हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥५८॥
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।

फिर परमात्माके प्रवेशसे क्षुब्ध और आपसमें मिले हुए उन तत्त्वोंसे एक जड अण्ड उत्पन्न हुआ । उस अण्डसे इस विराट् पुरुषकी अभिव्यक्ति हुई ॥ ५१ ॥ इस अण्डका नाम विशेष है, इसीके अन्तर्गत श्रीहरिके स्वरूपभूत चौदहों भुवनोंका विस्तार है । यह चारों ओरसे क्रमशः एक-दूसरेसे दसगुने जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्तत्त्व—इन छः आवरणोंसे घिरा हुआ है । इन सबके बाहर सातवाँ आवरण प्रकृतिका है ॥ ५२ ॥ कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उस विराट् पुरुषने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकारके छिद्र किये ॥५३॥ सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ, उससे वाक्-इन्द्रिय और उसके अनन्तर वाक्का अधिष्ठाता अग्नि उत्पन्न हुआ । फिर नाकके छिद्र (नथुने) प्रकट हुए, उनसे प्राणसहित घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥ ५४ ॥ घ्राणके बाद उसका अधिष्ठाता वायु उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् नेत्रगोलक प्रकट हुए, उनसे चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई और उसके अनन्तर उसका अधिष्ठाता सूर्य उत्पन्न हुआ । फिर कानोंके छिद्र प्रकट हुए, उनसे उनकी इन्द्रिय, श्रोत्र और उसके अभिमानी दिग्देवता प्रकट हुए ॥५५॥ इसके बाद उस विराट् पुरुषके त्वचा उत्पन्न हुई । उससे रोम, मूँछ-दाढ़ी तथा सिरके बाल प्रकट हुए और उनके बाद त्वचाकी अभिमानी ओषधियाँ (अन्न आदि) उत्पन्न हुईं । इसके पश्चात् लिङ्ग प्रकट हुआ ॥ ५६ ॥ उससे वीर्य और वीर्यके बाद लिङ्गका अभिमानी आपोदेव (जल) उत्पन्न हुआ । फिर गुदा प्रकट हुई, उससे अपान-वायु और अपानके बाद उसका अभिमानी लोकोंको भयभीत करनेवाला मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ ॥ ५७ ॥ तदनन्तर हाथ प्रकट हुए, उनसे बल और बलके बाद हस्तेन्द्रियका अभिमानी इन्द्र उत्पन्न हुआ । फिर चरण प्रकट हुए, उनसे गति (गमनकी क्रिया) और फिर पादेन्द्रियका अभिमानी विष्णुदेवता उत्पन्न हुआ ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके नाडियाँ प्रकट हुईं, तो उनसे रुधिर उत्पन्न हुआ और उससे

१. प्रा० पा०—नेन वृतै० । २-३. प्राचीन प्रतिमें चिह्न २ से ३ तकके बीचका अंश मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है । ४. प्रा० पा०—माश्रितं ।

नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥५९॥

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत्।

अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥६०॥

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।

अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥६१॥

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्।

पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥६२॥

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६३॥

अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६४॥

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६५॥

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६६॥

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६७॥

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६८॥

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्।

नदियाँ हुईं । फिर उसके उदर (पेट) प्रकट हुआ ॥ ५९ ॥ उससे क्षुधा-पिपासाकी अभिव्यक्ति हुई और फिर उदरका अभिमानी समुद्रदेवता उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् उसके हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मनका प्राकट्य हुआ ॥ ६० ॥ मनके बाद उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा हुआ । फिर हृदयसे ही बुद्धि और उसके बाद उसका अभिमानी ब्रह्मा हुआ । तत्पश्चात् अहङ्कार और उसके अनन्तर उसका अभिमानी रुद्रदेवता उत्पन्न हुआ । इसके बाद चित्त और उसका अभिमानी क्षेत्रज्ञ प्रकट हुआ ॥ ६१ ॥

जब ये क्षेत्रज्ञके अतिरिक्त सारे देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे, तो उसे उठानेके लिये क्रमशः फिर अपने-अपने उत्पत्तिस्थानोंमें प्रविष्ट होने लगे ॥ ६२ ॥ अग्निने वाणीके साथ मुखमें प्रवेश किया, परंतु इससे विराट् पुरुष न उठा । वायुने घ्राणेन्द्रियके सहित नासाछिद्रोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६३ ॥ सूर्यने चक्षुके सहित नेत्रोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा । दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके सहित कानोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६४ ॥ ओषधियोंने रोमोंके सहित त्वचामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । जलने वीर्यके साथ लिङ्गमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६५ ॥ मृत्युने अपानके साथ गुदामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । इन्द्रने बलके साथ हाथोंमें प्रवेश किया, परंतु इससे भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६६ ॥ विष्णुने गतिके सहित चरणोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा । नदियोंने रुधिरके सहित नाडियोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६७ ॥ समुद्रने क्षुधा-पिपासाके सहित उदरमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । चन्द्रमाने मनके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६८ ॥ ब्रह्माने बुद्धिके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ।

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है तथा ६५वें श्लोकके 'रेतसा शिश्नमा०' इसके पहले मूलमें भी है, परंतु 'घ्राणेन' की जगह 'प्राणेन' पाठ है और 'नासिके'के स्थानमें 'नासिका' है ।

रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६९॥
चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥७०॥
यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥७१॥
तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत्॥७२

रुद्रने अहङ्कारके सहित उसी हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥६९॥ किंतु जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो विराट् पुरुष उसी समय जलसे उठकर खड़ा हो गया ॥७०॥ जिस प्रकार लोकमें प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञकी सहायताके बिना सोये हुए प्राणीको अपने बलसे नहीं उठा सकते, उसी प्रकार विराट् पुरुषको भी वे क्षेत्रज्ञ परमात्माके बिना नहीं उठा सके ॥७१॥ अतः भक्ति, वैराग्य और चित्तकी एकाग्रतासे प्रकट हुए ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षेत्रज्ञको इस शरीरमें स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये तत्त्वसमाम्नाये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषके विवेकसे मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥
स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहंक्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २ ॥
न संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः ।
सङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३ ॥
र्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी ! जिस तरह जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके साथ जलके शीतलता, चञ्चलता आदि गुणोंका सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति-के कार्य शरीरमें स्थित रहनेपर भी आत्मा वास्तवमें उसके सुख-दुःखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह स्वभावसे निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है ॥ १ ॥ किंतु जब वही प्राकृत गुणोंसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहङ्कारसे मोहित होकर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानने लगता है ॥ २ ॥ उस अभिमानके कारण वह देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर संसारचक्रमें घूमता रहता है ॥ ३ ॥ जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिका कोई कारण न होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो[1] यथा ॥ ४ ॥
अत[2] एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५ ॥
यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ्छ्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च[3] ॥ ६ ॥
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण ब[4]लीयसा ॥ ७ ॥
यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ८ ॥
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९ ॥
निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ १० ॥
मुक्तलिङ्गं सदाभासम[5]सति प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ ११ ॥
यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन त[6]था सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ १२ ॥
एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥ १३ ॥

जन्म-मरणादिरूप संसारकी कोई सत्ता न होनेपर भी अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे जीवका संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता ॥ ४ ॥ इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि असन्मार्ग (विषय-चिन्तन) में फँसे हुए चित्तको तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा धीरे-धीरे अपने वशमें लावे ॥ ५ ॥

यमादि योगसाधनोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास—चित्तको बारंबार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा भाव रखने, मेरी कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियोंमें समभाव रखने, किसीसे वैर न करने, आसक्तिके त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन-व्रत और बलिष्ठ (अर्थात् भगवान्‌को समर्पित किये हुए) स्वधर्मसे जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि—प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसीमें संतुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्तमें रहता है, शान्तस्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान् है, प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपके अनुभवसे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानके कारण स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंके सहित इस देहमें मैं-मेरेपनका मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धिकी जाग्रदादि अवस्थाओंसे भी अलग हो गया है तथा परमात्माके सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता—वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरणद्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियोंसे पृथक्, अहङ्कारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्यरूपसे भासनेवाला, जगत्कारणभूता प्रकृतिका अधिष्ठान, महदादि कार्यवर्गका प्रकाशक और कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त है ॥ ६—११ ॥

जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब दीवालपर पड़े हुए अपने आभासके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे आकाश-स्थित सूर्यका ज्ञान होता है, उसी प्रकार वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहङ्कार देह, इन्द्रिय और मनमें

१. प्रा० पा०—स्वप्नेनार्थाग० । २. प्रा० पा०—अतः शनैः । ३. प्रा० पा०—तु । ४. प्रा० पा०—महीयसा । ५. प्रा० पा०—मगतिं । ६. प्रा० पा०—यथा ।

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः ॥१४॥

मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥१५॥

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥१६॥

देवहूतिरुवाच

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ॥१७॥

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥१८॥

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥१९॥

क्वचित् तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते ॥२०॥

श्रीभगवानुवाच

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥२१॥

स्थित अपने प्रतिबिम्बोंसे लक्षित होता है और फिर सत् परमात्माके प्रतिबिम्बयुक्त उस अहंकारके द्वारा सत्य-ज्ञानस्वरूप परमात्माका दर्शन होता है—जो सुषुप्तिके समय निद्रासे शब्दादि भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय और मन-बुद्धि आदिके अव्याकृतमें लीन हो जानेपर स्वयं जागता रहता है और सर्वथा अहंकारशून्य है ॥ १२–१४ ॥ (जाग्रत्-अवस्थामें यह आत्मा भूतसूक्ष्मादि दृश्यवर्गके द्रष्टारूपमें स्पष्टतया अनुभवमें आता है; (किंतु) सुषुप्ति-के समय अपने उपाधिभूत अहंकारका नाश होनेसे वह भ्रमवश अपनेको ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धनका नाश हो जानेपर मनुष्य अपनेको भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है ॥ १५ ॥ माताजी ! इन सब बातोंका मनन करके विवेकी पुरुष अपने आत्माका अनुभव कर लेता है, जो अहंकारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंका अधिष्ठान और प्रकाशक है ॥ १६ ॥

देवहूतिने पूछा—प्रभो ! पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य और एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं, इसलिये प्रकृति तो पुरुषको कभी छोड़ ही नहीं सकती ॥ १७ ॥ ब्रह्मन् ! जिस प्रकार गन्ध और पृथ्वी तथा रस और जलकी पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते ॥ १८ ॥ अतः जिनके आश्रयसे अकर्त्ता पुरुषको यह कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है, उन प्रकृतिके गुणोंके रहते हुए उसे कैवल्यपद कैसे प्राप्त होगा ? ॥ १९ ॥ यदि तत्त्वोंका विचार करनेसे कभी यह संसारबन्धनका तीव्र भय निवृत्त हो भी जाय, तो भी उसके निमित्तभूत प्राकृत गुणोंका अभाव न होनेसे वह भय फिर उपस्थित हो सकता है ॥ २० ॥

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी ! जिस प्रकार अग्निका उत्पत्तिस्थान अरणि अपनेसे ही उत्पन्न अग्निसे जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये हुए स्वधर्मपालनद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बहुत समय-

१. प्रा० पा०—नित्यत्वाच्चा० । २. प्रा० पा०—सकृत् । ३. प्रा० पा०—तत्त्वमु० । ४. प्रा० पा०—अनिमित्त० ।
५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है ।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥२२॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥२३॥
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥२४॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥२५॥
एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥२६॥
यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥२७॥
मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥२८॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे[1] ॥२९॥
यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग[2] ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥३०॥

तक भगवत्कथा-श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्तिसे, तत्त्वसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे, व्रत-नियमादिके सहित किये हुए ध्यानाभ्याससे और चित्तकी प्रगाढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है ॥२१–२३॥ फिर नित्यप्रति दोष दीखनेसे भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूपमें स्थित और स्वतन्त्र (बन्धनमुक्त) हुए उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥२४॥ जैसे सोये हुए पुरुषको स्वप्नमें कितने ही अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, किंतु जग पड़नेपर उसे उन स्वप्नके अनुभवोंसे किसी प्रकारका मोह नहीं होता ॥२५॥ उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥ २६ ॥ जब मनुष्य अनेकों जन्मोंमें बहुत समयतक इस प्रकार आत्मचिन्तनमें ही निमग्न रहता है, तब उसे ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी प्रकारके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है ॥२७॥ मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयोंसे मुक्त हो जाता है और फिर लिङ्गदेहका नाश होनेपर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्य-संज्ञक मङ्गलमय पदको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँचनेपर योगी फिर लौटकर नहीं आता ॥२८-२९॥ माताजी ! यदि योगीका चित्त योगसाधनसे बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियोंमें, जिनकी प्राप्तिका योगके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है, नहीं फँसता, तो उसे मेरा वह अविनाशी परमपद प्राप्त होता है—जहाँ मृत्युकी कुछ भी दाल नहीं गलती ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने[3] सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—लिङ्गविनिर्गमे । २. प्रा० पा०—जते कथम् । ३. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है ।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अष्टाङ्गयोगकी विधि

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २ ॥
ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४ ॥
मौनं सदाऽऽसनजयस्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥
स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः ॥ ६ ॥
एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम् ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७ ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति[1] समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९ ॥

कपिल भगवान् कहते हैं—माताजी ! अब मैं तुम्हें सबीज (ध्येयस्वरूपके आलम्बनसे युक्त) योगका लक्षण बताता हूँ, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्माके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है ॥ १ ॥ यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वधर्मका पालन करना तथा शास्त्रविरुद्ध आचरणका परित्याग करना, प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी पूजा करना, ॥२॥ विषयवासनाओंको बढ़ानेवाले कर्मोंसे दूर रहना, संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले धर्मोंमें प्रेम करना, पवित्र और परिमित भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थानमें रहना, ॥ ३ ॥ मन, वाणी और शरीरसे किसी जीवको न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, तपस्या करना (धर्मपालनके लिये कष्ट सहना), बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्‌की पूजा करना, ॥ ४ ॥ वाणीका संयम करना, उत्तम आसनोंका अभ्यास करके स्थिरतापूर्वक बैठना, धीरे-धीरे प्राणायामके द्वारा श्वासको जीतना, इन्द्रियोंको मनके द्वारा विषयोंसे हटाकर अपने हृदयमें ले जाना, ॥ ५ ॥ मूलाधार आदि किसी एक केन्द्रमें मनके सहित प्राणोंको स्थिर करना, निरन्तर भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन और चित्तको समाहित करना, ॥ ६ ॥ इनसे तथा व्रत-दानादि दूसरे साधनोंसे भी सावधानीके साथ प्राणोंको जीतकर बुद्धिके द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्तको धीरे-धीरे एकाग्र करे, परमात्माके ध्यानमें लगावे ॥ ७ ॥

पहले आसनको जीते, फिर प्राणायामके अभ्यासके लिये पवित्र देशमें कुश-मृगचर्मादिसे युक्त आसन बिछावे। उसपर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे ॥ ८ ॥ आरम्भमें पूरक, कुम्भक और रेचक-क्रमसे अथवा इसके विपरीत रेचक, कुम्भक और पूरक करके प्राणके मार्गका शोधन करे—जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—स्वस्तिकमासी० ।

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ।१०।
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्[1] ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।११।
यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ।।१२।।
प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ।।१३।।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।।१४।।
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ।।१५।।
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ।।१६।।
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्[2] ।।१७।।
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ।।१८।।
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ।।१९।।

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने मलको त्याग देता है, उसी प्रकार जो योगी प्राणवायुको जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है ॥ १० ॥ अतः योगीको उचित है कि प्राणायामसे वात-पित्तादिजनित दोषोंको, धारणासे पापोंको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे भगवद्विमुख करनेवाले रागद्वेषादि दुर्गुणोंको दूर करे ॥ ११ ॥ जब योगका अभ्यास करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाय, तब नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर इस प्रकार भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करे ॥ १२ ॥

भगवान्‌का मुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमलकोशके समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमलदलके समान श्याम है; हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हैं ॥ १३ ॥ कमलकी केसरके समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है और गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है ॥ १४ ॥ वनमाला चरणोंतक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर भौंरे सुगन्धसे मतवाले होकर मधुर गुंजार कर रहे हैं; अङ्ग-प्रत्यङ्गमें महामूल्य हार, कङ्कण, किरीट, भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं ॥१५॥ कमरमें करधनीकी लड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही हैं; भक्तोंके हृदयकमल ही उनके आसन हैं, उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ १६ ॥ उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है, वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं। बड़ी मनोहर झाँकी है। भगवान् सदा सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दित हैं ॥ १७ ॥ उनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है और वे राजा बलि आदि परम यशस्वियोंके भी यशको बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अङ्गोंके सहित तबतक ध्यान करे, जबतक चित्त वहाँसे हटे नहीं ॥१८॥ भगवान्‌की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय हैं; अतः अपनी रुचिके अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पौढ़े हुए अथवा अन्तर्यामीरूपमें स्थित हुए उनके स्वरूपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे ॥१९॥ इस प्रकार योगी

१. प्रा० पा०—षम्। २. प्रा० पा०—भूत्या०।

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥२०॥

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥२१॥

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥२२॥

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥२३॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥२४॥

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद् द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥२५॥

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।

जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रहमें चित्तकी स्थिति हो गयी, तब वह उनके समस्त अङ्गोंमें लगे हुए चित्तको विशेष रूपसे एक-एक अङ्गमें लगावे ॥ २० ॥

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखचन्द्र-मण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं ॥२१॥ इन्हींकी धोवनसे नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तकपर धारण करनेके कारण स्वयं मङ्गलरूप श्रीमहादेवजी और भी अधिक मङ्गलमय हो गये। ये अपना ध्यान करनेवालोंके पापरूप पर्वतोंपर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान हैं। भगवान्‌के इन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करे ॥ २२ ॥

भवभयहारी अजन्मा श्रीहरिकी दोनों पिंडलियों एवं घुटनोंका ध्यान करे, जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजीकी माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर रखकर अपने कान्तिमान् करकिसलयोंकी कान्तिसे लाड़ लड़ाती रहती हैं ॥ २३ ॥ भगवान्‌की जाँघोंका ध्यान करे जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और बलकी निधि हैं तथा गरुड़जीकी पीठपर शोभायमान हैं। भगवान्‌के नितम्बबिम्बका ध्यान करे जो एड़ीतक लटके हुए पीताम्बरसे ढका हुआ है और उस पीताम्बर-के ऊपर पहनी हुई सुवर्णमयी करधनीकी लड़ियोंको आलिङ्गन कर रहा है ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदरदेशमें स्थित नाभिसरोवरका ध्यान करे; उसीमेंसे ब्रह्माजीका आधारभूत सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ है। फिर प्रभुके श्रेष्ठ मरकतमणिसदृश दोनों स्तनोंका चिन्तन करे, जो वक्षःस्थलपर पड़े हुए शुभ्र हारोंकी किरणोंसे गौरवर्ण जान पड़ते हैं ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्‌के वक्षःस्थलका ध्यान करे, जो महालक्ष्मी-का निवासस्थान और लोगोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्द

१. प्राचीन प्रतिमें 'जानुद्वयं'''से 'लेकर' 'कुर्यात्' तक पूरा एक श्लोक मूलमें नहीं है, टिप्पणीमें लिखा गया है।
२. प्रा० पा०—मणिवृषस्त०।

कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥२६॥
बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥२७॥
कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥२८॥
भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम्।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥२९॥
यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥३०॥
तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः।

देनेवाला है। फिर सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय भगवान्‌के गलेका चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणिको भी सुशोभित करनेके लिये ही उसे धारण करता है ॥२६॥

समस्त लोकपालोंकी आश्रयभूता भगवान्‌की चारों भुजाओंका ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से और भी उजले हो गये हैं। इसी प्रकार जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्र धारोंवाले सुदर्शनचक्रका तथा उनके कर-कमलमें राजहंसके समान विराजमान शङ्खका चिन्तन करे ॥ २७ ॥ फिर विपक्षी वीरोंके रुधिरसे सनी हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौंरोंके शब्दसे गुञ्जायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित सम्पूर्ण जीवोंके निर्मलतत्त्वरूप कौस्तुभमणिका ध्यान करे* ॥ २८ ॥

भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ साकाररूप धारण करनेवाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो सुघड़ नासिकासे सुशोभित है और झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंके हिलनेसे अतिशय प्रकाशमान स्वच्छ कपोलोंके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है ॥ २९ ॥ काली-काली घुँघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्‌का मुखमण्डल अपनी छबिके द्वारा भ्रमरोंसे सेवित कमलकोशका भी तिरस्कार कर रहा है और उसके कमलसदृश विशाल एवं चञ्चल नेत्र उस कमलकोशपर उछलते हुए मछलियोंके जोड़ेकी शोभाको मात कर रहे हैं। उन्नत भ्रूलताओंसे सुशोभित भगवान्‌के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमें धारणा करके आलस्यरहित हो उसीका ध्यान करे ॥ ३० ॥

हृदयगुहामें चिरकालतक भक्तिभावसे भगवान्‌के नेत्रोंकी चितवनका ध्यान करना चाहिये—जो कृपासे और प्रेमभरी मुसकानसे क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती

१–२. प्राचीन प्रतिमें '१' के चिह्नसे लेकर '२' के चिह्नतकके बीचका अंश मूलमें खण्डित है, टिप्पणीमें लिखा है ।

* 'आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम् । बिभर्ति कौस्तुभमणिं स्वरूपं भगवान् हरिः ॥'
अर्थात् इस जगत्‌की निर्लेप, निर्गुण, निर्मल तथा स्वरूपभूत आत्माको कौस्तुभमणिके रूपमें भगवान् धारण करते हैं।

स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
　　ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम्॥३१॥
हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
　　शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
　　भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥३२॥
ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
　　भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
　　र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्३३
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
　　भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
　　स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥३४॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
　　निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
　　मन्वीक्षते　प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥३५॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
　　तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
　　स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥३६॥

रहती है, विपुल प्रसादकी वर्षा करती रहती है और भक्तजनोंके अत्यन्त घोर तीनों तापोंको शान्त करनेके लिये ही प्रकट हुई है ॥ ३१ ॥ श्रीहरिका हास्य प्रणतजनोंके तीव्र-से-तीव्र शोकके अश्रुसागरको सुखा देता है और अत्यन्त उदार है। मुनियोंके हितके लिये कामदेवको मोहित करनेके लिये ही अपनी मायासे श्रीहरिने अपने भ्रूमण्डलको बनाया है—उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ३२ ॥ अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमें विराजमान श्रीहरिके खिलखिलाकर हँसनेका ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दोनों होठोंकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्दकलीके समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतोंपर लालिमा-सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रकार ध्यानमें तन्मय होकर उनके सिवा किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा न करे ॥ ३३ ॥

इस प्रकारके ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमें प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठाजनित प्रेमाश्रुओंकी धारामें वह बारंबार अपने शरीरको नहलाता है और फिर मछली पकड़नेके काँटेके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्तको भी धीरे-धीरे ध्येय वस्तुसे हटा लेता है ॥ ३४ ॥ जैसे तेल आदिके चुक जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजस्-तत्त्वमें लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त—ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीव गुणप्रवाहरूप देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्येय आदि विभागसे रहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है ॥ ३५ ॥ योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अविद्यारहित लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुख-दुःख-रहित ब्रह्मरूप महिमामें स्थित होकर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर वह योगी जिस सुख-दुःखके भोक्तृत्वको पहले अज्ञानवश अपने स्वरूपमें देखता था, उसे अब अविद्याकृत अहङ्कारमें ही देखता है ॥ ३६ ॥

१. प्रा० पा०—बहला० ।

देहं च[1] तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं[2]
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३७॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३८॥
यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥३९॥
यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥४०॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ॥४१॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥४२॥
स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।

जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरपर लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी अपनी देहके बैठने-उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है ॥ ३७ ॥ उसका शरीर तो पूर्वजन्मके संस्कारोंके अधीन है; अतः जबतक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तबतक वह इन्द्रियोंके सहित जीवित रहता है; किंतु जिसे समाधिपर्यन्त योगकी स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्त्वको भी भलीभाँति जान लिया है, वह सिद्धपुरुष पुत्र-कलत्रादिके सहित इस शरीरको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले शरीरोंके समान फिर स्वीकार नहीं करता—फिर उसमें अहंता-ममता नहीं करता ॥३८॥

जिस प्रकार अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्र और धनादिमें भी साधारण जीवोंकी आत्मबुद्धि रहती है, किंतु थोड़ा-सा विचार करनेसे ही वे उनसे स्पष्टतया अलग दिखायी देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें यह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देहादिसे भी उनका साक्षी पुरुष पृथक् ही है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार जलती हुई लकड़ीसे, चिनगारीसे, स्वयं अग्निसे ही प्रकट हुए धुएँसे तथा अग्निरूप मानी जानेवाली उस जलती हुई लकड़ीसे भी अग्नि वास्तवमें पृथक् ही है—उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे उनका साक्षी आत्मा अलग है तथा जीव कहलानेवाले उस आत्मासे भी ब्रह्म भिन्न है और प्रकृतिसे उसके सञ्चालक पुरुषोत्तम भिन्न हैं ॥४०-४१॥ जिस प्रकार देहदृष्टिसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—चारों प्रकारके प्राणी पञ्चभूतमात्र हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण जीवोंको अनन्यभावसे अनुगत देखे ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक्-पृथक् आश्रयोंमें उनकी विभिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न आकारका दिखायी देता है, उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहनेवाला एक ही

१. प्रा० पा०—तु। २. प्राचीन प्रतिमें 'दैववशा०' से लेकर ३९ श्लोकके 'नाभिमता०'—तकका अंश मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है।

योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥४३॥
तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥४४॥

आत्मा अपने आश्रयोंके गुण-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारका भासता है ॥ ४३ ॥ अतः भगवान्‌का भक्त जीवके स्वरूपको छिपा देनेवाली कार्यकारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई भगवान्‌की इस अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको भगवान्‌की कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मरूपमें स्थित होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये साधनानुष्ठानं[1] नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

भक्तिका मर्म और कालकी महिमा

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १ ॥
यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः प्रभो ॥ २ ॥
विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत् ।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३ ॥
कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४ ॥
लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५ ॥

देवहूतिने पूछा—प्रभो ! प्रकृति, पुरुष और महत् तत्त्वादिका जैसा लक्षण सांख्यशास्त्रमें कहा गया है तथा जिसके द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप अलग-अलग जाना जाता है और भक्तियोगको ही जिसका प्रयोजन कहा गया है, वह आपने मुझे बताया । अब कृपा करके भक्तियोगका मार्ग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १-२ ॥ इसके सिवा जीवोंकी जन्म-मरणरूपा अनेक प्रकारकी गतियोंका भी वर्णन कीजिये; जिनके सुननेसे जीवको सब प्रकारकी वस्तुओंसे वैराग्य होता है ॥ ३ ॥ जिसके भयसे लोग शुभकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और जो ब्रह्मादिका भी शासन करनेवाला है, उस सर्वसमर्थ कालका स्वरूप भी आप मुझसे कहिये ॥ ४ ॥ ज्ञान-दृष्टिके लुप्त हो जानेके कारण देहादि मिथ्या वस्तुओंमें जिन्हें आत्माभिमान हो गया है तथा बुद्धिके कर्मासक्त रहनेके कारण अत्यन्त श्रमित होकर जो चिरकालसे अपार अन्धकारमय संसारमें सोये पड़े हैं, उन्हें जगानेके लिये आप योगप्रकाशक सूर्य ही प्रकट हुए हैं ॥५॥

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः[2] ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ विदुरजी ! माताके ये मनोहर वचन सुनकर महामुनि कपिलजीने उनकी प्रशंसा की और जीवोंके प्रति दयासे द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नताके साथ उनसे इस प्रकार बोले ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेये साधनानुष्ठानं नाम' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—रतः ।

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७ ॥
अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८ ॥
विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९ ॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥१०॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये[1] ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥११॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥१२॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥१३॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥१४॥
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥१५॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥१६॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥१७॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥१८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—माताजी ! साधकोंके भावके अनुसार भक्तियोगका अनेक प्रकारसे प्रकाश होता है, क्योंकि स्वभाव और गुणोंके भेदसे मनुष्योंके भावमें भी विभिन्नता आ जाती है ॥ ७ ॥ जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदयमें हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्यका भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है ॥ ८ ॥ जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रतिमादिमें मेरा भेद-भावसे पूजन करता है, वह राजस भक्त है ॥ ९ ॥ जो व्यक्ति पापोंका क्षय करनेके लिये, परमात्माको अर्पण करनेके लिये और पूजन करना कर्त्तव्य है—इस बुद्धिसे मेरा भेदभावसे पूजन करता है, वह सात्त्विक भक्त है ॥१०॥ जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्न-रूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है ॥ ११-१२ ॥ ऐसे निष्काम भक्त, दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य[1], सार्ष्टि[2], सामीप्य[3], सारूप्य[4] और सायुज्य[5] मोक्षतक नहीं लेते—॥ १३ ॥ भगवत्-सेवाके लिये मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है । इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्यों-का पालन कर, नित्यप्रति हिंसारहित उत्तम क्रियायोगका अनुष्ठान करने, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करने, प्राणियोंमें मेरी भावना करने, धैर्य और वैराग्यके अवलम्बन, महापुरुषोंका मान, दीनोंपर दया और समान स्थितिवालोंके प्रति मित्रताका व्यवहार करने, यम-नियमोंका पालन, अध्यात्मशास्त्रोंका श्रवण और मेरे नामोंका उच्च स्वरसे कीर्तन करनेसे तथा मनकी सरलता, सत्पुरुषोंके संग और अहंकारके त्यागसे मेरे

१. प्रा० पा०—च । २. प्रा० पा०—गुणाशये ।

१. भगवान्‌के नित्यधाममें निवास, २. भगवान्‌के समान ऐश्वर्यभोग, ३. भगवान्‌की नित्यसमीपता, ४. भगवान्‌-का-सा रूप और ५. भगवान्‌के विग्रहमें समा जाना, उनसे एक हो जाना या ब्रह्मरूप प्राप्त कर लेना ।

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥१९॥
यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥२०॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥२२॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥२३॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥२५॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥२६॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥२७॥
जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥२८॥

धर्मोंका (भागवतधर्मोंका) अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे अनायास ही मुझमें लग जाता है ॥ १५–१९ ॥

जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़कर जानेवाला गन्ध अपने आश्रय पुष्पसे घ्राणेन्द्रियतक पहुँच जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें तत्पर और राग-द्वेषादि विकारोंसे शून्य चित्त परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥ मैं आत्मा-रूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ; इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँग-मात्र है ॥ २१ ॥ मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है ॥ २२ ॥ जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरोंमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥ माताजी! जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुत-सी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ मनुष्य अपने धर्मका अनुष्ठान करता हुआ तबतक मुझ ईश्वर-की प्रतिमा आदिमें पूजा करता रहे, जबतक उसे अपने हृदयमें एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित परमात्माका अनुभव न हो जाय ॥२५॥ जो व्यक्ति आत्मा और परमात्माके बीचमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शी-को मैं मृत्युरूपसे महान् भय उपस्थित करता हूँ ॥२६॥ अतः सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर घर बनाकर उन प्राणियोंके ही रूपमें स्थित मुझ परमात्माका यथायोग्य दान, मान, मित्रताके व्यवहार तथा समदृष्टिके द्वारा पूजन करना चाहिये ॥ २७ ॥

माताजी! पाषाणादि अचेतनोंकी अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं, उनसे श्वास लेनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनवाले प्राणी उत्तम और उनसे इन्द्रियकी वृत्तियोंसे युक्त प्राणी श्रेष्ठ हैं।

१. प्रा० पा०—मामुङ्क्ते । २. प्रा० पा०—क्रियोत्पत्तेश्च मानिनि । ३. प्रा० पा०—भूतेष्वपि स्थितम् ।

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥२९॥
रूपभेदविदस्तत्र[1] ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो[2] द्विपात् ॥३०॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥३१॥
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥३२॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥३३॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥३४॥
भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥३५॥
एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
परं प्रधानपुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥३६॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥३७॥

सेन्द्रिय प्राणियोंमें भी केवल स्पर्शका अनुभव करनेवालोंकी अपेक्षा रसका ग्रहण कर सकनेवाले मत्स्यादि उत्कृष्ट हैं तथा रसवेत्ताओंकी अपेक्षा गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमरादि) और गन्धका ग्रहण करनेवालोंसे भी शब्दका ग्रहण करनेवाले (सर्पादि) श्रेष्ठ हैं ॥ २८-२९ ॥ उनसे भी रूपका अनुभव करनेवाले (काकादि) उत्तम हैं और उनकी अपेक्षा जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत होते हैं, वे जीव श्रेष्ठ हैं । उनमें भी बिना पैरवालोंसे बहुतसे चरणवाले श्रेष्ठ हैं तथा बहुत चरणवालोंसे चार चरणवाले और चार चरणवालोंसे भी दो चरणवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं ॥३०॥ मनुष्योंमें भी चार वर्ण श्रेष्ठ हैं; उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं । ब्राह्मणोंमें वेदको जाननेवाले उत्तम हैं और वेदज्ञोंमें भी वेदका तात्पर्य जाननेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ ३१ ॥ तात्पर्य जाननेवालोंसे संशय निवारण करनेवाले, उनसे भी अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करनेवाले तथा उनसे भी आसक्तिका त्याग और अपने धर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ ३२ ॥ उनकी अपेक्षा भी जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीरको भी मुझे ही अर्पण करके भेदभाव छोड़कर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं । इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करनेवाले अकर्त्ता और समदर्शी पुरुषसे बढ़कर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता ॥ ३३ ॥ अतः यह मानकर कि जीवरूप अपने अंशसे साक्षात् भगवान् ही सबमें अनुगत हैं, इन समस्त प्राणियोंको बड़े आदरके साथ मनसे प्रणाम करे ॥ ३४ ॥

माताजी ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये भक्तियोग और अष्टाङ्गयोगका वर्णन किया । इनमेंसे एकका भी साधन करनेसे जीव परमपुरुष भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है ॥ ३५ ॥ भगवान् परमात्मा परब्रह्मका अद्भुत प्रभावसम्पन्न तथा जागतिक पदार्थोंके नानाविध वैचित्र्यका हेतुभूत स्वरूपविशेष ही 'काल' नामसे विख्यात है । प्रकृति और पुरुष इसीके रूप हैं तथा इनसे यह पृथक् भी है । नाना प्रकारके कर्मोंका मूल अदृष्ट भी यही है तथा इसीसे महत्तत्त्वादिके अभिमानी भेददर्शी प्राणियोंको सदा भय लगा रहता है ॥ ३६-३७ ॥

१. प्रा० पा०—विदस्तेभ्यस्ततश्चोभयवेदिनः । २. प्रा० पा०—पादास्ततो ।

योऽन्तःप्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ३८
न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥३९॥
यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥४०॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥४१॥
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥४२॥
नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम् ॥४३॥
गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥४४॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥४५॥

जो सबका आश्रय होनेके कारण समस्त प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर भूतोंद्वारा ही उनका संहार करता है, वह जगत्‌का शासन करनेवाले ब्रह्मादिका भी प्रभु भगवान् काल ही यज्ञोंका फल देनेवाला विष्णु है ॥३८॥ इसका न तो कोई मित्र है न कोई शत्रु और न तो कोई सगा-सम्बन्धी ही है। यह सर्वदा सजग रहता है और अपने स्वरूपभूत श्रीभगवान्‌को भूलकर भोगरूप प्रमादमें पड़े हुए प्राणियोंपर आक्रमण करके उनका संहार करता है ॥ ३९ ॥ इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है, इसीके भयसे इन्द्र वर्षा करते हैं और इसीके भयसे तारे चमकते हैं ॥ ४० ॥ इसीसे भयभीत होकर ओषधियोंके सहित लताएँ और सारी वनस्पतियाँ समय-समयपर फल-फूल धारण करती हैं ॥ ४१ ॥ इसीके डरसे नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादासे बाहर नहीं जाता। इसीके भयसे अग्नि प्रज्वलित होती है और पर्वतोंके सहित पृथ्वी जलमें नहीं डूबती ॥४२॥ इसीके शासनसे यह आकाश जीवित प्राणियोंको श्वास-प्रश्वासके लिये अवकाश देता है और महत्तत्त्व अहंकाररूप शरीरका सात आवरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डके रूपमें विस्तार करता है ॥ ४३ ॥ इस कालके ही भयसे सत्त्वादि गुणोंके नियामक विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन यह सारा चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्योंमें युगक्रमसे तत्पर रहते हैं ॥ ४४ ॥ अविनाशी काल स्वयं अनादि किंतु दूसरोंका आदिकर्ता (उत्पादक) है तथा स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। यह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ सारे जगत्‌की रचना करता है और अपनी संहारशक्ति मृत्युके द्वारा यमराजको भी मरवाकर इसका अन्त कर देता है॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे 'कापिलेयोपाख्याने'[3]
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—रत्त्य०। २. प्रा० पा०—मार्गं यन्नियमाच्च यः। ३.प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

देह-गेहमें आसक्त पुरुषोंकी अधोगतिका वर्णन

कपिल उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।

काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥ १ ॥

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।

तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥ २ ॥

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।

ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि[1] च ॥ ३ ॥

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।

तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥ ४ ॥

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।

नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥ ५ ॥

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।

निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥ ६ ॥

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।

करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥ ७ ॥

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया।

रहोरचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥ ८ ॥

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।

कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९ ॥

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—माताजी! जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़ाया जानेवाला मेघसमूह उसके बलको नहीं जानता, उसी प्रकार यह जीव भी बलवान् कालकी प्रेरणासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा योनियोंमें भ्रमण करता रहता है; किंतु उसके प्रबल पराक्रमको नहीं जानता ॥ १ ॥ जीव सुखकी अभिलाषासे जिस-जिस वस्तुको बड़े कष्टसे प्राप्त करता है, उसी-उसीको भगवान् काल विनष्ट कर देता है—जिसके लिये उसे बड़ा शोक होता है ॥ २ ॥ इसका कारण यही है कि यह मन्दमति जीव अपने इस नाशवान् शरीर तथा उसके सम्बन्धियोंके घर, खेत और धन आदिको मोहवश नित्य मान लेता है ॥ ३ ॥ इस संसारमें यह जीव जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है, उसी-उसीमें आनन्द मानने लगता है और उससे विरक्त नहीं होता ॥ ४ ॥ यह भगवान्की मायासे ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकी योनियोंमें जन्म लेनेपर भी वहाँके विष्ठा आदि भोगोंमें ही सुख माननेके कारण उसे भी छोड़ना नहीं चाहता ॥ ५ ॥ यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवोंमें अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मनोरथ करता हुआ अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है ॥ ६ ॥ इनके पालन-पोषणकी चिन्तासे इसके सम्पूर्ण अङ्ग जलते रहते हैं; तथापि दुर्वासनाओंसे दूषित हृदय होनेके कारण यह मूढ़ निरन्तर इन्हींके लिये तरह-तरहके पाप करता रहता है ॥ ७ ॥ कुलटा स्त्रियोंके द्वारा एकान्तमें सम्भोगादिके समय प्रदर्शित किये हुए कपटपूर्ण प्रेममें तथा बालकोंकी मीठी-मीठी बातोंमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे गृहस्थ पुरुष घरके दुःखप्रधान कपटपूर्ण कर्मोंमें लिप्त हो जाता है। उस समय बहुत सावधानी करनेपर यदि उसे किसी दुःखका प्रतीकार करनेमें सफलता मिल जाती है, तो उसे ही वह सुख-सा मान लेता है ॥ ८-९ ॥

[1] प्रा० पा०—क्षेत्रधनानि च।

अथैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम् ॥१०॥

जहाँ-तहाँसे भयंकर हिंसावृत्तिके द्वारा धन संचयकर यह ऐसे लोगोंका पोषण करता है, जिनके पोषणसे नरकमें जाता है। स्वयं तो उनके खाने-पीनेसे बचे हुए अन्नको ही खाकर रहता है ॥ १० ॥

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः ।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥११॥

बार-बार प्रयत्न करनेपर भी जब इसकी कोई जीविका नहीं चलती तो यह लोभवश अधीर हो जानेसे दूसरेके धनकी इच्छा करने लगता है ॥ ११ ॥

कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः ॥१२॥

जब मन्द-भाग्यके कारण इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्दबुद्धि धनहीन होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब अत्यन्त दीन और चिन्तातुर होकर लंबी-लंबी साँसें छोड़ने लगता है ॥ १२ ॥

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥१३॥

इसे अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर वे स्त्री-पुत्रादि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते; जैसे कृपण किसान बूढ़े बैलकी उपेक्षा कर देते हैं ॥ १३ ॥

तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयम्भृतैः ।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥१४॥
आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥१५॥

फिर भी इसे वैराग्य नहीं होता । जिन्हें उसने स्वयं पाला था, वे ही अब उसका पालन करते हैं, वृद्धावस्थाके कारण इसका रूप बिगड़ जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन और पुरुषार्थ—दोनों ही कम हो जाते हैं। वह मरणोन्मुख होकर घरमें पड़ा रहता है और कुत्तेकी भाँति स्त्री-पुत्रादिके अपमानपूर्वक दिये हुए टुकड़े खाकर जीवन-निर्वाह करता है ॥ १४-१५ ॥

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ॥१६॥

मृत्युका समय निकट आनेपर वायुके उत्क्रमणसे इसकी पुतलियाँ चढ़ जाती हैं, श्वास-प्रश्वासकी नलिकाएँ कफसे रुक जाती हैं, खाँसने और साँस लेनेमें भी इसे बड़ा कष्ट होता है तथा कफ बढ़ जानेके कारण कण्ठमें घुरघुराहट होने लगती है ॥ १६ ॥

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥१७॥

यह अपने शोकातुर बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ पड़ा रहता है और मृत्युपाशके वशीभूत हो जानेसे उनके बुलानेपर भी नहीं बोल सकता ॥१७॥

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥१८॥

इस प्रकार जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियोंको न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब-पोषणमें ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनोंके बीच अत्यन्त वेदनासे अचेत होकर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—वृथाश्रमः । २. प्रा० पा०—जरया जात० । ३. प्रा० पा०—नाडिना । ४. प्रा० पा०—यासकण्ठो ०घु। ५. प्रा० पा०—परीतश्च स्व० । ६. प्रा० पा०—व्यावृता० ।

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥१९॥
यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥२०॥
तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥२१॥
क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥२२॥
तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनम् ॥२३॥
योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥२४॥
आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा ॥२५॥
जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥२६॥
कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥२७॥
यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः ।

इस अवसरपर उसे लेनेके लिये अति भयंकर और रोषयुक्त नेत्रोंवाले जो दो यमदूत आते हैं, उन्हें देखकर वह भयके कारण मल-मूत्र कर देता है ॥१९॥ वे यमदूत उसे यातना-देहमें डाल देते हैं और फिर जिस प्रकार सिपाही किसी अपराधीको ले जाते हैं, उसी प्रकार उसके गलेमें रस्सी बाँधकर बलात्कारसे यमलोककी लंबी यात्रामें उसे ले जाते हैं ॥ २० ॥ उनकी घुड़कियोंसे उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है, मार्गमें उसे कुत्ते नोचते हैं । उस समय अपने पापोंको याद करके वह व्याकुल हो उठता है ॥ २१ ॥ भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा घाम, दावानल और लूओंसे वह तप जाता है । ऐसी अवस्थामें जल और विश्राम-स्थानसे रहित उस तप्त बालुकामय मार्गमें जब उसे एक पग आगे बढ़नेकी भी शक्ति नहीं रहती, यमदूत उसकी पीठपर कोड़े बरसाते हैं, तब बड़े कष्टसे उसे चलना ही पड़ता है ॥ २२ ॥ वह जहाँ-तहाँ थककर गिर जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, चेतना आनेपर फिर उठता है । इस प्रकार अति दुःखमय मार्गसे अत्यन्त क्रूर यमदूत उसे शीघ्रतासे यमपुरीको ले जाते हैं॥२३॥ यमलोकका मार्ग निन्यानबे हजार योजन है । इतने लंबे मार्गको दो-ही-तीन मुहूर्तमें तै करके वह नरकमें तरह-तरहकी यातनाएँ भोगता है ॥ २४ ॥ वहाँ उसके शरीरको धधकती लकड़ियों आदिके बीचमें डालकर जलाया जाता है, कहीं स्वयं और दूसरोंके द्वारा काट-काटकर उसे अपना ही मांस खिलाया जाता है ॥ २५ ॥ यमपुरीके कुत्तों अथवा गिद्धोंद्वारा जीते-जी उसकी आँतें खींची जाती हैं । साँप, बिच्छू और डाँस आदि डसनेवाले तथा डंक मारनेवाले जीवोंसे शरीरको पीड़ा पहुँचायी जाती है ॥ २६ ॥ शरीरको काटकर टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं । उसे हाथियोंसे चिरवाया जाता है, पर्वतशिखरोंसे गिराया जाता है अथवा जल या गढ़ेमें डालकर बंद कर दिया जाता है ॥ २७ ॥ ये सब यातनाएँ तथा इसी प्रकार तामिस्र, अन्धतामिस्र एवं रौरव आदि नरकोंकी और भी अनेकों यन्त्रणाएँ, स्त्री हो या पुरुष, उस जीवको

भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः।२८।
अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥२९॥
एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥३०॥
एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम् ॥३१॥
दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥३२॥
केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥३३॥
अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः[2]।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥३४॥

पारस्परिक संसर्गसे होनेवाले पापके कारण भोगनी ही पड़ती हैं ॥ २८ ॥ माताजी ! कुछ लोगोंका कहना है कि स्वर्ग और नरक तो इसी लोकमें है, क्योंकि जो नारकी यातनाएँ हैं, वे यहाँ भी देखी जाती हैं ॥२९॥

इस प्रकार अनेक कष्ट भोगकर अपने कुटुम्बका ही पालन करनेवाला अथवा केवल अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष उस कुटुम्ब और शरीर—दोनोंको यहीं छोड़कर मरनेके बाद अपने किये हुए पापोंका ऐसा फल भोगता है ॥ ३० ॥ अपने इस शरीरको यहीं छोड़कर प्राणियों-से द्रोह करके एकत्रित किये हुए पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह अकेला ही नरकमें जाता है ॥ ३१ ॥ मनुष्य अपने कुटुम्बका पेट पालनेमें जो अन्याय करता है, उसका दैवविहित कुफल वह नरकमें जाकर भोगता है । उस समय वह ऐसा व्याकुल होता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो ॥ ३२ ॥ जो पुरुष निरी पापकी कमाईसे ही अपने परिवारका पालन करनेमें व्यस्त रहता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जाता है—जो नरकोंमें चरम सीमाका कष्टप्रद स्थान है ॥ ३३ ॥ मनुष्य-जन्म मिलनेके पूर्व जितनी भी यातनाएँ हैं तथा शूकर-कूकरादि योनियोंके जितने कष्ट हैं, उन सबको क्रमसे भोगकर शुद्ध हो जानेपर वह फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयो-
पाख्याने कर्मविपाको[3] नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए जीवकी गतिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्टः उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी ! जब जीवको मनुष्य-शरीरमें जन्म लेना होता है, तो वह भगवान्की प्रेरणासे अपने पूर्वकर्मानुसार देहप्राप्तिके लिये पुरुषके वीर्यकणके द्वारा स्त्रीके उदरमें प्रवेश करता है ॥ १ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'भुङ्क्ते नरो वा नारी वा'''से लेकर '''इहाप्युपलक्षिताः' तक डेढ़ श्लोक नहीं है।
२. प्रा० पा०—नास्तु ताः । ३. प्रा० पा०—के त्रिंश० ।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥ २ ॥
मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥ ३ ॥
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४ ॥
मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५ ॥
कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥ ६ ॥
कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७ ॥
उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८ ॥
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ॥ ९ ॥

वहाँ वह एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिलकर एकरूप कलल बन जाता है, पाँच रात्रिमें बुद्‌बुदरूप हो जाता है, दस दिनमें बेरके समान कुछ कठिन हो जाता है और उसके बाद मांसपेशी अथवा अण्डज प्राणियोंमें अण्डेके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ २ ॥ एक महीनेमें उसके सिर निकल आता है, दो मासमें हाथ-पाँव आदि अङ्गोंका विभाग हो जाता है और तीन मासमें नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुषके चिह्न तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥ चार मासमें उसमें मांसादि सातों धातुएँ पैदा हो जाती हैं, पाँचवें महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती है और छठे मासमें झिल्लीसे लिपटकर वह दाहिनी कोखमें घूमने लगता है ॥ ४ ॥ उस समय माताके खाये हुए अन्न-जल आदिसे उसकी सब धातुएँ पुष्ट होने लगती हैं और वह कृमि आदि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान उस जघन्य मल-मूत्रके गढ़ेमें पड़ा रहता है ॥ ५ ॥ वह सुकुमार तो होता ही है; इसलिये जब वहाँके भूखे कीड़े उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग नोचते हैं, तब अत्यन्त क्लेशके कारण वह क्षण-क्षणमें अचेत हो जाता है ॥ ६ ॥ माताके खाये हुए कड़वे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंका स्पर्श होनेसे उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगती है ॥ ७ ॥ वह जीव माताके गर्भाशयमें झिल्लीसे लिपटा और आँतोंसे घिरा रहता है। उसका सिर पेटकी ओर तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं ॥ ८ ॥

वह पिंजड़ेमें बंद पक्षीके समान पराधीन एवं अङ्गोंको हिलाने-डुलानेमें भी असमर्थ रहता है। इसी समय अदृष्टकी प्रेरणासे उसे स्मरणशक्ति प्राप्त होती है। तब अपने सैकड़ों जन्मोंके कर्म याद आ जाते हैं और वह बेचैन हो जाता है तथा उसका दम घुटने लगता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या शान्ति मिल सकती है[1] ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—संगात् किं ।

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि[1] वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥१०॥
नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥११॥

जन्तुरुवाच[3]

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं[4] मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥१२॥
यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य[5] मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥१३॥
यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-
च्छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥१४॥
यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥१५॥
ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः[2]

सातवाँ महीना आरम्भ होनेपर उसमें ज्ञानशक्तिका भी उन्मेष हो जाता है; परंतु प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह उसी उदरमें उत्पन्न हुए विष्ठाके कीड़ोंके समान एक स्थानपर नहीं रह सकता ॥ १० ॥ तब सप्तधातुमय स्थूलशरीरसे बँधा हुआ वह देहात्मदर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीन वाणीसे कृपा-याचना करता हुआ, हाथ जोड़कर उस प्रभुकी स्तुति करता है, जिसने उसे माताके गर्भमें डाला है ॥ ११ ॥

जीव कहता है—मैं बड़ा अधम हूँ; भगवान्‌ने मुझे जो इस प्रकारकी गति दिखायी है, वह मेरे योग्य ही है । वे अपनी शरणमें आये हुए इस नश्वर जगत्‌की रक्षाके लिये ही अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं; अतः मैं भी भूतलपर विचरण करनेवाले उन्हींके निर्भय चरणारविन्दोंकी शरण लेता हूँ ॥ १२ ॥ जो इस माताके उदरमें देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपा माया-का आश्रय कर पुण्य-पापरूप कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण बद्ध-से जान पड़ते हैं, अपने संतप्त हृदयमें स्फुरित होनेवाले उन विशुद्ध (उपाधिरहित), अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं वस्तुतः शरीरादिसे रहित (असङ्ग) होनेपर भी देखनेमें पाञ्चभौतिक शरीरसे सम्बद्ध हूँ और इसीलिये इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभास (अहङ्कार) रूप जान पड़ता हूँ । अतः इस शरीरादि-के आवरणसे जिनकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है, उन प्रकृति और पुरुषके नियन्ता सर्वज्ञ (विद्याशक्तिसम्पन्न) परमपुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १४ ॥ उन्हींकी मायासे अपने स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण यह जीव अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसारमार्गमें तरह-तरहके कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है; अतः उन परमपुरुष परमात्माकी कृपाके बिना और किस युक्तिसे इसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है ॥ १५ ॥ मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है, यह भी उनके सिवा और किसने दिया है; क्योंकि स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें एकमात्र वे ही तो अन्तर्यामीरूप अंशसे विद्यमान हैं । अतः

१. प्रा० पा०—ऽति० । २. प्रा० पा०—सोऽचरत् । ३. प्रा० पा०—जीव उवाच । ४. प्रा० पा०—न कुतो० ।
५. प्रा० पा०—याश्रय० ।

तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-

स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥१६॥

जीवरूप कर्मजनित पदवीका अनुवर्तन करनेवाले हम अपने त्रिविध तापोंकी शान्तिके लिये उन्हींका भजन करते हैं ॥ १६ ॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-

विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।

इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्

निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु ॥१७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश

संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।

स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः

को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥१८॥

भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरी (माताके) देहके उदरके भीतर मल, मूत्र और रुधिरके कुएँमें गिरा हुआ है, उसकी जठराग्निसे इसका शरीर अत्यन्त संतप्त हो रहा है। उससे निकलनेकी इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है । भगवन् ! अब इस दीनको यहाँसे कब निकाला जायगा ? ॥१७॥ स्वामिन् ! आप बड़े दयालु हैं, आप-जैसे उदार प्रभुने ही इस दस मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है। दीनबन्धो ! इस अपने किये हुए उपकारसे ही आप प्रसन्न हों; क्योंकि आपको हाथ जोड़नेके सिवा आपके उस उपकार-का बदला तो कोई दे भी क्या सकता है ॥ १८ ॥

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः

शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।

यत्सृष्टयाऽऽसं तमहं पुरुषं पुराणं

पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥१९॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं

गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।

यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया

मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥२०॥

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य

आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव ।

भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं

मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥२१॥

प्रभो ! संसारके ये पशु-पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ़ बुद्धिके अनुसार अपने शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका ही अनुभव करते हैं; किंतु मैं तो आपकी कृपासे शम-दमादि साधनसम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूँ, अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धिसे आप पुराणपुरुषको अपने शरीरके बाहर और भीतर अहङ्कारके आश्रयभूत आत्माकी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ ॥ १९ ॥ भगवन् ! इस अत्यन्त दुःखसे भरे हुए गर्भाशयमें यद्यपि मैं बड़े कष्टसे रह रहा हूँ, तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूपमें गिरनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है; क्योंकि उसमें जानेवाले जीवको आपकी माया घेर लेती है, जिसके कारण उसकी शरीर-में अहंबुद्धि हो जाती है और उसके परिणाममें उसे फिर इस संसारचक्रमें ही पड़ना होता है ॥ २० ॥ अतः मैं व्याकुलताको छोड़कर हृदयमें श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोंको स्थापितकर अपनी बुद्धिकी सहायतासे ही अपनेको बहुत शीघ्र इस संसाररूप समुद्रके पार लगा दूँगा, जिससे मुझे अनेक प्रकारके दोषोंसे युक्त यह संसार-दुःख फिर न प्राप्त हो ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—दैवमिति प्रतीतः ।

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥२२॥
तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक् शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥२३॥
पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥२४॥
परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥२५॥
शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते ।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥२६॥
तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः ।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥२७॥
इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ।२८।
सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—माता ! वह दस महीनेका जीव गर्भमें ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करता है, तब उस अधोमुख बालकको प्रसवकालकी वायु तत्काल बाहर आनेके लिये ढकेलती है ॥ २२ ॥ उसके सहसा ठेलनेपर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है । उस समय उसके श्वासकी गति रुक जाती है और पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है ॥ २३ ॥ पृथ्वीपर माताके रुधिर और मूत्रमें पड़ा हुआ वह बालक विष्ठाके कीड़ेके समान छटपटाता है । उसका गर्भवासका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानरूप अज्ञान-दशा) को प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोरसे रोता है ॥ २४ ॥

फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं समझ सकते, उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है। ऐसी अवस्थामें उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसका निषेध करनेकी शक्ति भी उसमें नहीं होती ॥ २५ ॥ जब उस जीवको शिशु-अवस्थामें मैली-कुचैली खाटपर सुला दिया जाता है, जिसमें खटमल आदि स्वेदज जीव चिपटे रहते हैं, तब उसमें शरीरको खुजलाने, उठाने अथवा करवट बदलनेकी भी सामर्थ्य न होनेके कारण वह बड़ा कष्ट पाता है ॥ २६ ॥ उसकी त्वचा बड़ी कोमल होती है । उसे डाँस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते रहते हैं, जैसे बड़े कीड़ेको छोटे कीड़े । इस समय उसका गर्भावस्थाका सारा ज्ञान जाता रहता है, सिवा रोनेके वह कुछ नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

इसी प्रकार बाल्य (कौमार) और पौगण्ड-अवस्थाओंके दुःख भोगकर वह बालक युवावस्थामें पहुँचता है । इस समय उसे यदि कोई इच्छित भोग नहीं प्राप्त होता, तो अज्ञानवश उसका क्रोध उद्दीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है ॥ २८ ॥ देहके साथ-ही-साथ अभिमान और क्रोध बढ़ जानेके कारण

१. प्राचीन प्रतिमें 'रोरूयति…' इस उत्तरार्धसे लेकर २६वें श्लोकके पूर्वार्धतक पूरे दो श्लोक मूलमें नहीं, टिप्पणीमें हैं ।

करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥२९॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥३०॥
तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥३१॥
यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥३२॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥३३॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥३४॥
न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३५॥
प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥३६॥
तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥३७॥
बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥३८॥

वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करनेके लिये दूसरे कामी पुरुषोंके साथ वैर ठानता है ॥२९॥ खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूतोंसे रचे हुए इस देहमें मिथ्याभिनिवेशके कारण निरन्तर मैं-मेरेपनका अभिमान करने लगता है ॥ ३० ॥ जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकारके कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्मके सूत्रसे बँधा रहनेके कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसीके लिये यह तरह-तरहके कर्म करता रहता है—जिनमें बँध जानेके कारण इसे बार-बार संसार-चक्रमें पड़ना होता है ॥३१॥ सन्मार्गमें चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रियके भोगोंमें लगे हुए विषयी पुरुषोंसे समागम हो जाता है और यह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है, तो पहलेके समान ही फिर नारकी योनियोंमें पड़ता है ॥ ३२ ॥ जिनके सङ्गसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, उन अत्यन्त शोचनीय, स्त्रियोंके क्रीडामृग (खिलौना), अशान्त, मूढ़ और देहात्मदर्शी असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥ क्योंकि इस जीवको किसी औरका सङ्ग करनेसे ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा स्त्री और स्त्रियोंके सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे होता है ॥ ३५ ॥ एक बार अपनी पुत्री सरस्वतीको देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो गये थे और उसके मृगीरूप होकर भागनेपर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौड़ने लगे ॥३६॥ उन्हीं ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंकी तथा मरीचि आदिने कश्यपादिकी और कश्यपादिने देव-मनुष्यादि प्राणियोंकी सृष्टि की । अतः इनमें एक ऋषिप्रवर नारायणको छोड़कर ऐसा कौन पुरुष हो सकता है, जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी मायासे मोहित न हो ॥ ३७ ॥ अहो ! मेरी इस स्त्रीरूपिणी मायाका बल तो देखो, जो अपने भ्रुकुटि-विलासमात्रसे बड़े-बड़े दिग्विजयी वीरोंको पैरोंसे कुचल देती है ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—तपो मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः । २. प्रा० पा०—चास्य प्र० । ३. प्रा० पा०—सदायत्तान् भ्र० ।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥३९॥
योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥४०॥
यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥४१॥
तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥४२॥
देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥४३॥
जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥४४॥
द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥४५॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।

जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका सङ्ग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है ॥३९॥ भगवान्‌की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके मिससे पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान अपनी मृत्यु ही समझे ॥ ४० ॥

स्त्रीमें आसक्त रहनेके कारण तथा अन्त समयमें स्त्रीका ही ध्यान रहनेसे जीवको स्त्रीयोनि प्राप्त होती है । इस प्रकार स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव पुरुषरूपमें प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला अपना पति मानता रहता है; सो जिस प्रकार व्याधेका गान कानोंको प्रिय लगनेपर भी बेचारे भोले-भाले पशु-पक्षियोंको फँसाकर उनके नाशका ही कारण होता है—उसी प्रकार उन पुत्र, पति और गृह आदिको विधाताकी निश्चित की हुई अपनी मृत्यु ही जाने ॥ ४१-४२॥ देवि ! जीवके उपाधिभूत लिङ्गदेहके द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और अपने प्रारब्धकर्मोंको भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे कर्म करता रहता है ॥ ४३ ॥ जीवका उपाधिरूप लिङ्गशरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मनका कार्यरूप स्थूलशरीर इसका भोगाधिष्ठान है । इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी 'मृत्यु' है और दोनोंका साथ-साथ प्रकट होना 'जन्म' कहलाता है ॥ ४४ ॥ पदार्थोंकी उपलब्धिके स्थानरूप इस स्थूलशरीरमें जब उनको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती, यह उसका मरण है; और यह स्थूलशरीर ही मैं हूँ—इस अभिमानके साथ उसे देखना उसका जन्म है ॥ ४५ ॥ नेत्रोंमें जब किसी दोषके कारण रूपादिको देखनेकी योग्यता नहीं रहती, तभी उनमें रहनेवाली चक्षु-इन्द्रिय भी रूप देखनेमें असमर्थ हो जाती है । और जब नेत्र और उनमें रहनेवाली इन्द्रिय दोनों ही रूप देखनेमें असमर्थ

१. प्राचीन प्रतिमें '.....मनोमयः ।' इस पूर्वार्धके आगे 'यश्चायमस्थिरो देहो यस्य मोक्षाय कृत्यसौ' इतना पाठ अधिक है । २. प्राचीन प्रतिमें 'तत्पञ्चत्व...' इत्यादि उत्तरार्धसे लेकर '...दर्शनायोग्यता यदा' इस पूर्वार्धतकका पाठ नहीं है ।

तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥४६॥

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥४७॥
सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥४८॥

हो जाते हैं, तभी इन दोनोंके साक्षी जीवमें भी वह योग्यता नहीं रहती ॥ ४६ ॥ अतः मुमुक्षु पुरुषको मरणादिसे भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये। उसे जीवके स्वरूपको जानकर धैर्यपूर्वक निःसङ्गभावसे विचरना चाहिये तथा इस मायामय संसारमें योग-वैराग्ययुक्त सम्यक् ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरको निक्षेप (धरोहर) की भाँति रखकर उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने जीवगतिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

धूममार्ग और अर्चिरादि मार्गसे जानेवालोंकी गतिका और भक्तियोगको उत्कृष्टताका वर्णन

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्॥१॥
स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ २ ॥
तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३ ॥
यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥ ४ ॥
ये स्वधर्मान्न[3] दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—माताजी ! जो पुरुष घरमें रहकर सकामभावसे गृहस्थके धर्मोंका पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं कामका उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह-तरहकी कामनाओंसे मोहित रहनेके कारण भगवद्धर्मोंसे विमुख हो जाता है और यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरोंकी ही आराधना करता रहता है ॥ १-२ ॥ उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी श्रद्धासे युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं; अतः वह चन्द्रलोकमें जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्य क्षीण होनेपर इसी लोकमें लौट आता है ॥ ३ ॥ जिस समय प्रलयकालमें शेषशायी भगवान् शेषशय्यापर शयन करते हैं, उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियोंको प्राप्त होनेवाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जो विवेकी पुरुष अपने धर्मोंका अर्थ और भोगविलासके लिये उपयोग नहीं करते, बल्कि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही उनका पालन करते हैं—वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममतारहित

१. प्रा० पा०—कापिलेये जीवगतिरेक०। २. प्रा० पा०—तदैते। ३. प्रा० पा०—स्वधर्मे न।

स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६ ॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७ ॥
द्विपरार्द्धावसाने[1] यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८ ॥
क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः[2] ।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥९॥
एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः[3] ॥१०॥
अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि[4] ॥११॥
आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥१२॥
भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥१३॥
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥१४॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च[5] तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥१५॥

और अहंकारशून्य पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्वगुणके द्वारा सर्वथा शुद्धचित्त हो जाते हैं ॥ ५-६ ॥ वे अन्तमें सूर्यमार्ग (अर्चिमार्ग या देवयान) के द्वारा सर्वव्यापी पूर्णपुरुष श्रीहरिको ही प्राप्त होते हैं—जो कार्य-कारणरूप जगत्के नियन्ता, संसारके उपादान-कारण और उसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाले हैं ॥७॥ जो लोग परमात्मदृष्टिसे हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, वे दो परार्द्धमें होनेवाले ब्रह्माजीके प्रलयपर्यन्त उनके सत्यलोकमें ही रहते हैं ॥ ८ ॥ जिस समय देवतादिसे श्रेष्ठ ब्रह्माजी अपने द्विपरार्द्धकालके अधिकार-को भोगकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय, उनके विषय (शब्दादि) और अहंकारादिके सहित सम्पूर्ण विश्वका संहार करनेकी इच्छासे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके साथ एकरूप होकर निर्विशेष परमात्मामें लीन हो जाते हैं, उस समय प्राण और मनको जीते हुए वे विरक्त योगिगण भी देह त्यागकर उन भगवान् ब्रह्माजीमें ही प्रवेश करते हैं और फिर उन्हींके साथ परमानन्द-स्वरूप पुराणपुरुष परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । इससे पहले वे भगवान्में लीन नहीं हुए, क्योंकि अबतक उनमें अहंकार शेष था ॥ ९-१० ॥ इसलिये माताजी! अब तुम भी अत्यन्त भक्तिभावसे उन श्रीहरिकी ही चरण-शरणमें जाओ; समस्त प्राणियोंका हृदय-कमल ही उनका मन्दिर है और तुमने भी मुझसे उनका प्रभाव सुन ही लिया है ॥ ११ ॥ वेदगर्भ ब्रह्माजी भी—जो समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके आदिकारण हैं—मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, सनकादिकों तथा योगप्रवर्तक सिद्धोंके सहित निष्काम कर्मके द्वारा आदिपुरुष पुरुष-श्रेष्ठ सगुण ब्रह्मको प्राप्त होकर भी, भेददृष्टि और कर्तृत्वाभिमानके कारण भगवदिच्छासे, जब सर्गकाल उपस्थित होता है तब, कालरूप ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर फिर पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं॥१२—१४॥ इसी प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर भगवदिच्छासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर पुनः इस लोकमें आ जाते हैं ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—सानो यः । २. प्रा० पा०—जिघृक्षुः । ३. प्रा० पा०—यान्ति गता० । ४. प्रा० पा०—भाविनि ।
५. प्रा० पा०—तु तेऽपि ।

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥१६॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।
पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥१७॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥१८॥
नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥१९॥
दक्षिणेन पथार्यम्णः[1][2] पितृलोकं व्रजन्ति ते[3] ।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः[4] ॥२०॥
ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥२१॥
तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥२२॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२३॥
यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥२४॥
स तदैवात्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं[5] समदर्शनम् ।

जिनका चित्त इस लोकमें आसक्त है और जो कर्मोंमें श्रद्धा रखते हैं, वे वेदमें कहे हुए काम्य और नित्य कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करनेमें ही लगे रहते हैं ॥ १६ ॥ उनकी बुद्धि रजोगुणकी अधिकताके कारण कुण्ठित रहती है, हृदयमें कामनाओंका जाल फैला रहता है और इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं होतीं; बस, अपने घरोंमें ही आसक्त होकर वे नित्यप्रति पितरोंकी पूजामें लगे रहते हैं ॥ १७ ॥ ये लोग अर्थ, धर्म और कामके ही परायण होते हैं; इसलिये जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं, उन भवभयहारी श्रीमधुसूदन भगवान्‌की कथा-वार्ताओंसे तो ये विमुख ही रहते हैं ॥ १८ ॥ हाय! विष्ठा-भोजी कूकर-सूकर आदि जीवोंके विष्ठा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं—वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका बड़ा ही मन्द भाग्य है ॥ १९ ॥ गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक सब संस्कारोंको विधिपूर्वक करनेवाले ये सकामकर्मी सूर्यसे दक्षिण ओरके पितृयान या धूममार्गसे पित्रीश्वर अर्यमाके लोकमें जाते हैं और फिर अपनी ही सन्ततिके वंशमें उत्पन्न होते हैं ॥२०॥ माताजी! पितृलोकके भोग भोग लेनेपर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवतालोग उन्हें वहाँके ऐश्वर्यसे च्युत कर देते हैं और फिर उन्हें विवश होकर तुरंत ही इस लोकमें गिरना पड़ता है ॥ २१ ॥ इसलिये माताजी! जिनके चरण-कमल सदा भजनेयोग्य हैं, उन भगवान्‌का तुम उन्हींके गुणोंका आश्रय लेनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे (मन, वाणी और शरीरसे) भजन करो ॥२२॥ भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है ॥ २३ ॥ वस्तुतः सभी विषय भगवद्रूप होनेके कारण समान हैं। अतः जब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा भी भगवद्भक्तका चित्त उनमें प्रिय-अप्रियरूप विषमताका अनुभव नहीं करता—सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करता है—उसी समय वह सङ्ग-

१. प्रा० पा०—थायाः । २. प्रा० पा०—पथा ते तु । ३. प्रा० पा०—वै । ४. प्रा० पा०—न्तकृतक्रियाः ।
५. प्रा० पा०—निःसङ्गः समदर्शनः ।

हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते[1] ॥२५॥
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥२६॥
एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः[2] ॥२७॥
ज्ञानमेकं पराचीनै[3]रिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥२८॥
यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥२९॥
एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या[4] परिपश्यति ॥३०॥
इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३१॥
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥३२॥
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥३३॥
क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः[5] ।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम् ॥३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥३५॥

रहित, सबमें समानरूपसे स्थित, त्याग और ग्रहण करने योग्य, दोष और गुणोंसे रहित, अपनी महिमामें आरूढ़ अपने आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करता है ॥ २४-२५ ॥ वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है; वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है ॥ २६ ॥ सम्पूर्ण संसारमें आसक्तिका अभाव हो जाना—बस, यही योगियोंके सब प्रकारके योग-साधनका एकमात्र अभीष्ट फल है ॥२७॥ ब्रह्म एक है, ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्य वृत्तियों-वाली इन्द्रियोंके द्वारा भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है ॥ २८ ॥ जिस प्रकार एक ही परब्रह्म महत्तत्त्व, वैकारिक, राजस और तामस-—तीन प्रकारका अहंकार, पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियरूप बन गया और फिर वही स्वयंप्रकाश इनके संयोगसे जीव कहलाया, उसी प्रकार उस जीवका शरीर-रूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है ॥ २९ ॥ किंतु इसे ब्रह्मरूप वही देख सकता है, जो श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य तथा निरन्तरके योगाभ्यासके द्वारा एकाग्रचित्त और असङ्ग-बुद्धि हो गया है ॥ ३० ॥

पूजनीय माताजी ! मैंने तुम्हें यह ब्रह्मसाक्षात्कारका साधनरूप ज्ञान सुनाया, इसके द्वारा प्रकृति और पुरुषके यथार्थस्वरूपका बोध हो जाता है ॥ ३१ ॥ देवि ! निर्गुण-ब्रह्म-विषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया हुआ भक्तियोग—इन दोनोंका फल एक ही है । उसे ही भगवान् कहते हैं ॥३२॥ जिस प्रकार रूप, रस एवं गन्ध आदि अनेक गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा विभिन्नरूपसे अनुभूत होता है, वैसे ही शास्त्रके विभिन्न मार्गोंद्वारा एक ही भगवान्‌की अनेक प्रकारसे अनुभूति होती है ॥३३॥ नाना प्रकार-के कर्मकलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेदविचार (मीमांसा), मन और इन्द्रियोंके संयम, कर्मोंके त्याग विविध अङ्गोंवाले योग, भक्तियोग, निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप

१. प्रा० पा०—ईक्षते । २. प्रा० पा०—कृत्स्नतः । ३. प्रा० पा०—राधीनै० । ४. प्रा० पा०—विरक्तः ।
५. प्रा० पा०—दर्शनैः ।

आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥३६॥

सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके धर्म आत्मतत्त्वके ज्ञान और दृढ़ वैराग्य—इन सभी साधनोंसे सगुण-निर्गुणरूप स्वयंप्रकाश भगवान्‌को ही प्राप्त किया जाता है ॥ ३४-३६ ॥

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥३७॥
जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥३८॥
नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥३९॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ॥४०॥
श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥४१॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम्[2] ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥४२॥
य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च[3] मे ॥४३॥

माताजी ! सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण-भेदसे चार प्रकारके भक्तियोगका और जो प्राणियोंके जन्मादि विकारोंका हेतु है तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती, उस कालका स्वरूप मैं तुमसे कह ही चुका हूँ ॥३७॥ देवि ! अविद्याजनित कर्मके कारण जीवकी अनेकों गतियाँ होती हैं; उनमें जानेपर वह अपने स्वरूपको नहीं पहचान सकता ॥ ३८ ॥ मैंने तुम्हें जो ज्ञानोपदेश दिया है—उसे दुष्ट, दुर्विनीत, घमंडी, दुराचारी और धर्मध्वजी (दम्भी) पुरुषोंको नहीं सुनाना चाहिये ॥३९॥ जो विषयलोलुप हो, गृहासक्त हो, मेरा भक्त न हो अथवा मेरे भक्तोंसे द्वेष करनेवाला हो, उसे भी इसका उपदेश कभी न करे ॥४०॥ जो अत्यन्त श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाला, सब प्राणियोंसे मित्रता रखनेवाला, गुरुसेवामें तत्पर, बाह्य विषयोंमें अनासक्त, शान्तचित्त, मत्सरशून्य और पवित्रचित्त हो तथा मुझे परम प्रियतम माननेवाला हो, उसे इसका अवश्य उपदेश करे ॥४१-४२॥ मा ! जो पुरुष मुझमें चित्त लगाकर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा, वह मेरे परमपदको प्राप्त होगा ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेये[4] द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

देवहूतिको तत्त्वज्ञान एवं मोक्षपदकी प्राप्ति

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! श्रीकपिल भगवान्‌के ये वचन सुनकर कर्दमजीकी प्रिय पत्नी माता देवहूतिके मोहका पर्दा फट गया और वे तत्त्वप्रतिपादक सांख्यशास्त्रके ज्ञानकी आधारभूमि भगवान् श्रीकपिलजीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—ज्ञानं । २. प्रा० पा०—दीयते । ३. प्रा० पा०—मम । ४. प्रा० पा०—कापिलीये ।

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥ २ ॥

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥ ३ ॥

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥ ४ ॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५ ॥

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ ६ ॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ ७ ॥

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।

देवहूतिजीने कहा—कपिलजी ! ब्रह्माजी आपके ही नाभिकमलसे प्रकट हुए थे । उन्होंने प्रलयकालीन जलमें शयन करनेवाले आपके पञ्चभूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनोमय विग्रहका, जो सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहसे युक्त, सत्स्वरूप और कार्य एवं कारण दोनोंका बीज है, ध्यान ही किया था ॥ २ ॥ आप निष्क्रिय, सत्यसङ्कल्प, सम्पूर्ण जीवोंके प्रभु तथा सहस्रों अचिन्त्य शक्तियोंसे सम्पन्न हैं । अपनी शक्तिको गुणप्रवाहरूपसे ब्रह्मादि अनन्त मूर्तियोंमें विभक्त करके उनके द्वारा आप स्वयं ही विश्वकी रचना आदि करते हैं ॥ ३ ॥ नाथ ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिनके उदरमें प्रलयकाल आनेपर यह सारा प्रपञ्च लीन हो जाता है और जो कल्पान्तमें मायामय बालकका रूप धारण कर अपने चरणका अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्तेपर शयन करते हैं, उन्हीं आपको मैंने गर्भमें धारण किया ॥ ४ ॥ विभो ! आप पापियोंका दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंका अभ्युदय एवं कल्याण करनेके लिये स्वेच्छासे देह धारण किया करते हैं । अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं, उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओंको ज्ञानमार्ग दिखानेके लिये हुआ है ॥ ५ ॥ भगवन् ! आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा भूले-भटके कभी-कभी आपका वन्दन या स्मरण करनेसे ही कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मणके समान पूजनीय हो सकता है; फिर आपका दर्शन करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है ॥ ६ ॥ अहो ! वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया ॥ ७ ॥ कपिलदेवजी ! आप साक्षात् परब्रह्म हैं, आप ही परमपुरुष हैं, वृत्तियोंके प्रवाहको अन्तर्मुख करके अन्तःकरणमें आपका ही चिन्तन किया जाता है । आप

१. प्रा० पा०—णानुस० ।

स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं

वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥ ८ ॥

मैत्रेय उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान् ।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ॥ ९ ॥

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि ॥१०॥
श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः ।
येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ॥११॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥१२॥
सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन[2] योगयुक् ।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे[3] सरस्वत्याः समाहिता ॥१३॥
[4]अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥१४॥
प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ॥१५॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥१६॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥१७॥
गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥१८॥

अपने तेजसे मायाके कार्य गुण-प्रवाहको शान्त कर देते हैं तथा आपके ही उदरमें सम्पूर्ण वेदतत्त्व निहित है । ऐसे साक्षात् विष्णुस्वरूप आपको मैं प्रणाम करती हूँ ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—माताके इस प्रकार स्तुति करनेपर मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिलदेवजीने उनसे गम्भीर वाणीमें कहा ॥ ९ ॥

श्रीकपिलदेवजीने कहा—माताजी ! मैंने तुम्हें जो यह सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करनेसे तुम शीघ्र ही परमपद प्राप्त कर लोगी ॥ १० ॥ तुम मेरे इस मतमें विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगोंने इसका सेवन किया है; इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरणरहित स्वरूपको प्राप्त कर लोगी । जो लोग मेरे इस मतको नहीं जानते, वे जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ते हैं ॥११॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्मज्ञानका उपदेशकर श्रीकपिलदेवजी अपनी ब्रह्मवादिनी जननीकी अनुमति लेकर वहाँसे चले गये ॥१२॥ तब देवहूतिजी भी सरस्वतीके मुकुटसदृश अपने आश्रममें अपने पुत्रके उपदेश किये हुए योगसाधनके द्वारा योगाभ्यास करती हुई समाधिमें स्थित हो गयीं ॥ १३ ॥ त्रिकाल स्नान करनेसे उनकी घुँघराली अलकें भूरी-भूरी जटाओंमें परिणत हो गयीं तथा चीर-वस्त्रोंसे ढका हुआ शरीर उग्र तपस्याके कारण दुर्बल हो गया ॥ १४ ॥ उन्होंने प्रजापति कर्दमके तप और योगबलसे प्राप्त अनुपम गार्हस्थ्यसुखको, जिसके लिये देवता भी तरसते थे, त्याग दिया ॥ १५ ॥ जिसमें दुग्धफेनके समान स्वच्छ और सुकोमल शय्यासे युक्त हाथी-दाँतके पलंग, सुवर्णके पात्र, सोनेके सिंहासन और उनपर कोमल-कोमल गद्दे बिछे हुए थे तथा जिसकी स्वच्छ स्फटिकमणि और महामरकतमणिकी भीतोंमें रत्नों-की बनी हुई रमणी-मूर्तियोंके सहित मणिमय दीपक जगमगा रहे थे, जो फूलोंसे लदे हुए अनेकों दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित था, जिसमें अनेक प्रकारके पक्षियों-का कलरव और मतवाले भौंरोंका गुंजार होता रहता

१. प्रा० पा०—दधिरो० । २. प्रा० पा०—योगमार्गेण । ३. प्रा० पा०—पीले । ४. प्रा० पा०—नीरावगाहकपिशं जटिलं कुटिलालकम् ।

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥१९॥
हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।
किञ्चिचकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥२०॥
वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥२१॥
तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥२२॥
ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥२३॥
भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥२४॥
विशुद्धेन तदाऽऽत्मानमात्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥२५॥
ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाऽऽप्तनिर्वृतिः ॥२६॥
नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदाऽऽत्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥२७॥
तद्देहः परतः पोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥२८॥

था । जहाँकी कमलगन्धसे सुवासित बावलियोंमें कर्दमजीके साथ उनका लाड़-प्यार पाकर क्रीड़ाके लिये प्रवेश करनेपर उसका (देवहूतिका) गन्धर्वगण गुणगान किया करते थे और जिसे पानेके लिये इन्द्राणियाँ भी लालायित रहती थीं—उस गृहोद्यानकी भी ममता उन्होंने त्याग दी । किंतु पुत्रवियोगसे व्याकुल होनेके कारण अवश्य उनका मुख कुछ उदास हो गया॥ १९–२०॥

पतिके वनगमनके अनन्तर पुत्रका भी वियोग हो जानेसे वे आत्मज्ञानसम्पन्न होकर भी ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गौ ॥ २१ ॥ वत्स विदुर ! अपने पुत्र कपिलदेवरूप भगवान् हरिका ही चिन्तन करते-करते वे कुछ ही दिनोंमें ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न घरसे भी उपरत हो गयीं ॥ २२ ॥ फिर वे, कपिलदेवजीने भगवान्के जिस ध्यान करनेयोग्य प्रसन्नवदनारविन्दयुक्त स्वरूपका वर्णन किया था, उसके एक-एक अवयवका तथा उस समग्ररूपका भी चिन्तन करती हुई ध्यानमें तत्पर हो गयीं ॥ २३ ॥ भगवद्भक्तिके प्रवाह, प्रबल वैराग्य और यथोचित कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानद्वारा चित्त शुद्ध हो जानेपर वे उस सर्वव्यापक आत्माके ध्यानमें मग्न हो गयीं, जो अपने स्वरूपके प्रकाशसे मायाजनित आवरणको दूर कर देता है ॥ २४-२५ ॥ इस प्रकार जीवके अधिष्ठानभूत परब्रह्म श्रीभगवान्में ही बुद्धिकी स्थिति हो जानेसे उनका जीवभाव निवृत्त हो गया और वे समस्त क्लेशोंसे मुक्त होकर परमानन्दमें निमग्न हो गयीं ॥ २६ ॥ अब निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण उनकी विषयोंके सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट गयी और उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि न रही—जैसे जागे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरकी नहीं रहती ॥२७॥ उनके शरीरका पोषण भी दूसरोंके द्वारा ही होता था । किंतु किसी प्रकारका मानसिक क्लेश न होनेके कारण वह दुर्बल नहीं हुआ । उसका तेज और भी निखर गया और वह मैलके कारण धूमयुक्त अग्निके समान सुशोभित होने

१. प्रा० पा०—त्वाद्धीनक्लेशा० ।

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥२९॥
एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् ।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥३०॥
तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥३१॥
तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता ॥३२॥
कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥३३॥
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥३४॥
आस्ते योगं समास्थाय सांख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥३५॥
एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवाँनघ ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥३६॥
य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता-
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥३७॥

लगा। उनके बाल बिथुर गये थे और वस्त्र भी गिर गया था; तथापि निरन्तर श्रीभगवान्‌में ही चित्त लगा रहनेके कारण उन्हें अपने तपोयोगमय शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं थी, केवल प्रारब्ध ही उसकी रक्षा करता था ॥ २८-२९ ॥

विदुरजी ! इस प्रकार देवहूतिजीने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गद्वारा थोड़े ही समयमें नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लिया ॥ ३० ॥ वीरवर ! जिस स्थानपर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमें 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३१ ॥ साधुस्वभाव विदुरजी ! योगसाधनके द्वारा उनके शरीरके सारे दैहिक मल दूर हो गये थे। वह एक नदीके रूपमें परिणत हो गया, जो सिद्धगणसे सेवित और सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है ॥ ३२ ॥

महायोगी भगवान् कपिलजी भी माताकी आज्ञा ले पिताके आश्रमसे ईशानकोणकी ओर चले गये ॥ ३३ ॥ वहाँ स्वयं समुद्रने उनका पूजन करके उन्हें स्थान दिया। वे तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन कर समाधिमें स्थित हो गये हैं । सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सरागण उनकी स्तुति करते हैं तथा सांख्याचार्यगण भी उनका सब प्रकार स्तवन करते रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

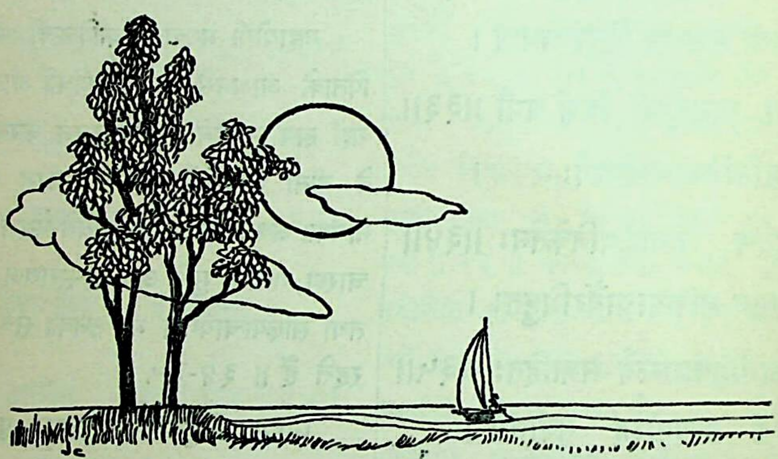
निष्पाप विदुरजी ! तुम्हारे पूछनेसे मैंने तुम्हें यह भगवान् कपिल और देवहूतिका परम पवित्र संवाद सुनाया ॥ ३६ ॥ यह कपिलदेवजीका मत अध्यात्मयोगका गूढ़ रहस्य है। जो पुरुष इसका श्रवण या वर्णन करता है, वह भगवान् गरुडध्वजकी भक्तिसे युक्त होकर शीघ्र ही श्रीहरिके चरणारविन्दोंको प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे काँपिलेयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इति तृतीयः स्कन्धः समाप्तः ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्रा० पा०—सिद्धि० । २. प्रा० पा०—कानां सुखायास्ते समा० । ३. प्रा० पा०—स्वया० । ४. प्रा० पा०—कापिलेये ।



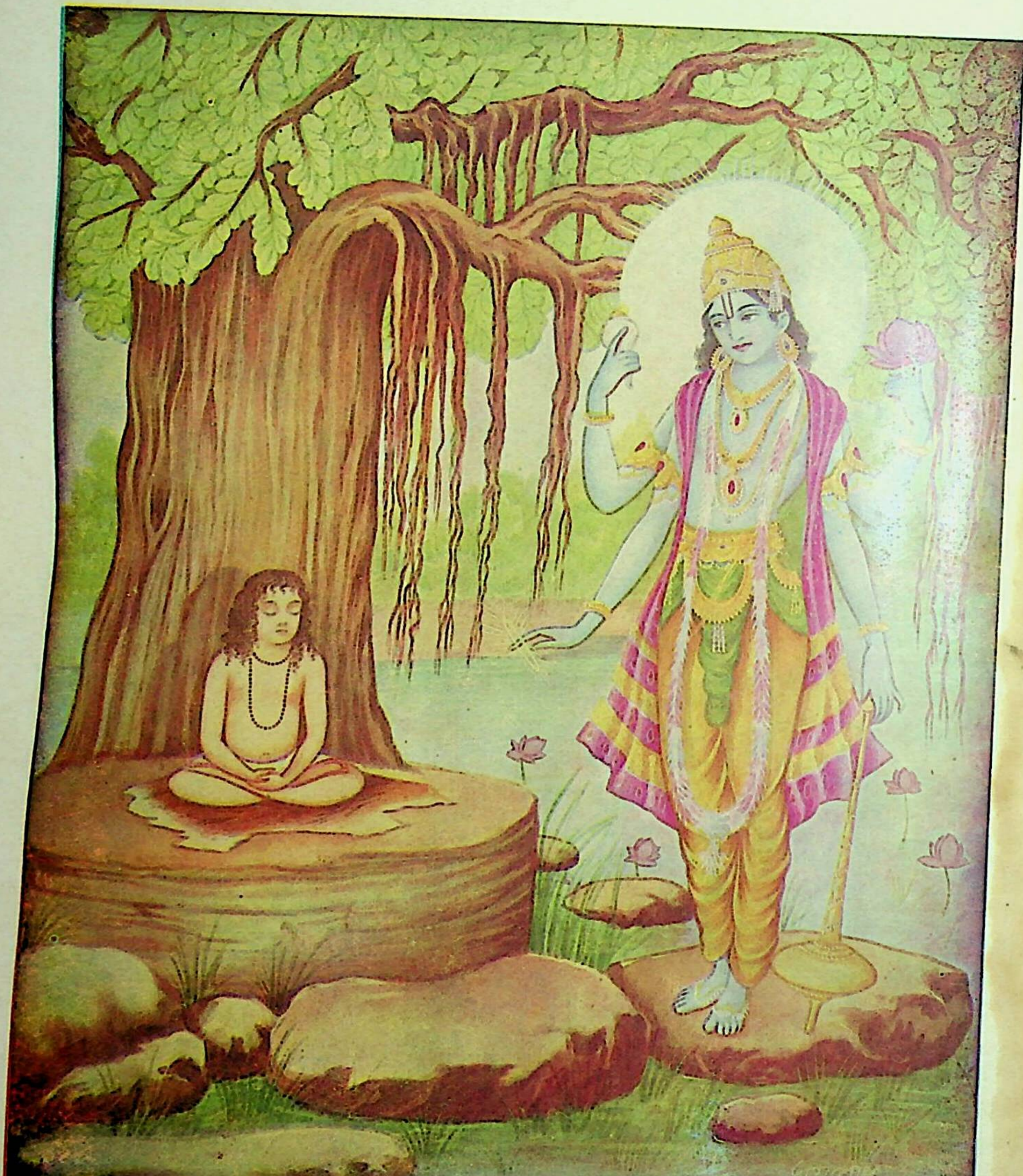
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

चतुर्थः स्कन्धः



अध्रुवाय कृतो यत्नो ध्रुवाय परिकल्पितः ।
ध्रुवस्य यत्प्रसादेन वासुदेवं नतोऽस्मि तम् ॥



ध्रुवपर अनुग्रह

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

चतुर्थः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुकी कन्याओंके वंशका वर्णन

मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः[1] ॥ १ ॥
आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः ।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २ ॥
प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥ ३ ॥
यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥ ४ ॥
आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् ।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥ ५ ॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥ ६ ॥
तोषः प्रतोषः संतोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! स्वायम्भुव मनुके महारानी शतरूपासे प्रियव्रत और उत्तानपाद—इन दो पुत्रोंके सिवा तीन कन्याएँ भी हुई थीं; वे आकूति, देवहूति और प्रसूति नामसे विख्यात थीं ॥ १ ॥ आकूतिका, यद्यपि उसके भाई थे तो भी, महारानी शतरूपाकी अनुमतिसे उन्होंने रुचि प्रजापतिके साथ 'पुत्रिकाधर्म'के* अनुसार विवाह किया ॥ २ ॥

प्रजापति रुचि भगवान्के अनन्य चिन्तनके कारण ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे । उन्होंने आकूतिके गर्भसे एक पुरुष और स्त्रीका जोड़ा उत्पन्न किया ॥ ३ ॥ उनमें जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञस्वरूपधारी भगवान् विष्णु थे; और जो स्त्री थी, वह भगवान्से कभी अलग न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा 'दक्षिणा' थी ॥ ४ ॥ मनुजी अपनी पुत्री आकूतिके उस परमतेजस्वी पुत्रको बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचि प्रजापतिने अपने पास रक्खा ॥ ५ ॥ जब दक्षिणा विवाहके योग्य हुई, तो उसने यज्ञ भगवान्को ही पतिरूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा की, तब भगवान् यज्ञपुरुषने उससे विवाह किया । इससे दक्षिणाको बड़ा संतोष हुआ । भगवान्ने प्रसन्न होकर उससे बारह पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६ ॥ उनके नाम हैं—तोष, प्रतोष, संतोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न,

---

१. प्रा० पा०—सुव्रताः ।

* 'पुत्रिकाधर्म' के अनुसार किये जानेवाले विवाहमें यह शर्त होती है कि कन्याके जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्याके पिता ले लेंगे ।

इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥ ७ ॥
तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥ ८ ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम् ॥ ९ ॥
देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः ।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥१०॥
दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः ।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ।११।
याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः ।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥१२॥
पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा ।
कश्यपं पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥१३॥
पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परंतप ।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥१४॥
अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान् ।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥१५॥

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा नोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः ।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः ॥१७॥

सुदेव और रोचन ॥ ७ ॥ ये ही स्वायम्भुव मन्वन्तरमें 'तुषित' नामके देवता हुए । उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि सप्तर्षि थे, भगवान् यज्ञ ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र थे और महान् प्रभावशाली प्रियव्रत एवं उत्तानपाद मनुपुत्र थे । वह मन्वन्तर उन्हीं दोनोंके बेटों, पोतों और दौहित्रोंके वंशसे छा गया ॥ ८-९ ॥

प्यारे विदुरजी ! मनुजीने अपनी दूसरी कन्या देवहूति कर्दमजीको ब्याही थी । उसके सम्बन्धकी प्रायः सभी बातें तुम मुझसे सुन चुके हो ॥ १० ॥ भगवान् मनुने अपनी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिसे किया था; उसकी विशाल वंशपरम्परा तो सारी त्रिलोकीमें फैली हुई है ॥ ११ ॥

मैं कर्दमजीकी नौ कन्याओंका, जो नौ ब्रह्मर्षियोंसे ब्याही गयी थीं, पहले ही वर्णन कर चुका हूँ । अब उनकी वंशपरम्पराका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥ मरीचि ऋषिकी पत्नी कर्दमजीकी बेटी कलासे कश्यप और पूर्णिमा नामक दो पुत्र हुए, जिनके वंशसे यह सारा जगत् भरा हुआ है ॥ १३ ॥ शत्रुतापन विदुरजी ! पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामके दो पुत्र तथा देवकुल्या नामकी एक कन्या हुई । यही दूसरे जन्ममें श्रीहरिके चरणोंके धोवनसे देवनदी गङ्गाके रूपमें प्रकट हुई ॥ १४ ॥ अत्रिकी पत्नी अनसूयासे दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा नामके तीन परम यशस्वी पुत्र हुए । ये क्रमशः भगवान् विष्णु, शंकर और ब्रह्माके अंशसे उत्पन्न हुए थे ॥ १५ ॥

विदुरजीने पूछा—गुरुजी ! कृपया यह बतलाइये कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाले इन सर्वश्रेष्ठ देवोंने अत्रिमुनिके यहाँ क्या करनेकी इच्छासे अवतार लिया था ? ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जब ब्रह्माजीने ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको सृष्टि रचनेके लिये आज्ञा दी, तब वे अपनी सहधर्मिणीके सहित तप करनेके लिये ऋक्ष नामक कुलपर्वतपर गये ॥ १७ ॥ वहाँ पलाश

१. प्रा० पा०—यद० । २. प्रा० पा०—काः क्षत्तर्ब्रह्म० । ३. प्रा० पा०—यज्ञं च । ४. प्रा० पा०—चो० ।

तस्मिन् प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने ।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥१८॥
प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः ।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥१९॥
शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥२०॥
तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना ।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः ॥२१॥
अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥२२॥
तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः ।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥२३॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः[1] ।
वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ॥२४॥
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् ।
तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥२५॥
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः ।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः ॥२६॥

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।

और अशोकके वृक्षोंका एक विशाल वन था। उसके सभी वृक्ष फूलोंके गुच्छोंसे लदे थे तथा उसमें सब ओर निर्विन्ध्या नदीके जलकी कलकल ध्वनि गूँजती रहती थी ॥१८॥ उस वनमें वे मुनिश्रेष्ठ प्राणायामके द्वारा चित्तको वशमें करके सौ वर्षतक केवल वायु पीकर सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वोंकी कुछ भी परवा न कर एक ही पैरसे खड़े रहे ॥ १९ ॥ उस समय वे मन-ही-मन यही प्रार्थना करते थे कि 'जो कोई सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं, मैं उनकी शरणमें हूँ; वे मुझे अपने ही समान संतान प्रदान करें' ॥ २० ॥

तब यह देखकर कि प्राणायामरूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ अत्रिमुनिका तेज उनके मस्तकसे निकलकर तीनों लोकोंको तपा रहा है—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—तीनों जगत्पति उनके आश्रमपर आये । उस समय अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और नाग—उनका सुयश गा रहे थे ॥ २१-२२ ॥ उन तीनोंका एक ही साथ प्रादुर्भाव होनेसे अत्रिमुनिका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठा । उन्होंने एक पैरसे खड़े-खड़े ही उन देव-देवोंको देखा और फिर पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम करनेके अनन्तर अर्घ्य-पुष्पादि पूजनकी सामग्री हाथमें ले उनकी पूजा की । वे तीनों अपने-अपने वाहन—हंस, गरुड़ और बैलपर चढ़े हुए तथा अपने कमण्डलु, चक्र, त्रिशूलादि चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ २३-२४ ॥ उनकी आँखोंसे कृपाकी वर्षा हो रही थी । उनके मुखपर मन्द हास्यकी रेखा थी, जिससे उनकी प्रसन्नता झलक रही थी । उनके तेजसे चौंधियाकर मुनिवरने अपनी आँखें मूँद लीं ॥ २५ ॥ वे चित्तको उन्हींकी ओर लगाकर हाथ जोड़ अतिमधुर और सुन्दर भावपूर्ण वचनोंमें लोकमें सबसे बड़े उन तीनों देवोंकी स्तुति करने लगे ॥ २६ ॥

अत्रिमुनिने कहा—भगवन् ! प्रत्येक कल्पके आरम्भमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये जो मायाके सत्त्वादि तीनों गुणोंका विभाग करके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं—वे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव

१. प्रा० पा०—स्थे कृताञ्जलिः ।

ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः ॥२७॥
एको मयेह भगवान् विबुधप्रधान-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥२८॥

मैत्रेय उवाच¹

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः ।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥२९॥

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति² ते वयम् ॥३०॥
अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥३१॥
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥३२॥
सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्
दुर्वासाः शंकरस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥३३॥
श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥३४॥
तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे ।
उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥३५॥
पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि ।
सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥३६॥
तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः ।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥३७॥

आप ही हैं; मैं आपको प्रणाम करता हूँ। कहिये—मैंने जिनको बुलाया था, आपमेंसे वे कौन महानुभाव हैं? ॥ २७ ॥ क्योंकि मैंने तो संतानप्राप्तिकी इच्छासे केवल एक सुरेश्वर भगवान्‌का ही चिन्तन किया था। फिर आप तीनोंने यहाँ पधारनेकी कृपा कैसे की? आपलोगोंतक तो देहधारियोंके मनकी भी गति नहीं है, इसलिये मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। आपलोग कृपा करके मुझे इसका रहस्य बतलाइये ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—समर्थ विदुरजी! अत्रिमुनिके वचन सुनकर वे तीनों देव हँसे और उनसे सुमधुर वाणीमें कहने लगे ॥ २९ ॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! तुम सत्यसङ्कल्प हो। अतः तुमने जैसा सङ्कल्प किया था, वही होना चाहिये। उससे विपरीत कैसे हो सकता था? तुम जिस 'जगदीश्वर'का ध्यान करते थे, वह हम तीनों ही हैं ॥ ३० ॥ प्रिय महर्षे! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशस्वरूप तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे सुन्दर यशका विस्तार करेंगे ॥ ३१ ॥

उन्हें इस प्रकार अभीष्ट वर देकर तथा पति-पत्नी दोनोंसे भलीभाँति पूजित होकर उनके देखते-ही-देखते वे तीनों सुरेश्वर अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ ३२ ॥ ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और महादेवजीके अंशसे दुर्वासा ऋषि अत्रिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। अब अङ्गिरा ऋषिकी संतानोंका वर्णन सुनो ॥ ३३ ॥

अङ्गिराकी पत्नी श्रद्धाने सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति—इन चार कन्याओंको जन्म दिया ॥ ३४ ॥ इनके सिवा उनके साक्षात् भगवान् उतथ्यजी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पतिजी—ये दो पुत्र भी हुए, जो स्वारोचिष मन्वन्तरमें विख्यात हुए ॥ ३५ ॥ पुलस्त्यजीके उनकी पत्नी हविर्भूसे महर्षि अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा—ये दो पुत्र हुए। इनमें अगस्त्यजी दूसरे जन्ममें जठराग्नि हुए ॥ ३६ ॥ विश्रवा मुनिके इडविडाके गर्भसे यक्षराज कुबेरका जन्म हुआ और उनकी दूसरी पत्नी केशिनीसे रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण उत्पन्न हुए ॥ ३७ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है। २. प्रा० पा०—ध्यायसि।

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् ।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥३८॥
क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत ।
ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥३९॥
ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप ।
चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥४०॥
चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च ।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे ॥४१॥
चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् ।
द[1]ध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे ॥४२॥

महामते! महर्षि पुलहकी स्त्री परम साध्वी गतिसे कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् और सहिष्णु—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार क्रतुकी पत्नी क्रियाने ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान वालखिल्यादि साठ हजार ऋषियोंको जन्म दिया ॥ ३९ ॥ शत्रुतापन विदुरजी! वसिष्ठजीकी पत्नी ऊर्जा (अरुन्धती) से चित्रकेतु आदि सात विशुद्धचित्त ब्रह्मर्षियोंका जन्म हुआ ॥ ४० ॥ उनके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्वण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे । इनके सिवा उनकी दूसरी पत्नीसे शक्ति आदि और भी कई पुत्र हुए ॥ ४१ ॥ अथर्वा मुनिकी पत्नी चित्तिने दध्यङ् (दधीचि) नामक एक तपोनिष्ठ पुत्र प्राप्त किया, जिसका दूसरा नाम अश्वशिरा भी था । अब भृगुके वंशका वर्णन सुनो ॥ ४२ ॥

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥४३॥
आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् ।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥४४॥
मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः ।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥४५॥
ते[2] एते मुनयः क्षत्तर्लोकान् सर्गैरभावयन् ।
एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ॥४६॥

महाभाग भृगुजीने अपनी भार्या ख्यातिसे धाता और विधाता नामक पुत्र तथा श्री नामकी एक भगवत्परायणा कन्या उत्पन्न की ॥ ४३ ॥ मेरुऋषिने अपनी आयति और नियति नामकी कन्याएँ क्रमशः धाता और विधाताको ब्याहीं; उनसे उनके मृकण्ड और प्राण नामक पुत्र हुए ॥ ४४ ॥ उनमेंसे मृकण्डके मार्कण्डेय और प्राणके मुनिवर वेदशिराका जन्म हुआ । भृगुजीके एक कवि-नामक पुत्र भी थे। उनके भगवान् उशना (शुक्राचार्य) हुए ॥ ४५ ॥ विदुरजी ! इन सब मुनीश्वरोंने भी संतान उत्पन्न करके सृष्टिका विस्तार किया । इस प्रकार मैंने तुम्हें यह कर्दमजीके दौहित्रोंकी संतानका वर्णन सुनाया । जो पुरुष इसे श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसके पापोंको यह तत्काल नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ।
तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥४७॥
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥४८॥
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ॥४९॥

ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने मनुनन्दिनी प्रसूतिसे विवाह किया । उससे उन्होंने सुन्दर नेत्रोंवाली सोलह कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥४७॥ भगवान् दक्षने उनमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक समस्त पितृगणको और एक संसारका संहार करनेवाले तथा जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले भगवान् शंकरको दी ॥ ४८ ॥ श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये धर्मकी पत्नियाँ हैं ॥४९॥

१. प्रा० पा०—दधीचमश्व० । २. प्रा० पा०—सर्वे ते मनु० ।

श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ॥५०॥
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ॥५१॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥५२॥
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥५३॥
दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः ।
मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥५४॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो[1] देव्य आसीत्परममङ्गलम् ।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥५५॥

देवा[2] ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय ।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥५६॥
सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः ।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥५७॥
एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥५८॥
ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥५९॥

इनमेंसे श्रद्धाने शुभ, मैत्रीने प्रसाद, दयाने अभय, शान्तिने सुख, तुष्टिने मोद और पुष्टिने अहंकारको जन्म दिया ॥ ५० ॥ क्रियाने योग, उन्नतिने दर्प, बुद्धिने अर्थ, मेधाने स्मृति, तितिक्षाने क्षेम और ह्री (लज्जा) ने प्रश्रय (विनय) नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ५१ ॥ समस्त गुणोंकी खान मूर्तिदेवीने नर-नारायण ऋषियोंको जन्म दिया ॥ ५२ ॥ इनका जन्म होनेपर इस सम्पूर्ण विश्वने आनन्दित होकर प्रसन्नता प्रकट की । उस समय लोगोंके मन, दिशाएँ, वायु, नदी और पर्वत—सभीमें प्रसन्नता छा गयी ॥ ५३ ॥ आकाशमें माङ्गलिक बाजे बजने लगे, देवतालोग फूलोंकी वर्षा करने लगे, मुनि प्रसन्न होकर स्तुति करने लगे, गन्धर्व और किन्नर गाने लगे ॥ ५४ ॥ अप्सराएँ नाचने लगीं । इस प्रकार उस समय बड़ा ही आनन्द-मङ्गल हुआ तथा ब्रह्मादि समस्त देवता स्तोत्रोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ५५ ॥

देवताओंने कहा—जिस प्रकार आकाशमें तरह-तरहके रूपोंकी कल्पना कर ली जाती है—उसी प्रकार जिन्होंने अपनी मायाके द्वारा अपने ही स्वरूपके अंदर इस संसारकी रचना की है और अपने उस स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये इस समय इस ऋषि-विग्रहके साथ धर्मके घरमें अपने आपको प्रकट किया है, उन परम पुरुषको हमारा नमस्कार है ॥ ५६ ॥ जिनके तत्त्वका शास्त्रके आधारपर हमलोग केवल अनुमान ही करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं कर पाते—उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको संसारकी मर्यादामें किसी प्रकारकी गड़बड़ी न हो, इसीलिये सत्त्वगुणसे उत्पन्न किया है । अब वे अपने करुणामय नेत्रोंसे—जो समस्त शोभा और सौन्दर्यके निवासस्थान निर्मल दिव्य कमलको भी नीचा दिखानेवाले हैं—हमारी ओर निहारें ॥ ५७ ॥

प्यारे विदुरजी ! प्रभुका साक्षात् दर्शन पाकर देवताओंने उनकी इस प्रकार स्तुति और पूजा की । तदनन्तर भगवान् नर-नारायण दोनों गन्धमादन पर्वतपर चले गये ॥ ५८ ॥ भगवान् श्रीहरिके अंशभूत वे नर-नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण और उन्हींके सरीखे श्यामवर्ण कुरुकुलतिलक अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥५९॥

१. प्रा० पा०—दिव्या आसीत् परमसङ्गमम् । २. प्राचीन प्रतिमें 'देवा ऊचुः' नहीं है ।

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥६०॥
तेभ्योऽग्नयः समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥६१॥
वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥६२॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥६३॥
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥६४॥
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥६५॥
पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥६६॥

अग्निदेवकी पत्नी स्वाहाने अग्निके ही अभिमानी पावक, पवमान और शुचि—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। ये तीनों ही हवन किये हुए पदार्थोंका भक्षण करनेवाले हैं ॥ ६० ॥ इन्हीं तीनोंसे पैंतालीस प्रकारके अग्नि और उत्पन्न हुए । ये ही अपने तीन पिता और एक पितामहको साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये ॥६१॥ वेदज्ञ ब्राह्मण वैदिक यज्ञकर्ममें जिन उनचास अग्नियोंके नामोंसे आग्नेयी इष्टियाँ करते हैं, वे ये ही हैं ॥ ६२ ॥

अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप और आज्यप—ये पितर हैं; इनमें साग्निक भी हैं और निरग्निक भी । इन सब पितरोंकी पत्नी दक्षकुमारी स्वधा हैं ॥ ६३ ॥ इन पितरोंसे स्वधाके धारिणी और वयुना नामकी दो कन्याएँ हुई । वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञानमें पारङ्गत और ब्रह्मज्ञान-का उपदेश करनेवाली हुईं ॥ ६४ ॥ महादेवजीकी पत्नी सती थीं, वे सब प्रकारसे अपने पतिदेवकी सेवामें संलग्न रहनेवाली थीं । किंतु उनके अपने गुण और शीलके अनुरूप कोई पुत्र नहीं हुआ ॥ ६५ ॥ क्योंकि सतीके पिता दक्षने बिना ही किसी अपराधके भगवान् शिवजीके प्रतिकूल आचरण किया था, इसलिये सतीने युवावस्थामें ही क्रोधवश योगके द्वारा स्वयं ही अपने शरीरका त्याग कर दिया था ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
विदुरमैत्रेयसंवादे[1] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् शिव और दक्षप्रजापतिका मनोमालिन्य

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः ।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥ १ ॥
कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥ २ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! प्रजापति दक्ष तो अपनी लड़कियोंसे बहुत ही स्नेह रखते थे, फिर उन्होंने अपनी कन्या सतीका अनादर करके शीलवानोंमें सबसे श्रेष्ठ श्रीमहादेवजीसे द्वेष क्यों किया ? ॥ १ ॥ महादेवजी भी चराचरके गुरु, वैररहित, शान्तमूर्ति, आत्माराम और जगत्के परम आराध्य देव हैं । उनसे भला, कोई क्यों वैर करेगा ? ॥ २ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'विदुरमैत्रेयसंवादे'के स्थानमें 'दाक्षायनं (?) नाम' यह पाठ है ।

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् जामातुः श्वशुरस्य च ।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥ ४ ॥
तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा ।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥ ५ ॥
उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः ।
ऋते विरिञ्चं शर्वं च तद्भासाऽऽक्षिप्तचेतसः ॥ ६ ॥
सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः ।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥ ७ ॥
प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८ ॥
श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः ।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥ ९ ॥
अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥ १० ॥
एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत्[1] ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥ ११ ॥
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं[2] मर्कटलोचनः ।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥ १२ ॥

भगवन् ! उन ससुर और दामादमें इतना विद्वेष कैसे हो गया, जिसके कारण सतीने अपने दुस्त्यज प्राणोंतककी बलि दे दी ? यह आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! पहले एक बार प्रजापतियोंके यज्ञमें सब बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंके सहित एकत्र हुए थे ॥ ४ ॥ उसी समय प्रजापति दक्षने भी उस सभामें प्रवेश किया । वे अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशमान थे और उस विशाल सभाभवनका अन्धकार दूर किये देते थे । उन्हें आया देख ब्रह्माजी और महादेवजीके अतिरिक्त अग्निपर्यन्त सभी सभासद् उनके तेजसे प्रभावित होकर अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ५-६ ॥ इस प्रकार समस्त सभासदोंसे भलीभाँति सम्मान प्राप्त करके तेजस्वी दक्ष जगत्पिता ब्रह्माजीको प्रणामकर उनकी आज्ञासे अपने आसनपर बैठ गये ॥ ७ ॥

परंतु महादेवजीको पहलेसे ही बैठा देख तथा उनसे अभ्युत्थानादिके रूपमें कुछ भी आदर न पाकर दक्ष उनका यह व्यवहार सहन न कर सके । उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी नजरसे इस प्रकार देखा, मानो उन्हें वे क्रोधाग्निसे जला डालेंगे । फिर कहने लगे—॥ ८ ॥ 'देवता और अग्नियोंके सहित समस्त ब्रह्मर्षिगण मेरी बात सुनें । मैं नासमझी या द्वेषवश नहीं कहता, बल्कि शिष्टाचारकी बात कहता हूँ ॥ ९ ॥ यह निर्लज्ज महादेव समस्त लोकपालोंकी पवित्र कीर्तिको धूलमें मिला रहा है । देखिये, इस घमण्डीने सत्पुरुषोंके आचरणको लाञ्छित एवं मटियामेट कर दिया है ॥ १० ॥ बंदरके-से नेत्रवाले इसने सत्पुरुषोंके समान मेरी सावित्री-सरीखी मृगनयनी पवित्र कन्याका अग्नि और ब्राह्मणोंके सामने पाणिग्रहण किया था, इसलिये यह एक प्रकार मेरे पुत्रके समान हो गया है । उचित तो यह था कि यह उठकर मेरा स्वागत करता, मुझे प्रणाम करता; परंतु इसने वाणीसे भी मेरा सत्कार नहीं किया ॥ ११-१२ ॥

१. प्रा० पा०—अथ । २. प्रा० पा०—पाणिमर्केन्दुलोच० ।

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे ।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम् ॥१३॥
प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः ।
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन् ॥१४॥
चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः ।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।
पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥१५॥
तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे ।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥१६॥

हाय ! जिस प्रकार शूद्रको कोई वेद पढ़ा दे, उसी प्रकार मैंने इच्छा न होते हुए भी भावी वश इसको अपनी सुकुमारी कन्या दे दी । इसने सत्कर्मका लोप कर दिया, यह सदा अपवित्र रहता है, बड़ा घमण्डी है और धर्मकी मर्यादाको तोड़ रहा है ॥ १३ ॥ यह प्रेतोंके निवासस्थान भयंकर श्मशानोंमें भूत-प्रेतोंको साथ लिये घूमता रहता है । पूरे पागलकी तरह सिरके बाल बिखेरे नंग-धड़ंग भटकता है, कभी हँसता है, कभी रोता है ॥ १४ ॥ यह सारे शरीरपर चिताकी अपवित्र भस्म लपेटे रहता है, गलेमें भूतोंके पहननेयोग्य नर-मुण्डोंकी माला और सारे शरीरमें हड्डियोंके गहने पहने रहता है । यह बस, नामभरका ही शिव है, वास्तवमें है पूरा अशिव—अमङ्गलरूप । जैसे यह स्वयं मतवाला है, वैसे ही इसे मतवाले ही प्यारे लगते हैं । भूत-प्रेत-प्रमथ आदि निरे तमोगुणी स्वभाववाले जीवोंका यह नेता है ॥ १५ ॥ अरे ! मैंने केवल ब्रह्माजीके बहकावेमें आकर ऐसे भूतोंके सरदार, आचारहीन और दुष्ट स्वभाववालेको अपनी भोली-भाली बेटी ब्याह दी ॥ १६ ॥

मैत्रेय उवाच

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप[1] उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥१७॥
अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह[2] भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥१८॥
निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥१९॥
विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥२०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! दक्षने इस प्रकार महादेवजीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा; तथापि उन्होंने इसका कोई प्रतीकार नहीं किया, वे पूर्ववत् निश्चलभावसे बैठे रहे । इससे दक्षके क्रोधका पारा और भी ऊँचा चढ़ गया और वे जल हाथमें लेकर उन्हें शाप देनेको तैयार हो गये ॥ १७ ॥ दक्षने कहा, 'यह महादेव देवताओंमें बड़ा ही अधम है । अबसे इसे इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञका भाग न मिले' ॥ १८ ॥ उपस्थित मुख्य-मुख्य सभासदोंने उन्हें बहुत मना किया, परंतु उन्होंने किसीकी न सुनी; महादेवजीको शाप दे ही दिया । फिर वे अत्यन्त क्रोधित हो उस सभासे निकलकर अपने घर चले गये ॥ १९ ॥

जब श्रीशंकरजीके अनुयायियोंमें अग्रगण्य नन्दीश्वरको मालूम हुआ कि दक्षने शाप दिया है, तो वे क्रोधसे तमतमा उठे और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके दुर्वचनोंका अनुमोदन किया था, बड़ा भयंकर शाप दिया ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—क्षो ह्याप । २. प्रा० पा०—यज्ञे ।

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥२१॥
गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥२२॥
बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् २३
विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥२४॥
गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥२५॥
सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः ।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥२६॥
तस्यैवं ददतः[1] शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै ।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥२७॥
भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥२८॥
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥२९॥
ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाखण्डमाश्रिताः ॥३०॥

वे बोले—"जो इस मरणधर्मा शरीरमें ही अभिमान करके किसीसे भी द्रोह न करनेवाले भगवान् शंकरसे द्वेष करता है, वह भेद-बुद्धिवाला मूर्ख दक्ष तत्त्वज्ञानसे विमुख ही रहे ॥ २१ ॥ यह 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' आदि अर्थवादरूप वेदवाक्योंसे मोहित एवं विवेकभ्रष्ट होकर विषयसुखकी इच्छासे कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें आसक्त रहकर कर्मकाण्डमें ही लगा रहता है । इसकी बुद्धि देहादिमें आत्मभावका चिन्तन करनेवाली है, उसके द्वारा इसने आत्मस्वरूपको भुला दिया है, यह साक्षात् पशुके ही समान है, अतः अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो और शीघ्र ही इसका मुँह बकरेका हो जाय ॥२२-२३॥ यह मूर्ख कर्ममयी अविद्याको ही विद्या समझता है; इसलिये यह और जो लोग भगवान् शंकरका अपमान करनेवाले इस दुष्टके पीछे-पीछे चलनेवाले हैं, वे सभी जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़े रहें ॥ २४ ॥ वेदवाणीरूप लता फलश्रुतिरूप पुष्पोंसे सुशोभित है, उसके कर्मफलरूप मनोमोहक गन्धसे इनके चित्त क्षुब्ध हो रहे हैं । इससे ये शंकरद्रोही कर्मोंके जालमें ही फँसे रहें ॥ २५ ॥ ये ब्राह्मणलोग भक्ष्याभक्ष्यके विचारको छोड़कर केवल पेट पालनेके लिये ही विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें तथा धन, शरीर और इन्द्रियोंके सुखको ही सुख मानकर—उन्हींके गुलाम बनकर दुनियामें भीख माँगते भटका करें" ॥२६॥

नन्दीश्वरके मुखसे इस प्रकार ब्राह्मणकुलके लिये शाप सुनकर उसके बदलेमें भृगुजीने यह दुस्तर शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया ॥ २७ ॥ 'जो लोग शिवभक्त हैं तथा जो उन भक्तोंके अनुयायी हैं, वे सत्-शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों ॥ २८ ॥ जो लोग शौचाचारविहीन, मन्दबुद्धि तथा जटा, राख और हड्डियोंको धारण करनेवाले हैं—वे ही शैव-सम्प्रदायमें दीक्षित हों, जिसमें सुरा और आसव ही देवताओंके समान आदरणीय हैं ॥ २९ ॥ अरे ! तुमलोग जो धर्ममर्यादाके संस्थापक एवं वर्णाश्रमियोंके रक्षक वेद और ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हो, इससे मालूम होता है तुमने पाखण्डका आश्रय ले रक्खा है ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—वदतः ।

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्वे चानुसंतस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥३१॥
तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।
विगर्ह्य यात पाखण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥३२॥

यह वेदमार्ग ही लोगोंके लिये कल्याणकारी और सनातन मार्ग है। पूर्वपुरुष इसीपर चलते आये हैं और इसके मूल साक्षात् श्रीविष्णुभगवान् हैं ॥ ३१ ॥ तुमलोग सत्पुरुषोंके परम पवित्र और सनातन मार्गस्वरूप वेदकी निन्दा करते हो—इसलिये उस पाखण्डमार्गमें जाओ, जिसमें भूतोंके सरदार तुम्हारे इष्टदेव निवास करते हैं' ॥ ३२ ॥

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः ।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥३३॥
तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥३४॥
आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥३५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! भृगुऋषिके इस प्रकार शाप देनेपर भगवान् शंकर कुछ खिन्न-से हो वहाँसे अपने अनुयायियोंसहित चल दिये ॥ ३३ ॥ वहाँ प्रजापतिलोग जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें पुरुषोत्तम श्रीहरि ही उपास्यदेव थे। और वह यज्ञ एक हजार वर्षमें समाप्त होनेवाला था । उसे समाप्त कर उन प्रजापतियोंने श्रीगङ्गा-यमुनाके सङ्गममें यज्ञान्त स्नान किया और फिर प्रसन्नमनसे वे अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

सतीका पिताके यहाँ यज्ञोत्सवमें जानेके लिये आग्रह करना

मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १ ॥
यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥ २ ॥
इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥
तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः ।
आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार उन ससुर और दामादको आपसमें वैर-विरोध रखते हुए बहुत अधिक समय निकल गया ॥ १ ॥ इसी समय ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंका अधिपति बना दिया । इससे उसका गर्व और भी बढ़ गया ॥२॥ उसने भगवान् शंकर आदि ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय-यज्ञ किया और फिर बृहस्पतिसव नामका महायज्ञ आरम्भ किया ॥ ३ ॥ उस यज्ञोत्सवमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ पधारे, उन सबने मिलकर वहाँ माङ्गलिक कार्य सम्पन्न किये और दक्षके द्वारा उन सबका स्वागत-सत्कार किया गया ॥ ४ ॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।
सती[1] दाक्षायणी देवी पितुर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ ५ ॥
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७ ॥

उस समय आकाशमार्गसे जाते हुए देवता आपसमें उस यज्ञकी चर्चा करते जाते थे । उनके मुखसे दक्षकुमारी सतीने अपने पिताके घर होनेवाले यज्ञकी बात सुन ली ॥ ५ ॥ उन्होंने देखा कि हमारे निवास-स्थान कैलासके पाससे होकर सब ओरसे चञ्चल नेत्रोंवाली गन्धर्व और यक्षोंकी स्त्रियाँ चमकीले कुण्डल और हार पहने खूब सज-धजकर अपने-अपने पतियोंके साथ विमानोंपर बैठी उस यज्ञोत्सवमें जा रही हैं । इससे उन्हें भी बड़ी उत्सुकता हुई और उन्होंने अपने पति भगवान् भूतनाथसे कहा ॥ ६-७ ॥

सत्युवाच[2]

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८ ॥
तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन् भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्[3] ॥ ९ ॥
तत्र स्वसॄर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसॄः क्लिन्नधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १० ॥
त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११ ॥
पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-
ऽप्यलंकृताः कान्तसखा वरूथशः ।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२ ॥

सतीने कहा—वामदेव ! सुना है, इस समय आपके ससुर दक्षप्रजापतिके यहाँ बड़ा भारी यज्ञोत्सव हो रहा है । देखिये, ये सब देवता वहीं जा रहे हैं । यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी चलें ॥ ८ ॥ इस समय अपने आत्मीयोंसे मिलनेके लिये मेरी बहिनें भी अपने-अपने पतियोंके सहित वहाँ अवश्य आयेंगी । मैं भी चाहती हूँ कि आपके साथ वहाँ जाकर माता-पिताके दिये हुए गहने, कपड़े आदि उपहार स्वीकार करूँ ॥ ९ ॥ वहाँ अपने पतियोंसे सम्मानित बहिनों, मौसियों और स्नेहार्द्रहृदया जननीको देखनेके लिये मेरा मन बहुत दिनोंसे उत्सुक है । कल्याणमय ! इसके सिवा वहाँ महर्षियोंका रचा हुआ श्रेष्ठ यज्ञ भी देखनेको मिलेगा ॥ १० ॥ अजन्मा प्रभो ! आप जगत्की उत्पत्तिके हेतु हैं । आपकी मायासे रचा हुआ यह परम आश्चर्यमय त्रिगुणात्मक जगत् आपहीमें भास रहा है । किंतु मैं तो स्त्रीस्वभाव होनेके कारण आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ और बहुत दीन हूँ । इसलिये इस समय अपनी जन्मभूमि देखनेको बहुत उत्सुक हो रही हूँ ॥ ११ ॥ जन्मरहित नीलकण्ठ ! देखिये—इनमें कितनी ही स्त्रियाँ तो ऐसी हैं, जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है । फिर भी वे अपने-अपने पतियोंके सहित खूब सज-धजकर झुंड-की-झुंड वहाँ जा रही हैं । वहाँ जानेवाली इन देवाङ्गनाओंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे आकाशमण्डल कैसा सुशोभित हो रहा है ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—दाक्षायणी महादेवी पितृयज्ञमहोत्सवे । २. प्राचीन प्रतिमें 'सत्युवाच' नहीं है । ३. प्रा० पा०—मर्पितुम् ।

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥१३॥
तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान्कारुणिको बताहति।
त्वयाऽऽत्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥१४॥

ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रियया भिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥१६॥
विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥१७॥
नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥१८॥
तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता।

सुरश्रेष्ठ! ऐसी अवस्थामें अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी बेटीका शरीर उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न छटपटायेगा। पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ तो बिना बुलाये भी जा सकते हैं ॥ १३ ॥ अतः देव! आप मुझपर प्रसन्न हों; आपको मेरी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करनी चाहिये; आप बड़े करुणामय हैं, तभी तो परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अङ्गमें स्थान दिया है। अब मेरी इस याचनापर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत कीजिये ॥ १४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रिया सतीजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर अपने आत्मीयोंका प्रिय करनेवाले भगवान् शंकरको दक्षप्रजापतिके उन मर्मभेदी दुर्वचनरूप बाणोंका स्मरण हो आया, जो उन्होंने समस्त प्रजापतियोंके सामने कहे थे; तब वे हँसकर बोले ॥ १५ ॥

भगवान् शंकरने कहा—सुन्दरि! तुमने जो कहा कि अपने बन्धुजनके यहाँ बिना बुलाये भी जा सकते हैं, सो तो ठीक ही है; किंतु ऐसा तभी करना चाहिये, जब उनकी दृष्टि अतिशय प्रबल देहाभिमानसे उत्पन्न हुए मद और क्रोधके कारण द्वेष-दोषसे युक्त न हो गयी हो ॥ १६ ॥ विद्या, तप, धन, सुदृढ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके तो गुण हैं, परंतु नीच पुरुषोंमें ये ही अवगुण हो जाते हैं; क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़ जाता है और दृष्टि दोषयुक्त हो जाती है एवं विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी कारण वे महापुरुषोंका प्रभाव नहीं देख पाते ॥ १७ ॥ इसीसे जो अपने यहाँ आये हुए पुरुषोंको कुटिल बुद्धिसे भौं चढ़ाकर रोषभरी दृष्टिसे देखते हैं, उन अव्यवस्थितचित्त लोगोंके यहाँ 'ये हमारे बान्धव हैं' ऐसा समझकर कभी नहीं जाना चाहिये ॥ १८ ॥ देवि! शत्रुओंके बाणोंसे बिंध जानेपर भी ऐसी व्यथा नहीं होती, जैसी अपने कुटिलबुद्धि स्वजनोंके कुटिल वचनोंसे होती है। क्योंकि बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न

१. प्रा० पा०—त्वया सहार्धे। २. प्रा० पा०—गृहात्। । ३. प्रा० पा०—शेते क्षताङ्गे।

स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-

र्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥१९॥

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः

प्रियाऽऽत्मजानामसि सुभ्रु सम्मता ।

अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे

मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥२०॥

पापच्यमानेन हृदाऽऽतुरेन्द्रियः

समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।

अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा

पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥२१॥

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं

विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।

प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा

गुहाशयायैव न देहमानिने ॥२२॥

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं

यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।

सत्त्वे च तस्मिन्[1] भगवान् वासुदेवो

ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥२३॥

तत्ते[2] निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्

दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये ।

यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-

मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥२४॥

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो

भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।

सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो

यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥२५॥

हो जानेपर तो जैसे-तैसे निद्रा आ जाती है, किंतु कुवाक्योंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेपर तो मनुष्य हृदयकी पीड़ासे दिन-रात बेचैन रहता है ॥ १९ ॥

सुन्दरि ! अवश्य ही मैं यह जानता हूँ कि तुम परमोन्नतिको प्राप्त हुए दक्षप्रजापतिको अपनी कन्याओंमें सबसे अधिक प्रिय हो । तथापि मेरी आश्रिता होनेके कारण तुम्हें अपने पितासे मान नहीं मिलेगा; क्योंकि वे मुझसे बहुत जलते हैं ॥ २० ॥ जीवकी चित्तवृत्तिके साक्षी अहंकारशून्य महापुरुषोंकी समृद्धिको देखकर जिसके हृदयमें संताप और इन्द्रियोंमें व्यथा होती है, वह पुरुष उनके पदको तो सुगमतासे प्राप्त कर नहीं सकता; बस, दैत्यगण जैसे श्रीहरिसे द्वेष मानते हैं, वैसे ही उनसे कुढ़ता रहता है ॥ २१ ॥

सुमध्यमे ! तुम कह सकती हो कि आपने प्रजापतियोंकी सभामें उनका आदर क्यों नहीं किया । सो ये सम्मुख जाना, नम्रता दिखाना, प्रणाम करना आदि क्रियाएँ जो लोकव्यवहारमें परस्पर की जाती हैं, तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा बहुत अच्छे ढंगसे की जाती हैं । वे अन्तर्यामीरूपसे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित परमपुरुष वासुदेवको ही प्रणामादि करते हैं; देहाभिमानी पुरुषको नहीं करते ॥ २२ ॥ विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है, क्योंकि उसीमें भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है । उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ ॥२३॥ इसीलिये प्रिये ! जिसने प्रजापतियोंके यज्ञमें मेरेद्वारा कोई अपराध न होनेपर भी मेरा कटुवाक्योंसे तिरस्कार किया था, वह दक्ष यद्यपि तुम्हारे शरीरको उत्पन्न करनेवाला पिता है, तो भी मेरा शत्रु होनेके कारण तुम्हें उसे अथवा उसके अनुयायियोंको देखनेका विचार भी नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥ यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी, तो तुम्हारे लिये अच्छा न होगा; क्योंकि जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिका अपने आत्मीयजनोंके द्वारा अपमान होता है, तब वह तत्काल उनकी मृत्युका कारण हो जाता है ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे उमारुद्रसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—यस्मि० । २. प्रा० पा०—त्वया ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

सतीका अग्निप्रवेश

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शंकरः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा ॥ १ ॥

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्[1]
प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः । ३ ।

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
सपार्षदयक्षा[2] मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४ ॥

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-[3]
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५ ॥

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इतना कहकर भगवान् शंकर मौन हो गये । उन्होंने देखा कि दक्षके यहाँ जाने देने अथवा जानेसे रोकने—दोनों ही अवस्थाओंमें सतीके प्राणत्यागकी सम्भावना है । इधर, सतीजी भी कभी बन्धुजनोंको देखने जानेकी इच्छासे बाहर आतीं और कभी 'भगवान् शंकर रुष्ट न हो जायँ' इस शङ्कासे फिर लौट जातीं । इस प्रकार कोई एक बात निश्चित न कर सकनेके कारण वे दुविधामें पड़ गयीं—चञ्चल हो गयीं ॥ १ ॥ बन्धुजनोंसे मिलनेकी इच्छामें बाधा पड़नेसे वे बड़ी अनमनी हो गयीं । स्वजनोंके स्नेहवश उनका हृदय भर आया और वे आँखोंमें आँसू भरकर अत्यन्त व्याकुल हो रोने लगीं । उनका शरीर थरथर काँपने लगा और वे अप्रतिम पुरुष भगवान् शंकरकी ओर इस प्रकार रोषपूर्ण दृष्टिसे देखने लगीं, मानो उन्हें भस्म कर देंगी ॥ २ ॥ शोक और क्रोधने उनके चित्तको बिल्कुल बेचैन कर दिया तथा स्त्रीस्वभावके कारण उनकी बुद्धि मूढ़ हो गयी । जिन्होंने प्रीतिवश उन्हें अपना आधा अङ्गतक दे दिया था, उन सत्पुरुषोंके प्रिय भगवान् शंकरको भी छोड़कर वे लंबी-लंबी साँस लेती हुई अपने माता-पिताके घर चल दीं ॥ ३ ॥ सतीको बड़ी फुर्तीसे अकेली जाते देख श्रीमहादेवजीके मणिमान् एवं मद आदि हजारों सेवक भगवान्‌के वाहन वृषभराजको आगे कर तथा और भी अनेकों पार्षद और यक्षोंको साथ ले बड़ी तेजीसे निर्भयतापूर्वक उनके पीछे हो लिये ॥ ४ ॥ उन्होंने सतीको बैलपर सवार करा दिया तथा मैना पक्षी, गेंद, दर्पण और कमल आदि खेलकी सामग्री, श्वेत छत्र-चँवर और माला आदि राजचिह्न तथा दुन्दुभि, शङ्ख और बाँसुरी आदि गाने-बजानेके सामानोंसे सुसज्जित हो वे उनके साथ चल दिये ॥५॥

तदनन्तर सती अपने समस्त सेवकोंके साथ दक्षकी यज्ञशालामें पहुँचीं । वहाँ वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मणोंमें

१. प्रा० पा०—गृहात् । २. प्रा० पा०—स्वपार्षदा ये । ३. प्रा० पा०—सैनिका रुद्रकदर्प० ।

मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६ ॥
तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥ ७ ॥
सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८ ॥
अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९ ॥
जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥१०॥

श्रीदेव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥११॥
दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज ।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥१२॥

परस्पर होड़ लग रही थी कि सबसे ऊँचे स्वरमें कौन बोले; सब ओर ब्रह्मर्षि और देवता विराजमान थे तथा जहाँ-तहाँ मिट्टी, काठ, लोहे, सोने, डाभ और चर्मके पात्र रक्खे हुए थे ॥६॥ वहाँ पहुँचनेपर पिताके द्वारा सतीकी अवहेलना हुई, यह देख यज्ञकर्ता दक्षके भयसे सतीकी माता और बहनोंके सिवा किसी भी मनुष्यने उनका कुछ भी आदर-सत्कार नहीं किया । अवश्य ही उनकी माता और बहिनें बहुत प्रसन्न हुईं और प्रेमसे गद्गद होकर उन्होंने सतीजीको आदरपूर्वक गले लगाया ॥७॥ किंतु सतीजीने पितासे अपमानित होनेके कारण, बहिनोंके कुशल-प्रश्नसहित प्रेमपूर्ण वार्तालाप तथा माता और मौसियोंके सम्मानपूर्वक दिये हुए उपहार और सुन्दर आसनादिको स्वीकार नहीं किया ॥ ८ ॥

सर्वलोकेश्वरी देवी सतीका यज्ञमण्डपमें तो अनादर हुआ ही था । उन्होंने यह भी देखा कि उस यज्ञमें भगवान् शंकरके लिये कोई भाग नहीं दिया गया है और पिता दक्ष उनका बड़ा अपमान कर रहा है । इससे उन्हें बहुत क्रोध हुआ; ऐसा जान पड़ता था, मानो वे अपने रोषसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगी ॥९॥ दक्षको कर्ममार्गके अभ्याससे बहुत घमंड हो गया था । उसे शिवजीसे द्वेष करते देख जब सतीके साथ आये हुए भूत उसे मारनेको तैयार हुए, तो देवी सतीने उन्हें अपने तेजसे रोक दिया और सब लोगोंको सुनाकर पिताकी निन्दा करते हुए क्रोधसे लड़खड़ाती हुई वाणीमें कहा ॥ १० ॥

देवी सतीने कहा—पिताजी ! भगवान् शंकरसे बड़ा तो संसारमें कोई भी नहीं है । वे तो सभी देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं । उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय, अतएव उनका किसी भी प्राणीसे वैर नहीं है । वे तो सबके कारण एवं सर्वरूप हैं; आपके सिवा और ऐसा कौन है जो उनसे विरोध करेगा ? ॥ ११ ॥ द्विजवर ! आप-जैसे लोग दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं, किंतु कोई साधुपुरुष ऐसा नहीं करते । जो लोग दोष देखनेकी बात तो अलग रही—दूसरोंके थोड़े-से गुणको भी बड़े रूपमें देखना चाहते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं । खेद है कि आपने ऐसे महापुरुषोंपर भी दोषारोपण ही

१. प्रा० पा०—तो वि० । २. प्रा० पा०—विमुक्तात्मनि ।

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥१३॥
यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥१४॥
यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥१५॥
किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥१६॥
कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥१७॥
अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।

किया ॥ १२ ॥ जो दुष्ट मनुष्य इस शवरूप जडशरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्यावश सर्वदा ही महापुरुषोंकी निन्दा करें तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि महापुरुष तो उनकी इस चेष्टापर कोई ध्यान नहीं देते, परंतु उनके चरणोंकी धूलि उनके इस अपराधको न सहकर उनका तेज नष्ट कर देती है । अतः महापुरुषोंकी निन्दा-जैसा जघन्य कार्य उन दुष्ट पुरुषोंको ही शोभा देता है ॥१३॥ जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम प्रसङ्गवश एक बार भी मुखसे निकल जानेपर मनुष्यके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, अहो ! उन्हीं पवित्रकीर्ति मङ्गलमय भगवान् शंकरसे आप द्वेष करते हैं । अवश्य ही आप अमङ्गलरूप हैं ॥ १४ ॥ अरे ! महापुरुषोंके मन-मधुकर ब्रह्मानन्दमय रसका पान करनेकी इच्छासे जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन किया करते हैं और जिनके चरणारविन्द सकाम पुरुषोंको उनके अभीष्ट भोग भी देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे आप वैर करते हैं ! ॥ १५ ॥

वे केवल नाममात्रके शिव हैं, उनका वेश अशिवरूप—अमङ्गलरूप है; इस बातको आपके सिवा दूसरे कोई देवता सम्भवतः नहीं जानते; क्योंकि जो भगवान् शिव श्मशानभूमिस्थ नरमुण्डोंकी माला, चिताकी भस्म और हड्डियाँ पहने, जटा बिखेरे, भूत-पिशाचोंके साथ श्मशानमें निवास करते हैं, उन्हींके चरणोंपरसे गिरे हुए निर्माल्यको ब्रह्मा आदि देवता अपने सिरपर धारण करते हैं ॥ १६ ॥ यदि निरङ्कुश लोग धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले अपने पूजनीय स्वामीकी निन्दा करें तो अपनेमें उसे दण्ड देनेकी शक्ति न होनेपर कान बंद करके वहाँसे चला जाय और यदि शक्ति हो तो बलपूर्वक पकड़कर उस बकवाद करनेवाली अमङ्गलरूप दुष्ट जिह्वाको काट डाले । इस पापको रोकनेके लिये स्वयं अपने प्राणतक दे दे, यही धर्म है ॥ १७ ॥ आप भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले हैं, इसलिये आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती;

जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥१८॥
न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥१९॥
कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥२०॥
मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता[1]
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥२१॥
नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गत-
स्तज्जन्म धिग् यो[2] महतामवद्यकृत् ॥२२॥
गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥२३॥
मैत्रेय[3] उवाच
इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।

यदि भूलसे कोई निन्दित वस्तु खा ली जाय, तो उसे वमन करके निकाल देनेसे ही मनुष्यकी शुद्धि बतायी जाती है ॥ १८ ॥ जो महामुनि निरन्तर अपने स्वरूपमें ही रमण करते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा वेदके विधि-निषेधमय वाक्योंका अनुसरण नहीं करती । जिस प्रकार देवता और मनुष्योंकी गतिमें भेद रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थिति भी एक-सी नहीं होती । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने ही धर्ममार्गमें स्थित रहते हुए भी दूसरोंके मार्गकी निन्दा न करे ॥ १९ ॥ प्रवृत्ति (यज्ञ-यागादि) और निवृत्ति (शम-दमादि) रूप दोनों ही प्रकारके कर्म ठीक हैं । वेदमें उनके अलग-अलग रागी और विरागी दो प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं । परस्पर विरोधी होनेके कारण उक्त दोनों प्रकारके कर्मोंका एक साथ एक ही पुरुषके द्वारा आचरण नहीं किया जा सकता । भगवान् शंकर तो परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें इन दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारका कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

पिताजी ! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है, आत्मज्ञानी महापुरुष ही उसका सेवन कर सकते हैं । आपके पास वह ऐश्वर्य नहीं है और यज्ञशालाओंमें यज्ञान्नसे तृप्त होकर प्राणपोषण करनेवाले कर्मठलोग उसकी प्रशंसा भी नहीं करते ॥ २१ ॥ आप भगवान् शंकरका अपराध करनेवाले हैं । अतः आपके शरीरसे उत्पन्न इस निन्दनीय देहको रखकर मुझे क्या करना है । आप-जैसे दुर्जनसे सम्बन्ध होनेके कारण मुझे लज्जा आती है । जो महापुरुषोंका अपराध करता है, उससे होनेवाले जन्मको भी धिक्कार है ॥ २२ ॥ जिस समय भगवान् शिव आपके साथ मेरा सम्बन्ध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें 'दाक्षायणी' (दक्षकुमारी) के नामसे पुकारेंगे, उस समय हँसीको भूलकर मुझे बड़ी ही लज्जा और खेद होगा । इसलिये उसके पहले ही मैं आपके अङ्गसे उत्पन्न इस शवतुल्य शरीरको त्याग दूँगी ॥ २३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कामादि शत्रुओंको जीतनेवाले विदुरजी ! उस यज्ञमण्डपमें दक्षसे इस प्रकार कह देवी सती मौन होकर उत्तर दिशामें भूमिपर बैठ गयीं ।

१. प्रा० पा०—पितरः सदास्थिता । २. प्रा० पा०—यन्म० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है ।

स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥२४॥
कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत्॥२५॥
एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात्।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥२६॥
ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना ॥२७॥
तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
हाहेति वादः सुमहानजायत।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून् केन सती प्रकोपिता ॥२८॥
अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः।
जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥२९॥
सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥३०॥
वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम्।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥३१॥

उन्होंने आचमन करके पीला वस्त्र ओढ़ लिया तथा आँखें मूँदकर शरीर छोड़नेके लिये वे योगमार्गमें स्थित हो गयीं ॥ २४ ॥ उन्होंने आसनको स्थिरकर प्राणायाम-द्वारा प्राण और अपानको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थित किया; फिर उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धिके साथ हृदयमें स्थापित किया। इसके पश्चात् अनिन्दिता सती उस हृदयस्थित वायुको कण्ठ-मार्गसे भ्रुकुटियोंके बीचमें ले गयीं ॥ २५ ॥ इस प्रकार, जिस शरीरको महापुरुषोंके भी पूजनीय भगवान् शंकरने कई बार बड़े आदरसे अपनी गोदमें बैठाया था, दक्षपर कुपित होकर उसे त्यागनेकी इच्छासे महामनस्विनी सतीने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें वायु और अग्निकी धारणा की ॥ २६ ॥ अपने पति जगद्गुरु भगवान् शंकरके चरण-कमल-मकरन्दका चिन्तन करते-करते सतीने और सब ध्यान भुला दिये; उन्हें उन चरणोंके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न दिया। इससे वे सर्वथा निर्दोष अर्थात् मैं दक्षकन्या हूँ—ऐसे अभिमानसे भी मुक्त हो गयीं और उनका शरीर तुरंत ही योगाग्निसे जल उठा॥२७॥

उस समय वहाँ आये हुए देवता आदिने जब सतीका देहत्यागरूप यह महान् आश्चर्यमय चरित्र देखा, तब वे सभी हाहाकार करने लगे और वह भयंकर कोलाहल आकाशमें एवं पृथ्वीतलपर सभी जगह फैल गया। सब ओर यही सुनायी देता था—'हाय! दक्षके दुर्व्यवहारसे कुपित होकर देवाधिदेव महादेवकी प्रिया सतीने प्राण त्याग दिये! ॥ २८ ॥ देखो, सारे चराचर जीव इस दक्षप्रजापतिकी ही संतान हैं; फिर भी इसने कैसी भारी दुष्टता की है! इसकी पुत्री शुद्धहृदया सती सदा ही मान पानेके योग्य थी, किंतु इसने उसका ऐसा निरादर किया कि उसने प्राण त्याग दिये॥२९॥ वास्तवमें यह बड़ा ही असहिष्णु और ब्राह्मणद्रोही है। अब इसकी संसारमें बड़ी अपकीर्ति होगी। जब इसकी पुत्री सती इसीके अपराधसे प्राणत्याग करनेको तैयार हुई, तब भी इस शंकरद्रोहीने उसे रोका तक नहीं!' ॥३०॥

जिस समय सब लोग ऐसा कह रहे थे, उसी समय शिवजीके पार्षद सतीका यह अद्भुत प्राणत्याग देख, अस्त्र-शस्त्र लेकर दक्षको मारनेके लिये उठ खड़े हुए

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः ।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥३२॥
अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥३३॥
तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः ।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥३४॥

॥ ३१ ॥ उनके आक्रमणका वेग देखकर भगवान् भृगुने यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेके लिये 'अपहतं रक्ष....' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्निमें आहुति दी ॥ ३२ ॥ अध्वर्यु भृगुने ज्यों ही आहुति छोड़ी कि यज्ञकुण्डसे 'ऋभु' नामके हजारों तेजस्वी देवता प्रकट हो गये । इन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे चन्द्रलोक प्राप्त किया था ॥ ३३ ॥ उन ब्रह्मतेजसम्पन्न देवताओंने जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमण किया, तो समस्त गुह्यक और प्रमथगण इधर-उधर भाग गये ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
सतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

वीरभद्रकृत दक्षयज्ञविध्वंस और दक्षवध

मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥ १ ॥
क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ॥ २ ॥
ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक् ।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥ ३ ॥
तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः ।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महादेवजीने जब देवर्षि नारदके मुखसे सुना कि अपने पिता दक्षसे अपमानित होनेके कारण देवी सतीने प्राण त्याग दिये हैं और उसकी यज्ञवेदीसे प्रकट हुए ऋभुओंने उनके पार्षदोंकी सेनाको मारकर भगा दिया है, तब उन्हें बड़ा ही क्रोध हुआ ॥ १ ॥ उन्होंने उग्र रूप धारण कर क्रोधके मारे होठ चबाते हुए अपनी एक जटा उखाड़ ली—जो बिजली और आगकी लपटके समान दीप्त हो रही थी—और सहसा खड़े होकर बड़े गम्भीर अट्टहासके साथ उसे पृथ्वीपर पटक दिया ॥ २ ॥ उससे तुरंत ही एक बड़ा भारी लंबा-चौड़ा पुरुष उत्पन्न हुआ । उसका शरीर इतना विशाल था कि वह स्वर्गको स्पर्श कर रहा था । उसके हजार भुजाएँ थीं । मेघके समान श्यामवर्ण था, सूर्यके समान जलते हुए तीन नेत्र थे, विकराल दाढ़ें थीं और अग्निकी ज्वालाओंके समान लाल-लाल जटाएँ थीं । उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी और हाथोंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ ३ ॥ जब उसने हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन् ! मैं क्या करूँ ?' तो भगवान् भूतनाथने कहा—'वीर रुद्र ! तू मेरा अंश है, इसलिये मेरे पार्षदोंका अधिनायक बनकर तू तुरंत ही जा और दक्ष तथा उसके यज्ञको नष्ट कर दे' ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—तत्पा० ।

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम्।
मेने तदाऽऽत्मानमसङ्गरंहसा
महीयसां तात सहः सहिष्णुम्॥ ५॥
अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम्।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
स प्राद्रवद् घोषणभूषणाङ्घ्रिः॥ ६॥
अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम्।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः॥ ७॥
वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते॥ ८॥
प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैव तस्य।
यत्पश्यन्तीनां दुहितॄणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम्॥ ९॥
यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक्॥ १०॥

प्यारे विदुरजी! जब देवाधिदेव भगवान् शंकरने क्रोधमें भरकर ऐसी आज्ञा दी, तब वीरभद्र उनकी परिक्रमा करके चलनेको तैयार हो गये। उस समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे वेगका सामना करनेवाला संसारमें कोई नहीं है और मैं बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सहन कर सकता हूँ॥ ५॥ वे भयंकर सिंहनाद करते हुए एक अति कराल त्रिशूल हाथमें लेकर दक्षके यज्ञमण्डपकी ओर दौड़े। उनका त्रिशूल संसारसंहारक मृत्युका भी संहार करनेमें समर्थ था। भगवान् रुद्रके और भी बहुत-से सेवक गर्जना करते हुए उनके पीछे हो लिये। उस समय वीरभद्रके पैरोंके नूपुरादि आभूषण झनन-झनन बजते जाते थे॥ ६॥

इधर यज्ञशालामें बैठे हुए ऋत्विज, यजमान, सदस्य तथा अन्य ब्राह्मण और ब्राह्मणियोंने जब उत्तर दिशाकी ओर धूल उड़ती देखी, तब वे सोचने लगे—'अरे, यह अँधेरा-सा कैसे होता आ रहा है? यह धूल कहाँसे छा गयी?॥ ७॥ इस समय न तो आँधी ही चल रही है और न कहीं लुटेरे ही सुने जाते हैं; क्योंकि अपराधियोंको कठोर दण्ड देनेवाला राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित है। अभी गौओंके आनेका समय भी नहीं हुआ है! फिर यह धूल कहाँसे आयी? क्या इसी समय संसारका प्रलय तो नहीं होनेवाला है?'॥ ८॥ तब दक्षपत्नी प्रसूति एवं अन्य स्त्रियोंने व्याकुल होकर कहा—प्रजापति दक्षने अपनी सारी कन्याओंके सामने बेचारी निरपराधा सतीका तिरस्कार किया था; मालूम होता है यह उसी पापका फल है॥ ९॥ (अथवा हो न हो यह संहारमूर्ति भगवान् रुद्रके अनादरका ही परिणाम है।) प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जिस समय वे अपने जटाजूटको बिखेरकर तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अपनी भुजाओंको ध्वजाओंके समान फैलाकर ताण्डव नृत्य करते हैं, उस समय उनके त्रिशूलके फलोंसे दिग्गज बिंध जाते हैं तथा उनके मेघगर्जनके समान भयंकर अट्टहाससे दिशाएँ विदीर्ण हो जाती हैं॥ १०॥

१. प्रा० पा०—महिर्महिष्वः। २. प्रा० पा०—भूषिता०। ३. प्रा० पा०—चुक्रुशुः। ४. प्रा० पा०—स्यैव। ५. प्रा० पा०—प्रप०।

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्विषहं भ्रुकुट्या ।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥११॥
बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥१२॥
तावत्स रुद्रानुचरैर्मखो महान्
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गै:[1] पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥१३॥
केचिद्बभञ्जुः[2] प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे ।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥१४॥
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥१५॥
अबाधन्त मुनीनन्ये[3] एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान् ॥१६॥
भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥१७॥
सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः ।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥१८॥

उस समय उनका तेज असह्य होता है, वे अपनी भौंहें टेढ़ी करनेके कारण बड़े दुर्धर्ष जान पड़ते हैं और उनकी विकराल दाढ़ोंसे तारागण अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उन क्रोधमें भरे हुए भगवान् शंकरको बार-बार कुपित करनेवाला पुरुष साक्षात् विधाता ही क्यों न हो—क्या कभी उसका कल्याण हो सकता है ? ॥ ११ ॥

जो लोग महात्मा दक्षके यज्ञमें बैठे थे, वे भयके कारण एक-दूसरेकी ओर कातर दृष्टिसे निहारते हुए ऐसी ही तरह-तरहकी बातें कर रहे थे कि इतनेमें ही आकाश और पृथ्वीमें सब ओर सहस्रों भयंकर उत्पात होने लगे ॥ १२ ॥ विदुरजी ! इसी समय दौड़कर आये हुए रुद्रसेवकोंने उस महान् यज्ञमण्डपको सब ओरसे घेर लिया । वे सब तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे । उनमें कोई बौने, कोई भूरे रंगके, कोई पीले और कोई मगरके समान पेट और मुखवाले थे ॥ १३ ॥ उनमेंसे किन्हींने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खंभोंके बीचमें आड़े रक्खे हुए डंडे) को तोड़ डाला, किन्हींने यज्ञशालाके पश्चिमकी ओर स्थित पत्नीशालाको नष्ट कर दिया, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका सभामण्डप और मण्डपके आगे उत्तरकी ओर स्थित आग्नीध्रशालाको तोड़ दिया, किन्हींने यजमानगृह और पाकशालाको तहस-नहस कर डाला ॥ १४ ॥ किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ दिये, किन्हींने अग्नियोंको बुझा दिया, किन्हींने यज्ञकुण्डोंमें पेशाब कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला ॥ १५ ॥ कोई-कोई मुनियोंको तंग करने लगे, कोई स्त्रियोंको डराने-धमकाने लगे और किन्हींने अपने पास होकर भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया ॥ १६ ॥ मणिमान्ने भृगु ऋषिको बाँध लिया, वीरभद्रने प्रजापति दक्षको कैद कर लिया तथा चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भग देवताको पकड़ लिया ॥ १७ ॥

भगवान् शंकरके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देखकर तथा उनके कंकड़-पत्थरोंकी मारसे बहुत तंग आकर वहाँ जितने ऋत्विज, सदस्य और देवतालोग थे, सब-के-सब जहाँ-तहाँ भाग गये ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—नेत्रैः । २. प्रा० पा०—बभञ्जु० । ३. प्रा० पा०—मुनीनेके ।

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः ।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन् ॥१९॥
भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि ।
उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्[1] ॥२०॥
पूष्णश्चा[2]पातयद्दन्तान् कालिङ्गस्य यथा बलः ।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥२१॥
आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा ॥२२॥
शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः ।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥२३॥
दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे ।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥२४॥
साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य शंसताम् ।
भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः ॥२५॥
जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्नावमर्षितः ।
तदेवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम् ॥२६॥

भृगुजी हाथमें स्रुवा लिये हवन कर रहे थे। वीरभद्रने इनकी दाढ़ी-मूँछ नोच लीं; क्योंकि इन्होंने प्रजापतियोंकी सभामें मूँछें ऐंठते हुए महादेवजीका उपहास किया था ॥१९॥ उन्होंने क्रोधमें भरकर भगदेवताको पृथ्वीपर पटक दिया और उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि जब दक्ष देव-सभामें श्रीमहादेवजीको बुरा-भला कहते हुए शाप दे रहे थे, उस समय इन्होंने दक्षको सैन देकर उकसाया था ॥ २० ॥ इसके पश्चात् जैसे अनिरुद्धके विवाहके समय बलरामजीने कलिङ्गराजके दाँत उखाड़े थे, उसी प्रकार उन्होंने पूषाके दाँत तोड़ दिये; क्योंकि जब दक्षने महादेवजीको गालियाँ दी थीं, उस समय ये दाँत दिखाकर हँसे थे ॥ २१ ॥ फिर वे दक्षकी छातीपर बैठकर एक तेज तलवारसे उसका सिर काटने लगे, परंतु बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे उस समय उसे धड़से अलग न कर सके ॥२२॥ जब किसी भी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे दक्षकी त्वचा नहीं कटी तब वीरभद्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत देरतक विचार करते रहे ॥२३॥ तब उन्होंने यज्ञमण्डपमें यज्ञपशुओंको जिस प्रकार मारा जाता था, उसे देखकर उसी प्रकार दक्षरूप उस यजमान पशुका सिर धड़से अलग कर दिया ॥२४॥ यह देखकर भूत, प्रेत और पिशाचादि तो उनके इस कर्मकी प्रशंसा करते हुए 'वाह-वाह' करने लगे और दक्षके दलवालोंमें हाहाकार मच गया ॥ २५ ॥ वीरभद्रने अत्यन्त कुपित होकर दक्षके सिरको यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया और उस यज्ञशालामें आग लगाकर यज्ञको विध्वंस करके वे कैलासपर्वतको लौट गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षयज्ञ[3]-विध्वंसो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंका कैलास जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः ।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार जब रुद्रके सेवकोंने समस्त देवताओंको हरा दिया और उनके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग भूत-प्रेतोंके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग,

१. प्रा० पा०—मसूचयत् । २. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें 'पूष्णश्चा'........'हसद्दर्शयन्दतः' यह श्लोक अगले दो श्लोकोंके बाद है । ३. प्रा० पा०—दक्षप्रशमनं पञ्चमोऽध्यायः ।

संछिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥ २ ॥
उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ ३ ॥
तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ ४ ॥
अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥
आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन्।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥ ६ ॥
नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत् ॥ ७ ॥
स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८ ॥
जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥ ९ ॥

गदा, परिघ और मुद्गर आदि आयुधोंसे छिन्न-भिन्न हो गये तब वे ऋत्विज और सदस्योंके सहित बहुत ही डरकर ब्रह्माजीके पास पहुँचे और प्रणाम करके उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १-२ ॥ भगवान् ब्रह्माजी और सर्वान्तर्यामी श्रीनारायण पहलेसे ही इस भावी उत्पातको जानते थे, इसीसे वे दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे ॥ ३ ॥ अब देवताओंके मुखसे वहाँकी सारी बात सुनकर उन्होंने कहा, 'देवताओ! परम समर्थ तेजस्वी पुरुषसे कोई दोष भी बन जाय, तो भी उसके बदलेमें अपराध करनेवाले मनुष्योंका भला नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ फिर तुमलोगोंने तो यज्ञमें भगवान् शंकरका प्राप्य भाग न देकर उनका बड़ा भारी अपराध किया है। परंतु शंकरजी बहुत शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं, इसलिये तुमलोग शुद्ध हृदयसे उनके पैर पकड़कर उन्हें प्रसन्न करो—उनसे क्षमा माँगो ॥ ५ ॥ दक्षके दुर्वचनरूपी बाणोंसे उनका हृदय तो पहलेसे ही बिंध रहा था, उसपर उनकी प्रिया सतीजीका वियोग हो गया। इसलिये यदि तुमलोग चाहते हो कि वह यज्ञ फिरसे आरम्भ होकर पूर्ण हो तो पहले जल्दी जाकर उनसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगो। नहीं तो, उनके कुपित होनेपर लोकपालोंके सहित इन समस्त लोकोंका भी बचना असम्भव है ॥ ६ ॥ भगवान् रुद्र परम स्वतन्त्र हैं, उनके तत्त्व और शक्ति-सामर्थ्यको न तो कोई ऋषि-मुनि, देवता और यज्ञस्वरूप देवराज इन्द्र ही जानते हैं और न स्वयं मैं ही जानता हूँ, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है। ऐसी अवस्थामें उन्हें शान्त करनेका उपाय कौन कर सकता है' ॥ ७ ॥

देवताओंसे इस प्रकार कहकर ब्रह्माजी उनको, प्रजापतियोंको और पितरोंको साथ ले अपने लोकसे पर्वतश्रेष्ठ कैलासको गये, जो भगवान् शंकरका प्रिय धाम है ॥ ८ ॥ उस कैलासपर ओषधि, तप, मन्त्र तथा योग आदि उपायोंसे सिद्धिको प्राप्त हुए और जन्मसे ही सिद्ध देवता नित्य निवास करते हैं; किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदि सदा वहाँ बने रहते हैं ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—तस्या०। २. प्रा० पा०—भवाय भूयसे भूया०। ३. प्रा० पा०—परिशुद्धसत्त्वं। ४. प्रा० पा०—तस्यात्म०। ५. प्रा० पा०—निरन्तरैः। ६. प्रा० पा०—यक्षकिन्नर०।

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥१०॥
नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम् ॥११॥
मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् ।
प्लावितै रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्त्रिणाम् ॥१२॥
आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः ।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः ॥१३॥
मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् ।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥१४॥
चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः ।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि ॥१५॥
स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः ।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥१६॥
पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः ॥१७॥
खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः ।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥१८॥
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥१९॥

उसके मणिमय शिखर हैं, जो नाना प्रकारकी धातुओंसे रंग-बिरंगे प्रतीत होते हैं। उसपर अनेक प्रकारके वृक्ष, लता और गुल्मादि छाये हुए हैं, जिनमें झुंड-के-झुंड जंगली पशु विचरते रहते हैं ॥ १० ॥ वहाँ निर्मल जलके अनेकों झरने बहते हैं और बहुत-सी गहरी कन्दरा और ऊँचे शिखरोंके कारण वह पर्वत अपने प्रियतमोंके साथ विहार करती हुई सिद्धपत्नियोंका क्रीडा-स्थल बना हुआ है ॥ ११ ॥ वह सब ओर मोरोंके शोर, मदान्ध भ्रमरोंके गुंजार, कोयलोंकी कुहू-कुहू ध्वनि तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवसे गूँज रहा है ॥ १२ ॥ उसके कल्पवृक्ष अपनी ऊँची-ऊँची डालियोंको हिला-हिलाकर मानो पक्षियोंको बुलाते रहते हैं तथा हाथियोंके चलने-फिरनेके कारण वह कैलास स्वयं चलता हुआ-सा और झरनोंकी कलकल-ध्वनिसे बातचीत करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताड़, कचनार, असन और अर्जुनके वृक्षोंसे वह पर्वत बड़ा ही सुहावना जान पड़ता है ॥ १४ ॥ आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पा, गुलाब, अशोक, मौलसिरी, कुन्द, कुरबक, सुनहरे शतपत्र कमल, इलायची और मालतीकी मनोहर लताएँ तथा कुब्जक, मोगरा और माधवीकी बेलें भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ १५-१६॥ कटहल, गूलर, पीपल, पाकर, बड़, गूगल, भोजवृक्ष ओषधि जातिके पेड़ (केले आदि, जो फल आनेके बाद काट दिये जाते हैं), सुपारी, राजपूग, जामुन, खजूर, आमड़ा, आम, पियाल, महुआ और लिसौड़ा आदि विभिन्न प्रकारके वृक्षों तथा पोले और ठोस बाँसके झुरमुटोंसे वह पर्वत बड़ा ही मनोहर मालूम होता है ॥ १७-१८ ॥ उसके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कह्लार और शतपत्र आदि अनेक जातिके कमल खिले रहते हैं। उनकी शोभासे मुग्ध होकर कलरव करते हुए झुंड-के-झुंड पक्षियोंसे वह बड़ा ही भला लगता है ॥१९॥

१. प्रा० पा०—सिद्धचारणयोषिताम् । २. प्रा० पा०—सूचितै। ३. प्रा० पा०—वृतैः कदम्बनिम्बैश्च । ४. प्रा० पा०—गैः पत्रैश्च धवजम्बुभिः । ५. प्रा० पा०—काश्मर्याम्रा० । ६. प्रा० पा०—नलिनीपुलिने कूज० ।

मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः[1] ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ॥२०॥
[2]कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभिः ।
कदलीषण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥२१॥
पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥२२॥

वहाँ जहाँ-तहाँ हरिन, वानर, सूअर, सिंह, रीछ, साही, नीलगाय, शरभ, बाघ, कृष्णमृग, भैंसे, कर्णान्त्र, एकपद, अश्वमुख, भेड़िये और कस्तूरी-मृग घूमते रहते हैं तथा वहाँके सरोवरोंके तट केलोंकी पङ्क्तियोंसे घिरे होनेके कारण बड़ी शोभा पाते हैं। उसके चारों ओर नन्दा नामकी नदी बहती है, जिसका पवित्र जल देवी सतीके स्नान करनेसे और भी पवित्र एवं सुगन्धित हो गया है। भगवान् भूतनाथके निवास-स्थान उस कैलासपर्वतकी ऐसी रमणीयता देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २०—२२ ॥

ददृशुस्तत्र[3] ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् ।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥२३॥
नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः ।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥२४॥
ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः ।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः[4] ॥२५॥
ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम् ।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः ॥२६॥

वहाँ उन्होंने अलका नामकी एक सुरम्य पुरी और सौगन्धिक वन देखा, जिसमें सर्वत्र सुगन्ध फैलानेवाले सौगन्धिक नामके कमल खिले हुए थे ॥ २३ ॥ उस नगरके बाहरकी ओर नन्दा और अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ हैं; वे तीर्थपाद श्रीहरिकी चरण-रजके संयोगसे अत्यन्त पवित्र हो गयी हैं ॥ २४ ॥ विदुरजी ! उन नदियोंमें रतिविलाससे थकी हुई देवाङ्गनाएँ अपने-अपने निवासस्थानसे आकर जलक्रीड़ा करती हैं और उसमें प्रवेशकर अपने प्रियतमोंपर जल उलीचती हैं ॥ २५ ॥ स्नानके समय उनका तुरंतका लगाया हुआ कुचकुङ्कुम धुल जानेसे जल पीला हो जाता है। उस कुङ्कुममिश्रित जलको हाथी प्यास न होनेपर भी गन्धके लोभसे स्वयं पीते और अपनी हथिनियोंको पिलाते हैं ॥ २६ ॥

तारहेममहारत्नविमानशतसंकुलाम् ।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम् ॥२७॥
हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् ।
द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं[5] चित्रमाल्यफलच्छदैः ॥२८॥
रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् ।

अलकापुरीपर चाँदी, सोने और बहुमूल्य मणियोंके सैकड़ों विमान छाये हुए थे, जिनमें अनेकों यक्षपत्नियाँ निवास करती थीं। इनके कारण वह विशाल नगरी बिजली और बादलोंसे छाये हुए आकाशके समान जान पड़ती थी ॥ २७ ॥ यक्षराज कुबेरकी राजधानी उस अलकापुरीको पीछे छोड़कर देवगण सौगन्धिक वनमें आये। वह वन रंग-बिरंगे फल, फूल और पत्तोंवाले अनेकों कल्पवृक्षोंसे सुशोभित था ॥२८॥ उसमें कोकिल आदि पक्षियोंका कलरव और भौंरोंका गुंजार हो रहा था

१. प्रा० पा०—शल्ल० । २. प्रा० पा०—कल्लोलूपपदैश्चान्यैर्निर्विष्टं मृगनाभिभिः । ३. प्रा० पा०—तस्य ते । ४. प्रा० पा०—रतितर्पिताः । ५. प्रा० पा०—दुघैर्जुष्टं ।

कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥२९॥

वनकुञ्जरसंघृष्ट[1]हरिचन्दनवायुना ।

अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्[2]मनः ॥३०॥

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः ।

प्राप्ताः किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥३१॥

स[3] योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः ।

पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥३२॥

तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः ।

ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥३३॥

स[4]नन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।

उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥३४॥

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् ।

चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥३५॥

लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् ।

अङ्गेन संध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥३६॥

उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम् ।

नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥३७॥

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि ।

बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥३८॥

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं

व्युपाश्रितं गिरिशं[5] योगकक्षाम् ।

तथा राजहंसोंके परमप्रिय कमलकुसुमोंसे सुशोभित अनेकों सरोवर थे ॥ २९ ॥ वह वन जंगली हाथियोंके शरीरकी रगड़ लगनेसे घिसे हुए हरिचन्दन वृक्षोंका स्पर्श करके चलनेवाली सुगन्धित वायुके द्वारा यक्षपत्नियोंके मनको विशेषरूपसे मथे डालता था ॥३०॥ बावलियोंकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणिकी बनी हुई थीं । उनमें बहुत-से कमल खिले रहते थे । वहाँ अनेकों किम्पुरुष जी बहलानेके लिये आये हुए थे । इस प्रकार उस वनकी शोभा निहारते जब देवगण कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें पास ही एक वटवृक्ष दिखलायी दिया ॥ ३१ ॥

वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा था तथा उसकी शाखाएँ पचहत्तर योजनतक फैली हुई थीं । उसके चारों ओर सर्वदा अविचल छाया बनी रहती थी, इसलिये घामका कष्ट कभी नहीं होता था; तथा उसमें कोई घोंसला भी न था ॥ ३२ ॥ उस महायोगमय और मुमुक्षुओंके आश्रयभूत वृक्षके नीचे देवताओंने भगवान् शंकरको विराजमान देखा । वे साक्षात् क्रोधहीन कालके समान जान पड़ते थे ॥३३॥ भगवान् भूतनाथका श्रीअङ्ग बड़ा ही शान्त था । सनन्दनादि शान्त सिद्धगण और सखा—यक्ष-राक्षसोंके स्वामी कुबेर उनकी सेवा कर रहे थे ॥३४॥ जगत्पति महादेवजी सारे संसारके सुहृद् हैं, स्नेहवश सबका कल्याण करनेवाले हैं; वे लोकहितके लिये ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदि साधनोंका आचरण करते रहते हैं ॥ ३५ ॥ सन्ध्याकालीन मेघकी-सी कान्तिवाले शरीरपर वे तपस्वियोंके अभीष्ट चिह्न—भस्म, दण्ड, जटा और मृगचर्म एवं मस्तकपर चन्द्रकला धारण किये हुए थे ॥३६॥ वे एक कुशासनपर बैठे थे और अनेकों साधु श्रोताओंके बीचमें श्रीनारदजीके पूछनेसे सनातन ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे ॥३७॥ उनका बायाँ चरण दायीं जाँघपर रक्खा था । वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रक्खे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे* विराजमान थे ॥ ३८ ॥ वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी) का सहारा लिये एकाग्र चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे । लोकपालों-

१. प्रा० पा०—संमृष्ट० । २. प्रा० पा०—मन्मथः । ३. प्रा० पा०—शतयोजनमुत्सेधः । ४. प्रा० पा०—सनकाद्यै० । ५. प्रा० पा०—योगसमाधिकक्षाम् ।

* तर्जनीको अँगूठेसे जोड़कर अन्य अँगुलियोंको आपसमें मिलाकर फैला देनेसे जो बन्ध सिद्ध होता है, उसे 'तर्कमुद्रा' कहते हैं । इसका नाम ज्ञानमुद्रा भी है ।

सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥३९॥
स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-[1]
मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥४०॥
तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥४२॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो[2] यथा ॥४३॥
त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥४४॥
त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां
कर्तुः स लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥४५॥
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव[3] ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥४६॥
पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।

के सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शंकरको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३९ ॥ यद्यपि समस्त देवता और दैत्योंके अधिपति भी श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं, तथापि वे श्रीब्रह्माजीको अपने स्थानपर आया देख तुरंत खड़े हो गये और जैसे वामनावतारमें परमपूज्य विष्णुभगवान् कश्यपजीकी वन्दना करते हैं, उसी प्रकार सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ४० ॥ इसी प्रकार शंकरजीके चारों ओर जो महर्षियोंसहित अन्यान्य सिद्धगण बैठे थे, उन्होंने भी ब्रह्माजीको प्रणाम किया । सबके नमस्कार कर चुकनेपर ब्रह्माजीने चन्द्रमौलि भगवान्से, जो अबतक प्रणामकी मुद्रामें ही खड़े थे, हँसते हुए कहा ॥ ४१ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देव ! मैं जानता हूँ, आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं; क्योंकि विश्वकी योनि शक्ति (प्रकृति) और उसके बीज शिव (पुरुष) से परे जो एकरस परब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ४२ ॥ भगवन् ! आप मकड़ीके समान ही अपने स्वरूपभूत शिव-शक्तिके रूपमें क्रीडा करते हुए लीलासे ही संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं ॥४३॥ अपने ही धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेवाले वेदकी रक्षाके लिये दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञको प्रकट किया है । आपकी ही बाँधी हुई ये वर्णाश्रमकी मर्यादाएँ हैं, जिनका नियमनिष्ठ ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं ॥ ४४ ॥ मङ्गलमय महेश्वर ! आप शुभ कर्म करनेवालोंको स्वर्गलोक अथवा मोक्षपद प्रदान करते हैं तथा पापकर्म करनेवालोंको घोर नरकोंमें डालते हैं । फिर भी किसी-किसी व्यक्तिके लिये इन कर्मोंका फल उलटा कैसे हो जाता है ? ॥ ४५ ॥

जो महानुभाव आपके चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देते हैं, जो समस्त प्राणियोंमें आपकी ही झाँकी करते हैं और समस्त जीवोंको अभेददृष्टिसे आत्मामें ही देखते हैं, वे पशुओंके समान प्रायः क्रोधके अधीन नहीं होते ॥ ४६ ॥ जो लोग भेदबुद्धि होनेके कारण कर्मोंमें ही आसक्त हैं, जिनकी नीयत अच्छी नहीं है, दूसरोंकी उन्नति देखकर जिनका चित्त रात-दिन कुढ़ा करता है और जो मर्मभेदी

१. प्रा० पा०—भिवादन० । २. प्रा० पा०—क्रीडयोर्ण० । ३. प्रा० पा०—भव ।

परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान्मा वधीर्दैववधान् भवद्विधः ॥४७॥
यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया[2] स्पृष्टधियः पृथग्दृशः।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥४८॥
भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक्।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः-
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥४९॥
कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भोः
स्त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयाज्विनो येन मखो निनीयते ॥५०॥
जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥५१॥
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥५२॥
एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥५३॥

अज्ञानी अपने दुर्वचनोंसे दूसरोंका चित्त दुखाया करते हैं, आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उन्हें भी मारना उचित नहीं है; क्योंकि वे बेचारे तो विधाताके ही मारे हुए हैं ॥४७॥ देवदेव! भगवान् कमलनाभकी प्रबल मायासे मोहित हो जानेके कारण यदि किसी पुरुषकी कभी किसी स्थानमें भेदबुद्धि होती है, तो भी साधुपुरुष अपने परदुःखकातर स्वभावके कारण उसपर कृपा ही करते हैं; दैववश जो कुछ हो जाता है, वे उसे रोकनेका प्रयत्न नहीं करते ॥४८॥

प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं, परम पुरुष भगवान्‌की दुस्तर मायाने आपकी बुद्धिका स्पर्श भी नहीं किया है। अतः जिनका चित्त उसके वशीभूत होकर कर्ममार्गमें आसक्त हो रहा है, उनके द्वारा अपराध बन जाय, तो भी उनपर आपको कृपा ही करनी चाहिये ॥ ४९ ॥ भगवन्! आप सबके मूल हैं। आप ही सम्पूर्ण यज्ञोंको पूर्ण करनेवाले हैं। यज्ञभाग पानेका भी आपको पूरा अधिकार है। फिर भी इस दक्षयज्ञके बुद्धिहीन याजकोंने आपको यज्ञभाग नहीं दिया। इसीसे यह आपके द्वारा विध्वस्त हुआ। अब आप इस अपूर्ण यज्ञका पुनरुद्धार करनेकी कृपा करें ॥ ५० ॥ प्रभो! ऐसा कीजिये, जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भगदेवताको नेत्र मिल जायँ, भृगुजीके दाढ़ी-मूँछ आ जायँ और पूषाके पहलेके ही समान दाँत निकल आयें ॥ ५१ ॥ रुद्रदेव! अस्त्र-शस्त्र और पत्थरोंकी बौछारसे जिन देवता और ऋत्विजोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग घायल हो गये हैं, आपकी कृपासे वे फिर ठीक हो जायँ ॥ ५२ ॥ यज्ञ सम्पूर्ण होनेपर जो कुछ शेष रहे, वह सब आपका भाग होगा। यज्ञविध्वंसक! आज यह यज्ञ आपके ही भागसे पूर्ण हो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे रुद्रसान्त्वनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

दक्षयज्ञकी पूर्ति

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो विदुरजी! ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् शंकरने प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए कहा—सुनिये ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—दैवहतान्। २. प्रा० पा०—दुर्लङ्घ्यया। ३. प्रा० पा०—भव।

श्रीमहादेव उवाच[1]

नाघं प्रजेश[2] बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र[3] धृतो मया ॥ २ ॥
प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो[5] भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३ ॥
पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु[4] पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४ ॥
बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि[6] भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६ ॥
ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥ ७ ॥
विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः ।
संदधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८ ॥
संधीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९ ॥
तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः ॥१०॥
भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः ।
औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन् ॥११॥
कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥१२॥

श्रीमहादेवजीने कहा—'प्रजापते ! भगवान्‌की मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही । मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही उन्हें थोड़ा-सा दण्ड दे दिया ॥ २ ॥ दक्षप्रजापतिका सिर जल गया है, इसलिये उनके बकरेका सिर लगा दिया जाय; भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखें ॥ ३ ॥ पूषा पिसा हुआ अन्न खानेवाले हैं, वे उसे यजमानके दाँतोंसे भक्षण करें तथा अन्य सब देवताओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी स्वस्थ हो जायँ; क्योंकि उन्होंने यज्ञसे बचे हुए पदार्थोंको मेरा भाग निश्चित किया है ॥ ४ ॥ अध्वर्यु आदि याज्ञिकोंमेंसे जिनकी भुजाएँ टूट गयी हैं, वे अश्विनीकुमारकी भुजाओंसे और जिनके हाथ नष्ट हो गये हैं, वे पूषाके हाथोंसे काम करें तथा भृगुजीके बकरेकी-सी दाढ़ी-मूँछ हो जाय' ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वत्स विदुर ! तब भगवान् शंकरके वचन सुनकर सब लोग प्रसन्न-चित्तसे 'धन्य ! धन्य !' कहने लगे ॥ ६ ॥ फिर सभी देवता और ऋषियोंने महादेवजीसे दक्षकी यज्ञशालामें पधारनेकी प्रार्थना की और तब वे उन्हें तथा ब्रह्माजीको साथ लेकर वहाँ गये ॥ ७ ॥ वहाँ जैसा-जैसा भगवान् शंकरने कहा था, उसी प्रकार सब कार्य करके उन्होंने दक्षकी धड़से यज्ञपशुका सिर जोड़ दिया ॥ ८ ॥ सिर जुड़ जानेपर रुद्रदेवकी दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल सोकर जागनेके समान जी उठे और अपने सामने भगवान् शिवको देखा ॥ ९ ॥ दक्षका शंकरद्रोहकी कालिमासे कलुषित हृदय उनका दर्शन करनेसे शरत्कालीन सरोवरके समान स्वच्छ हो गया ॥१०॥ उन्होंने महादेवजीकी स्तुति करनी चाही, किंतु अपनी मरी हुई बेटी सतीका स्मरण हो आनेसे स्नेह और उत्कण्ठाके कारण उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये । उनके मुखसे शब्द न निकल सका ॥११॥ प्रेमसे विह्वल, परम बुद्धिमान् प्रजापतिने जैसे-तैसे अपने हृदयके आवेगको रोककर विशुद्धभावसे भगवान् शिवकी स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १२ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीमहादेव उवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—परेश । ३. प्रा० पा०—दण्डस्तु विधृतो । ४. प्रा० पा०—जक्षिति । ५. प्रा० पा०—शीर्ष्णोह । ६. प्रा० पा०—सर्ती ।

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥१३॥
विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स विप्रान्
ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक् ।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥१४॥
योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्१५

दक्षने कहा—भगवन् ! मैंने आपका अपराध किया था, किंतु आपने उसके बदलेमें मुझे दण्डके द्वारा शिक्षा देकर बड़ा ही अनुग्रह किया है । अहो ! आप और श्रीहरि तो आचारहीन, नाममात्रके ब्राह्मणोंकी भी उपेक्षा नहीं करते—फिर हम-जैसे यज्ञ-यागादि करनेवालोंको क्यों भूलेंगे ॥ १३ ॥ विभो ! आपने ब्रह्मा होकर सबसे पहले आत्मतत्त्वकी रक्षाके लिये अपने मुखसे विद्या, तप और व्रतादिके धारण करनेवाले ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था । जैसे चरवाहा लाठी लेकर गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप उन ब्राह्मणोंकी सब विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं ॥ १४ ॥ मैं आपके तत्त्वको नहीं जानता था, इसीसे मैंने भरी सभामें आपको अपने वाग्बाणोंसे बेधा था । किंतु आपने मेरे उस अपराधका कोई विचार नहीं किया । मैं तो आप-जैसे पूज्यतम महानुभावोंका अपराध करनेके कारण नरकादि नीच लोकोंमें गिरनेवाला था, परंतु आपने अपनी करुणाभरी दृष्टिसे मुझे उबार लिया । अब भी आपको प्रसन्न करनेयोग्य मुझमें कोई गुण नहीं है; बस, आप अपने ही उदारतापूर्ण बर्तावसे मुझपर प्रसन्न हों ॥ १५ ॥

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः ॥१६॥
वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।
पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये ॥१७॥
अध्वर्युणाऽऽत्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥१८॥
तदा स्वप्रभया[1] तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ॥१९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—आशुतोष शंकरसे इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराकर दक्षने ब्रह्माजीके कहनेपर उपाध्याय, ऋत्विज आदिकी सहायतासे यज्ञ-कार्य आरम्भ किया ॥ १६ ॥ तब ब्राह्मणोंने यज्ञ सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे रुद्रगण-सम्बन्धी भूत-पिशाचोंके संसर्ग-जनित दोषकी शान्तिके लिये तीन पात्रोंमें विष्णुभगवान्‌के लिये तैयार किये हुए पुरोडाश नामक चरुका हवन किया ॥ १७ ॥ विदुरजी ! उस हविको हाथमें लेकर खड़े हुए अध्वर्युके साथ यजमान दक्षने ज्यों ही विशुद्ध चित्तसे श्रीहरिका ध्यान किया, त्यों ही सहसा भगवान् वहाँ प्रकट हो गये ॥ १८ ॥ 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नामक साम-स्तोत्र जिनके पंख हैं, उन गरुड़जीके द्वारा समीप लाये हुए भगवान्‌ने दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अपनी अङ्गकान्तिसे सब देवताओंका तेज हर लिया—उनके सामने सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—त्वप्रभया ।

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो

नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।

कम्ब्वब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-

व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥२०॥

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-

हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।

पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः

श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः ॥२१॥

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।

प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥२२॥

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।

मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥२३॥

अप्यवाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।

यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥२४॥

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं

यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।

सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा

गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥२५॥

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं

चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।

तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-

मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥२६॥

उनका श्याम वर्ण था, कमरमें सुवर्णकी करधनी तथा पीताम्बर सुशोभित थे । सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट था, मुखकमल भौंरोंके समान नीली अलकावली और कान्तिमय कुण्डलोंसे शोभायमान था, उनके सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित आठ भुजाएँ थीं, जो भक्तोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहती हैं । आठों भुजाओंमें वे शङ्ख, पद्म, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग और ढाल लिये हुए थे तथा इन सब आयुधोंके कारण वे फूले हुए कनेरके वृक्षके समान जान पड़ते थे ॥ २० ॥ प्रभुके हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न था और सुन्दर वनमाला सुशोभित थी । वे अपने उदार हास और लीलामय कटाक्षसे सारे संसारको आनन्दमग्न कर रहे थे । पार्षदगण दोनों ओर राजहंसके समान सफेद पंखे और चँवर डुला रहे थे । भगवान्‌के मस्तकपर चन्द्रमाके समान शुभ्र छत्र शोभा दे रहा था ॥ २१ ॥

भगवान् पधारे हैं—यह देखकर इन्द्र, ब्रह्मा और महादेवजी आदि देवेश्वरोंसहित समस्त देवता, गन्धर्व और ऋषि आदिने सहसा खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥ उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी, जिह्वा लड़खड़ाने लगी, वे सब-के-सब सकपका गये और मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर भगवान्‌के सामने खड़े हो गये ॥ २३ ॥ यद्यपि भगवान्‌की महिमातक ब्रह्मा आदिकी मति भी नहीं पहुँच पाती, तो भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये दिव्यरूपमें प्रकट हुए श्रीहरिकी वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥ सबसे पहले प्रजापति दक्ष एक उत्तम पात्रमें पूजाकी सामग्री ले नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए, प्रजापतियोंके परम गुरु भगवान् यज्ञेश्वरके पास गये और अति आनन्दित हो विनीतभावसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते प्रभुके शरणापन्न हुए ॥ २५ ॥

दक्षने कहा—भगवन् ! अपने स्वरूपमें आप बुद्धिकी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंसे रहित, शुद्ध, चिन्मय, भेदरहित, अतएव निर्भय हैं । आप मायाका तिरस्कार करके स्वतन्त्ररूपसे विराजमान हैं; तथापि जब मायासे ही जीवभावको स्वीकारकर उसी मायामें स्थित हो जाते हैं, तब अज्ञानी-से दीखने लगते हैं ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—शङ्खाब्ज० ।

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्

कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।

धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं

ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः ॥२७॥

ऋत्विजोंने कहा—उपाधिरहित प्रभो ! भगवान् रुद्रके प्रधान अनुचर नन्दीश्वरके शापके कारण हमारी बुद्धि केवल कर्मकाण्डमें ही फँसी हुई है, अतएव हम आपके तत्त्वको नहीं जानते । जिसके लिये 'इस कर्मका यही देवता है' ऐसी व्यवस्था की गयी है—उस धर्मप्रवृत्तिके प्रयोजक, वेदत्रयीसे प्रतिपादित यज्ञको ही हम आपका स्वरूप समझते हैं ॥ २७ ॥

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-

व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः ।

द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः

पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥२८॥

सदस्योंने कहा—जीवोंको आश्रय देनेवाले प्रभो ! जो अनेक प्रकारके क्लेशोंके कारण अत्यन्त दुर्गम है, जिसमें कालरूप भयंकर सर्प ताकमें बैठा हुआ है, द्वन्द्वरूप अनेकों गढ़े हैं, दुर्जनरूप जंगली जीवोंका भय है तथा शोकरूप दावानल धधक रहा है—ऐसे, विश्राम-स्थलसे रहित संसारमार्गमें जो अज्ञानी जीव कामनाओंसे पीड़ित होकर विषयरूप मृगतृष्णाजलके लिये ही देह-गेहका भारी बोझा सिरपर लिये जा रहे हैं, वे भला आपके चरणकमलोंकी शरणमें कब आने लगे ॥२८॥

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे

ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।

यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं

जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥२९॥

रुद्रने कहा—वरदायक प्रभो ! आपके उत्तम चरण इस संसारमें सकाम पुरुषोंको सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाले हैं; और जिन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं है, वे निष्काम मुनिजन भी उनका आदरपूर्वक पूजन करते हैं । उनमें चित्त लगा रहनेके कारण यदि अज्ञानी लोग मुझे आचारभ्रष्ट कहते हैं, तो कहें; आपके परम अनुग्रहसे मैं उनके कहने-सुननेका कोई विचार नहीं करता ॥ २९ ॥

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा

ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।

नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं

सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः ॥३०॥

भृगुजीने कहा—आपकी गहन मायासे आत्मज्ञान लुप्त हो जानेके कारण जो अज्ञान-निद्रामें सोये हुए हैं, वे ब्रह्मादि देहधारी आत्मज्ञानमें उपयोगी आपके तत्त्वको अभीतक नहीं जान सके । ऐसे होनेपर भी आप अपने शरणागत भक्तोंके तो आत्मा और सुहृद् हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-

भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो ! पृथक्-पृथक् पदार्थोंको जाननेवाली इन्द्रियोंके द्वारा पुरुष जो कुछ देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि आप ज्ञान शब्दादि

१. प्रा० पा०—ण्यविग्रहहृदया । २. प्रा० पा०—लाकृष्टे । ३. प्रा० पा०—शिषां चाखिल० । ४. प्रा० पा०—नात्माश्रितं ।

ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद् व्यतिरिक्तो यतस्त्वम् ॥३१॥

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥३२॥

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥३३॥

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं
यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥३४॥

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥३५॥

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः ॥३६॥

विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं—ये सब आपमें अध्यस्त हैं । अतएव आप इस मायामय प्रपञ्चसे सर्वथा अलग हैं ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—अच्युत ! आपका यह जगत्‌को प्रकाशित करनेवाला रूप देवद्रोहियोंका संहार करनेवाली आठ भुजाओंसे सुशोभित है, जिनमें आप सदा ही नाना प्रकारके आयुध धारण किये रहते हैं । यह रूप हमारे मन और नेत्रोंको परम आनन्द देनेवाला है ॥३२॥

याज्ञिकोंकी पत्नियोंने कहा—भगवन् ! ब्रह्माजीने आपके पूजनके लिये ही इस यज्ञकी रचना की थी; परंतु दक्षपर कुपित होनेके कारण इसे भगवान् पशुपतिने अब नष्ट कर दिया है । यज्ञमूर्ते ! श्मशानभूमिके समान उत्सवहीन हुए हमारे उस यज्ञको आप नील कमलकी-सी कान्तिवाले अपने नेत्रोंसे निहारकर पवित्र कीजिये ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवन् ! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है; क्योंकि आप कर्म करते हुए भी उनसे निर्लेप रहते हैं । दूसरे लोग वैभवकी भूखसे जिन लक्ष्मीजीकी उपासना करते हैं, वे स्वयं आपकी सेवामें लगी रहती हैं, तो भी आप उनका मान नहीं करते, उनसे निःस्पृह रहते हैं ॥ ३४ ॥

सिद्धोंने कहा—प्रभो ! यह हमारा मनरूप हाथी नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध एवं अत्यन्त तृषित होकर आपकी कथारूप विशुद्ध अमृतमयी सरितामें घुसकर गोता लगाये बैठा है । वहाँ ब्रह्मानन्दमें लीन-सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है ॥ ३५ ॥

यजमानपत्नीने कहा—सर्वसमर्थ परमेश्वर ! आपका स्वागत है । मैं आपको नमस्कार करती हूँ । आप मुझपर प्रसन्न होइये । लक्ष्मीपते ! अपनी प्रिया लक्ष्मीजीके सहित आप हमारी रक्षा कीजिये । यज्ञेश्वर ! जिस प्रकार सिरके बिना मनुष्यका धड़ अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार अन्य अङ्गोंसे पूर्ण होनेपर भी आपके बिना यज्ञकी शोभा नहीं होती ॥ ३६ ॥

१. प्रा० पा०—ते कथा० । २. प्रा० पा०—दाहं ।

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥३७॥

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येशतयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥३८॥
जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिर्वर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥४०॥

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥४१॥

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।

लोकपालोंने कहा—अनन्त परमात्मन् ! आप समस्त अन्तःकरणोंके साक्षी हैं, यह सारा जगत् आपके ही द्वारा देखा जाता है । तो क्या मायिक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली हमारी इन नेत्र आदि इन्द्रियोंसे कभी आप प्रत्यक्ष हो सके हैं ? वस्तुतः आप हैं तो पञ्चभूतोंसे पृथक्; फिर भी पाञ्चभौतिक शरीरोंके साथ जो आपका सम्बन्ध प्रतीत होता है, यह आपकी माया ही है ॥ ३७ ॥

योगेश्वरोंने कहा—प्रभो ! जो पुरुष सम्पूर्ण विश्वके आत्मा आपमें और अपनेमें कोई भेद नहीं देखता, उससे अधिक प्यारा आपको कोई नहीं है । तथापि भक्तवत्सल ! जो लोग आपमें स्वामिभाव रखकर अनन्य भक्तिसे आपकी सेवा करते हैं, उनपर भी आप कृपा कीजिये ॥ ३८ ॥ जीवोंके अदृष्टवश जिसके सत्त्वादि गुणोंमें बड़ी विभिन्नता आ जाती है, उस अपनी मायाके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये ब्रह्मादि विभिन्न रूप धारण करके आप भेदबुद्धि पैदा कर देते हैं; किंतु अपनी स्वरूपस्थितिसे आप उस भेदज्ञान और उसके कारण सत्त्वादि गुणोंसे सर्वथा दूर हैं । ऐसे आपको हमारा नमस्कार है ॥ ३९ ॥

ब्रह्मस्वरूप वेदने कहा—आप ही धर्मादिकी उत्पत्तिके लिये शुद्ध सत्त्वको स्वीकार करते हैं, साथ ही आप निर्गुण भी हैं । अतएव आपका तत्त्व न तो मैं जानता हूँ और न ब्रह्मादि कोई और ही जानते हैं; आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

अग्निदेवने कहा—भगवन् ! आपके ही तेजसे प्रज्वलित होकर मैं श्रेष्ठ यज्ञोंमें देवताओंके पास घृतमिश्रित हवि पहुँचाता हूँ । आप साक्षात् यज्ञपुरुष एवं यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं । अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और पशु-सोम—ये पाँच प्रकारके यज्ञ आपके ही स्वरूप हैं तथा 'आश्रावय', 'अस्तु श्रौषट्,' 'यजे,' 'येयजामहे' और 'वषट्'—इन पाँच प्रकारके यजुर्मन्त्रोंसे आपका ही पूजन होता है । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४१ ॥

देवताओंने कहा—देव ! आप आदिपुरुष हैं । पूर्वकल्पका अन्त होनेपर अपने कार्यरूप इस प्रपञ्चको उदरमें लीनकर आपने ही प्रलयकालीन जलके भीतर शेषनागकी उत्तम शय्यापर शयन किया था । आपके

१. प्रा० पा०—द्युतिव० ।

पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः

स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ।४२।

आध्यात्मिक स्वरूपका जनलोकादिवासी सिद्धगण भी अपने हृदयमें चिन्तन करते हैं। अहो ! वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय होकर अपने भक्तोंकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्
तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥४३॥

गन्धर्वोंने कहा—देव ! मरीचि आदि ऋषि और ये ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्रादि देवतागण आपके अंशके भी अंश हैं। महत्तम ! यह सम्पूर्ण विश्व आपके खेलकी सामग्री है । नाथ ! ऐसे आपको हम सर्वदा प्रणाम करते हैं ॥ ४३ ॥

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद् व्युदस्येत् ॥४४॥

विद्याधरोंने कहा—प्रभो ! परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूप इस मानवदेहको पाकर भी जीव आपकी मायासे मोहित होकर इसमें मैं-मेरेपनका अभिमान कर लेता है। फिर वह दुर्बुद्धि अपने आत्मीयोंसे तिरस्कृत होनेपर भी असत् विषयोंकी ही लालसा करता रहता है। किंतु ऐसी अवस्थामें भी जो आपके कथामृतका सेवन करता है, वह इस अन्तःकरणके मोहको सर्वथा त्याग देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥४५॥

ब्राह्मणोंने कहा—भगवन् ! आप ही यज्ञ हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, स्वयं आप ही मन्त्र हैं; आप ही समिधा, कुशा और यज्ञपात्र हैं तथा आप ही सदस्य, ऋत्विज, यजमान एवं उसकी धर्मपत्नी, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोमरस, घृत और पशु हैं ॥ ४५ ॥

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदँल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥४६॥

वेदमूर्ते ! यज्ञ और उसका सङ्कल्प दोनों आप ही हैं। पूर्वकालमें आप ही अति विशाल वराहरूप धारणकर रसातलमें डूबी हुई पृथ्वीको लीलासे ही अपनी दाढ़ोंपर उठाकर इस प्रकार निकाल लाये थे, जैसे कोई गजराज कमलिनीको उठा लाये। उस समय आप धीरे-धीरे गरज रहे थे और योगिगण आपका यह अलौकिक पुरुषार्थ देखकर आपकी स्तुति करते जाते थे ॥४६॥

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः॥४७॥

यज्ञेश्वर ! जब लोग आपके नामका कीर्तन करते हैं, तब यज्ञके सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं । हमारा यह यज्ञस्वरूप सत्कर्म नष्ट हो गया था, अतः हम आपके दर्शनोंकी इच्छा कर रहे थे। अब आप हमपर प्रसन्न होइये । आपको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम्।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये यज्ञभावने ॥४८॥
भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥५०॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥५१॥
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥५२॥
यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥५३॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥५४॥

मैत्रेय उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत् ॥५५॥
रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः।
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः ॥५६॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भैया विदुर ! जब इस प्रकार सब लोग यज्ञरक्षक भगवान् हृषीकेशकी स्तुति करने लगे, तब परम चतुर दक्षने रुद्रपार्षद वीरभद्रके ध्वंस किये हुए यज्ञको फिर आरम्भ कर दिया ॥ ४८ ॥ सर्वान्तर्यामी श्रीहरि यों तो सभीके भागोंके भोक्ता हैं; तथापि त्रिकपाल-पुरोडाशरूप अपने भागसे और भी प्रसन्न होकर उन्होंने दक्षको सम्बोधन करके कहा ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—जगत्का परम कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूँ; मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयम्प्रकाश और उपाधिशून्य हूँ ॥५०॥ विप्रवर ! अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्वीकार करके मैं ही जगत्की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ और मैंने ही उन कर्मोंके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर—ये नाम धारण किये हैं ॥ ५१ ॥ ऐसा जो भेदरहित विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं हूँ, उसीमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य समस्त जीवोंको विभिन्न रूपसे देखता है ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार मनुष्य अपने सिर और हाथ आदि अङ्गोंमें 'ये मुझसे भिन्न हैं' ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्रको मुझसे भिन्न नहीं देखता ॥ ५३ ॥ ब्रह्मन् ! हम—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—तीनों स्वरूपतः एक ही हैं और हम ही सम्पूर्ण जीवरूप हैं; अतः जो हममें कुछ भी भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर प्रजापतियोंके नायक दक्षने उनका त्रिकपाल यज्ञके द्वारा पूजन करके फिर अङ्गभूत और प्रधान दोनों प्रकारके यज्ञोंसे अन्य सब देवताओंका अर्चन किया ॥ ५५ ॥ फिर एकाग्रचित्त हो भगवान् शंकरका यज्ञशेषरूप उनके भागसे यजन किया तथा समाप्तिमें किये जानेवाले उदवसान नामक कर्मसे अन्य सोमपायी एवं दूसरे देवताओंका यजन कर यज्ञका उपसंहार किया और अन्तमें ऋत्विजोंके सहित अवभृथ-स्नान किया ॥५६॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है। २. प्रा० पा०—सान्निध्ये। ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' नहीं है। ४. प्रा० पा०—देहात्मबुद्धिर्भूतानि। ५. प्रा० पा०—ण्यादिना। ६. प्रा० पा०—वान् भगवतोऽयजत्। ७. प्रा० पा०—णो ह्यव०।

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥५७॥

फिर जिन्हें अपने पुरुषार्थसे ही सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, उन दक्षप्रजापतिको 'तुम्हारी सदा धर्ममें बुद्धि रहे' ऐसा आशीर्वाद देकर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५७ ॥

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥५८॥

विदुरजी ! सुना है कि दक्षसुता सतीजीने इस प्रकार अपना पूर्वशरीर त्यागकर फिर हिमालयकी पत्नी मेनाके गर्भसे जन्म लिया था ॥ ५८ ॥

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥५९॥

जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति सृष्टिके आरम्भमें फिर ईश्वरका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्यपरायणा श्रीअम्बिकाजीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शंकरको ही वरण किया ॥५९॥

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥६०॥

विदुरजी ! दक्ष यज्ञका विध्वंस करनेवाले भगवान् शिवका यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजीके शिष्य परम भागवत उद्धवजीके मुखसे सुना था ॥ ६० ॥

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥६१॥

कुरुनन्दन ! श्रीमहादेवजीका यह पावन चरित्र यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा पाप-पुञ्जको नष्ट करनेवाला है । जो पुरुष भक्तिभावसे इसका नित्यप्रति श्रवण और कीर्तन करता है, वह अपनी पापराशिका नाश कर देता है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
दक्षयज्ञसंधानं[3] नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

ध्रुवका वन-गमन

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः ।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥ १ ॥
मृषाधर्मस्य भार्याऽऽसीद्दम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—शत्रुसूदन विदुरजी ! सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—ब्रह्माजीके इन नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रोंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया (अतः उनके कोई संतान नहीं हुई) । अधर्म भी ब्रह्माजीका ही पुत्र था, उसकी पत्नीका नाम था मृषा। उसके दम्भ नामक पुत्र और माया नामकी कन्या हुई । उन दोनोंको निर्ऋति ले गया, क्योंकि उसके कोई संतान न थी ॥ १-२ ॥

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।

दम्भ और मायासे लोभ और निकृति (शठता) का जन्म हुआ, उनसे क्रोध और

१. प्रा० पा०—एवं भग० । २. प्रा० पा०—नित्यमाक० । ३. प्रा० पा०—यज्ञसमुद्भवः सप्त० ।
४. प्रा० पा०—ह्यव० । ५. प्रा० पा०—तत्र ।

ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद् दुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥३॥
दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४ ॥
संग्रहेण मयाऽऽख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।
त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥५॥
अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह ।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥ ६ ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७ ॥
जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८ ॥
एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९ ॥
तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥१०॥
न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥११॥
बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्[1] ।
नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥१२॥
तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि[2] नृपासनम् ॥१३॥

हिंसा तथा उनसे कलि (कलह) और उसकी बहिन दुरुक्ति (गाली) उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥ साधुशिरोमणे ! फिर दुरुक्तिसे कलिने भय और मृत्युको उत्पन्न किया तथा उन दोनोंके संयोगसे यातना और निरय (नरक) का जोड़ा उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥ निष्पाप विदुरजी ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तुम्हें प्रलयका कारणरूप यह अधर्मका वंश सुनाया । यह अधर्मका त्याग कराकर पुण्य-सम्पादनमें हेतु बनता है; अतएव इसका वर्णन तीन बार सुनकर मनुष्य अपने मनकी मलिनता दूर कर देता है ॥ ५ ॥ कुरुनन्दन ! अब मैं श्रीहरिके अंश (ब्रह्माजी) के अंशसे उत्पन्न हुए पवित्रकीर्ति महाराज स्वायम्भुव मनुके पुत्रोंके वंशका वर्णन करता हूँ ॥ ६॥

महारानी शतरूपा और उनके पति स्वायम्भुव मनुसे प्रियव्रत और उत्तानपाद—ये दो पुत्र हुए । भगवान् वासुदेवकी कलासे उत्पन्न होनेके कारण ये दोनों संसारकी रक्षामें तत्पर रहते थे ॥ ७ ॥ उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामकी दो पत्नियाँ थीं । उनमें सुरुचि राजाको अधिक प्रिय थी; सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, उन्हें वैसी प्रिय नहीं थी ॥ ८ ॥

एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें बिठाकर प्यार कर रहे थे । उसी समय ध्रुवने भी गोदमें बैठना चाहा, परंतु राजाने उसका स्वागत नहीं किया ॥ ९ ॥ उस समय घमण्डसे भरी हुई सुरुचिने अपनी सौतके पुत्र ध्रुवको महाराजकी गोदमें आनेका यत्न करते देख उनके सामने ही उससे डाहभरे शब्दोंमें कहा—॥ १० ॥ 'बच्चे ! तू राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी नहीं है । तू भी राजाका ही बेटा है, इससे क्या हुआ, तुझको मैंने तो अपनी कोखमें नहीं धारण किया ॥ ११ ॥ तू अभी नादान है, तुझे पता नहीं है कि तूने किसी दूसरी स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है; तभी तो ऐसे दुर्लभ विषयकी इच्छा कर रहा है ॥ १२ ॥ यदि तुझे राजसिंहासनकी इच्छा है तो तपस्या करके परम पुरुष श्रीनारायणकी आराधना कर और उनकी कृपासे मेरे गर्भमें आकर जन्म ले' ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—सम्भवम् । २. प्रा० पा०—यदीच्छास्ति नृपासने ।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम् ॥१४॥
तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम्[1] ।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥१५॥
सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
दावाग्निना दावलतेव बाला ।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥१६॥
दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
मपश्यती बालकमाह बाला ।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥१७॥
सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
यद् दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥१८॥
आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥१९॥
यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥२०॥
तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जिस प्रकार डंडेकी चोट खाकर साँप फुफकार मारने लगता है, उसी प्रकार अपनी सौतेली माँके कठोर वचनोंसे घायल होकर ध्रुव क्रोधके मारे लंबी-लंबी साँस लेने लगा। उसके पिता चुपचाप यह सब देखते रहे, मुँहसे एक शब्द भी नहीं बोले। तब पिताको छोड़कर ध्रुव रोता हुआ अपनी माताके पास आया ॥ १४ ॥ उसके दोनों होठ फड़क रहे थे और वह सिसक-सिसककर रो रहा था। सुनीतिने बेटेको गोदमें उठा लिया और जब महलके दूसरे लोगोंसे अपनी सौत सुरुचिकी कही हुई बातें सुनीं, तब उसे भी बड़ा दुःख हुआ ॥ १५ ॥ उसका धीरज टूट गया। वह दावानलसे जली हुई बेलके समान शोकसे संतप्त होकर मुरझा गयी तथा विलाप करने लगी। सौतकी बातें याद आनेसे उसके कमल-सरीखे नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ १६ ॥ उस बेचारीको अपने दुःखपारावारका कहीं अन्त ही नहीं दिखायी देता था। उसने गहरी साँस लेकर ध्रुवसे कहा, 'बेटा ! तू दूसरोंके लिये किसी प्रकारके अमङ्गलकी कामना मत कर। जो मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है ॥१७॥ सुरुचिने जो कुछ कहा है, ठीक ही है; क्योंकि महाराजको मुझे 'पत्नी' तो क्या 'दासी' स्वीकार करनेमें भी लजा आती है। तूने मुझ मन्दभागिनीके गर्भसे ही जन्म लिया है और मेरे ही दूधसे तू पला है ॥१८॥ बेटा ! सुरुचिने तेरी सौतेली माँ होनेपर भी बात बिल्कुल ठीक कही है; अतः यदि राजकुमार उत्तमके समान राजसिंहासनपर बैठना चाहता है तो द्वेषभाव छोड़कर उसीका पालन कर। बस, श्रीअधोक्षज भगवान्‌के चरणकमलोंकी आराधनामें लग जा ॥ १९ ॥ संसारका पालन करनेके लिये सत्त्वगुणको अङ्गीकार करनेवाले उन श्रीहरिके चरणोंकी आराधना करनेसे ही तेरे परदादा श्रीब्रह्माजीको वह सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है, जो मन और प्राणोंको जीतनेवाले मुनियोंके द्वारा भी वन्दनीय है ॥ २० ॥ इसी प्रकार तेरे दादा स्वायम्भुव मनुने भी बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंके द्वारा

१. प्रा० पा०—सुतं निजोत्सङ्गमुदूह्य ।

इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥२१॥
तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥२२॥
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥२३॥

मैत्रेय[1] उवाच

एवं संजल्पितं[2] मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।
संनियम्यात्मनाऽऽत्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥२४॥
नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥२५॥
अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥२६॥

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥२७॥
विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसंतोषहेतवः ।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥२८॥

अनन्य भावसे उन्हीं भगवान्‌की आराधना की थी; तभी उन्हें दूसरोंके लिये अति दुर्लभ लौकिक, अलौकिक तया मोक्षसुखकी प्राप्ति हुई ॥ २१ ॥ बेटा ! तू भी उन भक्तवत्सल श्रीभगवान्‌का ही आश्रय ले । जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुलोग निरन्तर उन्हींके चरणकमलोंके मार्गकी खोज किया करते हैं । तू स्वधर्मपालनसे पवित्र हुए अपने चित्तमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌को बैठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़कर केवल उन्हींका भजन कर ॥ २२ ॥ बेटा ! उन कमल-दल-लोचन श्रीहरिको छोड़कर मुझे तो तेरे दुःखको दूर करनेवाला और कोई दिखायी नहीं देता । देख, जिन्हें प्रसन्न करनेके लिये ब्रह्मा आदि अन्य सब देवता ढूँढ़ते रहते हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी भी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिये निरन्तर उन्हीं श्रीहरिकी खोज किया करती हैं' ॥ २३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—माता सुनीतिने जो वचन कहे, वे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिका मार्ग दिखलानेवाले थे । अतः उन्हें सुनकर ध्रुवने बुद्धिद्वारा अपने चित्तका समाधान किया । इसके बाद वे पिताके नगरसे निकल पड़े ॥ २४ ॥ यह सब समाचार सुनकर और ध्रुव क्या करना चाहता है, इस बातको जानकर नारदजी वहाँ आये । उन्होंने ध्रुवके मस्तकपर अपना पापनाशक कर-कमल फेरते हुए मन-ही-मन विस्मित होकर कहा ॥ २५ ॥ 'अहो ! क्षत्रियोंका कैसा अद्भुत तेज है, वे थोड़ा-सा भी मान-भङ्ग नहीं सह सकते । देखो, अभी तो यह नन्हा-सा बचा है; तो भी इसके हृदयमें सौतेली माताके कटु वचन घर कर गये हैं' ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् नारदजीने ध्रुवसे कहा—बेटा ! अभी तो तू बचा है, खेल-कूदमें ही मस्त रहता है; हम नहीं समझते कि इस उम्रमें किसी बातसे तेरा सम्मान या अपमान हो सकता है ॥ २७ ॥ यदि तुझे मानापमान-का विचार ही हो, तो बेटा ! असलमें मनुष्यके असंतोषका कारण मोहके सिवा और कुछ नहीं है । संसारमें मनुष्य अपने कर्मानुसार ही मान-अपमान या सुख-दुःख आदिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ तात !

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । २. प्रा० पा०—संकल्पितं ।

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥२९॥
अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥३०॥
मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः ।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥३१॥
अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः ।
यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥३२॥
यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः ।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति ॥३३॥
गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥३४॥

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥३५॥
अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥३६॥
पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥३७॥
नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हितार्थं¹ जगतोऽर्कवत् ॥३८॥

भगवान्‌की गति बड़ी विचित्र है । इसलिये उसपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दैववश उसे जैसी भी परिस्थितिका सामना करना पड़े, उसीमें संतुष्ट रहे ॥ २९ ॥ अब, माताके उपदेशसे तू योग-साधनद्वारा जिन भगवान्‌की कृपा प्राप्त करने चला है—मेरे विचारसे साधारण पुरुषोंके लिये उन्हें प्रसन्न करना बहुत ही कठिन है ॥ ३० ॥ योगीलोग अनेकों जन्मोंतक अनासक्त रहकर समाधियोगके द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर साधनाएँ करते रहते हैं, परंतु भगवान्‌के मार्गका पता नहीं पाते ॥ ३१ ॥ इसलिये तू यह व्यर्थका हठ छोड़ दे और घर लौट जा; बड़ा होनेपर जब परमार्थ-साधनका समय आवे, तब उसके लिये प्रयत्न कर लेना ॥ ३२ ॥ विधाताके विधानके अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसीमें चित्तको संतुष्ट रखना चाहिये । यों करनेवाला पुरुष मोहमय संसारसे पार हो जाता है ॥ ३३ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अपनेसे अधिक गुणवान्‌को देखकर प्रसन्न हो; जो कम गुणवाला हो, उसपर दया करे और जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रताका भाव रक्खे । यों करनेसे उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते ॥ ३४ ॥

ध्रुवने कहा—भगवन् ! सुख-दुःखसे जिनका चित्त चञ्चल हो जाता है, उन लोगोंके लिये आपने कृपा करके शान्तिका यह बहुत अच्छा उपाय बतलाया । परंतु मुझ-जैसे अज्ञानियोंकी दृष्टि यहाँतक नहीं पहुँच पाती ॥ ३५ ॥ इसके सिवा, मुझे घोर क्षत्रियस्वभाव प्राप्त हुआ है; अतएव मुझमें विनयका प्रायः अभाव है; सुरुचिने अपने कटुवचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयको विदीर्ण कर डाला है; इसलिये उसमें आपका यह उपदेश नहीं ठहर पाता ॥ ३६ ॥ ब्रह्मन् ! मैं उस पदपर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकीमें सबसे श्रेष्ठ है तथा जिसपर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं । आप मुझे उसीकी प्राप्तिका कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइये ॥ ३७ ॥ आप भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र हैं और संसारके कल्याणके लिये ही वीणा बजाते सूर्यकी भाँति त्रिलोकीमें विचरा करते हैं ॥३८॥

१. प्रा० पा०—हिताय ।

मैत्रेय[1] उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥३९॥

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४०॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४१॥
तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥४२॥
स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥४३॥
प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥४४॥
प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् ।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥४५॥
तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥४६॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥४७॥
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ध्रुवकी बात सुनकर भगवान् नारदजी बड़े प्रसन्न हुए और उसपर कृपा करके इस प्रकार सदुपदेश देने लगे ॥ ३९ ॥

श्रीनारदजीने कहा—बेटा ! तेरी माता सुनीतिने तुझे जो कुछ बताया है, वही तेरे लिये परम कल्याणका मार्ग है । भगवान् वासुदेव ही वह उपाय हैं, इसलिये तू चित्त लगाकर उन्हींका भजन कर ॥ ४० ॥ जिस पुरुषको अपने लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थकी अभिलाषा हो उसके लिये उनकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीहरिके चरणोंका सेवन ही है ॥४१॥ बेटा ! तेरा कल्याण होगा, अब तू श्रीयमुनाजीके तटवर्ती परम पवित्र मधुवनको जा । वहाँ श्रीहरिका नित्य निवास है ॥ ४२ ॥ वहाँ श्रीकालिन्दीके निर्मल जलमें तीनों समय स्नान करके नित्यकर्मसे निवृत्त हो यथाविधि आसन बिछाकर स्थिरभावसे बैठना ॥ ४३ ॥ फिर रेचक, पूरक और कुम्भक—तीन प्रकारके प्राणायामसे धीरे-धीरे प्राण, मन और इन्द्रियके दोषोंको दूरकर धैर्ययुक्त मनसे परमगुरु श्रीभगवान्‌का इस प्रकार ध्यान करना ॥ ४४ ॥

भगवान्‌के नेत्र और मुख निरन्तर प्रसन्न रहते हैं; उन्हें देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि वे प्रसन्नतापूर्वक भक्तको वर देनेके लिये उद्यत हैं । उनकी नासिका, भौंहें और कपोल बड़े ही सुहावने हैं; वे सभी देवताओंमें परम सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥ उनकी तरुण अवस्था है; सभी अङ्ग बड़े सुडौल हैं; लाल-लाल होठ और रतनारे नेत्र हैं । वे प्रणतजनोंको आश्रय देनेवाले, अपार सुखदायक, शरणागतवत्सल और दयाके समुद्र हैं ॥ ४६ ॥ उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, उनका शरीर सजल जलधरके समान श्यामवर्ण है; वे परम पुरुष श्यामसुन्दर गलेमें वनमाला धारण किये हुए हैं और उनकी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित हैं ॥ ४७ ॥ उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग किरीट, कुण्डल, केयूर और कङ्कणादि आभूषणोंसे

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' से लेकर 'मनुकम्पया' तकका अंश मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।
२. प्रा० पा०—सम्यक्प्र० ।

कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥४८॥
काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥४९॥
पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्[1] ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥५०॥
स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥५१॥
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ।५२॥
जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥५३॥
"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।"
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः ।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥५४॥
सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥५५॥
लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥५६॥
स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद् ध्यायेद्धृदयङ्गमम्[2] ॥५७॥

विभूषित हैं; गला कौस्तुभमणिकी भी शोभा बढ़ा रहा है तथा शरीरमें रेशमी पीताम्बर है ॥ ४८ ॥ उनके कटिप्रदेशमें काञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सुवर्णमय नूपुर (पैजनी) सुशोभित हैं । भगवान्‌का स्वरूप बड़ा ही दर्शनीय, शान्त तथा मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ ४९ ॥ जो लोग प्रभुका मानस-पूजन करते हैं, उनके अन्तःकरणमें वे हृदयकमलकी कर्णिकापर अपने नख-मणिमण्डित मनोहर पादारविन्दोंको स्थापित करके विराजते हैं ॥ ५० ॥ इस प्रकार धारणा करते-करते जब चित्त स्थिर और एकाग्र हो जाय, तब उन वरदायक प्रभुका मन-ही-मन इस प्रकार ध्यान करे कि वे मेरी ओर अनुरागभरी दृष्टिसे निहारते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं ॥ ५१ ॥ भगवान्‌की मङ्गलमयी मूर्तिका इस प्रकार निरन्तर ध्यान करनेसे मन शीघ्र ही परमानन्दमें डूबकर तल्लीन हो जाता है और फिर वहाँ-से लौटता नहीं ॥ ५२ ॥

राजकुमार ! इस ध्यानके साथ जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह भी बतलाता हूँ—सुन । इसका सात रात जप करनेसे मनुष्य आकाशमें विचरनेवाले सिद्धोंका दर्शन कर सकता है ॥ ५३ ॥ वह मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' । किस देश और किस कालमें कौन वस्तु उपयोगी है—इसका विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको इस मन्त्रके द्वारा तरह-तरहकी सामग्रियोंसे भगवान्‌की द्रव्यमयी पूजा करनी चाहिये ॥ ५४ ॥ प्रभुका पूजन विशुद्ध जल, पुष्पमाला, जंगली मूल और फलादि, पूजामें विहित दूर्वादि अङ्कुर, वनमें ही प्राप्त होनेवाले वल्कल वस्त्र और उनकी प्रेयसी तुलसीसे करना चाहिये ॥ ५५ ॥ यदि शिला आदिकी मूर्ति मिल सके तो उसमें, नहीं तो पृथ्वी या जल आदि-में ही भगवान्‌की पूजा करे । सर्वदा संयतचित्त, मनन-शील, शान्त और मौन रहे तथा जंगली फलमूलादिका परिमित आहार करे ॥ ५६ ॥ इसके सिवा पुण्यकीर्ति श्रीहरि अपनी अनिर्वचनीया मायाके द्वारा अपनी ही इच्छासे अवतार लेकर जो-जो मनोहर चरित्र करनेवाले हैं, उनका मन-ही-मन चिन्तन करता रहे ॥ ५७ ॥

१. प्रा० पा०—समर्चितम् । २. प्रा० पा०—दयं गतम् ।

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः ।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥५८॥

प्रभुकी पूजाके लिये जिन-जिन उपचारोंका विधान किया गया है, उन्हें मन्त्रमूर्ति श्रीहरिको द्वादशाक्षर मन्त्रके द्वारा ही अर्पण करे ॥ ५८ ॥

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया ॥५९॥
पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः ।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥६०॥

इस प्रकार जब हृदयस्थित हरिका मन, वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है, तब वे निश्छलभावसे भलीभाँति भजन करनेवाले अपने भक्तोंके भावको बढ़ा देते हैं और उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षरूप कल्याण प्रदान करते हैं ॥ ५९-६० ॥

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥६१॥

यदि उपासकको इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंसे वैराग्य हो गया हो, तो वह मोक्षप्राप्तिके लिये अत्यन्त भक्तिपूर्वक अविच्छिन्नभावसे भगवान्का भजन करे ॥ ६१ ॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥६२॥

श्रीनारदजीसे इस प्रकार उपदेश पाकर राजकुमार ध्रुवने परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया । तदनन्तर उन्होंने भगवान्के चरणचिह्नोंसे अङ्कित परम पवित्र मधुवनकी यात्रा की ॥ ६२ ॥

तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥६३॥

ध्रुवके तपोवनकी ओर चले जानेपर नारदजी महाराज उत्तानपादके महलमें पहुँचे । राजाने उनकी यथायोग्य उपचारोंसे पूजा की; तब उन्होंने आरामसे आसनपर बैठकर राजासे पूछा ॥६३॥

नारद उवाच

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥६४॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा मुख सूखा हुआ है, तुम बड़ी देरसे किस सोच-विचारमें पड़े हो ? तुम्हारे धर्म, अर्थ और काममेंसे किसीमें कोई कमी तो नहीं आ गयी ? ॥ ६४ ॥

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना ।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥६५॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं बड़ा ही स्त्रैण और निर्दय हूँ । हाय, मैंने अपने पाँच वर्षके नन्हे-से बच्चेको उसकी माताके साथ घरसे निकाल दिया । मुनिवर ! वह बड़ा ही बुद्धिमान् था ॥ ६५ ॥

अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मा स्मादन्त्यर्भकं वृकाः ।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥६६॥

उसका कमल-सा मुख भूखसे कुम्हला गया होगा, वह थककर कहीं रास्तेमें पड़ गया होगा । ब्रह्मन् ! उस असहाय बच्चेको वनमें कहीं भेड़िये न खा जायँ ॥ ६६ ॥

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।
योऽङ्कं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥६७॥

अहो ! मैं कैसा स्त्रीका गुलाम हूँ ! मेरी कुटिलता तो देखिये—वह बालक प्रेमवश मेरी गोदमें चढ़ना चाहता था, किंतु मुझ दुष्टने उसका तनिक भी आदर नहीं किया ॥ ६७ ॥

---

१. प्रा० पा०—अर्हितोऽर्हणया । २. प्रा० पा०—न खादन्त्यर्भकं ।

नारद उवाच

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत् ॥६८॥
सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
ऐष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव ॥६९॥

मैत्रेय उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥७०॥
तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥७१॥
त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥७२॥
द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।
तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयद्विभुम् ॥७३॥
तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।
अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥७४॥
चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥७५॥
पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।
ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥७६॥
सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किंचनापरम् ॥७७॥
आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥७८॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! तुम अपने बालककी चिन्ता मत करो। उसके रक्षक भगवान् हैं। तुम्हें उसके प्रभावका पता नहीं है, उसका यश सारे जगत्में फैल रहा है ॥ ६८ ॥ वह बालक बड़ा समर्थ है। जिस कामको बड़े-बड़े लोकपाल भी नहीं कर सके, उसे पूरा करके वह शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आयेगा। उसके कारण तुम्हारा यश भी बहुत बढ़ेगा ॥ ६९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर महाराज उत्तानपाद राजपाटकी ओरसे उदासीन होकर निरन्तर पुत्रकी ही चिन्तामें रहने लगे ॥ ७० ॥ इधर ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परम पुरुष श्रीनारायणकी उपासना आरम्भ कर दी ॥ ७१ ॥ उन्होंने तीन-तीन रात्रिके अन्तरसे शरीरनिर्वाहके लिये केवल कैथ और बेरके फल खाकर श्रीहरिकी उपासना करते हुए एक मास व्यतीत किया ॥ ७२ ॥ दूसरे महीनेमें उन्होंने छः-छः दिनके पीछे सूखे घास और पत्ते खाकर भगवान्का भजन किया ॥ ७३ ॥ तीसरा महीना नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर समाधियोगके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करते हुए बिताया ॥ ७४ ॥ चौथे महीनेमें उन्होंने श्वासको जीतकर बारह-बारह दिनके बाद केवल वायु पीकर ध्यानयोगद्वारा भगवान्की आराधना की ॥ ७५ ॥ पाँचवाँ मास लगनेपर राजकुमार ध्रुव श्वासको जीतकर परब्रह्मका चिन्तन करते हुए एक पैरसे खंभेके समान निश्चल भावसे खड़े हो गये ॥ ७६ ॥ उस समय उन्होंने शब्दादि विषय और इन्द्रियोंके नियामक अपने मनको सब ओरसे खींच लिया तथा हृदयस्थित हरिके स्वरूपका चिन्तन करते हुए चित्तको किसी दूसरी ओर न जाने दिया ॥ ७७ ॥ जिस समय उन्होंने महदादि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार तथा प्रकृति और पुरुषके भी अधीश्वर परब्रह्मकी धारणा की, उस समय (उनके तेजको न सह सकनेके कारण) तीनों लोक काँप उठे ॥ ७८ ॥ जब

१. प्रा० पा०—मा शुचस्त्वं स्वतन०। २. प्रा० पा०—स कृत्वा दुष्करं कर्म। ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है। ४. प्रा० पा०—दिभिर्जीर्णैः।

यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥७९॥

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥८०॥

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥८१॥

श्रीभगवानुवाच[1]

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा ॥८२॥

राजकुमार ध्रुव एक पैरसे खड़े हुए, तब उनके अँगूठेसे दबकर आधी पृथ्वी इस प्रकार झुक गयी, जैसे किसी गजराजके चढ़ जानेपर नाव पद-पदपर दायीं-बायीं ओर डगमगाने लगती है ॥ ७९ ॥ ध्रुवजी अपने इन्द्रियद्वार तथा प्राणोंको रोककर अनन्यबुद्धिसे विश्वात्मा श्रीहरिका ध्यान करने लगे। इस प्रकार उनकी समष्टि प्राणसे अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया। इससे समस्त लोक और लोकपालोंको बड़ी पीड़ा हुई और वे सब घबराकर श्रीहरिकी शरणमें गये ॥ ८० ॥

देवताओंने कहा—भगवन्! समस्त स्थावर-जङ्गम जीवोंके शरीरोंका प्राण एक साथ ही रुक गया है—ऐसा तो हमने पहले कभी अनुभव नहीं किया। आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं, अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंको इस दुःखसे छुड़ाइये ॥ ८१ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवताओ! तुम डरो मत। उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने अपने चित्तको मुझ विश्वात्मामें लीन कर दिया है, इस समय मेरे साथ उसकी अभेद-धारणा सिद्ध हो गयी है, इसीसे उसके प्राणनिरोधसे तुम सबका प्राण भी रुक गया है। अब तुम अपने-अपने लोकोंको जाओ, मैं उस बालकको इस दुष्कर तपसे निवृत्त कर दूँगा ॥ ८२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

ध्रुवका वर पाकर घर लौटना

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम्।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेसे देवताओंका भय जाता रहा और वे उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोकको चले गये। तदनन्तर विराट्स्वरूप भगवान् गरुड़पर चढ़कर अपने भक्तको देखनेके लिये मधुवनमें आये ॥ १ ॥ उस

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' पाठ नहीं है।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २ ॥
तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ॥ ३ ॥
स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥ ४ ॥
स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः[1] ॥ ५ ॥

समय ध्रुवजी तीव्र योगाभ्याससे एकाग्र हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌की बिजलीके समान देदीप्यमान जिस मूर्तिका अपने हृदयकमलमें ध्यान कर रहे थे, वह सहसा विलीन हो गयी । इससे घबराकर उन्होंने ज्यों ही नेत्र खोले कि भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सामने खड़ा देखा ॥ २ ॥ प्रभुका दर्शन पाकर बालक ध्रुवको बड़ा कुतूहल हुआ, वे प्रेममें अधीर हो गये । उन्होंने पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर उन्हें प्रणाम किया । फिर वे इस प्रकार प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी जायँगे, मुखसे चूम लेंगे और भुजाओंमें कस लेंगे ॥ ३ ॥ वे हाथ जोड़े प्रभुके सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, परंतु किस प्रकार करें, यह नहीं जानते थे । सर्वान्तर्यामी हरि उनके मनकी बात जान गये; उन्होंने कृपापूर्वक अपने वेदमय शङ्खको उनके गालसे छुआ दिया ॥ ४ ॥ ध्रुवजी भविष्यमें अविचल पद प्राप्त करनेवाले थे । इस समय शङ्खका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गयी और जीव तथा ब्रह्मके स्वरूपका भी निश्चय हो गया । वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक विश्वविख्यात कीर्तिमान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे ॥ ५ ॥

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६ ॥
एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७ ॥

ध्रुवजीने कहा—प्रभो ! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं; आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं । मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥ भगवन् ! आप एक ही हैं, परंतु अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिसे इस महदादि सम्पूर्ण प्रपञ्चको रचकर अन्तर्यामीरूपसे उसमें प्रवेश कर जाते हैं और फिर इसके इन्द्रियादि असत् गुणोंमें उनके अधिष्ठातृ देवताओंके रूपमें स्थित होकर अनेक-रूप भासते हैं—ठीक वैसे ही जैसे तरह-तरहकी लकड़ियोंमें प्रकट हुई आग अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासती है ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—स्थितिः ।

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि[1] नृणाम् ॥ ९ ॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ।१०।

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महतामलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ।।११।।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः । १२।।

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं[2]
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ।।१३।।

नाथ ! सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीने भी आपकी शरण लेकर आपके दिये हुए ज्ञानके प्रभावसे ही इस जगत्को सोकर उठे हुए पुरुषके समान देखा था । दीनबन्धो ! उन्हीं आपके चरणतलका मुक्त पुरुष भी आश्रय लेते हैं, कोई भी कृतज्ञ पुरुष उन्हें कैसे भूल सकता है ? ॥८॥ प्रभो ! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी मिल सकता है । जो लोग इस विषयसुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्-प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है ॥ ९ ॥ नाथ ! आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे और आप-के भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता । फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है ॥ १० ॥

अनन्त परमात्मन् ! मुझे तो आप उन विशुद्धहृदय महात्मा भक्तोंका सङ्ग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है; उनके सङ्गमें मैं आपके गुणों और लीलाओं-की कथा-सुधाको पी-पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही इस अनेक प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण भयंकर संसारसागरके उस पार पहुँच जाऊँगा ॥ ११ ॥ कमलनाभ प्रभो ! जिनका चित्त आपके चरणकमलकी सुगन्धमें लुभाया हुआ है, उन महानुभावोंका जो लोग सङ्ग करते हैं—वे अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदिकी सुधि भी नहीं करते ॥ १२ ॥ अजन्मा परमेश्वर ! मैं तो पशु, वृक्ष, पर्वत, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु), देवता, दैत्य और मनुष्य आदिसे परिपूर्ण तथा महदादि अनेकों कारणोंसे सम्पादित आपके इस सदसदात्मक स्थूल विश्वरूपको ही जानता हूँ; इससे परे जो आपका परम स्वरूप है, जिसमें वाणीकी गति नहीं है, उसका मुझे पता नहीं है ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—नरके । २. प्रा० पा०—च विश्वमज ते महदाद्यशेषं ।

कल्पान्तं एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥१४॥

भगवन् ! कल्पका अन्त होनेपर योगनिद्रामें स्थित जो परमपुरुष इस सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें लीन करके शेषजीके साथ उन्हींकी गोदमें शयन करते हैं तथा जिनके नाभि-समुद्रसे प्रकट हुए सर्वलोकमय सुवर्णवर्ण कमलसे परम तेजोमय ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, वे भगवान् आप ही हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥१५॥
यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥१६॥
सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमर्य[2] भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥१७॥

प्रभो ! आप अपनी अखण्ड चिन्मयी दृष्टिसे बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हैं तथा नित्यमुक्त, शुद्धसत्त्वमय, सर्वज्ञ, परमात्मस्वरूप, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं । आप जीवसे सर्वथा भिन्न हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूपसे विराजमान हैं॥१५॥ आपसे ही विद्या अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंवाली अनेकों शक्तियाँ धारावाहिक रूपसे निरन्तर प्रकट होती रहती हैं । आप जगत्के कारण, अखण्ड, अनादि, अनन्त, आनन्दमय, निर्विकार ब्रह्मस्वरूप हैं । मैं आपकी शरण हूँ ॥ १६ ॥ भगवन् ! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्कामभावसे आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका सच्चा फल है । स्वामिन् ! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी गौ जैसे अपने तुरंतके जन्मे हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये निरन्तर विकल रहनेके कारण हम-जैसे सकाम जीवोंकी भी कामना पूर्ण करके उनकी संसार-भयसे रक्षा करते रहते हैं ॥ १७ ॥

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्संकल्पेन धीमता ।
भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥१८॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जब शुभ सङ्कल्प-वाले मतिमान् ध्रुवजीने इस प्रकार स्तुति की तब भक्तवत्सल भगवान् उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥१९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजकुमार ! मैं तेरे हृदयका सङ्कल्प जानता हूँ । यद्यपि उस पदका प्राप्त होना बहुत कठिन है, तो भी मैं तुझे वह देता हूँ । तेरा कल्याण हो ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—न्तरे तदखि० । २. प्रा० पा०—माद्य ।

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति ।
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ॥२०॥
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम् ।
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥२१॥
प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः ।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥२२॥
त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः ।
अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥२३॥
इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः ।
भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि॥२४॥
ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः ॥२५॥

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम् ।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥२६॥
सोऽपि संकल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम् ।
प्राप्य संकल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम्॥२७॥

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।

भद्र ! जिस तेजोमय अविनाशी लोकको आजतक किसीने प्राप्त नहीं किया, जिसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र उसी प्रकार चक्कर काटता रहता है जिस प्रकार मेढीके*चारों ओर दँवरीके बैल घूमते रहते हैं । अवान्तर कल्पपर्यन्त रहनेवाले अन्य लोकोंका नाश हो जानेपर भी जो स्थिर रहता है तथा तारागणके सहित धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि नक्षत्र एवं सप्तर्षिगण जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, वह ध्रुवलोक मैं तुझे देता हूँ ॥ २०-२१ ॥ यहाँ भी जब तेरे पिता तुझे राजसिंहासन देकर वनको चले जायँगे, तब तू छत्तीस हजार वर्षतक धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करेगा । तेरी इन्द्रियोंकी शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी ॥ २२ ॥ आगे चलकर किसी समय तेरा भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायगा, तब उसकी माता सुरुचि पुत्र-प्रेममें पागल होकर उसे वनमें खोजती हुई दावानलमें प्रवेश कर जायगी ॥ २३ ॥ यज्ञ मेरी प्रिय मूर्ति है, तू अनेकों बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंके द्वारा मेरा यजन करेगा तथा यहाँ उत्तम-उत्तम भोग भोगकर अन्तमें मेरा ही स्मरण करेगा ॥ २४ ॥ इससे तू अन्तमें सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय और सप्तर्षियोंसे भी ऊपर मेरे निज धामको जायगा, जहाँ पहुँच जानेपर फिर संसारमें लौटकर नहीं आना होता है ॥ २५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—बालक ध्रुवसे इस प्रकार पूजित हो और उसे अपना पद प्रदान कर भगवान् श्रीगरुडध्वज उसके देखते-देखते अपने लोकको चले गये ॥ २६ ॥ प्रभुकी चरणसेवासे सङ्कल्पित वस्तु प्राप्त हो जानेके कारण यद्यपि ध्रुवजीका सङ्कल्प तो निवृत्त हो गया, किंतु उनका चित्त विशेष प्रसन्न नहीं हुआ । फिर वे अपने नगरको लौट गये ॥ २७ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! मायापति श्रीहरिका परमपद तो अत्यन्त दुर्लभ है और मिलता भी उनके चरणकमलोंकी उपासनासे ही है । ध्रुवजी भी सारासारका

१. प्रा० पा०—तत्र । २. प्रा० पा०—स्थिति । ३. प्रा० पा०—यतिः ।

* कटी हुई फसल धान-गेहूँ आदिको कुचलनेके लिये घुमाये जानेवाले बैल जिस खंभेमें बँधे रहते हैं, उसका नाम मेढी है ।

लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना
कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥२९॥

ध्रुव उवाच

समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः ।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥३०॥

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत ।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वायाचे यदन्तवत् ॥३१॥

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः ।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥३२॥

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक् ।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा ॥३३॥

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि ।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम् ।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥३४॥

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत ।
ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥३५॥

पूर्ण विवेक रखते थे; फिर एक ही जन्ममें उस परमपदको पा लेनेपर भी उन्होंने अपनेको अकृतार्थ क्यों समझा ? ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—ध्रुवजीका हृदय अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे बिंध गया था तथा वर माँगनेके समय भी उन्हें उनका स्मरण बना हुआ था; इसीसे उन्होंने मुक्तिदाता श्रीहरिसे मुक्ति नहीं माँगी। अब जब भगवद्दर्शनसे वह मनोमालिन्य दूर हो गया तो उन्हें अपनी इस भूलके लिये पश्चात्ताप हुआ ॥ २९ ॥

ध्रुवजी मन-ही-मन कहने लगे—अहो ! सनकादि ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) सिद्ध भी जिन्हें समाधिद्वारा अनेकों जन्मोंमें प्राप्त कर पाते हैं, उन भगवच्चरणोंकी छायाको मैंने छः महीनेमें ही पा लिया, किंतु चित्तमें दूसरी वासना रहनेके कारण मैं फिर उनसे दूर हो गया ॥ ३० ॥ अहो ! मुझ मन्दभाग्यकी मूर्खता तो देखो, मैंने संसारपाशको काटनेवाले प्रभुके पादपद्मोंमें पहुँचकर भी उनसे नाशवान् वस्तुकी ही याचना की ! ॥ ३१ ॥ देवताओंको स्वर्गभोगके पश्चात् फिर नीचे गिरना होता है, इसलिये वे मेरी भगवत्प्राप्तिरूप उच्च स्थितिको सहन नहीं कर सके; अतः उन्होंने ही मेरी बुद्धिको नष्ट कर दिया। तभी तो मुझ दुष्टने नारदजीकी यथार्थ बात भी स्वीकार नहीं की ॥ ३२ ॥ यद्यपि संसारमें आत्माके सिवा दूसरा कोई भी नहीं है तथापि सोया हुआ मनुष्य जैसे स्वप्नमें अपने ही कल्पना किये हुए व्याघ्रादिसे डरता है, उसी प्रकार मैंने भी भगवान्की मायासे मोहित होकर भाईको ही शत्रु मान लिया और व्यर्थ ही द्वेषरूप हार्दिक रोगसे जलने लगा ॥ ३३ ॥ जिन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है, उन्हीं विश्वात्मा श्रीहरिको तपस्याद्वारा प्रसन्न करके मैंने जो कुछ माँगा है, वह सब व्यर्थ है; ठीक उसी तरह, जैसे गतायु पुरुषके लिये चिकित्सा व्यर्थ होती है। ओह ! मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ, संसारबन्धनका नाश करनेवाले प्रभुसे मैंने संसार ही माँगा ॥ ३४ ॥ मैं बड़ा ही पुण्यहीन हूँ ! जिस प्रकार कोई कँगला किसी चक्रवर्ती सम्राट्को प्रसन्न करके उससे तुषसहित चावलोंकी कनी माँगे, उसी प्रकार मैंने भी आत्मानन्द प्रदान करनेवाले श्रीहरिसे मूर्खतावश व्यर्थका अभिमान बढ़ानेवाले उच्चपदादि ही माँगे हैं ॥ ३५ ॥

मैत्रेय उवाच

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः ॥३६॥
आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथाऽऽगतम् ।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥३७॥
श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥३८॥
सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥३९॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः ।
निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥४०॥
सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते ।
आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥४१॥
तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥४२॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥४३॥
अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्[3]नयनवारिभिः ।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥४४॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—तात ! तुम्हारी तरह जो लोग श्रीमुकुन्दपादारविन्द-मकरन्दके ही मधुकर हैं—जो निरन्तर प्रभुकी चरण-रजका ही सेवन करते हैं और जिनका मन अपने-आप आयी हुई सभी परिस्थितियोंमें संतुष्ट रहता है, वे भगवान्‌से उनकी सेवाके सिवा अपने लिये और कोई भी पदार्थ नहीं माँगते ॥ ३६ ॥

इधर जब राजा उत्तानपादने सुना कि उनका पुत्र ध्रुव घर लौट रहा है, तो उन्हें इस बातपर वैसे ही विश्वास नहीं हुआ, जैसे कोई किसीके यमलोकसे लौटनेकी बातपर विश्वास न करे । उन्होंने यह सोचा कि 'मुझ अभागेका ऐसा भाग्य कहाँ' ॥ ३७ ॥ परंतु फिर उन्हें देवर्षि नारदकी बात याद आ गयी । इससे उनका इस बातमें विश्वास हुआ और वे आनन्दके वेगसे अधीर हो उठे । उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह समाचार लानेवालेको एक बहुमूल्य हार दिया ॥ ३८ ॥ राजा उत्तानपादने पुत्रका मुख देखनेके लिये उत्सुक होकर बहुत-से ब्राह्मण, कुलके बड़े-बूढ़े मन्त्री और बन्धुजनोंको साथ लिया तथा एक बढ़िया घोड़ोंवाले सुवर्णजटित रथपर सवार होकर वे झटपट नगरके बाहर आये । उनके आगे-आगे वेदध्वनि होती जाती थी तथा शङ्ख, दुन्दुभि एवं वंशी आदि अनेकों माङ्गलिक बाजे बजते जाते थे ॥ ३९-४० ॥ उनकी दोनों रानियाँ सुनीति और सुरुचि भी सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो राजकुमार उत्तमके साथ पालकियोंपर चढ़कर चल रही थीं ॥४१॥ ध्रुवजी उपवनके पास आ पहुँचे, उन्हें देखते ही महाराज उत्तानपाद तुरंत रथसे उतर पड़े । पुत्रको देखनेके लिये वे बहुत दिनोंसे उत्कण्ठित हो रहे थे । उन्होंने झटपट आगे बढ़कर प्रेमातुर हो, लंबी-लंबी साँसें लेते हुए ध्रुवको भुजाओंमें भर लिया । अब ये पहलेके ध्रुव नहीं थे, प्रभुके परमपुनीत पादपद्मोंका स्पर्श होनेसे इनके समस्त पाप-बन्धन कट गये थे ॥ ४२-४३ ॥ राजा उत्तानपादकी एक बहुत बड़ी कामना पूर्ण हो गयी । उन्होंने बार-बार पुत्रका सिर सूँघा और आनन्द तथा प्रेमके कारण निकलनेवाले ठंडे-ठंडे * आँसुओंसे उन्हें नहला दिया ॥ ४४ ॥

१. प्रा० पा०—परातो । २. प्रा० पा०—तूर्यनिना० । ३. प्रा० पा०—शान्तै० ।

* आनन्द या प्रेमके कारण जो आँसू आते हैं वे ठंडे हुआ करते हैं और शोकके आँसू गरम होते हैं ।

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥४५॥
सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥४६॥
यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥४७॥
उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः ॥४८॥
सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् ।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥४९॥
पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः ।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥५०॥
तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥५१॥
अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्तिहा ।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥५२॥
लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥५३॥
तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः ।
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥५४॥

तदनन्तर सज्जनोंमें अग्रगण्य ध्रुवजीने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर, कुशल-प्रश्नादिसे सम्मानित हो दोनों माताओंको प्रणाम किया ॥ ४५ ॥ छोटी माता सुरुचिने अपने चरणोंपर झुके हुए बालक ध्रुवको उठाकर हृदयसे लगा लिया और अश्रुगद्गद वाणीसे 'चिरञ्जीवी रहो' ऐसा आशीर्वाद दिया ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचेकी ओर बहने लगता है—उसी प्रकार मैत्री आदि गुणोंके कारण जिसपर श्रीभगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसके आगे सभी जीव झुक जाते हैं ॥ ४७ ॥ इधर उत्तम और ध्रुव दोनों ही प्रेमसे विह्वल होकर मिले। एक दूसरेके अङ्गोंका स्पर्श पाकर उन दोनोंके ही शरीरमें रोमाञ्च हो आया तथा नेत्रोंसे बार-बार आँसुओंकी धारा बहने लगी ॥ ४८ ॥ ध्रुवकी माता सुनीति अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रको गले लगाकर सारा संताप भूल गयी। उसके सुकुमार अङ्गोंके स्पर्शसे उसे बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ ॥ ४९ ॥ वीरवर विदुरजी! वीरमाता सुनीतिके स्तन उसके नेत्रोंसे झरते हुए मङ्गलमय आनन्दाश्रुओंसे भीग गये और उनसे बार-बार दूध बहने लगा ॥ ५० ॥ उस समय पुरवासीलोग उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे, 'महारानीजी! आपका लाल बहुत दिनोंसे खोया हुआ था; सौभाग्यवश अब वह लौट आया, यह हम सबका दुःख दूर करनेवाला है। बहुत दिनोंतक भूमण्डलकी रक्षा करेगा ॥ ५१ ॥ आपने अवश्य ही शरणागतभय-भञ्जन श्रीहरिकी उपासना की है। उनका निरन्तर ध्यान करनेवाले धीर पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी जीत लेते हैं' ॥ ५२ ॥

विदुरजी! इस प्रकार जब सभी लोग ध्रुवके प्रति अपना लाड़-प्यार प्रकट कर रहे थे, उसी समय उन्हें भाई उत्तमके सहित हथिनीपर चढ़ाकर महाराज उत्तानपादने बड़े हर्षके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय सभी लोग उनके भाग्यकी बड़ाई कर रहे थे ॥ ५३ ॥ नगरमें जहाँ-तहाँ मगरके आकारके सुन्दर दरवाजे बनाये गये थे तथा फल-फूलोंके गुच्छोंके सहित केलेके खंभे और सुपारीके पौधे सजाये गये थे ॥ ५४ ॥

१. प्रा० पा०—वाद्य। २. प्रा० पा०—चानुम०। ३. प्रा० पा०—सवृन्तैः।

चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः ।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः ॥५५॥
प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः ।
सर्वतोऽलंकृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः ॥५६॥
मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् ।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥५७॥
ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥५८॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥५९॥
महामणिव्रातमये स तस्मिन् भवनोत्तमे ।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत् ॥६०॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥६१॥
यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥६२॥
उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥६३॥
वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः ॥६४॥
उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम् ।

द्वार-द्वारपर दीपकके सहित जलके कलश रक्खे हुए थे—जो आमके पत्तों, वस्त्रों, पुष्पमालाओं तथा मोतीकी लड़ियोंसे सुसज्जित थे ॥ ५५ ॥ जिन अनेकों परकोटों, फाटकों और महलोंसे नगरी सुशोभित थी, उन सबको सुवर्णकी सामग्रियोंसे सजाया गया था तथा उनके कँगूरे विमानोंके शिखरोंके समान चमक रहे थे ॥ ५६ ॥ नगरके चौक, गलियों, अटारियों और सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर चन्दनका छिड़काव किया गया था, और जहाँ-तहाँ खील, चावल, पुष्प, फल, जौ एवं अन्य माङ्गलिक उपहार-सामग्रियाँ सजी रक्खी थीं ॥ ५७ ॥ ध्रुवजी राजमार्गसे जा रहे थे । उस समय जहाँ-तहाँ नगरकी शीलवती सुन्दरियाँ उन्हें देखनेको एकत्र हो रही थीं । उन्होंने वात्सल्यभावसे अनेकों शुभाशीर्वाद देते हुए उनपर सफेद सरसों, अक्षत, दही, जल, दूर्वा, पुष्प और फलोंकी वर्षा की । इस प्रकार उनके मनोहर गीत सुनते हुए ध्रुवजीने अपने पिताके महलमें प्रवेश किया ॥ ५८-५९ ॥

वह श्रेष्ठ भवन महामूल्य मणियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित था । उसमें अपने पिताजीके लाड़-प्यारका सुख भोगते हुए वे उसी प्रकार आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे स्वर्गमें देवतालोग रहते हैं ॥ ६० ॥ वहाँ दूधके फेनके समान सफेद और कोमल शय्याएँ, हाथी-दाँतके पलंग, सुनहरी कामदार परदे, बहुमूल्य आसन और बहुत-सा सोनेका सामान था ॥ ६१ ॥ उसकी स्फटिक और महामरकतमणि (पन्ने) की दीवारोंमें रत्नोंकी बनी हुई स्त्रीमूर्तियोंपर रक्खे हुए मणिमय दीपक जगमगा रहे थे ॥ ६२ ॥ उस महलके चारों ओर अनेक जातिके दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित उद्यान थे, जिनमें नर और मादा पक्षियोंका कलरव तथा मतवाले भौंरोंका गुंजार होता रहता था ॥ ६३ ॥ उन बगीचोंमें वैदूर्यमणि (पुखराज) की सीढ़ियोंसे सुशोभित बावलियाँ थीं—जिनमें लाल, नीले और सफेद रंगके कमल खिले रहते थे तथा हंस, कारण्डव, चकवा एवं सारस आदि पक्षी क्रीडा करते रहते थे ॥ ६४ ॥

राजर्षि उत्तानपादने अपने पुत्रके अति अद्भुत प्रभावकी बात देवर्षि नारदसे पहले ही सुन रक्खी थी;

श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥६५॥
वीक्ष्योढवयसं तं[1] च प्रकृतीनां च सम्मतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥६६॥
आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः ।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥६७॥

अब उसे प्रत्यक्ष वैसा ही देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६५ ॥ फिर यह देखकर कि अब ध्रुव तरुण अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, अमात्यवर्ग उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते हैं तथा प्रजाका भी उनपर अनुराग है, उन्होंने उन्हें निखिल भूमण्डलके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ६६ ॥ और आप वृद्धावस्था आयी जानकर आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए संसारसे विरक्त होकर वनको चल दिये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुव[2]राज्याभिषेकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

उत्तमका मारा जाना, ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध

मैत्रेय उवाच

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं[3] नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥
इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः ।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत् ॥ २ ॥
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥ ३ ॥
ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपा[4]मर्षशुचार्पितः ।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥
गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम् ।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसंकुलाम्[5] ॥५॥
दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन् ।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम् ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ध्रुवने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिके साथ विवाह किया, उससे उनके कल्प और वत्सर नामके दो पुत्र हुए ॥ १ ॥ महाबली ध्रुवकी दूसरी स्त्री वायुपुत्री इला थी । उससे उनके उत्कल नामके एक पुत्र और एक कन्यारत्नका जन्म हुआ ॥ २ ॥ उत्तमका अभी विवाह नहीं हुआ था कि एक दिन शिकार खेलते समय उसे हिमालय पर्वतपर एक बलवान् यक्षने मार डाला । उसके साथ उसकी माता भी परलोक सिधार गयी ॥ ३ ॥

ध्रुवने जब भाईके मारे जानेका समाचार सुना तो वे क्रोध, शोक और उद्वेगसे भरकर एक विजयप्रद रथपर सवार हो यक्षोंके देशमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥ उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर हिमालयकी घाटीमें यक्षोंसे भरी हुई अलकापुरी देखी, उसमें अनेकों भूत-प्रेत-पिशाचादि रुद्रानुचर रहते थे ॥ ५ ॥ विदुरजी ! वहाँ पहुँचकर महाबाहु ध्रुवने अपना शङ्ख बजाया तथा सम्पूर्ण आकाश और दिशाओंको गुँजा दिया । उस शङ्खध्वनिसे यक्षपत्नियाँ बहुत ही डर गयीं, उनकी आँखें भयसे कातर हो उठीं ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—पुत्रं प्रकृ० । २. प्रा० पा०—ध्रुवचरिते नवराज्या० । ३. प्रा० पा०—भृतिं । ४. प्रा० पा०—योगेश्वरमजी० । ५. प्रा० पा०—क्रोधाम० ।

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः ।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७ ॥
स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः ।
एकैकं युगपत्सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥
ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि ।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन् कर्म तस्य तत् ॥ ९ ॥
तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः ।
शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः ॥१०॥
ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः ।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि ॥११॥
अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम् ।
इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानि त्रयोदश ॥१२॥
औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा ।
न उपादृश्यतच्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥१३॥
हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम् ।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे ॥१४॥
नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे ।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः ॥१५॥
धनुर्विस्फूर्जयन्दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन् ।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥१६॥
तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम् ।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥१७॥

वीरवर विदुरजी ! महाबलवान् यक्षवीरोंको वह शङ्खनाद सहन न हुआ । इसलिये वे तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरसे बाहर निकल आये और ध्रुवपर टूट पड़े ॥ ७ ॥ महारथी ध्रुव प्रचण्ड धनुर्धर थे । उन्होंने एक ही साथ उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाण मारे ॥ ८ ॥ उन सभीने जब अपने-अपने मस्तकोंमें तीन-तीन बाण लगे देखे, तब उन्हें यह विश्वास हो गया कि हमारी हार अवश्य होगी । वे ध्रुवजीके इस अद्भुत पराक्रमकी प्रशंसा करने लगे ॥ ९ ॥ फिर जैसे सर्प किसीके पैरोंका आघात नहीं सहते, उसी प्रकार ध्रुवके इस पराक्रमको न सहकर उन्होंने भी उनके बाणोंके जवाबमें एक ही साथ उनसे दूने—छः-छः बाण छोड़े ॥ १० ॥ यक्षोंकी संख्या तेरह अयुत (१३००००) थी । उन्होंने ध्रुवजीका बदला लेनेके लिये अत्यन्त कुपित होकर रथ और सारथीके सहित उनपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, फरसा, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी तथा चित्र-विचित्र पंखदार बाणोंकी वर्षा की ॥ ११-१२ ॥ इस भीषण शस्त्रवर्षासे ध्रुवजी बिल्कुल ढक गये । तब लोगोंको उनका दीखना वैसे ही बंद हो गया, जैसे भारी वर्षासे पर्वतका ॥ १३ ॥ उस समय जो सिद्धगण आकाशमें स्थित होकर यह दृश्य देख रहे थे, वे सब हाय-हाय करके कहने लगे—'आज यक्षसेनारूप समुद्रमें डूबकर यह मानव-सूर्य अस्त हो गया' ॥ १४ ॥ यक्षलोग अपनी विजयकी घोषणा करते हुए युद्धक्षेत्रमें सिंहकी तरह गरजने लगे । इसी बीचमें ध्रुवजीका रथ एकाएक वैसे ही प्रकट हो गया, जैसे कुहरेमेंसे सूर्यभगवान् निकल आते हैं ॥ १५ ॥

ध्रुवजीने अपने दिव्य धनुषकी टङ्कार करके शत्रुओंके दिल दहला दिये और फिर प्रचण्ड बाणोंकी वर्षा करके उनके अस्त्र-शस्त्रोंको इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया, जैसे आँधी बादलोंको तितर-बितर कर देती है ॥ १६ ॥ उनके धनुषके छूटे हुए तीखे तीर यक्ष-राक्षसोंके कवचोंको भेदकर इस प्रकार उनके शरीरोंमें घुस गये, जैसे इन्द्रके छोड़े हुए वज्र पर्वतोंमें प्रवेश कर गये थे ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—उपदेवा महाभयाः । २. प्रा० पा०—नं शशंसुः कर्म । ३. प्रा० पा०—अथ औत्तानपादिः सशस्त्र० । ४. प्रा० पा०—विंस्फारयन्नुग्रं द्विष० ।

भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः ।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥१८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः ।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥१९॥

विदुरजी ! महाराज ध्रुवके बाणोंसे कटे हुए यक्षोंके सुन्दर कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे, सुनहरी तालवृक्षके समान जाँघोंसे, वलयविभूषित बाहुओंसे, हार, भुजबन्ध, मुकुट और बहुमूल्य पगड़ियोंसे पटी हुई वह वीरोंके मनको लुभानेवाली समरभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १८-१९॥

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।
प्रायो विवृक्णावयवा[1] विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥२०॥

जो यक्ष किसी प्रकार जीवित बचे, वे क्षत्रियप्रवर ध्रुवजीके बाणोंसे प्रायः अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण युद्धक्रीडामें सिंहसे परास्त हुए गजराजके समान मैदान छोड़कर भाग गये ॥ २० ॥

अपश्यमानः स तदाऽऽततायिनं
महामृधे कंचन मानवोत्तमः ।
पुरीं दिदृक्षन्नपि[2] नाविशद् द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥२१॥
इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः ।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत ॥२२॥

नरश्रेष्ठ ध्रुवजीने देखा कि उस विस्तृत रणभूमिमें अब एक भी शत्रु अस्त्र-शस्त्र लिये उनके सामने नहीं है, तो उनकी इच्छा अलकापुरी देखनेकी हुई; किंतु वे पुरीके भीतर नहीं गये 'ये मायावी क्या करना चाहते हैं, इस बातका मनुष्यको पता नहीं लग सकता' सारथिसे इस प्रकार कहकर वे उस विचित्र रथमें बैठे रहे तथा शत्रुके नवीन आक्रमणकी आशङ्कासे सावधान हो गये । इतनेमें ही उन्हें समुद्रकी गर्जनाके समान आँधीका भीषण शब्द सुनायी दिया तथा दिशाओंमें उठती हुई धूल भी दिखायी दी ॥२१ २२॥

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः ।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना ॥२३॥
ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः ।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ ॥२४॥

एक क्षणमें ही सारा आकाश मेघमालासे घिर गया । सब ओर भयंकर गड़गड़ाहटके साथ बिजली चमकने लगी ॥ २३ ॥ निष्पाप विदुरजी ! उन बादलोंसे खून, कफ, पीब, विष्ठा, मूत्र एवं चर्बीकी वर्षा होने लगी और ध्रुवजीके आगे आकाशसे बहुत-से धड़ गिरने लगे ॥२४॥

ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतोदिशम् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः[3] ॥२५॥
अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः ।
अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः ॥२६॥
समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम् ।
आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः ॥२७॥
एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम् ।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः ॥२८॥

फिर आकाशमें एक पर्वत दिखायी दिया और सभी दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षाके साथ गदा, परिघ, तलवार और मुसल गिरने लगे ॥ २५ ॥ उन्होंने देखा कि बहुत-से सर्प वज्रकी तरह फुफकार मारते रोषपूर्ण नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ उगलते आ रहे हैं; झुंड-के-झुंड मतवाले हाथी, सिंह और बाघ भी दौड़े चले आ रहे हैं ॥२६॥ प्रलयकालके समान भयंकर समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गोंसे पृथ्वीको सब ओरसे डुबाता हुआ बड़ी भीषण गर्जनाके साथ उनकी ओर बढ़ रहा है ॥ २७ ॥ क्रूरस्वभाव असुरोंने अपनी आसुरी मायासे ऐसे ही बहुत-से कौतुक दिखलाये, जिनसे कायरोंके मन काँप सकते थे ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—निकृत्तावयवाः । २. प्रा० पा०—क्षन्निव । ३. प्रा० पा०—वर्षणाः ।

ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम् ।
निशाम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः ॥२९॥

ध्रुवजीपर असुरोंने अपनी दुस्तर माया फैलायी है, यह सुनकर वहाँ कुछ मुनियोंने आकर उनके लिये मङ्गल-कामना की ॥ २९ ॥

मुनय ऊचुः[1]

औत्तानपादे भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान् ।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम् ॥३०॥

मुनियोंने कहा—उत्तानपादनन्दन ध्रुव! शरणागत-भयभञ्जन शार्ङ्गपाणि भगवान् नारायण तुम्हारे शत्रुओंका संहार करें । भगवान्का तो नाम ही ऐसा है, जिसके सुनने और कीर्तन करनेमात्रसे मनुष्य दुस्तर मृत्युके मुखसे अनायास ही बच जाता है ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे दशमोऽध्यायः[2] ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुका ध्रुवजीको युद्ध बंद करनेके लिये समझाना

मैत्रेय[3] उवाच

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः ।
संदधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥
संधीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः ।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥
तस्यार्षास्त्रं[4] धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः ।
विनिःसृता[5] आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३ ॥
तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै-
रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः ।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४ ॥
स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान् ।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ऋषियोंका ऐसा कथन सुनकर महाराज ध्रुवने आचमन कर श्रीनारायणके बनाये हुए नारायणास्त्रको अपने धनुषपर चढ़ाया ॥१॥ उस बाणके चढ़ाते ही यक्षोंद्वारा रची हुई नाना प्रकारकी माया उसी क्षण नष्ट हो गयी, जिस प्रकार ज्ञानका उदय होनेपर अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥ ऋषिवर नारायणके द्वारा आविष्कृत उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ाते ही उससे राजहंसके-से पक्ष और सोनेके फलवाले बड़े तीखे बाण निकले और जिस प्रकार मयूर केकारव करते वनमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार भयानक साँय-साँय शब्द करते हुए वे शत्रुकी सेनामें घुस गये ॥ ३ ॥ उन तीखी धारवाले बाणोंने शत्रुओंको बेचैन कर दिया। तब उस रणाङ्गणमें अनेकों यक्षोंने अत्यन्त कुपित होकर अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाले और जिस प्रकार गरुड़के छेड़नेसे बड़े-बड़े सर्प फन उठाकर उनकी ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार वे इधर-उधरसे ध्रुवजीपर टूट पड़े ॥ ४ ॥ उन्हें सामने आते देख ध्रुवजीने अपने बाणोंद्वारा उनकी भुजाएँ, जाँघें, कंधे और उदर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर उन्हें उस सर्वश्रेष्ठ लोक (सत्यलोक) में भेज दिया, जिसमें ऊर्ध्वरेता मुनिगण सूर्यमण्डलका भेदन करके जाते हैं ॥ ५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें यहाँ अध्याय समाप्त नहीं है । ३. प्रा० पा०—सूत उवाच । ४. प्रा० पा०—तस्याप्ययास्त्रं । ५. प्रा० पा०—सुताश्चाविवि० ।

तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः ।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः ॥ ६ ॥

मनुरुवाच

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७ ॥
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥
नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद् बहवो हताः ।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥
नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥१०॥
सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥११॥
स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः ।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम् ॥१२॥
तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥१३॥
सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१४॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।
तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥१५॥
एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।
गुणव्यतिकराद्राजन् मायया परमात्मनः ॥१६॥

अब उनके पितामह स्वायम्भुव मनुने देखा कि विचित्र रथपर चढ़े हुए ध्रुव अनेकों निरपराध यक्षोंको मार रहे हैं, तो उन्हें उनपर बहुत दया आयी। वे बहुत-से ऋषियोंको साथ लेकर वहाँ आये और अपने पौत्र ध्रुवको समझाने लगे ॥ ६ ॥

मनुजीने कहा—बेटा! बस, बस! अधिक क्रोध करना ठीक नहीं। यह पापी नरकका द्वार है। इसीके वशीभूत होकर तुमने इन निरपराध यक्षोंका वध किया है ॥ ७ ॥ तात! तुम जो निर्दोष यक्षोंके संहारपर उतर रहे हो, यह हमारे कुलके योग्य कर्म नहीं है; साधु पुरुष इसकी बड़ी निन्दा करते हैं ॥८॥ बेटा! तुम्हारा अपने भाईपर बड़ा अनुराग था, यह तो ठीक है; परंतु देखो, उसके वधसे संतप्त होकर तुमने एक यक्षके अपराध करनेपर प्रसङ्गवश कितनोंकी हत्या कर डाली ॥ ९ ॥ इस जड शरीरको ही आत्मा मानकर इसके लिये पशुओंकी भाँति प्राणियोंकी हिंसा करना यह भगवत्सेवी साधुजनोंका मार्ग नहीं है। १०। प्रभुकी आराधना करना बड़ा कठिन है, परंतु तुमने तो लड़कपनमें ही सम्पूर्ण भूतोंके आश्रयस्थान श्रीहरिकी सर्वभूतात्मभावसे आराधना करके उनका परमपद प्राप्त कर लिया है ॥ ११ ॥ तुम्हें तो प्रभु भी अपना प्रिय भक्त समझते हैं तथा भक्तजन भी तुम्हारा आदर करते हैं। तुम साधुजनोंके पथप्रदर्शक हो; फिर भी तुमने ऐसा निन्दनीय कर्म कैसे किया? ॥ १२ ॥ सर्वात्मा श्रीहरि तो अपनेसे बड़े पुरुषोंके प्रति सहनशीलता, छोटोंके प्रति दया, बराबरवालोंके साथ मित्रता और समस्त जीवोंके साथ समताका बर्ताव करनेसे ही प्रसन्न होते हैं ॥१३॥ और प्रभुके प्रसन्न हो जानेपर पुरुष प्राकृत गुण एवं उनके कार्यरूप लिङ्गशरीरसे छूटकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

बेटा ध्रुव! देहादिके रूपमें परिणत हुए पञ्चभूतोंसे ही स्त्री-पुरुषका आविर्भाव होता है और फिर उनके पारस्परिक समागमसे दूसरे स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥१५॥ ध्रुव! इस प्रकार भगवान्‌की मायासे सत्त्वादि गुणोंमें न्यूनाधिकभाव होनेसे ही जैसे भूतोंद्वारा शरीरोंकी रचना होती है, वैसे ही उनकी स्थिति और प्रलय भी होते हैं॥१६॥

१. प्रा० पा०—गतो महर्षिभिः । २. प्रा० पा०—तत्सङ्गाद् । ३. प्रा० पा०—वायसं० ।

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥१७॥
स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥१८॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥१९॥
न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥२०॥
आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥२१॥
केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥२२॥
अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम्[1] ॥२३॥
न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥२४॥
स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च।

पुरुषश्रेष्ठ! निर्गुण परमात्मा तो इनमें केवल निमित्तमात्र है, उसके आश्रयसे यह कार्य-कारणात्मक जगत् उसी प्रकार भ्रमता रहता है, जैसे चुम्बकके आश्रयसे लोहा ॥ १७ ॥ काल-शक्तिके द्वारा क्रमशः सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ होनेसे लीलामय भगवान्‌की शक्ति भी सृष्टि आदिके रूपमें विभक्त हो जाती है, अतः भगवान् अकर्ता होकर भी जगत्‌की रचना करते हैं और संहार करनेवाले न होकर भी इसका संहार करते हैं। सचमुच उन अनन्त प्रभुकी लीला सर्वथा अचिन्तनीय है ॥ १८ ॥ ध्रुव! वे कालस्वरूप अव्यय परमात्मा ही स्वयं अन्तरहित होकर भी जगत्‌का अन्त करनेवाले हैं तथा अनादि होकर भी सबके आदिकर्ता हैं। वे ही एक जीवसे दूसरे जीवको उत्पन्न कर संसारकी सृष्टि करते हैं तथा मृत्युके द्वारा मारनेवालेको भी मरवाकर उसका संहार करते हैं ॥ १९ ॥ वे कालभगवान् सम्पूर्ण सृष्टिमें समानरूपसे अनुप्रविष्ट हैं। उनका न तो कोई मित्रपक्ष है और न शत्रुपक्ष। जैसे वायुके चलनेपर धूल उसके साथ-साथ उड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीव अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर कालकी गतिका अनुसरण करते हैं—अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखादि फल भोगते हैं ॥ २० ॥ सर्वसमर्थ श्रीहरि कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवकी आयुकी वृद्धि और क्षयका विधान करते हैं, परंतु वे स्वयं इन दोनोंसे रहित और अपने स्वरूपमें स्थित हैं ॥ २१ ॥ राजन्! इन परमात्माको ही मीमांसकलोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिकमतावलम्बी काल, ज्योतिषी दैव और कामशास्त्री काम कहते हैं ॥ २२ ॥ वे किसी भी इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं हैं। महदादि अनेक शक्तियाँ भी उन्हींसे प्रकट हुई हैं। वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको भी संसारमें कोई नहीं जानता, फिर अपने मूल कारण उन प्रभुको तो जान ही कौन सकता है ॥ २३ ॥

बेटा! ये कुबेरके अनुचर तुम्हारे भाईको मारनेवाले नहीं हैं, क्योंकि मनुष्यके जन्म-मरणका वास्तविक कारण तो ईश्वर है ॥ २४ ॥ एकमात्र वही संसारको रचता, पालता और नष्ट करता है, किंतु अहंकारशून्य होनेके

[1] प्रा० पा०—वेदास्य च संभ०।

अथापि ह्यनहंकारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥२५॥
एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥२६॥
तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥२७॥
यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥२८॥
तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदम्भेदमसत् प्रतीयते ॥२९॥
त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥३०॥
संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम् ॥३१॥
येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥३२॥
हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥३३॥

कारण इसके गुण और कर्मोंसे वह सदा निर्लेप रहता है ॥ २५ ॥ वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, नियन्ता और रक्षा करनेवाले प्रभु ही अपनी मायाशक्तिसे युक्त होकर समस्त जीवोंका सृजन, पालन और संहार करते हैं ॥ २६ ॥ जिस प्रकार नाकमें नकेल पड़े हुए बैल अपने मालिकका बोझा ढोते रहते हैं, उसी प्रकार जगत्की रचना करनेवाले ब्रह्मादि भी नामरूप डोरीसे बँधे हुए उन्हींकी आज्ञाका पालन करते हैं। वे अभक्तोंके लिये मृत्युरूप और भक्तोंके लिये अमृतरूप हैं तथा संसारके एकमात्र आश्रय हैं। तात ! तुम सब प्रकार उन्हीं परमात्माकी शरण लो ॥ २७ ॥ तुम पाँच वर्षकी ही अवस्थामें अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर माकी गोद छोड़कर वनको चले गये थे। वहाँ तपस्याद्वारा जिन हृषीकेश भगवान्की आराधना करके तुमने त्रिलोकीसे ऊपर ध्रुवपद प्राप्त किया है और जो तुम्हारे वैरभावहीन सरल हृदयमें वात्सल्यवश विशेषरूपसे विराजमान हुए थे, उन निर्गुण अद्वितीय अविनाशी और नित्यमुक्त परमात्माको अध्यात्मदृष्टिसे अपने अन्तःकरणमें ढूँढ़ो। उनमें यह भेदभावमय प्रपञ्च न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है ॥ २८-२९ ॥ ऐसा करनेसे सर्वशक्तिसम्पन्न परमानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी भगवान् अनन्तमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभावसे तुम मैं-मेरेपनके रूपमें दृढ़ हुई अविद्याकी गाँठको काट डालोगे ॥३०॥

राजन् ! जिस प्रकार ओषधिसे रोग शान्त किया जाता है—उसी प्रकार मैंने तुम्हें जो कुछ उपदेश दिया है, उसपर विचार करके अपने क्रोधको शान्त करो। क्रोध कल्याणमार्गका बड़ा ही विरोधी है। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ३१ ॥ क्रोधके वशीभूत हुए पुरुषसे सभी लोगोंको बड़ा भय होता है, इसलिये जो बुद्धिमान् पुरुष ऐसा चाहता है कि मुझसे किसी भी प्राणीको भय न हो और मुझे भी किसीसे भय न हो उसे क्रोधके वशमें कभी न होना चाहिये ॥ ३२ ॥ तुमने जो यह समझकर कि ये मेरे भाईके मारनेवाले हैं, इतने यक्षोंका संहार किया है, इससे तुम्हारे द्वारा भगवान् शंकरके सखा कुबेरजीका बड़ा अपराध हुआ है ॥३३॥

१. प्रा० पा०—मेवम० ।

तं प्रसादय वत्साशु संनत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
नं यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥३४॥
एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम् ।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥३५॥

इसलिये बेटा ! जबतक कि महापुरुषोंका तेज हमारे कुलको आक्रान्त नहीं कर लेता, इसके पहले ही विनम्र भाषण और विनयके द्वारा शीघ्र उन्हें प्रसन्न कर लो ॥३४॥

इस प्रकार स्वायम्भुव मनुने अपने पौत्र ध्रुवको शिक्षा दी । तब ध्रुवजीने उन्हें प्रणाम किया । इसके पश्चात् वे महर्षियोंके सहित अपने लोकको चले गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

ध्रुवजीको कुबेरका वरदान और विष्णुलोककी प्राप्ति

मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः ।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानोऽभ्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

धनद उवाच

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥ २ ॥
न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥ ३ ॥
अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि ।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ ॥ ४ ॥
तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ ५ ॥
भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् ।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्याऽऽत्ममायया ॥ ६ ॥
वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ध्रुवका क्रोध शान्त हो गया है और वे यक्षोंके वधसे निवृत्त हो गये हैं, यह जानकर भगवान् कुबेर वहाँ आये । उस समय यक्ष, चारण और किन्नरलोग उनकी स्तुति कर रहे थे । उन्हें देखते ही ध्रुवजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब कुबेरने कहा ॥ १ ॥

श्रीकुबेरजी बोले—शुद्धहृदय क्षत्रियकुमार ! तुमने अपने दादाके उपदेशसे ऐसा दुस्त्यज वैर त्याग दिया; इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २ ॥ वास्तवमें न तुमने यक्षोंको मारा है और न यक्षोंने तुम्हारे भाईको । समस्त जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशका कारण तो एकमात्र काल ही है ॥ ३ ॥ यह मैं-तू आदि मिथ्या-बुद्धि तो जीवको अज्ञानवश स्वप्नके समान शरीरादिको ही आत्मा माननेसे उत्पन्न होती है । इसीसे मनुष्यको बन्धन एवं दुःखादि विपरीत अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥ ध्रुव ! अब तुम जाओ, भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें । तुम संसारपाशसे मुक्त होनेके लिये सब जीवोंमें समदृष्टि रखकर सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीहरिका भजन करो । वे संसारपाशका छेदन करनेवाले हैं तथा संसारकी उत्पत्ति आदिके लिये अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्तिसे युक्त होकर भी वास्तवमें उससे रहित हैं । उनके चरणकमल ही सबके लिये भजन करने योग्य हैं ॥ ५-६ ॥ प्रियवर ! हमने सुना है, तुम सर्वदा भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंके समीप

१. प्रा० पा०—न च यावन्महातेजाः । २. प्रा० पा०—ध्रुवविजयो नाम दशमोऽध्यायः ।

वरं वराहोंऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम ॥ ७ ॥

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ ८ ॥
तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥
अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥१०॥
सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन्।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥११॥
तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम्।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥१२॥
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम्।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥१३॥
एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम् ॥१४॥
मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।
अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥१५॥
आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥१६॥

रहनेवाले हो; इसलिये तुम अवश्य ही वर पानेयोग्य हो। ध्रुव ! तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो, मुझसे निःसङ्कोच एवं निःशङ्क होकर माँग लो ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! यक्षराज कुबेरने जब इस प्रकार वर माँगनेके लिये आग्रह किया, तब महाभागवत महामति ध्रुवजीने उनसे यही माँगा कि मुझे श्रीहरिकी अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसारसागरको पार कर जाता है ॥८॥ इडविडाके पुत्र कुबेरजीने बड़े प्रसन्न मनसे उन्हें भगवत्स्मृति प्रदान की। फिर उनके देखते-ही-देखते वे अन्तर्धान हो गये। इसके पश्चात् ध्रुवजी भी अपनी राजधानीको लौट आये ॥ ९ ॥ वहाँ रहते हुए उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना की, भगवान् ही द्रव्य, क्रिया और देवता-सम्बन्धी समस्त कर्म और उसके फल हैं तथा वे ही कर्मफलके दाता भी हैं ॥ १० ॥ सर्वोपाधिशून्य सर्वात्मा श्रीअच्युतमें प्रबल वेगयुक्त भक्तिभाव रखते हुए ध्रुवजी अपनेमें और समस्त प्राणियोंमें सर्वव्यापक श्रीहरिको ही विराजमान देखने लगे ॥ ११ ॥ ध्रुवजी बड़े ही शीलसम्पन्न, ब्राह्मणभक्त, दीनवत्सल और धर्ममर्यादाके रक्षक थे; उनकी प्रजा उन्हें साक्षात् पिताके समान मानती थी ॥ १२ ॥ इस प्रकार तरह-तरहके ऐश्वर्यभोगसे पुण्यका और भोगोंके त्यागपूर्वक यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे पापका क्षय करते हुए उन्होंने छत्तीस हजार वर्षतक पृथ्वीका शासन किया ॥ १३ ॥ जितेन्द्रिय महात्मा ध्रुवने इसी तरह अर्थ-धर्म और कामके सम्पादनमें बहुत-से वर्ष बिताकर अपने पुत्र उत्कलको राजसिंहासन सौंप दिया ॥ १४ ॥ इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको अविद्यारचित स्वप्न और गन्धर्व-नगरके समान मायासे अपनेमें ही कल्पित मानकर और यह समझकर कि शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, भरा-पूरा खजाना, जनाने महल, सुरम्य विहारभूमि और समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य—ये सभी कालके गालमें पड़े हुए हैं, वे बदरिकाश्रमको चले गये ॥ १५-१६ ॥

१. प्रा० पा०—वराहोंस्त्वज०।

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य

बद्ध्वाऽऽसनं जितमरुन्मनसाऽऽहृताक्षः ।

स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्

ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ ॥१७॥

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-

मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।

विक्लिद्यमानहृदयःपुलकाचिंताङ्गो

नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥१८॥

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः ।

विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम् ॥१९॥

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ

श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ ।

स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ

किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥२०॥

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-

वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः ।

ननाम नामानि गृणन्मधुद्विपः

पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः ॥२१॥

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं

बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम् ।

सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं

प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ ॥२२॥

सुनन्दनँन्दावूचतुः

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाँचं नोऽवहितःशृणु ।

वहाँ उन्होंने पवित्र जलमें स्नानकर इन्द्रियोंको विशुद्ध (शान्त) किया । फिर स्थिर आसनसे बैठकर प्राणायामद्वारा वायुको वशमें किया । तदनन्तर मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनको भगवान्के स्थूल विराट्स्वरूपमें स्थिर कर दिया । उसी विराट्रूपका चिन्तन करते-करते वे अन्तमें ध्याता और ध्येयके भेदसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें लीन हो गये और उस अवस्थामें विराट्रूपका भी परित्याग कर दिया ॥ १७ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीहरिके प्रति निरन्तर भक्तिभावका प्रवाह चलते रहनेसे उनके नेत्रोंमें बार-बार आनन्दाश्रुओंकी बाढ़-सी आ जाती थी । इससे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और शरीरमें रोमाञ्च हो आया । फिर देहाभिमान गलित हो जानेसे उन्हें 'मैं ध्रुव हूँ' इसकी स्मृति भी न रही ॥ १८ ॥

इसी समय ध्रुवजीने आकाशसे एक बड़ा ही सुन्दर विमान उतरते देखा । वह अपने प्रकाशसे दसों दिशाओंको आलोकित कर रहा था, मानो पूर्णिमाका चन्द्र ही उदय हुआ हो ॥ १९ ॥ उसमें दो श्रेष्ठ पार्षद गदाओंका सहारा लिये खड़े थे । उनके चार भुजाएँ थीं, सुन्दर श्याम शरीर था, किशोर अवस्था थी और अरुण कमलके समान नेत्र थे । वे सुन्दर वस्त्र, किरीट, हार, भुजबन्ध और अति मनोहर कुण्डल धारण किये हुए थे ॥ २० ॥ उन्हें पुण्यश्लोक श्रीहरिके सेवक जान ध्रुवजी हड़बड़ाहटमें पूजा आदिका क्रम भूलकर सहसा खड़े हो गये और ये भगवान्के पार्षदोंमें प्रधान हैं—ऐसा समझकर उन्होंने श्रीमधुसूदनके नामोंका कीर्तन करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ २१ ॥ ध्रुवजीका मन भगवान्के चरणकमलोंमें तल्लीन हो गया और वे हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे सिर नीचा किये खड़े रह गये । तब श्रीहरिके प्रिय पार्षद सुनन्द और नन्दने उनके पास जाकर मुसकराते हुए कहा ॥ २२ ॥

सुनन्द और नन्द कहने लगे—राजन् ! आपका कल्याण हो, आप सावधान होकर हमारी बात सुनिये ।

१. प्रा० पा०—कान्विता । २. प्रा० पा०—मुक्तसङ्गः । ३. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ४. प्रा० पा०—वाचो ।

यः[1] पञ्चवर्षस्तपसा भवान्देवमतीतृपत् ॥२३॥
तस्याखिलजगद्धातुरा[2]वां देवस्य शार्ङ्गिणः।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्प[3]दम् ॥२४॥
सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम्।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम् ॥२५॥
अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित्।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६॥
एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि ॥२७॥

आपने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही तपस्या करके सर्वेश्वर भगवान्‌को प्रसन्न कर लिया था ॥ २३ ॥ हम उन्हीं निखिलजगन्नियन्ता शार्ङ्गपाणि भगवान् विष्णुके सेवक हैं और आपको भगवान्‌के धाममें ले जानेके लिये यहाँ आये हैं ॥ २४ ॥ आपने अपनी भक्तिके प्रभावसे विष्णुलोकका अधिकार प्राप्त किया है, जो औरोंके लिये बड़ा दुर्लभ है । परमज्ञानी सप्तर्षि भी वहाँतक नहीं पहुँच सके, वे नीचेसे केवल उसे देखते रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण भी उसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं । चलिये, आप उसी विष्णुधाममें निवास कीजिये ॥ २५ ॥ प्रियवर ! आजतक आपके पूर्वज तथा और कोई भी उस पदपर कभी नहीं पहुँच सके। भगवान् विष्णुका वह परमधाम सारे संसारका वन्दनीय है, आप वहाँ चलकर विराजमान हों ॥ २६ ॥ आयुष्मन् ! यह श्रेष्ठ विमान पुण्यश्लोकशिखामणि श्रीहरिने आपके लिये ही भेजा है, आप इसपर चढ़ने योग्य हैं ॥ २७ ॥

मैत्रेय उवाच

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः।
कृताभिषेकः कृत[4]नित्यमङ्गलो
मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत् ॥२८॥
परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥२९॥
त[5]दोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥३०॥
तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः ॥३१॥
स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां या[6]स्ये त्रिविष्टपम् ॥३२॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्‌के प्रमुख पार्षदोंके ये अमृतमय वचन सुनकर परम भागवत ध्रुवजीने स्नान किया, फिर सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो माङ्गलिक अलङ्कारादि धारण किये । बदरिकाश्रममें रहनेवाले मुनियोंको प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लिया ॥ २८ ॥ इसके बाद उस श्रेष्ठ विमानकी पूजा और प्रदक्षिणा की और पार्षदोंको प्रणाम कर सुवर्णके समान कान्तिमान् दिव्य रूप धारण करके उसपर चढ़नेको तैयार हुए ॥ २९ ॥ इतनेमें ही ध्रुवजीने देखा कि काल मूर्तिमान् होकर उनके सामने खड़ा है । तब वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर उस अद्भुत विमानपर चढ़ गये ॥ ३० ॥ उस समय आकाशमें दुन्दुभि, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजे बजने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्व गान करने लगे और फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३१ ॥

विमानपर बैठकर ध्रुवजी ज्यों ही भगवान्‌के धामको जानेके लिये तैयार हुए, त्यों ही उन्हें अपनी माता सुनीतिका स्मरण हो आया। वे सोचने लगे, 'क्या मैं बेचारी माताको छोड़कर अकेला ही दुर्लभ वैकुण्ठधामको जाऊँगा ?' ॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—यं । २. प्रा० पा०—द्धातुर्देवदेवस्य । ३. प्रा० पा०—वत्पुरम् । ४. प्रा० पा०—कृतकृत्यम० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'तदोत्तान'…'से लेकर'…'गृहम्' तक पूरा श्लोक नहीं है । ६. प्रा० पा०—यास्यन् ।

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ॥३३॥
तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः ।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥३४॥
त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि ।
परस्ताद्यद् ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात् ॥३५॥
यद् भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते ।
यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥३६॥
शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥३७॥
इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः ।
अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः ॥३८॥
गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥३९॥
महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः ।
आतोद्यं वितुदञ् श्लोकान् सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥४०॥

नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥४१॥
यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता ।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम् ॥४२॥

नन्द और सुनन्दने ध्रुवके हृदयकी बात जानकर उन्हें दिखलाया कि देवी सुनीति आगे-आगे दूसरे विमानपर जा रही हैं ॥ ३३ ॥ उन्होंने क्रमशः सूर्य आदि सभी ग्रह देखे; मार्गमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर बैठे हुए देवता उनकी प्रशंसा करते हुए फूलोंकी वर्षा करते जाते थे ॥ ३४ ॥ उस दिव्य विमानपर बैठकर ध्रुवजी त्रिलोकीको पारकर सप्तर्षिमण्डलसे भी ऊपर भगवान् विष्णुके नित्यधाममें पहुँचे । इस प्रकार उन्होंने अविचल गति प्राप्त की ॥ ३५ ॥ यह दिव्य धाम अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है, इसीके प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित हैं । इसमें जीवोंपर निर्दयता करनेवाले पुरुष नहीं जा सकते । यहाँ तो उन्हींकी पहुँच होती है जो दिन-रात प्राणियोंके कल्याणके लिये शुभ कर्म ही करते रहते हैं ॥ ३६ ॥ जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध और सब प्राणियोंको प्रसन्न रखनेवाले हैं तथा भगवद्भक्तोंको ही अपना एकमात्र सच्चा सुहृद् मानते हैं—ऐसे लोग सुगमतासे ही इस भगवद्धामको प्राप्त कर लेते हैं ॥३७॥

इस प्रकार उत्तानपादके पुत्र भगवत्परायण श्रीध्रुवजी तीनों लोकोंके ऊपर उसकी निर्मल चूडामणिके समान विराजमान हुए ॥ ३८ ॥ कुरुनन्दन ! जिस प्रकार दायँ चलानेके समय खंभेके चारों ओर बैल घूमते हैं, उसी प्रकार यह गम्भीर वेगवाला ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी लोकके आश्रय ही निरन्तर घूमता रहता है ॥ ३९ ॥ उसकी महिमा देखकर देवर्षि नारदने प्रचेताओंकी यज्ञशालामें वीणा बजाकर ये तीन श्लोक गाये थे ॥४०॥

नारदजीने कहा था—इसमें संदेह नहीं, पतिपरायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवने तपस्याद्वारा अद्भुत शक्ति संचित करके जो गति पायी है, उसे भागवतधर्मोंकी आलोचना करके वेदवादी मुनिगण भी नहीं पा सकते; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है ॥ ४१ ॥ अहो ! वे पाँच वर्षकी अवस्थामें ही सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर दुखी हृदयसे वनमें चले गये और मेरे उपदेशके अनुसार आचरण करके ही उन अजेय प्रभुको जीत लिया, जो केवल अपने भक्तोंके गुणोंसे ही वशमें होते हैं ॥४२॥

१. प्रा० पा०—विभ्रा० । २. प्रा० पा०—ये वत्सला जन्तुषु येष्वनुग्रहं । ३. प्रा० पा०—रञ्जकाः । ४. प्रा० पा०—मर्पितम् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—विभुं । ७. प्रा० पा०—तद्भक्तगणैः ।

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः ।
षट्[1]पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम् ॥४३॥

ध्रुवजीने तो पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें कुछ दिनोंकी तपस्यासे ही भगवान्‌को प्रसन्न करके उनका परमपद प्राप्त कर लिया; किंतु उनके अधिकृत किये हुए इस पदको भूमण्डलमें कोई दूसरा क्षत्रिय क्या वर्षोंतक तपस्या करके भी पा सकता है ? ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् ॥४४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥४५॥
[2]श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् ।
भवेद्भक्तिर्भगवति यया[3] स्यात्क्लेशसंक्षयः ॥४६॥
महत्त्वमिच्छ[4]तां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः ।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम् ॥४७॥
प्रयतः कीर्तयेत्प्रातः समवाये द्विजन्मनाम् ।
सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥४८॥
पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा ।
दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि[5] वा ॥४९॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रयः ।
नेच्छंस्तत्रात्मनाऽऽत्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति ॥५०॥
ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम् ।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते[6] ॥५१॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! तुमने मुझसे उदारकीर्ति ध्रुवजीके चरित्रके विषयमें पूछा था, सो मैंने तुम्हें वह पूरा-का-पूरा सुना दिया । साधुजन इस चरित्रकी बड़ी प्रशंसा करते हैं ॥४४॥ यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, परम पवित्र और अत्यन्त मङ्गलमय है । इससे स्वर्ग और अविनाशी पद भी प्राप्त हो सकता है । यह देवत्वकी प्राप्ति करानेवाला, बड़ा ही प्रशंसनीय और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४५ ॥ भगवद्भक्त ध्रुवके इस पवित्र चरित्रको जो श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनते हैं, उन्हें भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है, जिससे उनके सभी दुःखोंका नाश हो जाता है ॥ ४६ ॥ इसे श्रवण करनेवालेको शीलादि गुणोंकी प्राप्ति होती है, जो महत्त्व चाहते हैं, उन्हें महत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला स्थान मिलता है, जो तेज चाहते हैं, उन्हें तेज प्राप्त होता है और मनस्वियोंका मान बढ़ता है ॥ ४७ ॥ पवित्रकीर्ति ध्रुवजीके इस महान् चरित्रका प्रातः और सायंकाल ब्राह्मणादि द्विजातियोंके समाजमें एकाग्र चित्तसे कीर्तन करना चाहिये ॥४८॥ भगवान्‌के परम पवित्र चरणोंकी शरणमें रहनेवाला जो पुरुष इसे निष्कामभावसे पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र, तिथिक्षय, व्यतीपात, संक्रान्ति अथवा रविवारके दिन श्रद्धालु पुरुषोंको सुनाता है, वह स्वयं अपने आत्मामें ही संतुष्ट रहने लगता है और सिद्ध हो जाता है ॥ ४९-५० ॥ यह साक्षात् भगवद्विषयक अमृतमय ज्ञान है; जो लोग भगवन्मार्गके मर्मसे अनभिज्ञ हैं—उन्हें जो कोई इसे प्रदान करता है, उस दीनवत्सल कृपालु पुरुषपर देवता अनुग्रह करते हैं ॥ ५१ ॥

---

१. प्रा० पा०—यत्पञ्च० । २. प्रा० पा०—श्रुत्वेमं श्रद्ध० । ३. प्रा० पा०—यस्य । ४. प्रा० पा०—च्छतोऽप्यर्थं श्रोतुः । ५. प्रा० पा०—ऽथवा । ६. प्रा० पा०—द्याच्छुद्धधीमते ।

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः ।
हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु-
र्गृहं च विष्णुं शरणं यो[1] जगाम ॥५२॥

ध्रुवजीके कर्म सर्वत्र प्रसिद्ध और परम पवित्र हैं; वे अपनी बाल्यावस्थामें ही माताके घर और खिलौनोंका मोह छोड़कर श्रीविष्णुभगवान्‌की शरणमें चले गये थे। कुरुनन्दन! उनका यह पवित्र चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
ध्रुव[2]चरितं नाम द्वा[3]दशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ध्रुववंशका वर्णन, राजा अङ्गका चरित्र

सूत उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥ १ ॥

विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत ।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥ २ ॥
मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम् ।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥ ३ ॥
स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः ।
इज्यमानो भ[4]क्तिमता नारदेनेरितः किल ॥ ४ ॥
यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः ।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् ।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ॥ ६ ॥
स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः ।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥ ७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी! श्रीमैत्रेय मुनिके मुखसे ध्रुवजीके विष्णुपदपर आरूढ़ होनेका वृत्तान्त सुनकर विदुरजीके हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्तिका उद्रेक हो आया और उन्होंने फिर मैत्रेयजीसे प्रश्न करना आरम्भ किया ॥ १ ॥

विदुरजीने पूछा—भगवत्परायण मुने! ये प्रचेता कौन थे? किसके पुत्र थे? किसके वंशमें प्रसिद्ध थे और इन्होंने कहाँ यज्ञ किया था? ॥ २ ॥ भगवान्‌के दर्शनसे कृतार्थ नारदजी परम भागवत हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। उन्होंने पाञ्चरात्रका निर्माण करके श्रीहरिकी पूजापद्धतिरूप क्रियायोगका उपदेश किया है ॥ ३ ॥ जिस समय प्रचेतागण स्वधर्मका आचरण करते हुए भगवान् यज्ञेश्वरकी आराधना कर रहे थे, उसी समय भक्तप्रवर नारदजीने ध्रुवका गुणगान किया था ॥ ४ ॥ ब्रह्मन्! उस स्थानपर उन्होंने भगवान्‌की जिन-जिन लीला-कलाओंका वर्णन किया था, वे सब पूर्णरूपसे मुझे सुनाइये; मुझे उनके सुननेकी बड़ी इच्छा है ॥५॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! महाराज ध्रुवके वन चले जानेपर उनके पुत्र उत्कलने अपने पिताके सार्वभौम वैभव और राजसिंहासनको अस्वीकार कर दिया ॥ ६ ॥ वह जन्मसे ही शान्तचित्त, आसक्तिशून्य और समदर्शी था तथा सम्पूर्ण लोकोंको अपनी आत्मामें और अपनी आत्माको सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित देखता था ॥७॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'यो' नहीं है। २. प्रा० पा०—ध्रुवारोहणं। ३. प्रा० पा०—एकादशो०। ४. प्रा० पा०—भगवता।

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम् ।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८ ॥
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥ ९ ॥
जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः ॥१०॥
मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥११॥

उसके अन्तःकरणका वासनारूप मल अखण्ड योगाग्निसे भस्म हो गया था । इसलिये वह अपनी आत्माको विशुद्ध बोधरसके साथ अभिन्न, आनन्दमय और सर्वत्र व्याप्त देखता था । सब प्रकारके भेदसे रहित प्रशान्त ब्रह्मको ही वह अपना स्वरूप समझता था तथा अपनी आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं देखता था ॥८-९॥ वह अज्ञानियोंको रास्ते आदि साधारण स्थानोंमें बिना लपटकी आगके समान मूर्ख, अंधा, बहिरा, पागल अथवा गूँगा-सा प्रतीत होता था—वास्तवमें ऐसा था नहीं ॥१०॥ इसलिये कुलके बड़े-बूढ़े तथा मन्त्रियोंने उसे मूर्ख और पागल समझकर उसके छोटे भाई भ्रमिपुत्र वत्सरको राजा बनाया ॥ ११ ॥

स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान् ।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥१२॥
पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः ॥१३॥
प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥१४॥
स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥१५॥
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् ।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥१६॥
उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान् ।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥१७॥
सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यदौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥१८॥
यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल ।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥१९॥
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥२०॥

वत्सरकी प्रेयसी भार्या स्वर्वीथिके गर्भसे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय नामके छः पुत्र हुए ॥ १२ ॥ पुष्पार्णके प्रभा और दोषा नामकी दो स्त्रियाँ थीं; उनमेंसे प्रभाके प्रातः, मध्यन्दिन और सायं—ये तीन पुत्र हुए ॥ १३ ॥ दोषाके प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट—ये तीन पुत्र हुए । व्युष्टने अपनी भार्या पुष्करिणीसे सर्वतेजा नामका पुत्र उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ उसकी पत्नी आकूतिसे चक्षुः नामक पुत्र हुआ । चाक्षुष मन्वन्तरमें वही मनु हुआ । चक्षु मनुकी स्त्री नड्वलासे पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि और उल्मुक—ये बारह सत्त्वगुणी बालक उत्पन्न हुए ॥ १५-१६ ॥ इनमें उल्मुकने अपनी पत्नी पुष्करिणीसे अङ्ग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अङ्गिरा और गय—ये छः उत्तम पुत्र उत्पन्न किये ॥ १७ ॥ अङ्गकी पत्नी सुनीथाने क्रूरकर्मा वेनको जन्म दिया, जिसकी दुष्टतासे उद्विग्न होकर राजर्षि अङ्ग नगर छोड़कर चले गये थे ॥ १८ ॥ प्यारे विदुरजी ! मुनियोंके वाक्य वज्रके समान अमोघ होते हैं; उन्होंने कुपित होकर वेनको शाप दिया और जब वह मर गया तब कोई राजा न रहनेके कारण लोकमें लुटेरोंके द्वारा प्रजाको बहुत कष्ट होने लगा । यह देखकर उन्होंने वेनकी दाहिनी भुजाका मन्थन किया, जिससे भगवान् विष्णुके अंशावतार आदिसम्राट् महाराज पृथु प्रकट हुए ॥ १९-२० ॥

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः ।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥२१॥
किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन् ।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥२२॥
नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि ।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा ॥२३॥
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम् ।
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥२४॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम् ।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥२५॥
तमूचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः ।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥२६॥
राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयाऽऽसादितानि ते ।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥२७॥
न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि ।
यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः ।
तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥२९॥
नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह ।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥३०॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! महाराज अङ्ग तो बड़े शीलसम्पन्न, साधुस्वभाव, ब्राह्मण-भक्त और महात्मा थे । उनके वेन-जैसा दुष्ट पुत्र कैसे हुआ, जिसके कारण दुखी होकर उन्हें नगर छोड़ना पड़ा ॥ २१ ॥ राजदण्डधारी वेनका भी ऐसा क्या अपराध था, जो धर्मज्ञ मुनीश्वरोंने उसके प्रति शापरूप ब्रह्मदण्डका प्रयोग किया ॥ २२ ॥ प्रजाका कर्तव्य है कि वह प्रजापालक राजासे कोई पाप बन जाय तो भी उसका तिरस्कार न करे; क्योंकि वह अपने प्रभावसे आठ लोकपालोंके तेजको धारण करता है ॥ २३ ॥ ब्रह्मन् ! आप भूत-भविष्यकी बातें जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिये आप मुझे सुनीथाके पुत्र वेनकी सब करतूतें सुनाइये । मैं आपका श्रद्धालु भक्त हूँ ॥ २४ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! एक बार राजर्षि अङ्गने अश्वमेध-महायज्ञका अनुष्ठान किया । उसमें वेदवादी ब्राह्मणोंके आवाहन करनेपर भी देवतालोग अपना भाग लेने नहीं आये ॥ २५ ॥ तब ऋत्विजोंने विस्मित होकर यजमान अङ्गसे कहा—'राजन् ! हम आहुतियोंके रूपमें आपका जो घृत आदि पदार्थ हवन कर रहे हैं, उसे देवतालोग स्वीकार नहीं करते ॥२६॥ हम जानते हैं आपकी होम-सामग्री दूषित नहीं है; आपने उसे बड़ी श्रद्धासे जुटाया है तथा वेदमन्त्र भी किसी प्रकार बलहीन नहीं हैं; क्योंकि उनका प्रयोग करनेवाले ऋत्विजगण याजकोचित सभी नियमोंका पूर्णतया पालन करते हैं ॥ २७ ॥ हमें ऐसी कोई बात नहीं दीखती कि इस यज्ञमें देवताओंका किञ्चित् भी तिरस्कार हुआ है—फिर भी कर्माध्यक्ष देवतालोग क्यों अपना भाग नहीं ले रहे हैं ?' ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ऋत्विजोंकी बात सुनकर यजमान अङ्ग बहुत उदास हुए । तब उन्होंने याजकोंकी अनुमतिसे मौन तोड़कर सदस्योंसे पूछा ॥ २९ ॥ 'सदस्यो ! देवतालोग आवाहन करनेपर भी यज्ञमें नहीं आ रहे हैं और न सोमपात्र ही ग्रहण करते हैं; आप बतलाइये, मुझसे ऐसा क्या अपराध हुआ है ? ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—तदूचु० ।

सदसस्पतय ऊचुः

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः ॥३१॥
तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥३२॥
तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः ।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः ॥३३॥
तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः ।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः ॥३४॥
इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये ।
पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे ॥३५॥
तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः ।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम् ॥३६॥
स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् ।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः ॥३७॥
सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे ।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा ॥३८॥
स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥३९॥
स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥४०॥

सदस्योंने कहा—राजन् ! इस जन्ममें तो आपसे तनिक भी अपराध नहीं हुआ; हाँ, पूर्वजन्मका एक अपराध अवश्य है, जिसके कारण आप ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न होनेपर भी पुत्रहीन हैं ॥ ३१ ॥ आपका कल्याण हो ! इसलिये पहले आप सुपुत्र प्राप्त करनेका कोई उपाय कीजिये । यदि आप पुत्रकी कामनासे यज्ञ करेंगे तो भगवान् यज्ञेश्वर आपको अवश्य पुत्र प्रदान करेंगे ॥ ३२ ॥ जब संतानके लिये साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीहरिका आवाहन किया जायगा, तब देवतालोग स्वयं ही अपना-अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करेंगे ॥ ३३ ॥ भक्त जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, श्रीहरि उसे वही-वही पदार्थ देते हैं । उनकी जिस प्रकार आराधना की जाती है, उसी प्रकार उपासकको फल भी मिलता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार राजा अङ्गको पुत्रप्राप्ति करानेका निश्चय कर ऋत्विजोंने पशुमें यज्ञरूपसे रहनेवाले श्रीविष्णुभगवान्-के पूजनके लिये पुरोडाश नामक चरु समर्पण किया ॥ ३५ ॥ अग्निमें आहुति डालते ही अग्निकुण्डसे सोनेके हार और शुभ्र वस्त्रोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुए; वे एक स्वर्णपात्रमें सिद्ध खीर लिये हुए थे ॥ ३६ ॥ उदारबुद्धि राजा अङ्गने याजकोंकी अनुमतिसे अपनी अञ्जलिमें वह खीर ले ली और उसे स्वयं सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नीको दे दिया ॥ ३७ ॥ पुत्रहीना रानीने वह पुत्रप्रदायिनी खीर खाकर अपने पतिके सहवाससे गर्भ धारण किया । उससे यथासमय उसके एक पुत्र हुआ ॥ ३८ ॥ वह बालक बाल्यावस्थासे ही अधर्मके वंशमें उत्पन्न हुए अपने नाना मृत्युका अनुगामी था (सुनीथा मृत्युकी ही पुत्री थी), इसलिये वह भी अधार्मिक ही हुआ ॥ ३९ ॥

वह दुष्ट बालक धनुष-बाण चढ़ाकर वनमें जाता और व्याधेके समान बेचारे भोले-भाले हरिणोंकी हत्या करता । उसे देखते ही पुरवासीलोग 'वेन आया ! वेन आया !' कहकर पुकार उठते ॥ ४० ॥

१. प्रा० पा०—भवता चावद्यं किं क्रियान्वितम् । २. प्रा० पा०—प्राक्तनावद्यम् । ३. प्रा० पा०—यावत्पुंस० ।

आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः ।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत् ॥४१॥

वह ऐसा क्रूर और निर्दयी था कि मैदानमें खेलते हुए अपनी बराबरीके बालकोंको पशुओंकी भाँति बलात्कारसे मार डालता ॥ ४१ ॥

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः ।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः ॥४२॥

वेनकी ऐसी दुष्ट प्रकृति देखकर महाराज अङ्गने उसे तरह-तरहसे सुधारनेकी चेष्टा की; परंतु वे उसे सुमार्गपर लानेमें समर्थ न हुए । इससे उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ ॥ ४२ ॥

प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः ।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम् ॥४३॥

(वे मन-ही-मन कहने लगे—) 'जिन गृहस्थोंके पुत्र नहीं हैं, उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्ममें श्रीहरिकी आराधना की होगी; इसीसे उन्हें कुपूतकी करतूतोंसे होनेवाले असह्य क्लेश नहीं सहने पड़ते ॥ ४३ ॥

यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम् ।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः ॥४४॥
कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः ।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः ॥४५॥

जिसकी करनीसे माता-पिताका सारा सुयश मिट्टीमें मिल जाय, उन्हें अधर्मका भागी होना पड़े, सबसे विरोध हो जाय, कभी न छूटनेवाली चिन्ता मोल लेनी पड़े और घर भी दुःखदायी हो जाय—ऐसी नाममात्रकी संतानके लिये कौन समझदार पुरुष ललचावेगा? वह तो आत्माके लिये एक प्रकारका मोहमय बन्धन ही है ॥ ४४-४५ ॥

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥४६॥

मैं तो सपूतकी अपेक्षा कुपूतको ही अच्छा समझता हूँ; क्योंकि सपूतको छोड़नेमें बड़ा क्लेश होता है । कुपूत घरको नरक बना देता है, इसलिये उससे सहज ही छुटकारा हो जाता है !' ॥ ४६ ॥

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥४७॥

इस प्रकार सोचते-सोचते महाराज अङ्गको रातमें नींद नहीं आयी । उनका चित्त गृहस्थीसे विरक्त हो गया । वे आधी रातके समय बिछौनेसे उठे । इस समय वेनकी माता नींदमें बेसुध पड़ी थी । राजाने सबका मोह छोड़ दिया और उसी समय किसीको भी मालूम न हो, इस प्रकार चुपचाप उस महान् ऐश्वर्यसे भरे राजमहलसे निकलकर वनको चल दिये ॥ ४७ ॥

विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥४८॥

महाराज विरक्त होकर घरसे निकल गये हैं, यह जानकर सभी प्रजाजन पुरोहित, मन्त्री और सुहृद्गण आदि अत्यन्त शोकाकुल होकर पृथ्वीपर उनकी खोज करने लगे । ठीक वैसे ही जैसे योगका यथार्थ रहस्य न जाननेवाले पुरुष अपने हृदयमें छिपे हुए भगवान्‌को बाहर खोजते हैं ॥ ४८ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'बालान्वयस्यानतिदारुणः ।' इतना अंश खण्डित है । २. प्रा० पा०—त्यश्रितं ।

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम् ।
ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम् ॥४९॥

जब उन्हें अपने स्वामीका कहीं पता न लगा, तब वे निराश होकर नगरमें लौट आये और वहाँ जो मुनिजन एकत्रित हुए थे, उन्हें यथावत् प्रणाम करके उन्होंने आँखोंमें आँसू भरकर महाराजके न मिलनेका वृत्तान्त सुनाया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

राजा वेनकी कथा

मैत्रेय उवाच

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः ।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम् ॥ १ ॥
वीर मातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः ।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः ॥ २ ॥
श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम् ।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वीरवर विदुरजी ! सभी लोकोंकी कुशल चाहनेवाले भृगु आदि मुनियोंने देखा कि अङ्गके चले जानेसे अब पृथ्वीकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं रह गया है, सब लोग पशुओंके समान उच्छृङ्खल होते जा रहे हैं ॥ १ ॥ तब उन्होंने माता सुनीथाकी सम्मतिसे, मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनको भूमण्डलके राजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥२॥ वेन बड़ा कठोर शासक था । जब चोर-डाकुओंने सुना कि वही राजसिंहासनपर बैठा है, तब सर्पसे डरे हुए चूहोंके समान वे सब तुरंत ही जहाँ-तहाँ छिप गये ॥ ३ ॥

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः॥ ४ ॥
एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः ।
पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥ ५ ॥
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्[1] ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः[2] ॥ ६ ॥

राज्यासन पानेपर वेन आठों लोकपालोंकी ऐश्वर्यकलाके कारण उन्मत्त हो गया और अभिमानवश अपनेको ही सबसे बड़ा मानकर महापुरुषोंका अपमान करने लगा ॥ ४ ॥ वह ऐश्वर्यमदसे अंधा हो रथपर चढ़कर निरङ्कुश गजराजके समान पृथ्वी और आकाशको कँपाता हुआ सर्वत्र विचरने लगा ॥ ५ ॥ 'कोई भी द्विजातिवर्णका पुरुष कभी किसी प्रकारका यज्ञ, दान और हवन न करे' अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवाकर उसने सारे धर्म-कर्म बंद करवा दिये ॥ ६ ॥

वेनस्यावेक्ष्य[3] मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् ।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स सत्रिणः[4] ॥ ७ ॥

दुष्ट वेनका ऐसा अत्याचार देख सारे ऋषि-मुनि एकत्र हुए और संसारपर संकट आया समझकर करुणा-

१. प्रा० पा०—यस्तु ऋषयो । २. प्रा० पा०—सर्वतः । ३. प्रा० पा०—वेत्य । ४. प्रा० पा०—मन्त्रिणः ।

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्।
दारुण्युभयतो दीप्ते इव तस्करपालयोः ॥ ८ ॥
अराजकभयादेष[1] कृतो राजातदर्हणः।
ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम्॥९॥
अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत्[2]।
वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः ॥१०॥
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः।
तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत्॥११॥
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः।
सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत्॥१२॥
लोकधिक्कारसन्दग्धं[3] दहिष्यामः स्वतेजसा।
एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः।
उपव्रज्याब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वा च[4] सामभिः ॥१३॥

मुनय[5] ऊचुः

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः।
आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥१४॥
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः[6]।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् १५
स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।
यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥१६॥
राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः।

वश आपसमें कहने लगे ॥ ७ ॥ 'अहो ! जैसे दोनों ओर जलती हुई लकड़ीके बीचमें रहनेवाले चींटी आदि जीव महान् सङ्कटमें पड़ जाते हैं, वैसे ही इस समय सारी प्रजा एक ओर राजाके और दूसरी ओर चोर-डाकुओंके अत्याचारसे महान् संकटमें पड़ रही है ॥ ८ ॥ हमने अराजकताके भयसे ही अयोग्य होनेपर भी वेनको राजा बनाया था; किंतु अब उससे भी प्रजाको भय हो गया। ऐसी अवस्थामें प्रजाको किस प्रकार सुख-शान्ति मिल सकती है ? ॥ ९ ॥ सुनीथाकी कोखसे उत्पन्न हुआ यह वेन स्वभावसे ही दुष्ट है। परंतु साँपको दूध पिलानेके समान इसको पालना पालनेवालोंके लिये अनर्थका कारण हो गया ॥ १० ॥ हमने इसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया था, यह आज उसीको नष्ट करनेपर तुला हुआ है। इतना सब होनेपर भी हमें इसे समझाना अवश्य चाहिये; ऐसा करनेसे इसके किये हुए पाप हमें स्पर्श नहीं करेंगे ॥ ११ ॥ हमने जान-बूझकर दुराचारी वेनको राजा बनाया था; किंतु यदि समझानेपर भी यह हमारी बात नहीं मानेगा, तो लोकके धिक्कारसे दग्ध हुए इस दुष्टको हम अपने तेजसे भस्म कर देंगे।' ऐसा विचार करके मुनिलोग वेनके पास गये और अपने क्रोधको छिपाकर उसे प्रिय वचनोंसे समझाते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ १२-१३ ॥

मुनियोंने कहा—राजन् ! हम आपसे जो बात कहते हैं, उसपर ध्यान दीजिये। इससे आपकी आयु, श्री, बल और कीर्तिकी वृद्धि होगी ॥ १४ ॥ तात ! यदि मनुष्य मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे, तो उसे स्वर्गादि शोकरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है। यदि उसका निष्कामभाव हो, तब तो वही धर्म उसे अनन्त मोक्षपदपर पहुँचा देता है ॥ १५ ॥ इसलिये वीरवर ! प्रजाका कल्याणरूप वह धर्म आपके कारण नष्ट नहीं होना चाहिये। धर्मके नष्ट होनेसे राजा भी ऐश्वर्यसे च्युत हो जाता है ॥ १६ ॥ जो राजा दुष्ट मन्त्री और चोर आदिसे अपनी प्रजाकी रक्षा करते हुए न्यायानुकूल कर लेता

१. प्रा० पा०—देव। २. प्रा० पा०—कृत्। ३. प्रा० पा०—दिग्धं। ४. प्रा० पा०—त्वाथ सा०। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' इतना अंश नहीं है। ६. प्रा० पा०—शुद्धिभिः।

रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥१७॥
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः¹ ॥१८॥
तस्य राज्ञो महाभाग² भगवान् भूतभावनः ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥१९॥
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे ।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः ॥२०॥
तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् ।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि ॥२१॥
यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः ।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं
तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम् ॥२२॥

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा³ अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥२३॥
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥२४॥
को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी ।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥२५॥
विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः ।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः ॥२६॥

हैं वह इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सुख पाता है ॥ १७ ॥ जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्मपालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, महाभाग ! अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे भगवान् प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंके रक्षक हैं ॥ १८-१९ ॥ भगवान् ब्रह्मादि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उनके प्रसन्न होनेपर कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती । तभी तो इन्द्रादि लोकपालोंके सहित समस्त लोक उन्हें बड़े आदरसे पूजोपहार समर्पण करते हैं ॥ २० ॥ राजन् ! भगवान् श्रीहरि समस्त लोक, लोकपाल और यज्ञोंके नियन्ता हैं; वे वेदत्रयीरूप, द्रव्यरूप और तपःस्वरूप हैं । इसलिये आपके जो देशवासी आपकी उन्नतिके लिये अनेक प्रकारके यज्ञोंसे भगवान्‌का यजन करते हैं, आपको उनके अनुकूल ही रहना चाहिये ॥ २१ ॥ जब आपके राज्यमें ब्राह्मणलोग यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे, तब उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान्‌के अंशस्वरूप देवता आपको मनचाहा फल देंगे । अतः वीरवर ! आपको यज्ञादि धर्मानुष्ठान बंद करके देवताओंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

वेनने कहा—तुमलोग बड़े मूर्ख हो ! खेद है, तुमने अधर्ममें ही धर्मबुद्धि कर रक्खी है । तभी तो तुम जीविका देनेवाले मुझ साक्षात् पतिको छोड़कर किसी दूसरे जारपतिकी उपासना करते हो ॥ २३ ॥ जो लोग मूर्खतावश राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं, उन्हें न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही ॥ २४ ॥ अरे ! जिसमें तुमलोगोंकी इतनी भक्ति है, वह यज्ञपुरुष है कौन ? यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कुलटा स्त्रियाँ अपने विवाहित पतिसे प्रेम न करके किसी परपुरुषमें आसक्त हो जायँ ॥ २५ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, कुबेर, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और वरुण तथा इनके

१. प्रा० पा०—श्रमात्मकैः । २. प्रा० पा०—राज । ३. प्रा० पा०—वै ।

एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः ।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥२७॥
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः ।
बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान् ॥२८॥

मैत्रेय[1] उवाच

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः ।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः ॥२९॥
इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना ।
भग्नायां भव्य याच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः ॥३०॥
हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः ।
जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम् ॥३१॥
नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम् ।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः ॥३२॥
को वै[2]नं परि[3]चक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम् ।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः ॥३३॥
इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः ।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ॥३४॥
ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम् ।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥३५॥
एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः ।
हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे ॥३६॥
वीक्ष्योत्थितांस्तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान् ।

अतिरिक्त जो दूसरे वर और शाप देनेमें समर्थ देवता हैं, वे सब-के-सब राजाके शरीरमें रहते हैं; इसलिये राजा सर्वदेवमय है और देवता उसके अंशमात्र हैं ॥ २६-२७ ॥ इसलिये ब्राह्मणो ! तुम मत्सरता छोड़कर अपने सभी कर्मोंद्वारा एक मेरा ही पूजन करो और मुझीको बलि समर्पण करो । भला, मेरे सिवा और कौन अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है ? ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वह अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हो गया था । उसका पुण्य क्षीण हो चुका था, इसलिये मुनियोंके बहुत विनयपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी उसने उनकी बातपर ध्यान न दिया ॥ २९ ॥ कल्याणरूप विदुर-जी ! अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझनेवाले वेनने जब उन मुनियोंका इस प्रकार अपमान किया, तब अपनी माँगको व्यर्थ हुई देख वे उसपर अत्यन्त कुपित हो गये ॥ ३० ॥ 'मार डालो ! इस स्वभावसे ही दुष्ट पापीको मार डालो ! यह यदि जीता रह गया तो कुछ ही दिनोंमें संसारको अवश्य भस्म कर डालेगा ॥ ३१ ॥ यह दुराचारी किसी प्रकार राज-सिंहासनके योग्य नहीं है; क्योंकि यह निर्लज्ज साक्षात् यज्ञपति श्रीविष्णुभगवान्‌की निन्दा करता है ॥ ३२ ॥ अहो ! जिनकी कृपासे इसे ऐसा ऐश्वर्य मिला, उन श्रीहरिकी निन्दा अभागे वेनको छोड़कर और कौन कर सकता है ?' ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अपने छिपे हुए क्रोधको प्रकट कर उन्होंने उसे मारनेका निश्चय कर लिया । वह तो भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण पहले ही मर चुका था, इसलिये केवल हुङ्कारोंसे ही उन्होंने उसका काम तमाम कर दिया ॥ ३४ ॥ जब मुनिगण अपने-अपने आश्रमोंको चले गये, तब इधर वेनकी शोकाकुला माता सुनीथा मन्त्रादिके बलसे तथा अन्य युक्तियोंसे अपने पुत्रके शवकी रक्षा करने लगी ॥ ३५ ॥

एक दिन वे मुनिगण सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नान कर अग्निहोत्रसे निवृत्त हो नदीके तीरपर बैठे हुए हरिचर्चा कर रहे थे ॥ ३६ ॥ उन दिनों लोकोंमें आतङ्क फैलानेवाले बहुत-से उपद्रव होते देखकर वे

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—भेजे । ३. प्रा० पा०—देवं । ४. प्रा० पा०—तं । ५. प्रा० पा०—परिरक्षेत । ६. प्रा० पा०—सरिस्वच्छजला० । ७. प्रा० पा०—भयान्तरान् ।

अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः ॥३७॥
एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम् ।
पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम् ॥३८॥
तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम् ।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥३९॥
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् ।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥४०॥
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥४१॥
नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति ।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः ॥४२॥
विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः ।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः ॥४३॥
काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः ।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः ॥४४॥
तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम् ।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत् ॥४५॥
तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः ।
येनाहरज्जायमानो[2] वेनकल्मषमुल्बणम् ॥४६॥

आपसमें कहने लगे, 'आजकल पृथ्वीका कोई रक्षक नहीं है; इसलिये चोर-डाकुओंके कारण उसका कुछ अमङ्गल तो नहीं होनेवाला है ?' ॥ ३७ ॥ ऋषिलोग ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने सब दिशाओंमें धावा करनेवाले चोरों और डाकुओंके कारण उठी हुई बड़ी भारी धूल देखी ॥ ३८ ॥ देखते ही वे समझ गये कि राजा वेनके मर जानेके कारण देशमें अराजकता फैल गयी है, राज्य शक्तिहीन हो गया है और चोर-डाकू बढ़ गये हैं; यह सारा उपद्रव लोगोंका धन लूटनेवाले तथा एक दूसरेके खूनके प्यासे लुटेरोंका ही है । अपने तेजसे अथवा तपोबलसे लोगोंको ऐसी कुप्रवृत्तिसे रोकनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा करनेमें हिंसादि दोष देखकर उन्होंने इसका कोई निवारण नहीं किया ॥ ३९-४० ॥ फिर सोचा कि 'ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव भी हो तो भी दीनोंकी उपेक्षा करनेसे उसका तप उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे फूटे हुए घड़ेमेंसे जल बह जाता है ॥ ४१ ॥ फिर राजर्षि अङ्गका वंश भी नष्ट नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसमें अनेक अमोघ-शक्ति और भगवत्परायण राजा हो चुके हैं' ॥ ४२ ॥ ऐसा निश्चय कर उन्होंने मृत राजाकी जाँघको बड़े जोरसे मथा तो उसमेंसे एक बौना पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ ४३ ॥ वह कौएके समान काला था; उसके सभी अङ्ग और खासकर भुजाएँ बहुत छोटी थीं, जबड़े बहुत बड़े, टाँगें छोटी, नाक चपटी, नेत्र लाल और केश ताँबेके-से रंगके थे ॥ ४४ ॥ उसने बड़ी दीनता और नम्रभावसे पूछा कि 'मैं क्या करूँ ?' तो ऋषियोंने कहा—'निषीद (बैठ जा) ।' इसीसे वह 'निषाद' कहलाया ॥ ४५ ॥ उसने जन्म लेते ही राजा वेनके भयंकर पापोंको अपने ऊपर ले लिया, इसीलिये उसके वंशधर नैषाद भी हिंसा, लूट-पाट आदि पापकर्मोंमें रत रहते हैं; अतः वे गाँव और नगरमें न टिककर वन और पर्वतोंमें ही निवास करते हैं ॥ ४६ ॥

इति[3] श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते निषादोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—भ्रुकुटीकुटिलाननः । २. प्रा० पा०—योऽपाहरज्जायमानो । ३. प्राचीन प्रतिमें 'इति श्री…'से आरम्भकर अगले अध्यायके 'मैत्रेय उवाच' तकका अंश नहीं है ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक

मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः ।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ १ ॥
तद् दृष्ट्वा[1] मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥ २ ॥

ऋषय ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।
इयं च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥ ३ ॥
अत्र तु प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥ ४ ॥
इयं च सुदती[2] देवी गुणभूषणभूषणा ।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती ॥ ५ ॥
एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया ।
इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥ ६ ॥

मैत्रेय[3] उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वः स्त्रियः ॥७॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितॄणां गणाः ॥ ८ ॥
ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः ।
वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥ ९ ॥
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् ।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥१०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इसके बाद ब्राह्मणोंने पुत्रहीन राजा वेनकी भुजाओंका मन्थन किया, तब उनसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ ॥ १ ॥ ब्रह्मवादी ऋषि उस जोड़ेको उत्पन्न हुआ देख और उसे भगवान्का अंश जान बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ २ ॥

ऋषियोंने कहा—यह पुरुष भगवान् विष्णुकी विश्वपालिनी कलासे प्रकट हुआ है और यह स्त्री उन परम पुरुषकी अनपायिनी (कभी अलग न होनेवाली) शक्ति लक्ष्मीजीका अवतार है ॥ ३ ॥ इनमेंसे जो पुरुष है, वह अपने सुयशका प्रथन—विस्तार करनेके कारण परम यशस्वी 'पृथु' नामक सम्राट् होगा । राजाओंमें यही सबसे पहला होगा ॥४॥ यह सुन्दर दाँतोंवाली एवं गुण और आभूषणोंको भी विभूषित करनेवाली सुन्दरी इन पृथुको ही अपना पति बनायेगी । इसका नाम अर्चि होगा ॥ ५ ॥ पृथुके रूपमें साक्षात् श्रीहरिके अंशने ही संसारकी रक्षाके लिये अवतार लिया है और अर्चिके रूपमें, निरन्तर भगवान्की सेवामें रहनेवाली उनकी नित्य सहचरी श्रीलक्ष्मीजी ही प्रकट हुई हैं ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! उस समय ब्राह्मण लोग पृथुकी स्तुति करने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्वोंने गुणगान किया, सिद्धोंने पुष्पोंकी वर्षा की, अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ७ ॥ आकाशमें शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग और दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे । समस्त देवता, ऋषि और पितर अपने-अपने लोकोंसे वहाँ आये ॥ ८ ॥ जगद्गुरु ब्रह्माजी देवता और देवेश्वरोंके साथ पधारे । उन्होंने वेनकुमार पृथुके दाहिने हाथमें भगवान् विष्णुकी हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर उन्हें श्रीहरिका ही अंश समझा; क्योंकि जिसके हाथमें दूसरी रेखाओंसे बिना कटा हुआ चक्रका चिह्न होता है, वह भगवान्का ही अंश होता है ॥ ९-१० ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'तद्दृष्ट्वा'...'से लेकर तृतीय श्लोकके '...पुरुषस्यानपायिनी' तकका अंश नहीं है । २. प्रा० पा०— देवी सुदती । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है ।

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
आभिषेचनिकान्यस्मै[1] आजह्रुः सर्वतो जनाः ॥११॥
सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः ।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥१२॥
सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः ।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः ॥१३॥
तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम् ।
वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम् ॥१४॥
वायुश्च वालव्यजने[2] धर्मः कीर्तिमयीं[3] स्रजम् ।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः ॥१५॥
ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म[4] भारती हारमुत्तमम् ।
हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् ॥१६॥
दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका ।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् ॥१७॥
अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून् ।
भूः पादुके योगमय्यौ[5] द्यौः पुष्पावलिमन्वहम् ॥१८॥
नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः ।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम् ॥१९॥
सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः ।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे ॥२०॥
स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥२१॥

वेदवादी ब्राह्मणोंने महाराज पृथुके अभिषेकका आयोजन किया । सब लोग उसकी सामग्री जुटानेमें लग गये ॥ ११ ॥ उस समय नदी, समुद्र, पर्वत, सर्प, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्य सब प्राणियोंने भी उन्हें तरह-तरहके उपहार भेंट किये ॥ १२ ॥ सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे अलङ्कृत महाराज पृथुका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ । उस समय अनेकों अलङ्कारोंसे सजी हुई महारानी अर्चिके साथ वे दूसरे अग्निदेवके सदृश जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

वीर विदुरजी ! उन्हें कुबेरने बड़ा ही सुन्दर सोनेका सिंहासन दिया तथा वरुणने चन्द्रमाके समान श्वेत और प्रकाशमय छत्र दिया, जिससे निरन्तर जलकी फुहियाँ झरती रहती थीं ॥ १४ ॥ वायुने दो चँवर, धर्मने कीर्तिमयी माला, इन्द्रने मनोहर मुकुट, यमने दमन करनेवाला दण्ड, ब्रह्माने वेदमय कवच, सरस्वतीने सुन्दर हार, विष्णु भगवान्ने सुदर्शनचक्र, विष्णुप्रिया लक्ष्मीजीने अविचल सम्पत्ति, रुद्रने दस चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त कोषवाली तलवार, अम्बिकाजीने सौ चन्द्राकार चिह्नोंवाली ढाल, चन्द्रमाने अमृतमय अश्व, त्वष्टा (विश्वकर्मा) ने सुन्दर रथ, अग्निने बकरे और गौके सींगोंका बना हुआ सुदृढ़ धनुष, सूर्यने तेजोमय बाण, पृथ्वीने चरणस्पर्शमात्रसे अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देनेवाली योगमयी पादुकाएँ, आकाशके अभिमानी द्यौ देवताने नित्य नूतन पुष्पोंकी माला, आकाशविहारी सिद्ध-गन्धर्वादिने नाचने-गाने, बजाने और अन्तर्धान हो जानेकी शक्तियाँ, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद, समुद्रने अपनेसे उत्पन्न हुआ शङ्ख तथा सातों समुद्र, पर्वत और नदियोंने उनके रथके लिये बेरोक-टोक मार्ग उपहारमें दिये । इसके पश्चात् सूत, मागध और वन्दीजन उनकी स्तुति करनेके लिये उपस्थित हुए ॥ १५—२० ॥ तब उन स्तुति करनेवालोंका अभिप्राय समझकर वेनपुत्र परमप्रतापी महाराज पृथुने हँसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—अभिषेच० । २. प्रा० पा०—जनं । ३. प्रा० पा०—मिव । ४. प्रा० पा०—धर्मं । ५. प्रा० पा०—माया ।

पृथुरुवाच

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दि-
ल्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः ॥२२॥
तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं[2]
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥२३॥
महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।
तेऽस्याभविष्यन्निति[3] विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद ॥२४॥
प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥२५॥
वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥२६॥

पृथुने कहा—सौम्य सूत, मागध और वन्दीजन! अभी तो लोकमें मेरा कोई भी गुण प्रकट नहीं हुआ। फिर तुम किन गुणोंको लेकर मेरी स्तुति करोगे? मेरे विषयमें तुम्हारी वाणी व्यर्थ नहीं होनी चाहिये। इसलिये मुझसे भिन्न किसी औरकी स्तुति करो ॥२२॥ मृदुभाषियो! कालान्तरमें जब मेरे अप्रकट गुण प्रकट हो जायँ, तब भरपेट अपनी मधुर वाणीसे मेरी स्तुति कर लेना। देखो, शिष्ट पुरुष पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणानुवादके रहते हुए तुच्छ मनुष्योंकी स्तुति नहीं किया करते ॥ २३ ॥ महान् गुणोंको धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है, जो उनके न रहनेपर भी केवल सम्भावनामात्रसे स्तुति करनेवालोंद्वारा अपनी स्तुति करायेगा? यदि यह विद्याभ्यास करता तो इसमें अमुक-अमुक गुण हो जाते—इस प्रकारकी स्तुतिसे तो मनुष्यकी वञ्चना की जाती है। वह मन्दमति यह नहीं समझता कि इस प्रकार तो लोग उसका उपहास ही कर रहे हैं ॥ २४ ॥ जिस प्रकार लज्जाशील उदार पुरुष अपने किसी निन्दित पराक्रमकी चर्चा होनी बुरी समझते हैं, उसी प्रकार लोकविख्यात समर्थ पुरुष अपनी स्तुतिको भी निन्दित मानते हैं ॥ २५ ॥ सूतगण! अभी हम अपने श्रेष्ठ कर्मोंके द्वारा लोकमें अप्रसिद्ध ही हैं, हमने अबतक कोई भी ऐसा काम नहीं किया है, जिसकी प्रशंसा की जा सके। तब तुमलोगोंसे बच्चोंके समान अपनी कीर्तिका किस प्रकार गान करावें? ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पृथुचरिते पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

वन्दीजनद्वारा महाराज पृथुकी स्तुति

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथुने जब इस प्रकार कहा, तब उनके वचनामृतका आस्वादन करके सूत आदि गायकलोग बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे मुनियोंकी प्रेरणासे उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—भो। २. प्रा० पा०—दुपाश्रिता ह्यलं०। ३. प्रा० पा०—गुणा भविष्य०।

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया ।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ।। २ ।।

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः ।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि ।। ३ ।।

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् ।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ।। ४ ।।

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः ।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम् ।। ५ ।।

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति ।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन् सूर्यवद्विभुः ।। ६ ।।

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि ।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान् ।। ७ ।।

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः ।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् ।। ८ ।।

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना ।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा ।। ९ ।।

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः ।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ।।१०।।

'आप साक्षात् देवप्रवर श्रीनारायण ही हैं, जो अपनी मायासे अवतीर्ण हुए हैं; हम आपकी महिमाका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं। आपने जन्म तो राजा वेनके मृतक शरीरसे लिया है, किंतु आपके पौरुषोंका वर्णन करनेमें साक्षात् ब्रह्मादिकी बुद्धि भी चकरा जाती है ।। २ ।। तथापि आपके कथामृतके आस्वादनमें आदर-बुद्धि रखकर मुनियोंके उपदेशके अनुसार उन्हींकी प्रेरणासे हम आपके परम प्रशंसनीय कर्मोंका कुछ विस्तार करना चाहते हैं, आप साक्षात् श्रीहरिके कलावतार हैं और आपकी कीर्ति बड़ी उदार है ।। ३ ।।

'ये धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज पृथु लोकको धर्ममें प्रवृत्त करके धर्ममर्यादाकी रक्षा करेंगे तथा उसके विरोधियोंको दण्ड देंगे ।। ४ ।। ये अकेले ही समय-समयपर प्रजाके पालन, पोषण और अनुरञ्जन आदि कार्यके अनुसार अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न लोकपालोंकी मूर्तिको धारण करेंगे तथा यज्ञ आदिके प्रचारद्वारा स्वर्गलोक और वृष्टिकी व्यवस्थाद्वारा भूलोक—दोनोंका ही हित साधन करेंगे ।। ५ ।। ये सूर्यके समान अलौकिक महिमान्वित प्रतापवान् और समदर्शी होंगे। जिस प्रकार सूर्यदेवता आठ महीने तपते रहकर जल खींचते हैं और वर्षा ऋतुमें उसे उँडेल देते हैं, उसी प्रकार ये कर आदिके द्वारा कभी धन-सञ्चय करेंगे और कभी उसका प्रजाके हितके लिये व्यय कर डालेंगे ।। ६ ।। ये बड़े दयालु होंगे। यदि कभी कोई दीन पुरुष इनके मस्तकपर पैर भी रख देगा, तो भी ये पृथ्वीके समान उसके इस अनुचित व्यवहारको सदा सहन करेंगे ।। ७ ।। कभी वर्षा न होगी और प्रजाके प्राण सङ्कटमें पड़ जायँगे, तो ये राजवेषधारी श्रीहरि इन्द्रकी भाँति जल बरसाकर अनायास ही उसकी रक्षा कर लेंगे ।। ८ ।। ये अपने अमृतमय मुखचन्द्रकी मनोहर मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दमग्न कर देंगे ।। ९ ।। इनकी गतिको कोई समझ न सकेगा, इनके कार्य भी गुप्त होंगे तथा उन्हें सम्पन्न करनेका ढंग भी बहुत गम्भीर होगा। इनका धन सदा सुरक्षित रहेगा। ये अनन्त माहात्म्य और गुणोंके एकमात्र आश्रय होंगे। इस प्रकार मनस्वी पृथु साक्षात् वरुणके ही समान होंगे ।। १० ।।

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत् ।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ॥११॥
अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः ।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ॥१२॥
नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि ।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ॥१३॥
अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात् ।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥१४॥
रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥१५॥
दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥१६॥
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः ।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥१७॥
देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः ।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ॥१८॥

'महाराज पृथु वेनरूप अरणिके मन्थनसे प्रकट हुए अग्निके समान हैं। शत्रुओंके लिये ये अत्यन्त दुर्धर्ष और दुःसह होंगे। ये उनके समीप रहनेपर भी, सेनादिसे सुरक्षित रहनेके कारण, बहुत दूर रहनेवाले-से होंगे। शत्रु कभी इन्हें हरा न सकेंगे ॥ ११ ॥ जिस प्रकार प्राणियोंके भीतर रहनेवाला प्राणरूप सूत्रात्मा शरीरके भीतर-बाहरके समस्त व्यापारोंको देखते रहनेपर भी उदासीन रहता है, उसी प्रकार ये गुप्तचरोंके द्वारा प्राणियोंके गुप्त और प्रकट सभी प्रकारके व्यापार देखते हुए भी अपनी निन्दा और स्तुति आदिके प्रति उदासीनवत् रहेंगे ॥ १२ ॥ ये धर्ममार्गमें स्थित रहकर अपने शत्रुके पुत्रको भी, दण्डनीय न होनेपर, कोई दण्ड न देंगे और दण्डनीय होनेपर तो अपने पुत्रको भी दण्ड देंगे ॥ १३ ॥ भगवान् सूर्य मानसोत्तर पर्वत-तक जितने प्रदेशको अपनी किरणोंसे प्रकाशित करते हैं, उस सम्पूर्ण क्षेत्रमें इनका निष्कण्टक राज्य रहेगा ॥ १४ ॥ ये अपने कार्योंसे सब लोकोंको सुख पहुँचा-वेंगे—उनका रञ्जन करेंगे; इससे उन मनोरञ्जनात्मक व्यापारोंके कारण प्रजा इन्हें 'राजा' कहेगी ॥ १५ ॥ ये बड़े दृढसङ्कल्प, सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मणभक्त, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, शरणागतवत्सल, सब प्राणियोंको मान देनेवाले और दीनोंपर दया करनेवाले होंगे ॥ १६ ॥ ये परस्त्रीमें माताके समान भक्ति रक्खेंगे, पत्नीको अपने आधे अङ्गके समान मानेंगे, प्रजापर पिताके समान प्रेम रक्खेंगे और ब्रह्मवादियोंके सेवक होंगे ॥ १७ ॥ दूसरे प्राणी इन्हें उतना ही चाहेंगे जितना अपने शरीरको। ये सुहृदोंके आनन्दको बढ़ायेंगे। ये सर्वदा वैराग्यवान् पुरुषोंसे विशेष प्रेम करेंगे और दुष्टोंको दण्डपाणि यमराजके समान सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहेंगे ॥१८॥

अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः ।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥१९॥

'तीनों गुणोंके अधिष्ठाता और निर्विकार साक्षात् श्रीनारायणने ही इनके रूपमें अपने अंशसे अवतार लिया है, जिनमें पण्डितलोग अविद्यावश प्रतीत होनेवाले इस नानात्वको मिथ्या ही समझते हैं ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—पुत्र० । २. प्राचीन प्रतिमें 'यस्मिन्नविद्या०…'से आरम्भकर इक्कीसवें श्लोककी समाप्तिपर्यन्त अंश मूलमें नहीं है, टिप्पणीमें लिखा है ।

अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः ।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः
पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः ॥२०॥
अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः ।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः ॥२१॥
अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम् ।
यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या
भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः ॥२२॥
विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः ॥२३॥
एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र ।
अहार्षीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥२४॥
एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम् ।
आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्-
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति[1] ॥२५॥
तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः ।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥२६॥
दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-[2]
महानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥२७॥

ये अद्वितीय वीर और एकच्छत्र सम्राट् होकर अकेले ही उदयाचलपर्यन्त समस्त भूमण्डलकी रक्षा करेंगे तथा अपने जयशील रथपर चढ़कर धनुष हाथमें लिये सूर्यके समान सर्वत्र प्रदक्षिणा करेंगे ॥ २० ॥ उस समय जहाँ-तहाँ सभी लोकपाल और पृथ्वीपाल इन्हें भेंटें समर्पण करेंगे,उनकी स्त्रियाँ इनका गुणगान करेंगी और इन आदिराजको साक्षात् श्रीहरि ही समझेंगी ॥ २१ ॥ ये प्रजापालक राजाधिराज होकर प्रजाके जीवननिर्वाहके लिये गोरूप-धारिणी पृथ्वीका दोहन करेंगे और इन्द्रके समान अपने धनुषके कोनोंसे बातों-की-बातमें पर्वतोंको तोड़-फोड़कर पृथ्वीको समतल कर देंगे ॥ २२ ॥ रणभूमिमें कोई भी इनका वेग नहीं सह सकेगा । जिस समय ये जंगलमें पूँछ उठाकर विचरते हुए सिंहके समान अपने 'आजगव' धनुषका टंकार करते हुए भूमण्डलमें विचरेंगे, उस समय सभी दुष्टजन इधर-उधर छिप जायँगे ॥२३॥ ये सरस्वतीके उद्गमस्थानपर सौ अश्वमेध-यज्ञ करेंगे । तब अन्तिम यज्ञानुष्ठानके समय इन्द्र इनके घोड़ेको हरकर ले जायँगे ॥ २४ ॥ अपने महलके बगीचेमें इनकी एक बार भगवान् सनत्कुमारसे भेंट होगी । अकेले उनकी भक्तिपूर्वक सेवा करके ये उस निर्मल ज्ञानको प्राप्त करेंगे, जिससे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥ इस प्रकार जब इनके पराक्रम जनताके सामने आ जायँगे, तब ये परम पराक्रमी महाराज जहाँ-तहाँ अपने चरित्रकी ही चर्चा सुनेंगे ॥ २६ ॥ इनकी आज्ञाका विरोध कोई भी न कर सकेगा तथा ये सारी दिशाओंको जीतकर और अपने तेजसे प्रजाके क्लेशरूप काँटेको निकालकर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक होंगे । उस समय देवता और असुर भी इनके विपुल प्रभावका वर्णन करेंगे' ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे[3] षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

१. प्रा० पा०—वदन्ति । २. प्रा० पा०—न्द्रैरनुगीयमानो म० । ३. प्राचीन प्रतिमें इसके आगे 'पृथुचरिते' इतना अधिक पाठ है ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका पृथ्वीपर कुपित होना और पृथ्वीके द्वारा उनकी स्तुति करना

मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः ।
छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १ ॥
ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः ।
पौरा[1]ञ्जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार जब वन्दीजनने महाराज पृथुके गुण और कर्मोंका बखान करके उनकी प्रशंसा की, तब उन्होंने भी उनकी बड़ाई करके तथा उन्हें मनचाही वस्तुएँ देकर संतुष्ट किया ॥ १ ॥ उन्होंने ब्राह्मणादि चारों वर्णों, सेवकों, मन्त्रियों, पुरोहितों, पुरवासियों, देशवासियों, भिन्न-भिन्न व्यवसायियों तथा अन्यान्य आज्ञानुवर्तियोंका भी सत्कार किया ॥ २ ॥

विदुर उवाच

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी ।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥ ३ ॥
प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् ।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥ ४ ॥
सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात् ।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥ ५ ॥
यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान् भगवतः प्रभोः ।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥ ६ ॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च ।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम् ॥ ७ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! पृथ्वी तो अनेक रूप धारण कर सकती है, उसने गौका रूप ही क्यों धारण किया ? और जब महाराज पृथुने उसे दुहा, तब बछड़ा कौन बना ? और दुहनेका पात्र क्या हुआ ? ॥ ३ ॥ पृथ्वीदेवी तो पहले स्वभावसे ही ऊँची-नीची थी । उसे उन्होंने समतल किस प्रकार किया और इन्द्र उनके यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ेको क्यों हर ले गये ? ॥४॥ ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् सनत्कुमारजीसे ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करके वे राजर्षि किस गतिको प्राप्त हुए ? ॥ ५ ॥ पृथुरूपसे सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने ही अवतार ग्रहण किया था; अतः पुण्यकीर्ति श्रीहरिके उस पृथु-अवतारसे सम्बन्ध रखनेवाले जो और भी पवित्र चरित्र हों, वे सभी आप मुझसे कहिये । मैं आपका और श्रीकृष्णचन्द्रका बड़ा अनुरक्त भक्त हूँ ॥६-७॥

सूत उवाच

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति ।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—जब विदुरजीने भगवान् वासुदेवकी कथा कहनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा की तब श्रीमैत्रेयजी प्रसन्नचित्तसे उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥ ८ ॥

मैत्रेय[2] उवाच

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-
　रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
　क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! ब्राह्मणोंने महाराज पृथुका राज्याभिषेक करके उन्हें प्रजाका रक्षक उद्घोषित किया । इन दिनों पृथ्वी अन्नहीन हो गयी थी, इसलिये भूखके कारण प्रजाजनोंके शरीर सूखकर काँटे हो गये थे । उन्होंने अपने स्वामी पृथुके पास आकर कहा ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—पौरजा० । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है ।

वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः ॥१०॥
तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥११॥

'राजन् ! जिस प्रकार कोटरमें सुलगती हुई आगसे पेड़ जल जाता है, उसी प्रकार हम पेटकी भीषण ज्वालासे जले जा रहे हैं। आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं और हमारे अन्नदाता प्रभु बनाये गये हैं; इसलिये हम आपकी शरणमें आये हैं॥ १० ॥ आप समस्त लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं, आप ही हमारी जीविकाके भी स्वामी हैं। अतः राजराजेश्वर ! आप हम क्षुधापीड़ितोंको शीघ्र ही अन्न देनेका प्रबन्ध कीजिये; ऐसा न हो कि अन्न मिलनेसे पहले ही हमारा अन्त हो जाय' ॥ ११ ॥

मैत्रेय उवाच

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम् ।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत ॥१२॥
इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः ।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा ॥१३॥
प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च तम् ।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता ॥१४॥
तामन्वधावत्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः ।
शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते ॥१५॥
सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः ।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥१६॥
लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः ।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥१७॥
उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल ।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥१८॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कुरुवर ! प्रजाका करुण-क्रन्दन सुनकर महाराज पृथु बहुत देरतक विचार करते रहे। अन्तमें उन्हें अन्नाभावका कारण मालूम हो गया॥ १२ ॥ 'पृथ्वीने स्वयं ही अन्न एवं औषधादिको अपने भीतर छिपा लिया है' अपनी बुद्धिसे इस बातका निश्चय करके उन्होंने अपना धनुष उठाया और त्रिपुरविनाशक भगवान् शंकरके समान अत्यन्त क्रोधित होकर पृथ्वीको लक्ष्य बनाकर बाण चढ़ाया ॥ १३ ॥ उन्हें शस्त्र उठाये देख पृथ्वी काँप उठी और जिस प्रकार व्याधके पीछा करनेपर हरिणी भागती है, उसी प्रकार वह डरकर गौका रूप धारण करके भागने लगी ॥१४॥

यह देखकर महाराज पृथुकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे, जहाँ-जहाँ पृथ्वी गयी, वहाँ-वहाँ धनुषपर बाण चढ़ाये उसके पीछे लगे रहे ॥ १५ ॥ दिशा, विदिशा, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जहाँ-जहाँ भी वह दौड़कर जाती, वहीं उसे महाराज पृथु हथियार उठाये अपने पीछे दिखायी देते ॥ १६ ॥ जिस प्रकार मनुष्यको मृत्युसे कोई नहीं बचा सकता, उसी प्रकार उसे त्रिलोकीमें वेनपुत्र पृथुसे बचानेवाला कोई भी न मिला। तब वह अत्यन्त भयभीत होकर दुःखित चित्तसे पीछेकी ओर लौटी॥ १७ ॥ और महाभाग पृथुजीसे कहने लगी—'धर्मके तत्त्वको जाननेवाले शरणागतवत्सल राजन् ! आप तो सभी प्राणियोंकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं, आप मेरी भी रक्षा कीजिये ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—पृथुम् । २. प्रा० पा०—तामेवानुद्रवद्वैन्यः ।

स त्वं जिघांससे कस्मादीनामकृतकिल्बिषाम् ।
अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥१९॥
प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः ।
किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः ॥२०॥
मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि[1] ॥२१॥

पृथुरुवाच

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥२२॥
यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः ।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते ॥२३॥
त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक् सृष्टानि स्वयम्भुवा ।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥२४॥
अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम् ।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा ॥२५॥
पुमान् योषिदुत क्लीब आत्मसम्भावनोऽधमः ।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥२६॥
त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः ।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥२७॥
एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम् ।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥२८॥

धरोवाच[2]

नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे[3] गुणात्मने ।

मैं अत्यन्त दीन और निरपराध हूँ, आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं? इसके सिवा आप तो धर्मज्ञ माने जाते हैं; फिर मुझ स्त्रीका वध आप कैसे कर सकेंगे? ॥ १९॥ स्त्रियाँ कोई अपराध करें, तो साधारण जीव भी उनपर हाथ नहीं उठाते; फिर आप-जैसे करुणामय और दीनवत्सल तो ऐसा कर ही कैसे सकते हैं? ॥ २० ॥ मैं तो एक सुदृढ़ नौकाके समान हूँ, सारा जगत् मेरे ही आधार-पर स्थित है। मुझे तोड़कर आप अपनेको और अपनी प्रजाको जलके ऊपर कैसे रक्खेंगे? ॥ २१ ॥

महाराज पृथुने कहा—पृथ्वी! तू मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाली है। तू यज्ञमें देवतारूपसे भाग तो लेती है, किंतु उसके बदलेमें हमें अन्न नहीं देती; इसलिये आज मैं तुझे मार डालूँगा ॥२२॥ तू जो प्रतिदिन हरी-हरी घास खा जाती है और अपने थनका दूध नहीं देती—ऐसी दुष्टता करनेपर तुझे दण्ड देना अनुचित नहीं कहा जा सकता ॥ २३ ॥ तू नासमझ है, तूने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके उत्पन्न किये हुए अन्नादिके बीजोंको अपनेमें लीन कर लिया है और अब मेरी भी परवा न करके उन्हें अपने गर्भसे निकालती नहीं ॥ २४ ॥ अब मैं अपने बाणोंसे तुझे छिन्न-भिन्न कर तेरे मेदेसे इन क्षुधातुर और दीन प्रजाजनोंका करुण-क्रन्दन शान्त करूँगा ॥ २५ ॥ जो दुष्ट अपना ही पोषण करनेवाला तथा अन्य प्राणियोंके प्रति निर्दय हो—वह पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक कोई भी हो—उसका मारना राजाओंके लिये न मारनेके ही समान है ॥ २६ ॥ तू बड़ी गर्वीली और मदोन्मत्ता है; इस समय मायासे ही यह गौका रूप बनाये हुए है। मैं बाणोंसे तेरे टुकड़े-टुकड़े करके अपने योगबलसे प्रजाको धारण करूँगा॥२७॥

इस समय महाराज पृथु कालकी भाँति क्रोधमयी मूर्ति धारण किये हुए थे। उनके ये शब्द सुनकर धरती काँपने लगी और उसने अत्यन्त विनीतभावसे हाथ जोड़कर कहा ॥ २८ ॥

पृथ्वीने कहा—आप साक्षात् परमपुरुष हैं तथा अपनी मायासे अनेक प्रकारके शरीर धारणकर गुणमय जान पड़ते हैं; वास्तवमें आत्मानुभवके द्वारा आप अधिभूत,

१. प्रा० पा०—कथं संधारयिष्यसि। २. प्राचीन प्रतिमें 'धरोवाच' नहीं है। ३. प्रा० पा०—न्यस्तमायात०।

नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥२९॥
येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-
डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥३०॥
य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययाऽऽत्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥३१॥
नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥३२॥
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥३३॥
स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥३४॥
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥३५॥
नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
मसद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।

अध्यात्म और अधिदैवसम्बन्धी अभिमान और उससे उत्पन्न हुए राग-द्वेषादिसे सर्वथा रहित हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥ २९ ॥ आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं, आपने ही यह त्रिगुणात्मक सृष्टि रची है और मुझे समस्त जीवोंका आश्रय बनाया है । आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं । प्रभो ! जब आप ही अस्त्र-शस्त्र लेकर मुझे मारनेको तैयार हो गये, तब मैं और किसकी शरणमें जाऊँ ? ॥ ३० ॥ कल्पके आरम्भमें आपने अपने आश्रित रहनेवाली अनिर्वचनीया मायासे ही इस चराचर जगत्की रचना की थी और उस मायाके ही द्वारा आप इसका पालन करनेके लिये तैयार हुए हैं । आप धर्मपरायण हैं; फिर भी मुझ गोरूपधारिणीको किस प्रकार मारना चाहते हैं ? ॥ ३१ ॥ आप एक होकर भी मायावश अनेक रूप जान पड़ते हैं तथा आपने स्वयं ब्रह्माको रचकर उनसे विश्वकी रचना करायी है । आप साक्षात् सर्वेश्वर हैं, आपकी लीलाओंको अजितेन्द्रिय लोग कैसे जान सकते हैं ? उनकी बुद्धि तो आपकी दुर्जय मायासे विक्षिप्त हो रही है ॥ ३२ ॥ आप ही पञ्चभूत, इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ देवता, बुद्धि और अहङ्काररूप अपनी शक्तियोंके द्वारा क्रमशः जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं । भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये समय-समयपर आपकी शक्तियोंका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है । आप साक्षात् परमपुरुष और जगद्विधाता हैं, आपको मेरा नमस्कार है ॥ ३३ ॥ अजन्मा प्रभो ! आप ही अपने रचे हुए भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप जगत्की स्थितिके लिये आदिवराहरूप होकर मुझे रसातलसे जलके बाहर लाये थे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार एक बार तो मेरा उद्धार करके आपने 'धराधर' नाम पाया था; आज वही आप वीरमूर्तिसे जलके ऊपर नौकाके समान स्थित मेरे ही आश्रय रहनेवाली प्रजाकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे पैने-पैने बाण चढ़ाकर दूध न देनेके अपराधमें मुझे मारना चाहते हैं ॥ ३५ ॥ इस त्रिगुणात्मक सृष्टिकी रचना करनेवाली आपकी मायासे मेरे-जैसे साधारण जीवोंके चित्त मोहग्रस्त हो रहे हैं । मुझ-जैसे लोग तो आपके भक्तोंकी लीलाओंका भी

१. प्रा० पा०—विरुद्ध० ।

न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-

स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥३६॥

आशय नहीं समझ सकते, फिर आपकी किसी क्रियाका उद्देश्य न समझें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। अतः जो इन्द्रियसंयमादिके द्वारा वीरोचित यज्ञका विस्तार करते हैं, ऐसे आपके भक्तोंको भी नमस्कार है ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजये धरित्रीनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

पृथ्वी-दोहन

मैत्रेय उवाच

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम्।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ १ ॥
संनियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितं च मे।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥ २ ॥
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ॥ ३ ॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ॥ ४ ॥
ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥ ५ ॥
पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ॥ ६ ॥
अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस समय महाराज पृथुके होठ क्रोधसे काँप रहे थे। उनकी इस प्रकार स्तुति कर पृथ्वीने अपने हृदयको विचारपूर्वक समाहित किया और डरते-डरते उनसे कहा ॥ १ ॥ 'प्रभो ! आप अपना क्रोध शान्त कीजिये और मैं जो प्रार्थना करती हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। बुद्धिमान् पुरुष भ्रमरके समान सभी जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं ॥ २ ॥ तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये कृषि, अग्निहोत्र आदि बहुत-से उपाय निकाले और काममें लिये हैं ॥ ३ ॥ उन प्राचीन ऋषियोंके बताये हुए उपायोंका इस समय भी जो पुरुष श्रद्धापूर्वक भलीभाँति आचरण करता है, वह सुगमतासे अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥ परंतु जो अज्ञानी पुरुष उनका अनादर करके अपने मनःकल्पित उपायोंका आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और प्रयत्न बार-बार निष्फल होते रहते हैं ॥ ५ ॥ राजन् ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिन धान्य आदिको उत्पन्न किया था, मैंने देखा कि यम-नियमादि व्रतोंका पालन न करनेवाले दुराचारी-लोग ही उन्हें खाये जा रहे हैं ॥ ६ ॥ लोकरक्षक ! आप राजालोगोंने मेरा पालन और आदर करना छोड़ दिया; इसलिये सब लोग चोरोंके समान हो गये हैं। इसीसे यज्ञके लिये ओषधियोंको मैंने अपनेमें छिपा लिया ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—चित्तकर्म०। २. प्रा० पा०—पृथुचरिते धरानिग्रहः सप्त०। ३. प्रा० पा०—क्रोधं। ४. प्रा० पा०—अथवा। ५. प्रा० पा०—प्रारब्धा०।

नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा ।
तत्र योगेन[1] दृष्टेन भवानादातुमर्हति ॥ ८ ॥
वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव ।
धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपं च दोहनम् ॥ ९ ॥
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन ।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान् वाञ्छते यदि ॥१०॥
समां च कुरु मां राजन्देववृष्टं यथा पयः ।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥११॥
इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं[2] कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥१२॥
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततो[3]ऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥१३॥
ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥१४॥
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥१५॥
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्रादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन् क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥१६॥
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं[4] मधु सौभगम्[5] ॥१७॥
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥१८॥

अब अधिक समय हो जानेसे अवश्य ही वे धान्य मेरे उदरमें जीर्ण हो गये हैं; आप उन्हें पूर्वाचार्योंके बतलाये हुए उपायसे निकाल लीजिये ॥ ८ ॥ लोकपालक वीर ! यदि आपको समस्त प्राणियोंके अभीष्ट एवं बलकी वृद्धि करनेवाले अन्नकी आवश्यकता है तो आप मेरे योग्य बछड़ा, दोहनपात्र और दुहनेवालेकी व्यवस्था कीजिये; मैं उस बछड़ेके स्नेहसे पिन्हाकर दूधके रूपमें आपको सभी अभीष्ट वस्तुएँ दे दूँगी ॥९-१०॥ राजन् ! एक बात और है; आपको मुझे समतल करना होगा, जिससे कि वर्षाऋतु बीत जानेपर भी मेरे ऊपर इन्द्रका बरसाया हुआ जल सर्वत्र बना रहे—मेरे भीतरकी आर्द्रता सूखने न पावे । यह आपके लिये बहुत मङ्गलकारक होगा' ॥ ११ ॥

पृथ्वीके कहे हुए ये प्रिय और हितकारी वचन स्वीकार कर, महाराज पृथुने स्वायम्भुव मनुको बछड़ा बना अपने हाथमें ही समस्त धान्योंको दुह लिया ॥१२॥ पृथुके समान अन्य विज्ञजन भी सब जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं, अतः उन्होंने भी पृथुजीके द्वारा वशमें की हुई वसुन्धरासे अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ दुह लीं ॥ १३ ॥ ऋषियोंने बृहस्पतिजीको बछड़ा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन और श्रोत्र) रूप पात्रमें पृथ्वीदेवीसे वेदरूप पवित्र दूध दुहा ॥ १४ ॥ देवताओंने इन्द्रको बछड़ेके रूपमें कल्पना कर सुवर्णमय पात्रमें अमृत, वीर्य (मनोबल), ओज (इन्द्रियबल) और शारीरिक बलरूप दूध दुहा ॥ १५ ॥ दैत्य और दानवोंने असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजीको वत्स बनाकर लोहेके पात्रमें मदिरा और आसव (ताड़ी आदि) रूप दूध दुहा ॥ १६ ॥ गन्धर्व और अप्सराओंने विश्वावसुको बछड़ा बनाकर कमलरूप पात्रमें संगीतमाधुर्य और सौन्दर्यरूप दूध दुहा ॥ १७ ॥ श्राद्धके अधिष्ठाता महाभाग पितृगणने अर्यमा नामके पित्रीश्वरको वत्स बनाया तथा मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धापूर्वक कव्य (पितरोंको अर्पित किया जानेवाला अन्न) रूप दूध दुहा ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—दृष्टेन योगेन । २. प्राचीन प्रतिमें 'वत्सं कृत्वा''' यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है । ३. प्रा० पा०—ततः सर्वे । ४. प्रा० पा०—गन्धं । ५. प्रा० पा०—ससौभगम् ।

प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥१९॥
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥२०॥

फिर कपिलदेवजीको बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्रमें सिद्धोंने अणिमादि अष्टसिद्धि तथा विद्याधरोंने आकाश-गमन आदि विद्याओंको दुहा ॥ १९ ॥ किम्पुरुषादि अन्य मायावियोंने मयदानवको बछड़ा बनाया तथा अन्तर्धान होना, विचित्र रूप धारण कर लेना आदि सङ्कल्पमयी मायाओंको दुग्धरूपसे दुहा ॥ २० ॥

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥२१॥
तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥२२॥
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥२३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥२४॥
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु ॥२५॥
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः ।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥२६॥

इसी प्रकार यक्ष-राक्षस तथा भूत-पिशाचादि मांसा-हारियोंने भूतनाथ रुद्रको बछड़ा बनाकर कपालरूप पात्रमें रुधिरासवरूप दूध दुहा ॥ २१ ॥ बिना फन-वाले साँप, फनवाले साँप, नाग और बिच्छू आदि विषैले जन्तुओंने तक्षकको बछड़ा बनाकर मुखरूप पात्रमें विषरूप दूध दुहा ॥ २२ ॥ पशुओंने भगवान् रुद्रके वाहन बैलको वत्स बनाकर वनरूप पात्रमें तृण-रूप दूध दुहा । बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले मांसभक्षी जीवोंने सिंहरूप बछड़ेके द्वारा अपने शरीररूप पात्रमें कच्चा मांसरूप दूध दुहा तथा गरुड़जीको वत्स बनाकर पक्षियोंने कीट-पतङ्गादि चर और फलादि अचर पदार्थों-को दुग्धरूपसे दुहा ॥ २३-२४ ॥ वृक्षोंने वटको वत्स बनाकर अनेक प्रकारका रसरूप दूध दुहा और पर्वतों-ने हिमालयरूप बछड़ेके द्वारा अपने शिखररूप पात्रोंमें अनेक प्रकारकी धातुओंको दुहा ॥ २५ ॥ पृथ्वी तो सभी अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाली है और इस समय वह पृथुजीके अधीन थी । अतः उससे सभीने अपनी-अपनी जातिके मुखियाको बछड़ा बनाकर अलग-अलग पात्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके पदार्थोंको दूधके रूपमें दुह लिया ॥ २६ ॥

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः ।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह ॥२७॥
ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः ।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ॥२८॥

कुरुश्रेष्ठ विदुरजी ! इस प्रकार पृथु आदि सभी अन्न-भोजियोंने भिन्न-भिन्न दोहन-पात्र और वत्सोंके द्वारा अपने-अपने विभिन्न अन्नरूप दूध पृथ्वीसे दुहे ॥ २७ ॥ इससे महाराज पृथु ऐसे प्रसन्न हुए कि सर्वकामदुहा पृथ्वीके प्रति उनका पुत्रीके समान स्नेह हो गया और उसे उन्होंने अपनी कन्याके रूपमें स्वीकार कर

१. प्रा० पा०—स्वकले० ।

चूर्णयन्[1] स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥२९॥
अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निर्वासान्[2] कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥३०॥
ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान् व्रजान् सशिबिरानाकरान् खेटखर्वटान् ॥३१॥
प्राक्पृथोरिह नैवैषां[3] पुरग्रामादिकल्पना ।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥३२॥

लिया ॥ २८ ॥ फिर राजाधिराज पृथुने अपने धनुष-की नोकसे पर्वतोंको फोड़कर इस सारे भूमण्डलको प्रायः समतल कर दिया ॥ २९ ॥ वे पिताके समान अपनी प्रजाके पालन-पोषणकी व्यवस्थामें लगे हुए थे । उन्होंने इस समतल भूमिमें प्रजावर्गके लिये जहाँ-तहाँ यथायोग्य निवासस्थानोंका विभाग किया ॥ ३० ॥ अनेकों गाँव, कस्बे, नगर, दुर्ग, अहीरोंकी बस्ती, पशुओंके रहनेके स्थान, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पहाड़ोंकी तलहटीके गाँव बसाये ॥ ३१ ॥ महाराज पृथुसे पहले इस पृथ्वीतलपर पुर-ग्रामादिका विभाग नहीं था; सब लोग अपने-अपने सुभीतेके अनुसार बेखटके जहाँ-तहाँ बस जाते थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे पृथुविजयेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुके सौ अश्वमेध यज्ञ

मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजा[4] तु हयमेधशतेन सः ।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥ १ ॥
तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः ।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ २ ॥
यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान् हरिरीश्वरः ।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥ ३ ॥
अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः ।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥ ४ ॥
सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः ।
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥ ५ ॥
कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः[6] सनकादयः ।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! महाराज मनुके ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें, जहाँ सरस्वती नदी पूर्वमुखी होकर बहती है, राजा पृथुने सौ अश्वमेध-यज्ञोंकी दीक्षा ली ॥ १ ॥ यह देखकर भगवान् इन्द्रको विचार हुआ कि इस प्रकार तो पृथुके कर्म मेरे कर्मोंकी अपेक्षा भी बढ़ जायँगे, इसलिये वे उनके यज्ञमहोत्सवको सहन न कर सके ॥ २ ॥ महाराज पृथुके यज्ञमें सबके अन्तरात्मा सर्वलोकपूज्य जगदीश्वर भगवान् हरिने यज्ञेश्वररूपसे साक्षात् दर्शन दिया था ॥ ३ ॥ उनके साथ ब्रह्मा, रुद्र तथा अपने-अपने अनुचरोंके सहित लोकपालगण भी पधारे थे । उस समय गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ प्रभुकी कीर्ति गा रहे थे ॥ ४ ॥ सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, यक्ष, सुनन्द-नन्दादि भगवान्के प्रमुख पार्षद और जो सर्वदा भगवान्की सेवाके लिये उत्सुक रहते हैं—वे कपिल, नारद, दत्तात्रेय एवं सनकादि योगेश्वर भी उनके साथ आये थे ॥ ५-६ ॥

१. प्रा० पा०—चूर्णयंश्च धनु० । २. प्रा० पा०—वासं कल्प० । ३. प्रा० पा०—नैवेमाः पुरग्रामादिकल्पनाः ।
४. प्रा० पा०—चरिते । ५. प्रा० पा०—राजर्षिर्ह० । ६. प्रा० पा०—योगीशाः ।

यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती ।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत ॥ ७ ॥
ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान् ।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः ॥ ८ ॥
सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् ।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥ ९ ॥
इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् ।
असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ॥१०॥
चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् ।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥११॥
तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा ।
आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥१२॥
अत्रिणा चोदितो[3] हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः ।
अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१३॥
तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम् ।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥१४॥
वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् ।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥१५॥

भारत ! उस यज्ञमें यज्ञसामग्रियोंको देनेवाली भूमिने कामधेनुरूप होकर यजमानकी सारी कामनाओंको पूर्ण किया था ॥ ७ ॥ नदियाँ दाख और ईख आदि सब प्रकारके रसोंको बहा लाती थीं तथा जिनसे मधु चूता रहता था—ऐसे बड़े-बड़े वृक्ष दूध, दही, अन्न और घृत आदि तरह-तरहकी सामग्रियाँ समर्पण करते थे ॥ ८ ॥ समुद्र बहुत-सी रत्नराशियाँ, पर्वत भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य—चार प्रकारके अन्न तथा लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक तरह-तरहके उपहार उन्हें समर्पण करते थे ॥ ९ ॥

महाराज पृथु तो एकमात्र श्रीहरिको ही अपना प्रभु मानते थे । उनकी कृपासे उस यज्ञानुष्ठानमें उनका बड़ा उत्कर्ष हुआ । किंतु यह बात देवराज इन्द्रको सहन न हुई और उन्होंने उसमें विघ्न डालनेकी भी चेष्टा की ॥ १० ॥ जिस समय महाराज पृथु अन्तिम यज्ञद्वारा भगवान् यज्ञपतिकी आराधना कर रहे थे, इन्द्रने ईर्ष्यावश गुप्तरूपसे उनके यज्ञका घोड़ा हर लिया ॥११॥ इन्द्रने अपनी रक्षाके लिये कवचरूपसे पाखण्डवेष धारण कर लिया था, जो अधर्ममें धर्मका भ्रम उत्पन्न करनेवाला है—जिसका आश्रय लेकर पापी पुरुष भी धर्मात्मा-सा जान पड़ता है । इस वेषमें वे घोड़ेको लिये बड़ी शीघ्रतासे आकाशमार्गसे जा रहे थे कि उनपर भगवान् अत्रिकी दृष्टि पड़ गयी । उनके कहनेसे महाराज पृथुका महारथी पुत्र इन्द्रको मारनेके लिये उनके पीछे दौड़ा और बड़े क्रोधसे बोला, 'अरे खड़ा रह ! खड़ा रह' ॥ १२-१३ ॥ इन्द्र सिरपर जटाजूट और शरीरमें भस्म धारण किये हुए थे । उनका ऐसा वेष देखकर पृथुकुमारने उन्हें मूर्तिमान् धर्म समझा, इसलिये उनपर बाण नहीं छोड़ा ॥ १४ ॥ जब वह इन्द्रपर वार किये बिना ही लौट आया, तब महर्षि अत्रिने पुनः उसे इन्द्रको मारनेके लिये आज्ञा दी—'वत्स, इस देवताधम इन्द्रने तुम्हारे यज्ञमें विघ्न डाला है, तुम इसे मार डालो' ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—दुग्धा स्वाभी० । २. प्रा० पा०—प्राच्यवन्त । ३. प्रा० पा०—सूचितं । ४. प्रा० पा०—हन्तुमत्रिर० ।

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा ।
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं¹ गृध्रराडिव ॥१६॥
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् ।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥१७॥
तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः ।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥१८॥
उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥१९॥
अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा ।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥२०॥
अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा ।
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट् ॥२१॥
वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् ।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥२२॥
यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।
तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥२३॥
एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया ।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥२४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥२५॥
तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः ।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥२६॥

अत्रि मुनिके इस प्रकार उत्साहित करनेपर पृथुकुमार क्रोधमें भर गया । इन्द्र बड़ी तेजीसे आकाशमें जा रहे थे । उनके पीछे वह इस प्रकार दौड़ा, जैसे रावणके पीछे जटायु ॥ १६ ॥ स्वर्गपति इन्द्र उसे पीछे आते देख, उस वेष और घोड़ेको छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गये और वह वीर अपना यज्ञपशु लेकर पिताकी यज्ञशालामें लौट आया ॥ १७ ॥ शक्तिशाली विदुरजी ! उसके इस अद्भुत पराक्रमको देखकर महर्षियोंने उसका नाम विजिताश्व रक्खा ॥ १८ ॥

यज्ञपशुको चषाल और यूपमें* बाँध दिया गया था । शक्तिशाली इन्द्रने घोर अन्धकार फैला दिया और उसीमें छिपकर वे फिर उस घोड़ेको उसकी सोनेकी जंजीरसमेत ले गये ॥ १९ ॥ अत्रि मुनिने फिर उन्हें आकाशमें तेजीसे जाते दिखा दिया, किंतु उनके पास कपाल और खट्वाङ्ग देखकर पृथुपुत्रने उनके मार्गमें कोई बाधा न डाली ॥ २० ॥ तब अत्रिने राजकुमारको फिर उकसाया और उसने गुस्सेमें भरकर इन्द्रको लक्ष्य बनाकर अपना बाण चढ़ाया । यह देखते ही देवराज उस वेष और घोड़ेको छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २१ ॥ वीर विजिताश्व अपना घोड़ा लेकर पिताकी यज्ञशालामें लौट आया । तबसे इन्द्रके उस निन्दित वेषको मन्दबुद्धि पुरुषोंने ग्रहण कर लिया ॥ २२ ॥ इन्द्रने अश्वहरणकी इच्छासे जो-जो रूप धारण किये थे, वे पापके खण्ड होनेके कारण पाखण्ड कहलाये । यहाँ 'खण्ड' शब्द चिह्नका वाचक है ॥ २३ ॥ इस प्रकार पृथुके यज्ञका विध्वंस करनेके लिये यज्ञपशुको चुराते समय इन्द्रने जिन्हें कई बार ग्रहण करके त्यागा था, उन 'नग्न', 'रक्ताम्बर' तथा कापालिक आदि पाखण्डपूर्ण आचारोंमें मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः मोहित हो जाती है; क्योंकि ये नास्तिकमत देखनेमें सुन्दर हैं और बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे अपने पक्षका समर्थन करते हैं । वास्तवमें ये उपधर्म मात्र हैं । लोग भ्रमवश धर्म मानकर इनमें आसक्त हो जाते हैं ॥ २४-२५ ॥

इन्द्रकी इस कुचालका पता लगनेपर परम पराक्रमी महाराज पृथुको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने अपना धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—गृध्रराडिव रावणम् ।

* यज्ञमण्डपमें यज्ञपशुको बाँधनेके लिये जो खंभा होता है, उसे 'यूप' कहते हैं और यूपके आगे रक्खे हुए वलयाकार काष्ठको 'चषाल' कहते हैं ।

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥२७॥
वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम् ।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम् ॥२८॥
इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा ।
स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत ॥२९॥
न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः ।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः ॥३०॥
तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः ।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥३१॥
पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः ।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित् ॥३२॥
नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि ।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥३३॥
मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥३४॥

उस समय क्रोधावेशके कारण उनकी ओर देखा नहीं जाता था। जब ऋत्विजोंने देखा कि असह्य-पराक्रमी महाराज पृथु इन्द्रका वध करनेको तैयार हैं, तब उन्हें रोकते हुए कहा, 'राजन्! आप तो बड़े बुद्धिमान् हैं, यज्ञदीक्षा ले लेनेपर शास्त्रविहित यज्ञपशुको छोड़कर और किसीका वध करना उचित नहीं है ॥ २७ ॥ इस यज्ञकार्यमें विघ्न डालनेवाला आपका शत्रु इन्द्र तो आपके सुयशसे ही ईर्ष्यावश निस्तेज हो रहा है। हम अमोघ आवाहन-मन्त्रोंद्वारा उसे यहीं बुला लेते हैं और बलात्कारसे अग्निमें हवन किये देते हैं' ॥ २८ ॥

विदुरजी! यजमानसे इस प्रकार सलाह करके उसके याजकोंने क्रोधपूर्वक इन्द्रका आवाहन किया। वे स्रुवाद्वारा आहुति डालना ही चाहते थे कि ब्रह्माजीने वहाँ आकर उन्हें रोक दिया ॥ २९ ॥ वे बोले, 'याजको! तुम्हें इन्द्रका वध नहीं करना चाहिये, यह यज्ञसंज्ञक इन्द्र तो भगवान्‌की ही मूर्ति है। तुम यज्ञद्वारा जिन देवताओंकी आराधना कर रहे हो, वे इन्द्रके ही तो अङ्ग हैं और उसे तुम यज्ञद्वारा मारना चाहते हो ॥ ३० ॥ पृथुके इस यज्ञानुष्ठानमें विघ्न डालनेके लिये इन्द्रने जो पाखण्ड फैलाया है, वह धर्मका उच्छेदन करनेवाला है, इस बातपर तुम ध्यान दो; अब उससे अधिक विरोध मत करो; नहीं तो वह और भी पाखण्ड-मार्गोंका प्रचार करेगा ॥३१॥ अच्छा, परमयशस्वी महाराज पृथुके निन्यानबे ही यज्ञ रहने दो।' फिर राजर्षि पृथुसे कहा, 'राजन्! आप तो मोक्षधर्मके जाननेवाले हैं; अतः अब आपको इन यज्ञानुष्ठानोंकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३२ ॥ आपका मङ्गल हो। आप और इन्द्र—दोनों ही पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीहरिके शरीर हैं; इसलिये अपने ही स्वरूपभूत इन्द्रके प्रति आपको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥ आपका यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ—इसके लिये आप चिन्ता न करें। हमारी बात आप आदरपूर्वक स्वीकार कीजिये। देखिये, जो मनुष्य विधाताके बिगाड़े हुए कामको बनानेका विचार करता है, उसका मन अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर मोहमें फँस जाता है ॥ ३४ ॥

१. प्रा० पा०—मर्षितं। २. प्रा० पा०—त्वद्वचसा। ३. प्रा० पा०—हवैस्तु संश्रये प्रस०। ४. प्रा० पा०—स्त। ५. प्रा० पा०—तत्रैको०। ६. प्रा० पा०—नैवात्मा। ७. प्रा० पा०—भाग।

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः ।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥३५॥
एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् ।
ह्रियमाणं[1] विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥३६॥
भवान् परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम् ।
वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥३७॥
स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥३८॥
मैत्रेय[2] उवाच
इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः ।
तथा च कृत्वा[3] वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे ॥३९॥
कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे ।
वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः ॥४०॥
विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः ।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः ॥४१॥
त्वयाऽऽहूता महाबाहो सर्व एव समागताः ।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥४२॥

बस, इस यज्ञको बंद कीजिये । इसीके कारण इन्द्रके चलाये हुए पाखण्डोंसे धर्मका नाश हो रहा है; क्योंकि देवताओंमें बड़ा दुराग्रह होता है ॥ ३५ ॥ जरा देखिये तो, जो इन्द्र घोड़ेको चुराकर आपके यज्ञमें विघ्न डाल रहा था, उसीके रचे हुए इन मनोहर पाखण्डोंकी ओर सारी जनता खिंचती चली जा रही है ॥ ३६ ॥ आप साक्षात् विष्णुके अंश हैं । वेनके दुराचारसे धर्म लुप्त हो रहा था, उस समयोचित धर्मकी रक्षाके लिये ही आपने उसके शरीरसे अवतार लिया है ॥ ३७ ॥ अतः प्रजापालक पृथुजी ! अपने इस अवतारका उद्देश्य विचारकर आप भृगु आदि विश्वरचयिता मुनीश्वरोंका सङ्कल्प पूर्ण कीजिये । यह प्रचण्ड पाखण्ड-पथरूप इन्द्रकी माया अधर्मकी जननी है । आप इसे नष्ट कर डालिये' ॥ ३८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार समझानेपर प्रबल पराक्रमी महाराज पृथुने यज्ञका आग्रह छोड़ दिया और इन्द्रके साथ प्रीतिपूर्वक सन्धि भी कर ली ॥ ३९ ॥ इसके पश्चात् जब वे यज्ञान्त-स्नान करके निवृत्त हुए, तब उनके यज्ञोंसे तृप्त हुए देवताओंने उन्हें अभीष्ट वर दिये ॥ ४० ॥ आदिराज पृथुने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दीं तथा ब्राह्मणोंने उनके सत्कारसे संतुष्ट होकर उन्हें अमोघ आशीर्वाद दिये ॥ ४१ ॥ वे कहने लगे, 'महाबाहो ! आपके बुलानेसे जो पितर, देवता, ऋषि और मनुष्यादि आये थे, उन सभीका आपने दान-मानसे खूब सत्कार किया' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथु[4]विजये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी यज्ञशालामें श्रीविष्णु भगवान्‌का प्रादुर्भाव

मैत्रेय[5] उवाच
भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो[6] यज्ञभुक् तमभाषत ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! महाराज पृथुके निन्यानबे यज्ञोंसे यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुको भी बड़ा संतोष हुआ । उन्होंने इन्द्रके सहित वहाँ उपस्थित होकर उनसे कहा ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—क्रियमाणं । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—कृतवान् सख्यं । ४. प्रा० पा०—पृथुचरिते आश्वमेधे । ५. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । ६. प्रा० पा०—तिः खिन्नो ।

श्रीभगवानुवाच[1]

एष तेऽकार्षीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥
सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम्[2] ॥ ३ ॥
पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४ ॥
अतः कायमिमं[3] विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥ ६ ॥
एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः ७
य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः।८।
यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति ॥ ९ ॥
परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥१०॥
उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥११॥
भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो

द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! (इन्द्रने) तुम्हारे सौ अश्वमेध पूरे करनेके सङ्कल्पमें विघ्न डाला है। अब ये तुमसे क्षमा चाहते हैं, तुम इन्हें क्षमा कर दो ॥ २ ॥ नरदेव! जो श्रेष्ठ मानव साधु और सद्बुद्धिसम्पन्न होते हैं, वे दूसरे जीवोंसे द्रोह नहीं करते; क्योंकि यह शरीर ही आत्मा नहीं है ॥ ३ ॥ यदि तुम-जैसे लोग भी मेरी मायासे मोहित हो जायँ, तो समझना चाहिये कि बहुत दिनोंतक की हुई ज्ञानीजनोंकी सेवासे केवल श्रम ही हाथ लगा ॥४॥ ज्ञानवान् पुरुष इस शरीरको अविद्या, वासना और कर्मोंका ही पुतला समझकर इसमें आसक्त नहीं होता ॥५॥ इस प्रकार जो इस शरीरमें ही आसक्त नहीं है, वह विवेकी पुरुष इससे उत्पन्न हुए घर, पुत्र और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता रख सकता है ॥ ६ ॥

यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्गुण, गुणोंका आश्रयस्थान, सर्वव्यापक, आवरणशून्य, सबका साक्षी एवं अन्य आत्मासे रहित है; अतएव शरीरसे भिन्न है ॥७॥ जो पुरुष इस देहस्थित आत्माको इस प्रकार शरीरसे भिन्न जानता है, वह प्रकृतिसे सम्बन्ध रखते हुए भी उसके गुणोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसकी स्थिति मुझ परमात्मामें रहती है ॥ ८ ॥ राजन्! जो पुरुष किसी प्रकारकी कामना न रखकर अपने वर्णाश्रमके धर्मोंद्वारा नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक मेरी आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है ॥ ९ ॥ चित्त शुद्ध होनेपर उसका विषयोंसे सम्बन्ध नहीं रहता तथा उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। फिर तो वह मेरी समतारूप स्थितिको प्राप्त हो जाता है। यही परम शान्ति, ब्रह्म अथवा कैवल्य है ॥ १० ॥ जो पुरुष यह जानता है कि शरीर, ज्ञान, क्रिया और मनका साक्षी होनेपर भी कूटस्थ आत्मा उनसे निर्लिप्त ही रहता है, वह कल्याणमय मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

राजन्! गुणप्रवाहरूप आवागमन तो भूत, इन्द्रिय, इन्द्रियाभिमानी देवता और चिदाभास—इन सबकी समष्टिरूप परिच्छिन्न लिङ्गशरीरका ही हुआ करता है; इसका सर्वसाक्षी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—गर्हन्नात्मकलेवरम्। ३ प्रा० पा०—कार्य०।

दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः ॥१२॥
समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥१३॥
श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्[1] ।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥१४॥
एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः ॥१५॥
वरं च मत् कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् ।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥१७॥
स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥१८॥
भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः ।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥१९॥
प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।

मुझमें दृढ़ अनुराग रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति प्राप्त होनेपर कभी हर्ष-शोकादि विकारोंके वशीभूत नहीं होते ॥ १२ ॥ इसलिये वीरवर ! तुम उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंमें समानभाव रखकर सुख-दुःखको भी एक-सा समझो तथा मन और इन्द्रियोंको जीतकर मेरे ही द्वारा जुटाये हुए मन्त्री आदि समस्त राजकीय पुरुषोंकी सहायतासे सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करो ॥ १३ ॥ राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है । इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता; किंतु उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य तो प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है ॥ १४ ॥ ऐसा विचारकर यदि तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सम्मति और पूर्व-परम्परासे प्राप्त हुए धर्मको ही मुख्यतः अपना लो और कहीं भी आसक्त न होकर इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक पालन करते रहो तो सब लोग तुमसे प्रेम करेंगे और कुछ ही दिनोंमें तुम्हें घर बैठे ही सनकादि सिद्धोंके दर्शन होंगे ॥ १५ ॥ राजन् ! तुम्हारे गुणोंने और स्वभावने मुझको वशमें कर लिया है । अतः तुम्हें जो इच्छा हो, मुझसे वर माँग लो । उन क्षमा आदि गुणोंसे रहित यज्ञ, तप अथवा योगके द्वारा मुझको पाना सरल नहीं है; मैं तो उन्हींके हृदयमें रहता हूँ जिनके चित्तमें समता रहती है ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! सर्वलोकगुरु श्रीहरिके इस प्रकार कहनेपर जगद्विजयी महाराज पृथुने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की ॥ १७ ॥ देवराज इन्द्र अपने कर्मसे लज्जित होकर उनके चरणोंपर गिरना ही चाहते थे कि राजाने उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया और मनोमालिन्य निकाल दिया ॥ १८ ॥ फिर महाराज पृथुने विश्वात्मा भक्तवत्सल भगवान्‌का पूजन किया और क्षण-क्षणमें उमड़ते हुए भक्तिभावमें निमग्न होकर प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये ॥ १९ ॥ श्रीहरि वहाँसे जाना चाहते थे; किंतु पृथुके प्रति जो उनका वात्सल्यभाव था, उसने उन्हें रोक लिया ।

[1] प्रा० पा०—कृतं षष्ठ० ।

पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥२०॥

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥२१॥

अथावमृज्याश्रुकलां[1] विलोकयन्-
नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम् ।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥२२॥

पृथुरुवाच

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥२३॥

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो[2]
विधत्स्व कर्णायुतमेष[3] मे वरः[4] ॥२४॥

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो[5]
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां[6]
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥२५॥

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना[7] पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥२६॥

वे अपने कमलदलके समान नेत्रोंसे उनकी ओर देखते ही रह गये, वहाँसे जा न सके ॥ २० ॥ आदिराज महाराज पृथु भी नेत्रोंमें जल भर आनेके कारण न तो भगवान्‌का दर्शन ही कर सके और न तो कण्ठ गद्गद हो जानेसे कुछ बोल ही सके । उन्हें हृदयसे आलिङ्गन कर पकड़े रहे और हाथ जोड़े ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये ॥२१॥ प्रभु अपने चरणकमलोंसे पृथ्वीको स्पर्श किये खड़े थे; उनका कराग्रभाग गरुडजीके ऊँचे कंधेपर रक्खा हुआ था । महाराज पृथु नेत्रोंके आँसू पोंछकर अतृप्त दृष्टिसे उनकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ २२ ॥

महाराज पृथु बोले—मोक्षपति प्रभो ! आप वर देनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको भी वर देनेमें समर्थ हैं । कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आपसे देहाभिमानियोंके भोगनेयोग्य विषयोंको कैसे माँग सकता है ? वे तो नारकी जीवोंको भी मिलते ही हैं । अतः मैं इन तुच्छ विषयोंको आपसे नहीं माँगता ॥ २३ ॥ मुझे तो उस मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं है जिसमें महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा निकला हुआ आपके चरणकमलोंका मकरन्द नहीं है—जहाँ आपकी कीर्ति-कथा सुननेका सुख नहीं मिलता । इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये जिनसे मैं आपके लीलागुणोंको सुनता ही रहूँ ॥ २४ ॥ पुण्यकीर्ति प्रभो ! आपके चरणकमल-मकरन्दरूपी अमृत-कणोंको लेकर महापुरुषोंके मुखसे जो वायु निकलती है, उसीमें इतनी शक्ति होती है कि वह तत्त्वको भूले हुए हम कुयोगियोंको पुनः तत्त्वज्ञान करा देती है । अतएव हमें दूसरे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २५ ॥ उत्तम कीर्तिवाले प्रभो ! सत्सङ्गमें आपके मङ्गलमय सुयशको दैववश एक बार भी सुन लेनेपर कोई पशुबुद्धि पुरुष भले ही तृप्त हो जाय; गुणग्राही उसे कैसे छोड़ सकता है ? सब प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये स्वयं लक्ष्मीजी भी आपके सुयशको सुनना चाहती

१. प्रा० पा०—कलां । २. प्रा० पा०—च्युतं विध० । ३. प्रा० पा०—कर्णामृत० । ४. प्रा० पा०—वचः । ५. प्रा० पा०—मुखाच्च्युतो । ६. प्रा० पा०—कर्मणां । ७. प्रा० पा०—विरमेहते ।

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं
गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥२७॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥२८॥
भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥२९॥
मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः[2] ॥३०॥
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥३१॥

मैत्रेय[3] उवाच

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते ।

हैं ॥ २६ ॥ अब लक्ष्मीजीके समान मैं भी अत्यन्त उत्सुकतासे आप सर्वगुणधाम पुरुषोत्तमकी सेवा ही करना चाहता हूँ । किंतु ऐसा न हो कि एक ही पतिकी सेवा प्राप्त करनेकी होड़ होनेके कारण आपके चरणोंमें ही मनको एकाग्र करनेवाले हम दोनोंमें कलह छिड़ जाय ॥ २७ ॥ जगदीश्वर ! जगज्जननी लक्ष्मीजीके हृदयमें मेरे प्रति विरोधभाव होनेकी सम्भावना तो है ही; क्योंकि जिस आपके सेवाकार्यमें उनका अनुराग है, उसीके लिये मैं भी लालायित हूँ । किंतु आप दीनोंपर दया करते हैं, उनके तुच्छ कर्मोंको भी बहुत करके मानते हैं । इसलिये मुझे आशा है कि हमारे झगड़ेमें भी आप मेरा ही पक्ष लेंगे । आप तो अपने स्वरूपमें ही रमण करते हैं; आपको भला, लक्ष्मीजीसे भी क्या लेना है ॥ २८ ॥ इसीसे निष्काम महात्मा ज्ञान हो जानेके बाद भी आपका भजन करते हैं । आपमें मायाके कार्य अहङ्कारादिका सर्वथा अभाव है । भगवन् ! मुझे तो आपके चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन करनेके सिवा सत्पुरुषोंका कोई और प्रयोजन ही नहीं जान पड़ता ॥२९॥ मैं भी बिना किसी इच्छाके आपका भजन करता हूँ, आपने जो मुझसे कहा कि 'वर माँग', सो आपकी इस वाणीको तो मैं संसारको मोहमें डालनेवाली ही मानता हूँ । यही क्या, आपकी वेदरूपा वाणीने भी तो जगत्को बाँध रक्खा है । यदि उस वेदवाणीरूप रस्सीसे लोग बँधे न होते, तो वे मोहवश सकाम कर्म क्यों करते ? ॥३०॥ प्रभो ! आपकी मायासे ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप आपसे विमुख होकर अज्ञानवश अन्य स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है । फिर भी जिस प्रकार पिता पुत्रकी प्रार्थनाकी अपेक्षा न रखकर अपने-आप ही पुत्रका कल्याण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारी इच्छाकी अपेक्षा न करके हमारे हितके लिये स्वयं ही प्रयत्न करें ॥ ३१ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—आदिराज पृथुके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वसाक्षी श्रीहरिने उनसे कहा, 'राजन् ! तुम्हारी मुझमें भक्ति हो । बड़े सौभाग्यकी बात है कि

१. प्रा० पा०—यथा । २. प्रा० पा०—मोचितः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' यहाँसे आरम्भकर तैंतीसवें श्लोकके 'सर्वत्राप्नोति शोभनम्' तकका अंश नहीं है ।

दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ॥३२॥

तत्त्वं कुरु मयाऽऽदिष्टमप्रमत्तः प्रजापते ।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥३३॥

तुम्हारा चित्त इस प्रकार मुझमें लगा हुआ है । ऐसा होनेपर तो पुरुष सहजमें ही मेरी उस मायाको पार कर लेता है, जिसको छोड़ना या जिसके बन्धनसे छूटना अत्यन्त कठिन है । अब तुम सावधानीसे मेरी आज्ञाका पालन करते रहो । प्रजापालक नरेश ! जो पुरुष मेरी आज्ञाका पालन करता है, उसका सर्वत्र मङ्गल होता है' ॥ ३२-३३ ॥

मैत्रेय उवाच

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्र[1]तिनन्द्यार्थवद्वचः ।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥३४॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं— विदुरजी ! इस प्रकार भगवान्‌ने राजर्षि पृथुके सारगर्भित वचनोंका आदर किया । फिर पृथुने उनकी पूजा की और प्रभु उनपर सब प्रकार कृपाकर वहाँसे चलनेको तैयार हुए ॥ ३४ ॥

देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥३५॥
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः ।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥३६॥

महाराज पृथुने वहाँ जो देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर, अप्सरा, मनुष्य और पक्षी आदि अनेक प्रकारके प्राणी एवं भगवान्‌के पार्षद आये थे, उन सभीका भगवद्‌बुद्धिसे भक्तिपूर्वक वाणी और धनके द्वारा हाथ जोड़कर पूजन किया । इसके बाद वे सब अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ ३५-३६ ॥

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः ।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्य[3]पद्यत ॥३७॥
अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने ।
अव्यक्ताय[4] च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥३८॥

भगवान् अच्युत भी राजा पृथु एवं उनके पुरोहितोंका चित्त चुराते हुए अपने धामको सिधारे ॥३७॥ तदनन्तर अपना स्वरूप दिखाकर अन्तर्धान हुए अव्यक्तस्वरूप देवाधिदेव भगवान्‌को नमस्कार करके राजा पृथु भी अपनी राजधानीमें चले आये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे विंशो[5]ऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश

मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः ।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! उस समय महाराज पृथुका नगर सर्वत्र मोतियोंकी लड़ियों, फूलोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्रों, सोनेके दरवाजों और अत्यन्त सुगन्धित धूपोंसे सुशोभित था ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—राजर्षेरभिनन्द्या० । २. प्रा० पा०—खान्यनोकान्यनेकशः । ३. प्रा० पा०—प्रत्यगात्पुनः । ४. प्रा० पा०—वासुदेवाय देवानां । ५. प्रा० पा०—पृथुचरिते विंशतितमोऽध्यायः ।

चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत् ।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम् ॥ २ ॥
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् ।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलंकृतम् ॥ ३ ॥
प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः ।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥ ४ ॥
शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥ ५ ॥
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥ ६ ॥
स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः ।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥ ७ ॥

सूत[1] उवाच

तदादि[2]राजस्य यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥ ८ ॥

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः ।
बिभ्रत् स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥९॥
को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।

उसकी गलियाँ, चौक और सड़कें चन्दन और अरगजेके जलसे सींच दी गयी थीं तथा उसे पुष्प, अक्षत, फल, यवाङ्कुर, खील और दीपक आदि माङ्गलिक द्रव्योंसे सजाया गया था ॥२॥ वह ठौर-ठौरपर रक्खे हुए फल-फूलके गुच्छोंसे युक्त केलेके खंभों और सुपारीके पौधोंसे बड़ा ही मनोहर जान पड़ता था तथा सब ओर आम आदि वृक्षोंके नवीन पत्तोंकी बंदनवारोंसे विभूषित था ॥ ३ ॥ जब महाराजने नगरमें प्रवेश किया, तब दीपक, उपहार और अनेक प्रकारकी माङ्गलिक सामग्री लिये हुए प्रजाजनोंने तथा मनोहर कुण्डलोंसे सुशोभित सुन्दरी कन्याओंने उनकी अगवानी की ॥ ४ ॥ शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे, ऋत्विजगण वेदध्वनि करने लगे, वन्दीजनोंने स्तुतिगान आरम्भ कर दिया । यह सब देख और सुनकर भी उन्हें किसी प्रकारका अहङ्कार नहीं हुआ । इस प्रकार वीरवर पृथुने राजमहलमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ पुरवासी और देशवासियोंने उनका अभिनन्दन किया । परम यशस्वी महाराजने भी उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अभीष्ट वर देकर संतुष्ट किया ॥ ६ ॥ महाराज पृथु महापुरुष और सभीके पूजनीय थे । उन्होंने इसी प्रकारके अनेकों उदार कर्म करते हुए पृथ्वीका शासन किया और अन्तमें अपने विपुल यशका विस्तार कर भगवान्‌का परमपद प्राप्त किया ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—मुनिवर शौनकजी ! इस प्रकार भगवान् मैत्रेयके मुखसे आदिराज पृथुका अनेक प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न और गुणवानोंद्वारा प्रशंसित विस्तृत सुयश सुनकर परम भागवत विदुरजीने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा ॥ ८ ॥

विदुरजी बोले—ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंने पृथुका अभिषेक किया । समस्त देवताओंने उन्हें उपहार दिये । उन्होंने अपनी भुजाओंमें वैष्णव तेजको धारण किया और उससे पृथ्वीका दोहन किया ॥९॥ उनके उस पराक्रमके उच्छिष्टरूप विषयभोगोंसे ही आज भी सम्पूर्ण राजा तथा लोकपालोंके सहित समस्त लोक इच्छानुसार जीवन-

१. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—तदाधिरा० ।

लोकाः सपाला उपजीवन्ति[1] काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥१०॥

मैत्रेय उवाच

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तराक्षेत्रमावसन् ।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया ॥११॥
सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्[2] ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥१२॥
एकदाऽऽसीन्महासत्त्रदीक्षा तत्र[3] दिवौकसाम् ।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥१३॥
तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥१४॥
प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः ।
सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः ।१५।
व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः ।
आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात् ॥१६॥
सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः ।
महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च ॥१७॥
व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः ।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः ।१८।
शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः ।

निर्वाह करते हैं। भला, ऐसा कौन समझदार होगा जो उनकी पवित्र कीर्ति सुनना न चाहेगा। अतः अभी आप मुझे उनके कुछ और भी पवित्र चरित्र सुनाइये ॥१०॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—साधुश्रेष्ठ विदुरजी! महाराज पृथु गङ्गा और यमुनाके मध्यवर्ती देशमें निवास कर अपने पुण्यकर्मोंके क्षयकी इच्छासे प्रारब्धवश प्राप्त हुए भोगोंको ही भोगते थे ॥ ११ ॥ ब्राह्मणवंश और भगवान्के सम्बन्धी विष्णुभक्तोंको छोड़कर उनका सातों द्वीपोंके सभी पुरुषोंपर अखण्ड एवं अबाध शासन था ॥ १२ ॥ एक बार उन्होंने एक महासत्रकी दीक्षा ली; उस समय वहाँ देवताओं, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंका बहुत बड़ा समाज एकत्र हुआ ॥ १३ ॥ उस समाजमें महाराज पृथुने उन पूजनीय अतिथियोंका यथायोग्य सत्कार किया और फिर उस समाजमें, नक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमाके समान खड़े हो गये ॥ १४ ॥ उनका शरीर ऊँचा, भुजाएँ भरी और विशाल, रंग गोरा, नेत्र कमलके समान सुन्दर और अरुणवर्ण, नासिका सुघड़, मुख मनोहर, स्वरूप सौम्य, कंधे ऊँचे और मुसकानसे युक्त दन्तपंक्ति सुन्दर थी ॥ १५ ॥ उनकी छाती चौड़ी, कमरका पिछला भाग स्थूल और उदर पीपलके पत्तेके समान सुडौल तथा बल पड़े हुए होनेसे और भी सुन्दर जान पड़ता था। नाभि भँवरके समान गम्भीर थी, शरीर तेजस्वी था, जङ्घाएँ सुवर्णके समान देदीप्यमान थीं तथा पैरोंके पंजे उभरे हुए थे ॥ १६ ॥ उनके बाल बारीक, घुँघराले, काले और चिकने थे; गरदन शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाली तथा रेखाओंसे युक्त थी और वे उत्तम बहुमूल्य धोती पहने और वैसी ही चादर ओढ़े थे ॥ १७ ॥ दीक्षाके नियमानुसार उन्होंने समस्त आभूषण उतार दिये थे; इसीसे उनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी शोभा अपने स्वाभाविक रूपमें स्पष्ट झलक रही थी। वे शरीरपर कृष्णमृगका चर्म और हाथोंमें कुशा धारण किये हुए थे। इससे उनके शरीरकी कान्ति और भी बढ़ गयी थी। वे अपने सारे नित्यकृत्य यथाविधि सम्पन्न कर चुके थे ॥ १८ ॥ राजा पृथुने मानो सारी सभाको हर्षसे

१. प्रा० पा०—उपयन्ति। २. प्रा० पा०—सर्व०। ३. प्रा० पा०—सा हि।

ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥१९॥

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।

सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥२०॥

राजोवाच

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः।

सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥२१॥

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।

रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥२२॥

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः।

लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥२३

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।

प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥२४॥

तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः।

कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥२५॥

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः।

कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥२६॥

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।

इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥२७॥

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः।

प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥२८॥

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च।

प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥२९॥

सराबोर करते हुए अपने शीतल एवं स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे चारों ओर देखा और फिर अपना भाषण प्रारम्भ किया॥ १९॥ उनका भाषण अत्यन्त सुन्दर, विचित्र पदोंसे युक्त, स्पष्ट, मधुर, गम्भीर एवं निश्शंक था, मानो उस समय वे सबका उपकार करनेके लिये अपने अनुभवका ही अनुवाद कर रहे हों ॥ २० ॥

राजा पृथुने कहा—सज्जनो! आपका कल्याण हो! आप महानुभाव, जो यहाँ पधारे हैं, मेरी प्रार्थना सुनें—जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि संत-समाजमें अपने निश्चयका निवेदन करें ॥ २१ ॥ इस लोकमें मुझे प्रजाजनोंका शासन, उनकी रक्षा, उनकी आजीविकाका प्रबन्ध तथा उन्हें अलग-अलग अपनी मर्यादामें रखनेके लिये राजा बनाया गया है ॥ २२ ॥ अतः इनका यथावत् पालन करनेसे मुझे उन्हीं मनोरथ पूर्ण करनेवाले लोकोंकी प्राप्ति होनी चाहिये, जो वेदवादी मुनियोंके मतानुसार सम्पूर्ण कर्मोंके साक्षी श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर मिलते हैं ॥ २३ ॥ जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २४ ॥ अतः प्रिय प्रजाजन! अपने इस राजाका परलोकमें हित करनेके लिये आपलोग परस्पर दोषदृष्टि छोड़कर हृदयसे भगवान्‌को याद रखते हुए अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते रहिये; क्योंकि आपका स्वार्थ भी इसीमें है और इस प्रकार मुझपर भी आपका बड़ा अनुग्रह होगा ॥ २५ ॥ विशुद्धचित्त देवता, पितर और महर्षिगण! आप भी मेरी इस प्रार्थनाका अनुमोदन कीजिये; क्योंकि कोई भी कर्म हो, मरनेके अनन्तर उसके कर्ता, उपदेष्टा और समर्थकको उसका समान फल मिलता है ॥ २६ ॥ माननीय सज्जनो! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावोंके मतमें तो कर्मोंका फल देनेवाले भगवान् यज्ञपति ही हैं; क्योंकि इहलोक और परलोक दोनों ही जगह कोई-कोई शरीर बड़े तेजोमय देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ मनु, उत्तानपाद, महीपति ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, हमारे दादा अङ्ग तथा ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि और इसी कोटिके अन्यान्य

१. प्राचीन प्रतिमें 'सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—धाता। ३. प्रा० पा०—यदाहु०। ४. प्रा० पा०—धर्ममशिक्षयन्। ५. प्रा० पा०—भगवन्तं जहा०। ६. प्रा० पा०—सत्तमः। ७. प्रा० पा०—दृश्यन्ते।

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।

वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना[1] ॥ ३० ॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ३१ ॥

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि-
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥ ३४ ॥

प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥ ३५ ॥

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्[2] ।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः ॥ ३६ ॥

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।

महानुभावोंके मतमें तो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग तथा स्वर्ग और अपवर्गके स्वाधीन नियामक, कर्मफलदाता-रूपसे भगवान् गदाधरकी आवश्यकता है ही । इस विषयमें तो केवल मृत्युके दौहित्र वेन आदि कुछ शोचनीय और धर्मविमूढ़ लोगोंका ही मतभेद है । अतः उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं हो सकता ॥ २८—३० ॥

जिनके चरणकमलोंकी सेवाके लिये निरन्तर बढ़नेवाली अभिलाषा उन्हींके चरणनखसे निकली हुई गङ्गाजीके समान, संसारतापसे संतप्त जीवोंके समस्त जन्मोंके संचित मनोमलको तत्काल नष्ट कर देती है, जिनके चरणतलका आश्रय लेनेवाला पुरुष सब प्रकारके मानसिक दोषोंको धो डालता तथा वैराग्य और तत्त्वसाक्षात्काररूप बल पाकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता और जिनके चरणकमल सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं—उन प्रभुको आपलोग अपनी-अपनी आजीविकाके उपयोगी वर्णाश्रमोचित अध्यापनादि कर्मों तथा ध्यान-स्तुति-पूजादि मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाओंके द्वारा भजें । हृदयमें किसी प्रकारका कपट न रक्खें तथा यह निश्चय रक्खें कि हमें अपने-अपने अधिकारानुसार इसका फल अवश्य प्राप्त होगा ॥ ३१—३३ ॥

भगवान् स्वरूपतः विशुद्ध विज्ञानघन और समस्त विशेषणोंसे रहित हैं; किंतु इस कर्ममार्गमें जौ-चावल आदि विविध द्रव्य, शुक्लादि गुण, अवघात (कूटना) आदि क्रिया एवं मन्त्रोंके द्वारा और अर्थ, आशय (संकल्प), लिङ्ग (पदार्थ-शक्ति) तथा ज्योतिष्टोम आदि नामोंसे सम्पन्न होनेवाले, अनेक विशेषणयुक्त यज्ञके रूपमें प्रकाशित होते हैं ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींके आकारादिके अनुरूप भासती है, उसी प्रकार वे सर्वव्यापक प्रभु परमानन्दस्वरूप होते हुए भी प्रकृति, काल, वासना और अदृष्टसे उत्पन्न हुए शरीरमें विषयाकार बनी हुई बुद्धिमें स्थित होकर उन यज्ञ-यागादि क्रियाओंके फलरूपसे अनेक प्रकारके जान पड़ते हैं ॥ ३५ ॥ अहो ! इस पृथ्वीतलपर मेरे जो प्रजाजन यज्ञभोक्ताओंके अधीश्वर सर्वगुरु श्रीहरिका एकनिष्ठभावसे अपने-अपने धर्मोंके द्वारा निरन्तर पूजन करते हैं, वे मुझपर बड़ी कृपा करते हैं ॥ ३६ ॥ सहनशीलता, तपस्या और ज्ञान इन विशिष्ट

१. प्राचीन प्रतिमें ३०वें श्लोकका उत्तरार्ध अंश पहले तथा पूर्वार्ध अंश बादमें लिखा है। २. प्रा० पा०—भुजां महेश्वरम्।

देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद् द्विजानाम् ॥३७॥[1]
ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥३८॥
यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः ।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः[2]
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥३९॥
पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं[3] स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्[4] ॥४०॥
अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः[5] ॥४१॥
यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥४२॥
तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥४३॥
गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणते नु सम्पदः ।

विभूतियोंके कारण वैष्णव और ब्राह्मणोंके वंश स्वभावतः ही उज्ज्वल होते हैं। उनपर राजकुलका तेज धन, ऐश्वर्य आदि समृद्धियोंके कारण अपना प्रभाव न डाले ॥ ३७ ॥ ब्रह्मादि समस्त महापुरुषोंमें अग्रगण्य, ब्राह्मणभक्त, पुराणपुरुष श्रीहरिने भी निरन्तर इन्हींके चरणोंकी वन्दना करके अविचल लक्ष्मी और संसारको पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त की है ॥ ३८ ॥ आपलोग भगवान्‌के लोकसंग्रहरूप धर्मका पालन करनेवाले हैं तथा सर्वान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ब्राह्मणप्रिय श्रीहरि विप्रवंश-की सेवा करनेसे ही परम संतुष्ट होते हैं, अतः आप सभीको सब प्रकारसे विनयपूर्वक ब्राह्मणकुलकी सेवा करनी चाहिये ॥ ३९ ॥ इनकी नित्य सेवा करनेसे शीघ्र ही चित्त शुद्ध हो जानेके कारण मनुष्य स्वयं ही (ज्ञान और अभ्यास आदिके बिना ही) परम शान्ति-रूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतः लोकमें इन ब्राह्मणों-से बढ़कर दूसरा कौन है जो हविष्यभोजी देवताओंका मुख हो सके ? ॥ ४० ॥ उपनिषदोंके ज्ञानपरक वचन एकमात्र जिनमें ही गतार्थ होते हैं, वे भगवान् अनन्त इन्द्रादि यज्ञीय देवताओंके नामसे तत्त्वज्ञानियोंद्वारा ब्राह्मणों-के मुखमें श्रद्धापूर्वक हवन किये हुए पदार्थको जैसे चावसे ग्रहण करते हैं, वैसे चेतनाशून्य अग्निमें होमे हुए द्रव्यको नहीं ग्रहण करते ॥ ४१ ॥ सभ्यगण ! जिस प्रकार स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्बका भान होता है—उसी प्रकार जिससे इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका ठीक-ठीक ज्ञान होता है, उस नित्य, शुद्ध और सनातन ब्रह्म (वेद) को जो परमार्थ-तत्त्वकी उपलब्धिके लिये श्रद्धा, तप, मंगलमय आचरण, स्वाध्यायविरोधी वार्तालापके त्याग तथा संयम और समाधिके अभ्यासद्वारा धारण करते हैं, उन ब्राह्मणोंके चरणकमलोंकी धूलिको मैं आयुपर्यन्त अपने मुकुटपर धारण करूँ, क्योंकि उसे सर्वदा सिरपर चढ़ाते रहनेसे मनुष्यके सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण गुण उसकी सेवा करने लगते हैं ॥ ४२-४३ ॥ उस गुणवान्, शीलसम्पन्न, कृतज्ञ और गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले पुरुषके पास सारी सम्पदाएँ अपने-आप आ

१. प्रा० पा०—कुलं द्विजानाम् । २. प्रा० पा०—परैर्हि नः सदा । ३. प्रा० पा०—ऽत्यन्तमनन्तमव्ययम् । ४. प्रा० पा०—हविर्भुजः । ५. प्रा० पा०—गुना पर्यावदे० ।

प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥४४॥

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः।
तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः ॥४५॥
पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः ॥४६॥
हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः।
विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥४७॥
वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्तरि ॥४८॥
अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥४९॥
नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम्।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥५०॥
अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः ॥५१॥
नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥५२॥

जाती हैं। अतः मेरी तो यही अभिलाषा है कि ब्राह्मण-कुल, गोवंश और भक्तोंके सहित श्रीभगवान् मुझपर सदा प्रसन्न रहें ॥ ४४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथुका यह भाषण सुनकर देवता, पितर और ब्राह्मण आदि सभी साधुजन बड़े प्रसन्न हुए और 'साधु ! साधु !' यों कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥ उन्होंने कहा, 'पुत्रके द्वारा पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है' यह श्रुति यथार्थ है; पापी वेन ब्राह्मणोंके शापसे मारा गया था; फिर भी इनके पुण्यबलसे उसका नरकसे निस्तार हो गया ॥ ४६ ॥ इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण नरकोंमें गिरनेवाला ही था कि अपने पुत्र प्रह्लादके प्रभावसे उन्हें पार कर गया ॥ ४७ ॥ वीरवर पृथुजी ! आप तो पृथ्वीके पिता ही हैं और सब लोकोंके एकमात्र स्वामी श्रीहरिमें भी आपकी ऐसी अविचल भक्ति है; इसलिये आप अनन्त वर्षोंतक जीवित रहें ॥ ४८ ॥ आपका सुयश बड़ा पवित्र है; आप उदारकीर्ति ब्रह्मण्यदेव श्रीहरिकी कथाओंका प्रचार करते हैं। हमारा बड़ा सौभाग्य है; आज आपको अपने स्वामीके रूपमें पाकर हम अपनेको भगवान्‌के ही राज्यमें समझते हैं ॥ ४९ ॥ स्वामिन् ! अपने आश्रितोंको इस प्रकारका श्रेष्ठ उपदेश देना आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि अपनी प्रजाके ऊपर प्रेम रखना तो करुणामय महापुरुषोंका स्वभाव ही होता है ॥ ५० ॥ हमलोग प्रारब्धवश विवेकहीन होकर संसारारण्यमें भटक रहे थे; सो प्रभो ! आज आपने हमें इस अज्ञानान्धकारके पार पहुँचा दिया ॥ ५१ ॥ आप शुद्ध सत्त्वमय परमपुरुष हैं, जो ब्राह्मणजातिमें प्रविष्ट होकर क्षत्रियोंकी और क्षत्रियजातिमें प्रविष्ट होकर ब्राह्मणोंकी तथा दोनों जातियोंमें प्रतिष्ठित होकर सारे जगत्‌की रक्षा करते हैं। हमारा आपको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—पितुः श्रेष्ठ।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुको सनकादिका उपदेश

मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥
तांस्तु सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा ।
लोकानपापान् कुर्वत्या सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥२॥
तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः ।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३ ॥
गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः ।
विधिवत्पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् ॥ ४ ॥
तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥ ५ ॥
हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान् ।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—जिस समय प्रजाजन परम-पराक्रमी पृथ्वीपाल पृथुकी इस प्रकार प्रार्थना कर रहे थे, उसी समय वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी चार मुनीश्वर आये ॥ १ ॥ राजा और उनके अनुचरोंने देखा तथा पहचान लिया कि वे सिद्धेश्वर अपनी दिव्य कान्तिसे सम्पूर्ण लोकोंको पापनिर्मुक्त करते हुए आकाशसे उतरकर आ रहे हैं ॥ २ ॥ राजाके प्राण सनकादिकोंका दर्शन करते ही जैसे विषयी जीव विषयोंकी ओर दौड़ता है, उनकी ओर चल पड़े —मानो उन्हें रोकनेके लिये ही वे अपने सदस्यों और अनुयायियोंके साथ एकाएक उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥ जब वे मुनिगण अर्घ्य स्वीकारकर आसनपर विराज गये, तब शिष्टाग्रणी पृथुने उनके गौरवसे प्रभावित हो विनयवश गरदन झुकाये हुए उनकी विधिवत् पूजा की ॥ ४ ॥ फिर उनके चरणोदकको अपने सिरके बालोंपर छिड़का। इस प्रकार शिष्टजनोचित आचारका आदर तथा पालन करके उन्होंने यही दिखाया कि सभी सत्पुरुषोंको ऐसा व्यवहार करना चाहिये ॥ ५ ॥ सनकादि मुनीश्वर भगवान् शंकरके भी अग्रज हैं । सोनेके सिंहासनपर वे ऐसे सुशोभित हुए, जैसे अपने-अपने स्थानोंपर अग्नि देवता । महाराज पृथुने बड़ी श्रद्धा और संयमके साथ प्रेमपूर्वक उनसे कहा ॥ ६ ॥

पृथुरुवाच

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ॥७॥
किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च ।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥८॥
नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान् ।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥ ९ ॥

पृथुजीने कहा—मङ्गलमूर्ति मुनीश्वरो ! आपके दर्शन तो योगियोंको भी दुर्लभ हैं; मुझसे ऐसा क्या पुण्य बना है जिससे स्वतः आपका दर्शन प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥ जिसपर ब्राह्मण अथवा अनुचरोंके सहित श्रीशंकर या विष्णुभगवान् प्रसन्न हों, उसके लिये इहलोक और परलोकमें कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ॥ ८ ॥ इस दृश्य-प्रपञ्चके कारण महत्तत्त्वादि यद्यपि सर्वगत हैं, तो भी वे सर्वसाक्षी आत्माको नहीं देख सकते; इसी प्रकार यद्यपि आप समस्त लोकोंमें विचरते रहते हैं, तो भी अनधिकारी लोग आपको देख नहीं पाते ॥ ९ ॥

अधना[1] अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः[2] ॥१०॥
व्यालालयद्रुमा वै[3] तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः ।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥११॥
स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः ।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च[4] ॥१२॥
कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः ॥१३॥
भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते ।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥१४॥
तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् ।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥१५॥
व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तैस्[5]सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु[6] ।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥१७॥

सनत्कुमार[7] उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥१८॥

जिनके घरोंमें आप-जैसे पूज्य पुरुष उनके जल, तृण पृथ्वी, गृहस्वामी अथवा सेवकादि किसी अन्य पदार्थको स्वीकार कर लेते हैं, वे गृहस्थ धनहीन होनेपर भी धन्य हैं ॥ १० ॥ जिन घरोंमें कभी भगवद्भक्तोंके परमपवित्र चरणोदकके छींटे नहीं पड़े, वे सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियोंसे भरे होनेपर भी ऐसे वृक्षोंके समान हैं कि जिनपर साँप रहते हैं ॥ ११ ॥ मुनीश्वरो ! आपका स्वागत है । आपलोग तो बाल्यावस्थासे ही मुमुक्षुओंके मार्गका अनुसरण करते हुए एकाग्रचित्तसे ब्रह्मचर्यादि महान् व्रतोंका बड़ी श्रद्धापूर्वक आचरण कर रहे हैं ॥ १२ ॥ स्वामियो ! हमलोग अपने कर्मोंके वशीभूत होकर विपत्तियोंके क्षेत्ररूप इस संसारमें पड़े हुए केवल इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मान रहे हैं; सो क्या हमारे निस्तारका भी कोई उपाय है ? ॥ १३ ॥ आपलोगोंसे कुशल-प्रश्न करना उचित नहीं है, क्योंकि आप निरन्तर आत्मामें ही रमण करते हैं । आपमें यह कुशल है और यह अकुशल है—इस प्रकारकी वृत्तियाँ कभी होती ही नहीं ॥ १४ ॥ आप संसारानलसे संतप्त जीवोंके परम सुहृद् हैं; इसलिये आपमें विश्वास करके मैं यह पूछना चाहता हूँ कि इस संसारमें मनुष्यका किस प्रकार सुगमतासे कल्याण हो सकता है ? ॥ १५ ॥ यह निश्चय है कि जो आत्मवान् (धीर) पुरुषोंमें 'आत्मा' रूपसे प्रकाशित होते हैं और उपासकोंके हृदयमें अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले हैं, वे अजन्मा भगवान् नारायण ही अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आप-जैसे सिद्ध पुरुषोंके रूपमें इस पृथ्वीपर विचरा करते हैं ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—राजा पृथुके ये युक्तियुक्त गम्भीर, परिमित और मधुर वचन सुनकर श्रीसनत्कुमारजी बड़े प्रसन्न हुए और कुछ मुसकराते हुए कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रीसनत्कुमारजीने कहा—महाराज ! आपने सब कुछ जानते हुए भी समस्त प्राणियोंके कल्याणकी दृष्टिसे बड़ी अच्छी बात पूछी है । सच है, साधुपुरुषोंकी बुद्धि ऐसी ही हुआ करती है ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—अधन्या । २. प्रा० पा०—श्वराश्वराः । ३. प्रा० पा०—द्रुमास्चैते । ४. प्रा० पा०—वै । ५. प्रा० पा०—पृथोस्तु सूक्त० । ६. प्रा० पा०—प्रभुः । ७. प्राचीन प्रतिमें 'सनत्कुमार उवाच' इतना अंश नहीं है ।

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥१९॥
अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥२०॥
शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥२१॥
सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवः कथया पुण्यया च ॥२२॥
अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन्
विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥२३॥
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥२४॥
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥२५॥
यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा ।

सत्पुरुषोंका समागम श्रोता और वक्ता दोनोंको ही अभिमत होता है, क्योंकि उनके प्रश्नोत्तर सभीका कल्याण करते हैं ॥ १९ ॥ राजन् ! श्रीमधुसूदन भगवान्‌के चरण-कमलोंके गुणानुवादमें अवश्य ही आपकी अविचल प्रीति है । हर किसीको इसका प्राप्त होना बहुत कठिन है और प्राप्त हो जानेपर यह हृदयके भीतर रहनेवाले उस वासनारूप मलको सर्वथा नष्ट कर देती है, जो और किसी उपायसे जल्दी नहीं छूटता ॥ २० ॥ शास्त्र जीवोंके कल्याणके लिये भलीभाँति विचार करनेवाले हैं, उनमें आत्मासे भिन्न देहादिके प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ़ अनुराग होना—यही कल्याणका साधन निश्चित किया गया है ॥ २१ ॥ शास्त्रोंका यह भी कहना है कि गुरु और शास्त्रके वचनोंमें विश्वास रखनेसे, भागवत धर्मोंका आचरण करनेसे, तत्त्वजिज्ञासासे, ज्ञानयोगकी निष्ठासे, योगेश्वर श्रीहरिकी उपासनासे, नित्यप्रति पुण्यकीर्ति श्रीभगवान्‌की पावन कथाओंको सुननेसे, जो लोग धन और इन्द्रियोंके भोगोंमें ही रत हैं, उनकी गोष्ठीमें प्रेम न रखनेसे, उन्हें प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका आसक्ति-पूर्वक संग्रह न करनेसे, भगवद्गुणामृतका पान करनेके सिवा अन्य समय आत्मामें ही संतुष्ट रहते हुए एकान्त-सेवनमें प्रेम रखनेसे, किसी भी जीवको कष्ट न देनेसे, निवृत्तिनिष्ठासे, आत्महितका अनुसन्धान करते रहनेसे श्रीहरिके पवित्र चरित्ररूप श्रेष्ठ अमृतका आस्वादन करनेसे, निष्कामभावसे यम-नियमोंका पालन करनेसे, कभी किसीकी निन्दा न करनेसे, योगक्षेमके लिये प्रयत्न न करनेसे, शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करनेसे, भक्तजनोंके कानोंको सुख देनेवाले श्रीहरिके गुणोंका बार-बार वर्णन करनेसे और बढ़ते हुए भक्तिभावसे मनुष्यका कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण जड-प्रपञ्चसे वैराग्य हो जाता है और आत्मस्वरूप निर्गुण परब्रह्ममें अनायास ही उसकी प्रीति हो जाती है ॥ २२—२५ ॥ परब्रह्ममें सुदृढ़ प्रीति हो जानेपर पुरुष सद्गुरुकी शरण लेता है; फिर ज्ञान और वैराग्यके प्रबल वेगके कारण वासनाशून्य हुए अपने अविद्यादि पाँच प्रकार-

१. प्रा० पा०—मति ।

दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥२६॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥२७॥
आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा ॥२८॥
निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥२९॥
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥३०॥
भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥३१॥
नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥३२॥
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।

के क्लेशोंसे युक्त अहङ्कारात्मक अपने लिङ्गशरीरको वह उसी प्रकार भस्म कर देता है, जैसे अग्नि लकड़ीसे प्रकट होकर फिर उसीको जला डालती है ॥ २६ ॥ इस प्रकार लिङ्गदेहका नाश हो जानेपर वह उसके कर्तृत्वादि सभी गुणोंसे मुक्त हो जाता है। फिर तो जैसे स्वप्नावस्थामें तरह-तरहके पदार्थ देखनेपर भी उससे जग पड़नेपर उनमेंसे कोई चीज दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार वह पुरुष शरीरके बाहर दिखायी देनेवाले घट-पटादि और भीतर अनुभव होनेवाले सुख-दुःखादिको भी नहीं देखता। इस स्थितिके प्राप्त होनेसे पहले ये पदार्थ ही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें रहकर उनका भेद कर रहे थे ॥ २७ ॥

जबतक अन्तःकरणरूप उपाधि रहती है, तभीतक पुरुषको जीवात्मा, इन्द्रियोंके विषय और इन दोनोंका सम्बन्ध करानेवाले अहङ्कारका अनुभव होता है; इसके बाद नहीं ॥ २८ ॥ बाह्य जगत्में भी देखा जाता है कि जल, दर्पण आदि निमित्तोंके रहनेपर ही अपने बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद दिखायी देता है, अन्य समय नहीं ॥ २९ ॥ जो लोग विषयचिन्तनमें लगे रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषयोंमें फँस जाती हैं तथा मनको भी उन्हींकी ओर खींच ले जाती हैं। फिर तो जैसे जलाशयके तीरपर उगे हुए कुशादि अपनी जड़ोंसे उसका जल खींचते रहते हैं, उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन बुद्धिकी विचारशक्तिको क्रमशः हर लेता है ॥ ३० ॥ विचारशक्तिके नष्ट हो जानेपर पूर्वापरकी स्मृति जाती रहती है और स्मृतिका नाश हो जानेपर ज्ञान नहीं रहता। इस ज्ञानके नाशको ही पण्डितजन 'अपने-आप अपना नाश करना' कहते हैं ॥ ३१ ॥ जिसके उद्देश्यसे अन्य सब पदार्थोंमें प्रियताका बोध होता है—उस आत्माका अपने द्वारा ही नाश होनेसे जो स्वार्थहानि होती है, उससे बढ़कर लोकमें जीवकी और कोई हानि नहीं है ॥ ३२ ॥

धन और इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करना मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंका नाश करनेवाला है; क्योंकि

१. प्रा० पा०—पाञ्चकोशं ।

भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥३३॥
न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥३४॥
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥३५॥
परेऽवरे[1] च ये भावा गुणव्यतिकरादनु[2] ।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥३६॥
तत्त्वं[3] नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विश्वगाविः
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि[4] ॥३७॥
यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति[5]
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥३८॥
यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥३९॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां[6]
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति ।
तत्त्वं[7] हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४०॥

इनकी चिन्तासे वह ज्ञान और विज्ञानसे भ्रष्ट होकर वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म पाता है ॥ ३३ ॥ इसलिये जिसे अज्ञानान्धकारसे पार होनेकी इच्छा हो, उस पुरुषको विषयोंमें आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिमें बड़ी बाधक है ॥ ३४ ॥ इन चार पुरुषार्थोंमें भी सबसे श्रेष्ठ मोक्ष ही माना जाता है; क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थोंमें सर्वदा कालका भय लगा रहता है ॥ ३५ ॥ प्रकृतिमें गुणक्षोभ होनेके बाद जितने भी उत्तम और अधम भाव—पदार्थ प्रकट हुए हैं, उनमें कुशलसे रह सके ऐसा कोई भी नहीं है । कालभगवान् उन सभीके कुशलोंको कुचलते रहते हैं ॥ ३६ ॥

अतः राजन् ! जो श्रीभगवान् देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहङ्कारसे आवृत सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके हृदयोंमें जीवके नियामक अन्तर्यामी आत्मारूपसे सर्वत्र साक्षात् प्रकाशित हो रहे हैं—उन्हें तुम 'वह मैं ही हूँ' ऐसा जानो ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार मालाका ज्ञान हो जानेपर उसमें सर्पबुद्धि नहीं रहती, उसी प्रकार विवेक होनेपर जिसका कहीं पता नहीं लगता, ऐसा यह मायामय प्रपञ्च जिसमें कार्य-कारणरूपसे प्रतीत हो रहा है और जो स्वयं कर्मफल-कलुषित प्रकृतिसे परे है, उस नित्यमुक्त, निर्मल और ज्ञानस्वरूप परमात्माको मैं प्राप्त हो रहा हूँ ॥ ३८ ॥ संत-महात्मा जिनके चरणकमलोंके अङ्गुलिदलकी छिटकती हुई छटाका स्मरण करके अहङ्कार-रूप हृदयग्रन्थिको, जो कर्मोंसे गठित है, इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते हैं कि समस्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके अपने अन्तःकरणको निर्विषय करनेवाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते । तुम उन सर्वाश्रय भगवान् वासुदेवका भजन करो ॥ ३९ ॥ जो लोग मन और इन्द्रियरूप मगरोंसे भरे हुए इस संसारसागरको योगादि दुष्कर साधनोंसे पार करना चाहते हैं, उनका उस पार पहुँचना कठिन ही है; क्योंकि उन्हें कर्णधाररूप श्रीहरिका आश्रय नहीं है । अतः तुम तो भगवान्के आराधनीय चरणकमलोंको नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तर समुद्रको पार कर लो ॥ ४० ॥

१. प्रा० पा०—परावरे । २. प्रा० पा०—करादतः । ३. प्रा० पा०—स त्वं । ४. प्रा० पा०—सोऽस्ति ।
५. प्रा० पा०—वभाति । ६. प्रा० पा०—मप्लवेन । ७. प्रा० पा०—स त्वं ।

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा ।
दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥४१॥

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणाऽऽर्तानुकम्पिना ।
तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः ॥४२॥
निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः ।
साधूच्छिष्टं हि मे[1] सर्वमात्मना सह किं ददे ॥४३॥
प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः ।
राज्यं बलं मही[2] कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥४४॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥४५॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥४६॥
यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ।४७।

मैत्रेय[3] उवाच

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभूवन्मिषतां नृणाम् ॥४८॥
वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया ।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥४९॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ब्रह्माजीके पुत्र आत्मज्ञानी सनत्कुमारजीसे इस प्रकार आत्मतत्त्वका उपदेश पाकर महाराज पृथुने उनकी बहुत प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४१ ॥

राजा पृथुने कहा—भगवन् ! दीनदयालु श्रीहरिने मुझपर पहले कृपा की थी, उसीको पूर्ण करनेके लिये आपलोग पधारे हैं ॥ ४२ ॥ आपलोग बड़े ही दयालु हैं । जिस कार्यके लिये आपलोग पधारे थे, उसे आपलोगोंने अच्छी तरह सम्पन्न कर दिया । अब, इसके बदलेमें मैं आपलोगोंको क्या दूँ ? मेरे पास तो शरीर और इसके साथ जो कुछ है वह सब महापुरुषोंका ही प्रसाद है ॥ ४३ ॥ ब्रह्मन् ! प्राण, स्त्री, पुत्र सब प्रकारकी सामग्रियोंसे भरा हुआ भवन, राज्य, सेना, पृथ्वी और कोश—यह सब कुछ आप ही लोगोंका है, अतः आपके ही श्रीचरणोंमें अर्पित है ॥ ४४ ॥ वास्तवमें तो सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान और सम्पूर्ण लोकोंके शासनका अधिकार वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंको ही है ॥ ४५ ॥ ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपनी ही वस्तु दान देता है । दूसरे—क्षत्रिय आदि तो उसीकी कृपासे अन्न खानेको पाते हैं ॥ ४६ ॥ आपलोग वेदके पारगामी हैं, आपने अध्यात्मतत्त्वका विचार करके हमें निश्चितरूपसे समझा दिया है कि भगवान्‌के प्रति इस प्रकारकी अभेद-भक्ति ही उनकी उपलब्धिका प्रधान साधन है । आपलोग परम कृपालु हैं, अतः अपने इस दीनोद्धाररूप कर्मसे ही सर्वदा संतुष्ट रहें । आपके इस उपकारका बदला कोई क्या दे सकता है ? उसके लिये प्रयत्न करना भी अपनी हँसी कराना ही है ॥ ४७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! फिर आदिराज पृथुने आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ सनकादिकी पूजा की और वे उनके शीलकी प्रशंसा करते हुए सब लोगोंके सामने ही आकाशमार्गसे चले गये ॥ ४८ ॥ महात्माओंमें अग्रगण्य महाराज पृथु उनसे आत्मोपदेश पाकर चित्तकी एकाग्रतासे आत्मामें ही स्थित रहनेके कारण अपनेको कृतकृत्य-सा

१. प्रा० पा०—सर्वे मे ह्यात्मना । २. प्रा० पा०—मही बलं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है।

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् ।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्‌ब्रह्मसात्कृतम् ॥५०॥
फलं ब्रह्मणि विन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः ।
कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥५१॥
गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः ।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत् ॥५२॥
एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् ।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥५३॥
विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् ।
सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान् ॥५४॥
गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः ।
मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः ॥५५॥
राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः ।
सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु ॥५६॥
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः ।
तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥५७॥
वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन् ।
समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव ॥५८॥
धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव ।
कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥५९॥

अनुभव करने लगे ॥ ४९ ॥ वे ब्रह्मार्पण-बुद्धिसे समय, स्थान, शक्ति, न्याय और धनके अनुसार सभी कर्म करते थे ॥ ५० ॥ इस प्रकार एकाग्रचित्तसे समस्त कर्मोंका फल परमात्माको अर्पण करके आत्माको कर्मोंका साक्षी एवं प्रकृतिसे अतीत देखनेके कारण वे सर्वथा निर्लिप्त रहे ॥५१॥ जिस प्रकार सूर्यदेव सर्वत्र प्रकाश करनेपर भी वस्तुओंके गुणदोषसे निर्लेप रहते हैं, उसी प्रकार सार्वभौम साम्राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न और गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अहंकार-शून्य होनेके कारण वे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हुए ॥ ५२ ॥

इस प्रकार आत्मनिष्ठामें स्थित होकर सभी कर्तव्य कर्मोंका यथोचित रीतिसे अनुष्ठान करते हुए उन्होंने अपनी भार्या अर्चिके गर्भसे अपने अनुरूप पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५३ ॥ उनके नाम विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक थे । महाराज पृथु भगवान्‌के अंश थे । वे समय-समयपर, जब-जब आवश्यक होता था, जगत्‌के प्राणियोंकी रक्षाके लिये अकेले ही समस्त लोकपालोंके गुण धारण कर लिया करते थे । अपने उदार मन, प्रिय और हितकर वचन, मनोहर मूर्ति और सौम्य गुणोंके द्वारा प्रजाका रंजन करते रहनेसे दूसरे चन्द्रमाके समान उनका 'राजा' यह नाम सार्थक हुआ । सूर्य जिस प्रकार गरमीमें पृथ्वीका जल खींचकर वर्षाकालमें उसे पुनः पृथ्वीपर बरसा देता है तथा अपनी किरणोंसे सबको ताप पहुँचाता है, उसी प्रकार वे कररूपसे प्रजाका धन लेकर उसे दुष्कालादिके समय मुक्तहस्तसे प्रजाके हितमें लगा देते थे तथा सबपर अपना प्रभाव जमाये रखते थे ॥ ५४—५६ ॥ वे तेजमें अग्निके समान दुर्धर्ष, इन्द्रके समान अजेय, पृथ्वीके समान क्षमाशील और स्वर्गके समान मनुष्योंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले थे ॥ ५७ ॥ समय-समयपर प्रजा-जनोंको तृप्त करनेके लिये वे मेघके समान उनके अभीष्ट अर्थोंको खुले हाथसे लुटाते रहते थे । वे समुद्रके समान गम्भीर और पर्वतराज सुमेरुके समान धैर्यवान् भी थे ॥५८॥

महाराज पृथु दुष्टोंके दमन करनेमें यमराजके समान, आश्चर्यपूर्ण वस्तुओंके संग्रहमें हिमालयके समान, कोशकी समृद्धिमें कुबेरके समान और धनको छिपानेमें

मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन सहसौजसा[1] ।
अविषह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव ॥६०॥
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ।
वात्सल्ये मनुवन्नॄणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥६१॥
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः ।
भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु ।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥६२॥
कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह[2] ।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥६३॥

वरुणके समान थे ॥ ५९ ॥ शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी पटुता तथा पराक्रममें सर्वत्र गतिशील वायुके समान और तेजकी असह्यतामें भगवान् शंकरके समान थे ॥ ६० ॥ सौन्दर्यमें कामदेवके समान, उत्साहमें सिंहके समान, वात्सल्यमें मनुके समान और मनुष्योंके आधिपत्यमें सर्वसमर्थ ब्रह्माजीके समान थे ॥ ६१ ॥ ब्रह्मविचारमें बृहस्पति, इन्द्रियजयमें साक्षात् श्रीहरि तथा गौ, ब्राह्मण, गुरुजन एवं भगवद्भक्तोंकी भक्ति, लज्जा, विनय, शील एवं परोपकार आदि गुणोंमें अपने ही समान (अनुपम) थे ॥ ६२॥ लोग त्रिलोकीमें सर्वत्र उच्च स्वरसे उनकी कीर्तिका गान करते थे, इससे वे स्त्रियोंतकके कानोंमें वैसे ही प्रवेश पाये हुए थे जैसे सत्पुरुषोंके हृदयमें श्रीराम ॥ ६३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पृथुचरिते[3] द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

राजा पृथुकी तपस्या और परलोकगमन

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥
जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् ।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥
आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥
तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते ।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥ ४ ॥
कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित् ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार महामनस्वी प्रजापति पृथुने स्वयमेव अन्नादि तथा पुर-ग्रामादि सर्गकी व्यवस्था करके स्थावर-जङ्गम सभीकी आजीविकाका सुभीता कर दिया तथा साधुजनोचित धर्मोंका भी खूब पालन किया । 'मेरी अवस्था कुछ ढल गयी है और जिसके लिये मैंने इस लोकमें जन्म लिया था, उस प्रजारक्षणरूप ईश्वराज्ञाका पालन भी हो चुका है; अतः अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्षके लिये प्रयत्न करना चाहिये, यह सोचकर उन्होंने अपने विरहमें रोती हुई अपनी पुत्रीरूपा पृथ्वीका भार पुत्रोंको सौंप दिया और सारी प्रजाको बिलखती छोड़कर वे अपनी पत्नीसहित अकेले ही तपोवनको चल दिये ॥१–३॥ वहाँ भी वे वानप्रस्थ आश्रमके नियमानुसार उसी प्रकार कठोर तपस्यामें लग गये, जैसे पहले गृहस्थाश्रममें अखण्ड व्रतपूर्वक पृथ्वीको विजय करनेमें लगे थे ॥ ४ ॥ कुछ दिन तो उन्होंने कन्द-मूल-फल खाकर बिताये, कुछ काल सूखे पत्ते

१. प्रा० पा०—च महौजसा । २. प्रा० पा०—हि । ३. प्राचीन प्रतिमें 'पृथुचरिते' इतना अंश नहीं है ।

अब्भक्षः कतिचित्पक्षान् वायुभक्षस्ततः परम् ॥ ५ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः[२] ।

आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥ ६ ॥

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः ।

आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥ ७ ॥

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्ममलाशयः ।

प्राणायामैः संनिरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः ॥ ८ ॥

सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम् ।

योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा ।

भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् ॥१०॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-

सत्त्वात्मनस्तदनु संसरणानुपूर्त्या ।

ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन

चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥११॥

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-

स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।

तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो

यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥१२॥

खाकर रहे, फिर कुछ पखवाड़ोंतक जलपर ही रहे और इसके बाद केवल वायुसे ही निर्वाह करने लगे ॥ ५ ॥ वीरवर पृथु मुनिवृत्तिसे रहते थे । गर्मियोंमें उन्होंने पञ्चाग्नियोंका सेवन किया, वर्षाऋतुमें खुले मैदानमें रहकर अपने शरीरपर जलकी धाराएँ सहीं और जाड़ेमें गलेतक जलमें खड़े रहे । वे प्रतिदिन मिट्टीकी वेदीपर ही शयन करते थे ॥ ६ ॥ उन्होंने शीतोष्णादि सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहा तथा वाणी और मनका संयम करके ब्रह्मचर्य-का पालन करते हुए प्राणोंको अपने अधीन किया । इस प्रकार श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिये उन्होंने उत्तम तप किया ॥ ७ ॥ इस क्रमसे उनकी तपस्या बहुत पुष्ट हो गयी और उसके प्रभावसे कर्ममल नष्ट हो जानेके कारण उनका चित्त सर्वथा शुद्ध हो गया । प्राणायामोंके द्वारा मन और इन्द्रियोंके निरुद्ध हो जानेसे उनका वासनाजनित बन्धन भी कट गया ॥ ८ ॥ तब, भगवान् सनत्कुमारने उन्हें जिस परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोगकी शिक्षा दी थी, उसीके अनुसार राजा पृथु पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करने लगे ॥ ९ ॥ इस तरह भगवत्परायण होकर श्रद्धापूर्वक सदाचारका पालन करते हुए निरन्तर साधन करनेसे परब्रह्म परमात्मामें उनकी अनन्यभक्ति हो गयी ॥ १० ॥

इस प्रकार भगवदुपासनासे अन्तःकरण शुद्ध-सात्त्विक हो जानेपर निरन्तर भगवच्चिन्तनके प्रभावसे प्राप्त हुई इस अनन्य भक्तिसे उन्हें वैराग्यसहित ज्ञानकी प्राप्ति हुई और फिर उस तीव्र ज्ञानके द्वारा उन्होंने जीवके उपाधि-भूत अहंकारको नष्ट कर दिया, जो सब प्रकारके संशय-विपर्ययका आश्रय है ॥ ११ ॥ इसके पश्चात् देहात्मबुद्धि-की निवृत्ति और परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णकी अनुभूति होनेपर अन्य सब प्रकारकी सिद्धि आदिसे भी उदासीन हो जानेके कारण उन्होंने उस तत्त्वज्ञानके लिये भी प्रयत्न करना छोड़ दिया, जिसकी सहायतासे पहले अपने जीवकोशका नाश किया था; क्योंकि जबतक साधकको योगमार्गके द्वारा श्रीकृष्णकथामृतमें अनुराग नहीं होता, तबतक केवल योगसाधनासे उसका मोहजनित प्रमाद दूर नहीं होता—भ्रम नहीं मिटता ॥ १२ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें पाँचवें श्लोकके उत्तरार्द्धका 'अब्भक्षः' के बादका सब अंश खण्डित है । २. प्रा० पा०—सारवान्मुनिः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीहः' इतना अंश खण्डित है ।

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि ।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥१३॥

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः ।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥१४॥

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥१५॥

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः ।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥१६॥

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् ।
भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे ॥१७॥

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात् ।
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥१८॥

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् ।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः ॥१९॥

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया ।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥२०॥

फिर जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो वीरवर पृथुने अपने चित्तको दृढतापूर्वक परमात्मामें स्थिर कर ब्रह्मभावमें स्थित हो अपना शरीर त्याग दिया ॥ १३ ॥ उन्होंने एड़ीसे गुदाके द्वारको रोककर प्राणवायुको धीरे-धीरे मूलाधारसे ऊपरकी ओर उठाते हुए उसे क्रमशः नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें स्थित किया ॥ १४ ॥ फिर उसे और ऊपरकी ओर ले जाते हुए क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर किया। अब उन्हें किसी प्रकारके सांसारिक भोगोंकी लालसा नहीं रही । फिर यथास्थान विभाग करके प्राणवायुको समष्टि वायुमें, पार्थिव शरीरको पृथ्वीमें और शरीरके तेजको समष्टि तेजमें लीन कर दिया ॥ १५ ॥ हृदयाकाशादि देहावच्छिन्न आकाशको महाकाशमें और शरीरगत रुधिरादि जलीय अंशको समष्टि जलमें लीन किया । इसी प्रकार फिर पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें लीन किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर मनको [सविकल्प ज्ञानमें जिनके अधीन वह रहता है, उन] इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको उनके कारणरूप तन्मात्राओंमें और सूक्ष्म भूतों (तन्मात्राओं)के कारण अहङ्कारके द्वारा आकाश, इन्द्रिय और तन्मात्राओंको उसी अहङ्कारमें लीन कर, अहङ्कारको महत्तत्त्वमें लीन किया ॥ १७ ॥ फिर सम्पूर्ण गुणोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले उस महत्तत्त्वको मायोपाधिक जीवमें स्थित किया । तदनन्तर उस मायारूप जीवकी उपाधिको भी उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होकर त्याग दिया ॥ १८ ॥

महाराज पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि भी उनके साथ वनको गयी थीं । वे बड़ी सुकुमारी थीं, पैरोंसे भूमिका स्पर्श करने योग्य भी नहीं थीं ॥ १९ ॥ फिर भी उन्होंने अपने स्वामीके व्रत और नियमादिका पालन करते हुए उनकी खूब सेवा की और मुनिवृत्तिके अनुसार कन्द-मूल आदिसे निर्वाह किया । इससे यद्यपि वे बहुत दुर्बल हो गयी थीं, तो भी प्रियतमके करस्पर्शसे सम्मानित होकर उसीमें आनन्द माननेके कारण उन्हें किसी प्रकार

१. प्रा० पा०—वायुमुत्सर्पय० । २. प्रा० पा०—वायौ वायुं । ३. प्रा० पा०—स्थो व्यधात् । ४. प्रा० पा०—कर्षितदेह० ।

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥२१॥
विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता[1]
दत्त्वोदकं[2] भर्तुरुदारकर्मणः ।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ[3] ॥२२॥
विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् ।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥२३॥
कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि ।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥२४॥

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥२५॥
सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥२६॥
तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥२७॥
स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि ।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।
यं[4] वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताशयः[5] ॥२९॥
इत्थंभूतानुभावोऽसौ पृथुः स[6] भगवत्तमः ।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य[7] ते ॥३०॥
य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत् ।

कष्ट नहीं होता था ॥ २० ॥ अब पृथ्वीके स्वामी और अपने प्रियतम महाराज पृथुकी देहको जीवनके चेतना आदि सभी धर्मोंसे रहित देख उस सतीने कुछ देर विलाप किया । फिर पर्वतके ऊपर चिता बनाकर उसे उस चितापर रख दिया ॥ २१ ॥ इसके बाद उस समयके सारे कृत्य कर नदीके जलमें स्नान किया । अपने परम पराक्रमी पतिको जलाञ्जलि दे आकाशस्थित देवताओंकी वन्दना की तथा तीन बार चिताकी परिक्रमा कर पतिदेवके चरणोंका ध्यान करती हुई अग्निमें प्रवेश कर गयी ॥२२॥ परमसाध्वी अर्चिको इस प्रकार अपने पति वीरवर पृथुका अनुगमन करते देख, सहस्रों वरदायिनी देवियोंने अपने-अपने पतियोंके साथ उनकी स्तुति की ॥ २३ ॥ वहाँ देवताओंके बाजे बजने लगे । उस समय उस मन्दराचलके शिखरपर वे देवाङ्गनाएँ पुष्पोंकी वर्षा करती हुई आपसमें इस प्रकार कहने लगीं ॥ २४ ॥

देवियोंने कहा—अहो ! यह स्त्री धन्य है ! इसने अपने पति राजराजेश्वर पृथुकी मन-वाणी-शरीरसे ठीक उसी प्रकार सेवा की है, जैसे श्रीलक्ष्मीजी यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुकी करती हैं ॥ २५ ॥ अवश्य ही अपने अचिन्त्य कर्मके प्रभावसे यह सती हमें भी लाँघकर अपने पतिके साथ उच्चतर लोकोंको जा रही है ॥ २६ ॥ इस लोकमें कुछ ही दिनोंका जीवन होनेपर भी जो लोग भगवान्‌के परमपदकी प्राप्ति करानेवाला आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये संसारमें कौन पदार्थ दुर्लभ है ॥ २७ ॥ अतः जो पुरुष बड़ी कठिनतासे भूलोकमें मोक्षका साधनस्वरूप मनुष्य-शरीर पाकर भी विषयोंमें आसक्त रहता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है; हाय ! हाय ! वह ठगा गया ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जिस समय देवाङ्गनाएँ इस प्रकार स्तुति कर रही थीं, भगवान्‌के जिस परमधामको आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवत्प्राण महाराज पृथु गये, महारानी अर्चि भी उसी पतिलोकको गयीं ॥२९॥ परमभागवत पृथुजी ऐसे ही प्रभावशाली थे । उनके चरित बड़े उदार हैं, मैंने तुम्हारे सामने उनका वर्णन किया ॥३०॥ जो पुरुष इस परम पवित्र चरित्रको श्रद्धापूर्वक (निष्काम-

१. प्रा० पा०—जलप्लुता । २. प्रा० पा०—कृत्योदकं । ३. प्रा० पा०—पादम् । ४. प्रा० पा०—यो वा । ५. प्रा० पा०—ताश्रयः । ६. प्रा० पा०—सोऽभवदुत्तमः । ७. प्राचीन प्रतिमें 'मुद्दामचरित'—इतना अंश खण्डित है ।

श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥३१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः ।
वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्३२
त्रिःकृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवाऽऽदृता ।
अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥३३॥
अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ।
इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥३४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिमभीप्सुभिः ।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥३५॥
विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् ।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा ॥३६॥
मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन् ।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥३७॥
वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् ।
अस्मिन् कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ॥३८॥
अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन् विमुक्तसङ्गः ।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥३९॥

भावसे) एकाग्रचित्तसे पढ़ता, सुनता अथवा सुनाता है—वह भी महाराज पृथुके पद—भगवान्‌के परमधामको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ इसका सकामभावसे पाठ करनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेज प्राप्त करता है, क्षत्रिय पृथ्वीपति हो जाता है, वैश्य व्यापारियोंमें प्रधान हो जाता है और शूद्रमें साधुता आ जाती है ॥ ३२ ॥ स्त्री हो अथवा पुरुष—जो कोई इसे आदरपूर्वक तीन बार सुनता है, वह संतानहीन हो तो पुत्रवान्, धनहीन हो तो महाधनी, कीर्तिहीन हो तो यशस्वी और मूर्ख हो तो पण्डित हो जाता है । यह चरित मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाला और अमङ्गलको दूर करनेवाला है ॥ ३३-३४ ॥ यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और कलियुगके दोषोंका नाश करनेवाला है । यह धर्मादि चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें भी बड़ा सहायक है; इसलिये जो लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भलीभाँति सिद्ध करना चाहते हों, उन्हें इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ३५ ॥ जो राजा विजयके लिये प्रस्थान करते समय इसे सुनकर जाता है, उसके आगे आ-आकर राजा-लोग उसी प्रकार भेंटें रखते हैं, जैसे पृथुके सामने रखते थे ॥ ३६ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अन्य सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर भगवान्‌में विशुद्ध निष्काम भक्ति-भाव रखते हुए महाराज पृथुके इस निर्मल चरितको सुने, सुनावे और पढ़े ॥३७॥ विदुरजी ! मैंने भगवान्‌के माहात्म्यको प्रकट करनेवाला यह पवित्र चरित्र तुम्हें सुना दिया । इसमें प्रेम करनेवाला पुरुष महाराज पृथुकी-सी गति पाता है ॥ ३८ ॥ जो पुरुष इस पृथु-चरितका प्रतिदिन आदरपूर्वक निष्कामभावसे श्रवण और कीर्तन करता है, उसका जिनके चरण संसार-सागरको पार करनेके लिये नौकाके समान हैं, उन श्रीहरिमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—च्छूद्र उत्तमता ।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

पृथुकी वंशपरम्परा और प्रचेताओंको भगवान् रुद्रका उपदेश

मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजाऽऽसीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः ।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥ १ ॥
हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः ॥ २ ॥
अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः ।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥ ३ ॥
पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा ।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥ ४ ॥
अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत ।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥ ५ ॥
राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् ।
मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह ॥ ६ ॥
तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक् ।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥ ७ ॥
हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट् सुतान् ।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥ ८ ॥
बर्हिषत् सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः ।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥
यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः ।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥ १० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! महाराज पृथुके बाद उनके पुत्र परम यशस्वी विजिताश्व राजा हुए । उनका अपने छोटे भाइयोंपर बड़ा स्नेह था, इसलिये उन्होंने चारोंको एक-एक दिशाका अधिकार सौंप दिया ॥ १ ॥ राजा विजिताश्वने हर्यक्षको पूर्व, धूम्रकेशको दक्षिण, वृकको पश्चिम और द्रविणको उत्तर दिशाका राज्य दिया ॥ २ ॥ उन्होंने इन्द्रसे अन्तर्धान होनेकी शक्ति प्राप्त की थी, इसलिये उन्हें 'अन्तर्धान' भी कहते थे । उनकी पत्नीका नाम शिखण्डिनी था । उससे उनके तीन सुपुत्र हुए ॥ ३ ॥ उनके नाम पावक, पवमान और शुचि थे । पूर्वकालमें वसिष्ठजीका शाप होनेसे उपर्युक्त नामके अग्नियोंने ही उनके रूपमें जन्म लिया था । आगे चलकर योगमार्गसे ये फिर अग्निरूप हो गये ॥ ४ ॥

अन्तर्धानके नभस्वती नामकी पत्नीसे एक और पुत्ररत्न हविर्धान प्राप्त हुआ । महाराज अन्तर्धान बड़े उदार पुरुष थे । जिस समय इन्द्र उनके पिताके अश्वमेध यज्ञका घोड़ा हरकर ले गये थे, उन्होंने पता लग जानेपर भी उनका वध नहीं किया था ॥ ५ ॥ राजा अन्तर्धानने कर लेना, दण्ड देना, जुरमाना वसूल करना आदि कर्तव्योंको बहुत कठोर एवं दूसरोंके लिये कष्टदायक समझकर एक दीर्घकालीन यज्ञमें दीक्षित होनेके बहाने अपना राजकाज छोड़ दिया ॥ ६ ॥ यज्ञकार्यमें लगे रहनेपर भी उन आत्मज्ञानी राजाने भक्तभयभञ्जन पूर्णतम परमात्माकी आराधना करके सुदृढ समाधिके द्वारा भगवान्के दिव्य लोकको प्राप्त किया ॥ ७ ॥

विदुरजी ! हविर्धानकी पत्नी हविर्धानीने बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामके छः पुत्र पैदा किये ॥ ८ ॥ कुरुश्रेष्ठ विदुरजी ! इनमें हविर्धानके पुत्र महाभाग बर्हिषद् यज्ञादि कर्मकाण्ड और योगाभ्यासमें कुशल थे । उन्होंने प्रजापतिका पद प्राप्त किया ॥ ९ ॥ उन्होंने एक स्थानके बाद दूसरे स्थानमें लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशोंसे पट गयी थी । (इसीसे आगे चलकर वे 'प्राचीनबर्हि' नामसे विख्यात हुए) ॥ १० ॥

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम् ।
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम् ।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥११॥
विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥१२॥
प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः[1] प्रचेतसः ॥१३॥
पित्राऽऽदिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन् ।
दशवर्षसहस्राणि[2] तपसाऽऽर्चंस्तपस्पतिम् ॥१४॥
यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता ।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥१५॥

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथाऽऽसीत्पथि सङ्गमः ।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत् ॥१६॥
सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम् ।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥१७॥
आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे ।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः ॥१८॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः ॥१९॥

राजा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी कन्या शतद्रुतिसे विवाह किया था। सर्वाङ्गसुन्दरी किशोरी शतद्रुति सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर विवाह-मण्डपमें जब भाँवर देनेके लिये घूमने लगी, तब स्वयं अग्निदेव भी मोहित होकर उसे वैसे ही चाहने लगे जैसे शुकीको चाहा था॥ ११ ॥ नवविवाहिता शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी झनकारसे ही दिशा-विदिशाओंके देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य और नाग—सभीको वशमें कर लिया था ॥१२॥ शतद्रुतिके गर्भसे प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामके दस पुत्र हुए। वे सब बड़े ही धर्मज्ञ तथा एक-से नाम और आचरणवाले थे ॥१३॥ जब पिताने उन्हें संतान उत्पन्न करनेका आदेश दिया, तब उन सबने तपस्या करनेके लिये समुद्रमें प्रवेश किया। वहाँ दस हजार वर्षतक तपस्या करते हुए उन्होंने तपका फल देनेवाले श्रीहरिकी आराधना की ॥ १४ ॥ घरसे तपस्या करनेके लिये जाते समय मार्गमें श्रीमहादेवजीने उन्हें दर्शन देकर कृपापूर्वक जिस तत्त्वका उपदेश दिया था, उसीका वे एकाग्रतापूर्वक ध्यान, जप और पूजन करते रहे ॥ १५ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन्! मार्गमें प्रचेताओंका श्रीमहादेवजीके साथ किस प्रकार समागम हुआ और उनपर प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हें क्या उपदेश किया, वह सारयुक्त बात आप कृपा करके मुझसे कहिये ॥ १६ ॥ ब्रह्मर्षे! शिवजीके साथ समागम होना तो देहधारियोंके लिये बहुत कठिन है। औरोंकी तो बात ही क्या है—मुनिजन भी सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर उन्हें पानेके लिये उनका निरन्तर ध्यान ही किया करते हैं, किंतु सहजमें पाते नहीं ॥ १७ ॥ यद्यपि भगवान् शंकर आत्माराम हैं, उन्हें अपने लिये न कुछ करना है, न पाना, तो भी इस लोकसृष्टिकी रक्षाके लिये वे अपनी घोररूपा शक्ति (शिवा) के साथ सर्वत्र विचरते रहते हैं ॥ १८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! साधुस्वभाव प्रचेतागण पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर तपस्यामें चित्त लगा

१. प्रा० पा०—बद्धस्नेहाः। २. प्राचीन प्रतिमें 'दशवर्षसहस्राणि' ''से लेकर सत्रहवें श्लोककी समाप्तितक पूरा अंश मूलमें नहीं है।

समुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन् सुमहत्सरः ।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥२०॥
नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम् ॥२१॥
मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् ।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥२२॥
तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् ।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥२३॥
तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् ।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः ॥२४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥२५॥
स तान् प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिपदः[2] पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥२७॥
यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥२८॥
स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।

पश्चिमकी ओर चल दिये ।१९। चलते-चलते उन्होंने समुद्रके समान विशाल एक सरोवर देखा । वह महापुरुषोंके चित्तके समान बड़ा ही स्वच्छ था तथा उसमें रहनेवाले मत्स्यादि जलजीव भी प्रसन्न जान पड़ते थे ॥ २० ॥ उसमें नीलकमल, लाल कमल, रातमें, दिनमें और सायङ्कालमें खिलनेवाले कमल तथा इन्दीवर आदि अन्य कई प्रकारके कमल सुशोभित थे । उसके तटोंपर हंस, सारस, चकवा और कारण्डव आदि जलपक्षी चहक रहे थे ॥ २१ ॥ उसके चारों ओर तरह-तरहके वृक्ष और लताएँ थीं, उनपर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे । उनकी मधुर ध्वनिसे हर्षित होकर मानो उन्हें रोमाञ्च हो रहा था । कमलकोशके परागपुञ्ज वायुके झकोरोंसे चारों ओर उड़ रहे थे, मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा है ॥२२॥ वहाँ मृदङ्ग, पणव आदि बाजोंके साथ अनेकों दिव्य राग-रागिनियोंके क्रमसे गायनकी मधुर ध्वनि सुनकर उन राजकुमारोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २३ ॥ इतनेमें ही उन्होंने देखा कि देवाधिदेव भगवान् शंकर अपने अनुचरोंके सहित उस सरोवरसे बाहर आ रहे हैं । उनका शरीर तपी हुई सुवर्णराशिके समान कान्तिमान् है, कण्ठ नीलवर्ण है तथा तीन विशाल नेत्र हैं । वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये उद्यत हैं । अनेकों गन्धर्व उनका सुयश गा रहे हैं । उनका सहसा दर्शन पाकर प्रचेताओंको बड़ा कुतूहल हुआ और उन्होंने शंकरजीके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २४-२५ ॥ तब शरणागतभयहारी धर्मवत्सल भगवान् शंकरने अपने दर्शनसे प्रसन्न हुए उन धर्मज्ञ और शीलसम्पन्न राजकुमारोंसे प्रसन्न होकर कहा ॥२६॥

श्रीमहादेवजी बोले—तुमलोग राजा प्राचीनबर्हिके पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो । तुम जो कुछ करना चाहते हो, वह भी मुझे मालूम है । इस समय तुमलोगोंपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया है ॥ २७ ॥ जो व्यक्ति अव्यक्त प्रकृति तथा जीवसंज्ञक पुरुष—इन दोनोंके नियामक भगवान् वासुदेवकी साक्षात् शरण लेता है, वह मुझे परम प्रिय है ॥ २८ ॥ अपने वर्णाश्रमधर्मका भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्मके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त होता है । और इससे भी अधिक पुण्य होनेपर वह मुझे प्राप्त होता

१. प्रा० पा०—क्राक्षका० । २. प्रा० पा०—बर्हिषदः ।

अव्याकृतं[1] भागवतोऽथ वैष्णवं[2]

पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥२९॥

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा ।

न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥३०॥

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।

निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि[3] वः ॥३१॥

मैत्रेय[4] उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥३२॥

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्धुर्य स्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।

भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥३३॥

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।

वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥३४॥

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।

नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥३५॥

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।

नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥३६॥

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।

है । परंतु जो भगवान्‌का अनन्य भक्त है, वह तो मृत्युके बाद ही सीधे भगवान् विष्णुके उस सर्व-प्रपञ्चातीत परमपदको प्राप्त हो जाता है, जिसे रुद्ररूप-में स्थित मैं तथा अन्य आधिकारिक देवता अपने-अपने अधिकारकी समाप्तिके बाद प्राप्त करेंगे ॥ २९ ॥ तुम लोग भगवद्भक्त होनेके नाते मुझे भगवान्‌के समान ही प्यारे हो । इसी प्रकार भगवान्‌के भक्तोंको भी मुझसे बढ़कर और कोई कभी प्रिय नहीं होता ॥ ३० ॥ अब मैं तुम्हें एक बड़ा ही पवित्र, मङ्गलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ । इसका तुमलोग शुद्ध-भावसे जप करना ॥ ३१ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—तब नारायणपरायण करुणार्द्रहृदय भगवान् शिवने अपने सामने हाथ जोड़े खड़े हुए उन राजपुत्रोंको यह स्तोत्र सुनाया ॥ ३२ ॥

भगवान् रुद्र स्तुति करने लगे—भगवन् ! आपका उत्कर्ष उच्चकोटिके आत्मज्ञानियोंके कल्याणके लिये—निजानन्द लाभके लिये है, उससे मेरा भी कल्याण हो ! आप सर्वदा अपने निरतिशय परमानन्द-स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं, ऐसे सर्वात्मक आत्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥ आप पद्मनाभ (समस्त लोकोंके आदिकारण) हैं; भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) और इन्द्रियों-के नियन्ता शान्त, एकरस और स्वयंप्रकाश वासुदेव (चित्तके अधिष्ठाता) भी आप ही हैं; आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ आप ही सूक्ष्म (अव्यक्त), अनन्त और मुखाग्निके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेवाले अहङ्कारके अधिष्ठाता सङ्कर्षण तथा जगत्‌के प्रकृष्ट ज्ञानके उद्गमस्थान बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं; आपको नमस्कार है ॥ ३५ ॥ आप ही इन्द्रियोंके स्वामी, मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध हैं; आपको बार-बार नमस्कार है । आप अपने तेजसे जगत्‌को व्याप्त करनेवाले सूर्यदेव हैं, पूर्ण होनेके कारण आपमें वृद्धि और क्षय नहीं होता; आपको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ आप स्वर्ग और मोक्षके द्वार तथा निरन्तर पवित्र हृदयमें रहनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ।

१. प्रा० पा०—अव्याहतं । २. प्रा० पा०—वतं सवैष्णवं । ३. प्रा० पा०—यद्व० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' से लेकर 'श्रीरुद्र उवाच' तक सम्पूर्ण अंश मूलमें नहीं है ।

नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥३७॥
नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥३८॥
सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च ॥३९॥
अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥४०॥
प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमोऽधर्मविपाकाय[1] मृत्यवे दुःखदाय च ॥४१॥
नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने ।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च ॥४२॥
शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये ॥४३॥
दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं[2] स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥४४॥

आप ही सुवर्णरूप वीर्यसे युक्त और चातुर्होत्र कर्मके साधन तथा विस्तार करनेवाले अग्निदेव हैं; आपको नमस्कार है ॥३७॥ आप पितर और देवताओंके पोषक सोम हैं तथा तीनों वेदोंके अधिष्ठाता हैं; हम आपको नमस्कार करते हैं, आप ही समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाले सर्वरस (जल) रूप हैं; आपको नमस्कार है ॥३८॥ आप समस्त प्राणियोंके देह, पृथ्वी और विराट्स्वरूप हैं तथा त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिस्वरूप वायु (प्राण) हैं; आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ आप ही अपने गुण शब्दके द्वारा—समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले तथा बाहर-भीतरका भेद करनेवाले आकाश हैं तथा आप ही महान् पुण्योंसे प्राप्त होनेवाले परम तेजोमय स्वर्ग-वैकुण्ठादि लोक हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है ॥ ४० ॥ आप पितृलोककी प्राप्ति करानेवाले प्रवृत्ति-कर्मरूप और देवलोककी प्राप्तिके साधन निवृत्तिकर्मरूप हैं तथा आप ही अधर्मके फलस्वरूप दुःखदायक मृत्यु हैं; आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ नाथ ! आप ही पुराणपुरुष तथा सांख्य और योगके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं; आप सब प्रकारकी कामनाओंकी पूर्तिके कारण, साक्षात् मन्त्रमूर्ति और महान् धर्मस्वरूप हैं। आपकी ज्ञानशक्ति किसी भी प्रकार कुण्ठित होनेवाली नहीं है; आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ४२ ॥ आप ही कर्ता, करण और कर्म—तीनों शक्तियोंके एकमात्र आश्रय हैं; आप ही अहङ्कारके अधिष्ठाता रुद्र हैं, आप ही ज्ञान और क्रियास्वरूप हैं तथा आपसे ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—चार प्रकारकी वाणीकी अभिव्यक्ति होती है; आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

प्रभो ! हमें आपके दर्शनोंकी अभिलाषा है; अतः आपके भक्तजन जिसका पूजन करते हैं और जो आपके निजजनोंको अत्यन्त प्रिय है, अपने उस अनूप रूपकी आप हमें झाँकी कराइये । आपका वह रूप अपने गुणोंसे समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाला है ॥ ४४ ॥

१. प्रा० पा०—धर्माधर्मविवेकाय । २. प्रा० पा०—प्रियतरं ।

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहुं सुजातरुचिराननम् ॥४५॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥४६॥
प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥४८॥
सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्या क्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥४९॥
पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसंक्रामयद्विश्वं नाभ्याऽऽवर्तगभीरया ॥५०॥
श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥५१॥
पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥५२॥
एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।

वह वर्षाकालीन मेघके समान स्निग्ध श्याम और सम्पूर्ण सौन्दर्योंका सार-सर्वस्व है । सुन्दर चार विशाल भुजाएँ, महामनोहर मुखारविन्द, कमलदलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, सुघड़ नासिका, मनमोहिनी दन्तपंक्ति, अमोल-कपोलयुक्त मनोहर मुखमण्डल और शोभाशाली समान कर्णयुगल हैं ॥ ४५-४६ ॥ प्रीतिपूर्ण उन्मुक्त हास्य, तिरछी चितवन, काली-काली घुँघराली अलकें, कमलकुसुमकी केसरके समान फहराता हुआ पीताम्बर, झिलमिलाते हुए कुण्डल, चमचमाते हुए मुकुट, कङ्कण, हार, नूपुर और मेखला आदि विचित्र आभूषण तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला और कौस्तुभमणिके कारण उसकी अपूर्व शोभा है ॥ ४७-४८ ॥ उसके सिंहके समान स्थूल कंधे हैं—जिनपर हार, केयूर एवं कुण्डलादिकी कान्ति झिलमिलाती रहती है—तथा कौस्तुभमणिकी कान्तिसे सुशोभित मनोहर ग्रीवा है । उसका श्यामल वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नके रूपमें लक्ष्मीजी-का नित्य निवास होनेके कारण कसौटीकी शोभाको भी मात करता है ॥ ४९ ॥ उसका त्रिवलीसे सुशोभित, पीपलके पत्तेके समान सुडौल उदर श्वासके आने-जानेसे हिलता हुआ बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है । उसमें जो भँवरके समान चक्करदार नाभि है, वह इतनी गहरी है कि उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व मानो फिर उसीमें लीन होना चाहता है ॥ ५० ॥ श्यामवर्ण कटिभागमें पीताम्बर और सुवर्णकी मेखला शोभायमान है । समान और सुन्दर चरण, पिंडली, जाँघ और घुटनोंके कारण आपका दिव्य विग्रह बड़ा ही सुघड़ जान पड़ता है ॥ ५१ ॥ आपके चरणकमलोंकी शोभा शरद्-ऋतुके कमल-दलकी कान्तिका भी तिरस्कार करती है । उनके नखोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह जीवोंके हृदया-न्धकारको तत्काल नष्ट कर देता है । हमें आप कृपा करके भक्तोंके भयहारी एवं आश्रयस्वरूप उसी रूपका दर्शन कराइये । जगद्गुरो ! हम अज्ञानावृत प्राणियोंको अपनी प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले आप ही हमारे गुरु हैं ॥ ५२ ॥

प्रभो ! चित्तशुद्धिकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको आपके इस रूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये;

१. प्राचीन प्रतिमें 'शङ्खचक्रगदापद्म' 'से लेकर इक्यावनवें श्लोकके पूर्वार्ध (दुकूलस्वर्णमेखलम्) तकका पूरा अंश मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।

यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥५३॥
भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥५४॥
तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥५५॥
यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥५६॥
क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥
अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५८॥
न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥५९॥
यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥६०॥
यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्
बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।

इसकी भक्ति ही स्वधर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अभय करनेवाली है ॥ ५३ ॥ स्वर्गका शासन करनेवाला इन्द्र भी आपको ही पाना चाहता है तथा विशुद्ध आत्मज्ञानियोंकी गति भी आप ही हैं । इस प्रकार आप सभी देहधारियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं; केवल भक्तिमान् पुरुष ही आपको पा सकते हैं ॥ ५४ ॥ सत्पुरुषोंके लिये भी दुर्लभ अनन्य भक्तिसे भगवान्‌को प्रसन्न करके, जिनकी प्रसन्नता किसी अन्य साधनासे दुःसाध्य है ऐसा कौन होगा जो उनके चरणतलके अतिरिक्त और कुछ चाहेगा ॥ ५५ ॥ जो काल अपने अदम्य उत्साह और पराक्रमसे फड़कती हुई भौंहके इशारेसे सारे संसारका संहार कर डालता है, वह भी आपके चरणोंकी शरणमें गये हुए प्राणीपर अपना अधिकार नहीं मानता ॥ ५६ ॥ ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका यदि आधे क्षणके लिये भी समागम हो जाय तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्षको कुछ नहीं समझता; फिर मर्त्यलोकके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ॥ ५७ ॥ प्रभो ! आपके चरण सम्पूर्ण पापराशिको हर लेनेवाले हैं । हम तो केवल यही चाहते हैं कि जिन लोगोंने आपकी कीर्ति और तीर्थ (गङ्गाजी) में आन्तरिक और बाह्य स्नान करके मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकारके पापोंको धो डाला है तथा जो जीवोंके प्रति दया, राग-द्वेषरहित चित्त तथा सरलता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उन आपके भक्तजनोंका सङ्ग हमें सदा प्राप्त होता रहे । यही हमपर आपकी बड़ी कृपा होगी ॥ ५८ ॥ जिस साधकका चित्त भक्तियोगसे अनुगृहीत एवं विशुद्ध होकर न तो बाह्य विषयोंमें भटकता है और न अज्ञानगुहारूप प्रकृतिमें ही लीन होता है, वह अनायास ही आपके स्वरूपका दर्शन पा जाता है ॥ ५९ ॥ जिसमें यह सारा जगत् दिखायी देता है और जो स्वयं सम्पूर्ण जगत्‌में भास रहा है, वह आकाशके समान विस्तृत और परम प्रकाशमय ब्रह्मतत्त्व आप ही हैं ॥ ६० ॥

भगवन् ! आपकी माया अनेक प्रकारके रूप धारण करती है । इसीके द्वारा आप इस प्रकार जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं जैसे यह कोई सद्वस्तु हो । किंतु इससे आपमें किसी प्रकारका विकार

१. प्रा० पा०—सज्ञानां । २. प्रा० पा०—राकाश इव । ३. प्रा० पा०—विस्तृतः ।

यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि ॥६१॥
क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं[1]
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥६२॥
त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥६३॥
सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं[2] यः ॥६४॥
स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः[3] ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥६५॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥६६॥

नहीं आता । मायाके कारण दूसरे लोगोंमें ही भेदबुद्धि उत्पन्न होती है, आप परमात्मापर वह अपना प्रभाव डालनेमें असमर्थ होती है । आपको तो हम परम स्वतन्त्र ही समझते हैं ॥ ६१ ॥ आपका स्वरूप पञ्चभूत इन्द्रिय और अन्तःकरणके प्रेरकरूपसे उपलक्षित होता है । जो कर्मयोगी पुरुष सिद्धि प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके कर्मोंद्वारा आपके इस सगुण साकार स्वरूपका श्रद्धापूर्वक भलीभाँति पूजन करते हैं, वे ही वेद और शास्त्रोंके सच्चे मर्मज्ञ हैं ॥ ६२ ॥ प्रभो ! आप ही अद्वितीय आदिपुरुष हैं । सृष्टिके पूर्व आपकी मायाशक्ति सोयी रहती है । फिर उसीके द्वारा सत्त्व, रज और तमरूप गुणोंका भेद होता है और इसके बाद उन्हीं गुणोंसे महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि और समस्त प्राणियोंसे युक्त इस जगत्‌की उत्पत्ति होती है ॥ ६३ ॥ फिर आप अपनी ही मायाशक्तिसे रचे हुए इन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जभेदसे चार प्रकारके शरीरोंमें अंशरूपसे प्रवेश कर जाते हैं और जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपने ही उत्पन्न किये हुए मधुका आस्वादन करती हैं, उसी प्रकार वह आपका अंश उन शरीरोंमें रहकर इन्द्रियोंके द्वारा इन तुच्छ विषयोंको भोगता है । आपके उस अंशको ही पुरुष या जीव कहते हैं ॥ ६४ ॥

प्रभो ! आपका तत्त्वज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं अनुमानसे होता है । प्रलयकाल उपस्थित होनेपर कालस्वरूप आप ही अपने प्रचण्ड एवं असह्य वेगसे पृथ्वी आदि भूतोंको अन्य भूतोंसे विचलित कराकर समस्त लोकोंका संहार कर देते हैं—जैसे वायु अपने असहनीय एवं प्रचण्ड झोंकोंसे मेघोंके द्वारा ही मेघोंको तितर-बितर करके नष्ट कर डालती है ॥ ६५ ॥ भगवन् ! यह मोहग्रस्त जीव प्रमादवश हर समय इसी चिन्तामें रहता है कि 'अमुक कार्य करना है' । इसका लोभ बढ़ गया है और इसे विषयोंकी ही लालसा बनी रहती है । किंतु आप सदा ही सजग रहते हैं; भूखसे जीभ लपलपाता हुआ सर्प जैसे चूहेको चट कर जाता है, उसी प्रकार आप अपने कालस्वरूपसे उसे सहसा लील जाते हैं ॥ ६६ ॥

१. प्रा० पा०—पलक्षणं । २. प्रा० पा०—सारवं पयः । ३. प्रा० पा०—कामयानः ।

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥६७॥
अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥६८॥
इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥६९॥
तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्[1] ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥७०॥
योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥७१॥
इदमाह पुरास्माकं भगवान् विश्वसृक्पतिः ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥७२॥
ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥७३॥
अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥७४॥
श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥७५॥
य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥७६॥
विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसंत्वरन् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥७७॥

आपकी अवहेलना करनेके कारण अपनी आयुको व्यर्थ माननेवाला ऐसा कौन विद्वान् होगा, जो आपके चरणकमलोंको बिसारेगा ? इनकी पूजा तो कालकी आशङ्कासे ही हमारे पिता ब्रह्माजी और स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंने भी बिना कोई विचार किये केवल श्रद्धासे ही की थी ॥ ६७ ॥ ब्रह्मन् ! इस प्रकार सारा जगत् रुद्ररूप कालके भयसे व्याकुल है । अतः परमात्मन् ! इस तत्त्वको जाननेवाले हमलोगोंके तो इस समय आप ही सर्वथा भयशून्य आश्रय हैं ॥ ६८ ॥

राजकुमारो ! तुमलोग विशुद्धभावसे स्वधर्मका आचरण करते हुए भगवान्‌में चित्त लगाकर मेरे कहे हुए इस स्तोत्रका जप करते रहो; भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे ॥ ६९ ॥ तुमलोग अपने अन्तःकरणमें स्थित उन सर्वभूतान्तर्यामी परमात्मा श्रीहरिका ही बार-बार स्तवन और चिन्तन करते हुए पूजन करो ॥ ७० ॥ मैंने तुम्हें यह योगादेश नामका स्तोत्र सुनाया है । तुमलोग इसे मनसे धारणकर मुनिव्रतका आचरण करते हुए इसका एकाग्रतासे आदरपूर्वक अभ्यास करो ॥७१॥ यह स्तोत्र पूर्वकालमें जगद्विस्तारके इच्छुक प्रजापतियोंके पति भगवान् ब्रह्माजीने प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले हम भृगु आदि अपने पुत्रोंको सुनाया था ॥ ७२ ॥ जब हम प्रजापतियोंको प्रजाका विस्तार करनेकी आज्ञा हुई, तब इसीके द्वारा हमने अपना अज्ञान निवृत्त करके अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की थी ॥ ७३ ॥ अब भी जो भगवत्परायण पुरुष इसका एकाग्रचित्तसे नित्यप्रति जप करेगा, उसका शीघ्र ही कल्याण हो जायगा ॥७४॥ इस लोकमें सब प्रकारके कल्याणसाधनोंमें मोक्षदायक ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ है । ज्ञान-नौकापर चढ़ा हुआ पुरुष अनायास ही इस दुस्तर संसारसागरको पार कर लेता है ॥ ७५ ॥ यद्यपि भगवान्‌की आराधना बहुत कठिन है—किंतु मेरे कहे हुए इस स्तोत्रका जो श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, वह सुगमतासे ही उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेगा ॥ ७६ ॥ भगवान् ही सम्पूर्ण कल्याणसाधनोंके एकमात्र प्यारे—प्राप्तव्य हैं । अतः मेरे गाये हुए इस स्तोत्रके गानसे उन्हें प्रसन्न करके वह

१. प्रा० पा०—ष्वपि स्थितम् ।

इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥७८॥
गीतं मयेदं[1] नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महत्
चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम्[2] ॥७९॥

स्थिरचित्त होकर उनसे जो कुछ चाहेगा, प्राप्त कर लेगा ॥ ७७ ॥ जो पुरुष उषःकालमें उठकर इसे श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर सुनता या सुनाता है, वह सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ७८ ॥ राजकुमारो ! मैंने तुम्हें जो यह परमपुरुष परमात्माका स्तोत्र सुनाया है, इसे एकाग्रचित्तसे जपते हुए तुम महान् तपस्या करो । तपस्या पूर्ण होनेपर इसीसे तुम्हें अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा ॥ ७९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ

मैत्रेय उवाच

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः ।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥
रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः[3] ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २ ॥
प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३ ॥
श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणाऽऽत्मन ईहसे ।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते[4] ॥ ४ ॥

राजोवाच

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः ।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार भगवान् शंकरने प्रचेताओंको उपदेश दिया । फिर प्रचेताओंने शंकरजीकी बड़े भक्तिभावसे पूजा की । इसके पश्चात् वे उन राजकुमारोंके सामने ही अन्तर्धान हो गये ॥ १ ॥ सब-के-सब प्रचेता जलमें खड़े रहकर भगवान् रुद्रके बताये स्तोत्रका जप करते हुए दस हजार वर्षतक तपस्या करते रहे ॥ २ ॥ इन दिनों राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत रम गया था । उन्हें अध्यात्मविद्या-विशारद परम कृपालु नारदजीने उपदेश दिया ॥ ३ ॥ उन्होंने कहा कि 'राजन् ! इन कर्मोंके द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हो ? दुःखके आत्यन्तिक नाश और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है; वह तो कर्मोंसे नहीं मिलता' ॥ ४ ॥

राजाने कहा—महाभाग नारदजी ! मेरी बुद्धि कर्ममें फँसी हुई है, इसलिये मुझे परम कल्याणका कोई पता नहीं है । आप मुझे विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस कर्मबन्धनसे छूट जाऊँ ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—मयैतन्नर० । २. प्रा० पा०—थेप्सितान् । ३. प्रा० पा०—चेतसम् । ४. प्रा० पा०—इष्यते ।

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः ।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु ॥ ६ ॥

नारद उवाच

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७ ॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥ ८ ॥
अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् ।
पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥ ९ ॥
आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः ।
तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाविज्ञातचेष्टितः ॥ १० ॥
सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥ ११ ॥
न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः ।
कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥ १२ ॥
स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु ।
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः[1] पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥ १३ ॥
प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः ।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः संकुलां सर्वतो गृहैः ॥ १४ ॥
नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।
क्लृप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥ १५ ॥
सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

जो पुरुष कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धनको ही परम पुरुषार्थ मानता है, वह अज्ञानवश संसारारण्यमें ही भटकता रहनेके कारण उस परम कल्याणको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

श्रीनारदजीने कहा—देखो, देखो, राजन्! तुमने यज्ञमें निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है—उन्हें आकाशमें देखो ॥ ७ ॥ ये सब तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई पीड़ाओंको याद करते हुए बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेदेंगे ॥ ८ ॥ अच्छा, इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूँ। वह राजा पुरञ्जनका चरित्र है, उसे तुम मुझसे सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥

राजन्! पूर्वकालमें पुरञ्जन नामका एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका अविज्ञात नामक एक मित्र था। कोई भी उसकी चेष्टाओंको समझ नहीं सकता था ॥ १० ॥ राजा पुरञ्जन अपने रहने योग्य स्थानकी खोजमें सारी पृथ्वीमें घूमा; फिर भी जब उसे कोई अनुरूप स्थान न मिला, तब वह कुछ उदास-सा हो गया ॥ ११ ॥ उसे तरह-तरहके भोगोंकी लालसा थी; उन्हें भोगनेके लिये उसने संसारमें जितने नगर देखे, उनमेंसे कोई भी उसे ठीक न जँचा ॥ १२ ॥

एक दिन उसने हिमालयके दक्षिण तटवर्ती शिखरोंपर कर्मभूमि भारतखण्डमें एक नौ द्वारोंका नगर देखा। वह सब प्रकारके सुलक्षणोंसे सम्पन्न था ॥ १३ ॥ सब ओरसे परकोटों, बगीचों, अटारियों, खाइयों, झरोखों और राजद्वारोंसे सुशोभित था और सोने, चाँदी तथा लोहेके शिखरोंवाले विशाल भवनोंसे खचाखच भरा था ॥ १४ ॥ उसके महलोंकी फर्शें नीलम, स्फटिक, वैदूर्य, मोती, पन्ने और लालोंकी बनी हुई थीं। अपनी कान्तिके कारण वह नागोंकी राजधानी भोगवतीपुरीके समान जान पड़ता था ॥ १५ ॥ उसमें जहाँ-तहाँ अनेकों सभा-भवन, चौराहे, सड़कें, क्रीडाभवन, बाजार, विश्राम-स्थान, ध्वजा-पताकाएँ और मूँगेके चबूतरे सुशोभित थे ॥ १६ ॥

१. प्रा० पा०—द्वारैः ।

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।
नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये ॥१७॥
हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥१८॥
नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः ।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥१९॥
यदृच्छयाऽऽगतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥२०॥
पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः ।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥२१॥
सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम् ।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥२२॥
पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् ।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलन्तीं नूपुरैर्देवतामिव ॥२३॥
स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥२४॥
तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् ।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा ॥२५॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति ।

उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष और लताओंसे पूर्ण एक सुन्दर बाग था; उसके बीचमें एक सरोवर सुशोभित था । उसके आस-पास अनेकों पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे थे तथा भौंरे गुंजार कर रहे थे ॥ १७ ॥ सरोवरके तटपर जो वृक्ष थे, उनकी डालियाँ और पत्ते शीतल झरनोंके जलकणोंसे मिली हुई वासन्ती वायुके झकोरोंसे हिल रहे थे और इस प्रकार वे तटवर्ती भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १८ ॥ वहाँके वन्य पशु भी मुनि-जनोचित अहिंसादि व्रतोंका पालन करनेवाले थे, इसलिये उनसे किसीको कोई कष्ट नहीं पहुँचता था । वहाँ बार-बार जो कोकिलकी कुहू-ध्वनि होती थी, उससे मार्गमें चलनेवाले बटोहियोंको ऐसा भ्रम होता था, मानो वह बगीचा विश्राम करनेके लिये उन्हें बुला रहा है ॥ १९ ॥

राजा पुरञ्जनने उस अद्भुत वनमें घूमते-घूमते एक सुन्दरीको आते देखा, जो अकस्मात् उधर चली आयी थी । उसके साथ दस सेवक थे, जिनमेंसे प्रत्येक सौ-सौ नायिकाओंका पति था ॥ २० ॥ एक पाँच फनवाला साँप उसका द्वारपाल था, वही उसकी सब ओरसे रक्षा करता था । वह सुन्दरी भोली-भाली किशोरी थी और विवाहके लिये श्रेष्ठ पुरुषकी खोजमें थी ॥ २१ ॥ उसकी नासिका, दन्तपङ्क्ति, कपोल और मुख बहुत सुन्दर थे । उसके समान कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥ २२ ॥ उसका रंग साँवला था । कटिप्रदेश सुन्दर था । वह पीले रंगकी साड़ी और सोनेकी करधनी पहने हुए थी तथा चलते समय चरणोंसे नूपुरोंकी झनकार करती जाती थी । अधिक क्या, वह साक्षात् कोई देवी-सी जान पड़ती थी ॥ २३ ॥ वह गज-गामिनी बाला किशोरावस्थाकी सूचना देनेवाले अपने गोल-गोल समान और परस्पर सटे हुए स्तनोंको लज्जावश बार-बार अञ्चलसे ढकती जाती थी ॥ २४ ॥

उसकी प्रेमसे मटकती भौंह और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनके बाणसे घायल होकर वीर पुरञ्जनने लज्जायुक्त मुसकानसे और भी सुन्दर लगनेवाली उस देवीसे मधुर-वाणीमें कहा ॥ २५ ॥ 'कमलदललोचने ! मुझे बताओ, तुम कौन हो, किसकी कन्या हो ? साध्वी ! इस

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्तु' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—विहङ्गमालि० । ३. प्रा० पा०—मृगव्यालै० । ४. प्रा० पा०—रनाबाधैर्मुनि० । ५. प्रा० पा०—सुकपोलवरान० ।

इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥२६॥
क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः ।
एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥२७॥
त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात् ॥२८॥
नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥२९॥
यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः
प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने ॥३०॥
त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥३१॥

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत् ।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥३२॥
न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ ।
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥३३॥

समय आ कहाँसे रही हो, भीरु! इस पुरीके समीप तुम क्या करना चाहती हो? ॥ २६ ॥ सुभ्रु! तुम्हारे साथ इस ग्यारहवें महान् शूरवीरसे संचालित ये दस सेवक कौन हैं और ये सहेलियाँ तथा तुम्हारे आगे-आगे चलनेवाला यह सर्प कौन है? ॥ २७ ॥ सुन्दरि! तुम साक्षात् लज्जादेवी हो अथवा उमा, रमा और ब्रह्माणीमेंसे कोई हो? यहाँ वनमें मुनियोंकी तरह एकान्तवास करके क्या अपने पतिदेवको खोज रही हो? तुम्हारे प्राणनाथ तो 'तुम उनके चरणोंकी कामना करती हो', इतनेसे ही पूर्णकाम हो जायँगे। अच्छा, यदि तुम साक्षात् कमलादेवी हो, तो तुम्हारे हाथका क्रीड़ाकमल कहाँ गिर गया? ॥ २८ ॥ सुभगे! तुम इनमेंसे तो कोई हो नहीं; क्योंकि तुम्हारे चरण पृथ्वीका स्पर्श कर रहे हैं। अच्छा, यदि तुम कोई मानवी ही हो, तो लक्ष्मीजी जिस प्रकार भगवान् विष्णुके साथ वैकुण्ठकी शोभा बढ़ाती हैं, उसी प्रकार तुम मेरे साथ इस श्रेष्ठ पुरीको अलङ्कृत करो। देखो, मैं बड़ा ही वीर और पराक्रमी हूँ ॥ २९ ॥ परंतु आज तुम्हारे कटाक्षोंने मेरे मनको बेकाबू कर दिया है। तुम्हारी लजीली और रति-भावसे भरी मुसुकानके साथ भौंहोंके संकेत पाकर यह शक्तिशाली कामदेव मुझे पीड़ित कर रहा है। इसलिये सुन्दरि! अब तुम्हें मुझपर कृपा करनी चाहिये ॥ ३० ॥ शुचिस्मिते! सुन्दर भौंहें और सुघड़ नेत्रोंसे सुशोभित तुम्हारा मुखारविन्द इन लंबी-लंबी काली अलकावलियोंसे घिरा हुआ है; तुम्हारे मुखसे निकले हुए वाक्य बड़े ही मीठे और मन हरनेवाले हैं, परंतु वह मुख तो लाजके मारे मेरी ओर होता ही नहीं। जरा ऊँचा करके अपने उस सुन्दर मुखड़ेका मुझे दर्शन तो कराओ' ॥ ३१ ॥

श्रीनारदजीने कहा—वीरवर! जब राजा पुरञ्जनने अधीर-से होकर इस प्रकार याचना की, तब उस बालाने भी हँसते हुए उसका अनुमोदन किया। वह भी राजाको देखकर मोहित हो चुकी थी ॥ ३२ ॥ वह कहने लगी, 'नरश्रेष्ठ! हमें अपने उत्पन्न करनेवालेका ठीक-ठीक पता नहीं है और न हम अपने या किसी दूसरेके नाम या

१. प्रा० पा०—एते ते पुरोगा ये। २. प्रा० पा०—एताश्च। ३. प्रा० पा०—श्रीर्भवान्य०। ४. प्रा० पा०—वा उमा पतिं। ५. प्राचीन प्रतिमें 'समस्त'—यह अंश खण्डित है। ६. प्रा० पा०—ते मानुगृहाण। ७. प्रा० पा०—सुनास०। ८. प्रा० पा०—संकुलम्। ९. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है। १०. प्रा० प्रा०—विदाम न।

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् ।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥३४॥
एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद ।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम्॥३५॥
दिष्ट्याऽऽगतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामानभीप्ससे ।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥३६॥
इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो ।
मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः॥३७॥
कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् ।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं[1] पशुम् ॥३८॥
धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः ।
लोका विशोका विरजा यान् न केवलिनो विदुः॥३९॥
पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह ।
क्षेम्यं[2] वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद् गृहाश्रमः॥४०॥
का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् ।
न वृणीत प्रियं[3] प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम्॥४१॥
कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत-
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥४२॥

नारद[5] उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ॥४३॥

गोत्रको ही जानती हैं ॥ ३३ ॥ वीरवर ! आज हम सब इस पुरीमें हैं—इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानती; मुझे इसका भी पता नहीं है कि हमारे रहनेके लिये यह पुरी किसने बनायी है ॥ ३४ ॥ प्रियवर ! ये पुरुष मेरे सखा और स्त्रियाँ मेरी सहेलियाँ हैं तथा जिस समय मैं सो जाती हूँ, यह सर्प जागता हुआ इस पुरीकी रक्षा करता रहता है ॥ ३५ ॥ शत्रुदमन ! आप यहाँ पधारें, यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है । आपका मङ्गल हो । आपको विषय-भोगोंकी इच्छा है, उसकी पूर्तिके लिये मैं अपने साथियोंसहित सभी प्रकारके भोग प्रस्तुत करती रहूँगी ॥ ३६ ॥ प्रभो ! इस नौ द्वारोंवाली पुरीमें मेरे प्रस्तुत किये हुए इच्छित भोगोंको भोगते हुए आप सैकड़ों वर्षोंतक निवास कीजिये ॥३७॥ भला, आपको छोड़कर मैं और किसके साथ रमण करूँगी ? दूसरे लोग तो न रति-सुखको जानते हैं, न विहित भोगोंको ही भोगते हैं, न परलोकका ही विचार करते हैं और न कल क्या होगा—इसका ही ध्यान रखते हैं, अतएव पशुतुल्य हैं ॥३८॥ अहो ! इस लोकमें गृहस्थाश्रममें ही धर्म, अर्थ, काम, संतान-सुख, मोक्ष, सुयश और स्वर्गादि दिव्य लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है । संसारत्यागी यतिजन तो इन सबकी कल्पना भी नहीं कर सकते ॥ ३९ ॥ महापुरुषोंका कथन है कि इस लोकमें पितर, देव, ऋषि, मनुष्य तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके और अपने भी कल्याणका आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है ॥ ४० ॥ वीरशिरोमणे ! लोकमें मेरी-जैसी कौन स्त्री होगी, जो स्वयं प्राप्त हुए आप-जैसे सुप्रसिद्ध, उदारचित्त और सुन्दर पतिको वरण न करेगी ॥ ४१ ॥ महाबाहो ! इस पृथ्वीपर आपकी साँप-जैसी गोलाकार सुकोमल भुजाओंमें स्थान पानेके लिये किस कामिनीका चित्त न ललचावेगा ? आप तो अपनी मधुर मुसकानमयी करुणापूर्ण दृष्टिसे हम-जैसी अनाथाओंके मानसिक सन्तापको शान्त करनेके लिये ही पृथ्वीमें विचर रहे हैं' ॥ ४२ ॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन् ! उन स्त्री-पुरुषोंने इस प्रकार एक दूसरेकी बातका समर्थन कर फिर सौ वर्षोंतक उस पुरीमें रहकर आनन्द भोगा ॥ ४३ ॥

१. प्रा० पा०—पदं । २. प्रा० पा०—क्षेमं । ३. प्रा० पा०—पतिं । ४. प्रा० पा०—स्वयम् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है ।

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः ।
क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥४४॥
सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः ।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः ॥४५॥
पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा ।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥४६॥
खद्योताऽऽविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥४७॥
नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥४८॥
मुख्या नाम पुरस्ताद् द्वास्तयाऽऽपणबहूदनौ ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥४९॥
पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः ।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुत[1]धरान्वितः ॥५०॥
देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरञ्जनः ।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५१॥
आसुरी नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥५२॥
निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥५३॥
[2]अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥५४॥
स[3] यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः ।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥५५॥

गायकलोग सुमधुर स्वरमें जहाँ-तहाँ राजा पुरञ्जनकी कीर्ति गाया करते थे । जब ग्रीष्मऋतु आती, तब वह अनेकों स्त्रियोंके साथ सरोवरमें घुसकर जलक्रीड़ा करता ॥४४॥ उस नगरमें जो नौ द्वार थे, उनमेंसे सात नगरीके ऊपर और दो नीचे थे । उस नगरका जो कोई राजा होता उसके पृथक्-पृथक् देशोंमें जानेके लिये ये द्वार बनाये गये थे ॥४५॥ राजन् ! इनमेंसे पाँच पूर्व, एक दक्षिण, एक उत्तर और दो पश्चिमकी ओर थे । उनके नामोंका वर्णन करता हूँ ॥ ४६ ॥ पूर्वकी ओर खद्योता और आविर्मुखी नामके दो द्वार एक ही जगह बनाये गये थे। उनमें होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र द्युमान्‌के साथ विभ्राजित नामक देशको जाया करता था ॥४७॥ इसी प्रकार उस ओर नलिनी और नालिनी नामके दो द्वार और भी एक ही जगह बनाये गये थे । उनसे होकर वह अवधूतके साथ सौरभ नामक देशको जाता था ॥४८॥ पूर्वदिशाकी ओर मुख्या नामका जो पाँचवाँ द्वार था, उसमें होकर वह रसज्ञ और विपणके साथ क्रमशः बहूदन और आपण नामके देशोंको जाता था ॥ ४९ ॥ पुरीके दक्षिणकी ओर जो पितृहू नामका द्वार था, उसमें होकर राजा पुरञ्जन श्रुतधरके साथ दक्षिणपाञ्चाल देशको जाता था ॥ ५० ॥ उत्तरकी ओर जो देवहू नामका द्वार था, उससे श्रुतधरके ही साथ वह उत्तरपाञ्चाल देशको जाता था ॥ ५१ ॥ पश्चिम दिशामें आसुरी नामका दरवाजा था । उसमें होकर वह दुर्मदके साथ ग्रामक देशको जाता था ॥ ५२ ॥ तथा निर्ऋति नामका जो दूसरा पश्चिम द्वार था, उससे लुब्धकके साथ वह वैशस नामके देशको जाता था ॥ ५३ ॥ इस नगरके निवासियोंमें निर्वाक् और पेशस्कृत्—ये दो नागरिक अंधे थे । राजा पुरञ्जन आँखवाले नागरिकोंका अधिपति होनेपर भी इन्हींकी सहायतासे जहाँ-तहाँ जाता और सब प्रकारके कार्य करता था ॥ ५४ ॥

जब कभी अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्तःपुरमें जाता, तब उसे स्त्री और पुत्रोंके कारण होनेवाले मोह, प्रसन्नता एवं हर्ष आदि विकारोंका

१. प्रा० पा०—श्रुति० । २. प्राचीन प्रतिमें 'अन्धावमीषां' से आरम्भकर 'करोति च' पर्यन्त (५४ वाँ श्लोक) नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें पचपनवें श्लोकका पूर्वार्द्ध भाग नहीं है ।

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः ।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥५६॥
क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति॥५७॥
क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित्।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥५८॥
क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति ।
अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥५९॥
क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति ।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ॥
क्वचिच्च शोचतीं जायामनुशोचति दीनवत् ।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥६१॥
विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥६२॥

अनुभव होता ॥ ५५ ॥ उसका चित्त तरह-तरहके कर्मोंमें फँसा हुआ था और काम-परवश होनेके कारण वह मूढ़ रमणीके द्वारा ठगा गया था । उसकी रानी जो-जो काम करती थी, वही वह भी करने लगता था ॥ ५६ ॥ वह जब मद्यपान करती, तब वह भी मदिरा पीता और मदसे उन्मत्त हो जाता था; जब वह भोजन करती, तब आप भी भोजन करने लगता और जब कुछ चबाती, तब आप भी वही वस्तु चबाने लगता था ॥ ५७ ॥ इसी प्रकार कभी उसके गानेपर गाने लगता, रोनेपर रोने लगता, हँसनेपर हँसने लगता और बोलनेपर बोलने लगता ॥ ५८ ॥ वह दौड़ती तो आप भी दौड़ने लगता, खड़ी होती तो आप भी खड़ा हो जाता, सोती तो आप भी उसीके साथ सो जाता और बैठती तो आप भी बैठ जाता ॥ ५९ ॥ कभी वह सुनने लगती तो आप भी सुनने लगता, देखती तो देखने लगता, सूँघती तो सूँघने लगता और किसी चीजको छूती तो आप भी छूने लगता ॥६०॥ कभी उसकी प्रिया शोकाकुल होती तो आप भी अत्यन्त दीनके समान व्याकुल हो जाता; जब वह प्रसन्न होती तो आप भी प्रसन्न हो जाता और उसके आनन्दित होनेपर आप भी आनन्दित हो जाता ॥ ६१ ॥ (इस प्रकार) राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दरी रानीके द्वारा ठगा गया । सारा प्रकृतिवर्ग—परिकर ही उसको धोखा देने लगा । वह मूर्ख विवश होकर इच्छा न होनेपर भी खेलके लिये घरपर पाले हुए बन्दरके समान अनुकरण करता रहता ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

राजा पुरञ्जनका शिकार खेलने वनमें जाना और रानीका कुपित होना

नारद उवाच[1]
स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन् ! एक दिन राजा पुरञ्जन अपना विशाल धनुष, सोनेका कवच और अक्षय तरकस धारणकर अपने ग्यारहवें सेनापतिके

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है।

एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ।
पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥
हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः ।
एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥
चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥ ४ ॥
आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः ।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥ ५ ॥
तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने ।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥ ६ ॥
य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः ।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥ ७ ॥
अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते ।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥ ८ ॥
तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः ।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥ ९ ॥
शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरुशल्यकान् ।
मेध्यानन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममभ्यगात् १०
ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥ ११ ॥

साथ पाँच घोड़ोंके शीघ्रगामी रथमें बैठकर पञ्चप्रस्थ नामके वनमें गया । उस रथमें दो ईषादण्ड (बंब), दो पहिये, एक धुरी, तीन ध्वजदण्ड, पाँच डोरियाँ, एक लगाम, एक सारथि, एक बैठनेका स्थान, दो जुए, पाँच आयुध और सात आवरण थे । वह पाँच प्रकारकी चालोंसे चलता था तथा उसका साज-बाज सब सुनहरा था ॥ १—३ ॥ यद्यपि राजाके लिये अपनी प्रियाको क्षणभर भी छोड़ना कठिन था, किंतु उस दिन उसे शिकारका ऐसा शौक लगा कि उसकी भी परवा न कर वह बड़े गर्वसे धनुष-बाण चढ़ाकर आखेट करने लगा ॥ ४ ॥ इस समय आसुरीवृत्ति बढ़ जानेसे उसका चित्त बड़ा कठोर और दयाशून्य हो गया था, इससे उसने अपने तीखे बाणोंसे बहुत-से निर्दोष जंगली जानवरोंका वध कर डाला ॥ ५ ॥ जिसकी मांसमें अत्यन्त आसक्ति हो, वह राजा केवल शास्त्रप्रदर्शित कर्मोंके लिये वनमें जाकर आवश्यकतानुसार अनिषिद्ध पशुओंका वध करे; व्यर्थ पशुहिंसा न करे । शास्त्र इस प्रकार उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको नियन्त्रित करता है ॥ ६ ॥ राजन् ! जो विद्वान् इस प्रकार शास्त्रनियत कर्मोंका आचरण करता है, वह उस कर्मानुष्ठानसे प्राप्त हुए ज्ञानके कारणभूत कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥ नहीं तो, मनमाना कर्म करनेसे मनुष्य अभिमानके वशीभूत होकर कर्मोंमें बँध जाता है तथा गुणप्रवाहरूप संसारचक्रमें पड़कर विवेकबुद्धिके नष्ट हो जानेसे अधम योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ८ ॥

पुरञ्जनके तरह-तरहके पंखोंवाले बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर अनेकों जीव बड़े कष्टके साथ प्राण त्यागने लगे । उसका वह निर्दयतापूर्ण जीव-संहार देखकर सभी दयालु पुरुष बहुत दुखी हुए । वे इसे सह नहीं सके ॥ ९ ॥ इस प्रकार वहाँ खरगोश, सूअर, भैंसे, नीलगाय, कृष्णमृग, साही तथा और भी बहुत-से मेध्य पशुओंका वध करते-करते राजा पुरञ्जन बहुत थक गया ॥ १० ॥ तब वह भूख-प्याससे अत्यन्त शिथिल हो वनसे लौटकर राजमहलमें आया । वहाँ उसने यथायोग्य रीतिसे स्नान और भोजनसे निवृत्त हो, कुछ

१. प्रा० पा०—मेध्यपशून्वने । २. प्रा० पा०—नन्यानमेध्यांश्च विनि० ।

आत्मानमर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः ।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥१२॥
तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः ।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥१३॥
अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् ।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥१४॥
न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः ।
यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥१५॥
क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥१६॥

रामा ऊचुः

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति ।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥१७॥

नारद[1] उवाच

पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि ।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥१८॥
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता ।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ॥१९॥
अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः ।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥२०॥

विश्राम करके थकान दूर की ॥ ११ ॥ फिर गन्ध, चन्दन और माला आदिसे सुसज्जित हो सब अङ्गोंमें सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहने । तब उसे अपनी प्रियाकी याद आयी ॥ १२ ॥ वह भोजनादिसे तृप्त, हृदयमें आनन्दित, मदसे उन्मत्त और कामसे व्यथित होकर अपनी सुन्दरी भार्याको ढूँढ़ने लगा; किंतु उसे वह कहीं भी दिखायी न दी ॥ १३ ॥

प्राचीनबर्हि ! तब उसने चित्तमें कुछ उदास होकर अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे पूछा, 'सुन्दरियो ! अपनी स्वामिनीके सहित तुम सब पहलेकी ही तरह कुशलसे हो न ? ॥ १४ ॥ क्या कारण है आज इस घरकी सम्पत्ति पहले-जैसी सुहावनी नहीं जान पड़ती ? घरमें माता अथवा पतिपरायणा भार्या न हो, तो वह घर बिना पहियेके रथके समान हो जाता है; फिर उसमें कौन बुद्धिमान् दीन पुरुषोंके समान रहना पसंद करेगा ॥ १५ ॥ अतः बताओ वह सुन्दरी कहाँ है, जो दुःख-समुद्रमें डूबनेपर मेरी विवेक-बुद्धिको पद-पदपर जाग्रत् करके मुझे उस सङ्कटसे उबार लेती है ? ॥ १६ ॥

स्त्रियोंने कहा—नरनाथ ! मालूम नहीं आज आपकी प्रियाने क्या ठानी है । शत्रुदमन ! देखिये, वे बिना बिछौनेके पृथ्वीपर ही पड़ी हुई हैं ॥ १७ ॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन् ! उस स्त्रीके सङ्गसे राजा पुरञ्जनका विवेक नष्ट हो चुका था; इसलिये अपनी रानीको पृथ्वीपर अस्त-व्यस्त अवस्थामें पड़ी देखकर वह अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥ १८ ॥ उसने दुःखित हृदयसे उसे मधुर वचनोंद्वारा बहुत कुछ समझाया, किंतु उसे अपनी प्रेयसीके अंदर अपने प्रति प्रणय-कोपका कोई चिह्न नहीं दिखायी दिया ॥ १९ ॥ वह मनानेमें भी बहुत कुशल था, इसलिये अब पुरञ्जनने उसे धीरे-धीरे मनाना आरम्भ किया । उसने पहले उसके चरण छूए और फिर गोदमें बिठाकर बड़े प्यारसे कहने लगा ॥ २० ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है ।

पुरञ्जन उवाच[1]

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे ।
कृतागस्स्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते॥२१॥
परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः ।
बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥२२॥
सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥२३॥
तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥२४॥
वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥२५॥
तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य ।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्त[2]पौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥२६॥

पुरञ्जन बोला—सुन्दरि ! वे सेवक तो निश्चय ही बड़े अभागे हैं, जिनके अपराध करनेपर स्वामी उन्हें अपना समझकर शिक्षाके लिये उचित दण्ड नहीं देते ॥ २१ ॥ सेवकको दिया हुआ स्वामीका दण्ड तो उसपर बड़ा अनुग्रह ही होता है। जो मूर्ख हैं, उन्हींको क्रोधके कारण अपने हितकारी स्वामीके किये हुए उस उपकारका पता नहीं चलता ॥ २२ ॥ सुन्दर दन्तावली और मनोहर भौंहोंसे शोभा पानेवाली मनस्विनि ! अब यह क्रोध दूर करो और एक बार मुझे अपना समझकर प्रणय-भार तथा लज्जासे झुका हुआ एवं मधुर मुसकानमयी चितवनसे सुशोभित अपना मनोहर मुखड़ा दिखाओ । अहो ! भ्रमरपंक्तिके समान नीली अलकावली, उन्नत नासिका और सुमधुर वाणीके कारण तुम्हारा वह मुखारविन्द कैसा मनोमोहक जान पड़ता है ॥ २३ ॥ वीरपत्नि ! यदि किसी दूसरेने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो उसे बताओ; यदि वह अपराधी ब्राह्मणकुलका नहीं है तो मैं उसे अभी दण्ड देता हूँ । मुझे तो भगवान्के भक्तोंको छोड़कर त्रिलोकीमें अथवा उससे बाहर ऐसा कोई नहीं दिखायी देता, जो तुम्हारा अपराध करके निर्भय और आनन्दपूर्वक रह सके ॥ २४ ॥ प्रिये ! मैंने आजतक तुम्हारा मुख कभी तिलकहीन, उदास, मुरझाया हुआ, क्रोधके कारण डरावना, कान्तिहीन और स्नेहशून्य नहीं देखा; और न कभी तुम्हारे सुन्दर स्तनोंको ही शोकाश्रुओंसे भीगा तथा बिम्बाफलसदृश अधरोंको स्निग्ध केसरकी लालीसे रहित देखा है ॥ २५ ॥ मैं व्यसनवश तुमसे बिना पूछे शिकार खेलने चला गया, इसलिये अवश्य अपराधी हूँ । फिर भी अपना समझकर तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ; कामदेवके विषम बाणोंसे अधीर होकर जो सर्वदा अपने अधीन रहता है; उस अपने प्रिय पतिको उचित कार्यके लिये भला कौन कामिनी स्वीकार नहीं करती ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पुरञ्जनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'पुरञ्जन उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—विस्रम्भपौष्य० ।

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

पुरञ्जनपुरीपर चण्डवेगकी चढ़ाई तथा कालकन्याका चरित्र

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः ।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥
स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां रुचिराननाम् ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥ २ ॥
तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः ।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥
शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४ ॥
तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥ ५ ॥
तस्यामजनयत्पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः ।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥ ६ ॥
दुहितॄर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते ॥ ७ ॥
स पञ्चालपतिः पुत्रान् पितृवंशविवर्धनान् ।
दारैः संयोजयामास दुहितॄः सदृशैर्वरैः ॥ ८ ॥
पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।
यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ९ ॥
तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु ।

श्रीनारदजी कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार वह सुन्दरी अनेकों नखरोंसे पुरञ्जनको पूरी तरह अपने वशमें कर उसे आनन्दित करती हुई विहार करने लगी ॥ १ ॥ उसने अच्छी तरह स्नान कर अनेक प्रकारके माङ्गलिक श्रृङ्गार किये तथा भोजनादिसे तृप्त होकर वह राजाके पास आयी । राजाने उस मनोहर मुखवाली राजमहिषीका सादर अभिनन्दन किया ॥ २ ॥ पुरञ्जनीने राजाका आलिङ्गन किया और राजाने उसे गले लगाया । फिर एकान्तमें मनके अनुकूल रहस्यकी बातें करते हुए वह ऐसा मोहित हो गया कि उस कामिनीमें ही चित्त लगा रहनेके कारण उसे दिन-रातके भेदसे निरन्तर बीतते हुए कालकी दुस्तर गतिका भी कुछ पता न चला ॥ ३ ॥ मदसे छका हुआ मनस्वी पुरञ्जन अपनी प्रियाकी भुजापर सिर रक्खे महामूल्य शय्यापर पड़ा रहता । उसे तो वह रमणी ही जीवनका परम फल जान पड़ती थी । अज्ञानसे आवृत हो जानेके कारण उसे आत्मा अथवा परमात्माका कोई ज्ञान न रहा ॥ ४ ॥

राजन् ! इस प्रकार कामातुर चित्तसे उसके साथ विहार करते-करते राजा पुरञ्जनकी जवानी आधे क्षणके समान बीत गयी ॥ ५ ॥ प्रजापते ! उस पुरञ्जनीसे राजा पुरञ्जनके ग्यारह सौ पुत्र और एक सौ दस कन्याएँ हुईं, जो सभी माता-पिताका सुयश बढ़ानेवाली और सुशीलता-उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न थीं । ये पौरञ्जनी नामसे विख्यात हुईं । इतनेमें ही उस सम्राट्‌की लंबी आयुका आधा भाग निकल गया ॥ ६-७ ॥ फिर पाञ्चालराज पुरञ्जनने पितृवंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रोंका वधुओंके साथ और कन्याओंका उनके योग्य वरोंके साथ विवाह कर दिया ॥ ८ ॥ पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र हुए । उनसे वृद्धिको प्राप्त होकर पुरञ्जनका वंश सारे पाञ्चाल देशमें फैल गया ॥ ९ ॥ इन पुत्र, पौत्र, गृह, कोश, सेवक और मन्त्री आदिमें दृढ़ ममता हो

१. प्रा० पा०—रुचिराम्बराम् । २. प्रा० पा०—बुधो । ३. प्रा० पा०—मजीजनत् । ४. प्रा० पा०—पाञ्चाल० ।

निरूढेन ममत्वेन विषयेष्व[1]न्वबध्यत ॥१०॥
ईजे[2] च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः ।
देवान् पितॄन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥११॥
युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः ।
आससाद[3] स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥१२॥
चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप ।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥१३॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥१४॥
ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥१५॥
स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥१६॥
क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन् बहुभिर्युधा ।
चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥१७॥
स एव पुर्यां[4] मधुभुक्पञ्चालेषु स्वपार्षदैः ।
उपनीतं[5] बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥१८॥
कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन ॥१९॥
दौर्भाग्येनात्मनो[6] लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।

जानेसे वह इन विषयोंमें ही बँध गया ॥ १० ॥ फिर तुम्हारी तरह उसने भी अनेक प्रकारके भोगोंकी कामनासे यज्ञकी दीक्षा ले तरह-तरहके पशुहिंसामय घोर यज्ञोंसे देवता, पितर और भूतपतियोंकी आराधना की ॥ ११ ॥ इस प्रकार वह जीवनभर आत्माका कल्याण करनेवाले कर्मोंकी ओरसे असावधान और कुटुम्बपालनमें व्यस्त रहा । अन्तमें वृद्धावस्थाका वह समय आ पहुँचा, जो स्त्रीलम्पट पुरुषोंको बड़ा अप्रिय होता है ॥ १२ ॥

राजन् ! चण्डवेग नामका एक गन्धर्वराज है । उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व रहते हैं ॥ १३ ॥ इनके साथ मिथुनभावसे स्थित कृष्ण और शुक्ल वर्णकी उतनी ही गन्धर्वियाँ भी हैं । ये बारी-बारीसे चक्कर लगाकर भोग-विलासकी सामग्रियोंसे भरी-पूरी नगरीको लूटती रहती हैं ॥ १४ ॥ गन्धर्वराज चण्डवेगके उन अनुचरोंने जब राजा पुरञ्जनका नगर लूटना आरम्भ किया, तब उन्हें पाँच फनके सर्प प्रजागरने रोका ॥ १५ ॥ यह पुरञ्जनपुरीकी चौकसी करनेवाला महाबलवान् सर्प सौ वर्षतक अकेला ही उन सात सौ बीस गन्धर्व-गन्धर्वियोंसे युद्ध करता रहा ॥ १६ ॥ बहुत-से वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध करनेके कारण अपने एकमात्र सम्बन्धी प्रजागरको बलहीन हुआ देख राजा पुरञ्जनको अपने राष्ट्र और नगरमें रहनेवाले अन्य बान्धवोंके सहित बड़ी चिन्ता हुई ॥ १७ ॥ वह इतने दिनोंतक पाञ्चाल देशके उस नगरमें अपने दूतोंद्वारा लाये हुए करको लेकर विषयभोगोंमें मस्त रहता था । स्त्रीके वशीभूत रहनेके कारण इस अवश्यम्भावी भयका उसे पता ही न चला ॥ १८ ॥

बर्हिष्मन् ! इन्हीं दिनों कालकी एक कन्या वरकी खोजमें त्रिलोकीमें भटकती रही, फिर भी उसे किसीने स्वीकार नहीं किया ॥ १९ ॥ वह कालकन्या (जरा) बड़ी भाग्यहीना थी, इसलिये लोग उसे 'दुर्भगा' कहते

१. प्रा० पा०—विषयानन्व० । २. प्राचीन प्रतिमें ११ वाँ श्लोक नहीं है । ३. प्रा० पा०—आससादाथ वै । ४. प्रा० पा०—पुरीं । ५. प्रा० पा०—उपानीतं । ६. प्रा० पा०—दौर्भाग्येन ।

यां तुष्टा राजर्षये तुं वृतादात्पूरवे वरम् ॥२०॥

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।

वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥२१॥

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम् ।

स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने ॥२२॥

ततो विहँतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम् ।

मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥२३॥

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् ।

सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति ॥२४॥

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ ।

यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥२५॥

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु ।

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ॥२६॥

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः ।

चिंकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥२७॥

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना ।

नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम् ॥२८॥

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् ।

याहि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि ॥२९॥

थे । एक बार राजर्षि पूरुने पिताको अपना यौवन देनेके लिये अपनी ही इच्छासे उसे वर लिया था, इससे प्रसन्न होकर उसने उन्हें राज्यप्राप्तिका वर दिया था ॥ २० ॥ एक दिन मैं ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर आया, तो वह घूमती-घूमती मुझे भी मिल गयी । तब मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी कामातुरा होनेके कारण उसने वरना चाहा ॥ २१ ॥ मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इसपर उसने अत्यन्त कुपित होकर मुझे यह दुःसह शाप दिया कि 'तुमने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, अतः तुम एक स्थानपर अधिक देर न ठहर सकोगे' ॥ २२ ॥

तब मेरी ओरसे निराश होकर उस कन्याने मेरी सम्मतिसे यवनराज भयके पास जाकर उसका पतिरूपसे वरण किया ॥ २३ ॥ और कहा, 'वीरवर ! आप यवनोंमें श्रेष्ठ हैं, मैं आपसे प्रेम करती हूँ और पति बनाना चाहती हूँ । आपके प्रति किया हुआ जीवोंका सङ्कल्प कभी विफल नहीं होता ॥ २४ ॥ जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्रकी दृष्टिसे देनेयोग्य वस्तुका दान नहीं करता और जो शास्त्रदृष्टिसे अधिकारी होकर भी ऐसा दान नहीं लेता, वे दोनों ही दुराग्रही और मूढ हैं, अतएव शोचनीय हैं ॥ २५ ॥ भद्र ! इस समय मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुई हूँ, आप मुझे स्वीकार करके अनुगृहीत कीजिये । पुरुषका सबसे बड़ा धर्म दीनोंपर दया करना ही है' ॥ २६ ॥

कालकन्याकी बात सुनकर यवनराजने विधाताका एक गुप्त कार्य करानेकी इच्छासे मुसकराते हुए उससे कहा ॥ २७ ॥ 'मैंने योगदृष्टिसे देखकर तेरे लिये एक पति निश्चय किया है । तू सबका अनिष्ट करनेवाली है, इसलिये किसीको भी अच्छी नहीं लगती और इसीसे लोग तुझे स्वीकार नहीं करते । अतः इस कर्मजनित लोकको तू अलक्षित होकर बलात्कारसे भोग । तू मेरी सेना लेकर जा; इसकी सहायतासे तू सारी प्रजाका नाश करनेमें समर्थ होगी, कोई भी तेरा सामना न कर सकेगा ॥ २८-२९ ॥

१. प्रा० पा०—या संतुष्टा । २. प्राचीन प्रतिमें 'तु' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—विगतसं० । ४. प्रा० पा०—चिकीर्षितं देवगुह्यं सस्मितां ता० ।

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ३०

यह प्रज्वार नामका मेरा भाई है और तू मेरी बहिन बन जा । तुम दोनोंके साथ मैं अव्यक्त गतिसे भयंकर सेना लेकर सारे लोकोंमें विचरूँगा' ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पुरञ्जनोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

पुरञ्जनको स्त्रीयोनिकी प्राप्ति और अविज्ञातके उपदेशसे उसका मुक्त होना

नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः ।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥
त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप ।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २ ॥
कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् ।
ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात् ॥ ३ ॥
तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम् ।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम् ॥४॥
तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः ।
अवापोरुविधांस्तापान् कुटुम्बी ममताकुलः ॥ ५ ॥

श्रीनारदजी कहते हैं—राजन् ! फिर भय नामक यवनराजके आज्ञाकारी सैनिक प्रज्वार और कालकन्याके साथ इस पृथ्वीतलपर सर्वत्र विचरने लगे ॥ १ ॥ एक बार उन्होंने बड़े वेगसे बूढ़े साँपसे सुरक्षित और संसारकी सब प्रकारकी सुख-सामग्रीसे सम्पन्न पुरञ्जन-पुरीको घेर लिया ॥ २ ॥ तब, जिसके चंगुलमें फँसकर पुरुष शीघ्र ही निःसार हो जाता है, वह कालकन्या बलात्कारसे उस पुरीकी प्रजाको भोगने लगी ॥ ३ ॥ उस समय वे यवन भी कालकन्याके द्वारा भोगी जाती हुई उस पुरीमें चारों ओरसे भिन्न-भिन्न द्वारोंसे घुसकर उसका विध्वंस करने लगे ॥ ४ ॥ पुरीके इस प्रकार पीड़ित किये जानेपर उसके स्वामित्वका अभिमान रखनेवाले तथा ममताग्रस्त, बहुकुटुम्बी राजा पुरञ्जनको भी नाना प्रकारके क्लेश सताने लगे ॥ ५ ॥

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः ।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥
विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् ।
पुत्रान् पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥७॥
आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् ।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥८॥

कालकन्याके आलिङ्गन करनेसे उसकी सारी श्री नष्ट हो गयी तथा अत्यन्त विषयासक्त होनेके कारण वह बहुत दीन हो गया, उसकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी । गन्धर्व और यवनोंने बलात्कारसे उसका सारा ऐश्वर्य लूट लिया ॥ ६ ॥ उसने देखा कि सारा नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गया है; पुत्र, पौत्र, भृत्य और अमात्यवर्ग प्रतिकूल होकर अनादर करने लगे हैं; स्त्री स्नेह-शून्य हो गयी है, मेरी देहको कालकन्याने वशमें कर रक्खा है और पाञ्चालदेश शत्रुओंके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो गया है । यह सब देखकर राजा पुरञ्जन अपार चिन्तामें डूब गया और उसे उस विपत्तिसे छुटकारा पानेका कोई उपाय न दिखायी दिया ॥ ७-८ ॥

१. प्रा० पा०—आवापो० ।

कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया ।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥

कालकन्याने जिन्हें निःसार कर दिया था, उन्हीं भोगोंकी लालसासे वह दीन था। अपनी पारलौकिकी गति और बन्धुजनोंके स्नेहसे वञ्चित रहकर उसका चित्त केवल स्त्री और पुत्रके लालन-पालनमें ही लगा हुआ था ॥ ९ ॥

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् ।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः ॥१०॥

ऐसी अवस्थामें उनसे बिछुड़नेकी इच्छा न होनेपर भी उसे उस पुरीको छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा; क्योंकि उसे गन्धर्व और यवनोंने घेर रक्खा था तथा कालकन्याने कुचल दिया था ॥ १० ॥

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥११॥

इतनेमें ही यवनराज भयके बड़े भाई प्रज्वारने अपने भाईका प्रिय करनेके लिये उस सारी पुरीमें आग लगा दी ॥ ११ ॥

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥१२॥

जब वह नगरी जलने लगी, तब पुरवासी, सेवकवृन्द, संतानवर्ग और कुटुम्बकी स्वामिनीके सहित कुटुम्ब-वत्सल पुरञ्जनको बड़ा दुःख हुआ ॥ १२ ॥

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥१३॥

नगरको कालकन्याके हाथमें पड़ा देख उसकी रक्षा करनेवाले सर्पको भी बड़ी पीड़ा हुई; क्योंकि उसके निवासस्थानपर भी यवनोंने अधिकार कर लिया था और प्रज्वार उसपर भी आक्रमण कर रहा था ॥ १३ ॥

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः ।
गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥१४॥

जब उस नगरकी रक्षा करनेमें वह सर्वथा असमर्थ हो गया, तब जिस प्रकार जलते हुए वृक्षके कोटरमें रहनेवाला सर्प उससे निकल जाना चाहता है, उसी प्रकार उसने भी महान् कष्टसे काँपते हुए वहाँसे भागनेकी इच्छा की ॥ १४ ॥

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः ।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह ॥१५॥

उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले पड़ गये थे तथा गन्धर्वोंने उसकी सारी शक्ति नष्ट कर दी थी; अतः जब यवन शत्रुओंने उसे जाते देखकर रोक दिया, तब वह दुखी होकर रोने लगा ॥ १५ ॥

दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान् ।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद् गृहकोशपरिच्छदम् ॥१६॥
अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही ।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥१७॥

गृहासक्त पुरञ्जन देह-गेहादिमें मैं-मेरेपनका भाव रखनेसे अत्यन्त बुद्धिहीन हो गया था। स्त्रीके प्रेमपाशमें फँसकर वह बहुत दीन हो गया था। अब जब इनसे बिछुड़नेका समय उपस्थित हुआ, तब वह अपने पुत्री, पुत्र, पौत्र, पुत्रवधू, दामाद, नौकर और घर, खजाना तथा अन्यान्य जिन पदार्थोंमें उसकी ममतामात्र शेष थी (उनका भोग तो कभीका छूट गया था), उन सबके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ १६-१७ ॥

१. प्रा० पा०—राजन् तां पुरीमभिनिकामतः । २. प्रा० पा०—जामातृमित्रपार्षदान् ।

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी ।
वर्तिष्यते कथं त्वेषा बालकाननुशोचती ॥१८॥
न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा ।
मयि रुष्टे सुसंत्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥१९॥
प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता ।
वर्त्मैतद् गृहमेधीयं वीरसूरपि[3] नेष्यति ॥२०॥
कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः ।
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥२१॥
एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् ।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥२२॥
पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम् ।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥२३॥
पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः ।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥२४॥
विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ।
नाविन्दत्तमसाऽऽविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥२५॥
तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना ।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ।२६।

'हाय ! मेरी भार्या तो बहुत घर-गृहस्थीवाली है; जब मैं परलोकको चला जाऊँगा, तब यह असहाय होकर किस प्रकार अपना निर्वाह करेगी ? इसे इन बाल-बच्चोंकी चिन्ता ही खा जायगी ॥ १८ ॥ यह मेरे भोजन किये बिना भोजन नहीं करती थी और स्नान किये बिना स्नान नहीं करती थी, सदा मेरी ही सेवामें तत्पर रहती थी । मैं कभी रूठ जाता था तो यह बड़ी भयभीत हो जाती थी और झिड़कने लगता तो डरके मारे चुप रह जाती थी ॥ १९ ॥ मुझसे कोई भूल हो जाती तो यह मुझे सचेत कर देती थी । मुझमें इसका इतना अधिक स्नेह है कि यदि मैं कभी परदेश चला जाता था तो यह विरहव्यथासे सूखकर काँटा हो जाती थी । यों तो यह वीरमाता है, तो भी मेरे पीछे क्या यह गृहस्थाश्रमका व्यवहार चला सकेगी ? ॥ २० ॥ मेरे चले जानेपर एकमात्र मेरे ही सहारे रहनेवाले ये पुत्र और पुत्री भी कैसे जीवन धारण करेंगे ? ये तो बीच समुद्रमें नाव टूट जानेसे व्याकुल हुए यात्रियोंके समान बिलबिलाने लगेंगे' ॥ २१ ॥

यद्यपि ज्ञानदृष्टिसे उसे शोक करना उचित न था, फिर भी अज्ञानवश राजा पुरञ्जन इस प्रकार दीनबुद्धिसे अपने स्त्री-पुत्रादिके लिये शोकाकुल हो रहा था । इसी समय उसे पकड़नेके लिये वहाँ भयनामक यवनराज आ धमका ॥ २२ ॥ जब यवनलोग उसे पशुके समान बाँधकर अपने स्थानको ले चले, तब उसके अनुचरगण अत्यन्त आतुर और शोकाकुल होकर उसके साथ हो लिये ॥ २३ ॥ यवनोंद्वारा रोका हुआ सर्प भी उस पुरीको छोड़कर इन सबके साथ ही चल दिया । उसके जाते ही सारा नगर छिन्न-भिन्न होकर अपने कारणमें लीन हो गया ॥ २४ ॥ इस प्रकार महाबली यवनराजके बलपूर्वक खींचनेपर भी राजा पुरञ्जनने अज्ञानवश अपने हितैषी एवं पुराने मित्र अविज्ञातका स्मरण नहीं किया ॥ २५ ॥

उस निर्दय राजाने जिन यज्ञपशुओंकी बलि दी थी, वे उसकी दी हुई पीड़ाको याद करके उसे क्रोधपूर्वक कुठारोंसे काटने लगे ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—त्वेका । २. प्रा० पा०—तु संत्र० । ३. प्रा० पा०—रभिनेष्यति । ४. प्रा० पा०—मृते । ५. प्रा० पा०...यत् ।

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः ।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ॥२७॥
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा ।
[1]अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥२८॥
उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः ।
युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरञ्जयः॥२९॥
तस्यां स जनयाञ्चक्र आत्मजामसितेक्षणाम् ।
यवीयसः सप्त सुतान् सप्त [2]द्रविडभूभृतः ॥३०॥
एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् ।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥३१॥
अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥३२॥
विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः ।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥३३॥
हित्वा गृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा ।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥३४॥
तत्र चन्द्र[3]वसा नाम ताम्रपर्णी वटोद[4]का ।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥३५॥
कन्दाष्टिभि[5]र्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः ।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः ॥३६॥
शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।

वह वर्षोंतक विवेकहीन अवस्थामें अपार अन्धकारमें पड़ा निरन्तर कष्ट भोगता रहा । स्त्रीकी आसक्तिसे उसकी यह दुर्गति हुई थी ॥ २७ ॥ अन्त समयमें भी पुरञ्जनको उसीका चिन्तन बना हुआ था । इसलिये दूसरे जन्ममें वह नृपश्रेष्ठ विदर्भराजके यहाँ सुन्दरी कन्या होकर उत्पन्न हुआ ॥ २८ ॥ जब यह विदर्भनन्दिनी विवाहयोग्य हुई, तब विदर्भराजने घोषित कर दिया कि इसे सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी वीर ही ब्याह सकेगा । तब शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले पाण्ड्यनरेश महाराज मलयध्वजने समरभूमिमें समस्त राजाओंको जीतकर उसके साथ विवाह किया ॥ २९ ॥ उससे महाराज मलयध्वजने एक श्यामलोचना कन्या और उससे छोटे सात पुत्र उत्पन्न किये, जो आगे चलकर द्रविडदेशके सात राजा हुए ॥ ३० ॥ राजन् ! फिर उनमेंसे प्रत्येक पुत्रके बहुत-बहुत पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके वंशधर इस पृथ्वीको मन्वन्तरके अन्ततक तथा उसके बाद भी भोगेंगे ॥३१॥ राजा मलयध्वजकी पहली पुत्री बड़ी व्रतशीला थी । उसके साथ अगस्त्य ऋषिका विवाह हुआ । उससे उनके दृढच्युत नामका पुत्र हुआ और दृढच्युतके इध्मवाह हुआ ॥ ३२ ॥

अन्तमें राजर्षि मलयध्वज पृथ्वीको पुत्रोंमें बाँटकर भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेकी इच्छासे मलय-पर्वतपर चले गये ॥ ३३ ॥ उस समय—चन्द्रिका जिस प्रकार चन्द्रदेवका अनुसरण करती है—उसी प्रकार मत्तलोचना वैदर्भीने अपने घर, पुत्र और समस्त भोगोंको तिलाञ्जलि दे पाण्ड्यनरेशका अनुगमन किया ॥ ३४ ॥ वहाँ चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नामकी तीन नदियाँ थीं । उनके पवित्र जलमें स्नान करके वे प्रतिदिन अपने शरीर और अन्तःकरणको निर्मल करते थे ॥ ३५ ॥ वहाँ रहकर उन्होंने कन्द, बीज, मूल, फल, पुष्प, पत्ते, तृण और जलसे ही निर्वाह करते हुए बड़ा कठोर तप किया । इससे धीरे-धीरे उनका शरीर बहुत सूख गया ॥ ३६ ॥ महाराज मलयध्वजने सर्वत्र समदृष्टि रखकर शीत-उष्ण, वर्षा-

१. प्राचीन प्रतिमें 'अनन्तरं' इत्यादि २८वें श्लोकका उत्तरार्ध भाग नहीं है । २. प्रा० पा०—सप्तद्रुमिल० । ३. प्रा० पा०—चान्द्रमसी । ४. प्रा० पा०—वट्टूदका । ५. प्रा० पा०—कन्दादिभि० ।

सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥३७॥
तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥३८॥
आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः ।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम् ॥३९॥
स व्यापकतयाऽऽत्मानं व्यतिरिक्ततयाऽऽत्मनि ।
विद्वान् स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥४०॥
साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥४१॥
परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि ।
वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥४२॥
पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् ।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता ॥४३॥
चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।
बभावुप पतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥४४॥
अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥४५॥
यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती ।
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥४६॥
आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः ।

वायु, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वोंको जीत लिया ॥ ३७ ॥ तप और उपासनासे वासनाओंको निर्मूल कर तथा यम-नियमादिके द्वारा इन्द्रिय, प्राण और मनको वशमें करके वे आत्मामें ब्रह्मभावना करने लगे ॥ ३८ ॥ इस प्रकार सौ दिव्य वर्षोंतक स्थाणुके समान निश्चलभावसे एक ही स्थानपर बैठे रहे । भगवान् वासुदेवमें सुदृढ़ प्रेम हो जानेके कारण इतने समयतक उन्हें शरीरादिका भी भान न हुआ ॥ ३९ ॥ राजन् ! गुरुस्वरूप साक्षात् श्रीहरिके उपदेश किये हुए तथा अपने अन्तःकरणमें सब ओर स्फुरित होनेवाले विशुद्ध विज्ञानदीपकसे उन्होंने देखा कि अन्तःकरणकी वृत्तिका प्रकाशक आत्मा स्वप्नावस्था-की भाँति देहादि समस्त उपाधियोंमें व्याप्त तथा उनसे पृथक् भी है । ऐसा अनुभव करके वे सब ओरसे उदासीन हो गये ॥ ४०-४१ ॥ फिर अपनी आत्माको परब्रह्ममें और परब्रह्मको आत्मामें अभिन्नरूपसे देखा और अन्तमें इस अभेद चिन्तनको भी त्याग कर सर्वथा शान्त हो गये ॥ ४२ ॥

राजन् ! इस समय पतिपरायणा वैदर्भी सब प्रकारके भोगोंको त्याग कर अपने परमधर्मज्ञ पति मलयध्वजकी सेवा बड़े प्रेमसे करती थी ॥ ४३ ॥ वह चीर-वस्त्र धारण किये रहती, व्रत-उपवासादिके कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था और सिरके बाल आपसमें उलझ जानेके कारण उनमें लटें पड़ गयी थीं । उस समय अपने पतिदेवके पास वह अङ्गारभावको प्राप्त धूमरहित अग्निके समीप अग्निकी शान्त शिखाके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ४४ ॥ उसके पति परलोकवासी हो चुके थे, परंतु पूर्ववत् स्थिर आसनसे विराजमान थे । इस रहस्यको न जाननेके कारण वह उनके पास जाकर उनकी पूर्ववत् सेवा करने लगी ॥ ४५ ॥ चरणसेवा करते समय जब उसे अपने पतिके चरणोंमें गरमी बिल्कुल नहीं मालूम हुई, तब तो वह झुंडसे बिछुड़ी हुई मृगीके समान चित्तमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी ॥ ४६ ॥ उस बीहड़ वनमें अपनेको अकेली और दीन-अवस्थामें देखकर वह बड़ी शोकाकुल

१. प्रा० पा०—ईक्षमाणो । २. प्रा० पा०—विहायेमामस्मा० ।

स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥४७॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् ।
दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि ॥४८॥
एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् ।
पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥४९॥
चितिं[1] दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम् ।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥५०॥
तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥५१॥

ब्राह्मण[2] उवाच

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि ।
जानासि[3] किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ[4] ह ॥५२॥
अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः ॥५३॥
हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥५४॥
स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् ।
विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥५५॥
पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् ।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥५६॥
पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो ।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रहः ॥५७॥

हुई और आँसुओंकी धारासे स्तनोंको भिगोती हुई बड़े जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ४७ ॥ वह बोली, 'राजर्षे! उठिये, उठिये; समुद्रसे घिरी हुई यह वसुन्धरा लुटेरों और अधार्मिक राजाओंसे भयभीत हो रही है, आप इसकी रक्षा कीजिये' ॥ ४८ ॥ पतिके साथ वनमें गयी हुई वह अबला इस प्रकार विलाप करती पतिके चरणोंमें गिर गयी और रो-रोकर आँसू बहाने लगी ॥ ४९ ॥ लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसने उसपर पतिका शव रक्खा और अग्नि लगाकर विलाप करते-करते स्वयं सती होनेका निश्चय किया ॥ ५० ॥ राजन् ! इसी समय उसका कोई पुराना मित्र एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया । उसने उस रोती हुई अबलाको मधुर वाणीसे समझाते हुए कहा ॥ ५१ ॥

ब्राह्मणने कहा—तू कौन है ? किसकी पुत्री है ? और जिसके लिये तू शोक कर रही है, वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है ? क्या तुम मुझे नहीं जानती ? मैं वही तेरा मित्र हूँ, जिसके साथ तू पहले विचरा करती थी ॥ ५२ ॥ सखे ! क्या तुम्हें अपनी याद आती है, किसी समय मैं तुम्हारा अविज्ञात नामका सखा था ? तुम पृथ्वीके भोग भोगनेके लिये निवासस्थानकी खोजमें मुझे छोड़कर चले गये थे ॥ ५३ ॥ आर्य ! पहले मैं और तुम एक दूसरेके मित्र एवं मानसनिवासी हंस थे । हम दोनों सहस्रों वर्षोंतक बिना किसी निवास-स्थानके ही रहे थे ॥ ५४ ॥ किंतु मित्र ! तुम विषयभोगोंकी इच्छासे मुझे छोड़कर यहाँ पृथ्वीपर चले आये ! यहाँ घूमते-घूमते तुमने एक स्त्रीका रचा हुआ स्थान देखा ॥ ५५ ॥ उसमें पाँच बगीचे, नौ दरवाजे, एक द्वारपाल, तीन परकोटे, छः वैश्यकुल और पाँच बाजार थे। वह पाँच उपादान-कारणोंसे बना हुआ था और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी ॥ ५६ ॥ महाराज ! इन्द्रियोंके पाँच विषय उसके बगीचे थे, नौ इन्द्रिय-छिद्र द्वार थे; तेज, जल और अन्न—तीन परकोटे थे; मन और पाँच

१. प्रा० पा०—चितां । २. प्राचीन प्रतिमें 'ब्राह्मण उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—किं जानासि । ४. प्रा० पा०—विचरेम हि ।

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया ।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥५८॥
तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः ।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥५९॥
न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव ।
न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥६०॥
माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥६१॥
अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥६२॥
यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥६३॥
एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥६४॥
बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः ॥६५॥

ज्ञानेन्द्रियाँ—छः वैश्यकुल थे, क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ ही बाजार थीं, पाँच भूत ही उसके कभी क्षीण न होनेवाले उपादान-कारण थे और बुद्धिशक्ति ही उसकी स्वामिनी थी । यह ऐसा नगर था, जिसमें प्रवेश करनेपर पुरुष ज्ञानशून्य हो जाता है—अपने स्वरूपको भूल जाता है ॥ ५७-५८ ॥ भाई ! उस नगरमें उसकी स्वामिनीके फंदेमें पड़कर उसके साथ विहार करते-करते तुम भी अपने स्वरूपको भूल गये और उसीके सङ्गसे तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है ॥ ५९ ॥

देखो, तुम न तो विदर्भराजकी पुत्री ही हो और न यह वीर मलयध्वज तुम्हारा पति ही । जिसने तुम्हें नौ द्वारोंके नगरमें बंद किया था, उस पुरञ्जनीके पति भी तुम नहीं हो ॥ ६० ॥ तुम पहले जन्ममें अपनेको पुरुष समझते थे और अब सती स्त्री मानते हो—यह सब मेरी ही फैलायी हुई माया है । वास्तवमें तुम न पुरुष हो न स्त्री । हम दोनों तो हंस हैं; हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव करो ॥ ६१ ॥ मित्र ! जो मैं (ईश्वर) हूँ, वही तुम (जीव) हो । तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचारपूर्वक देखो, मैं भी वही हूँ जो तुम हो । ज्ञानी पुरुष हम दोनोंमें कभी थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते ॥ ६२ ॥ जैसे एक पुरुष अपने शरीरकी परछाईंको शीशेमें और किसी व्यक्तिके नेत्रमें भिन्न-भिन्न रूपसे देखता है वैसे ही—एक ही आत्मा विद्या और अविद्याकी उपाधिके भेदसे अपनेको ईश्वर और जीवके रूपमें दो प्रकारसे देख रहा है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार जब हंस (ईश्वर) ने उसे सावधान किया, तब वह मानसरोवरका हंस (जीव) अपने स्वरूपमें स्थित हो गया और उसे अपने मित्रके विछोहसे भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया ॥ ६४ ॥ प्राचीनबर्हि ! मैंने तुम्हें परोक्षरूपसे यह आत्मज्ञानका दिग्दर्शन कराया है; क्योंकि जगत्कर्ता जगदीश्वरको परोक्ष-वर्णन ही अधिक प्रिय है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
पुरञ्जनोपाख्यानेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—पुमानत्र । २. प्रा० पा०—ततः ।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

पुरञ्जनोपाख्यानका तात्पर्य

प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते ।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद् व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २ ॥

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥

यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् ।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामंनुत साध्विति ॥ ४ ॥

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् ।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान् ॥ ५ ॥

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् ।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः ॥ ६ ॥

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् ।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति ।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—भगवन् ! मेरी समझमें आपके वचनोंका अभिप्राय पूरा-पूरा नहीं आ रहा है । विवेकी पुरुष ही इनका तात्पर्य समझ सकते हैं, हम कर्ममोहित जीव नहीं ॥ १ ॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन् ! पुरञ्जन (नगरका निर्माता) जीव है—जो अपने लिये एक, दो, तीन, चार अथवा बहुत पैरोंवाला या बिना पैरोंका शरीररूप पुर तैयार कर लेता है ॥ २ ॥ उस जीवका सखा जो अविज्ञात नामसे कहा गया है, वह ईश्वर है; क्योंकि किसी भी प्रकारके नाम, गुण अथवा कर्मोंसे जीवोंको उसका पता नहीं चलता ॥ ३ ॥ जीवने जब सुख-दुःखरूप सभी प्राकृत विषयोंको भोगनेकी इच्छा की, तब उसने दूसरे शरीरोंकी अपेक्षा नौ द्वार, दो हाथ और दो पैरोंवाला मानव-देह ही पसंद किया ॥ ४ ॥ बुद्धि अथवा अविद्याको ही तुम पुरञ्जनी नामकी स्त्री जानो; इसीके कारण देह और इन्द्रिय आदिमें मैं-मेरेपनका भाव उत्पन्न होता है और पुरुष इसीका आश्रय लेकर शरीरमें इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता है ॥ ५ ॥ दस इन्द्रियाँ ही उसके मित्र हैं, जिनसे कि सब प्रकारके ज्ञान और कर्म होते हैं । इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ ही उसकी सखियाँ और प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानरूप पाँच वृत्तियोंवाला प्राणवायु ही नगरकी रक्षा करनेवाला पाँच फनका सर्प है ॥ ६ ॥ दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके नायक मनको ही ग्यारहवाँ महाबली योद्धा जानना चाहिये । शब्दादि पाँच विषय ही पाञ्चालदेश हैं, जिसके बीचमें वह नौ द्वारोंवाला नगर बसा हुआ है ॥ ७ ॥

उस नगरमें जो एक-एक स्थानपर दो-दो द्वार बताये गये थे—वे दो नेत्रगोलक, दो नासाछिद्र और दो कर्णछिद्र हैं । इनके साथ मुख, लिङ्ग और गुदा—ये तीन और मिलाकर कुल नौ द्वार हैं; इन्हींमें होकर वह जीव इन्द्रियोंके साथ बाह्य विषयोंमें जाता है ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—नापुरम् । २. प्रा० पा०—मन्यत ।

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः ।
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ॥ ९ ॥
पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते[1] ।
खद्योताऽऽविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे[2] चक्षुषेश्वरः ॥१०॥
नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते ।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥११॥
आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः ॥१२॥
प्रवृत्तं[3] च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥१३॥
आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते ॥१४॥
वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु ।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥१५॥
अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते ।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥१६॥

इसमें दो नेत्रगोलक, दो नासाछिद्र और एक मुख—ये पाँच पूर्वके द्वार हैं, दाहिने कानको दक्षिणका और बायें कानको उत्तरका द्वार समझना चाहिये ॥ ९ ॥ गुदा और लिङ्ग—ये नीचेके दो छिद्र पश्चिमके द्वार हैं। खद्योता और आविर्मुखी नामके जो दो द्वार एक स्थानपर बतलाये थे, वे नेत्रगोलक हैं तथा रूप विभ्राजित नामका देश है, जिसका इन द्वारोंसे जीव चक्षु-इन्द्रियकी सहायतासे अनुभव करता है (चक्षु-इन्द्रियोंको ही पहले द्युमान् नामका सखा कहा गया है) ॥ १० ॥ दोनों नासाछिद्र ही नलिनी और नालिनी नामके द्वार हैं और नासिकाका विषय गन्ध ही सौरभ देश है तथा घ्राणेन्द्रिय अवधूत नामका मित्र है। मुख मुख्य नामका द्वार है। उसमें रहनेवाला वागिन्द्रिय विपण है और रसनेन्द्रिय रसविद् (रसज्ञ) नामका मित्र है ॥ ११ ॥ वाणीका व्यापार आपण है और तरह-तरहका अन्न बहूदन है तथा दाहिना कान पितृहू और बायाँ कान देवहू कहा गया है ॥ १२ ॥ कर्मकाण्डरूप प्रवृत्तिमार्गका शास्त्र और उपासनाकाण्डरूप निवृत्तिमार्गका शास्त्र ही क्रमशः दक्षिण और उत्तर पाञ्चालदेश हैं। इन्हें श्रवणेन्द्रियरूप श्रुतधरकी सहायतासे सुनकर जीव क्रमशः पितृयान और देवयान मार्गोंमें जाता है ॥१३॥ लिङ्ग ही आसुरी नामका पश्चिमी द्वार है, स्त्रीप्रसङ्ग ग्रामक नामका देश है और लिङ्गमें रहनेवाला उपस्थेन्द्रिय दुर्मद नामका मित्र है। गुदा निर्ऋति नामका पश्चिमी द्वार है ॥ १४ ॥ नरक वैशस नामका देश है और गुदामें स्थित पायुइन्द्रिय लुब्धक नामका मित्र है। इनके सिवा दो पुरुष अंधे बताये गये थे, उनका रहस्य भी सुनो। वे हाथ और पाँव हैं; इन्हींकी सहायतासे जीव क्रमशः सब काम करता और जहाँ-तहाँ जाता है ॥ १५ ॥ हृदय अन्तःपुर है, उसमें रहनेवाला मन ही विषूचि (विषूचीन) नामका प्रधान सेवक है। जीव उस मनके सत्त्वादि गुणोंके कारण ही प्रसन्नता, हर्षरूप विकार अथवा मोहको प्राप्त होता

१. प्रा० पा०—मिहोदिते । २. प्रा० पा०—विचक्षे । ३. प्राचीन प्रतिमें 'प्रवृत्तं च' इत्यादि तेरहवें श्लोकसे आरम्भकर बीसवें श्लोकके पूर्वार्धतकका अंश यहाँ नहीं, तेईसवें श्लोकके आगे लिखा है।

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।

तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥१७॥

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयोऽगतिः ।

द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥१८॥

मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।

पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥१९॥

आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति ।

एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥२०॥

संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः ।

तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः ।

हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥२१॥

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति ।

स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥२२॥

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः ।

भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥२३॥

एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः ।

है ॥ १६ ॥ बुद्धि (राजमहिषी पुरञ्जनी) जिस-जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें विकारको प्राप्त होती है और जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियादिको विकृत करती है, उसके गुणोंसे लिप्त होकर आत्मा (जीव) भी उसी-उसी रूपमें उसकी वृत्तियोंका अनुकरण करनेको बाध्य होता है—यद्यपि वस्तुतः वह उनका निर्विकार साक्षीमात्र ही है॥१७॥

शरीर ही रथ है । उसमें ज्ञानेन्द्रियरूप पाँच घोड़े जुते हुए हैं । देखनेमें संवत्सररूप कालके समान ही उसका अप्रतिहत वेग है, वास्तवमें वह गतिहीन है । पुण्य और पाप—ये दो प्रकारके कर्म ही उसके पहिये हैं, तीन गुण ध्वजा हैं, पाँच प्राण डोरियाँ हैं ॥ १८ ॥ मन बागडोर है, बुद्धि सारथि है, हृदय बैठनेका स्थान है, सुख-दुःखादि द्वन्द्व जुए हैं, इन्द्रियोंके पाँच विषय उसमें रक्खे हुए आयुध हैं और त्वचा आदि सात धातुएँ उसके आवरण हैं ॥ १९ ॥ पाँच कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकारकी गति हैं । इस रथपर चढ़कर रथीरूप यह जीव मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है । ग्यारह इन्द्रियाँ उसकी सेना हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही उसका शिकार खेलना है ॥ २० ॥

जिसके द्वारा कालका ज्ञान होता है, वह संवत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्वराज है । उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व बताये गये थे, वे दिन हैं और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ रात्रि हैं । ये बारी-बारीसे चक्कर लगाते हुए मनुष्यकी आयुको हरते रहते हैं ॥ २१ ॥ वृद्धावस्था ही साक्षात् कालकन्या है, उसे कोई भी पुरुष पसंद नहीं करता । तब मृत्युरूप यवनराजने लोकका संहार करनेके लिये उसे बहिन मानकर स्वीकार कर लिया ॥ २२ ॥ आधि (मानसिक क्लेश) और व्याधि (रोगादि शारीरिक कष्ट) ही उस यवनराजके पैदल चलनेवाले सैनिक हैं तथा प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर शीघ्र ही मृत्युके मुखमें ले जानेवाला शीत और उष्ण दो प्रकारका ज्वर ही प्रज्वार नामका उसका भाई है ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह देहाभिमानी जीव अज्ञानसे आच्छादित होकर अनेक प्रकारके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधि-

क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥२४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥२५॥
यदाऽऽत्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥२६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते[1] ॥२७॥
शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति[2] कर्हिचित् ।
दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित् ॥
क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं[3] भवः ॥२९॥
क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति[4] दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥३१॥
दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥३२॥
यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥३३॥

दैविक कष्ट भोगता हुआ सौ वर्षतक मनुष्य-शरीरमें पड़ा रहता है ॥ २४ ॥ वस्तुतः तो वह निर्गुण है; किंतु प्राण, इन्द्रिय और मनके धर्मोंको अपनेमें आरोपित कर मैं-मेरेपनके अभिमानसे बँधकर क्षुद्र विषयोंका चिन्तन करता हुआ तरह-तरहके कर्म करता रहता है ॥ २५ ॥ यह यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि जबतक सबके परमगुरु आत्मस्वरूप श्रीभगवान्के स्वरूपको नहीं जानता, तबतक प्रकृतिके गुणोंमें ही बँधा रहता है ॥ २६ ॥ उन गुणोंका अभिमानी होनेसे वह विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्म करता है तथा उन कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २७ ॥ वह कभी तो सात्त्विक कर्मोंके द्वारा प्रकाशबहुल स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है, कभी राजसी कर्मोंके द्वारा दुःखमय रजोगुणी लोकोंमें जाता है—जहाँ उसे तरह-तरहके कर्मोंका क्लेश उठाना पड़ता है—और कभी तमोगुणी कर्मोंके द्वारा शोकबहुल तमोमयी योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २८ ॥ इस प्रकार अपने कर्म और गुणोंके अनुसार देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशु-पक्षीयोनिमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है ॥ २९ ॥ जिस प्रकार बेचारा भूखसे व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं डंडा खाता है और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार यह जीव चित्तमें नाना प्रकारकी वासनाओंको लेकर ऊँचे-नीचे मार्गसे ऊपर-नीचे अथवा मध्यके लोकोंमें भटकता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता रहता है ॥ ३०-३१ ॥

आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी भी एकसे जीवका सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता । यदि कभी वैसा जान पड़ता है तो वह केवल तात्कालिक निवृत्ति ही है ॥ ३२ ॥ वह ऐसी ही है जैसे कोई सिरपर भारी बोझा ढोकर ले जानेवाला पुरुष उसे कंधेपर रख ले । इसी तरह सभी प्रतिक्रिया (दुःख-निवृत्ति) जाननी चाहिये—यदि किसी उपायसे मनुष्य एक प्रकारके दुःखसे छुट्टी पाता है, तो दूसरा दुःख आकर उसके

१. प्रा० पा०—च यथा समभिजायते । २. प्रा० पा०—ल्लोकान् प्राप्नोति । ३. प्रा० पा०—कर्तृगुणं । ४. प्रा० पा०—यावदिष्टं ।

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।

द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥३४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥३५॥

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।

संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥३६॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।

सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥३७॥

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः ।

शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥३८॥

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः ।

भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥३९॥

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-

पीयूषशेषसरितः[1] परितः स्रवन्ति ।

ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-

स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ४०

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।

न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥४१॥

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः ।

दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥४२॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥४३॥

सिरपर सवार हो जाता है ॥ ३३ ॥ शुद्धहृदय नरेन्द्र ! जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्नसे सर्वथा छूटनेका उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्मफल-भोगसे सर्वथा छूटनेका उपाय केवल कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और कर्मफल-भोग दोनों ही अविद्यायुक्त होते हैं ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें अपने मनोमय लिङ्गशरीरसे विचरनेवाले प्राणीको स्वप्नके पदार्थ न होनेपर भी भासते हैं, उसी प्रकार ये दृश्यपदार्थ वस्तुतः न होनेपर भी, जबतक अज्ञान-निद्रा नहीं टूटती, बने ही रहते हैं और जीवको जन्म-मरण-रूप संसारसे मुक्ति नहीं मिलती (अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है) ॥ ३५ ॥

राजन् ! जिस अविद्याके कारण परमार्थस्वरूप आत्माको यह जन्म-मरणरूप अनर्थपरम्परा प्राप्त हुई है, उसकी निवृत्ति गुरुस्वरूप श्रीहरिमें सुदृढ़ भक्ति होनेपर हो सकती है ॥ ३६ ॥ भगवान् वासुदेवमें एकाग्रता-पूर्वक सम्यक् प्रकारसे किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव कर देता है ॥ ३७ ॥ राजर्षे ! यह भक्तिभाव भगवान्‌की कथाओंके आश्रित रहता है । इसलिये जो श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रतिदिन सुनता या पढ़ता है, उसे बहुत शीघ्र इसकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३८ ॥ राजन् ! जहाँ भगवद्गुणोंको कहने और सुननेमें तत्पर विशुद्धचित्त भक्तजन रहते हैं, उस साधु-समाजमें सब ओर महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए श्रीमधुसूदनभगवान्‌के चरित्ररूप शुद्ध अमृतकी अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं । जो लोग अतृप्तचित्तसे श्रवणमें तत्पर अपने कर्णकुहरोंद्वारा उस अमृतका छककर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥ ३९-४० ॥ हाय ! स्वभावतः प्राप्त होनेवाले इन क्षुधा-पिपासादि विघ्नोंसे सदा घिरा हुआ जीव-समुदाय श्रीहरिके कथामृत-सिन्धुसे प्रेम नहीं करता ॥ ४१ ॥ साक्षात् प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापतिगण, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और मैं—ये

१. प्रा० पा०—तोयसरितः ।

अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।

पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥४४॥

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं[1] भजन्तो न विदुः परम् ॥४५॥

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४६॥

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।

मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥४७॥

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।

आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥४८॥

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम् ।

स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ।

तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥४९॥

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।

तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५०॥

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।

इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥५१॥

नारद उवाच[2]

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ ।

जितने ब्रह्मवादी मुनिगण हैं, समस्त वाङ्मयके अधिपति होनेपर भी तप, उपासना और समाधिके द्वारा ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गये, फिर भी उस सर्वसाक्षी परमेश्वरको आजतक न देख सके ॥ ४२—४४ ॥ वेद भी अत्यन्त विस्तृत है, उसका पार पाना हँसी-खेल नहीं है। अनेकों महानुभाव उसकी आलोचना करके मन्त्रोंमें बताये हुए वज्रहस्तत्वादि गुणोंसे युक्त इन्द्रादि देवताओंके रूपमें, भिन्न-भिन्न कर्मोंके द्वारा, यद्यपि उस परमात्माका ही यजन करते हैं तथापि उसके स्वरूपको वे भी नहीं जानते ॥ ४५ ॥ हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म-मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छुट्टी पा जाता है ॥ ४६ ॥

बर्हिष्मन् ! तुम इन कर्मोंमें परमार्थबुद्धि मत करो। ये सुननेमें ही प्रिय जान पड़ते हैं, परमार्थका तो स्पर्श भी नहीं करते। ये जो परमार्थवत् दीख पड़ते हैं, इसमें केवल अज्ञान ही कारण है ॥ ४७ ॥ जो मलिनमति कर्मवादी लोग वेदको कर्मपरक बताते हैं, वे वास्तवमें उसका मर्म नहीं जानते। इसका कारण यही है कि वे अपने स्वरूपभूत लोक (आत्मतत्त्व) को नहीं जानते, जहाँ साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् विराजमान हैं ॥ ४८ ॥ पूर्वकी ओर अग्रभागवाले कुशाओंसे सम्पूर्ण भूमण्डलको आच्छादित करके अनेकों पशुओंका वध करनेसे तुम बड़े कर्माभिमानी और उद्धत हो गये हो; किंतु वास्तवमें तुम्हें कर्म या उपासना—किसीके भी रहस्यका पता नहीं है। वास्तवमें कर्म तो वही है, जिससे श्रीहरिको प्रसन्न किया जा सके और विद्या भी वही है, जिससे भगवान्‌में चित्त लगे॥४९॥ श्रीहरि सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा, नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं; अतः उनके चरणतल ही मनुष्योंके एकमात्र आश्रय हैं और उन्हींसे संसारमें सबका कल्याण हो सकता है ॥ ५० ॥ 'जिससे किसीको अणुमात्र भी भय नहीं होता, वही उसका प्रियतम आत्मा है' ऐसा जो पुरुष जानता है, वही ज्ञानी है और जो ज्ञानी है, वही गुरु एवं साक्षात् श्रीहरि है ॥ ५१ ॥

श्रीनारदजी कहते हैं—पुरुषश्रेष्ठ ! यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे तुम्हारे प्रश्नका उत्तर हो गया।

१. प्रा० पा०—वच्छिन्नैर्भ० । २. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' नहीं है ।

अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥५२॥

क्षुद्रश्चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥५३॥

[अस्यार्थः]

सुमनस्सधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभित-[1]कर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रांन्तान् कालवविशेषानविगणय्य[2] गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत[3] एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥ ५४ ॥

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥५५॥

अब मैं एक भलीभाँति निश्चित किया हुआ गुप्त साधन बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ५२ ॥ 'पुष्पवाटिकामें अपनी हरिनीके साथ विहार करता हुआ एक हरिन मस्त घूम रहा है, वह दूब आदि छोटे-छोटे अङ्कुरोंको चर रहा है। उसके कान भौंरोंके मधुर गुंजारमें लग रहे हैं। उसके सामने ही दूसरे जीवोंको मारकर अपना पेट पालनेवाले भेड़िये ताक लगाये खड़े हैं और पीछेसे शिकारी व्याधने बींधनेके लिये उसपर बाण छोड़ दिया है। परंतु हरिन इतना बेसुध है कि उसे इसका कुछ भी पता नहीं है।' एक बार इस हरिनकी दशापर विचार करो ॥ ५३ ॥

राजन्! इस रूपकका आशय सुनो। यह मृतप्राय हरिन तुम्हीं हो, तुम अपनी दशापर विचार करो। पुष्पोंकी तरह ये स्त्रियाँ केवल देखनेमें सुन्दर हैं, इन स्त्रियोंके रहनेका घर ही पुष्पवाटिका है। इसमें रहकर तुम पुष्पोंके मधु और गन्धके समान क्षुद्र सकाम कर्मोंके फलरूप, जीभ और जननेन्द्रियको प्रिय लगनेवाले भोजन तथा स्त्रीसङ्ग आदि तुच्छ भोगोंको ढूँढ़ रहे हो। स्त्रियोंसे घिरे रहते हो और अपने मनको तुमने उन्हींमें फँसा रक्खा है। स्त्री-पुत्रोंका मधुर भाषण ही भौंरोंका मधुर गुंजार है, तुम्हारे कान उसीमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं। सामने ही भेड़ियोंके झुंडके समान कालके अंश दिन और रात तुम्हारी आयुको हर रहे हैं, परंतु तुम उनकी कुछ भी परवा न कर गृहस्थीके सुखोंमें मस्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे गुप-चुप लगा हुआ शिकारी काल अपने छिपे हुए बाणसे तुम्हारे हृदयको दूरसे ही बींध डालना चाहता है ॥ ५४ ॥ इस प्रकार अपनेको मृगकी-सी स्थितिमें देखकर तुम अपने चित्तको हृदयके भीतर निरुद्ध करो और नदीकी भाँति प्रवाहित होनेवाली श्रवणेन्द्रियकी बाह्य वृत्तिको चित्तमें स्थापित करो (अन्तर्मुखी करो)। जहाँ कामी पुरुषोंकी चर्चा होती रहती है, इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर परमहंसोंके आश्रय श्रीहरिको प्रसन्न करो और क्रमशः सभी विषयोंसे विरत हो जाओ ॥ ५५ ॥

१. प्रा० पा०—तरां प्रलोभित०। २. प्रा० पा०—रात्रादीन्कालविशेषान्विगणय्य। ३. प्रा० पा०—पृष्ठतः परोक्षमनु।

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत ।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥५६॥
संशयोऽत्र तु मे विप्र संछिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः ॥५७॥
कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥५८॥
इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥५९॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—भगवन् ! आपने कृपा करके मुझे जो उपदेश दिया, उसे मैंने सुना और उसपर विशेषरूपसे विचार भी किया । मुझे कर्मका उपदेश देनेवाले इन आचार्योंको निश्चय ही इसका ज्ञान नहीं है; यदि ये इस विषयको जानते तो मुझे इसका उपदेश क्यों न करते ॥ ५६ ॥ विप्रवर ! मेरे उपाध्यायोंने आत्म-तत्त्वके विषयमें मेरे हृदयमें जो महान् संशय खड़ा कर दिया था, उसे आपने पूरी तरहसे काट दिया । इस विषयमें इन्द्रियोंकी गति न होनेके कारण मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको भी मोह हो जाता है ॥ ५७ ॥ वेदवादियोंका कथन जगह-जगह सुना जाता है कि 'पुरुष इस लोकमें जिसके द्वारा कर्म करता है, उस स्थूलशरीरको यहीं छोड़कर परलोकमें कर्मोंसे ही बने हुए दूसरी देहसे उनका फल भोगता हैं । किंतु यह बात कैसे हो सकती है ?' (क्योंकि उन कर्मोंका कर्ता स्थूल शरीर तो यहीं नष्ट हो जाता है ।) इसके सिवा जो-जो कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे तो दूसरे ही क्षणमें अदृश्य हो जाते हैं; वे परलोकमें फल देनेके लिये किस प्रकार पुनः प्रकट हो सकते हैं ? ॥५८-५९॥

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् ।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥६०॥
शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥६१॥
ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।
गृह्णीयात्तत्पुमान् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः ॥६२॥
यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥६३॥
नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् ।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥६४॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन् ! (स्थूल शरीर तो लिङ्गशरीरके अधीन है, अतः कर्मोंका उत्तरदायित्व उसीपर है) जिस मनःप्रधान लिङ्गशरीरकी सहायतासे मनुष्य कर्म करता है, वह तो मरनेके बाद भी उसके साथ रहता ही है; अतः वह परलोकमें अपरोक्षरूपसे स्वयं उसीके द्वारा उनका फल भोगता है ॥ ६० ॥ स्वप्नावस्थामें मनुष्य इस जीवित शरीरका अभिमान तो छोड़ देता है, किंतु इसीके समान अथवा इससे भिन्न प्रकारके पशु-पक्षी आदि शरीरसे वह मनमें संस्काररूपसे स्थित कर्मोंका फल भोगता रहता है ॥६१॥ इस मनके द्वारा जीव जिन स्त्री-पुत्रादिको 'ये मेरे हैं' और देहादिको 'यह मैं हूँ' ऐसा कहकर मानता है, उनके किये हुए पाप पुण्यादिरूप कर्मोंको भी यह अपने ऊपर ले लेता है और उनके कारण इसे व्यर्थ ही फिर जन्म लेना पड़ता है ॥ ६२ ॥ जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनोंकी चेष्टाओंसे उनके प्रेरक चित्तका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्तकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी वृत्तियोंसे पूर्वजन्मके कर्मोंका भी अनुमान होता है (अतः कर्म अदृष्टरूपसे फल देनेके लिये कालान्तरमें मौजूद रहते हैं) ॥६३॥ कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तुका इस शरीरसे कभी अनुभव नहीं किया—जिसे न कभी देखा, न सुना ही—उसका स्वप्नमें, वह जैसी होती है, वैसा ही अनुभव हो जाता है ॥६४॥

तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम्।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥६५॥
मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥६६॥
अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्[1] ॥६७॥
सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः।
आयान्ति वर्गशो[2] यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥६८॥
सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते[3] ॥६९॥
नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते।
यावद् बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥७०॥
सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥७१॥
गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा[4]।

राजन्! तुम निश्चय मानो कि लिङ्गदेहके अभिमानी जीवको उसका अनुभव पूर्वजन्ममें हो चुका है; क्योंकि जो वस्तु पहले अनुभव की हुई नहीं होती, उसकी मनमें वासना भी नहीं हो सकती ॥ ६५ ॥

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। मन ही मनुष्यके पूर्व रूपोंको तथा भावी शरीरादिको भी बता देता है; और जिनका भावी जन्म होनेवाला नहीं होता, उन तत्त्ववेत्ताओंकी विदेहमुक्तिका पता भी उनके मनसे ही लग जाता है ॥ ६६ ॥ कभी-कभी स्वप्नमें देश, काल अथवा क्रियासम्बन्धी ऐसी बातें भी देखी जाती हैं, जो पहले कभी देखी या सुनी नहीं गयीं (जैसे पर्वतकी चोटीपर समुद्र, दिनमें तारे अथवा अपना सिर कटा दिखायी देना इत्यादि)। इनके दीखनेमें निद्रादोषको ही कारण मानना चाहिये ॥ ६७ ॥ मनके सामने इन्द्रियोंसे अनुभव होने योग्य पदार्थ ही भोगरूपमें बार-बार आते हैं और भोग समाप्त होनेपर चले जाते हैं; ऐसा कोई पदार्थ नहीं आता, जिसका इन्द्रियोंसे अनुभव ही न हो सके। इसका कारण यही है कि सब जीव मनसहित हैं ॥ ६८ ॥ साधारणतया तो सब पदार्थोंका क्रमशः ही भान होता है; किंतु यदि किसी समय भगवच्चिन्तनमें लगा हुआ मन विशुद्ध सत्त्वमें स्थित हो जाय, तो उसमें भगवान्‌का संसर्ग होनेसे एक साथ समस्त विश्वका भी भान हो सकता है—जैसे राहु दृष्टिका विषय न होनेपर भी प्रकाशात्मक चन्द्रमाके संसर्गसे दीखने लगता है ॥ ६९ ॥ राजन्! जबतक गुणोंका परिणाम एवं बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयोंका सङ्घात यह अनादि लिङ्गदेह बना हुआ है, तबतक जीवके अंदर स्थूलदेहके प्रति 'मैं-मेरा' इस भावका अभाव नहीं हो सकता ॥ ७० ॥ सुषुप्ति, मूर्च्छा, अत्यन्त दुःख तथा मृत्यु और तीव्र ज्वरादिके समय भी इन्द्रियोंकी व्याकुलताके कारण 'मैं' और 'मेरेपन'की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, किंतु उस समय भी उनका अभिमान तो बना ही रहता है ॥ ७१ ॥ जिस प्रकार अमावस्याकी रात्रिमें चन्द्रमा रहते हुए भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार युवा-

१. प्रा० पा०—चलाश्रयम्। २. प्रा० पा०—बहुशो। ३. प्रा० पा०—वेह उप०। ४. प्रा० पा०—तथा।

लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥७२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥७३॥

वस्थामें स्पष्ट प्रतीत होनेवाला यह एकादश इन्द्रियविशिष्ट लिङ्ग शरीर गर्भावस्था और बाल्यकालमें रहते हुए भी इन्द्रियोंका पूर्ण विकास न होनेके कारण प्रतीत नहीं होता ॥७२॥ जिस प्रकार स्वप्नमें किसी वस्तुका अस्तित्व न होनेपर भी जागे बिना स्वप्नजनित अनर्थकी निवृत्ति नहीं होती—उसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ यद्यपि असत् हैं, तो भी अविद्यावश जीव उनका चिन्तन करता रहता है; इसलिये उसका जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा नहीं हो पाता ॥ ७३ ॥

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥७४॥
अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।[1]
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति ॥७५॥
यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥७६॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥७७॥
यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् ।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥७८॥
अतस्तदपवादार्थं[2] भज सर्वात्मना हरिम् ।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥७९॥

इस प्रकार पञ्चतन्मात्राओंसे बना हुआ तथा सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित यह त्रिगुणमय सङ्घात ही लिङ्गशरीर है । यही चेतनाशक्तिसे युक्त होकर जीव कहा जाता है ॥ ७४ ॥ इसीके द्वारा पुरुष भिन्न-भिन्न देहोंको ग्रहण करता और त्यागता है तथा इसीसे उसे हर्ष, शोक, भय, दुःख और सुख आदिका अनुभव होता है ॥ ७५ ॥ जिस प्रकार जोंक जबतक दूसरे तृणको नहीं पकड़ लेती, तबतक पहलेको नहीं छोड़ती—उसी प्रकार जीव मरणकाल उपस्थित होनेपर भी जबतक देहारम्भक कर्मोंकी समाप्ति होनेपर दूसरा शरीर प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक पहले शरीरके अभिमानको नहीं छोड़ता । राजन् ! यह मनःप्रधान लिङ्गशरीर ही जीवके जन्मादिका कारण है ॥७६-७७॥ जीव जब इन्द्रियजनित भोगोंका चिन्तन करते हुए बार-बार उन्हींके लिये कर्म करता है, तब उन कर्मोंके होते रहनेसे अविद्यावश वह देहादिके कर्मोंमें बँध जाता है ॥ ७८ ॥ अतएव उस कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये सम्पूर्ण विश्वको भगवद्रूप देखते हुए सब प्रकार श्रीहरिका भजन करो । उन्हींसे इस विश्वकी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा उन्हींमें लय होता है ॥ ७९ ॥

मैत्रेय उवाच

भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् ।
प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत्[3] ॥८०॥
प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! भक्तश्रेष्ठ श्रीनारदजीने राजा प्राचीनबर्हिको जीव और ईश्वरके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया । फिर वे उनसे विदा लेकर सिद्धलोकको चले गये ॥ ८० ॥ तब राजर्षि प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर

१. प्रा० पा०—देहमुपादत्ते । २. प्रा० पा०—तदपबाधार्थं । ३. प्रा० पा०—न्नुपमा० ।

आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥८१॥
तत्रैकाग्रमना वीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् ।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्यतामगात्॥८२॥
एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ ।
यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥८३॥

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः॥८४॥

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् ।
एवं स्त्रियाऽऽश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः॥८५॥

तपस्या करनेके लिये कपिलाश्रमको चले गये ॥ ८१ ॥ वहाँ उन वीरवरने समस्त विषयोंकी आसक्ति छोड़ एकाग्र मनसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन करते हुए सारूप्यपद प्राप्त किया ॥ ८२ ॥

निष्पाप विदुरजी ! देवर्षि नारदके परोक्षरूपसे कहे हुए इस आत्मज्ञानको जो पुरुष सुनेगा या सुनायेगा, वह शीघ्र ही लिङ्गदेहके बन्धनसे छूट जायगा ॥ ८३ ॥ देवर्षि नारदके मुखसे निकला हुआ यह आत्मज्ञान भगवान् मुकुन्दके यशसे सम्बद्ध होनेके कारण त्रिलोकीको पवित्र करनेवाला, अन्तःकरणका शोधक तथा परमात्मपदको प्रकाशित करनेवाला है । जो पुरुष इसकी कथा सुनेगा, वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जायगा और फिर उसे इस संसार-चक्रमें नहीं भटकना पड़ेगा ॥ ८४ ॥ विदुर-जी ! गृहस्थाश्रमी पुरञ्जनके रूपकसे परोक्षरूपमें कहा हुआ यह अद्भुत आत्मज्ञान मैंने गुरुजीकी कृपासे प्राप्त किया था । इसका तात्पर्य समझ लेनेसे बुद्धियुक्त जीवका देहाभिमान निवृत्त हो जाता है तथा उसका 'परलोकमें जीव किस प्रकार कर्मोंका फल भोगता है' यह संशय भी मिट जाता है ॥ ८५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्राचीनबर्हिर्नारद-संवादो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको श्रीविष्णुभगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन् सुता प्राचीनबर्हिषः ।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥
किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! आपने राजा प्राचीन-बर्हिके जिन पुत्रोंका वर्णन किया था, उन्होंने रुद्रगीतके द्वारा श्रीहरिकी स्तुति करके क्या सिद्धि प्राप्त की ?॥१॥ बार्हस्पत्य ! मोक्षाधिपति श्रीनारायणके अत्यन्त प्रिय भगवान् शंकरका अकस्मात् सान्निध्य प्राप्त करके प्रचेताओंने मुक्ति तो प्राप्त की ही होगी; इससे पहले इस लोकमें अथवा परलोकमें भी उन्होंने क्या पाया—वह बतलानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—नारदप्राचीनबर्हिःसंवादेऽध्यात्मपारोक्षं नाम ।

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः ।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥
दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः ।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा ॥ ४ ॥
सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः ।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः ॥ ५ ॥
काशिष्णुना[1] कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः ।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै-
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥
पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्यां[2]
स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाऽऽद्यः ।
बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान् प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच[3]

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।
सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं[4] सौहृदेन वः ॥ ८ ॥
योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः ।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥ ९ ॥
ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः ।
स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १० ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! पिताके आज्ञाकारी प्रचेताओंने समुद्रके अंदर खड़े रहकर रुद्रगीतके जप-रूपी यज्ञ और तपस्याके द्वारा समस्त शरीरोंके उत्पादक भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न कर लिया ॥ ३ ॥ तपस्या करते-करते दस हजार वर्ष बीत जानेपर पुराणपुरुष श्रीनारायण अपनी मनोहर कान्तिद्वारा उनके तपस्या-जनित क्लेशको शान्त करते हुए सौम्य विग्रहसे उनके सामने प्रकट हुए ॥ ४ ॥ गरुड़जीके कंधेपर बैठे हुए श्रीभगवान् ऐसे जान पड़ते थे, मानो सुमेरुके शिखरपर कोई श्याम घटा छायी हो । उनके श्रीअङ्गमें मनोहर पीताम्बर और कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी । अपनी दिव्य प्रभासे वे सब दिशाओंका अन्धकार दूर कर रहे थे ॥ ५ ॥ चमकीले सुवर्णमय आभूषणोंसे युक्त उनके कमनीय कपोल और मनोहर मुखमण्डलकी अपूर्व शोभा हो रही थी । उनके मस्तकपर झिलमिलाता हुआ मुकुट शोभायमान था । प्रभुकी आठ भुजाओंमें आठ आयुध थे; देवता, मुनि और पार्षदगण सेवामें उपस्थित थे तथा गरुडजी किन्नरोंकी भाँति साममय पंखोंकी ध्वनिसे कीर्तिगान कर रहे थे ॥ ६ ॥ उनकी आठ लंबी-लंबी स्थूल भुजाओंके बीचमें लक्ष्मीजीसे स्पर्धा करनेवाली वनमाला विराजमान थी । आदिपुरुष श्री-नारायणने इस प्रकार पधारकर अपने शरणागत प्रचेताओं-की ओर दयादृष्टिसे निहारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥ ७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजपुत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम सबमें परस्पर बड़ा प्रेम है और स्नेहवश तुम एक ही धर्मका पालन कर रहे हो । तुम्हारे इस आदर्श सौहार्दसे मैं बड़ा प्रसन्न हूँ । मुझसे वर माँगो ॥ ८ ॥ जो पुरुष सायंकालके समय प्रतिदिन तुम्हारा स्मरण करेगा, उसका अपने भाइयोंमें अपने ही समान प्रेम होगा तथा समस्त जीवोंके प्रति मित्रताका भाव हो जायगा ॥ ९ ॥ जो लोग सायंकाल और प्रातःकाल एकाग्रचित्तसे रुद्रगीतद्वारा मेरी स्तुति करेंगे, उनको मैं अभीष्ट वर और शुद्ध बुद्धि प्रदान करूँगा ॥ १० ॥

---

१. प्रा० पा०—भ्राजिष्णुना । २. प्रा० पा०—लक्ष्मी० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है । ४. प्रा० पा०—पृथग्भावास्त ।

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः ।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥११॥
भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः ।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥१२॥
कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥१३॥
क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥१४॥
प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता ।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत माचिरम् ॥१५॥
अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा ।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥१६॥
दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः ।
भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम१७
अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः ।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः ॥१८॥
गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥१९॥
नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः ।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥२०॥

तुमलोगोंने बड़ी प्रसन्नतासे अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की है, इससे तुम्हारी कमनीय कीर्ति समस्त लोकोंमें फैल जायगी ॥ ११ ॥ तुम्हारे एक बड़ा ही विख्यात पुत्र होगा। वह गुणोंमें किसी भी प्रकार ब्रह्माजीसे कम नहीं होगा तथा अपनी संतानसे तीनों लोकोंको पूर्ण कर देगा ॥ १२ ॥

राजकुमारो ! कण्डु ऋषिके तपोनाशके लिये इन्द्रकी भेजी हुई प्रम्लोचा अप्सरासे एक कमलनयनी कन्या उत्पन्न हुई थी। उसे छोड़कर वह स्वर्गलोकको चली गयी। तब वृक्षोंने उस कन्याको लेकर पाला-पोसा ॥ १३ ॥ जब वह भूखसे व्याकुल होकर रोने लगी, तब ओषधियोंके राजा चन्द्रमाने दयावश उसके मुँहमें अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अंगुली दे दी ॥ १४ ॥ तुम्हारे पिता आजकल मेरी सेवा (भक्ति) में लगे हुए हैं; उन्होंने तुम्हें संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी है। अतः तुम शीघ्र ही उस देवोपम सुन्दरी कन्यासे विवाह कर लो ॥ १५ ॥ तुम सब एक ही धर्ममें तत्पर हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक-सा ही है; इसलिये तुम्हारे ही समान धर्म और स्वभाववाली वह सुन्दरी कन्या तुम सभीकी पत्नी होगी तथा तुम सभीमें उसका समान अनुराग होगा ॥ १६ ॥ तुमलोग मेरी कृपासे दस लाख दिव्य वर्षोंतक पूर्ण बलवान् रहकर अनेकों प्रकारके पार्थिव और दिव्य भोग भोगोगे ॥ १७ ॥ अन्तमें मेरी अविचल भक्तिसे हृदयका समस्त वासनारूप मल दग्ध हो जानेपर तुम इस लोक तथा परलोकके नरकतुल्य भोगोंसे उपरत होकर मेरे परमधामको जाओगे ॥ १८ ॥ जिन लोगोंके कर्म भगवदर्पणबुद्धिसे होते हैं और जिनका सारा समय मेरी कथावार्ताओंमें ही बीतता है, वे गृहस्थाश्रममें रहें तो भी घर उनके बन्धनका कारण नहीं होते ॥ १९ ॥ वे नित्यप्रति मेरी लीलाएँ सुनते रहते हैं, इसलिये ब्रह्मवादी वक्ताओंके द्वारा मैं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म उनके हृदयमें नित्य नया-नया-सा भासता रहता हूँ और मुझे प्राप्त कर लेनेपर जीवोंको न मोह हो सकता है, न शोक और न हर्ष ही ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—वः शाश्वती । २. प्रा० पा०—संदधे । ३. प्रा० पा०—गृहेष्वावसतां । ४. प्रा० पा०—बन्धाय न ।

मैत्रेय उवाच

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरागृणन् गद्गदया सुहृत्तमम् ॥२१॥

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय[1]
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥२२॥

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥२३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥२४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥२५॥

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥२६॥

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम् ।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥२७॥

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥२८॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्के दर्शनोंसे प्रचेताओंका रजोगुण-तमोगुण मल नष्ट हो चुका था। जब उनसे सकल पुरुषार्थोंके आश्रय और सबके परम सुहृद् श्रीहरिने इस प्रकार कहा, तब वे हाथ जोड़कर गद्गद वाणीसे कहने लगे ॥ २१ ॥

प्रचेताओंने कहा—प्रभो ! आप भक्तोंके क्लेश दूर करनेवाले हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं। वेद आपके उदार गुण और नामोंका निरूपण करते हैं। आपका वेग मन और वाणीके वेगसे भी बढ़कर है तथा आपका स्वरूप सभी इन्द्रियोंकी गतिसे परे है। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं ॥२२॥ आप अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके कारण नित्य-शुद्ध और शान्त हैं, मनरूप निमित्तके कारण हमें आपमें यह मिथ्या द्वैत भास रहा है। वास्तवमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये आप मायाके गुणोंको स्वीकार करके ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूप धारण करते हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २३ ॥ आप विशुद्ध सत्त्वस्वरूप हैं, आपका ज्ञान संसार-बन्धनको दूर कर देता है। आप ही समस्त भागवतोंके प्रभु वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥ आपकी ही नाभिसे ब्रह्माण्डरूप कमल प्रकट हुआ था, आपके कण्ठमें कमलकुसुमोंकी माला सुशोभित है तथा आपके चरण कमलके समान कोमल हैं; कमलनयन ! आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥ आप कमलकुसुमकी केसरके समान स्वच्छ पीताम्बर धारण किये हुए हैं, समस्त भूतोंके आश्रयस्थान हैं तथा सबके साक्षी हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

भगवन् ! आपका यह स्वरूप सम्पूर्ण क्लेशोंकी निवृत्ति करनेवाला है, हम अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेषादि क्लेशोंसे पीडितोंके सामने आपने इसे प्रकट किया है। इससे बढ़कर हमपर और क्या कृपा होगी ॥ २७ ॥ अमङ्गलहारी प्रभो ! दीनोंपर दया करनेवाले समर्थ पुरुषोंको इतनी ही कृपा करनी चाहिये कि समय-समयपर उन दीनजनोंको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्मरण कर

१. प्राचीन प्रतिमें 'मनोवचो' से आरम्भकर 'विग्रहाय' तकका अंश अर्थात् २२वेंका उत्तरार्द्ध और २३ वाँ श्लोक नहीं है।

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम्।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥२९॥
असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते।
प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥३०॥
वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात्।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे[3] ॥३१॥
पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥३२॥
यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥३३॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥३४॥
यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥३५॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥३६॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥३७॥

वयं तु साक्षाद्भगवन् भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।

लिया करें ॥ २८ ॥ इसीसे उनके आश्रितोंका चित्त शान्त हो जाता है। आप तो क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणियोंके भी अन्तःकरणोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। फिर आपके उपासक हमलोग जो-जो कामनाएँ करते हैं, हमारी उन कामनाओंको आप क्यों न जान लेंगे ॥ २९ ॥ जगदीश्वर! आप मोक्षका मार्ग दिखानेवाले और स्वयं पुरुषार्थस्वरूप हैं। आप हमपर प्रसन्न हैं, इससे बढ़कर हमें और क्या चाहिये। बस, हमारा अभीष्ट वर तो आपकी प्रसन्नता ही है॥ ३० ॥ तथापि, नाथ! हम एक वर आपसे अवश्य माँगते हैं। प्रभो! आप प्रकृति आदिसे परे हैं और आपकी विभूतियोंका भी कोई अन्त नहीं है; इसलिये आप 'अनन्त' कहे जाते हैं॥ ३१ ॥ यदि भ्रमरको अनायास ही कल्पवृक्ष मिल जाय, तो क्या वह किसी दूसरे वृक्षका सेवन करेगा? तब आपकी चरणशरणमें आकर अब हम क्या-क्या माँगें ॥ ३२ ॥ हम आपसे केवल यही माँगते हैं कि जबतक आपकी मायासे मोहित होकर हम अपने कर्मानुसार संसारमें भ्रमते रहें, तबतक जन्म-जन्ममें हमें आपके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता रहे ॥३३॥ हम तो भगवद्भक्तोंके क्षणभरके सङ्गके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं समझते; फिर मानवी भोगोंकी तो बात ही क्या है॥ ३४ ॥ भगवद्भक्तोंके समाजमें सदा-सर्वदा भगवान्‌की मधुर-मधुर कथाएँ होती रहती हैं, जिनके श्रवणमात्रसे भोगतृष्णा शान्त हो जाती है। वहाँ प्राणियोंमें किसी प्रकारका वैर-विरोध या उद्वेग नहीं रहता ॥ ३५ ॥ अच्छे-अच्छे कथा-प्रसङ्गोंद्वारा निष्कामभावसे संन्यासियोंके एकमात्र आश्रय साक्षात् श्रीनारायणदेवका बार-बार गुणगान होता रहता है ॥ ३६ ॥ आपके वे भक्तजन तीर्थोंको पवित्र करनेके उद्देश्यसे पृथ्वीपर पैदल ही विचरते रहते हैं। भला, उनका समागम संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंको कैसे रुचिकर न होगा ॥ ३७ ॥

भगवन्! आपके प्रिय सखा भगवान् शंकरके क्षणभरके समागमसे ही आज हमें आपका साक्षात्

१. प्रा० पा०—व्यापि। २. प्रा० पा०—न ह्यन्तो यद्वि०। ३. प्रा० पा०—गीयते। ४. प्रा० पा०—क्षणेनापि।
५. प्रा० पा०—भगवत्प्रसङ्गिसङ्गस्य।

सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो-
भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः ॥३८॥
यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥३९॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय ॥४०॥
मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः ॥४१॥
नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥४२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः[1] ॥४३॥
अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः ।
वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः ॥४४
ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा ।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥४५॥
भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः ।
आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः ॥४६॥
तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा ।
उज्जहुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा ॥४७॥
ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।

दर्शन प्राप्त हुआ है । आप जन्म-मरणरूप दुःसाध्य रोगके श्रेष्ठतम वैद्य हैं, अतः अब हमने आपका ही आश्रय लिया है ॥ ३८ ॥ प्रभो ! हमने समाहित चित्तसे जो कुछ अध्ययन किया है, निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करके गुरु, ब्राह्मण और वृद्धजनोंको प्रसन्न किया है तथा दोषबुद्धि त्यागकर श्रेष्ठ पुरुष, सुहृद्गण, बन्धुवर्ग एवं समस्त प्राणियोंकी वन्दना की है और अन्नादिको त्यागकर दीर्घकालतक जलमें खड़े रहकर तपस्या की है, वह सब आप सर्वव्यापक पुरुषोत्तमके सन्तोषका कारण हो—यही वर माँगते हैं ॥ ३९-४० ॥ स्वामिन् ! आपकी महिमाका पार न पाकर भी स्वायम्भुव मनु, स्वयं ब्रह्माजी, भगवान् शंकर तथा तप और ज्ञानसे शुद्धचित्त हुए अन्य पुरुष निरन्तर आपकी स्तुति करते रहते हैं । अतः हम भी अपनी बुद्धिके अनुसार आपका यशोगान करते हैं ॥ ४१ ॥ आप सर्वत्र समान शुद्धस्वरूप और परमपुरुष हैं । आप सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवको हम नमस्कार करते हैं ॥ ४२ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! प्रचेताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर शरणागतवत्सल श्रीभगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा—'तथास्तु' ! अप्रतिहतप्रभाव श्रीहरिकी मधुर मूर्तिके दर्शनोंसे अभी प्रचेताओंके नेत्र तृप्त नहीं हुए थे, इसलिये वे उन्हें जाने देना नहीं चाहते थे; तथापि वे अपने परमधामको चले गये ॥ ४३ ॥ इसके पश्चात् प्रचेताओंने समुद्रके जलसे बाहर निकलकर देखा कि सारी पृथ्वीको ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंने ढक दिया है, जो मानो स्वर्गका मार्ग रोकनेके लिये ही इतने बढ़ गये थे । यह देखकर वे वृक्षोंपर बड़े कुपित हुए ॥ ४४ ॥ तब उन्होंने पृथ्वीको वृक्ष, लता आदिसे रहित कर देनेके लिये अपने मुखसे प्रचण्ड वायु और अग्निको छोड़ा, जैसे कालाग्नि-रुद्र प्रलयकालमें छोड़ते हैं ॥ ४५ ॥ जब ब्रह्माजीने देखा कि वे सारे वृक्षोंको भस्म कर रहे हैं, तब वे वहाँ आये और प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको उन्होंने युक्तिपूर्वक समझाकर शान्त किया ॥ ४६ ॥ फिर जो कुछ वृक्ष वहाँ बचे थे, उन्होंने डरकर ब्रह्माजीके कहनेसे वह कन्या लाकर प्रचेताओंको दी ॥ ४७ ॥ प्रचेताओंने भी ब्रह्माजीके आदेशसे उस

१. प्रा० पा०—विक्रमः ।

यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥४८॥

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।

यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥४९॥

यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा ।

स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥५०॥

तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च ।

युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन् ॥५१॥

मारिषा नामकी कन्यासे विवाह कर लिया । इसीके गर्भसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने, श्रीमहादेवजीकी अवज्ञाके कारण अपना पूर्वशरीर त्याग कर जन्म लिया ॥ ४८ ॥ इन्हीं दक्षने चाक्षुष मन्वन्तर आनेपर; जब कालक्रमसे पूर्वसर्ग नष्ट हो गया, भगवान्‌की प्रेरणासे इच्छानुसार नवीन प्रजा उत्पन्न की ॥ ४९ ॥ इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज छीन लिया । ये कर्म करनेमें बड़े दक्ष (कुशल) थे, इसीसे इनका नाम 'दक्ष' हुआ ॥ ५० ॥ इन्हें ब्रह्माजीने प्रजापतियोंके नायकके पदपर अभिषिक्त कर सृष्टिकी रक्षाके लिये नियुक्त किया और इन्होंने मरीचि आदि दूसरे प्रजापतियोंको अपने-अपने कार्यमें नियुक्त किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको श्रीनारदजीका उपदेश और उनका परमपद-लाभ

मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् ।

स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात् ॥ १ ॥

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा ।

प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः ॥२॥

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो

जितासनान् शान्तसमानविग्रहान् ।

परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः

सुरासुरेड्यो ददृशे स नारदः ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! दस लाख वर्ष बीत जानेपर जब प्रचेताओंको विवेक हुआ, तब उन्हें भगवान्‌के वाक्योंकी याद आयी और वे अपनी भार्या मारिषाको पुत्रके पास छोड़कर तुरंत घरसे निकल पड़े ॥ १ ॥ वे पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर—जहाँ जाजलि मुनिने सिद्धि प्राप्त की थी—जा पहुँचे और जिससे 'समस्त भूतोंमें एक ही आत्मतत्त्व विराजमान है' ऐसा ज्ञान होता है, उस आत्मविचाररूप ब्रह्मसत्र-का सङ्कल्प करके बैठ गये ॥ २ ॥ उन्होंने प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको वशमें किया तथा शरीरको निश्चेष्ट स्थिर और सीधा रखते हुए आसनको जीतकर चित्तको विशुद्ध परब्रह्ममें लीन कर दिया । ऐसी स्थितिमें उन्हें देवता और असुर दोनोंके ही वन्दनीय श्रीनारदजीने

१. प्रा० पा०—सृष्टाः । २. प्रा० पा०—मनादिर्भरतर्षभ । ३. प्रा० पा०—युयुजे तान्वै सर्वानन्यान् प्रजेश्वरान् । ४. प्रा० पा०—स्कन्धे प्राचेतसे चरिते ।

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभि[1]नन्द्य च ।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥ ४ ॥

प्रचेतस ऊचुः[2]

स्वागतं ते सुरर्षे[3]ऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः ।
तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥ ५ ॥
यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च ।
तद् गृहेषु प्रसक्तानां प्राय[4]शः क्षपितं प्रभो ॥ ६ ॥
तन्नः प्रद्योतयाध्यात्म[5]ज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम् ।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥ ७ ॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः ।
भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान् ॥ ८ ॥

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह[6] विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वे[7]ह शौक्ल[8]सावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥ १० ॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रिय[9]राधसा ॥ ११ ॥
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ १२ ॥
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मा[10]ऽऽत्मदः प्रियः ॥ १३ ॥

देखा ॥ ३ ॥ नारदजीको आया देख प्रचेतागण खड़े हो गये और प्रणाम करके आदर-सत्कारपूर्वक देश-कालानुसार उनकी विधिवत् पूजा की । जब नारदजी सुखपूर्वक बैठ गये, तब वे कहने लगे ॥ ४ ॥

प्रचेताओंने कहा—देवर्षे ! आपका स्वागत है, आज बड़े भाग्यसे हमें आपका दर्शन हुआ । ब्रह्मन् ! सूर्यके समान आपका घूमना-फिरना भी ज्ञानालोकसे समस्त जीवोंको अभय-दान देनेके लिये ही होता है ॥ ५ ॥ प्रभो! भगवान् शंकर और श्रीविष्णुभगवान्‌ने हमें जो उपदेश दिया था, उसे गृहस्थीमें आसक्त रहनेके कारण हमलोग प्रायः भूल गये हैं ॥ ६ ॥ अतः आप हमारे हृदयोंमें उस परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले अध्यात्मज्ञानको फिर प्रकाशित कर दीजिये, जिससे हम सुगमतासे ही इस दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायँ ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवन्मय श्रीनारदजीका चित्त सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा रहता है । वे प्रचेताओंके इस प्रकार पूछनेपर उनसे कहने लगे ॥ ८ ॥

श्रीनारदजीने कहा—राजाओ ! इस लोकमें मनुष्यका वही जन्म, वही कर्म, वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन किया जाता है ॥ ९ ॥ जिनके द्वारा अपने स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाले श्रीहरिको प्राप्त न किया जाय, उन माता-पिताकी पवित्रतासे, यज्ञोपवीत-संस्कारसे एवं यज्ञदीक्षासे प्राप्त होनेवाले उन तीन प्रकारके श्रेष्ठ जन्मोंसे, वेदोक्त कर्मोंसे, देवताओंके समान दीर्घ आयुसे, शास्त्रज्ञानसे, तपसे, वाणीकी चतुराईसे, अनेक प्रकारकी बातें याद रखनेकी शक्तिसे, तीव्र बुद्धिसे, बलसे, इन्द्रियोंकी पटुतासे, योगसे, सांख्य (आत्मानात्मविवेक) से, संन्यास और वेदाध्ययनसे तथा व्रतवैराग्यादि अन्य कल्याण-साधनोंसे भी पुरुषका क्या लाभ है ? ॥ १०—१२ ॥ वास्तवमें समस्त कल्याणोंकी अवधि आत्मा ही है और आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रिय आत्मा हैं ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—भिवाद्य च । २. प्राचीन प्रतिमें 'प्रचेतस ऊचुः'—इतना अंश नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'ऽद्य' यह अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—प्रायो नः । ५. प्रा० पा०—ध्यात्मं ज्ञानं । ६. प्रा० पा०—येन हि । ७. प्रा० पा०—भिस्त्रिभिर्वेदैः । ८. प्रा० पा०—शुक्रसा० । ९. प्रा० पा०—रोधसा । १०. प्रा० पा०—रात्मपदः प्रि० ।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥१४॥
यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥१५॥
एतत्पदं[1] तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥१६॥
यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा[2] न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः ॥१७॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है और जैसे भोजनद्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की पूजा ही सबकी पूजा है ॥१४॥ जिस प्रकार वर्षाकालमें जल सूर्यके तापसे उत्पन्न होता है और ग्रीष्म-ऋतुमें उसीकी किरणोंमें पुनः प्रवेश कर जाता है तथा जैसे समस्त चराचर भूत पृथ्वीसे उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें मिल जाते हैं, उसी प्रकार चेतनाचेतनात्मक यह समस्त प्रपञ्च श्रीहरिसे ही उत्पन्न होता है और उन्हींमें लीन हो जाता है ॥१५॥ वस्तुतः यह विश्वात्मा श्रीभगवान्‌का वह शास्त्रप्रसिद्ध सर्वोपाधिरहित स्वरूप ही है। जैसे सूर्यकी प्रभा उससे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार कभी-कभी गन्धर्व-नगरके समान स्फुरित होनेवाला यह जगत् भगवान्‌से भिन्न नहीं है; तथा जैसे जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियाँ क्रियाशील रहती हैं, किंतु सुषुप्तिमें उनकी शक्तियाँ लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह जगत् सर्गकालमें भगवान्‌से प्रकट हो जाता है और कल्पान्त होनेपर उन्हींमें लीन हो जाता है। स्वरूपतः तो भगवान्‌में द्रव्य, क्रिया और ज्ञानरूपी त्रिविध अहङ्कारके कार्योंकी तथा उनके निमित्तसे होनेवाले भेदभ्रमकी सत्ता है ही नहीं ॥ १६ ॥ नृपतिगण! जैसे बादल, अन्धकार और प्रकाश—ये क्रमशः आकाशसे प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं; किंतु आकाश इनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ये सत्त्व, रज और तमोमयी शक्तियाँ कभी परब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं और कभी उसीमें लीन हो जाती हैं। इसी प्रकार इनका प्रवाह चलता रहता है; किंतु इससे आकाशके समान असङ्ग परमात्मामें कोई विकार नहीं होता ॥१७॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'एतत्पदं'से आरम्भकर 'मात्ययः' तकका अंश (१६वाँ श्लोक) नहीं है।
२. प्रा० पा०—भूयो।

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥१८॥

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥१९॥

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥२०॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥२१॥

श्रियमनुचरंतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः ॥२२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः ।

अतः तुम ब्रह्मादि समस्त लोकपालोंके भी अधीश्वर श्रीहरिको अपनेसे अभिन्न मानते हुए भजो; क्योंकि वे ही समस्त देहधारियोंके एकमात्र आत्मा हैं। वे ही जगत्के निमित्तकारण काल, उपादानकारण प्रधान और नियन्ता पुरुषोत्तम हैं तथा अपनी कालशक्तिसे वे ही इस गुणोंके प्रवाहरूप प्रपञ्चका संहार कर देते हैं ॥ १८ ॥

वे भक्तवत्सल भगवान् समस्त जीवोंपर दया करनेसे, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहनेसे तथा समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके शान्त करनेसे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥१९॥ पुत्रैषणा आदि सब प्रकारकी वासनाओंके निकल जानेसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन संतोंके हृदयमें उनके निरन्तर बढ़ते हुए चिन्तनसे खिंचकर अविनाशी श्रीहरि आ जाते हैं और अपनी भक्ताधीनताको चरितार्थ करते हुए हृदयाकाशकी भाँति वहाँसे हटते नहीं ॥ २० ॥ भगवान् तो अपनेको (भगवान्को) ही सर्वस्व माननेवाले निर्धन पुरुषोंपर ही प्रेम करते हैं; क्योंकि वे परम रसज्ञ हैं—उन अकिञ्चनोंकी अनन्याश्रया अहैतुकी भक्तिमें कितना माधुर्य होता है, इसे प्रभु अच्छी तरह जानते हैं। जो लोग अपने शास्त्रज्ञान, धन, कुल और कर्मोंके मदसे उन्मत्त होकर, ऐसे निष्किञ्चन साधुजनोंका तिरस्कार करते हैं, उन दुर्बुद्धियोंकी पूजा तो प्रभु स्वीकार ही नहीं करते ॥२१॥ भगवान् स्वरूपानन्दसे ही परिपूर्ण हैं; उन्हें निरन्तर अपनी सेवामें रहनेवाली लक्ष्मीजी तथा उनकी इच्छा करनेवाले नरपति और देवताओंकी भी कोई परवा नहीं है। इतनेपर भी वे अपने भक्तोंके तो अधीन ही रहते हैं। अहो! ऐसे करुणासागर श्रीहरिको कोई भी कृतज्ञ पुरुष थोड़ी देरके लिये भी कैसे छोड़ सकता है? ॥ २२ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! भगवान् नारदने प्रचेताओंको इस उपदेशके साथ-साथ और भी बहुत-सी

१. प्रा० पा०—मनुसरतस्तदर्थि० । २. प्रा० पा०—यत्सुपूर्णः ।

श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः ॥२३॥
तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् ।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥२४॥
एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥२५॥

भगवत्सम्बन्धी बातें सुनायीं । इसके पश्चात् वे ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २३ ॥ प्रचेतागण भी उनके मुखसे सम्पूर्ण जगत्के पापरूपी मलको दूर करनेवाले भगवच्चरित्र सुनकर भगवान्के चरणकमलोंका ही चिन्तन करने लगे और अन्तमें भगवद्धामको प्राप्त हुए ॥ २४ ॥ इस प्रकार आपने जो मुझसे श्रीनारदजी और प्रचेताओंके भगवत्कथा-सम्बन्धी संवादके विषयमें पूछा था, वह मैंने आपको सुना दिया ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः ।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम[2] ॥२६॥
यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् ।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! यहाँतक स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके वंशका वर्णन हुआ, अब प्रियव्रतके वंशका विवरण भी सुनो ॥ २६ ॥ राजा प्रियव्रतने श्रीनारदजीसे आत्मज्ञानका उपदेश पाकर भी राज्यभोग किया था तथा अन्तमें इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने पुत्रोंमें बाँटकर वे भगवान्के परमधामको प्राप्त हुए थे ॥ २७ ॥

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
　क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावो[3]ऽश्रुकलाकुलो मुने-
　र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥२८॥

राजन् ! इधर श्रीमैत्रेयजीके मुखसे यह भगवद्गुणानुवादयुक्त पवित्र कथा सुनकर विदुरजी प्रेममग्न हो गये, भक्तिभावका उद्रेक होनेसे उनके नेत्रोंसे पवित्र आँसुओंकी धारा बहने लगी तथा उन्होंने हृदयमें भगवच्चरणोंका स्मरण करते हुए अपना मस्तक मुनिवर मैत्रेयजीके चरणोंपर रख दिया ॥ २८ ॥

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना ।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः ॥२९॥

विदुरजी कहने लगे—महायोगिन् ! आप बड़े ही करुणामय हैं । आज आपने मुझे अज्ञानान्धकारके उस पार पहुँचा दिया है, जहाँ अकिञ्चनोंके सर्वस्व श्रीहरि विराजते हैं ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच[4]

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजीको उपर्युक्त कृतज्ञता-सूचक वचन कहकर तथा प्रणाम कर विदुरजीने उनसे आज्ञा ली और फिर शान्तचित्त होकर अपने बन्धुजनोंसे मिलनेके लिये वे हस्तिनापुर चले गये ॥ ३० ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—नृप सम्मतम् । ३. प्रा० पा०—भावाश्रु० ।
४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है ।

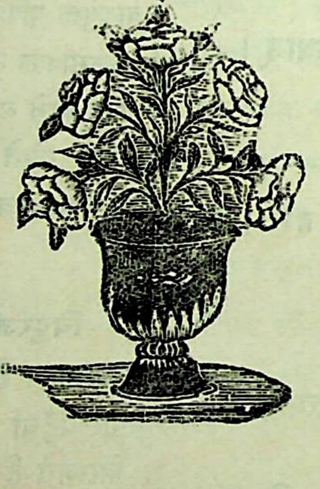
एतद्यः शृणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् ।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥३१॥

राजन् ! जो पुरुष भगवान्‌के शरणागत परमभागवत राजाओंका यह पवित्र चरित्र सुनेगा, उसे दीर्घ आयु, धन, सुयश, क्षेम, सद्गति और ऐश्वर्यकी प्राप्ति होगी ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते[1] महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टादशसाहस्र्यां[2] संहितायां चतुर्थस्कन्धे[3] प्रचेतउपाख्यानं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इति[4] चतुर्थः स्कन्धः समाप्तः ।

हरिः ॐ तत्सत्



१. प्रा० पा०—श्रीभागवते । २. प्राचीन प्रतिमें 'अष्टादशसाहस्र्यां' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—चतुर्थे स्कन्धे । ४. प्रा० पा०—समाप्तश्च चतुर्थः स्कन्धः ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

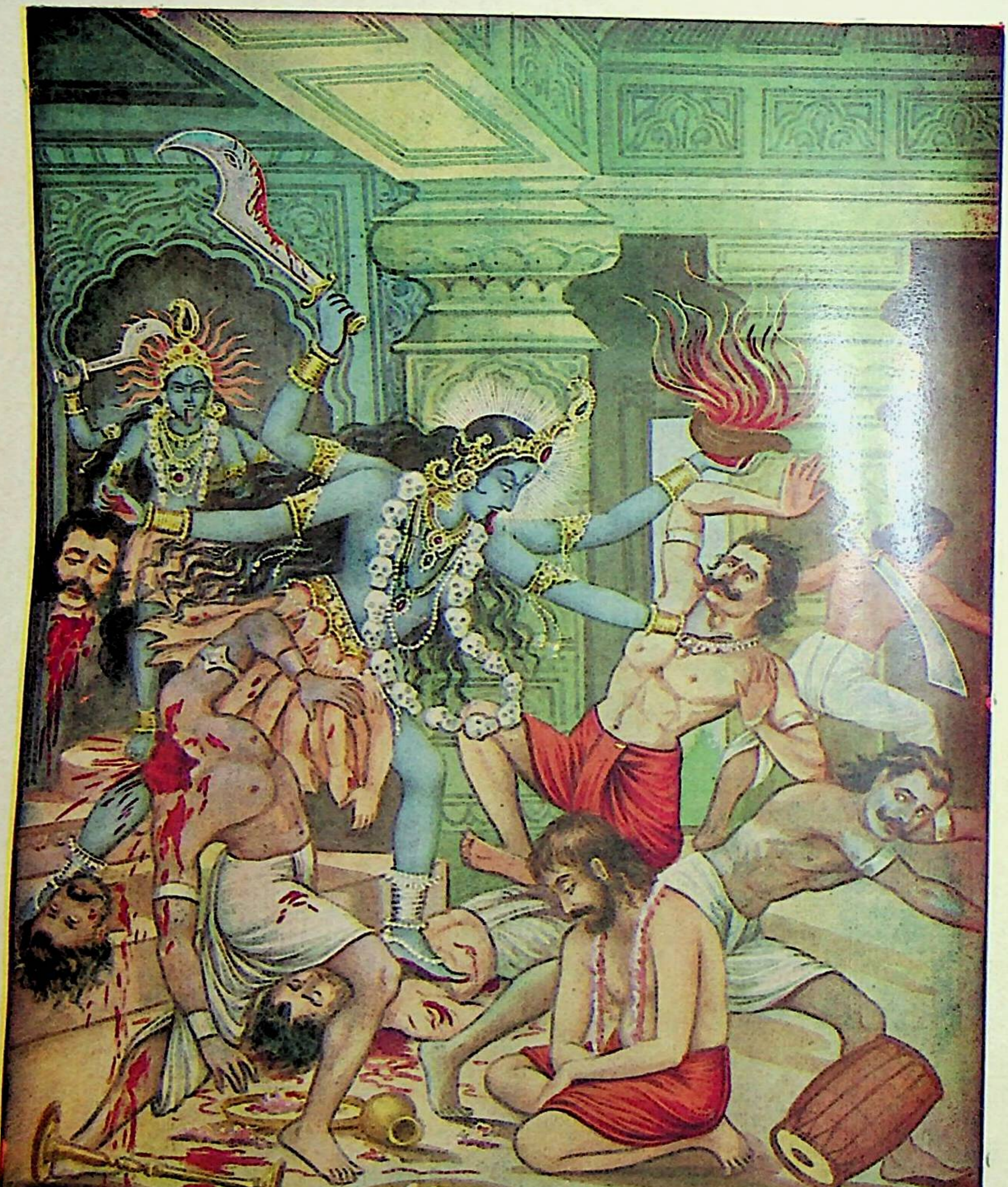
श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

पञ्चमः स्कन्धः



यत्रामी लोकविस्तारास्तारा इव विहायसि ।
भासन्ते तमहं वन्दे बालगोपालमालयम् ॥

भद्रकालीके द्वारा जडभरतकी रक्षा



भद्रकालीने उन सारे पापियोंके सिर उड़ा दिये।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

पञ्चमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रियव्रत-चरित्र

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥
न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं[1] पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥
महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः ।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥
संशयोऽयं महान् ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु ।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

बाढमुक्तं[2] भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५ ॥ यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो[3] ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपाल-

राजा परीक्षितने पूछा—मुने ! महाराज प्रियव्रत तो बड़े भगवद्भक्त और आत्माराम थे। उनकी गृहस्थाश्रममें कैसे रुचि हुई, जिसमें फँसनेके कारण मनुष्यको अपने स्वरूपकी विस्मृति होती है और वह कर्मबन्धनमें बँध जाता है ? ॥ १ ॥ विप्रवर ! निश्चय ही ऐसे निःसङ्ग महापुरुषोंका इस प्रकार गृहस्थाश्रममें अभिनिवेश होना उचित नहीं है ॥ २ ॥ इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं कि जिनका चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरिके चरणोंकी शीतल छायाका आश्रय लेकर शान्त हो गया है, उन महापुरुषोंकी कुटुम्बादिमें कभी आसक्ति नहीं हो सकती ॥ ३ ॥ ब्रह्मन् ! मुझे इस बातका बड़ा संदेह है कि महाराज प्रियव्रतने स्त्री, घर और पुत्रादिमें आसक्त रहकर भी किस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर ली और क्योंकर उनकी भगवान् श्रीकृष्णमें अविचल भक्ति हुई ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा कथन बहुत ठीक है। जिनका चित्त पवित्रकीर्ति श्रीहरिके परम मधुर चरणकमल-मकरन्दके रसमें सराबोर हो गया है, वे किसी विघ्न-बाधाके कारण रुकावट आ जानेपर भी भगवद्भक्त परमहंसोंके प्रिय श्रीवासुदेव भगवान्के कथाश्रवणरूपी परम कल्याणमय मार्गको प्रायः छोड़ते नहीं ॥ ५ ॥ राजन् ! राजकुमार प्रियव्रत बड़े भगवद्भक्त थे, श्रीनारदजीके चरणोंकी सेवा करनेसे उन्हें सहजमें ही परमार्थतत्त्वका बोध हो गया था। वे ब्रह्मसत्रकी दीक्षा—निरन्तर ब्रह्माभ्यासमें जीवन बितानेका नियम लेनेवाले ही थे कि उसी समय उनके पिता स्वायम्भुव

---

१. प्रा० पा०—निवासोऽयम्। २. प्राचीन प्रतिमें 'बाढमुक्तं'''से आरम्भकर 'हिन्वन्ति' तकका अंश नहीं है।
३. प्रा० पा०—परमात्मतत्त्वो।

नायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः ॥ ६ ॥

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार ।७। स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमानःपथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥ ८ ॥

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥ ९ ॥

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच ॥१०॥

मनुने उन्हें पृथ्वीपालनके लिये शास्त्रमें बताये हुए सभी श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न देख राज्यशासनके लिये आज्ञा दी। किंतु प्रियव्रत अखण्ड समाधियोगके द्वारा अपनी सारी इन्द्रियों और क्रियाओंको भगवान् वासुदेवके चरणोंमें ही समर्पण कर चुके थे। अतः पिताकी आज्ञा किसी प्रकार उल्लङ्घन करनेयोग्य न होनेपर भी, यह सोचकर कि राज्याधिकार पाकर मेरा आत्मस्वरूप स्त्री-पुत्रादि असत् प्रपञ्चसे आच्छादित हो जायगा—राज्य और कुटुम्बकी चिन्तामें फँसकर मैं परमार्थतत्त्वको प्रायः भूल जाऊँगा, उन्होंने उसे स्वीकार न किया ॥ ६ ॥

आदिदेव स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीको निरन्तर इस गुणमय प्रपञ्चकी वृद्धिका ही विचार रहता है। वे सारे संसारके जीवोंका अभिप्राय जानते रहते हैं। जब उन्होंने प्रियव्रतकी ऐसी प्रवृत्ति देखी, तब वे मूर्तिमान् चारों वेद और मरीचि आदि पार्षदोंको साथ लिये अपने लोकसे उतरे ॥ ७ ॥ आकाशमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर चढ़े हुए इन्द्रादि प्रधान-प्रधान देवताओंने उनका पूजन किया तथा मार्गमें टोलियाँ बाँधकर आये हुए सिद्ध, गन्धर्व, साध्य, चारण और मुनिजनने स्तवन किया। इस प्रकार जगह-जगह आदर-सम्मान पाते वे साक्षात् नक्षत्रनाथ चन्द्रमाके समान गन्धमादनकी घाटीको प्रकाशित करते हुए प्रियव्रतके पास पहुँचे ॥ ८ ॥ प्रियव्रतको आत्मविद्याका उपदेश देनेके लिये वहाँ नारदजी भी आये हुए थे। ब्रह्माजीके वहाँ पहुँचनेपर उनके वाहन हंसको देखकर देवर्षि नारद जान गये कि हमारे पिता भगवान् ब्रह्माजी पधारे हैं, अतः वे स्वायम्भुव मनु और प्रियव्रतके सहित तुरंत खड़े हो गये और सबने उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ९ ॥ परीक्षित्! नारदजीने उनकी अनेक प्रकारसे पूजा की और सुमधुर वचनोंमें उनके गुण और अवतारकी उत्कृष्टताका वर्णन किया। तब आदिपुरुष भगवान् ब्रह्माजीने प्रियव्रतकी ओर मन्द मुसकानयुक्त दयादृष्टिसे देखते हुए इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—प्रवरगुणैकान्त०। २. प्रा० पा०—नवाभ्यनन्दद्यदपि तदप्रत्याम्नातं। ३. प्राचीन प्रतिमें 'अथ ह' यह पाठ नहीं है। ४. प्रा० पा०—सर्गस्य बृंहणा०। ५. प्रा० पा०—रखिलनिजगणपरिवेष्टितः। ६. प्रा० पा०—तत्र गगनतले। ७. प्रा० पा०—ममरपरिवृन्दैरभिपू०। ८. प्राचीन प्रतिमें 'चारणमुनि'से आरम्भकर 'पुरुषस्तं सदय' तकका अंश खण्डित है। ९. प्राचीन प्रतिमें 'वलोक ह'—इतना अंश खण्डित है। १०. प्रा० पा०—होवाच भगवान् वाचम्।

श्रीभगवानुवाच

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्[1] ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-[2][3]
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम्[4] ॥११॥
न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥१२॥
भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय ।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥१३॥
यद्वाचि तन्त्यां[5] गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥
ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥१५॥
मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥१६॥
भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते[6] सहषट्सपत्नः ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—बेटा ! मैं तुमसे सत्य सिद्धान्तकी बात कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो ! तुम्हें अप्रमेय श्रीहरिके प्रति किसी प्रकारकी दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये । तुम्हीं क्या हम, महादेवजी, तुम्हारे पिता स्वायम्भुव मनु और तुम्हारे गुरु ये महर्षि नारद भी विवश होकर उन्हींकी आज्ञाका पालन करते हैं ॥११॥ उनके विधानको कोई भी देहधारी न तो तप, विद्या, योगबल या बुद्धिबलसे, न अर्थ या धर्मकी शक्तिसे और न स्वयं या किसी दूसरेकी सहायतासे ही टाल सकता है ॥ १२ ॥ प्रियव्रत ! उसी अव्यक्त ईश्वरके दिये हुए शरीरको सब जीव जन्म, मरण, शोक, मोह, भय और सुख-दुःखका भोग करने तथा कर्म करनेके लिये सदा धारण करते हैं ॥ १३ ॥ वत्स ! जिस प्रकार रस्सीसे नथा हुआ पशु मनुष्योंका बोझ ढोता है, उसी प्रकार परमात्माकी वेदवाणीरूप बड़ी रस्सीमें सत्त्वादि गुण, सात्त्विक आदि कर्म और उनके ब्राह्मणादि वाच्योंकी मजबूत डोरीसे जकड़े हुए हम सब लोग उन्हींके इच्छानुसार कर्ममें लगे रहते हैं और उसके द्वारा उनकी पूजा करते रहते हैं ॥ १४ ॥ हमारे गुण और कर्मोंके अनुसार प्रभुने हमें जिस योनिमें डाल दिया है उसीको स्वीकार करके, वे जैसी व्यवस्था करते हैं उसीके अनुसार हम सुख या दुःख भोगते रहते हैं । हमें उनकी इच्छाका उसी प्रकार अनुसरण करना पड़ता है, जैसे किसी अंधेको आँखवाले पुरुषका ॥ १५ ॥

मुक्त पुरुष भी प्रारब्धका भोग करता हुआ भगवान्‌की इच्छाके अनुसार अपने शरीरको धारण करता ही है; ठीक वैसे ही जैसे मनुष्यकी निद्रा टूट जानेपर भी स्वप्नमें अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण होता है । इस अवस्थामें भी उसको अभिमान नहीं होता और विषय-वासनाके जिन संस्कारोंके कारण दूसरा जन्म होता है, उन्हें वह स्वीकार नहीं करता ॥ १६ ॥ जो पुरुष इन्द्रियोंके वशीभूत है, वह वन-वनमें विचरण करता रहे तो भी उसे जन्म-मरणका भय बना ही रहता

१. प्रा० पा०—मर्हस्यमेयम् । २. प्रा० पा०—भवस्ते य इमे । ३. प्रा० पा०—महर्षयो । ४. प्राचीन प्रतिमें 'दिष्टम्' यह नहीं है । ५. प्रा० पा०—तन्त्र्यां । ६. प्राचीन प्रतिमें 'आस्ते' शब्द खण्डित है ।

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥१७॥
यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्
क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥१८॥
त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान्
विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह ॥ २० ॥ भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत् ॥ २१ ॥

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम ॥२२॥ इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरत-

है; क्योंकि बिना जीते हुए मन और इन्द्रियरूपी उसके छः शत्रु कभी उसका पीछा नहीं छोड़ते । जो बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियोंको जीतकर अपनी आत्मामें ही रमण करता है, उसका गृहस्थाश्रम भी क्या बिगाड़ सकता है ? ॥१७॥ जिसे इन छः शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा हो, वह पहले घरमें रहकर ही उनका अत्यन्त निरोध करते हुए उन्हें वशमें करनेका प्रयत्न करे । किलेमें सुरक्षित रहकर लड़नेवाला राजा अपने प्रबल शत्रुओंको भी जीत लेता है । फिर जब इन शत्रुओंका बल अत्यन्त क्षीण हो जाय, तब विद्वान् पुरुष इच्छानुसार विचर सकता है ॥ १८ ॥ तुम यद्यपि श्रीकमलनाभ भगवान्के चरणकमलकी कली-रूप किलेके आश्रित रहकर इन छहों शत्रुओंको जीत चुके हो, तो भी पहले उन पुराणपुरुषके दिये हुए भोगोंको भोगो; इसके बाद निःसङ्ग होकर अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब त्रिलोकीके गुरु श्रीब्रह्माजीने इस प्रकार कहा, तो परमभागवत प्रियव्रतने छोटे होनेके कारण नम्रतासे सिर झुका लिया और 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर बड़े आदरपूर्वक उनका आदेश शिरोधार्य किया ॥२०॥ तब स्वायम्भुव मनुने प्रसन्न होकर भगवान् ब्रह्माजीकी विधिवत् पूजा की । इसके पश्चात् वे मन और वाणीके अविषय, अपने आश्रय तथा सर्वव्यवहारातीत परब्रह्मका चिन्तन करते हुए अपने लोकको चले गये । इस समय प्रियव्रत और नारदजी सरलभावसे उनकी ओर देख रहे थे ॥ २१ ॥

मनुजीने इस प्रकार ब्रह्माजीकी कृपासे अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेपर देवर्षि नारदकी आज्ञासे प्रियव्रतको सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षाका भार सौंप दिया और स्वयं विषयरूपी विषैले जलसे भरे हुए गृहस्थाश्रमरूपी दुस्तर जलाशयकी भोगेच्छासे निवृत्त हो गये ॥ २२ ॥ अब पृथ्वीपति महाराज प्रियव्रत भगवान्की इच्छासे राज्यशासनके कार्यमें नियुक्त हुए । जो सम्पूर्ण जगत्को बन्धनसे छुड़ानेमें अत्यन्त समर्थ हैं, उन आदिपुरुष श्रीभगवान्के चरणयुगलका

१. प्रा० पा०—यद्येषि दुर्गा० । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—मव्यवहितमगमत् । ४. प्रा० पा०—जलाशयादुपरराम । ५. प्रा० पा०—विनिवेशित० ।

ध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास ।२३। अथ च[1] दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्म-[2] समानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम ॥ २४ ॥ आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठ-सवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्नि-नामानः ।२५। एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ॥ २६ ॥ तस्मिन्नु[3] ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकल-जीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविग-लितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदया-धिगते भगवति[4] सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्म-न्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण[5] समीयुः ।।२७।। अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तम-स्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः[6] ।।२८।।

निरन्तर ध्यान करते रहनेसे यद्यपि उनके रागादि सभी मल नष्ट हो चुके थे और उनका हृदय भी अत्यन्त शुद्ध था, तथापि बड़ोंका मान रखनेके लिये वे पृथ्वीका शासन करने लगे ॥ २३ ॥ तदनन्तर उन्होंने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया । उससे उनके दस पुत्र हुए। वे सब उन्हींके समान शीलवान्, गुणी, कर्मनिष्ठ, रूपवान् और पराक्रमी थे । उनसे छोटी ऊर्जस्वती नामकी एक कन्या भी हुई ॥ २४ ॥ पुत्रोंके नाम आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि थे । ये सब नाम अग्निके भी हैं ॥ २५ ॥ इनमें कवि, महावीर और सवन—ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए । इन्होंने बाल्यावस्थासे आत्मविद्याका अभ्यास करते हुए अन्तमें संन्यास-आश्रम ही स्वीकार किया ॥ २६ ॥ इन निवृत्ति-परायण महर्षियोंने संन्यासाश्रममें ही रहते हुए समस्त जीवोंके अधिष्ठान और भवबन्धनसे डरे हुए लोगोंको आश्रय देनेवाले भगवान् वासुदेवके परम सुन्दर चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन किया । उससे प्राप्त हुए अखण्ड एवं श्रेष्ठ भक्तियोगसे उनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया और उसमें श्रीभगवान्का आविर्भाव हुआ । तब देहादि उपाधिकी निवृत्ति हो जानेसे उनकी आत्माकी सम्पूर्ण जीवोंके आत्मभूत प्रत्यगात्मामें एकीभावसे स्थिति हो गयी ॥ २७ ॥ महाराज प्रियव्रतकी दूसरी भार्यासे उत्तम, तामस और रैवत—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपने नामवाले मन्वन्तरोंके अधिपति हुए ॥ २८ ॥

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपति-र्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिल-पुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुण-स्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेध-

इस प्रकार कवि आदि तीन पुत्रोंके निवृत्तिपरायण हो जानेपर राजा प्रियव्रतने ग्यारह अर्बुद वर्षोंतक पृथ्वीका शासन किया । जिस समय वे अपनी अखण्ड पुरुषार्थमयी और वीर्यशालिनी भुजाओंसे धनुषकी डोरी खींचकर टङ्कार करते थे, उस समय डरके मारे सभी धर्मद्रोही न जाने कहाँ छिप जाते थे । प्राणप्रिया बर्हिष्मतीके दिन-दिन बढ़नेवाले

१. प्रा० पा०—अथ दुहितरं । २. प्राचीन प्रतिमें 'आत्मजानात्म' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—तस्मिन्निह । ४. प्राचीन प्रतिमें 'भगवति' यह पाठ नहीं है । ५. प्रा० पा०—वात्मतादात्म्यविशे० । ६. प्रा० पा०—मन्वन्तराधिपतयः सभक्तियोगानुभावेन ।

मानप्रमोदप्रसरणयौषिंण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोक-
रुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक इवानव-
बुध्यमान इव महामना बुभुजे ॥२९॥
यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवाना-
दित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति
तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभि-
नन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं
करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय
इव पतङ्गः ॥ ३० ॥ ये वा उ ह तद्रथ-
चरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत
एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥ ३१ ॥ जम्बू-
प्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परि-
माणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं
द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥३२॥
क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धो-
दाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा इवाभ्यन्तर-
द्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि
बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित उपकल्पितास्तेषु जम्ब्वादिषु
बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञ-
बाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् यथा

आमोद-प्रमोद और अभ्युत्थानादि क्रीडाओंके कारण तथा उसके स्त्रीजनोचित हाव-भाव, लज्जासे सङ्कुचित मन्द-हास्ययुक्त चितवन और मनको भानेवाले विनोद आदिसे महामना प्रियव्रत विवेकहीन व्यक्तिकी भाँति आत्मविस्मृत-से होकर सब भोगोंको भोगने लगे। किंतु वास्तवमें ये उनमें आसक्त नहीं थे ॥ २९ ॥

एक बार इन्होंने जब यह देखा कि भगवान् सूर्य सुमेरुकी परिक्रमा करते हुए लोकालोकपर्यन्त पृथ्वीके जितने भागको आलोकित करते हैं, उसमेंसे आधा ही प्रकाशमें रहता है और आधेमें अन्धकार छाया रहता है, तो उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया। तब उन्होंने यह संकल्प लेकर कि 'मैं रातको भी दिन बना दूँगा; सूर्यके समान ही वेगवान् एक ज्योतिर्मय रथपर चढ़कर द्वितीय सूर्यकी ही भाँति उनके पीछे-पीछे पृथ्वीकी सात परिक्रमाएँ कर डालीं। भगवान्‌की उपासनासे इनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था ॥ ३० ॥ उस समय इनके रथके पहियोंसे जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए; उनसे पृथ्वीमें सात द्वीप हो गये ॥ ३१ ॥ उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमेंसे पहले-पहलेकी अपेक्षा आगे-आगेके द्वीपका परिमाण दूना है और ये समुद्रके बाहरी भागमें पृथ्वीके चारों ओर फैले हुए हैं ॥ ३२ ॥ सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईखके रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जलसे भरे हुए हैं। ये सातों द्वीपोंकी खाइयोंके समान हैं और परिमाणमें अपने भीतरवाले द्वीपके बराबर हैं। इनमेंसे एक-एक क्रमशः अलग-अलग सातों द्वीपोंको बाहरसे घेरकर स्थित है।* बर्हिष्मतीपति महाराज प्रियव्रतने अपने अनुगत पुत्र आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधा-

१. प्रा० पा०—प्रमोदमोदप्रसरण०। २. प्रा० पा०—यौषण्यव्रीडाप्रमोदित०। ३. प्रा० पा०—विवेको नावबुध्यमा०। ४. प्रा० पा०—यदेवाभासयति। ५. प्रा० पा०—सप्त सप्त सिन्ध०। ६. प्रा० पा०—द्विगुणेन बहिः समन्ततः। ७. प्रा० पा०—द्वीपशिखाभ्यन्तरे द्वीप०। ८. प्रा० पा०—एकैकस्येव। ९. प्रा० पा०—पृथक्परिधय उपकल्पिता०। १०. प्रा० पा०—तेषु बर्हिष्मतीपति०। ११. प्रा० पा०—बाहु०। १२. प्रा० पा०—यथासंख्यकमेकैकस्मिन्नेकमेवाधि०।

* इनका क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—पहले जम्बूद्वीप है, उसके चारों ओर क्षार समुद्र है। वह प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है, उसके चारों ओर ईखके रसका समुद्र है। उसे शाल्मलिद्वीप घेरे हुए है, उसके चारों ओर मदिराका समुद्र है। फिर कुशद्वीप है, वह घीके समुद्रसे घिरा हुआ है। उसके बाहर क्रौञ्चद्वीप है, उसके चारों ओर दूधका समुद्र है। फिर शाकद्वीप है, उसे मट्ठेका समुद्र घेरे हुए है। उसके चारों ओर पुष्करद्वीप है, वह मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ है।

संख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे ॥ ३३ ॥
दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद् देवयानी नाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥३५॥

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह ॥ ३६ ॥
अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार ॥ ३७ ॥ परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार ॥ ३८ ॥
तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥३९॥

निधि और वीतिहोत्रमेंसे क्रमशः एक-एकको उक्त जम्बू आदि द्वीपोंमेंसे एक-एकका राजा बनाया ॥ ३३ ॥ उन्होंने अपनी कन्या ऊर्जस्वतीका विवाह शुक्राचार्यजीसे किया, उसीसे शुक्रकन्या देवयानीका जन्म हुआ ॥३४॥ राजन् ! जिन्होंने भगवच्चरणारविन्दोंकी रजके प्रभावसे शरीरके भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छः गुणोंको अथवा मनके सहित छः इन्द्रियोंको जीत लिया है, उन भगवद्भक्तोंका ऐसा पुरुषार्थ होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि वर्णबहिष्कृत चाण्डाल आदि नीच योनिका पुरुष भी भगवान्‌के नामका केवल एक बार उच्चारण करनेसे तत्काल संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार अतुलनीय बल-पराक्रमसे युक्त महाराज प्रियव्रत एक बार, अपनेको देवर्षि नारदके चरणोंकी शरणमें जाकर भी पुनः दैववश प्राप्त हुए प्रपञ्चमें फँस जानेसे अशान्त-सा देख, मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ३६ ॥ 'ओह बड़ा बुरा हुआ ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे इस अविद्याजनित विषम विषयरूप अन्धकूपमें गिरा दिया । बस ! बस ! बहुत हो लिया । हाय ! मैं तो स्त्रीका क्रीडामृग ही बन गया ! उसने मुझे बंदरकी भाँति नचाया ! मुझे धिक्कार है ! धिक्कार है !' इस प्रकार उन्होंने अपनेको बहुत कुछ बुरा-भला कहा ॥ ३७ ॥ परमाराध्य श्रीहरिकी कृपासे उनकी विवेकवृत्ति जाग्रत् हो गयी । उन्होंने यह सारी पृथ्वी यथायोग्य अपने अनुगत पुत्रोंको बाँट दी और जिसके साथ उन्होंने तरह-तरहके भोग भोगे थे, उस अपनी राजरानीको साम्राज्यलक्ष्मीके सहित मृतदेहके समान छोड़ दिया तथा हृदयमें वैराग्य धारणकर भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन करते हुए उसके प्रभावसे श्रीनारदजीके बतलाये हुए मार्गका पुनः अनुसरण करने लगे ॥ ३८ ॥

महाराज प्रियव्रतके विषयमें निम्नलिखित लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

'राजा प्रियव्रतने जो कर्म किये, उन्हें सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सिवा और कौन कर सकता है ? उन्होंने रात्रिके अन्धकारको मिटानेका प्रयत्न करते हुए अपने रथके पहियोंसे बनी हुई लीकोंसे ही सात समुद्र बना

१. प्रा० पा०—सुकृदाददीत । २. प्रा० पा०—सहजातितरवम् । ३. प्रा० पा०—प्रत्यवमर्षोऽनुपरिनिवृत्तस्वपुत्रे० । ४. प्रा० पा०—विभज्य भोगं च ।

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः ।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥४०॥
भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥४१॥

दिये ॥३९॥ प्राणियोंके सुभीतेके लिये (जिससे उनमें परस्पर झगड़ा न हो) द्वीपोंके द्वारा पृथ्वीके विभाग किये और प्रत्येक द्वीपमें अलग-अलग नदी, पर्वत और वन आदिसे उसकी सीमा निश्चित कर दी ॥ ४० ॥ वे भगवद्भक्त नारदादिके प्रेमी भक्त थे । उन्होंने पाताललोकके, देवलोकके, मृत्युलोकके तथा कर्म और योगकी शक्तिसे प्राप्त हुए ऐश्वर्यको भी नरकतुल्य समझा था ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतविजये[1] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

आग्नीध्र-चरित्र

श्रीशुक उवाच[2]

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते[3] तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो[4] जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥ १ ॥ स च कदाचित्पितृलोककामः[5] सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्व्याराधयाम्बभूव ॥ २ ॥ तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास । ३ । सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं विविधनिबिडविटपिविटप[6]निकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गम[7]मिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुप बभ्राम ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—पिता प्रियव्रतके इस प्रकार तपस्यामें संलग्न हो जानेपर राजा आग्नीध्र उनकी आज्ञाका अनुसरण करते हुए जम्बूद्वीपकी प्रजाका धर्मानुसार पुत्रवत् पालन करने लगे ॥ १ ॥ एक बार वे पितृलोककी कामनासे सत्पुत्रप्राप्तिके लिये पूजाकी सब सामग्री जुटाकर सुर-सुन्दरियोंके क्रीडास्थल मन्दराचलकी एक घाटीमें गये और तपस्यामें तत्पर होकर एकाग्रचित्तसे प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीकी आराधना करने लगे ॥ २ ॥ आदिदेव भगवान् ब्रह्माजीने उनकी अभिलाषा जान ली ; अतः अपनी सभाकी गायिका पूर्वचित्ति नामकी अप्सराको उनके पास भेज दिया ॥ ३ ॥ आग्नीध्रजीके आश्रमके पास एक अति रमणीय उपवन था । वह अप्सरा उसीमें विचरने लगी । उस उपवनमें तरह-तरहके सघन तरुवरोंकी शाखाओंपर स्वर्णलताएँ फैली हुई थीं । उनपर बैठे हुए मयूरादि कई प्रकारके स्थलचारी पक्षियोंके जोड़े सुमधुर बोली बोल रहे थे । उनकी षड्जादि स्वरयुक्त ध्वनि सुनकर सचेत हुए जलकुक्कुट, कारण्डव एवं कलहंस आदि जलपक्षी भाँति-भाँतिसे कूजने लगते थे । इससे वहाँके कमलवनसे सुशोभित निर्मल सरोवर गूँजने लगते थे ॥ ४ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'प्रियव्रतविजये'—इतना अंश नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच'—इतना अंश नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'संप्रवृत्ते'—इतना अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—अग्निध्रो । ५. प्राचीन प्रतिमें 'पितृलोककाम'.....'से आरम्भकर 'सदसि गायन्तीं' पर्यन्त अंश नहीं है । ६. प्रा० पा०—विटपिनिकटपुरटलता० । ७. प्रा० पा०—विहग० ।

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट ॥ ५ ॥ तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच ॥ ६ ॥

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥ ७ ॥
बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु ॥ ८ ॥

पूर्वचित्तिकी विलासपूर्ण सुललित गतिविधि और पादविन्यासकी शैलीसे पद-पदपर उसके चरणनूपुरोंकी झनकार हो उठती थी। उसकी मनोहर ध्वनि सुनकर राजकुमार आग्नीध्रने समाधियोगद्वारा मूँदे हुए अपने कमल-कलीके समान सुन्दर नेत्रोंको कुछ-कुछ खोलकर देखा तो पास ही उन्हें वह अप्सरा दिखायी दी। वह भ्रमरीके समान एक-एक फूलके पास जाकर उसे सूँघती थी तथा देवता और मनुष्योंके मन और नयनोंको आह्लादित करनेवाली अपनी विलासपूर्ण गति, क्रीडा-चापल्य, लज्जा एवं विनययुक्त चितवन, सुमधुर वाणी तथा मनोहर अङ्गावयवोंसे पुरुषोंके हृदयमें कामदेवके प्रवेशके लिये द्वार-सा बना देती थी। जब वह हँस-हँसकर बोलने लगती, तब ऐसा प्रतीत होता, मानो उसके मुखसे अमृतमय मादक मधु झर रहा है। उसके निःश्वासके गन्धसे मदान्ध होकर भौंरे उसके मुख-कमलको घेर लेते, तब वह उनसे बचनेके लिये जल्दी-जल्दी पैर उठाकर चलती तो उसके कुच-कलश वेणी और करधनी हिलनेसे बड़े ही सुहावने लगते। यह सब देखनेसे भगवान् कामदेवको आग्नीध्रके हृदयमें प्रवेश करनेका अवसर मिल गया और वे उनके अधीन होकर उसे प्रसन्न करनेके लिये पागलकी भाँति इस प्रकार कहने लगे— ॥ ५-६ ॥

'मुनिवर्य! तुम कौन हो, इस पर्वतपर तुम क्या करना चाहते हो? तुम परमपुरुष श्रीनारायणकी कोई माया तो नहीं हो? [भौंहोंकी ओर संकेत करके—] सखे! तुमने ये बिना डोरीके दो धनुष क्यों धारण कर रक्खे हैं? क्या इनसे तुम्हारा कोई अपना प्रयोजन है, अथवा इस संसारारण्यमें मुझ-जैसे मतवाले मृगोंका शिकार करना चाहते हो! ॥ ७ ॥ [कटाक्षोंको लक्ष्य करके—] तुम्हारे ये दो बाण तो बड़े सुन्दर और पैने हैं। अहो! इनके कमलदलके पंख हैं, देखनेमें बड़े शान्त हैं और हैं भी पंखहीन*। यहाँ वनमें विचरते हुए तुम इन्हें किसपर छोड़ना चाहते हो? यहाँ तुम्हारा कोई सामना करनेवाला नहीं दिखायी देता। तुम्हारा यह पराक्रम हम-जैसे जडबुद्धियोंके लिये कल्याणकारी हो ॥ ८ ॥ [भौंरोंकी

१. प्राचीन प्रतिमें 'युगल' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—मीषद्विहस्य। ३. प्रा० पा०—तामेव दूरे। ४. प्राचीन प्रतिमें 'सुमनस' यह पाठ खण्डित है। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मनो' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—निजमुखभाषणामोदमदा०। ७. प्रा० पा०—द्रुतपदन्यासेन। ८. प्रा० पा०—मुनिवर्य शीले। * बाणका पिछला हिस्सा।

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः ॥ ९ ॥

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते ॥१०॥

किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता[1] मे ।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि[2] ॥११॥

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ[3] बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसराससुधादि[4] वक्त्रे ॥१२॥

का वाऽऽत्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते ॥१३॥

ओर देखकर—] भगवन् ! तुम्हारे चारों ओर जो ये शिष्यगण अध्ययन कर रहे हैं, वे तो निरन्तर रहस्ययुक्त सामगान करते हुए मानो भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं और ऋषिगण जैसे वेदकी शाखाओंका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार ये सब तुम्हारी चोटीसे झड़े हुए पुष्पोंका सेवन कर रहे हैं ॥ ९ ॥ [नूपुरोंके शब्दकी ओर संकेत करके—] ब्रह्मन् ! तुम्हारे चरणरूप पिंजड़ोंमें जो तीतर बंद हैं, उनका शब्द तो सुनायी देता है; परंतु रूप देखनेमें नहीं आता । [करधनीसहित पीली साड़ीमें अङ्गकी कान्तिकी उत्प्रेक्षा कर—] तुम्हारे नितम्बोंपर यह कदम्ब-कुसुमोंकी-सी आभा कहाँसे आ गयी ? इनके ऊपर तो अंगारोंका मण्डल-सा भी दिखायी देता है । किंतु तुम्हारा वल्कल-वस्त्र कहाँ है ? ॥ १० ॥ [कुङ्कुममण्डित कुचोंकी ओर लक्ष्य करके—] द्विजवर ! तुम्हारे इन दोनों सुन्दर सींगोंमें क्या भरा हुआ है ? अवश्य ही इनमें बड़े अमूल्य रत्न भरे हैं, इसीसे तो तुम्हारा मध्यभाग इतना कृश होनेपर भी तुम इनका बोझ ढो रहे हो । यहाँ जाकर तो मेरी दृष्टि भी मानो अटक गयी है और सुभग ! इन सींगोंपर तुमने यह लाल-लाल लेप-सा क्या लगा रक्खा है ? इसकी गन्धसे तो मेरा सारा आश्रम महँक उठा है ॥ ११ ॥ मित्रवर ! मुझे तो तुम अपना देश दिखा दो, जहाँके निवासी अपने वक्षःस्थलपर ऐसे अद्भुत अवयव धारण करते हैं, जिन्होंने हमारे-जैसे प्राणियोंके चित्तोंको क्षुब्ध कर दिया है तथा मुखमें विचित्र हाव-भाव सरस-भाषण और अधरामृत-जैसी अनूठी वस्तुएँ रखते हैं ॥ १२ ॥

'प्रियवर ! तुम्हारा भोजन क्या है, जिसके खानेसे तुम्हारे मुखसे हवन-सामग्रीकी-सी सुगन्ध फैल रही है ? मालूम होता है, तुम कोई विष्णुभगवान्‌की कला ही हो; इसीलिये तुम्हारे कानोंमें कभी पलक न मारनेवाले मकरके आकारके दो कुण्डल हैं । तुम्हारा मुख एक सुन्दर सरोवर-के समान है । उसमें तुम्हारे चञ्चल नेत्र भयसे काँपती हुई दो मछलियोंके समान, दन्तपंक्ति हंसोंके समान और घुँघराली अलकावली भौंरोंके समान शोभायमान है ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—सृता मे । २. प्रा० पा०—सुरभिं करोषि । ३. प्रा० पा०—उन्नयनैर्बिभर्ति । ४. प्रा० पा०—सरसरासमुधादि ।

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे[1]।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥१४॥
रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्[2]।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे[3] ॥१५॥
न त्वां त्यजामि दयितं[4] द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम्।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः॥१६॥

तुम जब अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस गेंदको उछालते हो, तब यह दिशा-विदिशाओंमें जाती हुई मेरे नेत्रोंको तो चञ्चल कर ही देती है, साथ-साथ मेरे मनमें भी खलबली पैदा कर देती है। तुम्हारा बाँका जटाजूट खुल गया है, तुम इसे सँभालते नहीं? अरे, यह धूर्त वायु कैसा दुष्ट है, जो बार-बार तुम्हारे नीवी-वस्त्रको उड़ा देता है॥ १४॥ तपोधन! तपस्वियोंके तपको भ्रष्ट करनेवाला यह अनूप रूप तुमने किस तपके प्रभावसे पाया है? मित्र! आओ, कुछ दिन मेरे साथ रहकर तपस्या करो। अथवा, कहीं विश्वविस्तारकी इच्छासे ब्रह्माजीने ही तो मुझपर कृपा नहीं की है॥ १५॥ सचमुच, तुम ब्रह्माजीकी ही प्यारी देन हो; अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता। तुममें तो मेरे मन और नयन ऐसे उलझ गये हैं कि अन्यत्र जाना ही नहीं चाहते। सुन्दर सींगोंवाली! तुम्हारा जहाँ मन हो, मुझे भी वहीं ले चलो; मैं तो तुम्हारा अनुचर हूँ और तुम्हारी ये मङ्गलमयी सखियाँ भी हमारे ही साथ रहें'॥ १६॥

श्रीशुक[5] उवाच

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास ॥१७॥ सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवयः[6]श्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन[7] सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं[8] जम्बूद्वीपपतिना भौमं[9] स्वर्गभोगान् बुभुजे १८तस्यामु ह वा आत्मजान्[10] स राजवरं[11] आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिर[12]ण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत् १९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! आग्नीध्र देवताओंके समान बुद्धिमान् और स्त्रियोंको प्रसन्न करनेमें बड़े कुशल थे। उन्होंने इसी प्रकारकी रतिचातुर्यमयी मीठी-मीठी बातोंसे उस अप्सराको प्रसन्न कर लिया॥ १७॥ वीर-समाजमें अग्रगण्य आग्नीध्रकी बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी और उदारतासे आकर्षित होकर वह उन जम्बूद्वीपाधिपतिके साथ कई हजार वर्षोंतक पृथ्वी और स्वर्गके भोग भोगती रही॥ १८॥ तदनन्तर नृपवर आग्नीध्रने उसके गर्भसे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नामके नौ पुत्र उत्पन्न किये॥ १९॥

१. प्रा० पा०—ते। २. प्रा० पा०—भवतेह लब्धम्। ३. प्रा० पा०—भावनोऽसौ। ४. प्रा० पा०—दयितां। ५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—रूपविद्यावयः। ७. प्राचीन प्रतिमें 'ते' यह पाठ खण्डित है। ८. प्राचीन प्रतिमें 'यु' यह पाठ खण्डित है। ९. प्राचीन प्रतिमें 'कालं' यह पाठ खण्डित है। १०. प्रा० पा०—भूमि०। ११. प्राचीन प्रतिमें 'जान्' यह पाठ खण्डित है। १२. प्रा० पा०—राजवर्य। १३. प्राचीन प्रतिमें 'वृतरम्यकहिरण्मय···' से आरम्भकर 'आत्मतुल्यनामानि' पर्यन्त अंश खण्डित है।

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे ॥ २० ॥ आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं[1] जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ॥ २१ ॥ आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः[2] सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते[3] ॥२२॥ सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितॄर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं[4] भद्रां देववीतिमिति[5] संज्ञा नवोदवहन्[6] ॥२३॥

इस प्रकार नौ वर्षमें प्रतिवर्ष एक-एकके क्रमसे नौ पुत्र उत्पन्न कर पूर्वचित्ति उन्हें राजभवनमें ही छोड़कर फिर ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हो गयी ॥ २० ॥ ये आग्नीध्रके पुत्र माताके अनुग्रहसे स्वभावसे ही सुडौल और सबल शरीरवाले थे । आग्नीध्रने जम्बूद्वीपके विभाग करके उन्हींके समान नामवाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्रको सौंप दिया । तब वे सब अपने-अपने वर्षका राज्य भोगने लगे ॥ २१ ॥ महाराज आग्नीध्र दिन-दिन भोगोंको भोगते रहनेपर भी उनसे अतृप्त ही रहे । वे उस अप्सराको ही परम पुरुषार्थ समझते थे । इसलिये उन्होंने वैदिक कर्मोंके द्वारा उसी लोकको प्राप्त किया, जहाँ पितृगण अपने सुकृतोंके अनुसार तरह-तरहके भोगोंमें मस्त रहते हैं ॥ २२ ॥ पिताके परलोक सिधारनेपर नाभि आदि नौ भाइयोंने मेरुकी मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति नामकी नौ कन्याओंसे विवाह किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे[7] आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

राजा नाभिका चरित्र

श्रीशुक उवाच[8]

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत[9] ॥ १ ॥ तस्य ह वाव[10] श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थ[11]विधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयना-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! आग्नीध्रके पुत्र नाभिके कोई संतान न थी, इसलिये उन्होंने अपनी भार्या मेरुदेवीके सहित पुत्रकी कामनासे एकाग्रतापूर्वक भगवान् यज्ञपुरुषका यजन किया ॥ १ ॥ यद्यपि सुन्दर अङ्गोंवाले श्रीभगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विज, दक्षिणा और विधि—इन यज्ञके साधनोंसे सहजमें नहीं मिलते, तथापि वे भक्तोंपर तो कृपा करते ही हैं । इसलिये जब महाराज नाभिने श्रद्धापूर्वक विशुद्धभावसे उनकी आराधना की, तब उनका चित्त अपने भक्तका अभीष्ट कार्य करनेके लिये उत्सुक हो गया । यद्यपि उनका स्वरूप सर्वथा स्वतन्त्र है, तथापि उन्होंने प्रवर्ग्यकर्मका अनुष्ठान

१. प्रा० पा०—यथाविभागं । २. प्रा० पा०—मधिगम्यमान० । ३. प्रा० पा०—मोदयन्ते । ४. प्रा० पा०—रामां नारीं । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मिति' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—संज्ञा अवहन् । ७. प्रा० पा०—पञ्चमे स्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः । ८. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ९. प्राचीन प्रतिमें 'मव' यह पाठ खण्डित है । १०. प्रा० पा०—तस्य ह वावेति । ११. प्रा० पा०—जनाभिप्रायार्थ० ।

नन्दनावयवाभिराममाविश्चकार ॥ २ ॥ अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

होते समय उसे मन और नयनोंको आनन्द देनेवाले अवयवोंसे युक्त अति सुन्दर हृदयाकर्षक मूर्तिमें प्रकट किया ॥ २ ॥ उनके श्रीअङ्गमें रेशमी पीताम्बर था, वक्षःस्थलपर सुमनोहर श्रीवत्सचिह्न सुशोभित था; भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा गलेमें वनमाला और कौस्तुभमणिकी शोभा थी। सम्पूर्ण शरीर अङ्ग-प्रत्यङ्गकी कान्तिको बढ़ानेवाले किरणजालमण्डित मणिमय मुकुट, कुण्डल, कङ्कण, करधनी, हार, बाजूबंद और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित था। ऐसे परम तेजस्वी चतुर्भुजमूर्ति पुरुषविशेषको प्रकट हुआ देख ऋत्विज, सदस्य और यजमान आदि सभी लोग ऐसे आह्लादित हुए जैसे निर्धन पुरुष अपार धनराशि पाकर फूला नहीं समाता। फिर सभीने सिर झुकाकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रभुकी अर्घ्यद्वारा पूजा की और ऋत्विजोंने उनकी स्तुति की ॥ ३ ॥

ऋत्विज[१] ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य[२] परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् ॥ ४ ॥ सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ५ ॥ परिजनानुरागविरचितशबल[३]संशब्दसलिलसित[४]किसलयतुलसिका[५]दूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया[६] सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥ ६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—पूज्यतम ! हम आपके अनुगत भक्त हैं, आप हमारे पुनः-पुनः पूजनीय हैं। किंतु हम आपकी पूजा करना क्या जानें ? हम तो बार-बार आपको नमस्कार करते हैं—इतना ही हमें महापुरुषोंने सिखाया है। आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे हैं। फिर प्राकृत गुणोंके कार्यभूत इस प्रपञ्चमें बुद्धि फँस जानेसे आपके गुण-गानमें सर्वथा असमर्थ ऐसा कौन पुरुष है जो प्राकृत नाम, रूप एवं आकृतिके द्वारा आपके स्वरूपका निरूपण कर सके ? आप साक्षात् परमेश्वर हैं ॥ ४ ॥ आपके परम मङ्गलमय गुण सम्पूर्ण जनताके दुःखोंका दमन करनेवाले हैं। यदि कोई उन्हें वर्णन करनेका साहस भी करेगा, तो केवल उनके एक देशका ही वर्णन कर सकेगा ॥ ५ ॥ किंतु प्रभो ! यदि आपके भक्त प्रेम-गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए सामान्य जल, विशुद्ध पल्लव, तुलसी और दूबके अङ्कुर आदि सामग्रीसे ही आपकी पूजा करते हैं, तो भी आप सब प्रकार संतुष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'ऋत्विज ऊचुः' यह पाठ नहीं है। २. प्राचीन प्रतिमें 'ईश्वरस्य' यह पाठ नहीं है। ३. प्रा० पा०—सबलसंशब्दितसलिल०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'सित' यह पाठ नहीं है। ५. प्रा० पा०—तुलसी०। ६. प्रा० पा०—सम्भूतया।

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे ॥७॥आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति ॥८॥ तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ९ ॥ अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥ १० ॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण परममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ॥११॥ अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥ १२ ॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवा-

हमें तो अनुरागके सिवा इस द्रव्य-कालादि अनेकों अङ्गोंवाले यज्ञसे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं दिखलायी देता; ॥ ७ ॥ क्योंकि आपसे स्वतः ही क्षण-क्षणमें जो सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका फलस्वरूप परमानन्द स्वभावतः ही निरन्तर प्रादुर्भूत होता रहता है, आप साक्षात् उसके स्वरूप ही हैं। इस प्रकार यद्यपि आपको इन यज्ञादिसे कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि अनेक प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि चाहनेवाले हमलोगोंके लिये तो मनोरथसिद्धिका पर्याप्त साधन यही होना चाहिये ॥ ८ ॥ आप ब्रह्मादि परम पुरुषोंकी अपेक्षा भी परम श्रेष्ठ हैं। हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारा परम कल्याण किसमें है, और न हमसे आपकी यथोचित पूजा ही बनी है तथापि जिस प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष बिना बुलाये भी केवल करुणावश अज्ञानी पुरुषोंके पास चले जाते हैं, उसी प्रकार आप भी हमें मोक्षसंज्ञक अपना परमपद और हमारी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करनेके लिये अन्य साधारण यज्ञदर्शकोंके समान यहाँ प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥ पूज्यतम! हमें सबसे बड़ा वर तो आपने यही दे दिया कि ब्रह्मादि समस्त वरदायकोंमें श्रेष्ठ होकर भी आप राजर्षि नाभिकी इस यज्ञशालामें साक्षात् हमारे नेत्रोंके सामने प्रकट हो गये। अब हम और वर क्या माँगें? ॥१०॥

प्रभो! आपके गुणगणोंका गान परम मङ्गलमय है। जिन्होंने वैराग्यसे प्रज्वलित हुई ज्ञानाग्निके द्वारा अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषादि सम्पूर्ण मलोंको जला डाला है, अतएव जिनका स्वभाव आपके ही समान शान्त है, वे आत्माराम मुनिगण भी निरन्तर आपके गुणोंका गान ही किया करते हैं ॥ ११ ॥ अतः हम आपसे यही वर माँगते हैं कि गिरने, ठोकर खाने, छींकने अथवा जँभाई लेने और सङ्कटादिके समय एवं ज्वर और मरणादिकी अवस्थामें आपका स्मरण न हो सकनेपर भी किसी प्रकार आपके सकलकलिमलविनाशक 'भक्तवत्सल', 'दीनबन्धु' आदि गुणद्योतक नामोंका हम उच्चारण कर सकें ॥ १२ ॥

इसके सिवा, कहनेयोग्य न होनेपर भी एक प्रार्थना और है। आप साक्षात् परमेश्वर हैं; स्वर्ग-अपवर्ग आदि

१. प्रा० पा०—तव। २. प्रा० पा०—सवनमव्यतिरेकेण। ३. प्राचीन प्रतिमें 'परम' यह पाठ नहीं है। ४. प्राचीन प्रतिमें 'परम' यह पाठ नहीं है। ५. प्रा० पा०—नानलविशेषाशेषमलानां। ६. प्रा० पा०—परिगणित०। ७. प्रा० पा०—पतनपरिजृम्भण०। ८. प्रा० पा०—जरामरण०।

दृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥१३॥ को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः ॥ १४ ॥

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिवोढुमविदुषाम् ॥ १५ ॥

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह ।१६।

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम् ॥१७॥ तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः ॥ १८ ॥

श्रीशुक उवाच

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥१९॥ बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप न दे सकें। तथापि जैसे कोई कंगाल किसी धन लुटानेवाले परम उदार पुरुषके पास पहुँचकर भी उससे भूसा ही माँगे, उसी प्रकार हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि संतानको ही परम पुरुषार्थ मानकर आपके ही समान पुत्र पानेके लिये आपकी आराधना कर रहे हैं ॥ १३ ॥ यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी मायाका पार कोई नहीं पा सकता और न वह किसीके वशमें ही आ सकती है। जिन लोगोंने महापुरुषोंके चरणोंका आश्रय नहीं लिया, उनमें ऐसा कौन है जो उसके वशमें नहीं होता, उसकी बुद्धिपर उसका परदा नहीं पड़ जाता और विषयरूप विषका वेग उसके स्वभावको दूषित नहीं कर देता ? ॥ १४ ॥ देवदेव ! आप भक्तोंके बड़े-बड़े काम कर देते हैं। हम मन्दमतियोंने कामनावश इस तुच्छ कार्यके लिये आपका आवाहन किया, यह आपका अनादर ही है। किंतु आप समदर्शी हैं, अतः हम अज्ञानियोंकी इस धृष्टताको आप क्षमा करें ॥ १५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! वर्षाधिपति नाभिके पूज्य ऋत्विजोंने प्रभुके चरणोंकी वन्दना करके जब पूर्वोक्त स्तोत्रसे स्तुति की, तब देवश्रेष्ठ श्रीहरिने करुणावश इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ऋषियो ! बड़े असमंजसकी बात है। आप सब सत्यवादी महात्मा हैं, आपने मुझसे यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है कि राजर्षि नाभिके मेरे समान पुत्र हो। मुनियो ! मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है ॥ १७ ॥ इसलिये मैं स्वयं ही अपनी अंशकलासे आग्नीध्रनन्दन नाभिके यहाँ अवतार लूँगा, क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखायी नहीं देता ॥ १८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महारानी मेरुदेवीके सुनते हुए उसके पतिसे इस प्रकार कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये ॥ १९ ॥ विष्णुदत्त परीक्षित् ! उस

१. प्रा० पा०—इह तेऽपराजितया। २. प्रा० पा०—विषरयानृतप्रकृति०। ३. प्रा० पा०—यदिह वाव पुनरदभ्र०। ४. प्रा० पा०—सर्वात्मन्। ५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—वर्षवराभि०। ७. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' यह पाठ नहीं है। ८. प्रा० पा०—वृथा। ९. प्रा० पा०—ध्रीये स्वकलया। १०. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है।

भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ २० ॥

यज्ञमें महर्षियोंद्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जानेपर श्रीभगवान् महाराज नाभिका प्रिय करनेके लिये उनके रनिवासमें महारानी मेरुदेवीके गर्भसे दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियोंका धर्म प्रकट करनेके लिये शुद्धसत्त्वमय विग्रहसे प्रकट हुए ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ऋषभदेवजीका राज्यशासन

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥१॥ तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥ २ ॥

तस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत् ॥३॥ नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः ॥ ४ ॥

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! नाभिनन्दनके अंग जन्मसे ही भगवान् विष्णुके वज्र-अङ्कुश आदि चिह्नोंसे युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण उनका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृतिवर्ग प्रजा, ब्राह्मण और देवताओंकी यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वीका शासन करें ॥ १ ॥ उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणोंके कारण महाराज नाभिने उनका नाम 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) रक्खा ॥ २ ॥

एक बार भगवान् इन्द्रने ईर्ष्यावश उनके राज्यमें वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान् ऋषभने इन्द्रकी मूर्खतापर हँसते हुए अपनी योगमायाके प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभखण्डमें खूब जल बरसाया ॥ ३ ॥ महाराज नाभि अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये और अपनी ही इच्छासे मनुष्यशरीर धारण करनेवाले पुराणपुरुष श्रीहरिका सप्रेम लालन करते हुए, उन्हींके लीलाविलाससे मुग्ध होकर 'वत्स ! तात !' ऐसा गद्गदवाणीसे कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे ॥ ४ ॥

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्रकी जनता ऋषभदेवसे बहुत प्रेम करती है, तो

१. प्रा० पा०—वाताशनानां। २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। ३. प्रा० पा०—सौम्योपशम०। ४. प्रा० पा०—ब्राह्मणदेवता०। ५. प्रा० पा०—यस्य ही०। ६. प्रा० पा०—प्रेममायया वर्षमजनाभं। ७. प्रा० पा०—नरलोकसाधर्म्यं।

नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह[1] मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप[2] ॥ ५ ॥

उन्होंने उन्हें धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये राज्याभिषिक्त करके ब्राह्मणोंकी देख-रेखमें छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवीके सहित बदरिकाश्रमको चले गये। वहाँ अहिंसावृत्तिसे, जिससे किसीको उद्वेग न हो ऐसी कौशलपूर्ण, तपस्या और समाधियोंके द्वारा भगवान् वासुदेवके नर-नारायणरूपकी आराधना करते हुए समय आनेपर उन्हींके स्वरूपमें लीन हो गये ॥ ५ ॥

यस्य[3] ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—

पाण्डुनन्दन! राजा नाभिके विषयमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

को[4] नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान्।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

राजर्षि नाभिके उदार कर्मोंका आचरण दूसरा कौन पुरुष कर सकता है—जिनके शुद्ध कर्मोंसे संतुष्ट होकर साक्षात् श्रीहरि उनके पुत्र हो गये थे ॥ ६ ॥ महाराज नाभिके समान ब्राह्मणभक्त भी कौन हो सकता है—जिनकी दक्षिणादिसे संतुष्ट हुए ब्राह्मणोंने अपने मन्त्रबलसे उन्हें यज्ञशालामें साक्षात् श्रीविष्णुभगवान्के दर्शन करा दिये ॥ ७ ॥

अथ[5] ह भगवानृषभदेवः[6] स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभि[7]युञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास ॥८॥ येषां[8] खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ९ ॥ तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः ॥१० ॥

भगवान् ऋषभदेवने अपने देश अजनाभखण्डको कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रहके लिये कुछ काल गुरुकुलमें वास किया। गुरुदेवको यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थमें प्रवेश करनेके लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगोंको गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनेके लिये देवराज इन्द्रकी दी हुई उनकी कन्या जयन्तीसे विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकारके शास्त्रोपदिष्ट कर्मोंका आचरण करते हुए उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवाले सौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ ८ ॥ उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हींके नामसे लोग इस अजनाभखण्डको 'भारतवर्ष' कहने लगे ॥९॥ उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट—ये नौ राजकुमार शेष नब्बे भाइयोंसे बड़े एवं श्रेष्ठ थे ॥१०॥

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः[9] करभाजनः ॥११॥

उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ

१. प्रा० पा०—सह देव्या। २. प्रा० पा०—काले तन्महिमा०। ३. प्रा० पा०—यत्र। ४. प्रा० पा०—कस्तत्कर्म। ५. प्राचीन प्रतिमें 'अथ ह' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—भगवानृषभः स्व०। ७. प्राचीन प्रतिमें 'म्नात' यह पाठ खण्डित है। ८. प्रा० पा०—एषां। ९. प्रा० पा०—द्रविडश्चमसः।

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं[1] वसुदेवनारदसंवाद-मुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः[2] ॥१२॥ यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा[3] ब्राह्मणा बभूवुः ॥ १३ ॥

भगवानृषभसंज्ञ[4] आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव[5] ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं[6] नियमयत् ॥ १४ ॥ यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥१५॥ यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं[7] ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास ॥१६॥ द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज ॥१७॥ भगवदृषभेण[8] परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते[9] भर्तर्यनुसवनं विजृ-[10]

राजकुमार भागवतधर्मका प्रचार करनेवाले बड़े भगवद्भक्त थे। भगवान्‌की महिमासे महिमान्वित और परम शान्तिसे पूर्ण इनका पवित्र चरित हम नारद-वसुदेवसंवादके प्रसङ्गसे आगे (एकादश स्कन्धमें) कहेंगे ॥ ११-१२ ॥ इनसे छोटे जयन्तीके इक्यासी पुत्र पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करनेवाले थे। वे पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे ॥ १३ ॥

भगवान् ऋषभदेव, यद्यपि परम स्वतन्त्र होनेके कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकारकी अनर्थपरम्परासे रहित केवल आनन्दानुभवस्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियोंके समान कर्म करते हुए उन्होंने कालके अनुसार प्राप्त धर्मका आचरण करके उसका तत्त्व न जाननेवाले लोगोंको उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, संतान, भोग-सुख और मोक्षका संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रममें लोगोंको नियमित किया ॥ १४ ॥ महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसीका अनुकरण करने लगते हैं ॥ १५ ॥ यद्यपि वे सभी धर्मोंके साररूप वेदके गूढ़ रहस्यको जानते थे, तो भी ब्राह्मणोंकी बतलायी हुई विधिसे साम-दानादि नीतिके अनुसार ही जनताका पालन करते थे ॥ १६ ॥ उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणोंके उपदेशानुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदिसे सुसम्पन्न सभी प्रकारके सौ-सौ यज्ञ किये ॥ १७ ॥ भगवान् ऋषभदेवके शासनकालमें इस देशका कोई भी पुरुष अपने लिये किसीसे भी अपने प्रभुके प्रति दिन-दिन बढ़नेवाले अनुरागके सिवा और किसी वस्तुकी कभी इच्छा नहीं करता था। यही नहीं, आकाशकुसुमादि अविद्यमान वस्तुकी भाँति कोई

१. प्राचीन प्रतिमें 'भगवन्महिमोपबृंहितं' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—मुपशमेन समुपरिष्टाद्व०। ३. प्रा० पा०—कर्मशुद्धा। ४. प्रा० पा०—भगवान्सर्वज्ञ आत्म०। ५. प्रा० पा०—केवल आनन्दा०। ६. प्रा० पा०—लोकानयमयत्। ७. प्रा० पा०—सकलधर्मांधर्मे ब्राह्मं। ८. प्रा० पा०—भगवता ऋषभेण। ९. प्रा० पा०—प्रदपेक्षते। १०. प्रा० पा०—सवनं जृम्भितस्नेहा०।

म्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ।१८। स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रय-प्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच १९

किसीकी वस्तुकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था ॥ १८ ॥ एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्तदेशमें पहुँचे । वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंकी सभामें उन्होंने प्रजाके सामने ही अपने समाहितचित्त तथा विनय और प्रेमके भारसे सुसंयत पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार कहा ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ऋषभजीका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं अवधूतवृत्ति ग्रहण करना

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका[2] येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्[3] ॥ १ ॥
महत्सेवां[4] द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ २ ॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु[5]
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥
नूनं प्रमत्तः कुरुते[6] विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥ ४ ॥
पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।

श्रीऋषभदेवजीने कहा—पुत्रो ! इस मर्त्यलोकमें यह मनुष्य-शरीर दुःखमय विषयभोग प्राप्त करनेके लिये ही नहीं है । ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर-कूकरादिको भी मिलते ही हैं । इस शरीरसे दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ शास्त्रोंने महापुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका और स्त्रीसंगी कामियोंके सङ्गको नरकका द्वार बताया है । महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचार-सम्पन्न हों ॥ २ ॥ अथवा मुझ परमात्माके प्रेमको ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयोंकी ही चर्चा करनेवाले लोगोंमें तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न घरोंमें जिनकी अरुचि हो और जो लौकिक कार्योंमें केवल शरीरनिर्वाहके लिये ही प्रवृत्त होते हों ॥ ३ ॥ मनुष्य अवश्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये ही होती है । मैं इसे अच्छा नहीं समझता, क्योंकि इसीके कारण आत्माको यह असत् और दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ जबतक जीवको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होती, तभीतक अज्ञानवश देहादिके द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता

१. प्रा० पा०—प्रणयमयसु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'पुत्रका' यह पाठ खण्डित है । ३. प्रा० पा०—ह्यनन्तम् । ४. प्रा० पा०—महात्मनां । ५. प्राचीन प्रतिमें 'रा' यह पाठ खण्डित है । ६. प्रा० पा०—कुरुते कर्म दीनोऽयमिन्द्रि० । ७. प्रा० पा०—एष ।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ५ ॥
एवं[1] मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥
यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥
पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥ ८ ॥
यदा मनो[2]हृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः सम्परि[3]वर्ततेऽस्माद्
मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९ ॥
हंसे[4] गुरौ मयि भक्त्यानु[5]वृत्त्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥१०॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहा[6]सया देहगेहात्मबुद्धेः ॥११॥

है। जबतक यह लौकिक-वैदिक कर्मोंमें फँसा रहता है, तबतक मनमें कर्मकी वासनाएँ भी बनी ही रहती हैं और इन्हींसे देह-बन्धनकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ इस प्रकार अविद्याके द्वारा आत्मस्वरूपके ढक जानेसे कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है। अतः जबतक उसको मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तबतक वह देहबन्धनसे छूट नहीं सकता ॥ ६ ॥ स्वार्थमें पागल जीव जबतक विवेकदृष्टिका आश्रय लेकर इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको मिथ्या नहीं देखता, तबतक आत्मस्वरूपकी स्मृति खो बैठनेके कारण वह अज्ञानवश विषयप्रधान गृह आदिमें आसक्त रहता है और तरह-तरहके क्लेश उठाता रहता है ॥ ७ ॥

स्त्री और पुरुष—इन दोनोंका जो परस्पर दाम्पत्य-भाव है, इसीको पण्डितजन उनके हृदयकी दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमानरूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो उनमें अलग-अलग पहलेसे ही है। इसीके कारण जीवको देहेन्द्रियादिके अतिरिक्त, घर-खेत, पुत्र, स्वजन और धन आदिमें भी 'मैं' और 'मेरे' पनका मोह हो जाता है ॥ ८ ॥ जिस समय कर्मवासनाओंके कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय-ग्रन्थि ढीली हो जाती है, उसी समय यह दाम्पत्यभावसे निवृत्त हो जाता है और संसारके हेतुभूत अहंकारको त्यागकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो परमपद प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥ पुत्रो! संसारसागरसे पार होनेमें कुशल तथा धैर्य, उद्यम एवं सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषको चाहिये कि सबके आत्मा और गुणस्वरूप मुझ भगवान्‌में भक्तिभाव रखनेसे, मेरे परायण रहनेसे, तृष्णाके त्यागसे, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके सहनेसे 'जीवको सभी योनियोंमें दुःख ही उठाना पड़ता है' इस विचारसे, तत्त्वजिज्ञासासे, तपसे, सकाम कर्मके त्यागसे, मेरे ही लिये कर्म करनेसे, मेरी कथाओंका नित्यप्रति श्रवण करनेसे, मेरे भक्तोंके सङ्ग और मेरे गुणोंके कीर्तनसे, वैरत्यागसे, समतासे, शान्तिसे और शरीर तथा घर आदिमें मैं-मेरेपनके भावको त्यागनेकी इच्छासे,

१. प्रा० पा०—एनं मनः। २. प्रा० पा०—यदात्मनो। ३. प्रा० पा०—सम्प्रतिवर्त्तते। ४. प्रा० पा०—हरौ गुरौ मयि। ५. प्रा० पा०—भक्त्यानुवृद्धया। ६. प्रा० पा०—जिज्ञासया।

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक्।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥१२॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन[2]।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥१३॥
कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः[4]।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥१४॥
पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान्[5]।
कं[6] योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥१५॥
लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान्[7] समीहेत निकामकामः।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो[8]-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥१६॥
कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम्।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥१७॥
गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।

अध्यात्मशास्त्रके अनुशीलनसे, एकान्त सेवनसे, प्राण-इन्द्रिय और मनके संयमसे, शास्त्र और सत्पुरुषोंके वचनमें यथार्थ बुद्धि रखनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यसे, कर्तव्यकर्मोंमें निरन्तर सावधान रहनेसे, वाणीके संयमसे, सर्वत्र मेरी ही सत्ता देखनेसे, अनुभवज्ञानसहित तत्त्वविचारसे और योगसाधनसे अहङ्काररूप अपने लिङ्गशरीरको लीन कर दे ॥ १०–१३ ॥ मनुष्यको चाहिये कि वह सावधान रहकर अविद्यासे प्राप्त इस हृदयग्रन्थिरूप बन्धनको शास्त्रोक्त-रीतिसे इन साधनोंके द्वारा भलीभाँति काट डाले; क्योंकि यही कर्मसंस्कारोंके रहनेका स्थान है। तदनन्तर साधन-का भी परित्याग कर दे ॥ १४ ॥

जिसको मेरे लोककी इच्छा हो अथवा जो मेरे अनु-ग्रहकी प्राप्तिको ही परम पुरुषार्थ मानता हो—वह राजा हो तो अपनी अबोध प्रजाको, गुरु अपने शिष्योंको और पिता अपने पुत्रोंको ऐसी ही शिक्षा दे। अज्ञानके कारण यदि वे उस शिक्षाके अनुसार न चलकर कर्मको ही परम पुरुषार्थ मानते रहें, तो भी उनपर क्रोध न करके उन्हें समझा-बुझाकर कर्ममें प्रवृत्त न होने दे। उन्हें विषया-सक्तियुक्त काम्यकर्मोंमें लगाना तो ऐसा ही है, जैसे किसी अंधे मनुष्यको जान-बूझकर गढ़ेमें ढकेल देना। इससे भला, किस पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है ॥१५॥ अपना सच्चा कल्याण किस बातमें है, इसको लोग नहीं जानते; इसीसे वे तरह-तरहकी भोग-कामनाओंमें फँसकर तुच्छ क्षणिक सुखके लिये आपसमें वैर ठान लेते हैं और निरन्तर विषयभोगोंके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं। वे मूर्ख इस बातपर कुछ भी विचार नहीं करते कि इस वैर-विरोधके कारण नरक आदि अनन्त घोर दुःखोंकी प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥ गढ़ेमें गिरनेके लिये उल्टे रास्तेसे जाते हुए मनुष्यको जैसे आँखवाला पुरुष उधर नहीं जाने देता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको अविद्यामें फँसकर दुःखोंकी ओर जाते देखकर कौन ऐसा दयालु और ज्ञानी पुरुष होगा, जो जान-बूझकर भी उसे उसी राहपर जाने दे, या जानेके लिये प्रेरणा करे ॥ १७ ॥ जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है,

१. प्राचीन प्रतिमें 'न्द्रि' इतना अंश खण्डित है। २. प्रा० पा०—विज्ञानविस्फारितेन। ३. प्राचीन प्रतिमें 'हृदय' इतना अंश खण्डित है। ४. प्रा० पा०—विध्वंसविद्यया। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मूढान्' यह अंश खण्डित है। ६. प्राचीन प्रतिमें 'कं योजयन्' से 'दृशं हि गर्ते' पर्यन्त अंश नहीं है। ७. प्राचीन प्रतिमें 'नष्टदृष्टिर्योऽर्थान्' यह अंश खण्डित है। ८. प्राचीन प्रतिमें 'लेशहेतोर' यह पाठ खण्डित है।

दैवं[1] न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥१८॥
इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं[2] हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥१९॥
तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥२०॥
भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः[3] ।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि[4]
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥२१॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु[5] तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥२२॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं तु[6] ।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥२३॥
धृता[7] तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥२४॥

पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ॥ १८ ॥

मेरे इस अवतार-शरीरका रहस्य साधारण जनोंके लिये बुद्धिगम्य नहीं है । शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसीमें धर्मकी स्थिति है, मैंने अधर्मको अपनेसे बहुत दूर पीछेकी ओर ढकेल दिया है, इसीसे सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं ॥ १९ ॥ तुम सब मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदयसे उत्पन्न हुए हो, इसलिये मत्सर छोड़कर अपने बड़े भाई भरतकी सेवा करो । उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजापालन भी है ॥ २० ॥ अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा वृक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उनसे चलनेवाले जीव श्रेष्ठ हैं और उनमें भी कीटादिकी अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु आदि श्रेष्ठ हैं । पशुओंसे मनुष्य, मनुष्योंसे प्रमथगण, प्रमथोंसे गन्धर्व, गन्धर्वोंसे सिद्ध और सिद्धोंसे देवताओंके अनुयायी किन्नरादि श्रेष्ठ हैं ॥ २१ ॥ उनसे असुर, असुरोंसे देवता और देवताओंसे भी इन्द्र श्रेष्ठ हैं । इन्द्रसे भी ब्रह्माजीके पुत्र दक्षादि प्रजापति श्रेष्ठ हैं । ब्रह्माजीके पुत्रोंमें रुद्र सबसे श्रेष्ठ हैं । वे ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्रह्माजी उनसे श्रेष्ठ हैं । वे भी मुझसे उत्पन्न हैं और मेरी उपासना करते हैं, इसलिये मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ । परंतु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उन्हें पूज्य मानता हूँ ॥ २२ ॥

[सभामें उपस्थित ब्राह्मणोंको लक्ष्य करके] विप्रगण ! दूसरे किसी भी प्राणीको मैं ब्राह्मणोंके समान भी नहीं समझता, फिर उनसे अधिक तो मान ही कैसे सकता हूँ । लोग श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंके मुखमें जो अन्नादि आहुति डालते हैं, उसे मैं जैसी प्रसन्नतासे ग्रहण करता हूँ वैसे अग्निहोत्रमें होम की हुई सामग्रीको स्वीकार नहीं करता ॥ २३ ॥ जिन्होंने इस लोकमें अध्ययनादिके द्वारा मेरी वेदरूपा अति सुन्दर और पुरातन मूर्तिको धारण कर रक्खा है तथा जो परम पवित्र सत्त्वगुण शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञानादि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं—उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन हो सकता है ॥ २४ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'दैवं' इतना अंश खण्डित है । २. प्रा० पा०—तत्त्वं । ३. प्रा० पा०—निबोधनिष्ठाः । ४. प्रा० पा०—प्रमथास्तत्रापि । ५. प्रा० पा०—सुता हि तेषाम् । ६. प्रा० पा०—परं यत् । ७. प्रा० पा०—भूत्या ।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥२५॥
सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥२६॥[1]
मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥२७॥
श्रीशुक[2] उवाच

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित[3]शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज २८ जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ॥२९॥ तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथ-

मैं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ और अनन्त हूँ तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि देनेकी भी सामर्थ्य रखता हूँ; किंतु मेरे अकिञ्चन भक्त ऐसे निःस्पृह होते हैं कि वे मुझसे भी कभी कुछ नहीं चाहते; फिर राज्यादि अन्य वस्तुओंकी तो वे इच्छा ही कैसे कर सकते हैं ? ॥ २५ ॥

पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतोंको मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धिसे पद-पदपर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है ॥ २६ ॥ मन, वचन, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका साक्षात् फल मेरा इस प्रकारका पूजन ही है । इसके बिना मनुष्य अपनेको महामोहमय कालपाशसे छुड़ा नहीं सकता ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! ऋषभदेवजीके पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार सुशिक्षित थे, तो भी लोगोंको शिक्षा देनेके उद्देश्यसे महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान् ऋषभने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया । ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े थे । वे भगवान्के परम भक्त और भगवद्भक्तोंके परायण थे । ऋषभदेवजीने पृथ्वीका पालन करनेके लिये उन्हें राजगद्दीपर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियोंके भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मोंकी शिक्षा देनेके लिये बिलकुल विरक्त हो गये । केवल शरीरमात्रका परिग्रह रक्खा और सब कुछ घरपर रहते ही छोड़ दिया । अब वे वस्त्रोंका भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये । उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे । उन्मत्तका-सा वेष था । इस स्थितिमें वे आहवनीय (अग्निहोत्रकी) अग्नियोंको अपनेमें ही लीन करके संन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त देशसे बाहर निकल गये ॥ २८ ॥ वे सर्वथा मौन हो गये थे, कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे । जड, अंधे, बहरे, गूँगे, पिशाच और पागलोंकी-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे ॥ २९ ॥ कभी नगरों और गाँवोंमें चले जाते तो कभी खानों, किसानोंकी बस्तियों, बगीचों, पहाड़ी गाँवों, सेनाकी छावनियों, गोशालाओं, अहीरोंकी बस्तियों और यात्रियोंके टिकनेके

१. प्रा० पा०—दृग्भिस्तदिहार्पणं मे । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'ए' यह खण्डित है ।

मवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥३०॥

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाहुंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरताराऽरुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥ ३१ ॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रिया कर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स चेष्टमान

स्थानोंमें रहते। कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रम आदिमें विचरते। वे किसी भी रास्तेसे निकलते तो जिस प्रकार वनमें विचरनेवाले हाथीको मक्खियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्टलोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब कर देते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुनाकर उनका तिरस्कार करते। किंतु वे इन सब बातोंपर जरा भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि भ्रमसे सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीरमें उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चके साक्षी होकर अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे, इसलिये अखण्ड चित्तवृत्तिसे अकेले ही पृथ्वीपर विचरते रहते थे॥३०॥ यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लंबी-लंबी बाँहें, कंधे, गले और मुख आदि अङ्गोंकी बनावट बड़ी ही सुकुमार थी; उनका स्वभावसे ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुसकानसे और भी मनोहर जान पड़ता था; नेत्र नवीन कमलदलके समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे; उनकी पुतलियाँ शीतल एवं संतापहारिणी थीं। उन नेत्रोंके कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे। कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्दकी शोभाको देखकर पुरनारियोंके चित्तमें कामदेवका संचार हो जाता था; तथापि उनके मुखके आगे जो भूरे रंगकी लंबी-लंबी घुँघराली लटें लटकी रहती थीं, उनके महान् भार और अवधूतोंके समान धूलिधूसरित देहके कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्यके समान जान पड़ते थे॥ ३१ ॥

जब भगवान् ऋषभदेवने देखा कि यह जनता योग-साधनमें विघ्नरूप है और इससे बचनेका उपाय बीभत्सवृत्तिसे रहना ही है, तब उन्होंने अजगरवृत्ति धारण कर ली। वे लेटे-ही-लेटे खाने-पीने, चबाने और

१. प्रा० पा०—मदगज०। २. प्रा० पा०—बाहुंसयुगल०। ३. प्रा० पा०—शिशिरचार्वरुणायत०। ४. प्रा० पा०—जटिलालक०। ५. प्रा० पा०—प्रतिक्रियायां। ६. प्राचीन प्रतिमें 'हदति' यह पाठ नहीं है।

उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥ ३२ ॥ तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभिं चकार ॥३३॥ एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥३४॥ इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥३५॥

मल-मूत्र त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मलमें लोट-लोटकर शरीरको उससे सान लेते॥ ३२ ॥ (किंतु) उनके मलमें दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी और वायु उस सुगन्धको लेकर उनके चारों ओर दस योजनतक सारे देशको सुगन्धित कर देती थी ॥ ३३ ॥ इसी प्रकार गौ, मृग और काकादिकी वृत्तियोंको स्वीकार कर वे उन्हींके समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्रका त्याग करने लगते थे ॥ ३४ ॥ परीक्षित् ! परमहंसोंको त्यागके आदर्शकी शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान् ऋषभदेवने कई तरहकी योगचर्याओंका आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्दका अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टिमें निरुपाधिकरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका भेद नहीं था। इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाशगमन, मनोजवित्व (मनकी गतिके समान ही शरीरका भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अन्तर्धान, परकायप्रवेश (दूसरेके शरीरमें प्रवेश करना), दूरकी बातें सुन लेना और दूरके दृश्य देख लेना आदि सब प्रकारकी सिद्धियाँ अपने आप ही सेवा करनेको आयीं; परंतु उन्होंने उनका मनसे आदर या ग्रहण नहीं किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ऋषभदेवजीका देहत्याग

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरित-

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन् ! योगरूप वायुसे प्रज्वलित हुई ज्ञानाग्निसे जिनके रागादि कर्मबीज दग्ध हो गये हैं—उन आत्माराम मुनियोंको दैववश यदि स्वयं ही अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ, तो वे

१. प्रा० पा०—वायुस्तान्देशान् दशयोजनान् समन्तात्सुरभींश्चकार। २. प्रा० पा०—काकमृगगोवच्चरति पिबत्यवमेहति स्म। ३. प्रा० पा०—परकायावेशदूर०। ४. प्रा० पा० —भगवन्नात्मरामा०।

ज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते ॥ २ ॥ तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥
नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥ ४ ॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः ॥ ५ ॥

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम ।६। तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन

उनके राग-द्वेषादि क्लेशोंका कारण तो किसी प्रकार हो नहीं सकतीं । फिर भगवान् ऋषभने उन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया ? ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है; किंतु संसारमें जैसे चालाक व्याध अपने पकड़े हुए मृगका विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार बुद्धिमान् लोग इस चञ्चल चित्तका भरोसा नहीं करते ॥ २ ॥ ऐसा ही कहा भी है —'इस चञ्चल चित्तसे कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये । इसमें विश्वास करनेसे ही मोहिनीरूपमें फँसकर महादेवजीका चिरकालका संचित तप क्षीण हो गया था ॥ ३ ॥ जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जारपुरुषोंको अवकाश देकर उनके द्वारा अपनेमें विश्वास रखनेवाले पतिका वध करा देती है—उसी प्रकार जो योगी मनपर विश्वास करते हैं, उनका मन काम और उसके साथी क्रोधादि शत्रुओंको आक्रमण करनेका अवसर देकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ॥ ४ ॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और भय आदि शत्रुओंका तथा कर्म-बन्धनका मूल तो यह मन ही है; इसपर कोई भी बुद्धिमान् कैसे विश्वास कर सकता है ? ॥ ५ ॥

इसीसे भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालोंके भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड पुरुषोंकी भाँति अवधूतोंके-से विविध वेष, भाषा और आचरणसे अपने ईश्वरीय प्रभावको छिपाये रहते थे । अन्तमें उन्होंने योगियोंको देहत्यागकी विधि सिखानेके लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा । वे अपने अन्तः-करणमें अभेदरूपसे स्थित परमात्माको अभिन्नरूपसे देखते हुए वासनाओंकी अनुवृत्तिसे छूटकर लिङ्गदेहके अभिमानसे भी मुक्त होकर उपराम हो गये ॥ ६ ॥ इस प्रकार लिङ्गदेहके अभिमानसे मुक्त भगवान् ऋषभदेवजीका शरीर योगमायाकी वासनासे केवल अभिमानाभासके आश्रय ही इस पृथ्वीतलपर विचरता

१. प्रा० पा०—ज्ञानावर्जित० । २. प्राचीन प्रतिमें 'एके' यह पाठ खण्डित है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'ऽद्धा' यह पाठ नहीं है । ४. प्रा० पा०—मनवस्थानस्य योगिनः शठ० । ५. प्रा० पा०—संगच्छन्ति । ६. प्रा० पा०—कोऽत्र तद्बुधः । ७. प्राचीन प्रतिमें 'ऽपि' यह पाठ नहीं है । ८. प्रा० पा०—जडवदवधूतभाषा० । ९. प्रा० पा०—भावेनानुवीक्ष० । १०. प्रा० पा०—योगमायावासेन ।

संक्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान् यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्यकृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥ ७ ॥ अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह ॥ ८ ॥

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥ येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥ ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाऽऽश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ १२ ॥ तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ १३ ॥
अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः ।

रहा। वह दैववश कोङ्क, वेङ्क और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटकके देशोंमें गया और मुँहमें पत्थरका टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्तके समान दिगम्बररूपसे कुटकाचलके वनमें घूमने लगा ॥ ७ ॥ इसी समय झंझावातसे झकझोरे हुए बाँसोंके घर्षणसे प्रबल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वनको अपनी लाल-लाल लपटोंमें लेकर ऋषभदेवजीके सहित भस्म कर दिया ॥ ८ ॥

राजन्! जिस समय कलियुगमें अधर्मकी वृद्धि होगी, उस समय कोङ्क, वेङ्क और कुटक देशका मन्दमति राजा अर्हत् वहाँके लोगोंसे ऋषभदेवजीके आश्रमातीत आचरणका वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहणकर लोगोंके पूर्वसंचित पापफलरूप होनहारके वशीभूत हो भयरहित स्वधर्म-पथका परित्याग करके अपनी बुद्धिसे अनुचित और पाखण्डपूर्ण कुमार्गका प्रचार करेगा ॥ ९ ॥ उससे कलियुगमें देवमायासे मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्रविहित शौच और आचारको छोड़ बैठेंगे। अधर्मबहुल कलियुगके प्रभावसे बुद्धिहीन हो जानेके कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वरका तिरस्कार करनेवाले पाखण्डधर्मोंको मनमाने ढंगसे स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान् यज्ञपुरुषकी निन्दा करने लगेंगे ॥ १० ॥ वे अपनी इस नवीन अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रवृत्तिमें अन्धपरम्परासे विश्वास करके मतवाले रहनेके कारण स्वयं ही घोर नरकमें गिरेंगे ॥ ११ ॥

भगवान्‌का यह अवतार रजोगुणसे भरे हुए लोगोंको मोक्षमार्गकी शिक्षा देनेके लिये ही हुआ था ॥ १२ ॥ इसके गुणोंका वर्णन करते हुए लोग इन वाक्योंको कहा करते हैं—अहो! सात समुद्रोंवाली पृथ्वीके समस्त द्वीप और वर्षोंमें यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है, क्योंकि यहाँके लोग श्रीहरिके मङ्गलमय अवतार-चरित्रोंका गान करते हैं ॥ १३ ॥ अहो! महाराज प्रियव्रतका वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है,

१. प्रा० पा०—कोङ्कवेङ्क०। २. प्राचीन प्रतिमें 'श्म' यह अंश खण्डित है। ३. प्रा० पा०—वेणुनिघर्ष०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'कुटकानां' यह पाठ खण्डित है। ५. प्रा० पा०—येनेह वाव। ६. प्रा० पा०—यज्ञलोकपुरुषविदूषकाः। ७. प्रा० पा०—तथैव ह्यर्वाक्तनया। ८. प्रा० पा०—तथैवातत्त्वश स्तम०। ९. प्राचीन प्रतिमें 'स्वयमेव' यह पाठ नहीं है। १०. प्राचीन प्रतिमें 'ति' यह पाठ खण्डित है। ११. प्रा० पा०—शिक्षणार्थे। १२. प्राचीन प्रतिमें 'एतत्' यह अंश खण्डित है।

कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥१४॥
को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥१५॥

इति ह स सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥ १६ ॥ यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥ १७ ॥

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् १८
नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।

जिसमें पुराणपुरुष श्रीआदिनारायणने ऋषभावतार लेकर मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले पारमहंस्य धर्मका आचरण किया ॥ १४ ॥ अहो ! इन जन्मरहित भगवान् ऋषभदेवके मार्गपर कोई दूसरा योगी मनसे भी कैसे चल सकता है । क्योंकि योगीलोग जिन योगसिद्धियोंके लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें इन्होंने अपने-आप प्राप्त होनेपर भी असत् समझकर त्याग दिया था ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओंके परमगुरु भगवान् ऋषभदेवका यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया । यह मनुष्योंके समस्त पापोंको हरनेवाला है । जो मनुष्य इस परम मङ्गलमय पवित्र चरित्रको एकाग्रचित्तसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते हैं, उन दोनोंकी ही भगवान् वासुदेवमें अनन्य भक्ति हो जाती है ॥ १६ ॥ तरह-तरहके पापोंसे पूर्ण सांसारिक तापोंसे अत्यन्त तपे हुए अपने अन्तःकरणको पण्डितजन इस भक्ति-सरितामें ही नित्य-निरन्तर नहलाते रहते हैं । इससे उन्हें जो परम शान्ति मिलती है, वह इतनी आनन्दमयी होती है कि फिर वे लोग उसके सामने, अपने-ही-आप प्राप्त हुए मोक्षरूप परम पुरुषार्थका भी आदर नहीं करते । भगवान्के निजजन हो जानेसे ही उनके समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १७ ॥

राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवलोगोंके और यदुवंशियोंके रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे; यहाँतक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे । इसी प्रकार भगवान् दूसरे भक्तोंके भी अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परंतु मुक्तिसे भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहजमें नहीं देते ॥ १८ ॥

निरन्तर विषयभोगोंकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकालतक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोकका उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी

१. प्रा० पा०—को ह्यस्य । २. प्रा० पा०—विशुद्धाचरितं पुंसां० । ३. प्रा० पा०—वावहितस्तस्मिन् वासुदेव । ४. प्रा० पा०—नैवाद्रियन्ते । ५. प्रा० पा०—भगवत्तत्त्वेनैव । ६. प्राचीन प्रतिमें 'चित्' यह पाठ खण्डित है । ७. प्राचीन प्रतिमें 'त' यह अंश खण्डित है ।

लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥१९॥

प्राप्तिसे सब प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार है ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
ऋषभदेवानुचरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

भरत-चरित्र

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल-
परिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं
विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥१॥ तस्यामु ह वा आत्म-
जान् कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास
भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि ॥ २ ॥ सुमतिं राष्ट्रभृतं
सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति । अजनाभं नामैतद्वर्षं
भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥ ३ ॥
स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया
स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः
पर्यपालयत् ॥ ४ ॥ ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं
क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाऽऽहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-
चातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं
चातुर्होत्रविधिना ॥ ५ ॥ सम्प्रचरत्सु नानायागेषु
विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं
परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणा-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! महाराज भरत बड़े ही भगवद्भक्त थे। भगवान् ऋषभदेवने अपने संकल्पमात्रसे उन्हें पृथ्वीकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त कर दिया। उन्होंने उनकी आज्ञामें स्थित रहकर विश्वरूपकी कन्या पञ्चजनी-से विवाह किया ॥ १ ॥ जिस प्रकार तामस अहङ्कारसे शब्दादि पाँच भूततन्मात्र उत्पन्न होते हैं—उसी प्रकार पञ्चजनीके गर्भसे उनके सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नामक पाँच पुत्र हुए—जो सर्वथा उन्हींके समान थे। इस वर्षको, जिसका नाम पहले अजनाभवर्ष था, राजा भरतके समयसे ही 'भारतवर्ष' कहते हैं ॥ २-३ ॥

महाराज भरत बहुज्ञ थे। वे अपने-अपने कर्मोंमें लगी हुई प्रजाका अपने बाप-दादोंके समान स्वधर्ममें स्थित रहते हुए अत्यन्त वात्सल्यभावसे पालन करने लगे ॥ ४ ॥ उन्होंने होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंद्वारा कराये जानेवाले प्रकृति और विकृति* दोनों प्रकारके अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम आदि छोटे-बड़े क्रतुओं (यज्ञों) से यथासमय श्रद्धापूर्वक यज्ञ और क्रतुरूप श्रीभगवान्का यजन किया ॥ ५ ॥ इस प्रकार अङ्ग और क्रियाओंके सहित भिन्न-भिन्न यज्ञोंके अनुष्ठानके समय जब अध्वर्युगण आहुति देनेके लिये हवि हाथमें

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—सुदर्शनं वावरणं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'भं' यह पाठ खण्डित है। ४. प्रा० पा०—स ह बहुविन्महीपतिः। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मह' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—यज्ञक्रतुं क्रतुभिरुच्चा०। ७. प्रा० पा०—नानायोगेषु।

* प्रकृति और विकृति-भेदसे अग्निहोत्रादि क्रतु दो प्रकारके होते हैं। सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त क्रतुओंको 'प्रकृति' कहते हैं और जिनमें सब अङ्ग पूर्ण नहीं होते, किसी-न-किसी अङ्गकी कमी रहती है, उन्हें 'विकृति' कहते हैं।

मर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एवं भावयमान आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् ॥६॥ एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे[3] श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोच[4]मान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत ॥७॥ एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरो[5]ऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपै[6]तामहं यथादायं विभज्य स्वयंसकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात् पुलहाश्रमं प्रवव्राज ॥ ८ ॥ यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन संनिधाप्यत इच्छारूपेण ॥९॥ यत्राश्रमपदान्युभयतोनाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥ १० ॥

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं

लेते तो यजमान भरत उस यज्ञकर्मसे होनेवाले पुण्यरूप फलको यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवके अर्पण कर देते थे। वस्तुतः वे परब्रह्म ही इन्द्रादि समस्त देवताओंके प्रकाशक, मन्त्रोंके वास्तविक प्रतिपाद्य तथा उन देवताओंके भी नियामक होनेसे मुख्य कर्ता एवं प्रधान देव हैं। इस प्रकार अपनी भगवदर्पणबुद्धिरूप कुशलतासे हृदयके राग-द्वेषादि मलोंका मार्जन करते हुए वे सूर्यादि सभी यज्ञभोक्ता देवताओंका भगवान्‌के नेत्रादि अवयवोंके रूपमें चिन्तन करते थे ॥ ६ ॥ इस तरह कर्मकी शुद्धिसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब उन्हें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान, हृदयाकाशमें ही अभिव्यक्त होनेवाले, ब्रह्मस्वरूप एवं महापुरुषोंके लक्षणोंसे उपलक्षित भगवान् वासुदेवमें—जो श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, चक्र, शङ्ख और गदा आदिसे सुशोभित तथा नारदादि निजजनोंके हृदयोंमें चित्रके समान निश्चलभावसे स्थित रहते हैं—दिन-दिन वेगपूर्वक बढ़नेवाली उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त हुई ॥ ७ ॥

इस प्रकार एक करोड़ वर्ष निकल जानेपर उन्होंने राज्यभोगका प्रारब्ध क्षीण हुआ जानकर अपनी भोगी हुई वंशपरम्परागत सम्पत्तिको यथायोग्य पुत्रोंमें बाँट दिया। फिर अपने सर्वसम्पत्तिसम्पन्न राजमहलसे निकलकर वे पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र) में चले आये ॥ ८ ॥ इस पुलहाश्रममें रहनेवाले भक्तोंपर भगवान्‌का बड़ा ही वात्सल्य है। वे आज भी उनसे उनके इष्टरूपमें मिलते रहते हैं ॥ ९ ॥ वहाँ चक्रनदी (गण्डकी) नामकी प्रसिद्ध सरिता चक्राकार शालग्राम-शिलाओंसे, जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर नाभिके समान चिह्न होते हैं, सब ओरसे ऋषियोंके आश्रमोंको पवित्र करती रहती है ॥ १० ॥

उस पुलहाश्रमके उपवनमें एकान्त स्थानमें अकेले ही रहकर वे अनेक प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल-फलादि उपहारोंसे भगवान्‌की

---

१. प्रा० पा०—एवम् । २. प्रा० पा०—कर्मविशुद्धिः सत्त्वस्यान्तर्हृदयाका० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'णे' यह अंश खण्डित है। ४. प्रा० पा०—विराजमान० । ५. प्रा० पा०—वसरो विभुज्यमानं तनयेभ्यः पितृ० । ६. प्राचीन प्रतिमें 'पै' यह अंश खण्डित है। ७. प्रा० पा०—पुलहाश्रममेष प्र० । ८. प्राचीन प्रतिमें 'प्य' यह अंश खण्डित है। ९. प्रा० पा०—तस्मिन्नेव वाव किल स एव आश्रमोपवने ।

विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप ॥ ११ ॥ तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं[1] निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार ॥ १२ ॥ इत्थं धृतभगवद्व्रत[2]ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥ १३ ॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः[3] पुनराविश्य चष्टे
हंसं[4] गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥ १४ ॥

आराधना करने लगे । इससे उनका अन्तःकरण समस्त विषयाभिलाषाओंसे निवृत्त होकर शान्त हो गया और उन्हें परम आनन्द प्राप्त हुआ ॥ ११ ॥ इस प्रकार जब वे नियमपूर्वक भगवान्‌की परिचर्या करने लगे, तब उससे प्रेमका वेग बढ़ता गया—जिससे उनका हृदय द्रवीभूत होकर शान्त हो गया, आनन्दके प्रबल वेगसे शरीरमें रोमाञ्च होने लगा तथा उत्कण्ठाके कारण नेत्रोंमें प्रेमके आँसू उमड़ आये, जिससे उनकी दृष्टि रुक गयी । अन्तमें जब अपने प्रियतमके अरुण चरणारविन्दोंके ध्यानसे भक्तियोगका आविर्भाव हुआ, तब परमानन्दसे सराबोर हृदयरूप गम्भीर सरोवरमें बुद्धिके डूब जानेसे उन्हें उस नियमपूर्वक की जानेवाली भगवत्पूजाका भी स्मरण न रहा ॥ १२ ॥ इस प्रकार वे भगवत्सेवाके नियममें ही तत्पर रहते थे, शरीरपर कृष्णमृगचर्म धारण करते थे तथा त्रिकालस्नानके कारण भीगते रहनेसे उनके केश भूरी-भूरी घुँघराली लटोंमें परिणत हो गये थे, जिनसे वे बड़े ही सुहावने लगते थे । वे उदित हुए सूर्यमण्डलमें सूर्यसम्बन्धिनी ऋचाओंद्वारा ज्योतिर्मय परमपुरुष भगवान् नारायणकी आराधना करते और इस प्रकार कहते—॥ १३ ॥ 'भगवान् सूर्यका कर्मफलदायक तेज प्रकृतिसे परे है । उसीने सङ्कल्पद्वारा इस जगत्‌की उत्पत्ति की है । फिर वही अन्तर्यामीरूपसे इसमें प्रविष्ट होकर अपनी चित्-शक्तिद्वारा विषयलोलुप जीवोंकी रक्षा करता है । हम उसी बुद्धिप्रवर्तक तेजकी शरण लेते हैं' ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
भरतचरिते भगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

भरतजीका मृगके मोहमें फँसकर मृग-योनिमें जन्म लेना

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—एक बार भरतजी गण्डकीमें स्नान कर नित्य-नैमित्तिक तथा शौचादि अन्य आवश्यक

१. प्राचीन प्रतिमें 'एवं' यह पाठ नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें 'ऐणेयाजिनवास०...'से आरम्भकर 'तिष्ठन्नेतदु होवाच' पर्यन्त अंश छूट गया है । ३. प्रा० पा०—स्वतेजसादः पुनरा० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'हंसं' यह पाठ खण्डित है ।

ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्ते[1] उपविवेश ॥१॥ तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम[2] ॥ २ ॥ तया पेपीयमान उदके[3] तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत् ॥३॥ तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात् सहसैवोच्चक्राम ॥ ४ ॥

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो[4] गर्भः स्रोतसि निपपात ॥ ५ ॥ तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा[5] स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ[6] च ममार ॥ ६ ॥

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया[7] राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥७॥ तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥ ८ ॥ अहो बतायं हरिणकुणकः

कृत्योंसे निवृत्त हो प्रणवका जप करते हुए तीन मुहूर्त्ततक नदीकी धाराके पास बैठे रहे ॥ १ ॥ राजन्! इसी समय एक हरिनी प्याससे व्याकुल हो जल पीनेके लिये अकेली ही उस नदीके तीरपर आयी ॥ २ ॥ अभी वह जल पी ही रही थी कि पास ही गरजते हुए सिंहकी लोकभयंकर दहाड़ सुनायी पड़ी ॥ ३ ॥ हरिन जाति तो स्वभावसे ही डरपोक होती है। वह पहले ही चौकन्नी होकर इधर-उधर देखती जाती थी। अब ज्यों ही उसके कानमें वह भीषण शब्द पड़ा कि सिंहके डरके मारे उसका कलेजा धड़कने लगा और नेत्र कातर हो गये। प्यास अभी बुझी न थी, किंतु अब तो प्राणोंपर आ बनी थी। इसलिये उसने भयवश एकाएकी नदी पार करनेके लिये छलाँग मारी ॥ ४ ॥

उसके पेटमें गर्भ था, अतः उछलते समय अत्यन्त भयके कारण उसका गर्भ अपने स्थानसे हटकर योनिद्वारसे निकलकर नदीके प्रवाहमें गिर गया ॥ ५ ॥ वह कृष्णमृगपत्नी अकस्मात् गर्भके गिर जाने, लंबी छलाँग मारने तथा सिंहसे डरी होनेके कारण बहुत पीड़ित हो गयी थी। अब अपने झुंडसे भी उसका बिछोह हो गया, इसलिये वह किसी गुफामें जा पड़ी और वहीं मर गयी ॥ ६ ॥

राजर्षि भरतने देखा कि बेचारा हरिनीका बच्चा अपने बन्धुओंसे बिछुड़कर नदीके प्रवाहमें बह रहा है। इससे उन्हें उसपर बड़ी दया आयी और वे आत्मीयके समान उस मातृहीन बच्चेको अपने आश्रमपर ले आये ॥ ७ ॥ उस मृगछौनेके प्रति भरतजीकी ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। वे नित्य उसके खाने-पीनेका प्रबन्ध करने, व्याघ्रादिसे बचाने, लाड़ लड़ाने और पुचकारने आदिकी चिन्तामें ही डूबे रहने लगे। कुछ ही दिनोंमें उनके यम, नियम और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य एक-एक करके छूटने लगे और अन्तमें सभी छूट गये ॥ ८ ॥ उन्हें ऐसा विचार रहने

१. प्रा० पा०—मुदकान्तम्। २. प्राचीन प्रतिमें 'श' यह अंश खण्डित है। ३. प्रा० पा०—तया पीयमान उदके। ४. प्राचीन प्रतिमें 'योनिनिर्गतः' यह पाठ नहीं है। ५. प्राचीन प्रतिमें 'तत्प्रसव' यह अंश नहीं है। ६. प्रा० पा०—पपाताथ च। ७. प्रा० पा०—रिवानुकम्पितया।

कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्व[1]गणसुहृद्[2]-बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च[3] मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय[4] नान्यं कञ्चन वेद [5]मय्यतिविस्रब्ध[6]श्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा ॥ ९ ॥ नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ १० ॥

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्थाना[7]शनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ।११। कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृ[8]कसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति[9] ॥१२॥ पथिषु च मुग्धभावेन[10] तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप ॥१३॥ क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति ॥ १४ ॥

अन्यदा [11]भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणक-

लगा—'अहो ! कैसे खेदकी बात है ! इस बेचारे दीन मृगछौनेको कालचक्रके वेगने अपने झुंड, सुहृद् और बन्धुओंसे दूर करके मेरी शरणमें पहुँचा दिया है । यह मुझे ही अपना माता-पिता, भाई-बन्धु और यूथके साथी-सङ्गी समझता है । इसे मेरे सिवा और किसीका पता नहीं है और मुझमें इसका विश्वास भी बहुत है । मैं भी शरणागतकी उपेक्षा करनेमें जो दोष हैं, उन्हें जानता हूँ । इसलिये मुझे अब अपने इस आश्रितका सब प्रकारकी दोष-बुद्धि छोड़कर अच्छी तरह पालन-पोषण और प्यार-दुलार करना चाहिये ॥ ९ ॥ निश्चय ही शान्त-स्वभाव और दीनोंकी रक्षा करनेवाले परोपकारी सज्जन ऐसे शरणागतकी रक्षाके लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थकी भी परवा नहीं करते' ॥ १० ॥

इस प्रकार उस हरिनके बच्चेमें आसक्ति बढ़ जानेसे बैठते, सोते, टहलते, ठहरते और भोजन करते समय भी उनका चित्त उसके स्नेहपाशमें बँधा रहता था ॥ ११ ॥ जब उन्हें कुश, पुष्प, समिधा, पत्र और फल-मूलादि लाने होते तो भेड़ियों और कुत्तोंके भयसे उसे वे साथ लेकर ही वनमें जाते ॥ १२ ॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ कोमल घास आदिको देखकर मुग्धभावसे वह हरिणशावक अटक जाता तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदयसे दयावश उसे अपने कंधेपर चढ़ा लेते । इसी प्रकार कभी गोदमें लेकर और कभी छातीसे लगाकर उसका दुलार करनेमें भी उन्हें बड़ा सुख मिलता ॥१३॥ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते समय भी राजराजेश्वर भरत बीच-बीचमें उठ-उठकर उस मृगबालकको देखते और जब उसपर उनकी दृष्टि पड़ती तभी उनके चित्तको शान्ति मिलती । उस समय उनके लिये मङ्गलकामना करते हुए वे कहने लगते—'बेटा ! तेरा सर्वत्र कल्याण हो' ॥ १४ ॥

कभी यदि वह दिखायी न देता तो जिसका धन लुट गया हो, उस दीन मनुष्यके समान उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो जाता और फिर वे उस हरिनीके

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्व' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—सुहृद्बन्धुभिः । ३. प्रा० पा०—शरणं ममोपसादितो । ४. प्राचीन प्रतिमें 'याय' यह अंश खण्डित है । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मय्य' यह अंश खण्डित है । ६. प्रा० पा०—मय्यधिश्रब्ध एवं । ७. प्रा० पा०—नाटनकुसुमकुशाशनादिषु सह मृगजातिना । ८. प्रा० पा०—वृकशा० । ९. प्रा० पा०—समाविशत् । १०. प्रा० पा०—शुद्धभावेन । ११. प्रा० पा०—तु भृश० ।

विरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच ।१५। अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन् सुजन इवागमिष्यति ।१६। अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ।१७। अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति ।।१८।। निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति ।१९। अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन् ।। २० ।। क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनाऽऽमीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति ।।२१।। आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते ।। २२ ।।

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्या नया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविण-

बच्चेके विरहसे व्याकुल एवं संतप्त हो करुणावश अत्यन्त उत्कण्ठित एवं मोहाविष्ट हो जाते तथा शोकमग्न होकर इस प्रकार कहने लगते ॥ १५ ॥ 'अहो ! क्या कहा जाय ? क्या वह मातृहीन दीन मृगशावक दुष्ट बहेलियेकी-सी बुद्धिवाले मुझ पुण्यहीन अनार्यका विश्वास करके और मुझे अपना मानकर मेरे किये हुए अपराधोंको सत्पुरुषोंके समान भूलकर फिर लौट आयेगा ? ॥ १६ ॥ क्या मैं उसे फिर इस आश्रमके उपवनमें भगवान्‌की कृपासे सुरक्षित रहकर निर्विघ्न हरी-हरी दूब चरते देखूँगा ? ॥ १७ ॥ ऐसा न हो कि कोई भेड़िया, कुत्ता, गोल बाँधकर विचरनेवाले सूकरादि अथवा अकेले घूमनेवाले व्याघ्रादि ही उसे खा जायँ ॥१८॥ अरे ! सम्पूर्ण जगत्‌की कुशलके लिये प्रकट होनेवाले वेदत्रयीरूप भगवान् सूर्य अस्त होना चाहते हैं; किंतु अभीतक वह मृगीकी धरोहर लौटकर नहीं आयी ! ॥ १९ ॥ क्या वह हरिणराजकुमार मुझ पुण्यहीनके पास आकर अपनी भाँति-भाँतिकी मृगशावकोचित मनोहर एवं दर्शनीय क्रीडाओंसे अपने स्वजनोंका शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा ? ॥ २० ॥ अहो ! जब कभी मैं प्रणयकोपसे खेलमें झूठ-मूठ समाधिके बहाने आँखें मूँदकर बैठ जाता, तब वह चकितचित्तसे मेरे पास आकर जलबिन्दुके समान कोमल और नन्हे-नन्हे सींगोंकी नोकसे किस प्रकार मेरे अङ्गोंको खुजलाने लगता था ॥ २१ ॥ मैं कभी कुशोंपर हवनसामग्री रख देता और वह उन्हें दाँतोंसे खींचकर अपवित्र कर देता तो मेरे डाँटने-डपटनेपर वह अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय सारी उछल-कूद छोड़ देता और ऋषिकुमारके समान अपनी समस्त इन्द्रियोंको रोककर चुपचाप बैठ जाता था ॥ २२ ॥

[फिर पृथ्वीपर उस मृगशावकके खुरके चिह्न देखकर कहने लगते —] 'अहो ! इस तपस्विनी धरतीने ऐसा कौन-सा तप किया है जो उस अतिविनीत कृष्णसारकिशोरके छोटे-छोटे सुन्दर, सुखकारी और सुकोमल

१. प्रा० पा०—शठकितवमतेरकृतसुकृतस्य । २. प्रा० पा०—स्वजन इवा० । ३. प्रा० पा०—सस्यानि । ४. प्रा० पा०—अपि न वृकः शालावृको वा । ५. प्रा० पा०—नैकचरो वा भक्षयति । ६. प्रा० पा०—निम्लोचयति । ७. प्रा० पा०—आवृत्य । ८. प्रा० पा०—सपद्युपरतराग ।

विधुरातुरस्य कृपणस्य मर्म द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति ॥ २३ ॥ अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥२४॥ किं वाऽऽत्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति चे ॥ २५ ॥

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ।२६। तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवा-

खुरोंवाले चरणोंके चिह्नोंसे मुझे, जो मैं अपना मृगधन लुट जानेसे अत्यन्त व्याकुल और दीन हो रहा हूँ, उस द्रव्यकी प्राप्तिका मार्ग दिखा रही है और स्वयं अपने शरीरको भी सर्वत्र उन पदचिह्नोंसे विभूषित कर स्वर्ग और अपवर्गके इच्छुक द्विजोंके लिये यज्ञस्थल* बना रही है ॥ २३ ॥ (चन्द्रमामें मृगका-सा श्याम चिह्न देख उसे अपना ही मृग मानकर कहने लगते—) 'अहो ! जिसकी माता सिंहके भयसे मर गयी थी; आज वही मृगशिशु अपने आश्रमसे बिछुड़ गया है । अतः उसे अनाथ देखकर क्या ये दीनवत्सल भगवान् नक्षत्रनाथ दयावश उसकी रक्षा कर रहे हैं ? ॥ २४ ॥ [फिर उसकी शीतल किरणोंसे आह्लादित होकर कहने लगते—] 'अथवा अपने पुत्रोंके वियोगरूप दावानलकी विषम ज्वालासे हृदयकमल दग्ध हो जानेके कारण मैंने एक मृगबालकका सहारा लिया था । अब उसके चले जानेसे फिर मेरा हृदय जलने लगा है; इसलिये ये अपनी शीतल, शान्त, स्नेहपूर्ण और वदनसलिलरूपा अमृतमयी किरणोंसे मुझे शान्त कर रहे हैं' ॥ २५ ॥

राजन् ! इस प्रकार जिनका पूरा होना सर्वथा असम्भव था, उन विविध मनोरथोंसे भरतका चित्त व्याकुल रहने लगा । अपने मृगशावकके रूपमें प्रतीत होनेवाले प्रारब्धकर्मके कारण तपस्वी भरतजी भगवदाराधनरूप कर्म एवं योगानुष्ठानसे च्युत हो गये । नहीं तो, जिन्होंने मोक्षमार्गमें साक्षात् विघ्नरूप समझकर अपने ही हृदयसे उत्पन्न दुस्त्यज पुत्रादिको भी त्याग दिया था, उन्हींकी अन्यजातीय हरिणशिशुमें ऐसी आसक्ति कैसे हो सकती थी । इस प्रकार राजर्षि भरत विघ्नोंके वशीभूत होकर योगसाधनसे भ्रष्ट हो गये और उस मृगछौनेके पालन-पोषण और लाड़-प्यारमें ही लगे रहकर आत्मस्वरूपको भूल गये । इसी समय जिसका टलना अत्यन्त कठिन है, वह प्रबल वेगशाली कराल काल, चूहेके बिलमें जैसे सर्प घुस आये, उसी प्रकार उनके सिरपर चढ़ आया ॥ २६ ॥ उस समय भी वह हरिण-

१. प्रा० पा०—मे । २. प्राचीन प्रतिमें 'च' यह पाठ नहीं है ।

* शास्त्रोंमें उल्लेख आता है कि जिस भूमिमें कृष्णमृग विचरते हैं, वह अत्यन्त पवित्र और यज्ञानुष्ठानके योग्य होती है ।

नुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशित-
मना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतं-
मनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप
॥ २७ ॥ तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं
भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनु-
तप्यमान आह ॥२८॥ अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवता-
मनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्य-
शरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति
वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानु-
स्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन
समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममा-
बुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव ॥ २९ ॥

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं
मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं
शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्या-
जगाम ॥ ३० ॥ तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः
सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्ण-
तृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव
गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज ॥ ३१ ॥

शावक उनके पास बैठा पुत्रके समान शोकातुर हो रहा था। वे उसे इस स्थितिमें देख रहे थे और उनका चित्त उसीमें लग रहा था। इस प्रकारकी आसक्तिमें ही मृगके साथ उनका शरीर भी छूट गया। तदनन्तर उन्हें अन्तकालकी भावनाके अनुसार अन्य साधारण पुरुषोंके समान मृगशरीर ही मिला। किंतु उनकी साधना पूरी थी, इससे उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई ॥ २७ ॥ उस योनिमें भी पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे अपने मृगरूप होनेका कारण जानकर वे अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे ॥ २८ ॥ 'अहो! बड़े खेदकी बात है, मैं संयमशील महानुभावोंके मार्गसे पतित हो गया! मैंने तो धैर्यपूर्वक सब प्रकारकी आसक्ति छोड़कर एकान्त और पवित्र वनका आश्रय लिया था। वहाँ रहकर जिस चित्तको मैंने सर्वभूतात्मा श्रीवासुदेवमें, निरन्तर उन्हींके गुणोंका श्रवण, मनन और सङ्कीर्तन करके तथा प्रत्येक पलको उन्हींकी आराधना और स्मरणादिसे सफल करके स्थिरभावसे पूर्णतया लगा दिया था, मुझ अज्ञानीका वही मन अकस्मात् एक नन्हें-से हरिण-शिशुके पीछे अपने लक्ष्यसे च्युत हो गया!' ॥ २९ ॥

इस प्रकार मृग बने हुए राजर्षि भरतके हृदयमें जो वैराग्य-भावना जाग्रत् हुई, उसे छिपाये रखकर उन्होंने अपनी माता मृगीको त्याग दिया और अपनी जन्मभूमि कालञ्जर पर्वतसे वे फिर शान्तस्वभाव मुनियोंके प्रिय उसी शालग्रामतीर्थमें जो भगवान्‌का क्षेत्र है, पुलस्त्य और पुलह ऋषिके आश्रमपर चले आये ॥ ३० ॥ वहाँ रहकर भी वे कालकी ही प्रतीक्षा करने लगे। आसक्तिसे उन्हें बड़ा भय लगने लगा था। बस, अकेले रहकर वे सूखे पत्ते, घास और झाड़ियोंद्वारा निर्वाह करते मृगयोनिकी प्राप्ति करानेवाले प्रारब्धके क्षयकी बाट देखते रहे। अन्तमें उन्होंने अपने शरीरका आधा भाग गण्डकीके जलमें डुबाये रखकर उस मृगशरीरको छोड़ दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

१. प्रा० पा०—कलेवरं न नु मृतजन्मा० । २. प्राचीन प्रतिमें 'रि' यह पाठ खण्डित है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'आ' यह अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—सकलकालेन । ५. प्रा० पा०—निरूढनिर्वेदो । ६. प्रा० पा०—मुनिगणार्चितं दयितं । ७. प्रा० पा०—पञ्चमे स्कन्धे आदिभरतचरितेऽष्ट० ।

अथ नवमोऽध्यायः

भरतजीका ब्राह्मणकुलमें जन्म

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद् द्विजवरस्याङ्गिरःप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्यागसंतोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुतशीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम् ॥ १ ॥ यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः ।२। तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृंशमुद्विजमानो[1] भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण[2] दर्शयामास लोकस्य ॥ ३ ॥

तस्यापि ह वा आत्मजस्य[3] विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आ समावर्तनात्संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन् कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति ॥ ४ ॥ स चापि तदु ह पितृसंनिधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन्

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! आङ्गिरस गोत्रमें शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग (अतिथि आदिको अन्न देना), संतोष, तितिक्षा, विनय, विद्या (कर्मविद्या), अनसूया (दूसरोंके गुणोंमें दोष न ढूँढ़ना), आत्मज्ञान (आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका ज्ञान) एवं आनन्द (धर्मपालनजनित सुख) सभी गुणोंसे सम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे । उनकी बड़ी स्त्रीसे उन्हींके समान विद्या, शील, आचार, रूप और उदारता आदि गुणोंवाले नौ पुत्र हुए तथा छोटी पत्नीसे एक ही साथ एक पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ ॥ १ ॥ इन दोनोंमें जो पुरुष था, वह परम भागवत राजर्षिशिरोमणि भरत ही थे । वे मृगशरीरका परित्याग करके अन्तिम जन्ममें ब्राह्मण हुए थे—ऐसा महापुरुषोंका कथन है ॥२॥ इस जन्ममें भी भगवान्‌की कृपासे अपनी पूर्व-जन्मपरम्पराका स्मरण रहनेके कारण, वे इस आशङ्कासे कि कहीं फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय, अपने स्वजनोंके सङ्गसे भी बहुत डरते थे । हर समय, जिनका श्रवण-स्मरण और गुणकीर्तन सब प्रकारके कर्मबन्धनको काट देता है, श्रीभगवान्‌के उन युगल चरणकमलोंको ही हृदयमें धारण किये रहते तथा दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको पागल, मूर्ख, अन्धे और बहरेके समान दिखाते ॥ ३ ॥

पिताका तो उनमें भी वैसा ही स्नेह था । इसलिये ब्राह्मणदेवताने अपने पागल पुत्रके भी शास्त्रानुसार समावर्तनपर्यन्त विवाहसे पूर्वके सभी संस्कार करनेके विचारसे उनका उपनयनसंस्कार किया । यद्यपि वे चाहते नहीं थे तो भी पिताका कर्तव्य है कि पुत्रको शिक्षा दे, इस शास्त्रविधिके अनुसार उन्होंने उन्हें शौच-आचमन आदि आवश्यक कर्मोंकी शिक्षा दी ॥ ४ ॥ किंतु भरतजी तो पिताके सामने ही उनके उपदेशके विरुद्ध आचरण करने लगते थे । पिता चाहते थे कि वर्षाकालमें इसे वेदाध्ययन आरम्भ करा दूँ । किंतु

१. प्राचीन प्रतिमें 'भृंशमुद्विजमानो' यह पाठ छूट गया है । २. प्रा० पा०—मत्तजडबधिरस्वरूपेण । ३. प्रा० पा०—आत्मजस्य स विप्रः ।

सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास ॥ ५ ॥

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः ॥ ६ ॥ अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात् ॥ ७ ॥

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त ८ स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम् । नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष

वसन्त और ग्रीष्मऋतुके—चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ—चार महीनोंतक पढ़ाते रहनेपर भी वे इन्हें व्याहृति और शिरोमन्त्रप्रणवके सहित त्रिपदा गायत्री भी अच्छी तरह याद न करा सके ॥ ५ ॥

ऐसा होनेपर भी अपने इस पुत्रमें उनका आत्माके समान अनुराग था। इसलिये उसकी प्रवृत्ति न होनेपर भी ये 'पुत्रको अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिये' इस अनुचित आग्रहसे उसे शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्याश्रमके आवश्यक नियमोंकी शिक्षा देते ही रहे। किंतु अभी पुत्रको सुशिक्षित देखनेका उनका मनोरथ पूरा न हो पाया था और स्वयं भी भगवद्भजनरूप अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान रहकर केवल घरके धंधोंमें ही व्यस्त थे कि सदा-सजग रहनेवाले कालभगवान्‌ने आक्रमण करके उनका अन्त कर दिया ॥ ६ ॥ तब उनकी छोटी भार्या अपने गर्भसे उत्पन्न हुए दोनों बालक अपनी सौतको सौंपकर स्वयं सती होकर पतिलोकको चली गयी ॥ ७ ॥

भरतजीके भाई कर्मकाण्डको सबसे श्रेष्ठ समझते थे। वे ब्रह्मज्ञानरूप पराविद्यासे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिये उन्हें भरतजीका प्रभाव भी ज्ञात नहीं था, वे उन्हें निरा मूर्ख समझते थे। अतः पिताके परलोक सिधारनेपर उन्होंने उन्हें पढ़ाने-लिखानेका आग्रह छोड़ दिया ॥ ८ ॥ भरतजीको मानापमानका कोई विचार न था। जब साधारण नर-पशु उन्हें पागल, मूर्ख अथवा बहरा कहकर पुकारते तब वे भी उसीके अनुरूप भाषण करने लगते। कोई भी उनसे कुछ भी काम कराना चाहते, तो वे उनकी इच्छाके अनुसार कर देते। बेगारके रूपमें, मजदूरीके रूपमें माँगनेपर अथवा बिना माँगे जो भी थोड़ा-बहुत अच्छा या बुरा अन्न उन्हें मिल जाता, उसीको जीभका जरा भी स्वाद न देखते हुए खा लेते। अन्य किसी कारणसे उत्पन्न न होनेवाला स्वतःसिद्ध केवल ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया था; इसलिये शीतोष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वोंसे होनेवाले सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी ॥ ९ ॥ वे सर्दी,

१. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें 'कान्' यह पाठ खण्डित है। २. प्रा० पा०—स्वयं गृहे प्रमत्त। ३. प्रा० पा०—निर्बन्धान्न्यवृत्स्यन्त। ४. प्रा० पा०—नित्यवृत्तिनिमित्त०।

इवानीवृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥१०॥ यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति ॥ ११ ॥

अथ कदाचित्कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः ॥ १२ ॥ तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसाऽऽवृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन् ॥१३॥ अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्म-

गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँड़के समान नंगे पड़े रहते थे। उनके सभी अङ्ग हृष्ट-पुष्ट एवं गठे हुए थे। वे पृथ्वीपर ही पड़े रहते थे, कभी तेल-उबटन आदि नहीं लगाते थे और न कभी स्नान ही करते थे, इससे उनके शरीरपर मैल जम गयी थी। उनका ब्रह्मतेज धूलिसे ढके हुए मूल्यवान् मणिके समान छिप गया था। वे अपनी कमरमें एक मैला-कुचैला कपड़ा लपेटे रहते थे। उनका यज्ञोपवीत भी बहुत ही मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानी जनता 'यह कोई द्विज है', 'कोई अधम ब्राह्मण है' ऐसा कहकर उनका तिरस्कार कर दिया करती थी, किंतु वे इसका कोई विचार न करके स्वच्छन्द विचरते थे ॥ १० ॥ दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख जब उन्हें उनके भाइयोंने खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तब वे उस कार्यको भी करने लगे। परंतु उन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान न था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची, अथवा वह छोटी है या बड़ी। उनके भाई उन्हें चावलकी कनी, खली, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई जले अन्नकी खुरचन—जो कुछ भी दे देते, उसीको वे अमृतके समान खा लेते थे ॥ ११ ॥

किसी समय डाकुओंके सरदारने, जिसके सामन्त शूद्र जातिके थे, पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका संकल्प किया ॥ १२ ॥ उसने जो पुरुष-पशु बलि देनेके लिये पकड़ मँगाया था, वह दैववश उसके फंदेसे निकलकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके सेवक चारों ओर दौड़े; किंतु अँधेरी रातमें आधी रातके समय कहीं उसका पता न लगा। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् उनकी दृष्टि इन आङ्गिरसगोत्रीय ब्राह्मणकुमारपर पड़ी, जो वीरासनसे बैठे हुए मृग-वराहादि जीवोंसे खेतोंकी रखवाली कर रहे थे ॥ १३ ॥ उन्होंने देखा कि यह पशु तो बड़े अच्छे लक्षणोंवाला है, इससे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा।

१. प्रा० पा०—इवापावृताङ्गः। २. प्रा० पा०—बन्धुरिति संज्ञोऽतज्ज्ञ०। ३. प्रा० पा०—वेतन ईहमानः। ४. प्राचीन प्रतिमें 'र्म' यह अंश खण्डित है। ५. प्रा० पा०—भद्रकाल्यै पशुमालभता। ६. प्राचीन प्रतिमें 'नि' यह अंश खण्डित है।

निष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः ॥ १४ ॥

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाऽऽच्छाद्य भूषणालेपस्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च[2] पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः ॥ १५ ॥ अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे ॥१६॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं[3] तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली ॥१७॥ भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं[6] महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां[8]

यह सोचकर उनका मुख आनन्दसे खिल उठा और वे उन्हें रस्सियोंसे बाँधकर चण्डिकाके मन्दिरमें ले आये ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन चोरोंने अपनी पद्धतिके अनुसार विधिपूर्वक उनको अभिषेक एवं स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषण, चन्दन, माला और तिलक आदिसे विभूषित कर अच्छी तरह भोजन कराया। फिर धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अङ्कुर और फल आदि उपहार-सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे गान, स्तुति और मृदङ्ग एवं ढोल आदिका महान् शब्द करते उस पुरुष-पशुको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराके बैठा दिया ॥ १५ ॥ इसके पश्चात् दस्युराजके पुरोहित बने हुए लुटेरेने उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवीमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण खड्ग उठाया ॥ १६ ॥

चोर स्वभावसे तो रजोगुणी-तमोगुणी थे ही, धनके मदसे उनका चित्त और भी उन्मत्त हो गया था। हिंसामें भी उनकी स्वाभाविक रुचि थी। इस समय तो वे भगवान्के अंशस्वरूप ब्राह्मणकुलका तिरस्कार करके स्वच्छन्दतासे कुमार्गकी ओर बढ़ रहे थे। आपत्तिकालमें भी जिस हिंसाका अनुमोदन किया गया है, उसमें भी ब्राह्मण-वधका सर्वथा निषेध है, तो भी वे साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए वैरहीन तथा समस्त प्राणियोंके सुहृद् एक ब्रह्मर्षिकुमारकी बलि देना चाहते थे। यह भयंकर कुकर्म देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्तिको फोड़कर प्रकट हो गयीं ॥ १७ ॥ अत्यन्त असहनशीलता और क्रोधके कारण उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं तथा कराल दाढ़ों और चढ़ी हुई लाल आँखोंके कारण उनका चेहरा बड़ा भयानक जान पड़ता था। उनके उस विकराल वेषको देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे इस संसारका संहार कर डालेंगी। उन्होंने क्रोधसे तड़ककर बड़ा भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन सारे

१. प्रा० पा०—लाजा०। २. प्रा० पा०—च तं पुरुष०। ३. प्रा० पा०—मालभनं। ४. प्रा० पा०—सहसोत्थाप्य बाढं। ५. प्रा० पा०—नृशंसामर्षरोषावेशसमुत्थभ्रुकुटि०। ६. प्रा० पा०—हन्तुकामैवेदं। ७. प्रा० पा०—महाट्टहाससंरम्भेण। ८. प्रा० पा०—वृषलानां।

तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च[1] विजहार च शिरःकन्दुकलीलया ॥१८॥ एवमेव[2] खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने[3] फलति ॥१९॥

पापियोंके सिर उड़ा दिये और अपने गणोंके सहित उनके गलेसे बहता हुआ गरम-गरम रुधिररूप आसव पीकर अति उन्मत्त हो ऊँचे स्वरसे गाती और नाचती हुई उन सिरोंकी ही गेंद बनाकर खेलने लगीं ॥ १८ ॥ सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है ॥ १९ ॥

न वा एतद्विष्णुदत्त[4] महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभाव[5]सुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तै[6]र्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भय[7]मुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम् ॥ २० ॥

परीक्षित् ! जिनकी देहाभिमानरूप सुदृढ़ हृदयग्रन्थि छूट गयी है, जो समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा तथा वैरहीन हैं, साक्षात् भगवान् ही भद्रकाली आदि भिन्न-भिन्न रूप धारण करके अपने कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूप श्रेष्ठ शस्त्रसे जिनकी रक्षा करते हैं और जिन्होंने भगवान्‌के निर्भय चरणकमलोंका आश्रय ले रक्खा है—उन भगवद्भक्त परमहंसोंके लिये अपना सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकार व्याकुल न होना—यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
जडभरतचरिते नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते[8] रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषण[9][10]समये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा[11] युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्व-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! एक बार सिन्धुसौवीर देशका स्वामी राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर जा रहा था । जब वह इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचा तब उसकी पालकी उठानेवाले कहारोंके जमादारको एक कहारकी आवश्यकता पड़ी । कहारकी खोज करते समय दैववश उसे ये ब्राह्मणदेवता मिल गये । इन्हें देखकर उसने सोचा, 'यह मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, जवान और गठीले अङ्गोंवाला है । इसलिये यह तो बैल या गधेके

१. प्रा० पा०—ननर्त विजहार च । २. प्रा० पा०—एवं खलु । ३. प्रा० पा०—नात्मनि फलति । ४. प्रा० पा०—एवं विष्णुदत्त । ५. प्रा० पा०—देहाध्यात्मभाव० । ६. प्रा० पा०—तैस्तैर्भावैरभिरक्ष्यमाणानां । ७. प्रा० पा०—मकुतश्चनभयमुप० । ८. प्रा० पा०—सिन्धुपते । ९. प्रा० पा०—शिबिकावाहक० । १०. प्रा० पा०—पुरुषान्वेषसमये । ११. प्रा० पा०—यावान् संहननाङ्गो ।

विष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह[1] उवाह शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

अथ ते ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपाय-तुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयांबभूवुः ॥ ३ ॥

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः । अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु[3] ह वयं पारयाम इति ॥ ४ ॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां[4] भवितुमर्हतीति निश्चित्य[5] निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्ट-ब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसाऽऽवृतमतिराह ॥ ५ ॥

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो

समान अच्छी तरह बोझा ढो सकता है ।' यह सोचकर उसने बेगारमें पकड़े हुए अन्य कहारोंके साथ इन्हें भी बलात्कारसे पकड़कर पालकीमें जोड़ दिया । महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्यके योग्य नहीं थे, तो भी वे बिना कुछ बोले चुपचाप पालकीको उठा ले चले ॥ १ ॥

वे द्विजवर, कोई जीव पैरोंतले दब न जाय—इस डरसे आगेकी एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे । इसलिये दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं खाता था, अतः जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी, तब यह देखकर राजा रहूगणने पालकी उठानेवालोंसे कहा—'अरे कहारो ! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो ?' ॥ २ ॥

तब अपने स्वामीका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर कहारोंको डर लगा कि कहीं राजा उन्हें दण्ड न दें । इसलिये उन्होंने राजासे इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३ ॥ 'महाराज ! यह हमारा प्रमाद नहीं है, हम आपकी नियम-मर्यादाके अनुसार ठीक-ठीक ही पालकी ले चल रहे हैं । यह एक नया कहार अभी-अभी पालकीमें लगाया गया है, तो भी यह जल्दी-जल्दी नहीं चलता । हमलोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते' ॥ ४ ॥

कहारोंके ये दीन वचन सुनकर राजा रहूगणने सोचा, 'संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला दोष एक व्यक्तिमें होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुषोंमें आ सकता है । इसलिये यदि इसका प्रतीकार न किया गया तो धीरे-धीरे ये सभी कहार अपनी चाल बिगाड़ लेंगे ।' ऐसा सोचकर राजा रहूगणको कुछ क्रोध हो आया । यद्यपि उसने महापुरुषोंका सेवन किया था, तथापि क्षत्रियस्वभाव-वश बलात्कारसे उसकी बुद्धि रजोगुणसे व्याप्त हो गयी और वह उन द्विजश्रेष्ठसे, जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके हुए अग्निके समान प्रकट नहीं था, इस प्रकार व्यङ्गसे भरे वचन कहने लगा—॥ ५ ॥ 'अरे भैया ! बड़े दुःखकी बात है, अवश्य ही तुम बहुत थक गये हो ।

१. प्रा० पा०—मतदर्हण० । २. प्रा० पा०—अथ ईश्वरवचः । ३. प्रा० पा०—वोढुं वयं । ४. प्रा० पा०—[illegible]र्गिकाणां । ५. प्रा० पा०—भवितुमर्हतीति निशम्य ।

दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो[2] भवान् सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचित-द्रव्यगुणकर्माशय[3]स्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थान-विशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्म-भूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ॥ ६ ॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां[4] दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

एवं बह्वबद्ध[5]मपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानु[6]विद्धेन मदेन तिरस्कृता-शेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वर-चर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।

ज्ञात होता है, तुम्हारे इन साथियोंने तुम्हें तनिक भी सहारा नहीं लगाया । इतनी दूरसे तुम अकेले ही बड़ी देरसे पालकी ढोते चले आ रहे हो । तुम्हारा शरीर भी तो विशेष मोटा-ताजा और हट्टा-कट्टा नहीं है, और मित्र ! बुढ़ापेने अलग तुम्हें दबा रक्खा है ।' इस प्रकार बहुत ताना मारनेपर भी वे पहलेकी ही भाँति चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे । उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो पञ्चभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका सङ्घात यह अपना अन्तिम शरीर अविद्याका ही कार्य था । वह विविध अङ्गोंसे युक्त दिखायी देनेपर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका मैं-मेरे-पनका मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे ॥ ६ ॥

(किंतु) पालकी अब भी सीधी चालसे नहीं चल रही है—यह देखकर राजा रहूगण क्रोधसे आग-बबूला हो गया और कहने लगा, 'अरे ! यह क्या ? क्या तू जीता ही मर गया है ? तू मेरा निरादर करके (मेरी) आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है ! मालूम होता है, तू सर्वथा प्रमादी है । अरे ! जैसे दण्डपाणि यमराज जनसमुदायको उसके अपराधोंके लिये दण्ड देते हैं, उसी प्रकार मैं भी अभी तेरा इलाज किये देता हूँ । तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे' ॥ ७ ॥

रहूगणको राजा होनेका अभिमान था, इसलिये वह इसी प्रकार बहुत-सी अनाप-शनाप बातें बोल गया । वह अपनेको बड़ा पण्डित समझता था, अतः रज-तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर उसने भगवान्‌के अनन्य प्रीतिपात्र भक्तवर भरतजीका तिरस्कार कर डाला । योगेश्वरोंकी विचित्र कहनी-करनीका तो उसे कुछ पता ही न था । उसकी ऐसी कच्ची बुद्धि देखकर वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा, ब्रह्मभूत ब्राह्मणदेवता मुसकराये और बिना किसी प्रकारका अभिमान किये इस प्रकार कहने लगे ॥ ८ ॥

जडभरतने कहा—राजन् ! तुमने जो कुछ कहा वह यथार्थ है । उसमें कोई उलाहना नहीं है । यदि भार नामकी कोई वस्तु है तो ढोनेवालेके लिये है, यदि कोई

१. प्राचीन प्रतिमें 'नमेक एव' इतना अंश खण्डित है । २. प्रा० पा०—जरसा द्रुतो भवान् सुखिनो ये वापर । ३. प्रा० पा०—कर्मातिशय० । ४. प्रा० पा०—चिकित्सां तव दण्ड० । ५. प्रा० पा०—मभिभाषमाणं । ६. प्रा० पा०—तमसानुवृद्धेन ।

गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥
स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च[1]
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥१०॥
जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥११॥
विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् करवाम किं ते ॥१२॥
उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां[2]
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।
अर्थः[3] कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर[4] उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन[5] कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह ।१४। स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच

मार्ग है तो वह चलनेवालेके लिये है । मोटापन भी उसीका है, यह सब शरीरके लिये कहा जाता है आत्माके लिये नहीं । ज्ञानीजन ऐसी बात नहीं करते ॥ ९ ॥ स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमानको लेकर उत्पन्न होनेवाले जीवमें रहते हैं; मुझमें इनका लेश भी नहीं है ॥ १० ॥ राजन् ! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही—सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं । यशस्वी नरेश ! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञा-पालनादिका नियम भी लागू हो सकता है ॥ ११ ॥ 'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ' इस प्रकारकी भेद-बुद्धिके लिये मुझे व्यवहारके सिवा और कहीं तनिक भी अवकाश नहीं दिखायी देता । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक ? फिर भी राजन् ! तुम्हें यदि स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ॥ १२ ॥ वीरवर ! मैं मत्त, उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ । मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा ? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ, तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही होगा ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मुनिवर जडभरत यथार्थ तत्त्वका उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये । उनका देहात्मबुद्धिका हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे । अतः इतना कहकर भोगद्वारा प्रारब्धक्षय करनेके लिये वे फिर पहलेके ही समान उस पालकीको कन्धेपर लेकर चलने लगे ॥ १४ ॥ सिन्धु-सौवीरनरेश रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूरा अधिकारी था । जब उसने उन द्विजश्रेष्ठके अनेकों योग-ग्रन्थोंसे समर्थित और हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करने-

१. प्राचीन प्रतिमें 'आधयश्च' इतना पाठ छूट गया है । २. प्रा० पा०—जडवत्स्वस्वसंस्थां । ३. प्रा० पा०—अथ कियान्भवता । ४. प्रा० पा०—स मुनिवरः । ५. प्रा० पा०—निमित्तमुपभोगेन ।

आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच ॥ १५ ॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत[1] शुक्लः ॥१६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥१७॥

तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरे[2]स्यपारः ।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥१८॥

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥१९॥

स[3] वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥२०॥

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तु[4]र्भवतश्चानुमन्ये ।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥२१॥

वाले ये वाक्य सुने, तब वह तत्काल पालकीसे उतर पड़ा । उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणोंमें सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए इस प्रकार कहने लगा—॥ १५ ॥ 'देव ! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है, बतलाइये इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं ? आप किसके पुत्र हैं, आपका कहाँ जन्म हुआ है और यहाँ कैसे आपका पदार्पण हुआ है ? यदि आप हमारा कल्याण करने पधारे हैं, तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही तो नहीं हैं ? ॥ १६ ॥ मुझे इन्द्रके वज्रका कोई डर नहीं है, न मैं महादेवजीके त्रिशूलसे डरता हूँ और न यमराजके दण्डसे । मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेरके अस्त्र-शस्त्रोंका भी कोई भय नहीं है; परंतु मैं ब्राह्मणकुलके अपमानसे बहुत ही डरता हूँ ॥ १७ ॥ अतः कृपया बतलाइये, इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्तिको छिपाकर मूर्खोंकी भाँति विचरनेवाले आप कौन हैं ? विषयोंसे तो आप सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं । मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है । साधो ! आपके योगयुक्त वाक्योंकी बुद्धिद्वारा आलोचना करनेपर भी मेरा संदेह दूर नहीं होता ॥ १८ ॥ मैं आत्मज्ञानी मुनियोंके परम गुरु और साक्षात् श्रीहरिकी ज्ञानशक्तिके अवतार योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछनेके लिये जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन है ॥ १९ ॥ क्या आप वे कपिलमुनि ही हैं, जो लोकोंकी दशा देखनेके लिये इस प्रकार अपना रूप छिपाकर विचर रहे हैं ? भला, घरमें आसक्त रहनेवाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वरोंकी गति कैसे जान सकता है ॥ २० ॥

'मैंने युद्धादि कर्मोंमें अपनेको श्रम होते देखा है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य ही होता होगा । मुझे तो व्यवहार-मार्ग भी सत्य ही जान पड़ता है; क्योंकि मिथ्या घड़ेसे जल लाना आदि कार्य नहीं होता ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—नोऽत्र । २. प्राचीन प्रतिमें 'विचरस्यपारः······'से आरम्भकर 'साक्षाद्धरिं' यहाँतकका अंश खण्डित है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'स वै' यह पाठ छूट गया है । ४. प्रा० पा०—भर्तुर्गुरोर्भवत० ।

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभिताप-
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥२२॥
शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥२३॥
तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥२४॥
न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि[1] मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥२५॥

(देहादिके धर्मोंका आत्मापर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है) चूल्हेपर रक्खी हुई बटलोई जब अग्निसे तपने लगती है, तब उसका जल भी खौलने लगता है और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी पक जाता है । इसी प्रकार अपनी उपाधिके धर्मोंका अनुवर्तन करनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सन्निधिसे आत्माको भी उनके धर्म श्रमादिका अनुभव होता ही है ॥ २२ ॥ आपने जो दण्डादिकी व्यर्थता बतायी, सो राजा तो प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ उसका दास ही है । उसका उन्मत्तादिको दण्ड देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि अपने धर्मका आचरण करना भगवान्‌की सेवा ही है । उसे करनेवाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देता है ॥ २३ ॥

'दीनबन्धो ! राजत्वके अभिमानसे उन्मत्त होकर मैंने आप-जैसे परम साधुकी अवज्ञा की है । अब आप ऐसी कृपादृष्टि कीजिये, जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराधसे मैं मुक्त हो जाऊँ ॥ २४ ॥ आप देहाभिमानशून्य और विश्वबन्धु श्रीहरिके अनन्य भक्त हैं; इसलिये सबमें समान दृष्टि होनेसे इस मानापमानके कारण आपमें कोई विकार नहीं हो सकता तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेके कारण मेरे-जैसा पुरुष, साक्षात् त्रिशूलपाणि महादेवजीके समान प्रभावशाली होनेपर भी, अपने अपराधसे अवश्य थोड़े ही कालमें नष्ट हो जायगा' ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे दशमोऽध्यायः[2] ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

राजा रहूगणको भरतजीका उपदेश

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां[3] वरिष्ठः ।

जडभरतने कहा—राजन् ! तुम अज्ञानी होनेपर भी पण्डितोंके समान ऊपर-ऊपरकी तर्क-वितर्कयुक्त बात कह रहे हो । इसलिये श्रेष्ठ ज्ञानियोंमें तुम्हारी

१. प्रा० पा०—सुकृताद्धि । २. प्रा० पा०—जडचरिते दशमो० । ३. प्रा० पा०—नात्मविदां वरिष्ठः ।

न खरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥
तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥
न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥
यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४ ॥
स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
विभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥
दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥
तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥
गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

गणना नहीं हो सकती । तत्त्वज्ञानी पुरुष इस अविचार सिद्ध स्वामी-सेवक आदि व्यवहारको तत्त्वविचारके समय सत्यरूपसे स्वीकार नहीं करते ॥ १ ॥ लौकिक व्यवहारके समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है; क्योंकि वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थजनोचित यज्ञविधिके विस्तारमें ही व्यस्त हैं, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं हुई है ॥ २ ॥ जिसे गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख स्वप्नके समान हेय नहीं जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद्-वाक्य भी समर्थ नहीं हैं ॥ ३ ॥ जबतक मनुष्यका मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुणके वशीभूत रहता है, तबतक वह बिना किसी अङ्कुशके उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे शुभाशुभ कर्म कराता रहता है ॥ ४ ॥ यह मन वासनामय, विषयासक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रियरूप सोलह कलाओंमें मुख्य है । यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादिरूप धारण करके शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका कारण होता है ॥ ५ ॥ यह मायामय मन संसारचक्रमें छलनेवाला है, यही अपनी देहके अभिमानी जीवसे मिलकर उसे कालक्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी अभिव्यक्ति करता है ॥ ६ ॥ जबतक यह मन रहता है, तभीतक जाग्रत् और स्वप्नावस्थाका व्यवहार प्रकाशित होकर जीवका दृश्य बनता है । इसलिये पण्डितजन मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं ॥ ७ ॥ विषयासक्त मन जीवको संसार-सङ्कटमें डाल देता है, विषयहीन होनेपर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है । जिस प्रकार घीसे भीगी हुई बत्तीको खानेवाले दीपकसे तो धूएँवाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है तब वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाता है—उसी प्रकार विषय और कर्मोंमें आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होनेपर वह अपने तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—व्यवहारमेतं । २. प्रा० पा०—गरीयसीरपि । ३. प्रा० पा०—व्यवहारो यः सदाशिवः । ४. प्रा० पा०—गुणागुणत्वञ्च । ५. प्रा० पा०—भजति ह्यन्यथा । ६. प्रा० पा०—कर्मानुबद्धे मूर्तीर्मनः ।

एकादशासन्मनसो[1] हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः[2] ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर[3] भूमीः ॥ ९ ॥
गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥१०॥
द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः ।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥११॥
क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥१२॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥१३॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥१४॥

वीरवर ! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहंकार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्र और एक शरीर—ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं ॥ ९ ॥ गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं; मलत्याग, सम्भोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं तथा शरीरको 'यह मेरा है' इस प्रकार स्वीकार करना अहंकारका विषय है । कुछ लोग अहंकारको मनकी बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीरको बारहवाँ विषय मानते हैं ॥ १० ॥ ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य (विषय), स्वभाव, आशय (संस्कार), कर्म और कालके द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदोंमें परिणत हो जाती हैं । किंतु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्माकी सत्तासे ही है, स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं है ॥ ११ ॥ ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है । यह तो जीवकी ही मायानिर्मित उपाधि है । यह प्रायः संसारबन्धनमें डालनेवाले अविशुद्ध कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है । इसकी उपर्युक्त वृत्तियाँ प्रवाहरूपसे नित्य ही रहती हैं; जाग्रत् और स्वप्नके समय वे प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्तिमें छिप जाती हैं । इन दोनों ही अवस्थाओंमें क्षेत्रज्ञ, जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता रहता है ॥ १२ ॥

यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापक, जगत्‌का आदि-कारण, परिपूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादिका भी नियन्ता और अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रयरूप भगवान् वासुदेव है ॥ १३ ॥ जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपसे इस सम्पूर्ण प्रपञ्चमें ओतप्रोत है ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—मनसस्तु वृत्तयः । २. प्रा० पा०—धियोऽभिमानाः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'वीर' यह पाठ खण्डित है ।

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥१५॥
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥१६॥
भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः[1] ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥१७॥

राजन् ! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता और जबतक वह आत्माके उपाधिरूप मनको संसार-दुःखका क्षेत्र नहीं समझता, तबतक वह इस लोकमें यों ही भटकता रहता है; क्योंकि यह चित्त उसके शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदिके संस्कार तथा ममताकी वृद्धि करता रहता है ॥ १५-१६ ॥ यह मन ही तुम्हारा बड़ा बलवान् शत्रु है । तुम्हारे उपेक्षा करनेसे इसकी शक्ति और भी बढ़ गयी है । यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है, तथापि इसने तुम्हारे आत्मस्वरूपको आच्छादित कर रक्खा है । इसलिये तुम सावधान होकर श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी उपासनाके अस्त्रसे इसे मार डालो ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मणरहूगण-संवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान

रहूगण[2] उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥
ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेः
ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २ ॥

राजा रहूगणने कहा—भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आपने जगत्का उद्धार करनेके लिये ही यह देह धारण की है । योगेश्वर ! अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करके आप इस स्थूल शरीरसे उदासीन हो गये हैं तथा एक जड ब्राह्मणके वेषसे अपने नित्यज्ञानमय स्वरूपको जनसाधारणकी दृष्टिसे ओझल किये हुए हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ ब्रह्मन् ! जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित रोगीके लिये मीठी ओषधि और धूपसे तपे हुए पुरुषके लिये शीतल जल अमृततुल्य होता है, उसी प्रकार मेरे लिये, जिसकी विवेकबुद्धिको देहाभिमानरूप विषैले सर्पने डस लिया है, आपके वचन

१. प्रा० पा०—धितमप्रवृत्तः । २. प्रा० पा०—राहुगण उवाच ।

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३ ॥
यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव[1] कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५ ॥
अंसेऽधि दार्वी शिबिका च[2] यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन्[3] भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥
शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः[4] ॥ ७ ॥
यदा क्षितावेव[5] चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्[6] ।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो[7] ये ।

अमृतमय ओषधिके समान हैं ॥ २ ॥ देव ! मैं आपसे अपने संशयोंकी निवृत्ति तो पीछे कराऊँगा । पहले तो इस समय आपने जो अध्यात्मयोगमय उपदेश दिया है, उसीको सरल करके समझाइये, उसे समझनेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ३ ॥ योगेश्वर ! आपने जो यह कहा कि भार उठानेकी क्रिया तथा उससे जो श्रमरूप फल होता है, वे दोनों ही प्रत्यक्ष होनेपर भी केवल व्यवहारमूलक ही हैं, वास्तवमें सत्य नहीं हैं—वे तत्त्वविचारके सामने कुछ भी नहीं ठहरते—सो इस विषयमें मेरा मन चक्कर खा रहा है, आपके इस कथन-का मर्म मेरी समझमें नहीं आ रहा है ॥ ४ ॥

जडभरतने कहा—पृथ्वीपते ! यह देह पृथ्वीका विकार है, पाषाणादिसे इसका क्या भेद है ? जब यह किसी कारणसे पृथ्वीपर चलने लगता है, तब इसके भारवाही आदि नाम पड़ जाते हैं । इसके दो चरण हैं; उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, कमर, वक्षःस्थल, गर्दन और कंधे आदि अङ्ग हैं ॥ ५ ॥ कंधोंके ऊपर लकड़ीकी पालकी रक्खी हुई है; उसमें भी सौवीरराज नामका एक पार्थिव विकार ही है; जिसमें आत्मबुद्धिरूप अभिमान करनेसे तुम 'मैं सिन्धु देशका राजा हूँ' इस प्रबल मदसे अंधे हो रहे हो ॥ ६ ॥ किंतु इसीसे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती, वास्तवमें तो तुम बड़े क्रूर और धृष्ट ही हो । तुमने इन बेचारे दीन-दुखिया कहारोंको बेगारमें पकड़कर पालकीमें जोत रक्खा है और फिर महापुरुषोंकी सभामें बढ़-बढ़कर बातें बनाते हो कि मैं लोकोंकी रक्षा करनेवाला हूँ । यह तुम्हें शोभा नहीं देता ॥ ७ ॥ हम देखते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूत सर्वदा पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन होते हैं; अतः उनके क्रियाभेदके कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं—बताओ तो उनके सिवा व्यवहारका और क्या मूल है ? ॥ ८ ॥

इस प्रकार 'पृथ्वी' शब्दका व्यवहार भी मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि यह अपने उपादानकारण सूक्ष्म परमाणुओंमें लीन हो जाती है और जिनके

१. प्रा० पा०—कश्चन कस्य । २. प्रा० पा०—शिबिका यस्यां । ३. प्रा० पा०—तस्मिन् । ४. प्रा० पा०—दुष्टः । ५. प्रा० पा०—यदा दुःखितावेव । ६. प्राचीन प्रतिमें 'नित्यम्' यह पाठ खण्डित है । ७. प्रा० पा०—परमाणवोऽथ ये ।

अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥ ९ ॥
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥१०॥
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥११॥
रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥१२॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं[3] मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥१३॥
अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥१४॥
सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥१५॥
तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।

मिलनेसे पृथ्वीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं। वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है ॥ ९ ॥ इसी प्रकार और भी जो कुछ पतला-मोटा, छोटा-बड़ा, कार्य-कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणोंसे युक्त द्वैत-प्रपञ्च है—उसे भी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली भगवान्‌की मायाका ही कार्य समझो ॥१०॥ विशुद्ध परमार्थरूप अद्वितीय तथा भीतर-बाहरके भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान्' है और उसीको पण्डितजन 'वासुदेव' कहते हैं ॥ ११ ॥ रहूगण ! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥ इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती रहती है। जिससे विषय-वार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती और जब भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकाङ्क्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है ॥ १३ ॥

पूर्वजन्ममें मैं भरत नामका राजा था, ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की आराधनामें ही लगा रहता था; तो भी एक मृगमें आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर अगले जन्ममें मृग बनना पड़ा ॥ १४ ॥ किंतु भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीसे अब मैं जनसंसर्गसे डरकर सर्वदा असङ्गभावसे गुप्तरूपसे ही विचरता रहता हूँ ॥ १५ ॥ सारांश यह है कि विरक्त महापुरुषोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूप खड्गके द्वारा मनुष्यको इस लोकमें ही अपने मोहबन्धनको काट

१. प्रा० पा०—कल्पितास्ते समूहेन। २. प्रा० पा०—राहुगणैतत्तपसा। ३. प्राचीन प्रतिमें 'णोऽनुदिनं मुमुक्षो-र्मतिं...' से आरम्भकर 'विशङ्कमानो' पर्यन्त पाठ खण्डित हो गया है।

हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥१६॥

डालना चाहिये। फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मण-रहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

भवाटवीका वर्णन और रहूगणका संशयनाश

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक्।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥
यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥ २ ॥
प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥
निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

जडभरतने कहा—राजन्! यह जीवसमूह सुखरूप धनमें आसक्त देश-देशान्तरमें घूम-फिरकर व्यापार करनेवाले व्यापारियोंके दलके समान है। इसे मायाने दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है। इसलिये इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे नाना प्रकारके कर्मोंपर ही जाती है। उन कर्मोंमें भटकता-भटकता यह संसार-रूप जंगलमें पहुँच जाता है। वहाँ इसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥ १ ॥ महाराज! उस जंगलमें छः डाकू हैं। इस वणिक्-समाजका नायक बड़ा दुष्ट है। उसके नेतृत्वमें जब यह वहाँ पहुँचता है, तब ये लुटेरे बलात्कारसे इसका सब माल-मता लूट लेते हैं। तथा भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उन्हें खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार इसके साथ रहनेवाले गीदड़ ही इसे असावधान देखकर इसके धनको इधर-उधर खींचने लगते हैं ॥ २ ॥ वह जंगल बहुत-सी लता, घास और झाड़-झंखाड़के कारण बहुत दुर्गम हो रहा है। उसमें तीव्र डाँस और मच्छर इसे चैन नहीं लेने देते। वहाँ इसे कभी तो गन्धर्वनगर दीखने लगता है और कभी-कभी चमचमाता हुआ अति चञ्चल अगिया-बेताल आँखोंके सामने आ जाता है ॥ ३ ॥ यह वणिक्-समुदाय इस वनमें निवासस्थान, जल और धनादिमें आसक्त होकर इधर-उधर भटकता रहता है। कभी बवंडरसे उठी हुई धूलके द्वारा जब सारी दिशाएँ धूमाच्छादित-सी हो जाती हैं और इसकी आँखोंमें भी धूल भर जाती है, तो इसे दिशाओंका ज्ञान भी नहीं

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥
क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः ।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ ६ ॥
शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥
चलन् क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते ।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥
क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।
दष्टः स शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥
कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ १० ॥
क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

रहता ॥ ४ ॥ कभी इसे दिखायी न देनेवाले झींगुरोंका कर्णकटु शब्द सुनायी देता है, कभी उल्लुओंकी बोलीसे इसका चित्त व्यथित हो जाता है, कभी इसे भूख सताने लगती है तो यह निन्दनीय वृक्षोंका ही सहारा टटोलने लगता है और कभी प्याससे व्याकुल होकर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ लगाता है ॥ ५ ॥ कभी जलहीन नदियोंकी ओर जाता है, कभी अन्न न मिलनेपर आपसमें एक-दूसरेसे भोजनप्राप्तिकी इच्छा करता है, कभी दावानलमें घुसकर अग्निसे झुलस जाता है और कभी यक्षलोग इसके प्राण खींचने लगते हैं तो यह खिन्न होने लगता है ॥ ६ ॥ कभी अपनेसे अधिक बलवान् लोग इसका धन छीन लेते हैं, तो यह दुखी होकर शोक और मोहसे अचेत हो जाता है और कभी गन्धर्वनगरमें पहुँचकर घड़ीभरके लिये सब दुःख भूलकर खुशी मनाने लगता है ॥ ७ ॥ कभी पर्वतोंपर चढ़ना चाहता है तो काँटे और कंकड़ोंद्वारा पैर चलनी हो जानेसे उदास हो जाता है । कुटुम्ब बहुत बढ़ जाता है और उदरपूर्तिका साधन नहीं होता तो भूखकी ज्वालासे संतप्त होकर अपने ही बन्धु-बान्धवोंपर खीझने लगता है ॥ ८ ॥ कभी अजगर सर्पका ग्रास बनकर वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है । उस समय इसे कोई सुध-बुध नहीं रहती । कभी दूसरे विषैले जन्तु इसे काटने लगते हैं तो उनके विषके प्रभावसे अन्धा होकर किसी अँधेरे कुएँमें गिर पड़ता है और घोर दुःखमय अन्धकारमें बेहोश पड़ा रहता है ॥ ९ ॥ कभी मधु खोजने लगता है तो मक्खियाँ इसके नाकमें दम कर देती हैं और इसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है । यदि किसी प्रकार अनेकों कठिनाइयोंका सामना करके वह मिल भी गया तो बलात्कारसे दूसरे लोग उसे छीन लेते हैं ॥ १० ॥ कभी शीत, घाम, आँधी और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है । कभी आपसमें थोड़ा-बहुत व्यापार करता है, तो धनके लोभसे दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है ॥ ११ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'उलूक' शब्द छूट गया है । २. प्रा० पा०—निरन्तरम् । ३. प्रा० पा०—नगानारुरुक्षुर्विमना । ४. प्रा० पा०—तत्रातिकृच्छ्रं प्रति ।

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥

कभी-कभी उस संसारवनमें इसका धन नष्ट हो जाता है तो इसके पास शय्या, आसन, रहनेके लिये स्थान और सैर-सपाटेके लिये सवारी आदि भी नहीं रहते। तब दूसरोंसे याचना करता है, माँगनेपर भी दूसरेसे जब उसे अभिलषित वस्तु नहीं मिलती, तब परायी वस्तुओंपर अनुचित दृष्टि रखनेके कारण इसे बड़ा तिरस्कार सहना पड़ता है ॥ १२ ॥

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः ॥१३॥

इस प्रकार व्यावहारिक सम्बन्धके कारण एक-दूसरेसे द्वेषभाव बढ़ जानेपर भी वह वणिक्समूह आपसमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर इस मार्गमें तरह-तरहके कष्ट और धनक्षय आदि सङ्कटों-को भोगते-भोगते मृतकवत् हो जाता है ॥ १३ ॥

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥१४॥

साथियोंमेंसे जो-जो मरते जाते हैं, उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर नवीन उत्पन्न हुओंको साथ लिये वह बनिजारों-का समूह बराबर आगे ही बढ़ता रहता है। वीरवर! उनमेंसे कोई भी प्राणी न तो आजतक वापस लौटा है और न किसीने इस सङ्कटपूर्ण मार्गको पार करके परमानन्दमय योगकी ही शरण ली है ॥ १४ ॥

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥१५॥

जिन्होंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया है, वे धीर-वीर पुरुष भी पृथ्वीमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके आपसमें वैर ठानकर संग्रामभूमिमें जूझ जाते हैं, तो भी उन्हें भगवान् विष्णुका वह अविनाशी पद नहीं मिलता, जो वैरहीन परमहंसोंको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥१६॥

इस भवाटवीमें भटकनेवाला यह बनिजारोंका दल कभी किसी लताकी डालियोंका आश्रय लेता है और उसपर रहनेवाले मधुरभाषी पक्षियोंके मोहमें फँस जाता है। कभी सिंहोंके समूहसे भय मानकर बगुला, कंक और गिद्धोंसे प्रीति करता है ॥ १६ ॥

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥१७॥

जब उनसे धोखा उठाता है, तब हंसोंकी पंक्तिमें प्रवेश करना चाहता है, किंतु उसे उनका आचार नहीं सुहाता, इसलिये वानरोंमें मिलकर उनके जातिस्वभावके अनुसार दाम्पत्य-सुखमें रत रहकर विषयभोगोंसे इन्द्रियोंको तृप्त करता रहता है और एक दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधिको भूल जाता है ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—अन्योन्यकर्म । २. प्रा० पा०—सुनिर्जितेन्द्रियः ।

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
　　व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
　　वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥
अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
　　पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया¹ निवेशितो
　　भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥
रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
　　संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
　　ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥२०॥

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
　　किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशः कृतात्मनां
　　महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥२१॥
न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
　　र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
　　दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥२२॥
नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
　　नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
　　श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं² विगणयतः परानुभावः³ परम-

वहाँ वृक्षोंमें क्रीड़ा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेहपाशमें बँध जाता है । इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि तरह-तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन होनेपर भी यह विवश होकर अपने बन्धनको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता । कभी असावधानीसे पर्वतकी गुफामें गिरने लगता है तो उसमें रहनेवाले हाथीसे डरकर किसी लताके सहारे लटका रहता है ॥ १८ ॥ शत्रुदमन ! यदि किसी प्रकार इसे उस आपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है, तो यह फिर अपने गोलमें मिल जाता है । जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे एक बार इस मार्गमें पहुँच जाता है, उसे भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लगता ॥ १९ ॥ रहूगण ! तुम भी इसी मार्गमें भटक रहे हो, इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्-सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो ॥ २० ॥

राजा रहूगणने कहा—अहो ! समस्त योनियोंमें यह मनुष्य-जन्म ही श्रेष्ठ है । अन्यान्य लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मोंसे भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेशके पवित्र यशसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप-जैसे महात्माओंका अधिकाधिक समागम नहीं मिलता ॥ २१ ॥ आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है । मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्सङ्गसे ही सारा कुतर्कमूलक अज्ञान नष्ट हो गया है, ॥ २२ ॥ ब्रह्मज्ञानियोंमें जो वयोवृद्ध हों, उन्हें नमस्कार है, जो शिशु हों, उन्हें नमस्कार है, जो युवा हों, उन्हें नमस्कार है । जो क्रीडारत बालक हों, उन्हें भी नमस्कार है । जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अवधूतवेषसे पृथ्वी-पर विचरते हैं, उनसे हम-जैसे ऐश्वर्योन्मत्त राजाओंका कल्याण हो ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—उत्तरानन्दन ! इस प्रकार उन परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्रने अपना अपमान करनेवाले सिन्धुनरेश रहूगणको भी अत्यन्त करुणावश

१. प्रा० पा०—मुष्मिन्नञ्जसा । २. प्रा० पा०—आत्मस्वतत्त्वं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'परानुभावः' यह पाठ नहीं है ।

कारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार ॥ २४ ॥ सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज । एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ॥ २५ ॥

आत्मतत्त्वका उपदेश दिया । तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की । फिर वे परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २४ ॥ उनके सत्सङ्गसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान पाकर सौवीरपति रहूगणने भी अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धिको त्याग दिया । राजन् ! जो लोग भगवदाश्रित अनन्य भक्तोंकी शरण ले लेते हैं, उनका ऐसा ही प्रभाव होता है—उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती ॥ २५ ॥

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः । अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति ॥ २६ ॥

राजा परीक्षितने कहा—महाभागवत मुनिश्रेष्ठ ! आप परम विद्वान् हैं । आपने रूपकादिके द्वारा अप्रत्यक्षरूपसे जीवोंके जिस संसाररूप मार्गका वर्णन किया है, उस विषयकी कल्पना विवेकी पुरुषोंकी बुद्धिने की है; वह अल्पबुद्धिवाले पुरुषोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आ सकता । अतः मेरी प्रार्थना है कि इस दुर्बोध विषयको रूपकका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्दोंसे खोलकर समझाइये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भवाटवीका स्पष्टीकरण

स होवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! देहाभिमानी जीवोंके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके भेदसे शुभ, अशुभ और मिश्र—तीन प्रकारके कर्म होते रहते हैं । उन कर्मोंके द्वारा ही निर्मित नाना प्रकारके शरीरोंके साथ होनेवाला जो संयोग-वियोगादिरूप अनादि संसार जीवको प्राप्त होता है, उसके अनुभवके छः द्वार हैं—मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । उनसे विवश होकर यह जीवसमूह मार्ग भूलकर भयंकर वनमें भटकते हुए धनके लोभी बनिजारों-

१. प्रा० पा०—चरणः पूर्णार्णव इव । २. प्रा० पा०—मिमां चचार । ३. प्रा० पा०—भगवदाश्रितानुभावः । ४. प्रा० पा०—जीवलोकभावाध्वा ।

मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तापोपशमनीं[1] हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते ॥ १ ॥ तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं[2] बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो[3] योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति । तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन[4] कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य[5] विलुम्पन्ति ॥ २ ॥ अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि[6] हरन्ति ॥ ३ ॥

के समान परमसमर्थ भगवान् विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाकी प्रेरणासे बीहड़ वनके समान दुर्गम मार्गमें पड़कर संसार-वनमें जा पहुँचता है । यह वन श्मशानके समान अत्यन्त अशुभ है । इसमें भटकते हुए उसे अपने शरीरसे किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़ता है । यहाँ अनेकों विघ्नोंके कारण उसे अपने व्यापारमें सफलता भी नहीं मिलती; तो भी यह उसके श्रमको शान्त करनेवाले श्रीहरि एवं गुरुदेवके चरणारविन्द-मकरन्द-मधुके रसिक भक्त-भ्रमरोंके मार्गका अनुसरण नहीं करता । इस संसार-वनमें मनसहित छः इन्द्रियाँ ही अपने कर्मोंकी दृष्टिसे डाकुओंके समान हैं ॥ १ ॥ पुरुष बहुत-सा कष्ट उठाकर जो धन कमाता है, उसका उपयोग धर्ममें होना चाहिये; वही धर्म यदि साक्षात् भगवान् परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें होता है, तो उसे परलोकमें निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है । किंतु जिस मनुष्यका बुद्धिरूप सारथि विवेकहीन होता है और मन वशमें नहीं होता, उसके उस धर्मोपयोगी धनको ये मनसहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना, सङ्कल्प-विकल्प करना और निश्चय करना—इन वृत्तियोंके द्वारा गृहस्थोचित विषयभोगोंमें फँसाकर उसी प्रकार लूट लेती हैं, जिस प्रकार बेईमान मुखियाका अनुगमन करनेवाले एवं असावधान बनिजारोंके दलका धन चोर-डाकू लूट ले जाते हैं ॥ २ ॥ ये ही नहीं, उस संसार-वनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी भी—जो नामसे तो स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं; किंतु कर्म जिनके साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं—उस अर्थलोलुप कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखने-देखते इस प्रकार छीन ले जाते हैं, जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेड़ोंको उठा ले जाते हैं ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—पोपशमनां । २. प्रा० पा०—यत्किञ्चित्साक्षाद्धर्मौप० । ३. प्रा० पा०—यत् परमपुरुषा० । ४. प्रा० पा०—दर्शनस्वादनावघ्राणसङ्कल्पसंव्यवसाय० । ५. प्रा० पा०—यथा सार्थिकस्य त० । ६. प्रा० पा०—निमिषतो० ।

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः ॥ ४ ॥

तत्रगतो[1] दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित् परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति[2] ॥ ५ ॥ तत्र[3] च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥ क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम् ॥७॥ अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति ॥८॥ क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयाऽऽरोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति ॥ ९ ॥ क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः

जिस प्रकार यदि किसी खेतके बीजोंको अग्निद्वारा जला न दिया गया हो, तो प्रतिवर्ष जोतनेपर भी खेतीका समय आनेपर वह फिर झार-झंखाड़, लता और तृण आदिसे गहन हो जाता है—उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्म-भूमि है, इसमें भी कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता, क्योंकि यह घर कामनाओंकी पिटारी है ॥ ४ ॥

उस गृहस्थाश्रममें आसक्त हुए व्यक्तिके धनरूप बाहरी प्राणोंको डाँस और मच्छरोंके समान नीच पुरुषोंसे तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और चूहे आदिसे क्षति पहुँचती रहती है। कभी इस मार्गमें भटकते-भटकते यह अविद्या, कामना और कर्मोंसे कलुषित हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण इस मर्त्यलोकको, जो गन्धर्वनगरके समान असत् है, सत्य समझने लगता है ॥ ५ ॥ फिर खान-पान और स्त्री-प्रसङ्गादि व्यसनोंमें फँसकर मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है ॥ ६ ॥ कभी बुद्धिके रजोगुणसे प्रभावित होनेपर सारे अनर्थोंकी जड़ अग्निके मलरूप सोनेको ही सुखका साधन समझकर उसे पानेके लिये लालायित हो इस प्रकार दौड़-धूप करने लगता है, जैसे वनमें जाड़ेसे ठिठुरता हुआ पुरुष अग्निके लिये व्याकुल होकर उल्मुक पिशाचकी (अगिया-बेतालकी) ओर उसे आग समझकर दौड़े ॥ ७ ॥ कभी इस शरीरको जीवित रखनेवाले घर, अन्न-जल और धन आदिमें अभिनिवेश करके इस संसारारण्यमें इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है ॥ ८ ॥ कभी बवंडरके समान आँखोंमें धूल झोंक देनेवाली स्त्री गोदमें बैठा लेती है, तो तत्काल रागान्ध सा होकर सत्पुरुषोंकी मर्यादाका भी विचार नहीं करता। उस समय नेत्रोंमें रजोगुणकी धूल भर जानेसे बुद्धि ऐसी मलिन हो जाती है कि अपने कर्मोंके साक्षी दिशाओंके देवताओंको भी भुला देता है ॥ ९ ॥ कभी अपने-आप ही एकाध बार

१. प्रा० पा०—रतो दंशमशकापसदै०। २. प्राचीन प्रतिमें 'मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति' यह अंश खण्डित है।
३. प्राचीन प्रतिमें 'तत्र च' यह पाठ नहीं है।

स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥ १० ॥ क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः॥ ११

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान् जीवन्मृतान् स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति॥ १२ ॥ एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति ॥ १३ ॥ यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति ॥ १४ ॥ क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥१५॥ क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुः प्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते ॥ १६ ॥ कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति ॥ १७ ॥ क्वचिद् गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरि-

विषयोंका मिथ्यात्व जान लेनेपर भी अनादिकालसे देहमें आत्मबुद्धि रहनेसे विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिकातुल्य विषयोंकी ओर ही फिर दौड़ने लगता है ॥ १० ॥ कभी प्रत्यक्ष शब्द करनेवाले उल्लूके समान शत्रुओंकी और परोक्षरूपसे बोलनेवाले झींगुरोंके समान राजाकी अति कठोर एवं दिलको दहला देनेवाली डरावनी डाँट-डपटसे इसके कान और मनको बड़ी व्यथा होती है ॥ ११ ॥

पूर्वपुण्य क्षीण हो जानेपर यह जीवित ही मुर्देके समान हो जाता है; और जो कारस्कर एवं काकतुण्ड आदि जहरीले फलोंवाले पापवृक्षों, इसी प्रकारकी दूषित लताओं और विषैले कुओंके समान हैं तथा जिनका धन इस लोक और परलोक दोनोंके ही काममें नहीं आता और जो जीते हुए भी मुर्देके समान हैं—उन कृपण पुरुषोंका आश्रय लेता है ॥ १२ ॥ कभी असत् पुरुषोंके सङ्गसे बुद्धि बिगड़ जानेके कारण सूखी नदीमें गिरकर दुखी होनेके समान इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले पाखण्डमें फँस जाता है ॥ १३ ॥ जब दूसरोंको सतानेसे उसे अन्न भी नहीं मिलता, तब वह अपने सगे पिता पुत्रोंको अथवा पिता या पुत्र आदिका एक तिनका भी जिनके पास देखता है, उनको फाड़ खानेके लिये तैयार हो जाता है ॥ १४ ॥ कभी दावानलके समान प्रिय विषयोंसे शून्य एवं परिणाममें दुःखमय घरमें पहुँचता है, तो वहाँ इष्टजनोंके वियोगादिसे उसके शोककी आग भड़क उठती है; उससे संतप्त होकर वह बहुत ही खिन्न होने लगता है ॥ १५ ॥ कभी कालके समान भयंकर राजकुलरूप राक्षस इसके परम प्रिय धनरूप प्राणोंको हर लेता है, तो यह मरे हुएके समान निर्जीव हो जाता है ॥ १६ ॥ कभी मनोरथके पदार्थोंके समान अत्यन्त असत् पिता-पितामह आदि सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनके सहवाससे स्वप्नके समान क्षणिक सुखका अनुभव करता है ॥ १७ ॥ गृहस्थाश्रमके लिये जिस कर्मविधिका महान् विस्तार किया गया है, उसका अनुष्ठान किसी पर्वतकी कड़ी चढ़ाईके समान ही है ।

१. प्रा० पा०—परुषसरभसाटोपं प्रत्यक्षं वा रिपुराज० । २. प्रा० पा०—मतिर्विदिवस्रोतःस्वनेन स्खलन० । ३. प्रा० पा०—मृत इव ।

मारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्करा-
क्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति ॥ १८ ॥ क्वचिच्च दुःसहेन
कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय
क्रुध्यति ॥ १९ ॥ स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे
तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत् किञ्चन
वेद शव इवापविद्धः ॥ २० ॥

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्ध-
निद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानो-
ऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति ॥ २१ ॥ कर्हि स्म
चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपर-
द्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः
पतत्यपारे निरये ॥२२॥ अथ च तस्मादुभयथापि
हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति ॥२३॥
मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति
तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः ॥२४॥
क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां
दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण
आस्ते ॥२५॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धन-
मन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन् यत्किञ्चिद्वा

लोगोंको उस ओर प्रवृत्त देखकर उनकी देखादेखी जब यह भी उसे पूरा करनेका प्रयत्न करता है, तब तरह-तरहकी कठिनाइयोंसे क्लेशित होकर काँटे और कंकड़ोंसे भरी भूमिमें पहुँचे हुए व्यक्तिके समान दुखी हो जाता है ॥ १८ ॥ कभी पेटकी असह्य ज्वालासे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर ही बिगड़ने लगता है ॥ १९ ॥ फिर जब निद्रारूप अजगरके चंगुलमें फँस जाता है, तब अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें डूबकर सूने वनमें फेंके हुए मुर्देके समान सोया पड़ा रहता है। उस समय इसे किसी बातकी सुधि नहीं रहती ॥ २० ॥

कभी दुर्जनरूप काटनेवाले जीव इतना काटते—तिरस्कार करते हैं कि इसके गर्वरूप दाँत जिनसे यह दूसरोंको काटता था, टूट जाते हैं। तब इसे अशान्तिके कारण नींद भी नहीं आती तथा मर्मवेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेक-शक्ति क्षीण होते रहनेसे अन्तमें अंधेकी भाँति यह नरकरूप अँधेरे कुएँमें जा गिरता है ॥ २१ ॥ कभी विषयसुखरूप मधुकणोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब यह लुक-छिपकर परस्त्री या परधनको उड़ाना चाहता है तब उनके स्वामी या राजाके हाथसे मारा जाकर ऐसे नरकमें जा गिरता है जिसका ओर-छोर नहीं है ॥ २२ ॥ इसीसे ऐसा कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें रहकर किये हुए लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकारके कर्म जीवको संसारकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ २३ ॥ यदि किसी प्रकार राजा आदिके बन्धनसे छूट भी गया, तो अन्यायसे अपहरण किये हुए उन स्त्री और धनको देवदत्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति छीन लेता है और उससे विष्णुमित्र नामका कोई तीसरा व्यक्ति झटक लेता है। इस प्रकार वे भोग एक पुरुषसे दूसरे पुरुषके पास जाते रहते हैं, एक स्थानपर नहीं ठहरते ॥ २४ ॥ कभी-कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखकी स्थितियोंके निवारण करनेमें समर्थ न होनेसे यह अपार चिन्ताओंके कारण उदास हो जाता है ॥ २५ ॥ कभी परस्पर लेन-देनका व्यवहार करते समय किसी दूसरेका थोड़ा-सा—दमड़ीभर

१. प्रा० पा०—गृहीतगतसारः। २. प्रा० पा०—क्वचिद्। ३. प्रा० पा०—कर्हिचित्। ४. प्रा० पा०—आपन्न। ५. प्रा० पा०—व्यवहरति वा काकिणिकामात्रमप्येव हरति यत्किं०।

विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात् ॥ २६ ॥

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ॥२७॥ क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो[1] यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय[2] आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे[3] तमसि प्रहिणोति ॥ २८ ॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्वि[4]परार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबक[5]वटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते २९ यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः ॥ ३० ॥

अथवा इससे भी कम धन चुरा लेता है तो इस बेईमानीके कारण उससे वैर ठन जाता है ॥ २६ ॥

राजन् ! इस मार्गमें पूर्वोक्त विघ्नोंके अतिरिक्त सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा-पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि और भी अनेकों विघ्न हैं ॥ २७ ॥ (इस विघ्नबहुल मार्गमें इस प्रकार भटकता हुआ यह जीव) किसी समय देवमायारूपिणी स्त्रीके बाहुपाशमें पड़कर विवेकहीन हो जाता है। तब उसीके लिये विहारभवन आदि बनवानेकी चिन्तामें ग्रस्त रहता है तथा उसीके आश्रित रहनेवाले पुत्र, पुत्री और अन्यान्य स्त्रियोंके मीठे-मीठे बोल, चितवन और चेष्टाओंमें आसक्त होकर, उन्हींमें चित्त फँस जानेसे वह इन्द्रियोंका दास अपार अन्धकारमय नरकोंमें गिरता है ॥ २८ ॥

कालचक्र साक्षात् भगवान् विष्णुका आयुध है। वह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त क्षण, घटी आदि अवयवोंसे युक्त है। वह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है, जल्दी-जल्दी बदलनेवाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ ही उसका वेग हैं। उसके द्वारा वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी भूतोंका निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकता। उससे भय मानकर भी जिनका यह कालचक्र निज आयुध है, उन साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना छोड़कर यह मन्दमति मनुष्य पाखण्डियोंके चक्करमें पड़कर उनके कंक, गिद्ध, बगुला और बटेरके समान आर्यशास्त्र-बहिष्कृत देवताओंका आश्रय लेता है, जिनका केवल वेदबाह्य अप्रामाणिक आगमोंने ही उल्लेख किया है ॥ २९ ॥ ये पाखण्डी तो स्वयं ही धोखेमें हैं; जब यह भी उनकी ठगाईमें आकर दुखी होता है, तब ब्राह्मणोंकी शरण लेता है। किंतु उपनयन-संस्कारके अनन्तर श्रौत-स्मार्तकर्मोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि जो उनका शास्त्रोक्त आचार है, वह इसे अच्छा नहीं लगता; इसलिये वेदोक्त आचारके अनुकूल अपनेमें शुद्धि न होनेके कारण यह कर्म-शून्य शूद्रकुलमें प्रवेश करता है, जिसका स्वभाव वानरोंके समान केवल कुटुम्बपोषण और स्त्रीसेवन करना ही है॥३०॥

१. प्रा० पा०—विज्ञानस्तद्विहारगृहा० । २. प्रा० पा०—भाषितालोकविचेष्टितापहृतहृदय । ३. प्रा० पा०—त्मापारे तमसि । ४. प्रा० पा०—परमाण्वादिपरार्द्धा० । ५. प्रा० पा०—वटबक० ।

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः ॥ ३१ ॥ क्वचिद् द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः ॥ ३२ ॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये ॥ ३३ ॥ क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते ॥ ३४ ॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन ॥३५॥ क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥३६॥ एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति ॥ ३७ ॥ एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र[3] यस्तमु ह वावेतरस्तत्र[4] विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् [5]बिभ्यद्विवदन् क्रन्दन् संहृष्यन् गायन्नह्यमानःसाधुवर्जितो नैवा-

वहाँ बिना रोक-टोक स्वच्छन्द विहार करनेसे इसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और एक दूसरेका मुख देखना आदि विषय-भोगोंमें फँसकर इसे अपने मृत्युकालका भी स्मरण नहीं होता ॥ ३१ ॥ वृक्षोंके समान जिनका लौकिक सुख ही फल है—उन घरोंमें ही सुख मानकर वानरोंकी भाँति स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर यह अपना सारा समय मैथुनादि विषय-भोगोंमें ही बिता देता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें पड़कर सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीव रोगरूपी गिरि-गुहामें फँसकर उसमें रहनेवाले मृत्युरूप हाथीसे डरता रहता है ॥ ३३ ॥ कभी-कभी शीत, वायु आदि अनेक प्रकारके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेमें जब असफल हो जाता है, तब उस समय अपार विषयोंकी चिन्तासे यह खिन्न हो उठता है ॥ ३४ ॥ कभी आपसमें क्रय-विक्रय आदि व्यापार करनेपर बहुत कंजूसी करनेसे इसे थोड़ा-सा धन हाथ लग जाता है ॥ ३५ ॥ कभी धन नष्ट हो जानेसे जब इसके पास सोने, बैठने और खाने आदिकी भी कोई सामग्री नहीं रहती, तब अपने अभीष्ट भोग न मिलनेसे यह उन्हें चोरी आदि बुरे उपायोंसे पानेका निश्चय करता है। इससे इसे जहाँ-तहाँ दूसरोंके हाथसे बहुत अपमानित होना पड़ता है ॥ ३६ ॥ इस प्रकार धनकी आसक्तिसे परस्पर वैरभाव बढ़ जानेपर भी यह अपनी पूर्ववासनाओंसे विवश होकर आपसमें विवाहादि-सम्बन्ध करता और छोड़ता रहता है ॥ ३७ ॥ इस संसारमार्गमें चलनेवाला यह जीव अनेक प्रकारके क्लेश और विघ्न-बाधाओंसे बाधित होनेपर भी मार्गमें जिसपर जहाँ आपत्ति आती है अथवा जो कोई मर जाता है; उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है तथा नये जन्मे हुओंको साथ लगाता है, कभी किसीके लिये शोक करता है, किसीका दुःख देखकर मूर्च्छित हो जाता है, किसीके वियोग होनेकी आशङ्कासे भयभीत हो उठता है, किसीसे झगड़ने लगता है, कोई आपत्ति आती है तो रोने-चिल्लाने लगता है, कहीं कोई मनके अनुकूल बात हो गयी तो प्रसन्नताके मारे फूला नहीं समाता, कभी गाने लगता है और कभी उन्हींके लिये बँधनेमें भी नहीं हिचकता। साधुजन

१. प्रा० पा०—शनादिकामभोग्यविहीनो। २. प्रा० पा०—लब्धमनोरथस्तस्यादानेऽव०। ३. प्राचीन प्रतिमें 'यत्र' यह पाठ नहीं है। ४. प्रा० पा०—तत्र तत्र विसृज्य। ५. प्रा० पा०—विरसन् रुदन्मदन् संहृ०। ६. प्रा० पा०—मुह्यमानः।

वर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ।३८। यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥३९॥ यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः ।४०। कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥ ४१ ॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥४२॥
यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥४३॥
यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥४४॥

इसके पास कभी नहीं आते, यह साधुसङ्गसे सदा वञ्चित रहता है । इस प्रकार यह निरन्तर आगे ही बढ़ रहा है । जहाँसे इसकी यात्रा आरम्भ हुई है और जिसे इस मार्गकी अन्तिम अवधि कहते हैं, उस परमात्माके पास यह अभीतक नहीं लौटा है ॥ ३८ ॥ परमात्मातक तो योगशास्त्रकी भी गति नहीं है; जिन्होंने सब प्रकारके दण्ड (शासन) का त्याग कर दिया है, वे निवृत्ति-परायण संयतात्मा मुनिजन ही उसे प्राप्त कर पाते हैं ॥ ३९ ॥ जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षि हैं, उनकी भी वहाँ-तक गति नहीं है । वे संग्रामभूमिमें शत्रुओंका सामना करके केवल प्राणपरित्याग ही करते हैं तथा जिसमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके वैर ठाना था—उस पृथ्वीमें ही अपना शरीर छोड़कर स्वयं परलोकको चले जाते हैं । इस संसारसे वे भी पार नहीं होते ॥ ४० ॥ अपने पुण्यकर्मरूप लताका आश्रय लेकर यदि किसी प्रकार यह जीव इन आपत्तियोंसे अथवा नरकसे छुटकारा पा भी जाता है, तो फिर इसी प्रकार संसारमार्गमें भटकता हुआ इस जनसमुदायमें मिल जाता है । यही दशा स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवालोंकी भी है ॥ ४१ ॥

राजन् ! राजर्षि भरतके विषयमें पण्डितजन ऐसा कहते हैं—'जैसे गरुडजीकी होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरतके मार्गका कोई अन्य राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको युवावस्थामें ही विष्ठाके समान त्याग दिया था, दूसरोंके लिये तो इन्हें त्यागना बहुत ही कठिन है ॥ ४३ ॥ उन्होंने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और स्त्रीकी तथा जिसके लिये बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं; किंतु जो स्वयं उनकी दयादृष्टिके लिये उनपर दृष्टिपात करती रहती थी—उस लक्ष्मीकी भी, लेशमात्र इच्छा नहीं की । यह सब उनके लिये उचित ही था; क्योंकि जिन महानुभावोंका चित्त भगवान् मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है ॥ ४४ ॥

१. प्रा० पा०—न मे एतदेव रुन्धते न्यस्तदण्डा मुनयः । २. प्रा० पा०—ममेदमिति कृतवैरानुबन्धा विसृज्य ।

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥४५॥

उन्होंने मृगशरीर छोड़नेकी इच्छा होनेपर उच्चस्वरसे कहा था कि धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मानुष्ठानमें निपुण, योगगम्य, सांख्यके प्रतिपाद्य, प्रकृतिके अधीश्वर, यज्ञमूर्ति सर्वान्तर्यामी श्रीहरिको नमस्कार है' ॥ ४५ ॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति ॥ ४६ ॥

राजन् ! राजर्षि भरतके पवित्र गुण और कर्मोंकी भक्तजन भी प्रशंसा करते हैं । उनका यह चरित्र बड़ा कल्याणकारी, आयु और धनकी वृद्धि करनेवाला, लोकमें सुयश बढ़ानेवाला और अन्तमें स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है । जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सारी कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं; दूसरोंसे उसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतोपाख्याने पारोक्ष्यविवरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

भरतके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्यां कलौ कल्पयिष्यन्ति ॥ १ ॥ तस्माद् वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत् ॥ २ ॥ अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः ॥ ३ ॥ य आत्मविद्या-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् भरतजीका पुत्र सुमति था, यह पहले कहा जा चुका है । उसने ऋषभदेवजीके मार्गका अनुसरण किया । इसीलिये कलियुगमें बहुत-से पाखण्डी अनार्य पुरुष अपनी दुष्ट बुद्धिसे वेदविरुद्ध कल्पना करके उसे देवता मानेंगे ॥ १ ॥ उसकी पत्नी वृद्धसेनासे देवताजित् नामक पुत्र हुआ ॥ २ ॥ देवताजित्के असुरीके गर्भसे देवद्युम्न, देवद्युम्नके धेनुमतीसे परमेष्ठी और उसके सुवर्चलाके गर्भसे प्रतीह नामका पुत्र हुआ ॥ ३ ॥ इसने अन्य पुरुषोंको आत्मविद्याका उपदेश

१. प्रा० पा०—स्वर्ग्यापवर्ग्यमनुश्रृ० । २. प्रा० पा०—ख्यास्यति ह्येवाभिनन्दति । ३. प्रा० पा०—प्रतीहार ।

माख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार ॥ ४ ॥ प्रतीहात्सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम् ॥५॥ भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद् द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलाऽऽत्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः ॥६॥ स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयाऽऽपादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत् ॥७॥ तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति ॥८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ९ ॥

यमभ्यषिञ्चन् परया मुदा सतीः

कर स्वयं शुद्धचित्त होकर परमपुरुष श्रीनारायणका साक्षात् अनुभव किया था ॥ ४ ॥ प्रतीहकी भार्या सुवर्चलाके गर्भसे प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नामके तीन पुत्र हुए । ये यज्ञादि कर्मोंमें बहुत निपुण थे । इनमें प्रतिहर्ताकी भार्या स्तुति थी । उसके गर्भसे अज और भूमा नामके दो पुत्र हुए ॥५॥ भूमाके ऋषिकुल्यासे उद्गीथ, उसके देवकुल्यासे प्रस्ताव और प्रस्तावके नियुत्साके गर्भसे विभु नामका पुत्र हुआ । विभुके रतिके उदरसे पृथुषेण, पृथुषेणके आकूतिसे नक्त और नक्तके द्रुतिके गर्भसे उदारकीर्ति राजर्षिप्रवर गयका जन्म हुआ । ये जगत्की रक्षाके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुके अंश माने जाते थे । संयमादि अनेकों गुणोंके कारण इनकी महापुरुषोंमें गणना की जाती है ॥ ६ ॥ महाराज गयने प्रजाका पालन, पोषण, रञ्जन, लाड़-चाव और शासनादि करके तथा तरह-तरहके यज्ञोंका अनुष्ठान करके निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीतिके लिये अपने धर्मोंका आचरण किया । इससे उनके सभी कर्म सर्वश्रेष्ठ परमपुरुष परमात्मा श्रीहरिके अर्पित होकर परमार्थरूप बन गये थे । इससे तथा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंके चरणोंकी सेवासे उन्हें भक्तियोगकी प्राप्ति हुई । तब निरन्तर भगवच्चिन्तन करके उन्होंने अपना चित्त शुद्ध किया और देहादि अनात्मवस्तुओंसे अहंभाव हटाकर वे अपने आत्माको ब्रह्मरूप अनुभव करने लगे । यह सब होनेपर भी वे निरभिमान होकर पृथ्वीका पालन करते रहे ॥ ७ ॥

परीक्षित् ! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले महात्माओंने राजर्षि गयके विषयमें यह गाथा कही है ॥ ८ ॥ 'अहो ! अपने कर्मोंसे महाराज गयकी बराबरी और कौन राजा कर सकता है ? वे साक्षात् भगवान्की कला ही थे । उन्हें छोड़कर और कौन इस प्रकार यज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठान करनेवाला, मनस्वी, बहुज्ञ, धर्मकी रक्षा करनेवाला, लक्ष्मीका प्रियपात्र, साधुसमाजका शिरोमणि और सत्पुरुषोंका सच्चा सेवक हो सकता है ? ॥ ९ ॥ सत्सङ्कल्पवाली परम साध्वी, श्रद्धा, मैत्री

१. प्रा० पा०—शुद्धो । २. प्रा० पा०—प्रतीहारात्सु० । ३. प्रा० पा०—प्रस्तावाद्विरुत्सायां हृदयजय आसी० । ४. प्रा० पा०—स वै धर्मेण प्रजा० । ५. प्रा० पा०—इवाव० ।

सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः ।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराऽऽशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः ॥१०॥
छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजहुरथो बलिं नृपाः ।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण[2] विप्रा
यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य ॥११॥
यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे ।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग-
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥१२॥
यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य ॥१३॥

और दया आदि दक्षकन्याओंने गङ्गा आदि नदियोंके सहित बड़ी प्रसन्नतासे उनका अभिषेक किया था तथा उनकी इच्छा न होनेपर भी वसुन्धराने, गौ जिस प्रकार बछड़ेके स्नेहसे पिन्हाकर दूध देती है, उसी प्रकार उनके गुणोंपर रीझकर प्रजाको धन-रत्नादि सभी अभीष्ट पदार्थ दिये थे ॥ १० ॥ उन्हें कोई कामना न थी, तब भी वेदोक्त कर्मोंने उनको सब प्रकारके भोग दिये, राजाओंने युद्धस्थलमें उनके बाणोंसे सत्कृत होकर नाना प्रकारकी भेंटें दीं तथा ब्राह्मणोंने दक्षिणादि धर्मसे संतुष्ट होकर उन्हें परलोकमें मिलनेवाले अपने धर्मफलका छठा अंश दिया ॥ ११ ॥ उनके यज्ञमें बहुत अधिक सोमपान करनेसे इन्द्र उन्मत्त हो गये थे तथा उनके अत्यन्त श्रद्धा तथा विशुद्ध और निश्चल भक्तिभावसे समर्पित किये हुए यज्ञफलको भगवान् यज्ञपुरुषने साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण किया था ॥ १२ ॥ जिनके तृप्त होनेसे ब्रह्माजीसे लेकर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष एवं तृणपर्यन्त सभी जीव तत्काल तृप्त हो जाते हैं—वे विश्वात्मा श्रीहरि नित्यतृप्त होकर भी राजर्षि गयके यज्ञमें तृप्त हो गये थे । इसलिये उनकी बराबरी कोई दूसरा व्यक्ति कैसे कर सकता है ? ॥ १३ ॥

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट ॥१४॥ तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुर्नामाभवन्मधोः सुमनसि[5] वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां[6] किल जातम् ॥ १५ ॥

महाराज गयके गयन्तीके गर्भसे चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नामक तीन पुत्र हुए । उनमें चित्ररथकी पत्नी ऊर्णासे सम्राट्का जन्म हुआ ॥ १४ ॥ सम्राट्के उत्कलासे मरीचि और मरीचिके बिन्दुमतीसे बिन्दुमान् नामक पुत्र हुआ । उसके सरघासे मधु, मधुके सुमनासे वीरव्रत और वीरव्रतके भोजासे मन्थु और प्रमन्थु नामके दो पुत्र हुए । उनमेंसे मन्थुके सत्याके गर्भसे भौवन, भौवनके दूषणाके उदरसे त्वष्टा, त्वष्टाके विरोचनासे विरज और विरजके विषूची नामकी भार्यासे शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—यथेप्सिता । २. प्रा० पा०—धर्मे च । ३. प्रा० पा०—समर्थितेज्या० । ४. प्रा० पा०—यत्प्रीणनं वर्हिषि । ५. प्रा० पा०—सुमनसा । ६. प्रा० पा०—रिषूच्यां ।

तत्रायं श्लोकः—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥१६॥

विरजके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—'जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओंकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस प्रियव्रत-वंशको इसमें सबसे पीछे उत्पन्न हुए राजा विरजने अपने सुयशसे विभूषित किया था ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रत-वंशानुकीर्तनं[1] नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

भुवनकोशका वर्णन

राजोवाच

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते[2] ॥ १ ॥ तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ता यत एतस्याः[3] सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन् खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि ॥ २ ॥ भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद् गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—मुनिवर ! जहाँतक सूर्यका प्रकाश है और जहाँतक तारागणके सहित चन्द्रदेव दीख पड़ते हैं, वहाँतक आपने भूमण्डलका विस्तार बतलाया है ॥ १ ॥ उसमें भी आपने बतलाया कि महाराज प्रियव्रतके रथके पहियोंकी सात लीकोंसे सात समुद्र बन गये थे, जिनके कारण इस भूमण्डलमें सात द्वीपोंका विभाग हुआ । अतः भगवन् ! अब मैं इन सबका परिमाण और लक्षणोंके सहित पूरा विवरण जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥ क्योंकि जो मन भगवान्‌के इस गुणमय स्थूल विग्रहमें लग सकता है, उसीका उनके वासुदेवसंज्ञक स्वयंप्रकाश निर्गुण ब्रह्मरूप सूक्ष्मतम स्वरूपमें भी लगना सम्भव है । अतः गुरुवर ! इस विषयका विशदरूपसे वर्णन करनेकी कृपा कीजिये ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥ यो[4] वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—महाराज ! भगवान्‌की मायाके गुणोंका इतना विस्तार है कि यदि कोई पुरुष देवताओंके समान आयु पा ले, तो भी मन या वाणीसे इसका अन्त नहीं पा सकता । इसलिये हम नाम, रूप, परिमाण और लक्षणोंके द्वारा मुख्य-मुख्य बातोंको लेकर ही इस भूमण्डलकी विशेषताओंका वर्णन करेंगे ॥ ४ ॥ यह जम्बूद्वीप—जिसमें हम रहते हैं—भूमण्डलरूप कमलके कोशस्थानीय जो सात द्वीप हैं, उनमें सबसे भीतरका कोश है । इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमलपत्रके समान गोलाकार है ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—वंशानुचरितं । २. प्रा० पा०—दृश्येत । ३. प्रा० पा०—एतस्यां । ४. प्रा० पा०—यावानयं द्वीपः ।

यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति ॥ ६ ॥ एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत् सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं[1] तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः ॥ ७ ॥ उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां[2] वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव[3] एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो[4] दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति ८ एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासंख्यम् ॥९॥ तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं[5] पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते ॥ १० ॥ मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः ॥ ११ ॥ चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्

इसमें नौ-नौ हजार योजन विस्तारवाले नौ वर्ष हैं, जो इनकी सीमाओंका विभाग करनेवाले आठ पर्वतोंसे बँटे हुए हैं ॥ ६ ॥ इनके बीचों-बीच इलावृत नामका दसवाँ वर्ष है, जिसके मध्यमें कुलपर्वतोंका राजा मेरुपर्वत है। वह मानो भूमण्डलरूप कमलकी कर्णिका ही है। वह ऊपरसे नीचेतक सारा-का-सारा सुवर्णमय है और एक लाख योजन ऊँचा है। उसका विस्तार शिखरपर बत्तीस हजार और तलैटीमें सोलह हजार योजन है तथा सोलह हजार योजन ही वह भूमिके भीतर घुसा हुआ है। अर्थात् भूमिके बाहर उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है ॥ ७ ॥ इलावृतवर्षके उत्तरमें क्रमशः नील, श्वेत और शृङ्गवान् नामके तीन पर्वत हैं—जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामके वर्षोंकी सीमा बाँधते हैं। वे पूर्वसे पश्चिमतक खारे पानीके समुद्रतक फैले हुए हैं। उनमेंसे प्रत्येककी चौड़ाई दो हजार योजन है तथा लम्बाईमें पहलेकी अपेक्षा पिछला क्रमशः दशमांशसे कुछ अधिक कम है, चौड़ाई और ऊँचाई तो सभीकी समान है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार इलावृतके दक्षिणकी ओर एकके बाद एक निषध, हेमकूट और हिमालय नामके तीन पर्वत हैं। नीलादि पर्वतोंके समान ये भी पूर्व-पश्चिमकी ओर फैले हुए हैं और दस-दस हजार योजन ऊँचे हैं। इनसे क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्षकी सीमाओंका विभाग होता है ॥ ९ ॥ इलावृतके पूर्व और पश्चिमकी ओर—उत्तरमें नील पर्वत और दक्षिणमें निषध पर्वततक फैले हुए गन्धमादन और माल्यवान् नामके दो पर्वत हैं। इनकी चौड़ाई दो-दो हजार योजन है और ये भद्राश्व एवं केतुमाल नामक दो वर्षोंकी सीमा निश्चित करते हैं ॥ १० ॥ इनके सिवा मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद—ये चार दस-दस हजार योजन ऊँचे और उतने ही चौड़े पर्वत मेरु पर्वतकी आधारभूता थूनियोंके समान बने हुए हैं ॥ ११ ॥ इन चारोंके ऊपर इनकी ध्वजाओंके समान क्रमशः आम, जामुन, कदम्ब और बड़के चार पेड़ हैं। इनमेंसे प्रत्येक ग्यारह सौ योजन

१. प्रा० पा०—षोडशसहस्रे। २. प्रा० पा०—कुरूणां त्रयाणां वर्षाणां। ३. प्रा० पा०—द्विसाहस्रं। ४. प्रा० पा०—उत्तरेण। ५. प्रा० पा०—द्विसाहस्रं।

विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः ॥ १२ ॥ ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति ॥ १३ ॥ देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति ॥ १४ ॥ येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति ॥ १५ ॥

ऊँचा है और इतना ही इनकी शाखाओंका विस्तार है। इनकी मोटाई सौ-सौ योजन है ॥ १२ ॥ भरतश्रेष्ठ ! इन पर्वतोंपर चार सरोवर भी हैं—जो क्रमशः दूध, मधु, ईखके रस और मीठे जलसे भरे हुए हैं। इनका सेवन करनेवाले यक्ष-किन्नरादि उपदेवोंको स्वभावसे ही योगसिद्धियाँ प्राप्त हैं ॥ १३ ॥ इनपर क्रमशः नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नामके चार दिव्य उपवन भी हैं ॥ १४ ॥ इनमें प्रधान-प्रधान देवगण अनेकों सुरसुन्दरियोंके नायक बनकर साथ-साथ विहार करते हैं। उस समय गन्धर्वादि उपदेवगण इनकी महिमाका बखान किया करते हैं ॥ १५ ॥

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति ।१६। तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति १७ यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति॥१८॥ एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति ॥ १९ ॥ तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति ॥ २० ॥

मन्दराचलकी गोदमें जो ग्यारह सौ योजन ऊँचा देवताओंका आम्रवृक्ष है, उससे गिरिशिखरके समान बड़े-बड़े और अमृतके समान स्वादिष्ट फल गिरते हैं ॥ १६ ॥ वे जब फटते हैं, तब उनसे बड़ा सुगन्धित और मीठा लाल-लाल रस बहने लगता है। वही अरुणोदा नामकी नदीमें परिणत हो जाता है। यह नदी मन्दराचलके शिखरसे गिरकर अपने जलसे इलावृतवर्षके पूर्वी भागको सींचती है ॥ १७ ॥ श्रीपार्वतीजीकी अनुचरी यक्षपत्नियाँ इस जलका सेवन करती हैं। इससे उनके अङ्गोंसे ऐसी सुगन्ध निकलती है कि उन्हें स्पर्श करके बहनेवाली वायु उनके चारों ओर दस-दस योजनतक सारे देशको सुगन्धसे भर देती है ॥ १८ ॥ इसी प्रकार जामुनके वृक्षसे हाथीके समान बड़े-बड़े प्रायः बिना गुठलीके फल गिरते हैं। बहुत ऊँचेसे गिरनेके कारण वे फट जाते हैं। उनके रससे जम्बू नामकी नदी प्रकट होती है, जो मेरुमन्दर पर्वतके दस हजार योजन ऊँचे शिखरसे गिरकर इलावृतके दक्षिण भू-भागको सींचती है ॥ १९ ॥ उस नदीके दोनों किनारोंकी मिट्टी उस रससे भीगकर जब वायु और सूर्यके संयोगसे सूख जाती है, तब वही देवलोकको विभूषित करनेवाला जाम्बूनद नामका सोना बन जाती है ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—तेष्वमरपरिवृढाः । २. प्रा० पा०—देवगिरिशिरसो । ३. प्रा० पा०—रसोदेन नानारुणोदा नाम । ४. प्रा० पा०—घृतमुपस्यन्दति । ५. प्रा० पा०—रसेनानुविध्यमाना च वाय्व० । ६. प्रा० पा०—सदा चामरलोकाभरणं ।

यदु ह वाव विबुधादयः सह युवतिभि[1]र्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति ॥ २१ ॥

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढो[2] यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति[3] ॥ २२ ॥ या[4] ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो[5] वायुः समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति ॥ २३ ॥

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो[6] नीचीनाः पयोदधिमधुघृतगुडान्ना[7]द्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सर्व एव कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति ॥ २४ ॥ यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां वलीपलितक्लमस्वेददौर्गन्ध्यजरामयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव ॥ २५ ॥

कुरङ्ग[8]कुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसर्षभनागकालञ्जरनारदा[9]दयो विंशतिगिरयो[10] मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः ॥ २६ ॥ जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्र[11]मुदगायतौ द्विसहस्रं[12] पृथुतुङ्गौ भवतः । एवमपरेण पवनपारियात्रौ

इसे देवता और गन्धर्वादि अपनी तरुणी स्त्रियोंके सहित मुकुट, कङ्कण और करधनी आदि आभूषणोंके रूपमें धारण करते हैं ॥ २१ ॥

सुपार्श्व पर्वतपर जो विशाल कदम्बवृक्ष है, उसके पाँच कोटरोंसे मधुकी पाँच धाराएँ निकलती हैं, उनकी मोटाई पाँच पुरसे-जितनी है। ये सुपार्श्वके शिखरसे गिरकर इलावृतवर्षके पश्चिमी भागको अपनी सुगन्धसे सुवासित करती हैं ॥ २२ ॥ जो लोग इनका मधुपान करते हैं, उनके मुखसे निकली हुई वायु अपने चारों ओर सौ-सौ योजनतक इसकी महक फैला देती है ॥२३॥

इसी प्रकार कुमुद पर्वतपर जो शतवल्श नामका वटवृक्ष है, उसकी जटाओंसे नीचेकी ओर बहनेवाले अनेक नद निकलते हैं, वे सब इच्छानुसार भोग देनेवाले हैं। उनसे दूध, दही, मधु, घृत, गुड़, अन्न, वस्त्र, शय्या, आसन और आभूषण आदि सभी पदार्थ मिल सकते हैं। ये सब कुमुदके शिखरसे गिरकर इलावृतके उत्तरी भागको सींचते हैं ॥ २४ ॥ इनके दिये हुए पदार्थोंका उपभोग करनेसे वहाँकी प्रजाकी त्वचामें झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना, थकान होना, शरीरमें पसीना आना तथा दुर्गन्ध निकलना, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, सर्दी-गरमीकी पीड़ा, शरीरका कान्तिहीन हो जाना तथा अङ्गोंका टूटना आदि कष्ट कभी नहीं सताते और उन्हें जीवनपर्यन्त पूरा-पूरा सुख प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

राजन्! कमलकी कर्णिकाके चारों ओर जैसे केसर होता है—उसी प्रकार मेरुके मूलदेशमें उसके चारों ओर कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, वैकङ्क, त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शङ्ख, वैदूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालंजर और नारद आदि बीस पर्वत और हैं ॥ २६ ॥ इनके सिवा मेरुके पूर्वकी ओर जठर और देवकूट नामके दो पर्वत हैं, जो अठारह-अठारह हजार योजन लंबे तथा दो-दो हजार योजन चौड़े और ऊँचे हैं। इसी प्रकार पश्चिमकी ओर पवन और

१. प्रा० पा०—सहस्रयुवतिभि०। २. प्रा० पा०—निरूढस्तस्य याः कोट०। ३. प्रा० पा०—मनुमादयन्ति। ४. प्रा० पा०—यो ह्युप०। ५. प्रा० पा०—मुखनिःश्वसितो। ६. प्रा० पा०—निलीनः। ७. प्रा० पा०—गुडान्नाम्बरशय्या। ८. प्रा० पा०—कुवर०। ९. प्रा० पा०—नीरदायामा। १०. प्राचीन प्रतिमें 'विंशतिगिरयो'—यह पाठ नहीं है। ११. प्रा० पा०—साहस्र। १२. प्रा० पा०—द्विसाहस्रं।

दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरस्त्रिश्रृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः ॥२७॥ मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति ॥ २८ ॥ तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः ॥ २९ ॥

पारियात्र, दक्षिणकी ओर कैलास और करवीर तथा उत्तरकी ओर त्रिश्रृङ्ग और मकर नामके पर्वत हैं । इन आठ पहाड़ोंसे चारों ओर घिरा हुआ सुवर्णगिरि मेरु अग्निके समान जगमगाता रहता है ॥ २७ ॥ कहते हैं, मेरुके शिखरपर बीचोंबीच भगवान् ब्रह्माजीकी सुवर्णमयी पुरी है—जो आकारमें समचौरस तथा करोड़ योजन विस्तारवाली है ॥ २८ ॥ उसके नीचे पूर्वादि आठ दिशा और उपदिशाओंमें उनके अधिपति इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं । वे अपने-अपने स्वामीके अनुरूप उन्हीं-उन्हीं दिशाओंमें हैं तथा परिमाणमें ब्रह्माजीकी पुरीसे चौथाई हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

गङ्गाजीका विवरण और भगवान् शंकरकृत संकर्षणदेवकी स्तुति

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः ॥१॥ यत्र[1] ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगल[2]कुड्मलविग-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब राजा बलिकी यज्ञशालामें साक्षात् यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया, तब उनके बायें पैरके अंगूठेके नखसे ब्रह्माण्डकटाहका ऊपरका भाग फट गया । उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्माण्डसे बाहरके जलकी धारा आयी, वह उस चरणकमलको धोनेसे उसमें लगी हुई केसरके मिलनेसे लाल हो गयी । उस निर्मल धाराका स्पर्श होते ही संसारके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किंतु वह सर्वथा निर्मल ही रहती है । पहले किसी और नामसे न पुकारकर उसे 'भगवत्पदी' ही कहते थे । वह धारा हजारों युग बीतनेपर स्वर्गके शिरोभागमें स्थित ध्रुवलोकमें उतरी, जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं ॥ १ ॥ वीरव्रत परीक्षित् ! उस ध्रुवलोकमें उत्तानपादके पुत्र परम भागवत ध्रुवजी रहते हैं । वे नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्ति-भावसे 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर आज भी उस जलको बड़े आदरसे सिरपर चढ़ाते हैं । उस समय प्रेमावेशके कारण उनका

१. प्रा० पा०—यत्र वा ह वाव । २. प्रा० पा०—युगलविगलितामल० ।

लितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुल-
कोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति ॥ २ ॥

ततः सप्त ऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति ॥ ३ ॥

ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डलमावार्य ब्रह्मसदने निपतति ॥४॥

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिर्विशति सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति ॥ ५ ॥ सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति ॥ ६ ॥ एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभि चक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति ॥७॥ भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति ॥ ८ ॥ तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभि वर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां[10] स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेध-

हृदय अत्यन्त गद्गद हो जाता है, उत्कण्ठावश बरबस मुँदे हुए दोनों नयन-कमलोंसे निर्मल आँसुओंकी धारा बहने लगती है और शरीरमें रोमाञ्च हो आता है ॥ २ ॥

इसके पश्चात् आत्मनिष्ठ सप्तर्षिगण उनका प्रभाव जाननेके कारण 'यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है' ऐसा मानकर उसे आज भी इस प्रकार आदरपूर्वक अपने जटाजूटपर वैसे ही धारण करते हैं, जैसे मुमुक्षुजन प्राप्त हुई मुक्तिको। यों ये बड़े ही निष्काम हैं; सर्वात्मा भगवान् वासुदेवकी निश्चल भक्तिको ही अपना परम धन मानकर इन्होंने अन्य सभी कामनाओंको त्याग दिया है, यहाँतक कि आत्मज्ञानको भी ये उसके सामने कोई चीज नहीं समझते ॥ ३ ॥ वहाँसे गङ्गाजी करोड़ों विमानोंसे घिरे हुए आकाशमें होकर उतरती हैं और चन्द्रमण्डलको आप्लावित करती मेरुके शिखरपर ब्रह्मपुरीमें गिरती हैं ॥ ४ ॥

वहाँ ये सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नामसे चार धाराओंमें विभक्त हो जाती हैं तथा अलग-अलग चारों दिशाओंमें बहती हुई अन्तमें नद-नदियोंके अधीश्वर समुद्रमें गिर जाती हैं ॥ ५ ॥ इनमें सीता ब्रह्मपुरीसे गिरकर केसराचलोंके सर्वोच्च शिखरोंमें होकर नीचेकी ओर बहती गन्धमादनके शिखरोंपर गिरती है और भद्राश्ववर्षको प्लावित कर पूर्वकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार चक्षु माल्यवान्‌के शिखरपर पहुँचकर वहाँसे बेरोक-टोक केतुमालवर्षमें बहती पश्चिमकी ओर क्षारसमुद्रमें जा मिलती है॥७॥ भद्रा मेरुपर्वतके शिखरसे उत्तरकी ओर गिरती है तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती, अन्तमें शृङ्गवान्‌के शिखरसे गिरकर उत्तरकुरु देशमें होकर उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है ॥ ८ ॥ अलकनन्दा ब्रह्मपुरीसे दक्षिणकी ओर गिरकर अनेकों गिरि-शिखरोंको लाँघती हेमकूट पर्वतपर पहुँचती है, वहाँसे अत्यन्त तीव्र वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई भारतवर्षमें आती है और फिर दक्षिणकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवाले पुरुषोंको पद-पदपर अश्व-

१. प्रा० पा०—न्ती चन्द्रमण्डल०। २. प्रा० पा०—निविशते। ३. प्रा० पा०—मूर्धनि। ४. प्रा० पा०—निष्पतन्त्यनुपरतवेगा। ५. प्रा० पा०—उदीच्यां प्रविशति। ६. प्रा० पा०—दक्षिणेन तु ब्रह्म०। ७. प्राचीन प्रतिमें 'क्रम्य' यह पाठ खण्डित है। ८. प्रा० पा०—भारतवर्षं दक्षिणस्यां। ९. प्रा० पा०—लवणजलधिमभिप्रविशति। १०. प्राचीन प्रतिमें 'यस्यां स्नानार्थं…'से आरम्भकर 'फलं न दुर्लभमिति' पर्यन्त अंश नहीं है।

राजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति ॥ ९ ॥ अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः ॥ १० ॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ॥ ११ ॥ एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते ॥ १२ ॥ यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः सर्वर्तुकुसुमस्तबकफलकिसलयश्रियाऽऽनम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिरकाननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविधनववनरुहामोदमुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावलोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति ॥ १३ ॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि संनिधीयते ॥ १४ ॥ इलावृते तु भगवान् भव एक एव पुमान्न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः

मेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं है ॥ ९ ॥ प्रत्येक वर्षमें मेरु आदि पर्वतोंसे निकली हुई और भी सैकड़ों नद-नदियाँ हैं ॥ १० ॥

इन सब वर्षोंमें भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। शेष आठ वर्ष तो स्वर्गवासी पुरुषोंके स्वर्गभोगसे बचे हुए पुण्योंको भोगनेके स्थान हैं। इसलिये इन्हें भूलोकके स्वर्ग भी कहते हैं॥ ११ ॥ वहाँके देवतुल्य मनुष्योंकी मानवी गणनाके अनुसार दस हजार वर्षकी आयु होती है। उनमें दस हजार हाथियोंका बल होता है तथा उनके वज्रसदृश सुदृढ़ शरीरमें जो शक्ति, यौवन और उल्लास होते हैं—उनके कारण वे बहुत समयतक मैथुन आदि विषय भोगते रहते हैं। अन्तमें जब भोग समाप्त होनेपर उनकी आयुका केवल एक वर्ष रह जाता है, तब उनकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं। इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुगके समान समय बना रहता है ॥ १२ ॥ वहाँ ऐसे आश्रम, भवन और वर्ष, पर्वतोंकी घाटियाँ हैं जिनके सुन्दर वन-उपवन सभी ऋतुओंके फूलोंके गुच्छे, फल और नूतन पल्लवोंकी शोभाके भारसे झुकी हुई डालियों और लताओंवाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं; वहाँ निर्मल जलसे भरे हुए ऐसे जलाशय भी हैं जिनमें तरह-तरहके नूतन कमल खिले रहते हैं और उन कमलोंकी सुगन्धसे प्रमुदित होकर राजहंस, जलमुर्ग, कारण्डव, सारस और चकवा आदि पक्षी तरह-तरहकी बोली बोलते तथा विभिन्न जातिके मतवाले भौंरे मधुर-मधुर गुंजार करते रहते हैं। इन आश्रमों, भवनों, घाटियों तथा जलाशयोंमें वहाँके देवेश्वरगण परम सुन्दरी देवाङ्गनाओंके साथ उनके कामोन्मादसूचक हास-विलास और लीला-कटाक्षोंसे मन और नेत्रोंके आकृष्ट हो जानेके कारण जलक्रीडादि नाना प्रकारके खेल करते हुए स्वच्छन्द विहार करते हैं तथा उनके प्रधान-प्रधान अनुचरगण अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे उनका आदर-सत्कार करते रहते हैं ॥ १३ ॥

इन नवों वर्षोंमें परमपुरुष भगवान् नारायण वहाँके पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये इस समय भी अपनी विभिन्न मूर्तियोंसे विराजमान रहते हैं ॥ १४ ॥ इलावृतवर्षमें एकमात्र भगवान् शंकर ही पुरुष हैं। श्रीपार्वतीजी-

१. प्रा० पा०—वर्षे बहुशो। २. प्रा० पा०—रुचिराश्रमायतन०। ३. प्रा० पा०—मोदमदमुदितराजहंसकलहंसजल०। ४. प्रा० पा०—लोकाः स्वैरं विहरन्ति। ५. प्रा० पा०—व्यूहैरात्मनाद्यापि।

शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यतः स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्व-क्ष्यामि[1] ॥ १५ ॥ भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रै-रवरुध्यमानो[2] भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्म-समाधिरूपेण संनिधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुण-सङ्ख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति[3]॥ १७ ॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥१८॥

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥१९॥

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥२०॥

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।

के शापको जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष वहाँ प्रवेश नहीं करता; क्योंकि वहाँ जो जाता है, वही स्त्री-रूप हो जाता है । इस प्रसङ्गका हम आगे (नवम स्कन्धमें) वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥ वहाँ पार्वती एवं उनकी अरबों-खरबों दासियोंसे सेवित भगवान् शंकर परम पुरुष परमात्माकी वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षणसंज्ञक चतुर्व्यूह-मूर्तियोंमेंसे अपनी कारणरूपा सङ्कर्षण नामकी तमःप्रधान चौथी मूर्तिका ध्यानस्थित मनोमय विग्रहके रूपमें चिन्तन करते हैं और इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं* ॥ १६ ॥

भगवान् शंकर कहते हैं—'ॐ जिनसे सभी गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है, उन अनन्त और अव्यक्तमूर्ति ओङ्कार-स्वरूप परमपुरुष श्रीभगवान्‌को नमस्कार है ।' 'भजनीय प्रभो ! आपके चरणकमल भक्तोंको आश्रय देनेवाले हैं तथा आप स्वयं सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके परम आश्रय हैं । भक्तों-के सामने आप अपना भूतभावन स्वरूप पूर्णतया प्रकट कर देते हैं तथा उन्हें संसारबन्धनसे भी मुक्त कर देते हैं, किंतु अभक्तोंको उस बन्धनमें डालते रहते हैं । आप ही सर्वेश्वर हैं, मैं आपका भजन करता हूँ ॥१७-१८॥ प्रभो ! हमलोग क्रोधके आवेगको नहीं जीत सके हैं तथा हमारी दृष्टि तत्काल पापसे लिप्त हो जाती है । परंतु आप तो संसारका नियमन करनेके लिये निरन्तर साक्षी-रूपसे उसके सारे व्यापारोंको देखते रहते हैं । तथापि हमारी तरफ आपकी दृष्टिपर उन मायिक विषयों तथा चित्तकी वृत्तियोंका नाममात्रको भी प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसी स्थितिमें अपने मनको वशमें करनेकी इच्छावाला कौन पुरुष आपका आदर न करेगा ॥ १९ ॥ आप जिन पुरुषोंको मधु-आसवादि पानके कारण अरुणनयन और मतवाले जान पड़ते हैं, वे मायाके वशीभूत होकर ही ऐसा मिथ्या दर्शन करते हैं तथा आपके चरण-स्पर्श-से ही चित्त चञ्चल हो जानेके कारण नागपत्नियाँ लज्जा-वश आपकी पूजा करनेमें असमर्थ हो जाती हैं ॥ २० ॥ वेदमन्त्र आपको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण बताते हैं, परंतु आप स्वयं इन तीनों विकारोंसे

१. प्रा० पा०—पश्चाद्वक्ष्यामः । २. प्रा० पा०—सहस्रैर्व्यवरुद्धमानो ।

* भगवान्‌का विग्रह शुद्ध चिन्मय ही है, परंतु संहार आदि तामसी कार्योंका हेतु होनेसे इसे तामसी मूर्ति कहते हैं।

न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥२१॥
यस्माद्य आसीद् गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥२२॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥२३॥
यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते[1] विलयोदयात्मने ॥२४॥

रहित हैं; इसलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं । आपके सहस्र मस्तकोंपर यह भूमण्डल सरसोंके दानेके समान रक्खा हुआ है, आपको तो यह भी नहीं माळूम होता कि वह कहाँ स्थित है ॥ २१ ॥ जिनसे उत्पन्न हुआ मैं अहंकाररूप अपने त्रिगुणमय तेजसे देवता, इन्द्रिय और भूतोंकी रचना करता हूँ—वे विज्ञानके आश्रय भगवान् ब्रह्माजी भी आपके ही महत्तत्त्वसंज्ञक प्रथम गुणमय स्वरूप हैं ॥ २२ ॥ महात्मन् ! महत्तत्त्व, अहंकार-इन्द्रियाभिमानी देवता, इन्द्रियाँ और पञ्चभूत आदि हम सभी डोरीमें बँधे हुए पक्षीके समान आपकी क्रियाशक्तिके वशीभूत रहकर आपकी ही कृपासे इस जगत्की रचना करते हैं ॥ २३ ॥ सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टिसे मोहित हुआ यह जीव आपकी ही रची हुई तथा कर्म-बन्धनमें बाँधनेवाली मायाको तो कदाचित् जान भी लेता है, किंतु उससे मुक्त होनेका उपाय उसे सुगमतासे नहीं माळूम होता । इस जगत्की उत्पत्ति और प्रलय भी आपके ही रूप हैं । ऐसे आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ' ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न वर्षोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना संनिधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति ॥ १ ॥

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥ २ ॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! भद्राश्ववर्षमें धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके मुख्य-मुख्य सेवक भगवान् वासुदेवकी हयग्रीवसंज्ञक धर्ममयी प्रिय मूर्तिको अत्यन्त समाधिनिष्ठाके द्वारा हृदयमें स्थापित कर इस मन्त्रका जप करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भद्रश्रवा और उनके सेवक कहते हैं—'चित्तको विशुद्ध करनेवाले ओङ्कारस्वरूप भगवान् धर्मको नमस्कार है ॥ २ ॥ अहो ! भगवान्की लीला बड़ी विचित्र है, जिसके कारण यह जीव सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेवाले कालको देखकर भी नहीं देखता और तुच्छ विषयोंका

१. प्रा० पा०—नमस्तद्विलयोद० ।

ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३ ॥
वेदन्ति[1] विश्वं कवयः स नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया[2]
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४ ॥
विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः[3] ॥ ५ ॥
वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति ॥ ६ ॥

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते । तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये । तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥७॥

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान्[5] रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा । अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा[6] ॐ क्ष्रौम् ॥ ८ ॥

सेवन करनेके लिये पापमय विचारोंकी उधेड़-बुनमें लगा हुआ अपने ही हाथों अपने पुत्र और पितादिकी लाशको जलाकर भी स्वयं जीते रहनेकी इच्छा करता है ॥ ३ ॥ विद्वान् लोग जगत्‌को नश्वर बताते हैं और सूक्ष्मदर्शी आत्मज्ञानी ऐसा ही देखते भी हैं; तो भी जन्मरहित प्रभो ! आपकी मायासे लोग मोहित हो जाते हैं। आप अनादि हैं तथा आपके कृत्य बड़े विस्मयजनक हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥ परमात्मन् ! आप अकर्ता और मायाके आवरणसे रहित हैं तो भी जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—ये आपके ही कर्म माने गये हैं । सो ठीक ही है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सर्वात्मरूपसे आप ही सम्पूर्ण कार्योंके कारण हैं और अपने शुद्धस्वरूपमें इस कार्य-कारणभावसे सर्वथा अतीत हैं ॥ ५ ॥ आपका विग्रह मनुष्य और घोड़ेका संयुक्त रूप है । प्रलयकालमें जब तमःप्रधान दैत्यगण वेदोंको चुरा ले गये थे, तब ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर आपने उन्हें रसातलसे लाकर दिया । ऐसे अमोघ लीला करनेवाले सत्यसङ्कल्प आपको मैं नमस्कार करता हूँ' ॥ ६ ॥

हरिवर्षखण्डमें भगवान् नृसिंहरूपसे रहते हैं । उन्होंने यह रूप जिस कारणसे धारण किया था, उसका आगे (सप्तम स्कन्धमें) वर्णन किया जायगा । भगवान्‌के उस प्रिय रूपकी महाभागवत प्रह्लादजी उस वर्षके अन्य पुरुषोंके सहित निष्काम एवं अनन्य भक्तिभावसे उपासना करते हैं । ये प्रह्लादजी महापुरुषोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं तथा इन्होंने अपने शील और आचरणसे दैत्य और दानवोंके कुलको पवित्र कर दिया है । वे इस मन्त्र तथा स्तोत्रका जप-पाठ करते हैं ॥ ७ ॥

—'ओङ्कारस्वरूप भगवान् श्रीनृसिंह देवको नमस्कार है । आप अग्नि आदि तेजोंके भी तेज हैं, आपको नमस्कार है।' 'हे वज्रनख ! हे वज्रदंष्ट्र ! आप हमारे समीप प्रकट होइये, प्रकट होइये; हमारी कर्म-वासनाओंको जला डालिये, जला डालिये । हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कीजिये, नष्ट कीजिये । ॐ स्वाहा । हमारे अन्तःकरणमें अभयदान देते हुए प्रकाशित होइये । ॐ क्ष्रौम्' ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—विदन्ति । २. प्रा० पा०—माययाऽऽशु विस्मितं । ३. प्रा० पा०—वस्तुनि । ४. प्रा० पा०—व्यवधानमनन्यभक्ति० । ५. प्रा० पा०—शयान् तमो ग्रस ॐ । ६. प्रा० पा०—भूयिष्ठाः क्ष्रौम् ।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥
मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥१०॥
यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥११॥
यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥१२॥
हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥१३॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥१४॥

केतुमालेऽपि भगवान् कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणां तद्वर्ष-

'नाथ ! विश्वका कल्याण हो, दुष्टोंकी बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरेका हित-चिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्कामभावसे भगवान् श्रीहरिमें प्रवेश करे ॥९॥ प्रभो ! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो; यदि हो तो केवल भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें ही । जो संयमी पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके योग्य अन्नादिसे संतुष्ट रहता है, उसे जितना शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, वैसी इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं होती ॥१०॥ उन भगवद्भक्तोंके सङ्गसे भगवान्के तीर्थतुल्य पवित्र चरित्र सुननेको मिलते हैं, जो उनकी असाधारण शक्ति एवं प्रभावके सूचक होते हैं । उनका बार-बार सेवन करनेवालोंके कानोंके रास्तेसे भगवान् हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं और उनके सभी प्रकारके दैहिक और मानसिक मलोंको नष्ट कर देते हैं । फिर भला, उन भगवद्भक्तोंका सङ्ग कौन न करना चाहेगा ? ॥ ११ ॥ जिस पुरुषकी भगवान्में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं । किंतु जो भगवान्का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं ? वह तो तरह-तरहके सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है ॥ १२ ॥ जैसे मछलियोंको जल अत्यन्त प्रिय—उनके जीवनका आधार होता है, उसी प्रकार साक्षात् श्रीहरि ही समस्त देह-धारियोंके प्रियतम आत्मा हैं । उन्हें त्यागकर यदि कोई महत्त्वाभिमानी पुरुष घरमें आसक्त रहता है तो उस दशामें स्त्री-पुरुषोंका बड़प्पन केवल आयुको लेकर ही माना जाता है; गुणकी दृष्टिसे नहीं ॥१३॥ अतः असुरगण ! तुम तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता और मानसिक संतापके मूल तथा जन्म-मरण-रूप संसारचक्रका वहन करनेवाले गृह आदिको त्यागकर भगवान् नृसिंहके निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लो ॥ १४ ॥

केतुमालवर्षमें लक्ष्मीजीका तथा संवत्सर नामक प्रजापतिके पुत्र और पुत्रियोंका प्रिय करनेके लिये भगवान् कामदेवरूपसे निवास करते हैं । उन रात्रिकी अभिमानी देवतारूप कन्याओं और दिवसाभिमानी

पतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति ॥ १५ ॥ अतीव सुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते ॥१६॥ तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमा देवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥१७॥ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलायच्छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात् ॥ १८ ॥

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥१९॥
स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥२०॥

देवतारूप पुत्रोंकी संख्या मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुके दिन और रातके बराबर अर्थात् छत्तीस-छत्तीस हजार वर्ष है, और वे ही उस वर्षके अधिपति हैं। वे कन्याएँ परमपुरुष श्रीनारायणके श्रेष्ठ अस्त्र सुदर्शनचक्रके तेजसे डर जाती हैं, इसलिये प्रत्येक वर्षके अन्तमें उनके गर्भ नष्ट होकर गिर जाते हैं ॥१५॥ भगवान् अपने सुललित गति-विलाससे सुशोभित मधुर-मधुर मन्द-मुसकानसे मनोहर लीलापूर्ण चारु चितवनसे कुछ उझके हुए सुन्दर भ्रूमण्डलकी छबीली छटाके द्वारा वदनारविन्दका राशि-राशि सौन्दर्य उँड़ेलकर सौन्दर्यदेवी लक्ष्मीको अत्यन्त आनन्दित करते और स्वयं भी आनन्दित होते रहते हैं ॥ १६ ॥ श्रीलक्ष्मीजी परम समाधियोगके द्वारा भगवान्के उस मायामय स्वरूपकी रात्रिके समय प्रजापति संवत्सरकी कन्याओंसहित और दिनमें उनके पतियोंके सहित आराधना और वे इस मन्त्रका जप करती हुई भगवान्की स्तुति करती हैं ॥ १७ ॥ 'जो इन्द्रियोंके नियन्ता और सम्पूर्ण श्रेष्ठ वस्तुओंके आकर हैं, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और सङ्कल्प-अध्यवसाय आदि चित्तके धर्मों तथा उनके विषयोंके अधीश्वर हैं, ग्यारह इन्द्रिय और पाँच विषय—इन सोलह कलाओंसे युक्त हैं, वेदोक्त कर्मोंसे प्राप्त होते हैं तथा अन्नमय, अमृतमय और सर्वमय हैं—उन मानसिक, ऐन्द्रियक एवं शारीरिक बलस्वरूप परम सुन्दर भगवान् कामदेवको 'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं' इन बीजमन्त्रोंके सहित सब ओरसे नमस्कार है' ॥ १८ ॥

'भगवन् ! आप इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं। स्त्रियाँ तरह-तरहके कठोर व्रतोंसे आपकी ही आराधना करके अन्य लौकिक पतियोंकी इच्छा किया करती हैं। किंतु वे उनके प्रिय पुत्र, धन और आयुकी रक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वे स्वयं ही परतन्त्र हैं ॥ १९ ॥ सच्चा पति (रक्षा करनेवाला या ईश्वर) वही है, जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगोंकी सब प्रकारसे रक्षा कर सके। ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं; यदि एकसे अधिक ईश्वर माने जायँ, तो उन्हें एक-दूसरेसे भय होनेकी सम्भावना है। अतएव आप अपनी प्राप्तिसे बढ़कर और किसी

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते ॥२१॥

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥२२॥

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥२३॥

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति ॥२४॥

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति ॥२५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥२६॥

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च ।

लाभको नहीं मानते ॥ २० ॥ भगवन् ! जो स्त्री आपके चरणकमलोंका पूजन ही चाहती है, और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करती—उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, किंतु जो किसी एक कामनाको लेकर आपकी उपासना करती है, उसे आप केवल वही वस्तु देते हैं और जब भोग समाप्त होनेपर वह नष्ट हो जाती है तो उसके लिये उसे संतप्त होना पड़ता है ॥२१॥ अजित ! मुझे पानेके लिये इन्द्रिय-सुखके अभिलाषी ब्रह्मा और रुद्र आदि समस्त सुरासुरगण घोर तपस्या करते रहते हैं, किंतु आपके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले भक्तके सिवा मुझे कोई पा नहीं सकता, क्योंकि मेरा मन तो आपमें ही लगा रहता है ॥ २२ ॥ अच्युत ! आप अपने जिस वन्दनीय करकमलको भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं, उसे मेरे सिरपर भी रखिये । वरेण्य ! आप मुझे केवल श्रीलाञ्छनरूपसे अपने वक्षःस्थलमें ही धारण करते हैं; सो आप सर्वसमर्थ हैं, आप अपनी मायासे जो लीलाएँ करते हैं, उनका रहस्य कौन जान सकता है ?' ॥२३॥

रम्यकवर्षमें भगवान्ने वहाँके अधिपति मनुको पूर्वकालमें अपना परम प्रिय मत्स्यरूप दिखाया था । मनुजी इस समय भी भगवान्के उसी रूपकी बड़े भक्तिभावसे उपासना करते हैं और इस मन्त्रका जप करते हुए स्तुति करते हैं—'सत्त्वप्रधान मुख्य प्राण सूत्रात्मा तथा मनोबल, इन्द्रियबल और शरीरबल ओङ्कारपदके अर्थ सर्वश्रेष्ठ भगवान् महामत्स्यको बार-बार नमस्कार है' ॥२४-२५॥

'प्रभो ! नट जिस प्रकार कठपुतलियोंको नचाता है, उसी प्रकार आप ब्राह्मणादि नामोंकी डोरीसे सम्पूर्ण विश्वको अपने अधीन करके नचा रहे हैं । अतः आप ही सबके प्रेरक हैं । आपको ब्रह्मादि लोकपालगण भी नहीं देख सकते; तथापि आप समस्त प्राणियोंके भीतर प्राणरूपसे और बाहर वायुरूपसे निरन्तर संचार करते रहते हैं । वेद ही आपका महान् शब्द है ॥२६॥ एक बार इन्द्रादि इन्द्रियाभिमानी देवताओंको प्राणस्वरूप आपसे डाह हुआ । तब आपके अलग हो जानेपर वे अलग-

पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥२७॥
भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥२८॥

हिरण्मयेऽपि भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति मन्त्रमिमं चानुजपति ॥२९॥

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते ॥३०॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥३१॥
जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥३२॥
यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति ।३३।

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान् यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलित-

अलग अथवा आपसमें मिलकर भी मनुष्य-पशु, स्थावर-जङ्गम आदि जितने शरीर दिखायी देते हैं—उनमेंसे किसीकी बहुत यत्न करनेपर भी रक्षा नहीं कर सके ॥ २७ ॥ अजन्मा प्रभो ! आपने मेरे सहित समस्त औषध और लताओंकी आश्रयरूपा इस पृथ्वीको लेकर बड़ी-बड़ी उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त प्रलयकालीन समुद्रमें बड़े उत्साहसे विहार किया था । आप संसारके समस्त प्राणसमुदायके नियन्ता हैं; मेरा आपको नमस्कार है' ॥ २८ ॥

हिरण्मयवर्षमें भगवान् कच्छपरूप धारण करके रहते हैं। वहाँके निवासियोंके सहित पितृराज अर्यमा भगवान्‌की उस प्रियतम मूर्तिकी उपासना करते हैं और इस मन्त्रको निरन्तर जपते हुए स्तुति करते हैं ॥२९॥—'जो सम्पूर्ण सत्त्वगुणसे युक्त हैं, जलमें विचरते रहनेके कारण जिनके स्थानका कोई निश्चय नहीं है तथा जो कालकी मर्यादाके बाहर हैं, उन ओंकारस्वरूप सर्वव्यापक सर्वाधार भगवान् कच्छपको बार-बार नमस्कार है' ॥ ३० ॥

'भगवन् ! अनेक रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह दृश्य-प्रपञ्च यद्यपि मिथ्या ही निश्चय होता है, इसलिये इसकी वस्तुतः कोई संख्या नहीं है, तथापि यह मायासे प्रकाशित होनेवाला आपका ही रूप है । ऐसे अनिर्वचनीयरूप आपको मेरा नमस्कार है ॥३१॥ एकमात्र आप ही जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जङ्गम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह और तारा आदि विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ३२ ॥ आप असंख्य नाम, रूप और आकृतियोंसे युक्त हैं, कपिलादि विद्वानोंने जो आपमें चौबीस तत्त्वोंकी संख्या निश्चित की है—वह जिस तत्त्वदृष्टिका उदय होनेपर निवृत्त हो जाती है, वह भी वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तस्वरूप आपको मेरा नमस्कार है' ॥ ३३ ॥

उत्तर कुरुवर्षमें भगवान् यज्ञपुरुष वराहमूर्ति धारण करके विराजमान हैं । वहाँके निवासियोंके सहित साक्षात् पृथ्वीदेवी उनकी अविचल भक्तिभावसे उपासना करती

१. प्रा० पा०—ज्ञातुं न शेकु० । २. प्रा० पा०—हिरण्मये तु । ३. प्रा० पा०—पितॄणां गणाधिपति० । ४. प्रा० पा०—तत्त्वगुण० । ५. प्रा० पा०—तं ह्यर्थस्वरूपं ।

भक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषद-मावर्तयति ॥ ३४ ॥ ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्व-लिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥३५॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥३६॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥३७॥

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥३८॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥३९॥

और इस परमोत्कृष्ट मन्त्रका जप करती हुई स्तुति करती हैं—॥३४॥ जिनका तत्त्व मन्त्रोंसे जाना जाता है, जो यज्ञ और क्रतुरूप हैं तथा बड़े-बड़े यज्ञ जिनके अङ्ग हैं—उन ओङ्कारस्वरूप शुक्लकर्ममय त्रियुगमूर्ति पुरुषोत्तम भगवान् वराहको बार-बार नमस्कार है' ॥ ३५ ॥

'ऋत्विजगण जिस प्रकार अरणिरूप काष्ठखण्डोंमें छिपी हुई अग्निको मन्थनद्वारा प्रकट करते हैं, उसी प्रकार कर्मासक्ति एवं कर्मफलकी कामनासे छिपे हुए जिनके रूपको देखनेकी इच्छासे परमप्रवीण पण्डितजन अपने विवेकयुक्त मनरूप मन्थनकाष्ठसे शरीर एवं इन्द्रियादिको बिलो डालते हैं। इस प्रकार मन्थन करनेपर अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ विचार तथा यम-नियमादि योगाङ्गोंके साधन-से जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी है—वे महापुरुष द्रव्य (विषय), क्रिया (इन्द्रियोंके व्यापार), हेतु (इन्द्रिया-धिष्ठाता देवता), अयन (शरीर), ईश, काल और कर्ता (अहङ्कार) आदि मायाके कार्योंको देखकर जिनके वास्तविक स्वरूपका निश्चय करते हैं, ऐसे मायिक आकृतियोंसे रहित आपको बार-बार नमस्कार है ॥३७॥ जिस प्रकार लोहा जड होनेपर भी चुम्बककी सन्निधि-मात्रसे चलने-फिरने लगता है, उसी प्रकार जिन सर्व-साक्षीकी इच्छामात्रसे—जो अपने लिये नहीं, बल्कि समस्त प्राणियोंके लिये होती है—प्रकृति अपने गुणोंके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती रहती है; ऐसे सम्पूर्ण गुणों एवं कर्मोंके साक्षी आपको नमस्कार है ॥ ३८ ॥ आप जगत्‌के कारणभूत आदि सूकर हैं। जिस प्रकार एक हाथी दूसरे हाथीको पछाड़ देता है, उसी प्रकार गजराजके समान क्रीडा करते हुए आप युद्धमें अपने प्रतिद्वन्द्वी हिरण्याक्ष दैत्यको दलित करके मुझे अपनी दाढ़ोंकी नोकपर रखकर रसातलसे प्रलय-पयोधिके बाहर निकले थे। मैं आप सर्वशक्तिमान् प्रभुको बार-बार नमस्कार करती हूँ' ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—महाध्वराय । २. प्रा० पा०—रसायां । ३. प्रा० पा०—हृत्वोग्रदंष्ट्रे । ४. प्रा० पा०—कोशानुवर्णनं ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष और भारतवर्षका वर्णन

श्रीशुक उवाच

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसंनिकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते ।१। आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति ॥२॥ ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥ ३ ॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥५॥

न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! किम्पुरुषवर्षमें श्रीलक्ष्मणजीके बड़े भाई, आदिपुरुष, सीताहृदयाभिराम भगवान् श्रीरामके चरणोंकी सन्निधिके रसिक परम भागवत श्रीहनुमान्‌जी अन्य किन्नरोंके सहित अविचल भक्तिभावसे उनकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥ वहाँ अन्य गन्धर्वोंके सहित आर्ष्टिषेण उनके स्वामी भगवान् रामकी परम कल्याणमयी गुणगाथा गाते रहते हैं । श्रीहनुमान्‌जी उसे सुनते हैं और स्वयं भी इस मन्त्रका जप करते हुए इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं ॥ २ ॥—'हम ॐकारस्वरूप, पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं, आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं; आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधनतत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिये कसौटीके समान और अत्यन्त ब्राह्मणभक्त हैं । ऐसे महापुरुष महाराज रामको हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है' ॥ ३ ॥

'भगवन् ! आप विशुद्ध बोधस्वरूप, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे गुणोंके कार्यरूप जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका निरास करनेवाले, सर्वान्तरात्मा, परम शान्त, शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जानेयोग्य, नाम-रूपसे रहित और अहङ्कारशून्य हैं; मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ४ ॥ प्रभो ! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसोंके वधके लिये ही नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्योंको शिक्षा देना है । अन्यथा अपने स्वरूपमें ही रमण करनेवाले साक्षात् जगदात्मा जगदीश्वरको सीताजीके वियोगमें इतना दुःख कैसे हो सकता था ॥ ५ ॥ आप धीर पुरुषोंके आत्मा* और प्रियतम भगवान् वासुदेव हैं; त्रिलोकीकी किसी भी वस्तुमें आपकी आसक्ति नहीं है । आप न तो सीताजीके लिये मोहको ही प्राप्त हो सकते हैं और न लक्ष्मणजीका त्याग ही कर सकते हैं† ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—वादविपणाय ।

* यहाँ शङ्का होती है कि भगवान् तो सभीके आत्मा हैं, फिर यहाँ उन्हें आत्मवान् (धीर) पुरुषोंके ही आत्मा क्यों बताया गया ? इसका कारण यही है कि सबके आत्मा होते हुए भी उन्हें केवल आत्मज्ञानी पुरुष ही अपने आत्मारूपसे अनुभव करते हैं—अन्य पुरुष नहीं । श्रुतिमें जहाँ-कहीं आत्मसाक्षात्कारकी बात आयी है, वहीं आत्मवेत्ताके लिये 'धीर' शब्दका प्रयोग किया है, जैसे 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत' इति 'नः शुश्रुम धीराणाम्' इत्यादि । इसीलिये यहाँ भी भगवान्‌को आत्मवान् या धीर पुरुषका आत्मा बताया है ।

† एक बार भगवान् श्रीराम एकान्तमें एक देवदूतसे बात कर रहे थे । उस समय लक्ष्मणजी पहरेपर थे और भगवान्‌की आज्ञा थी कि यदि इस समय कोई भीतर आवेगा तो वह मेरे हाथसे मारा जायगा । इतनेमें ही दुर्वासा मुनि चले आये और उन्होंने लक्ष्मणजीको अपने आनेकी सूचना देनेके लिये भीतर जानेको विवश किया । इससे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बड़े असमञ्जसमें पड़ गये । तब वसिष्ठजीने कहा कि लक्ष्मणजीके प्राण न लेकर उन्हें त्याग देना चाहिये; क्योंकि अपने प्रियजनका त्याग मृत्युदण्डके समान ही है । इसीसे भगवान्‌ने उन्हें त्याग दिया ।

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥ ७ ॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥ ८ ॥

भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति ॥ ९ ॥ तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति ॥१०॥ ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥ ११ ॥ गायति चेदम्—

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥१२॥
इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत् ।

आपके ये व्यापार केवल लोकशिक्षाके लिये ही हैं । लक्ष्मणाग्रज ! उत्तम कुलमें जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमेंसे कोई भी गुण आपकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकता, यह बात दिखानेके लिये ही आपने इन सब गुणोंसे रहित हम वनवासी वानरोंसे मित्रता की है ॥ ७ ॥ देवता, असुर, वानर अथवा मनुष्य—कोई भी हो, उसे सब प्रकारसे श्रीरामरूप आपका ही भजन करना चाहिये; क्योंकि आप नररूपमें साक्षात् श्रीहरि ही हैं और थोड़े कियेको भी बहुत अधिक मानते हैं। आप ऐसे आश्रितवत्सल हैं कि जब स्वयं दिव्यधामको सिधारे थे, तब समस्त उत्तरकोसलवासियोंको भी अपने साथ ही ले गये थे' ॥ ८ ॥

भारतवर्षमें भी भगवान् दयावश नर-नारायणरूप धारण करके संयमशील पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये अव्यक्तरूपसे कल्पके अन्ततक तप करते रहते हैं । उनकी यह तपस्या ऐसी है कि जिससे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शान्ति और उपरतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होकर अन्तमें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो सकती है ॥ ९ ॥ वहाँ भगवान् नारदजी स्वयं श्रीभगवान्‌के ही कहे हुए सांख्य और योगशास्त्रके सहित भगवन्महिमाको प्रकट करनेवाले पाञ्चरात्रदर्शनका सावर्णि मुनिको उपदेश करनेके लिये भारतवर्षकी वर्णाश्रमधर्मावलम्बिनी प्रजाके सहित अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान् श्रीनर-नारायणकी उपासना करते और इस मन्त्रका जप तथा स्तोत्रको गाकर उनकी स्तुति करते हैं ॥१०॥—ओङ्कारस्वरूप, अहङ्कारसे रहित, निर्धनोंके धन, शान्तस्वभाव ऋषिप्रवर भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है । वे परमहंसोंके परम गुरु और आत्मारामोंके अधीश्वर हैं, उन्हें बार-बार नमस्कार है' ॥ ११ ॥ यह गाते हैं—'जो विश्वकी उत्पत्ति आदिमें उनके कर्त्ता होकर भी कर्तृत्वके अभिमानसे नहीं बँधते, शरीरमें रहते हुए भी उसके धर्म भूख-प्यास आदिके वशीभूत नहीं होते तथा द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्यके गुण-दोषोंसे दूषित नहीं होती—उन असङ्ग एवं विशुद्ध साक्षिस्वरूप भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है ॥ १२ ॥ योगेश्वर ! हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजीने योगसाधनकी सबसे बड़ी कुशलता यही बतलायी है कि

१. प्रा० पा०—सृष्टान्विपिने । २. प्रा० पा०—परमगुरुवरायात्मारामा० ।

यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥१३॥
यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद्
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥१४॥
तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति॥१५॥

भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः[1] सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो[2] महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख[3] इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसङ्ख्याताः ।१६। एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति ॥१७॥ चन्द्रवसा[4] ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णा वेण्या[5] भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः[6] शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिर्ऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती[7] सप्तवती सुषोमा[8] शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः ॥१८॥ अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्ध-

मनुष्य अन्तकालमें देहाभिमानको छोड़कर भक्तिपूर्वक आपके प्राकृत गुणरहित स्वरूपमें अपना मन लगावे ॥ १३ ॥ लौकिक और पारलौकिक भोगोंके लालची मूढ़ पुरुष जैसे पुत्र, स्त्री और धनकी चिन्ता करके मौतसे डरते हैं— उसी प्रकार यदि विद्वान्को भी इस निन्दनीय शरीरके छूटनेका भय ही बना रहा, तो उसका ज्ञानप्राप्तिके लिये किया हुआ सारा प्रयत्न केवल श्रम ही है ॥ १४ ॥ अतः अधोक्षज ! आप हमें अपना स्वाभाविक प्रेमरूप भक्तियोग प्रदान कीजिये, जिससे कि प्रभो ! इस निन्दनीय शरीरमें आपकी मायाके कारण बद्धमूल हुई दुर्भेद्य अहंता-ममताको हम तुरंत काट डालें' ॥ १५ ॥

राजन् ! इस भारतवर्षमें भी बहुत-से पर्वत और नदियाँ हैं—जैसे मलय, मङ्गलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेङ्कट, महेन्द्र, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्षगिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, रैवतक, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील और कामगिरि आदि । इसी प्रकार और भी सैकड़ों-हजारों पर्वत हैं । उनके तटप्रान्तोंसे निकलनेवाले नद और नदियाँ भी अगणित हैं ॥ १६ ॥ ये नदियाँ अपने नामोंसे ही जीवको पवित्र कर देती हैं और भारतीय प्रजा इन्हींके जलमें स्नानादि करती हैं ॥ १७ ॥ उनमेंसे मुख्य-मुख्य नदियाँ ये हैं—चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, अन्ध और शोण नामके नद, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी और विश्वा ॥ १८ ॥ इस वर्षमें जन्म लेनेवाले पुरुषोंको ही

१. प्रा० पा०—कोल्लः । २. प्राचीन प्रतिमें 'वेङ्कटो' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—कोकामुखः । ४. प्रा० पा०—चन्द्रवंश्या । ५. प्रा० पा०—वेन्ना । ६. प्रा० पा०—न्धुर्दृषद्वती अन्धः शोणश्च । ७. प्रा० पा०—रोधवती । ८. प्रा० पा०—सुषोमा ।

जन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति ॥ १९ ॥ योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः ॥ २० ॥

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे[1]
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥२१॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥२२॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥२३॥
न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

अपने किये हुए सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके अनुसार क्रमशः नाना प्रकारकी दिव्य, मानुष और नारकी योनियाँ प्राप्त होती हैं; क्योंकि कर्मानुसार सब जीवोंको सभी योनियाँ प्राप्त हो सकती हैं । इसी वर्षमें अपने-अपने वर्णके लिये नियत किये हुए धर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करनेसे मोक्षतककी प्राप्ति हो सकती है ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, रागादि दोषोंसे रहित, अनिर्वचनीय, निराधार परमात्मा भगवान् वासुदेवमें अनन्य एवं अहैतुक भक्तिभाव ही यह मोक्षपद है । यह भक्तिभाव तभी प्राप्त होता है, जब अनेक प्रकारकी गतियोंको प्रकट करनेवाली अविद्यारूप हृदयकी ग्रन्थि कट जानेपर भगवान्के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग मिलता है ॥ २० ॥

देवता भी भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—'अहा ! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है ? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं ? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं ॥ २१ ॥ हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है ? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी अधिकताके कारण स्मृतिशक्ति छिन जाती है, अतः कभी श्रीनारायणके चरणकमलोंकी स्मृति होती ही नहीं ॥ २२ ॥ यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसारचक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्को अर्पण करके उनका अभय पद प्राप्त कर सकता है ॥ २३ ॥

'जहाँ भगवत्कथाकी अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्गमस्थान भगवद्भक्त साधुजन निवास

१. प्रा० पा०—तेऽजिरे ।

न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः

सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥२४॥

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो

ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।

न वै[1] यतेरन्नपुनर्भवाय ते

भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥२५॥

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-

र्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।

एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा

गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥२६॥

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां

नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।

स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-

मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥२७॥

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं[2]

स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।

तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्

वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान् ॥२९॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिणः[3] पाञ्चजन्यः

नहीं करते और जहाँ नृत्य-गीतादिके साथ बड़े समारोहसे भगवान् यज्ञपुरुषकी पूजा-अर्चा नहीं की जाती—वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥ जिन जीवोंने इस भारतवर्षमें ज्ञान (विवेकबुद्धि), तदनुकूल कर्म तथा उस कर्मके उपयोगी द्रव्यादि सामग्रीसे सम्पन्न मनुष्य-जन्म पाया है, वे यदि आवागमनके चक्रसे निकलनेका प्रयत्न नहीं करते, तो व्याधकी फाँसीसे छूटकर भी फलादिके लोभसे उसी वृक्षपर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियोंके समान फिर बन्धनमें पड़ जाते हैं ॥ २५ ॥

'अहो ! इन भारतवासियोंका कैसा सौभाग्य है ! जब ये यज्ञमें भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे अलग-अलग भाग रखकर विधि, मन्त्र और द्रव्यादिके योगसे श्रद्धापूर्वक उन्हें हवि प्रदान करते हैं, तब इस प्रकार इन्द्रादि भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारे जानेपर सम्पूर्ण कामनाओंके पूर्ण करनेवाले स्वयं पूर्णकाम श्रीहरि ही प्रसन्न होकर उस हविको ग्रहण करते हैं ॥ २६ ॥ यह ठीक है कि भगवान् सकाम पुरुषोंके माँगनेपर उन्हें अभीष्ट पदार्थ देते हैं, किंतु यह भगवान्का वास्तविक दान नहीं है; क्योंकि उन वस्तुओंको पा लेनेपर भी मनुष्यके मनमें पुनः कामनाएँ होती ही रहती हैं । इसके विपरीत जो उनका निष्कामभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं—जो अन्य समस्त इच्छाओंको समाप्त कर देनेवाले हैं ॥ २७ ॥ अतः अबतक स्वर्गसुख भोग लेनेके बाद हमारे पूर्वकृत यज्ञ, प्रवचन और शुभ कर्मोंसे यदि कुछ भी पुण्य बचा हो, तो उसके प्रभावसे हमें इस भारतवर्षमें भगवान्की स्मृतिसे युक्त मनुष्य-जन्म मिले; क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करनेवालेका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं' ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! राजा सगरके पुत्रोंने अपने यज्ञके घोड़ेको ढूँढ़ते हुए इस पृथ्वीको चारों ओरसे खोदा था । उससे जम्बूद्वीपके अन्तर्गत ही आठ उपद्वीप और बन गये, ऐसा कुछ लोगोंका कथन है ॥ २९ ॥ वे स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य,

१. प्रा० पा०—चेद् । २. प्रा० पा०—सुज्यसुखा० । ३. प्रा० पा०—मन्दहरिणो ।

सिंहलो लङ्केति ॥ ३० ॥ एवं तत्र भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति ॥ ३१ ॥

सिंहल और लंका हैं ॥ ३० ॥ भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, ठीक वैसा ही तुम्हें यह जम्बूद्वीपके वर्षोंका विभाग सुना दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

अन्य छः द्वीपों तथा लोकालोकपर्वतका वर्णन

श्रीशुक उवाच[1]

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते ॥ १ ॥ जम्बूद्वीपोऽयं यावत्[2]प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन । प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो[3] हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम ।२। शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेममममृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः[4] ॥३ ॥ मणिकूटो वज्रकूट[5] इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः[6] । अरुणा नृम्णाऽऽङ्गिरसी[7] सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः । यासां[8] जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! अब परिमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार प्लक्षादि अन्य द्वीपोंके वर्षविभागका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥ जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है । फिर खाई जिस प्रकार बाहरके उपवनसे घिरी रहती है, उसी प्रकार क्षारसमुद्र भी अपनेसे दूने विस्तारवाले प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है । जम्बूद्वीपमें जितना बड़ा जामुनका पेड़ है, उतने ही विस्तारवाला यहाँ सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर) का वृक्ष है । उसीके कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ है । यहाँ सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव विराजते हैं । इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज इध्मजिह्व थे । उन्होंने इसको सात वर्षोंमें विभक्त किया और उन्हें उन वर्षोंके समान ही नामवाले अपने पुत्रोंको सौंप दिया तथा स्वयं अध्यात्मयोगका आश्रय लेकर उपरत हो गये ॥ २ ॥ इन वर्षोंके नाम शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय हैं । इनमें भी सात पर्वत और सात नदियाँ ही प्रसिद्ध हैं ॥ ३ ॥ वहाँ मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल—ये सात मर्यादापर्वत हैं तथा अरुणा, नृम्णा, आङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा—ये सात महानदियाँ हैं । वहाँ हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन और सत्याङ्ग नामके चार वर्ण हैं । उक्त नदियोंके जलमें स्नान करनेसे इनके रजोगुण-तमोगुण क्षीण होते रहते हैं । इनकी आयु

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । २. प्रा० पा०—वान् । ३. प्रा० पा०—ख्यातिकरो । ४. प्रा० पा०—व पतन्त्यभिज्ञाताः । ५. प्रा० पा०—टः शतशृङ्गमिन्द्र० । ६. प्रा० पा०—सप्तशैलाः । ७. प्रा० पा०—मृगगणाऽऽङ्गि० । ८. प्रा० पा०—आर्या ।

सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते ॥ ४ ॥

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः ।

अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ ५ ॥

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते ॥ ६ ॥

प्लक्षः स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते ॥ ७ ॥ यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतश्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते ॥ ८ ॥ तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति ॥ ९ ॥ तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति । अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति ॥१०॥ तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुन्धरेषन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते ॥ ११ ॥

एक हजार वर्षकी होती है । इनके शरीरोंमें देवताओंकी भाँति थकावट, पसीना आदि नहीं होता और संतानोत्पत्ति भी उन्हींके समान होती है । ये त्रयीविद्याके द्वारा तीनों वेदोंमें वर्णन किये हुए स्वर्गके द्वारभूत आत्मस्वरूप भगवान् सूर्यकी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ वे कहते हैं कि 'जो सत्य (अनुष्ठानयोग्य धर्म) और ऋत (प्रतीत होनेवाले धर्म), वेद और शुभाशुभ फलके अधिष्ठाता हैं—उन पुराणपुरुष विष्णुस्वरूप भगवान् सूर्यकी हम शरणमें जाते हैं' ॥ ५ ॥ प्लक्ष आदि पाँच द्वीपोंमें सभी मनुष्योंको जन्मसे ही आयु, इन्द्रिय, मनोबल, इन्द्रियबल, शारीरिक बल, बुद्धि और पराक्रम समानरूपसे सिद्ध रहते हैं ॥ ६ ॥

प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है । उसके आगे उससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मलीद्वीप है, जो उतने ही विस्तारवाले मदिराके सागरसे घिरा है ॥ ७ ॥ प्लक्षद्वीपके पाकरके पेड़के बराबर उसमें शाल्मली (सेमर) का वृक्ष है । कहते हैं, यही वृक्ष अपने वेदमय पंखोंसे भगवान्‌की स्तुति करनेवाले पक्षिराज भगवान् गरुडका निवासस्थान है तथा यही इस द्वीपके नामकरणका भी हेतु है ॥ ८ ॥ इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज यज्ञबाहु थे । उन्होंने इसके सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात नामसे सात विभाग किये और इन्हें इन्हीं नामवाले अपने पुत्रोंको सौंप दिया ॥ ९ ॥ इनमें भी सात वर्षपर्वत और सात ही नदियाँ प्रसिद्ध हैं । पर्वतोंके नाम स्वरस, शतशृङ्ग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति हैं तथा नदियाँ अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका हैं ॥ १० ॥ इन वर्षोंमें रहनेवाले श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर और इषन्धर नामके चार वर्ण वेदमय आत्मस्वरूप भगवान् चन्द्रमाकी वेदमन्त्रोंसे उपासना करते हैं ॥ ११ ॥ (और कहते हैं—)

१. प्रा० पा०—प्लक्षस्व । २. प्रा० पा०—कुमुदः पुष्प० । ३. प्रा० पा०—धरेषुन्धरसंज्ञा ।

स्वंगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः ।
प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति ।१२।

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्योकरो ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति ।१३। तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन् हिरण्यरेता नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः ॥१४॥ तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति ।१५। यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते ॥ १६ ॥

परस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट् ।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति ॥१७॥

तथा घृतोदाद्बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः स्वमानेन

जो कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षमें अपनी किरणोंसे विभाग करके देवता, पितर और सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्न देते हैं, वे चन्द्रदेव हमारे राजा (रञ्जन करनेवाले) हों ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मदिराके समुद्रसे आगे उससे दूने परिमाणवाला कुशद्वीप है । पूर्वोक्त द्वीपोंके समान यह भी अपने ही समान विस्तारवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है । इसमें भगवान्‌का रचा हुआ एक कुशोंका झाड़ है, उसीसे इस द्वीपका नाम निश्चित हुआ है । वह दूसरे अग्निदेवके समान अपनी कोमल शिखाओंकी कान्तिसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता रहता है । ॥ १३ ॥ राजन् ! इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज हिरण्यरेता थे । उन्होंने इसके सात विभाग करके उनमेंसे एक-एक अपने सात पुत्र वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेवको दे दिया और स्वयं तप करने चले गये ॥ १४ ॥ उनकी सीमाओंको निश्चय करनेवाले सात पर्वत हैं और सात ही नदियाँ हैं । पर्वतोंके नाम चक्र, चतुःशृङ्ग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण हैं । नदियोंके नाम हैं—रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला ॥ १५ ॥ इनके जलमें स्नान करके कुशद्वीपवासी कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक वर्णके पुरुष अग्निस्वरूप भगवान् हरिका यज्ञादि कर्म-कौशलके द्वारा पूजन करते हैं ॥ १६ ॥ (तथा इस प्रकार स्तुति करते हैं—) 'अग्ने ! आप परब्रह्मको साक्षात् हवि पहुँचानेवाले हैं; अतः भगवान्‌के अङ्गभूत देवताओंके यजनद्वारा आप उन परमपुरुषका ही यजन करें' ॥ १७ ॥

राजन् ! फिर घृतसमुद्रसे आगे उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप है । जिस प्रकार कुशद्वीप

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो…' से लेकर 'सोमो न आस्त्विति' यहाँतक पूरा एक श्लोक ही नहीं है । २. प्रा० पा०—स्व्यायनो ज्वलन । ३. प्रा० पा०—विराजति । ४. प्रा० पा०—ण्यरोमा नाम । ५. प्रा० पा०—स्वयं तु तप । ६. प्रा० पा०—चिराभिगुप्त० । ७. प्रा० पा०—ज्ञाता सप्तैव चक्र० । ८. प्रा० पा०—पिलो वित्रकूटो । ९. प्रा० पा०—मधुमालेति । १०. प्राचीन प्रतिमें 'परस्य ब्रह्मणः…' यह श्लोक नहीं है । ११. प्राचीन प्रतिमें 'तथा घृतोदाद्बहिः' यह पाठ नहीं है ।

क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन् क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनाम निर्वर्तक आस्ते१८योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव ।१९। तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे[1] द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त रिक्थादान् वर्षपान्निवेश्य स्वयं[2] भगवान् भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम२०आमो[3] मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो[5] नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती वृ[6]त्तिरूपवती पवित्रवती शुक्लेति ।२१। यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुष[7]ऋषभद्रविणदेवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते ॥ २२ ॥

आपः[8] पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवः सुवः ।
ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति२३

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिंन् शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यप-

घृतसमुद्रसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार यह अपने ही समान विस्तारवाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्च नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है, उसीके कारण इसका नाम क्रौञ्चद्वीप हुआ है ॥ १८ ॥ पूर्वकालमें श्रीस्वामिकार्तिकेयजीके शस्त्रप्रहारसे इसका कटिप्रदेश और लता-निकुञ्जादि क्षत-विक्षत हो गये थे, किंतु क्षीरसमुद्रसे सींचा जाकर और वरुणदेवसे सुरक्षित होकर यह फिर निर्भय हो गया ॥ १९ ॥ इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज घृतपृष्ठ थे। वे बड़े ज्ञानी थे। उन्होंने इसको सात वर्षोंमें विभक्त कर उनमें उन्हींके समान नामवाले अपने सात उत्तराधिकारी पुत्रोंको नियुक्त किया और स्वयं सम्पूर्ण जीवोंके अन्तरात्मा, परम मङ्गलमय कीर्तिशाली भगवान् श्रीहरिके पावन पादारविन्दोंकी शरण ली ॥ २० ॥ महाराज घृतपृष्ठके आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति—ये सात पुत्र थे। उनके वर्षोंमें भी सात वर्षपर्वत और सात ही नदियाँ कही जाती हैं। पर्वतोंके नाम शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र हैं तथा नदियोंके नाम हैं—अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्तिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला ॥ २१ ॥ इनके पवित्र और निर्मल जलका सेवन करनेवाले वहाँके पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक नामक चार वर्णवाले निवासी जलसे भरी हुई अञ्जलिके द्वारा आपोदेवता (जलके देवता) की उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ (और कहते हैं—) 'हे जलके देवता ! तुम्हें परमात्मासे सामर्थ्य प्राप्त है। तुम भूः, भुवः और स्वः—तीनों लोकोंको पवित्र करते हो; क्योंकि स्वरूपसे ही पापोंका नाश करनेवाले हो। हम अपने शरीरसे तुम्हारा स्पर्श करते हैं, तुम हमारे अङ्गोंको पवित्र करो' ॥ २३ ॥

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है, जो अपने ही समान परिमाणवाले मट्ठेके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है,

१. प्रा० पा०—श्वेतद्वीपे। २. प्रा० पा०—स्वयं भगवतः परम०। ३. प्रा० पा०—आम्रो। ४. प्रा०पा०—गिरयः सप्तैव नद्य०। ५. प्रा० पा०—नन्दनः सर्व०। ६. प्रा० पा०—तृप्तिरूपवती। ७. प्रा० पा०—षर्षभ। ८. प्राचीन प्रतिमें 'आपः पुरुषवीर्याः···' यह श्लोक नहीं है। ९. प्रा० पा०—क्षीरोदकात्। १०. प्रा० पा०—यस्मिन् हि शा०।

देशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति २४ तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान्निधाप्याधिपतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश ॥ २५ ॥ एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघाऽऽयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति ॥ २६ ॥ तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते ॥ २७ ॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥ २८ ॥

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन् बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम् ॥ २९ ॥ तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु

वही इस क्षेत्रके नामका कारण है । उसकी अत्यन्त मनोहर सुगन्धसे सारा द्वीप महकता रहता है ॥ २४ ॥ मेधातिथि नामक उसके अधिपति भी राजा प्रियव्रतके ही पुत्र थे । उन्होंने भी अपने द्वीपको सात वर्षोंमें विभक्त किया और उनमें उन्हींके समान नामवाले अपने पुत्र पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वधारको अधिपतिरूपसे नियुक्त कर स्वयं भगवान् अनन्तमें दत्तचित्त हो तपोवनको चले गये ॥ २५ ॥ इन वर्षोंमें भी सात मर्यादापर्वत और सात नदियाँ ही हैं । पर्वतोंके नाम ईशान, उरुशृङ्ग, बलभद्र, शतकेसर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महानस हैं तथा नदियाँ अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चपदी, सहस्रस्रुति और निजधृति हैं ॥ २६ ॥ उस वर्षके ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नामक पुरुष प्राणायामद्वारा अपने रजोगुण-तमोगुणको क्षीण कर महान् समाधिके द्वारा वायुरूप श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥ २७ ॥ (और इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं—) 'जो प्राणादि वृत्तिरूप अपनी ध्वजाओंके सहित प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनका पालन करते हैं तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिनके अधीन है, वे साक्षात् अन्तर्यामी वायु भगवान् हमारी रक्षा करें' ॥ २८ ॥

इसी तरह मट्ठेके समुद्रसे आगे उसके चारों ओर उससे दुगुने विस्तारवाला पुष्करद्वीप है । वह चारों ओरसे अपने ही समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा है । वहाँ अग्निकी शिखाके समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पंखड़ियोंवाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है, जो ब्रह्माजीका आसन माना जाता है ॥ २९ ॥ उस द्वीपके बीचोंबीच उसके पूर्वीय और पश्चिमीय विभागोंकी मर्यादा निश्चित करनेवाला मानसोत्तर नामका एक ही पर्वत है । यह दस हजार योजन ऊँचा और उतना ही लंबा है । इसके ऊपर चारों दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी चार

१. प्रा० पा०—वेपमान० । २. प्रा० पा०—सप्त ईशान । ३. प्रा० पा०—सहस्रुतिर्निज० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'अन्तः प्रविश्य···' यह श्लोक नहीं है । ५. प्रा० पा०—दकसमुद्रेण । ६. प्रा० पा०—पुष्करं ज्वलन० । ७. प्रा० पा०—सोत्तरो नामैक । ८. प्रा० पा०—प्राचीनयोर्वर्षयो० ।

चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदु परिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति ॥३०॥ तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नामैतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते ॥३१॥ तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाऽऽराधयन्तीदं चोदाहरन्ति ॥ ३२ ॥

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत् ।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति ॥३३॥

ऋषिरुवाच

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्तः ॥३४॥ यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यन्याऽऽदर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृताऽऽसीत् ॥ ३५ ॥ लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते ॥ ३६ ॥ स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रीँल्लोकानावितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः ॥ ३७ ॥

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य

पुरियाँ हैं। इनपर मेरुपर्वतके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यके रथका संवत्सररूप पहिया देवताओंके दिन और रात अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायनके क्रमसे सर्वदा घूमा करता है ॥ ३० ॥ उस द्वीपका अधिपति प्रियव्रतपुत्र वीतिहोत्र भी अपने पुत्र रमणक और धातकिको दोनों वर्षोंका अधिपति बनाकर स्वयं अपने बड़े भाइयोंके समान भगवत्सेवामें ही तत्पर रहने लगा था ॥ ३१ ॥ वहाँके निवासी ब्रह्मारूप भगवान् हरिकी ब्रह्मसालोक्यादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंसे आराधना करते हुए इस प्रकार स्तुति करते हैं—॥३२॥'जो साक्षात् कर्मफलरूप हैं और एक परमेश्वरमें ही जिनकी पूर्ण स्थिति है तथा जिनकी सब लोग पूजा करते हैं, ब्रह्मज्ञानके साधनरूप उन अद्वितीय और शान्तस्वरूप ब्रह्ममूर्ति भगवान्को मेरा नमस्कार है' ॥ ३३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! इसके आगे लोकालोक नामका पर्वत है। यह पृथ्वीके सब ओर सूर्य आदिके द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित प्रदेशोंके बीचमें उनका विभाग करनेके लिये स्थित है ॥ ३४ ॥ मेरुसे लेकर मानसोत्तर पर्वततक जितना अन्तर है, उतनी ही भूमि शुद्धोदक समुद्रके उस ओर है। उसके आगे सुवर्णमयी भूमि है, जो दर्पणके समान स्वच्छ है। इसमें गिरी हुई कोई वस्तु फिर नहीं मिलती, इसलिये वहाँ देवताओंके अतिरिक्त और कोई प्राणी नहीं रहता ॥ ३५ ॥ लोकालोकपर्वत सूर्य आदिसे प्रकाशित और अप्रकाशित भूभागोंके बीचमें है, इससे इसका यह नाम पड़ा है ॥ ३६ ॥ इसे परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारों ओर सीमाके रूपमें स्थापित किया है। यह इतना ऊँचा और लंबा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यसे लेकर ध्रुवपर्यन्त समस्त ज्योतिर्मण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकतीं ॥ ३७ ॥

विद्वानोंने प्रमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका इतना ही विस्तार बतलाया है। यह समस्त भूगोल पचास करोड़ योजन है। इसका

१. प्रा० पा०—चक्रमहोरात्राभ्यां । २. प्रा० पा०—णकधातकनामानौ ।

भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः ॥३८॥ तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः ॥३९॥ तेषां स्वविभूतीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान् परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निजभुजदण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन् गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते ॥४०॥ आकल्पमेवं वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोकयात्रागोपीथायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बहिर्लोकालोकाचलात् । ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति ॥ ४२ ॥

चौथाई भाग (अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन विस्तारवाला) यह लोकालोकपर्वत है ॥ ३८ ॥ इसके ऊपर चारों दिशाओंमें समस्त संसारके गुरु स्वयम्भू श्रीब्रह्माजीने सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये ऋषभ, पुष्करचूड, वामन और अपराजित नामके चार गजराज नियुक्त किये हैं ॥ ३९ ॥ इन दिग्गजोंकी और अपने अंशस्वरूप इन्द्रादि लोकपालोंकी विविध शक्तियोंकी वृद्धि तथा समस्त लोकोंके कल्याणके लिये परम ऐश्वर्यके अधिपति सर्वान्तर्यामी परम पुरुष श्रीहरि अपने विष्वक्सेन आदि पार्षदोंके सहित इस पर्वतपर सब ओर विराजते हैं । वे अपने विशुद्ध सत्त्व (श्रीविग्रह) को जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि आठ महासिद्धियोंसे सम्पन्न हैं, धारण किये हुए हैं । उनके करकमलोंमें शङ्ख-चक्रादि आयुध सुशोभित हैं ॥ ४० ॥ इस प्रकार अपनी योगमायासे रचे हुए विविध लोकोंकी व्यवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिये वे इसी लीलामय रूपसे कल्पके अन्ततक वहाँ सब ओर रहते हैं ॥ ४१ ॥ लोकालोकके अन्तर्वर्ती भूभागका जितना विस्तार है, उसीसे उसके दूसरी ओरके अलोक प्रदेशके परिमाणकी भी व्याख्या समझ लेनी चाहिये । उसके आगे तो केवल योगेश्वरोंकी ही ठीक-ठीक गति हो सकती है ॥ ४२ ॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥४३॥

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः ।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः ॥४४॥

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा ।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥४५॥

राजन् ! स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जो ब्रह्माण्डका केन्द्र है, वही सूर्यकी स्थिति है । सूर्य और ब्रह्माण्डगोलकके बीचमें सब ओरसे पचीस करोड़ योजनका अन्तर है ॥ ४३ ॥ सूर्य इस मृत अर्थात् मरे हुए (अचेतन) अण्डमें वैराजरूपसे विराजते हैं, इसीसे इनका नाम 'मार्त्तण्ड' हुआ है । ये हिरण्यमय (ज्योतिर्मय) ब्रह्माण्डसे प्रकट हुए हैं, इसलिये इन्हें 'हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं ॥ ४४ ॥ सूर्यके द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युलोक (अन्तरिक्षलोक), भूर्लोक, स्वर्ग और मोक्षके प्रदेश, नरक और रसातल तथा अन्य समस्त भागोंका विभाग होता है ॥ ४५ ॥

१. प्रा० पा०—भूगोलकस्य । २. प्रा० पा०—भिनिवेशिता । ३. प्रा० पा०—स्वाधिपतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानां विविध० । ४. प्रा० पा०—भितैर्भुजदण्डैः । ५. प्रा० पा०—मेष एवमात्मयोग० । ६. प्रा० पा०—त्रिविधलोकयात्रा० ।

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम्[1]।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥४६॥

सूर्य ही देवता, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप और लता-वृक्षादि समस्त जीवसमूहोंके आत्मा और नेत्रेन्द्रियके अधिष्ठाता हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णने[2] समुद्रवर्षसंनिवेश-परिमाणलक्षणो विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

सूर्यके रथ और उसकी गतिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

एतावानेव भूवलयस्य संनिवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः ॥ १ ॥ एतेन[3] हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां[4] ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम् ॥ २ ॥ यन्मध्यगतो भगवांस्तपताम्पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं[5] प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु[6] यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते ॥ ३ ॥ यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु[7] पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते[8] ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु ॥ ४ ॥ यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति ॥ ५ ॥ यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! परिमाण और लक्षणोंके सहित इस भूमण्डलका कुछ इतना ही विस्तार है, सो हमने तुम्हें बता दिया ॥ १ ॥ इसीके अनुसार विद्वान्लोग द्युलोकका भी परिमाण बताते हैं । जिस प्रकार चना-मटर आदिके दो दलोंमेंसे एकका स्वरूप जान लेनेसे दूसरेका भी जाना जा सकता है, उसी प्रकार भूलोकके परिमाणसे ही द्युलोकका भी परिमाण जान लेना चाहिये । इन दोनोंके बीचमें अन्तरिक्षलोक है । यह इन दोनोंका सन्धिस्थान है ॥ २ ॥ इसके मध्यभागमें स्थित ग्रह और नक्षत्रोंके अधिपति भगवान् सूर्य अपने ताप और प्रकाशसे तीनों लोकोंको तपाते और प्रकाशित करते रहते हैं । वे उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् नामवाली क्रमशः मन्द, शीघ्र और समान गतियोंसे चलते हुए समयानुसार मकरादि राशियोंमें ऊँचे-नीचे और समान स्थानोंमें जाकर दिन-रातको बड़ा, छोटा या समान करते हैं ॥ ३ ॥ जब सूर्यभगवान् मेष या तुलाराशिपर आते हैं, तब दिन-रात समान हो जाते हैं, जब वृषादि पाँच राशियोंमें चलते हैं, तब प्रतिमास रात्रियोंमें एक-एक घड़ी कम होती जाती है और उसी हिसाबसे दिन बढ़ते जाते हैं ॥ ४ ॥ जब वृश्चिकादि पाँच राशियोंमें चलते हैं, तब दिन और रात्रियोंमें इसके विपरीत परिवर्तन होता है ॥ ५ ॥ इस प्रकार दक्षिणायन आरम्भ होनेतक दिन बढ़ते रहते हैं और उत्तरायण लगनेतक रात्रियाँ ॥ ६ ॥

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योप-

इस प्रकार पण्डितजन मानसोत्तर पर्वतपर सूर्यकी परिक्रमाका मार्ग नौ करोड़, इक्यावन लाख योजन

१. प्रा० पा०—सृपमृगवीरुधाम् । २. प्राचीन प्रतिमें 'भुवनकोशवर्णने' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—एतदेव दिवो । ४. प्रा० पा०—द्विदलयोर्नि० । ५. प्रा० पा०—त्रीँल्लोकान् । ६. प्रा० पा०—शैघ्र्यप्रसमानाभिर्गतिभिरारोहणस्थानेषु । ७. प्रा० पा०—वृषादिषु । ८. प्रा० पा०—विवर्धन्ते ।

दिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम् ॥ ७ ॥ तत्रत्यानां दिवसमध्यङ्गत एव सदाऽऽदित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति ॥८॥ यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति[1] तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन् ॥ ९ ॥

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशघटिकाभिर्याम्यां[2] सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति ॥ १० ॥ एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा[3] निम्लोचन्ति ॥११॥ एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु ॥ १२ ॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो

बताते हैं। उस पर्वतपर मेरुके पूर्वकी ओर इन्द्रकी देवधानी, दक्षिणमें यमराजकी संयमनी, पश्चिममें वरुणकी निम्लोचनी और उत्तरमें चन्द्रमाकी विभावरी नामकी पुरियाँ हैं। इन पुरियोंमें मेरुके चारों ओर समय-समयपर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि होते रहते हैं; इन्हींके कारण सम्पूर्ण जीवोंकी प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है ॥ ७ ॥ राजन्! जो लोग सुमेरुपर रहते हैं, उन्हें तो सूर्यदेव सदा मध्याह्नकालीन रहकर ही तपाते रहते हैं। वे अपनी गतिके अनुसार अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी ओर जाते हुए यद्यपि मेरुको बायीं ओर रखकर चलते हैं, तो भी सारे ज्योतिर्मण्डलको घुमानेवाली निरन्तर दायीं ओर बहती हुई प्रवह वायुद्वारा घुमा दिये जानेसे वे उसे दायीं ओर रखकर चलते जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥ जिस पुरीमें सूर्यभगवान्का उदय होता है, उसके ठीक दूसरी ओरकी पुरीमें वे अस्त होते मालूम होंगे और जहाँ वे लोगोंको पसीने-पसीने करके तपा रहे होंगे, उसके ठीक सामनेकी ओर आधी रात होनेके कारण वे उन्हें निद्रावश किये होंगे। जिन लोगोंको मध्याह्नके समय वे स्पष्ट दीख रहे होंगे, वे ही जब सूर्य सौम्यदिशामें पहुँच जायँ, तब उनका दर्शन नहीं कर सकेंगे ॥ ९ ॥

सूर्यदेव जब इन्द्रकी पुरीसे यमराजकी पुरीको चलते हैं, तब पंद्रह घड़ीमें वे सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख योजनसे कुछ—पचीस हजार योजन—अधिक चलते हैं ॥ १० ॥ फिर इसी क्रमसे वे वरुण और चन्द्रमाकी पुरियोंको पार करके पुनः इन्द्रकी पुरीमें पहुँचते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा आदि अन्य ग्रह भी ज्योतिश्चक्रमें अन्य नक्षत्रोंके साथ-साथ उदित और अस्त होते रहते हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार भगवान् सूर्यका वेदमय रथ एक मुहूर्त्तमें चौंतीस लाख आठ सौ योजनके हिसाबसे चलता हुआ इन चारों पुरियोंमें घूमता रहता है ॥ १२ ॥

इसका संवत्सर नामका एक चक्र (पहिया) बतलाया जाता है। उसमें मासरूप बारह अरे हैं, ऋतुरूप छः नेमियाँ (हाल) हैं, तीन चौमासेरूप तीन नाभि (आँवन) हैं। इस रथ-

१. प्रा० पा०—प्रस्थापयति। २. प्रा० पा०—घभिर्घटिकाभिः। ३. प्रा० पा०—वाभिनिम्लोचन्ति।

मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद् भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति १३

तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः ॥१४॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान् रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम् ।१५। पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते ॥१६॥ तथा वालखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति ॥१७॥ तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते ॥१८॥ लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते ॥१९॥

की धुरीका एक सिरा मेरुपर्वतकी चोटीपर है और दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर। इसमें लगा हुआ यह पहिया कोल्हूके पहियेके समान घूमता हुआ मानसोत्तर पर्वतके ऊपर चक्कर लगाता है ॥ १३ ॥ इस धुरीमें—जिसका मूल भाग जुड़ा हुआ है, ऐसी एक धुरी और है। वह लंबाईमें इससे चौथाई है। उसका ऊपरी भाग तैलयन्त्रके धुरेके समान ध्रुवलोकसे लगा हुआ है ॥ १४ ॥

इस रथमें बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लंबा और नौ लाख योजन चौड़ा है। इसका जूआ भी छत्तीस लाख योजन ही लंबा है। उसमें अरुण नामके सारथिने गायत्री आदि छन्दोंके-से नामवाले सात घोड़े जोत रक्खे हैं, वे ही इस रथपर बैठे हुए भगवान् सूर्यको ले चलते हैं ॥ १५ ॥ सूर्यदेवके आगे उन्हींकी ओर मुँह करके बैठे हुए अरुण उनके सारथिका कार्य करते हैं ॥ १६ ॥ भगवान् सूर्यके आगे अँगूठेके पोरुएके बराबर आकारवाले वालखिल्यादि साठ हजार ऋषि स्वस्तिवाचनके लिये नियुक्त हैं। वे उनकी स्तुति करते रहते हैं ॥ १७ ॥ इनके अतिरिक्त ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और देवता भी—जो कुल मिलाकर चौदह हैं, किंतु जोड़ेसे रहनेके कारण सात गण कहे जाते हैं—प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नामोंवाले होकर अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नाम धारण करनेवाले आत्मस्वरूप भगवान् सूर्यकी दो-दो मिलकर उपासना करते हैं ॥ १८ ॥ इस प्रकार भगवान् सूर्य भूमण्डलके नौ करोड़, इक्यावन लाख योजन लंबे घेरेमेंसे प्रत्येक क्षणमें दो हजार दो योजनकी दूरी पार कर लेते हैं ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रसूर्यरथमण्डलवर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

---

१. प्रा० पा०—सूक्त वाक्याय। २. प्रा० पा०—र्दश मासि भगव०। ३. प्रा० पा०—त्मानं पृथगात्मानः पृथु०। ४. प्रा० पा०—योजनमण्डलं। ५. प्रा० पा०—सगव्युत्तरं। ६. प्रा० पा०—श्चक्रानुवर्णनं।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आपने जो कहा कि यद्यपि भगवान् सूर्य राशियोंकी ओर जाते समय मेरु और ध्रुवको दायीं ओर रखकर चलते मालूम होते हैं, किंतु वस्तुतः उनकी गति दक्षिणावर्त नहीं होती—इस विषयको हम किस प्रकार समझें ? ॥ १ ॥

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात् ॥ २ ॥ स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥ ३ ॥ तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति ॥ ४ ॥ अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञान् संवत्सरावयवान्मासः पक्षद्वयं दिवा नक्तं चेति सपादर्क्ष-

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! जैसे कुम्हारके घूमते हुए चाकपर बैठकर उसके साथ घूमती हुई चींटी आदिकी अपनी गति उससे भिन्न ही है; क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समयमें उस चक्रके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देखी जाती है—उसी प्रकार नक्षत्र और राशियोंसे उपलक्षित कालचक्रमें पड़कर ध्रुव और मेरुको दायें रखकर घूमनेवाले सूर्य आदि ग्रहोंकी गति वास्तवमें उससे भिन्न ही है; क्योंकि वे कालभेदसे भिन्न-भिन्न राशि और नक्षत्रोंमें देख पड़ते हैं ॥ २ ॥ वेद और विद्वान् लोग भी जिनकी गतिको जाननेके लिये उत्सुक रहते हैं, वे साक्षात् आदिपुरुष भगवान् नारायण ही लोकोंके कल्याण और कर्मोंकी शुद्धिके लिये अपने वेदमय विग्रह कालको बारह मासोंमें विभक्त कर वसन्तादि छः ऋतुओंमें उनके यथायोग्य गुणोंका विधान करते हैं ॥ ३ ॥ इस लोकमें वर्णाश्रमधर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुष वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित छोटे-बड़े कर्मोंसे इन्द्रादि देवताओंके रूपमें और योगके साधनोंसे अन्तर्यामीरूपमें उनकी श्रद्धापूर्वक आराधना करके सुगमतासे ही परम पद प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४ ॥ भगवान् सूर्य सम्पूर्ण लोकोंके आत्मा हैं । वे पृथ्वी और द्युलोकके मध्यमें स्थित आकाशमण्डलके भीतर कालचक्रमें स्थित होकर बारह मासोंको भोगते हैं, जो संवत्सरके अवयव हैं और मेष आदि राशियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं । इनमेंसे प्रत्येक मास चन्द्रमानसे शुक्ल और कृष्ण दो पक्षका, पितृमानसे एक रात और

१. प्रा० पा०—तं भगवतोपवर्णित० । २. प्रा० पा०—न्या च । ३. प्रा० पा०—दक्षिणतः । ४. प्रा० पा०—जिज्ञास्यमानो । ५. प्रा० पा०—विद्याया । ६. प्रा० पा०—द्वयं सपादर्क्षद्वयं दिवा नक्तमुपवदन्ति यावता ।

द्वयमुपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः ॥ ५ ॥ अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते ॥ ६ ॥ अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन स ह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति ॥ ७ ॥

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते ॥ ८ ॥ अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितॄणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिर्वहप्राणो[2] जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते ॥९॥ य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान्मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति ॥ १० ॥

तत उपरिष्टात्त्रिलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः ॥११॥ तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत[3] उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां[4] नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः ॥ १२ ॥

एक दिनका तथा सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका बताया जाता है। जितने कालमें सूर्यदेव इस संवत्सरका छठा भाग भोगते हैं, उसका वह अवयव 'ऋतु' कहा जाता है ॥ ५ ॥ आकाशमें भगवान् सूर्यका जितना मार्ग है, उसका आधा वे जितने समयमें पार कर लेते हैं, उसे एक 'अयन' कहते हैं ॥ ६ ॥ तथा जितने समयमें वे अपनी मन्द, तीव्र और समान गतिसे स्वर्ग और पृथ्वीमण्डलके सहित पूरे आकाशका चक्कर लगा जाते हैं, उसे अवान्तर भेदसे संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहते हैं ॥ ७ ॥

इसी प्रकार सूर्यकी किरणोंसे एक लाख योजन ऊपर चन्द्रमा है। उसकी चाल बहुत तेज है, इसलिये वह सब नक्षत्रोंसे आगे रहता है। यह सूर्यके एक वर्षके मार्गको एक मासमें, एक मासके मार्गको सवा दो दिनोंमें और एक पक्षके मार्गको एक ही दिनमें तै कर लेता है ॥ ८ ॥ यह कृष्णपक्षमें क्षीण होती हुई कलाओंसे पितृगणके और शुक्लपक्षमें बढ़ती हुई कलाओंसे देवताओंके दिन-रातका विभाग करता है तथा तीस-तीस मुहूर्तोंमें एक-एक नक्षत्रको पार करता है। अन्नमय और अमृतमय होनेके कारण यही समस्त जीवोंका प्राण और जीवन है ॥ ९ ॥ ये जो सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय पुरुषस्वरूप भगवान् चन्द्रमा हैं—ये ही देवता, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप और वृक्षादि समस्त प्राणियोंके प्राणोंका पोषण करते हैं; इसलिये इन्हें 'सर्वमय' कहते हैं ॥ १० ॥

चन्द्रमासे तीन लाख योजन ऊपर अभिजित्के सहित अट्ठाईस नक्षत्र हैं। भगवान्ने इन्हें कालचक्रमें नियुक्त कर रक्खा है, अतः ये मेरुको दायीं ओर रखकर घूमते रहते हैं ॥ ११ ॥ इनसे दो लाख योजन ऊपर शुक्र दिखायी देता है। यह सूर्यकी शीघ्र, मन्द और समान गतियोंके अनुसार उन्हींके समान कभी आगे, कभी पीछे और कभी साथ-साथ रहकर चलता है। यह वर्षा करनेवाला ग्रह है, इसलिये लोकोंको प्रायः सर्वदा ही अनुकूल रहता है। इसकी गतिसे ऐसा अनुमान होता है कि यह वर्षा रोकनेवाले ग्रहोंको शान्त कर देता है ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—ध्याः । २. प्रा० पा०—वहः प्राणो । ३. प्रा० पा०—जन उपलभ्यते । ४. प्रा० पा०—कान् नित्यदा ।

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद् व्यतिरिच्येत तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते ॥ १३ ॥ अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन्द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः ॥१४॥ तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं च॑रति यदि न वक्रः स्यात्प्रा॑येणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य ॥१५॥

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन् राशौ त्रिंशन्मासान् विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः ॥१६॥ तत उत्तरस्मादृषय एकादशलक्षयोजनान्तं॑र उपलभ्यन्ते य एवं॑ लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिं॑णं प्रक्रमन्ति ॥ १७ ॥

शुक्रकी गतिके साथ-साथ बुधकी भी व्याख्या हो गयी—शुक्रके अनुसार ही बुधकी गति भी समझ लेनी चाहिये। यह चन्द्रमाका पुत्र शुक्रसे दो लाख योजन ऊपर है। यह प्रायः मङ्गलकारी ही है; किंतु जब सूर्यकी गतिका उल्लङ्घन करके चलता है, तब बहुत अधिक आँधी, बादल और सूखेके भयकी सूचना देता है ॥ १३ ॥ इससे दो लाख योजन ऊपर मङ्गल है। वह, यदि वक्रगतिसे न चले तो, एक-एक राशिको तीन-तीन पक्षमें भोगता हुआ बारहों राशियोंको पार करता है। यह अशुभ ग्रह है और प्रायः अमङ्गलका सूचक है ॥ १४ ॥ इसके ऊपर दो लाख योजनकी दूरीपर भगवान् बृहस्पतिजी हैं। ये यदि वक्रगतिसे न चलें तो एक-एक राशिको एक-एक वर्षमें भोगते हैं। ये प्रायः ब्राह्मणकुलके लिये अनुकूल रहते हैं ॥ १५ ॥

बृहस्पतिसे दो लाख योजन ऊपर शनैश्चर दिखायी देते हैं। ये तीस-तीस महीनेतक एक-एक राशिमें रहते हैं; अतः इन्हें सब राशियोंको पार करनेमें तीस वर्ष लग जाते हैं। ये प्रायः सभीके लिये अशान्तिकारक हैं ॥ १६ ॥ इनके ऊपर ग्यारह लाख योजनकी दूरीपर कश्यपादि सप्तर्षि दिखायी देते हैं। ये सब लोकोंकी मङ्गल-कामना करते हुए भगवान् विष्णुके परम पद ध्रुवलोककी प्रदक्षिणा किया करते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रं॑वर्णने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

शिशुमारचक्रका वर्णन

श्रीशुकं॑ उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति तत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! सप्तर्षियोंसे तेरह लाख योजन ऊपर ध्रुवलोक है। इसे भगवान् विष्णुका परम पद कहते हैं। यहाँ उत्तानपादके पुत्र परम भगवद्भक्त ध्रुवजी विराजमान हैं। अग्नि, इन्द्र

१. प्रा० पा०—प्रचरति। २. प्रा० पा०—प्रायशोऽनु०। ३. प्रा० पा०—न्तरत उपलक्ष्यन्ते। ४. प्रा० पा०—एवं। ५. प्रा० पा०—क्षिणमुपक्रामन्ति। ६. प्रा० पा०—श्चक्रानुवर्णनो। ७. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच।

कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः ॥ १ ॥ स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते ।२। यथा मेढीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति ॥ ३ ॥

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति ॥ ४ ॥

यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः । तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि

प्रजापति कश्यप और धर्म—ये सब एक साथ अत्यन्त आदरपूर्वक इनकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। अब भी कल्पपर्यन्त रहनेवाले लोक इन्हींके आधार स्थित हैं। इनका इस लोकका प्रभाव हम पहले (चौथे स्कन्धमें) वर्णन कर चुके हैं ॥ १ ॥ सदा जागते रहनेवाले अव्यक्तगति भगवान् कालके द्वारा जो ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्गण निरन्तर घुमाये जाते हैं, भगवान्ने ध्रुवलोकको ही उन सबके आधारस्तम्भ रूपसे नियुक्त किया है। अतः यह एक ही स्थानमें रहकर सदा प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

जिस प्रकार दाँय चलानेके समय अनाजको खूँदनेवाले पशु छोटी, बड़ी और मध्यम रस्सीमें बँधकर क्रमशः निकट, दूर और मध्यमें रहकर खंभेके चारों ओर मण्डल बाँधकर घूमते रहते हैं, उसी प्रकार सारे नक्षत्र और ग्रहगण बाहर-भीतरके क्रमसे इस कालचक्रमें नियुक्त होकर ध्रुवलोकका ही आश्रय लेकर वायुकी प्रेरणासे कल्पके अन्ततक घूमते रहते हैं, जिस प्रकार मेघ और बाज आदि पक्षी अपने कर्मोंकी सहायतासे वायुके अधीन रहकर आकाशमें उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार ये ज्योतिर्गण भी प्रकृति और पुरुषके संयोगवश अपने-अपने कर्मोंके अनुसार चक्कर काटते रहते हैं, पृथ्वीपर नहीं गिरते ॥ ३ ॥

कोई-कोई पुरुष भगवान्की योगमायाके आधारपर स्थित इस ज्योतिश्चक्रका शिशुमार (सूँस) के रूपमें वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥ यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका मुख नीचेकी ओर है। इसकी पूँछके सिरेपर ध्रुव स्थित है। पूँछके मध्यभागमें प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म हैं। पूँछकी जड़में धाता और विधाता हैं। इसके कटिप्रदेशमें सप्तर्षि हैं। यह शिशुमार दाहिनी ओरको सिकुड़कर कुण्डली मारे हुए है। ऐसी स्थितिमें अभिजित्से लेकर पुनर्वसुपर्यन्त जो उत्तरायणके चौदह नक्षत्र हैं, वे इसके दाहिने भागमें हैं और पुष्यसे लेकर उत्तराषाढ़ापर्यन्त जो दक्षिणायनके चौदह नक्षत्र हैं, वे बायें भागमें हैं।

१. प्रा० पा०—दाभासते । २. प्रा० पा०—मेथीस्तम्भ । ३. प्रा० पा०—तास्त्रिभिः सवनै० । ४. प्रा० पा०—च्छाग्रेऽर्वाक्छिरसः ।

दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये । यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति । पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः ॥ ५ ॥ पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्ववङ्क्रिषु प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत् ।६। उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः ॥ ७ ॥

एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति ॥ ८ ॥

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।

लोकमें भी जब शिशुमार कुण्डलाकार होता है, तब उसके दोनों ओरके अङ्गोंकी संख्या समान रहती है; उसी प्रकार यहाँ नक्षत्र-संख्यामें भी समानता है । इसकी पीठमें अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नामके तीन नक्षत्रोंका समूह) है और उदरमें आकाशगङ्गा है ॥ ५॥ राजन् ! इसके दाहिने और बायें कटितटोंमें पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हैं, पीछेके दाहिने और बायें चरणोंमें आर्द्रा और आश्लेषा नक्षत्र हैं तथा दाहिने और बायें नथुनोंमें क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढ़ा है । इसी प्रकार दाहिने और बायें नेत्रोंमें श्रवण और पूर्वाषाढ़ा एवं दाहिने और बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं । मघा आदि दक्षिणायनके आठ नक्षत्र बायीं पसलियोंमें और विपरीत क्रमसे मृगशिरा आदि उत्तरायणके आठ नक्षत्र दाहिनी पसलियोंमें हैं । शतभिषा और ज्येष्ठा—ये दो नक्षत्र क्रमशः दाहिने और बायें कंधोंकी जगह हैं ॥ ६ ॥ इसकी ऊपरकी थूथनीमें अगस्त्य, नीचेकी ठोडीमें नक्षत्ररूप यम, मुखोंमें मङ्गल, लिङ्गप्रदेशमें शनि, ककुद्में बृहस्पति, छातीमें सूर्य, हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीकुमार, प्राण और अपानमें बुध, गलेमें राहु, समस्त अङ्गोंमें केतु और रोमोंमें सम्पूर्ण तारागण स्थित हैं ॥ ७ ॥

राजन् ! यह भगवान् विष्णुका सर्वदेवमय स्वरूप है । इसका नित्यप्रति सायङ्कालके समय पवित्र और मौन होकर दर्शन करते हुए चिन्तन करना चाहिये तथा इस मन्त्रका जप करते हुए भगवान्की स्तुति करनी चाहिये—'सम्पूर्ण ज्योतिर्गणोंके आश्रय, कालचक्रस्वरूप सर्वदेवाधिपति परमपुरुष परमात्माका हम नमस्कारपूर्वक ध्यान करते हैं' ॥ ८ ॥ ग्रह, नक्षत्र और ताराओंके रूपमें भगवान्का आधिदैविकरूप प्रकाशित हो रहा है; वह तीनों समय उपर्युक्त मन्त्रका जप करनेवाले पुरुषोंके पाप नष्ट कर देता है । जो पुरुष

१. प्रा० पा०—योरार्द्राश्लेषे च । २. प्राचीन प्रतिमें 'दक्षिणवामयोः' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—पार्श्ववक्षःसु । ४. प्रा० पा०—मृगशीर्षर्क्षादीन्यु० । ५. प्रा० पा०—क्षिणपार्श्वेषु प्रातिलोम्येन शतभिषाज्येष्ठे । ६ प्रा० पा०—उत्तरहनावगस्त्योऽधरहनौ यमो मुखे चा० । ७. प्रा० पा०—नासायामुशना स्तनयोः । ८. प्रा० पा०—नमो नमो ज्यो० ।

नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥९॥

प्रातः, मध्याह्न और सायं—तीनों काल उनके इस आधिदैविक स्वरूपका नित्यप्रति चिन्तन और वन्दन करता है, उसके उस समय किये हुए पाप तुरंत नष्ट हो जाते हैं ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे शिशुमारसंस्थावर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

राहु आदिकी स्थिति, अतलादि नीचेके लोकोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥ यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभिधावति ॥ २ ॥ तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः ॥ ३ ॥ ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ॥ ४ ॥ ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कुछ लोगोंका कथन है कि सूर्यसे दस हजार योजन नीचे राहु नक्षत्रोंके समान घूमता है। इसने भगवान्‌की कृपासे ही देवत्व और ग्रहत्व प्राप्त किया है, स्वयं यह सिंहिका-पुत्र असुराधम होनेके कारण किसी प्रकार इस पदके योग्य नहीं है। इसके जन्म और कर्मोंका हम आगे वर्णन करेंगे ॥ १ ॥ सूर्यका जो यह अत्यन्त तपता हुआ मण्डल है, उसका विस्तार दस हजार योजन बतलाया जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमण्डलका विस्तार बारह हजार योजन है और राहुका तेरह हजार योजन। अमृतपानके समय राहु देवताके वेषमें सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें आकर बैठ गया था, उस समय सूर्य और चन्द्रमाने इसका भेद खोल दिया था; उस वैरको याद करके यह अमावस्या और पूर्णिमाके दिन उनपर आक्रमण करता है ॥ २ ॥ यह देखकर भगवान्‌ने सूर्य और चन्द्रमाकी रक्षाके लिये उन दोनोंके पास अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर दिया है। वह निरन्तर घूमता रहता है, इसलिये राहु उसके असह्य तेजसे उद्विग्न और चकितचित्त होकर मुहूर्त्तमात्र उनके सामने टिककर फिर सहसा लौट आता है। उसके उतनी देर उनके सामने ठहरनेको ही लोग 'ग्रहण' कहते हैं ॥ ३ ॥

राहुसे दस हजार योजन नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधर आदिके स्थान हैं ॥ ४ ॥ उनके नीचे जहाँतक वायुकी गति है और बादल दिखायी देते हैं, अन्तरिक्ष लोक है। यह यक्ष, राक्षस, पिशाच, प्रेत

प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते ॥ ५ ॥ ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति ॥ ६ ॥ उपवर्णितं भूमेर्यथासंनिवेशावस्थानमवनेरप्यधस्तात् सप्तभूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ता[1] अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ॥ ७ ॥ एतेषु हि बिलस्वर्गेषु[2] स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति ॥ ८ ॥ येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः[3] पुरो नानामणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकसारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः[4] समलङ्कृताश्चकासति ॥९॥ उद्यानानि चातितरां[5] मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभगकिसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां[6] लताङ्गा-

और भूतोंका विहारस्थल है ॥ ५ ॥ उससे नीचे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथ्वी है । जहाँतक हंस, गिद्ध, बाज और गरुड़ आदि प्रधान-प्रधान पक्षी उड़ सकते हैं, वहींतक इसकी सीमा है ॥ ६ ॥ पृथ्वीके विस्तार और स्थिति आदिका वर्णन तो हो ही चुका है । इसके भी नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नामके सात भू-विवर (भूगर्भस्थित बिल या लोक) हैं । ये एकके नीचे एक दस-दस हजार योजनकी दूरीपर स्थित हैं और इनमेंसे प्रत्येककी लंबाई-चौड़ाई भी दस-दस हजार योजन ही है ॥ ७ ॥ ये भूमिके बिल भी एक प्रकारके स्वर्ग ही हैं । इनमें स्वर्गसे भी अधिक विषयभोग, ऐश्वर्य, आनन्द, संतान-सुख और धन-सम्पत्ति है । यहाँके वैभवपूर्ण भवन, उद्यान और क्रीडास्थलोंमें दैत्य, दानव और नाग तरह-तरहकी मायामयी क्रीडाएँ करते हुए निवास करते हैं । वे सब गार्हस्थ्यधर्मका पालन करनेवाले हैं । उनके स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव और सेवकलोग उनसे बड़ा प्रेम रखते हैं और सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं । उनके भोगोंमें बाधा डालनेकी इन्द्रादिमें भी सामर्थ्य नहीं है ॥ ८ ॥ महाराज ! इन बिलोंमें मायावी मयदानवकी बनायी हुई अनेकों पुरियाँ शोभासे जगमगा रही हैं, जो अनेक जातिकी सुन्दर-सुन्दर श्रेष्ठ मणियोंसे रचे हुए चित्र-विचित्र भवन, परकोटे, नगरद्वार, सभाभवन, मन्दिर, बड़े-बड़े आँगन और गृहोंसे सुशोभित हैं तथा जिनकी कृत्रिम भूमियों (फर्शों) पर नाग और असुरोंके जोड़े एवं कबूतर, तोता और मैना आदि पक्षी किलोल करते रहते हैं, ऐसे पाताळाधिपतियोंके भव्य भवन उन पुरियोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥ वहाँके बगीचे भी अपनी शोभासे देवलोकके उद्यानोंकी शोभाको मात करते हैं। उनमें अनेकों वृक्ष हैं, जिनकी सुन्दर डालियाँ फल-फूलोंके गुच्छों और कोमल कोंपलोंके भारसे झुकी रहती हैं तथा जिन्हें तरह-तरह-

१. प्रा० पा०—मविस्ताराः सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ततोऽधस्तादुरगाणामुपक्लृप्ता अतलं । २. प्रा० पा०—बिलस्थलेषु । ३. प्रा० पा०—निर्मिताः । ४. प्रा० पा०—शारिका । ५. प्रा० पा०—नितरां । ६. प्रा० पा०—चिरविटपिनां ।

लिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पललोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि ॥ १० ॥ यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते ॥ ११ ॥ यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्ते ॥ १२ ॥ न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति ॥ १३ ॥ न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात् ॥ १४ ॥ यस्मिन् प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च ॥ १५ ॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः

की लताओंने अपने अङ्गपाशसे बाँध रक्खा है । वहाँ जो निर्मल जलसे भरे हुए अनेकों जलाशय हैं, उनमें विविध विहंगोंके जोड़े विलास करते रहते हैं। इन वृक्षों और जलाशयोंकी सुषमासे वे उद्यान बड़ी शोभा पा रहे हैं। उन जलाशयोंमें रहनेवाली मछलियाँ जब खिलवाड़ करती हुई उछलती हैं, तब उनका जल हिल उठता है। साथ ही जलके ऊपर उगे हुए कमल, कुमुद, कुवलय, कह्लार, नीलकमल, लालकमल और शतपत्र कमल आदिके समुदाय भी हिलने लगते हैं । इन कमलोंके वनोंमें रहनेवाले पक्षी अविराम क्रीडा-कौतुक करते हुए भाँति-भाँतिकी बड़ी मीठी बोली बोलते रहते हैं, जिसे सुनकर मन और इन्द्रियोंको बड़ा ही आह्लाद होता है। उस समय समस्त इन्द्रियोंमें उत्सव-सा छा जाता है ॥ १० ॥ वहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं जाता, इसलिये दिन-रात आदि कालविभागका भी कोई खटका नहीं देखा जाता ॥ ११ ॥ वहाँके सम्पूर्ण अन्धकारको बड़े-बड़े नागोंके मस्तकोंकी मणियाँ ही दूर करती हैं ॥ १२ ॥ इन लोकोंके निवासी जन ओषधि, रस, रसायन, अन्न, पान और स्नानादिका सेवन करते हैं, वे सभी पदार्थ दिव्य होते हैं, इन दिव्य वस्तुओंके सेवनसे उन्हें मानसिक या शारीरिक रोग नहीं होते तथा झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना, बुढ़ापा आ जाना, देहका कान्तिहीन हो जाना, शरीरमेंसे दुर्गन्ध आना, पसीना चूना, थकावट अथवा शिथिलता आना तथा आयुके साथ शरीरकी अवस्थाओंका बदलना—ये कोई विकार नहीं होते । वे सदा सुन्दर, स्वस्थ, जवान और शक्तिसम्पन्न रहते हैं ॥ १३ ॥ उन पुण्यपुरुषोंकी भगवान्‌के तेजरूप सुदर्शन चक्रके सिवा और किसी साधनसे मृत्यु नहीं हो सकती ॥ १४ ॥ सुदर्शन चक्रके तो आते ही भयके कारण असुररमणियोंका गर्भस्राव और गर्भपात* हो जाता है ॥ १५ ॥

अतल लोकमें मयदानवका पुत्र असुर बल रहता है । उसने छियानवे प्रकारकी माया रची है ।

१. प्रा० पा०—नीलनीरज० । २. प्रा० पा०—यत्र महाहि० ।

* 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः' अर्थात् चौथे मासतक जो गर्भ गिरता है, उसे 'गर्भस्राव' कहते हैं तथा पाँचवें और छठे मासमें गिरनेसे वह 'गर्भपात' कहलाता है ।

काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै विलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव ॥ १६ ॥

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान् हाटकेश्वरः स्वपार्षद[1]भूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूत आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भव[3]योर्वीर्येण यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति ॥ १७ ॥

ततोऽधस्तात्सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण प[4]राक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि ॥१८॥ नो[5] एवैतत्साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिका-

उनमेंसे कोई-कोई आज भी मायावी पुरुषोंमें पायी जाती हैं। उसने एक बार जँभाई ली थी, उस समय उसके मुखसे स्वैरिणी (केवल अपने वर्णके पुरुषोंसे रमण करनेवाली), कामिनी (अन्य वर्णोंके पुरुषोंसे भी समागम करनेवाली) और पुंश्चली (अत्यन्त चञ्चल स्वभाववाली)—तीन प्रकारकी स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं। ये उस लोकमें रहनेवाले पुरुषोंको हाटक नामका रस पिलाकर सम्भोग करनेमें समर्थ बना लेती हैं और फिर उनके साथ अपनी हाव-भावमयी चितवन, प्रेममयी मुसकान, प्रेमालाप और आलिङ्गनादिके द्वारा यथेष्ट रमण करती हैं। उस हाटकरसको पीकर मनुष्य मदान्ध-सा हो जाता है और अपनेको दस हजार हाथियोंके समान बलवान् समझकर 'मैं ईश्वर हूँ', 'मैं सिद्ध हूँ' इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें करने लगता है ॥ १६ ॥

उसके नीचे वितल लोकमें भगवान् हाटकेश्वर नामक महादेवजी अपने पार्षद भूतगणोंके सहित रहते हैं। वे प्रजापतिकी सृष्टिकी वृद्धिके लिये भवानीके साथ विहार करते रहते हैं। उन दोनोंके तेजसे वहाँ हाटकी नामकी एक श्रेष्ठ नदी निकली है। उसके जलको वायुसे प्रज्वलित अग्नि बड़े उत्साहसे पीता है। वह जो हाटक नामका सोना थूकता है, उससे बने हुए आभूषणोंको दैत्यराजोंके अन्तःपुरोंमें स्त्री-पुरुष सभी धारण करते हैं ॥ १७ ॥

वितलके नीचे सुतल लोक है। उसमें महायशस्वी पवित्रकीर्ति विरोचनपुत्र बलि रहते हैं। भगवान्ने इन्द्रका प्रिय करनेके लिये अदितिके गर्भसे वटु-वामनरूपमें अवतीर्ण होकर उनसे तीनों लोक छीन लिये थे। फिर भगवान्की कृपासे ही उनका इस लोकमें प्रवेश हुआ। यहाँ उन्हें जैसी उत्कृष्ट सम्पत्ति मिली हुई है, वैसी इन्द्रादिके पास भी नहीं है। अतः वे उन्हीं पूज्यतम प्रभुकी अपने धर्माचरणद्वारा आराधना करते हुए यहाँ आज भी निर्भयतापूर्वक रहते हैं ॥ १८ ॥ राजन्! सम्पूर्ण जीवोंके नियन्ता एवं आत्मस्वरूप परमात्मा

१. प्रा० पा०—पारिषदभू०। २. प्रा० पा०—भूय। ३. प्रा० पा०—तयोर्वीर्येण। ४. प्रा० पा०—परिक्षिप्तस्वर्लोकत्रयो। ५. प्रा० पा०—यद्येतत्साक्षात्कारो।

यानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम् ॥१९॥ यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ।२०। तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतयैव ।२१। न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयभोगैश्वर्यमेवातनुतेति ॥ २२ ॥ यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच ॥२३॥ नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहायोपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम् ॥ २४ ॥ यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु

भगवान् वासुदेव-जैसे पूज्यतम, पवित्रतम पात्रके आनेपर उन्हें परम श्रद्धा और आदरके साथ स्थिर चित्तसे दिये हुए भूमिदानका यही कोई मुख्यफल नहीं है कि बलिको सुतल लोकका ऐश्वर्य प्राप्त हो गया। यह ऐश्वर्य तो अनित्य है। किंतु वह भूमिदान तो साक्षात् मोक्षका ही द्वार है ॥ १९ ॥ भगवान्‌का तो छींकने, गिरने और फिसलनेके समय विवश होकर एक बार नाम लेनेसे भी मनुष्य सहसा कर्म-बन्धनको काट देता है, जब कि मुमुक्षुलोग इस कर्मबन्धनको योगसाधन आदि अन्य अनेकों उपायोंका आश्रय लेनेपर बड़े कष्टसे कहीं काट पाते हैं ॥ २० ॥ अतएव अपने संयमी भक्त और ज्ञानियोंको स्वस्वरूप प्रदान करनेवाले और समस्त प्राणियोंके आत्मा श्रीभगवान्‌को आत्मभावसे किये हुए भूमिदानका यह फल नहीं हो सकता ॥ २१ ॥ भगवान्‌ने यदि बलिको उसके सर्वस्वदानके बदले अपनी विस्मृति करानेवाला यह मायामय भोग और ऐश्वर्य ही दिया तो उन्होंने उसपर यह कोई अनुग्रह नहीं किया ॥ २२ ॥ जिस समय कोई और उपाय न देखकर भगवान्‌ने याचनाके छलसे उसका त्रिलोकीका राज्य छीन लिया और उसके पास केवल उसका शरीरमात्र ही शेष रहने दिया, तब वरुणके पाशोंमें बाँधकर पर्वतकी गुफामें डाल दिये जानेपर उसने कहा था ॥ २३ ॥ 'खेद है, यह ऐश्वर्यशाली इन्द्र विद्वान् होकर भी अपना सच्चा स्वार्थ सिद्ध करनेमें कुशल नहीं है। इसने सम्मति लेनेके लिये अनन्यभावसे बृहस्पतिजीको अपना मन्त्री बनाया; फिर भी उनकी अवहेलना करके इसने श्रीविष्णुभगवान्‌से उनका दास्य न माँगकर उनके द्वारा मुझसे अपने लिये ये भोग ही माँगे। ये तीन लोक तो केवल एक मन्वन्तरतक ही रहते हैं, जो अनन्त कालका एक अवयवमात्र है। भगवान्‌के कैङ्कर्यके आगे भला, इन तुच्छ भोगोंका क्या मूल्य है ॥ २४ ॥ हमारे पितामह प्रह्लादजीने—भगवान्‌के हाथों अपने पिता हिरण्यकशिपुके मारे जानेपर—प्रभुकी सेवाका ही वर माँगा था। भगवान् देना भी चाहते थे, तो भी उनसे दूर करनेवाला

१. प्रा० पा०—ऽन्यथैवेहोप० । २. प्रा० पा०—मन्त्राय एकान्ततो वृतो बृह० । ३. प्रा० पा०—हायोपेन्द्रेणात्मानमाशिषो नो एव तदनुदास्यमति० ।

स्वपितरि ॥ २५ ॥ तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति ॥ २६ ॥ तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः ॥ २७ ॥

समझकर उन्होंने अपने पिताका निष्कण्टक राज्य लेना स्वीकार नहीं किया ॥ २५ ॥ वे बड़े महानुभाव थे। मुझपर तो न भगवान्की कृपा ही है और न मेरी वासनाएँ ही शान्त हुई हैं; फिर मेरे-जैसा कौन पुरुष उनके पास पहुँचनेका साहस कर सकता है ? ॥ २६ ॥ राजन्! इस बलिका चरित हम आगे (अष्टम स्कन्धमें) विस्तारसे कहेंगे। अपने भक्तोंके प्रति भगवान्का हृदय दयासे भरा रहता है। इसीसे अखिल जगत्के परम पूजनीय गुरु भगवान् नारायण हाथमें गदा लिये सुतल लोकमें राजा बलिके द्वारपर सदा उपस्थित रहते हैं। एक बार जब दिग्विजय करता हुआ घमंडी रावण वहाँ पहुँचा, तब उसे भगवान्ने अपने पैरके अँगूठेकी ठोकरसे ही लाखों योजन दूर फेंक दिया था ॥ २७ ॥

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते ॥ २८ ॥

सुतललोकसे नीचे तलातल है। वहाँ त्रिपुराधिपति दानवराज मय रहता है। पहले तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये भगवान् शंकरने उसके तीनों पुर भस्म कर दिये थे। फिर उन्हींकी कृपासे उसे यह स्थान मिला। वह मायावियोंका परम गुरु है और महादेवजीके द्वारा सुरक्षित है, इसलिये उसे सुदर्शन चक्रसे भी कोई भय नहीं है। वहाँके निवासी उसका बहुत आदर करते हैं ॥ २८ ॥

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्त्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति ॥ २९ ॥

उसके नीचे महातलमें कद्रूसे उत्पन्न हुए अनेक सिरोंवाले सर्पोंका क्रोधवश नामक एक समुदाय रहता है। उनमें कुहक, तक्षक, कालिय और सुषेण आदि प्रधान हैं। उनके बड़े-बड़े फन हैं। वे सदा भगवान्के वाहन पक्षिराज गरुडजीसे डरते रहते हैं; तो भी कभी-कभी अपने स्त्री, पुत्र, मित्र और कुटुम्बके सङ्गसे प्रमत्त होकर विहार करने लगते हैं ॥ २९ ॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्य

उसके नीचे रसातलमें पणि नामके दैत्य और दानव रहते हैं। ये निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी भी कहलाते हैं। इनका देवताओंसे विरोध है। ये जन्मसे ही बड़े बलवान् और महान् साहसी होते हैं।

१. प्रा० पा०—ग्रहमुपजि०। २. प्रा० पा०—मुत्तरस्माद्विस्तरिष्यते यद्भगवान्। ३. प्रा० पा०—त्रिपुरारिणा त्रिलोकयर्थे। ४. प्रा० पा०—मायानामाचार्यो। ५. प्रा० पा०—मुद्विग्नमनसा स्वक०।

महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव[1] तेजसा प्रतिहतबलावलेपा[2] बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति ॥ ३० ॥

किंतु जिनका प्रभाव सम्पूर्ण लोकोंमें फैला हुआ है, उन श्रीहरिके तेजसे बलाभिमान चूर्ण हो जानेके कारण ये सर्पोंके समान छुक-छिपकर रहते हैं तथा इन्द्रकी दूती सरमाके कहे हुए मन्त्रवर्णरूप* वाक्यके कारण सर्वदा इन्द्रसे डरते रहते हैं ॥ ३० ॥

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा[3] निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति ॥ ३१ ॥

रसातलके नीचे पाताल है। वहाँ शङ्ख, कुलिक, महाशङ्ख, श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शङ्खचूड, कम्बल, अश्वतर और देवदत्त आदि बड़े क्रोधी और बड़े-बड़े फनोंवाले नाग रहते हैं। इनमें वासुकि प्रधान हैं। उनमेंसे किसीके पाँच, किसीके सात, किसीके दस, किसीके सौ और किसीके हजार सिर हैं। उनके फनोंकी दमकती हुई मणियाँ अपने प्रकाशसे पाताललोकका सारा अन्धकार नष्ट कर देती हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे राहादिस्थितिबिलस्वर्गमर्यादानिरूपणं[4] नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

श्रीसङ्कर्षणदेवका विवरण और स्तुति

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः[5] सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते ॥ १ ॥ यस्येदं[6] क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ॥ २ ॥ यस्य ह वा इदं कालेनोपसञ्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिर-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! पाताललोकके नीचे तीस हजार योजनकी दूरीपर अनन्त नामसे विख्यात भगवान्‌की तामसी नित्य कला है। यह अहंकाररूपा होनेसे द्रष्टा और दृश्यको खींचकर एक कर देती है, इसलिये पाञ्चरात्र आगमके अनुयायी भक्तजन इसे 'सङ्कर्षण' कहते हैं ॥ १ ॥ इन भगवान् अनन्तके एक हजार मस्तक हैं। उनमेंसे एकपर रक्खा हुआ यह सारा भूमण्डल सरसोंके दानेके समान दिखायी देता है ॥ २ ॥ प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जब इन्हें इस विश्वका उपसंहार करनेकी इच्छा होती है, तब इनकी क्रोधवश

---

१. प्रा० पा०—हरेरिव। २. प्रा० पा०—हतावलेपा बिलशया इव वसन्ति ये वै सुरमये०। ३. प्रा० पा०—मर्षाः सन्ति। ४. प्रा० पा०—विवरावयववर्णनं नाम। ५. प्रा० पा०—द्रष्टृदर्शनयोः सन्निकर्षेण। ६. प्रा० पा०—तस्येदं।

* एक कथा आती है कि जब पणि नामक दैत्योंने पृथ्वीको रसातलमें छिपा लिया, तब इन्द्रने उसे ढूँढ़नेके लिये सरमा नामकी एक दूतीको भेजा था। सरमासे दैत्योंने संधि करनी चाही, परंतु सरमाने संधि न करके इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा था—'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्' (हे पणिगण! तुम इन्द्रके हाथसे मरकर पृथ्वीपर सो जाओ।) इसी शापके कारण उन्हें सदा इन्द्रका डर लगा रहता है।

भ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण सा[1]ङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत् ॥३॥ यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डले[2]ष्वहिपतयः सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनाव[3]नमन्तः स्ववदनानि परिस्फुर[4]त्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति ॥४॥ यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसितविशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेनाव[5]लिम्पमानास्तदभिमर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति ॥ ५ ॥ स[6] एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते ॥ ६ ॥

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमु[7]खरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षदविबुधयू[8]थपतीनपरिम्लानरागन[9]वतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्माहेन्द्रो

घूमती हुई मनोहर भ्रुकुटियोंके मध्यभागसे सङ्कर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं। उनकी व्यूहसंख्या ग्यारह है। वे सभी तीन नेत्रोंवाले होते हैं और हाथमें तीन नोकोंवाले शूल लिये रहते हैं ॥ ३ ॥ भगवान् सङ्कर्षणके चरणकमलोंके गोल-गोल स्वच्छ और अरुणवर्ण नख मणियोंकी पङ्क्तिके समान देदीप्यमान हैं। जब अन्य प्रधान-प्रधान भक्तोंके सहित अनेकों नागराज अनन्य भक्तिभावसे उन्हें प्रणाम करते हैं, तब उन्हें उन नखमणियोंमें अपने कुण्डलकान्तिमण्डित कमनीय कपोलोंवाले मनोहर मुखारविन्दोंकी मनमोहिनी झाँकी होती है और उनका मन आनन्दसे भर जाता है ॥ ४ ॥ अनेकों नागराजोंकी कन्याएँ विविध कामनाओंसे उनके अङ्गमण्डलपर चाँदीके खम्भोंके समान सुशोभित उनकी वलयविलसित लंबी-लंबी श्वेतवर्ण सुन्दर भुजाओंपर अरगजा, चन्दन और कुङ्कुमपङ्कका लेप करती हैं। उस समय अङ्गस्पर्शसे मथित हुए उनके हृदयमें कामका संचार हो जाता है। तब वे उनके मदविह्वल सकरुण अरुण नयनकमलोंसे सुशोभित तथा प्रेममदसे मुदित मुखारविन्दकी ओर मधुर मनोहर मुसकानके साथ सलज्ज भावसे निहारने लगती हैं ॥ ५ ॥ वे अनन्त गुणोंके सागर आदिदेव भगवान् अनन्त अपने अमर्ष (असहनशीलता) और रोषके वेगको रोके हुए वहाँ समस्त लोकोंके कल्याणके लिये विराजमान हैं ॥ ६ ॥

देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण भगवान् अनन्तका ध्यान किया करते हैं। उनके नेत्र निरन्तर प्रेममदसे मुदित, चञ्चल और विह्वल रहते हैं। वे सुललित वचनामृतसे अपने पार्षद और देवयूथपोंको संतुष्ट करते रहते हैं। उनके अङ्गपर नीलाम्बर और कानोंमें केवल एक कुण्डल जगमगाता रहता है तथा उनका सुभग और सुन्दर हाथ हलकी मूठपर रक्खा रहता है। वे उदारलीलामय भगवान् सङ्कर्षण गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये रहते हैं, जो साक्षात् इन्द्रके हाथी ऐरावतके गलेमें पड़ी हुई सुवर्णकी शृङ्खलाके समान जान पड़ती है। जिसकी कान्ति कभी फीकी नहीं

१. प्रा० पा०—संकर्षणो। २. प्रा० पा०—मण्डलं ह्यधिपतयः। ३. प्रा० पा०—नमन्ति स्व०। ४. प्रा० पा०—परिस्फुरत्प्रभामण्डलीमण्डित०। ५. प्रा० पा०—न विलिम्पमाना०। ६. प्रा० पा०—स भगवानन०। ७. प्रा० पा०—मुखविकारामृतेना०। ८. प्रा० पा०—यूथपपतीनां परि०। ९. प्रा० पा०—वनतुलसि०।

वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति ॥ ७ ॥

य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान् भगवान् स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास ॥ ८ ॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयाऽऽसन् ।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥

मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र ।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥१०॥

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।
हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥११॥

मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम् ।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यधिगणयेत्सहस्रजिह्वः ॥१२॥

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥१३॥

पड़ती, ऐसी नवीन तुलसीकी गन्ध और मधुर मकरन्दसे उन्मत्त हुए भौंरे निरन्तर मधुर गुंजार करके उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं ॥ ७ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् अनन्त माहात्म्यश्रवण और ध्यान करनेसे मुमुक्षुओंके हृदयमें आविर्भूत होकर उनकी अनादिकालीन कर्मवासनाओंसे ग्रथित सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक अविद्यामयी हृदयग्रन्थिको तत्काल काट डालते हैं । उनके गुणोंका एक बार ब्रह्माजीके पुत्र भगवान् नारदने तुम्बुरु गन्धर्वके साथ ब्रह्माजीकी सभामें इस प्रकार गान किया था ॥ ८ ॥

जिनकी दृष्टि पड़नेसे ही जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके हेतुभूत सत्त्वादि प्राकृत गुण अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं, जिनका स्वरूप ध्रुव (अनन्त) और अकृत (अनादि) है तथा जो अकेले होते हुए ही इस नानात्मक प्रपञ्चको अपनेमें धारण किये हुए हैं—उन भगवान् सङ्कर्षणके तत्त्वको कोई कैसे जान सकता है ॥ ९ ॥ जिनमें यह कार्य-कारणरूप सारा प्रपञ्च भास रहा है तथा अपने निजजनोंका चित्त आकर्षित करनेके लिये की हुई जिनकी वीरतापूर्ण लीलाको परम पराक्रमी सिंहने आदर्श मानकर अपनाया है, उन उदारवीर्य सङ्कर्षण भगवान्‌ने हमपर बड़ी कृपा करके यह विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूप धारण किया है ॥१०॥ जिनके सुने-सुनाये नामका कोई पीड़ित अथवा पतित पुरुष अकस्मात् अथवा हँसीमें भी उच्चारण कर लेता है तो वह पुरुष दूसरे मनुष्योंके भी सारे पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है—ऐसे शेष भगवान्‌को छोड़कर मुमुक्षु पुरुष और किसका आश्रय ले सकता है ? ॥ ११ ॥ यह पर्वत, नदी और समुद्रादिसे पूर्ण सम्पूर्ण भूमण्डल उन सहस्रशीर्षा भगवान्‌के एक मस्तकपर एक रजःकणके समान रक्खा हुआ है । वे अनन्त हैं, इसलिये उनके पराक्रमका कोई परिमाण नहीं है । किसीके हजार जीभें हों, तो भी उन सर्वव्यापक भगवान्‌के पराक्रमोंकी गणना करनेका साहस वह कैसे कर सकता है ? ॥ १२ ॥ वास्तवमें उनके वीर्य, अतिशय गुण और प्रभाव असीम हैं । ऐसे प्रभावशाली भगवान् अनन्त रसातलके मूलमें अपनी ही महिमामें स्थित स्वतन्त्र हैं और सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये लीलासे ही पृथ्वीको धारण किये हुए हैं ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—मनुश्रुतोऽभिध्याय० । २. प्रा० पा०—कर्मणां वी० । ३. प्रा० पा०—भावमुद्वहन् भग० । ४. प्रा० पा०—भूगोलकं । ५. प्रा० पा०—र्याण्यभिगण० । ६. प्रा० पा०—वीर्यो गुणानुभावः ।

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्म-विनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान् कामयमानैः ॥ १४ ॥ एतावतीर्हि राजन् पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति ॥ १५ ॥

राजन् ! भोगोंकी कामनावाले पुरुषोंकी अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली भगवान्‌की रची हुई ये ही गतियाँ हैं। इन्हें जिस प्रकार मैंने गुरुमुखसे सुना था, उसी प्रकार तुम्हें सुना दिया ॥ १४ ॥ मनुष्यको प्रवृत्तिरूप धर्मके परिणाममें प्राप्त होनेवाली जो परस्पर विलक्षण ऊँची-नीची गतियाँ हैं, वे इतनी ही हैं; इन्हें तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने सुना दिया। अब बताओ, और क्या सुनाऊँ ? ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भूविवरविध्युपवर्णनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

नरकोंकी विभिन्न गतियोंका वर्णन

राजोवाच

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—महर्षे ! लोगोंको जो ये ऊँची-नीची गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें इतनी विभिन्नता क्यों है ? ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच[1]

त्रिगुणत्वात्कर्तुः[2] श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति ॥ २ ॥ अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः[3] श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया[4] कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः ३

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! कर्म करनेवाले पुरुष सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके होते हैं तथा उनकी श्रद्धाओंमें भी भेद रहता है। इस प्रकार स्वभाव और श्रद्धाके भेदसे उनके कर्मोंकी गतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं और न्यूनाधिकरूपमें ये सभी गतियाँ सभी कर्ताओंको प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार निषिद्ध कर्मरूप पाप करनेवालोंको भी उनकी श्रद्धाकी असमानताके कारण समान फल नहीं मिलता। अतः अनादि अविद्याके वशीभूत होकर कामनापूर्वक किये हुए उन निषिद्ध कर्मोंके परिणाममें जो हजारों तरहकी नारकी गतियाँ होती हैं, उनका विस्तारसे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥

राजोवाच

नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति ॥ ४ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आप जिनका वर्णन करना चाहते हैं, वे नरक इसी पृथ्वीके कोई देशविशेष हैं अथवा त्रिलोकीसे बाहर या इसीके भीतर किसी जगह हैं ? ॥ ४ ॥

ऋषिरुवाच

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! वे त्रिलोकीके भीतर ही हैं तथा दक्षिणकी ओर पृथ्वीसे नीचे जलके ऊपर स्थित हैं। इसी दिशामें अग्निष्वात्त आदि पितृगण रहते हैं, वे अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक अपने वंशधरोंके लिये

१. प्राचीन प्रतिमें 'ऋषिरुवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। ३. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। ४. प्रा० पा०—विद्याकामानां।

सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति ॥ ५ ॥ यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति ६ तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति । अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति । किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः ॥ ७ ॥

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते । अनशनानुदपानदण्डताडनसंतर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये ।८। एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति ।९। यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति ॥१०॥ ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव

मङ्गलकामना किया करते हैं ॥ ५ ॥ उस नरकलोकमें सूर्यके पुत्र पितृराज भगवान् यम अपने सेवकोंके सहित रहते हैं तथा भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए, अपने दूतोंद्वारा वहाँ लाये हुए मृत प्राणियोंको उनके दुष्कर्मोंके अनुसार पापका फल दण्ड देते हैं ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! कोई-कोई लोग नरकोंकी संख्या इक्कीस बताते हैं । अब हम नाम, रूप और लक्षणोंके अनुसार उनका क्रमशः वर्णन करते हैं । उनके नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयःपान । इनके सिवा क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात और मिलाकर कुल अट्ठाईस नरक तरह-तरहकी यातनाओंको भोगनेके स्थान हैं ॥ ७ ॥

जो पुरुष दूसरोंके धन, संतान अथवा स्त्रियोंका हरण करता है, उसे अत्यन्त भयानक यमदूत कालपाशमें बाँधकर बलात्कारसे तामिस्र नरकमें गिरा देते हैं । उस अन्धकारमय नरकमें उसे अन्न-जल न देना, डंडे लगाना और भय दिखलाना आदि अनेक प्रकारके उपायोंसे पीड़ित किया जाता है । इससे अत्यन्त दुखी होकर वह एकाएक मूर्च्छित हो जाता है ॥ ८ ॥ इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है । वहाँकी यातनाओंमें पड़कर वह जड़से कटे हुए वृक्षके समान, वेदनाके मारे सारी सुध-बुध खो बैठता है और उसे कुछ भी नहीं सूझ पड़ता । इसीसे इस नरकको अन्धतामिस्र कहते हैं ॥ ९ ॥

जो पुरुष इस लोकमें 'यह शरीर ही मैं हूँ और ये स्त्री-धनादि मेरे हैं' ऐसी बुद्धिसे दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करके निरन्तर अपने कुटुम्बके ही पालन-पोषणमें लगा रहता है, वह अपना शरीर छोड़नेपर अपने पापके कारण स्वयं ही रौरव नरकमें गिरता है ॥ १० ॥ इस लोकमें उसने जिन जीवोंको जिस प्रकार कष्ट पहुँचाया होता है, परलोकमें यमयातनाका समय आनेपर वे जीव 'रुरु' होकर उसे उसी प्रकार कष्ट पहुँचाते हैं । इसीलिये

१. प्रा० पा०—शूकोऽवटनिरोधनं पर्यावर्तनं । २. प्रा० पा०—वञ्चित्वा । ३. प्रा० पा०—यथा हि वनस्पति० । ४. प्रा० पा०—तदशुभे रौरवे । ५. प्रा० पा०—ये वेह तथैवामुना । ६. प्रा० पा०—यातनायतनमुपगतास्त ।

विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पाद[1]ति-क्रूरसत्त्वस्यापदेशः ॥११॥ एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा[2] नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः ॥ १२ ॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितमत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति ॥ १३ ॥ यस्त्विह पितृविप्रब्रह्मध्रुक् स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये[3] तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते[4] चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि ॥ १४ ॥

यस्त्विह[5] वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतोधारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं[6] फलं भुङ्क्ते ॥ १५ ॥

इस नरकका नाम 'रौरव' है । 'रुरु' सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाले एक जीवका नाम है ॥ ११ ॥ ऐसा ही महारौरव नरक है । इसमें वह व्यक्ति जाता है, जो और किसीकी परवा न कर केवल अपने ही शरीर-का पालन-पोषण करता है । वहाँ कच्चा मांस खानेवाले रुरु इसे मांसके लोभसे काटते हैं ॥ १२ ॥

जो क्रूर मनुष्य इस लोकमें अपना पेट पालनेके लिये जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है, उस हृदय-हीन, राक्षसोंसे भी गये-बीते पुरुषको यमदूत कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तैलमें राँधते हैं ॥ १३ ॥ जो मनुष्य इस लोकमें माता-पिता, ब्राह्मण और वेदसे विरोध करता है, उसे यमदूत कालसूत्र नरकमें ले जाते हैं । इसका घेरा दस हजार योजन है । इसकी भूमि ताँबेकी है । इसमें जो तपा हुआ मैदान है, वह ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निके दाहसे जलता रहता है । वहाँ पहुँचाया हुआ पापी जीव भूख-प्याससे व्याकुल हो जाता है और उसका शरीर बाहर-भीतरसे जलने लगता है । उसकी बेचैनी यहाँतक बढ़ती है कि वह कभी बैठता है, कभी लेटता है, कभी छटपटाने लगता है, कभी खड़ा होता है और कभी इधर-उधर दौड़ने लगता है । इस प्रकार उस नर-पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षतक उसकी यह दुर्गति होती रहती है ॥ १४ ॥

जो पुरुष किसी प्रकारकी आपत्ति न आनेपर भी अपने वैदिक मार्गको छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण धर्मोंका आश्रय लेता है, उसे यमदूत असिपत्रवन नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं । जब मारसे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ने लगता है, तब उसके सारे अङ्ग तालवनके तलवारके समान पैने पत्तोंसे, जिनमें दोनों ओर धारें होती हैं, टूक-टूक होने लगते हैं । तब वह अत्यन्त वेदनासे 'हाय, मैं मरा !' इस प्रकार चिल्लाता हुआ पद-पदपर मूर्च्छित होकर गिरने लगता है । अपने धर्म-को छोड़कर पाखण्डमार्गमें चलनेसे उसे इस प्रकार अपने कुकर्मका फल भोगना पड़ता है ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—सर्पवदतिक्रूरसत्त्व० । २. प्रा० पा०—क्रव्यादा रुरवस्तं । ३. प्रा० पा०—मये खले । ४. प्रा० पा०—शेतेऽवतिष्ठति । ५. प्रा० पा०—यस्तू ह वै । ६. प्रा० पा०—पाखण्डानुगमनं ।

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः ॥ १६ ॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनाम[1]विविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः ॥ १७ ॥

यस्त्विह वा अ[2]संविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र श[3]तसहस्रयोजने कृमिकुण्डे[4] कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते॥१८॥

इस लोकमें जो पुरुष राजा या राजकर्मचारी होकर किसी निरपराध मनुष्यको दण्ड देता है अथवा ब्राह्मणको शरीरदण्ड देता है, वह महापापी मरकर सूकरमुख नरकमें गिरता है। वहाँ जब महाबली यमदूत उसके अङ्गोंको कुचलते हैं, तब वह कोल्हूमें पेरे जाते हुए गन्नोंके समान पीड़ित होकर, जिस प्रकार इस लोकमें उसके द्वारा सताये हुए निरपराध प्राणी रोते-चिल्लाते थे, उसी प्रकार कभी आर्त स्वरसे चिल्लाता और कभी मूर्च्छित हो जाता है ॥ १६ ॥

जो पुरुष इस लोकमें खटमल आदि जीवोंकी हिंसा करता है, वह उनसे द्रोह करनेके कारण अन्धकूप नरकमें गिरता है; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने ही रक्तपानादि उनकी वृत्ति बना दी है और उन्हें उसके कारण दूसरोंको कष्ट पहुँचनेका ज्ञान भी नहीं है; किंतु मनुष्यकी वृत्ति भगवान्‌ने विधि-निषेधपूर्वक बनायी है और उसे दूसरोंके कष्टका ज्ञान भी है। वहाँ वे पशु, मृग, पक्षी, साँप आदि रेंगनेवाले जन्तु, मच्छर, जूँ, खटमल और मक्खी आदि जीव—जिनसे उसने द्रोह किया था—उसे सब ओरसे काटते हैं। इससे उसकी निद्रा और शान्ति भङ्ग हो जाती है और स्थान न मिलनेपर भी वह बेचैनीके कारण उस घोर अन्धकारमें इस प्रकार भटकता रहता है, जैसे रोगग्रस्त शरीरमें जीव छटपटाया करता है ॥ १७ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें बिना पञ्चमहायज्ञ किये तथा जो कुछ मिले, उसे बिना किसी दूसरेको दिये स्वयं ही खा लेता है, उसे कौएके समान कहा गया है। वह परलोकमें कृमिभोजन नामक निकृष्ट नरकमें गिरता है। वहाँ एक लाख योजन लंबा-चौड़ा एक कीड़ोंका कुण्ड है। उसीमें उसे भी कीड़ा बनकर रहना पड़ता है और जबतक अपने पापोंका प्रायश्चित्त न करनेवाले उस पापीके—बिना दिये और बिना हवन किये खानेके—दोषका अच्छी तरह शोधन नहीं हो जाता, तबतक वह उसीमें पड़ा-पड़ा कष्ट भोगता रहता है। वहाँ कीड़े उसे नोचते हैं और वह कीड़ोंको खाता है ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—मीश्वरकल्पित०। २. प्रा० पा०—सङ्गेऽसंविभज्य। ३. प्रा० पा०—शतयोजने। ४. प्रा० पा०—ण्डे कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः।

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति ॥ १९ ॥ यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या ॥२०॥ यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति ॥२१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते ॥२२॥ ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति २३ ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति ॥ २४ ॥

राजन् ! इस लोकमें जो व्यक्ति चोरी या बरजोरीसे ब्राह्मणके अथवा आपत्तिका समय न होनेपर भी किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण और रत्नादिका हरण करता है, उसे मरनेपर यमदूत सन्दंश नामक नरकमें ले जाकर तपाये हुए लोहेके गोलोंसे दागते हैं और सँड़सीसे उसकी खाल नोचते हैं ॥ १९ ॥ इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है, तो यमदूत उसे तप्तसूर्मि नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं तथा पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिङ्गन कराते हैं ॥ २० ॥ जो पुरुष इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है, उसे मृत्युके बाद यमदूत वज्रकण्टकशाल्मली नरकमें गिराते हैं और वज्रके समान कठोर काँटोंवाले सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर फिर नीचेकी ओर खींचते हैं ॥ २१ ॥

जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठ कुलमें जन्म पाकर भी धर्मकी मर्यादाका उच्छेद करते हैं, वे उस मर्यादातिक्रमणके कारण मरनेपर वैतरणी नदीमें पटके जाते हैं। यह नदी नरकोंकी खाईंके समान है, उसमें मल, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस और मज्जा आदि गंदी चीजें भरी हुई हैं। वहाँ गिरनेपर उन्हें इधर-उधरसे जलके जीव नोचते हैं। किंतु इससे उनका शरीर नहीं छूटता, पापके कारण प्राण उसे वहन किये रहते हैं और वे उस दुर्गतिको अपनी करनीका फल समझकर मन-ही-मन संतप्त होते रहते हैं ॥ २२ ॥ जो लोग शौच और आचारके नियमोंका परित्याग कर तथा लज्जाको तिलाञ्जलि देकर इस लोकमें शूद्राओंके साथ सम्बन्ध गाँठकर पशुओंके समान आचरण करते हैं, वे भी मरनेके बाद पीब, विष्ठा, मूत्र, कफ और मलसे भरे हुए पूयोद नामक समुद्रमें गिरकर उन अत्यन्त घृणित वस्तुओंको ही खाते हैं ॥ २३ ॥ इस लोकमें जो ब्राह्मणादि उच्च वर्णके लोग कुत्ते या गधे पालते और शिकार आदिमें लगे रहते हैं तथा शास्त्रके विपरीत पशुओंका वध करते हैं, मरनेके पश्चात् वे प्राणरोध नरकमें डाले जाते हैं और वहाँ यमदूत उन्हें लक्ष्य बनाकर बाणोंसे बींधते हैं ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—अश्ममयैरग्नि०। २. प्रा० पा०—दपि गच्छति। ३. प्रा० पा०—ताडयेत्तिग्मया। ४. प्रा० पा०—पुरुषमूर्त्या। ५. प्रा० पा०—धर्मसेतुं। ६. प्रा० पा०—अघेन कर्मविपाकमनुस्मरन्त उपतप्यन्ते विण्मूत्र······वाहिन्याम्।

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति ॥ २५ ॥ यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति[1] ॥ २६ ॥ ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य[2] यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति ॥ २७ ॥ यस्त्विह[3] वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधः[4]-शिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद् गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते यत्र जलमिव[5] स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति ॥ २८ ॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां[6] निरयं नीतानामुरसि पदाऽऽक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति । २९ । अथ च यस्त्विह[7] वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते ॥ ३० ॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो[8] नृपशून् खादन्ति तांश्च ते पशव इव निहता यमसदने

जो पाखण्डीलोग पाखण्डपूर्ण यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं, उन्हें परलोकमें वैशस (विशसन) नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीड़ा देकर काटते हैं ॥२५॥ जो द्विज कामातुर होकर अपनी सवर्णा भार्याको वीर्यपान कराता है, उस पापीको मरनेके बाद यमदूत वीर्यकी नदी (लालभक्ष नामक नरक) में डालकर वीर्य पिलाते हैं ॥२६॥ जो कोई चोर अथवा राजा या राजपुरुष इस लोकमें किसीके घरमें आग लगा देते हैं, किसीको विष दे देते हैं अथवा गाँवों या व्यापारियोंकी टोलियोंको लूट लेते हैं, उन्हें मरनेके पश्चात् सारमेयादन नामक नरकमें वज्रकी-सी दाढ़ोंवाले सात सौ बीस यमदूत कुत्ते बनकर बड़े वेगसे काटने लगते हैं ॥ २७ ॥ इस लोकमें जो पुरुष किसीकी गवाही देनेमें, व्यापारमें अथवा दानके समय किसी भी तरह झूठ बोलता है, वह मरनेपर आधारशून्य अवीचिमान् नरकमें पड़ता है। वहाँ उसे सौ योजन ऊँचे पहाड़के शिखरसे नीचेको सिर करके गिराया जाता है। उस नरककी पत्थरकी भूमि जलके समान जान पड़ती है। इसीलिये इसका नाम 'अवीचिमान्' है। वहाँ गिराये जानेसे उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी प्राण नहीं निकलते, इसलिये इसे बार-बार ऊपर ले जाकर पटका जाता है ॥ २८ ॥

जो ब्राह्मण या ब्राह्मणी अथवा व्रतमें स्थित और कोई भी प्रमादवश मद्यपान करता है तथा जो क्षत्रिय या वैश्य सोमपान* करता है, उन्हें यमदूत अयःपान नामके नरकमें ले जाते हैं और उनकी छातीपर पैर रखकर उनके मुँहमें आगसे गलाया हुआ लोहा डालते हैं ॥२९॥ जो पुरुष इस लोकमें निम्न श्रेणीका होकर भी अपनेको बड़ा माननेके कारण जन्म, तप, विद्या, आचार, वर्ण या आश्रममें अपनेसे बड़ोंका विशेष सत्कार नहीं करता, वह जीता हुआ भी मरेके ही समान है। उसे मरनेपर क्षारकर्दम नामके नरकमें नीचेको सिर करके गिराया जाता है और वहाँ उसे अनन्त पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं ॥३०॥

जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस आदिका यजन करते हैं और जो स्त्रियाँ पशुओंके समान पुरुषोंको खा जाती हैं, उन्हें वे पशुओंकी तरह मारे हुए पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर तरह-तरहकी

१. प्रा० पा०—आपाययन्ति । २. प्रा० पा०—परेतान् । ३. प्रा० पा०—ये त्विह वा अनृतं वदन्ति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये वा कथञ्चित् । ४. प्रा० पा०—चीमयेऽधश्शिरा० । ५. प्रा० पा०—स्तजलमिव । ६. प्रा० पा०—पुमानतस्तेषां निरयं । ७. प्रा० पा०—यस्त्विहात्मसंभावनेन । ८. प्रा० पा०—स्वस्त्रियो नृपशून् । ९. प्रा० पा०—इह ।

* क्षत्रियों एवं वैश्योंके लिये शास्त्रमें सोमपानका निषेध है ।

यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनावदीयासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः ॥ ३१ ॥ ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून् शूलसूत्रादिषूपप्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्कवटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति ॥ ३२ ॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान् ॥ ३३ ॥ ये त्विह वा अन्धावटकुसूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति ॥ ३४ ॥ यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान् वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति ॥ ३५ ॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की अर्थव्ययनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमल-

यातनाएँ देते हैं और रक्षोगणभोजन नामक नरकमें कसाइयोंके समान कुल्हाड़ीसे काट-काटकर उसका लोहू पीते हैं। जिस प्रकार वे मांसभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस भक्षण करके आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वे भी उनका रक्तपान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं ॥ ३१ ॥ इस लोकमें जो लोग वन या गाँवके निरपराध जीवोंको—जो सभी अपने प्राणोंको रखना चाहते हैं—तरह-तरहके उपायोंसे फुसलाकर अपने पास बुला लेते हैं और फिर उन्हें काँटेसे बेधकर या रस्सीसे बाँधकर खिलवाड़ करते हुए तरह-तरहकी पीड़ाएँ देते हैं, उन्हें भी मरनेके पश्चात् यमयातनाओंके समय शूलप्रोत नामक नरकमें शूलोंसे बेधा जाता है। उस समय जब उन्हें भूख-प्यास सताती है और कङ्क, बटेर आदि तीखी चोंचोंवाले नरकके भयानक पक्षी नोचने लगते हैं, तब अपने किये हुए सारे पाप याद आ जाते हैं ॥ ३२ ॥

राजन्! इस लोकमें जो सर्पोंके समान उग्रस्वभाव पुरुष दूसरे जीवोंको पीड़ा पहुँचाते हैं, वे मरनेपर दन्दशूक नामके नरकमें गिरते हैं। वहाँ पाँच-पाँच, सात-सात मुँहवाले सर्प उनके समीप आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं ॥ ३३ ॥ जो व्यक्ति यहाँ दूसरे प्राणियोंको अँधेरी खत्तियों, कोठों या गुफाओंमें डाल देते हैं, उन्हें परलोकमें यमदूत वैसे ही स्थानोंमें डालकर विषैली आगके धूएँमें घोटते हैं। इसीलिये इस नरकको अवटनिरोधन कहते हैं ॥ ३४ ॥ जो गृहस्थ अपने घर आये अतिथि-अभ्यागतोंकी ओर बार-बार क्रोधमें भरकर ऐसी कुटिल दृष्टिसे देखता है, मानो उन्हें भस्म कर देगा, वह जब नरकमें जाता है, तब उस पापदृष्टिके नेत्रोंको गिद्ध, कङ्क, काक और बटेर आदि वज्रकी-सी कठोर चोंचोंवाले पक्षी बलात्कारसे निकाल लेते हैं। इस नरकको पर्यावर्तन कहते हैं ॥ ३५ ॥

इस लोकमें जो व्यक्ति अपनेको बड़ा धनवान् समझकर अभिमानवश सबको टेढ़ी नजरसे देखता है और सभीपर संदेह रखता है, धनके व्यय और नाशकी चिन्तासे जिसके हृदय और मुँह सूखे रहते हैं, अतः तनिक भी चैन न मानकर जो यक्षके समान धनकी रक्षामें ही लगा रहता है तथा पैसा पैदा करने, बढ़ाने और बचानेमें जो

१. प्रा० पा०—दार्व्यासृक्। २. प्रा० पा०—उपश्लिष्य। ३. प्रा० पा०—वक्रतुण्डा०। ४. प्रा० पा०—सर्वतःशङ्की व्ययनाशचिन्तया। ५. प्रा० पा०—मतिरक्षति। ६. प्रा० पा०—रक्षणसमलग्रहः।

ग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति ॥ ३६ ॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति ॥ ३७ ॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः ॥ एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ३९

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४० ॥

तरह-तरहके पाप करता रहता है, वह नराधम मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरता है । वहाँ उस अर्थपिशाच पापात्माके सारे अङ्गोंको यमराजके दूत दर्जियोंके समान सूई-धागेसे सीते हैं ॥ ३६ ॥

राजन् ! यमलोकमें इसी प्रकारके सैकड़ों-हजारों नरक हैं । उनमें जिनका यहाँ उल्लेख हुआ है और जिनके विषयमें कुछ नहीं कहा गया, उन सभीमें सब अधर्मपरायण जीव अपने कर्मोंके अनुसार बारी-बारीसे जाते हैं । इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष स्वर्गादिमें जाते हैं । इस प्रकार नरक और स्वर्गके भोगसे जब इनके अधिकांश पाप और पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब बाकी बचे हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंको लेकर ये फिर इसी लोकमें जन्म लेनेके लिये लौट आते हैं ॥ ३७ ॥

इन धर्म और अधर्म दोनोंसे विलक्षण जो निवृत्तिमार्ग है, उसका तो पहले (द्वितीय स्कन्धमें) ही वर्णन हो चुका है । पुराणोंमें जिसका चौदह भुवनके रूपमें वर्णन किया गया है, वह ब्रह्माण्डकोश इतना ही है । यह साक्षात् परम पुरुष श्रीनारायणका अपनी मायाके गुणोंसे युक्त अत्यन्त स्थूल स्वरूप है, इसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया । परमात्मा भगवान्का उपनिषदोंमें वर्णित निर्गुण स्वरूप यद्यपि मन-बुद्धिकी पहुँचके बाहर है तो भी जो पुरुष इस स्थूल रूपका वर्णन आदरपूर्वक पढ़ता, सुनता या सुनाता है, उसकी बुद्धि श्रद्धा और भक्तिके कारण शुद्ध हो जाती है और वह उस सूक्ष्म रूपका भी अनुभव कर सकता है ॥ ३८ ॥

यतिको चाहिये कि भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके रूपोंका श्रवण करके पहले स्थूल रूपमें चित्तको स्थिर करे, फिर धीरे-धीरे वहाँसे हटाकर उसे सूक्ष्ममें लगा दे ॥ ३९ ॥ परीक्षित् ! मैंने तुमसे पृथ्वी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया । यही भगवान्का अति अद्भुत स्थूल रूप है, जो समस्त जीवसमुदायका आश्रय है ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे नरकानुवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

॥ इति पञ्चमः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्रा० पा०—ग्रहणं । २. प्रा० पा०—शतसहस्रशः । ३. प्रा० पा०—णमनुवर्णित० ।

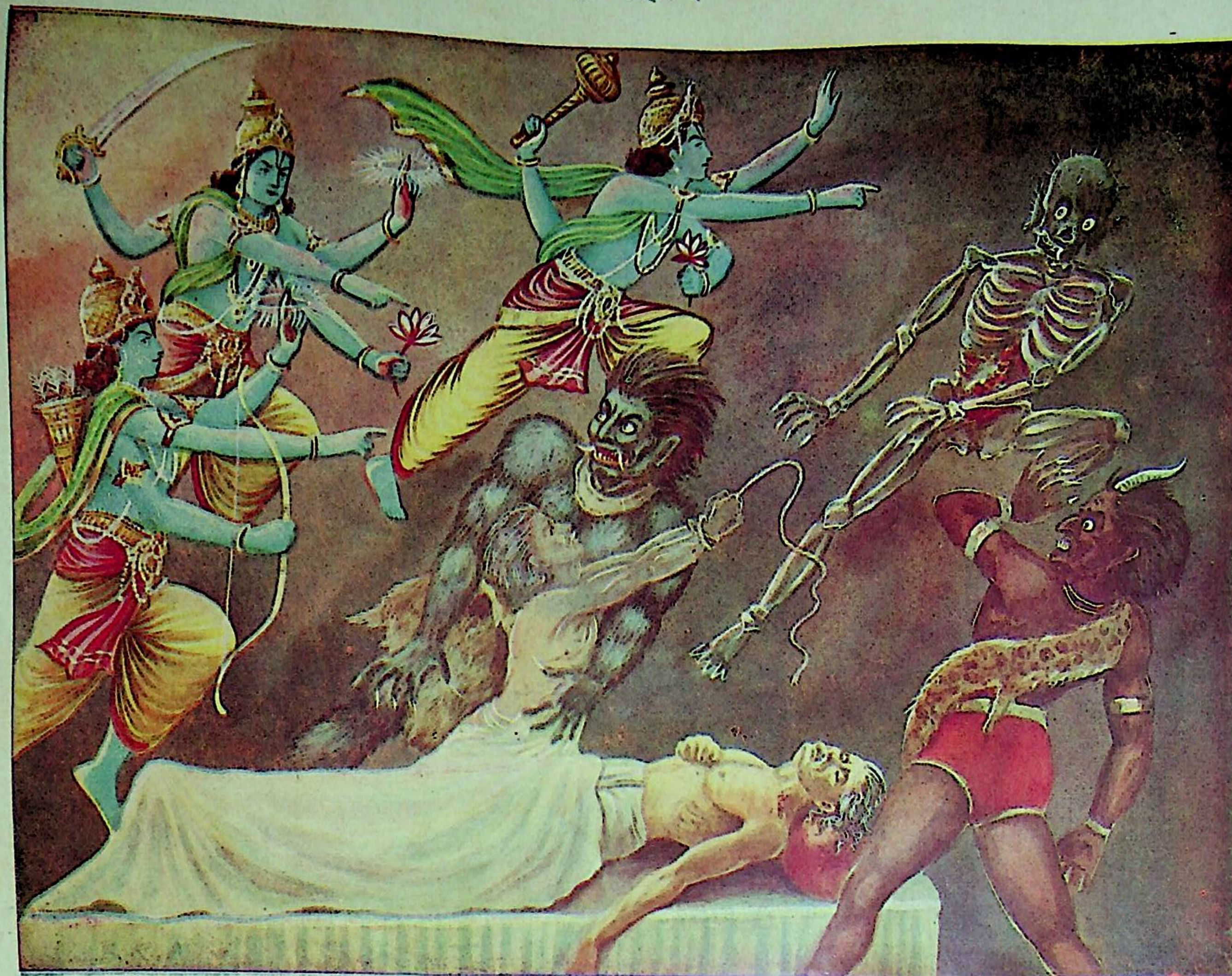
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

षष्ठः स्कन्धः



वन्दे गोविन्ददेवस्य नाम नारायणं सदा ।
अबुद्ध्यापि यदुच्चार्य मुक्तः पापोऽप्यजामिलः ॥



यमदूत अजामिलके सूक्ष्म शरीरको खींच रहे थे, विष्णुदूतोंने उन्हें बलपूर्वक रोक दिया।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

षष्ठः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अजामिलोपाख्यानका प्रारम्भ

राजोवाच

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा ।
क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने ।
योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः ॥ २ ॥
अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।
मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३ ॥
प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च ।
द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४ ॥
धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।
ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५ ॥
अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः ।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

राजा परीक्षितने कहा—भगवन्! आप पहले (द्वितीय स्कन्धमें) निवृत्तिमार्गका वर्णन कर चुके हैं तथा यह बतला चुके हैं कि उसके द्वारा अर्चिरादि मार्गसे जीव क्रमशः ब्रह्मलोकमें पहुँचता है और फिर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥ मुनिवर! इसके सिवा आपने उस प्रवृत्तिमार्गका भी (तृतीय स्कन्धमें) भलीभाँति वर्णन किया है, जिससे त्रिगुणमय स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिका सम्बन्ध न छूटनेके कारण जीवोंको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें आना पड़ता है ॥ २ ॥ आपने यह भी बतलाया कि अधर्म करनेसे अनेक नरकोंकी प्राप्ति होती है और (पाँचवें स्कन्धमें) उनका विस्तारसे वर्णन भी किया। (चौथे स्कन्धमें) आपने उस प्रथम मन्वन्तरका वर्णन किया, जिसके अधिपति स्वायम्भुव मनु थे ॥ ३ ॥ साथ ही (चौथे और पाँचवें स्कन्धमें) प्रियव्रत और उत्तानपादके वंशों तथा चरित्रोंका एवं द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत, नदी, उद्यान और विभिन्न द्वीपोंके वृक्षोंका भी निरूपण किया ॥ ४ ॥ भूमण्डलकी स्थिति, उसके द्वीप-वर्षादि-विभाग, उनके लक्षण तथा परिमाण, नक्षत्रोंकी स्थिति, अतल-वितल आदि भू-विवर (सात पाताल) और भगवान्‌ने इन सबकी जिस प्रकार सृष्टि की—उसका वर्णन भी सुनाया ॥ ५ ॥ महाभाग! अब मैं वह उपाय जानना चाहता हूँ, जिसके अनुष्ठानसे मनुष्योंको अनेकानेक भयंकर यातनाओंसे पूर्ण नरकोंमें न जाना पड़े। आप कृपा करके उसका उपदेश कीजिये ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥ ७ ॥
तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥ ८ ॥

राजोवाच

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥ ९ ॥
क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः ।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥ ११ ॥
नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि ।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते ॥ १२ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च ॥ १३ ॥
देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे पाप करता है । यदि वह उन पापोंका इसी जन्ममें प्रायश्चित्त न कर ले, तो मरनेके बाद उसे अवश्य ही उन भयंकर यातनापूर्ण नरकोंमें जाना पड़ता है, जिनका वर्णन मैंने तुम्हें (पाँचवें स्कन्धके अन्तमें) सुनाया है ॥ ७ ॥ इसलिये बड़ी सावधानी और सजगताके साथ रोग एवं मृत्युके पहले ही शीघ्र-से-शीघ्र पापोंकी गुरुता और लघुतापर विचार करके उनका प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये, जैसे मर्मज्ञ चिकित्सक रोगोंका कारण और उनकी गुरुता-लघुता जानकर झटपट उनकी चिकित्सा कर डालता है ॥ ८ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! मनुष्य राजदण्ड, समाजदण्ड आदि लौकिक और शास्त्रोक्त नरकगमन आदि पारलौकिक कष्टोंसे, यह जानकर भी कि पाप उसका शत्रु है, पापवासनाओंसे विवश होकर बार-बार वैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है । ऐसी अवस्थामें उसके पापोंका प्रायश्चित्त कैसे सम्भव है ? ॥ ९ ॥ मनुष्य कभी तो प्रायश्चित्त आदिके द्वारा पापोंसे छुटकारा पा लेता है, कभी फिर उन्हें ही करने लगता है । ऐसी स्थितिमें मैं समझता हूँ कि जैसे स्नान करनेके बाद धूल डाल लेनेके कारण हाथीका स्नान व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही मनुष्यका प्रायश्चित्त करना भी व्यर्थ ही है ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—वस्तुतः कर्मके द्वारा ही कर्मका निर्बीज नाश नहीं होता; क्योंकि कर्मका अधिकारी अज्ञानी है । अज्ञान रहते पापवासनाएँ सर्वथा नहीं मिट सकतीं । इसलिये सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्त्वज्ञान ही है ॥ ११ ॥ जो पुरुष केवल सुपथ्यका ही सेवन करता है, उसे रोग अपने वशमें नहीं कर सकते । वैसे ही परीक्षित् ! जो पुरुष नियमोंका पालन करता है, वह धीरे-धीरे पापवासनाओंसे मुक्त हो कल्याणप्रद तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ १२ ॥ जैसे बाँसोंके झुरमुटमें लगी आग बाँसोंको जला डालती है—वैसे ही धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, मनकी स्थिरता, दान, सत्य, बाहर-भीतरकी पवित्रता

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—क वा चरति । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ४. प्रा० पा०—कर्मनिर्वेगो न चात्यन्तिक । ५. प्रा० पा०—कारत्वा० ।

क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥१४॥
केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१५॥
न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥१६॥
सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥१७॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥१८॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥१९॥
अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥२०॥
कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः ।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥२१॥
बन्द्यक्षकैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः ।
बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥२२॥
एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् ।
कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः ॥२३
तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।

तथा यम एवं नियम—इन नौ साधनोंसे मन, वाणी और शरीरद्वारा किये गये बड़े-से-बड़े पापोंको भी नष्ट कर देते हैं ॥ १३-१४ ॥ भगवान्‌की शरणमें रहनेवाले भक्त-जन, जो बिरले ही होते हैं, केवल भक्तिके द्वारा अपने सारे पापोंको उसी प्रकार भस्म कर देते हैं, जैसे सूर्य कुहरेको ॥ १५ ॥ परीक्षित् ! पापी पुरुषकी जैसी शुद्धि भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेसे और उनके भक्तोंका सेवन करनेसे होती है, वैसी तपस्या आदिके द्वारा नहीं होती ॥ १६ ॥ जगत्‌में यह भक्तिका पन्थ ही सर्वश्रेष्ठ, भयरहित और कल्याणस्वरूप है; क्योंकि इस मार्गपर भगवत्परायण, सुशील साधुजन चलते हैं ॥ १७ ॥ परीक्षित् ! जैसे शराबसे भरे घड़ेको नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे ही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त बार-बार किये जानेपर भी भगवद्विमुख मनुष्यको पवित्र करनेमें असमर्थ हैं ॥ १८ ॥ जिन्होंने अपने भगवद्गुणानुरागी मन-मधुकरको भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दका एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिये । वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते । फिर नरककी तो बात ही क्या है ॥ १९ ॥

परीक्षित् ! इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं । उसमें भगवान् विष्णु और यमराजके दूतोंका संवाद है । तुम मुझसे उसे सुनो ॥ २० ॥ कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में एक दासीपति ब्राह्मण रहता था । उसका नाम था अजामिल । दासीके संसर्गसे दूषित होनेके कारण उसका सदाचार नष्ट हो चुका था ॥ २१ ॥ वह पतित कभी बटोहियों-को बाँधकर उन्हें लूट लेता, कभी लोगोंको जूएके छलसे हरा देता, किसीका धन धोखा-धड़ीसे ले लेता तो किसीका चुरा लेता । इस प्रकार अत्यन्त निन्दनीय वृत्तिका आश्रय लेकर वह अपने कुटुम्बका पेट भरता था और दूसरे प्राणियोंको बहुत ही सताता था ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! इसी प्रकार वह वहाँ रहकर दासीके बच्चोंका लालन-पालन करता रहा । इस प्रकार उसकी आयुका बहुत बड़ा भाग—अट्ठासी वर्ष—बीत गया ॥ २३ ॥ बूढ़े अजामिलके दस पुत्र थे । उनमें सब

१. प्रा० पा०—तत्परस्य तु सेवया । २. प्रा० पा०—श्चैः कैतवै० । ३. प्रा० पा०—माश्रितः ।

बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ।२४।

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥२५॥

भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः ।
भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥२६॥

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते ।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥२७॥

स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान् ।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥२८॥

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् ।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥२९॥

निशम्य म्रियमाणस्य ब्रुवतो[1] हरिकीर्तनम् ।
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसाऽपतन् ॥३०॥

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥३१॥

ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः ।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥३२॥

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ ।
किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥३३॥

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥३४॥

सर्वे च नूत्नवयसः[2] सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।

छोटेका नाम था 'नारायण'। मा-बाप उससे बहुत प्यार करते थे ॥ २४ ॥ वृद्ध अजामिलने अत्यन्त मोहके कारण अपना सम्पूर्ण हृदय अपने बच्चे नारायणको सौंप दिया था। वह अपने बच्चेकी तोतली बोली सुन-सुनकर तथा बालसुलभ खेल देख-देखकर फूला नहीं समाता था ॥ २५ ॥ अजामिल बालकके स्नेह-बन्धनमें बँध गया था। जब वह खाता तब उसे भी खिलाता, जब पानी पीता तो उसे भी पिलाता। इस प्रकार वह अतिशय मूढ़ हो गया था, उसे इस बातका पता ही न चला कि मृत्यु मेरे सिरपर आ पहुँची है ॥ २६ ॥

वह मूर्ख इसी प्रकार अपना जीवन बिता रहा था कि मृत्युका समय आ पहुँचा। अब वह अपने पुत्र बालक नारायणके सम्बन्धमें ही सोचने-विचारने लगा ॥ २७ ॥ इतनेमें ही अजामिलने देखा कि उसे ले जानेके लिये अत्यन्त भयावने तीन यमदूत आये हैं। उनके हाथोंमें फाँसी है, मुँह टेढ़े-टेढ़े हैं और शरीरके रोएँ खड़े हुए हैं ॥ २८ ॥ उस समय बालक नारायण वहाँसे कुछ दूरीपर खेल रहा था। यमदूतोंको देखकर अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया और उसने बहुत ऊँचे स्वरसे पुकारा—'नारायण!' ॥ २९ ॥ भगवान्‌के पार्षदोंने देखा कि यह मरते समय हमारे स्वामी भगवान् नारायणका नाम ले रहा है, उनके नामका कीर्तन कर रहा है; अतः वे बड़े वेगसे झटपट वहाँ आ पहुँचे ॥ ३० ॥ उस समय यमराजके दूत दासीपति अजामिलके शरीरमेंसे उसके सूक्ष्मशरीरको खींच रहे थे। विष्णुदूतोंने उन्हें बलपूर्वक रोक दिया ॥ ३१ ॥ उनके रोकनेपर यमराजके दूतोंने उनसे कहा—'अरे, धर्मराजकी आज्ञाका निषेध करनेवाले तुमलोग हो कौन? ॥ ३२ ॥ तुम किसके दूत हो, कहाँसे आये हो और इसे ले जानेसे हमें क्यों रोक रहे हो? क्या तुमलोग कोई देवता, उपदेवता अथवा सिद्धश्रेष्ठ हो? ॥ ३३ ॥ हम देखते हैं कि तुम सब लोगोंके नेत्र कमलदलके समान कोमलतासे भरे हैं, तुम पीले-पीले रेशमी वस्त्र पहने हो, तुम्हारे सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और गलोंमें कमलके हार लहरा रहे हैं ॥ ३४ ॥ सबकी नयी अवस्था है, सुन्दर-सुन्दर चार-चार भुजाएँ हैं,

१. प्रा० पा०—मुखतो हरिकीर्तनम्। २. प्रा० पा०—तुल्यवयसः।

धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥३५॥
दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन रोचिषा ।
किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥३६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्तैर्वासुदेवोक्तकारिणः ।
तान् प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा ॥३७॥

विष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम् ॥३८॥
कथंस्विद् ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम् ।
दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित्कतिचिन्नृणाम्॥३९

यमदूता ऊचुः

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥४०॥
येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः ।
गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥४१॥
सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः सन्ध्याहनी दिशः ।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ।४२।
एतैरधर्मो[2] विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते ।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥४३॥
सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान् न ह्यकर्मकृत् ।४४।
येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः[3] ।

सभीके करकमलोंमें धनुष, तरकस, तलवार, गदा, शङ्ख, चक्र, कमल आदि सुशोभित हैं ॥ ३५ ॥ तुमलोगोंकी अङ्गकान्तिसे दिशाओंका अन्धकार और प्राकृत प्रकाश भी दूर हो रहा है। हम धर्मराजके सेवक हैं। हमें तुमलोग क्यों रोक रहे हो?' ॥ ३६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब यमदूतोंने इस प्रकार कहा, तब भगवान् नारायणके आज्ञाकारी पार्षदोंने हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीसे उनके प्रति यों कहा ॥ ३७ ॥

भगवान्‌के पार्षदोंने कहा—यमदूतो! यदि तुमलोग सचमुच धर्मराजके आज्ञाकारी हो तो हमें धर्मका लक्षण और धर्मका तत्त्व सुनाओ ॥ ३८ ॥ दण्ड किस प्रकार दिया जाता है? दण्डका पात्र कौन है? मनुष्योंमें सभी पापाचारी दण्डनीय हैं अथवा उनमेंसे कुछ ही? ॥ ३९ ॥

यमदूतोंने कहा—वेदोंने जिन कर्मोंका विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयंप्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है ॥ ४० ॥ जगत्‌के रजोमय, सत्त्वमय और तमोमय—सभी पदार्थ, सभी प्राणी अपने परम आश्रय भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं। वेद ही उनके गुण, नाम, कर्म और रूप आदिके अनुसार उनका यथोचित विभाजन करते हैं ॥ ४१ ॥ जीव शरीर अथवा मनोवृत्तियोंसे जितने कर्म करता है, उसके साक्षी रहते हैं—सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, सन्ध्या, रात, दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल और धर्म ॥ ४२ ॥ इनके द्वारा अधर्मका पता चल जाता है और तब दण्डके पात्रका निर्णय होता है। पाप कर्म करनेवाले सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार दण्डनीय होते हैं ॥ ४३ ॥ निष्पाप पुरुषो! जो प्राणी कर्म करते हैं, उनका गुणोंसे सम्बन्ध रहता ही है। इसीलिये सभीसे कुछ पाप और कुछ पुण्य होते ही हैं और देहवान् होकर कोई भी पुरुष कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता ॥ ४४ ॥ इस लोकमें जो मनुष्य जिस प्रकार-

१. प्रा० पा०—कालः स्वयं धर्म इति । २. प्रा० पा०—र्मोऽभिज्ञातः । ३. प्रा० पा०—समर्जितः ।

स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥४५॥

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते ।

भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥४६॥

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।

एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥४७॥

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।

अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥४८॥

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि ।

न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥४९॥

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।

एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥५०॥

तदेतत् षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् ।

धत्तेऽनु संसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥५१॥

देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन् कर्माणि कार्यते ।

का और जितना अधर्म या धर्म करता है, वह परलोकमें उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है ॥ ४५ ॥ देवशिरोमणियो ! सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदके कारण इस लोकमें भी तीन प्रकारके प्राणी दीख पड़ते हैं—पुण्यात्मा, पापात्मा और पुण्य-पाप दोनोंसे युक्त अथवा सुखी, दुखी और सुख-दुःख दोनोंसे युक्त; वैसे ही परलोकमें भी उनकी त्रिविधताका अनुमान किया जाता है ॥ ४६ ॥ वर्तमान समय ही भूत और भविष्यका अनुमान करा देता है। वैसे ही वर्तमान जन्मके पाप-पुण्य भी भूत और भविष्य जन्मोंके पाप-पुण्यका अनुमान करा देते हैं ॥ ४७ ॥ हमारे स्वामी अजन्मा भगवान् सर्वज्ञ यमराज सबके अन्तःकरणोंमें ही विराजमान हैं। इसलिये वे अपने मनसे ही सबके पूर्वरूपोंको देख लेते हैं। वे साथ ही उनके भावी स्वरूपका भी विचार कर लेते हैं ॥ ४८ ॥ जैसे सोया हुआ अज्ञानी पुरुष स्वप्नके समय प्रतीत हो रहे कल्पित शरीरको ही अपना वास्तविक शरीर समझता है, सोये हुए अथवा जागनेवाले शरीरको भूल जाता है, वैसे ही जीव भी अपने पूर्वजन्मोंकी याद भूल जाता है और वर्तमान शरीरके सिवा पहले और पिछले शरीरोंके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानता ॥ ४९ ॥ सिद्धपुरुषो ! जीव इस शरीरमें पाँच कर्मेन्द्रियोंसे लेना-देना, चलना-फिरना आदि काम करता है, पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे रूप, रस आदि पाँच विषयोंका अनुभव करता है और सोलहवें मनके साथ सत्रहवाँ वह स्वयं मिलकर अकेले ही मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इन तीनोंके विषयोंको भोगता है ॥ ५० ॥ जीवका यह सोलह कला और सत्त्वादि तीन गुणोंवाला लिङ्गशरीर अनादि है। यही जीवको बार-बार हर्ष, शोक, भय और पीड़ा देनेवाले जन्म-मृत्युके चक्करमें डालता है ॥ ५१ ॥ जो जीव अज्ञानवश काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त नहीं कर लेता, उसे इच्छा न रहते हुए भी विभिन्न वासनाओंके अनुसार अनेकों कर्म

१. प्रा० पा०—त्र्यथा । २. प्रा० पा०—मानोऽप्ययं कालो ।

कोशकार इवात्मानं कर्मणाऽऽच्छाद्य मुह्यति ॥५२॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥५३॥

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।

यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः।

आसीत् स एव नचिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥५५॥

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः।

धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्रविच्छुचिः ॥५६॥

गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुर्निरहङ्कृतः।

सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः ॥५७॥

एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद् द्विजः।

आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥५८॥

ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया।

पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥५९॥

मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम्।

क्रीडन्तमनु गायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥६०॥

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम्।

करने पड़ते हैं। वैसी स्थितिमें वह रेशमके कीड़ेके समान अपनेको कर्मके जालमें जकड़ लेता है और इस प्रकार अपने हाथों मोहका शिकार बन जाता है ॥ ५२ ॥ कोई शरीरधारी जीव बिना कर्म किये कभी एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रत्येक प्राणीके स्वाभाविक गुण बलपूर्वक विवश करके उससे कर्म कराते हैं ॥ ५३ ॥ जीव अपने पूर्वजन्मोंके पाप-पुण्यमय संस्कारोंके अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्राप्त करता है। उसकी स्वाभाविक एवं प्रबल वासनाएँ कभी उसे माताके-जैसा (स्त्रीरूप) बना देती हैं, तो कभी पिताके-जैसा (पुरुषरूप) ॥ ५४ ॥ प्रकृतिका संसर्ग होनेसे ही पुरुष अपनेको अपने वास्तविक स्वरूपके विपरीत लिङ्गशरीर मान बैठा है। यह विपर्यय भगवान्‌के भजनसे शीघ्र ही दूर हो जाता है ॥ ५५ ॥

देवताओ! आप जानते ही हैं कि यह अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ था। शील, सदाचार और सद्गुणोंका तो यह खजाना ही था। ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता और पवित्र भी था ॥ ५६ ॥ इसने गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा की थी। अहङ्कार तो इसमें था ही नहीं। यह समस्त प्राणियोंका हित चाहता, उपकार करता, आवश्यकताके अनुसार ही बोलता और किसीके गुणोंमें दोष नहीं ढूँढ़ता था ॥ ५७ ॥ एक दिन यह ब्राह्मण अपने पिताके आदेशानुसार वनमें गया और वहाँसे फल-फूल, समिधा तथा कुश लेकर घरके लिये लौटा ॥ ५८ ॥ लौटते समय इसने देखा कि एक भ्रष्ट शूद्र, जो बहुत कामी और निर्लज्ज है, शराब पीकर किसी वेश्याके साथ विहार कर रहा है। वेश्या भी शराब पीकर मतवाली हो रही है। नशेके कारण उसकी आँखें नाच रही हैं, वह अर्द्धनग्न अवस्थामें हो रही है। वह शूद्र उस वेश्याके साथ कभी गाता, कभी हँसता और कभी तरह-तरहकी चेष्टाएँ करके उसे प्रसन्न करता है ॥ ५९-६० ॥ निष्पाप पुरुषो! शूद्रकी भुजाओंमें अङ्गरागादि कामोद्दीपक वस्तुएँ लगी हुई थीं और वह उनसे उस कुलटाका आलिङ्गन कर

१. प्रा० पा०—च। २. प्रा० पा०—घुरनहङ्कृतः। ३. प्रा० पा०—साधुर्ऋतवागन०। ४. प्रा० पा०—कृच्छुचिः। ५. प्रा० पा०—परिवर्तिताम्।

जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥६१॥
स्तम्भयन्नात्मनाऽऽत्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्[1] ।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥६२॥
तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः ।
तामेव मनसा ध्यायन् स्वधर्माद्विरराम ह ॥६३॥
तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता ।
ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा[2] ॥६४॥
विप्रां[3] स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् ।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः[4] ॥६५॥
यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥६६॥
यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यार्यगर्हितः ।
अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥६७॥
तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् ।
नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं[5] यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥६८॥

रहा था। अजामिल उन्हें इस अवस्थामें देखकर सहसा मोहित और कामके वश हो गया ॥ ६१ ॥ यद्यपि अजामिलने अपने धैर्य और ज्ञानके अनुसार अपने काम-वेगसे विचलित मनको रोकनेकी बहुत-बहुत चेष्टाएँ कीं, परंतु पूरी शक्ति लगा देनेपर भी वह अपने मनको रोकनेमें असमर्थ रहा ॥ ६२ ॥ उस वेश्याको निमित्त बनाकर काम-पिशाचने अजामिलके मनको ग्रस लिया। इसकी सदाचार और शास्त्रसम्बन्धी चेतना नष्ट हो गयी। अब यह मन-ही-मन उसी वेश्याका चिन्तन करने लगा और अपने धर्मसे विमुख हो गया ॥ ६३ ॥ अजामिल सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषण आदि वस्तुएँ, जिनसे वह प्रसन्न होती, ले आता। यहाँतक कि इसने अपने पिताकी सारी सम्पत्ति देकर भी उसी कुलटाको रिझाया। यह ब्राह्मण उसी प्रकारकी चेष्टा करता, जिससे वह वेश्या प्रसन्न हो ॥ ६४ ॥ उस स्वच्छन्दचारिणी कुलटाकी तिरछी चितवनने इसके मनको ऐसा लुभा लिया कि इसने अपनी कुलीन नवयुवती और विवाहिता पत्नीतकका परित्याग कर दिया। इसके पापकी भी भला, कोई सीमा है ॥ ६५ ॥ यह कुबुद्धि न्यायसे, अन्यायसे जैसे भी जहाँ कहीं भी धन मिलता, वहींसे उठा लाता। उस वेश्याके बड़े कुटुम्बका पालन करनेमें ही यह व्यस्त रहता ॥ ६६ ॥ इस पापीने शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन करके स्वच्छन्द आचरण किया है। यह सत्पुरुषोंके द्वारा निन्दित है। इसने बहुत दिनोंतक वेश्याके मल-समान अपवित्र अन्नसे अपना जीवन व्यतीत किया है, इसका सारा जीवन ही पापमय है ॥ ६७ ॥ इसने अबतक अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। इसलिये अब हम इस पापीको दण्डपाणि भगवान् यमराजके पास ले जायँगे। वहाँ यह अपने पापोंका दण्ड भोगकर शुद्ध हो जायगा ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे-
ऽजामिलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—यथाश्रयम् । २. प्रा० पा०—यथा यथा । ३. प्रा० पा०—प्रियां स्वभार्या० । ४. प्रा० पा०—स्वबद्धधीः । ५. प्रा० पा०—निर्वेदं ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विष्णुदूतोंद्वारा भागवतधर्म-निरूपण और अजामिलका परमधामगमन

श्रीशुक उवाच

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम्।
उपधार्याथ तान् राजन् प्रत्याहुर्नयकोविदाः ॥१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्के नीति-निपुण एवं धर्मका मर्म जाननेवाले पार्षदोंने यमदूतोंका यह अभिभाषण सुनकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

विष्णुदूता ऊचुः

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम्।
यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा ॥ २ ॥
प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः ॥ ३ ॥
यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४ ॥
यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः।
स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः ॥ ५ ॥
स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम्।
विस्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति ॥ ६ ॥

भगवान्के पार्षदोंने कहा—यमदूतो! यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि धर्मज्ञोंकी सभामें अधर्म प्रवेश कर रहा है; क्योंकि वहाँ निरपराध और अदण्डनीय व्यक्तियोंको व्यर्थ ही दण्ड दिया जाता है ॥ २ ॥ जो प्रजाके रक्षक हैं, शासक हैं, समदर्शी और परोपकारी हैं—यदि वे ही प्रजाके प्रति विषमता-का व्यवहार करने लगें तो फिर प्रजा किसकी शरण लेगी? ॥ ३ ॥ सत्पुरुष जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही करते हैं। वे अपने आचरणके द्वारा जिस कर्मको धर्मानुकूल प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसीका अनुकरण करने लगते हैं ॥ ४ ॥ साधारण लोग पशुओंके समान धर्म और अधर्मका स्वरूप न जानकर किसी सत्पुरुषपर विश्वास कर लेते हैं, उसकी गोदमें सिर रखकर निर्भय और निश्चिन्त सो जाते हैं ॥ ५ ॥ वही दयालु सत्पुरुष, जो प्राणियोंका अत्यन्त विश्वासपात्र है और जिसे मित्रभावसे अपना हितैषी समझकर उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया है, उन अज्ञानी जीवोंके साथ कैसे विश्वासघात कर सकता है? ॥ ६ ॥

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥ ७ ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥ ८ ॥
स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९ ॥

यमदूतो! इसने कोटि-कोटि जन्मोंकी पाप-राशिका पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है; क्योंकि इसने विवश होकर ही सही, भगवान्के परम कल्याणमय (मोक्षप्रद) नामका उच्चारण तो किया है ॥ ७ ॥ जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरोंका उच्चारण किया, उसी समय केवल उतनेसे ही इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया ॥ ८ ॥ चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, ऐसे लोगोंका संसर्गी; स्त्री, राजा, पिता और गायको मारने-वाला, चाहे जैसा और चाहे जितना बड़ा पापी हो, सभीके

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच। २. प्रा० पा०—प्रीत्याऽऽहुर्नय०। ३. प्रा० पा०—रस्तच्चिरीहते। ४. प्रा० पा०—ह्यर्पितात्मानं।

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥१०॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥११॥

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥१२॥

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥१३॥

लिये यही—इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण * किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है ॥ ९-१० ॥ बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषियोंने पापोंके बहुत-से प्रायश्चित्त—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत बतलाये हैं; परंतु उन प्रायश्चित्तोंसे पापीकी वैसी जड़से शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोंका, उनसे गुम्फित पदोंका † उच्चारण करनेसे होती है; क्योंकि वे नाम पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुणोंका ज्ञान करानेवाले हैं ॥ ११ ॥ यदि प्रायश्चित्त करनेके बाद भी मन फिरसे कुमार्गमें—पापकी ओर दौड़े, तो वह चरम सीमाका—पूरा-पूरा प्रायश्चित्त नहीं है । इसलिये जो लोग ऐसा प्रायश्चित्त करना चाहें कि जिससे पापकर्मों और वासनाओंकी जड़ ही उखड़ जाय, उन्हें भगवान्‌के गुणोंका ही गान करना चाहिये; क्योंकि उससे चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

इसलिये यमदूतो ! तुमलोग अजामिलको मत ले जाओ। इसने सारे पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है, क्योंकि इसने मरते समय ‡ भगवान्‌के नामका उच्चारण किया है ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—ष्कृतैस्तैरुदितैः । २. प्रा० पा०—सत्यपि ।

* इस प्रसङ्गमें 'नाम-व्याहरण'का अर्थ नामोच्चारणमात्र ही है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् । ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ॥

'मेरे दूर होनेके कारण द्रौपदीजीने जोर-जोरसे 'गोविन्द-गोविन्द' इस प्रकार करुण क्रन्दन करके मुझे पुकारा । वह ऋण मेरे ऊपर बढ़ गया है और मेरे हृदयसे उसका भार क्षणभरके लिये भी नहीं हटता ।'

† 'नामपदैः'के कहनेका यह अभिप्राय है कि भगवान्‌का केवल नाम 'राम-राम', 'कृष्ण-कृष्ण', 'हरि-हरि', 'नारायण-नारायण' अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये—पापोंकी निवृत्तिके लिये पर्याप्त है । 'नमः नमामि' इत्यादि क्रिया जोड़नेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है । नामके साथ बहुवचनका प्रयोग—भगवान्‌के नाम बहुत-से हैं, किसीका भी सङ्कीर्तन कर ले, इस अभिप्रायसे है । एक व्यक्ति सब नामोंका उच्चारण करे, इस अभिप्रायसे नहीं; क्योंकि भगवान्‌के नाम अनन्त हैं, सब नामोंका उच्चारण सम्भव ही नहीं है । तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के एक नामका उच्चारण करनेमात्रसे सब पापोंकी निवृत्ति हो जाती है । पूर्ण विश्वास न होने तथा नामोच्चारणके पश्चात् भी पाप करनेके कारण ही उसका अनुभव नहीं होता ।

‡ पापकी निवृत्तिके लिये भगवन्नामका एक अंश ही पर्याप्त है, जैसे 'राम'का 'रा' । इसने तो सम्पूर्ण नामका उच्चारण कर लिया । मरते समयका अर्थ ठीक मरनेका क्षण ही नहीं है; क्योंकि मरनेके क्षण जैसे कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि करनेके लिये विधि नहीं हो सकती, वैसे नामोच्चारणकी भी नहीं है । इसलिये 'म्रियमाण' शब्दका यह अभिप्राय है कि अब आगे इससे कोई पाप होनेकी सम्भावना नहीं है ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥१४॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥१५॥
गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥१६॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥१७॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥१८॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥१९॥

बड़े-बड़े महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि सङ्केतमें (किसी दूसरे अभिप्रायसे), परिहासमें, तान अलापनेमें अथवा किसीकी अवहेलना करनेमें भी यदि कोई भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १४ ॥ जो मनुष्य गिरते समय, पैर फिसलते समय, अङ्ग-भङ्ग होते समय और साँपके डसते, आगमें जलते तथा चोट लगते समय भी विवशतासे 'हरि-हरि' कहकर भगवान्‌के नामका उच्चारण कर लेता है, वह यमयातनाका पात्र नहीं रह जाता ॥ १५ ॥ महर्षियोंने जान-बूझकर बड़े पापोंके लिये बड़े और छोटे पापोंके लिये छोटे प्रायश्चित्त बतलाये हैं ॥ १६ ॥ इसमें संदेह नहीं कि उन तपस्या, दान, जप आदि प्रायश्चित्तोंके द्वारा वे पाप नष्ट हो जाते हैं। परंतु उन पापोंसे मलिन हुआ उसका हृदय शुद्ध नहीं होता। भगवान्‌के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥ यमदूतो ! जैसे जान या अनजानमें—ईंधनसे अग्निका स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जान-बूझकर या अनजानमें भगवान्‌के नामोंका सङ्कीर्तन करनेसे मनुष्यके सारे पाप भस्म हो जाते हैं ॥ १८ ॥ जैसे कोई परम शक्तिशाली अमृतको उसका गुण न जानकर अनजानमें पी ले तो भी वह अवश्य ही पीनेवालेको अमर बना देता है, वैसे ही अनजानमें उच्चारण करनेपर भी भगवान्‌का नाम* अपना फल देकर ही रहता है (वस्तुशक्ति श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती) ॥ १९ ॥

---

* वस्तुकी स्वाभाविक शक्ति इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि यह मुझपर श्रद्धा रखता है कि नहीं, जैसे अग्नि या अमृत ।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

'दुष्टचित्त मनुष्यके द्वारा स्मरण किये जानेपर भी भगवान् श्रीहरि पापोंको हर लेते हैं । अनजानमें या अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी अग्नि जलाती ही है ।'

भगवान्‌के नामका उच्चारण केवल पापको ही निवृत्त करता है, इसका और कोई फल नहीं है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है; क्योंकि शास्त्रमें कहा है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् । बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥

'जिसने 'हरि'—ये दो अक्षर एक बार भी उच्चारण कर लिये, उसने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये परिकर बाँध लिया, फेंट कस ली ।' इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवन्नाम मोक्षका भी साधन है । मोक्षके साथ-ही-साथ यह धर्म, अर्थ और कामका भी साधन है; क्योंकि ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें त्रिवर्ग-सिद्धिका भी नाम ही कारण बतलाया गया है—

श्रीशुक उवाच

त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप ।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन् ॥२०॥
इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिके ।
यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌के पार्षदोंने भागवतधर्मका पूरा-पूरा निर्णय सुना दिया और अजामिलको यमदूतोंके पाशसे छुड़ाकर मृत्युके मुखसे बचा लिया ॥ २० ॥ प्रिय परीक्षित् ! पार्षदोंकी यह बात सुनकर यमदूत यमराजके पास गये और उन्हें यह सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया ॥ २१ ॥

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुष्करम् । जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः । अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैः सदक्षिणैः । यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम् । दुःखक्लेशपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

'जिसकी जिह्वाके नोकपर 'हरि' ये दो अक्षर बसते हैं, उसे गङ्गा, गया, सेतुबन्ध, काशी और पुष्करकी कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् उनकी यात्रा, स्नान आदिका फल भगवन्नामसे ही मिल जाता है। जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेदका अध्ययन कर लिया। जिसने 'हरि' ये दो अक्षर उच्चारण किये, उसने दक्षिणाके सहित अश्वमेध आदि यज्ञोंके द्वारा यजन कर लिया। 'हरि' ये दो अक्षर मृत्युके पश्चात् परलोकके मार्गमें प्रयाण करनेवाले प्राणोंके लिये पाथेय (मार्गके लिये भोजनकी सामग्री) हैं, संसाररूप रोगके लिये सिद्ध औषध हैं और जीवनके दुःख और क्लेशोंके लिये परित्राण हैं।'

इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवन्नाम अर्थ, धर्म, काम—इन तीन वर्गोंका भी साधक है। यह बात 'हरि', 'नारायण' आदि कुछ विशेष नामोंके सम्बन्धमें ही नहीं है, प्रत्युत सभी नामोंके सम्बन्धमें है; क्योंकि स्थान-स्थानपर यह बात सामान्यरूपसे कही गयी है कि अनन्तके नाम, विष्णुके नाम, हरिके नाम इत्यादि। भगवान्‌के सभी नामोंमें एक ही शक्ति है।

नाम-सङ्कीर्तन आदिमें वर्ण-आश्रमका भी नियम नहीं है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः ।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम् । सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम् ॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदि जहाँ-तहाँ विष्णु भगवान्‌के नामका अनुकीर्तन करते रहते हैं, वे भी समस्त पापोंसे मुक्त होकर सनातन परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

नाम-सङ्कीर्तनमें देश-काल आदिके नियम भी नहीं हैं।'

यथा—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः । परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते ॥

× × × ×

न देशनियमो राजन्न कालनियमस्तथा । विद्यते नात्र संदेहो विष्णोर्नामानुकीर्तने ॥
कालोऽस्ति यज्ञे दाने वा स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे । विष्णुसंकीर्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीपते ॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्वापि पिबन्भुञ्जञ्जपंस्तथा । कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात् ॥

× × × ×

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा । यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

'देश-कालका नियम नहीं है, शौच-अशौच आदिका निर्णय करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। केवल 'राम-राम' यह संकीर्तन करनेमात्रसे जीव मुक्त हो जाता है। × × × भगवान्‌के नामका संकीर्तन करनेमें न देशका नियम है और न तो कालका। इसमें कोई संदेह नहीं। राजन् ! यज्ञ, दान, तीर्थस्नान अथवा विधिपूर्वक

द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः ।
ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान् दर्शनोत्सवः ॥२२॥

अजामिल यमदूतोंके फंदेसे छूटकर निर्भय और स्वस्थ हो गया । उसने भगवान्‌के पार्षदोंके दर्शनजनित आनन्दमें मग्न होकर उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया।२२।

१. प्रा० पा०—नोत्सुकः ।

जपके लिये शुद्ध कालकी अपेक्षा है, परंतु भगवन्नामके इस संकीर्तनमें काल-शुद्धिकी कोई आवश्यकता नहीं है। चलते-फिरते, खड़े रहते—सोते, खाते-पीते और जप करते हुए भी 'कृष्ण, 'कृष्ण' ऐसा संकीर्तन करके मनुष्य पापके केंचुलसे छूट जाता है । ××× अपवित्र हो या पवित्र—सभी अवस्थाओंमें (चाहे किसी भी अवस्थामें) जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतर पवित्र हो जाता है ।'

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः ॥
सर्वेषामपि यज्ञानां लक्षणानि व्रतानि च । तीर्थस्नानानि सर्वाणि तपांस्यनशनानि च ॥
वेदपाठसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवः शतम् । कृष्णनामजपस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

'जिसकी जिह्वापर 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' यह मङ्गलमय नाम नृत्य करता रहता है, उसकी कोटि-कोटि महापातक-राशि तत्काल भस्म हो जाती है । सारे यज्ञ, लाखों व्रत, सर्वतीर्थ-स्नान, तप, अनेकों उपवास, हजारों वेद-पाठ, पृथ्वीकी सैकड़ों प्रदक्षिणा कृष्णनाम-जपके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकतीं ।'

भगवन्नामके कीर्तनमें ही यह फल हो, सो बात नहीं । उनके श्रवण और स्मरणमें भी वही फल है । दशम स्कन्धके अन्तमें कहेंगे 'जिनके नामका स्मरण और उच्चारण अमङ्गलघ्न है ।' शिवगीता और पद्मपुराणमें कहा है—

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः । व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥
प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् । सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने ॥

'भगवान् कहते हैं कि आश्चर्य, भय, शोक, क्षत (चोट लगने) आदिके अवसरपर जो मेरा नाम बोल उठता है या किसी व्याजसे स्मरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है । मृत्यु या जीवन—चाहे जब कभी भगवान्‌का नाम स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी पाप-राशि तत्काल नष्ट हो जाती है । उन चिदात्मा प्रभुको नमस्कार है ।'

इतिहासोत्तममें कहा गया है—

श्रुत्वा नामानि तत्रस्थास्तेनोक्तानि हरेर्द्विज । नारका नरकान्मुक्ताः सद्य एव महामुने ॥

'महामुनि ब्राह्मणदेव ! भक्तराजके मुखसे नरकमें रहनेवाले प्राणियोंने श्रीहरिके नामका श्रवण किया और वे तत्काल नरकसे मुक्त हो गये ।'

यज्ञ-यागादिरूप धर्म अपने अनुष्ठानके लिये जिस पवित्र देश, काल, पात्र, शक्ति, सामग्री, श्रद्धा, मन्त्र, दक्षिणा आदिकी अपेक्षा रखता है, इस कलियुगमें उसका सम्पन्न होना अत्यन्त कठिन है । भगवन्नाम-सङ्कीर्तनके द्वारा उसका फल अनायास ही प्राप्त किया जा सकता है । भगवान् शंकर पार्वतीके प्रति कहते हैं—

ईशोऽहं सर्वजगतां नाम्नां विष्णोर्हि जापकः । सत्यं सत्यं वदाम्येव हरेर्नान्या गतिर्नृणाम् ॥

'सम्पूर्ण जगत्‌का स्वामी होनेपर भी मैं विष्णुभगवान्‌के नामका ही जप करता हूँ । मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ, भगवान्‌को छोड़कर जीवोंके लिये अब कर्मकाण्ड आदि कोई भी गति नहीं है ।' श्रीमद्भागवतमें ही यह बात आगे आनेवाली है कि सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें अर्चा-पूजासे जो फल मिलता है, कलियुगमें वह केवल भगवन्नामसे मिलता है । और भी है कि कलियुग दोषोंका निधि है, परंतु इसमें एक महान् गुण यह है कि श्रीकृष्ण-संकीर्तनमात्रसे ही जीव बन्धनमुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार एक बारके नामोच्चारणकी भी अनन्त महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है । यहाँ मूल प्रसङ्गमें ही—'एकदापि' कहा गया है; 'सकृदुच्चारितं' का उल्लेख किया जा चुका है । बार-बार जो नामोच्चारणका विधान है, वह आगे और पाप न उत्पन्न हो जायँ, इसके लिये है । ऐसे भी वचन मिलते हैं कि भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे भूत, वर्तमान और भविष्य-के सारे ही पाप भस्म हो जाते हैं, यथा—

वर्तमानं च यत् पापं यद् भूतं यद् भविष्यति । तत्सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्तनम् ॥

तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः ।
सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ ॥२३॥
अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य[1] दूतानां यमकृष्णयोः ।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम् ॥२४॥
भक्तिमान् भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः ।
अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः ॥२५॥
अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः ।
येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायताऽऽत्मना ॥२६॥
धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम् ।
हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापामसतीमगाम् ॥२७॥

निष्पाप परीक्षित् ! भगवान्‌के पार्षदोंने देखा कि अजामिल कुछ कहना चाहता है, तब वे सहसा उसके सामने ही वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥ इस अवसरपर अजामिलने भगवान्‌के पार्षदोंसे विशुद्ध भागवतधर्म और यमदूतोंके मुखसे वेदोक्त सगुण (प्रवृत्तिविषयक) धर्मका श्रवण किया था ॥ २४ ॥ सर्वपापापहारी भगवान्‌की महिमा सुननेसे अजामिलके हृदयमें शीघ्र ही भक्तिका उदय हो गया । अब उसे अपने पापोंको याद करके बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २५ ॥ (अजामिल मन-ही-मन सोचने लगा—) 'अरे, मैं कैसा इन्द्रियोंका दास हूँ ! मैंने एक दासीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया । यह बड़े दुःखकी बात है ॥२६॥ धिक्कार है ! मुझे बार-बार धिक्कार है ! मैं संतोंके द्वारा निन्दित हूँ, पापात्मा हूँ ! मैंने अपने कुलमें कलङ्कका टीका लगा दिया । हाय-हाय, मैंने अपनी सती एवं अबोध पत्नीका परित्याग कर दिया और शराब पीनेवाली कुलटाका संसर्ग किया ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—अथाजामिल आकर्ण्य ।

फिर भी भगवत्प्रेमी जीवको पापोंके नाशपर अधिक दृष्टि नहीं रखनी चाहिये; उसे तो भक्ति-भावकी दृढ़ताके लिये, भगवान्‌के चरणोंमें अधिकाधिक प्रेम बढ़ता जाय, इस दृष्टिसे अहर्निश नित्य-निरन्तर भगवान्‌के मधुर-मधुर नाम जपते जाना चाहिये । जितनी अधिक निष्कामता होगी, उतनी-ही-उतनी नामकी पूर्णता प्रकट होती जायगी, अनुभवमें आती जायगी ।

अनेक तार्किकोंके मनमें यह कल्पना उठती है कि नामकी महिमा वास्तविक नहीं है, अर्थवादमात्र है । उनके मनमें यह धारणा तो हो जाती है कि शराबकी एक बूँद भी पतित बनानेके लिये पर्याप्त है, परंतु यह विश्वास नहीं होता कि भगवान्‌का एक नाम भी परम कल्याणकारी है । शास्त्रोंमें भगवन्नाम-महिमाको अर्थवाद समझना पाप बताया है—

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः । तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि ॥

× × × × ×

मन्नामकीर्तनफलं विविधं निशम्य न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम् ।
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि संसारघोरविविधार्तिनिपीडिताङ्गम् ॥

× × × × ×

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः । स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम् ॥

'जो नराधम पुराणोंमें अर्थवादकी कल्पना करते हैं, उनके द्वारा उपार्जित पुण्य वैसे ही हो जाते हैं ।'

× × × × ×

'जो मनुष्य मेरे नाम-कीर्तनके विविध फल सुनकर उसपर श्रद्धा नहीं करता और उसे अर्थवाद मानता है, उसको संसारके विविध घोर तापोंसे पीड़ित होना पड़ता है और उसे मैं अनेक दुःखोंमें डाल देता हूँ ।' ×××× 'जो मनुष्य भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी सम्भावना करता है, वह मनुष्योंमें अत्यन्त पापी है और उसे नरकमें गिरना पड़ता है ।'

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ ।
अहो[1] मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत् ॥२८॥
सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे ।
धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः ॥२९॥
किमिदं स्वप्न आहोस्वित् साक्षाद् दृष्टमिहाद्भुतम् ।
क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन् पाशपाणयः ॥३०॥
अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः ।
व्यमोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ॥३१॥
अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥३२॥
अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।
वैकुण्ठनाम ग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥३३॥
क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।
क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम् ॥३४॥
सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः ।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥३५॥
विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम् ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो[2] मैत्रः करुण आत्मवान् ॥३६॥
मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्याऽऽत्ममायया ।
विक्रीडितो यथैवाहं[3] क्रीडामृग इवाधमः ॥३७॥
ममाहमिति देहादौ[4] हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिम् ।

मैं कितना नीच हूँ ! मेरे मा-बाप बूढ़े और तपस्वी थे । वे सर्वथा असहाय थे, उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला और कोई नहीं था । मैंने उनका भी परित्याग कर दिया ! ओह ! मैं कितना कृतघ्न हूँ ॥२८॥ मैं अब अवश्य ही अत्यन्त भयावने नरकमें गिरूँगा, जिसमें गिरकर धर्मघाती पापात्मा कामी पुरुष अनेकों प्रकारकी यमयातना भोगते हैं ॥ २९ ॥

'मैंने अभी जो अद्भुत दृश्य देखा, क्या यह स्वप्न है ? अथवा जाग्रत् अवस्थाका ही प्रत्यक्ष अनुभव है ? अभी-अभी जो हाथोंमें फंदा लेकर मुझे खींच रहे थे, वे कहाँ चले गये ? ॥ ३० ॥ अभी-अभी वे मुझे अपने फंदोंमें फँसाकर पृथ्वीके नीचे ले जा रहे थे, परंतु चार अत्यन्त सुन्दर सिद्धोंने आकर मुझे छुड़ा दिया ! वे अब कहाँ चले गये ॥ ३१ ॥ यद्यपि मैं इस जन्मका महापापी हूँ, फिर भी मैंने पूर्वजन्मोंमें अवश्य ही शुभकर्म किये होंगे; तभी तो मुझे इन श्रेष्ठ देवताओंके दर्शन हुए । उनकी स्मृतिसे मेरा हृदय अब भी आनन्दसे भर रहा है ॥ ३२ ॥ मैं कुलटागामी और अत्यन्त अपवित्र हूँ । यदि पूर्वजन्ममें मैंने पुण्य न किये होते, तो मरनेके समय मेरी जीभ भगवान्‌के मनोमोहक नामका उच्चारण कैसे कर पाती ? ॥ ३३ ॥ कहाँ तो मैं महाकपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्मतेजको नष्ट करनेवाला तथा कहाँ भगवान्‌का वह परम मङ्गलमय 'नारायण' नाम ! (सचमुच मैं तो कृतार्थ हो गया) ॥ ३४ ॥ अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें करके ऐसा प्रयत्न करूँगा कि फिर अपनेको घोर अन्धकारमय नरकमें न डालूँ ॥३५॥ अज्ञानवश मैंने अपनेको शरीर समझकर उसके लिये बड़ी-बड़ी कामनाएँ कीं और उनकी पूर्तिके लिये अनेकों कर्म किये । उन्हींका फल है यह बन्धन ! अब मैं इसे काटकर समस्त प्राणियोंका हित करूँगा, वासनाओंको शान्त कर दूँगा, सबसे मित्रताका व्यवहार करूँगा, दुखियोंपर दया करूँगा और पूरे संयमके साथ रहूँगा ॥ ३६ ॥ भगवान्‌की मायाने स्त्रीका रूप धारण करके मुझ अधमको फाँस लिया और क्रीडामृगकी भाँति मुझे बहुत नाच नचाया । अब मैं अपने-आपको उस मायासे मुक्त करूँगा ॥ ३७ ॥ मैंने सत्य वस्तु परमात्माको पहचान लिया है; अतः अब मैं शरीर आदिमें 'मैं' तथा 'मेरे' का भाव छोड़कर

१. प्रा० पा०—अहोऽधुना मया त्यक्ता० । २. प्रा० पा०—यत्तद्विन्दन्ति । ३. प्रा० पा०—यथैवाहं । ४. प्रा० पा०—देहं नो हित्वा ।

धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ॥३८॥

श्री[1]शुक उवाच

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु ।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥३९॥
स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमाश्रितः ।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥४०॥
ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥४१॥
यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान् पुरः ।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग् ववन्दे शिरसा द्विजः॥४२॥
हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम् ॥४३॥
साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥४४॥
एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
दा[2]स्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा ।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः
सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥४५॥
नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥४६॥
य ए[3]वं परमं गुह्यमितिहासमघापहम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥४७॥

भगवन्नामके कीर्तन आदिसे अपने मनको शुद्ध करूँगा और उसे भगवान्‌में लगाऊँगा' ॥ ३८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! उन भगवान्‌के पार्षद महात्माओंका केवल थोड़ी ही देरके लिये सत्सङ्ग हुआ था । इतनेसे ही अजामिलके चित्तमें संसारके प्रति तीव्र वैराग्य हो गया । वे सबके सम्बन्ध और मोहको छोड़कर हरद्वार चले गये ॥३९॥ उस देवस्थानमें जाकर वे भगवान्‌के मन्दिरमें आसनसे बैठ गये और उन्होंने योग-मार्गका आश्रय लेकर अपनी सारी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर मनमें लीन कर लिया और मनको बुद्धिमें मिला दिया ॥ ४० ॥ इसके बाद आत्मचिन्तनके द्वारा उन्होंने बुद्धिको विषयोंसे पृथक् कर लिया तथा भगवान्‌के धाम अनुभवस्वरूप परब्रह्ममें जोड़ दिया ॥ ४१ ॥ इस प्रकार जब अजामिलकी बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृतिसे ऊपर उठकर भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित हो गयी, तब उन्होंने देखा कि उनके सामने वे ही चारों पार्षद, जिन्हें उन्होंने पहले देखा था, खड़े हैं । अजामिलने सिर झुकाकर उन्हें नमस्कार किया ॥ ४२ ॥ उनका दर्शन पानेके बाद उन्होंने उस तीर्थस्थानमें गङ्गाके तटपर अपना शरीर त्याग दिया और तत्काल भगवान्‌के पार्षदोंका स्वरूप प्राप्त कर लिया ॥ ४३ ॥ अजामिल भगवान्‌के पार्षदोंके साथ स्वर्णमय विमानपर आरूढ़ होकर आकाशमार्गसे भगवान् लक्ष्मीपतिके निवासस्थान वैकुण्ठको चले गये ॥ ४४ ॥

परीक्षित् ! अजामिलने दासीका सहवास करके सारा धर्म-कर्म चौपट कर दिया था । वे अपने निन्दित कर्मके कारण पतित हो गये थे । नियमोंसे च्युत हो जानेके कारण उन्हें नरकमें गिराया जा रहा था । परंतु भगवान्‌के एक नामका उच्चारण करनेमात्रसे वे उससे तत्काल मुक्त हो गये ॥ ४५ ॥ जो लोग इस संसारबन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिये अपने चरणोंके स्पर्शसे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले भगवान्‌के नामसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है; क्योंकि नामका आश्रय लेनेसे मनुष्यका मन फिर कर्मके पचड़ोंमें नहीं पड़ता । भगवन्नामके अतिरिक्त और किसी प्रायश्चित्तका आश्रय लेनेपर मन रजोगुण और तमोगुणसे ग्रस्त ही रहता है तथा पापोंका पूरा-पूरा नाश भी नहीं होता ॥४६॥

परीक्षित् ! यह इतिहास अत्यन्त गोपनीय और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । जो पुरुष श्रद्धा और भक्तिके

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—दासीपतिः पतितो । ३. प्रा० पा०—इमं ।

न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः ।
यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥४८॥
म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥४९॥

साथ इसका श्रवण-कीर्तन करता है, वह नरकमें कभी नहीं जाता । यमराजके दूत तो आँख उठाकर उसकी ओर देखतक नहीं सकते । उस पुरुषका जीवन चाहे पापमय ही क्यों न रहा हो, वैकुण्ठलोकमें उसकी पूजा होती है ॥ ४७-४८ ॥ परीक्षित् ! देखो—अजामिल-जैसे पापीने मृत्युके समय पुत्रके बहाने भगवान्के नामका उच्चारण किया । उसे भी वैकुण्ठकी प्राप्ति हो गयी । फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे[3]-
ऽजामिलोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

यम और यमदूतोंका संवाद

राजोवाच

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तान्[4] प्रति धर्मराजः ।
एवं हताज्ञो विहतान्मुरारे-
र्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥ १ ॥
यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत् ।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम् ॥ २ ॥

श्रीशुक[5] उवाच

भगवत्पुरुषै राजन् याम्याः प्रतिहतोद्यमाः ।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम् ॥ ३ ॥

यमदूता ऊचुः

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो ।
त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥ ४ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! देवाधिदेव धर्मराजके वशमें सारे जीव हैं और भगवान्के पार्षदोंने उन्हींकी आज्ञा भङ्ग कर दी तथा उनके दूतोंको अपमानित कर दिया । जब उनके दूतोंने यमपुरीमें जाकर उनसे अजामिलका वृत्तान्त कह सुनाया, तब सब कुछ सुनकर उन्होंने अपने दूतोंसे क्या कहा ? ॥१॥ ऋषिवर ! मैंने पहले यह बात कभी नहीं सुनी कि किसीने किसी भी कारणसे धर्मराजके शासनका उल्लङ्घन किया हो । भगवन् ! इस विषयमें लोग बहुत संदेह करेंगे और उसका निवारण आपके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जब भगवान्के पार्षदोंने यमदूतोंका प्रयत्न विफल कर दिया, तब उन लोगोंने संयमनीपुरीके स्वामी एवं अपने शासक यमराजके पास जाकर निवेदन किया ॥ ३ ॥

यमदूतोंने कहा—प्रभो ! संसारके जीव तीन प्रकारके कर्म करते हैं—पाप, पुण्य अथवा दोनोंसे मिश्रित । इन जीवोंको उन कर्मोंका फल देनेवाले शासक संसारमें कितने हैं ? ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—निष्कृतो । २. प्रा० पा०—गृह्णन्पुत्रप्रचारितम् । ३. प्रा० पा०—स्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः । ४. प्रा० पा०—तानपि । ५. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः ।
कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥ ५ ॥
किंतु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम् ।
शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ ६ ॥
अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः ।
शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥ ७ ॥
तस्य ते विहतो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना ।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता ॥ ८ ॥
नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान्[1] ।
व्यमोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान् प्रसह्य ते ॥९॥
तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् ।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥१०॥

श्रीशुक[2] उवाच

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः ।
प्रीतः स्वदूतान् प्रत्याह स्मरन् पादाम्बुजं हरेः ॥११॥

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद् यस्य वशे च लोकः ॥१२॥
यो नामभिर्वाचि जनान्निजायां
बध्नाति तन्त्यामिव दामभिर्गाः ।

यदि संसारमें दण्ड देनेवाले बहुत-से शासक हों तो किसे सुख मिले और किसे दुःख—इसकी व्यवस्था एक-सी न हो सकेगी ॥ ५ ॥ संसारमें कर्म करनेवालोंके अनेक होनेके कारण यदि उनके शासक भी अनेक हों, तो उन शासकोंका शासकपना नाममात्रका ही होगा जैसे एक सम्राट्के अधीन बहुत-से नाममात्रके सामन्त होते हैं ॥६॥ इसलिये हम तो ऐसा समझते हैं कि अकेले आप ही समस्त प्राणियों और उनके स्वामियोंके भी अधीश्वर हैं। आप ही मनुष्योंके पाप और पुण्यके निर्णायक, दण्डदाता और शासक हैं ॥ ७ ॥ प्रभो ! अबतक संसारमें कहीं भी आपके द्वारा नियत किये हुए दण्डकी अवहेलना नहीं हुई थी, किंतु इस समय चार अद्भुत सिद्धोंने आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया है ॥ ८ ॥ प्रभो ! आपकी आज्ञासे हमलोग एक पापीको यातनागृहकी ओर ले जा रहे थे, परंतु उन्होंने बलपूर्वक आपके फंदे काटकर उसे छुड़ा दिया ॥ ९ ॥ हम आपसे उनका रहस्य जानना चाहते हैं । यदि आप हमें सुननेका अधिकारी समझें तो कहें । प्रभो ! बड़े ही आश्चर्यकी बात हुई कि इधर तो अजामिलके मुँहसे 'नारायण !' यह शब्द निकला और उधर वे 'डरो मत, डरो मत !' कहते हुए झटपट वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब दूतोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब देवशिरोमणि प्रजाके शासक भगवान् यमराजने प्रसन्न होकर श्रीहरिके चरणकमलोंका स्मरण करते हुए उनसे कहा ॥ ११ ॥

यमराजने कहा—दूतो ! मेरे अतिरिक्त एक और ही चराचर जगत्के स्वामी हैं । उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् सूतमें वस्त्रके समान ओतप्रोत है । उन्हींके अंश ब्रह्मा, विष्णु और शंकर इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं । उन्हींने इस सारे जगत्को नथे हुए बैलके समान अपने अधीन कर रक्खा है ॥ १२ ॥ मेरे प्यारे दूतो ! जैसे किसान अपने बैलोंको पहले छोटी-छोटी रस्सियोंमें बाँधकर फिर उन रस्सियोंको एक बड़ी आड़ी रस्सीमें बाँध देते हैं, वैसे ही जगदीश्वर

१. प्रा० पा०—गृहम् । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥१३॥
अहं महेन्द्रो निर्ऋतिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनोऽर्को विरिञ्चिः।
आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥१४॥
अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥१५॥
यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते[1]।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम् ॥१६॥
तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥१७॥
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥१८॥

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतश्च[2] विद्याधरचारणादयः ॥१९॥
स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

भगवान्‌ने भी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-रूप छोटी-छोटी नामकी रस्सियोंमें बाँधकर फिर सब नामोंको वेदवाणीरूप बड़ी रस्सीमें बाँध रक्खा है। इस प्रकार सारे जीव नाम एवं कर्मरूप बन्धनमें बँधे हुए भयभीत होकर उन्हें ही अपना सर्वस्व भेंट कर रहे हैं॥ १३ ॥ दूतो ! मैं, इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, शंकर, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, बारहों आदित्य, विश्वेदेवता, आठों वसु, साध्य, उनचास मरुत्, सिद्ध, ग्यारहों रुद्र, रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित भृगु आदि प्रजापति और बड़े-बड़े देवता—सब-के-सब सत्त्व-प्रधान होनेपर भी उनकी मायाके अधीन हैं तथा भगवान् कब क्या किस रूपमें करना चाहते हैं—इस बातको नहीं जानते। तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है। १४-१५। दूतो ! जिस प्रकार घट, पट आदि रूपवान् पदार्थ अपने प्रकाशक नेत्रको नहीं देख सकते—वैसे ही अन्तःकरणमें अपने साक्षीरूपसे स्थित परमात्माको कोई भी प्राणी इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय या वाणी आदि किसी भी साधनके द्वारा नहीं जान सकता ॥ १६ ॥ वे प्रभु सबके स्वामी और स्वयं परम स्वतन्त्र हैं। उन्हीं मायापति पुरुषोत्तमके दूत उन्हींके समान परम मनोहर रूप, गुण और स्वभावसे सम्पन्न होकर इस लोकमें प्रायः विचरण किया करते हैं ॥ १७ ॥ विष्णुभगवान्‌के सुरपूजित एवं परम अलौकिक पार्षदोंका दर्शन बड़ा दुर्लभ है। वे भगवान्‌के भक्तजनोंको उनके शत्रुओंसे, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियोंसे सर्वथा सुरक्षित रखते हैं ॥ १८ ॥

स्वयं भगवान्‌ने ही धर्मकी मर्यादाका निर्माण किया है। उसे न तो ऋषि जानते हैं और न देवता या सिद्धगण ही। ऐसी स्थितिमें मनुष्य, विद्याधर, चारण और असुर आदि तो जान ही कैसे सकते हैं॥ १९ ॥ भगवान्‌के द्वारा निर्मित भागवतधर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है, वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। दूतो ! भागवतधर्मका रहस्य हम बारह

१. प्रा० पा०—वासुधृतो। २. प्रा० पा०—कुतो नु।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥२०॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥२१॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥२२॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥२३॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ।२४।
प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम् ।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥२५॥
एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ।२६।
ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥२७॥

व्यक्ति ही जानते हैं—ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान् शंकर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज) ॥ २०-२१ ॥ इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परम धर्म—है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें ॥ २२ ॥ प्रिय दूतो ! भगवान्के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्युपाशसे छुटकारा पा गया ॥ २३ ॥ भगवान्के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है; क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चञ्चल चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया । इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी ॥ २४ ॥ बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि कभी भगवान्की मायासे मोहित हो जाती है । वे कर्मोंके मीठे-मीठे फलोंका वर्णन करनेवाली अर्थवाद-रूपिणी वेदवाणीमें ही मोहित हो जाते हैं और यज्ञ-यागादि बड़े-बड़े कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं तथा इस सुगमातिसुगम भगवन्नामकी महिमाको नहीं जानते । यह कितने खेदकी बात है ॥ २५ ॥

प्रिय दूतो ! बुद्धिमान् पुरुष ऐसा विचारकर भगवान् अनन्तमें ही सम्पूर्ण अन्तःकरणसे अपना भक्तिभाव स्थापित करते हैं । वे मेरे दण्डके पात्र नहीं हैं । पहली बात तो यह है कि वे पाप करते ही नहीं, परंतु यदि कदाचित् संयोगवश कोई पाप बन भी जाय, तो उसे भगवान्का गुणगान तत्काल नष्ट कर देता है ॥ २६ ॥ जो समदर्शी साधु भगवान्को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं । मेरे दूतो ! भगवान्की गदा उनकी सदा रक्षा करती रहती है । उनके पास तुमलोग कभी भूलकर भी मत फटकना । उन्हें दण्ड देनेकी सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् कालमें ही ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—पेन । २. प्रा० पा०—अवाप ।

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द-

पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।

निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञै-

र्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्॥२८॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं

चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि

तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥२९॥

तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो

नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः।

स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां

क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने॥३०॥

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्।

महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्॥३१॥

शृण्वतां गृणतां [1]वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।

यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ३२

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण् न पुनर्विसृष्ट-

मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु।

बड़े-बड़े परमहंस दिव्य रसके लोभसे सम्पूर्ण जगत् और शरीर आदिसे भी अपनी अहंता-ममता हटाकर, अकिञ्चन होकर निरन्तर भगवान् मुकुन्दके पादारविन्दका मकरन्द-रस पान करते रहते हैं। जो दुष्ट उस दिव्य रससे विमुख हैं और नरकके दरवाजे घर-गृहस्थीकी तृष्णाका बोझा बाँधकर उसे ढो रहे हैं, उन्हींको मेरे पास बार-बार लाया करो॥ २८॥ जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवाविमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो॥ २९॥ आज मेरे दूतोंने भगवान्‌के पार्षदोंका अपराध करके स्वयं भगवान्‌का ही तिरस्कार किया है। यह मेरा ही अपराध है। पुराणपुरुष भगवान् नारायण हमलोगोंका यह अपराध क्षमा करें। हम अज्ञानी होनेपर भी हैं उनके निजजन और उनकी आज्ञा पानेके लिये अञ्जलि बाँधकर सदा उत्सुक रहते हैं। अतः परम महिमान्वित भगवान्‌के लिये यही योग्य है कि वे क्षमा कर दें। मैं उन सर्वान्तर्यामी एकरस अनन्त प्रभुको नमस्कार करता हूँ॥ ३०॥

[श्रीशुकदेवजी कहते हैं—] परीक्षित्! इसलिये तुम ऐसा समझ लो कि बड़े-से-बड़े पापोंका सर्वोत्तम, अन्तिम और पाप-वासनाओंको भी निर्मूल कर डालनेवाला प्रायश्चित्त यही है कि केवल भगवान्‌के गुणों, लीलाओं और नामोंका कीर्तन किया जाय। इसीसे संसारका कल्याण हो सकता है॥ ३१॥ जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती॥ ३२॥ जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्द-मकरन्द-रसका लोभी भ्रमर है, वह स्वभावसे ही मायाके आपात-रम्य, दुःखद और पहलेसे ही छोड़े हुए विषयोंमें फिर

[1] प्रा० पा०—पर्वाण्युत्तमानि।

अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-

मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ।३३।

नहीं रमता । किंतु जो लोग उस दिव्य रससे विमुख हैं, कामनाओंने जिनकी विवेकबुद्धिपर पानी फेर दिया है, वे अपने पापोंका मार्जन करनेके लिये पुनः प्रायश्चित्त-रूप कर्म ही करते हैं। इससे होता यह है कि उनके कर्मोंकी वासना मिटती नहीं और वे फिर वैसे ही दोष कर बैठते हैं ॥ ३३ ॥

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं

संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते ।

नैवाच्युताश्रयजनं प्रति शङ्कमाना

द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ३४

इतिहासमिमं गुह्यं भगवान् कुम्भसम्भवः ।

कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन् ॥३५॥

परीक्षित् ! जब यमदूतोंने अपने स्वामी धर्मराजके मुखसे इस प्रकार भगवान्‌की महिमा सुनी और उसका स्मरण किया, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही । तभीसे वे धर्मराजकी बातपर विश्वास करके अपने नाशकी आशंकासे भगवान्‌के आश्रित भक्तोंके पास नहीं जाते । और तो क्या, वे उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी डरते हैं ॥ ३४ ॥ प्रिय परीक्षित् ! यह इतिहास परम गोपनीय—अत्यन्त रहस्यमय है । मलयपर्वतपर विराजमान भगवान् अगस्त्यजीने श्रीहरिकी पूजा करते समय मुझे यह सुनाया था ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
यमपुरुषसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

दक्षके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और भगवान्‌का प्रादुर्भाव

राजोवाच

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम् ।

सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे।१।

तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन् यथा ।

अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान् परः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आपने संक्षेपसे (तीसरे स्कन्धमें) इस बातका वर्णन किया कि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें देवता, असुर, मनुष्य, सर्प और पशु-पक्षी आदिकी सृष्टि कैसे हुई ॥ १ ॥ अब मैं उसीका विस्तार जानना चाहता हूँ । प्रकृति आदि कारणोंके भी परम कारण भगवान् अपनी जिस शक्तिसे जिस प्रकार उसके बादकी सृष्टि करते हैं, उसे जाननेकी भी मेरी इच्छा है ॥ २ ॥

सूत उवाच

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः ।

प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! परम योगी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीने राजर्षि परीक्षित्‌का यह सुन्दर प्रश्न सुनकर उनका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—मह्यं । २. प्रा० पा०—यथायोगी ।

श्रीशुक उवाच[1]

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः ।
अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम् ॥ ४ ॥

द्रुमेभ्यः[2] क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः ।
मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया ॥ ५ ॥

ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह ।
राजोवाच महान् सोमो मन्युं प्रशमयन्निव ॥ ६ ॥

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ ।
विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ॥ ७ ॥

अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः ।
वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ॥ ८ ॥

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् ।
अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥ ९ ॥

यूयं च पित्रान्वादिष्टा[3] देवदेवेन चानघाः ।
प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुमर्हथ ॥ १० ॥

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम् ।
पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥ ११ ॥

तोकानां[4] पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः ।
पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत् ॥ १२ ॥

अन्तर्देहेषु भूतानामात्मा॒ऽऽस्ते[5] हरिरीश्वरः ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजा प्राचीनबर्हिके दस लड़के—जिनका नाम प्रचेता था—जब समुद्रसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि हमारे पिताके निवृत्ति-परायण हो जानेसे सारी पृथ्वी पेड़ोंसे घिर गयी है ॥ ४ ॥ उन्हें वृक्षोंपर बड़ा क्रोध आया । उनके तपोबलने तो मानो क्रोधकी आगमें आहुति ही डाल दी । बस, उन्होंने वृक्षोंको जला डालनेके लिये अपने मुखसे वायु और अग्निकी सृष्टि की ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! जब प्रचेताओंकी छोड़ी हुई अग्नि और वायु उन वृक्षोंको जलाने लगीं, तब वृक्षोंके राजाधिराज चन्द्रमाने उनका क्रोध शान्त करते हुए इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥ 'महाभाग्यवान् प्रचेताओ ! ये वृक्ष बड़े दीन हैं । आपलोग इनसे द्रोह मत कीजिये; क्योंकि आप तो प्रजाकी अभिवृद्धि करना चाहते हैं और सभी जानते हैं कि आप प्रजापति हैं ॥ ७ ॥ महात्मा प्रचेताओ ! प्रजापतियोंके अधिपति अविनाशी भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण वनस्पतियों और ओषधियोंको प्रजाके हितार्थ उनके खान-पानके लिये बनाया है ॥ ८ ॥ संसारमें पाँखोंसे उड़नेवाले चर प्राणियोंके भोजन फल-पुष्पादि अचर पदार्थ हैं । पैरसे चलनेवालोंके घास-तृणादि बिना पैरवाले पदार्थ भोजन हैं; हाथवालोंके वृक्ष-लता आदि बिना हाथवाले और दो पैरवाले मनुष्यादिके लिये धान, गेहूँ आदि अन्न भोजन हैं । चार पैरवाले बैल, ऊँट आदि खेती प्रभृतिके द्वारा अन्नकी उत्पत्तिमें सहायक हैं ॥ ९ ॥ निष्पाप प्रचेताओ ! आपके पिता और देवाधिदेव भगवान्‌ने आपलोगोंको यह आदेश दिया है कि प्रजाकी सृष्टि करो । ऐसी स्थितिमें आप वृक्षोंको जला डालें, यह कैसे उचित हो सकता है ॥ १० ॥ आपलोग अपना क्रोध शान्त करें और अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदिके द्वारा सेवित सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करें ॥ ११ ॥ जैसे मा-बाप बालकोंकी, पलकें नेत्रोंकी, पति पत्नीकी, गृहस्थ भिक्षुकोंकी और ज्ञानी अज्ञानियोंकी रक्षा करते हैं और उनका हित चाहते हैं—वैसे ही प्रजाकी रक्षा और हितका उत्तरदायी राजा होता है ॥ १२ ॥ प्रचेताओ ! समस्त प्राणियोंके

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । २. प्रा० पा०—वृक्षेभ्यः । ३. प्रा० पा०—त्वादिष्टा । ४. प्रा० पा०—लोकानां पितरौ । ५. प्रा० पा०—भूतानां शास्ताऽऽस्ते ।

सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥१३॥

यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम् ।

आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्तते ॥१४॥

अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः ।

वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम् ॥१५॥

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप ।

सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे ॥१६॥

तेभ्यस्तस्यां समभवद् दक्षः प्राचेतसः किल ।

यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः ॥१७॥

यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः ।

रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु ॥१८॥

मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः ।

देवासुरमनुष्यादीन्नभःस्थलजलौकसः ॥१९॥

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः ।

विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद् दुष्करं[3] तपः ॥२०॥

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् ।

उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम् ॥२१॥

अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् ।

हृदयमें सर्वशक्तिमान् भगवान् आत्माके रूपमें विराजमान हैं । इसलिये आपलोग सभीको भगवान्का निवासस्थान समझें । यदि आप ऐसा करेंगे तो भगवान्को प्रसन्न कर लेंगे ॥ १३ ॥ जो पुरुष हृदयके उबलते हुए भयंकर क्रोधको आत्मविचारके द्वारा शरीरमें ही शान्त कर लेता है, बाहर नहीं निकलने देता, वह कालक्रमसे तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥ प्रचेताओ ! इन दीन-हीन वृक्षोंको और न जलाइये; जो कुछ बच रहे हैं, उनकी रक्षा कीजिये । इससे आपका भी कल्याण होगा । इस श्रेष्ठ कन्याका पालन इन वृक्षोंने ही किया है, इसे आपलोग पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये' ॥ १५ ॥

परीक्षित् ! वनस्पतियोंके राजा चन्द्रमाने प्रचेताओंको इस प्रकार समझा-बुझाकर उन्हें प्रम्लोचा अप्सराकी सुन्दरी कन्या दे दी और वे वहाँसे चले गये । प्रचेताओंने धर्मानुसार उसका पाणिग्रहण किया ॥१६॥ उन्हीं प्रचेताओंके द्वारा उस कन्याके गर्भसे प्राचेतस दक्षकी उत्पत्ति हुई । फिर दक्षकी प्रजा-सृष्टिसे तीनों लोक भर गये ॥ १७ ॥ इनका अपनी पुत्रियोंपर बड़ा प्रेम था । इन्होंने जिस प्रकार अपने सङ्कल्प और वीर्यसे विविध प्राणियोंकी सृष्टि की, वह मैं सुनाता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥ १८ ॥

परीक्षित् ! पहले प्रजापति दक्षने जल, थल और आकाशमें रहनेवाले देवता, असुर एवं मनुष्य आदि प्रजाकी सृष्टि अपने सङ्कल्पसे ही की ॥ १९ ॥ जब उन्होंने देखा कि वह सृष्टि बढ़ नहीं रही है; तब उन्होंने विन्ध्याचलके निकटवर्ती पर्वतोंपर जाकर बड़ी घोर तपस्या की ॥ २० ॥ वहाँ एक अत्यन्त श्रेष्ठ तीर्थ है, उसका नाम है—अघमर्षण । वह सारे पापोंको धो बहाता है । प्रजापति दक्ष उस तीर्थमें त्रिकाल स्नान करते और तपस्याके द्वारा भगवान्की आराधना करते ॥ २१ ॥ प्रजापति दक्षने इन्द्रियातीत भगवान्की 'हंसगुह्य' नामक स्तोत्रसे स्तुति की थी । उसीसे

१. प्रा० पा०—ह्यष्टस्ते । २. प्रा० पा०—तस्य । ३. प्रा० पा०—दुश्चरं ।

तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद् यतो हरिः ॥२२॥

प्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥२३॥

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२४॥

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥२५॥

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥२६॥

मनीषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।

भगवान् उनपर प्रसन्न हुए थे । मैं तुम्हें वह स्तुति सुनाता हूँ ॥ २२ ॥

दक्ष प्रजापतिने इस प्रकार स्तुति की—भगवन् ! आपकी अनुभूति, आपकी चित्-शक्ति अमोघ है । आप जीव और प्रकृतिसे परे, उनके नियन्ता और उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले हैं । जिन जीवोंने त्रिगुणमयी सृष्टिको ही वास्तविक सत्य समझ रक्खा है, वे आपके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सके हैं; क्योंकि आपतक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है—आपकी कोई अवधि, कोई सीमा नहीं है । आप स्वयंप्रकाश और परात्पर हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥ यों तो जीव और ईश्वर एक दूसरेके सखा हैं तथा इसी शरीरमें इकट्ठे ही निवास करते हैं; परंतु जीव सर्वशक्तिमान् आपके सख्यभावको नहीं जानता—ठीक वैसे ही जैसे रूप, रस, गन्ध आदि विषय अपने प्रकाशित करनेवाली नेत्र, घ्राण आदि इन्द्रियवृत्तियोंको नहीं जानते; क्योंकि आप जीव और जगत्के द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं । महेश्वर ! मैं आपके श्रीचरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥ देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, पञ्चमहाभूत और उनकी तन्मात्राएँ—ये सब जड होनेके कारण अपने-को और अपनेसे अतिरिक्तको भी नहीं जानते । परंतु जीव इन सबको और इनके कारण सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको भी जानता है । परंतु वह भी दृश्य अथवा ज्ञेयरूपसे आपको नहीं जान सकता । क्योंकि आप ही सबके ज्ञाता और अनन्त हैं । इस-लिये प्रभो ! मैं तो केवल आपकी स्तुति करता हूँ ॥ २५ ॥ जब समाधिकालमें प्रमाण, विकल्प और विपर्ययरूप विविध ज्ञान और स्मरण-शक्तिका लोप हो जानेसे इस नाम-रूपात्मक जगत्का निरूपण करने-वाला मन उपरत हो जाता है, उस समय बिना मनके भी केवल सच्चिदानन्दमयी अपनी स्वरूपस्थितिके द्वारा आप प्रकाशित होते रहते हैं । प्रभो ! आप शुद्ध हैं और शुद्ध हृदय-मन्दिर ही आपका निवासस्थान है । आपको मेरा नमस्कार है ॥ २६ ॥ जैसे याज्ञिक लोग काष्ठमें छिपे हुए अग्निको 'सामिधेनी' नामके पंद्रह

१. प्रा० पा०—समभिधास्यामि । २. प्रा० पा०—स्वसंज्ञया ।

वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥२७॥
स वै ममाशेषविशेषमाया-
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥२८॥
यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥२९॥
यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥३०॥
यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥३१॥
अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-

मन्त्रोंके द्वारा प्रकट करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपनी सत्ताईस शक्तियोंके भीतर गूढभावसे छिपे हुए आपको अपनी शुद्ध बुद्धिके द्वारा हृदयमें ही ढूँढ़ निकालते हैं ॥ २७ ॥ जगत्‌में जितनी भिन्नताएँ देख पड़ती हैं, वे सब मायाकी ही हैं । मायाका निषेध कर देनेपर केवल परम सुखके साक्षात्कारस्वरूप आप ही अवशेष रहते हैं । परंतु जब विचार करने लगते हैं, तब आपके स्वरूपमें मायाकी उपलब्धि—निर्वचन नहीं हो सकता । अर्थात् माया भी आप ही हैं । अतः सारे नाम और सारे रूप आपके ही हैं । प्रभो ! आप मुझपर प्रसन्न होइये । मुझे आत्मप्रसादसे पूर्ण कर दीजिये ॥ २८ ॥ प्रभो ! जो कुछ वाणीसे कहा जाता है अथवा जो कुछ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जाता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि वह तो गुणरूप है और आप गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं । आपमें केवल उनकी प्रतीतिमात्र है ॥ २९ ॥ भगवन् ! आपमें ही यह सारा जगत् स्थित है; आपसे ही निकला है और आपने—और किसीके सहारे नहीं—अपने-आपसे ही इसका निर्माण किया है ! यह आपका ही है और आपके लिये ही है । इसके रूपमें बननेवाले भी आप हैं और बनानेवाले भी आप ही हैं । बनने-बनानेकी विधि भी आप ही हैं । आप ही सबसे काम लेनेवाले भी हैं । जब कार्य और कारणका भेद नहीं था, तब भी आप स्वयंसिद्ध स्वरूपसे स्थित थे । इसीसे आप सबके कारण भी हैं । सच्ची बात तो यह है कि आप जीव-जगत्‌के भेद और स्वगतभेदसे सर्वथा रहित एक, अद्वितीय हैं । आप स्वयं ब्रह्म हैं । आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३० ॥ प्रभो ! आपकी ही शक्तियाँ वादी-प्रतिवादियोंके विवाद और संवाद (ऐकमत्य) का विषय होती हैं और उन्हें बार-बार मोहमें डाल दिया करती हैं । आप अनन्त अप्राकृत कल्याण-गुणगणोंसे युक्त एवं स्वयं अनन्त हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३१ ॥ भगवन् ! उपासकलोग कहते हैं कि हमारे प्रभु हस्त-पादादिसे युक्त साकार-विग्रह हैं और सांख्यवादी कहते हैं कि

रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥३२॥

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥३३॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति ।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥३४॥

श्रीशुक उवाच[1]

इति स्तुतः[2] संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे ।
आविरासीत्[3] कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः ॥३५॥

कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः ।
चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः ॥३६॥

पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः ।
वनमालानिवीताङ्गो[4] लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभः ॥३७॥

भगवान् हस्त-पादादि विग्रहसे रहित—निराकार हैं। यद्यपि इस प्रकार वे एक ही वस्तुके दो परस्परविरोधी धर्मोंका वर्णन करते हैं, परंतु फिर भी उसमें विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों एक ही परम वस्तुमें स्थित हैं। बिना आधारके हाथ-पैर आदिका होना सम्भव नहीं और निषेधकी भी कोई-न-कोई अवधि होनी ही चाहिये। आप वही आधार और निषेधकी अवधि हैं। इसलिये आप साकार, निराकार दोनोंसे ही अविरुद्ध सम परब्रह्म हैं ॥ ३२ ॥ प्रभो ! आप अनन्त हैं। आपका न तो कोई प्राकृत नाम है और न कोई प्राकृत रूप; फिर भी जो आपके चरणकमलोंका भजन करते हैं, उनपर अनुग्रह करनेके लिये आप अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अनेकों लीलाएँ करते हैं तथा उन-उन रूपों एवं लीलाओंके अनुसार अनेकों नाम धारण कर लेते हैं। परमात्मन् ! आप मुझपर कृपा-प्रसाद कीजिये ॥ ३३ ॥ लोगोंकी उपासनाएँ प्रायः साधारण कोटिकी होती हैं। अतः आप सबके हृदयमें रहकर उनकी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें प्रतीत होते रहते हैं—ठीक वैसे ही जैसे हवा गन्धका आश्रय लेकर सुगन्धित प्रतीत होती है; परंतु वास्तवमें सुगन्धित नहीं होती। ऐसे सबकी भावनाओंका अनुसरण करनेवाले प्रभु मेरी अभिलाषा पूर्ण करें ॥ ३४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विन्ध्याचलके अघमर्षण तीर्थमें जब प्रजापति दक्षने इस प्रकार स्तुति की, तब भक्तवत्सल भगवान् उनके सामने प्रकट हुए ॥ ३५ ॥ उस समय भगवान् गरुड़के कंधोंपर चरण रक्खे हुए थे। विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट आठ भुजाएँ थीं; उनमें चक्र, शङ्ख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, पाश और गदा धारण किये हुए थे ॥ ३६ ॥ वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा था। मुखमण्डल प्रफुल्लित था। नेत्रोंसे प्रसादकी वर्षा हो रही थी। घुटनोंतक वनमाला लटक रही थी। वक्षःस्थलपर सुनहरी रेखा—श्रीवत्सचिह्न और गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही थी ॥ ३७ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—स्तवं। ३. प्रा० पा०—प्रादुर०। ४. प्रा० पा०—विचित्राङ्गो।

महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः ॥३८॥
त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत् त्रिभुवनेश्वरः ।
वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः ॥३९॥
स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ॥४०॥
ननाम दण्डवद् भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः ।
न किञ्चनोदीरयितुमशकत् तीव्रया मुदा ।
आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरैः ॥४१॥
तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम् ।
चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः ॥४२॥

श्रीभगवानुवाच

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान् ।
यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥४३॥
प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः ।
ममैष कामो भूतानां यद् भूयासुर्विभूतयः ॥४४॥
ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः ।
विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥४५॥
तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाऽऽकृतिः ।
अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः ॥४६॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः ।
संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ॥४७॥
मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः ।

१. प्रा० पा०—सर्वसत्त्वाना० ।

बहुमूल्य किरीट, कंगन, मकराकृति कुण्डल, करधनी, अँगूठी, कड़े, नूपुर और बाजूबंद अपने-अपने स्थानपर सुशोभित थे॥ ३८ ॥ त्रिभुवनपति भगवान्ने त्रैलोक्यविमोहन रूप धारण कर रखा था । नारद, नन्द, सुनन्द आदि पार्षद उनके चारों ओर खड़े थे । इन्द्र आदि देवेश्वरगण स्तुति कर रहे थे तथा सिद्ध, गन्धर्व और चारण भगवान्के गुणोंका गान कर रहे थे । यह अत्यन्त आश्चर्यमय और अलौकिक रूप देखकर दक्षप्रजापति कुछ सहम गये ॥ ३९-४० ॥ प्रजापति दक्षने आनन्दसे भरकर भगवान्के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया । जैसे झरनोंके जलसे नदियाँ भर जाती हैं, वैसे ही परमानन्दके उद्रेकसे उनकी एक-एक इन्द्रिय भर गयी और आनन्दपरवश हो जानेके कारण वे कुछ भी बोल न सके ॥ ४१ ॥ परीक्षित् ! प्रजापति दक्ष अत्यन्त नम्रतासे झुककर भगवान्के सामने खड़े हो गये । भगवान् सबके हृदयकी बात जानते ही हैं, उन्होंने दक्ष प्रजापतिकी भक्ति और प्रजावृद्धिकी कामना देखकर उनसे यों कहा ॥ ४२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—परम भाग्यवान् दक्ष ! अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी; क्योंकि मुझपर श्रद्धा करनेसे तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति परम प्रेमभावका उदय हो गया है ॥ ४३ ॥ प्रजापते ! तुमने इस विश्वकी वृद्धिके लिये तपस्या की है, इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ; क्योंकि यह मेरी ही इच्छा है कि जगत्के समस्त प्राणी अभिवृद्ध और समृद्ध हों ॥ ४४ ॥ ब्रह्मा, शंकर, तुम्हारे-जैसे प्रजापति, स्वायम्भुव आदि मनु तथा इन्द्रादि देवेश्वर—ये सब मेरी विभूतियाँ हैं और सभी प्राणियोंकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं ॥ ४५ ॥ ब्रह्मन् ! तपस्या मेरा हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति है, यज्ञ अङ्ग हैं, धर्म मन है और देवता प्राण हैं ॥ ४६ ॥ जब यह सृष्टि नहीं थी, तब केवल मैं ही था और वह भी निष्क्रियरूपमें । बाहर-भीतर कहीं भी और कुछ न था । न तो कोई द्रष्टा था और न दृश्य । मैं केवल ज्ञानस्वरूप और अव्यक्त था । ऐसा समझ लो, मानो सब ओर सुषुप्ति-ही-सुषुप्ति छा रही हो ॥ ४७ ॥ प्रिय दक्ष ! मैं अनन्त गुणोंका आधार एवं स्वयं अनन्त हूँ । जब गुणमयी

यदाऽऽसीत् तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः ॥४८॥
स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः ।
मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि ॥४९॥
अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम् ।
नव विश्वसृजो युष्मान् येनादावसृजद् विभुः[1] ॥५०॥
एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः ।
असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥५१॥
मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः ।
मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥५२॥
त्वत्तोऽधस्तात् प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया ।
मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥५३॥

श्रीशुक[4] उवाच

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः ।
स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥५४॥

मायाके क्षोभसे यह ब्रह्माण्ड-शरीर प्रकट हुआ, तब इसमें अयोनिज आदिपुरुष ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ ४८ ॥ जब मैंने उनमें शक्ति और चेतनाका संचार किया, तब देवशिरोमणि ब्रह्मा सृष्टि करनेके लिये उद्यत हुए । परंतु उन्होंने अपनेको सृष्टिकार्यमें असमर्थ-सा पाया ॥ ४९ ॥ उस समय मैंने उन्हें आज्ञा दी कि तप करो । तब उन्होंने घोर तपस्या की और उस तपस्याके प्रभावसे पहले-पहल तुम नौ प्रजापतियोंकी सृष्टि की ॥ ५० ॥

प्रिय दक्ष ! देखो, यह पञ्चजन प्रजापतिकी कन्या असिक्नी है । इसे तुम अपनी पत्नीके रूपमें ग्रहण करो ॥ ५१ ॥ अब तुम गृहस्थोचित स्त्रीसहवासरूप धर्मको स्वीकार करो । यह असिक्नी भी उसी धर्मको स्वीकार करेगी । तब तुम इसके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न कर सकोगे ॥ ५२ ॥ प्रजापते ! अबतक तो मानसी सृष्टि होती थी, परंतु अब तुम्हारे बाद सारी प्रजा मेरी मायासे स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न होगी तथा मेरी सेवामें तत्पर रहेगी ॥ ५३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विश्वके जीवनदाता भगवान् श्रीहरि यह कहकर दक्षके सामने ही इस प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे स्वप्नमें देखी हुई वस्तु स्वप्न टूटते ही लुप्त हो जाती है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे[5] चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रीनारदजीके उपदेशसे दक्षपुत्रोंकी विरक्ति तथा नारदजीको दक्षका शाप

श्रीशुक[6] उवाच

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद् विभुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌के शक्तिसंचारसे दक्ष प्रजापति परम समर्थ हो गये थे । उन्होंने पञ्चजनकी पुत्री असिक्नीसे हर्यश्व नामके दस हजार पुत्र उत्पन्न किये ॥ १ ॥

---

१. प्रा० पा०—प्रभुः । २. प्रा० पा०—प्रसह्य । ३. प्रा० पा०—त्वत्तो हि वंशजाः सर्वा० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । ५. प्राचीन प्रतिमें 'भगवद्दक्षसंवादः' इतना अधिक पाठ है । ६. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप ।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥
तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥
तेपिरे[1] तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः ।
प्रजाविवृद्धये यत्तान्[2] देवर्षिस्तान् ददर्श ह ॥ ५ ॥
उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥ ६ ॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् ।
बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥ ७ ॥
नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् ।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमिम् ॥ ८ ॥
कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः ।
अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया ।
वाचः[3]कूटं तु देवर्षेः स्वयं विमम्रृशुर्धिया ॥ १० ॥
भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।

राजन्! दक्षके ये सभी पुत्र एक आचरण और एक स्वभावके थे। जब उनके पिता दक्षने उन्हें संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब वे तपस्या करनेके विचारसे पश्चिम दिशाकी ओर गये ॥ २ ॥ पश्चिम दिशामें सिन्धुनदी और समुद्रके सङ्गमपर नारायण-सर नामका एक महान् तीर्थ है। बड़े-बड़े मुनि और सिद्ध पुरुष वहाँ निवास करते हैं ॥ ३ ॥ नारायण-सरमें स्नान करते ही हर्यश्वोंके अन्तःकरण शुद्ध हो गये, उनकी बुद्धि भागवतधर्ममें लग गयी। फिर भी अपने पिता दक्षकी आज्ञासे बँधे होनेके कारण वे उग्र तपस्या ही करते रहे। जब देवर्षि नारदने देखा कि भागवतधर्ममें रुचि होनेपर भी ये प्रजावृद्धिके लिये ही तत्पर हैं, तब उन्होंने उनके पास आकर कहा—अरे हर्यश्वो! तुम प्रजापति हो तो क्या हुआ। वास्तवमें तो तुमलोग मूर्ख ही हो। बतलाओ तो, जब तुमलोगोंने पृथ्वीका अन्त ही नहीं देखा तब सृष्टि कैसे करोगे? बड़े खेदकी बात है! ॥ ४—६ ॥ देखो—एक ऐसा देश है, जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है, जिससे बाहर निकलनेका रास्ता ही नहीं है। एक ऐसी स्त्री है, जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरुष है, जो व्यभिचारिणीका पति है। एक ऐसी नदी है, जो आगे-पीछे दोनों ओर बहती है। एक ऐसा विचित्र घर है, जो पचीस पदार्थोंसे बना है। एक ऐसा हंस है, जिसकी कहानी बड़ी विचित्र है। एक ऐसा चक्र है, जो छुरे एवं वज्रसे बना हुआ है और अपने-आप घूमता रहता है। मूर्ख हर्यश्वो! जबतक तुमलोग अपने सर्वज्ञ पिताके उचित आदेशको समझ नहीं लोगे और इन उपर्युक्त वस्तुओंको देख नहीं लोगे, तबतक उनके आज्ञानुसार सृष्टि कैसे कर सकोगे?' ॥ ७–९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! हर्यश्व जन्मसे ही बड़े बुद्धिमान् थे। वे देवर्षि नारदकी यह पहेली, ये गूढ़ वचन सुनकर अपनी बुद्धिसे स्वयं ही विचार करने लगे—॥ १० ॥ '(देवर्षि नारदका कहना तो सच है) यह लिङ्गशरीर ही, जिसे साधारणतः जीव कहते हैं, पृथ्वी है और यही आत्माका अनादि बन्धन है। इसका

१. प्रा० पा०—तेपुस्ते। २. प्रा० पा०—तान्स। ३. प्रा० पा०—तद्वाचःकूटं देवर्षेः।

अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥११॥

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् स्वाश्रयः परः ।

तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१२॥

पुमान् नैवैति यद् गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा ।

प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१३॥

नानारूपाऽऽत्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता ।

तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१४॥

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् ।

तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१५॥

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् ।

मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१६॥

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणम् ।

अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१७॥

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् ।

अन्त (विनाश) देखे बिना मोक्षके अनुपयोगी कर्मोंमें लगे रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ ११ ॥ सचमुच ईश्वर एक ही है । वह जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और उनके अभिमानियोंसे भिन्न, उनका साक्षी तुरीय है । वह सबका आश्रय है, परंतु उसका आश्रय कोई नहीं है । वही भगवान् हैं । उस प्रकृति आदिसे अतीत, नित्यमुक्त परमात्माको देखे बिना भगवान्‌के प्रति असमर्पित कर्मोंसे जीवको क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥ जैसे मनुष्य बिलरूप पातालमें प्रवेश करके वहाँसे नहीं लौट पाता—वैसे ही जीव जिसको प्राप्त होकर फिर संसारमें नहीं लौटता, जो स्वयं अन्तर्ज्योतिःस्वरूप है, उस परमात्माको जाने बिना विनाशवान् स्वर्ग आदि फल देनेवाले कर्मोंको करनेसे क्या लाभ है ? ॥ १३ ॥ यह अपनी बुद्धि ही बहुरूपिणी और सत्त्व, रज आदि गुणोंको धारण करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है । इस जीवनमें इसका अन्त जाने बिना—विवेक प्राप्त किये बिना अशान्तिको अधिकाधिक बढ़ानेवाले कर्म करनेका प्रयोजन ही क्या है ? ॥१४॥ यह बुद्धि ही कुलटा स्त्रीके समान है । इसके सङ्गसे जीवरूप पुरुषका ऐश्वर्य—इसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी है । इसीके पीछे-पीछे वह कुलटा स्त्रीके पतिकी भाँति न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा है । इसकी विभिन्न गतियों, चालोंको जाने बिना ही विवेकरहित कर्मोंसे क्या सिद्धि मिलेगी ? ॥ १५ ॥ माया ही दोनों ओर बहनेवाली नदी है । यह सृष्टि भी करती है और प्रलय भी । जो लोग इससे निकलनेके लिये तपस्या, विद्या आदि तटका सहारा लेने लगते हैं, उन्हें रोकनेके लिये क्रोध, अहंकार आदिके रूपमें वह और भी वेगसे बहने लगती है । जो पुरुष उसके वेगसे विवश एवं अनभिज्ञ है, वह मायिक कर्मोंसे क्या लाभ उठावेगा ? ॥ १६ ॥ ये पचीस तत्त्व ही एक अद्भुत घर हैं । पुरुष उनका आश्चर्यमय आश्रय है । वही समस्त कार्य-कारणात्मक जगत्‌का अधिष्ठाता है । यह बात न जानकर सच्चा स्वातन्त्र्य प्राप्त किये बिना झूठी स्वतन्त्रतासे किये जानेवाले कर्म व्यर्थ ही हैं ॥ १७ ॥ भगवान्‌का स्वरूप बतलानेवाला शास्त्र हंसके समान नीर-क्षीर-विवेकी है । वह बन्ध-मोक्ष, चेतन और जडको अलग-अलग करके

१. प्रा० पा०—किं नु स्यात्कर्म० । २. प्रा० पा०—बिलं सर्गं । ३. प्रा० पा०—तदविज्ञस्य । ४. प्रा० पा०—दर्शनम् ।

विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१८॥
कालचक्रं भ्रमितीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् ।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१९॥
शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् ।
कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत् ॥२०॥
इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एकचेतसः ।
प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥२१॥
स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे ।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥२२॥
नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।
अन्वतप्यत कः शोचन् सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥२३॥
स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।
पुत्रानजनयद् दक्षः शबलाश्वान् सहस्रशः ॥२४॥
तेऽपि पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः ।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥२५॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तेऽत्र महत् तपः ॥२६॥

दिखा देता है। ऐसे अध्यात्मशास्त्ररूप हंसका आश्रय छोड़कर, उसे जाने बिना बहिर्मुख बनानेवाले कर्मोंसे लाभ ही क्या है ? ॥ १८ ॥ यह काल ही एक चक्र है। यह निरन्तर घूमता रहता है। इसकी धार छुरे और वज्रके समान तीखी है और वह सारे जगत्को अपनी ओर खींच रहा है। इसको रोकनेवाला कोई नहीं, यह परम स्वतन्त्र है। यह बात न जानकर कर्मोंके फलको नित्य समझकर जो लोग सकामभावसे उनका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें उन अनित्य कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १९ ॥ शास्त्र ही पिता है; क्योंकि दूसरा जन्म शास्त्रके द्वारा ही होता है और उसका आदेश कर्मोंमें लगना नहीं, उनसे निवृत्त होना है। इसे जो नहीं जानता, वह गुणमय शब्द आदि विषयोंपर विश्वास कर लेता है। अब वह कर्मोंसे निवृत्त होनेकी आज्ञाका पालन भला, कैसे कर सकता है ?' ॥ २० ॥ परीक्षित् ! हर्यश्वोंने एक मतसे यही निश्चय किया और नारदजीकी परिक्रमा करके वे उस मोक्षपथके पथिक बन गये, जिसपर चलकर फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ २१ ॥ इसके बाद देवर्षि नारद स्वरब्रह्ममें—संगीतलहरीमें अभिव्यक्त हुए, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंमें अपने चित्तको अखण्डरूपसे स्थिर करके लोक-लोकान्तरोंमें विचरने लगे ॥ २२ ॥

परीक्षित् ! जब दक्षप्रजापतिको मालूम हुआ कि मेरे शीलवान् पुत्र नारदके उपदेशसे कर्तव्यच्युत हो गये हैं, तब वे शोकसे व्याकुल हो गये। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। सचमुच अच्छी संतानका होना भी शोकका ही कारण है ॥ २३ ॥ ब्रह्माजीने दक्षप्रजापतिको बड़ी सान्त्वना दी। तब उन्होंने पञ्चजन-नन्दिनी असिक्नीके गर्भसे एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये। उनका नाम था शबलाश्व ॥ २४ ॥ वे भी अपने पिता दक्षप्रजापतिकी आज्ञा पाकर प्रजासृष्टिके उद्देश्यसे तप करनेके लिये उसी नारायणसरोवरपर गये, जहाँ जाकर उनके बड़े भाइयोंने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ २५ ॥ शबलाश्वोंने वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान किया। स्नानमात्रसे ही उनके अन्तःकरणके सारे मल धुल गये। अब वे परब्रह्मस्वरूप प्रणवका जप करते हुए महान् तपस्यामें लग गये ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—रूपम० । २. प्रा० पा०—चरेन्मु० । ३. प्रा० पा०—ततः स पाञ्च० ।

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान् कतिचिद् वायुभोजनाः ।
आराधयन् मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥२७॥
ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।
विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि ॥२८॥

कुछ महीनोंतक केवल जल और कुछ महीनोंतक केवल हवा पीकर ही उन्होंने 'हम नमस्कारपूर्वक ओङ्कारस्वरूप भगवान् नारायणका ध्यान करते हैं, जो विशुद्ध चित्तमें निवास करते हैं, सबके अन्तर्यामी हैं तथा सर्वव्यापक एवं परम हंसस्वरूप हैं।'—इस मन्त्रका अभ्यास करते हुए मन्त्राधिपति भगवान्‌की आराधना की ॥ २७-२८ ॥

इति तानपि राजेन्द्र प्रतिसर्गधियो मुनिः ।
उपेत्य नारदः प्राह वाचः कूटानि पूर्ववत् ॥२९॥

परीक्षित् ! इस प्रकार दक्षके पुत्र शबलाश्व प्रजासृष्टिके लिये तपस्यामें संलग्न थे। उनके पास भी देवर्षि नारद आये और उन्होंने पहलेके समान ही कूट वचन कहे ॥२९॥

दाक्षायणाः संश्रृणुत गदतो निगमं मम ।
अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलाः ॥३०॥
भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् ।
स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥३१॥

उन्होंने कहा—'दक्षप्रजापतिके पुत्रो ! मैं तुमलोगोंको जो उपदेश देता हूँ, उसे सुनो। तुमलोग तो अपने भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते हो। इसलिये उनके मार्गका अनुसन्धान करो ॥ ३० ॥ जो धर्मज्ञ भाई अपने बड़े भाइयोंके श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करता है, वही सच्चा भाई है। वह पुण्यवान् पुरुष परलोकमें मरुद्गणोंके साथ आनन्द भोगता है' ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः ।
तेऽपि चान्वगमन् मार्गं भ्रातॄणामेव मारिष ॥३२॥

परीक्षित् ! शबलाश्वोंको इस प्रकार उपदेश देकर देवर्षि नारद वहाँसे चले गये और उन लोगोंने भी अपने भाइयोंके मार्गका ही अनुगमन किया; क्योंकि नारदजीका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता ॥ ३२ ॥

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः ।
नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥३३॥

वे उस पथके पथिक बने, जो अन्तर्मुखी वृत्तिसे प्राप्त होनेयोग्य, अत्यन्त सुन्दर और भगवत्प्राप्तिके अनुकूल है। वे बीती हुई रात्रियोंके समान न तो उस मार्गसे अबतक लौटे हैं और न आगे लौटेंगे ही ॥३३॥

एतस्मिन् काल उत्पातान् बहून् पश्यन् प्रजापतिः ।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाश्रृणोत् ॥३४॥

दक्षप्रजापतिने देखा कि आजकल बहुत-से अशकुन हो रहे हैं। उनके चित्तमें पुत्रोंके अनिष्टकी आशङ्का हो आयी। इतनेमें ही उन्हें मालूम हुआ कि पहलेकी भाँति अबकी बार भी नारदजीने मेरे पुत्रोंको चौपट कर दिया ॥ ३४ ॥

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः ।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥३५॥

उन्हें अपने पुत्रोंकी कर्तव्यच्युतिसे बड़ा शोक हुआ और वे नारदजीपर बड़े क्रोधित हुए। उनके मिलनेपर क्रोधके मारे दक्षप्रजापतिके होठ फड़कने लगे और वे आवेशमें भरकर नारदजीसे बोले ॥ ३५ ॥

दक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया ।
असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥३६॥

दक्षप्रजापतिने कहा—ओ दुष्ट ! तुमने झूठमूठ साधुओंका बाना पहन रक्खा है। हमारे भोले-भाले बालकोंको भिक्षुकोंका मार्ग दिखाकर तुमने हमारा बड़ा

१. प्रा० पा०—प्रजास० ।

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।
विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥३७॥
एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः ।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥३८॥
ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः ।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम् ॥३९॥
नेत्थं पुंसां विरागः स्यात् त्वया केवलिना मृषा ।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥४०॥
नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम् ।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः ॥४१॥
यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम् ।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥४२॥
तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः ।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम् ॥४३॥

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद् बाढं नारदः साधुसम्मतः ।
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥४४॥

अपकार किया है ॥३६॥ अभी उन्होंने ब्रह्मचर्यसे ऋषि-ऋण, यज्ञसे देव-ऋण और पुत्रोत्पत्तिसे पितृ-ऋण नहीं उतारा था। उन्हें अभी कर्मफलकी नश्वरताके सम्बन्धमें भी कुछ विचार नहीं था। परंतु पापात्मन्! तुमने उनके दोनों लोकोंका सुख चौपट कर दिया ॥ ३७ ॥ सचमुच तुम्हारे हृदयमें दयाका नाम भी नहीं है। तुम इस प्रकार बच्चोंकी बुद्धि बिगाड़ते फिरते हो। तुमने भगवान्‌के पार्षदोंमें रहकर उनकी कीर्तिमें कलङ्क ही लगाया। सचमुच तुम बड़े निर्लज्ज हो ॥ ३८ ॥ मैं जानता हूँ कि भगवान्‌के पार्षद सदा-सर्वदा दुखी प्राणियोंपर दया करनेके लिये व्यग्र रहते हैं। परंतु तुम प्रेमभावका विनाश करनेवाले हो। तुम उन लोगोंसे भी वैर करते हो जो किसीसे वैर नहीं करते ॥ ३९ ॥ यदि तुम ऐसा समझते हो कि वैराग्यसे ही स्नेहपाश—विषयासक्तिका बन्धन कट सकता है, तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारे-जैसे झूठ-मूठ वैराग्यका स्वाँग भरनेवालोंसे किसीको वैराग्य नहीं हो सकता ॥ ४० ॥ नारद! मनुष्य विषयोंका अनुभव किये बिना उनकी कटुता नहीं जान सकता। इसलिये उनकी दुःखरूपताका अनुभव होनेपर स्वयं जैसा वैराग्य होता है, वैसा दूसरोंके बहकानेसे नहीं होता ॥ ४१ ॥ हमलोग सद्गृहस्थ हैं, अपनी धर्ममर्यादाका पालन करते हैं। एक बार पहले भी तुमने हमारा असह्य अपकार किया था। तब हमने उसे सह लिया ॥ ४२ ॥ तुम तो हमारी वंशपरम्पराका उच्छेद करनेपर ही उतारू हो रहे हो। तुमने फिर हमारे साथ वही दुष्टताका व्यवहार किया। इसलिये मूढ! जाओ, लोक-लोकान्तरोंमें भटकते रहो। कहीं भी तुम्हारे लिये ठहरनेको ठौर नहीं होगी ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! संतशिरोमणि देवर्षि नारदने 'बहुत अच्छा' कहकर दक्षका शाप स्वीकार कर लिया। संसारमें बस, साधुता इसीका नाम है कि बदला लेनेकी शक्ति रहनेपर भी दूसरेका किया हुआ अपकार सह लिया जाय ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—दक्षान्नारदशापः पञ्च० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

दक्षप्रजापतिकी साठ कन्याओंके वंशका विवरण

श्रीशुक उवाच

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा ।
षष्टिं सञ्जनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः ॥ १ ॥
दश धर्माय कायेन्दोर्द्विषट् त्रिणव दत्तवान् ।
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः ॥ २ ॥
नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु ।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! तदनन्तर ब्रह्माजीके बहुत अनुनय-विनय करनेपर दक्षप्रजापतिने अपनी पत्नी असिक्नीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। वे सभी अपने पिता दक्षसे बहुत प्रेम करती थीं ॥ १ ॥ दक्षप्रजापतिने उनमेंसे दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताईस चन्द्रमाको, दो भूतको, दो अङ्गिराको, दो कृशाश्वको और शेष चार तार्क्ष्यनामधारी कश्यपको ही ब्याह दीं ॥ २ ॥ परीक्षित् ! तुम इन दक्षकन्याओं और इनकी सन्तानोंके नाम मुझसे सुनो । इन्हींकी वंशपरम्परा तीनों लोकोंमें फैली हुई है ॥ ३ ॥

भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती ।
वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ् शृणु ॥ ४ ॥
भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप ।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः ॥ ५ ॥
ककुभः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः ।
भुवो दुर्गाणि जामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥ ६ ॥
विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान् प्रचक्षते ।
साध्यो गणस्तु साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥ ७ ॥
मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्यां बभूवतुः ।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः ॥ ८ ॥
मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे ।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥ ९ ॥
सङ्कल्पायाश्च सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः ।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥ १० ॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वसुर्विभावसुः ।
द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥ ११ ॥

धर्मकी दस पत्नियाँ थीं—भानु, लम्बा, ककुभ्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और संकल्पा । इनके पुत्रोंके नाम सुनो ॥ ४ ॥ राजन् ! भानुका पुत्र देवऋषभ और उसका इन्द्रसेन था । लम्बाका पुत्र हुआ विद्योत और उसके मेघगण ॥ ५ ॥ ककुभ्का पुत्र हुआ संकट, उसका कीकट और कीकटके पुत्र हुए पृथ्वीके सम्पूर्ण दुर्गों (किलों) के अभिमानी देवता । जामिके पुत्रका नाम था स्वर्ग और उसका पुत्र हुआ नन्दी ॥ ६ ॥ विश्वाके विश्वेदेव हुए । उनके कोई सन्तान न हुई । साध्यासे साध्यगण हुए और उनका पुत्र हुआ अर्थसिद्धि ॥ ७ ॥ मरुत्वतीके दो पुत्र हुए—मरुत्वान् और जयन्त । जयन्त भगवान् वासुदेवके अंश हैं, जिन्हें लोग उपेन्द्र भी कहते हैं ॥ ८ ॥ मुहूर्तासे मुहूर्तके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए । ये अपने-अपने मुहूर्तमें जीवोंको उनके कर्मानुसार फल देते हैं ॥ ९ ॥ संकल्पाका पुत्र हुआ संकल्प और उसका काम । वसुके पुत्र आठों वसु हुए । उनके नाम मुझसे सुनो ॥ १० ॥ द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु । द्रोणकी पत्नीका नाम है अभिमति । उससे हर्ष, शोक, भय आदिके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

---

१. प्रा० पा०—कश्यपाय द्वि० । २. प्रा० पा०—प्रमत्तै० । ३. प्रा० पा०—त्वेद० । ४. प्रा० पा०—ककुदः । ५. प्रा० पा०—यामर्थं० । ६. प्रा० पा०—त्वांस्तु । ७. प्रा० पा०—सुतः । ८. प्रा० पा०—मताः ।

प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः ।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥१२॥
अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः ।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥१३॥
स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः ।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥१४॥
वसोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्मा कृतीपतिः ।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद् विश्वे साध्या मनोः सुताः ।१५।
विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम् ।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु ॥१६॥

प्राणकी पत्नी ऊर्जस्वतीके गर्भसे सह, आयु और पुरोजव नामके तीन पुत्र हुए। ध्रुवकी पत्नी धरणीने अनेक नगरोंके अभिमानी देवता उत्पन्न किये ॥ १२ ॥ अर्ककी पत्नी वासनाके गर्भसे तर्ष (तृष्णा) आदि पुत्र हुए। अग्नि नामक वसुकी पत्नी धाराके गर्भसे द्रविणक आदि बहुत-से पुत्र उत्पन्न हुए ॥१३॥ कृत्तिकापुत्र स्कन्द भी अग्निसे ही उत्पन्न हुए। उनसे विशाख आदिका जन्म हुआ। दोषकी पत्नी शर्वरीके गर्भसे शिशुमारका जन्म हुआ। वह भगवान्‌का कलावतार है ॥ १४ ॥ वसुकी पत्नी आङ्गिरसीसे शिल्पकलाके अधिपति विश्वकर्माजी हुए। विश्वकर्माके उनकी भार्या कृतीके गर्भसे चाक्षुष मनु हुए और उनके पुत्र विश्वेदेव एवं साध्यगण हुए ॥१५॥ विभावसुकी पत्नी उषासे तीन पुत्र हुए—व्युष्ट, रोचिष् और आतप। उनमेंसे आतपके पञ्चयाम (दिवस) नामक पुत्र हुआ, उसीके कारण सब जीव अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं ॥ १६ ॥

सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः ।
रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः ॥१७॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यो बहुरूपो महानिति ।
रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोराः भूतविनायकाः ॥१८॥
प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितॄनथ ।
अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत् सती ॥१९॥
कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेशमजीजनत् ।
धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम् ॥२०॥
तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च ।
पतङ्गयसूत पतगान् यामिनी शलभानथ ॥२१॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद् यज्ञेशवाहनम् ।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥२२॥

भूतकी पत्नी दक्षनन्दिनी सरूपाने कोटि-कोटि रुद्रगण उत्पन्न किये। इनमें रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप और महान्—ये ग्यारह मुख्य हैं। भूतकी दूसरी पत्नी भूतासे भयंकर भूत और विनायकादिका जन्म हुआ। ये सब ग्यारहवें प्रधान रुद्र महान्‌के पार्षद हुए ॥१७-१८॥ अङ्गिरा प्रजापतिकी प्रथम पत्नी स्वधाने पितृगणको उत्पन्न किया और दूसरी पत्नी सतीने अथर्वाङ्गिरस नामक वेदको ही पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया ॥१९॥ कृशाश्वकी पत्नी अर्चिसे धूम्रकेशका जन्म हुआ और धिषणासे चार पुत्र हुए—वेदशिरा, देवल, वयुन और मनु ॥ २० ॥ तार्क्ष्यनामधारी कश्यपकी चार स्त्रियाँ थीं—विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी। पतंगीसे पक्षियोंका और यामिनीसे शलभों (पतिंगों) का जन्म हुआ ॥ २१ ॥ विनताके पुत्र गरुड हुए, ये ही भगवान् विष्णुके वाहन हैं। विनताके ही दूसरे पुत्र अरुण हैं, जो भगवान् सूर्यके सारथि हैं। कद्रूसे अनेकों नाग उत्पन्न हुए ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—रसः पु० । २. प्रा० पा०—सुरूपा० । ३. प्रा० पा०—राः प्रेतवि० । ४. प्रा० पा०—देवं ।
५. प्रा० पा०—धिषणा वेदशिरसं ।

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत ।
दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥२३॥
पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः ।
शृणु नामानि लोकानां मातॄणां[1] शङ्कराणि च ॥२४॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥२५॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः ॥२६॥
सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।
ताम्रायाः[2] श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥२७॥
दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः ।
इलाया[3] भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥२८॥
अरिष्टायाँश्च[4] गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः ।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकाञ्[5] शृणु ॥२९॥
द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः ।
अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥३०॥
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः ।
धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च[6] दुर्जयः ॥३१॥
स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल ।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥३२॥
वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥३३॥
उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप ।
पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥३४॥

परीक्षित् ! कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्राभिमानिनी देवियाँ चन्द्रमाकी पत्नियाँ हैं । रोहिणीसे विशेष प्रेम करनेके कारण चन्द्रमाको दक्षने शाप दे दिया, जिससे उन्हें क्षयरोग हो गया था । उन्हें कोई संतान नहीं हुई ॥२३॥ उन्होंने दक्षको फिरसे प्रसन्न करके कृष्ण-पक्षकी क्षीण कलाओंके शुक्लपक्षमें पूर्ण होनेका वर तो प्राप्त कर लिया, (परंतु नक्षत्राभिमानिनी देवियोंसे उन्हें कोई संतान न हुई) अब तुम कश्यपपत्नियोंके मङ्गलमय नाम सुनो । वे लोकमाताएँ हैं । उन्हींसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है । उनके नाम हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि । इनमें तिमिके पुत्र हैं—जलचर जन्तु और सरमाके बाघ आदि हिंसक जीव ॥ २४-२६ ॥ सुरभिके पुत्र हैं—भैंस, गाय तथा दूसरे दो खुरवाले पशु । ताम्राकी संतान हैं—बाज, गीध आदि शिकारी पक्षी । मुनिसे अप्सराएँ उत्पन्न हुईं ॥ २७ ॥ क्रोधवशाके पुत्र हुए—साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु । इलासे वृक्ष, लता आदि पृथ्वीमें उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियाँ और सुरसासे यातुधान (राक्षस) ॥ २८ ॥ अरिष्टासे गन्धर्व और काष्ठासे घोड़े आदि एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए । दनुके इकसठ पुत्र हुए । उनमें प्रधान-प्रधानके नाम सुनो ॥२९॥ द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय ॥ ३०-३१ ॥ स्वर्भानुकी कन्या सुप्रभासे नमुचिने और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे महाबली नहुषनन्दन ययातिने विवाह किया ॥ ३२ ॥ दनुके पुत्र वैश्वानरकी चार सुन्दर कन्याएँ थीं । इनके नाम थे—उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा और कालका । ३३ । इनमेंसे उपदानवीके साथ हिरण्याक्षका और हयशिराके साथ क्रतुका विवाह हुआ । ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्रजापति भगवान् कश्यपने ही वैश्वानरकी शेष दो पुत्रियों—पुलोमा और कालकाके साथ विवाह किया । उनसे पौलोम

१. प्रा० पा०—इरा । २. प्रा० पा०—गृध्रश्येनाद्याः । ३. प्रा० पा०—इराया । ४. प्रा० पा०—यास्तु । ५. प्रा० पा०—प्राधानिकं शृ० । ६. प्रा० पा०—चित्तिः मुदु० ।

उपयेमेऽथ भगवान् कश्यपो ब्रह्मचोदितः ।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता ।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥३६॥
विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत् ।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागतः ॥३७॥

और कालकेय नामके साठ हजार रणवीर दानव हुए। इन्हींका दूसरा नाम निवातकवच था। ये यज्ञकर्ममें विघ्न डालते थे, इसलिये परीक्षित्! तुम्हारे दादा अर्जुनने अकेले ही उन्हें इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये मार डाला। यह उन दिनोंकी बात है, जब अर्जुन स्वर्गमें गये हुए थे॥ ३४—३६॥ विप्रचित्तिकी पत्नी सिंहिकाके गर्भसे एक सौ एक पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़ा था राहु, जिसकी गणना ग्रहोंमें हो गयी। शेष सौ पुत्रोंका नाम केतु था॥ २७॥

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः ।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद् विभुः ॥३८॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः ।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ॥३९॥
विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम् ।
मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि ॥४०॥
छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः ।
कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम् ॥४१॥
अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः ।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता ॥४२॥
पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत् पुरा ।
योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः ॥४३॥
त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्या रचना नाम कन्यका ।
संनिवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥४४॥

परीक्षित्! अब क्रमशः अदितिकी वंशपरम्परा सुनो। इस वंशमें सर्वव्यापक देवाधिदेव नारायणने अपने अंशसे वामनरूपमें अवतार लिया था॥ ३८॥ अदितिके पुत्र थे—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और त्रिविक्रम (वामन) यही बारह आदित्य कहलाये॥ ३९॥ विवस्वान्‌की पत्नी महाभाग्यवती संज्ञाके गर्भसे श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु एवं यम-यमीका जोड़ा पैदा हुआ। संज्ञाने ही घोड़ीका रूप धारण करके भगवान् सूर्यके द्वारा भूलोकमें दोनों अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया॥ ४०॥ विवस्वान्‌की दूसरी पत्नी थी छाया। उसके शनैश्चर और सावर्णि मनु नामके दो पुत्र तथा तपती नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। तपतीने संवरणको पतिरूपमें वरण किया॥ ४१॥ अर्यमाकी पत्नी मातृका थी। उसके गर्भसे चर्षणी नामक पुत्र हुए। वे कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे युक्त थे। इसलिये ब्रह्माजीने उन्हींके आधारपर मनुष्यजातिकी (ब्राह्मणादि वर्णोंकी) कल्पना की॥४२॥ पूषाके कोई संतान न हुई। प्राचीन कालमें जब शिवजी दक्षपर क्रोधित हुए थे, तब पूषा दाँत दिखाकर हँसने लगे थे; इसलिये वीरभद्रने इनके दाँत तोड़ दिये थे। तबसे पूषा पिसा हुआ अन्न ही खाते हैं॥ ४३॥ दैत्योंकी छोटी बहिन कुमारी रचना त्वष्टाकी पत्नी थी। रचनाके गर्भसे दो पुत्र हुए—संनिवेश और पराक्रमी विश्वरूप॥ ४४॥

१. प्रा० पा०—उपयेमे स। २. प्रा० पा०—सर्वे। ३. प्रा० पा०—शतमे कम०। ४. प्रा० पा०—शुचिः। ५. प्रा० पा०—सुसमाहिता। ६. प्रा० पा०—कुपितो। ७. प्रा० पा०—चरमा०।

तं वव्रिरे सुरगणा स्वस्रीयं द्विषतामपि ।
विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत् ॥४५॥

इस प्रकार विश्वरूप यद्यपि शत्रुओंके भानजे थे—फिर भी जब देवगुरु बृहस्पतिजीने इन्द्रसे अपमानित होकर देवताओंका परित्याग कर दिया, तब देवताओंने विश्वरूपको ही अपना पुरोहित बनाया था ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

बृहस्पतिजीके द्वारा देवताओंका त्याग और विश्वरूपका देवगुरुके रूपमें वरण

राजोवाच

कस्य[1] हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः[2] ।
एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! देवाचार्य बृहस्पतिजीने अपने प्रिय शिष्य देवताओंको किस कारण त्याग दिया था ? देवताओंने अपने गुरुदेवका ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया था, आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीशुक[3] उवाच

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप[4] ॥ २ ॥
विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः ।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३ ॥
विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः ।
निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत ॥ ४ ॥
उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥ ५ ॥
युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः ।
विराजमानः पौलोम्या सहार्धासनया भृशम् ॥ ६ ॥
स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह ।
नाभ्यनन्दत संप्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! इन्द्रको त्रिलोकीका ऐश्वर्य पाकर घमंड हो गया था । इस घमंडके कारण वे धर्म-मर्यादाका, सदाचारका उल्लङ्घन करने लगे थे । एक दिनकी बात है, वे भरी सभामें अपनी पत्नी शचीके साथ ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, उन्चास मरुद्गण, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, आदित्य, ऋभुगण, विश्वेदेव, साध्यगण और दोनों अश्विनीकुमार उनकी सेवामें उपस्थित थे । सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ब्रह्मवादी मुनिगण, विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पक्षी और नाग उनकी सेवा और स्तुति कर रहे थे । सब ओर ललित स्वरसे देवराज इन्द्रकी कीर्तिका गान हो रहा था । ऊपरकी ओर चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर श्वेत छत्र शोभायमान था । चँवर, पंखे आदि महाराजोचित सामग्रियाँ यथास्थान सुसज्जित थीं । इस दिव्य समाजमें देवराज बड़े ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २–६ ॥ इसी समय देवराज इन्द्र और समस्त देवताओंके परम आचार्य बृहस्पतिजी वहाँ आये । उन्हें सुर-असुर सभी नमस्कार करते हैं । इन्द्रने देख लिया कि वे सभामें

१. प्रा० पा०—यस्य । २. प्रा० पा०—सुताः । ३. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच । ४. प्रा० पा०—ऋषिभिर्नृप ।

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥ ८ ॥
ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः ।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वान् श्रीमदविक्रियाम् ॥९॥
तर्ह्येव प्रतिबुध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः ।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥१०॥
अहो बत ममासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना ।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥११॥
को गृध्येत् पण्डितो लक्ष्मीं त्रिविष्टपपतेरपि ।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः ॥१२॥
ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन् न कञ्चन ।
प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः ॥१३॥
तेषां कुपथदेष्टॄणां पततां तमसि ह्यधः ।
ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥१४॥
अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम् ।
प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन् ॥१५॥
एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान् गृहात् ।
बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥१६॥
गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट् ।
ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः ॥१७॥
तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।

आये हैं; परंतु वे न तो खड़े हुए और न आसन आदि देकर गुरुका सत्कार ही किया। यहाँतक कि वे अपने आसनसे हिले-डुलेतक नहीं ॥ ७-८ ॥ त्रिकालदर्शी समर्थ बृहस्पतिजीने देखा कि यह ऐश्वर्यमदका दोष है! बस, वे झटपट वहाँसे निकलकर चुपचाप अपने घर चले आये ॥ ९ ॥

परीक्षित्! उसी समय देवराज इन्द्रको चेत हुआ। वे समझ गये कि मैंने अपने गुरुदेवकी अवहेलना की है। वे भरी सभामें स्वयं ही अपनी निन्दा करने लगे ॥१०॥ 'हाय-हाय! बड़े खेदकी बात है कि भरी सभामें मूर्खतावश मैंने ऐश्वर्यके नशेमें चूर होकर अपने गुरुदेवका तिरस्कार कर दिया। सचमुच मेरा यह कर्म अत्यन्त निन्दनीय है ॥ ११ ॥ भला, कौन विवेकी पुरुष इस स्वर्गकी राजलक्ष्मीको पानेकी इच्छा करेगा? देखो तो सही, आज इसीने मुझ देवराजको भी असुरोंके-से रजोगुणी भावसे भर दिया ॥ १२ ॥ जो लोग यह कहते हैं कि सार्वभौम राजसिंहासनपर बैठा हुआ सम्राट् किसीके आनेपर राजसिंहासनसे न उठे, वे धर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते ॥ १३ ॥ ऐसा उपदेश करनेवाले कुमार्गकी ओर ले जानेवाले हैं। वे स्वयं घोर नरकमें गिरते हैं। उनकी बातपर जो लोग विश्वास करते हैं, वे पत्थरकी नावकी तरह डूब जाते हैं ॥ १४ ॥ मेरे गुरुदेव बृहस्पतिजी ज्ञानके अथाह समुद्र हैं। मैंने बड़ी शठता की। अब मैं उनके चरणोंमें अपना माथा टेककर उन्हें मनाऊँगा' ॥ १५ ॥

परीक्षित्! देवराज इन्द्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि भगवान् बृहस्पतिजी अपने घरसे निकलकर योगबलसे अन्तर्धान हो गये ॥ १६ ॥ देवराज इन्द्रने अपने गुरुदेवको बहुत ढूँढ़ा-ढुँढ़वाया; परंतु उनका कहीं पता न चला। तब वे गुरुके बिना अपनेको सुरक्षित न समझकर देवताओंके साथ अपनी बुद्धिके अनुसार स्वर्गकी रक्षाका उपाय सोचने लगे, परंतु वे कुछ भी सोच न सके। उनका चित्त अशान्त ही बना रहा ॥ १७ ॥ परीक्षित्! दैत्योंको भी देवगुरु बृहस्पति और देवराज इन्द्रकी अनबनका पता लग गया। तब

१. प्रा० पा०—कथञ्चन। २. प्रा० पा०—स्वचा युक्तः।

देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥१८॥
तैर्विसृष्टेषुभिस्ती[1]क्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥१९॥
तांस्तथाभ्यर्दितान् वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः ।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥२१॥
तस्यायमनयस्यासीत् परेभ्यो वः पराभवः ।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत् सुराः ।२२।
मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात् ।
सम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः।
आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥२३॥

त्रिविष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-
मन्त्रा भृगू[2]णामनुशिक्षितार्थाः ।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥२४॥
तद् विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥२५॥

उन मदोन्मत्त और आततायी असुरोंने अपने गुरु शुक्राचार्यके आदेशानुसार देवताओंपर विजय पानेके लिये धावा बोल दिया ॥ १८ ॥ उन्होंने देवताओंपर इतने तीखे-तीखे बाणोंकी वर्षा की कि उनके मस्तक, जंघा, बाहु आदि अङ्ग कट-कटकर गिरने लगे। तब इन्द्रके साथ सभी देवता सिर झुकाकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १९ ॥ स्वयम्भू एवं समर्थ ब्रह्माजीने देखा कि देवताओंकी तो सचमुच बड़ी दुर्दशा हो रही है। अतः उनका हृदय अत्यन्त करुणासे भर गया। वे देवताओंको धीरज बँधाते हुए कहने लगे ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! यह बड़े खेदकी बात है। सचमुच तुम लोगोंने बहुत बुरा काम किया। हरे, हरे! तुमलोगोंने ऐश्वर्यके मदसे अंधे होकर ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ एवं संयमी ब्राह्मणका सत्कार नहीं किया ॥ २१ ॥ देवताओ! तुम्हारी उसी अनीतिका यह फल है कि आज समृद्धिशाली होनेपर भी तुम्हें अपने निर्बल शत्रुओंके सामने नीचा देखना पड़ा ॥ २२ ॥ देवराज! देखो, तुम्हारे शत्रु भी पहले अपने गुरुदेव शुक्राचार्यका तिरस्कार करनेके कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे, परंतु अब भक्तिभावसे उनकी आराधना करके वे फिर धन-जनसे सम्पन्न हो गये हैं। देवताओ! मुझे तो ऐसा मालूम पड़ रहा है कि शुक्राचार्यको अपना आराध्यदेव माननेवाले ये दैत्यलोग कुछ दिनोंमें मेरा ब्रह्मलोक भी छीन लेंगे ॥ २३ ॥ भृगुवंशियोंने इन्हें अर्थशास्त्रकी पूरी-पूरी शिक्षा दे रक्खी है। ये जो कुछ करना चाहते हैं, उसका भेद तुमलोगोंको नहीं मिल पाता। उनकी सलाह बहुत गुप्त होती है। ऐसी स्थितिमें वे स्वर्गको तो समझते ही क्या हैं, वे चाहे जिस लोकको जीत सकते हैं। सच है, जो श्रेष्ठ मनुष्य ब्राह्मण, गोविन्द और गौओंको अपना सर्वस्व मानते हैं और जिनपर उनकी कृपा रहती है, उनका कभी अमङ्गल नहीं होता ॥ २४ ॥ इसलिये अब तुमलोग शीघ्र ही त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके पास जाओ और उन्हींकी सेवा करो। वे सच्चे ब्राह्मण, तपस्वी और संयमी हैं। यदि तुमलोग उनके असुरोंके प्रति प्रेमको क्षमा कर सकोगे और उनका सम्मान करोगे, तो वे तुम्हारा काम बना देंगे ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—खिग्मैर्नि०। २. प्रा० पा०—गुरूणा०।

श्रीशुक उवाच

त एवमुदिता राजन् ब्रह्मणा विगतज्वराः ।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन् ।।२६।।

देवा ऊचुः

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते ।
कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः ।।२७।।
पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम् ।
अपि पुत्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम् ।।२८।।
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः ।।२९।।
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् ।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ।।३०।।
तस्मात् पितॄणामार्तानामार्तिं परपराभवम् ।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि ।।३१।।
वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा ।।३२।।
न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम् ।
छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम् ।।३३।।

ऋषिरुवाच

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः ।
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः[1] श्लक्ष्णया गिरा ।।३४।।

विश्वरूप उवाच

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चउपव्ययम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब ब्रह्माजीने देवताओंसे इस प्रकार कहा, तब उनकी चिन्ता दूर हो गयी । वे त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप ऋषिके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर यों कहने लगे ।। २६ ।।

देवताओंने कहा—बेटा विश्वरूप ! तुम्हारा कल्याण हो । हम तुम्हारे आश्रमपर अतिथिके रूपमें आये हैं । हम एक प्रकारसे तुम्हारे पितर हैं । इसलिये तुम हमलोगोंकी समयोचित अभिलाषा पूर्ण करो ।। २७ ।। जिन्हें संतान हो गयी हो, उन सत्पुत्रोंका भी सबसे बड़ा धर्म यही है कि वे अपने पिता तथा अन्य गुरुजनोंकी सेवा करें । फिर जो ब्रह्मचारी हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है ।। २८ ।। वत्स ! आचार्य वेदकी, पिता ब्रह्माजीकी, भाई इन्द्रकी और माता साक्षात् पृथ्वीकी मूर्ति होती है ।। २९ ।। (इसी प्रकार) बहिन दयाकी, अतिथि धर्मकी, अभ्यागत अग्निकी और जगत्के सभी प्राणी अपने आत्माकी ही मूर्ति—आत्मस्वरूप होते हैं ।। ३० ।। पुत्र ! हम तुम्हारे पितर हैं । इस समय शत्रुओंने हमें जीत लिया है । हम बड़े दुखी हो रहे हैं । तुम अपने तपोबलसे हमारा यह दुःख, दारिद्र्य, पराजय टाल दो । पुत्र ! तुम्हें हमलोगोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये ।। ३१ ।। तुम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो अतः जन्मसे ही हमारे गुरु हो । हम तुम्हें आचार्यके रूपमें वरण करके तुम्हारी शक्तिसे अनायास ही शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेंगे ।। ३२ ।। पुत्र ! आवश्यकता पड़नेपर अपनेसे छोटोंका पैर छूना भी निन्दनीय नहीं है । वेदज्ञानको छोड़कर केवल अवस्था बड़प्पनका कारण भी नहीं है ।। ३३ ।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवताओंने इस प्रकार विश्वरूपसे पुरोहिती करनेकी प्रार्थना की, तब परम तपस्वी विश्वरूपने प्रसन्न होकर उनसे अत्यन्त प्रिय और मधुर शब्दोंमें कहा ।। ३४ ।।

विश्वरूपने कहा—पुरोहितीका काम ब्रह्मतेजको क्षीण करनेवाला है । इसलिये धर्मशील महात्माओंने

१. प्रा० पा०—प्रहसन् ।

कथं नु मद्विधो नाथा[1] लोकेशैरभियाचितम् ।

प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः[2] स एव स्वार्थ उच्यते ।३५।

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं

तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।

कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः

पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः[3] ॥३६॥

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत् ।

भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥३७॥

श्रीशुक[4] उवाच

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।

पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥३८॥

सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया ।

आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः ३९

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः[5] ।

तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥४०॥

उसकी निन्दा की है । किंतु आप मेरे स्वामी हैं और लोकेश्वर होकर भी मुझसे उसके लिये प्रार्थना कर रहे हैं । ऐसी स्थितिमें मेरे-जैसा व्यक्ति भला, आपलोगोंको कोरा जवाब कैसे दे सकता है ? मैं तो आपलोगोंका सेवक हूँ । आपकी आज्ञाओंका पालन करना ही मेरा स्वार्थ है ॥ ३५ ॥ देवगण ! हम अकिंचन हैं । खेती कट जानेपर अथवा अनाजकी हाट उठ जानेपर उसमेंसे गिरे हुए कुछ दाने चुन लाते हैं और उसीसे अपने देवकार्य तथा पितृकार्य सम्पन्न कर लेते हैं । लोकपालो ! इस प्रकार जब मेरी जीविका चल ही रही है, तब मैं पुरोहितीकी निन्दनीय वृत्ति क्यों करूँ ? उससे तो केवल वे ही लोग प्रसन्न होते हैं, जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है ॥ ३६ ॥ जो काम आपलोग मुझसे कराना चाहते हैं, वह निन्दनीय है—फिर भी मैं आपके कामसे मुँह नहीं मोड़ सकता; क्योंकि आपलोगोंकी माँग ही कितनी है । इसलिये आपलोगोंका मनोरथ मैं तन-मन-धनसे पूरा करूँगा ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विश्वरूप बड़े तपस्वी थे । देवताओंसे ऐसी प्रतिज्ञा करके उनके वरण करनेपर वे बड़ी लगनके साथ उनकी पुरोहिती करने लगे ॥ ३८ ॥ यद्यपि शुक्राचार्यने अपने नीतिबलसे असुरोंकी सम्पत्ति सुरक्षित कर दी थी, फिर भी समर्थ विश्वरूपने वैष्णवी विद्याके प्रभावसे उनसे वह सम्पत्ति छीनकर देवराज इन्द्रको दिला दी ॥ ३९ ॥ राजन् ! जिस विद्यासे सुरक्षित होकर इन्द्रने असुरोंकी सेनापर विजय प्राप्त की थी, उसका उदारबुद्धि विश्वरूपने ही उन्हें उपदेश किया था ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—नाम । २. प्रा० पा०—सच्छिष्यः । ३. प्रा० पा०—दुर्मनाः । ४. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ५. प्रा० पा०—द्विजः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

नारायण कवचका उपदेश

राजोवाच

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान् ।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।
यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते ।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः ।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥
नारायणमयं वर्म सन्नह्येद् भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्कारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥
करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७ ॥
न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्धनि ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! देवराज इन्द्रने जिससे सुरक्षित होकर शत्रुओंकी चतुरङ्गिणी सेनाको खेल-खेलमें—अनायास ही जीतकर त्रिलोकीकी राजलक्ष्मीका उपभोग किया, आप उस नारायणकवचको मुझे सुनाइये और यह भी बतलाइये कि उन्होंने उससे सुरक्षित होकर रणभूमिमें किस प्रकार आक्रमणकारी शत्रुओंपर विजय प्राप्त की ॥ १-२ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जब देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित बना लिया, तब देवराज इन्द्रके प्रश्न करनेपर विश्वरूपने उन्हें नारायणकवचका उपदेश किया । तुम एकाग्रचित्तसे उसका श्रवण करो ॥ ३ ॥

विश्वरूपने कहा—देवराज इन्द्र ! भयका अवसर उपस्थित होनेपर नारायणकवच धारण करके अपने शरीरकी रक्षा कर लेनी चाहिये । उसकी विधि यह है कि पहले हाथ-पैर धोकर आचमन करे, फिर हाथमें कुशकी पवित्री धारण करके उत्तर मुँह बैठ जाय । इसके बाद कवचधारणपर्यन्त और कुछ न बोलनेका निश्चय करके पवित्रतासे 'ॐ नमो नारायणाय' और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इन मन्त्रोंके द्वारा हृदयादि-अङ्गन्यास तथा अङ्गुष्ठादि-करन्यास करे । पहले 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रके ॐ आदि आठ अक्षरोंका क्रमशः पैरों, घुटनों, जाँघों, पेट, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और सिरमें न्यास करे । अथवा पूर्वोक्त मन्त्रके यकारसे लेकर ॐकारपर्यन्त आठ अक्षरोंका सिरसे आरम्भ करके उन्हीं आठ अङ्गोंमें विपरीत क्रमसे न्यास करे ॥ ४—६ ॥ तदनन्तर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रके ॐ आदि बारह अक्षरोंका दायीं तर्जनीसे बायीं तर्जनीतक दोनों हाथकी आठ अँगुलियों और दोनों अँगूठोंकी दो-दो गाँठोंमें न्यास करे ॥ ७ ॥ फिर 'ॐ विष्णवे नमः' इस मन्त्रके पहले अक्षर 'ॐ' का हृदयमें, 'वि' का ब्रह्मरन्ध्रमें,

१. प्रा० पा०—ममाचक्ष्व । २. प्रा० पा०—शत्रून्सैन्ये । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत्[1] ॥ ८ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः ॥ ९ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥१०॥
आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत्[2] ॥११॥

'ष' का भौंहोंके बीचमें, 'ण' का चोटीमें, 'वे' का दोनों नेत्रोंमें और 'न' का शरीरकी सब गाँठोंमें न्यास करे। तदनन्तर 'ॐ मः अस्त्राय फट्' कहकर दिग्बन्ध करे। इस प्रकार न्यास करनेसे इस विधिको जाननेवाला पुरुष मन्त्रस्वरूप हो जाता है ॥ ८—१० ॥ इसके बाद समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करे और अपनेको भी तद्रूप ही चिन्तन करे। तत्पश्चात् विद्या, तेज और तपःस्वरूप इस कवचका पाठ करे— ॥ ११ ॥

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-
पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥१२॥
जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥१३॥
दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥१४॥
रक्षत्वसौ माध्वनि[3] यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान् ॥१५॥
मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादा-
न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥१६॥
सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।

'भगवान् श्रीहरि गरुड़जीकी पीठपर अपने चरण-कमल रक्खे हुए हैं। अणिमादि आठों सिद्धियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। आठ हाथोंमें शङ्ख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, बाण, धनुष और पाश (फंदा) धारण किये हुए हैं। वे ही ॐकारस्वरूप प्रभु सब प्रकारसे, सब ओरसे मेरी रक्षा करें ॥ १२ ॥ मत्स्यमूर्ति भगवान् जलके भीतर जलजन्तुओंसे और वरुणके पाशसे मेरी रक्षा करें। मायासे ब्रह्मचारीका रूप धारण करनेवाले वामनभगवान् स्थलपर और विश्वरूप श्रीत्रिविक्रमभगवान् आकाशमें मेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥ जिनके घोर अट्टहाससे सब दिशाएँ गूँज उठी थीं और गर्भवती दैत्यपत्नियोंके गर्भ गिर गये थे, वे दैत्य-यूथपतियोंके शत्रु भगवान् नृसिंह किले, जंगल, रणभूमि आदि विकट स्थानोमें मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥ अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण करनेवाले यज्ञमूर्ति वराह भगवान् मार्गमें, परशुरामजी पर्वतोंके शिखरोंपर और लक्ष्मणजीके सहित भरतके बड़े भाई भगवान् रामचन्द्र प्रवासके समय मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥ भगवान् नारायण मारण-मोहन आदि भयंकर अभिचारों और सब प्रकारके प्रमादोंसे मेरी रक्षा करें। ऋषिश्रेष्ठ नर गर्वसे, योगेश्वर भगवान् दत्तात्रेय योगके विघ्नोंसे और त्रिगुणाधिपति भगवान् कपिल कर्मबन्धनोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ परमर्षि सनत्कुमार कामदेवसे, हयग्रीव-भगवान् मार्गमें चलते समय देवमूर्तियोंको नमस्कार

१. प्रा० पा०—न्यसेत् । २. प्रा० पा०—मुदीरयेत् । ३. प्रा० पा०—मां पथि यज्ञ० ।

देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥१७॥
धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद्
द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा ।
यज्ञश्च लोकादवतांज्जनान्ताद्
बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः ॥१८॥
द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्
बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात् ।
कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातु
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥१९॥
मां केशवो गदया प्रातरव्याद्
गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्ति-
र्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥२०॥
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा
सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे
निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥२१॥

आदि न करनेके अपराधसे, देवर्षि नारद सेवापराधोंसे* और भगवान् कच्छप सब प्रकारके नरकोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥ भगवान् धन्वन्तरि कुपथ्यसे, जितेन्द्रिय भगवान् ऋषभदेव सुख-दुःख आदि भयदायक द्वन्द्वोंसे, यज्ञ-भगवान् लोकापवादसे, बलरामजी मनुष्यकृत कष्टोंसे और श्रीशेषजी क्रोधवश नामक सर्पोंके गणसे मेरी रक्षा करें। १८। भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अज्ञानसे तथा बुद्धदेव पाखण्डियोंसे और प्रमादसे मेरी रक्षा करें । धर्मरक्षाके लिये महान् अवतार धारण करनेवाले भगवान् कल्कि पापबहुल कलिकालके दोषोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १९ ॥ प्रातःकाल भगवान् केशव अपनी गदा लेकर, कुछ दिन चढ़ आनेपर भगवान् गोविन्द अपनी बाँसुरी लेकर, दोपहरके पहले भगवान् नारायण अपनी तीक्ष्ण शक्ति लेकर और दोपहरको भगवान् विष्णु चक्रराज सुदर्शन लेकर मेरी रक्षा करें ॥ २० ॥ तीसरे पहरमें भगवान् मधुसूदन अपना प्रचण्ड धनुष लेकर मेरी रक्षा करें । सायंकालमें ब्रह्मा आदि त्रिमूर्तिधारी माधव, सूर्यास्तके बाद हृषीकेश, अर्धरात्रिके पूर्व तथा अर्धरात्रिके समय अकेले भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—तात्कृतान्ताद् । २. प्रा० पा०—बुद्धश्च । ३. प्रा० पा०—प्रपायाद् । ४. प्रा० पा०—प्रातरुदात्त०।

* बत्तीस प्रकारके सेवापराध माने गये हैं—१-सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना । २—रथयात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना । ३-श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना । ४-अशुचि-अवस्थामें दर्शन करना । ५-एक हाथसे प्रणाम करना । ६-परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न रुककर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना । ७-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना । ८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना । ९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना । १०-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना । ११-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना । १२-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना । १३-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना । १४-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना । १५-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना । १६-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना । १७-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना । १८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना । १९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना । २०-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना । २१-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना । २२-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना । २३-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना । २४-शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना । २५-श्रीभगवान्‌को निवेदित किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना । २६-जिस ऋतुमें जो फल हो उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना । २७-किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना । २८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना । २९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना । ३०-गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना । ३१-अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना और ३२-किसी भी देवताकी निन्दा करना ।

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः ॥२२॥

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम् ।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥२३॥

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥२४॥

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥२५॥

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥२६॥

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो[1] नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य[2] एव वा ।२७।

सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥२८॥

गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥२९॥

रात्रिके पिछले प्रहरमें श्रीवत्सलाञ्छन श्रीहरि, उषाकालमें खड्गधारी भगवान् जनार्दन, सूर्योदयसे पूर्व श्रीदामोदर और सम्पूर्ण संध्याओंमें कालमूर्ति भगवान् विश्वेश्वर मेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥

'सुदर्शन ! आपका आकार चक्र (रथके पहिये) की तरह है। आपके किनारेका भाग प्रलयकालीन अग्निके समान अत्यन्त तीव्र है । आप भगवान्‌की प्रेरणासे सब ओर घूमते रहते हैं । जैसे आग वायुकी सहायतासे सूखे घास-फूसको जला डालती है, वैसे ही आप हमारी शत्रु-सेनाको शीघ्र-से-शीघ्र जला दीजिये, जला दीजिये ॥२३॥ कौमोदकी गदा ! आपसे छूटनेवाली चिनगारियोंका स्पर्श वज्रके समान असह्य है । आप भगवान् अजितकी प्रिया हैं और मैं उनका सेवक हूँ । इसलिये आप कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत और प्रेतादि ग्रहोंको अभी कुचल डालिये, कुचल डालिये तथा मेरे शत्रुओंको चूर-चूर कर दीजिये ॥ २४ ॥ शङ्खश्रेष्ठ ! आप भगवान् श्रीकृष्णके फूँकनेसे भयंकर शब्द करके मेरे शत्रुओंका दिल दहला दीजिये एवं यातुधान, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच तथा ब्रह्मराक्षस आदि भयावने प्राणियोंको यहाँसे झटपट भगा दीजिये ॥२५॥ भगवान्‌की प्यारी तलवार ! आप-की धार बहुत तीक्ष्ण है । आप भगवान्‌की प्रेरणासे मेरे शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर दीजिये । भगवान्‌की प्यारी ढाल ! आपमें सैकड़ों चन्द्राकार मण्डल हैं । आप पाप-दृष्टि पापात्मा शत्रुओंकी आँखें बंद कर दीजिये और उन्हें सदाके लिये अंधा बना दीजिये ॥ २६ ॥

'सूर्य आदि ग्रह, धूमकेतु (पुच्छल तारे) आदि केतु, दुष्ट मनुष्य, सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु, दाढ़ोंवाले हिंसक पशु, भूत-प्रेत आदि तथा पापी प्राणियोंसे हमें जो-जो भय हों और जो-जो हमारे मङ्गलके विरोधी हों—वे सभी भगवान्‌के नाम, रूप तथा आयुधोंका कीर्तन करनेसे तत्काल नष्ट हो जायँ ॥२७-२८॥ बृहद् रथन्तर आदि सामवेदीय स्तोत्रोंसे जिनकी स्तुति की जाती है, वे वेदमूर्ति भगवान् गरुड और विष्वक्सेनजी अपने नामोच्चारण-के प्रभावसे हमें सब प्रकारकी विपत्तियोंसे बचायें ॥२९॥

१. प्रा० पा०—वायु० । २. प्रा० पा०—भ्यो घोरेभ्य एव च ।

सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः ।

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः ॥३०॥

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् ।

सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥३१॥

यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।

भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥३२॥

तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः ।

पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥३३॥

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-

दन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः ।

प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन

स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥३४॥

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् ।

विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥३५॥

एतद् धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा ।

पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते ३६

न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् ।

राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित् ३७

इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः ।

योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥३८॥

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा ।

ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥३९॥

गगनान्न्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः ।

स वालखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।

श्रीहरिके नाम, रूप, वाहन, आयुध और श्रेष्ठ पार्षद हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंको सब प्रकारकी आपत्तियोंसे बचायें ॥ ३० ॥

'जितना भी कार्य अथवा कारणरूप जगत् है, वह वास्तवमें भगवान् ही हैं'—इस सत्यके प्रभावसे हमारे सारे उपद्रव नष्ट हो जायँ ॥ ३१ ॥ जो लोग ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव कर चुके हैं, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का स्वरूप समस्त विकल्पों—भेदोंसे रहित है; फिर भी वे अपनी माया-शक्तिके द्वारा भूषण, आयुध और रूप नामक शक्तियोंको धारण करते हैं। यह बात निश्चितरूपसे सत्य है। इस कारण सर्वज्ञ, सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरि सदा-सर्वत्र सब स्वरूपोंसे हमारी रक्षा करें ॥ ३२-३३ ॥ जो अपने भयंकर अट्टहाससे सब लोगोंके भयको भगा देते हैं और अपने तेजसे सबका तेज ग्रस लेते हैं, वे भगवान् नृसिंह दिशा-विदिशामें, नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर—सब ओर हमारी रक्षा करें ॥३४॥

देवराज इन्द्र! मैंने तुम्हें यह नारायणकवच सुना दिया। इस कवचसे तुम अपनेको सुरक्षित कर लो। बस, फिर तुम अनायास ही सब दैत्ययूथपतियोंको जीत लोगे॥३५॥ इस नारायणकवचको धारण करनेवाला पुरुष जिसको भी अपने नेत्रोंसे देख लेता अथवा पैरसे छू देता है, वह तत्काल समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ जो इस वैष्णवी विद्याको धारण कर लेता है, उसे राजा, डाकू, प्रेत-पिशाचादि और बाघ आदि हिंसक जीवोंसे कभी किसी प्रकारका भय नहीं होता ॥३७॥ देवराज! प्राचीन कालकी बात है, एक कौशिकगोत्री ब्राह्मणने इस विद्याको धारण करके योगधारणासे अपना शरीर मरुभूमिमें त्याग दिया ॥ ३८ ॥ जहाँ उस ब्राह्मणका शरीर पड़ा था, उसके ऊपरसे एक दिन गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी स्त्रियोंके साथ विमानपर बैठकर निकले ॥३९॥ वहाँ आते ही वे नीचेकी ओर सिर किये विमानसहित आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े। इस घटनासे उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। जब उन्हें वालखिल्य मुनियोंने बतलाया कि यह नारायण-कवच धारण करनेका प्रभाव है, तब उन्होंने उस ब्राह्मण-देवताकी हड्डियोंको ले जाकर पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीमें

१. प्रा० पा०—वान् देवः संस्तुतः सद० । २. प्रा० पा०—व्याध्यादिभ्यश्च ।

प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ४०

प्रवाहित कर दिया और फिर स्नान करके वे अपने लोकको गये ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः ।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥४१॥
एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जो पुरुष इस नारायणकवचको समयपर सुनता है और जो आदर-पूर्वक इसे धारण करता है, उसके सामने सभी प्राणी आदरसे झुक जाते हैं और वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥ परीक्षित् ! शतक्रतु इन्द्रने आचार्य विश्वरूपजीसे यह वैष्णवी विद्या प्राप्त करके रणभूमिमें असुरोंको जीत लिया और वे त्रैलोक्यलक्ष्मीका उपभोग करने लगे ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नारायणवर्म-कथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

विश्वरूपका वध, वृत्रासुरद्वारा देवताओंकी हार और भगवान्‌की प्रेरणासे देवताओंका दधीचि ऋषिके पास जाना

श्रीशुक उवाच

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत ।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥
स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः ।
अवदद् यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥
स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति ।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥
तद् देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद् रुषा ॥४॥
सोमपीथं तु यत् तस्य शिर आसीत् कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत् स तित्तिरिः ॥ ५ ॥
ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः[3] ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! हमने सुना है कि विश्वरूपके तीन सिर थे । वे एक मुँहसे सोमरस तथा दूसरेसे सुरा पीते थे और तीसरेसे अन्न खाते थे ॥ १ ॥ उनके पिता त्वष्टा आदि बारह आदित्य देवता थे, इसलिये वे यज्ञके समय प्रत्यक्षरूपमें ऊँचे स्वरसे बोलकर बड़े विनयके साथ देवताओंको आहुति देते थे ॥ २ ॥ साथ ही वे छिप-छिपकर असुरोंको भी आहुति दिया करते थे । उनकी माता असुर-कुलकी थीं, इसीलिये वे मातृस्नेहके वशीभूत होकर यज्ञ करते समय उस प्रकार असुरोंको भाग पहुँचाया करते थे ॥ ३ ॥ देवराज इन्द्रने देखा कि इस प्रकार वे देवताओंका अपराध और धर्मकी ओटमें कपट कर रहे हैं । इससे इन्द्र डर गये और क्रोधमें भरकर उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उनके तीनों सिर काट लिये ॥ ४ ॥ विश्वरूपका सोमरस पीनेवाला सिर पपीहा, सुरापान करनेवाला गौरैया और अन्न खानेवाला तीतर हो गया ॥ ५ ॥ इन्द्र चाहते तो विश्वरूपके वधसे लगी हुई हत्याको दूर कर सकते थे; परंतु उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा, वरं हाथ जोड़कर उसे स्वीकार कर

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—भीतः शीर्षाण्यस्याच्छिनद् । ३. प्रा० पा०—यदपीश्वरः ।

संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥
भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥
तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ।
तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥
शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।
रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम्[1] ।
तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन्[2] ॥१०॥
हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा[3] जुहावेन्द्राय शत्रवे ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिरं जहि विद्विषम् ॥११॥
अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥१२॥
विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥१३॥
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥१४॥

लिया तथा एक वर्षतक उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं किया। तदनन्तर सब लोगोंके सामने अपनी शुद्धि प्रकट करनेके लिये उन्होंने अपनी ब्रह्महत्याको चार हिस्सोंमें बाँटकर पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंको दे दिया ॥६॥ परीक्षित्! पृथ्वीने बदलेमें यह वरदान लेकर कि जहाँ कहीं गड्ढा होगा, वह समयपर अपने-आप भर जायगा, इन्द्रकी ब्रह्महत्याका चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। वही ब्रह्महत्या पृथ्वीमें कहीं-कहीं ऊसरके रूपमें दिखायी पड़ती है ॥७॥ दूसरा चतुर्थांश वृक्षोंने लिया। उन्हें यह वर मिला कि उनका कोई हिस्सा कट जानेपर फिर जम जायगा। उनमें अब भी गोंदके रूपमें ब्रह्महत्या दिखायी पड़ती है ॥ ८ ॥ स्त्रियोंने यह वर पाकर कि वे सर्वदा पुरुषका सहवास कर सकें, ब्रह्महत्याका तीसरा चतुर्थांश स्वीकार किया। उनकी ब्रह्महत्या प्रत्येक महीनेमें रजके रूपसे दिखायी पड़ती है ॥ ९ ॥ जलने यह वर पाकर कि खर्च करते रहनेपर भी निर्झर आदिके रूपमें तुम्हारी बढ़ती ही होती रहेगी, ब्रह्महत्याका चौथा चतुर्थांश स्वीकार किया। फेन, बुद्बुद आदिके रूपमें वही ब्रह्म-हत्या दिखायी पड़ती है। अतएव मनुष्य उसे हटाकर जल ग्रहण किया करते हैं ॥ १० ॥

विश्वरूपकी मृत्युके बाद उनके पिता त्वष्टा 'हे इन्द्र-शत्रो! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र-से-शीघ्र तुम अपने शत्रुको मार डालो' — इस मन्त्रसे इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेके लिये हवन करने लगे ॥ ११ ॥ यज्ञ समाप्त होनेपर अन्वाहार्य-पचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) से एक बड़ा भयावना दैत्य प्रकट हुआ। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो लोकोंका नाश करनेके लिये प्रलय-कालीन विकराल काल ही प्रकट हुआ हो ॥ १२ ॥ परीक्षित्! वह प्रतिदिन अपने शरीरके सब ओर बाणके बराबर बढ़ जाया करता था। वह जले हुए पहाड़के समान काला और बड़े डील-डौलका था। उसके शरीर-मेंसे संध्याकालीन बादलोंके समान दीप्ति निकलती रहती थी ॥ १३ ॥ उसके सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल रंगके तथा नेत्र दोपहरके

१. प्रा० पा०—द्रव्यरूपव०। २. प्रा० पा०—तद्धरिरक्षिपत्। ३. प्रा० पा०—हते पुत्र तत०।

देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी ।
नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥१५॥
दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् ।
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥१६॥
महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः ।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश ॥१७॥
येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥१८॥
तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत् तानि कृत्स्नशः ॥१९॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥२०॥

देवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥२१॥
अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥२२॥
यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाऽऽबध्य ततार दुर्गम् ।

सूर्यके समान प्रचण्ड थे ॥ १४ ॥ चमकते हुए तीन नोकोंवाले त्रिशूलको लेकर जब वह नाचने, चिल्लाने और कूदने लगता था, उस समय पृथ्वी काँप उठती थी और ऐसा जान पड़ता था कि उस त्रिशूलपर उसने अन्तरिक्षको उठा रक्खा है ॥ १५ ॥ वह बार-बार जँभाई लेता था। इससे जब उसका कन्दराके समान गम्भीर मुँह खुल जाता, तब जान पड़ता कि वह सारे आकाशको पी जायगा, जीभसे सारे नक्षत्रोंको चाट जायगा और अपनी विशाल एवं विकराल दाढ़ोंवाले मुँहसे तीनों लोकोंको निगल जायगा। उसके भयावने रूपको देखकर सब लोग डर गये और इधर-उधर भागने लगे ॥ १६-१७ ॥

परीक्षित् ! त्वष्टाके तमोगुणी पुत्रने सारे लोकोंको घेर लिया था। इसीसे उस पापी और अत्यन्त क्रूर पुरुषका नाम वृत्रासुर पड़ा ॥ १८ ॥ बड़े-बड़े देवता अपने-अपने अनुयायियोंके सहित एक साथ ही उसपर टूट पड़े तथा अपने-अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार करने लगे। परंतु वृत्रासुर उनके सारे अस्त्र-शस्त्रोंको निगल गया ॥ १९ ॥ अब तो देवताओंके आश्चर्यकी सीमा न रही। उनका प्रभाव जाता रहा। वे सब-के-सब दीन-हीन और उदास हो गये तथा एकाग्र चित्तसे अपने हृदयमें विराजमान आदिपुरुष श्रीनारायणकी शरणमें गये ॥ २० ॥

देवताओंने भगवान्‌से प्रार्थना की—वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत, इनसे बने हुए तीनों लोक, उनके अधिपति ब्रह्मादि तथा हम सब देवता जिस कालसे डरकर उसे पूजा-सामग्रीकी भेंट दिया करते हैं, वही काल भगवान्‌से भयभीत रहता है। इसलिये अब भगवान् ही हमारे रक्षक हैं ॥ २१ ॥ प्रभो ! आपके लिये कोई नयी बात न होनेके कारण कुछ भी देखकर आप विस्मित नहीं होते। आप अपने स्वरूपके साक्षात्कारसे ही सर्वथा पूर्णकाम, सम एवं शान्त हैं। जो आपको छोड़कर किसी दूसरेकी शरण लेता है, वह मूर्ख है। वह मानो कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहता है ॥ २२ ॥ वैवस्वत मनु पिछले कल्पके अन्तमें जिनके विशाल सींगमें पृथ्वीरूप

१. प्रा० पा०—दिवौकसः । २. प्रा० पा०—स्तपसा ।

स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद् दुरन्तात्
त्राताऽऽश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम् ॥२३॥
पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार
तस्माद् भयाद् येन स नोऽस्तु पारः ॥२४॥
य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥२५॥
यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वाऽऽत्मसात् पाति युगे युगे च ॥२६॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥२७॥

श्रीशुक उवाच[1]

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम्[2] ।
प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥२८॥
आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥२९॥

नौकाको बाँधकर अनायास ही प्रलयकालीन संकटसे बच गये, वे ही मत्स्यभगवान् हम शरणागतोंको वृत्रासुरके द्वारा उपस्थित किये हुए दुस्तर भयसे अवश्य बचायेंगे। २३। प्राचीन कालमें प्रचण्ड पवनके थपेड़ोंसे उठी हुई उत्ताल तरङ्गोंकी गर्जनाके कारण ब्रह्माजी भगवान्‌के नाभिकमलसे अत्यन्त भयानक प्रलयकालीन जलमें गिर पड़े थे। यद्यपि वे असहाय थे तथापि जिनकी कृपासे वे उस विपत्तिसे बच सके, वे ही भगवान् हमें इस संकटसे पार करें ॥ २४ ॥ उन्हीं प्रभुने अद्वितीय होनेपर भी अपनी मायासे हमारी रचना की और उन्हींके अनुग्रहसे हमलोग सृष्टिकार्यका संचालन करते हैं। यद्यपि वे हमारे सामने ही सब प्रकारकी चेष्टाएँ कर-करा रहे हैं, तथापि 'हम स्वतन्त्र ईश्वर हैं'—अपने इस अभिमानके कारण हमलोग उनके स्वरूपको देख नहीं पाते ॥ २५ ॥ वे प्रभु जब देखते हैं कि देवता अपने शत्रुओंसे बहुत पीड़ित हो रहे हैं, तब वे वास्तवमें निर्विकार रहनेपर भी अपनी मायाका आश्रय लेकर देवता, ऋषि, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंमें अवतार लेते हैं तथा युग-युगमें हमें अपना समझकर हमारी रक्षा करते हैं ॥ २६ ॥ वे ही सबके आत्मा और परमाराध्य देव हैं। वे ही प्रकृति और पुरुषरूपसे विश्वके कारण हैं। वे विश्वसे पृथक् भी हैं और विश्वरूप भी हैं। हम सब उन्हीं शरणागत वत्सल भगवान् श्रीहरिकी शरण ग्रहण करते हैं। उदार-शिरोमणि प्रभु अवश्य ही अपने निजजन हम देवताओंका कल्याण करेंगे ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज! जब देवताओंने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की, तब स्वयं शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् उनके सामने पश्चिमकी ओर (अन्तर्देशमें) प्रकट हुए ॥ २८ ॥ भगवान्‌के नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे। उनके साथ सोलह पार्षद उनकी सेवामें लगे हुए थे। वे देखनेमें सब प्रकारसे भगवान्‌के समान ही थे। केवल उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और गलेमें कौस्तुभमणि

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच। २. प्रा० पा०—मधिति०।

दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः ।

दण्डवत् पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥३०॥

देवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।

नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥३१॥

यत् ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।

नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥३२॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥३३॥ दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥ ३४ ॥ अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददात्या-

नहीं थी ॥ २९ ॥ परीक्षित् ! भगवान्का दर्शन पाकर सभी देवता आनन्दसे विह्वल हो गये । उन लोगोंने धरतीपर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और फिर धीरे-धीरे उठकर वे भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ ३० ॥

देवताओंने कहा—भगवन् ! यज्ञमें स्वर्गादि देनेकी शक्ति तथा उनके फलकी सीमा निश्चित करनेवाले काल भी आप ही हैं । यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंको आप चक्रसे छिन्न-भिन्न कर डालते हैं । इसलिये आपके नामोंकी कोई सीमा नहीं है । हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥ विधातः ! सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके अनुसार जो उत्तम, मध्यम और निकृष्ट गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनके नियामक आप ही हैं । आपके परमपदका वास्तविक स्वरूप इस कार्यरूप जगत्का कोई आधुनिक प्राणी नहीं जान सकता ॥३२॥

भगवन् ! नारायण ! वासुदेव ! आप आदिपुरुष (जगत्के परम कारण) और महापुरुष (पुरुषोत्तम) हैं । आपकी महिमा असीम है । आप परम मङ्गलमय, परम कल्याणस्वरूप और परम दयालु हैं । आप ही सारे जगत्के आधार एवं अद्वितीय हैं, केवल आप ही सारे जगत्के स्वामी हैं । आप सर्वेश्वर हैं तथा सौन्दर्य और मृदुलताकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीके परम पति हैं । प्रभो ! परमहंस परिव्राजक विरक्त महात्मा जब आत्मसंयमरूप परम समाधिसे भलीभाँति आपका चिन्तन करते हैं, तब उनके शुद्ध हृदयमें परमहंसोंके धर्म वास्तविक भगवद्भजनका उदय होता है । इससे उनके हृदयके अज्ञानरूप किवाड़ खुल जाते हैं और उनके आत्मलोकमें आप आत्मानन्दके रूपमें बिना किसी आवरणके प्रकट हो जाते हैं और वे आपका अनुभव करके निहाल हो जाते हैं । हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ३३ ॥ भगवन् ! आपकी लीलाका रहस्य जानना बड़ा ही कठिन है । क्योंकि आप बिना किसी आश्रय और प्राकृत शरीरके, हमलोगोंके सहयोगकी अपेक्षा न करके, निर्गुण और निर्विकार होनेपर भी स्वयं ही इस सगुण जगत्की सृष्टि, रक्षा और संहार करते हैं ॥ ३४ ॥ भगवन् ! हमलोग यह बात भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते कि सृष्टिकर्ममें आप देवदत्त आदि किसी व्यक्तिके समान गुणोंके कार्यरूप इस जगत्में जीवरूपसे प्रकट हो जाते हैं और

होस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः ॥ ३५ ॥ न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे ईश्वरेऽनवगाह्य-माहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां वि-वादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्म-मायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूप-द्वयाभावात् ॥ ३६ ॥ समविषममतीनां मतमनु-सरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥ ३७ ॥ स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः ॥ ३८ ॥ अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदव-

कर्मोंके अधीन होकर अपने किये अच्छे-बुरे कर्मोंका फल भोगते हैं, अथवा आप आत्माराम, शान्तस्वभाव एवं सबसे उदासीन—साक्षीमात्र रहते हैं तथा सबको समान देखते हैं ॥३५॥ हम तो यह समझते हैं कि यदि आपमें ये दोनों बातें रहें तो भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि आप स्वयं भगवान् हैं। आपके गुण अगणित हैं, महिमा अगाध है और आप सर्वशक्तिमान् हैं। आधुनिक लोग अनेकों प्रकारके विकल्प, वितर्क, विचार, झूठे प्रमाण और कुतर्कपूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन करके अपने हृदयको दूषित कर लेते हैं और यही कारण है कि वे दुराग्रही हो जाते हैं। आपमें उनके वाद-विवादके लिये अवसर ही नहीं है। आपका वास्तविक स्वरूप समस्त मायामय पदार्थोंसे परे, केवल है। जब आप उसीमें अपनी मायाको छिपा लेते हैं, तब ऐसी कौन-सी बात है जो आपमें नहीं हो सकती? इसलिये आप साधारण पुरुषोंके समान कर्ता-भोक्ता भी हो सकते हैं और महापुरुषोंके समान उदासीन भी। इसका कारण यह है कि न तो आपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है और न तो उदासीनता ही। आप तो दोनोंसे विलक्षण, अनिर्वचनीय हैं ॥ ३६ ॥ जैसे एक ही रस्सीका टुकड़ा भ्रान्त पुरुषोंको सर्प, माला, धारा आदिके रूपमें प्रतीत होता है, किंतु जानकारको रस्सीके रूपमें—वैसे ही आप भी भ्रान्तबुद्धिवालोंको कर्ता, भोक्ता आदि अनेक रूपोंमें दीखते हैं और ज्ञानीको शुद्ध सच्चिदानन्दके रूपमें। आप सभीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ३७ ॥ विचारपूर्वक देखनेसे मालूम होता है कि आप ही समस्त वस्तुओंमें वस्तुत्वके रूपसे विराजमान हैं, सबके स्वामी हैं और सम्पूर्ण जगत्के कारण ब्रह्मा, प्रकृति आदिके भी कारण हैं। आप सबके अन्तर्यामी अन्तरात्मा हैं इसलिये जगत्में जितने भी गुण-दोष प्रतीत हो रहे हैं, उन सबकी प्रतीतियाँ अपने अधिष्ठानस्वरूप आपका ही संकेत करती हैं और श्रुतियोंने समस्त पदार्थोंका निषेध करके अन्तमें निषेधकी अवधिके रूपमें केवल आपको ही शेष रक्खा है ॥ ३८ ॥ मधुसूदन! आपकी अमृत-मयी महिमा रसका अनन्त समुद्र है। उसके नन्हे-से सीकरका भी, अधिक नहीं—एक बार भी स्वाद चख

१. प्रा० पा०—महिममहामृत०। २. प्रा० पा०—सकृल्लीढया।

लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन वि-
स्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता
एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि
नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधु-
मथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधव-
स्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं
संसारपर्यावर्तः ॥ ३९ ॥ त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम
त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो
दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति
स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथा-
पराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि
त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥४०॥ अस्माकं तावकानां
तव नतानां तत ततामह तव चरणनलिनयुगल-
ध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्
कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मिताव-

लेनेसे हृदयमें नित्य-निरन्तर परमानन्दकी धारा बहने लगती है। उसके कारण अबतक जगत्‌में विषय-भोगोंके जितने भी लेशमात्र, प्रतीतिमात्र सुखका अनुभव हुआ है या परलोक आदिके विषयमें सुना गया है, वह सब-का-सब जिन्होंने भुला दिया है, समस्त प्राणियोंके परम प्रियतम, हितैषी, सुहृद् और सर्वात्मा आप ऐश्वर्य-निधि परमेश्वरमें जो अपने मनको नित्य-निरन्तर लगाये रखते और आपके चिन्तनका ही सुख लूटते रहते हैं, वे आपके अनन्यप्रेमी परम भक्त पुरुष ही अपने स्वार्थ और परमार्थमें निपुण हैं। मधुसूदन ! आपके वे प्यारे और सुहृद् भक्तजन भला, आपके चरणकमलोंका सेवन कैसे त्याग सकते हैं, जिससे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है ॥ ३९ ॥ प्रभो ! आप त्रिलोकीके आत्मा और आश्रय हैं। आपने अपने तीन पगोंसे सारे जगत्‌को नाप लिया था और आप ही तीनों लोकोंके संचालक हैं। आपकी महिमा त्रिलोकीका मन हरण करनेवाली है। इसमें संदेह नहीं कि दैत्य, दानव आदि असुर भी आपकी ही विभूतियाँ हैं। तथापि यह उनकी उन्नतिका समय नहीं है—यह सोचकर आप अपनी योगमायासे देवता, मनुष्य, पशु, नृसिंह आदि मिश्रित और मत्स्य आदि जलचरोंके रूपमें अवतार ग्रहण करते और उनके अपराधके अनुसार उन्हें दण्ड देते हैं। दण्डधारी प्रभो ! यदि जँचे तो आप उन्हीं असुरोंके समान इस वृत्रासुरका भी नाश कर डालिये ॥४०॥ भगवन् ! आप हमारे पिता, पितामह—सब कुछ हैं। हम आपके निजजन हैं और निरन्तर आपके सामने सिर झुकाये रहते हैं। आपके चरण-कमलोंका ध्यान करते-करते हमारा हृदय उन्हींके प्रेमबन्धनसे बँध गया है। आपने हमारे सामने अपना दिव्यगुणोंसे युक्त साकार विग्रह प्रकट करके हमें अपनाया है। इसलिये प्रभो ! हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि आप अपनी दयाभरी, विशद, सुन्दर और शीतल मुसकानयुक्त चितवनसे तथा अपने मुखारविन्दसे

१. प्रा० पा०—मानेनानव०। २. प्रा० पा०—तमपि। ३. प्रा० पा०—रतानां हन्त तव।

लोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम् ॥ ४१ ॥ अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद् विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥४२॥ अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां[1] वयं यत्कामेनोपसादिताः॥४३॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥४४॥

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥४५॥

टपकते हुए मनोहर वाणीरूप सुमधुर सुधाबिन्दुसे हमारे हृदयका ताप शान्त कीजिये, हमारे अन्तरकी जलन बुझाइये ॥ ४१ ॥ प्रभो ! जिस प्रकार अग्निकी ही अंशभूत चिनगारियाँ आदि अग्निको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं, वैसे ही हम भी आपको अपना कोई भी स्वार्थ-परमार्थ निवेदन करनेमें असमर्थ हैं। आपसे भला, कहना ही क्या है ! क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली दिव्य मायाके साथ विनोद करते रहते हैं तथा समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें ब्रह्म और अन्तर्यामीके रूपसे विराजमान रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, उनके बाहर भी प्रकृतिके रूपसे आप ही विराजमान हैं। जगत्‌में जितने भी देश, काल, शरीर और अवस्था आदि हैं, उनके उपादान और प्रकाशकके रूपमें आप ही उनका अनुभव करते रहते हैं। आप सभी वृत्तियोंके साक्षी हैं। आप आकाशके समान सर्वगत हैं, निर्लिप्त हैं। आप स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं ॥ ४२ ॥ अतएव हम अपना अभिप्राय आपसे निवेदन करें—इसकी अपेक्षा न रखकर जिस अभिलाषासे हमलोग यहाँ आये हैं, उसे पूर्ण कीजिये। आप अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न और जगत्‌के परमगुरु हैं। हम आपके चरणकमलोंकी छत्रछायामें आये हैं जो विविध पापोंके फलस्वरूप जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकनेकी थकावटको मिटानेवाली है ॥ ४३ ॥ सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण ! वृत्रासुरने हमारे प्रभाव और अस्त्र-शस्त्रोंको तो निगल ही लिया है। अब वह तीनों लोकोंको भी ग्रस रहा है। आप उसे मार डालिये ॥ ४४ ॥ प्रभो ! आप शुद्धस्वरूप, हृदयस्थित शुद्ध ज्योतिर्मय आकाश, सबके साक्षी, अनादि, अनन्त और उज्ज्वल कीर्तिसम्पन्न हैं। संतलोग आपका ही संग्रह करते हैं। संसारके पथिक जब घूमते-घूमते आपकी शरणमें आ पहुँचते हैं, तब अन्तमें आप उन्हें परमानन्दस्वरूप अभीष्ट फल देते हैं और इस प्रकार उनके जन्म-जन्मान्तरके कष्टको हर लेते हैं। प्रभो ! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥४५॥

१. प्रा० पा०—मुपसंगतानां ।

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः ।
स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया ।
आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥४७॥
किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः ।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥४८॥
न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् ।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद् यदि सोऽपि तथाविधः॥४९
स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः ॥५०॥
मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥५१॥
स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवताओंने बड़े आदरके साथ इस प्रकार भगवान्‌का स्तवन किया, तब वे अपनी स्तुति सुनकर बहुत प्रसन्न हुए तथा उनसे कहने लगे ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—श्रेष्ठ देवताओ ! तुमलोगोंने स्तुतियुक्त ज्ञानसे मेरी उपासना की है, इससे मैं तुमलोगोंपर प्रसन्न हूँ । इस स्तुतिके द्वारा जीवोंको अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ४७ ॥ देवशिरोमणियो ! मेरे प्रसन्न हो जानेपर कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती । तथापि मेरे अनन्यप्रेमी तत्त्ववेत्ता भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते ॥ ४८ ॥ जो पुरुष जगत्‌के विषयोंको सत्य समझता है, वह नासमझ अपने वास्तविक कल्याणको नहीं जानता । यही कारण है कि वह विषय चाहता है; परंतु यदि कोई जानकार उसे उसकी इच्छित वस्तु दे देता है, तो वह भी वैसा ही नासमझ है ॥ ४९ ॥ जो पुरुष मुक्तिका स्वरूप जानता है, वह अज्ञानीको भी कर्मोंमें फँसनेका उपदेश नहीं देता—जैसे रोगीके चाहते रहनेपर भी सद्वैद्य उसे कुपथ्य नहीं देता ॥ ५० ॥ देवराज इन्द्र ! तुमलोगोंका कल्याण हो । अब देर मत करो । ऋषिशिरोमणि दधीचिके पास जाओ और उनसे उनका शरीर—जो उपासना, व्रत तथा तपस्याके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गया है—माँग लो ॥ ५१ ॥ दधीचि ऋषिको शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान है । अश्विनीकुमारोंको घोड़ेके सिरसे उपदेश करनेके कारण उनका एक नाम 'अश्वशिर'* भी है । उनकी उपदेश

१. प्रा० पा०—तोऽपि भि० । २. प्रा० पा०—निष्कृतम् ।

* यह कथा इस प्रकार है—दधीचि ऋषिको प्रवर्ग्य (यज्ञकर्मविशेष) और ब्रह्मविद्याका उत्तम ज्ञान है—यह जानकर एक बार उनके पास अश्विनीकुमार आये और उनसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की । दधीचि मुनिने कहा—'इस समय मैं एक कार्यमें लगा हुआ हूँ, इसलिये फिर किसी समय आना ।' इसपर अश्विनीकुमार चले गये । उनके जाते ही इन्द्रने आकर कहा—'मुने ! अश्विनीकुमार वैद्य हैं, उन्हें तुम ब्रह्मविद्याका उपदेश मत करना । यदि तुम मेरी बात न मानकर उन्हें उपदेश करोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा ।' जब ऐसा कहकर इन्द्र चले गये, तब अश्विनीकुमारोंने आकर फिर वही प्रार्थना की । मुनिने इन्द्रका सब वृत्तान्त सुनाया । इसपर अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम पहले ही आपका यह सिर काटकर घोड़ेका सिर जोड़ देंगे । उससे आप हमें उपदेश करें और जब इन्द्र आपका घोड़ेका सिर काट देंगे, तब हम फिर असली सिर जोड़ देंगे ।' मुनिने मिथ्या भाषणके भयसे उनका कथन स्वीकार कर लिया । इस प्रकार अश्वमुखसे उपदेश की जानेके कारण ब्रह्मविद्याका नाम 'अश्वशिरा' पड़ा ।

यद् वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥५२॥

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।

विश्वरूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वमधास्ततः ।५३।

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति।

ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ।

येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥५४॥

तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।

भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान्॥५५॥

की हुई आत्मविद्याके प्रभावसे ही दोनों अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हो गये ॥ ५२ ॥ अथर्ववेदी दधीचि ऋषिने ही पहले-पहल मेरे स्वरूपभूत अभेद्य नारायणकवचका त्वष्टाको उपदेश किया था । त्वष्टाने वही विश्वरूपको दिया और विश्वरूपसे तुम्हें मिला ॥ ५३ ॥ दधीचि ऋषि धर्मके परम मर्मज्ञ हैं । वे तुमलोगोंको, अश्विनी-कुमारके माँगनेपर, अपने शरीरके अङ्ग अवश्य दे देंगे । इसके बाद विश्वकर्माके द्वारा उन अङ्गोंसे एक श्रेष्ठ आयुध तैयार करा लेना । देवराज ! मेरी शक्तिसे युक्त होकर तुम उसी शस्त्रके द्वारा वृत्रासुरका सिर काट लोगे ॥ ५४ ॥ देवताओ ! वृत्रासुरके मर जानेपर तुम-लोगोंको फिरसे तेज, अस्त्र-शस्त्र और सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जायँगी । तुम्हारा कल्याण अवश्यम्भावी है; क्योंकि मेरे शरणागतोंको कोई सता नहीं सकता ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

षष्ठस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

देवताओंद्वारा दधीचि ऋषिकी अस्थियोंसे वज्र-निर्माण और वृत्रासुरकी सेनापर आक्रमण

श्रीशुक[1] उवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः ।

पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥

तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान् ।

मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।

संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विश्वके जीवनदाता श्रीहरि इन्द्रको इस प्रकार आदेश देकर देवताओंके सामने वहीं-के-वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १ ॥ अब देवताओंने उदारशिरोमणि अथर्ववेदी दधीचि ऋषिके पास जाकर भगवान्‌के आज्ञानुसार याचना की । देवताओंकी याचना सुनकर दधीचि ऋषिको बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने हँसकर देवताओं-से कहा—॥ २ ॥ 'देवताओ ! आपलोगोंको सम्भवतः यह बात नहीं मालूम है कि मरते समय प्राणियोंको बड़ा कष्ट होता है । उन्हें जबतक चेत रहता है, बड़ी असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है और अन्तमें वे मूर्छित हो जाते हैं ॥ ३ ॥ जो जीव जगत्‌में जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिये शरीर बहुत ही अनमोल, प्रिय-

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः

किं नु तद् दुस्त्यजं ब्रह्मन् पुंसां भूतानुकम्पिनाम्।
भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥
ननु[1] स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥ ६ ॥

ऋषिरुवाच

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत[3] भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥
एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥१०॥

श्रीशुक[5] उवाच

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।

तम एवं अभीष्ट वस्तु है। ऐसी स्थितिमें स्वयं विष्णु-भगवान् भी यदि जीवसे उसका शरीर माँगें तो कौन उसे देनेका साहस करेगा? ॥ ४ ॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! आप-जैसे उदार और प्राणियोंपर दया करनेवाले महापुरुष, जिनके कर्मोंकी बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव भी प्रशंसा करते हैं, प्राणियोंकी भलाईके लिये कौन-सी वस्तु निछावर नहीं कर सकते ॥ ५ ॥ भगवन्! इसमें संदेह नहीं कि माँगनेवाले लोग स्वार्थी होते हैं। उनमें देनेवालोंकी कठिनाईका विचार करनेकी बुद्धि नहीं होती। यदि उनमें इतनी समझ होती तो वे माँगते ही क्यों? इसी प्रकार दाता भी माँगनेवालेकी विपत्ति नहीं जानता। अन्यथा उसके मुँहसे कदापि नाहीं न निकलती। (इसलिये आप हमारी विपत्ति समझकर हमारी याचना पूर्ण कीजिये।) ॥ ६ ॥

दधीचि ऋषिने कहा—देवताओ! मैंने आपलोगोंके मुँहसे धर्मकी बात सुननेके लिये ही आपकी माँगके प्रति उपेक्षा दिखलायी थी। यह लीजिये, मैं अपने प्यारे शरीरको आपलोगोंके लिये अभी छोड़े देता हूँ। क्योंकि एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है ॥ ७ ॥ देवशिरोमणियो! जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुखी प्राणियोंपर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है ॥ ८ ॥ बड़े-बड़े महात्माओंने इस अविनाशी धर्मकी उपासना की है। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी भी प्राणीके दुःखमें दुःखका अनुभव करे और सुखमें सुखका ॥ ९ ॥ जगत्‌के धन, जन और शरीर आदि पदार्थ क्षणभङ्गुर हैं। ये अपने किसी काम नहीं आते, अन्तमें दूसरोंके ही काम आयेंगे। ओह! यह कैसी कृपणता है, कितने दुःखकी बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इनके द्वारा दूसरोंका उपकार नहीं कर लेता ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अथर्ववेदी महर्षि दधीचिने ऐसा निश्चय करके अपनेको परब्रह्म

१. प्रा० पा०—साधूनां। २. प्रा० पा०—नूनं। ३. प्रा० पा०—इच्छेत। ४. प्रा० पा०—भ्यां न शोचति न हृष्यति। ५. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच।

परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥११॥

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग् ध्वस्तबन्धनः ।
आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥१२॥

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥१३॥

वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥१४॥

वृत्रमभ्यद्रवच्छेत्तुमसुरानीकयूथपैः ।
पर्यस्तमोजसा राजन् क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥१५॥

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः ।
त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे ॥१६॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः ।
मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥१७॥

दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।
नामृष्यन्नसुरा राजन् मृधे वृत्रपुरःसराः ॥१८॥

नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽम्बरः ।
हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥

पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः ।
दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥२०॥

सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः ।
प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥२१॥

अभ्यर्दयन्नसंभ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः ।
गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः ॥२२॥

परमात्मा श्रीभगवान्‌में लीन करके अपना स्थूल शरीर त्याग दिया ॥ ११ ॥ उनके इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि संयत थे, दृष्टि तत्त्वमयी थी, उनके सारे बन्धन कट चुके थे। अतः जब वे भगवान्‌से अत्यन्त युक्त होकर स्थित हो गये, तब उन्हें इस बातका पता ही न चला कि मेरा शरीर छूट गया ॥ १२ ॥

भगवान्‌की शक्ति पाकर इन्द्रका बल-पौरुष उन्नतिकी सीमापर पहुँच गया। अब विश्वकर्माजीने दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे वज्र बनाकर उन्हें दिया और वे उसे हाथमें लेकर ऐरावत हाथीपर सवार हुए। उनके साथ-साथ सभी देवतालोग तैयार हो गये। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि देवराज इन्द्रकी स्तुति करने लगे। अब उन्होंने त्रिलोकीको हर्षित करते हुए वृत्रासुरका वध करनेके लिये उसपर पूरी शक्ति लगाकर धावा बोल दिया—ठीक वैसे ही जैसे भगवान् रुद्र क्रोधित होकर स्वयं कालपर ही आक्रमण कर रहे हों। परीक्षित्! वृत्रासुर भी दैत्य-सेनापतियोंकी बहुत बड़ी सेनाके साथ मोर्चेपर डटा हुआ था ॥ १३—१५ ॥ जो वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है, इसकी पहली चतुर्युगीका त्रेतायुग अभी आरम्भ ही हुआ था। उसी समय नर्मदातटपर देवताओंका दैत्योंके साथ यह भयंकर संग्राम हुआ ॥ १६ ॥ उस समय देवराज इन्द्र हाथमें वज्र लेकर रुद्र, वसु, आदित्य, दोनों अश्विनीकुमार, पितृगण, अग्नि, मरुद्गण, ऋभुगण, साध्यगण और विश्वेदेव आदिके साथ अपनी कान्तिसे शोभायमान हो रहे थे। वृत्रासुर आदि दैत्य उनको अपने सामने आया देख और भी चिढ़ गये ॥ १७-१८ ॥ तब नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति, उत्कल, सुमाली, माली आदि हजारों दैत्य-दानव एवं यक्ष-राक्षस स्वर्णके साज-सामानसे सुसज्जित होकर देवराज इन्द्रकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोकने लगे। परीक्षित्! उस समय देवताओंकी सेना स्वयं मृत्युके लिये भी अजेय थी ॥ १९—२१ ॥ वे घमंडी असुर सिंहनाद करते हुए बड़ी सावधानीसे देवसेनापर प्रहार करने लगे। उन लोगोंने गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर, तोमर,

१. प्रा० पा०—कटः। २. प्रा० पा०—प्रासतोमरमुद्गरैः।

शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः ।
सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥२३॥
न तेऽदृश्यन्त संछन्नाः शरजालैः समन्ततः ।
पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः ॥२४॥
न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् ।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥२५॥
अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।
अभ्यवर्षन् सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥२६॥

शूल, फरसे, तलवार, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछारसे देवताओंको सब ओरसे ढक दिया ॥ २२-२३॥ एक-पर-एक इतने बाण चारों ओरसे आ रहे थे कि उनसे ढक जानेके कारण देवता दिखलायी भी नहीं पड़ते थे—जैसे बादलोंसे ढक जानेपर आकाशके तारे नहीं दिखायी देते॥ २४ ॥ परीक्षित् ! वह शस्त्रों और अस्त्रोंकी वर्षा देवसैनिकोंको छूतक न सकी । उन्होंने अपने हस्त-लाघवसे आकाशमें ही उनके हजार-हजार टुकड़े कर दिये ॥ २५ ॥ जब असुरोंके अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गये, तब वे देवताओंकी सेनापर पर्वतोंके शिखर, वृक्ष और पत्थर बरसाने लगे । परंतु देवताओंने उन्हें पहलेकी ही भाँति काट गिराया ॥ २६ ॥

तानक्षतान् स्वस्तिमतो निशाम्य
शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गै-
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥२७॥
सर्वे प्रयासा अभवन् विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता रुशती रूक्षवाचः ॥२८॥
ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥२९॥
वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान् मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥३०॥
कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विना-
मुवाच वाचं पुरुषप्रवीरः ।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वञ्छम्बर मे शृणुध्वम् ॥३१॥
जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता[1] ।

परीक्षित् ! जब वृत्रासुरके अनुयायी असुरोंने देखा कि उनके असंख्य अस्त्र-शस्त्र भी देव-सेनाका कुछ न बिगाड़ सके—यहाँतक कि वृक्षों, चट्टानों और पहाड़ोंके बड़े-बड़े शिखरोंसे भी उनके शरीरपर खरोंचतक नहीं आयी; सब-के-सब सकुशल हैं—तब तो वे बहुत डर गये । दैत्यलोग देवताओंको पराजित करनेके लिये जो-जो प्रयत्न करते, वे सब-के-सब निष्फल हो जाते—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित भक्तोंपर क्षुद्र मनुष्योंके कठोर और अमङ्गलमय दुर्वचनोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥ २७-२८ ॥ भगवद्विमुख असुर अपना प्रयत्न व्यर्थ देखकर उत्साहरहित हो गये । उनका वीरता-का घमंड जाता रहा । अब वे अपने सरदार वृत्रासुरको युद्धभूमिमें ही छोड़कर भाग खड़े हुए; क्योंकि देवताओंने उनका सारा बल-पौरुष छीन लिया था ॥ २९ ॥ जब धीर-वीर वृत्रासुरने देखा कि मेरे अनुयायी असुर भाग रहे हैं और अत्यन्त भयभीत होकर मेरी सेना भी तहस-नहस और तितर-बितर हो रही है, तब वह हँसकर कहने लगा ॥ ३० ॥ वीरशिरोमणि वृत्रासुरने समया-नुसार वीरोचित वाणीसे विप्रचित्ति, नमुचि, पुलोमा, मय, अनर्वा, शम्बर आदि दैत्योंको सम्बोधित करके कहा—असुरो ! भागो मत, मेरी एक बात सुन लो ॥ ३१ ॥ इसमें संदेह नहीं कि जो पैदा हुआ है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा । इस जगत्में विधाताने मृत्यु-

१. प्रा० पा०—कल्प्यते ।

लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥३२॥
द्वौ संमताविह मृत्यू दुरापौ
यद् ब्रह्मसंधारणया जितासुः ।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥३३॥

से बचनेका कोई उपाय नहीं बताया है । ऐसी स्थितिमें यदि मृत्युके द्वारा स्वर्गादि लोक और सुयश भी मिल रहा हो तो ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो उस उत्तम मृत्युको न अपनायेगा ॥ ३२ ॥ संसारमें दो प्रकारकी मृत्यु परम दुर्लभ और श्रेष्ठ मानी गयी है—एक तो योगी पुरुषका अपने प्राणोंको वशमें करके ब्रह्मचिन्तनके द्वारा शरीरका परित्याग और दूसरा युद्धभूमिमें सेनाके आगे रहकर बिना पीठ दिखाये जूझ मरना (तुमलोग भला, ऐसा शुभ अवसर क्यों खो रहे हो) ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे इन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

वृत्रासुरकी वीरवाणी और भगवत्प्राप्ति

श्रीशुक उवाच

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः ।
नैवागृह्णन् भयत्रस्ताः पलायनपरा नृप ॥ १ ॥
विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः ।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत् ॥ २ ॥
दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः ।
तान् निवार्यौजसा राजन् निर्भर्त्स्येदमुवाच ह ॥३॥
किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः ।
न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम् ॥४॥
यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि ।
अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद् ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! असुरसेना भयभीत होकर भाग रही थी । उसके सैनिक इतने अचेत हो रहे थे कि उन्होंने अपने स्वामीके धर्मानुकूल वचनोंपर भी ध्यान न दिया ॥ १ ॥ वृत्रासुरने देखा कि समयकी अनुकूलताके कारण देवतालोग असुरोंकी सेनाको खदेड़ रहे हैं और वह इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो रही है, मानो बिना नायककी हो ॥ २ ॥ राजन् ! यह देखकर वृत्रासुर असहिष्णुता और क्रोधके मारे तिलमिला उठा । उसने बलपूर्वक देवसेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया और उन्हें डाँटकर ललकारते हुए कहा ॥ ३ ॥ 'क्षुद्र देवताओ ! रणभूमिमें पीठ दिखानेवाले कायर असुरोंपर पीछेसे प्रहार करनेमें क्या लाभ है । ये लोग तो अपने मा-बापके मल-मूत्र हैं । परंतु अपनेको शूरवीर माननेवाले तुम्हारे-जैसे पुरुषोंके लिये भी तो डरपोकोंको मारना कोई प्रशंसाकी बात नहीं है और न इससे तुम्हें स्वर्ग ही मिल सकता है ॥ ४ ॥ यदि तुम्हारे मनमें युद्ध करनेकी शक्ति और उत्साह है तथा अब जीवित रहकर विषय-सुख भोगनेकी लालसा नहीं है, तो क्षणभर मेरे सामने डट जाओ और युद्धका मजा चख लो' ॥ ५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'तान्निवार्यौजसा'……से लेकर '……क्षुल्लका हृदि' तकका पाठ मूलमें छूट गया है ।

एवं सुरगणान् क्रुद्धो भीषयन् वपुषा रिपून् ।
व्यनदत् सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥ ६ ॥
तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै ।
निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥ ७ ॥
ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः ।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥ ८ ॥
विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम् ।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया ॥ ९ ॥
स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोग्रविक्रमः ।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन् मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप ॥१०॥
ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा ।
अपासरद् भिन्नमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक् सप्तधनुर्भृशार्तः ॥११॥
न सप्तवाहाय विषण्णचेतसे
प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा ।
इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श-
वीतव्यथक्षतवाहो[2]ऽवतस्थे ॥१२॥
स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य ।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसञ्जगाद ॥१३॥

वृत्र उवाच

दिष्ट्या भवान् मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च ।

परीक्षित् ! वृत्रासुर बड़ा बली था । वह अपने डील-डौलसे ही शत्रु देवताओंको भयभीत करने लगा । उसने क्रोधमें भरकर इतने जोरका सिंहनाद किया कि बहुत-से लोग तो उसे सुनकर ही अचेत हो गये ॥ ६ ॥ वृत्रासुरकी भयानक गर्जनासे सब-के-सब देवता मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो उनपर बिजली गिर गयी हो ॥ ७ ॥ अब जैसे मदोन्मत्त गजराज नरकटका वन रौंद डालता है, वैसे ही रणबाँकुरा वृत्रासुर हाथमें त्रिशूल लेकर भयसे नेत्र बंद किये पड़ी हुई देवसेनाको पैरोंसे कुचलने लगा । उसके वेगसे धरती डगमगाने लगी ॥ ८ ॥ वज्रपाणि देवराज इन्द्र उसकी यह करतूत सह न सके । जब वह उनकी ओर झपटा, तब उन्होंने और भी चिढ़कर अपने शत्रुपर एक बहुत बड़ी गदा चलायी । अभी वह असह्य गदा वृत्रासुरके पास पहुँची भी न थी कि उसने खेल-ही-खेलमें बायें हाथसे उसे पकड़ लिया॥९॥ राजन् ! परम पराक्रमी वृत्रासुरने क्रोधसे आग-बबूला होकर उसी गदासे इन्द्रके वाहन ऐरावतके सिरपर बड़े जोरसे गरजते हुए प्रहार किया । उसके इस कार्यकी सभी लोग बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥ वृत्रासुरकी गदाके आघातसे ऐरावत हाथी वज्राहत पर्वतके समान तिलमिला उठा । सिर फट जानेसे वह अत्यन्त व्याकुल हो गया और खून उगलता हुआ इन्द्रको लिये हुए ही अट्ठाईस हाथ पीछे हट गया ॥ ११ ॥ देवराज इन्द्र अपने वाहन ऐरावतके मूर्च्छित हो जानेसे स्वयं भी विषादग्रस्त हो गये । यह देखकर युद्धधर्मके मर्मज्ञ वृत्रासुरने उनके ऊपर फिरसे गदा नहीं चलायी । तबतक इन्द्रने अपने अमृतस्रावी हाथके स्पर्शसे घायल ऐरावतकी व्यथा मिटा दी और वे फिर रणभूमिमें आ डटे ॥ १२ ॥ परीक्षित् ! जब वृत्रासुरने देखा कि मेरे भाई विश्वरूपका वध करनेवाला शत्रु इन्द्र युद्धके लिये हाथमें वज्र लेकर फिर सामने आ गया है, तब उसे उनके उस क्रूर पापकर्मका स्मरण हो आया और वह शोक और मोहसे युक्त हो हँसता हुआ उनसे कहने लगा ॥ १३ ॥

वृत्रासुर बोला—आज मेरे लिये बड़े सौभाग्यका दिन है कि तुम्हारे-जैसा शत्रु—जिसने विश्वरूपके रूपमें

१. प्रा० पा०—मर्षादीषद्व्यथः क्ष० । २. प्रा० पा०—होऽभितस्थे ।

दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्‌दृधृदाचिरात् ॥१४॥
यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
र्गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥१५॥
ह्रीश्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः ॥१६॥
अन्येऽनु[1] ये त्वेह नृशंसमज्ञा
ये ह्युद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम्।
तैर्भूतनाथान् सगणान् निशात-
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥१७॥
अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये ॥१८॥
सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम्।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रं
स्यान्निष्फलं कृपणार्थेव याच्ञा ॥१९॥
नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः ॥२०॥

ब्राह्मण, अपने गुरु एवं मेरे भाईकी हत्या की है—मेरे सामने खड़ा है। अरे दुष्ट! अब शीघ्र-से-शीघ्र मैं तेरे पत्थरके समान कठोर हृदयको अपने शूलसे विदीर्ण करके भाईसे उऋण होऊँगा। अहा! यह मेरे लिये कैसे आनन्दकी बात होगी ॥ १४ ॥ इन्द्र! तूने मेरे आत्मवेत्ता और निष्पाप बड़े भाईके, जो ब्राह्मण होनेके साथ ही यज्ञमें दीक्षित और तुम्हारा गुरु था, विश्वास दिलाकर तलवारसे तीनों सिर उतार लिये—ठीक वैसे ही जैसे स्वर्गकामी निर्दय मनुष्य यज्ञमें पशुका सिर काट डालता है ॥ १५ ॥ दया, लज्जा, लक्ष्मी और कीर्ति तुझे छोड़ चुकी हैं। तूने ऐसे-ऐसे नीच कर्म किये हैं, जिनकी निन्दा मनुष्योंकी तो बात ही क्या—राक्षसतक करते हैं। आज मेरे त्रिशूलसे तेरा शरीर टूक-टूक हो जायगा। बड़े कष्टसे तेरी मृत्यु होगी। तेरे-जैसे पापीको आग भी नहीं जलायेगी, तुझे तो गीध नोंच-नोंचकर खायेंगे ॥ १६ ॥ ये अज्ञानी देवता तेरे-जैसे नीच और क्रूरके अनुयायी बनकर मुझपर शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे हैं। मैं अपने तीखे त्रिशूलसे उनकी गर्दन काट डालूँगा और उनके द्वारा गणोंके सहित भैरवादि भूतनाथोंको बलि चढ़ाऊँगा ॥ १७ ॥ वीर इन्द्र! यह भी सम्भव है कि तू मेरी सेनाको छिन्न-भिन्न करके अपने वज्रसे मेरा सिर काट ले। तब तो मैं अपने शरीरकी बलि पशु-पक्षियोंको समर्पित करके, कर्मबन्धनसे मुक्त हो महापुरुषोंकी चरण-रजका आश्रय ग्रहण करूँगा—जिस लोकमें महापुरुष जाते हैं, वहाँ पहुँच जाऊँगा ॥ १८ ॥ देवराज! मैं तेरे सामने खड़ा हूँ, तेरा शत्रु हूँ; अब तू मुझपर अपना अमोघ वज्र क्यों नहीं छोड़ता? तू यह संदेह न कर कि जैसे तेरी गदा निष्फल हो गयी, कृपण पुरुषसे की हुई याचनाके समान यह वज्र भी वैसे ही निष्फल हो जायगा ॥ १९ ॥ इन्द्र! तेरा यह वज्र श्रीहरिके तेज और दधीचि ऋषिकी तपस्यासे शक्तिमान् हो रहा है। विष्णुभगवान्‌ने मुझे मारनेके लिये तुझे आज्ञा भी दी है। इसलिये अब तू उसी वज्रसे मुझे मार डाल। क्योंकि जिस पक्षमें भगवान् श्रीहरि हैं, उधर ही विजय, लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—अन्ये च।

अहं समाधाय मनो यथाऽऽह
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेयाम्यपविद्धलोकः ॥२१॥
पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम् ।
न राति यद् द्वेष उद्वेग आधि-
र्मदः कलिर्व्यसनं संप्रयासः ॥२२॥
त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥२३॥
अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥२४॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२५॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥२६॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।

देवराज ! भगवान् सङ्कर्षणके आज्ञानुसार मैं अपने मनको उनके चरणकमलोंमें लीन कर दूँगा । तेरे वज्रका वेग मुझे नहीं, मेरे विषयभोगरूप फंदेको काट डालेगा और मैं शरीर त्यागकर मुनिजनोचित गति प्राप्त करूँगा ॥२१॥ जो पुरुष भगवान्‌से अनन्य प्रेम करते हैं— उनके निजजन हैं—उन्हें वे स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातलकी सम्पत्तियाँ नहीं देते । क्योंकि उनसे परमानन्दकी उपलब्धि तो होती ही नहीं; उल्टे द्वेष, उद्वेग, अभिमान, मानसिक पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते हैं ॥ २२ ॥ इन्द्र ! हमारे स्वामी अपने भक्तके अर्थ, धर्म एवं कामसम्बन्धी प्रयासको व्यर्थ कर दिया करते हैं और सच पूछो तो इसीसे भगवान्‌की कृपाका अनुमान होता है । क्योंकि उनका ऐसा कृपा-प्रसाद अकिंचन भक्तोंके लिये ही अनुभवगम्य है, दूसरोंके लिये तो अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ २३ ॥

(भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—) 'प्रभो ! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि अनन्यभावसे आपके चरणकमलोंके आश्रित सेवकोंकी सेवा करनेका अवसर मुझे अगले जन्ममें भी प्राप्त हो । प्राणवल्लभ ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हींका गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही संलग्न रहे ॥ २४ ॥ सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता ॥ २५ ॥ जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माकी बाट जोहते रहते हैं । जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है ॥ २६ ॥ प्रभो ! मैं मुक्ति नहीं चाहता । मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी परवा नहीं । परंतु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजनोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे । स्वामिन् ! मैं केवल यही चाहता

१. प्रा० पा०—अतो ।

त्वन्मायया ऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ २७ ॥

हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे वृत्रस्येन्द्रोपदेशो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध

ऋषिरुवाच

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत् सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥
ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः ।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥
ख आपतत् तद् विचलद् ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः ।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३ ॥
छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम् ।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं[2]
वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः ॥ ४ ॥
वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत् पुरुहूतसंकटं
निरीक्ष्य हा हेति विचुक्रुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥
इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! वृत्रासुर रणभूमिमें अपना शरीर छोड़ना चाहता था, क्योंकि उसके विचारसे इन्द्रपर विजय प्राप्त करके स्वर्ग पानेकी अपेक्षा मरकर भगवान्‌को प्राप्त करना श्रेष्ठ था । इसलिये जैसे प्रलयकालीन जलमें कैटभासुर भगवान् विष्णुपर चोट करनेके लिये दौड़ा था, वैसे ही वह भी त्रिशूल उठाकर इन्द्रपर टूट पड़ा ॥ १ ॥ वीर वृत्रासुरने प्रलयकालीन अग्निकी लपटोंके समान तीखी नोकोंवाले त्रिशूलको घुमाकर बड़े वेगसे इन्द्रपर चलाया और अत्यन्त क्रोधसे सिंहनाद करके बोला—'पापी इन्द्र ! अब तू बच नहीं सकता' ॥ २ ॥ इन्द्रने यह देखकर कि वह भयंकर त्रिशूल ग्रह और उल्काके समान चक्कर काटता हुआ आकाशमें आ रहा है, किसी प्रकारकी अधीरता नहीं प्रकट की और उस त्रिशूलके साथ ही वासुकि नागके समान वृत्रासुरकी विशाल भुजा अपने सौ गाँठोंवाले वज्रसे काट डाली ॥ ३ ॥ एक बाँह कट जानेपर वृत्रासुरको बहुत क्रोध हुआ । उसने वज्रधारी इन्द्रके पास जाकर उनकी ठोड़ीमें और गजराज ऐरावतपर परिघसे ऐसा प्रहार किया कि उनके हाथसे वह वज्र गिर पड़ा ॥ ४ ॥

वृत्रासुरके इस अत्यन्त अलौकिक कार्यको देखकर देवता, असुर, चारण, सिद्धगण आदि सभी प्रशंसा करने लगे । परंतु इन्द्रका संकट देखकर वे ही लोग बार-बार 'हाय-हाय !' कहकर चिल्लाने लगे ॥५॥ परीक्षित् ! वह वज्र इन्द्रके हाथसे छूटकर वृत्रासुरके पास ही जा पड़ा था । इसलिये लज्जित होकर इन्द्रने उसे फिर नहीं

१. प्रा० पा०—चित्तेषु । २. प्रा० पा०—रेभं वज्रश्च हस्तादपत० ।

तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥
युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७ ॥
लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥ ८ ॥
ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥ ९ ॥
यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥१०॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः ।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥११॥
अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् ।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥१२॥
आयुः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः ।
भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः ॥१३॥
तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।
समः स्यात् सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा ॥१४॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।

उठाया। तब वृत्रासुरने कहा—'इन्द्र! तुम वज्र उठाकर अपने शत्रुको मार डालो। यह विषाद करनेका समय नहीं है ॥ ६ ॥ (देखो—) सर्वज्ञ, सनातन, आदि-पुरुष भगवान् ही जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ हैं। उनके अतिरिक्त, देहाभिमानी और युद्धके लिये उत्सुक आततायियोंको सर्वदा जय ही नहीं मिलती। वे कभी जीतते हैं तो कभी हारते हैं ॥७॥ ये सब लोक और लोकपाल जालमें फँसे हुए पक्षियोंकी भाँति जिसकी अधीनतामें विवश होकर चेष्टा करते हैं, वह काल ही सबकी जय-पराजयका कारण है ॥ ८ ॥ वही काल मनुष्यके मनोबल, इन्द्रियबल, शरीरबल, प्राण, जीवन और मृत्युके रूपमें स्थित है। मनुष्य उसे न जानकर जड-शरीरको ही जय-पराजय आदिका कारण समझता है ॥ ९ ॥ इन्द्र! जैसे काठकी पुतली और यन्त्रका हरिण नचानेवालेके हाथमें होते हैं, वैसे ही तुम समस्त प्राणियोंको भगवान्‌के अधीन समझो ॥१०॥ भगवान्‌के कृपा-प्रसादके बिना पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणचतुष्टय—ये कोई भी इस विश्वकी उत्पत्ति आदि करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ११ ॥ जिसे इस बातका पता नहीं है कि भगवान् ही सबका नियन्त्रण करते हैं, वही इस परतन्त्र जीवको स्वतन्त्र कर्ता-भोक्ता मान बैठता है। वस्तुतः स्वयं भगवान् ही प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंकी रचना और उन्हींके द्वारा उनका संहार करते हैं ॥ १२ ॥ जिस प्रकार इच्छा न होनेपर भी समय विपरीत होनेसे मनुष्य-को मृत्यु और अपयश आदि प्राप्त होते हैं—वैसे ही समयकी अनुकूलता होनेपर इच्छा न होनेपर भी उसे आयु, लक्ष्मी, यश और ऐश्वर्य आदि भोग भी मिल जाते हैं ॥ १३ ॥ इसलिये यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुःख, जीवन-मरण—इनमेंसे किसी एककी इच्छा-अनिच्छा न रखकर सभी परिस्थितियोंमें समभावसे रहना चाहिये—हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥ सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं; अतः जो पुरुष आत्माको

१. प्रा० पा०—स्मभू०। २. प्रा० पा०—वै।

तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद न स बध्यते ॥१५॥
पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे ।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥१६॥
प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः ।
अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् ।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः ॥१८॥

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।
भक्तः सर्वात्मनाऽऽत्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥१९॥
भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् ।
यद् विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥२०॥
खल्विदं महदाश्चर्यं यद् रजःप्रकृतेस्तव ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥२१॥
यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती ॥२३॥
आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः ।

उनका साक्षीमात्र जानता है, वह उनके गुण-दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ १५ ॥ देवराज इन्द्र ! मुझे भी तो देखो; तुमने मेरा हाथ और शस्त्र काटकर एक प्रकारसे मुझे परास्त कर दिया है, फिर भी मैं तुम्हारे प्राण लेनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न कर ही रहा हूँ ॥ १६ ॥ यह युद्ध क्या है, एक जूएका खेल । इसमें प्राणकी बाजी लगती है, बाणोंके पासे डाले जाते हैं और वाहन ही चौसर हैं । इसमें पहलेसे यह बात नहीं मालूम होती कि कौन जीतेगा और कौन हारेगा ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वृत्रासुरके ये सत्य एवं निष्कपट वचन सुनकर इन्द्रने उनका आदर किया और अपना वज्र उठा लिया । इसके बाद बिना किसी प्रकारका आश्चर्य किये मुसकराते हुए वे कहने लगे—॥ १८ ॥

देवराज इन्द्रने कहा—अहो दानवराज ! सचमुच तुम सिद्ध पुरुष हो । तभी तो तुम्हारा धैर्य, निश्चय और भगवद्भाव इतना विलक्षण है। तुमने समस्त प्राणियोंके सुहृद् आत्मस्वरूप जगदीश्वरकी अनन्य भावसे भक्ति की है ॥ १९ ॥ अवश्य ही तुम लोगोंको मोहित करनेवाली भगवान्‌की मायाको पार कर गये हो । तभी तो तुम असुरोचित भाव छोड़कर महापुरुष हो गये हो ॥ २० ॥ अवश्य ही यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुम रजोगुणी प्रकृतिके हो, तो भी विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान् वासुदेवमें तुम्हारी बुद्धि दृढ़तासे लगी हुई है ॥ २१ ॥ जो परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें प्रेममय भक्तिभाव रखता है, उसे जगत्‌के भोगोंकी क्या आवश्यकता है । जो अमृतके समुद्रमें विहार कर रहा है, उसे क्षुद्र गढ़ोंके जलसे प्रयोजन ही क्या हो सकता है ॥ २२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार योद्धाओंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी देवराज इन्द्र और वृत्रासुर धर्मका तत्त्व जाननेकी अभिलाषासे एक दूसरेके साथ बातचीत करते हुए आपसमें युद्ध करने लगे ॥ २३ ॥ राजन् ! अब शत्रुसूदन वृत्रासुरने बायें हाथसे फौलादका बना

१. प्रा० पा०—र्षीयन्मायां वैष्णवीं । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

इन्द्राय प्राहिणोद् घोरं वामहस्तेन मारिष ॥२४॥
स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।
चिच्छेद युगपद् देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥२५॥
दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद् भ्रष्टो वज्रिणा हतः ।२६।
कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥२७॥
दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् ।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥२८॥
गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन् महीम् ।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥२९॥
महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम् ।
वृत्रग्रस्तं तमालक्ष्य[1] सप्रजापतयः सुराः ।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः ॥३०॥
निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः ।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥३१॥
भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद् विभुः ।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥३२॥
वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन् समन्तात् परिवर्तमानः ।
न्यपातयत् तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥३३॥
तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।

हुआ एक बहुत भयावना परिघ उठाकर आकाशमें घुमाया और उससे इन्द्रपर प्रहार किया ॥ २४ ॥ किंतु देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वह परिघ तथा हाथीकी सूँड़के समान लंबी भुजा अपने सौ गाँठोंवाले वज्रसे एक साथ ही काट गिरायी ॥ २५ ॥ जड़से दोनों भुजाओंके कट जानेपर वृत्रासुरके बायें और दायें दोनों कंधोंसे खूनकी धारा बहने लगी । उस समय वह ऐसा जान पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रकी चोटसे पंख कट जानेपर कोई पर्वत ही आकाशसे गिरा हो ॥ २६ ॥ अब पैरोंसे चलने-फिरनेवाले पर्वतराजके समान अत्यन्त दीर्घकाय वृत्रासुरने अपनी ठोड़ीको धरतीसे और ऊपरके होठको स्वर्गसे लगाया तथा आकाशके समान गहरे मुँह, साँपके समान भयावनी जीभ एवं मृत्युके समान कराल दाढ़ोंसे मानो त्रिलोकीको निगलता, अपने पैरोंकी चोटसे पृथ्वीको रौंदता और प्रबल वेगसे पर्वतोंको उलटता-पलटता वह इन्द्रके पास आया और उन्हें उनके वाहन ऐरावत हाथीके सहित इस प्रकार लील गया, जैसे कोई परम पराक्रमी और अत्यन्त बलवान् अजगर हाथीको निगल जाय । प्रजापतियों और महर्षियोंके साथ देवताओंने जब देखा कि वृत्रासुर इन्द्रको निगल गया, तब तो वे अत्यन्त दुखी हो गये, तथा 'हाय-हाय ! बड़ा अनर्थ हो गया ।' यों कहकर विलाप करने लगे ॥ २७—३० ॥ बल दैत्यका संहार करनेवाले देवराज इन्द्रने महापुरुष-विद्या (नारायणकवच) से अपनेको सुरक्षित कर रक्खा था और उनके पास योगमायाका बल था ही । इसलिये वृत्रासुरके निगल लेनेपर—उसके पेटमें पहुँचकर भी वे मरे नहीं ॥ ३१ ॥ उन्होंने अपने वज्रसे उसकी कोख फाड़ डाली और उसके पेटसे निकलकर बड़े वेगसे उसका पर्वत-शिखरके समान ऊँचा सिर काट डाला ॥३२॥ सूर्यादि ग्रहोंकी उत्तरायण-दक्षिणायनरूप गतिमें जितना समय लगता है, उतने दिनोंमें अर्थात् एक वर्षमें वृत्र-वधका योग उपस्थित होनेपर घूमते हुए उस तीव्र वेगशाली वज्रने उसकी गर्दनको सब ओरसे काटकर भूमिपर गिरा दिया ॥ ३३ ॥ उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं । महर्षियोंके साथ गन्धर्व, सिद्ध आदि

१. प्रा० पा०—समालक्ष्य ।

वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥३४॥
वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम ।
पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत ॥३५॥

वृत्रघाती इन्द्रका पराक्रम सूचित करनेवाले मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके बड़े आनन्दके साथ उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३४ ॥ शत्रुदमन परीक्षित् ! उस समय वृत्रासुरके शरीरसे उसकी आत्मज्योति बाहर निकली और इन्द्र आदि सब लोगोंके देखते-देखते सर्वलोकातीत भगवान्‌के स्वरूपमें लीन हो गयी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे
वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

इन्द्रपर ब्रह्महत्याका आक्रमण

श्रीशुक[1] उवाच

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद ।
सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥ १ ॥
देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः[2] स्वयम् ।
प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः ॥ २ ॥

राजोवाच

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने ।
येनासन् सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

श्रीशुक[3] उवाच

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः ।
तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद् भीतो बृहद्वधात् ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

स्त्रीभूजलद्रुमैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम् ।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व माज्म्र्यहम्[4] ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महादानी परीक्षित् ! वृत्रासुरकी मृत्युसे इन्द्रके अतिरिक्त तीनों लोक और लोकपाल तत्क्षण परम प्रसन्न हो गये । उनका भय, उनकी चिन्ता जाती रही ॥ १ ॥ युद्ध समाप्त होनेपर देवता, ऋषि, पितर, भूत, दैत्य और देवताओंके अनुचर गन्धर्व आदि इन्द्रसे बिना पूछे ही अपने-अपने लोकको लौट गये । इसके पश्चात् ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि भी चले गये ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! मैं देवराज इन्द्रकी अप्रसन्नताका कारण सुनना चाहता हूँ । जब वृत्रासुरके वधसे सभी देवता सुखी हुए, तब इन्द्रको दुःख होनेका क्या कारण था ? ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जब वृत्रासुरके पराक्रमसे सभी देवता और ऋषि-महर्षि अत्यन्त भयभीत हो गये, तब उन लोगोंने उसके वधके लिये इन्द्रसे प्रार्थना की; परंतु वे ब्रह्महत्याके भयसे उसे मारना नहीं चाहते थे ॥ ४ ॥

देवराज इन्द्रने उन लोगोंसे कहा—देवताओ और ऋषियो ! मुझे विश्वरूपके वधसे जो ब्रह्महत्या लगी थी, उसे तो स्त्री, पृथ्वी, जल और वृक्षोंने कृपा करके बाँट लिया । अब यदि मैं वृत्रका वध करूँ तो उसकी हत्यासे मेरा छुटकारा कैसे होगा ? ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—नुगाश्च ये । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ४. प्राचीन प्रतिमें यह उत्तरार्ध इस प्रकार है—गृहीतं मे महाभागाः कथं श्रेयोऽधुना भवेत् ।

श्रीशुक उवाच

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन्।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः ॥ ६ ॥
हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम्।
इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥
ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात् ॥८॥
तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन।
हत्वापि सब्रह्म चराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम्।
ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥१०॥
तयेन्द्रः[1] स्मासहत् तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत्।
ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः ॥११॥
तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम्।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥१२॥
विकीर्य पलितान् केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम्।
मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥१३॥
नभो गतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशाम्पते।
प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥१४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवराज इन्द्रकी बात सुन कर ऋषियोंने उनसे कहा—'देवराज ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम तनिक भी भय मत करो; क्योंकि हम अश्वमेध यज्ञ कराकर तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त कर देंगे ॥ ६ ॥ अश्वमेध यज्ञके द्वारा सबके अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा नारायणदेवकी आराधना करके तुम सम्पूर्ण जगत्का वध करनेके पापसे भी मुक्त हो सकोगे; फिर वृत्रासुरके वधकी तो बात ही क्या है ॥ ७ ॥ देवराज ! भगवान्के नाम-कीर्तनमात्रसे ही ब्राह्मण, पिता, गौ, माता, आचार्य आदिकी हत्या करनेवाले महापापी, कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डाल और कसाई भी शुद्ध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ हमलोग 'अश्वमेध' नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे। उसके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्की आराधना करके तुम ब्रह्मापर्यन्त समस्त चराचर जगत्की हत्याके भी पापसे लिप्त नहीं होगे। फिर इस दुष्टको दण्ड देनेके पापसे छूटनेकी तो बात ही क्या है ?' ॥९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार ब्राह्मणोंसे प्रेरणा प्राप्त करके देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था। अब उसके मारे जानेपर ब्रह्महत्या इन्द्रके पास आयी ॥ १० ॥ उसके कारण इन्द्रको बड़ा क्लेश, बड़ी जलन सहनी पड़ी। उन्हें एक क्षणके लिये भी चैन नहीं पड़ता था। सच है, जब किसी सङ्कोची सज्जनपर कलङ्क लग जाता है, तब उसके धैर्य आदि गुण भी उसे सुखी नहीं कर पाते ॥ ११ ॥ देवराज इन्द्रने देखा कि ब्रह्महत्या साक्षात् चाण्डालीके समान उनके पीछे-पीछे दौड़ी आ रही है। बुढ़ापेके कारण उसके सारे अङ्ग काँप रहे हैं और क्षयरोग उसे सता रहा है। उसके सारे वस्त्र खूनसे लथपथ हो रहे हैं ॥ १२ ॥ वह अपने सफेद-सफेद बालोंको बिखेरे 'ठहर जा ! ठहर जा !!' इस प्रकार चिल्लाती आ रही है। उसके श्वासके साथ मछलीकी-सी दुर्गन्ध आ रही है, जिसके कारण मार्ग भी दूषित होता जा रहा है ॥ १३ ॥ राजन् ! देवराज इन्द्र उसके भयसे दिशाओं और आकाशमें भागते फिरे। अन्तमें कहीं भी शरण न मिलनेके कारण उन्होंने पूर्व और उत्तरके कोनेमें स्थित मानसरोवरमें शीघ्रतासे प्रवेश किया ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—अथेन्द्रः।

स आवसत्पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः ।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः[1]
स चिन्तयन् ब्रह्मवधाद् विमोक्षम् ॥१५॥
तावत्त्रिणाकं[2] नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥१६॥
ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥१७॥
तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत ।
यथावद्दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥१८॥
अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि ।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥१९॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पाँपचयो नृप[3] ।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥२०॥
स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥२१॥
इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम् ।

देवराज इन्द्र मानसरोवरके कमलनालके तन्तुओंमें एक हजार वर्षोंतक छिपकर निवास करते रहे और सोचते रहे कि ब्रह्महत्यासे मेरा छुटकारा कैसे होगा । इतने दिनोंतक उन्हें भोजनके लिये किसी प्रकारकी सामग्री न मिल सकी; क्योंकि वे अग्निदेवताके मुखसे भोजन करते हैं और अग्निदेवता जलके भीतर कमल-तन्तुओंमें नहीं जा सकते थे ॥ १५ ॥ जबतक देवराज इन्द्र कमल-तन्तुओंमें रहे, तबतक अपनी विद्या, तपस्या और योगबलके प्रभावसे राजा नहुष स्वर्गका शासन करते रहे । परंतु जब उन्होंने सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे अंधे होकर इन्द्रपत्नी शचीके साथ अनाचार करना चाहा, तब शचीने उनसे ऋषियोंका अपराध करवाकर उन्हें शाप दिला दिया—जिससे वे साँप हो गये ॥१६॥ तदनन्तर जब सत्यके परम पोषक भगवान्‌का ध्यान करनेसे इन्द्रके पाप नष्टप्राय हो गये, तब ब्राह्मणोंके बुलवानेपर वे पुनः स्वर्गलोकमें गये । कमलवनविहारिणी विष्णुपत्नी लक्ष्मीजी इन्द्रकी रक्षा कर रही थीं और पूर्वोत्तर दिशाके अधिपति रुद्रने पापको पहले ही निस्तेज कर दिया था, जिससे वह इन्द्रपर आक्रमण नहीं कर सका ॥ १७ ॥

परीक्षित् ! इन्द्रके स्वर्गमें आ जानेपर ब्रह्मर्षियोंने वहाँ आकर भगवान्‌की आराधनाके लिये इन्द्रको अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा दी, उनसे अश्वमेध यज्ञ कराया ॥ १८ ॥ जब वेदवादी ऋषियोंने उनसे अश्वमेध यज्ञ कराया तथा देवराज इन्द्रने उस यज्ञके द्वारा सर्वदेवस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना की, तब भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे वृत्रासुरके वधकी वह बहुत बड़ी पापराशि इस प्रकार भस्म हो गयी, जैसे सूर्योदयसे कुहरेका नाश हो जाता है ॥ १९-२० ॥ जब मरीचि आदि मुनीश्वरोंने उनसे विधिपूर्वक अश्वमेध-यज्ञ कराया, तब उसके द्वारा सनातन पुरुष यज्ञपति भगवान्‌की आराधना करके इन्द्र सब पापोंसे छूट गये और पूर्ववत् फिर पूजनीय हो गये ॥ २१ ॥

परीक्षित् ! इस श्रेष्ठ आख्यानमें इन्द्रकी विजय, उनकी पापोंसे मुक्ति और भगवान्‌के प्यारे भक्त वृत्रासुरका

१. प्रा० पा०—तोऽनिशं । २. प्रा० पा०—त्रिलोकं । ३. प्रा० पा०—पापः क्षयं नृपः ।

भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः ॥२२॥
पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः
शृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम्[1] ।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथाऽऽयुषम्[2] ॥२३॥

वर्णन हुआ है। इसमें तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले भगवान्‌के अनुग्रह आदि गुणोंका सङ्कीर्तन है। यह सारे पापोंको धो बहाता है और भक्तिको बढ़ाता है ॥ २२ ॥ बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि वे इस इन्द्रसम्बन्धी आख्यानको सदा-सर्वदा पढ़ें और सुनें। विशेषतः पर्वोंके अवसरपर तो अवश्य ही इसका सेवन करें। यह धन और यशको बढ़ाता है, सारे पापोंसे छुड़ाता है, शत्रुपर विजय प्राप्त कराता है तथा आयु और मङ्गलकी अभिवृद्धि करता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे इन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

वृत्रासुरका पूर्वचरित्र

परीक्षिदुवाच

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः ।
नारायणे भगवति कथमासीद् दृढा मतिः ॥ १ ॥
देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् ।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २ ॥
रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ ५ ॥
वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः ।

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन् ! वृत्रासुरका स्वभाव तो बड़ा रजोगुणी-तमोगुणी था। वह देवताओंको कष्ट पहुँचाकर पाप भी करता ही था। ऐसी स्थितिमें भगवान् नारायणके चरणोंमें उसकी सुदृढ भक्ति कैसे हुई ? ॥ १ ॥ हम देखते हैं कि प्रायः शुद्ध सत्त्वमय देवता और पवित्रहृदय ऋषि भी भगवान्‌की परम प्रेममयी अनन्य भक्तिसे वञ्चित ही रह जाते हैं। सचमुच भगवान्‌की भक्ति बड़ी दुर्लभ है ॥ २ ॥ भगवन् ! इस जगत्‌के प्राणी पृथ्वीके धूलिकणोंके समान ही असंख्य हैं। उनमेंसे कुछ मनुष्य आदि श्रेष्ठ जीव ही अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं ॥ ३ ॥ ब्रह्मन् ! उनमें भी संसारसे मुक्ति चाहनेवाले तो बिरले ही होते हैं और मोक्ष चाहनेवाले हजारोंमें मुक्ति या सिद्धि-लाभ तो कोई-सा ही कर पाता है ॥ ४ ॥ महामुने ! करोड़ों सिद्ध एवं मुक्त पुरुषोंमें भी वैसे शान्तचित्त महापुरुषका मिलना तो बहुत ही कठिन है, जो एकमात्र भगवान्‌के ही परायण हो ॥ ५ ॥ ऐसी अवस्थामें वह वृत्रासुर, जो सब लोगोंको सताता था और बड़ा पापी था, उस

१. प्रा० पा०—णि ते तु धन्याः। २. प्रा० पा०—घनाशनं।

इत्थं दृढमतिः कृष्ण आसीत् संग्राम उल्बणे ॥ ६ ॥
अत्र नः संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो ।
यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥ ७ ॥

सूत उवाच

परीक्षितोऽथ संप्रश्नं भगवान् बादरायणिः ।
निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा ।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि ॥ ९ ॥
आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत् कामधुङ्मही ॥ १० ॥
तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥ ११ ॥
रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।
सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत् ॥ १२ ॥
न तस्य संपदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः ।
सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन् प्रीतिहेतवः ॥ १३ ॥
तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४ ॥
तं पूजयित्वा विधिवत्प्रत्युत्थानार्हणादिभिः ।
कृतातिथ्यमुपासीदत्सुखासीनं समाहितः ॥ १५ ॥

भयंकर युद्धके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्णमें अपनी वृत्तियोंको इस प्रकार दृढ़तासे लगा सका—इसका क्या कारण है ? ॥ ६ ॥ प्रभो ! इस विषयमें हमें बहुत अधिक संदेह है और सुननेका बड़ा कौतूहल भी है। अहो, वृत्रासुरका बल-पौरुष कितना महान् था कि उसने रणभूमिमें देवराज इन्द्रको भी संतुष्ट कर दिया ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! भगवान् शुकदेवजीने परम श्रद्धालु राजर्षि परीक्षित्‌का यह श्रेष्ठ प्रश्न सुनकर उनका अभिनन्दन करते हुए यह बात कही ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! तुम सावधान होकर यह इतिहास सुनो। मैंने इसे अपने पिता व्यासजी, देवर्षि नारद और महर्षि देवलके मुँहसे भी विधिपूर्वक सुना है ॥ ९ ॥ प्राचीन कालकी बात है, शूरसेन देशमें चक्रवर्ती सम्राट् महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे। उनके राज्यमें पृथ्वी स्वयं ही प्रजाकी इच्छाके अनुसार अन्न-रस दे दिया करती थी ॥ १० ॥ उनके एक करोड़ रानियाँ थीं और ये स्वयं संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ भी थे। परंतु उन्हें उनमेंसे किसीके भी गर्भसे कोई संतान न हुई ॥ ११ ॥ यों महाराज चित्रकेतुको किसी बातकी कमी न थी। सुन्दरता, उदारता, युवावस्था, कुलीनता, विद्या, ऐश्वर्य और सम्पत्ति आदि सभी गुणोंसे वे सम्पन्न थे। फिर भी उनकी पत्नियाँ बाँझ थीं, इसलिये उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी ॥ १२ ॥ वे सारी पृथ्वीके एकछत्र सम्राट् थे, बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं तथा सारी पृथ्वी उनके वशमें थी। सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ उनकी सेवामें उपस्थित थीं, परंतु वे सब वस्तुएँ उन्हें सुखी न कर सकीं ॥ १३ ॥ एक दिन शाप और वरदान देनेमें समर्थ अङ्गिरा ऋषि स्वच्छन्दरूपसे विभिन्न लोकोंमें विचरते राजा चित्रकेतुके महलमें पहुँच गये ॥ १४ ॥ राजाने प्रत्युत्थान और अर्घ्य आदिसे उनकी विधिपूर्वक पूजा की। आतिथ्य-सत्कार हो जानेके बाद जब अङ्गिरा ऋषि सुखपूर्वक आसनपर विराज गये, तब राजा चित्रकेतु भी शान्तभावसे उनके पास

१. प्रा० पा०—मे । २. प्रा० पा०—भूश्चेयं नाभवन् । ३. प्रा० पा०—सीनं सु० ।

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ ।
प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥१६॥

अङ्गिरा उवाच

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथाऽऽत्मनः ।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान् राजापि सप्तभिः ॥१७॥
आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात् ।
राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥१८॥
अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः ।
पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः ॥१९॥
यस्यात्मानुवशश्चेत्स्यात्सर्वे तद्वशगा इमे ।
लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः ॥२०॥
आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा ।
लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥२१॥
एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनापि सः ।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥२२॥

चित्रकेतुरुवाच

भगवन् किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः ।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु ॥२३॥

ही बैठ गये ॥ १५ ॥ महाराज ! महर्षि अङ्गिराने देखा कि यह राजा बहुत विनयी है और मेरे पास पृथ्वीपर बैठकर मेरी भक्ति कर रहा है, तब उन्होंने चित्रकेतुको सम्बोधित करके उसे आदर देते हुए यह बात कही ॥ १६ ॥

अङ्गिरा ऋषिने कहा—राजन् ! तुम अपनी प्रकृतियों—गुरु, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना और मित्रके साथ सकुशल तो हो न ? जैसे जीव महत्तत्त्वादि सात आवरणोंसे घिरा रहता है, वैसे ही राजा भी इन सात प्रकृतियोंसे घिरा रहता है । उनके कुशलसे ही राजाकी कुशल है ॥ १७ ॥ नरेन्द्र ! जिस प्रकार राजा अपनी उपर्युक्त प्रकृतियोंके अनुकूल रहनेपर ही राज्यसुख भोग सकता है, वैसे ही प्रकृतियाँ भी अपनी रक्षाका भार राजापर छोड़कर सुख और समृद्धि लाभ कर सकती हैं ॥ १८ ॥ राजन् ! तुम्हारी रानियाँ, प्रजा, मन्त्री (सलाहकार), सेवक, व्यापारी, अमात्य (दीवान), नागरिक, देशवासी, मण्डलेश्वर राजा और पुत्र तुम्हारे वशमें तो हैं न ? ॥ १९ ॥ सच्ची बात तो यह है कि जिसका मन अपने वशमें है, उसके ये सभी वशमें होते हैं । इतना ही नहीं, सभी लोक और लोकपाल भी बड़ी सावधानीसे उसे भेंट देकर उसकी प्रसन्नता चाहते हैं ॥ २० ॥ परंतु मैं देख रहा हूँ कि तुम स्वयं संतुष्ट नहीं हो । तुम्हारी कोई कामना अपूर्ण है । तुम्हारे मुँहपर किसी आन्तरिक चिन्ताके चिह्न झलक रहे हैं । तुम्हारे इस असंतोषका कारण कोई और है या स्वयं तुम्हीं हो ? ॥ २१ ॥

परीक्षित् ! महर्षि अङ्गिरा यह जानते थे कि राजाके मनमें किस बातकी चिन्ता है । फिर भी उन्होंने उनसे चिन्ताके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्न पूछे । चित्रकेतुको संतानकी कामना थी । अतः महर्षिके पूछनेपर उन्होंने विनयसे झुककर निवेदन किया ॥ २२ ॥

सम्राट् चित्रकेतुने कहा—भगवन् ! जिन योगियोंके तपस्या, ज्ञान, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा सारे पाप नष्ट हो चुके हैं—उनके लिये प्राणियोंके बाहर या भीतरकी ऐसी कौन-सी बात है, जिसे वे न

१. प्रा० पा०—राजा च । २. प्रा० पा०—पौरजानपदा । ३. प्रा० पा०—राजा । ४. प्रा० पा०—मस्तु तं मु० ।

तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम् ।
भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥२४॥
लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥२५॥
ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद् विधेहि नः ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः ।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद् विभुः ॥२७॥
ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत ।
नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद् द्विजः ॥२८॥
अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः ।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥२९॥
सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत् ।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥३०॥
तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः ।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥३१॥
अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत ।
जनयन् शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥३२॥
हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलंकृतः ।

जानते हों ॥ २३ ॥ ऐसा होनेपर भी जब आप सब कुछ जान-बूझकर मुझसे मेरे मनकी चिन्ता पूछ रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञा और प्रेरणासे अपनी चिन्ता आपके चरणोंमें निवेदन करता हूँ ॥ २४ ॥ मुझे पृथ्वीका साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ, जिनके लिये लोकपाल भी लालायित रहते हैं, प्राप्त हैं । परंतु संतान न होनेके कारण मुझे इन सुखभोगोंसे उसी प्रकार तनिक भी शान्ति नहीं मिल रही है, जैसे भूखे-प्यासे प्राणीको अन्न-जलके सिवा दूसरे भोगोंसे ॥ २५ ॥ महाभाग्यवान् महर्षे ! मैं तो दुखी हूँ ही, पिण्डदान न मिलनेकी आशङ्कासे मेरे पितर भी दुखी हो रहे हैं । अब आप हमें संतान-दान करके परलोकमें प्राप्त होनेवाले घोर नरकसे उबारिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये कि मैं लोक-परलोकके सब दुःखोंसे छुटकारा पा लूँ ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब राजा चित्रकेतुने इस प्रकार प्रार्थना की, तब सर्वसमर्थ एवं परम कृपालु ब्रह्मपुत्र भगवान् अङ्गिराने त्वष्टा देवताके योग्य चरु निर्माण करके उससे उनका यजन किया ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! राजा चित्रकेतुकी रानियोंमें सबसे बड़ी और सद्गुणवती महारानी कृतद्युति थीं । महर्षि अङ्गिराने उन्हींको यज्ञका अवशेष प्रसाद दिया ॥२८॥ और राजा चित्रकेतुसे कहा—'राजन् ! तुम्हारी पत्नीके गर्भसे एक पुत्र होगा, जो तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही देगा ।' यों कहकर अङ्गिरा ऋषि चले गये ॥ २९ ॥ उस यज्ञावशेष प्रसादके खानेसे ही महारानी कृतद्युतिने महाराज चित्रकेतुके द्वारा गर्भ धारण किया, जैसे कृत्तिकाने अपने गर्भमें अग्निकुमारको धारण किया था ॥ ३० ॥ राजन् ! शूरसेन देशके राजा चित्रकेतुके तेजसे कृतद्युतिका गर्भ शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान दिनोंदिन क्रमशः बढ़ने लगा ॥३१॥

तदनन्तर समय आनेपर महारानी कृतद्युतिके गर्भसे एक सुन्दर पुत्रका जन्म हुआ । उसके जन्मका समाचार पाकर शूरसेन देशकी प्रजा बहुत ही आनन्दित हुई ॥ ३२ ॥ सम्राट् चित्रकेतुके आनन्दका तो कहना ही क्या था । वे स्नान करके पवित्र हुए ।

१. प्रा० पा०—त्वन्नः पाहि । २. प्रा० पा०—तस्याश्चानु० ।

वाचयित्वाऽऽशिषो विप्रैः कारयामास जातकम् ।३३।
तेभ्यो[1] हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च ।
ग्रामान् हयान् गजान् प्रादाद् धेनूनामर्बुदानि षट् ३४
ववर्ष काममन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥३५॥
कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः ।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहो[2]ऽन्ववर्धत॥३६॥
मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः ।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥३७॥
चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।
न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥३८॥
ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया ।
आनपत्येन दुःखेन राज्ञो[3]ऽनादरणेन च ॥३९॥
धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम् ।
सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥४०॥
दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया ।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ।४१।
एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥४२॥

फिर उन्होंने वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर और आशीर्वाद लेकर पुत्रका जातकर्म-संस्कार करवाया ॥३३॥ उन्होंने उन ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी और छः अर्बुद गौएँ दान कीं ॥ ३४ ॥ उदारशिरोमणि राजा चित्रकेतुने पुत्रके धन, यश और आयुकी वृद्धिके लिये दूसरे लोगोंको भी मुँहमाँगी वस्तुएँ दीं—ठीक उसी प्रकार जैसे मेघ सभी जीवोंका मनोरथ पूर्ण करता है ॥३५॥ परीक्षित् ! जैसे यदि किसी कंगालको बड़ी कठिनाईसे कुछ धन मिल जाता है तो उसमें उसकी आसक्ति हो जाती है, वैसे ही बहुत कठिनाईसे प्राप्त हुए उस पुत्रमें राजर्षि चित्रकेतुका स्नेहबन्धन दिनोंदिन दृढ़ होने लगा ॥ ३६ ॥ माता कृतद्युतिको भी अपने पुत्रपर मोहके कारण बहुत ही स्नेह था। परंतु उनकी सौत रानियोंके मनमें पुत्रकी कामनासे और भी जलन होने लगी ॥ ३७ ॥ प्रतिदिन बालकका लाड़-प्यार करते रहनेके कारण सम्राट् चित्रकेतुका जितना प्रेम बच्चेकी मा कृतद्युतिमें था, उतना दूसरी रानियोंमें न रहा ॥ ३८ ॥ इस प्रकार एक तो वे रानियाँ संतान न होनेके कारण ही दुखी थीं, दूसरे राजा चित्रकेतुने उनकी उपेक्षा कर दी। अतः वे डाहसे अपनेको धिक्कारने और मन-ही-मन जलने लगीं ॥ ३९ ॥ वे आपसमें कहने लगीं—'अरी बहिनो ! पुत्रहीन स्त्री बहुत ही अभागिनी होती है। पुत्रवाली सौतें तो दासीके समान उसका तिरस्कार करती हैं। और तो और, स्वयं पतिदेव ही उसे पत्नी करके नहीं मानते। सचमुच पुत्रहीन स्त्री धिक्कारके योग्य है ॥ ४० ॥ भला, दासियोंको क्या दुःख है ? वे तो अपने स्वामीकी सेवा करके निरन्तर सम्मान पाती रहती हैं। परंतु हम अभागिनी तो इस समय उनसे भी गयी-बीती हो रही हैं और दासियोंकी दासीके समान बार-बार तिरस्कार पा रही हैं' ॥ ४१ ॥ परीक्षित् ! इस प्रकार वे रानियाँ अपनी सौतकी गोद भरी देखकर जलती रहती थीं और राजा भी उनकी ओरसे उदासीन हो गये थे। फलतः उनके मनमें कृतद्युतिके प्रति बहुत अधिक द्वेष हो गया ॥४२॥

१. प्रा० पा०—हि रजतं प्रादाद् वासां०। २. प्रा० पा०—हो विवर्धते। ३. प्रा० पा०—राज्ञश्चानादरेण च।

विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥४३॥
कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत् ।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद् गृहे ॥४४॥
शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी ।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥४५॥
सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम् ।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद् भुवि ॥४६॥
तस्यास्तदाऽऽकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि ।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयाऽऽत्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥४७॥
पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥४८॥
ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम् ।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखिता-
स्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥४९॥
श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन् स्खलन् पथि ।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥५०॥
पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः ।

द्वेषके कारण रानियोंकी बुद्धि मारी गयी । उनके चित्तमें क्रूरता छा गयी । उन्हें अपने पति चित्रकेतुका पुत्र-स्नेह सहन न हुआ । इसलिये उन्होंने चिढ़कर नन्हे-से राजकुमारको विष दे दिया ॥ ४३ ॥ महारानी कृतद्युतिको सौतोंकी इस घोर पापमयी करतूतका कुछ भी पता न था । उन्होंने दूरसे देखकर समझ लिया कि बच्चा सो रहा है । इसलिये वे महलमें इधर-उधर डोलती रहीं ॥ ४४ ॥ बुद्धिमती रानीने यह देखकर कि बच्चा बहुत देरसे सो रहा है, धायसे कहा—'कल्याणी ! मेरे लालको ले आ' ॥ ४५ ॥ धायने सोते हुए बालकके पास जाकर देखा कि उसके नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी हैं । प्राण, इन्द्रिय और जीवात्माने भी उसके शरीरसे विदा ले ली है । यह देखते ही 'हाय रे ! मैं मारी गयी ।' इस प्रकार कहकर वह धरतीपर गिर पड़ी ॥ ४६ ॥

धाय अपने दोनों हाथोंसे छाती पीट-पीटकर बड़े आर्तस्वरमें जोर-जोरसे रोने लगी । उसका रोना सुनकर महारानी कृतद्युति जल्दी-जल्दी अपने पुत्रके शयनगृहमें पहुँचीं और उन्होंने देखा कि मेरा छोटा-सा बच्चा अकस्मात् मर गया है ! ॥ ४७ ॥ तब वे अत्यन्त शोकके कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं । उनके सिरके बाल बिखर गये और शरीरपरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये ॥ ४८ ॥ तदनन्तर महारानीका रुदन सुनकर रनिवासके सभी स्त्री-पुरुष वहाँ दौड़ आये और सहानुभूतिवश अत्यन्त दुखी होकर रोने लगे । वे हत्यारी रानियाँ भी वहाँ आकर झूठ-मूठ रोनेका ढोंग करने लगीं ॥ ४९ ॥ जब राजा चित्रकेतुको पता लगा कि मेरे पुत्रकी अकारण ही मृत्यु हो गयी है, तब अत्यन्त स्नेहके कारण शोकके आवेगसे उनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया । वे धीरे-धीरे अपने मन्त्रियों और ब्राह्मणोंके साथ मार्गमें गिरते-पड़ते मृत बालकके पास पहुँचे और मूर्च्छित होकर उसके पैरोंके पास गिर पड़े । उनके केश और वस्त्र इधर-उधर बिखर

१. प्रा० पा०—विद्वेषान्धप० । २. प्रा० पा०—मुपा० । ३. प्रा० पा०—चानलं० ।

दीर्घं श्वसन् बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥५१॥
पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥५२॥
स्तनद्वयं कुङ्कुमगन्धमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः ।
विकीर्य केशान् विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥५३॥
अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो
यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परेऽनुजीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत्त्वमसि ध्रुवः परः ॥५४॥
न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदाऽऽत्मकर्मभिः ।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि ॥५५॥
त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम् ।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्
ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम् ॥५६॥
उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम् ।

गये । वे लंबी-लंबी साँस लेने लगे । आँसुओंकी अधिकतासे उनका गला रुँध गया और वे कुछ भी बोल न सके ॥५०-५१॥ पतिप्राणा रानी कृतद्युति अपने पति चित्रकेतुको अत्यन्त शोकाकुल और इकलौते नन्हे-से बच्चेको मरा हुआ देख भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगीं । उनका यह दुःख देखकर मन्त्री आदि सभी उपस्थित मनुष्य शोकग्रस्त हो गये ॥ ५२ ॥ महारानीके नेत्रोंसे इतने आँसू बह रहे थे कि वे उनकी आँखोंका अंजन लेकर केसर और चन्दनसे चर्चित वक्षःस्थलको भिगोने लगे । उनके बाल बिखर रहे थे तथा उनमें गुँथे हुए फूल गिर रहे थे । इस प्रकार वे पुत्रके लिये कुररी पक्षीके समान उच्चस्वरमें विविध प्रकारसे विलाप कर रही थीं ॥ ५३ ॥

वे कहने लगीं—'अरे विधाता ! सचमुच तू बड़ा मूर्ख है, जो अपनी सृष्टिके प्रतिकूल चेष्टा करता है । बड़े आश्चर्यकी बात है कि बूढ़े-बूढ़े तो जीते रहें और बालक मर जायँ । यदि वास्तवमें तेरे स्वभावमें ऐसी ही विपरीतता है, तब तो तू जीवोंका अमर शत्रु है ॥ ५४ ॥ यदि संसारमें प्राणियोंके जीवन-मरणका कोई क्रम न रहे, तो वे अपने प्रारब्धके अनुसार जन्मते-मरते रहेंगे। फिर तेरी आवश्यकता ही क्या है । तूने सम्बन्धियोंमें स्नेह-बन्धन तो इसीलिये डाल रक्खा है न कि वे तेरी सृष्टिको बढ़ायें ? परंतु तू इस प्रकार बच्चोंको मारकर अपने किये-करायेपर अपने हाथों पानी फेर रहा है'॥५५॥ फिर वे अपने मृत पुत्रकी ओर देखकर कहने लगीं—'बेटा ! मैं तुम्हारे बिना अनाथ और दीन हो रही हूँ। मुझे छोड़कर इस प्रकार चले जाना तुम्हारे लिये उचित नहीं है । तनिक आँख खोलकर देखो तो सही, तुम्हारे पिताजी तुम्हारे वियोगमें कितने शोक-संतप्त हो रहे हैं । बेटा ! जिस घोर नरकको निःसंतान पुरुष बड़ी कठिनाईसे पार कर पाते हैं, उसे हम तुम्हारे सहारे अनायास ही पार कर लेंगे । अरे बेटा ! तुम इस यमराजके साथ दूर मत जाओ । यह तो बड़ा ही निर्दयी है ॥ ५६ ॥ मेरे प्यारे लल्ला ! ओ राजकुमार ! उठो, बेटा ! देखो; तुम्हारे साथी बालक तुम्हें खेलनेके

सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान् परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम् ॥
नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते॥५८॥

श्रीशुक उवाच

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः ।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥५९॥
तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः ।
रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥६०॥
एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥६१॥

लिये बुला रहे हैं। तुम्हें सोते-सोते बहुत देर हो गयी, अब भूख लगी होगी। उठो, कुछ खा लो। और कुछ नहीं तो मेरा दूध ही पी लो और अपने स्वजन-सम्बन्धी हमलोगोंका शोक दूर करो ॥५७॥ प्यारे लाल! आज मैं तुम्हारे मुखारविन्दपर वह भोली-भाली मुसकराहट और आनन्दभरी चितवन नहीं देख रही हूँ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ। हाय-हाय! अब भी मुझे तुम्हारी सुमधुर तोतली बोली नहीं सुनायी दे रही है। क्या सचमुच निठुर यमराज तुम्हें उस परलोकमें ले गया, जहाँसे फिर कोई लौटकर नहीं आता?' ॥ ५८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब सम्राट् चित्रकेतुने देखा कि मेरी रानी अपने मृत पुत्रके लिये इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप कर रही है, तब वे शोकसे अत्यन्त संतप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥५९॥ राजा-रानीके इस प्रकार विलाप करनेपर उनके अनुगामी स्त्री-पुरुष भी दुःखित होकर रोने लगे। इस प्रकार सारा नगर ही शोकसे अचेत-सा हो गया ॥ ६० ॥ राजन्! महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदने देखा कि राजा चित्रकेतु पुत्रशोकके कारण चेतनाहीन हो रहे हैं, यहाँतक कि उन्हें समझानेवाला भी कोई नहीं है। तब वे दोनों वहाँ आये ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुविलापो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको अङ्गिरा और नारदजीका उपदेश

श्रीशुक उवाच

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ।
शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥ १ ॥
कोऽयं स्यात् तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति ।
त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर मुर्देके समान अपने मृत पुत्रके पास ही पड़े हुए थे। अब महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारद उन्हें सुन्दर-सुन्दर उक्तियोंसे समझाने लगे॥ १ ॥ उन्होंने कहा—राजेन्द्र! जिसके लिये तुम इतना शोक कर रहे हो, वह बालक इस जन्म और पहलेके जन्मोंमें तुम्हारा कौन था? उसके तुम कौन थे? और अगले जन्मोंमें भी उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा? ॥२॥

१. प्रा० पा०—ऽस्यपरमन्व०। २. प्रा० पा०—चित्रकेतुचरिते चतु०। ३. प्रा० पा०—आगतौ तावृषी तदा।

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥ ३ ॥
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया ॥ ४ ॥
वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः ।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्नैवमधुनापि भोः ॥ ५ ॥
भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः ।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥ ६ ॥
देहेन देहिनो राजन् देहाद्देहोऽभिजायते ।
बीजादेव यथा बीजं देहार्थ इव शाश्वतः ॥ ७ ॥
देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ॥ ८ ॥

जैसे जलके वेगसे बालूके कण एक-दूसरेसे जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही समयके प्रवाहमें प्राणियोंका भी मिलन और बिछोह होता रहता है ॥ ३ ॥ राजन्! जैसे कुछ बीजोंसे दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान्की मायासे प्रेरित होकर प्राणियोंसे अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ राजन्! हम, तुम और हमलोगोंके साथ इस जगत्में जितने भी चराचर प्राणी वर्तमान हैं—वे सब अपने जन्मके पहले नहीं थे और मृत्युके पश्चात् नहीं रहेंगे। इससे सिद्ध है कि इस समय भी उनका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि सत्य वस्तु तो सब समय एक-सी रहती है ॥ ५ ॥ भगवान् ही समस्त प्राणियोंके अधिपति हैं। उनमें जन्म-मृत्यु आदि विकार बिल्कुल नहीं हैं। उन्हें न किसीकी इच्छा है और न अपेक्षा। वे अपने आप परतन्त्र प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं और उनके द्वारा अन्य प्राणियोंकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं—ठीक वैसे ही जैसे बच्चे घर-घरौंदे, खेल-खिलौने बना-बनाकर बिगाड़ते रहते हैं ॥ ६ ॥ परीक्षित्! जैसे एक बीजसे दूसरा बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही पिताकी देहद्वारा माताकी देहसे पुत्रकी देह उत्पन्न होती है। पिता-माता और पुत्र जीवके रूपमें देही हैं और बाह्य दृष्टिसे केवल शरीर। उनमें देही जीव घट आदि कार्योंमें पृथ्वीके समान नित्य है ॥ ७ ॥ राजन्! जैसे एक ही मृत्तिकारूप वस्तुमें घटत्व आदि जाति और घट आदि व्यक्तियोंका विभाग केवल कल्पनामात्र है, उसी प्रकार यह देही और देहका विभाग भी अनादि एवं अविद्या-कल्पित है* ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।
प्रमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदने इस प्रकार राजा चित्रकेतुको समझाया-बुझाया, तब उन्होंने कुछ धीरज धारण करके शोकसे मुरझाये हुए मुखको हाथसे पोंछा और उनसे कहा—॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—हन्ति च। २. प्रा० पा०—तुर्द्विजातिभिः।

* अनित्य होनेके कारण शरीर असत्य हैं और शरीर असत्य होनेके कारण उनके भिन्न-भिन्न अभिमानी भी असत्य ही हैं। त्रिकालाबाधित सत्य तो एकमात्र परमात्मा ही है। अतः शोक करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

राजोवाच

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम् ।
अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ ॥१०॥
चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः ।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः ॥११॥
कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः ।
अपान्तरतमो व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥१२॥
वसिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः ।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः ॥१३॥
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः ।
ऋषिर्वेदशिरा बोध्यो मुनिः पञ्चशिरास्तथा ॥१४॥
हिरण्यनाभः कौसल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः ।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥१५॥
तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू ।
अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥१६॥

राजा चित्रकेतु बोले—आप दोनों परम ज्ञानवान् और महान्से भी महान् जान पड़ते हैं तथा अपनेको अवधूतवेषमें छिपाकर यहाँ आये हैं। कृपा करके बतलाइये, आपलोग हैं कौन ? ॥ १० ॥ मैं जानता हूँ कि बहुत-से भगवान्के प्यारे ब्रह्मवेत्ता मेरे-जैसे विषयासक्त प्राणियोंको उपदेश करनेके लिये उन्मत्तका-सा वेष बनाकर पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते हैं ॥ ११ ॥ सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, असित, अपान्तरतम व्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिलदेव, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतञ्जलि, वेदशिरा, बोध्यमुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज—ये सब तथा दूसरे सिद्धेश्वर ऋषि-मुनि ज्ञानदान करनेके लिये पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ १२–१५ ॥ स्वामियो ! मैं विषयभोगोंमें फँसा हुआ, मूढबुद्धि ग्राम्य पशु हूँ और अज्ञानके घोर अन्धकारमें डूब रहा हूँ। आपलोग मुझे ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशके केन्द्रमें लाइये ॥ १६ ॥

अङ्गिरा उवाच

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप ।
एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥१७॥
इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे ।
अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥१८॥
अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो ।
ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति ॥१९॥
तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः ।
ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददावहम् ॥२०॥
अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते ।

महर्षि अङ्गिराने कहा—राजन् ! जिस समय तुम पुत्रके लिये बहुत लालायित थे, तब मैंने ही तुम्हें पुत्र दिया था। मैं अङ्गिरा हूँ। ये जो तुम्हारे सामने खड़े हैं, स्वयं ब्रह्माजीके पुत्र सर्वसमर्थ देवर्षि नारद हैं ॥१७॥ जब हमलोगोंने देखा कि तुम पुत्रशोकके कारण बहुत ही घने अज्ञानान्धकारमें डूब रहे हो, तब सोचा कि तुम भगवान्के भक्त हो, शोक करनेयोग्य नहीं हो। अतः तुमपर अनुग्रह करनेके लिये ही हम दोनों यहाँ आये हैं। राजन् ! सच्ची बात तो यह है कि जो भगवान् और ब्राह्मणोंका भक्त है, उसे किसी अवस्थामें शोक नहीं करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥ जिस समय पहले-पहल मैं तुम्हारे घर आया था, उसी समय मैं तुम्हें परम ज्ञानका उपदेश देता; परंतु मैंने देखा कि अभी तो तुम्हारे हृदयमें पुत्रकी उत्कट लालसा है, इसलिये उस समय तुम्हें ज्ञान न देकर मैंने पुत्र ही दिया ॥२०॥ अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानोंको

१. प्रा० पा०—धौम्यो । २. प्रा० पा०—शिखस्तथा । ३. प्रा० पा०—तत्रैव । ४. प्रा० पा०—ज्ञात्वात्माभि० ।

एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥२१॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः ।
मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः ।२२।
सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥२३॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥२४॥
अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥२५॥
तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः ।
द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥२६॥

कितना दुःख होता है। यही बात स्त्री, घर, धन, विविध प्रकारके ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द-रूप-रस आदि विषय, राज्यवैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, खजाना, सेवक, अमात्य, सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र सबके लिये है; क्योंकि ये सब-के-सब अनित्य हैं ॥२१-२२॥ शूरसेन ! अतएव ये सभी शोक, मोह, भय और दुःखके कारण हैं, मनके खेल-खिलौने हैं, सर्वथा कल्पित और मिथ्या हैं; क्योंकि ये न होनेपर भी दिखायी पड़ रहे हैं। यही कारण है कि ये एक क्षण दीखनेपर भी दूसरे क्षण लुप्त हो जाते हैं। ये गन्धर्वनगर, स्वप्न, जादू और मनोरथकी वस्तुओंके समान सर्वथा असत्य हैं। जो लोग कर्म-वासनाओंसे प्रेरित होकर विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उन्हींका मन अनेक प्रकारके कर्मोंकी सृष्टि करता है ॥२३-२४॥ जीवात्माका यह देह—जो पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका संघात है-—जीवको विविध प्रकारके क्लेश और संताप देनेवाली कही जाती है ॥२५॥ इसलिये तुम अपने मनको विषयोंमें भटकनेसे रोककर शान्त करो, स्वस्थ करो और फिर उस मनके द्वारा अपने वास्तविक स्वरूपका विचार करो तथा इस द्वैत-भ्रममें नित्यत्वकी बुद्धि छोड़कर परम शान्तिस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाओ ॥ २६ ॥

नारद उवाच

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम ।
यां धारयन् सप्तरात्राद् द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम् ॥२७॥
यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य ।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुर्भवानपि परं नचिरादुपैति ॥२८॥

देवर्षि नारदने कहा—राजन् ! तुम एकाग्रचित्तसे मुझसे यह मन्त्रोपनिषद् ग्रहण करो। इसे धारण करनेसे सात रातमें ही तुम्हें भगवान् सङ्कर्षणका दर्शन होगा ।२७। नरेन्द्र ! प्राचीन कालमें भगवान् शंकर आदिने श्रीसङ्कर्षणदेवके ही चरणकमलोंका आश्रय लिया था। इससे उन्होंने द्वैतभ्रमका परित्याग कर दिया और उनकी उस महिमाको प्राप्त हुए, जिससे बढ़कर तो कोई है ही नहीं, समान भी नहीं है। तुम भी बहुत शीघ्र ही भगवान्‌के उसी परमपदको प्राप्त कर लोगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुसान्त्वनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—रामा । २. प्रा० पा०—राज्यं मही बलं । ३. प्रा० पा०—सुखदा नेमे । ४. प्रा० पा०—शोकापनोदो ।

अथ षोडशोऽध्यायः

चित्रकेतुका वैराग्य तथा सङ्कर्षणदेवके दर्शन

श्रीशुक उवाच

अथ देवऋषी राजन् सम्परेतं नृपात्मजम् ।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

नारद उवाच

जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते ।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥
कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः ।
भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

जीव उवाच

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु ॥ ४ ॥
बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥
यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥
नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।
यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥ ७ ॥
एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।
यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८ ॥
एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! तदनन्तर देवर्षि नारदने मृत राजकुमारके जीवात्माको शोकाकुल स्वजनोंके सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—जीवात्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो । देखो, तुम्हारे माता-पिता, सुहृद्-सम्बन्धी तुम्हारे वियोगसे अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं ॥ २ ॥ इसलिये तुम अपने शरीरमें आ जाओ और शेष आयु अपने सगे-सम्बन्धियोंके साथ ही रहकर व्यतीत करो । अपने पिताके दिये हुए भोगोंको भोगो और राजसिंहासनपर बैठो ॥ ३ ॥

जीवात्माने कहा—देवर्षिजी ! मैं अपने कर्मोंके अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें न जाने कितने जन्मोंसे भटक रहा हूँ । उनमेंसे ये लोग किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए ? ॥ ४ ॥ विभिन्न जन्मोंमें सभी एक-दूसरेके भाई-बन्धु, नाती-गोती, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं ॥ ५ ॥ जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ एक व्यापारीसे दूसरेके पास जाती-आती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक दिन ठहरनेवाले सुवर्ण आदि पदार्थोंका सम्बन्ध भी मनुष्योंके साथ स्थायी नहीं, क्षणिक ही होता है और जबतक जिसका जिस वस्तुसे सम्बन्ध रहता है, तभीतक उसकी उस वस्तुसे ममता भी रहती है ॥ ७ ॥ जीव नित्य और अहंकाररहित है । वह गर्भमें आकर जबतक जिस शरीरमें रहता है, तभीतक उस शरीरको अपना समझता है ॥ ८ ॥ यह जीव नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म (जन्मादिरहित) सबका आश्रय और स्वयंप्रकाश है । इसमें स्वरूपतः जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं हैं । फिर भी यह ईश्वररूप होनेके

१. प्रा० पा०—तु । २. प्रा० पा०—सुकृत् ।

आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजति प्रभुः ॥ ९ ॥
न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तॄणां गुणदोषयोः ॥१०॥
नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।
उदासीनवदासीनः[1] परावरदृगीश्वरः ॥११॥

श्रीशुक[2] उवाच

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा ।
विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वाऽऽत्मस्नेहशृङ्खलाम् १२
निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्[3]देहं कृत्वोचिताः क्रियाः ।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥१३॥
बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥१४॥
स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।
गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः ॥१५॥
कालिन्द्यां विधिवत् स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः ।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥१६॥
अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने ।
भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥१७॥

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।

कारण अपनी मायाके गुणोंसे ही अपने-आपको विश्वके रूपमें प्रकट कर देता है ॥ ९ ॥ इसका न तो कोई अत्यन्त प्रिय है और न अप्रिय, न अपना और न पराया । क्योंकि गुण-दोष (हित-अहित) करनेवाले मित्र-शत्रु आदिकी भिन्न-भिन्न बुद्धि-वृत्तियोंका यह अकेला ही साक्षी है; वास्तवमें यह अद्वितीय है ॥ १० ॥ यह आत्मा कार्य-कारणका साक्षी और स्वतन्त्र है । इसलिये यह शरीर आदिके गुण-दोष अथवा कर्मफलको ग्रहण नहीं करता, सदा उदासीनभावसे स्थित रहता है ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वह जीवात्मा इस प्रकार कहकर चला गया । उसके सगे-सम्बन्धी उसकी बात सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए । उनका स्नेह-बन्धन कट गया और उसके मरनेका शोक भी जाता रहा ॥ १२ ॥ इसके बाद जातिवालोंने बालककी मृत देहको ले जाकर तत्कालोचित संस्कार और और्ध्वदैहिक क्रियाएँ पूर्ण कीं और उस दुस्त्यज स्नेहको छोड़ दिया, जिसके कारण शोक, मोह, भय और दुःखकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! जिन रानियोंने बच्चेको विष दिया था, वे बालहत्याके कारण श्रीहीन हो गयी थीं और लज्जाके मारे आँखतक नहीं उठा सकती थीं । उन्होंने अङ्गिरा ऋषिके उपदेशको याद करके (मात्सर्यहीन हो) यमुनाजीके तटपर ब्राह्मणोंके आदेशानुसार बालहत्याका प्रायश्चित्त किया ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! इस प्रकार अङ्गिरा और नारदजीके उपदेशसे विवेकबुद्धि जाग्रत् हो जानेके कारण राजा चित्रकेतु घर-गृहस्थीके अँधेरे कुएँसे उसी प्रकार बाहर निकल पड़े, जैसे कोई हाथी तालाबके कीचड़से निकल आये ॥ १५ ॥ उन्होंने यमुनाजीमें विधिपूर्वक स्नान करके तर्पण आदि धार्मिक क्रियाएँ कीं । तदनन्तर संयतेन्द्रिय और मौन होकर उन्होंने देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिराके चरणोंकी वन्दना की ॥ १६ ॥ भगवान् नारदने देखा कि चित्रकेतु जितेन्द्रिय, भगवद्भक्त और शरणागत हैं । अतः उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उन्हें इस विद्याका उपदेश किया ॥ १७ ॥

(देवर्षि नारदने यों उपदेश किया—) 'ॐकारस्वरूप भगवन् ! आप वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण-

१. प्रा० पा०—इवासीनः । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—जन्तोर्दे० ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥१८॥

नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।

आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥१९॥

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।

हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥२०॥

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।

अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥२१॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।

मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥२२॥

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।

अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी

यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।

नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं

स्थानेषु तद् द्रष्ट्रपदेशमेति ॥२४॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय

के रूपमें क्रमशः चित्त, बुद्धि, मन और अहंकारके अधिष्ठाता हैं । मैं आपके इस चतुर्व्यूहरूपका बार-बार नमस्कारपूर्वक ध्यान करता हूँ ॥ १८ ॥ आप विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं । आपकी मूर्ति परमानन्दमयी है । आप अपने स्वरूपभूत आनन्दमें ही मग्न और परम शान्त हैं । द्वैतदृष्टि आपको छूतक नहीं सकती । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥ अपने स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूतिसे ही आपने मायाजनित राग-द्वेष आदि दोषोंका तिरस्कार कर रक्खा है । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप सबकी समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक, परम महान् और विराट्स्वरूप हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥ मनसहित वाणी आपतक न पहुँचकर बीचसे ही लौट आती है । उसके उपरत हो जानेपर जो अद्वितीय, नाम-रूपरहित, चेतनमात्र और कार्य-कारणसे परेकी वस्तु रह जाती है—वह हमारी रक्षा करे ॥ २१ ॥ यह कार्य-कारणरूप जगत् जिनसे उत्पन्न होता है, जिनमें स्थित है और जिनमें लीन होता है तथा जो मिट्टीकी वस्तुओंमें व्याप्त मृत्तिकाके समान सबमें ओतप्रोत हैं—उन परब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥२२॥ यद्यपि आप आकाशके समान बाहर-भीतर एकरस व्याप्त हैं, तथापि आपको मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी ज्ञानशक्तिसे नहीं जान सकतीं और प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियारूप शक्तिसे स्पर्श भी नहीं कर सकतीं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २३॥ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओंमें आपके चैतन्यांशसे युक्त होकर ही अपना-अपना काम करते हैं तथा सुषुप्ति और मूर्च्छाकी अवस्थाओं-में आपके चैतन्यांशसे युक्त न होनेके कारण अपना-अपना काम करनेमें असमर्थ हो जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे लोहा अग्निसे तप्त होनेपर जला सकता है, अन्यथा नहीं । जिसे 'द्रष्टा' कहते हैं, वह भी आपका ही एक नाम है; जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें आप उसे स्वीकार कर लेते हैं । वास्तवमें आपसे पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है॥२४॥ ॐकारस्वरूप महाप्रभावशाली महाविभूतिपति भगवान् महापुरुषको नमस्कार है । श्रेष्ठ

महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकर-
कमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम-
परमेष्ठिन्नमस्ते ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच[2]

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः ।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥२६॥
चित्रकेतुस्तु विद्यां[3] तां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥२७॥
ततश्च[4] सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतं नृपः ॥२८॥
ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः ।
जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥२९॥
मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्-
किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥३०॥
तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वच्छामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः[5] ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥३१॥
स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्[6] मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥३२॥
ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ ।

भक्तोंका समुदाय अपने करकमलोंकी कलियोंसे आपके युगल चरणकमलोंकी सेवामें संलग्न रहता है । प्रभो ! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ' ॥ २५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! देवर्षि नारद अपने शरणागत भक्त चित्रकेतुको इस विद्याका उपदेश करके महर्षि अङ्गिराके साथ ब्रह्मलोकको चले गये ॥२६॥ राजा चित्रकेतुने देवर्षि नारदके द्वारा उपदिष्ट विद्याका उनके आज्ञानुसार सात दिनतक केवल जल पीकर बड़ी एकाग्रताके साथ अनुष्ठान किया ॥ २७ ॥ तदनन्तर उस विद्याके अनुष्ठानसे सात रातके पश्चात् राजा चित्रकेतुको विद्याधरोंका अखण्ड आधिपत्य प्राप्त हुआ ॥ २८ ॥ इसके बाद कुछ ही दिनोंमें इस विद्याके प्रभावसे उनका मन और भी शुद्ध हो गया । अब वे देवाधिदेव भगवान् शेषजीके चरणोंके समीप पहुँच गये ॥ २९ ॥ उन्होंने देखा कि भगवान् शेषजी सिद्धेश्वरोंके मण्डलमें विराजमान हैं । उनका शरीर कमलनालके समान गौरवर्ण है । उसपर नीले रंगका वस्त्र फहरा रहा है । सिरपर किरीट, बाँहोंमें बाजूबंद, कमरमें करधनी और कलाईमें कंगन आदि आभूषण चमक रहे हैं । नेत्र रतनारे हैं और मुखपर प्रसन्नता छा रही है ॥ ३० ॥ भगवान् शेषका दर्शन करते ही राजर्षि चित्रकेतुके सारे पाप नष्ट हो गये । उनका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल हो गया । हृदयमें भक्तिभावकी बाढ़ आ गयी । नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये । शरीरका एक-एक रोम खिल उठा । उन्होंने ऐसी ही स्थितिमें आदिपुरुष भगवान् शेषको नमस्कार किया ॥ ३१ ॥ उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू टप-टप गिरते जा रहे थे । इससे भगवान् शेषके चरण रखनेकी चौकी भीग गयी । प्रेमोद्रेकके कारण उनके मुँहसे एक अक्षर भी न निकल सका । वे बहुत देरतक शेषभगवान्‌की कुछ भी स्तुति न कर सके ॥ ३२ ॥ थोड़ी देर बाद उन्हें बोलनेकी कुछ-कुछ शक्ति प्राप्त हुई । उन्होंने विवेकबुद्धिसे मनको समाहित किया और

१. प्रा० पा०—मुकुले । २. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'श्रीशुक उवाच' पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—तां विद्यां पठन् नार० । ४. प्रा० पा० —ततः स । ५. प्रा० पा०—मुहुः । ६. प्रा० पा०—सेवय० ।

नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥३३॥

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजता-
मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥३४॥

तव विभवः खलु भगवन्
जगदुदयस्थितिलयादीनि[1] ।
विश्वसृजस्तेंऽशांशा-
स्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ॥३५॥

परमाणुपरममहतो-
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां
यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥३६॥

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः
सप्तभिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः
सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥३७॥

विषयतृषो नरपशवो
य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश
तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥३८॥

कामधियस्त्वयि रचिता
न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्तिको रोका । फिर उन जगद्-गुरुकी, जिनके स्वरूपका पाञ्चरात्र आदि भक्तिशास्त्रोंमें वर्णन किया गया है, इस प्रकार स्तुति की ॥ ३३ ॥

चित्रकेतुने कहा—अजित ! जितेन्द्रिय एवं समदर्शी साधुओंने आपको जीत लिया है । आपने भी अपने सौन्दर्य, माधुर्य, कारुण्य आदि गुणोंसे उनको अपने वशमें कर लिया है । अहो, आप धन्य हैं । क्योंकि जो निष्कामभावसे आपका भजन करते हैं, उन्हें आप करुणापरवश होकर अपने-आपको भी दे डालते हैं ॥ ३४ ॥ भगवन् ! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आपके लीला-विलास हैं । विश्व-निर्माता ब्रह्मा आदि आपके अंशके भी अंश हैं । फिर भी वे पृथक्-पृथक् अपनेको जगत्कर्त्ता मानकर झूठ-मूठ एक-दूसरेसे स्पर्धा करते हैं ॥ ३५ ॥ नन्हे-से-नन्हे परमाणुसे लेकर बड़े-से-बड़े महत्तत्त्वपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंके आदि, अन्त और मध्यमें आप ही विराजमान हैं तथा स्वयं आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित हैं । क्योंकि किसी भी पदार्थके आदि और अन्तमें जो वस्तु रहती है, वही मध्यमें भी रहती है ॥ ३६ ॥ यह ब्रह्माण्डकोष, जो पृथ्वी आदि एक-से-एक दसगुने सात आवरणोंसे घिरा हुआ है, अपने ही समान दूसरे करोड़ों ब्रह्माण्डोंके सहित आपमें एक परमाणुके समान घूमता रहता है और फिर भी उसे आपकी सीमाका पता नहीं है । इसलिये आप अनन्त हैं ॥ ३७ ॥ जो नरपशु केवल विषयभोग ही चाहते हैं, वे आपका भजन न करके आपके विभूतिस्वरूप इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं । प्रभो ! जैसे राजकुलका नाश होनेके पश्चात् उसके अनुयायियोंकी जीविका भी जाती रहती है, वैसे ही क्षुद्र उपास्य देवोंका ह्रास होनेपर उनके दिये हुए भोग भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८ ॥ परमात्मन् ! आप ज्ञानस्वरूप और निर्गुण हैं । इसलिये आपके प्रति की हुई सकाम भावना भी अन्यान्य कर्मों-के समान जन्म-मृत्युरूप फल देनेवाली नहीं होती, जैसे भुने हुए बीजोंसे अङ्कुर नहीं उगते । क्योंकि

१. प्रा० पा०—लयावनादीनि ।

ज्ञानात्मन्यगुणमये
गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥३९॥
जितमजित तदा भवता
यदाऽऽह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥४०॥
विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥४१॥
कः क्षेमो निजपरयोः
कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात्तव कोपः
परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥४२॥
न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बे-
ष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥४३॥
न हि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः[1] ।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्
पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥४४॥
अथ भगवन् वयमधुना
त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यदुदितं
तावकेन[2] कथमन्यथा भवति ॥४५॥
विदितमनन्त समस्तं
तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।

जीवको जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं, वे सत्त्वादि गुणोंसे ही होते हैं, निर्गुणसे नहीं ॥ ३९ ॥ हे अजित ! जिस समय आपने विशुद्ध भागवतधर्मका उपदेश किया था, उसी समय आपने सबको जीत लिया । क्योंकि अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह न रखनेवाले, किसी भी वस्तुमें अहंता-ममता न करनेवाले आत्माराम सनकादि परमर्षि भी परम साम्य और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उसी भागवतधर्मका आश्रय लेते हैं ॥ ४० ॥ वह भागवतधर्म इतना शुद्ध है कि उसमें सकाम धर्मोंके समान मनुष्योंकी वह विषमबुद्धि नहीं होती कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह तू है और यह तेरा है ।' इसके विपरीत जिस धर्मके मूलमें ही विषमता-का बीज बो दिया जाता है, वह तो अशुद्ध, नाशवान् और अधर्मबहुल होता है ॥ ४१ ॥ सकाम धर्म अपना और दूसरेका भी अहित करनेवाला है । उससे अपना या पराया—किसीका कोई भी प्रयोजन और हित सिद्ध नहीं होता । प्रत्युत सकाम धर्मसे जब अनुष्ठान करनेवालेका चित्त दुखता है, तब आप रुष्ट होते हैं और जब दूसरेका चित्त दुखता है, तब वह धर्म नहीं रहता—अधर्म हो जाता है ॥ ४२ ॥ भगवन् ! आपने जिस दृष्टिसे भागवतधर्मका निरूपण किया है, वह कभी परमार्थसे विचलित नहीं होती । इसलिये जो संत पुरुष चर-अचर समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि रखते हैं, वे ही उसका सेवन करते हैं ॥४३॥ भगवन् ! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं, यह कोई असम्भव बात नहीं है; क्योंकि आपका नाम एक बार सुननेसे ही नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥ भगवन् ! इस समय आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे अन्तः-करणका सारा मल धुल गया है, सो ठीक ही है । क्योंकि आपके अनन्यप्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीने जो कुछ कहा है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ॥ ४५ ॥ हे अनन्त ! आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हैं । अतएव संसारमें प्राणी जो कुछ करते हैं, वह सब आप जानते

१. प्रा० पा०—त्वद्दर्शनान्न० । २. प्रा० पा०—तत्केन ।

विज्ञाप्यं परमगुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥४६॥
नमस्तुभ्यं भगवते
सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।
दुरवसितात्मगतये
कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥४७॥
यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत ।
विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम् ।
संसिद्धोऽसि तया राजन् विद्यया दर्शनाच्च मे ॥५०॥
अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥
लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम् ।
उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥५२॥
यथा सुषुप्तः[1] पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्[2] ॥५४॥

ही रहते हैं। इसलिये जैसे जुगनू सूर्यको प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही परमगुरु आपसे मैं क्या निवेदन करूँ ॥ ४६ ॥ भगवन्! आपकी ही अध्यक्षतामें सारे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। कुयोगीजन भेददृष्टिके कारण आपका वास्तविक स्वरूप नहीं जान पाते। आपका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त शुद्ध है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥ आपकी चेष्टासे शक्ति प्राप्त करके ही ब्रह्मा आदि लोकपालगण चेष्टा करनेमें समर्थ होते हैं। आपकी दृष्टिसे जीवित होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं। यह भूमण्डल आपके सिरपर सरसोंके दानेके समान जान पड़ता है। मैं आप सहस्रशीर्षा भगवान्‌को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब विद्याधरोंके अधिपति चित्रकेतुने अनन्तभगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने प्रसन्न होकर उनसे कहा ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—चित्रकेतो! देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिराने तुम्हें मेरे सम्बन्धमें जिस विद्याका उपदेश दिया है, उससे और मेरे दर्शनसे तुम भलीभाँति सिद्ध हो चुके हो ॥ ५० ॥ मैं ही समस्त प्राणियोंके रूपमें हूँ, मैं ही उनका आत्मा हूँ और मैं ही पालनकर्ता भी हूँ। शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म दोनों ही मेरे सनातन रूप हैं ॥ ५१ ॥ आत्मा कार्य-कारणात्मक जगत्‌में व्याप्त है और कार्य-कारणात्मक जगत् आत्मामें स्थित है तथा इन दोनोंमें मैं अधिष्ठानरूपसे व्याप्त हूँ और मुझमें ये दोनों कल्पित हैं ॥ ५२ ॥ जैसे स्वप्नमें सोया हुआ पुरुष स्वप्नान्तर होनेपर सम्पूर्ण जगत्‌को अपनेमें ही देखता है और स्वप्नान्तर टूट जानेपर स्वप्नमें ही जागता है तथा अपनेको संसारके एक कोनेमें स्थित देखता है, परंतु वास्तवमें वह भी स्वप्न ही है, वैसे ही जीवकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ परमेश्वरकी ही माया हैं—यों जानकर सबके साक्षी मायातीत परमात्माका ही स्मरण करना चाहिये ॥ ५३-५४ ॥

१. प्रा० पा०—प्रसुप्तः। २. प्रा० पा०—स्मरेत माम्।

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥५५॥
उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः ।
अन्वेति व्यतिरिच्येत [1]तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम् ।५६।
यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥
लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न [2]क्वचिच्छममाप्नुयात् ।५८।
स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।
[3]अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्[4]कविः ॥५९॥
सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽ[5]निवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥६०॥
एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ।६१।
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
[6]ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥६२॥

सोया हुआ पुरुष जिसकी सहायतासे अपनी निद्रा और उसके अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ; उसे तुम अपनी आत्मा समझो ॥५५॥ पुरुष निद्रा और जागृति—इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला है। वह उन अवस्थाओंमें अनुगत होनेपर भी वास्तवमें उनसे पृथक् है। वह सब अवस्थाओंमें रहनेवाला अखण्ड एकरस ज्ञान ही ब्रह्म है, वही परब्रह्म है ॥५६॥ जब जीव मेरे स्वरूपको भूल जाता है, तब वह अपनेको अलग मान बैठता है; इसीसे उसे संसारके चक्करमें पड़ना पड़ता है और जन्म-पर-जन्म तथा मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥ यह मनुष्ययोनि ज्ञान और विज्ञान-का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्म-स्वरूप परमात्माको नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनिमें शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ५८ ॥ राजन्! सांसारिक सुखके लिये जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनमें श्रम है, क्लेश है; और जिस परम सुखके उद्देश्यसे वे की जाती हैं, उसके ठीक विपरीत परम दुःख देती हैं; किंतु कर्मोंसे निवृत्त हो जानेमें किसी प्रकारका भय नहीं है—यह सोचकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि किसी प्रकारके कर्म अथवा उनके फलोंका संकल्प न करे ॥ ५९ ॥ जगत्के सभी स्त्री-पुरुष इसलिये कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और उनका दुःखोंसे पिण्ड छूटे; परंतु उन कर्मोंसे न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुखकी ही प्राप्ति होती है ॥ ६० ॥ जो मनुष्य अपनेको बहुत बड़ा बुद्धिमान् मानकर कर्म-के पचड़ोंमें पड़े हुए हैं, उनको विपरीत फल मिलता है—यह बात समझ लेनी चाहिये; साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि आत्माका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके अभिमानियोंसे विलक्षण है ॥ ६१ ॥ यह जान-कर इस लोकमें देखे और परलोकके सुने हुए विषय-भोगोंसे विवेकबुद्धिके द्वारा अपना पिण्ड छुड़ा ले और ज्ञान तथा विज्ञानमें ही संतुष्ट रहकर मेरा भक्त हो जाय ॥ ६२ ॥

१. प्रा० पा०—ज्ञानं तद् ब्रह्म । २. प्रा० पा०—चित्क्षेम० । ३. प्रा० पा०—नो भयं । ४. प्रा० पा०—त्क्वचित् ।
५. प्रा० पा०—त्तिर्न प्राप्ति० । ६. प्रा० पा०—विज्ञानज्ञानसंहृष्टो ।

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥६३॥
त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥ ६४॥

श्रीशुक उवाच

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥६५॥

जो लोग योगमार्गका तत्त्व समझनेमें निपुण हैं, उनको भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ और परमार्थ केवल इतना ही है कि वह ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव कर ले ॥ ६३ ॥ राजन् ! यदि तुम मेरे इस उपदेशको सावधान होकर श्रद्धाभावसे धारण करोगे तो ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाओगे ॥ ६४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि चित्रकेतुको इस प्रकार समझा-बुझाकर उनके सामने ही वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतोः परमात्मदर्शनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको पार्वतीजीका शाप

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः ।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः ॥ १ ॥
स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः ।
स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २ ॥
कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु ।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम् ॥ ३ ॥
एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४ ॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विद्याधर चित्रकेतु जिस दिशामें भगवान् संकर्षण अन्तर्धान हुए थे, उसे नमस्कार करके आकाशमार्गसे स्वच्छन्द विचरने लगे ॥ १ ॥ महायोगी चित्रकेतु करोड़ों वर्षोंतक सब प्रकारके संकल्पोंको पूर्ण करनेवाली सुमेरु पर्वतकी घाटियोंमें विहार करते रहे । उनके शरीरका बल और इन्द्रियोंकी शक्ति अक्षुण्ण रही । बड़े-बड़े मुनि, सिद्ध, चारण उनकी स्तुति करते रहते। उनकी प्रेरणासे विद्याधरोंकी स्त्रियाँ उनके पास सर्वशक्तिमान् भगवान्के गुण और लीलाओंका गान करती रहतीं ॥ २-३ ॥ एक दिन चित्रकेतु भगवान्के दिये हुए तेजोमय विमानपर सवार होकर कहीं जा रहे थे । इसी समय उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर बड़े-बड़े मुनियोंकी सभामें सिद्ध-चारणोंके बीच बैठे हुए हैं और साथ ही भगवती पार्वतीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उन्हें आलिङ्गन किये हुए हैं, यह देखकर चित्रकेतु विमानपर चढ़े हुए ही उनके पास

१. प्रा० पा०—नैपुण्य० । २. प्रा० पा०—रात्म्यैक० । ३. प्रा० पा०—त्रकेतूपाख्याने परमपुरुषादेशः षोड० । ४. प्रा० पा०—स्ववि० ।

उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५ ॥

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् ।
आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥ ६ ॥
जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः ।
अङ्कीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥ ७ ॥
प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति ।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप ।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः ॥ ९ ॥
इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् ।
रुषाऽऽह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥१०॥

पार्वत्युवाच

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः ।
अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥११॥
न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-
र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।
न वै कुमारः कपिलो मनुश्च
ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥१२॥
एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥१३॥
नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् ।

चले गये और भगवती पार्वतीको सुना-सुनाकर जोरसे हँसने और कहने लगे ॥ ४-५ ॥

चित्रकेतुने कहा—अहो! ये सारे जगत्‌के धर्मशिक्षक और गुरुदेव हैं? ये समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं। इनकी यह दशा है कि भरी सभामें अपनी पत्नीको शरीरसे चिपकाकर बैठे हुए हैं ॥ ६ ॥ जटाधारी, बहुत बड़े तपस्वी एवं ब्रह्मवादियोंके सभापति होकर भी साधारण पुरुषके समान निर्लज्जतासे गोदमें स्त्री लेकर बैठे हैं ॥७॥ प्रायः साधारण पुरुष भी एकान्तमें ही स्त्रियोंके साथ उठते-बैठते हैं, परंतु ये इतने बड़े व्रतधारी होकर भी उसे भरी सभामें लिये बैठे हैं ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् शंकरकी बुद्धि अगाध है। चित्रकेतुका यह कटाक्ष सुनकर वे हँसने लगे, कुछ भी बोले नहीं। उस सभामें बैठे हुए उनके अनुयायी सदस्य भी चुप रहे। चित्रकेतुको भगवान् शंकरका प्रभाव नहीं मालूम था। इसीसे वे उनके लिये बहुत कुछ बुरा-भला बक रहे थे। उन्हें इस बातका घमंड हो गया था कि 'मैं जितेन्द्रिय हूँ।' पार्वतीजीने उनकी यह धृष्टता देखकर क्रोधसे कहा—॥९-१०॥

पार्वतीजी बोलीं—अहो! हम-जैसे दुष्ट और निर्लज्जोंका दण्डके बलपर शासन एवं तिरस्कार करनेवाला प्रभु इस संसारमें यही है क्या? ॥ ११ ॥ जान पड़ता है कि ब्रह्माजी, भृगु, नारद आदि उनके पुत्र, सनकादि परमर्षि, कपिलदेव और मनु आदि बड़े-बड़े महापुरुष धर्मका रहस्य नहीं जानते। तभी तो वे धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले भगवान् शिवको इस कामसे नहीं रोकते ॥ १२ ॥ ब्रह्मा आदि समस्त महापुरुष जिनके चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं, उन्हीं मङ्गलोंको मङ्गल बनानेवाले साक्षात् जगद्गुरु भगवान्‌का और उनके अनुयायी महात्माओंका इस अधम क्षत्रियने तिरस्कार किया है और शासन करनेकी चेष्टा की है। इसलिये यह ढीठ सर्वथा दण्डका पात्र है ॥ १३ ॥ इसे अपने बड़प्पनका घमंड है। यह मूर्ख भगवान् श्रीहरिके उन चरणकमलों-

१. प्रा० पा०—आर्यमुख्यः सत्सभायां। २. प्रा० पा०—सभ्याश्चासन्ननुव्रताः। ३. प्राचीन प्रतिमें 'पार्वत्युवाच' यह पाठ नहीं है। ४. प्रा० पा०—दादयः। ५. प्रा० पा०—कुमारो मुनिवृन्दवन्द्यो। ६. प्रा० पा०—यत्।

सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् १४

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते ।

यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः ।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥१६॥

चित्रकेतुरुवाच

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥१७॥
संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहितः ।
भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा १८
नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः ।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥१९॥
गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः ।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ।२०।
एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया ।
एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥२१॥

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः ।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥२२॥

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥२३॥

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि ।

में रहने योग्य नहीं है, जिनकी उपासना बड़े-बड़े सत्पुरुष किया करते हैं ॥ १४ ॥ [चित्रकेतुको सम्बोधनकर] अतः दुर्मते ! तुम पापमय असुरयोनिमें जाओ । ऐसा होनेसे बेटा ! तुम फिर कभी किसी महापुरुषका अपराध नहीं कर सकोगे ॥ १५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब पार्वतीजीने इस प्रकार चित्रकेतुको शाप दिया, तब वे विमानसे उतर पड़े और सिर झुकाकर उन्हें प्रसन्न करने लगे ॥ १६॥

चित्रकेतुने कहा—माता पार्वतीजी ! मैं बड़ी प्रसन्नतासे अपने दोनों हाथ जोड़कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। क्योंकि देवता लोग मनुष्योंके लिये जो कुछ कह देते हैं, वह उनके प्रारब्धानुसार मिलनेवाले फलकी पूर्वसूचनामात्र होती है ॥ १७ ॥ देवि ! यह जीव अज्ञानसे मोहित हो रहा है और इसी कारण इस संसार-चक्रमें भटकता रहता है तथा सदा-सर्वदा सर्वत्र सुख और दुःख भोगता रहता है ॥ १८ ॥ माताजी ! सुख और दुःखको देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा । जो अज्ञानी हैं, वे ही अपनेको अथवा दूसरेको सुख-दुःखका कर्ता माना करते हैं ॥ १९ ॥ यह जगत् सत्त्व, रज आदि गुणोंका स्वाभाविक प्रवाह है । इसमें क्या शाप, क्या अनुग्रह, क्या स्वर्ग, क्या नरक और क्या सुख, क्या दुःख ॥ २० ॥ एकमात्र परिपूर्णतम भगवान् ही बिना किसीकी सहायताके अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाके द्वारा समस्त प्राणियोंकी तथा उनके बन्धन, मोक्ष और सुख-दुःखकी रचना करते हैं ॥ २१ ॥ माताजी ! भगवान् श्रीहरि सबमें सम और माया आदि मलसे रहित हैं । उनका कोई प्रिय-अप्रिय, जाति-बन्धु, अपना-पराया नहीं है । जब उनका सुखमें राग ही नहीं है, तब उनमें रागजन्य क्रोध तो हो ही कैसे सकता है ॥ २२ ॥ तथापि उनकी मायाशक्तिके कार्य पाप और पुण्य ही प्राणियोंके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, मृत्यु-जन्म और आवागमनके कारण बनते हैं ॥२३॥ पतिप्राणा देवि ! मैं शापसे मुक्त होनेके लिये आपको प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ।

१. प्रा० पा०—वितोऽतिसंस्तब्धः । २. प्रा० पा०—कर्तापुत्र । ३. प्रा० पा०—भ्रमन् । ४. प्रा० पा०—कस्त्व० । ५. प्रा० पा०—यितो न प्रती० । ६. प्रा० पा०—सर्वस्य । ७. प्रा० पा०—अतः ।

यन्मन्यसे असाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥२४॥

मैं तो यह चाहता हूँ कि आपको मेरी जो बात अनुचित प्रतीत हुई हो, उसके लिये क्षमा करें ॥ २४ ॥

[1]श्रीशुक उवाच

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम ।
जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः ॥२५॥
ततस्तु भगवान् रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत्[2] ।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां[3] पार्षदानां च शृण्वताम् ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! विद्याधर चित्रकेतु भगवान् शंकर और पार्वतीजीको इस प्रकार प्रसन्न करके उनके सामने ही विमानपर सवार होकर वहाँसे चले गये। इससे उन लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥२५॥ तब भगवान् शंकरने देवता, ऋषि, दैत्य, सिद्ध और पार्षदोंके सामने ही भगवती पार्वतीजीसे यह बात कही ॥२६॥

श्रीरुद्र[4] उवाच

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् २७
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥२८॥
देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वानीश्वरलीलया ।
सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥२९॥
अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि ।
गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः ॥३०॥
वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद् व्यपाश्रयः ॥३१॥
नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।
विदाम यस्येहितमंशकांशका
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥३२॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥३३॥

भगवान् शंकरने कहा—सुन्दरि! दिव्यलीलाविहारी भगवान्‌के निःस्पृह और उदारहृदय दासानुदासोंकी महिमा तुमने अपनी आँखों देख ली ॥ २७ ॥ जो लोग भगवान्‌के शरणागत होते हैं, वे किसीसे भी नहीं डरते। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष और नरकोंमें भी एक ही वस्तुके—केवल भगवान्‌के ही समान भावसे दर्शन होते हैं ॥२८॥ जीवोंको भगवान्‌की लीलासे ही देहका संयोग होनेके कारण सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥ जैसे स्वप्नमें भेद-भ्रमसे सुख-दुःख आदिकी प्रतीति होती है और जाग्रत् अवस्थामें भ्रमवश मालामें ही सर्पबुद्धि हो जाती है—वैसे ही मनुष्य अज्ञानवश आत्मामें देवता, मनुष्य आदिका भेद तथा गुण-दोष आदिकी कल्पना कर लेता है ॥३०॥ जिनके पास ज्ञान और वैराग्यका बल है और जो भगवान् वासुदेवके चरणोंमें भक्तिभाव रखते हैं, उनके लिये इस जगत्‌में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे वे हेय या उपादेय समझकर राग-द्वेष करें ॥ ३१ ॥ मैं, ब्रह्माजी, सनकादि, नारद, ब्रह्माजीके पुत्र भृगु आदि मुनि और बड़े-बड़े देवता—कोई भी भगवान्‌की लीलाका रहस्य नहीं जान पाते। ऐसी अवस्थामें जो उनके नन्हे-से-नन्हे अंश हैं और अपनेको उनसे अलग ईश्वर मान बैठे हैं, वे उनके स्वरूपको जान ही कैसे सकते हैं? ॥ ३२ ॥ भगवान्‌को न कोई प्रिय है और न अप्रिय। उनका न कोई अपना है और न पराया। वे सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, इसलिये सभी प्राणियोंके प्रियतम हैं ॥ ३३ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—मिति चा०। ३. प्रा० पा०—सिद्धये। ४. प्रा० पा०—देव उवाच।

तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।
सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥३४॥
तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु ।
महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥३५॥

प्रिये ! यह परम भाग्यवान् चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर, शान्त एवं समदर्शी है और मैं भी भगवान् श्रीहरिका ही प्रिय हूँ ॥ ३४ ॥ इसलिये तुम्हें भगवान्के प्यारे भक्त, शान्त, समदर्शी, महात्मा पुरुषोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम् ।
बभूव शान्तधी राजन् देवी विगतविस्मया ॥३६॥
इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः ।
मूर्ध्ना सञ्जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥३७॥
जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥३८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥३९॥
इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।
माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते ॥४०॥
य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया[1] वाग्यतः पठेत् ।
इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥४१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् शंकरका यह भाषण सुनकर भगवती पार्वतीकी चित्तवृत्ति शान्त हो गयी और उनका विस्मय जाता रहा ॥ ३६ ॥ भगवान्के परमप्रेमी भक्त चित्रकेतु भी भगवती पार्वतीको बदलेमें शाप दे सकते थे, परंतु उन्होंने उन्हें शाप न देकर उनका शाप सिर चढ़ा लिया । यही साधु पुरुषका लक्षण है ॥ ३७ ॥ यही विद्याधर चित्रकेतु दानवयोनिका आश्रय लेकर त्वष्टाके दक्षिणाग्निसे पैदा हुए । वहाँ इनका नाम वृत्रासुर हुआ और वहाँ भी ये भगवत्स्वरूपके ज्ञान एवं भक्तिसे परिपूर्ण ही रहे ॥ ३८ ॥ तुमने मुझसे पूछा था कि वृत्रासुरका दैत्ययोनिमें जन्म क्यों हुआ और उसे भगवान्की ऐसी भक्ति कैसे प्राप्त हुई ? उसका पूरा-पूरा विवरण मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ३९ ॥ महात्मा चित्रकेतुका यह पवित्र इतिहास केवल उनका ही नहीं, समस्त विष्णुभक्तोंका माहात्म्य है; इसे जो सुनता है, वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥४०॥ जो पुरुष प्रातःकाल उठकर मौन रहकर श्रद्धाके साथ भगवान्का स्मरण करते हुए इस इतिहासका पाठ करता है, उसे परमगतिकी प्राप्ति होती है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुशापो[2] नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अदिति और दितिकी संतानोंकी तथा मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! सविताकी पत्नी पृश्निके गर्भसे आठ संतानें हुईं—सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य और पञ्चमहायज्ञ ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—श्रद्धावान् । २. प्रा० पा०—केतूपाख्याने सप्तदशः ।

सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम् ।
आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥ २ ॥
धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा ।
सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥ ३ ॥
अग्नीन् पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः ।
चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥ ४ ॥
वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत्किल ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी ॥ ५ ॥
रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् ।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥ ६ ॥
पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन् पुत्रानिति नः श्रुतम् ।
जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥ ७ ॥
उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः ।
कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन् सौभगादयः ।८।
तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः ।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथा वावततार ह ॥ ९ ॥
अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते ।
यत्र[1] भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥१०॥
दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ ।

भगकी पत्नी सिद्धिने महिमा, विभु और प्रभु—ये तीन पुत्र और आशिष् नामकी एक कन्या उत्पन्न की। यह कन्या बड़ी सुन्दरी और सदाचारिणी थी ॥ २ ॥ धाताकी चार पत्नियाँ थीं—कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति । उनसे क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास—ये चार पुत्र हुए ॥ ३ ॥ धाताके छोटे भाईका नाम था—विधाता, उनकी पत्नी क्रिया थी । उससे पुरीष्य नामके पाँच अग्नियोंकी उत्पत्ति हुई । वरुणजीकी पत्नीका नाम चर्षणी था । उससे भृगुजीने पुनः जन्म ग्रहण किया । इसके पहले वे ब्रह्माजीके पुत्र थे ॥ ४ ॥ महायोगी वाल्मीकिजी भी वरुणके पुत्र थे । वल्मीकसे पैदा होनेके कारण ही उनका नाम वाल्मीकि पड़ गया था । उर्वशीको देखकर मित्र और वरुण दोनोंका वीर्य स्खलित हो गया था । उसे उन लोगोंने घड़ेमें रख दिया । उसीसे मुनिवर अगस्त्य और वसिष्ठजीका जन्म हुआ । मित्रकी पत्नी थी रेवती । उसके तीन पुत्र हुए—उत्सर्ग, अरिष्ट और पिप्पल ॥ ५-६ ॥ प्रिय परीक्षित् ! देवराज इन्द्रकी पत्नी थीं पुलोमनन्दिनी शची । उनसे, हमने सुना है, उन्होंने तीन पुत्र उत्पन्न किये—जयन्त, ऋषभ और मीढ्वान् ॥७॥ स्वयं भगवान् विष्णु ही (बलिपर अनुग्रह करने और इन्द्रका राज्य लौटानेके लिये) मायासे वामन (उपेन्द्र) के रूपमें अवतीर्ण हुए थे । उन्होंने तीन पग पृथ्वी माँगकर तीनों लोक नाप लिये थे । उनकी पत्नीका नाम था कीर्ति । उससे बृहच्छ्लोक नामका पुत्र हुआ । उसके सौभग आदि कई संतानें हुईं ॥८॥ कश्यपनन्दन भगवान् वामनने माता अदितिके गर्भसे क्यों जन्म लिया और इस अवतारमें उन्होंने कौन-से गुण, लीलाएँ और पराक्रम प्रकट किये—इसका वर्णन मैं आगे (आठवें स्कन्धमें) करूँगा ॥ ९ ॥

प्रिय परीक्षित् ! अब मैं कश्यपजीकी दूसरी पत्नी दितिसे उत्पन्न होनेवाली उस संतान-परम्पराका वर्णन सुनाता हूँ, जिसमें भगवान्‌के प्यारे भक्त श्रीप्रह्लादजी और बलिका जन्म हुआ ॥ १० ॥ दितिके दैत्य और दानवोंके वन्दनीय दो ही पुत्र हुए—

१. प्रा० पा०—अत्र ।

हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ ॥११॥
हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी ।
जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुतान् ॥१२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च ।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥१३॥
शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम् ।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः ॥१४॥
ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम् ।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥१५॥
अनुह्लादस्य सूर्म्यायां बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद्बलिः ॥१६॥
बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत् ।
तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते ॥१७॥
बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम् ।
यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः ॥१८॥
मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥१९॥

राजोवाच

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो ।
इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः ॥२०॥
इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह ।
परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥२१॥

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। इनकी संक्षिप्त कथा मैं तुम्हें (तीसरे स्कन्धमें) सुना चुका हूँ॥ ११ ॥ हिरण्यकशिपुकी पत्नी दानवी कयाधु थी। उसके पिता जम्भने उसका विवाह हिरण्यकशिपुसे कर दिया था। कयाधुके चार पुत्र हुए—संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद। इनकी सिंहिका नामकी एक बहिन भी थी। उसका विवाह विप्रचित्ति नामक दानवसे हुआ। उससे राहु नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ॥ १२-१३ ॥ यह वही राहु है, जिसका सिर अमृतपानके समय मोहिनीरूपधारी भगवान्‌ने चक्रसे काट लिया था। संह्लादकी पत्नी थी कृति। उससे पञ्चजन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥ ह्लादकी पत्नी थी धमनि। उसके दो पुत्र हुए—वातापि और इल्वल। इस इल्वलने ही महर्षि अगस्त्यके आतिथ्यके समय वातापिको पकाकर उन्हें खिला दिया था॥ १५॥ अनुह्लादकी पत्नी सूर्म्या थी, उसके दो पुत्र हुए—बाष्कल और महिषासुर। प्रह्लादका पुत्र था विरोचन। उसकी पत्नी देवीके गर्भसे दैत्यराज बलिका जन्म हुआ ॥ १६ ॥ बलिकी पत्नीका नाम अशना था। उससे बाण आदि सौ पुत्र हुए। दैत्यराज बलिकी महिमा गान करने योग्य है। उसे मैं आगे (आठवें स्कन्धमें) सुनाऊँगा ॥ १७ ॥ बलिका पुत्र बाणासुर भगवान् शंकरकी आराधना करके उनके गणोंका मुखिया बन गया। आज भी भगवान् शंकर उसके नगरकी रक्षा करनेके लिये उसके पास ही रहते हैं ॥ १८ ॥ दितिके हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके अतिरिक्त उन्चास पुत्र और थे, उन्हें मरुद्गण कहते हैं। वे सब निःसंतान रहे। देवराज इन्द्रने उन्हें अपने ही समान देवता बना लिया ॥ १९ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मरुद्गणने ऐसा कौन-सा सत्कर्म किया था, जिसके कारण वे अपने जन्मजात असुरोचित भावको छोड़ सके और देवराज इन्द्रके द्वारा देवता बना लिये गये? ॥ २० ॥ ब्रह्मन्! मेरे साथ यहाँकी सभी ऋषिमण्डली यह बात जाननेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रही है। अतः आप कृपा करके विस्तारसे वह रहस्य बतलाइये ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—प्रह्लादं ह्लादमेव च। २. प्रा० पा०—सती। ३. प्रा० पा०—सूर्यायां।

सूत उवाच

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-
र्वचो निशम्याद्दतमल्पमर्थवत्।
सभाजयन् संनिभृतेन चेतसा
जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना।
मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥२३॥
कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम्।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥२४॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञाऽऽसीद्यस्येशाभिहितस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥२५॥
आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः।
मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद्येन सुतो हि मे ॥२६॥
इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम्।
शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ॥२७॥
भक्त्या परमया राजन् मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः।
मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः ॥२८॥
एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि विदग्धया।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति ॥२९॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! राजा परीक्षित्‌का प्रश्न थोड़े शब्दोंमें बड़ा सारगर्भित था । उन्होंने बड़े आदरसे पूछा भी था । इसलिये सर्वज्ञ श्रीशुकदेवजी महाराजने बड़े ही प्रसन्न चित्तसे उनका अभिनन्दन करके यों कहा ॥ २२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—परीक्षित् ! भगवान् विष्णुने इन्द्रका पक्ष लेकर दितिके दोनों पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षको मार डाला । अतः दिति शोककी आगसे उद्दीप्त क्रोधसे जलकर इस प्रकार सोचने लगी ॥ २३ ॥ 'सचमुच इन्द्र बड़ा विषयी, क्रूर और निर्दयी है । राम ! राम ! उसने अपने भाइयोंको ही मरवा डाला । वह दिन कब होगा, जब मैं भी उस पापीको मरवाकर आरामसे सोऊँगी ॥ २४ ॥ लोग राजाओंके, देवताओंके शरीरको 'प्रभु' कहकर पुकारते हैं; परंतु एक दिन वह कीड़ा, विष्ठा या राखका ढेर हो जाता है, इसके लिये जो दूसरे प्राणियोंको सताता है, उसे अपने सच्चे स्वार्थ या परमार्थका पता नहीं है; क्योंकि इससे तो नरकमें जाना पड़ेगा ॥ २५ ॥ मैं समझती हूँ इन्द्र अपने शरीरको नित्य मानकर मतवाला हो रहा है । उसे अपने विनाशका पता ही नहीं है । अब मैं वह उपाय करूँगी, जिससे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो इन्द्रका घमंड चूर-चूर कर दे' ॥ २६ ॥ दिति अपने मनमें ऐसा विचार करके सेवा-शुश्रूषा, विनय-प्रेम और जितेन्द्रियता आदिके द्वारा निरन्तर अपने पतिदेव कश्यपजीको प्रसन्न रखने लगी ॥ २७ ॥ वह अपने पतिदेवके हृदयका एक-एक भाव जानती रहती थी और परम प्रेमभाव, मनोहर एवं मधुर भाषण तथा मुसकानभरी तिरछी चितवनसे उनका मन अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी ॥ २८ ॥ कश्यपजी महाराज बड़े विद्वान् और विचारवान् होनेपर भी चतुर दितिकी सेवासे मोहित हो गये और उन्होंने विवश होकर यह स्वीकार कर लिया कि 'मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा ।' स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—मर्थदक्। २. प्रा० पा०—जयंस्तं निभृतेन तेजसा।

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता ॥३०॥
एवं शुश्रूषितस्तात भगवान् कश्यपः स्त्रिया ।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च ॥३१॥

कश्यप उवाच

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते ।
स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः ॥३२॥
पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम् ।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः ॥३३॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः ।
इज्यते भगवान् पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक् ॥३४॥
तस्मात्पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे ।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम् ॥३५॥
सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः ।
तत्ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम् ॥३६॥

दितिरुवाच

वरदो[2] यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे ।
अमृत्युं मृ[3]तपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥३७॥
निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत ।

सृष्टिके प्रभातमें ब्रह्माजीने देखा कि सभी जीव असंग हो रहे हैं। तब उन्होंने अपने आधे शरीरसे स्त्रियोंकी रचना की। और स्त्रियोंने पुरुषोंकी मति अपनी ओर आकर्षित कर ली ॥ ३० ॥ हाँ, तो भैया! मैं कह रहा था कि दितिने भगवान् कश्यपकी बड़ी सेवा की। इससे वे उसपर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने दितिका अभिनन्दन करते हुए उससे मुसकराकर कहा ॥ ३१ ॥

कश्यपजीने कहा—अनिन्द्यसुन्दरी प्रिये! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो। पतिके प्रसन्न हो जानेपर पत्नीके लिये लोक या परलोकमें कौन-सी अभीष्ट वस्तु दुर्लभ है ॥ ३२ ॥ शास्त्रोंमें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि पति ही स्त्रियोंका परमाराध्य इष्टदेव है। प्रिये! लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव ही समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं ॥ ३३ ॥ विभिन्न देवताओंके रूपमें नाम और रूपके भेदसे उन्हींकी कल्पना हुई है। सभी पुरुष—चाहे किसी भी देवताकी उपासना करें—उन्हींकी उपासना करते हैं। ठीक वैसे ही स्त्रियोंके लिये भगवान्ने पतिका रूप धारण किया है। वे उनकी उसी रूपमें पूजा करती हैं ॥ ३४ ॥ इसलिये प्रिये! अपना कल्याण चाहनेवाली पतिव्रता स्त्रियाँ अनन्य प्रेमभावसे अपने पतिदेवकी ही पूजा करती हैं; क्योंकि पतिदेव ही उनके परम प्रियतम आत्मा और ईश्वर हैं ॥ ३५ ॥ कल्याणी! तुमने बड़े प्रेमभावसे, भक्तिसे मेरी वैसी ही पूजा की है। अब मैं तुम्हारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण कर दूँगा। असतियोंके जीवनमें ऐसा होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ३६ ॥

दितिने कहा—ब्रह्मन्! इन्द्रने विष्णुके हाथों मेरे दो पुत्र मरवाकर मुझे निपूती बना दिया है। इसलिये यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना चाहते हैं तो कृपा करके एक ऐसा अमर पुत्र दीजिये, जो इन्द्रको मार डाले ॥ ३७ ॥

परीक्षित्! दितिकी बात सुनकर कश्यपजी खिन्न होकर पछताने लगे। वे मन-ही-मन कहने लगे—

१. प्रा० पा०—विमोहित०। २. प्रा० पा०—दोऽसि यदि ब्रह्म०। ३. प्रा० पा०—हतपुत्रा।

अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः ॥३८॥
अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया ।
गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम् ॥३९॥
कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः ।
धिङ्[2] मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः ॥४०॥
शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥४१॥
न हि कश्चित्प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् ।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥४२॥
प्रतिश्रुतं ददामीति[3] वचस्तन्न मृषा भवेत् ।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ॥४३॥
इति संचिन्त्य भगवान्मारीचः कुरुनन्दन ।
उवाच किञ्चित् कुपित आत्मानं च विगर्हयन् ॥४४॥

'हाय-हाय ! आज मेरे जीवनमें बहुत बड़े अधर्मका अवसर आ पहुँचा ॥ ३८ ॥ देखो तो सही, अब मैं इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख मानने लगा हूँ । स्त्रीरूपिणी मायाने मेरे चित्तको अपने वशमें कर लिया है । हाय ! हाय ! आज मैं कितनी दीन-हीन अवस्थामें हूँ । अवश्य ही अब मुझे नरकमें गिरना पड़ेगा ॥३९॥ इस स्त्रीका कोई दोष नहीं है; क्योंकि इसने अपने जन्मजात स्वभावका ही अनुसरण किया है । दोष मेरा है—जो मैं अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें न रख सका, अपने सच्चे स्वार्थ और परमार्थको न समझ सका । मुझ मूढ़को बार-बार धिक्कार है ॥ ४० ॥ सच है, स्त्रियोंके चरित्रको कौन जानता है । इनका मुँह तो ऐसा होता है जैसे शरद्‌ऋतुका खिला हुआ कमल । बातें सुननेमें ऐसी मीठी होती हैं, मानो अमृत घोल रक्खा हो । परंतु हृदय, वह तो इतना तीखा होता है, मानो छुरेकी पैनी धार हो ॥ ४१ ॥ इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियाँ अपनी लालसाओंकी कठपुतली होती हैं । सच पूछो तो वे किसीसे प्यार नहीं करतीं । स्वार्थवश वे अपने पति, पुत्र और भाईतकको मार डालती हैं या मरवा डालती हैं ॥ ४२ ॥ अब तो मैं कह चुका हूँ कि जो तुम माँगोगी, दूँगा । मेरी बात झूठ नहीं होनी चाहिये । परंतु इन्द्र भी वध करने योग्य नहीं है । अच्छा, अब इस विषयमें मैं यह युक्ति करता हूँ' ॥ ४३ ॥ प्रिय परीक्षित् ! सर्वसमर्थ कश्यपजीने इस प्रकार मन-ही-मन अपनी भर्त्सना करके दोनों बात बनानेका उपाय सोचा और फिर तनिक रुष्ट होकर दितिसे कहा ॥ ४४ ॥

कश्यप उवाच

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥४५॥

कश्यपजी बोले—कल्याणी ! यदि तुम मेरे बतलाये हुए व्रतका एक वर्षतक विधिपूर्वक पालन करोगी तो तुम्हें इन्द्रको मारनेवाला पुत्र प्राप्त होगा । परंतु यदि किसी प्रकार नियमोंमें त्रुटि हो गयी तो वह देवताओंका मित्र बन जायगा ॥ ४५ ॥

दितिरुवाच

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन्ब्रूहि कार्याणि यानि मे ।

दितिने कहा—ब्रह्मन् ! मैं उस व्रतका पालन करूँगी । आप बतलाइये कि मुझे क्या-क्या करना

१. प्रा० पा०—मय्येव । २. प्रा० पा०—विप्लावितो ध्रुवार्थेषु यदहं । ३. प्रा० पा०—ददानीति ।

यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यानि तु ॥४६॥

कश्यप उवाच

न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत् ।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ॥४७॥
नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनैः ।
न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित् ॥४८॥
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् ।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेदञ्जलिना त्वपः ॥४९॥
नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा ।
अनर्चितासंयतवाङ् नासंवीता बहिश्चरेत् ॥५०॥
नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपान्नो उदक्शिराः ।
शयीत नापराङ्नान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः ॥५१॥
धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता ।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्गोविप्राञ् श्रियमच्युतम् ॥५२॥
स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत्स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत्कोष्ठगतं च तम् ॥५३॥
सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् ।
धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥५४॥
बाढमित्यभिप्रेत्याथ दिती राजन् महामनाः ।

चाहिये, कौन-कौन-से काम छोड़ देने चाहिये और कौन-से काम ऐसे हैं, जिनसे व्रत भङ्ग नहीं होता ॥ ४६ ॥

कश्यपजीने उत्तर दिया—प्रिये! इस व्रतमें किसी भी प्राणीको मन, वाणी या क्रियाके द्वारा सताये नहीं, किसीको शाप या गाली न दे, झूठ न बोले, शरीरके नख और रोएँ न काटे और किसी भी अशुभ वस्तुका स्पर्श न करे ॥ ४७ ॥ जलमें घुसकर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे बात-चीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने और किसीकी पहनी हुई माला न पहने ॥ ४८ ॥ जूठा न खाय, भद्रकालीका प्रसाद या मांसयुक्त अन्नका भोजन न करे। शूद्रका लाया हुआ और रजस्वलाका देखा हुआ अन्न भी न खाय और अञ्जलिसे जलपान न करे ॥ ४९ ॥ जूठे मुँह, बिना आचमन किये सन्ध्याके समय, बाल खोले हुए, बिना शृङ्गारके, वाणीका संयम किये बिना और बिना चदर ओढ़े घरसे बाहर न निकले ॥ ५० ॥ बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पाँवोंसे उत्तर या पश्चिम सिर करके, दूसरेके साथ, नग्नावस्थामें तथा सुबह-शाम सोना नहीं चाहिये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार इन निषिद्ध कर्मोंका त्याग करके सर्वदा पवित्र रहे, धुला वस्त्र धारण करे और सभी सौभाग्यके चिह्नोंसे सुसज्जित रहे। प्रातःकाल कलेवा करनेके पहले ही गाय, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी और भगवान् नारायणकी पूजा करे ॥ ५२ ॥ इसके बाद पुष्पमाला, चन्दनादि सुगन्ध-द्रव्य, नैवेद्य और आभूषणादिसे सुहागिनी स्त्रियोंकी पूजा करे तथा पतिकी पूजा करके उसकी सेवामें संलग्न रहे और यह भावना करती रहे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है ॥ ५३ ॥ प्रिये! इस व्रतका नाम 'पुंसवन' है। यदि एक वर्षतक तुम इसे बिना किसी त्रुटिके पालन कर सकोगी तो तुम्हारी कोखसे इन्द्रघाती पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ५४ ॥

परीक्षित्! दिति बड़ी मनस्विनी और दृढ़ निश्चयवाली थी। उसने 'बहुत ठीक' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब दिति अपनी कोखमें भगवान्

१. प्रा० पा०—यान्युत। २. प्रा० पा०—नार्द्रपादा। ३. प्रा० पा०—नापराह्ने वै नग्ना च न च। ४. प्रा० पा०—त्यम्युपेत्या०।

काश्यपं[1] गर्भमाधत्त व्रतं चाञ्जो[2] दधार सा ॥५५॥
मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः[3] ॥५६॥
नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत् ॥५७॥
एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप ।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः ॥५८॥
नाध्यगच्छद्व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते ।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह ५९
एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता ।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥
लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः ।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥
चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् ।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान् पुनः ॥६२॥
ते तमूचुः पाट्यमानाः सर्वे प्राञ्जलयो नृप ।
नो[4] जिघांससि किमिन्द्र भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥
मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः ।
अनन्यभावान् पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ।६४।

कश्यपका वीर्य और जीवनमें उनका बतलाया हुआ व्रत धारण करके अनायास ही नियमोंका पालन करने लगी ॥ ५५ ॥ प्रिय परीक्षित् ! देवराज इन्द्र अपनी मौसी दितिका अभिप्राय जान बड़ी बुद्धिमानीसे अपना वेष बदलकर दितिके आश्रमपर आये और उसकी सेवा करने लगे ॥ ५६ ॥ वे दितिके लिये प्रतिदिन समय-समयपर वनसे फूल-फल, कन्द-मूल, समिधा-कुश, पत्ते, दूब, मिट्टी और जल लाकर उसकी सेवामें समर्पित करते ॥ ५७ ॥ राजन् ! जिस प्रकार बहेलिया हरिनको मारनेके लिये हरिनकी-सी सूरत बनाकर उसके पास जाता है, वैसे ही देवराज इन्द्र भी कपट-वेष धारण करके व्रतपरायणा दितिके व्रत-पालनकी त्रुटि पकड़नेके लिये उसकी सेवा करने लगे ॥ ५८ ॥ सर्वदा पैनी दृष्टि रखनेपर भी उन्हें उसके व्रतमें किसी प्रकारकी त्रुटि न मिली और वे पूर्ववत् उसकी सेवा-टहलमें लगे रहे । अब तो इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई । वे सोचने लगे—मैं ऐसा कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो ? ॥ ५९ ॥

दिति व्रतके नियमोंका पालन करते-करते बहुत दुर्बल हो गयी थी । विधाताने भी उसे मोहमें डाल दिया । इसलिये एक दिन सन्ध्याके समय जूठे मुँह, बिना आचमन किये और बिना पैर धोये ही वह सो गयी ॥ ६० ॥ योगेश्वर इन्द्रने देखा कि यह अच्छा अवसर हाथ लगा । वे योगबलसे झटपट सोयी हुई दितिके गर्भमें प्रवेश कर गये ॥ ६१ ॥ उन्होंने वहाँ जाकर सोनेके समान चमकते हुए गर्भके वज्रके द्वारा सात टुकड़े कर दिये । जब वह गर्भ रोने लगा, तब उन्होंने 'मत रो, मत रो' यह कहकर सातों टुकड़ोंमेंसे एक-एकके और भी सात-सात टुकड़े कर दिये ॥ ६२ ॥ राजन् ! जब इन्द्र उनके टुकड़े-टुकड़े करने लगे, तब उन सबोंने हाथ जोड़कर इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम हमें क्यों मार रहे हो ? हम तो तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं' ॥ ६३ ॥ तब इन्द्रने अपने भावी अनन्यप्रेमी पार्षद मरुद्गणसे कहा—'अच्छी बात है, तुमलोग मेरे भाई

१. प्रा० पा०—श्यपाद्गर्भ० । २. प्रा० पा०—राजन् । ३. प्रा० पा०—चरद्धरिः । ४. प्रा० पा०—किन्नः शक्र जिघांससि भ्रात० ।

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥६५॥
सकृदिष्ट्वाऽऽदिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् ।
संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥६६॥
सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन् ।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥६७॥
दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् ।
इन्द्रेण सहितान् देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥
अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् ।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥६९॥
एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन् कथम् ।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

इन्द्र उवाच

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम् ।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मवित् ॥७१॥
कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन् सप्त कुमारकाः ।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे ॥७२॥
ततस्तत्परमाश्चर्यं वीक्ष्याध्यवसितं मया ।
महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी ॥७३॥
आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।

हो । अब मत डरो !' ॥ ६४ ॥ परीक्षित् ! जैसे अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, वैसे ही भगवान् श्रीहरिकी कृपासे दितिका वह गर्भ वज्रके द्वारा टुकड़े-टुकड़े होनेपर भी मरा नहीं ॥६५॥ इसमें तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि जो मनुष्य एक बार भी आदि पुरुष भगवान् नारायणकी आराधना कर लेता है, वह उनकी समानता प्राप्त कर लेता है; फिर दितिने तो कुछ ही दिन कम एक वर्षतक भगवान्‌की आराधना की थी ॥ ६६ ॥ अब वे उन्चास मरुद्गण इन्द्रके साथ मिलकर पचास हो गये । इन्द्रने भी सौतेली माताके पुत्रोंके साथ शत्रुभाव न रखकर उन्हें सोमपायी देवता बना लिया ॥ ६७ ॥ जब दितिकी आँख खुली, तब उसने देखा कि उसके अग्निके समान तेजस्वी उन्चास बालक इन्द्रके साथ हैं । इससे सुन्दर स्वभाववाली दितिको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ६८ ॥ उसने इन्द्रको सम्बोधन करके कहा—'बेटा ! मैं इस इच्छासे इस अत्यन्त कठिन व्रतका पालन कर रही थी कि तुम अदितिके पुत्रोंको भयभीत करनेवाला पुत्र उत्पन्न हो ॥६९॥ मैंने केवल एक ही पुत्रके लिये सङ्कल्प किया था । फिर ये उन्चास पुत्र कैसे हो गये ? बेटा इन्द्र ! यदि तुम्हें इसका रहस्य मालूम हो, तो सच-सच मुझे बतला दो । झूठ न बोलना' ॥ ७० ॥

इन्द्रने कहा—माता ! मुझे इस बातका पता चल गया था कि तुम किस उद्देश्यसे व्रत कर रही हो । इसीलिये अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके उद्देश्यसे मैं स्वर्ग छोड़कर तुम्हारे पास आया । मेरे मनमें तनिक भी धर्म-भावना नहीं थी । इसीसे तुम्हारे व्रतमें त्रुटि होते ही मैंने उस गर्भके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ७१ ॥ पहले मैंने उसके सात टुकड़े किये थे । तब वे सातों टुकड़े सात बालक बन गये । इसके बाद मैंने फिर एक-एकके सात-सात टुकड़े कर दिये । तब भी वे न मरे, बल्कि उन्चास हो गये ॥ ७२ ॥ यह परम आश्चर्यमयी घटना देखकर मैंने ऐसा निश्चय किया कि परमपुरुष भगवान्‌की उपासनाकी यह कोई स्वाभाविक सिद्धि है ॥ ७३ ॥ जो लोग निष्काम भावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं और दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी

१. प्रा० पा०—धर्मदृक् ।

ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥७४॥

आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम् ।

को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥७५॥

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि ।

क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः ॥७६॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।

मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥७७॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।

मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥७८॥

इच्छा नहीं करते, वे ही अपने स्वार्थ और परमार्थमें निपुण हैं ॥ ७४ ॥ भगवान् जगदीश्वर सबके आराध्यदेव और अपने आत्मा ही हैं। वे प्रसन्न होकर अपने-आपतकका दान कर देते हैं। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो उनकी आराधना करके विषयभोगोंका वरदान माँगे । माताजी ! ये विषयभोग तो नरकमें भी मिल सकते हैं ॥ ७५ ॥ मेरी स्नेहमयी जननी ! तुम सब प्रकार मेरी पूज्या हो । मैंने मूर्खतावश बड़ी दुष्टताका काम किया है । तुम मेरे अपराधको क्षमा कर दो । यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा गर्भ खण्ड-खण्ड हो जानेसे एक प्रकार मर जानेपर भी फिरसे जीवित हो गया ॥ ७६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! दिति देवराज इन्द्रके शुद्धभावसे सन्तुष्ट हो गयी । उसने आज्ञा लेकर देवराज इन्द्रने मरुद्गणोंके साथ उसे नमस्कार किया और स्वर्गमें चले गये ॥ ७७ ॥ राजन् ! यह मरुद्गणका जन्म बड़ा ही मङ्गलमय है । इसके विषयमें तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर समग्ररूपसे मैंने तुम्हें दे दिया । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे मरुदुत्पत्ति-कथनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

पुंसवन-व्रतकी विधि

राजोवाच

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम् ।

तस्य[1] वेदितुमिच्छामि येन[3] विष्णुः प्रसीदति ॥ १ ॥

श्रीशुक[4] उवाच

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।

आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥

निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च ।

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन् ! आपने अभी-अभी पुंसवन-व्रतका वर्णन किया है और कहा है कि उससे भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं । सो अब मैं उसकी विधि जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! यह पुंसवन-व्रत समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है । स्त्रीको चाहिये कि वह अपने पतिदेवकी आज्ञा लेकर मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदासे इसका आरम्भ करे ॥ २ ॥ पहले मरुद्गण-के जन्मकी कथा सुनकर ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले । फिर

१. प्रा० पा०—त्पत्तिरष्टादशो। २. प्रा० पा०—तत्र। ३. प्रा० पा०—विष्णुर्येन। ४. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच।

स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे ।

पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते ।

महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४ ॥

यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिनौजसा ।

जुष्ट ईश गुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः ॥ ५ ॥

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे ।

प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

प्रतिदिन सबेरे दाँतुन आदिसे दाँत साफ करके स्नान करे, दो श्वेत वस्त्र धारण करे और आभूषण भी पहन ले। प्रातःकाल कुछ भी खानेसे पहले ही भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी पूजा करे ॥ ३ ॥ (इस प्रकार प्रार्थना करे—) 'प्रभो ! आप पूर्णकाम हैं। अतएव आपको किसीसे भी कुछ लेना-देना नहीं है। आप समस्त विभूतियोंके स्वामी और सकलसिद्धिस्वरूप हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥ ४ ॥ मेरे आराध्यदेव ! आप कृपा, विभूति, तेज, महिमा और वीर्य आदि समस्त गुणोंसे नित्ययुक्त हैं। इन्हीं भगों—ऐश्वर्योंसे नित्ययुक्त रहनेके कारण आपको भगवान् कहते हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं ॥५॥ माता लक्ष्मीजी ! आप भगवान्की अर्द्धाङ्गिनी और महामायास्वरूपिणी हैं। भगवान्के सारे गुण आपमें निवास करते हैं। महाभाग्यवती जगन्माता ! आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं आपको नमस्कार करती हूँ' ॥ ६ ॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहराणीति । अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहनार्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूपदीपोपहाराद्युपचारांश्च समाहित उपाहरेत् ॥७॥

हविःशेषं तु जुहुयादनले द्वादशाहुतीः ।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति ॥ ८ ॥

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ ।

भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पदः ॥९॥

प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।

परीक्षित् ! इस प्रकार स्तुति करके एकाग्रचित्तसे 'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहराणि ।' 'ओङ्कारस्वरूप, महानुभाव, समस्त महाविभूतियोंके स्वामी भगवान् पुरुषोत्तमको और उनकी महाविभूतियोंको मैं नमस्कार करती हूँ और उन्हें पूजोपहारकी सामग्री समर्पण करती हूँ'—इस मन्त्रके द्वारा प्रतिदिन स्थिर चित्तसे विष्णुभगवान्का आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि निवेदन करके पूजन करे ॥७॥ जो नैवेद्य बच रहे, उससे 'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा ।' 'महान् ऐश्वर्योंके अधिपति भगवान् पुरुषोत्तमको नमस्कार है। मैं उन्हींके लिये इस हविष्यका हवन कर रही हूँ ।'—यह मन्त्र बोलकर अग्निमें बारह आहुतियाँ दे ॥ ८ ॥ परीक्षित् ! जो सब प्रकारकी सम्पत्तियोंको प्राप्त करना चाहता हो, उसे चाहिये कि प्रतिदिन भक्तिभावसे भगवान् लक्ष्मीनारायणकी पूजा करे; क्योंकि वे ही दोनों समस्त अभिलाषाओंके पूर्ण करनेवाले एवं श्रेष्ठ वरदानी हैं ॥ ९ ॥ इसके बाद भक्तिभावसे भरकर बड़ी नम्रतासे भगवान्को साष्टाङ्ग दण्डवत् करे।

दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥१०॥

युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ।

इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥११॥

तस्या अधीश्वरः साक्षात्त्वमेव पुरुषः परः ।

त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान् ॥१२॥

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान् ।

त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशया ।

नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥१३॥

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ ।

तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥१४॥

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह ।

तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाऽऽचमनमर्चयेत् ॥१५॥

ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।

यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥१६॥

पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा ।

प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत् प्रेमशीलः स्वयं पतिः ।

बिभृयात् सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥१७॥

कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि ।

पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत् समाहितः ॥१८॥

विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात् कथञ्चन ।

दस बार पूर्वोक्त मन्त्रका जाप करे और फिर इस स्तोत्रका पाठ करे—॥ १० ॥

'हे लक्ष्मी-नारायण ! आप दोनों सर्वव्यापक और सम्पूर्ण चराचर जगत्के अन्तिम कारण हैं—आपका और कोई कारण नहीं है । भगवन् ! माता लक्ष्मीजी आपकी मायाशक्ति हैं । ये ही स्वयं अव्यक्त प्रकृति भी हैं । इनका पार पाना अत्यन्त कठिन है ॥११॥ प्रभो ! आप ही इन महामायाके अधीश्वर हैं और आप ही स्वयं परमपुरुष हैं । आप समस्त यज्ञ हैं और ये हैं यज्ञ-क्रिया । आप फलके भोक्ता हैं और ये हैं उसको उत्पन्न करनेवाली क्रिया ॥ १२ ॥ माता लक्ष्मीजी तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति हैं और आप उन्हें व्यक्त करनेवाले और उनके भोक्ता हैं । आप समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं और लक्ष्मीजी शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण हैं । माता लक्ष्मीजी नाम एवं रूप हैं और आप नाम-रूप दोनोंके प्रकाशक तथा आधार हैं ॥ १३ ॥ प्रभो ! आपकी कीर्ति पवित्र है । आप दोनों ही त्रिलोकीके वरदानी परमेश्वर हैं । अतः मेरी बड़ी-बड़ी आशा-अभिलाषाएँ आपकी कृपासे पूर्ण हों' ॥ १४ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार परम वरदानी भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी स्तुति करके वहाँसे नैवेद्य हटा दे और आचमन कराके पूजा करे ॥ १५ ॥ तदनन्तर भक्ति-भावभरित हृदयसे भगवान्की स्तुति करे और यज्ञावशेष-को सूँघकर फिर भगवान्की पूजा करे ॥१६॥ भगवान्-की पूजाके बाद अपने पतिको साक्षात् भगवान् समझकर परम प्रेमसे उनकी प्रिय वस्तुएँ सेवामें उपस्थित करे । पतिका भी यह कर्तव्य है कि वह आन्तरिक प्रेमसे अपनी पत्नीके प्रिय पदार्थ ला-लाकर उसे दे और उसके छोटे-बड़े सब प्रकारके काम करता रहे ॥ १७ ॥ परीक्षित् ! पति-पत्नीमेंसे एक भी कोई काम करता है, तो उसका फल दोनोंको होता है । इसलिये यदि पत्नी (रजोधर्म आदिके समय) यह व्रत करनेके अयोग्य हो जाय तो बड़ी एकाग्रता और सावधानीसे पतिको ही इसका अनुष्ठान करना चाहिये ॥१८॥ यह भगवान् विष्णुका व्रत है । इसका नियम लेकर बीचमें कभी नहीं छोड़ना चाहिये । जो

विप्रान् स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः ॥१९॥

उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः ।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामर्द्धये तथा ॥२०॥

एतेन पूजाविधिना मासान् द्वादश हायनम् ।
नीत्वाथोपचरेत्साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥२१॥

श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा ।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥२२॥

आशिषः शिरसाऽऽदाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः ।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया ॥२३॥

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः ।
दद्यात्पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजस्त्वं सुसौभगम् ॥२४॥

एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो-
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।
स्त्री त्वेतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥२५॥

कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं
वरं त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम् ।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी
सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम् ॥२६॥

भी यह नियम ग्रहण करे, वह प्रतिदिन माला, चन्दन, नैवेद्य और आभूषण आदिसे भक्तिपूर्वक ब्राह्मण और सुहागिनी स्त्रियोंका पूजन करे तथा भगवान् विष्णुकी भी पूजा करे ॥ १९ ॥ इसके बाद भगवान्‌को उनके धाममें पधरा दे, विसर्जन कर दे । तदनन्तर आत्मशुद्धि और समस्त अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये पहलेसे ही उन्हें निवेदित किया हुआ प्रसाद ग्रहण करे ॥ २० ॥ साध्वी स्त्री इस विधिसे बारह महीनोंतक—पूरे सालभर इस व्रतका आचरण करके मार्गशीर्षकी अमावस्याको उद्यापन-सम्बन्धी उपवास और पूजन आदि करे ॥ २१ ॥ उस दिन प्रातःकाल ही स्नान करके पूर्ववत् विष्णु भगवान्‌का पूजन करे और उसका पति पाकयज्ञकी विधिसे घृत-मिश्रित खीरकी अग्निमें बारह आहुति दे ॥२२॥ इसके बाद जब ब्राह्मण प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दें, तो बड़े आदरसे सिर झुकाकर उन्हें स्वीकार करे । भक्ति-भावसे माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम करे और उनकी आज्ञा लेकर भोजन करे ॥२३॥ पहले आचार्य-को भोजन कराये, फिर मौन होकर भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे । इसके बाद हवनसे बची हुई घृतमिश्रित खीर अपनी पत्नीको दे । वह प्रसाद स्त्रीको सत्पुत्र और सौभाग्य दान करनेवाला होता है ॥ २४ ॥

परीक्षित् ! भगवान्‌के इस पुंसवन-व्रतका जो मनुष्य विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है, उसे यहीं उसकी मनचाही वस्तु मिल जाती है । स्त्री इस व्रतका पालन करके सौभाग्य, सम्पत्ति, सन्तान, यश और गृह प्राप्त करती है तथा उसका पति चिरायु हो जाता है ॥ २५ ॥ इस व्रतका अनुष्ठान करनेवाली कन्या समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त पति प्राप्त करती है और विधवा इस व्रतसे निष्पाप होकर वैकुण्ठमें जाती है । जिसके बच्चे मर जाते हों, वह स्त्री इसके प्रभावसे चिरायु पुत्र प्राप्त करती है । धनवती किंतु अभागिनी स्त्रीको सौभाग्य प्राप्त होता है और कुरूपाको श्रेष्ठ रूप मिल जाता है ।

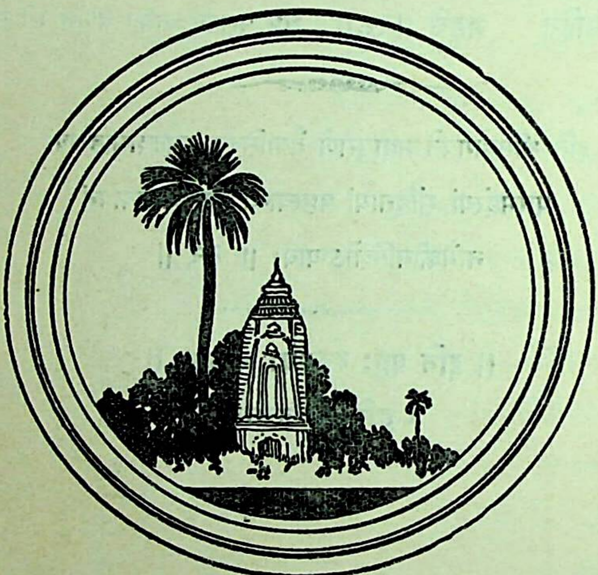
विन्देद्‌ विरूपा विरुजा विमुच्यते
य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम्‌ ।
एतत्पठन्नभ्युदये च कर्म-
ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम्‌ ॥२७॥
तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्‌
होमावसाने हुतभुक्‌ श्रीर्हरिश्च ।
राजन्‌ महन्मरुतां जन्म पुण्यं
दितेर्व्रतं चाभिहितं महत्ते ॥२८॥

रोगी इस व्रतके प्रभावसे रोगमुक्त होकर बलिष्ठ शरीर और श्रेष्ठ इन्द्रियशक्ति प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य माङ्गलिक श्राद्धकर्मोंमें इसका पाठ करता है, उसके पितर और देवता अनन्त तृप्ति लाभ करते हैं ॥२६-२७॥ वे संतुष्ट होकर हवनके समाप्त होनेपर व्रतीकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण कर देते हैं। ये सब तो संतुष्ट होते ही हैं, समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता भगवान्‌ लक्ष्मीनारायण भी संतुष्ट हो जाते हैं और व्रतीकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। परीक्षित्‌! मैंने तुम्हें मरुद्गणकी आदरणीय और पुण्यप्रद जन्म-कथा सुनायी और साथ ही दितिके श्रेष्ठ पुंसवन-व्रतका वर्णन भी सुना दिया ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां
पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं
नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

॥ इति षष्ठः स्कन्धः समाप्तः ॥
॥ हरिः ॐ तत्सत्‌ ॥





श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

सप्तमः स्कन्धः



नरसिंहवपुर्भीमं स्तम्भसम्भवमद्भुतम् ।
भक्तत्राणाय बिभ्राणं वासुदेवमुपास्महे ।।

भगवान् नृसिंहजी



हिरण्यकशिपु हाथमें गदा लेकर भगवान्‌की ओर लपका

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

सप्तमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

नारद-युधिष्ठिर-संवाद और जय-विजयकी कथा

राजोवाच

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥
न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः ।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २ ॥
इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति ।
संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् ।
यद् भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥ ४ ॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५ ॥
निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! भगवान् तो स्वभावसे ही भेदभावसे रहित हैं—सम हैं, समस्त प्राणियोंके प्रिय और सुहृद् हैं; फिर उन्होंने, जैसे कोई साधारण मनुष्य भेदभावसे अपने मित्रका पक्ष ले और शत्रुओंका अनिष्ट करे, उसी प्रकार इन्द्रके लिये दैत्योंका वध क्यों किया ? ॥ १ ॥ वे स्वयं परिपूर्ण कल्याणस्वरूप हैं, इसीलिये उन्हें देवताओंसे कुछ लेना-देना नहीं है । तथा निर्गुण होनेके कारण दैत्योंसे कुछ वैर-विरोध और उद्वेग भी नहीं है ॥ २ ॥ भगवत्प्रेमके सौभाग्यसे सम्पन्न महात्मन् ! हमारे चित्तमें भगवान्‌के समत्व आदि गुणोंके सम्बन्धमें बड़ा भारी संदेह हो रहा है । आप कृपा करके उसे मिटाइये ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—महाराज ! भगवान्‌के अद्भुत चरित्रके सम्बन्धमें तुमने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया; क्योंकि ऐसे प्रसङ्ग प्रह्लाद आदि भक्तोंकी महिमासे परिपूर्ण होते हैं, जिसके श्रवणसे भगवान्‌की भक्ति बढ़ती है ॥ ४ ॥ इस परम पुण्यमय प्रसङ्गको नारदादि महात्मागण बड़े प्रेमसे गाते रहते हैं । अब मैं अपने पिता श्रीकृष्ण-द्वैपायन मुनिको नमस्कार करके भगवान्‌की लीला-कथाका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥ वास्तवमें भगवान् निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृतिसे परे हैं । ऐसा होनेपर भी अपनी मायाके गुणोंको स्वीकार करके वे बाध्य-बाधकभावको अर्थात् मरने और मारनेवाले दोनोंके परस्परविरोधी रूपोंको ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिके गुण हैं, परमात्मा-

न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा ॥ ७ ॥
जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८ ॥
ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते ।
विन्दत्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ।९।
यदा सिसृक्षुः पुरं आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥१०॥
कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ।
य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः ।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो
रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः ॥११॥
अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा ।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥१२॥
दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥१३॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ ।

के नहीं। परीक्षित् ! इन तीनों गुणोंकी भी एक साथ ही घटती-बढ़ती नहीं होती ॥ ७ ॥ भगवान् समय-समयके अनुसार गुणोंको स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुण-की वृद्धिके समय देवता और ऋषियोंका, रजोगुण-की वृद्धिके समय दैत्योंका और तमोगुणकी वृद्धिके समय वे यक्ष एवं राक्षसोंको अपनाते और उनका अभ्युदय करते हैं ॥ ८ ॥ जैसे व्यापक अग्नि काष्ठ आदि भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें रहनेपर भी उनसे अलग नहीं जान पड़ती, परंतु मन्थन करनेपर वह प्रकट हो जाती है—वैसे ही परमात्मा सभी शरीरोंमें रहते हैं, अलग नहीं जान पड़ते। परंतु विचारशील पुरुष हृदयमन्थन करके—उनके अतिरिक्त सभी वस्तुओंका बाध करके अन्ततः अपने हृदयमें ही अन्तर्यामीरूपसे उन्हें प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९ ॥ जब परमेश्वर अपने लिये शरीरोंका निर्माण करना चाहते हैं, तब अपनी मायासे रजोगुणकी अलग सृष्टि करते हैं। जब वे विचित्र योनियोंमें रमण करना चाहते हैं, तब सत्त्वगुणकी सृष्टि करते हैं और जब वे शयन करना चाहते हैं, तब तमोगुणको बढ़ा देते हैं ॥१०॥ परीक्षित् ! भगवान् सत्यसंकल्प हैं। वे ही जगत्की उत्पत्तिके निमित्त-भूत प्रकृति और पुरुषके सहकारी एवं आश्रय-कालकी सृष्टि करते हैं। इसलिये वे कालके अधीन नहीं, काल ही उनके अधीन है। राजन् ! ये कालस्वरूप ईश्वर जब सत्त्वगुणकी वृद्धि करते हैं तब सत्त्वमय देवताओंका बल बढ़ाते हैं और तभी वे परमयशस्वी देवप्रिय परमात्मा देवविरोधी रजोगुणी एवं तमोगुणी दैत्योंका संहार करते हैं। वस्तुतः वे सम ही हैं ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी विषयमें देवर्षि नारदने बड़े प्रेमसे एक इतिहास कहा था। यह उस समयकी बात है, जब राजसूय यज्ञमें तुम्हारे दादा युधिष्ठिरने उनसे इस सम्बन्धमें एक प्रश्न किया था ॥ १२ ॥ उस महान् राजसूय यज्ञमें राजा युधिष्ठिरने अपनी आँखोंके सामने बड़ी आश्चर्यजनक घटना देखी कि चेदिराज शिशुपाल सबके देखते-देखते भगवान् श्रीकृष्णमें समा गया ॥ १३ ॥ वहीं देवर्षि नारद भी बैठे हुए थे। इस घटनासे आश्चर्य-चकित होकर राजा युधिष्ठिरने बड़े-बड़े मुनियोंसे भरी

१. प्रा० पा०—च । २. प्रा० पा०—पुनरात्मनः । ३. प्रा० पा०—भूभृतः ।

पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद् दुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥१५॥
एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥१६॥
दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः ॥१७॥
शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥१८॥
कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राहधामनि ।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥१९॥
एतद् भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना ।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवांस्तत्र[1] कारणम् ॥२०॥

श्रीशुक[2] उवाच

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः ।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥२१॥

नारद उवाच

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥२२॥
हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥२३॥
यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः ।

हुई सभामें, उस यज्ञमण्डपमें ही देवर्षि नारदसे यह प्रश्न किया ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अहो ! यह तो बड़ी विचित्र बात है । परमतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णमें समा जाना तो बड़े-बड़े अनन्य भक्तोंके लिये भी दुर्लभ है; फिर भगवान्से द्वेष करनेवाले शिशुपालको यह गति कैसे मिली ? ॥ १५ ॥ नारदजी ! इसका रहस्य हम सभी जानना चाहते हैं । पूर्वकालमें भगवान्की निन्दा करनेके कारण ऋषियोंने राजा वेनको नरकमें डाल दिया था ॥ १६ ॥ यह दमघोषका लड़का पापात्मा शिशुपाल और दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र—दोनों ही जबसे तुतलाकर बोलने लगे थे तबसे अबतक भगवान्से द्वेष ही करते रहे हैं ॥ १७ ॥ अविनाशी परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको ये पानी पी-पीकर गाली देते रहे हैं । परंतु इसके फलस्वरूप न तो इनकी जीभमें कोढ़ ही हुआ और न इन्हें घोर अन्धकारमय नरककी ही प्राप्ति हुई ॥ १८ ॥ प्रत्युत जिन भगवान्की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, उन्हींमें ये दोनों सबके देखते-देखते अनायास ही लीन हो गये—इसका क्या कारण है ? ॥ १९ ॥ हवाके झोंकेसे लड़खड़ाती हुई दीपककी लौके समान मेरी बुद्धि इस विषयमें बहुत आगा-पीछा कर रही है । आप सर्वज्ञ हैं, अतः इस अद्भुत घटनाका रहस्य समझाइये ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सर्वसमर्थ देवर्षि नारद राजाके ये प्रश्न सुनकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने युधिष्ठिरको सम्बोधित करके भरी सभामें सबके सुनते हुए यह कथा कही ॥ २१ ॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार—इस शरीरके ही तो होते हैं । इस शरीरकी कल्पना प्रकृति और पुरुषका ठीक-ठीक विवेक न होनेके कारण ही हुई है ॥ २२ ॥ जब इस शरीरको ही अपना आत्मा मान लिया जाता है, तब 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसा भाव बन जाता है । यही सारे भेदभावका मूल है । इसीके कारण ताड़ना और दुर्वचनोंसे पीड़ा होती है ॥ २३ ॥ जिस शरीरमें अभिमान हो जाता है कि 'यह मैं हूँ', उस शरीरके वधसे प्राणियोंको अपना वध जान पड़ता है । किंतु

१. प्रा० पा०—गवन्नत्र । २. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच ।

तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥२४॥
तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्॥२५॥
यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥२६॥
कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ॥२७॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥२८॥
कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥२९॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयःस्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ३०
कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥३१॥
मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ[1] ॥३२॥

भगवान्‌में तो जीवोंके समान ऐसा अभिमान है नहीं; क्योंकि वे सर्वात्मा हैं, अद्वितीय हैं । वे जो दूसरोंको दण्ड देते हैं—वह भी उनके कल्याणके लिये ही, क्रोधवश अथवा द्वेषवश नहीं । तबभगवान्‌के सम्बन्धमें हिंसाकी कल्पना तो की ही कैसे जा सकती है । ॥ २४ ॥ इसलिये चाहे सुदृढ़ वैरभावसे या वैरहीन भक्तिभावसे, भयसे, स्नेहसे अथवा कामनासे—कैसे भी हो, भगवान्‌में अपना मन पूर्णरूपसे लगा देना चाहिये । भगवान्‌की दृष्टिसे इन भावोंमें कोई भेद नहीं है ॥ २५ ॥ युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा दृढ़ निश्चय है कि मनुष्य वैरभावसे भगवान्‌में जितना तन्मय हो जाता है, उतना भक्तियोगसे नहीं होता ॥२६॥ भृङ्गी कीड़ेको लाकर भीतपर अपने छिद्रमें बंद कर देता है और वह भय तथा उद्वेगसे भृङ्गीका चिन्तन करते-करते उसके जैसा ही हो जाता है ॥ २७ ॥ यही बात भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है । लीलाके द्वारा मनुष्य मालूम पड़ते हुए ये सर्वशक्तिमान् भगवान् ही तो हैं । इनसे वैर करनेवाले भी इनका चिन्तन करते-करते पापरहित होकर इन्हींको प्राप्त हो गये ॥ २८ ॥ एक नहीं, अनेकों मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर उसी प्रकार भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे ॥ २९ ॥ महाराज ! गोपियोंने भगवान्‌से मिलनके तीव्र काम अर्थात् प्रेमसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगोंने स्नेहसे और हमलोगोंने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है ॥ ३० ॥ भक्तोंके अतिरिक्त जो पाँच प्रकारके भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले हैं, उनमेंसे राजा वेनकी तो किसीमें भी गणना नहीं होती (क्योंकि उसने किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में मन नहीं लगाया था) । सारांश यह कि चाहे जैसे हो अपना मन भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥ महाराज ! फिर तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्त्र दोनों ही विष्णुभगवान्‌के मुख्य पार्षद थे । ब्राह्मणोंके शापसे इन दोनोंको अपने पदसे च्युत होना पड़ा था ॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—पदच्युतौ ।

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥३३॥
देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥३४॥

नारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया ।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥३५॥
पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।
दिग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम् ॥
अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः ।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः ॥३७॥
एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तैः कृपालुभिः ।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥३८॥
जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥३९॥
हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा ।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः ॥४०॥
हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्रादं केशवप्रियम् ।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥४१॥
सर्वभूतात्मभूतं तं प्रशान्तं समदर्शनम्[1] ।

राजा युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी ! भगवान्‌के पार्षदोंको भी प्रभावित करनेवाला वह शाप किसने दिया था तथा वह कैसा था ? भगवान्‌के अनन्य प्रेमी फिर जन्म-मृत्युमय संसारमें आयें यह बात तो कुछ अविश्वसनीय-सी मालूम पड़ती है ॥ ३३ ॥ वैकुण्ठके रहनेवाले लोग प्राकृत शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंसे रहित होते हैं। उनका प्राकृत शरीरसे सम्बन्ध किस प्रकार हुआ, यह बात आप अवश्य सुनाइये ॥ ३४ ॥

नारदजीने कहा—एक दिन ब्रह्माके मानसपुत्र सनकादि ऋषि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्द विचरण करते हुए वैकुण्ठमें जा पहुँचे ॥ ३५ ॥ यों तो वे सबसे प्राचीन हैं, परंतु जान पड़ते हैं ऐसे मानो पाँच-छः बरसके बच्चे हों। वस्त्र भी नहीं पहनते। उन्हें साधारण बालक समझकर द्वारपालोंने उनको भीतर जानेसे रोक दिया ॥ ३६ ॥ इसपर वे क्रोधित-से हो गये और उन्होंने द्वारपालोंको यह शाप दिया कि 'मूर्खो ! भगवान् विष्णुके चरण तो रजोगुण और तमोगुणसे रहित हैं। तुम दोनों इनके समीप निवास करनेयोग्य नहीं हो। इसलिये शीघ्र ही तुम यहाँसे पापमयी असुरयोनिमें जाओ' ॥ ३७ ॥ उनके इस प्रकार शाप देते ही जब वे वैकुण्ठसे नीचे गिरने लगे, तब उन कृपालु महात्माओंने कहा—'अच्छा, तीन जन्मोंमें इस शापको भोगकर तुमलोग फिर इसी वैकुण्ठमें आ जाना' ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर ! वे ही दोनों दितिके पुत्र हुए। उनमें बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु था और उससे छोटेका हिरण्याक्ष। दैत्य और दानवोंके समाजमें यही दोनों सर्वश्रेष्ठ थे ॥ ३९ ॥ विष्णुभगवान्‌ने नृसिंहका रूप धारण करके हिरण्यकशिपुको और पृथ्वीका उद्धार करनेके समय वराहावतार ग्रहण करके हिरण्याक्षको मारा ॥ ४० ॥ हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको भगवत्प्रेमी होनेके कारण मार डालना चाहा और इसके लिये उन्हें बहुत-सी यातनाएँ दीं ॥ ४१ ॥ परंतु प्रह्लाद सर्वात्मा भगवान्‌के परम प्रिय हो चुके थे, समदर्शी हो चुके थे। उनके हृदयमें अटल शान्ति थी। भगवान्‌के प्रभाव-

१. प्रा० पा०—तं सर्वभूतसुहृदं प्रशा० ।

भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥४२॥

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ ॥४३॥

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये ।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात् प्रभो ॥४४॥

तावेव क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव ।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥४५॥

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥४६॥

युधिष्ठिर उवाच

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि ।
ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥४७॥

से वे सुरक्षित थे । इसलिये तरह-तरहसे चेष्टा करनेपर भी हिरण्यकशिपु उनको मार डालनेमें समर्थ न हुआ ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर ! वे ही दोनों विश्रवा मुनिके द्वारा केशिनी (कैकसी) के गर्भसे राक्षसोंके रूपमें पैदा हुए । उनका नाम था रावण और कुम्भकर्ण । उनके उत्पातोंसे सब लोकोंमें आग-सी लग गयी थी ॥ ४३ ॥ उस समय भी भगवान्ने उन्हें शापसे छुड़ानेके लिये रामरूपसे उनका वध किया । युधिष्ठिर ! मार्कण्डेय मुनिके मुखसे तुम भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनोगे ॥४४॥ वे ही दोनों जय-विजय इस जन्ममें तुम्हारी मौसीके लड़के शिशुपाल और दन्तवक्त्रके रूपमें क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए थे । भगवान् श्रीकृष्णके चक्रका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे उनके सारे पाप नष्ट हो गये और वे सनकादिके शापसे मुक्त हो गये ॥ ४५ ॥ वैरभावके कारण निरन्तर ही वे भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन किया करते थे । उसी तीव्र तन्मयताके फलस्वरूप वे भगवान्को प्राप्त हो गये और पुनः उनके पार्षद होकर उन्हींके समीप चले गये ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरजीने पूछा—भगवन् ! हिरण्यकशिपुने अपने स्नेहभाजन पुत्र प्रह्लादसे इतना द्वेष क्यों किया ? फिर प्रह्लाद तो महात्मा थे । साथ ही यह भी बतलाइये कि किस साधनसे प्रह्लाद भगवन्मय हो गये ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरितोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

हिरण्याक्षका वध होनेपर हिरण्यकशिपुका अपनी माता और कुटुम्बियोंको समझाना

नारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना ।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! जब भगवान्ने वराहावतार धारण करके हिरण्याक्षको मार डाला, तब भाईके इस प्रकार मारे जानेपर हिरण्यकशिपु रोषसे जल-भुन गया और शोकसे संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—तापकौ । २. प्रा० पा०—युधिष्ठिरनारदसंवादे । ३. प्रा० पा०—रूपिणा ।

आह चेदं रुषा घूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः ।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन् धूम्रमम्बरम्।२।
करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः ।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर ।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४ ॥
विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन् शकुनादयः ।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५ ॥
सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत् ।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः ॥ ६ ॥
तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः ।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७ ॥
मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै ।
रुधिरप्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८ ॥
तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः ॥ ९ ॥
तावद्यात भुवं यूयं विप्रक्षत्रसमेधिताम् ।
सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥१०॥
विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान् ।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥११॥

वह क्रोधसे काँपता हुआ अपने दाँतोंसे बार-बार होठ चबाने लगा । क्रोधसे दहकती हुई आँखोंकी आगके धूएँसे धूमिल हुए आकाशकी ओर देखता हुआ वह कहने लगा ॥ २ ॥ उस समय विकराल दाढ़ों, आग उगलनेवाली उग्र दृष्टि और चढ़ी हुई भौंहोंके कारण उसका मुँह देखा न जाता था । भरी सभामें त्रिशूल उठाकर उसने द्विमूर्धा, त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव, नमुचि, पाक, इल्वल, विप्रचित्ति, पुलोमा और शकुन आदिको सम्बोधन करके कहा—'दैत्यो और दानवो ! तुम सब लोग मेरी बात सुनो और उसके बाद जैसे मैं कहता हूँ, वैसे करो ॥ ३—५ ॥ तुम्हें यह ज्ञात है कि मेरे क्षुद्र शत्रुओंने मेरे परम प्यारे और हितैषी भाईको विष्णुसे मरवा डाला है । यद्यपि वह देवता और दैत्य दोनोंके प्रति समान है, तथापि दौड़-धूप और अनुनय-विनय करके देवताओंने उसे अपने पक्षमें कर लिया है ॥ ६ ॥ यह विष्णु पहले तो बड़ा शुद्ध और निष्पक्ष था; परंतु अब मायासे वराह आदि रूप धारण करने लगा है और अपने स्वभावसे च्युत हो गया है । बच्चेकी तरह जो उसकी सेवा करे, उसीकी ओर हो जाता है । उसका चित्त स्थिर नहीं है ॥ ७ ॥ अब मैं अपने इस शूलसे उसका गला काट डालूँगा और उसके खूनकी धारासे अपने रुधिर-प्रेमी भाईका तर्पण करूँगा । तब कहीं मेरे हृदयकी पीड़ा शान्त होगी ॥ ८ ॥ उस मायावी शत्रुके नष्ट होनेपर, पेड़की जड़ कट जानेपर डालियोंकी तरह सब देवता अपने आप सूख जायँगे; क्योंकि उनका जीवन तो विष्णु ही है ॥ ९ ॥ इसलिये तुमलोग इसी समय पृथ्वीपर जाओ । आजकल वहाँ ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी बहुत बढ़ती हो गयी है । वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दानादि शुभ कर्म कर रहे हों, उन सबको मार डालो ॥ १० ॥ विष्णुकी जड़ है द्विजातियोंका धर्म-कर्म, क्योंकि यज्ञ और धर्म ही उसके स्वरूप हैं । देवता, ऋषि, पितर, समस्त प्राणी और धर्मका वही परम आश्रय है ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—निरीक्ष्य धू० । २. प्रा० पा०—ष्ट्यो भ्रू० । ३. प्रा० पा०—पधारितैः । ४. प्रा० पा०—ब्रह्मक्षत्र० ।

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः ।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥१२॥
इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽऽदृताः ।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥१३॥
पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥१४॥
केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् ।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित्परशुपाणयः ।
प्रादहन् शरणान्यन्ये प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥१५॥
एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः ।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥१६॥
हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः ।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥१७॥
शकुनिं शम्बरं धृष्टं भूतसन्तापनं वृकम् ।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥१८॥
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा ।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥१९॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् ।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥२०॥
भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः ॥२१॥

जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गाय, वेद, वर्णाश्रम और धर्म-कर्म हों, उन-उन देशोंमें तुमलोग जाओ, उन्हें जला दो, उजाड़ डालो'। १२।

दैत्य तो स्वभावसे ही लोगोंको सताकर सुखी होते हैं। दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी आज्ञा उन्होंने बड़े आदरसे सिर झुकाकर स्वीकार की और उसीके अनुसार जनताका नाश करने लगे ॥ १३ ॥ उन्होंने नगर, गाँव, गौओंके रहनेके स्थान, बगीचे, खेत, टहलनेके स्थान, ऋषियोंके आश्रम, रत्न आदिकी खानें, किसानोंकी बस्तियाँ, तराईके गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ और व्यापारके केन्द्र बड़े-बड़े नगर जला डाले ॥ १४ ॥ कुछ दैत्योंने खोदनेके शस्त्रोंसे बड़े-बड़े पुल, परकोटे और नगरके फाटकोंको तोड़-फोड़ डाला तथा दूसरोंने कुल्हाड़ियोंसे फले-फूले, हरे-भरे पेड़ काट डाले। कुछ दैत्योंने जलती हुई लकड़ियोंसे लोगोंके घर जला दिये ॥ १५ ॥ इस प्रकार दैत्योंने निरीह प्रजाका बड़ा उत्पीड़न किया। उस समय देवतालोग स्वर्ग छोड़कर छिपे रूपसे पृथ्वीमें विचरण करते थे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर! भाईकी मृत्युसे हिरण्यकशिपुको बड़ा दुःख हुआ था। जब उसने उसकी अन्त्येष्टि क्रियासे छुट्टी पा ली, तब शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसंतापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच—अपने इन भतीजोंको सान्त्वना दी ॥ १७-१८ ॥ उनकी माता रुषाभानुको और अपनी माता दितिको देश-कालके अनुसार मधुर वाणीसे समझाते हुए कहा ॥ १९ ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—मेरी प्यारी माँ, बहू और पुत्रो! तुम्हें वीर हिरण्याक्षके लिये किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिये। वीर पुरुष तो ऐसा चाहते ही हैं कि लड़ाईके मैदानमें अपने शत्रुके सामने उसके दाँत खट्टे करके प्राणत्याग करें; वीरोंके लिये ऐसी ही मृत्यु श्लाघनीय होती है ॥ २० ॥ देवि! जैसे प्याऊपर बहुत-से लोग इकट्ठे हो जाते हैं, परंतु उनका मिलना-जुलना थोड़ी देरके लिये ही होता है—वैसे ही अपने कर्मोंके फेरसे दैववश जीव भी मिलते और बिछुड़ते हैं ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—तथाभुवः ।

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान्॥२२॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः॥२३॥
एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव॥२४॥
एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः॥२५॥
सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च॥२६॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत॥२७॥
उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत[२]॥२८॥
विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम्।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम्॥२९॥
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम्।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे॥३०॥
उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः।

वास्तवमें आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह-इन्द्रिय आदिसे पृथक् है। वह अपनी अविद्यासे ही देह आदिकी सृष्टि करके भोगोंके साधन[१] सूक्ष्मशरीरको स्वीकार करता है॥ २२॥ जैसे हिलते हुए पानीके साथ उसमें प्रतिविम्बित होनेवाले वृक्ष भी हिलते-से जान पड़ते हैं और घुमायी जाती हुई आँखके साथ सारी पृथ्वी ही घूमती-सी दिखायी देती है, कल्याणी! वैसे ही विषयोंके कारण मन भटकने लगता है और वास्तवमें निर्विकार होनेपर भी उसीके समान आत्मा भी भटकता हुआ-सा जान पड़ता है। उसका स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह सम्बन्धी-सा जान पड़ता है॥ २३-२४॥ सब प्रकारसे शरीररहित आत्माको शरीर समझ लेना—यही तो अज्ञान है। इसीसे प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओंका मिलना और बिछुड़ना होता है। इसीसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जानेके कारण संसारमें भटकना पड़ता है॥ २५॥ जन्म, मृत्यु, अनेकों प्रकारके शोक, अविवेक, चिन्ता और विवेककी विस्मृति—सबका कारण यह अज्ञान ही है॥ २६॥ इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास मरे हुए मनुष्यके सम्बन्धियोंके साथ यमराजकी बातचीत है। तुमलोग ध्यानसे उसे सुनो॥ २७॥

उशीनर देशमें एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम था सुयज्ञ। लड़ाईमें शत्रुओंने उसे मार डाला। उस समय उसके भाई-बन्धु उसे घेरकर बैठ गये॥२८॥ उसका जड़ाऊ कवच छिन्न-भिन्न हो गया था। गहने और मालाएँ तहस-नहस हो गयी थीं। बाणोंकी मारसे कलेजा फट गया था। शरीर खूनसे लथपथ था। बाल बिखर गये थे। आँखें धँस गयी थीं, क्रोधके मारे दाँतोंसे उसके होठ दबे हुए थे। कमलके समान मुख धूलसे ढक गया था, युद्धमें उसके शस्त्र और बाँहें कट गयी थीं॥ २९-३०॥

रानियोंको दैववश अपने पतिदेव उशीनर-नरेशकी यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ।

---
१. प्रा० पा०—साधना। २. प्रा० पा०—सते।

हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥३१॥
रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः ।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥३२॥
अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान् प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥३३॥
त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिशं यत्र यास्यसि ॥३४॥
एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् ।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत ॥३५॥
तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् ।
आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥३६॥

यम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥३७॥
अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।

वे 'हा नाथ ! हम अभागिनें तो बेमौत मारी गयीं ।' यों कहकर बार-बार जोरसे छाती पीटती हुई अपने स्वामीके चरणोंके पास गिर पड़ीं ॥ ३१ ॥ वे जोर-जोरसे इतना रोने लगीं कि उनके कुच-कुङ्कुमसे मिलकर बहते हुए लाल-लाल आँसुओंने प्रियतमके पादपद्म पखार दिये । उनके केश और गहने इधर-उधर बिखर गये । वे करुण-क्रन्दनके साथ विलाप कर रही थीं, जिसे सुनकर मनुष्योंके हृदयमें शोकका संचार हो जाता था ॥ ३२ ॥ 'हाय ! विधाता बड़ा क्रूर है । स्वामिन् ! उसीने आज आपको हमारी आँखोंसे ओझल कर दिया । पहले तो आप समस्त देशवासियोंके जीवनदाता थे । आज उसीने आपको ऐसा बना दिया कि आप हमारा शोक बढ़ा रहे हैं ॥३३॥ पतिदेव ! आप हमसे बड़ा प्रेम करते थे, हमारी थोड़ी-सी सेवाको भी बड़ी करके मानते थे । हाय ! अब आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी । हम आपके चरणोंकी चेरी हैं । वीरवर ! आप जहाँ जा रहे हैं, वहीं चलनेकी हमें भी आज्ञा दीजिये' ॥ ३४ ॥ वे अपने पतिकी लाश पकड़कर इसी प्रकार विलाप करती रहीं । उस मुर्देको वहाँसे दाहके लिये जाने देनेकी उनकी इच्छा नहीं होती थी । इतनेमें ही सूर्यास्त हो गया ॥ ३५ ॥ उस समय उशीनरराजाके सम्बन्धियों-ने जो विलाप किया था, उसे सुनकर वहाँ स्वयं यमराज बालकके वेषमें आये और उन्होंने उन लोगोंसे कहा—॥ ३६ ॥

यमराज बोले—बड़े आश्चर्यकी बात है ! ये लोग तो मुझसे सयाने हैं । बराबर लोगोंका मरना-जीना देखते हैं, फिर भी इतने मूढ़ हो रहे हैं । अरे ! यह मनुष्य जहाँसे आया था, वहीं चला गया । इन लोगोंको भी एक-न-एक दिन वहीं जाना है । फिर झूठमूठ ये लोग इतना शोक क्यों करते हैं ? ॥ ३७ ॥ हम तो तुमसे लाखगुने अच्छे हैं, परम धन्य हैं; क्योंकि हमारे मा-बापने हमें छोड़ दिया है । हमारे शरीरमें पर्याप्त बल भी नहीं है, फिर भी हमें कोई

१. प्रा० पा०—नृणां शुचं । २. प्रा० पा०—दिशि । ३. प्रा० पा०—प्रति० । ४. प्रा० पा०—यत्रोद्भवः ।
५. प्रा० पा०—यदेतद् ।

अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥३८॥
य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे[1] प्रभुः ॥३९॥
पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥४०॥
भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः।
न तत्र ह्यात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते[2] ॥४१॥
इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम्।
यथौदकैः[3] पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥४२॥
यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः ॥४३॥
सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ।

चिन्ता नहीं है। भेड़िये आदि हिंसक जन्तु हमारा बाल भी बाँका नहीं कर पाते। जिसने गर्भमें रक्षा की थी, वही इस जीवनमें भी हमारी रक्षा करता रहता है ॥३८॥ देवियो! जो अविनाशी ईश्वर अपनी मौजसे इस जगत्को बनाता है, रखता है और बिगाड़ देता है—उस प्रभुका यह एक खिलौनामात्र है। वह इस चराचर जगत्को दण्ड या पुरस्कार देनेमें समर्थ है ॥ ३९ ॥ भाग्य अनुकूल हो तो रास्तेमें गिरी हुई वस्तु भी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है। परंतु भाग्यके प्रतिकूल होनेपर घरके भीतर तिजोरीमें रक्खी हुई वस्तु भी खो जाती है। जीव बिना किसी सहारेके दैवकी दयादृष्टिसे जंगलमें भी बहुत दिनोंतक जीवित रहता है, परंतु दैवके विपरीत होनेपर घरमें सुरक्षित रहनेपर भी मर जाता है ॥ ४० ॥

रानियो! सभी प्राणियोंकी मृत्यु अपने पूर्वजन्मोंकी कर्मवासनाके अनुसार समयपर होती है और उसीके अनुसार उनका जन्म भी होता है। परंतु आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, इसलिये वह उसमें रहनेपर भी उसके जन्म-मृत्यु आदि धर्मोंसे अछूता ही रहता है ॥ ४१ ॥ जैसे मनुष्य अपने मकानको अपनेसे अलग और मिट्टीका समझता है, वैसे ही यह शरीर भी अलग और मिट्टीका है। मोहवश वह इसे अपना समझ बैठता है। जैसे बुलबुले आदि पानीके विकार, घड़े आदि मिट्टीके विकार और गहने आदि स्वर्णके विकार समयपर बनते हैं, रूपान्तरित होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्हीं तीनोंके विकारसे बना हुआ यह शरीर भी समयपर बन-बिगड़ जाता है ॥ ४२ ॥ जैसे काठमें रहनेवाली व्यापक अग्नि स्पष्ट ही उससे अलग है, जैसे देहमें रहनेपर भी वायुका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश सब जगह एक-सा रहनेपर भी किसीके दोष-गुणसे लिप्त नहीं होता—वैसे ही समस्त देहेन्द्रियोंमें रहनेवाला और उनका आश्रय आत्मा भी उनसे अलग और निर्लिप्त है ॥ ४३ ॥

मूर्खो! जिसके लिये तुम सब शोक कर रहे हो, वह सुयज्ञ नामका शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है।

१. प्रा० पा०—संग्रहनिग्रहे। २. प्रा० पा०—ऽपि बद्ध्यते। ३. प्रा० पा०—तथौ०।

यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥४४॥

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।

यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः॥४५॥

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः ।

भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥४६॥

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्मनिबन्धनम् ।

ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥४७॥

वितथाभिनिवेशोऽयं यद् गुणेष्वर्थदृग्वचः ।

यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥४८॥

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।

नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥४९॥

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः ।

वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥५०॥

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत ।

तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥५१॥

तुमलोग इसीको देखते थे । इसमें जो सुननेवाला और बोलनेवाला था, वह तो कभी किसीको नहीं दिखायी पड़ता था । फिर आज भी नहीं दिखायी दे रहा है, तो शोक क्यों ? ॥ ४४ ॥ (तुम्हारी यह मान्यता कि 'प्राण ही बोलने या सुननेवाला था, सो निकल गया' मूर्खतापूर्ण है; क्योंकि सुषुप्तिके समय प्राण तो रहता है, पर न वह बोलता है न सुनता है ।) शरीरमें सब इन्द्रियोंकी चेष्टाका हेतुभूत जो महाप्राण है, वह प्रधान होनेपर भी बोलने या सुननेवाला नहीं है; क्योंकि वह जड है । देह और इन्द्रियोंके द्वारा सब पदार्थोंका द्रष्टा जो आत्मा है, वह शरीर और प्राण दोनोंसे पृथक् है ॥४५॥ यद्यपि वह परिच्छिन्न नहीं है, व्यापक है—फिर भी पञ्चभूत, इन्द्रिय और मनसे युक्त नीचे-ऊँचे (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरोंको ग्रहण करता और अपने विवेकबलसे मुक्त भी हो जाता है । वास्तवमें वह इन सबसे अलग है ॥ ४६ ॥ जबतक वह पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए लिङ्गशरीरसे युक्त रहता है, तभीतक कर्मोंसे बँधा रहता है और इस बन्धनके कारण ही मायासे होनेवाले मोह और क्लेश बराबर उसके पीछे पड़े रहते हैं ॥ ४७ ॥ प्रकृतिके गुणों और उनसे बनी हुई वस्तुओंको सत्य समझना अथवा कहना झूठमूठका दुराग्रह है । मनोरथके समयकी कल्पित और स्वप्नके समयकी दीख पड़नेवाली वस्तुओंके समान इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है, सब मिथ्या है ॥ ४८ ॥ इसलिये शरीर और आत्माका तत्त्व जाननेवाले पुरुष न तो अनित्य शरीरके लिये शोक करते हैं और न नित्य आत्माके लिये ही । परंतु ज्ञानकी दृढ़ता न होनेके कारण जो लोग शोक करते रहते हैं, उनका स्वभाव बदलना बहुत कठिन है ॥ ४९ ॥

किसी जंगलमें एक बहेलिया रहता था । वह बहेलिया क्या था, विधाताने मानो उसे पक्षियोंके कालरूपमें ही रच रक्खा था । जहाँ कहीं भी वह जाल फैला देता और ललचाकर चिड़ियोंको फँसा लेता ॥ ५० ॥ एक दिन उसने कुलिङ्ग पक्षीके एक जोड़ेको चारा चुगते देखा । उनमेंसे उस बहेलियेने मादा पक्षीको तो

सासज्जत शिचस्तन्त्यां महिषी कालयन्त्रिता ।
कुलिङ्गस्तां तथाऽऽपन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥५२॥
अहो अकरुणो देवः स्त्रियाऽऽकरुणया विभुः ।
कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥५३॥
कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे ।
दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा ॥५४॥
कथं त्वजातपक्षांस्तान् मातृहीनान् बिभर्म्यहम् ।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥५५॥
एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्
प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥५६॥
एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः ।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः ।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥५८॥
यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत ।
ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम् ॥५९॥
ततः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव च ।

शीघ्र ही फँसा लिया ॥ ५१ ॥ कालवश वह जालके फंदोंमें फँस गयी । नर पक्षीको अपनी मादाकी विपत्ति देखकर बड़ा दुःख हुआ । वह बेचारा उसे छुड़ा तो सकता न था, स्नेहसे उस बेचारीके लिये विलाप करने लगा ॥ ५२ ॥ उसने कहा—'यों तो विधाता सब कुछ कर सकता है; परंतु है वह बड़ा निर्दयी ! यह मेरी सहचरी एक तो स्त्री है, दूसरे मुझ अभागेके लिये शोक करती हुई बड़ी दीनतासे छटपटा रही है । इसे लेकर वह करेगा क्या ॥ ५३ ॥ उसकी मौज हो तो मुझे ले जाय । इसके बिना मैं अपना यह अधूरा विधुर जीवन, जो दीनता और दुःखसे भरा हुआ है, लेकर क्या करूँगा ॥ ५४ ॥ अभी मेरे अभागे बच्चोंके पर भी नहीं जमे हैं । स्त्रीके मर जानेपर उन मातृहीन बच्चोंको मैं कैसे पालूँगा ? ओह ! घोंसलेमें वे अपनी माकी बाट देख रहे होंगे' ॥ ५५ ॥ इस तरह वह पक्षी बहुत-सा विलाप करने लगा । अपनी सहचरीके वियोगसे वह आतुर हो रहा था । आँसुओंके मारे उसका गला रुँध गया था । तबतक कालकी प्रेरणासे पास ही छिपे हुए उसी बहेलियेने ऐसा बाण मारा कि वह भी वहींपर लोट गया ॥ ५६ ॥ मूर्ख रानियो ! तुम्हारी भी यही दशा होनेवाली है । तुम्हें अपनी मृत्यु तो दीखती नहीं और इसके लिये रो-पीट रही हो ! यदि तुम लोग सौ बरसतक इसी तरह शोकवश छाती पीटती रहो, तो भी अब तुम इसे नहीं पा सकोगी ॥ ५७ ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—उस छोटे-से बालककी ऐसी ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर सब-के-सब दंग रह गये । उशीनरनरेशके भाई-बन्धु और स्त्रियोंने यह बात समझ ली कि समस्त संसार और इसके सुख-दुःख अनित्य एवं मिथ्या हैं ॥ ५८ ॥ यमराज यह उपाख्यान सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये । भाई-बन्धुओंने भी सुयज्ञकी अन्त्येष्टि-क्रिया की ॥ ५९ ॥ इसलिये तुमलोग भी अपने लिये या किसी दूसरेके लिये शोक मत

१. प्रा० पा०—खं जीवेन । २. प्रा० पा०—काल । ३. प्रा० पा०—अतः । ४. प्रा० पा०—परमात्मानमेव च ।

क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥६०॥

करो । इस संसारमें कौन आत्मा है और कौन अपनेसे भिन्न ? क्या अपना है और क्या पराया ? प्राणियोंको अज्ञानके कारण ही यह अपने-परायेका दुराग्रह हो रहा है, इस भेद-बुद्धिका और कोई कारण नहीं है ॥६०॥

नारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥६१॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! अपनी पुत्रवधूके साथ दितिने हिरण्यकशिपुकी यह बात सुनकर उसी क्षण पुत्रशोकका त्याग कर दिया और अपना चित्त परमतत्त्वस्वरूप परमात्मामें लगा दिया ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
दितिशोकापनयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति

नारद उवाच

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥ १ ॥
स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः ॥ २ ॥
जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः ।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे ॥ ३ ॥
तस्य मूर्ध्नः समुद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः ।
तिर्यगूर्ध्वमधोलोकानतपद्विष्वगीरितः ॥ ४ ॥
चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः ।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥ ५ ॥
तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः ।

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! अब हिरण्यकशिपुने यह विचार किया कि 'मैं अजेय, अजर, अमर और संसारका एकछत्र सम्राट् बन जाऊँ, जिससे कोई मेरे सामने खड़ातक न हो सके' ॥ १ ॥ इसके लिये वह मन्दराचलकी एक घाटीमें जाकर अत्यन्त दारुण तपस्या करने लगा । वहाँ हाथ ऊपर उठाकर आकाशकी ओर देखता हुआ वह पैरके अँगूठेके बल पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ २ ॥ उसकी जटाएँ ऐसी चमक रही थीं, जैसे प्रलयकालके सूर्यकी किरणें । जब वह इस प्रकार तपस्यामें संलग्न हो गया, तब देवता लोग अपने-अपने स्थानों और पदोंपर पुनः प्रतिष्ठित हो गये ॥ ३ ॥ बहुत दिनोंतक तपस्या करनेके बाद उसकी तपस्याकी आग धूएँके साथ सिरसे निकलने लगी । वह चारों ओर फैल गयी और ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलके लोकोंको जलाने लगी ॥ ४ ॥ उसकी लपटसे नदी और समुद्र खौलने लगे । द्वीप और पर्वतोंके सहित पृथ्वी डगमगाने लगी । ग्रह और तारे टूट-टूटकर गिरने लगे तथा दसों दिशाओंमें मानो आग लग गयी ॥ ५ ॥

हिरण्यकशिपुकी उस तपोमयी आगकी लपटोंसे स्वर्गके देवता भी जलने लगे । वे घबराकर स्वर्गसे

प्रा० पा०—समे स्कन्धे दितेः शोकापनोदनो नाम।

धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते ॥ ६ ॥
दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः ।
तस्य चोपशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे ।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः ॥ ७ ॥
तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः ।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितः ॥ ८ ॥
सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना ।
अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम् ॥ ९ ॥
तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना ।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः ॥ १० ॥
अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा ।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः ॥ ११ ॥
इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः ।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर ॥ १२ ॥
तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते ।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च ॥ १३ ॥
इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप ।
परीतो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥ १४ ॥
न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः ।

ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीसे प्रार्थना करने लगे—"हे देवताओंके भी आराध्यदेव जगत्पति ब्रह्माजी ! हमलोग हिरण्यकशिपुके तपकी ज्वालासे जल रहे हैं। अब हम स्वर्गमें नहीं रह सकते। हे अनन्त ! हे सर्वाध्यक्ष ! यदि आप उचित समझें तो अपनी सेवा करनेवाली जनताका नाश होनेके पहले ही यह ज्वाला शान्त कर दीजिये ॥ ६-७ ॥ भगवन् ! आप सब कुछ जानते ही हैं, फिर भी हम अपनी ओरसे आपसे यह निवेदन कर देते हैं कि वह किस अभिप्रायसे यह घोर तपस्या कर रहा है। सुनिये, उसका विचार है कि 'जैसे ब्रह्माजी अपनी तपस्या और योगके प्रभावसे इस चराचर जगत्की सृष्टि करके सब लोकोंसे ऊपर सत्यलोकमें विराजते हैं, वैसे ही मैं भी अपनी उग्र तपस्या और योगके प्रभावसे वही पद और स्थान प्राप्त कर लूँगा ? क्योंकि समय असीम है और आत्मा नित्य है। एक जन्ममें नहीं, अनेक जन्म; एक युगमें न सही अनेक युगोंमें ॥ ८—१० ॥ अपनी तपस्याकी शक्तिसे मैं पाप-पुण्यादिके नियमोंको पलटकर इस संसारमें ऐसा उलट-फेर कर दूँगा, जैसा पहले कभी नहीं था। वैष्णवादि पदोंमें तो रक्खा ही क्या है। क्योंकि कल्पके अन्तमें उन्हें भी कालके गालमें चले जाना पड़ता है*' ॥ ११ ॥ हमने सुना है कि ऐसा हठ करके ही वह घोर तपस्यामें जुटा हुआ है। आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं। अब आप जो उचित समझें, वही करें ॥ १२ ॥ ब्रह्माजी ! आपका यह सर्वश्रेष्ठ परमेष्ठि-पद ब्राह्मण एवं गौओंकी वृद्धि, कल्याण, विभूति, कुशल और विजयके लिये है। (यदि यह हिरण्यकशिपुके हाथमें चला गया, तो सज्जनोंपर सङ्कटोंका पहाड़ टूट पड़ेगा)" ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जब देवताओंने भगवान् ब्रह्माजीसे इस प्रकार निवेदन किया, तब वे भृगु और दक्ष आदि प्रजापतियोंके साथ हिरण्यकशिपुके आश्रमपर गये ॥ १४ ॥ वहाँ जानेपर पहले तो वे उसे देख ही न सके; क्योंकि दीमककी मिट्टी, घास और बाँसोंसे उसका

१. प्रा० पा०—स्तथा विभो। २. प्रा० पा०—स्तव सोऽपि। ३. प्रा० पा०—अन्यथैव।

* यद्यपि वैष्णवपद (वैकुण्ठादि नित्यधाम) अविनाशी हैं, परंतु हिरण्यकशिपु अपनी आसुरी बुद्धिके कारण उनको कल्पके अन्तमें नष्ट होनेवाला ही मानता था। तामसी बुद्धिमें सब बातें विपरीत ही दीखा करती हैं।

पिपीलिकाभिराचीर्णमेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ।१५।
तपन्तं तपसा लोकान् यथाभ्रापिहितं रविम् ।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह प्रहसन् हंसवाहनः ।।१६।।

ब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप ।
वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः ।।१७।।
अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम् ।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ।।१८।।
नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान् को वै दिव्यसमाः शतम् ।१९।
व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम् ।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ।।२०।।
ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव ।
मर्त्यस्य ते अमर्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम ।।२१।।

नारद उवाच

इत्युक्त्वाऽऽदिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः ।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ।।२२।।
स तत्कीचकवल्मीकात् सहओजोबलान्वितः ।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा ।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ।।२३।।
स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमवस्थितम् ।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ।।२४।।

शरीर ढक गया था । चींटियाँ उसकी मेदा, त्वचा, मांस और खून चाट गयी थीं ।। १५ ।। बादलोंसे ढके हुए सूर्यके समान वह अपनी तपस्याके तेजसे लोकोंको तपा रहा था । उसको देखकर ब्रह्माजी भी विस्मित हो गये । उन्होंने हँसते हुए कहा ।। १६ ।।

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! हिरण्यकशिपु ! उठो, उठो । तुम्हारा कल्याण हो । कश्यपनन्दन ! अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी । मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो, बेखटके माँग लो ।। १७ ।। मैंने तुम्हारे हृदयका अद्भुत बल देखा । अरे, डाँसोंने तुम्हारी देह खा डाली है । फिर भी तुम्हारे प्राण हड्डियों-के सहारे टिके हुए हैं ।। १८ ।। ऐसी कठिन तपस्या न तो पहले किसी ऋषिने की थी और न आगे ही कोई करेगा । भला ऐसा कौन है जो देवताओंके सौ वर्ष-तक बिना पानीके जीता रहे ।। १९ ।। बेटा हिरण्यकशिपु ! तुम्हारा यह काम बड़े-बड़े धीर पुरुष भी कठिनतासे कर सकते हैं । तुमने इस तपोनिष्ठासे मुझे अपने वशमें कर लिया है ।। २० ।। दैत्यशिरोमणे ! इसीसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें जो कुछ माँगो, दिये देता हूँ । तुम हो मरनेवाले और मैं हूँ अमर । अतः तुम्हें मेरा यह दर्शन निष्फल नहीं हो सकता ।। २१ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इतना कहकर ब्रह्माजीने उसके चींटियोंसे खाये हुए शरीरपर अपने कमण्डलुका दिव्य एवं अमोघ प्रभावशाली जल छिड़क दिया ।। २२ ।। जैसे लकड़ीके ढेरमेंसे आग जल उठे, वैसे ही वह जल छिड़कते ही बाँस और दीमकोंकी मिट्टीके बीचसे उठ खड़ा हुआ । उस समय उसका शरीर सब अवयवोंसे पूर्ण एवं बलवान् हो गया था, इन्द्रियोंमें शक्ति आ गयी थी और मन सचेत हो गया था । सारे अङ्ग वज्रके समान कठोर एवं तपाये हुए सोनेकी तरह चमकीले हो गये थे । वह नवयुवक होकर उठ खड़ा हुआ ।। २३ ।। उसने देखा कि आकाशमें हंसपर चढ़े हुए ब्रह्माजी खड़े हैं । उन्हें देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ । अपना सिर पृथ्वीपर रखकर उसने उनको नमस्कार किया ।। २४ ।।

१. प्रा० पा०—राकीर्णमस्थित्वङ्० । २. प्रा० पा०—सहतेजोब० ।

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम् ।

हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो[1] गिरा गद्गदयागृणात् ॥२५॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन यो[2]ऽन्धेन तमसाऽऽवृतम् ।
अ[3]भिव्यनग् जगदिदं स्वयञ्ज्योतिः स्वरोचिषा ॥२६॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥२७॥
नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥२८॥
त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तेर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ॥२९॥
त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा
त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्माऽऽत्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥३०॥
त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥३१॥
त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
देजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति ।

फिर अञ्जलि बाँधकर नम्रभावसे खड़ा हुआ और बड़े प्रेमसे अपने निर्निमेष नयनोंसे उन्हें देखता हुआ गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगा । उस समय उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू उमड़ रहे थे और सारा शरीर पुलकित हो रहा था ॥ २५ ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—कल्पके अन्तमें यह सारी सृष्टि कालके द्वारा प्रेरित तमोगुणसे, घने अन्धकारसे ढक गयी थी । उस समय स्वयंप्रकाशस्वरूप आपने अपने तेजसे पुनः इसे प्रकट किया ॥ २६ ॥ आप ही अपने त्रिगुणमय रूपसे इसकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं । आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके आश्रय हैं । आप ही सबसे परे और महान् हैं । आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २७ ॥ आप ही जगत्के मूल कारण हैं । ज्ञान और विज्ञान आपकी मूर्ति हैं । प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि विकारोंके द्वारा आपने अपनेको प्रकट किया है ॥ २८ ॥ आप मुख्यप्राण सूत्रात्माके रूपसे चराचर जगत्को अपने नियन्त्रणमें रखते हैं । आप ही प्रजाके रक्षक भी हैं । भगवन् ! चित्त, चेतना, मन और इन्द्रियोंके स्वामी आप ही हैं । पञ्चभूत, शब्दादि विषय और उनके संस्कारोंके रचयिता भी महत्तत्त्वके रूपमें आप ही हैं ॥ २९ ॥ जो वेद होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—इन ऋत्विजोंसे होनेवाले यज्ञका प्रतिपादन करते हैं, वे आपके ही शरीर हैं । उन्हींके द्वारा अग्निष्टोम आदि सात यज्ञोंका आप विस्तार करते हैं । आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं; क्योंकि आप अनादि, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं ॥ ३० ॥ आप ही काल हैं । आप प्रतिक्षण सावधान रहकर अपने क्षण, लव आदि विभागोंके द्वारा लोगोंकी आयु क्षीण करते रहते हैं । फिर भी आप निर्विकार हैं; क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् और सम्पूर्ण जीवोंके जीवनदाता अन्तरात्मा हैं ॥ ३१ ॥ प्रभो ! कार्य, कारण, चल और अचल ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आपसे भिन्न हो । समस्त विद्या और

१. प्रा० पा०—कोद्भूतो । २. प्रा० पा०—सोऽन्धेन । ३. प्रा० पा०—अभिव्यञ्जग० ।

विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥३२॥
व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥३३॥
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥३४॥
यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥३५॥
नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥३६॥
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथाऽऽत्मनः ।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥३८॥

कलाएँ आपके शरीर हैं। आप त्रिगुणमयी मायासे अतीत स्वयं ब्रह्म हैं। यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें स्थित है। आप इसे अपनेमेंसे ही प्रकट करते हैं ॥ ३२ ॥ प्रभो! यह व्यक्त ब्रह्माण्ड आपका स्थूल शरीर है। इससे आप इन्द्रिय, प्राण और मनके विषयोंका उपभोग करते हैं। किंतु उस समय भी आप अपने परम ऐश्वर्यमय स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। वस्तुतः आप पुराणपुरुष, स्थूल-सूक्ष्मसे परे ब्रह्मस्वरूप ही हैं ॥ ३३ ॥ आप अपने अनन्त और अव्यक्त स्वरूपसे सारे जगत्में व्याप्त हैं। चेतन और अचेतन दोनों ही आपकी शक्तियाँ हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३४ ॥

प्रभो! आप समस्त वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे अभीष्ट वर देना चाहते हैं, तो ऐसा कर दीजिये कि आपके बनाये हुए किसी भी प्राणीसे—चाहे वह मनुष्य हो या पशु, प्राणी हो या अप्राणी, देवता हो या दैत्य अथवा नागादि—किसीसे भी मेरी मृत्यु न हो। भीतर-बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपके बनाये प्राणियोंके अतिरिक्त और भी किसी जीवसे, अस्त्र-शस्त्रसे, पृथ्वी या आकाशमें—कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्धमें कोई मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियोंका एकछत्र सम्राट् होऊँ ॥ ३५–३७ ॥ इन्द्रादि समस्त लोकपालोंमें जैसी आपकी महिमा है, वैसी ही मेरी भी हो। तपस्वियों और योगियोंको जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है, वही मुझे भी दीजिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे हिरण्यकशिपो-र्वरयाचनं[1] नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके अत्याचार और प्रह्लादके गुणोंका वर्णन

नारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीसे इस प्रकारके अत्यन्त दुर्लभ वर माँगे, तब उन्होंने उसकी तपस्यासे प्रसन्न होनेके कारण उसे वे वर दे दिये ॥ १ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'हिरण्य'……'नाम' इतना अंश नहीं है।

ब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यदपि दुर्लभान् ॥ २ ॥
ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥
एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद् द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥
स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रान् गन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥
सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन् पितृपतीन् मनून् ।
यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनथ ॥ ६ ॥
सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥
देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम् ।
महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।
त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥
यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः ।
यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च ।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥१०॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः ।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥११॥
तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो
महामना निर्जितलोक एकराट् ।

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! तुम जो वर मुझसे माँग रहे हो, वे जीवोंके लिये बहुत ही दुर्लभ हैं; परंतु दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें वे सब वर दिये देता हूँ ॥२॥

[नारदजी कहते हैं]—ब्रह्माजीके वरदान कभी झूठे नहीं होते । वे समर्थ एवं भगवद्रूप ही हैं । वरदान मिल जानेके बाद हिरण्यकशिपुने उनकी पूजा की । तत्पश्चात् प्रजापतियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे अपने लोकको चले गये ॥ ३ ॥ ब्रह्माजीसे वर प्राप्त करनेपर हिरण्यकशिपुका शरीर सुवर्णके समान कान्तिमान् एवं हृष्ट-पुष्ट हो गया । वह अपने भाईकी मृत्युका स्मरण करके भगवान्‌से द्वेष करने लगा ॥ ४ ॥ उस महादैत्यने समस्त दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नरपति, गन्धर्व, गरुड, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितरोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचराज, प्रेत, भूतपति एवं समस्त प्राणियोंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया । यहाँतक कि उस विश्व-विजयी दैत्यने लोकपालोंकी शक्ति और स्थान भी छीन लिये ॥ ५–७ ॥ अब वह नन्दनवन आदि दिव्य उद्यानोंके सौन्दर्यसे युक्त स्वर्गमें ही रहने लगा था । स्वयं विश्वकर्माका बनाया हुआ इन्द्रका भवन ही उसका निवासस्थान था । उस भवनमें तीनों लोकोंका सौन्दर्य मूर्तिमान् होकर निवास करता था । वह सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सम्पन्न था ॥ ८ ॥ उस महलमें मूँगेकी सीढ़ियाँ, पन्नेकी गचें, स्फटिकमणिकी दीवारें, वैदूर्यमणिके खंभे और माणिककी कुर्सियाँ थीं । रंग-बिरंगे चँदोवे तथा दूधके फेनके समान शय्याएँ, जिनपर मोतियोंकी झालरें लगी हुई थीं, शोभायमान हो रही थीं ॥ ९-१० ॥ सर्वाङ्ग-सुन्दरी अप्सराएँ अपने नूपुरोंसे रुन-झुन ध्वनि करती हुई रत्नमय भूमिपर इधर-उधर टहला करती थीं और कहीं-कहीं उसमें अपना सुन्दर मुख देखने लगती थीं ॥ ११ ॥ उस महेन्द्रके महलमें महाबली और महामनस्वी हिरण्यकशिपु सब लोकोंको जीतकर, सबका एकच्छत्र सम्राट् बनकर बड़ी स्वतन्त्रतासे विहार करने

१. प्रा० पा०—म्यद्य वरान् यद्यपि । २. प्रा० पा०—पतीन् प्रभुः । ३. प्रा० पा०—गसमानि च । ४. प्रा० पा०—महासुरो महाबलो नि० ।

रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥१२॥

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ॥१३॥

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः[1] ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव ॥१४॥

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा ॥१५॥

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही ।
तथा कामदुघा द्यौस्तु[2] नानाश्चर्यपदं नभः ॥१६॥

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः ।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥१७॥

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः ।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥१८॥

स इत्थं निर्जितककुबेकराड्[3] विषयान् प्रियान् ।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥१९॥

लगा। उसका शासन इतना कठोर था कि उससे भयभीत होकर देव-दानव उसके चरणोंकी वन्दना करते रहते थे ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर! वह उत्कट गन्धवाली मदिरा पीकर मतवाला रहा करता था। उसकी आँखें लाल-लाल और चढ़ी हुई रहतीं। उस समय तपस्या, योग, शारीरिक और मानसिक बलका वह भंडार था। ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके सिवा और सभी देवता अपने हाथोंमें भेंट ले-लेकर उसकी सेवामें लगे रहते ॥ १३ ॥ जब वह अपने पुरुषार्थसे इन्द्रासनपर बैठ गया, तब युधिष्ठिर! विश्वावसु, तुम्बुरु तथा हम सभी लोग उसके सामने गान करते थे। गन्धर्व, सिद्ध, ऋषिगण, विद्याधर और अप्सराएँ बार-बार उसकी स्तुति करती थीं ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर! वह इतना तेजस्वी था कि वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाले पुरुष जो बड़ी-बड़ी दक्षिणा-वाले यज्ञ करते, उनके यज्ञोंकी आहुति वह स्वयं छीन लेता ॥ १५ ॥ पृथ्वीके सातों द्वीपोंमें उसका अखण्ड राज्य था। सभी जगह बिना ही जोते-बोये धरतीसे अन्न पैदा होता था। वह जो कुछ चाहता, अन्तरिक्षसे उसे मिल जाता तथा आकाश उसे भाँति-भाँतिकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखा-दिखाकर उसका मनोरञ्जन करता था ॥ १६ ॥ इसी प्रकार खारे पानी, सुरा, घृत, इक्षुरस, दधि, दुग्ध और मीठे पानीके समुद्र भी अपनी पत्नी नदियोंके साथ तरंगोंके द्वारा उसके पास रत्नराशि पहुँचाया करते ॥ १७ ॥ पर्वत अपनी घाटियोंके रूपमें उसके लिये खेलनेका स्थान जुटाते और वृक्ष सब ऋतुओंमें फूलते-फलते। वह अकेला ही सब लोकपालोंके विभिन्न गुणोंको धारण करता ॥ १८ ॥ इस प्रकार दिग्विजयी और एकछत्र सम्राट् होकर वह अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयोंका स्वच्छन्द उपभोग करने लगा। परंतु इतने विषयोंसे भी उसकी तृप्ति न हो सकी। क्योंकि अन्ततः वह इन्द्रियोंका दास ही तो था ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—रुनारदादयः। २. प्रा० पा०—गावो। ३. प्रा० पा०—ककुप्सकलान् वि०।

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥२०॥
तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥२१॥
तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताःसंन्यासिनोऽमलाः॥२२॥
इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः ।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥२३॥
तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिस्वना[1] ।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥२४॥
मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥२५॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च ।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत ॥२६॥
यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥२७॥
निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥२८॥

नारद उवाच[2]

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः ।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥२९॥

युधिष्ठिर ! इस रूपमें भी वह भगवान्का वही पार्षद है, जिसे सनकादिकोंने शाप दिया था। वह ऐश्वर्यके मदसे मतवाला हो रहा था तथा घमंडमें चूर होकर शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहा था। देखते-ही-देखते उसके जीवनका बहुत-सा समय बीत गया ॥ २० ॥ उसके कठोर शासनसे सब लोक और लोकपाल घबरा गये। जब उन्हें और कहीं किसीका आश्रय न मिला, तब उन्होंने भगवान्की शरण ली ॥ २१ ॥ (उन्होंने मन-ही-मन कहा—) 'जहाँ सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि निवास करते हैं और जिसे प्राप्त करके शान्त एवं निर्मल संन्यासी महात्मा फिर लौटते नहीं, भगवान्के उस परम धामको हम नमस्कार करते हैं' ॥ २२ ॥ इस भावसे अपनी इन्द्रियोंका संयम और मनको समाहित करके उन लोगोंने खाना-पीना और सोना छोड़ दिया तथा निर्मल हृदयसे भगवान्की आराधना की ॥ २३ ॥ एक दिन उन्हें मेघके समान गम्भीर आकाशवाणी सुनायी पड़ी। उसकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठीं। साधुओंको अभय देनेवाली वह वाणी यों थी—॥ २४ ॥ 'श्रेष्ठ देवताओ! डरो मत। तुम सब लोगोंका कल्याण हो। मेरे दर्शनसे प्राणियोंको परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है ॥ २५ ॥ इस नीच दैत्यकी दुष्टताका मुझे पहलेसे ही पता है। मैं इसको मिटा दूँगा। अभी कुछ दिनोंतक समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥ कोई भी प्राणी जब देवता, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु, धर्म और मुझसे द्वेष करने लगता है, तब शीघ्र ही उसका विनाश हो जाता है ॥ २७ ॥ जब यह अपने वैरहीन, शान्त और महात्मा पुत्र प्रह्लादसे द्रोह करेगा—उसका अनिष्ट करना चाहेगा, तब वरके कारण शक्तिसम्पन्न होनेपर भी इसे मैं अवश्य मार डालूँगा' ॥ २८ ॥

नारदजी कहते हैं—सबके हृदयमें ज्ञानका संचार करनेवाले भगवान्ने जब देवताओंको यह आदेश दिया, तब वे उन्हें प्रणाम करके लौट आये। उनका सारा उद्वेग मिट गया और उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि हिरण्यकशिपु मर गया ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—आकाशान्मेघ०। २. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है।

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।

प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥३०॥

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।

आत्मवत्सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः ॥३१॥

दासवत्संनतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ।

भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।

विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥३२॥

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः

श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।

दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा

प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥३३॥

यस्मिन्महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः ।

न तेऽधुनापि धीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥३४॥

यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप ।

प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥३५॥

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।

वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः[1] ॥३६॥

युधिष्ठिर! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके बड़े ही विलक्षण चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद यों तो सबसे छोटे थे, परंतु गुणोंमें सबसे बड़े थे। वे बड़े संतसेवी थे ॥३०॥ ब्राह्मणभक्त, सौम्यस्वभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे तथा समस्त प्राणियोंके साथ अपने ही समान समताका बर्ताव करते और सबके एकमात्र प्रिय और सच्चे हितैषी थे ॥ ३१ ॥ बड़े लोगोंके चरणोंमें सेवककी तरह झुककर रहते थे। गरीबोंपर पिताके समान स्नेह रखते थे। बराबरीवालोंसे भाईके समान प्रेम करते और गुरुजनोंमें भगवद्भाव रखते थे। विद्या, धन, सौन्दर्य और कुलीनतासे सम्पन्न होनेपर भी घमंड और हेकड़ी उन्हें छूतक नहीं गयी थी ॥ ३२ ॥ बड़े-बड़े दुःखोंमें भी वे तनिक भी घबराते न थे। लोक-परलोकके विषयोंको उन्होंने देखा-सुना तो बहुत था, परंतु वे उन्हें निःसार और असत्य समझते थे। इसलिये उनके मनमें किसी भी वस्तुकी लालसा न थी, इन्द्रिय, प्राण, शरीर और मन उनके वशमें थे। उनके चित्तमें कभी किसी प्रकारकी कामना नहीं उठती थी। जन्मसे असुर होनेपर भी उनमें आसुरी सम्पत्तिका लेश भी नहीं था ॥ ३३ ॥ जैसे भगवान्‌के गुण अनन्त हैं, वैसे ही प्रह्लादके श्रेष्ठ गुणोंकी भी कोई सीमा नहीं है। महात्मालोग सदासे उनका वर्णन करते और उन्हें अपनाते आये हैं। तथापि वे आज भी ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं ॥ ३४ ॥ युधिष्ठिर! यों तो देवता उनके शत्रु हैं, परंतु फिर भी भक्तोंका चरित्र सुननेके लिये जब उन लोगोंकी सभा होती है, तब वे दूसरे भक्तोंको प्रह्लादके समान कहकर उनका सम्मान करते हैं। फिर आप-जैसे अजातशत्रु भगवद्भक्त उनका आदर करेंगे, इसमें तो संदेह ही क्या है ॥ ३५ ॥ उनकी महिमाका वर्णन करनेके लिये अगणित गुणोंके कहने-सुननेकी आवश्यकता नहीं। केवल एक ही गुण—भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें स्वाभाविक, जन्मजात प्रेम उनकी महिमाको प्रकट करनेके लिये पर्याप्त है ॥ ३६ ॥

[1] प्रा० पा०—मतिः ।

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥३७॥
आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥३८॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥३९॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥४०॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥४१॥
स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनस्य मनःशमं व्यधात् ॥४२॥
तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि ।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥४३॥

युधिष्ठिर उवाच

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत ।

युधिष्ठिर! प्रह्लाद बचपनमें ही खेल-कूद छोड़कर भगवान्‌के ध्यानमें जड़वत् तन्मय हो जाया करते । भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहरूप ग्रहने उनके हृदयको इस प्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत्‌की कुछ सुध-बुध ही न रहती ॥ ३७ ॥ उन्हें ऐसा जान पड़ता कि भगवान् मुझे अपनी गोदमें लेकर आलिङ्गन कर रहे हैं । इसलिये उन्हें सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते और बातचीत करते समय भी इन बातोंका ध्यान बिल्कुल न रहता ॥ ३८ ॥ कभी-कभी भगवान् मुझे छोड़कर चले गये, इस भावनामें उनका हृदय इतना डूब जाता कि वे जोर-जोरसे रोने लगते । कभी मन-ही-मन उन्हें अपने सामने पाकर आनन्दोद्रेकसे ठठाकर हँसने लगते । कभी उनके ध्यानके मधुर आनन्दका अनुभव करके जोरसे गाने लगते ॥ ३९ ॥ वे कभी उत्सुक हो बेसुरा चिल्ला पड़ते । कभी-कभी लोकलज्जाका त्याग करके प्रेममें छककर नाचने भी लगते थे । कभी-कभी उनकी लीलाके चिन्तनमें इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें अपनी याद ही न रहती, उन्हींका अनुकरण करने लगते ॥ ४० ॥ कभी भीतर-ही-भीतर भगवान्‌का कोमल संस्पर्श अनुभव करके आनन्दमें मग्न हो जाते और चुपचाप शान्त होकर बैठ रहते । उस समय उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता । अधखुले नेत्र अविचल प्रेम और आनन्दके आँसुओंसे भरे रहते ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी यह भक्ति अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंके सङ्गसे ही प्राप्त होती है । इसके द्वारा वे स्वयं तो परमानन्दमें मग्न रहते ही थे; जिन बेचारोंका मन कुसङ्गके कारण अत्यन्त दीन-हीन हो रहा था, उन्हें भी बार-बार शान्ति प्रदान करते थे ॥ ४२ ॥ युधिष्ठिर! प्रह्लाद भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त, परम भाग्यवान् और ऊँची कोटिके महात्मा थे । हिरण्यकशिपु ऐसे साधु पुत्रको भी अपराधी बतलाकर उनका अनिष्ट करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी! आपका व्रत अखण्ड है । अब हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि

यदात्मजाय शुद्धाय पितादात् साधवे ह्यघम् ॥४४॥
पुत्रान् विप्रतिकूलान् स्वान् पितरः पुत्रवत्सलाः ।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा ॥४५॥
किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदेवतान् ।
एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।
पितुः पुत्राय यद् द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥४६॥

हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी ऐसे शुद्धहृदय महात्मा पुत्रसे द्रोह क्यों किया ॥ ४४ ॥ पिता तो स्वभावसे ही अपने पुत्रोंसे प्रेम करते हैं । यदि पुत्र कोई उलटा काम करता है, तो वे उसे शिक्षा देनेके लिये ही डाँटते हैं, शत्रुकी तरह वैर-विरोध तो नहीं करते ॥ ४५ ॥ फिर प्रह्लादजी-जैसे अनुकूल, शुद्ध-हृदय एवं गुरुजनोंमें भगवद्भाव करनेवाले पुत्रोंसे भला, कोई द्वेष कर ही कैसे सकता है । नारदजी ! आप सब कुछ जानते हैं । हमें यह जानकर बड़ा कौतूहल हो रहा है कि पिताने द्वेषके कारण पुत्रको मार डालना चाहा । आप कृपा करके मेरा यह कुतूहल शान्त कीजिये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादचरिते[2] चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादजीके वधका प्रयत्न

नारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः ।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥
तौ[3] राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् ।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥
यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनु पपाठ च ।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥
एकदासुरराट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव ।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! दैत्योंने भगवान् श्रीशुक्राचार्यजीको अपना पुरोहित बनाया था । उनके दो पुत्र थे—शण्ड और अमर्क । वे दोनों राजमहलके पास ही रहकर हिरण्यकशिपुके द्वारा भेजे हुए नीति-निपुण बालक प्रह्लादको और दूसरे पढ़ानेयोग्य दैत्य-बालकोंको राजनीति, अर्थनीति आदि पढ़ाया करते थे ॥ १-२ ॥ प्रह्लाद गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुन लेते थे और उसे ज्यों-का-त्यों उन्हें सुना भी दिया करते थे । किंतु वे उसे मनसे अच्छा नहीं समझते थे, क्योंकि उस पाठका मूल आधार था अपने और परायेका झूठा आग्रह ॥ ३ ॥ युधिष्ठिर ! एक दिन हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको बड़े प्रेमसे गोदमें लेकर पूछा—'बेटा ! बताओ तो सही, तुम्हें कौन-सी बात अच्छी लगती है ?' ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—परे । २. प्राचीन प्रतिमें 'प्रह्लादचरिते' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—तौ तु राज्ञार्पितं ।

प्रह्राद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥५॥

नारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः ।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥ ६ ॥
सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः ।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥ ७ ॥
गृहमानीतमाहूय प्रह्रादं दैत्ययाजकाः ।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥ ८ ॥
वत्स प्रह्राद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा ।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥
बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् ।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥१०॥

प्रह्राद उवाच

स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥११॥
स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥१२॥
स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
र्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी! संसारके प्राणी 'मैं' और 'मेरे' के झूठे आग्रहमें पड़कर सदा ही अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। ऐसे प्राणियोंके लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने अधःपतनके मूल कारण, घाससे ढके हुए अँधेरे कूएँके समान इस घरको छोड़कर वनमें चले जायँ और भगवान् श्रीहरिकी शरण ग्रहण करें ॥ ५ ॥

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीके मुँहसे शत्रुपक्षकी प्रशंसासे भरी बात सुनकर हिरण्यकशिपु ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा—'दूसरोंके बहकानेसे बच्चोंकी बुद्धि यों ही बिगड़ जाया करती है ॥ ६ ॥ जान पड़ता है, गुरुजीके घरपर विष्णुके पक्षपाती कुछ ब्राह्मण वेष बदलकर रहते हैं। बालककी भलीभाँति देख-रेख की जाय, जिससे अब इसकी बुद्धि बहकने न पाये' ॥ ७ ॥

जब दैत्योंने प्रह्लादको गुरुजीके घर पहुँचा दिया, तब पुरोहितोंने उनको बहुत पुचकारकर और फुसलाकर बड़ी मधुर वाणीसे पूछा ॥ ८ ॥ बेटा प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। ठीक-ठीक बतलाना। देखो, झूठ न बोलना। यह तुम्हारी बुद्धि उलटी कैसे हो गयी? और किसी बालककी बुद्धि तो ऐसी नहीं हुई ॥ ९ ॥ कुलनन्दन प्रह्लाद! बताओ तो बेटा! हम तुम्हारे गुरुजन यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारी बुद्धि स्वयं ऐसी हो गयी या किसीने सचमुच तुमको बहका दिया है? ॥ १० ॥

प्रह्लादजीने कहा—जिन मनुष्योंकी बुद्धि मोहसे ग्रस्त हो रही है, उन्हींको भगवान्‌की मायासे यह झूठा दुराग्रह होता देखा गया है कि यह 'अपना' है और यह 'पराया'। उन मायापति भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥ वे भगवान् ही जब कृपा करते हैं, तब मनुष्योंकी पाशविक बुद्धि नष्ट होती है। इस पशु-बुद्धिके कारण ही तो 'यह मैं हूँ और यह मुझसे भिन्न है' इस प्रकारका झूठा भेदभाव पैदा होता है ॥ १२ ॥ वही परमात्मा यह आत्मा है। अज्ञानीलोग अपने और परायेका भेद करके उसीका वर्णन किया करते हैं। उनका न जानना भी ठीक ही है; क्योंकि उसके तत्त्वको

१. प्रा० पा०—परः स्वश्चेत्य०।

मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥१३॥
यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥१४॥
नारद उवाच[1]
एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः ।
तं[2] निर्भर्त्स्याथ कुपितः स दीनो राजसेवकः ॥१५॥
आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः ।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥१६॥
दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः ।
यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः[3] ॥१७॥
इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः ।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥१८॥
तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् ।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥१९॥
पादयोः[4] पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः ।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥२०॥
आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।
आसिञ्चन् विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥२१॥

जानना बहुत कठिन है और ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े वेदज्ञ भी उसके विषयमें मोहित हो जाते हैं। वही परमात्मा आपलोगोंके शब्दोंमें मेरी बुद्धि 'बिगाड़' रहा है ॥ १३ ॥ गुरुजी ! जैसे चुम्बकके पास लोहा स्वयं खिंच आता है, वैसे ही चक्रपाणि भगवान्‌की स्वच्छन्द इच्छाशक्तिसे मेरा चित्त भी संसारसे अलग होकर उनकी ओर बरबस खिंच जाता है ॥ १४ ॥

नारदजी कहते हैं—परमज्ञानी प्रह्लाद अपने गुरुजीसे इतना कहकर चुप हो गये। पुरोहित बेचारे राजाके सेवक एवं पराधीन थे। वे डर गये। उन्होंने क्रोधसे प्रह्लादको झिड़क दिया और कहा—॥ १५ ॥ 'अरे, कोई मेरा बेंत तो लाओ। यह हमारी कीर्तिमें कलङ्क लगा रहा है। इस दुर्बुद्धि कुलाङ्गारको ठीक करनेके लिये चौथा उपाय दण्ड ही उपयुक्त होगा ॥ १६ ॥ दैत्य-वंशके चन्दनवनमें यह काँटेदार बबूल कहाँसे पैदा हुआ? जो विष्णु इस वनकी जड़ काटनेमें कुल्हाड़ेका काम करते हैं, यह नादान बालक उन्हींकी बेंट बन रहा है, सहायक हो रहा है' ॥ १७ ॥ इस प्रकार गुरुजीने तरह-तरहसे डाँट-डपटकर प्रह्लादको धमकाया और अर्थ, धर्म एवं कामसम्बन्धी शिक्षा दी ॥ १८ ॥ कुछ समयके बाद जब गुरुजीने देखा कि प्रह्लादने साम, दान, भेद और दण्डके सम्बन्धकी सारी बातें जान ली हैं, तब वे उन्हें उनकी माके पास ले गये। माताने बड़े लाड़-प्यारसे उन्हें नहला-धुलाकर अच्छी तरह गहने-कपड़ोंसे सजा दिया। इसके बाद वे उन्हें हिरण्यकशिपुके पास ले गये ॥ १९ ॥ प्रह्लाद अपने पिताके चरणोंमें लोट गये। हिरण्यकशिपुने उन्हें आशीर्वाद दिया और दोनों हाथोंसे उठाकर बहुत देरतक गलेसे लगाये रक्खा। उस समय दैत्यराजका हृदय आनन्दसे भर रहा था ॥ २० ॥ युधिष्ठिर ! हिरण्यकशिपुने प्रसन्नमुख प्रह्लादको अपनी गोदमें बैठाकर उनका सिर सूँघा। उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू गिर-गिरकर प्रह्लादके शरीरको भिगोने लगे। उसने अपने पुत्रसे पूछा ॥ २१ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—तं मुनिर्भर्त्स्य कु०। ३. प्रा० पा०—तन्मू०। ४. प्रा० पा०—प्रणतं पादयोर्बालं।

हिरण्यकशिपुरुवाच[1]

प्रह्रादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।
कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान् ॥२२॥

प्रह्राद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥२३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥
निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा ।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥२५॥
ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता ।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥२६॥
सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः ।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥२७॥

गुरुपुत्र उवाच[2]

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥२८॥

नारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् ।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥२९॥

प्रह्राद उवाच

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

हिरण्यकशिपुने कहा—चिरञ्जीव बेटा प्रह्लाद ! इतने दिनोंमें तुमने गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमेंसे कोई अच्छी-सी बात हमें सुनाओ ॥ २२ ॥

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी ! विष्णुभगवान्‌की भक्तिके नौ भेद हैं—भगवान्‌के गुण-लीला, नाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप-नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन । यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय, तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ ॥ २३-२४ ॥

प्रह्लादकी यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओठ फड़कने लगे । उसने गुरुपुत्रसे कहा—॥२५॥ रे नीच ब्राह्मण ! यह तेरी कैसी करतूत है; दुर्बुद्धि ! तूने मेरी कुछ भी परवा न करके इस बच्चेको कैसी निस्सार शिक्षा दे दी ? अवश्य ही तू हमारे शत्रुओंका आश्रित है ॥ २६ ॥ संसारमें ऐसे दुष्टोंकी कमी नहीं है, जो मित्रका बाना धारणकर छिपे-छिपे शत्रुका काम करते हैं । परंतु उनकी कलई ठीक वैसे ही खुल जाती है, जैसे छिपकर पाप करनेवालोंका पाप समयपर रोगके रूपमें प्रकट होकर उनकी पोल खोल देता है ॥ २७ ॥

गुरुपुत्रने कहा—इन्द्रशत्रो ! आपका पुत्र जो कुछ कह रहा है, वह मेरे या और किसीके बहकानेसे नहीं कह रहा है । राजन् ! यह तो इसकी जन्मजात स्वाभाविक बुद्धि है । आप क्रोध शान्त कीजिये । व्यर्थमें हमें दोष न लगाइये ।२८।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब गुरुजीने ऐसा उत्तर दिया, तब हिरण्यकशिपुने फिर प्रह्लादसे पूछा—'क्यों रे, यदि तुझे ऐसी अहित करनेवाली खोटी बुद्धि गुरुमुखसे नहीं मिली तो बता, कहाँसे प्राप्त हुई ?' ॥२९॥

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी ! संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुएको चबा रहे हैं । उनकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वे भोगे हुए विषयोंको ही फिर-फिर भोगनेके लिये संसाररूप घोर नरककी ओर जा रहे हैं । ऐसे गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने-आप

१. प्राचीन प्रतिमें 'हिरण्यकशिपुरुवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—गुरुरुवाच ।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥३०॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना
वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥३१॥
नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥३२॥
इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥३३॥
आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः ।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः ॥३४॥
अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः ।
पितृव्यहन्तुर्यः पादौ विष्णोर्दासवदर्चति ॥३५॥
विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः ।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥३६॥
परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥३७॥

किसीके सिखानेसे अथवा अपने ही-जैसे लोगोंके सङ्गसे भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती ॥ ३० ॥ जो इन्द्रियोंसे दीखनेवाले बाह्य विषयोंको परम इष्ट समझकर मूर्खतावश अन्धोंके पीछे अन्धोंकी तरह गड्ढेमें गिरनेके लिये चले जा रहे हैं और वेदवाणीरूप रस्सीके—काम्यकर्मोंके दीर्घ बन्धनमें बँधे हुए हैं, उनको यह बात मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान् विष्णु ही हैं—उन्हींकी प्राप्तिसे हमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ३१ ॥ जिनकी बुद्धि भगवान्के चरणकमलोंका स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है। परंतु जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंके चरणोंकी धूलमें स्नान नहीं कर लेते, उनकी बुद्धि काम्यकर्मोंका पूरा सेवन करनेपर भी भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ३२ ॥

प्रह्लादजी इतना कहकर चुप हो गये हिरण्यकशिपुने क्रोधके मारे अन्धा होकर उन्हें अपनी गोदसे उठाकर भूमिपर पटक दिया ॥ ३३ ॥ प्रह्लादकी बातको वह सह न सका। रोषके मारे उसके नेत्र लाल हो गये। वह कहने लगा—दैत्यो ! इसे यहाँसे बाहर ले जाओ और तुरंत मार डालो। यह मार ही डालने योग्य है ॥ ३४ ॥ देखो तो सही—जिसने इसके चाचाको मार डाला, अपने सुहृद्-स्वजनोंको छोड़कर यह नीच दासके समान उसी विष्णुके चरणोंकी पूजा करता है ! हो-न-हो, इसके रूपमें मेरे भाईको मारनेवाला विष्णु ही आ गया है ॥ ३५ ॥ अब यह विश्वासके योग्य नहीं है। पाँच बरसकी अवस्थामें ही जिसने अपने माता-पिताके दुस्त्यज वात्सल्यस्नेहको भुला दिया—वह कृतघ्न भला विष्णुका ही क्या हित करेगा ॥ ३६ ॥ कोई दूसरा भी यदि औषधके समान भलाई करे तो वह एक प्रकारसे पुत्र ही है। पर यदि अपना पुत्र भी अहित करने लगे तो रोगके समान वह शत्रु है। अपने शरीरके ही किसी अङ्गसे सारे शरीरकी हानि होती हो तो उसको काट डालना चाहिये, क्योंकि उसे काट देनेसे शेष शरीर सुखसे जी सकता है ॥ ३७ ॥

१. प्रा० पा०—नानामन्त्रणीत । २. प्रा० पा०—कषायीकृत० ।

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥३८॥

यह स्वजनका बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है। जैसे योगीकी भोगलोलुप इन्द्रियाँ उसका अनिष्ट करती हैं, वैसे ही यह मेरा अहित करनेवाला है। इसलिये खाने, सोने, बैठने आदिके समय किसी भी उपायसे इसे मार डालो' ॥ ३८ ॥

नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥३९॥
नदन्तो भैरवान्नादांश्छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनं चाहनञ् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥४०॥
परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥४१॥
प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥४२॥
दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च[१] अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥४३॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥४४॥
एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः ।

जब हिरण्यकशिपुने दैत्योंको इस प्रकार आज्ञा दी तब तीखी दाढ़, विकराल वदन, लाल-लाल दाढ़ी-मूँछ एवं केशोंवाले दैत्य हाथोंमें त्रिशूल ले-लेकर 'मारो, काटो'—इस प्रकार बड़े जोरसे चिल्लाने लगे। प्रह्लाद चुपचाप बैठे हुए थे और दैत्य उनके सभी मर्मस्थानोंमें शूलसे घाव कर रहे थे ॥ ३९-४० ॥ उस समय प्रह्लादजीका चित्त उन परमात्मामें लगा हुआ था, जो मन-वाणीके अगोचर, सर्वात्मा, समस्त शक्तियोंके आधार एवं परब्रह्म हैं। इसलिये उनके सारे प्रहार ठीक वैसे ही निष्फल हो गये, जैसे भाग्यहीनोंके बड़े-बड़े उद्योग-धंधे व्यर्थ होते हैं ॥ ४१ ॥ युधिष्ठिर! जब शूलोंकी मारसे प्रह्लादके शरीरपर कोई असर नहीं हुआ, तब हिरण्यकशिपुको बड़ी शंका हुई। अब वह प्रह्लादको मार डालनेके लिये बड़े हठसे भाँति-भाँतिके उपाय करने लगा ॥ ४२ ॥ उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पुरोहितोंसे कृत्या राक्षसी उत्पन्न करायी, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवा दिया, शम्बरासुरसे अनेकों प्रकारकी मायाका प्रयोग करवाया, अँधेरी कोठरियोंमें बंद करा दिया, विष पिलाया और खाना बंद कर दिया ॥ ४३ ॥ बर्फीली जगह, दहकती हुई आग और समुद्रमें बारी-बारीसे डलवाया, आँधीमें छोड़ दिया तथा पर्वतोंके नीचे दबवा दिया; परंतु इनमेंसे किसी भी उपायसे वह अपने पुत्र निष्पाप प्रह्लादका बाल भी बाँका न कर सका। अपनी विवशता देखकर हिरण्यकशिपुको बड़ी चिन्ता हुई। उसे प्रह्लादको मारनेके लिये और कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा ॥ ४४ ॥ वह सोचने लगा—'इसे मैंने बहुत कुछ बुरा-भला कहा, मार डालनेके बहुत-से उपाय किये। परंतु यह मेरे द्रोह और

१. प्रा० पा०—शूकेन्द्रैरभिचाराभिपात० ।

तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥४५॥

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् ।

न विस्मरति मेऽनार्यं शुनःशेप इव प्रभुः ॥४६॥

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।

नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥४७॥

इति तं चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् ।

शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥४८॥

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवो-

विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।

न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे

न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥४९॥

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा

निधेहि भीतो न पलायते यथा ।

बुद्धिश्च पुंसो वयसाऽऽर्यसेवया

यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥५०॥

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् ।

धर्मा[2] ह्यस्योपदेष्टव्या[3] राज्ञां ये[4] गृहमेधिनाम् ॥५१॥

धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः ।

दुर्व्यवहारोंसे बिना किसीकी सहायताके अपने प्रभावसे ही बचता गया ॥ ४५ ॥ यह बालक होनेपर भी समझदार है और मेरे पास ही निःशङ्क भावसे रहता है । हो-न-हो इसमें कुछ सामर्थ्य अवश्य है । जैसे शुनःशेप * अपने पिताकी करतूतोंसे उसका विरोधी हो गया था, वैसे ही यह भी मेरे किये अपकारोंको न भूलेगा ॥ ४६ ॥ न तो यह किसीसे डरता है और न इसकी मृत्यु ही होती है । इसकी शक्तिकी थाह नहीं है । अवश्य ही इसके विरोधसे मेरी मृत्यु होगी । सम्भव है, न भी हो' ॥ ४७ ॥

इस प्रकार सोच-विचार करते-करते उसका चेहरा कुछ उतर गया । शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड और अमर्कने जब देखा कि हिरण्यकशिपु तो मुँह लटकाकर बैठा हुआ है, तब उन्होंने एकान्तमें जाकर उससे यह बात कही—॥ ४८ ॥ 'स्वामी ! आपने अकेले ही तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली । आपके भौंहें टेढ़ी करनेपर ही सारे लोकपाल काँप उठते हैं । हमारे देखनेमें तो आपके लिये चिन्ताकी कोई बात नहीं है । भला, बच्चोंके खिलवाड़में भी भलाई-बुराई सोचनेकी कोई बात है ॥ ४९ ॥ जबतक हमारे पिता शुक्राचार्यजी नहीं आ जाते, तबतक यह डरकर कहीं भाग न जाय । इसलिये इसे वरुणके पाशोंसे बाँध रखिये । प्रायः ऐसा होता है कि अवस्थाकी वृद्धिके साथ-साथ और गुरुजनोंकी सेवासे बुद्धि सुधर जाया करती है' ॥ ५० ॥

हिरण्यकशिपुने 'अच्छा, ठीक है' कहकर गुरु-पुत्रोंकी सलाह मान ली और कहा कि 'इसे उन धर्मोंका उपदेश करना चाहिये, जिनका पालन गृहस्थ नरपति किया करते हैं' ॥ ५१ ॥ युधिष्ठिर ! इसके बाद पुरोहित उन्हें लेकर पाठशालामें गये और क्रमशः धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थोंकी

१. प्रा० पा०—विद्महे । २. प्रा० पा०—धर्मो । ३. प्रा० पा०—व्यो । ४. प्रा० पा०—यो ।

* शुनःशेप अजीगर्तका मँझला पुत्र था । उसे पिताने वरुणके यज्ञमें बलि देनेके लिये हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहिताश्वके हाथ बेच दिया था । तब उसके मामा विश्वामित्रजीने उसकी रक्षा की और वह अपने पितासे विरुद्ध होकर उनके विपक्षी विश्वामित्रजीके ही गोत्रमें हो गया । यह कथा आगे 'नवम स्कन्ध' के सातवें अध्यायमें आवेगी ।

प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च ॥५२॥

यथा त्रिवर्गं[1] गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्[2] ।

न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥५३॥

यदाऽऽचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु ।

वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः ॥५४॥

अथ ताञ् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः ।

उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥५५॥

ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।

बाला नदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥५६॥

पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः ।

तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥५७॥

शिक्षा देने लगे। प्रह्लाद वहाँ अत्यन्त नम्र सेवककी भाँति रहते थे ॥ ५२ ॥ परंतु गुरुओंकी वह शिक्षा प्रह्लादको अच्छी न लगी; क्योंकि गुरुजी उन्हें केवल अर्थ, धर्म और कामकी ही शिक्षा देते थे। यह शिक्षा केवल उन लोगोंके लिये है, जो राग-द्वेष आदि द्वन्द्व और विषय-भोगोंमें रस ले रहे हों ॥ ५३ ॥ एक दिन गुरुजी गृहस्थीके कामसे कहीं बाहर चले गये थे। छुट्टी मिल जानेके कारण समवयस्क बालकोंने प्रह्लादजीको खेलनेके लिये पुकारा ॥ ५४ ॥ प्रह्लादजी परम ज्ञानी थे, उनका प्रेम देखकर उन्होंने उन बालकोंको ही बड़ी मधुर वाणीसे पुकारकर अपने पास बुला लिया। उनसे उनके जन्म-मरणकी गति भी छिपी नहीं थी। उनपर कृपा करके हँसते हुए-से उन्हें उपदेश करने लगे ॥ ५५ ॥ युधिष्ठिर! वे सब अभी बालक ही थे, इसलिये राग-द्वेषपरायण विषय-भोगी पुरुषोंके उपदेशोंसे और चेष्टाओंसे उनकी बुद्धि अभी दूषित नहीं हुई थी। इसीसे, और प्रह्लादजीके प्रति आदर-बुद्धि होनेसे उन सबने अपनी खेल-कूदकी सामग्रियोंको छोड़ दिया तथा प्रह्लादजीके पास जाकर उनके चारों ओर बैठ गये और उनके उपदेशमें मन लगाकर बड़े प्रेमसे एकटक उनकी ओर देखने लगे। भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादका हृदय उनके प्रति करुणा और मैत्रीके भावसे भर गया तथा वे उनसे कहने लगे ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादानुचरिते[3] पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रह्लादजीका असुर-बालकोंको उपदेश

प्रह्लाद उवाच

कौमार[4] आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।

प्रह्लादजीने कहा—मित्रो ! इस संसारमें मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु पता नहीं

१. प्रा० पा०—त्रिवर्गौ। २. प्रा० पा०—क्षितः। ३. प्रा० पा०—दचरिते। ४. प्राचीन प्रतिमें प्रह्लादके वाक्यमें 'कौमार आचरेत्प्राज्ञो' इस श्लोकके पहले पाँच श्लोक और अधिक हैं। ये पाँच श्लोक भागवतके विख्यात

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ १ ॥

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।

यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २ ॥

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।

सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।

न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४ ॥

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः ।

शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥ ५ ॥

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः ।

निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ ६ ॥

मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः ।

कब इसका अन्त हो जाय; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको बुढ़ापे या जवानीके भरोसे न रहकर बचपनमें ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले साधनोंका अनुष्ठान कर लेना चाहिये ॥ १ ॥ इस मनुष्य-जन्ममें श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है; क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं ॥ २ ॥ भाइयो ! इन्द्रियोंसे जो सुख भोगा जाता है, वह तो—जीव चाहे जिस योनिमें रहे—प्रारब्धके अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलता रहता है, जैसे बिना किसी प्रकारका प्रयत्न किये, निवारण करनेपर भी दुःख मिलता है ॥ ३ ॥ इसलिये सांसारिक सुखके उद्देश्यसे प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि स्वयं मिलनेवाली वस्तुके लिये परिश्रम करना आयु और शक्तिको व्यर्थ गँवाना है । जो इनमें उलझ जाते हैं, उन्हें भगवान्‌के परम कल्याण-स्वरूप चरणकमलोंकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥ हमारे सिरपर अनेकों प्रकारके भय सवार रहते हैं; इसलिये यह शरीर—जो भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है—जबतक रोग-शोकादिग्रस्त होकर मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याण-के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥ मनुष्यकी पूरी आयु सौ वर्षकी है । जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर लिया है, उनकी आयुका आधा हिस्सा तो यों ही बीत जाता है; क्योंकि वे रातमें घोर तमोगुण—अज्ञानसे ग्रस्त होकर सोते रहते हैं ॥ ६ ॥ बचपनमें उन्हें अपने हित-अहितका ज्ञान नहीं रहता, कुछ बड़े होनेपर कुमार-अवस्थामें वे खेल-कूदमें लग जाते हैं । इस प्रकार बीस वर्षका

टीकाकार श्रीविजयध्वजजीने भी माने हैं और उन्होंने उनपर टीका भी लिखी है । प्राचीन प्रतिका लेख कहीं-कहीं अस्पष्ट और खण्डित होनेके कारण ये पाँच श्लोक शुद्ध रूपमें नहीं लिये जा सके, अतः उनको विजयध्वजकी टीकाके अनुसार शुद्ध करके यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

हन्तार्भका मे शृणुत वचो वः सर्वतः शिवम् । वयस्यान् पश्यत मृतान् क्रीडान्धा मा प्रमाद्यथ ॥
न पुरा विवशं बाला आत्मनोऽर्थे प्रियैषिणः । गुरूक्तमपि न ग्राह्यं यदनर्थेऽर्थकल्पनम् ॥
यदुक्त्या न प्रबुद्ध्येत सुप्तस्त्वज्ञाननिद्रया । न श्रद्दध्यान्मतं तस्य यथान्धो ह्यन्धनायकः ॥
कः शत्रुः क उदासीनः किं मित्रं चेह आत्मनः । भवत्स्वपि नयेः किं स्यादैवं सम्पद्विपत्पदम् ॥
यो न हिंस्याद्धर्मकाममात्मानं स्वजने वशः । पुनः श्रीलोकयोर्हेतुः स मुक्तान्ध्योऽतिदुर्लभः ॥

जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ ७ ॥

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।

शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८ ॥

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।

स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।

यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥ १० ॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या[1]
भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२ ॥

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहु मन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३ ॥

कुटुम्बपोषाय वियन् निजायु-
र्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।

तो पता ही नहीं चलता । जब बुढ़ापा शरीरको ग्रस लेता है, तब अन्तके बीस वर्षोंमें कुछ करने-धरनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती ॥ ७ ॥ रह गयी बीचकी कुछ थोड़ी-सी आयु । उसमें कभी न पूरी होनेवाली बड़ी-बड़ी कामनाएँ हैं, बलात् पकड़ रखनेवाला मोह है और घर-द्वारकी वह आसक्ति है, जिससे जीव इतना उलझ जाता है कि उसे कुछ कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान ही नहीं रहता । इस प्रकार बची-खुची आयु भी हाथसे निकल जाती है ॥ ८ ॥

दैत्यबालको ! जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, ऐसा कौन-सा पुरुष होगा, जो घर-गृहस्थीमें आसक्त और माया-ममताकी मजबूत फाँसीमें फँसे हुए अपने-आपको उससे छुड़ानेका साहस कर सके ॥ ९ ॥ जिसे चोर, सेवक एवं व्यापारी अपने अत्यन्त प्यारे प्राणोंकी भी बाजी लगाकर संग्रह करते हैं और इसलिये उन्हें जो प्राणोंसे भी अधिक वाञ्छनीय है—उस धनकी तृष्णाको भला, कौन त्याग सकता है ॥ १० ॥ जो अपनी प्रियतमा पत्नीके एकान्त सहवास, उसकी प्रेमभरी बातों और मीठी-मीठी सलाहपर अपनेको निछावर कर चुका है, भाई-बन्धु और मित्रोंके स्नेह-पाशमें बँध चुका है और नन्हे-नन्हे शिशुओंकी तोतली बोलीपर लुभा चुका है—भला, वह उन्हें कैसे छोड़ सकता है ॥ ११ ॥ जो अपनी ससुराल गयी हुई प्रिय पुत्रियों, पुत्रों, भाई-बहिनों और दीन अवस्थाको प्राप्त पिता-माता, बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सजे हुए घरों, कुलपरम्परागत जीविकाके साधनों तथा पशुओं और सेवकोंके निरन्तर स्मरणमें रम गया है, वह भला, उन्हें कैसे छोड़ सकता है ॥ १२ ॥ जो जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके सुखोंको ही सर्वस्व मान बैठा है, जिसकी भोगवासनाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं, जो लोभवश कर्म-पर-कर्म करता हुआ रेशमके कीड़ेकी तरह अपनेको और भी कड़े बन्धनमें जकड़ता जा रहा है और जिसके मोहकी कोई सीमा नहीं है—वह उनसे किस प्रकार विरक्त हो सकता है और कैसे उनका त्याग कर सकता है ॥ १३ ॥ यह मेरा कुटुम्ब है, इस भावसे उसमें वह इतना रम जाता है कि उसीके पालन-पोषणके लिये अपनी अमूल्य आयुको गँवा देता है और उसे यह भी नहीं जान पड़ता

१. प्रा० पा०—दुहितॄश्च स्वसॄर्भ्रातॄन् कलत्रान् पित० ।

सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥१४॥
वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।
प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥१५॥
विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन्स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः[1] स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥१६॥
यतो न कश्चित् क्व च कुत्रचिद् वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥१७॥
ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।
उपेत नारायणमादिदेवं
स[2] मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥१८॥
न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥१९॥
परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ[3] महत्सु च ॥२०॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा[4] ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥२१॥

कि मेरे जीवनका वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो रहा है । भला, इस प्रमादकी भी कोई सीमा है । यदि इन कामोंमें कुछ सुख मिले तो भी एक बात है; परंतु यहाँ तो जहाँ-जहाँ वह जाता है, वहीं-वहीं दैहिक, दैविक और भौतिक ताप उसके हृदयको जलाते ही रहते हैं । फिर भी वैराग्य-का उदय नहीं होता । कितनी विडम्बना है । कुटुम्बकी ममताके फेरमें पड़कर वह इतना असावधान हो जाता है, उसका मन धनके चिन्तनमें सदा इतना लवलीन रहता है कि वह दूसरेका धन चुरानेके लौकिक-पारलौकिक दोषोंको जानता हुआ भी कामनाओंको वशमें न कर सकनेके कारण इन्द्रियोंके भोगकी लालसासे चोरी कर ही बैठता है ॥ १४-१५ ॥ भाइयो ! जो इस प्रकार अपने कुटुम्बियोंके पेट पालनेमें ही लगा रहता है—कभी भगवद्भजन नहीं करता—वह विद्वान् हो, तो भी उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अपने-परायेका भेद-भाव रहनेके कारण उसे भी अज्ञानियोंके समान ही तमःप्रधान गति प्राप्त होती है ॥ १६ ॥ जो कामिनियोंके मनोरञ्जनका सामान—उनका क्रीडामृग बन रहा है और जिसने अपने पैरोंमें संतानकी बेड़ी जकड़ ली है, वह बेचारा गरीब—चाहे कोई भी हो, कहीं भी हो—किसी भी प्रकारसे अपना उद्धार नहीं कर सकता ॥१७॥ इसलिये, भाइयो ! तुमलोग विषयासक्त दैत्योंका सङ्ग दूरसे ही छोड़ दो और आदिदेव भगवान् नारायणकी शरण ग्रहण करो; क्योंकि जिन्होंने संसार-की आसक्ति छोड़ दी है, उन महात्माओंके वे ही परम प्रियतम और परम गति हैं ॥ १८ ॥

मित्रो ! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये कोई बहुत परिश्रम या प्रयत्न नहीं करना पड़ता; क्योंकि वे समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं और सर्वत्र सबकी सत्ताके रूपमें स्वयंसिद्ध वस्तु हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक छोटे-बड़े समस्त प्राणियोंमें, पञ्चभूतोंसे बनी हुई वस्तुओं-में, पञ्चभूतोंमें, सूक्ष्म तन्मात्राओंमें, महत्तत्त्वमें, तीनों गुणोंमें और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें एक ही अविनाशी परमात्मा विराजमान हैं । वे ही समस्त सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्योंकी खान हैं ॥ २०-२१ ॥

१. प्रा० पा०—यत्स्वी० । २. प्रा० पा०—संमुक्त० । ३. प्रा० पा०—सूक्ष्मेषु च मह० । ४. प्रा० पा०—यथा ।

प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥२२॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥२३॥
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥२४॥
तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
　किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
　सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥२५॥
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
　ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
　स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥२६॥
ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
　नारायणो नरसखः किल नारदाय ।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
　पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात् ॥२७॥
श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद् देवदर्शनात् ॥२८॥

वे ही अन्तर्यामी द्रष्टाके रूपमें हैं और वे ही दृश्य जगत्के रूपमें भी हैं। सर्वथा अनिर्वचनीय तथा विकल्परहित होनेपर भी द्रष्टा और दृश्य, व्याप्य और व्यापकके रूपमें उनका निर्वचन किया जाता है। वस्तुतः उनमें एक भी विकल्प नहीं है ॥ २२ ॥ वे केवल अनुभवस्वरूप, आनन्दस्वरूप एकमात्र परमेश्वर ही हैं। गुणमयी सृष्टि करनेवाली मायाके द्वारा ही उनका ऐश्वर्य छिप रहा है। इसके निवृत्त होते ही उनके दर्शन हो जाते हैं ॥ २३ ॥ इसलिये तुमलोग अपने दैत्यपनेका, आसुरी सम्पत्तिका त्याग करके समस्त प्राणियोंपर दया करो। प्रेमसे उनकी भलाई करो। इसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ २४ ॥ आदिनारायण अनन्त भगवान्के प्रसन्न हो जानेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल जाती ? लोक और परलोकके लिये जिन धर्म, अर्थ आदिकी आवश्यकता बतलायी जाती है—वे तो गुणोंके परिणामसे बिना प्रयासके स्वयं ही मिलनेवाले हैं। जब हम श्रीभगवान्के चरणामृतका सेवन करने और उनके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेमें लगे हैं, तब हमें मोक्षकी भी क्या आवश्यकता है ॥ २५ ॥ यों शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंका भी वर्णन है। आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, न्याय (तर्कशास्त्र), दण्डनीति और जीविकाके विविध साधन—ये सभी वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं; परंतु यदि ये अपने परम हितैषी, परम पुरुष भगवान् श्रीहरिको आत्मसमर्पण करनेमें सहायक हैं, तभी मैं इन्हें सत्य (सार्थक) मानता हूँ। अन्यथा ये सब-के-सब निरर्थक हैं ॥ २६ ॥ यह निर्मल ज्ञान जो मैंने तुम लोगोंको बतलाया है, बड़ा ही दुर्लभ है। इसे पहले नर-नारायणने नारदजीको उपदेश किया था और यह ज्ञान उन सब लोगोंको प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने भगवान्के अनन्य प्रेमी एवं अकिञ्चन भक्तोंके चरणकमलोंकी धूलिसे अपने शरीरको नहला लिया है ॥ २७ ॥ यह विज्ञानसहित ज्ञान विशुद्ध भागवतधर्म है। इसे मैंने भगवान्का दर्शन करानेवाले देवर्षि नारदजीके मुँहसे ही पहले-पहल सुना था ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—कालरूपेण । २. प्रा० पा०—भावमासुरमुन्मुच्य । ३. प्रा० पा०—वतां तद० । ४. प्रा० पा०—ज्ञानविज्ञा० ।

दैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्राद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥२९॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।
छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विश्रम्भकारणम्॥३०॥

प्रह्लादजीके सहपाठियोंने पूछा—प्रह्लादजी! इन दोनों गुरु-पुत्रोंको छोड़कर और किसी गुरुको तो न तुम जानते हो और न हम। ये ही हम सब बालकोंके शासक हैं॥ २९॥ तुम एक तो अभी छोटी अवस्थाके हो और दूसरे, जन्मसे ही महलमें अपनी माँके पास रहे हो। तुम्हारा महात्मा नारदजीसे मिलना कुछ असङ्गत-सा जान पड़ता है। प्रियवर! यदि इस विषयमें विश्वास दिलानेवाली कोई बात हो तो तुम उसे कहकर हमारी शङ्का मिटा दो॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्रादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रह्लादजीद्वारा माताके गर्भमें प्राप्त हुए नारदजीके उपदेशका वर्णन

नारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।
उवाच स्मयमानस्तान्स्मरन् मदनुभाषितम्॥ १॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब दैत्यबालकोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादजीको मेरी बातका स्मरण हो आया। कुछ मुसकराते हुए उन्होंने उनसे कहा॥ १॥

प्रह्राद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति॥ २॥
पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः।
पापेन पापोऽभक्षीतिवादिनो वासवादयः॥ ३॥
तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम्[1]॥ ४॥
कलत्रपुत्रमित्राप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान्।
नावेक्षमाणास्त्वरिताः सर्वे[2] प्राणपरीप्सवः॥ ५॥
व्यलुम्पन् राजशिबिरममरा जयकाङ्क्षिणः[3]।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत्॥ ६॥

प्रह्लादजीने कहा—जब हमारे पिताजी तपस्या करनेके लिये मन्दराचलपर चले गये, तब इन्द्रादि देवताओंने दानवोंसे युद्ध करनेका बहुत बड़ा उद्योग किया॥ २॥ वे इस प्रकार कहने लगे कि जैसे चींटियाँ साँपको चाट जाती हैं, वैसे ही लोगोंको सतानेवाले पापी हिरण्यकशिपुको उसका पाप ही खा गया॥ ३॥ जब दैत्यसेनापतियोंको देवताओंकी भारी तैयारीका पता चला, तब उनका साहस जाता रहा। वे उनका सामना नहीं कर सके। मार खाकर, स्त्री, पुत्र, मित्र, गुरुजन, महल, पशु और साज-सामानकी कुछ भी चिन्ता न करके वे अपने प्राण बचानेके लिये बड़ी जल्दीमें सब-के-सब इधर-उधर भाग गये॥४-५॥ अपनी जीत चाहनेवाले देवताओंने राजमहलमें लूट-खसोट मचा दी। यहाँतक कि इन्द्रने राजरानी मेरी माता कयाधूको भी बन्दी बना लिया॥६॥

१. प्रा० पा०—द्वचरि०। २. प्रा० पा०—मपि। ३. प्रा० पा०—जितकाशिनः।

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव ।
यदृच्छयाऽऽगतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥
प्राह मैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम् ।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

मेरी मा भयसे घबराकर कुररी पक्षीकी भाँति रो रही थी और इन्द्र उसे बलात् लिये जा रहे थे । दैववश देवर्षि नारद उधर आ निकले और उन्होंने मार्गमें मेरी माको देख लिया ॥ ७ ॥ उन्होंने कहा—'देवराज ! यह निरपराध है । इसे ले जाना उचित नहीं । महाभाग ! इस सती-साध्वी परनारीका तिरस्कार मत करो । इसे छोड़ दो, तुरंत छोड़ दो !' ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः ।
आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

इन्द्रने कहा—इसके पेटमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है । प्रसवपर्यन्त यह मेरे पास रहे, बालक हो जानेपर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूँगा ॥ ९ ॥

नारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् ।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥१०॥
इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः ।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥११॥

नारदजीने कहा—'इसके गर्भमें भगवान्‌का साक्षात् परमप्रेमी भक्त और सेवक, अत्यन्त बली और निष्पाप महात्मा है । तुममें उसको मारनेकी शक्ति नहीं है' ॥१०॥ देवर्षि नारदकी यह बात सुनकर उसका सम्मान करते हुए इन्द्रने मेरी माताको छोड़ दिया । फिर इसके गर्भमें भगवद्भक्त है, इस भावसे उन्होंने मेरी माताकी प्रदक्षिणा की तथा अपने लोकमें चले गये ॥ ११ ॥

ततो नो मातरमृषिः समानीय निजाश्रमम् ।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत् ते भर्तुरागमः ॥१२॥
तथेत्यवात्सीद् देवर्षेरन्ति[3] साप्यकुतोभया ।
यावद् दैत्यपतिर्घोरात् तपसो न न्यवर्तत ॥१३॥
ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती ।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥१४॥
ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादा[4]दुभयमीश्वरः ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥१५॥

इसके बाद देवर्षि नारदजी मेरी माताको अपने आश्रमपर लिवा गये और उसे समझा-बुझाकर कहा कि—'बेटी ! जबतक तुम्हारा पति तपस्या करके लौटे तबतक तुम यहीं रहो' ॥ १२ ॥ 'जो आज्ञा' कहकर वह निर्भयतासे देवर्षि नारदके आश्रमपर ही रहने लगी और तबतक रही, जबतक मेरे पिता घोर तपस्यासे लौटकर नहीं आये ॥ १३ ॥ मेरी गर्भवती माता मुझ गर्भस्थ शिशुकी मङ्गलकामनासे और इच्छित समयपर (अर्थात् मेरे पिताके लौटनेके बाद) संतान उत्पन्न करनेकी कामनासे बड़े प्रेम तथा भक्तिके साथ नारदजीकी सेवा-शुश्रूषा करती रही ॥ १४ ॥

देवर्षि नारदजी बड़े दयालु और सर्वसमर्थ हैं । उन्होंने मेरी माँको भागवतधर्मका रहस्य और विशुद्ध ज्ञान दोनोंका उपदेश किया । उपदेश करते समय उनकी दृष्टि मुझपर भी थी ॥ १५ ॥

---

१. प्रा० पा०—हर्तुम० । २. प्रा० पा०—परित्यज्य । ३. प्रा० पा०—रन्तिके साकुतो० । ४. प्रा० पा०—दादभ० ।

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।

ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः ॥१६॥

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्धत्ते वचः ।

वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥१७॥

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः ।

फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥१८॥

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।

अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥१९॥

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।

अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥२०॥

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः

क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् ।

क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगै-

रध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत ॥२१॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।

विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥२२॥

देहस्तु सर्वसंघातो जगत् तस्थुरिति द्विधा ।

अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन् ॥२३॥

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशताऽऽत्मना ।

सर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥२४॥

बहुत समय बीत जानेके कारण और स्त्री होनेके कारण भी मेरी माताको तो अब उस ज्ञानकी स्मृति नहीं रही, परंतु देवर्षिकी विशेष कृपा होनेके कारण मुझे उसकी विस्मृति नहीं हुई ॥ १६ ॥ यदि तुमलोग मेरी इस बातपर श्रद्धा करो तो तुम्हें भी वह ज्ञान हो सकता है; क्योंकि श्रद्धासे स्त्री और बालकोंकी बुद्धि भी मेरे ही समान शुद्ध हो सकती है ॥ १७ ॥ जैसे ईश्वरमूर्ति कालकी प्रेरणासे वृक्षोंके फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं—वैसे ही जन्म-अस्तित्वकी अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भाव-विकार शरीरमें ही देखे जाते हैं, आत्मा-से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥ आत्मा नित्य अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, स्वयं-प्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असङ्ग तथा आवरण-रहित है ॥ १९ ॥ ये बारह आत्माके उत्कृष्ट लक्षण हैं । इनके द्वारा आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि शरीर आदिमें अज्ञानके कारण जो 'मैं' और 'मेरे' का झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दे ॥ २० ॥ जिस प्रकार सुवर्णकी खानोंमें पत्थरमें मिले हुए सुवर्णको उसके निकालनेकी विधि जाननेवाला स्वर्णकार उन विधियोंसे उसे प्राप्त कर लेता है, वैसे ही अध्यात्मतत्त्वको जानने-वाला पुरुष आत्मप्राप्तिके उपायोंद्वारा अपने शरीररूप क्षेत्रमें ही ब्रह्मपदका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २१ ॥

आचार्योंने मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्च-तन्मात्राएँ—इन आठ तत्त्वोंको प्रकृति बतलाया है । उनके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम तथा उनके विकार हैं सोलह—दस इन्द्रियाँ, एक मन और पञ्च महाभूत । इन सबमें एक पुरुषतत्त्व अनुगत है ॥२२॥ इन सबका समुदाय ही देह है । यह दो प्रकारका है—स्थावर और जङ्गम । इसीमें अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि अनात्मवस्तुओंका 'यह आत्मा नहीं है'—इस प्रकार बाध करते हुए आत्माको ढूँढ़ना चाहिये ॥ २३ ॥ आत्मा सबमें अनुगत है, परंतु है वह सबसे पृथक् । इस प्रकार शुद्ध बुद्धिसे धीरे-धीरे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और उसके प्रलयपर विचार करना चाहिये । उतावली नहीं करनी चाहिये ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—हेमं यथा ।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥२५॥
एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः ।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद् गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥२६॥
एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः ।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते ॥२७॥
तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥२८॥
तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥२९॥
गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन[2] च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥३०॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥३१॥
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥३२॥
एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम् ॥३३॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियोंका जिसके द्वारा अनुभव होता है—वही सबसे अतीत, सबका साक्षी परमात्मा है ॥२५॥ जैसे गन्धसे उसके आश्रय वायुका ज्ञान होता है, वैसे ही बुद्धिकी इन कर्मजन्य एवं बदलनेवाली तीनों अवस्थाओंके द्वारा इनमें साक्षीरूपसे अनुगत आत्माको जाने ॥ २६ ॥ गुणों और कर्मोंके कारण होनेवाला जन्म-मृत्युका यह चक्र आत्माको शरीर और प्रकृतिसे पृथक् न करनेके कारण ही है। यह अज्ञानमूलक एवं मिथ्या है। फिर भी स्वप्नके समान जीवको इसकी प्रतीति हो रही है ॥ २७ ॥

इसलिये तुमलोगोंको सबसे पहले इन गुणोंके अनुसार होनेवाले कर्मोंका बीज ही नष्ट कर देना चाहिये। इससे बुद्धि-वृत्तियोंका प्रवाह निवृत्त हो जाता है। इसीको दूसरे शब्दोंमें योग या परमात्मासे मिलन कहते हैं ॥२८॥ यों तो इन त्रिगुणात्मक कर्मोंकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिये अथवा बुद्धि-वृत्तियोंका प्रवाह बंद कर देनेके लिये सहस्रों साधन हैं; परंतु जिस उपायसे और जैसे सर्वशक्तिमान् भगवान्में स्वाभाविक निष्काम प्रेम हो जाय, वही उपाय सर्वश्रेष्ठ है। यह बात स्वयं भगवान्ने कही है ॥ २९ ॥ गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले वह सब प्रेमसे भगवान्को समर्पित कर देना, भगवत्प्रेमी महात्माओंका सत्सङ्ग, भगवान्की आराधना, उनकी कथा-वार्तामें श्रद्धा, उनके गुण और लीलाओंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान और उनके मन्दिर-मूर्ति आदिका दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान्में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है ॥ ३०-३१ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावनासे यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूर्ण करे और हृदयसे उनका सम्मान करे ॥३२॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके जो लोग इस प्रकार भगवान्की साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें उस भक्तिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है ॥३३॥

१. प्रा० पा०—धत्ते गन्धै०। २. प्रा० पा०—सर्वलाभार्प०।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥३४॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥३५॥
तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥३६॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥३७॥
कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥३८॥
रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ॥३९॥
एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।

जब भगवान्के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम गुण और चरित्रोंको श्रवण करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने और नाचने लगता है; जिस समय वह ग्रहग्रस्त पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान्में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लंबी साँस खींचता है और संकोच छोड़कर 'हरे ! जगत्पते !! नारायण !!!' कह-कर पुकारने लगता है—तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार—भगवन्मय हो जाता है । उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्को प्राप्त कर लेता है ॥३४—३६॥ इस अशुभ संसारके दल-दलमें फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्की यह प्राप्ति संसारके चक्करको मिटा देनेवाली है । इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण-सुखके रूपमें पहचानते हैं । इसलिये मित्रो ! तुम-लोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्का भजन करो ॥ ३७ ॥ असुरकुमारो ! अपने हृदयमें ही आकाश-के समान नित्य विराजमान भगवान्का भजन करनेमें कौन-सा विशेष परिश्रम है । वे समानरूपसे समस्त प्राणियोंके अत्यन्त प्रेमी मित्र हैं; और तो क्या अपने आत्मा ही हैं । उनको छोड़कर भोगसामग्री इकट्ठी करने-के लिये भटकना—राम ! राम ! कितनी मूर्खता है ॥ ३८ ॥ अरे भाई ! धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिकी विभू-तियाँ—और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोग-सामग्रियाँ इस क्षणभंगुर मनुष्यको क्या सुख दे सकती हैं । वे स्वयं ही क्षणभंगुर हैं ॥ ३९ ॥ जैसे इस लोककी सम्पत्ति प्रत्यक्ष ही नाशवान् है, वैसे ही यज्ञोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् और आपेक्षिक—

१. प्रा० पा०—हासुखात्म० ।

तस्मादद्दष्टश्रुतदूषणं परं

भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये ॥४०॥
यदध्यर्थ्येह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः ।

करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥४१॥

सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः ।

सदाऽऽप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥४२॥

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः ।

स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥४३॥

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः ।

राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥४४॥

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः ।

अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः ॥४५॥

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः ।

निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥४६॥

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना ।

कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥४७॥

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।

एक दूसरेसे छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे हैं । इसलिये वे भी निर्दोष नहीं हैं । निर्दोष हैं केवल परमात्मा । न किसीने उनमें दोष देखा है और न सुना है अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये अनन्य भक्तिसे उन्हीं परमेश्वरका भजन करना चाहिये ॥ ४० ॥

इसके सिवा अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाला पुरुष इस लोकमें जिस उद्देश्यसे बार-बार बहुत-से कर्म करता है, उस उद्देश्यकी प्राप्ति तो दूर रही—उलटा उसे उसके विपरीत ही फल मिलता है और निस्संदेह मिलता है ॥ ४१ ॥ कर्ममें प्रवृत्त होनेके दो ही उद्देश्य होते हैं—सुख पाना और दुःखसे छूटना । परंतु जो पहले कामना न होनेके कारण सुखमें निमग्न रहता था, उसे ही अब कामनाके कारण यहाँ सदा-सर्वदा दुःख ही भोगना पड़ता है ॥ ४२ ॥ मनुष्य इस लोकमें सकाम कर्मोंके द्वारा जिस शरीरके लिये भोग प्राप्त करना चाहता है, वह शरीर ही पराया—स्यार-कुत्तोंका भोजन और नाशवान् है । कभी वह मिल जाता है तो कभी बिछुड़ जाता है ॥४३॥ जब शरीरकी ही यह दशा है—तब इससे अलग रहनेवाले पुत्र, स्त्री, महल, धन, सम्पत्ति, राज्य, खजाने, हाथी-घोड़े, मन्त्री, नौकर-चाकर, गुरुजन और दूसरे अपने कहलानेवालोंकी तो बात ही क्या है ॥४४॥ ये तुच्छ विषय शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं । ये जान तो पड़ते हैं पुरुषार्थके समान, परंतु हैं वास्तवमें अनर्थरूप ही । आत्मा स्वयं ही अनन्त आनन्दका महान् समुद्र है । उसके लिये इन वस्तुओंकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ४५ ॥ भाइयो ! तनिक विचार तो करो—जो जीव गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सभी अवस्थाओंमें अपने कर्मोंके अधीन होकर क्लेश-ही-क्लेश भोगता है, उसका इस संसारमें स्वार्थ ही क्या है ॥ ४६ ॥ यह जीव सूक्ष्मशरीरको ही अपना आत्मा मानकर उसके द्वारा अनेकों प्रकारके कर्म करता है और कर्मोंके कारण ही फिर शरीर ग्रहण करता है । इस प्रकार कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मकी परम्परा चल पड़ती है । और ऐसा होता है अविवेकके कारण ॥ ४७ ॥ इसलिये निष्काम भावसे निष्क्रिय आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरिका भजन

१. प्रा० पा०—यदर्थ इह । २. प्रा० पा०—श्वबलामा० । ३. प्रा० पा०—रसोदधेः ।

भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥४८॥
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः ।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः ॥४९॥
देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च ।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ॥५०॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥५१॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥५२॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥५४॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥५५॥

करना चाहिये । अर्थ, धर्म और काम—सब उन्हींके आश्रित हैं, बिना उनकी इच्छाके नहीं मिल सकते ॥४८॥ भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके ईश्वर, आत्मा और परम प्रियतम हैं । वे अपने ही बनाये हुए पञ्चभूत और सूक्ष्मभूत आदिके द्वारा निर्मित शरीरोंमें जीवके नामसे कहे जाते हैं ॥ ४९ ॥ देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व—कोई भी क्यों न हो—जो भगवान्‌के चरण-कमलोंका सेवन करता है, वह हमारे ही समान कल्याणका भाजन होता है ॥ ५० ॥

दैत्यबालको ! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है । भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं । और सब तो विडम्बनामात्र हैं ॥५१-५२॥ इसलिये दानव-बन्धुओ ! समस्त प्राणियोंको अपने समान ही समझकर सर्वत्र विराजमान, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की भक्ति करो ॥ ५३ ॥ भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं ॥ ५४ ॥ इस संसारमें या मनुष्य-शरीरमें जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य भक्ति प्राप्त करे । उस भक्तिका स्वरूप है सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्‌का दर्शन ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यपुत्रानुशासनं[1] नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नृसिंहभगवान्‌का प्रादुर्भाव, हिरण्यकशिपुका वध एवं ब्रह्मादि देवताओंका भगवान्‌की स्तुति

नारद उवाच

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम् ।

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीका प्रवचन सुनकर दैत्यबालकोंने उसी समयसे, निर्दोष होनेके कारण,

१. प्रा० पा०—दैत्यानुशासनं नाम ।

जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥ १ ॥
अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम् ।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद् यथा ॥ २ ॥
श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम् ।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ॥ ३ ॥
क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् ।
आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा ॥ ४ ॥
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम् ।
सर्पः पदाहत इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः ॥ ५ ॥
हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुलभेदकराधम ।
स्तब्धं मच्छासनोद्धूतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥ ६ ॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः ।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ८ ॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ९ ॥

उनकी बात पकड़ ली । गुरुजीकी दूषित शिक्षाकी ओर उन्होंने ध्यान ही न दिया ॥ १ ॥ जब गुरुजीने देखा कि उन सभी विद्यार्थियोंकी बुद्धि एकमात्र भगवान्‌में स्थिर हो रही है, तब वे बहुत घबराये और तुरंत हिरण्यकशिपुके पास जाकर निवेदन किया ॥ २ ॥ अपने पुत्र प्रह्लादकी इस असह्य और अप्रिय अनीतिको सुनकर क्रोधके मारे उसका शरीर थर-थर काँपने लगा । अन्तमें उसने यही निश्चय किया कि प्रह्लादको अब अपने ही हाथसे मार डालना चाहिये ॥३॥

मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले प्रह्लादजी बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर चुपचाप हिरण्यकशिपुके सामने खड़े थे और तिरस्कारके सर्वथा अयोग्य थे । परंतु हिरण्यकशिपु स्वभावसे ही क्रूर था । वह पैरकी चोट खाये हुए साँपकी तरह फुफकारने लगा । उसने उनकी ओर पापभरी टेढ़ी नजरसे देखा और कठोर वाणीसे डाँटते हुए कहा ॥ ४-५ ॥ 'मूर्ख ! तू बड़ा उद्दण्ड हो गया है । स्वयं तो नीच है ही, अब हमारे कुलके और बालकोंको भी फोड़ना चाहता है ! तूने बड़ी ढिठाईसे मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है । आज ही तुझे यमराजके घर भेजकर इसका फल चखाता हूँ ॥ ६ ॥ मैं तनिक-सा क्रोध करता हूँ, तो तीनों लोक और उनके लोकपाल काँप उठते हैं । फिर मूर्ख ! तूने किसके बल-बूतेपर निडरकी तरह मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम किया है ?' ॥ ७ ॥

प्रह्लादजीने कहा—दैत्यराज ! ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब छोटे-बड़े, चर-अचर जीवोंको भगवान्‌ने ही अपने वशमें कर रक्खा है । न केवल मेरे और आपके, बल्कि संसारके समस्त बलवानोंके बल भी केवल वही हैं ॥ ८ ॥ वे ही महापराक्रमी सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियोंके इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल, धैर्य एवं इन्द्रिय भी वही हैं । वही परमेश्वर अपनी शक्तियोंके द्वारा इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं । वे ही तीनों गुणोंके स्वामी हैं ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—यच्चदा ।

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥१०॥
दस्यून्पुरा षण्न विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥११॥

आप अपना यह आसुरभाव छोड़ दीजिये । अपने मनको सबके प्रति समान बनाइये । इस संसारमें अपने वशमें न रहनेवाले कुमार्गगामी मनके अतिरिक्त और कोई शत्रु नहीं है । मनमें सबके प्रति समताका भाव लाना ही भगवान्की सबसे बड़ी पूजा है ॥ १० ॥ जो लोग अपना सर्वस्व लूटनेवाले इन छः इन्द्रियरूपी डाकुओं-पर तो पहले विजय नहीं प्राप्त करते और ऐसा मानने लगते हैं कि हमने दसों दिशाएँ जीत लीं, वे मूर्ख हैं । हाँ, जिस ज्ञानी एवं जितेन्द्रिय महात्माने समस्त प्राणियोंके प्रति समताका भाव प्राप्त कर लिया, उसके अज्ञानसे पैदा होनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु भी मर-मिट जाते हैं; फिर बाहरके शत्रु तो रहें ही कैसे ॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे ।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विक्लवा गिरः ॥१२॥
यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते ॥१३॥
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते ।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ॥१४॥
एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः ।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥१५॥
तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे ॥१६॥

हिरण्यकशिपुने कहा—रे मन्दबुद्धि ! तेरे बहकनेकी भी अब हद हो गयी । यह बात स्पष्ट है कि अब तू मरना चाहता है; क्योंकि जो मरना चाहते हैं, वे ही ऐसी बेसिर-पैरकी बातें बका करते हैं ॥ १२ ॥ अभागे ! तूने मेरे सिवा जो और किसीको जगत्का स्वामी बतलाया है, सो देखूँ तो तेरा वह जगदीश्वर कहाँ है ? अच्छा, क्या कहा, वह सर्वत्र है ? तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता ? ॥ १३ ॥ अच्छा, तुझे इस खंभेमें भी दिखायी देता है ! अरे, तू क्यों इतनी डींग हाँक रहा है ? मैं अभी-अभी तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ । देखता हूँ तेरा वह सर्वस्व हरि, जिसपर तुझे इतना भरोसा है, तेरी कैसे रक्षा करता है ? ॥ १४ ॥ इस प्रकार वह अत्यन्त बलवान् महादैत्य भगवान्के परम प्रेमी प्रह्लादको बार-बार झिड़कियाँ देता और सताता रहा । जब क्रोधके मारे वह अपनेको रोक न सका, तब हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और बड़े जोरसे उस खंभेको एक घूँसा मारा ॥ १५ ॥ उसी समय उस खंभेमें एक बड़ा भयंकर शब्द हुआ । ऐसा जान पड़ा, मानो यह ब्रह्माण्ड ही फट गया हो । वह ध्वनि जब लोकपालोंके लोकमें पहुँची, तब उसे सुनकर ब्रह्मादिको ऐसा जान पड़ा, मानो उनके लोकोंका

१. प्रा० पा०—कुतोऽपरे । २. प्रा० पा०—नाना । ३. प्रा० पा०—बभञ्जाति० ।

स[1] विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम् ।
अन्तः सभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसु[2]र्येन सुरारियूथपाः ॥१७॥

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥१८॥

स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन्
स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम् ।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम् ॥१९॥

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम् ।
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥२०॥

करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ।
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥२१॥

दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ।
चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ॥२२॥

प्रलय हो रहा हो ॥ १६ ॥ हिरण्यकशिपु प्रह्लादको मार डालनेके लिये बड़े जोरसे झपटा था; परंतु दैत्यसेनापतियोंको भी भयसे कँपा देनेवाले उस अद्भुत और अपूर्व घोर शब्दको सुनकर वह घबराया हुआ-सा देखने लगा कि यह शब्द करनेवाला कौन है ? परंतु उसे सभाके भीतर कुछ भी दिखायी न पड़ा ॥ १७ ॥

इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्माकी वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये सभाके भीतर उसी खंभेमें बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए । वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंहका ही था और न मनुष्यका ही ॥ १८ ॥ जिस समय हिरण्यकशिपु शब्द करनेवालेकी इधर-उधर खोज कर रहा था, उसी समय खंभेके भीतरसे निकलते हुए उस अद्भुत प्राणीको उसने देखा । वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है और न पशु; फिर यह नृसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक जीव है ! ॥ १९ ॥ जिस समय हिरण्यकशिपु इस उधेड़-बुनमें लगा हुआ था, उसी समय उसके बिल्कुल सामने ही नृसिंहभगवान् खड़े हो गये । उनका वह रूप अत्यधिक भयावना था । तपाये हुए सोनेके समान पीली-पीली भयानक आँखें थीं । जँभाई लेनेसे गरदनके बाल इधर-उधर लहरा रहे थे ॥ २० ॥ दाढ़ें बड़ी विकराल थीं । तलवारकी तरह लपलपाती हुई, छूरेकी धारके समान तीखी जीभ थी । टेढ़ी भौंहोंसे उनका मुख और भी दारुण हो रहा था । कान निश्चल एवं ऊपरकी ओर उठे हुए थे । फूली हुई नासिका और खुला हुआ मुँह पहाड़की गुफाके समान अद्भुत जान पड़ता था । फटे हुए जबड़ोंसे उसकी भयंकरता बहुत बढ़ गयी थी ॥ २१ ॥ विशाल शरीर स्वर्गका स्पर्श कर रहा था । गरदन कुछ नाटी और मोटी थी । छाती चौड़ी और कमर बहुत पतली थी । चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद रोएँ सारे शरीरपर चमक रहे थे, चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं, जिनके बड़े-बड़े नख आयुधका काम देते थे ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—सोऽतिक्रमन् । २. प्रा० पा०—सुत्रस

दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ।
प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ॥२३॥

उनके पास फटकनेतकका साहस किसीको न होता था। चक्र आदि अपने निज आयुध तथा वज्र आदि अन्य श्रेष्ठ शस्त्रोंके द्वारा उन्होंने सारे दैत्य-दानवोंको भगा दिया। हिरण्यकशिपु सोचने लगा—हो न हो महामायावी विष्णुने ही मुझे मार डालनेके लिये यह ढंग रचा है; परंतु इसकी इन चालोंसे हो ही क्या सकता है ॥२३॥

एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद् गदायुधो
नदन् नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ।
अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा ॥२४॥

इस प्रकार कहता और सिंहनाद करता हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु हाथमें गदा लेकर नृसिंह भगवान्पर टूट पड़ा; परंतु जैसे पतिंगा आगमें गिरकर अदृश्य हो जाता है, वैसे ही वह दैत्य भगवान्के तेजके भीतर जाकर लापता हो गया ॥ २४ ॥

न तद् विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत् तमः ।
ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ॥२५॥

समस्त शक्ति और तेजके आश्रय भगवान्के सम्बन्धमें ऐसी घटना कोई आश्चर्यजनक नहीं है; क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें उन्होंने अपने तेजसे प्रलयके निमित्तभूत तमोगुणरूपी घोर अन्धकारको भी पी लिया था। तदनन्तर वह दैत्य बड़े क्रोधसे लपका और अपनी गदाको बड़े जोरसे घुमाकर उसने नृसिंहभगवान्पर प्रहार किया ॥ २५ ॥

तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ।
स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः ॥२६॥

प्रहार करते समय ही, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेते हैं, वैसे ही भगवान्ने गदासहित उस दैत्यको पकड़ लिया। वे जब उसके साथ खिलवाड़ करने लगे, तब वह दैत्य उनके हाथसे वैसे ही निकल गया, जैसे क्रीडा करते हुए गरुड़के चंगुलसे साँप छूट जाय ॥ २६ ॥

असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः ।
तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः ।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन जितश्रमो मृधे ॥२७॥

युधिष्ठिर ! उस समय सब-के-सब लोकपाल बादलोंमें छिपकर इस युद्धको देख रहे थे। उनका स्वर्ग तो हिरण्यकशिपुने पहले ही छीन लिया था। जब उन्होंने देखा कि वह भगवान्के हाथसे छूट गया, तब वे और भी डर गये। हिरण्यकशिपुने भी यही समझा कि नृसिंहने मेरे बलवीर्यसे डरकर ही मुझे अपने हाथसे छोड़ दिया है। इस विचारसे उसकी थकान जाती रही और वह युद्धके लिये ढाल-तलवार लेकर फिर उनकी ओर दौड़ पड़ा ॥ २७ ॥

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि-
श्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः ।

उस समय वह बाजकी तरह बड़े वेगसे ऊपर-नीचे उछल-कूदकर इस प्रकार ढाल-तलवारके पैंतरे बदलने लगा कि जिससे उसपर आक्रमण करनेका

१. प्रा० पा०—वंश्राम्य० । २. प्रा० पा०—हामनाः ।

कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं[1]
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥२८॥
विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूर[2] आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥२९॥
संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया।
असृग्लवाक्तारुणकेसराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥३०॥
नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्।
अहन् समन्तान्नखशस्त्रपार्ष्णिभि-
र्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः ॥३१॥
सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः[3] ॥३२॥
द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥३३॥

अवसर ही न मिले। तब भगवान्‌ने बड़े ऊँचे स्वरसे प्रचण्ड और भयंकर अट्टहास किया, जिससे हिरण्यकशिपुकी आँखें बंद हो गयीं। फिर बड़े वेगसे झपटकर भगवान्‌ने उसे वैसे ही पकड़ लिया, जैसे साँप चूहेको पकड़ लेता है। जिस हिरण्यकशिपुके चमड़ेपर वज्रकी चोटसे भी खरोंच नहीं आयी थी, वही अब उनके पंजेसे निकलनेके लिये जोरसे छटपटा रहा था। भगवान्‌ने सभाके दरवाजेपर ले जाकर उसे अपनी जाँघोंपर गिरा लिया और खेल-खेलमें अपने नखोंसे उसे उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे गरुड़ महाविषधर साँपको चीर डालते हैं ॥ २८-२९ ॥ उस समय उनकी क्रोधसे भरी विकराल आँखोंकी ओर देखा नहीं जाता था। वे अपनी लपलपाती हुई जीभसे फैले हुए मुँहके दोनों कोने चाट रहे थे। खूनके छींटोंसे उनका मुँह और गरदनके बाल लाल हो रहे थे। हाथीको मारकर गलेमें आँतोंकी माला पहने हुए मृगराजके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥ ३० ॥ उन्होंने अपने तीखे नखोंसे हिरण्यकशिपुका कलेजा फाड़कर उसे जमीनपर पटक दिया। उस समय हजारों दैत्य-दानव हाथोंमें शस्त्र लेकर भगवान्‌पर प्रहार करनेके लिये आये। पर भगवान्‌ने अपनी भुजारूपी सेनासे, लातोंसे और नख-रूपी शस्त्रोंसे चारों ओर खदेड़-खदेड़कर उन्हें मार डाला ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर! उस समय भगवान् नृसिंहके गरदनके बालोंकी फटकारसे बादल तितर-बितर होने लगे। उनके नेत्रोंकी ज्वालासे सूर्य आदि ग्रहोंका तेज फीका पड़ गया। उनके श्वासके धक्केसे समुद्र क्षुब्ध हो गये। उनके सिंहनादसे भयभीत होकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे ॥ ३२ ॥ उनके गरदनके बालोंसे टकराकर देवताओं-के विमान अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग डगमगा गया, उनके पैरोंकी धमकसे भूकम्प आ गया, वेगसे पर्वत उड़ने लगे और उनके तेजकी चकाचौंधसे आकाश तथा दिशाओंका दीखना बंद हो गया ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—खरकेसरोल्बणो। २. प्रा० पा०—उरः स आ०। ३. प्रा० पा०—जहुर्दिशः।

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥३४॥
निशम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे ।
प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥३५॥
तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम् ।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥३६॥
तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः ।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ॥३७॥
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः ।
यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सिद्धकिन्नराः ॥३८॥
ते विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः ।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम् ।
ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक् ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः
स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने ॥४०॥

श्रीरुद्र उवाच

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः ।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल ॥४१॥

इस समय नृसिंहभगवान्‌का सामना करनेवाला कोई दिखायी न पड़ता था। फिर भी उनका क्रोध अभी बढ़ता ही जा रहा था। वे हिरण्यकशिपुकी राजसभामें ऊँचे सिंहासनपर जाकर विराज गये। उस समय उनके अत्यन्त तेजपूर्ण और क्रोधभरे भयंकर चेहरेको देखकर किसीका भी साहस न हुआ कि उनके पास जाकर उनकी सेवा करे ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर! जब स्वर्गकी देवियोंको यह शुभ समाचार मिला कि तीनों लोकोंके सिरकी पीड़ाका मूर्तिमान् स्वरूप हिरण्यकशिपु युद्धमें भगवान्‌के हाथों मार डाला गया, तब आनन्दके उल्लाससे उनके चेहरे खिल उठे। वे बार-बार भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३५ ॥ आकाशमें विमानोंसे आये हुए भगवान्‌के दर्शनार्थी देवताओंकी भीड़ लग गयी। देवताओंके ढोल और नगारे बजने लगे। गन्धर्वराज गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ३६ ॥ तात! इसी समय ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर आदि देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर, महानाग, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, अप्सराएँ, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वेताल, सिद्ध, किन्नर और सुनन्द-कुमुद आदि भगवान्‌के सभी पार्षद उनके पास आये। उन लोगोंने सिरपर अञ्जलि बाँधकर सिंहासनपर विराजमान अत्यन्त तेजस्वी नृसिंहभगवान्‌की थोड़ी दूरसे अलग-अलग स्तुति की ॥ ३७—३९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो! आप अनन्त हैं। आपकी शक्तिका कोई पार नहीं पा सकता। आपका पराक्रम विचित्र और कर्म पवित्र हैं। यद्यपि गुणोंके द्वारा आप लीलासे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और प्रलय यथोचित ढंगसे करते हैं—फिर भी आप उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, स्वयं निर्विकार रहते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४० ॥

श्रीरुद्रने कहा—आपके क्रोध करनेका समय तो कल्पके अन्तमें होता है। यदि इस तुच्छ दैत्यको मारनेके लिये ही आपने क्रोध किया है तो वह भी मारा जा चुका। उसका पुत्र आपकी शरणमें आया है। भक्तवत्सल प्रभो! आप अपने इस भक्तकी रक्षा कीजिये ॥४१॥

१. प्रा० पा०—निशाम्य। २. प्राचीन प्रतिमें 'तदा विमानावलिभिः…'से लेकर 'ननृतुर्जगुः स्त्रियः' तक पूरा एक श्लोक नहीं है। ३. प्रा० पा०—ते उपव्रज्य वि०। ४. प्रा० पा०—विष्णुपारिषदाः सर्वे। ५. प्रा० पा०—पनतं।

इन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥४२॥

इन्द्रने कहा—पुरुषोत्तम ! आपने हमारी रक्षा की है । आपने हमारे जो यज्ञभाग लौटाये हैं, वे वास्तवमें आप (अन्तर्यामी) के ही हैं । दैत्योंके आतङ्कसे सङ्कुचित हमारे हृदयकमलको आपने प्रफुल्लित कर दिया । वह भी आपका ही निवासस्थान है । यह जो स्वर्गादिका राज्य हमलोगोंको पुनः प्राप्त हुआ है, यह सब कालका ग्रास है । जो आपके सेवक हैं, उनके लिये यह है ही क्या ? स्वामिन् ! जिन्हें आपकी सेवाकी चाह है, वे मुक्तिका भी आदर नहीं करते । फिर अन्य भोगोंकी तो उन्हें आवश्यकता ही क्या है ॥ ४२ ॥

ऋषय ऊचुः

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज ।
तद् विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥४३॥

ऋषियोंने कहा—पुरुषोत्तम ! आपने तपस्याके द्वारा ही अपनेमें लीन हुए जगत्‌की फिरसे रचना की थी और कृपा करके उसी आत्मतेजःस्वरूप श्रेष्ठ तपस्याका उपदेश आपने हमारे लिये भी किया था । इस दैत्यने उसी तपस्याका उच्छेद कर दिया था । शरणागतवत्सल ! उस तपस्याकी रक्षाके लिये अवतार ग्रहण करके आपने हमारे लिये फिरसे उसी उपदेशका अनुमोदन किया है ॥ ४३ ॥

पितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत् तिलाम्बु ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद् य आर्च्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥४४॥

पितरोंने कहा—प्रभो ! हमारे पुत्र हमारे लिये पिण्डदान करते थे, यह उन्हें बलात् छीनकर खा जाया करता था । जब वे पवित्र तीर्थमें या संक्रान्ति आदिके अवसरपर नैमित्तिक तर्पण करते या तिलाञ्जलि देते, तब उसे भी यह पी जाता । आज आपने अपने नखोंसे उसका पेट फाड़कर वह सब-का-सब लौटाकर मानो हमें दे दिया । आप समस्त धर्मोंके एकमात्र रक्षक हैं । नृसिंहदेव ! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ४४ ॥

सिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहार्षीद् योगतपोबलेन ।
नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥४५॥

सिद्धोंने कहा—नृसिंहदेव ! इस दुष्टने अपने योग और तपस्याके बलसे हमारी योगसिद्ध गति छीन ली थी । अपने नखोंसे आपने उस घमंडीको फाड़ डाला है । हम आपके चरणोंमें विनीत भावसे नमस्कार करते हैं ॥ ४५ ॥

विद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।

विद्याधरोंने कहा—यह मूर्ख हिरण्यकशिपु अपने बल और वीरताके घमंडमें चूर था । यहाँतक कि हमलोगोंने विविध धारणाओंसे जो विद्या प्राप्त की थी, उसे

१. प्रा० पा०—समर्थम् । २. प्रा० पा०—पि तिलाम्बुमिश्रम् । ३. प्रा० पा०—नुरुद्धां ।

स¹ येन संख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥४६॥

नागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः ।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥४७॥

मनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥४८॥

प्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो² निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥४९॥

गन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद् वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥५०॥

चारणा ऊचुः

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः ।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥५१॥

यक्षा ऊचुः

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त³ इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।

इसने व्यर्थ कर दिया था । आपने युद्धमें यज्ञपशुकी तरह इसको नष्ट कर दिया । अपनी लीलासे नृसिंह बने हुए आपको हम नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं ॥४६॥

नागोंने कहा—इस पापीने हमारी मणियों और हमारी श्रेष्ठ और सुन्दर स्त्रियोंको भी छीन लिया था । आज उसकी छाती फाड़कर आपने हमारी पत्नियोंको बड़ा आनन्द दिया है । प्रभो ! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ४७ ॥

मनुओंने कहा—देवाधिदेव ! हम आपके आज्ञाकारी मनु हैं । इस दैत्यने हमलोगोंकी धर्ममर्यादा भंग कर दी थी । आपने उस दुष्टको मारकर बड़ा उपकार किया है । प्रभो ! हम आपके सेवक हैं । आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥ ४८ ॥

प्रजापतियोंने कहा—परमेश्वर ! आपने हमें प्रजापति बनाया था । परंतु इसके रोक देनेसे हम प्रजाकी सृष्टि नहीं कर पाते थे । आपने इसकी छाती फाड़ डाली और यह जमीनपर सर्वदाके लिये सो गया । सत्त्वमय मूर्ति धारण करनेवाले प्रभो ! आपका यह अवतार संसारके कल्याणके लिये है ॥ ४९ ॥

गन्धर्वोंने कहा—प्रभो ! हम आपके नाचनेवाले, अभिनय करनेवाले और संगीत सुनानेवाले सेवक हैं । इस दैत्यने अपने बल, वीर्य और पराक्रमसे हमें अपना गुलाम बना रक्खा था । उसे आपने इस दशाको पहुँचा दिया । सच है, कुमार्गसे चलनेवालेका भी क्या कभी कल्याण हो सकता है ? ॥ ५० ॥

चारणोंने कहा—प्रभो ! आपने सज्जनोंके हृदयको पीड़ा पहुँचानेवाले इस दुष्टको समाप्त कर दिया । इसलिये हम आपके उन चरणकमलोंकी शरणमें हैं, जिनके प्राप्त होते ही जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रसे छुटकारा मिल जाता है ॥ ५१ ॥

यक्षोंने कहा—भगवन् ! अपने श्रेष्ठ कर्मोंके कारण हमलोग आपके सेवकोंमें प्रधान गिने जाते थे; परंतु हिरण्यकशिपुने हमें अपनी पालकी ढोनेवाला कहार बना

१. प्रा० पा०—शयीत सं० । २. प्रा० पा०—एव । ३. प्रा० पा०—रिह च दिति० ।

स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते

नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥५२॥

किम्पुरुषा ऊचुः

वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः।

अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥५३॥

वैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो

गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे।

यस्तां व्यनैषीद् भृशमेष दुर्जनो

दिष्ट्या हतस्ते भगवन्यथाऽऽमयः॥५४॥

किंनरा ऊचुः

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा

दितिजेन विष्टिममुनानु कारिताः।

भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो

नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥५५॥

विष्णुपार्षदा ऊचुः

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते

दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म।

सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-

स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥५६॥

लिया। प्रकृतिके नियामक परमात्मा! इसके कारण होनेवाले अपने निजजनोंके कष्ट जानकर ही आपने इसे मार डाला है ॥ ५२ ॥

किम्पुरुषोंने कहा—हमलोग अत्यन्त तुच्छ किम्पुरुष हैं और आप सर्वशक्तिमान् महापुरुष हैं। जब सत्पुरुषोंने इसका तिरस्कार किया—इसे धिक्कारा, तभी आज आपने इस कुपुरुष—असुराधमको नष्ट कर दिया ॥५३॥

वैतालिकोंने कहा—भगवन्! बड़ी-बड़ी सभाओं और ज्ञानयज्ञोंमें आपके निर्मल यशका गान करके हम बड़ी प्रतिष्ठा-पूजा प्राप्त करते थे। इस दुष्टने हमारी वह आजीविका ही नष्ट कर दी थी। बड़े सौभाग्यकी बात है कि महारोगके समान इस दुष्टको आपने जड़-मूलसे उखाड़ दिया ॥ ५४ ॥

किन्नरोंने कहा—हम किन्नरगण आपके सेवक हैं। यह दैत्य हमसे बेगारमें ही काम लेता था। भगवन्! आपने कृपा करके आज इस पापीको नष्ट कर दिया। प्रभो! आप इसी प्रकार हमारा अभ्युदय करते रहें ॥ ५५ ॥

भगवान्‌के पार्षदोंने कहा—शरणागतवत्सल! सम्पूर्ण लोकोंको शान्ति प्रदान करनेवाला आपका यह अलौकिक नृसिंहरूप हमने आज ही देखा है। भगवन्! यह दैत्य आपका वही आज्ञाकारी सेवक था, जिसे सनकादिने शाप दे दिया था। हम समझते हैं, आपने कृपा करके इसके उद्धारके लिये ही इसका वध किया है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यराजवधे नृसिंहस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—भिः सदा। २. प्रा० पा०—पारिषदा। ३. प्रा० पा०—दचरितेऽष्टमो।

अथ नवमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके द्वारा नृसिंहभगवान्‌की स्तुति

नारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः ।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥
साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥
प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके ।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३ ॥
तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भकः ।
उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥ ४ ॥
स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥
स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥ ६ ॥
अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः ।
प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्मा, शंकर आदि सभी देवगण नृसिंहभगवान्‌के क्रोधावेशको शान्त न कर सके और न उनके पास जा सके। किसीको उसका ओर-छोर नहीं दीखता था ॥ १ ॥ देवताओंने उन्हें शान्त करनेके लिये स्वयं लक्ष्मीजीको भेजा। उन्होंने जाकर जब नृसिंहभगवान्‌का वह महान् अद्भुत रूप देखा, तब भयवश वे भी उनके पासतक न जा सकीं। उन्होंने ऐसा अनूठा रूप न कभी देखा और न सुना ही था ॥ २ ॥ तब ब्रह्माजीने अपने पास ही खड़े प्रह्लादको यह कहकर भेजा कि 'बेटा! तुम्हारे पितापर ही तो भगवान् कुपित हुए थे। अब तुम्हीं उनके पास जाकर उन्हें शान्त करो' ॥ ३ ॥ भगवान्‌के परम प्रेमी प्रह्लाद 'जो आज्ञा' कहकर और धीरेसे भगवान्‌के पास जाकर हाथ जोड़ पृथ्वीपर साष्टाङ्ग लोट गये ॥ ४ ॥ नृसिंहभगवान्‌ने देखा कि नन्हा-सा बालक मेरे चरणोंके पास पड़ा हुआ है। उनका हृदय दयासे भर गया। उन्होंने प्रह्लादको उठाकर उनके सिरपर अपना वह करकमल रख दिया, जो कालसर्पसे भयभीत पुरुषोंको अभयदान करनेवाला है ॥ ५ ॥ भगवान्‌के करकमलोंका स्पर्श होते ही उनके बचे-खुचे अशुभ संस्कार भी झड़ गये। तत्काल उन्हें परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। उन्होंने बड़े प्रेम और आनन्दमें मग्न होकर भगवान्‌के चरणकमलोंको अपने हृदयमें धारण किया। उस समय उनका सारा शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें प्रेमकी धारा प्रवाहित होने लगी और नेत्रोंसे आनन्दाश्रु झरने लगे ॥ ६ ॥ प्रह्लादजी भावपूर्ण हृदय और निर्निमेष नयनोंसे भगवान्‌को देख रहे थे। भावसमाधिसे स्वयं एकाग्र हुए मनके द्वारा उन्होंने भगवान्‌के गुणोंका चिन्तन करते हुए प्रेमगद्गद वाणीसे स्तुति की ॥ ७ ॥

प्रह्लादजीने कहा—ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषोंकी बुद्धि निरन्तर सत्त्वगुणमें ही स्थित रहती है। फिर भी वे अपनी धारा-प्रवाह स्तुति और

१. प्रा० पा०—उत्पत्य। २. प्रा० पा०—हिनिर्दष्टधि०।

नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८ ॥
मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥ ९ ॥
विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।
नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ॥ १० ॥
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥
तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२ ॥
सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

अपने विविध गुणोंसे आपको अबतक भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। फिर मैं तो घोर असुर जातिमें उत्पन्न हुआ हूँ! क्या आप मुझसे संतुष्ट हो सकते हैं? ॥ ८ ॥ मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये सभी गुण परमपुरुष भगवान्को संतुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी संतुष्ट हो गये थे ॥ ९ ॥ मेरी समझसे इन बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमल-नाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर रक्खे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है और बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ॥ १० ॥ सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूपके साक्षात्कारसे ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिये क्षुद्र पुरुषोंसे पूजा ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही भोले भक्तोंके हितके लिये उनके द्वारा की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुखका सौन्दर्य दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बको भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान्के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ इस-लिये सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होनेपर भी मैं बिना किसी शङ्काके अपनी बुद्धिके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्की महिमाका वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमाके गानका ही ऐसा प्रभाव है कि अविद्यावश संसार-चक्रमें पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है ॥ १२ ॥

भगवन्! आप सत्त्वगुणके आश्रय हैं। ये ब्रह्मा आदि सभी देवता आपके आज्ञाकारी भक्त हैं। ये हम दैत्योंकी तरह आपसे द्वेष नहीं करते। प्रभो! आप बड़े-बड़े सुन्दर-सुन्दर अवतार ग्रहण करके इस जगत्के कल्याण एवं अभ्युदयके लिये तथा उसे आत्मानन्दकी प्राप्ति करानेके लिये अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—प्रताप०।

तद् यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।
लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ।१४।

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥१५॥

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥१६॥

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ।१७।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥१८॥

१. प्रा० पा०—स्म्यलं । २. प्रा० पा०—गद्दनाद् ।

जिस असुरको मारनेके लिये आपने क्रोध किया था, वह मारा जा चुका । अब आप अपना क्रोध शान्त कीजिये । जैसे बिच्छू और साँपकी मृत्युसे सज्जन भी सुखी ही होते हैं, वैसे ही इस दैत्यके संहारसे सभी लोगोंको बड़ा सुख मिला है । अब सब आपके शान्त स्वरूपके दर्शनकी बाट जोह रहे हैं । नृसिंहदेव ! भयसे मुक्त होनेके लिये भक्तजन आपके इस रूपका स्मरण करेंगे ॥ १४ ॥ परमात्मन् ! आपका मुख बड़ा भयावना है । आपकी जीभ लपलपा रही है । आँखें सूर्यके समान हैं । भौंहें चढ़ी हुई हैं । बड़ी पैनी दाढ़ें हैं । आँतोंकी माला, खूनसे लथपथ गरदनके बाल, बर्छेकी तरह सीधे खड़े कान और दिग्गजोंको भी भयभीत कर देनेवाला सिंहनाद एवं शत्रुओंको फाड़ डालनेवाले आपके इन नखोंको देखकर मैं तनिक भी भयभीत नहीं हुआ हूँ ॥ १५ ॥ दीनबन्धो ! मैं भयभीत हूँ तो केवल इस असह्य और उग्र संसार-चक्रमें पिसनेसे । मैं अपने कर्मपाशोंसे बँधकर इन भयंकर जन्तुओंके बीचमें डाल दिया गया हूँ । मेरे स्वामी ! आप प्रसन्न होकर मुझे कब अपने उन चरणकमलोंमें बुलायेंगे, जो समस्त जीवोंकी एकमात्र शरण और मोक्षस्वरूप हैं ? ॥ १६ ॥ अनन्त ! मैं जिन-जिन योनियोंमें गया, उन सभी योनियोंमें प्रियके वियोग और अप्रियके संयोगसे होनेवाले शोककी आगमें झुलसता रहा । उन दुःखोंको मिटानेकी जो दवा है, वह भी दुःखरूप ही है । मैं न जाने कबसे अपनेसे अतिरिक्त वस्तुओंको आत्मा समझकर इधर-उधर भटक रहा हूँ । अब आप ऐसा साधन बतलाइये जिससे कि आपकी सेवा—भक्ति प्राप्त कर सकूँ ॥१७॥ प्रभो ! आप हमारे प्रिय हैं । अहैतुक हितैषी सुहृद् हैं । आप ही वास्तवमें सबके परमाराध्य हैं । मैं ब्रह्माजीके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाओंका गान करता हुआ बड़ी सुगमतासे रागादि प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर इस संसारकी कठिनाइयोंको पार कर जाऊँगा; क्योंकि आपके चरणयुगलोंमें रहनेवाले भक्त परमहंस महात्माओंका सङ्ग तो मुझे मिलता ही रहेगा ॥ १८ ॥

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् १९

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥२०॥

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः॥२१॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥२२॥

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ।२३।

भगवान् नृसिंह ! इस लोकमें दुखी जीवोंका दुःख मिटानेके लिये जो उपाय माना जाता है, वह आपके उपेक्षा करनेपर एक क्षणके लिये ही होता है । यहाँतक कि मा-बाप बालककी रक्षा नहीं कर सकते, ओषधि रोग नहीं मिटा सकती और समुद्रमें डूबते हुएको नौका नहीं बचा सकती ॥ १९ ॥ सत्त्वादि गुणोंके कारण भिन्न-भिन्न स्वभावके जितने भी ब्रह्मादि श्रेष्ठ और कालादि कनिष्ठ कर्ता हैं, उनको प्रेरित करनेवाले आप ही हैं । वे आपकी प्रेरणासे जिस आधारमें स्थित होकर जिस निमित्तसे जिन मिट्टी आदि उपकरणोंसे जिस समय जिन साधनोंके द्वारा जिस अदृष्ट आदिकी सहायतासे जिस प्रयोजनके उद्देश्यसे जिस विधिसे जो कुछ उत्पन्न करते हैं या रूपान्तरित करते हैं, वे सब और वह सब आपका ही स्वरूप है ॥ २० ॥

पुरुषकी अनुमतिसे कालके द्वारा गुणोंमें क्षोभ होनेपर माया मनःप्रधान लिङ्गशरीरका निर्माण करती है । यह लिङ्गशरीर बलवान्, कर्ममय एवं अनेक नाम-रूपोंमें आसक्त—छन्दोमय है । यही अविद्याके द्वारा कल्पित मन, दस इन्द्रिय और पाँच तन्मात्रा—इन सोलह विकाररूप अरोंसे युक्त संसार-चक्र है । जन्मरहित प्रभो ! आपसे भिन्न रहकर ऐसा कौन पुरुष है, जो इस मनरूप संसार-चक्रको पार कर जाय ? ॥ २१ ॥ सर्वशक्तिमान् प्रभो ! माया इस सोलह अरोंवाले संसार-चक्रमें डालकर ईखके समान मुझे पेर रही है । आप अपनी चैतन्यशक्तिसे बुद्धिके समस्त गुणोंको सर्वदा पराजित रखते हैं और कालरूपसे सम्पूर्ण साध्य और साधनोंको अपने अधीन रखते हैं । मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे इससे बचाकर अपनी सन्निधिमें खींच लीजिये ॥ २२ ॥ भगवन् ! जिनके लिये संसारी लोग बड़े लालायित रहते हैं, स्वर्गमें मिलनेवाली समस्त लोकपालोंकी वह आयु, लक्ष्मी और ऐश्वर्य मैंने खूब देख लिये । जिस समय मेरे पिता तनिक क्रोध करके हँसते थे और उससे उनकी भौंहें थोड़ी टेढ़ी हो जाती थीं, तब उन स्वर्गकी सम्पत्तियोंके लिये कहीं ठिकाना नहीं रह जाता था, वे लुटती फिरती थीं । किंतु आपने मेरे उन पिताको भी मार डाला ॥ २३ ॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ

आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमा विरिञ्चात् ।

नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण

कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ।२४।

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः

क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः[1] ।

निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्

कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥२५॥

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्

जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।

न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया

यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः।२६।

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-

ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि ।

संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः

सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥२७॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे

कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।

कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः

सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् २८

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च

मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।

इसलिये मैं ब्रह्मलोकतककी आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य और वे इन्द्रियभोग, जिन्हें संसारके प्राणी चाहा करते हैं, नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अत्यन्त शक्तिशाली कालका रूप धारण करके आपने उन्हें ग्रस रक्खा है। इसलिये मुझे आप अपने दासोंकी सन्निधिमें ले चलिये ॥ २४ ॥ विषयभोगकी बातें सुननेमें ही अच्छी लगती हैं, वास्तवमें वे मृगतृष्णाके जलके समान नितान्त असत्य हैं और यह शरीर भी, जिससे वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगोंका उद्गम-स्थान है। कहाँ वे मिथ्या विषयभोग और कहाँ यह रोग-युक्त शरीर! इन दोनोंकी क्षणभङ्गुरता और असारता जानकर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। वह कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले भोगके नन्हे-नन्हे मधुबिन्दुओं-से अपनी कामनाकी आग बुझानेकी चेष्टा करता है! ॥ २५ ॥ प्रभो! कहाँ तो इस तमोगुणी असुरवंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं, और कहाँ आपकी अनन्त कृपा! धन्य है! आपने अपना परम प्रसादस्वरूप और सकलसंतापहारी वह करकमल मेरे सिरपर रक्खा है, जिसे आपने ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजीके सिरपर भी कभी नहीं रक्खा ॥ २६ ॥ दूसरे संसारी जीवोंके समान आपमें छोटे-बड़ेका भेदभाव नहीं है; क्योंकि आप सबके आत्मा और अकारण प्रेमी हैं। फिर भी कल्पवृक्षके समान आपका कृपा-प्रसाद भी सेवन-भजनसे ही प्राप्त होता है। सेवाके अनुसार ही जीवों-पर आपकी कृपाका उदय होता है, उसमें जातिगत उच्चता या नीचता कारण नहीं हैं ॥ २७ ॥ भगवन्! यह संसार एक ऐसा अँधेरा कुआँ है, जिसमें कालरूप सर्प डँसनेके लिये सदा तैयार रहता है। विषय-भोगों-की इच्छावाले पुरुष उसीमें गिरे हुए हैं। मैं भी सङ्ग-वश उसके पीछे उसीमें गिरने जा रहा था; परंतु भगवन्! देवर्षि नारदने मुझे अपनाकर बचा लिया। तब भला, मैं आपके भक्तजनोंकी सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ ॥२८॥ अनन्त! जिस समय मेरे पिताने अन्याय करनेके लिये कमर कसकर हाथमें खड्ग ले लिया और वह कहने लगा कि 'यदि मेरे सिवा कोई और ईश्वर है तो तुझे बचा ले, मैं तेरा सिर काटता हूँ,' उस समय आपने मेरे प्राणोंकी रक्षा की और मेरे पिताका वध किया। मैं तो

[1] प्रा० पा०—विमोहः ।

खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-

स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥२९॥

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्व-

माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।

सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं

नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥३०॥

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो

माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।

यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च

तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥३१॥

न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये

शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।

योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-

स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥३२॥

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या

सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।

अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधे-

र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥३३॥

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-

स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।

समझता हूँ कि आपने अपने प्रेमी भक्त सनकादि ऋषियोंका वचन सत्य करनेके लिये ही वैसा किया था ॥ २९ ॥

भगवन्! यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आप ही हैं; क्योंकि इसके आदिमें आप ही कारणरूपसे थे, अन्तमें आप ही अवधिके रूपमें रहेंगे और बीचमें इसकी प्रतीतिके रूपमें भी केवल आप ही हैं। आप अपनी मायासे गुणोंके परिणामस्वरूप इस जगत्की सृष्टि करके इसमें पहलेसे विद्यमान रहनेपर भी प्रवेशकी लीला करते हैं और उन गुणोंसे युक्त होकर अनेक मालूम पड़ रहे हैं ॥ ३० ॥ भगवन्! यह जो कुछ कार्य-कारणके रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह सब आप ही हैं और इससे भिन्न भी आप ही हैं। अपने-परायेका भेद-भाव तो अर्थहीन शब्दोंकी माया है; क्योंकि जिससे जिसका जन्म, स्थिति, लय और प्रकाश होता है, वह उसका स्वरूप ही होता है—जैसे बीज और वृक्ष कारण और कार्यकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न हैं, तो भी गन्ध-तन्मात्रकी दृष्टिसे दोनों एक ही हैं ॥ ३१ ॥

भगवन्! आप इस सम्पूर्ण विश्वको स्वयं ही अपनेमें समेटकर आत्मसुखका अनुभव करते हुए निष्क्रिय होकर प्रलयकालीन जलमें शयन करते हैं। उस समय अपने स्वयंसिद्ध योगके द्वारा बाह्य दृष्टिको बंद कर आप अपने स्वरूपके प्रकाशमें निद्राको विलीन कर लेते हैं और तुरीय ब्रह्मपदमें स्थित रहते हैं। उस समय आप न तो तमोगुणसे ही युक्त होते और न तो विषयोंको ही स्वीकार करते हैं ॥ ३२ ॥ आप अपनी कालशक्तिसे प्रकृतिके गुणोंको प्रेरित करते हैं, इसलिये यह ब्रह्माण्ड आपका ही शरीर है। पहले यह आपमें ही लीन था। जब प्रलयकालीन जलके भीतर शेषशय्यापर शयन करनेवाले आपने योगनिद्राकी समाधि त्याग दी, तब वटके बीजसे विशाल वृक्षके समान आपकी नाभिसे ब्रह्माण्ड कमल उत्पन्न हुआ ॥ ३३ ॥ उसपर सूक्ष्मदर्शी ब्रह्माजी प्रकट हुए। जब उन्हें कमलके सिवा और कुछ भी दिखायी न पड़ा, तब अपनेमें बीजरूपसे व्याप्त आपको वे न जान सके और आपको अपनेसे बाहर समझकर

१. प्रा० पा०—दसून् बिभित्सु० । २. प्रा० पा०—शेषासनो । ३. प्रा० पा०—पुनरिदं ।

नाविन्दद्ब्दशतमप्सु निमज्जमानो

जातेऽङ्कुरे कथमु ह्युपलभेत बीजम् ॥३४॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं

कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।

त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं

भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥३५॥

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-

नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।

मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं

दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चिः ॥३६॥

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं च बिभ्रद्

वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।

हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च

सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३७॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-

र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।

धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं

छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥३८॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ

सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।

कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं

तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥३९॥

जलके भीतर घुसकर सौ वर्षतक ढूँढ़ते रहे। परंतु वहाँ उन्हें कुछ नहीं मिला। यह ठीक ही है, क्योंकि अङ्कुर उग आनेपर उसमें व्याप्त बीजको कोई बाहर अलग कैसे देख सकता है ॥ ३४ ॥ ब्रह्माको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हारकर कमलपर बैठ गये। बहुत समय बीतनेपर तीव्र तपस्या करनेसे जब उनका हृदय शुद्ध हो गया, तब उन्हें भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण-रूप अपने शरीरमें ही ओतप्रोतरूपसे स्थित आपके सूक्ष्मरूपका साक्षात्कार हुआ—ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वीमें व्याप्त उसकी अति सूक्ष्म तन्मात्रा गन्धका होता है ॥ ३५ ॥

विराट् पुरुष सहस्रों मुख, चरण, सिर, हाथ, जङ्घा, नासिका, मुख, कान, नेत्र, आभूषण और आयुधोंसे सम्पन्न था। चौदहों लोक उसके विभिन्न अङ्गोंके रूपमें शोभायमान थे। वह भगवान्‌की एक लीलामयी मूर्ति थी। उसे देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आनन्द हुआ ॥३६॥ रजोगुण और तमोगुणरूप मधु और कैटभ नामके दो बड़े बलवान् दैत्य थे। जब वे वेदोंको चुराकर ले गये, तब आपने हयग्रीव-अवतार ग्रहण किया और उन दोनोंको मारकर सत्त्वगुणरूप श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं। वह सत्त्वगुण ही आपका अत्यन्त प्रिय शरीर है—महात्मालोग इस प्रकार वर्णन करते हैं ॥३७॥ पुरुषोत्तम! इस प्रकार आप मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्य आदि अवतार लेकर लोकोंका पालन तथा विश्वके द्रोहियोंका संहार करते हैं। इन अवतारोंके द्वारा आप प्रत्येक युगमें उसके धर्मोंकी रक्षा करते हैं। कलियुगमें आप छिपकर गुप्तरूपसे ही रहते हैं, इसीलिये आपका एक नाम 'त्रियुग' भी है ॥ ३८ ॥

वैकुण्ठनाथ! मेरे मनकी बड़ी दुर्दशा है। वह पाप-वासनाओंसे तो कलुषित है ही, स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है। वह प्रायः ही कामनाओंके कारण आतुर रहता है और हर्ष-शोक, भय एवं लोक-परलोक, धन, पत्नी, पुत्र आदिकी चिन्ताओंसे व्याकुल रहता है। इसे आपकी लीला-कथाओंमें तो रस ही नहीं मिलता। इसके मारे मैं दीन हो रहा हूँ। ऐसे मनसे मैं आपके स्वरूपका चिन्तन कैसे करूँ? ॥ ३९ ॥

१. प्रा० पा०—लक्षणस०। २. प्रा० पा०—हत्वा पुनः स्थितिगुणांश्च। ३. प्रा० पा०—कृताव०। ४. प्रा० पा०—प्रभवसिद्धियुगोऽथ। ५. प्रा० पा०—भयेक्षणार्तं।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥४०॥

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥४१॥

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां[1] नः ॥४२॥

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥४३॥

अच्युत! यह कभी न अघानेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसोंकी ओर खींचती रहती है। जननेन्द्रिय सुन्दरी स्त्रीकी ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजनकी ओर, कान मधुर संगीतकी ओर, नासिका भीनी-भीनी सुगन्धकी ओर और ये चपल नेत्र सौन्दर्यकी ओर मुझे खींचते रहते हैं। इनके सिवा कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयोंकी ओर ले जानेको जोर लगाती ही रहती हैं। मेरी तो वह दशा हो रही है, जैसे किसी पुरुषकी बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपने-अपने शयनगृहमें ले जानेके लिये चारों ओरसे घसीट रही हों ॥ ४० ॥ इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंके बन्धनमें पड़कर इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरा हुआ है। जन्मसे मृत्यु, मृत्युसे जन्म और दोनोंके द्वारा कर्मभोग करते-करते यह भयभीत हो गया है। यह अपना है, यह पराया है—इस प्रकारके भेद-भावसे युक्त होकर किसीसे मित्रता करता है तो किसीसे शत्रुता। आप इस मूढ़ जीव-जातिकी यह दुर्दशा देखकर करुणासे द्रवित हो जाइये। इस भव-नदीसे सर्वदा पार रहनेवाले भगवन्! इन प्राणियोंको भी अब पार लगा दीजिये ॥ ४१ ॥ जगद्गुरो! आप इस सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा पालन करनेवाले हैं। ऐसी अवस्थामें इन जीवोंको इस भव-नदीके पार उतार देनेमें आपको क्या प्रयास है? दीनजनोंके परमहितैषी प्रभो! भूले-भटके मूढ़ ही महान् पुरुषोंके विशेष अनुग्रहपात्र होते हैं। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम आपके प्रियजनोंकी सेवामें लगे रहते हैं। इसलिये पार जानेकी हमें कभी चिन्ता ही नहीं होती ॥४२॥ परमात्मन्! इस भव-वैतरणीसे पार उतरना दूसरे लोगोंके लिये अवश्य ही कठिन है, परंतु मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं है; क्योंकि मेरा चित्त इस वैतरणीमें नहीं, आपकी उन लीलाओंके गानमें मग्न रहता है, जो स्वर्गीय अमृतको भी तिरस्कृत करनेवाली—परमामृतस्वरूप हैं। मैं उन मूढ़ प्राणियोंके लिये शोक कर रहा हूँ, जो आपके गुणगानसे विमुख रहकर इन्द्रियोंके विषयोंका मायामय झूठा सुख प्राप्त करनेके लिये अपने सिरपर सारे संसारका भार ढोते रहते हैं ॥ ४३ ॥

1. प्रा० पा०—सेवया ।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥४४॥

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥४५॥

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥४६॥

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते[1] त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४७॥

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।

मेरे स्वामी ! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तो प्रायः अपनी मुक्तिके लिये निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं। वे दूसरोंकी भलाईके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। परंतु मेरी दशा तो दूसरी ही हो रही है। मैं इन भूले हुए असहाय गरीबोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता और इन भटकते हुए प्राणियोंके लिये आपके सिवा और कोई सहारा भी नहीं दिखायी पड़ता ॥४४॥

घरमें फँसे हुए लोगोंको जो मैथुन आदिका सुख मिलता है, वह अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखरूप ही है—जैसे कोई दोनों हाथोंसे खुजला रहा हो तो उस खुजलीमें पहले उसे कुछ थोड़ा-सा सुख मालूम पड़ता है, परंतु पीछेसे दुःख-ही-दुःख होता है। किंतु ये भूले हुए अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगनेपर भी इन विषयोंसे अघाते नहीं। इसके विपरीत धीर पुरुष जैसे खुजलाहटको सह लेते हैं, वैसे ही कामादि वेगोंको भी सह लेते हैं। सहनेसे ही उनका नाश होता है ॥४५॥ पुरुषोत्तम ! मोक्षके दस साधन प्रसिद्ध हैं—मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्मपालन, युक्तियोंसे शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्तसेवन, जप और समाधि। परंतु जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उनके लिये ये सब जीविकाके साधन—व्यापारमात्र रह जाते हैं और दम्भियोंके लिये तो जबतक उनकी पोल खुलती नहीं तभीतक ये जीवननिर्वाहके साधन रहते हैं और भंडाफोड़ हो जानेपर वह भी नहीं ॥ ४६ ॥ वेदोंने बीज और अङ्कुरके समान आपके दो रूप बताये हैं—कार्य और कारण। वास्तवमें आप प्राकृत रूपसे रहित हैं। परंतु इन कार्य और कारणरूपोंको छोड़कर आपके ज्ञानका कोई और साधन भी नहीं है। काष्ठमन्थनके द्वारा जिस प्रकार अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार योगीजन भक्तियोगकी साधनासे आपको कार्य और कारण दोनोंमें ही ढूँढ़ निकालते हैं; क्योंकि वास्तवमें ये दोनों आपसे पृथक् नहीं हैं, आपके स्वरूप ही हैं ॥ ४७ ॥ अनन्त प्रभो ! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पञ्च तन्मात्राएँ, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहङ्कार, सम्पूर्ण जगत् एवं

१. प्रा० पा०—विचक्षते ।

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्

नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ।४८।

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये

सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।

आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-

मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥४९॥

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः

कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।

संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं

भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

सगुण और निर्गुण—सब कुछ केवल आप ही हैं। और तो क्या, मन और वाणीके द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे पृथक् नहीं है ॥ ४८ ॥ समग्र कीर्तिके आश्रय भगवन्! ये सत्त्वादि गुण और इन गुणोंके परिणाम महत्तत्त्वादि, देवता, मनुष्य एवं मन आदि कोई भी आपका स्वरूप जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब आदि-अन्तवाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ऐसा विचार करके ज्ञानीजन शब्दोंकी मायासे उपरत हो जाते हैं ॥ ४९ ॥ परम पूज्य! आपकी सेवाके छः अङ्ग हैं—नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मोंका समर्पण, सेवा-पूजा, चरणकमलोंका चिन्तन और लीला-कथाका श्रवण! इस षडङ्ग-सेवाके बिना आपके चरण-कमलोंकी भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? और भक्तिके बिना आपकी प्राप्ति कैसे होगी? प्रभो! आप तो अपने परम प्रिय भक्तजनोंके, परमहंसोंके ही सर्वस्व हैं ॥५०॥

नारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः ।

प्रह्रादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥५१॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार भक्त प्रह्लादने बड़े प्रेमसे प्रकृति और प्राकृत गुणोंसे रहित भगवान्‌के स्वरूपभूत गुणोंका वर्णन किया। इसके बाद वे भगवान्‌के चरणोंमें सिर झुकाकर चुप हो गये। नृसिंह-भगवान्‌का क्रोध शान्त हो गया और वे बड़े प्रेम तथा प्रसन्नतासे बोले ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रह्राद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ।

वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥५२॥

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे ।

दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥५३॥

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः ।

श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम् ।५४।

श्रीनृसिंहभगवान्‌ने कहा—परम कल्याणस्वरूप प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। दैत्यश्रेष्ठ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो। मैं जीवोंकी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला हूँ ॥ ५२ ॥ आयुष्मन्! जो मुझे प्रसन्न नहीं कर लेता, उसे मेरा दर्शन मिलना बहुत ही कठिन है। परंतु जब मेरे दर्शन हो जाते हैं, तब फिर प्राणीके हृदयमें किसी प्रकारकी जलन नहीं रह जाती ॥५३॥ मैं समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ। इसलिये सभी कल्याणकामी परम भाग्यवान् साधुजन जितेन्द्रिय होकर अपनी समस्त वृत्तियोंसे मुझे प्रसन्न करनेका ही यत्न करते हैं ॥ ५४ ॥

१. प्रा० पा०—मुनयो। २. प्रा० पा०—पुनर्जन्म नात्मानं।

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छत् तानसुरोत्तमः ।५५।

असुरकुलभूषण प्रह्लादजी भगवान्‌के अनन्य प्रेमी थे । इसलिये बड़े-बड़े लोगोंको प्रलोभनमें डालनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी उन्होंने उनकी इच्छा नहीं की ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे[1] प्रह्लादचरिते भगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके राज्याभिषेक और त्रिपुरदहनकी कथा

नारद उवाच

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः ।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः[2] ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥ २ ॥

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥ ३ ॥

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत[3] करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥४॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ५

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।

नारदजी कहते हैं—प्रह्लादजीने बालक होनेपर भी यही समझा कि वरदान माँगना प्रेम-भक्तिका विघ्न है । इसलिये कुछ मुसकराते हुए वे भगवान्‌से बोले ॥ १ ॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो ! मैं जन्मसे ही विषय-भोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं । मैं उन भोगोंके सङ्गसे डरकर, उनके द्वारा होनेवाली तीव्र वेदनाका अनुभव कर उनसे छूटने-की अभिलाषासे ही आपकी शरणमें आया हूँ ॥ २ ॥ भगवन् ! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं—यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है ! ये विषय-भोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं ॥ ३ ॥ जगद्गुरो ! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं । (अपने भक्तको भोगोंमें फँसानेवाला वर कैसे दे सकते हैं ?) आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है॥४॥ जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं; और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं ॥ ५ ॥ मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं । जैसे राजा और

१. प्रा० पा०—स्कन्धे नव० । २. प्रा० पा०—नैतेषु । ३. प्रा० पा०—घटते ।

नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६ ॥
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ।८।
विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते[3] ॥ ९ ॥
नमो[4] भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१०॥

नृसिंह[5] उवाच

नैकान्तिनो मे[6] मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये[7] भवद्विधाः ।
अथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥११॥
कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् ।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् ॥१२॥
भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥१३॥
य एतत् कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः ।
त्वां च मां च स्मरन्काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते ।१४।

उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं ॥ ६ ॥ मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी ! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अंकुरित ही न हो ॥ ७ ॥ हृदयमें किसी भी कामना-के उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥ कमलनयन ! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥ भगवन् ! आपको नमस्कार है । आप सब-के हृदयमें विराजमान, उदारशिरोमणि स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं । अद्भुत नृसिंहरूपधारी श्रीहरिके चरणों-में मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

श्रीनृसिंहभगवान्ने कहा—प्रह्लाद ! तुम्हारे-जैसे मेरे एकान्तप्रेमी इस लोक अथवा परलोककी किसी भी वस्तुके लिये कभी कोई कामना नहीं करते । फिर भी अधिक नहीं, केवल एक मन्वन्तरतक मेरी प्रसन्नताके लिये तुम इस लोकमें दैत्याधिपतियोंके समस्त भोग स्वीकार कर लो ॥ ११ ॥ समस्त प्राणियोंके हृदयमें यज्ञोंके भोक्ता ईश्वरके रूपमें मैं ही विराजमान हूँ । तुम अपने हृदयमें मुझे देखते रहना और मेरी लीला-कथाएँ, जो तुम्हें अत्यन्त प्रिय हैं, सुनते रहना । समस्त कर्मोंके द्वारा मेरी ही आराधना करना और इस प्रकार अपने प्रारब्ध-कर्मका क्षय कर देना ॥ १२ ॥ भोगके द्वारा पुण्यकर्मोंके फल और निष्काम पुण्यकर्मोंके द्वारा पापका नाश करते हुए समयपर शरीरका त्याग करके समस्त बन्धनों-से मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे । देवलोकमें भी लोग तुम्हारी विशुद्ध कीर्तिका गान करेंगे ॥ १३ ॥ तुम्हारे द्वारा की हुई मेरी इस स्तुतिका जो मनुष्य कीर्तन करेगा और साथ ही मेरा और तुम्हारा स्मरण भी करेगा, वह समयपर कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—रिह । २. प्रा० पा०—दास्यसि । ३. प्राचीन प्रतिमें 'कल्पते ॥ ९ ॥' इसके बाद 'नारदेनोपदिष्टं मे तव मन्त्रमहं स्मरे' यह अंश अधिक है । ४. प्रा० पा०—ॐ नमो । ५. प्रा० पा०—भगवानुवाच । ६. प्रा० पा०—ये । ७. प्रा० पा०—ते । ८. प्रा० पा०—हित्वा । ९. प्रा० पा०—स्मरेत् ।

प्रह्लाद उवाच

वरं[1] वरय एतत् ते वरदेशान्महेश्वर ।

यदनिन्दत् पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥१५॥

विद्धामर्षाशयः साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम् ।

भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥१६॥

तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात् ।

पूतस्ते[2]ऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।

यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः ॥१८॥

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।

साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि[3] कीकटाः ॥१९॥

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन ।

उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन[4] गतस्पृहाः ॥२०॥

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः ।

भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥२१॥

कुरु त्वं प्रेतकार्याणि पितुः पूतस्य सर्वशः ।

मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान्यास्यति सुप्रजाः ॥२२॥

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।

मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥२३॥

नारद[5] उवाच

प्रह्रादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम् ।

प्रह्लादजीने कहा—महेश्वर ! आप वर देनेवालोंके स्वामी हैं । आपसे मैं एक वर और माँगता हूँ । मेरे पिताने आपके ईश्वरीय तेजको और सर्वशक्तिमान् चराचरगुरु स्वयं आपको न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है। 'इस विष्णुने मेरे भाईको मार डाला है' ऐसी मिथ्या-दृष्टि रखनेके कारण पिताजी क्रोधके वेगको सहन करनेमें असमर्थ हो गये थे । इसीसे उन्होंने आपका भक्त होनेके कारण मुझसे भी द्रोह किया ॥ १५-१६ ॥ दीनबन्धो ! यद्यपि आपकी दृष्टि पड़ते ही वे पवित्र हो चुके, फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि उस जल्दी नाश न होनेवाले दुस्तर दोषसे मेरे पिता शुद्ध हो जायँ ॥ १७ ॥

श्रीनृसिंहभगवान्‌ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये, इसकी तो बात ही क्या है, यदि उनकी इक्कीस पीढ़ियोंके पितर होते तो उन सबके साथ भी वे तर जाते; क्योंकि तुम्हारे-जैसा कुलको पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ ॥१८॥ मेरे शान्त, समदर्शी और सुखसे सदाचार पालन करनेवाले प्रेमी भक्तजन जहाँ-जहाँ निवास करते हैं, वे स्थान चाहे कीकट ही क्यों न हों, पवित्र हो जाते हैं ॥ १९ ॥ दैत्यराज ! मेरे भक्तिभावसे जिनकी कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, वे सर्वत्र आत्मभाव हो जानेके कारण छोटे-बड़े किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कष्ट नहीं पहुँचाते ॥ २० ॥ संसारमें जो लोग तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे भी मेरे भक्त हो जायँगे । बेटा ! तुम मेरे सभी भक्तोंके आदर्श हो ॥ २१ ॥ यद्यपि मेरे अङ्गोंका स्पर्श होनेसे तुम्हारे पिता पूर्णरूपसे पवित्र हो गये हैं, तथापि तुम उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया करो । तुम्हारे-जैसी संतानके कारण उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥ वत्स ! तुम अपने पिताके पदपर स्थित हो जाओ और वेदवादी मुनियोंकी आज्ञाके अनुसार मुझमें अपना मन लगाकर और मेरी शरणमें रहकर मेरी सेवाके लिये ही अपने सारे कार्य करो ॥ २३ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार प्रह्लादजीने अपने पिताकी अन्त्येष्टि-क्रिया

१. प्रा० पा०—वरान् । २. प्रा० पा०—स्ते शान्तया दृष्ट्या दृष्टः कृप० । ३. प्रा० पा०—पूयन्तेऽपि । ४. प्रा० पा०—मद्भक्ता विगतस्पृहाः । ५. प्रा० पा०—शुक उवाच ।

यथाऽऽह भगवान् राजन्नभिषिक्तो द्विजोत्तमैः ।२४।
प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम् ।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ।२५।

ब्रह्मोवाच

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज ।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः ॥२६॥
योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः ।
तपोयोगबलोन्नद्धः समस्तनिगमानहन् ॥२७॥
दिष्ट्यास्य तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः ।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना२८
एतद् वपुस्ते भगवन्ध्यायतः प्रयतात्मनः ।
सर्वतो गोप्तृ संत्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः ॥२९॥

नृसिंह उवाच

मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव ।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥३०॥

नारद उवाच

इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥३१॥
ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् ।
भवं प्रजापतीन्देवान्प्रह्रादो भगवत्कलाः ॥३२॥
ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्रादमकरोत् पतिम् ॥३३॥

की, इसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उनका राज्याभिषेक किया ॥ २४ ॥ इसी समय देवता, ऋषि आदिके साथ ब्रह्माजीने नृसिंहभगवान्‌को प्रसन्नवदन देखकर पवित्र वचनोंके द्वारा उनकी स्तुति की और उनसे यह बात कही ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओंके आराध्यदेव ! आप सर्वान्तर्यामी, जीवोंके जीवनदाता और मेरे भी पिता हैं। यह पापी दैत्य लोगोंको बहुत ही सता रहा था। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने इसे मार डाला ॥ २६ ॥ मैंने इसे वर दे दिया था कि मेरी सृष्टिका कोई भी प्राणी तुम्हारा वध न कर सकेगा। इससे यह मतवाला हो गया था। तपस्या, योग और बलके कारण उच्छृङ्खल होकर इसने वेदविधियोंका उच्छेद कर दिया था ॥ २७ ॥ यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि इसके पुत्र परमभागवत शुद्धहृदय नन्हे-से शिशु प्रह्लादको आपने मृत्युके मुखसे छुड़ा दिया; तथा यह भी बड़े आनन्द और मङ्गलकी बात है कि वह अब आपकी शरणमें है ॥ २८ ॥ भगवन् ! आपके इस नृसिंहरूपका ध्यान जो कोई एकाग्र मनसे करेगा, उसे यह सब प्रकारके भयोंसे बचा लेगा। यहाँतक कि मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्यु भी उसका कुछ न बिगाड़ सकेगी ॥ २९ ॥

श्रीनृसिंह भगवान् बोले—ब्रह्माजी ! आप दैत्योंको ऐसा वर न दिया करें। जो स्वभावसे ही क्रूर हैं, उनको दिया हुआ वर तो वैसा ही है जैसा साँपोंको दूध पिलाना ॥ ३० ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नृसिंहभगवान् इतना कहकर और ब्रह्माजीके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके वहीं अन्तर्धान—समस्त प्राणियोंके लिये अदृश्य हो गये ॥ ३१ ॥ इसके बाद प्रह्लादजीने भगवत्स्वरूप ब्रह्मा-शंकरकी तथा प्रजापति और देवताओंकी पूजा करके उन्हें माथा टेककर प्रणाम किया ॥ ३२ ॥ तब शुक्राचार्य आदि मुनियोंके साथ ब्रह्माजीने प्रह्लादजीको समस्त दानव और दैत्योंका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—द्विजातिभिः। २. प्राचीन प्रतिमें 'ब्रह्मोवाच' नहीं है। ३. प्रा० पा०—बलोन्मत्तः। ४. प्रा० पा०—ते। ५. प्रा० पा०—तन्नियतोऽधुना। ६. प्रा० पा०—भगवानुवाच।

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः ।
स्वधामानि ययू राजन्ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः ॥३४॥
एवं तौ पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः ।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥३५॥
पुनश्च विप्रशापेन[1] राक्षसौ तौ बभूवतुः ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥३६॥
शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामसायकैः ।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥३७॥
ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ[2] ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥३८॥
एनः पूर्वकृतं यत् तद् राजानः कृष्णवैरिणः ।
जहुस्त्वन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥३९॥
यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा ।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥४०॥
आख्यातं सर्वमेतत् ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम् ॥४१॥
एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः ।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥४२॥
प्रह्रादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च ।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः ॥४३॥

फिर ब्रह्मादि देवताओंने प्रह्लादका अभिनन्दन किया और उन्हें शुभाशीर्वाद दिये । प्रह्लादजीने भी यथायोग्य सबका सत्कार किया और वे लोग अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार भगवान्‌के वे दोनों पार्षद जय और विजय दितिके पुत्र दैत्य हो गये थे । वे भगवान्‌से वैरभाव रखते थे । उनके हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌ने उनका उद्धार करनेके लिये उन्हें मार डाला ॥ ३५ ॥ ऋषियोंके शापके कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई, वे फिरसे कुम्भकर्ण और रावणके रूपमें राक्षस हुए । उस समय भगवान् श्रीरामके पराक्रमसे उनका अन्त हुआ ॥ ३६ ॥ युद्धमें भगवान् रामके बाणोंसे उनका कलेजा फट गया । वहीं पड़े-पड़े पूर्वजन्म-की भाँति भगवान्‌का स्मरण करते-करते उन्होंने अपने शरीर छोड़े ॥ ३७ ॥ वे ही अब इस युगमें शिशुपाल और दन्तवक्त्रके रूपमें पैदा हुए थे । भगवान्‌के प्रति वैरभाव होनेके कारण तुम्हारे सामने ही वे उनमें समा गये ॥ ३८ ॥ युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णसे शत्रुता रखने-वाले सभी राजा अन्तसमयमें श्रीकृष्णके स्मरणसे तद्रूप होकर अपने पूर्वकृत पापोंसे सदाके लिये मुक्त हो गये । जैसे भृंगीके द्वारा पकड़ा हुआ कीड़ा भयसे ही उसका स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार भगवान्‌के प्यारे भक्त अपनी भेद-भावरहित अनन्य भक्तिके द्वारा भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही शिशुपाल आदि नरपति भी भगवान्‌के वैरभावजनित अनन्य चिन्तनसे भगवान्‌के सारूप्यको प्राप्त हो गये ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! तुमने मुझसे पूछा था कि भगवान्‌से द्वेष करनेवाले शिशुपाल आदिको उनके सारूप्यकी प्राप्ति कैसे हुई ? उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया ॥ ४१ ॥ ब्रह्मण्यदेव परमात्मा श्रीकृष्णका यह परम पवित्र अवतार-चरित्र है । इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु इन दोनों दैत्योंके वधका वर्णन है ॥ ४२ ॥ इस प्रसङ्गमें भगवान्‌के परम भक्त प्रह्लादका चरित्र, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके स्वामी श्रीहरि-

१. प्रा० पा०—पूर्वशापेन । २. प्रा० पा०—करूषकौ ।

सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम् ।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ।४४।।
धर्मो भागवतानां च भगवान्येन गम्यते ।
आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः ।४५।
य एतत् पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ।४६।

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ।४७।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ।।४८।।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ।।४९।।

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ।।५०।।

स एष भगवान्राजन्व्यतनोद् विहतं यशः ।

के यथार्थ स्वरूप तथा उनके दिव्य गुण एवं लीलाओंका वर्णन है । इस आख्यानमें देवता और दैत्योंके पदोंमें कालक्रमसे जो महान् परिवर्तन होता है, उसका भी निरूपण किया गया है ।। ४३-४४ ।। जिसके द्वारा भगवान्की प्राप्ति होती है, उस भागवतधर्मका भी वर्णन है । अध्यात्मके सम्बन्धमें भी सभी जानने योग्य बातें इसमें हैं ।। ४५ ।। भगवान्के पराक्रमसे पूर्ण इस पवित्र आख्यानको जो कोई पुरुष श्रद्धासे कीर्तन करता और सुनता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।। ४६ ।। जो मनुष्य परम पुरुष परमात्माकी यह श्रीनृसिंह-लीला, सेनापतियोंसहित हिरण्यकशिपुका वध और संतशिरोमणि प्रह्लादजीका पावन प्रभाव एकाग्र मनसे पढ़ता और सुनता है, वह भगवान्के अभयपद वैकुण्ठको प्राप्त होता है ।। ४७ ।।

युधिष्ठिर ! इस मनुष्यलोकमें तुमलोगोंके भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं; क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्तरूपसे निवास करते हैं । इसीसे सारे संसारको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं ।। ४८ ।। बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर जिनको ढूँढ़ते रहते हैं, जो मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभव-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं—वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं ।। ४९ ।। शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके । फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं । हम तो मौन भक्ति और संयमके द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं । कृपया हमारी यह पूजा स्वीकार करके भक्तवत्सल भगवान् हमपर प्रसन्न हों ।। ५० ।। युधिष्ठिर ! यही एकमात्र आराध्यदेव हैं । प्राचीन कालमें बहुत बड़े मायावी मयासुरने जब रुद्रदेवकी कमनीय कीर्तिमें कलङ्क लगाना चाहा था,

१. प्रा० पा०—समाख्यात० । २. प्रा० पा०—लोकान् । ३. प्रा० पा०—यान्ति । ४. प्रा० पा०—सर्वाश्रयं ब्रह्म ।
५. प्रा० पा०—वस्तु तदानुव० ।

पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥५१॥

राजोवाच

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः ।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम् ॥५२॥

नारद उवाच

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः ।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः[1] ॥५३॥
स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः[2] ।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥५४॥
ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरान् नृप ।
स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥५५॥
ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं विभो[4] ।
त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥५६॥
अथानुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः ।
शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं[5] व्यमुञ्चत ॥५७॥
ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात् ।
यथा मयूखसंदोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥५८॥
तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः ।
ताननीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥५९॥
सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः ।

तब इन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने फिरसे उनके यशकी रक्षा और विस्तार किया था ॥ ५१ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—नारदजी ! मय दानव किस कार्यमें जगदीश्वर रुद्रदेवका यश नष्ट करना चाहता था ? और भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार उनके यशकी रक्षा की; आप कृपा करके बतलाइये ॥ ५२ ॥

नारदजीने कहा—एक बार इन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण-से शक्ति प्राप्त करके देवताओंने युद्धमें असुरोंको जीत लिया था। उस समय सब-के-सब असुर मायावियोंके परमगुरु मय दानवकी शरणमें गये ॥ ५३ ॥ शक्तिशाली मयासुरने सोने, चाँदी और लोहेके तीन विमान बना दिये। वे विमान क्या थे, तीन पुर ही थे। वे इतने विलक्षण थे कि उनका आना-जाना जान नहीं पड़ता था। उनमें अपरिमित सामग्रियाँ भरी हुई थीं ॥ ५४ ॥ युधिष्ठिर ! दैत्यसेनापतियोंके मनमें तीनों लोक और लोकपतियोंके प्रति वैरभाव तो था ही, अब उसकी याद करके उन तीनों विमानोंके द्वारा वे उनमें छिपे रहकर सबका नाश करने लगे ॥ ५५ ॥ तब लोक-पालोंके साथ सारी प्रजा भगवान् शंकरकी शरणमें गयी और उनसे प्रार्थना की कि 'प्रभो ! त्रिपुरमें रहनेवाले असुर हमारा नाश कर रहे हैं। हम आपके हैं; अतः देवाधिदेव ! आप हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ५६ ॥

उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् शंकरने कृपापूर्ण शब्दोंमें कहा—'डरो मत।' फिर उन्होंने अपने धनुष-पर बाण चढ़ाकर तीनों पुरोंपर छोड़ दिया ॥ ५७ ॥ उनके उस बाणसे सूर्यमण्डलसे निकलनेवाली किरणोंके समान अन्य बहुत-से बाण निकले। उनमेंसे मानो आगकी लपटें निकल रही थीं। उनके कारण उन पुरोंका दीखना बंद हो गया ॥ ५८ ॥ उनके स्पर्शसे सभी विमानवासी निष्प्राण होकर गिर पड़े। महामायावी मय बहुत-से उपाय जानता था, वह उन दैत्योंको उठा लाया और अपने बनाये हुए अमृतके कुएँमें डाल दिया ॥ ५९ ॥ उस सिद्ध अमृत-रसका स्पर्श होते ही असुरोंका शरीर अत्यन्त तेजस्वी और वज्रके समान

१. प्रा० पा०—तथा। २. प्रा० पा०—मभ्ययुः। ३. प्रा० पा०—सीः प्रभुः। ४. प्रा० पा०—ततः। ५. प्रा० पा०—पूर्वमस्त्रं।

उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः ॥६०॥
विलोक्य भग्नसंकल्पं विमनस्कं वृषध्वजम् ।
तदायं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥६१॥
वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः ।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥६२॥
तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्विमोहिताः ।
तद् विज्ञाय[1] महायोगी रसपालानिदं जगौ ॥६३॥
स्वयं विशोकः शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिं च ताम् ।
देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन ॥६४॥
आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः।
अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधनिकं व्यधात्।
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ।
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्म शरादि यत् ॥६६॥
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे ।
शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ॥६७॥
दंदाह[2] तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः ॥६८॥
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः ।
अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥६९॥
एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान्पुरहा नृप ।

सुदृढ़ हो गया। वे बादलोंको विदीर्ण करनेवाली बिजलीकी आगकी तरह उठ खड़े हुए ॥ ६० ॥

इन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि महादेवजी तो अपना संकल्प पूरा न होनेके कारण उदास हो गये हैं, तब उन असुरोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इन्होंने एक युक्ति की ॥ ६१ ॥ यही भगवान् विष्णु उस समय गौ बन गये और ब्रह्माजी बछड़ा बने । दोनों ही मध्याह्नके समय उन तीनों पुरोंमें गये और उस सिद्धरसके कुएँका सारा अमृत पी गये ॥ ६२ ॥ यद्यपि उसके रक्षक दैत्य इन दोनोंको देख रहे थे, फिर भी भगवान्की मायासे वे इतने मोहित हो गये कि इन्हें रोक न सके । जब उपाय जाननेवालोंमें श्रेष्ठ मयासुरको यह बात मालूम हुई, तब भगवान्की इस लीलाका स्मरण करके उसे कोई शोक न हुआ। शोक करनेवाले अमृतरक्षकोंसे उसने कहा—'भाई! देवता, असुर, मनुष्य अथवा और कोई भी प्राणी अपने, पराये अथवा दोनोंके लिये जो प्रारब्धका विधान है, उसे मिटा नहीं सकता। जो होना था, हो गया । शोक करके क्या करना है ?' इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपनी शक्तियोंके द्वारा भगवान् शंकरके युद्धकी सामग्री तैयार की ॥६३—६५॥ उन्होंने धर्मसे रथ, ज्ञानसे सारथि, वैराग्यसे ध्वजा, ऐश्वर्यसे घोड़े, तपस्यासे धनुष, विद्यासे कवच, क्रियासे बाण और अपनी अन्यान्य शक्तियोंसे अन्यान्य वस्तुओंका निर्माण किया ॥ ६६ ॥ इन सामग्रियोंसे सज-धजकर भगवान् शंकर रथपर सवार हुए एवं धनुष-बाण धारण किया । भगवान् शंकरने अभिजित् मुहूर्त्तमें धनुषपर बाण चढ़ाया और उन तीनों दुर्भेद्य विमानोंको भस्म कर दिया । युधिष्ठिर ! उसी समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं । सैकड़ों विमानोंकी भीड़ लग गयी ॥ ६७-६८ ॥ देवता, ऋषि, पितर और सिद्धेश्वर आनन्दसे जय-जयकार करते हुए पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर ! इस प्रकार उन तीनों पुरोंको जलाकर भगवान् शंकरने 'पुरारि'की

१. प्रा० पा०—तं विज्ञाय । २. प्राचीन प्रतिमें 'ददाह'.....'नृप' इस पूर्वार्द्धके स्थानपर ऐसा पाठ है—

यथा पुरं तु संलग्नं ददाह त्रिपुरं नृप ।

ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ७० ॥
एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः ।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकान् पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥ ७१ ॥

पदवी प्राप्त की और ब्रह्मादिकोंकी स्तुति सुनते हुए अपने धामको चले गये ॥ ७० ॥ आत्मस्वरूप जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार अपनी मायासे जो मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करते हैं, ऋषिलोग उन्हीं अनेकों लोकपावन लीलाओंका गान किया करते हैं, बताओ, अब मैं तुम्हें और क्या सुनाऊँ ? ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे त्रिपुरविजयो नाम[1] दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

मानवधर्म, वर्णधर्म और स्त्रीधर्मका निरूपण

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवन्मय प्रह्लादजीके साधुसमाजमें सम्मानित पवित्र चरित्र सुनकर संतशिरोमणि युधिष्ठिरको बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने नारदजीसे और भी पूछा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान्विन्दते परम् ॥ २ ॥
भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः ॥ ३ ॥
नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः ।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरजीने कहा—भगवन् ! अब मैं वर्ण और आश्रमोंके सदाचारके साथ मनुष्योंके सनातनधर्मका श्रवण करना चाहता हूँ, क्योंकि धर्मसे ही मनुष्यको ज्ञान, भगवत्प्रेम और साक्षात् परम पुरुष भगवान्की प्राप्ति होती है ॥ २ ॥ आप स्वयं प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र हैं और नारदजी ! आपकी तपस्या, योग एवं समाधिके कारण वे अपने दूसरे पुत्रोंकी अपेक्षा आपका अधिक सम्मान भी करते हैं ॥ ३ ॥ आपके समान नारायण-परायण, दयालु, सदाचारी और शान्त ब्राह्मण धर्मके गुप्त-से-गुप्त रहस्यको जैसा यथार्थरूपसे जानते हैं, दूसरे लोग वैसा नहीं जानते ॥ ४ ॥

नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ५ ॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः ।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥ ६ ॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! अजन्मा भगवान् ही समस्त धर्मोंके मूल कारण हैं । वही प्रभु चराचर जगत्के कल्याणके लिये धर्म और दक्षपुत्री मूर्तिके द्वारा अपने अंशसे अवतीर्ण होकर बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं । उन नारायण भगवान्को नमस्कार करके उन्हींके मुखसे सुने हुए सनातनधर्मका मैं वर्णन करता हूँ ॥ ५-६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' नहीं है । २. प्रा० पा०—ज्ञान० ।

धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः ।

स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥

सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।

नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।

तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥१०॥

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।

सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।

त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥

संस्कारा यदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् ।

इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।

जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥१३॥

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।

राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः ॥१४॥

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥१५॥

युधिष्ठिर! सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिससे आत्मग्लानि न होकर आत्मप्रसादकी उपलब्धि हो, वह कर्म धर्मके मूल हैं ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ ८–१२ ॥

धर्मराज जिनके वंशमें अखण्डरूपसे संस्कार होते आये हैं और जिन्हें ब्रह्माजीने संस्कारके योग्य स्वीकार किया है, उन्हें द्विज कहते हैं। जन्म और कर्मसे शुद्ध द्विजोंके लिये यज्ञ, अध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंके विशेष कर्मोंका विधान है ॥ १३ ॥ अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना और यज्ञ करना, यज्ञ कराना—ये छः कर्म ब्राह्मणके हैं। क्षत्रियको दान नहीं लेना चाहिये। प्रजाकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियका जीवन-निर्वाह ब्राह्मणके सिवा और सबसे यथायोग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदिके द्वारा होता है ॥१४॥ वैश्यको सर्वदा ब्राह्मणवंशका अनुयायी रहकर गोरक्षा, कृषि एवं व्यापारके द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिये। शूद्रका धर्म है द्विजातियोंकी सेवा। उसकी जीविकाका निर्वाह उसका स्वामी करता है ॥ १५ ॥

१. प्रा० पा०—सर्वभूतमयो। २. प्रा० पा०—विपर्ययहेक्षा। ३. प्रा० पा०—नतिः सख्यं दास्यमात्म०। ४. प्रा० पा०—वान् साक्षात्सर्वा०। ५. प्रा० पा०—स्त्रिद्विदा वैदिकादयः। ६. प्रा० पा०—तथा शिष्टपरिग्रहः। ७. प्रा० पा०—वृत्तिः स्यान्नित्यं।

वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥१६॥
जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥१७॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥१८॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥१९॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥२०॥
शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥२१॥
शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥२२॥
देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम् ॥२३॥
शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥२४॥

ब्राह्मणके जीवन-निर्वाहके साधन चार प्रकारके हैं—वार्ता, शालीन, यायावर और शिलोञ्छन । इनमेंसे पीछे-पीछेकी वृत्तियाँ अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हैं ॥१६॥ निम्नवर्णका पुरुष बिना आपत्तिकालके उत्तम वर्णकी वृत्तियोंका अवलम्बन न करे । क्षत्रिय दान लेना छोड़कर ब्राह्मणकी शेष पाँचों वृत्तियोंका अवलम्बन ले सकता है। आपत्तिकालमें सभी सब वृत्तियों-को स्वीकार कर सकते हैं ॥ १७ ॥ ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिका आश्रय ले, परंतु श्वानवृत्तिका अवलम्बन कभी न करे ॥१८॥ बाजारमें पड़े हुए अन्न (उञ्छ) तथा खेतोंमें पड़े हुए अन्न (शिल) को बीनकर 'शिलोञ्छ' वृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना 'ऋत' है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसी अयाचित (शालीन) वृत्तिके द्वारा जीवन-निर्वाह करना 'अमृत' है। नित्य माँगकर लाना अर्थात् 'यायावर' वृत्तिके द्वारा जीवन-यापन करना 'मृत' है । कृषि आदिके द्वारा 'वार्ता' वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करना 'प्रमृत' है॥१९॥ वाणिज्य 'सत्यानृत' है और निम्नवर्णकी सेवा करना 'श्वानवृत्ति' है। ब्राह्मण और क्षत्रियको इस अन्तिम निन्दित वृत्तिका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये ; क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय और क्षत्रिय (राजा) सर्वदेवमय है ॥२०॥

शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं।२१। युद्धमें उत्साह, वीरता, धीरता, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियके लक्षण हैं ॥२२॥ देवता, गुरु और भगवान्‌के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंकी रक्षा करना; आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्यके लक्षण हैं ॥ २३ ॥ उच्च वर्णोंके सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रोंसे रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—ये शूद्रके लक्षण हैं ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—शालीना याज्ञ्जीवं शिलोञ्छनम् । २. प्रा० पा०—देवगुर्वनुगा भक्ति० । ३. प्रा० पा०—परितोषणम् ।

१. यज्ञाध्ययनादि कराकर धन लेना । २. बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसीमें निर्वाह करना । ३. नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना । ४. किसानके खेत काटकर अन्न घरको ले जानेपर पृथ्वीपर जो कण पड़े रह जाते हैं, उन्हें 'शिल' तथा बाजारमें पड़े हुए अन्नके दानोंको 'उञ्छ' कहते हैं। उन शिल और उञ्छोंको बीनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छन' वृत्ति है ।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥२५॥
संमार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥२६॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम् ॥२७॥
संतुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥२८॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥२९॥
वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम् ॥३०॥
प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥३१॥
वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥३२॥
उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् ।
न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति ॥३३॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।

पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके सम्बन्धियोंको प्रसन्न रखना और सर्वदा पतिके नियमोंकी रक्षा करना—ये पतिको ही ईश्वर माननेवाली पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं ॥ २५ ॥ साध्वी स्त्रीको चाहिये कि झाड़ने-बुहारने, लीपने तथा चौक पूरने आदिसे घरको और मनोहर वस्त्राभूषणोंसे अपने शरीरको अलङ्कृत रक्खे। सामग्रियोंको साफ-सुथरी रक्खे ॥ २६ ॥ अपने पतिदेवकी छोटी-बड़ी इच्छाओंको समयके अनुसार पूर्ण करे। विनय, इन्द्रियसंयम, सत्य एवं प्रिय वचनोंसे प्रेमपूर्वक पतिदेवकी सेवा करे ॥ २७ ॥ जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहे; किसी भी वस्तुके लिये ललचावे नहीं। सभी कार्योंमें चतुर एवं धर्मज्ञ हो। सत्य और प्रिय बोले। अपने कर्तव्यमें सावधान रहे। पवित्रता और प्रेमसे परिपूर्ण रहकर, यदि पति पतित न हो तो, उसका सहवास करे ॥ २८ ॥ जो लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर अपने पतिकी उसे साक्षात् भगवान्का स्वरूप समझकर सेवा करती है, उसके पतिदेव वैकुण्ठलोकमें भगवत्सारूप्यको प्राप्त होते हैं और वह लक्ष्मीजीके समान उनके साथ आनन्दित होती है ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! जो चोरी तथा अन्यान्य पाप-कर्म नहीं करते—उन अन्त्यज तथा चाण्डाल आदि अन्तेवसायी वर्णसङ्कर जातियोंकी वृत्तियाँ वे ही हैं, जो कुल-परम्परासे उनके यहाँ चली आयी हैं ॥३०॥ वेददर्शी ऋषि-मुनियोंने युग-युगमें प्रायः मनुष्योंके स्वभावके अनुसार धर्मकी व्यवस्था की है। वही धर्म उनके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी है ॥३१॥ जो स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय लेकर अपने स्वधर्मका पालन करता है, वह धीरे-धीरे उन स्वाभाविक कर्मोंसे भी ऊपर उठ जाता है और गुणातीत हो जाता है ॥३२॥ महाराज ! जिस प्रकार बार-बार बोनेसे खेत स्वयं ही शक्तिहीन हो जाता है और उसमें अङ्कुर उगना बंद हो जाता है, यहाँतक कि उसमें बोया हुआ बीज भी नष्ट हो जाता है—उसी प्रकार यह चित्त, जो वासनाओंका खजाना है, विषयोंका अत्यन्त सेवन करनेसे स्वयं ही

१. प्रा० पा०—सदा। २. प्रा० पा०—यथा। ३. प्रा० पा०—देवदृग्भिः। ४. प्रा० पा०—कर्मकृत्।

विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामबिन्दुभिः ॥३४॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत् ॥३५॥

ऊब जाता है । परंतु स्वल्प भोगोंसे ऐसा नहीं होता । जैसे एक-एक बूँद घी डालनेसे आग नहीं बुझती, परंतु एक ही साथ अधिक घी पड़ जाय तो वह बुझ जाती है ॥ ३३-३४ ॥ जिस पुरुषके वर्णको बतलानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे[1]
युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंके नियम

नारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥
सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् ।
उभे[2] सन्ध्ये च यतवाग् जपन्ब्रह्म समाहितः ॥ २ ॥
छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्[3] सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३ ॥
मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४ ॥
सायं प्रातश्चरेद् भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो[4] नो चेदुपवसेत् क्वचित् ॥ ५ ॥
सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥
वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः ।

नारदजी कहते हैं—धर्मराज ! गुरुकुलमें निवास करनेवाला ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर दासके समान अपनेको छोटा माने, गुरुदेवके चरणोंमें सुदृढ अनुराग रक्खे और उनके हितके कार्य करता रहे ॥१॥ सायंकाल और प्रातःकाल गुरु, अग्नि, सूर्य और श्रेष्ठ देवताओंकी उपासना करे और मौन होकर एकाग्रतासे गायत्रीका जप करता हुआ दोनों समयकी सन्ध्या करे ॥२॥ गुरुजी जब बुलावें तभी पूर्णतया अनुशासनमें रहकर उनसे वेदोंका स्वाध्याय करे । पाठके प्रारम्भ और अन्तमें उनके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करे ॥ ३ ॥ शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथमें कुश धारण करे ॥ ४ ॥ सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षा माँगकर लावे और उसे गुरुजीको समर्पित कर दे । वे आज्ञा दें, तब भोजन करे और यदि कभी आज्ञा न दें तो उपवास कर ले ॥ ५ ॥ अपने शीलकी रक्षा करे । थोड़ा खाय । अपने कामोंको निपुणताके साथ करे । श्रद्धा रक्खे और इन्द्रियोंको अपने वशमें रक्खे । स्त्री और स्त्रियोंके वशमें रहनेवालोंके साथ जितनी आवश्यकता हो, उतना ही व्यवहार करे ॥ ६ ॥ जो गृहस्थ नहीं है और ब्रह्मचर्यका व्रत लिये हुए है, उसे स्त्रियोंकी चर्चासे ही अलग रहना

१. प्रा० पा०—स्कन्धे सदाचारविनिर्णय एका० । २. प्रा० पा०—सन्ध्ये उभे । ३. प्रा० पा०—तश्चेह यन्त्रितः । ४. प्रा० पा०—तदनु० ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७ ॥

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।

गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८ ॥

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।

सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥

कल्पयित्वाऽऽत्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।

द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥१०॥

एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।

गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥११॥

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।

स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः ॥१२॥

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।

त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥१३॥

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।

गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत् ॥१४॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् ।

भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥१५॥

चाहिये । इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं । ये प्रयत्नपूर्वक साधन करनेवालोंके मनको भी क्षुब्ध करके खींच लेती हैं ॥ ७ ॥ युवक ब्रह्मचारी युवती गुरुपत्नियोंसे बाल सुलझवाना, शरीर मलवाना, स्नान करवाना, उबटन लगवाना इत्यादि कार्य न करावे ॥ ८ ॥ स्त्रियाँ आगके समान हैं और पुरुष घीके घड़ेके समान । एकान्तमें तो अपनी कन्याके साथ भी न रहना चाहिये । जब वह एकान्तमें न हो, तब भी आवश्यकताके अनुसार ही उसके पास रहना चाहिये ॥ ९ ॥ जबतक यह जीव आत्मसाक्षात्कारके द्वारा इन देह और इन्द्रियोंको प्रतीतिमात्र निश्चय करके स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तबतक 'मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है'—यह द्वैत नहीं मिटता और तबतक यह भी निश्चित है कि ऐसे पुरुष यदि स्त्रीके संसर्गमें रहेंगे, तो उनकी उनमें भोग्य-बुद्धि हो ही जायगी ॥ १० ॥

ये सब शील-रक्षादि गुण गृहस्थके लिये और संन्यासी-के लिये भी विहित हैं । गृहस्थके लिये गुरुकुलमें रहकर गुरुकी सेवा-शुश्रूषा वैकल्पिक है, क्योंकि ऋतुगमनके कारण उसे वहाँसे अलग भी होना पड़ता है ॥ ११ ॥ जो ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करें, उन्हें चाहिये कि वे सुरमा या तेल न लगावें । उबटन न मलें, स्त्रियोंके चित्र न बनावें । मांस और मद्यसे कोई सम्बन्ध न रक्खें । फूलोंके हार, इत्र-फुलेल, चन्दन और आभूषणोंका त्याग कर दें ॥ १२ ॥ इस प्रकार गुरुकुलमें निवास करके द्विजातिको अपनी शक्ति और आवश्यकताके अनुसार वेद, उनके अङ्ग—शिक्षा, कल्प आदि और उपनिषदों-का अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १३ ॥ फिर यदि सामर्थ्य हो तो गुरुको मुँहमाँगी दक्षिणा देनी चाहिये । इसके बाद उनकी आज्ञासे गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे या आजीवन ब्रह्म-चर्यका पालन करते हुए उसी आश्रममें रहे ॥ १४ ॥ यद्यपि भगवान् स्वरूपतः सर्वत्र एकरस स्थित हैं, अतएव उनका कहीं प्रवेश करना या निकलना नहीं हो सकता —फिर भी अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अपने आश्रित जीवोंके साथ वे विशेषरूपसे विराजमान हैं । इसलिये उनपर सदा दृष्टि जमी रहनी चाहिये ॥१५॥

१. प्रा० पा०—घृतकुम्भः पुमानतः । २. प्रा० पा०—कामिनः । ३. प्रा० पा०—लोकामिषं ।

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।
चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१६॥

इस प्रकार आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ विज्ञानसम्पन्न होकर परब्रह्म-तत्त्वका अनुभव प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसंम्मतान् ।
यैरनातिष्ठन् मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा ॥१७॥
न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥१८॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान् ।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत् ॥१९॥
अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम् ।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम् ॥२०॥
केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥२१॥
चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥२२॥

अब मैं ऋषियोंके मतानुसार वानप्रस्थ-आश्रमके नियम बतलाता हूँ । इनका आचरण करनेसे वानप्रस्थ-आश्रमीको अनायास ही ऋषियोंके लोक महर्लोककी प्राप्ति हो जाती है ॥ १७ ॥ वानप्रस्थ आश्रमीको जोती हुई भूमिमें उत्पन्न होनेवाले चावल, गेहूँ आदि अन्न नहीं खाने चाहिये । बिना जोते पैदा हुआ अन्न भी यदि असमयमें पका हो, तो उसे भी न खाना चाहिये । आगसे पकाया हुआ या कच्चा अन्न भी न खाय । केवल सूर्यके तापसे पके हुए कन्द, मूल, फल आदिका ही सेवन करे ॥१८॥ जंगलोंमें अपने-आप पैदा हुए धान्यों-से नित्यनैमित्तिक चरु और पुरोडाशका हवन करे । जब नये-नये अन्न, फल, फूल आदि मिलने लगें, तब पहले-के इकट्ठे किये हुए अन्नका परित्याग कर दे ॥ १९ ॥ अग्निहोत्रके अग्निकी रक्षाके लिये ही घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़की गुफाका आश्रय ले । स्वयं शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और घामका सहन करे ॥ २० ॥ सिरपर जटा धारण करे और केश रोम, नख एवं दाढ़ी-मूँछ न कटवाने तथा मैलको भी शरीरसे अलग न करे । कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कल-वस्त्र और अग्निहोत्रकी सामग्रियों-को अपने पास रक्खे ॥ २१ ॥ विचारवान् पुरुषको चाहिये कि बारह, आठ, चार, दो या एक वर्षतक वानप्रस्थ-आश्रमके नियमोंका पालन करे । ध्यान रहे कि कहीं अधिक तपस्याका क्लेश सहन करनेसे बुद्धि बिगड़ न जाय ॥ २२ ॥

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाँथवा ।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ॥२३॥
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम् ।

वानप्रस्थी पुरुष जब रोग अथवा बुढ़ापेके कारण अपने कर्म पूरे न कर सके और वेदान्त-विचार करनेकी भी सामर्थ्य न रहे, तब उसे अनशन आदि व्रत करने चाहिये ॥ २३ ॥ अनशनके पूर्व ही वह अपने आहवनीय आदि अग्नियोंको अपनी आत्मामें लीन कर ले । 'मैंपन' और

१. प्रा० पा०—संगताम् । २. प्रा० पा०—तथाति० । ३. प्रा० पा०—हौजसा । ४. प्रा० पा०—पैन्नित्यनोदितान् । ५. प्रा० पा०—कन्दरम् । ६. प्रा० पा०—तपमाश्रयम् । ७. प्रा० पा०—योत वा ।

कारणेषु[1] न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः ॥२४॥
खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान् ।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् ॥२५॥
वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि ।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥२६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् ।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन [2]स्पर्शमध्यात्मनि त्वचम् ॥२७॥
रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्ष्व[3]भिनिवेशयेत् ।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥२८॥
मनो मनोरथैश्चन्द्रे[4] बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे ।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया ।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥२९॥
अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च[5] तत् ॥३०॥
इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।

मेरेपन'का त्याग करके शरीरको उसके कारणभूत तत्त्वोंमें यथायोग्य भलीभाँति लीन करे ॥ २४ ॥ जितेन्द्रिय पुरुष अपने शरीरके छिद्राकाशोंको आकाशमें, प्राणोंको वायुमें, गरमीको अग्निमें, रक्त, कफ, पीब आदि जलीय तत्त्वोंको जलमें और हड्डी आदि ठोस वस्तुओंको पृथ्वीमें लीन करे ॥ २५ ॥ इसी प्रकार वाणी और उसके कर्म भाषणको उसके अधिष्ठातृ देवता अग्निमें, हाथ और उसके द्वारा होनेवाले कला-कौशलको इन्द्रमें, चरण और उसकी गतिको काल-स्वरूप विष्णुमें, रति और उपस्थको प्रजापतिमें एवं पायु और मलोत्सर्गको उनके आश्रयके अनुसार मृत्युमें लीन कर दे । श्रोत्र और उसके द्वारा सुने जानेवाले शब्दको दिशाओंमें, स्पर्श और त्वचाको वायुमें, नेत्रसहित रूपको ज्योतिमें, मधुर आदि रसके सहित* रसनेन्द्रियको जलमें और युधिष्ठिर ! घ्राणेन्द्रिय एवं उसके द्वारा सूँघे जानेवाले गन्धको पृथ्वीमें लीन कर दे ॥२६—२८॥ मनोरथोंके साथ मनको चन्द्रमामें, समझमें आनेवाले पदार्थोंके सहित बुद्धिको ब्रह्मामें तथा अहंता और ममतारूप क्रिया करनेवाले अहङ्कारको उसके कर्मोंके साथ रुद्रमें लीन कर दे । इसी प्रकार चेतना-सहित चित्तको क्षेत्रज्ञ (जीव) में और गुणोंके कारण विकारी-से प्रतीत होनेवाले जीवको परब्रह्ममें लीन कर दे ॥ २९ ॥ साथ ही पृथ्वीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अहङ्कारमें, अहङ्कारका महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वका अव्यक्तमें और अव्यक्त-का अविनाशी परमात्मामें लय कर दे ॥ ३० ॥ इस प्रकार अविनाशी परमात्माके रूपमें अवशिष्ट जो चिद्वस्तु है, वह आत्मा है, वह मैं हूँ—यह जानकर अद्वितीय भावमें स्थित हो जाय । जैसे अपने आश्रय काष्ठादिके

१. प्रा० पा०—कारणे विन्यसेत् । २. प्रा० पा०—स्पर्शेनाध्यात्मचिन्तनम् । ३. प्रा० पा०—ज्योतिःष्व० । ४. प्रा० पा०—मनोरथे शुद्धे बुद्धौ वाचं तथार्पयेत् । ५. प्रा० पा०—तु ।

* यहाँ मूलमें 'प्रचेतसा' पद है, जिसका अर्थ 'वरुणके सहित' होता है । वरुण रसनेन्द्रियके अधिष्ठाता हैं । श्रीधर स्वामीने भी इसी मतको स्वीकार किया है । परंतु इस प्रसङ्गमें सर्वत्र इन्द्रिय और उसके विषयका अधिष्ठातृदेवमें लय करना बताया गया है, फिर रसनेन्द्रियके लिये ही नया क्रम युक्तियुक्त नहीं जँचता । इसलिये यहाँ श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके मतानुसार 'प्रचेतसा'पदका ('प्रकृष्टं चेतो यत्र स प्रचेतो मधुरादिरसस्तेन'—जिसकी ओर चित्त अधिक आकृष्ट हो, वह मधुरादि-रस 'प्रचेतस्' है, उसके सहित) इस विग्रहके अनुसार प्रस्तुत अर्थ किया गया है और यही युक्तियुक्त मालूम होता है ।

ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ॥३१॥

भस्म हो जानेपर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वैसे ही वह भी उपरत हो जाय ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे[1] युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

यतिधर्मका निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद-संवाद

नारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य[2] देहमात्रावशेषितः ।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥
बिभृयाद् यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत्[3] किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥
एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥
पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये ।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥
सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५ ॥
नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।
कालं परं प्रतीक्षेत[4] भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।

नारदजी कहते हैं—धर्मराज ! यदि वानप्रस्थीमें ब्रह्मविचारका सामर्थ्य हो, तो शरीरके अतिरिक्त और सब कुछ छोड़कर वह संन्यास ले ले; तथा किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान और समयकी अपेक्षा न रखकर एक गाँवमें एक ही रात ठहरनेका नियम लेकर पृथ्वीपर विचरण करे ॥ १ ॥ यदि वह वस्त्र पहने तो केवल कौपीन, जिससे उसके गुप्त अङ्ग ढक जायँ । और जबतक कोई आपत्ति न आवे, तबतक दण्ड तथा अपने आश्रमके चिह्नोंके सिवा अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण न करे ॥ २ ॥ संन्यासीको चाहिये कि वह समस्त प्राणियोंका हितैषी हो, शान्त रहे, भगवत्परायण रहे और किसीका आश्रय न लेकर अपने-आपमें ही रमे एवं अकेला ही विचरे ॥ ३ ॥ इस सम्पूर्ण विश्वको कार्य और कारणसे अतीत परमात्मामें अध्यस्त जाने और कार्य-कारणस्वरूप इस जगत्‌में ब्रह्मस्वरूप अपने आत्माको परिपूर्ण देखे ॥ ४ ॥ आत्मदर्शी संन्यासी सुषुप्ति और जागरणकी सन्धिमें अपने स्वरूपका अनुभव करे और बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही केवल माया हैं, वस्तुतः कुछ नहीं — ऐसा समझे ॥ ५ ॥ न तो शरीरकी अवश्य होनेवाली मृत्युका अभिनन्दन करे और न अनिश्चित जीवनका । केवल समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके कारण कालकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ ६ ॥ असत्य—अनात्मवस्तुका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंसे प्रीति न करे । अपने जीवन-निर्वाहके लिये कोई जीविका

१. प्रा० पा०—स्कन्धे आश्रमलक्षणविधिर्द्वाद० । २. प्रा० पा०—परित्यज्य । ३. प्रा० पा०—लिङ्गदण्डादे० । ४. प्रा० पा०—परीक्षेत ।

वादवादांस्त्यजेत् तर्कान्पक्षं कं[1] च न संश्रयेत्॥ ७॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥ ८॥
न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्॥ ९॥
अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥१०॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥११॥
तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम्॥१२॥
ददर्श लोकान्विचरँल्लोकतत्त्वविवित्सया।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः॥१३॥
कर्मणाऽऽकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च॥१४॥
तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन्।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः॥१५॥
बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा।
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा॥१६॥
न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः।

न करे, केवल वाद-विवादके लिये कोई तर्क न करे और संसारमें किसीका पक्ष न ले॥ ७॥ शिष्य-मण्डली न जुटावे, बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे, व्याख्यान न दे और बड़े-बड़े कामोंका आरम्भ न करे॥ ८॥ शान्त, समदर्शी एवं महात्मा संन्यासीके लिये किसी आश्रमका बन्धन धर्मका कारण नहीं है। वह अपने आश्रमके चिह्नोंको धारण करे, चाहे छोड़ दे॥ ९॥ उसके पास कोई आश्रमका चिह्न न हो, परंतु वह आत्मानुसंधानमें मग्न हो। हो तो अत्यन्त विचारशील परंतु जान पड़े पागल और बालककी तरह। वह अत्यन्त प्रतिभाशील होनेपर भी साधारण मनुष्योंकी दृष्टिसे ऐसा जान पड़े मानो कोई गूँगा है॥ १०॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हैं। वह है दत्तात्रेय मुनि और भक्तराज प्रह्लादका संवाद॥ ११॥ एक बार भगवान्के परम प्रेमी प्रह्लादजी कुछ मन्त्रियोंके साथ लोगोंके हृदयकी बात जाननेकी इच्छासे लोकोंमें विचरण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि सह्य पर्वतकी तलहटीमें कावेरी नदीके तटपर पृथ्वीपर ही एक मुनि पड़े हुए हैं। उनके शरीर-की निर्मल ज्योति अङ्गोंके धूलि-धूसरित होनेके कारण ढकी हुई थी॥ १२-१३॥ उनके कर्म, आकार, वाणी और वर्ण-आश्रम आदिके चिह्नोंसे लोग यह नहीं समझ सकते थे कि वे कोई सिद्ध पुरुष हैं या नहीं॥ १४॥ भगवान्के परम प्रेमी भक्त प्रह्लादजीने अपने सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श करके प्रणाम किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा करके जाननेकी इच्छासे यह प्रश्न किया॥ १५॥ 'भगवन्! आपका शरीर उद्योगी और भोगी पुरुषोंके समान हृष्ट-पुष्ट है। संसारका यह नियम है कि उद्योग करनेवालोंको धन मिलता है, धनवालोंको ही भोग प्राप्त होता है और भोगियोंका ही शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है। और कोई दूसरा कारण तो हो नहीं सकता॥ १६॥ भगवन्! आप कोई उद्योग तो करते नहीं, यों ही पड़े रहते हैं। इसलिये आपके पास धन है नहीं। फिर

१. प्रा० पा०—कञ्चन नाश्रयेत्। २. प्रा० पा०—रन्त्येतमि०। ३. प्रा० पा०—बुभुत्सया। ४. प्रा० पा०—तम्। ५. प्रा० पा०—पतन्।

अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत् ॥१७॥
कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः ।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥१८॥

नारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः ।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥१९॥

ब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः ।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥२०॥
यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्गतः सदा ।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्॥२१॥
अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम् ।
सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम्॥२२॥
तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया ।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥२३॥
यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥२४॥
अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये ।

आपको भोग कहाँसे प्राप्त होंगे ? ब्राह्मणदेवता ! बिना भोगके ही आपका यह शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट कैसे है ? यदि हमारे सुननेयोग्य हो, तो अवश्य बतलाइये ॥१७॥ आप विद्वान्, समर्थ और चतुर हैं। आपकी बातें बड़ी अद्भुत और प्रिय होती हैं। ऐसी अवस्थामें आप सारे संसारको कर्म करते हुए देखकर भी समभावसे पड़े हुए हैं, इसका क्या कारण है ?' ॥ १८ ॥

नारदजी कहते हैं—धर्मराज ! जब प्रह्लादजीने महामुनि दत्तात्रेयजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब वे उनकी अमृतमयी वाणीके वशीभूत हो मुसकराते हुए बोले ॥ १९ ॥

दत्तात्रेयजीने कहा—दैत्यराज ! सभी श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारा सम्मान करते हैं। मनुष्योंको कर्मोंकी प्रवृत्ति और उनकी निवृत्तिका क्या फल मिलता है, यह बात तुम अपनी ज्ञानदृष्टिसे जानते ही हो ॥ २० ॥ तुम्हारी अनन्य भक्तिके कारण देवाधिदेव भगवान् नारायण सदा तुम्हारे हृदयमें विराजमान रहते हैं और जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वे तुम्हारे अज्ञानको नष्ट करते रहते हैं ॥ २१ ॥ तो भी प्रह्लाद ! मैंने जैसा कुछ जाना है, उसके अनुसार मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। क्योंकि आत्मशुद्धिके अभिलाषियोंको तुम्हारा सम्मान अवश्य करना चाहिये ॥ २२ ॥

प्रह्लादजी ! तृष्णा एक ऐसी वस्तु है, जो इच्छानुसार भोगोंके प्राप्त होनेपर भी पूरी नहीं होती। उसीके कारण जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़ता है। तृष्णाने मुझसे न जाने कितने कर्म करवाये और उनके कारण न जाने कितनी योनियोंमें मुझे डाला ॥ २३ ॥ कर्मोंके कारण अनेकों योनियोंमें भटकते-भटकते दैववश मुझे यह मनुष्ययोनि मिली है, जो स्वर्ग, मोक्ष, तिर्यग्योनि तथा इस मानवदेहकी भी प्राप्तिका द्वार है—इसमें पुण्य करें तो स्वर्ग, पाप करें तो पशु-पक्षी आदिकी योनि, निवृत्त हो जायँ तो मोक्ष और दोनों प्रकारके कर्म किये जायँ तो फिर मनुष्य-योनिकी ही प्राप्ति हो सकती है ॥ २४ ॥ परंतु मैं देखता हूँ कि संसारके स्त्री-पुरुष कर्म तो करते हैं सुखकी प्राप्ति और दुःखकी

कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥२५॥

निवृत्तिके लिये; परंतु उसका फल उलटा ही होता है—वे और भी दुःखमें पड़ जाते हैं। इसीलिये मैं कर्मोंसे उपरत हो गया हूँ ॥ २५ ॥

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनःसंस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन् २६

सुख ही आत्माका स्वरूप है। समस्त चेष्टाओंकी निवृत्ति ही उसका शरीर—उसके प्रकाशित होनेका स्थान है। इसलिये समस्त भोगोंको मनोराज्य मात्र समझकर मैं अपने प्रारब्धको भोगता हुआ पड़ा रहता हूँ ॥ २६ ॥

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥२७॥

मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् वास्तविक सुखको, जो अपना स्वरूप ही है, भूलकर इस मिथ्या द्वैतको सत्य मानता हुआ अत्यन्त भयङ्कर और विचित्र जन्मों और मृत्युओंमें भटकता रहता है ॥ २७ ॥

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः ॥२८॥

जैसे अज्ञानी मनुष्य जलमें उत्पन्न तिनके और सेवारसे ढके हुए जलको जल न समझकर जलके लिये मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अपनी आत्मासे भिन्न वस्तुमें सुख समझनेवाला पुरुष आत्माको छोड़कर विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥ २८ ॥

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः२९

प्रह्लादजी! शरीर आदि तो प्रारब्धके अधीन हैं। उनके द्वारा जो अपने लिये सुख पाना और दुःख मिटाना चाहता है, वह कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता। उसके बार-बार किये हुए सारे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥ २९ ॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥३०॥

मनुष्य सर्वदा शारीरिक, मानसिक आदि दुःखोंसे आक्रान्त ही रहता है। मरणशील तो है ही, यदि उसने बड़े श्रम और कष्टसे कुछ धन और भोग प्राप्त कर भी लिया तो क्या लाभ है? ॥ ३० ॥

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥३१॥

लोभी और इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले धनियोंका दुःख तो मैं देखता ही रहता हूँ। भयके मारे उन्हें नींद नहीं आती। सबपर उनका संदेह बना रहता है ॥ ३१ ॥

राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्॥३२॥

जो जीवन और धनके लोभी हैं—वे राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु-पक्षी, याचक और कालसे, यहाँतक कि 'कहीं मैं भूल न कर बैठूँ, अधिक न खर्च कर दूँ'—इस आशङ्कासे अपने आपसे भी सदा डरते रहते हैं ॥ ३२ ॥

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः॥३३॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रम आदिका शिकार होना पड़ता है—उस धन और जीवनकी स्पृहाका त्याग कर दे ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—स्मनि । २. प्रा० पा०—तृष्णां प्रधावेय तथान्य० । ३. प्रा० पा०—स्पृहाः ।

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥३४॥
विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद् वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥३५॥
अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥३६॥
क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा ।
क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ॥३७॥
श्रद्धयोपाहृतं[1] क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् ।
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नक्तं यदृच्छया ॥३८॥
क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम् ॥३९॥
क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥४०॥
क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः[3] ।
रथेभाश्वैश्चरे[4] क्वापि दिग्वासा ग्रहवद् विभो ॥४१॥
नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥४२॥
विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।

इस लोकमें मेरे सबसे बड़े गुरु हैं—अजगर और मधुमक्खी । उनकी शिक्षासे हमें वैराग्य और संतोष-की प्राप्ति हुई है ॥ ३४ ॥ मधुमक्खी जैसे मधु इकट्ठा करती है, वैसे ही लोग बड़े कष्टसे धन-संचय करते हैं; परंतु दूसरा ही कोई उस धन-राशिके स्वामीको मारकर उसे छीन लेता है । इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि विषय-भोगोंसे विरक्त ही रहना चाहिये ॥ ३५ ॥ मैं अजगरके समान निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ और दैववश जो कुछ मिल जाता है, उसी-में संतुष्ट रहता हूँ । और यदि कुछ नहीं मिलता तो बहुत दिनोंतक धैर्य धारण कर यों ही पड़ा रहता हूँ ॥ ३६ ॥ कभी थोड़ा अन्न खा लेता हूँ तो कभी बहुत; कभी स्वादिष्ट तो कभी नीरस—बेस्वाद; और कभी अनेकों गुणोंसे युक्त, तो कभी सर्वथा गुण-हीन ॥ ३७ ॥ कभी बड़ी श्रद्धासे प्राप्त हुआ अन्न खाता हूँ तो कभी अपमानके साथ । और किसी-किसी समय अपने-आप ही मिल जानेपर कभी दिन-में, कभी रातमें और कभी एक बार भोजन करके भी दुबारा कर लेता हूँ ॥ ३८ ॥ मैं अपने प्रारब्धके भोगमें ही संतुष्ट रहता हूँ । इसलिये मुझे रेशमी या सूती, मृगचर्म या चीर, वल्कल या और कुछ—जैसा भी वस्त्र मिल जाता है, वैसा ही पहन लेता हूँ ॥३९॥ कभी मैं पृथ्वी, घास, पत्ते, पत्थर या राखके ढेरपर ही पड़ रहता हूँ, तो कभी दूसरोंकी इच्छासे महलोंमें पलँगों और गद्दोंपर सो लेता हूँ ॥ ४० ॥ दैत्यराज ! कभी नहा-धोकर, शरीरमें चन्दन लगाकर सुन्दर वस्त्र, फूलोंके हार और गहने पहन रथ, हाथी और घोड़ेपर चढ़कर चलता हूँ, तो कभी पिशाचके समान बिल्कुल नंग-धड़ंग विचरता हूँ ॥ ४१ ॥ मनुष्योंके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते ही हैं । अतः न तो मैं किसीकी निन्दा करता हूँ और न स्तुति ही । मैं केवल इनका परम कल्याण और परमात्मासे एकता चाहता हूँ ॥ ४२ ॥

सत्यका अनुसन्धान करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि जो नाना प्रकारके पदार्थ और उनके भेद-विभेद

1. प्रा० पा०—हीनं ततः क्व० । 2. प्रा० पा०—योपगतं चापि । 3. प्रा० पा०—स्रगलंकृतः । 4. प्रा० पा०—रथेनाश्वै० ।

मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु ॥४३॥

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ् मुनिः ।

ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः ४४

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।

व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः ॥४५॥

नारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः ।

पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥४६॥

मालूम पड़ रहे हैं, उनको चित्तवृत्तिमें हवन कर दे। चित्तवृत्तिको इन पदार्थोंके सम्बन्धमें विविध भ्रम उत्पन्न करनेवाले मनमें, मनको सात्त्विक अहङ्कारमें और सात्त्विक अहङ्कारको महत्तत्त्वके द्वारा मायामें हवन कर दे। इस प्रकार ये सब भेद-विभेद और उनका कारण माया ही है, ऐसा निश्चय करके फिर उस मायाको आत्मानुभूतिमें स्वाहा कर दे। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कारके द्वारा आत्मस्वरूपमें स्थित होकर निष्क्रिय एवं उपरत हो जाय ॥ ४३-४४ ॥ प्रह्लादजी ! मेरी यह आत्मकथा अत्यन्त गुप्त एवं लोक और शास्त्रसे परेकी वस्तु है। तुम भगवान्‌के अत्यन्त प्रेमी हो, इस लिये मैंने तुम्हारे प्रति इसका वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

नारदजी कहते हैं—महाराज ! प्रह्लादजीने दत्ता-त्रेय मुनिसे परमहंसोंके इस धर्मका श्रवण करके उनकी पूजा की और फिर उनसे विदा लेकर बड़ी प्रसन्नतासे अपनी राजधानीके लिये प्रस्थान किया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे यतिधर्मे[3] त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गृहस्थसम्बन्धी सदाचार

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा ।

याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

नारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन्गृहोचिताः ।

वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥

शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् ।

श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षि नारदजी ! मेरे-जैसा गृहासक्त गृहस्थ बिना विशेष परिश्रमके इस पद-को किस साधनसे प्राप्त कर सकता है, आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर ! मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहे और गृहस्थ-धर्मके अनुसार सब काम करे, परंतु उन्हें भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दे और बड़े-बड़े संत-महात्माओंकी सेवा भी करे ॥ २ ॥ अवकाशके अनुसार विरक्त पुरुषोंमें निवास करे और बार-बार श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के अवतारोंकी लीला-सुधाका पान

१. प्रा० पा०—जुहोम्यहम् । २. प्रा० पा०—मयैतत्ते । ३. प्रा० पा०—यतिधर्मस्त्रयो० । ४. प्रा० पा०—गृहे व्यवस्थितो ।

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।

विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४ ॥

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।

विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।

यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।

तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः ॥ ७ ॥

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।

आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।

यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥ १० ॥

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद् यथा ।

अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥ ११ ॥

जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम् ।

करता रहे ॥ ३ ॥ जैसे स्वप्न टूट जानेपर मनुष्य स्वप्नके सम्बन्धियोंसे आसक्त नहीं रहता—वैसे ही ज्यों-ज्यों सत्सङ्गके द्वारा बुद्धि शुद्ध हो, त्यों-ही-त्यों शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिकी आसक्ति स्वयं छोड़ता चले; क्योंकि एक-न-एक दिन ये छूटनेवाले ही हैं ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् पुरुषको आवश्यकताके अनुसार ही घर और शरीरकी सेवा करनी चाहिये, अधिक नहीं । भीतरसे विरक्त रहे और बाहरसे रागीके समान लोगोंमें साधारण मनुष्यों-जैसा ही व्यवहार कर ले ॥ ५ ॥ माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-मित्र, जातिवाले और दूसरे जो कुछ कहें अथवा जो कुछ चाहें, भीतरसे ममता न रखकर उनका अनुमोदन कर दे ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष वर्षा आदिके द्वारा होनेवाले अन्नादि, पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण आदि, अकस्मात् प्राप्त होनेवाले द्रव्य आदि तथा और सब प्रकारके धन भगवान्के ही दिये हुए हैं—ऐसा समझकर प्रारब्धके अनुसार उनका उपभोग करता हुआ संचय न करे, उन्हें पूर्वोक्त साधुसेवा आदि कर्मोंमें लगा दे ॥ ७ ॥ मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय । इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये ॥ ८ ॥ हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, सरीसृप (रेंगकर चलनेवाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्रके समान ही समझे । उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है ॥ ९ ॥ गृहस्थ मनुष्योंको भी धर्म, अर्थ और कामके लिये बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिये; बल्कि देश, काल और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे संतोष करना चाहिये ॥ १० ॥ अपनी समस्त भोग-सामग्रियोंको कुत्ते, पतित और चाण्डालपर्यन्त सब प्राणियोंको यथायोग्य बाँटकर ही अपने काममें लाना चाहिये । और तो क्या अपनी स्त्रीको भी—जिसे मनुष्य समझता है कि यह मेरी है—अतिथि आदिकी निर्दोष सेवामें नियुक्त रक्खे ॥ ११ ॥ लोग स्त्रीके लिये अपने प्राणतक दे डालते हैं । यहाँतक कि अपने माँ-बाप और गुरुको

१. प्रा० पा०—तत्सङ्गा० । २. प्रा० पा०—त्रिवर्गतां निमित्तेन भजेत ।

तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः॥१२॥

क्रृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।

क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः॥१३॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।

शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥१४॥

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्।

स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥१५॥

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।

वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्॥१६॥

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक्।

ईज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः॥१७॥[1]

तस्माद् ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।

तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु॥१८॥

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।[2]

श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान्॥१९॥

अयने विषुवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये।

चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च॥२०॥

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके।

भी मार डालते हैं। उस स्त्रीपरसे जिसने अपनी ममता हटा ली, उसने स्वयं नित्यविजयी भगवान्पर भी विजय प्राप्त कर ली॥ १२॥ यह शरीर अन्तमें कीड़े, विष्ठा या राखकी ढेरी होकर रहेगा। कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और इसके लिये जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री, और कहाँ अपनी महिमासे आकाशको भी ढक रखनेवाला अनन्त आत्मा!॥ १३॥

गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्च-यज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करे। जो बुद्धिमान् पुरुष इसके सिवा और किसी वस्तुमें स्वत्व नहीं रखते, उन्हें संतोंका पद प्राप्त होता है॥ १४॥ अपनी वर्णाश्रमविहित वृत्तिके द्वारा प्राप्त सामग्रियोंसे प्रतिदिन देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत और पितृगणका तथा अपने आत्माका पूजन करना चाहिये। यह एक ही परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें आराधना है॥ १५॥ यदि अपनेको अधिकार आदि यज्ञके लिये आवश्यक सब वस्तुएँ प्राप्त हों तो बड़े-बड़े यज्ञ या अग्निहोत्र आदिके द्वारा भगवान्की आराधना करनी चाहिये॥ १६॥ युधिष्ठिर! वैसे तो समस्त यज्ञोंके भोक्ता भगवान् ही हैं; परंतु ब्राह्मणके मुखमें अर्पित किये हुए हविष्यान्नसे उनकी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्निके मुखमें हवन करनेसे नहीं॥ १७॥ इसलिये ब्राह्मण, देवता, मनुष्य आदि सभी प्राणियोंमें यथायोग्य उनके उपयुक्त सामग्रियोंके द्वारा सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भगवान्की पूजा करनी चाहिये। इनमें प्रधानता ब्राह्मणोंकी ही है॥ १८॥

धनी द्विजको अपने धनके अनुसार आश्विन मासके कृष्णपक्षमें अपने माता-पिता तथा उनके बन्धुओं (पितामह, मातामह आदि) का भी महालय-श्राद्ध करना चाहिये॥ १९॥ इसके सिवा अयन (कर्क एवं मकरकी संक्रान्ति), विषुव (तुला और मेषकी संक्रान्ति), व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहणके समय, द्वादशीके दिन, श्रवण, धनिष्ठा और अनुराधा नक्षत्रों-में, वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया), कार्तिक-

१. प्रा० पा०—इज्यते। २. प्रा० पा०—दपरपक्षीयं मासे।

चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥२१॥

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे ।

राकया चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥२२॥

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः ।

तिसृष्वेकादशी वाऽऽसु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥२३॥

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः ।

कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥२४॥

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम् ।

पितृदेवनृभूतेभ्यो यद् दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥२५॥

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा ।

प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥२६॥

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान् ।

स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥२७॥

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।

यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥२८॥

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।

यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥२९॥

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।

कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥३०॥

शुक्ला नवमी (अक्षय नवमी), अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन—इन चार महीनोंकी कृष्णाष्टमी, माघशुक्ला सप्तमी, माघकी मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा और प्रत्येक महीनेकी वह पूर्णिमा, जो अपने मास-नक्षत्र, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा आदिसे युक्त हो—चाहे चन्द्रमा पूर्ण हों या अपूर्ण; द्वादशी तिथिका अनुराधा, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदाके साथ योग, एकादशी तिथिका तीनों उत्तरा नक्षत्रोंसे योग अथवा जन्म-नक्षत्र या श्रवण नक्षत्रसे योग—ये सारे समय पितृगणोंका श्राद्ध करने योग्य एवं श्रेष्ठ हैं। ये योग केवल श्राद्धके लिये ही नहीं, सभी पुण्यकर्मोंके लिये उपयोगी हैं। ये कल्याणकी साधनाके उपयुक्त और शुभकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं। इन अवसरोंपर अपनी पूरी शक्ति लगाकर शुभ कर्म करने चाहिये। इसीमें जीवनकी सफलता है ॥ २०—२४ ॥ इन शुभ संयोगोंमें जो स्नान, जप, होम, व्रत तथा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा की जाती है अथवा जो कुछ देवता, पितर, मनुष्य एवं प्राणियोंको समर्पित किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है ॥ २५ ॥ युधिष्ठिर! इसी प्रकार स्त्रीके पुंसवन आदि, संतानके जातकर्मादि तथा अपने यज्ञ-दीक्षा आदि संस्कारोंके समय, शव-दाहके दिन या वार्षिक श्राद्धके उपलक्ष्यमें अथवा अन्य माङ्गलिक कर्मोंमें दान आदि शुभ कर्म करने चाहिये ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर! अब मैं उन स्थानोंका वर्णन करता हूँ, जो धर्म आदि श्रेयकी प्राप्ति करानेवाले हैं। सबसे पवित्र देश वह है, जिसमें सत्पात्र मिलते हों ॥ २७ ॥ जिनमें यह सारा चर और अचर जगत् स्थित है, उन भगवान्की प्रतिमा जिस देशमें हो, जहाँ तप, विद्या एवं दया आदि गुणोंसे युक्त ब्राह्मणोंके परिवार निवास करते हों तथा जहाँ-जहाँ भगवान्की पूजा होती हो और पुराणोंमें प्रसिद्ध गङ्गा आदि नदियाँ हों, वे सभी स्थान परम कल्याणकारी हैं ॥ २८-२९ ॥ पुष्कर आदि सरोवर, सिद्ध पुरुषोंके द्वारा सेवित क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग,

१. प्रा० पा०—राकायां। २. प्रा० पा०—जन्मश्रवणयोग०। ३. प्रा० पा०—तत्संस्था च मृता०। ४. प्रा० पा०—परिश्रुताः।

नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ॥३१॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ।
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ॥३२॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये ।
एतान्देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥३३॥
पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः ।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥३४॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु ।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥३५॥
जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥३६॥
पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥३७॥
तेष्वेषु भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥३८॥
दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥३९॥
ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया ।

पुलहाश्रम (शालग्रामक्षेत्र), नैमिषारण्य, फाल्गुनक्षेत्र, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, काशी, मथुरा, पम्पासर, बिन्दुसरोवर, बदरिकाश्रम, अलकनन्दा, भगवान् सीतारामजीके आश्रम—अयोध्या-चित्रकूटादि, महेन्द्र और मलय आदि समस्त कुलपर्वत और जहाँ-जहाँ भगवान्के अर्चावतार हैं—वे सब-के-सब देश अत्यन्त पवित्र हैं। कल्याणकामी पुरुषको बार-बार इन देशोंका सेवन करना चाहिये। इन स्थानोंपर जो पुण्यकर्म किये जाते हैं, मनुष्योंको उनका हजार गुना फल मिलता है ॥ ३०—३३ ॥

युधिष्ठिर! पात्र-निर्णयके प्रसङ्गमें पात्रके गुणोंको जाननेवाले विवेकी पुरुषोंने एकमात्र भगवान्को ही सत्पात्र बतलाया है। यह चराचर जगत् उन्हींका स्वरूप है ॥ ३४ ॥ अभी तुम्हारे इसी यज्ञकी बात है; देवता, ऋषि, सिद्ध और सनकादिकोंके रहनेपर भी अग्रपूजाके लिये भगवान् श्रीकृष्णको ही पात्र समझा गया ॥ ३५ ॥ असंख्य जीवोंसे भरपूर इस ब्रह्माण्डरूप महावृक्षके एकमात्र मूल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिये उनकी पूजासे समस्त जीवोंकी आत्मा तृप्त हो जाती है ॥ ३६ ॥ उन्होंने मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि और देवता आदिके शरीररूप पुरोंकी रचना की है तथा वे ही इन पुरोंमें जीवरूपसे शयन भी करते हैं। इसीसे उनका एक नाम 'पुरुष' भी है ॥ ३७ ॥ युधिष्ठिर! एकरस रहते हुए भी भगवान् इन मनुष्यादि शरीरोंमें उनकी विभिन्नताके कारण न्यूनाधिकरूपसे प्रकाशमान हैं। इसलिये पशु-पक्षी आदि शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्य ही श्रेष्ठ पात्र हैं और मनुष्योंमें भी, जिसमें भगवान्का अंश तप-योगादि जितना ही अधिक पाया जाता है, वह उतना ही श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर! त्रेता आदि युगोंमें जब विद्वानोंने देखा कि मनुष्य परस्पर एक दूसरेका अपमान आदि करते हैं, तब उन लोगोंने उपासनाकी सिद्धिके लिये भगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा की ॥ ३९ ॥ तभीसे कितने ही लोग बड़ी श्रद्धा और सामग्रीसे प्रतिमामें ही भगवान्की पूजा करते हैं। परंतु जो मनुष्यसे द्वेष करते हैं, उन्हें

१. प्रा० पा०—सरः पुरी । २. प्रा० पा०—तत्र । ३. प्रा० पा०—दृष्ट्वैतेषां । ४. प्रा० पा०—संश्रद्धायां ।

उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥४०॥
पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥४१॥
नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥४२॥

प्रतिमाकी उपासना करनेपर भी सिद्धि नहीं मिल सकती ॥ ४० ॥ युधिष्ठिर ! मनुष्योंमें भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र माना गया है ; क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और संतोष आदि गुणोंसे भगवान्के वेदरूप शरीरको धारण करता है ॥ ४१ ॥ महाराज ! हमारी और तुम्हारी तो बात ही क्या—ये जो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इनके भी इष्टदेव ब्राह्मण ही हैं; क्योंकि उनके चरणोंकी धूलसे तीनों लोक पवित्र होते रहते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे[1] सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

गृहस्थोंके लिये मोक्षधर्मका वर्णन

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे ।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः॥ १ ॥
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता ।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥
द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥
देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च ।
सम्यग् भवन्ति नैतानि[2] विस्तरात् स्वजनार्पणात्॥ ४ ॥
देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं[3] हरिदैवतम् ।
श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम्॥ ५ ॥
देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च ।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! कुछ ब्राह्मणोंकी निष्ठा कर्ममें, कुछकी तपस्यामें, कुछकी वेदोंके स्वाध्याय और प्रवचनमें, कुछकी आत्मज्ञानके सम्पादनमें तथा कुछकी योगमें होती है ॥ १ ॥ गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि श्राद्ध अथवा देवपूजाके अवसरपर अपने कर्मका अक्षय फल प्राप्त करनेके लिये ज्ञाननिष्ठ पुरुषको ही हव्य-कव्यका दान करे । यदि वह न मिले तो योगी, प्रवचनकार आदिको यथायोग्य और यथाक्रम देना चाहिये ॥ २ ॥ देवकार्यमें दो और पितृकार्यमें तीन अथवा दोनोंमें एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। अत्यन्त धनी होनेपर भी श्राद्धकर्ममें अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥ क्योंकि सगे-सम्बन्धी आदि स्वजनोंको देनेसे और विस्तार करनेसे देश-कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते ॥ ४ ॥ देश और कालके प्राप्त होनेपर ऋषि-मुनियोंके भोजन करनेयोग्य शुद्ध हविष्यान्न भगवान्को भोग लगाकर श्रद्धासे विधिपूर्वक योग्य पात्रको देना चाहिये । वह समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होता है ॥ ५ ॥ देवता, ऋषि, पितर, अन्य

१. प्रा० पा०—स्कन्धे चतुर्द० । २. प्रा० पा०—भूतानि । ३. प्रा० पा०—मुच्यते दैवसञ्ज्ञतम् ।

अन्नं संविभजन्पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८ ॥

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः ।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥ १० ॥

तस्माद् दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥ १२ ॥

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः ।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक् ।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥ १४ ॥

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।

प्राणी स्वजन और अपने-आपको भी अन्नका विभाजन करनेके समय परमात्मस्वरूप ही देखे ॥ ६ ॥

धर्मका मर्म जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांसका अर्पण न करे और न स्वयं ही उसे खाय; क्योंकि पितरोंको ऋषि-मुनियोंके योग्य हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसासे नहीं होती ॥ ७ ॥ जो लोग सद्धर्मपालनकी अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है कि किसी भी प्राणीको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका कष्ट न दिया जाय ॥ ८ ॥ इसीसे कोई-कोई यज्ञ-तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी ज्ञानके द्वारा प्रज्वलित आत्मसंयमरूप अग्निमें इन कर्ममय यज्ञोंका हवन कर देते हैं और बाह्य कर्म-कलापोंसे उपरत हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जब कोई इन द्रव्यमय यज्ञोंसे यजन करना चाहता है, तब सभी प्राणी डर जाते हैं; वे सोचने लगते हैं कि यह अपने प्राणों-का पोषण करनेवाला निर्दयी मूर्ख मुझे अवश्य मार डालेगा ॥ १० ॥ इसलिये धर्मज्ञ मनुष्यको यही उचित है कि प्रतिदिन प्रारब्धके द्वारा प्राप्त मुनिजनोचित हविष्यान्नसे ही अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करे तथा उसीसे सर्वदा सन्तुष्ट रहे ॥ ११ ॥

अधर्मकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल । धर्मज्ञ पुरुष अधर्मके समान ही इनका भी त्याग कर दे ॥ १२ ॥ जिस कार्यको धर्म-बुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है । किसी अन्यके द्वारा अन्य पुरुषके लिये उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है । पाखण्ड या दम्भका नाम 'उपधर्म' अथवा 'उपमा' है । शास्त्रके वचनोंका दूसरे प्रकारका अर्थ कर देना 'छल' है ॥ १३ ॥ मनुष्य अपने आश्रमके विपरीत स्वेच्छासे जिसे धर्म मान लेता है; वह 'आभास' है । अपने-अपने स्वभावके अनुकूल जो वर्णाश्रमोचित धर्म हैं, वे भला किसे शान्ति नहीं देते ॥ १४ ॥

धर्मात्मा पुरुष निर्धन होनेपर भी धर्मके लिये अथवा शरीर-निर्वाहके लिये धन प्राप्त करनेकी चेष्टा न करे;

१. प्रा० पा०—कायकर्मभिः ।

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥१५॥
सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम् ।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥१६॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया[1] दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥१७॥
सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः ॥१८॥
असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥१९॥
कामस्यान्तं च[2] क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥२०॥
पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ॥२१॥
असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥२२॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥२३॥

क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकारकी चेष्टा किये अजगरकी जीविका चलती ही है, वैसे ही निवृत्तिपरायण पुरुषकी निवृत्ति ही उसकी जीविकाका निर्वाह कर देती है ।१५। जो सुख अपनी आत्मामें रमण करनेवाले निष्क्रिय सन्तोषी पुरुषको मिलता है, वह उस मनुष्यको भला कैसे मिल सकता है, जो कामना और लोभसे धनके लिये हाय-हाय करता हुआ इधर-उधर दौड़ता फिरता है ॥ १६ ॥ जैसे पैरोंमें जूता पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई डर नहीं होता—वैसे ही जिसके मनमें सन्तोष है, उसके लिये सर्वदा और सब कहीं सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर ! न जाने क्यों मनुष्य केवल जलमात्रसे ही सन्तुष्ट रहकर अपने जीवनका निर्वाह नहीं कर लेता । अपितु रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके फेरमें पड़कर यह बेचारा घरकी चौकसी करनेवाले कुत्तेके समान हो जाता है ॥ १८ ॥ जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं है, इन्द्रियोंकी लोलुपताके कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते हैं और वह विवेक भी खो बैठता है ॥ १९ ॥ भूख और प्यास मिट जानेपर खाने-पीनेकी कामनाका अन्त हो जाता है । क्रोध भी अपना काम पूरा करके शान्त हो जाता है । परंतु यदि मनुष्य पृथ्वीकी समस्त दिशाओंको जीत ले और भोग ले, तब भी लोभका अन्त नहीं होता ॥ २० ॥ अनेक विषयोंके ज्ञाता, शङ्काओंका समाधान करके चित्तमें शास्त्रोक्त अर्थको बैठा देनेवाले और विद्वत्सभाओंके सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोषके कारण गिर जाते हैं ॥ २१ ॥

धर्मराज ! सङ्कल्पोंके परित्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभको और तत्त्वके विचारसे भयको जीत लेना चाहिये ॥ २२ ॥ अध्यात्मविद्यासे शोक और मोहपर, संतोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और शरीर-प्राण आदिको निश्चेष्ट करके हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—शिवमया । २. प्रा० पा०—हि ।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥२४॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥२५॥
यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥२६॥
एष वै भगवान्साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम् ॥२७॥
षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥२८॥
यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः ॥२९॥
यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः ॥३०॥
देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः ।
स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥३१॥

आधिभौतिक दुःखको दयाके द्वारा, आधिदैविक वेदना-को समाधिके द्वारा और आध्यात्मिक दुःखको योगबलसे एवं निद्राको सात्त्विक भोजन, स्थान, सङ्ग आदिके सेवनसे जीत लेना चाहिये ॥२४॥ सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण एवं तमोगुणपर और उपरतिके द्वारा सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त करनी चाहिये । श्रीगुरुदेवकी भक्तिके द्वारा साधक इन सभी दोषोंपर सुगमतासे विजय प्राप्त कर सकता है ।२५। हृदयमें ज्ञानका दीपक जलानेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं । जो दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र-श्रवण हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है ॥ २६ ॥ बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरण-कमलोंका अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष-के अधीश्वर वे स्वयं भगवान् ही गुरुदेवके रूपमें प्रकट हैं । इन्हें लोग भ्रमसे मनुष्य मानते हैं ॥ २७ ॥

शास्त्रोंमें जितने भी नियमसम्बन्धी आदेश हैं उनका एकमात्र तात्पर्य यही है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन—ये छः वशमें हो जायँ । ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्‌के ध्यान-चिन्तन आदिकी प्राप्ति नहीं होती तो उन्हें केवल श्रम-ही-श्रम समझना चाहिये ॥ २८ ॥ जैसे खेती, व्यापार आदि और उनके फल भी योग-साधनाके फल भगवत्प्राप्ति या मुक्तिको नहीं दे सकते—वैसे ही दुष्ट पुरुषके श्रौत-स्मार्त कर्म भी कल्याणकारी नहीं होते, प्रत्युत उल्टा फल देते हैं ॥ २९ ॥

जो पुरुष अपने मनपर विजय प्राप्त करनेके लिये उद्यत हो, वह आसक्ति और परिग्रहका त्याग करके संन्यास ग्रहण करे । एकान्तमें अकेला ही रहे और भिक्षा-वृत्तिसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये स्वल्प और परिमित भोजन करे ॥ ३० ॥ युधिष्ठिर ! पवित्र और समान भूमिपर अपना आसन बिछाये और सीधे स्थिर-भावसे समान और सुखकर आसनसे उसपर बैठकर

१. प्रा० पा०—पासनेन । २. प्रा० पा०—न स्याच्छ्रद्धा । ३. प्रा० पा०—विद्यामायासार्थे । ४. प्रा० पा०—तु स्यान्निःसङ्गो निष्परि० । ५. प्रा० पा०—राजन्नास्था० । ६. प्रा० पा०—सुखं समं तस्मि० ।

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः ।
यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः ।३२।
यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् ।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ।।३३।।
एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ।।३४।।
कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ।।३५।।
यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ।।३६।।
यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ।।३७।।
गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ।।३८।।
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः ।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ।।३९।।
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ।।४०।।
आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।

ॐकारका जप करे ।। ३१ ।। जबतक मन सङ्कल्प-विकल्पोंको छोड़ न दे, तबतक नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर पूरक, कुम्भक और रेचकद्वारा प्राण तथा अपानकी गतिको रोके ।। ३२ ।। कामकी चोटसे घायल चित्त इधर-उधर चक्कर काटता हुआ जहाँ-जहाँ जाय, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह वहाँ-वहाँसे उसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदयमें रोके ।। ३३ ।। जब साधक निरन्तर इस प्रकारका अभ्यास करता है, तब ईंधनके बिना जैसे अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही थोड़े समयमें उसका चित्त शान्त हो जाता है ।। ३४ ।। इस प्रकार जब काम-वासनाएँ चोट करना बंद कर देती हैं और समस्त वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्मानन्दके संस्पर्शमें मग्न हो जाता है और फिर उसका कभी उत्थान नहीं होता ।। ३५ ।।

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और कामके मूल कारण गृहस्थाश्रमका परित्याग कर देता है और फिर उन्हींका सेवन करने लगता है, वह निर्लज्ज अपने उगले हुएको खानेवाला कुत्ता ही है ।। ३६ ।। जिन्होंने अपने शरीरको अनात्मा, मृत्युग्रस्त और विष्ठा, कृमि एवं राख समझ लिया था—वे ही मूढ़ फिर उसे आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं ।। ३७ ।। कर्म-त्यागी गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, गाँवमें रहनेवाला तपस्वी (वानप्रस्थ) और इन्द्रियलोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रमके कलङ्क हैं और व्यर्थ ही आश्रमोंका ढोंग करते हैं । भगवान्‌की मायासे विमोहित उन मूढ़ोंपर तरस खाकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ।३८-३९। आत्मज्ञानके द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्माको परब्रह्मस्वरूप जान लिया है, वह किस विषयकी इच्छा और किस भोक्ता-की तृप्तिके लिये इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरका पोषण करेगा ? ।। ४० ।।

उपनिषदोंमें कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि

१. प्रा० पा०—कामं । २. प्रा० पा०—नैः शनैः । ३. प्रा० पा०—न्ताचलवृत्ति । ४. प्रा० पा०—वै दुष्कृतं स्मरन् ।

वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥४१॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥
रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥
यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥४५॥
नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥४६॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥४७॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥४८॥

विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान्‌के द्वारा निर्मित बाँधनेकी विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है। ॐकार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा लक्ष्य है (इस ॐकार-के द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लीन कर देना चाहिये) ॥ ४१-४२ ॥ राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, दूसरेके गुणोंमें दोष निकालना, छल, हिंसा, दूसरेकी उन्नति देखकर जलना, तृष्णा, प्रमाद, भूख और नींद—ये सब, और ऐसे ही जीवोंके और भी बहुत-से शत्रु हैं। उनमें रजोगुण और तमोगुणप्रधान वृत्तियाँ अधिक हैं, कहीं-कहीं कोई-कोई सत्त्वगुणप्रधान ही होती हैं ॥ ४३-४४ ॥ यह मनुष्य-शरीररूप रथ जबतक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय, मन आदि सारे साधन अच्छी दशामें विद्यमान हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा-पूजासे शान धरायी हुई ज्ञानकी तीखी तलवार लेकर भगवान्‌के आश्रयसे इन शत्रुओंका नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्तभावसे इस शरीरका भी परित्याग कर दे॥ ४५ ॥ नहीं तो, तनिक भी प्रमाद हो जानेपर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथके स्वामी जीवको उल्टे रास्ते ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथोंमें डाल देंगे। वे डाकू सारथि और घोड़ोंके सहित इस जीवको मृत्युसे अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसारके कुएँमें गिरा देंगे ॥४६॥

वैदिक कर्म दो प्रकारके हैं—एक तो वे जो वृत्तियोंको उनके विषयोंकी ओर ले जाते हैं—प्रवृत्ति-परक, और दूसरे वे जो वृत्तियोंको उनके विषयोंकी ओरसे लौटाकर शान्त एवं आत्मसाक्षात्कारके योग्य बना देते हैं—निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक कर्ममार्गसे बार-बार जन्म-मृत्युकी प्राप्ति होती है और निवृत्तिपरक भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्गके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होती है ॥ ४७ ॥ श्येनयागादि हिंसामय कर्म, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, वैश्वदेव,

१. प्रा० पा०—उपशान्तमतिर्विजह्यात्। २. प्रा० पा०—आवर्तते। ३. प्रा० पा०—पशुसुतः।

एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च ।

पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥४९॥

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः ।

अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥५०॥

अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः ।

एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥५१॥

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः ।

इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥५२॥

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ[1] वाचि वैकारिकं मनः ।

वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् ।

ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥५३॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।

विश्वश्चे[2] तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥५४॥

बलिहरण आदि द्रव्यमय कर्म 'इष्ट' कहलाते हैं और देवालय, बगीचा, कूआँ आदि बनवाना तथा प्याऊ आदि लगाना 'पूर्त कर्म' हैं। ये सभी प्रवृत्तिपरक कर्म हैं और सकामभावसे युक्त होनेपर अशान्तिके ही कारण बनते हैं ॥ ४८-४९ ॥ प्रवृत्तिपरायण पुरुष मरनेपर चरु-पुरोडाशादि यज्ञसम्बन्धी द्रव्योंके सूक्ष्मभागसे बना हुआ शरीर धारणकर धूमाभिमानी देवताओंके पास जाता है। फिर क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन-के अभिमानी देवताओंके पास जाकर चन्द्रलोकमें पहुँचता है। वहाँसे भोग समाप्त होनेपर अमावस्याके चन्द्रमाके समान क्षीण होकर वृष्टिद्वारा क्रमशः ओषधि, लता, अन्न और वीर्यके रूपमें परिणत होकर पितृयान-मार्गसे पुनः संसारमें ही जन्म लेता है ॥ ५०-५१ ॥ युधिष्ठिर ! गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार जिनके होते हैं, उनको 'द्विज' कहते हैं। (उनमेंसे कुछ तो पूर्वोक्त प्रवृत्तिमार्गका अनुष्ठान करते हैं और कुछ आगे कहे जानेवाले निवृत्तिमार्गका।) निवृत्तिपरायण पुरुष इष्ट, पूर्त आदि कर्मोंसे होनेवाले समस्त यज्ञोंको विषयोंका ज्ञान करानेवाले इन्द्रियोंमें हवन कर देता है ॥ ५२ ॥ इन्द्रियोंको दर्शनादि-सङ्कल्परूप मनमें, वैकारिक मनको परा वाणीमें और परा वाणीको वर्णसमुदायमें, वर्णसमुदायको 'अ उ म्' इन तीन स्वरों-के रूपमें रहनेवाले ॐकारमें, ॐकारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मारूप प्राणमें तथा प्राण-को ब्रह्ममें लीन कर देता है ॥ ५३ ॥ वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी और उत्तरायणके अभिमानी देवताओंके पास जाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचता है और वहाँके भोग समाप्त होनेपर वह स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधि-को सूक्ष्ममें लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है। फिर सूक्ष्म उपाधिको कारणमें लय करके कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' रूपसे स्थित होता है; फिर सबके साक्षीरूपसे सर्वत्र अनुगत होनेके कारण साक्षी-के ही स्वरूपमें कारणोपाधिका लय करके 'तुरीय' रूपसे स्थित होता है। इस प्रकार दृश्योंका लय हो जानेपर वह शुद्ध आत्मा रह जाता है। यही मोक्षपद

१. प्रा० पा०—मनस्यग्नौ। २. प्रा० पा०—विश्वोऽथ।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ।५५।
य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ।।५६।।
आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ।।५७।।
आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ।।५८।।
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा ।५९।
धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ।।६०।

है ॥ ५४ ॥ इसे 'देवयान' मार्ग कहते हैं । इस मार्गसे जानेवाला आत्मोपासक संसारकी ओरसे निवृत्त होकर क्रमशः एकसे दूसरे देवताके पास होता हुआ ब्रह्मलोकमें जाकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है । वह प्रवृत्तिमार्गीके समान फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता ॥ ५५ ॥

ये पितृयान और देवयान दोनों ही वेदोक्त मार्ग हैं । जो शास्त्रीय दृष्टिसे इन्हें तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरमें स्थित रहता हुआ भी मोहित नहीं होता ।५६। पैदा होनेवाले शरीरोंके पहले भी कारणरूपसे और उनका अन्त हो जानेपर भी उनकी अवधिरूपसे जो स्वयं विद्यमान रहता है, जो भोगरूपसे बाहर और भोक्तारूपसे भीतर है तथा ऊँच और नीच, जानना और जाननेका विषय, वाणी और वाणीका विषय, अन्धकार और प्रकाश आदि वस्तुओंके रूपमें जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह सब स्वयं यह तत्त्ववेत्ता ही है । इसीसे मोह उसका स्पर्श नहीं कर सकता ।।५७।। दर्पण आदिमें दीख पड़नेवाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्तिसे बाधित है, उसका उनमें अस्तित्व है नहीं; फिर भी वस्तुके रूपमें तो वह दीखता ही है । वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा देखनेवाला वस्तुओंका भेद-भाव भी विचार, युक्ति और आत्मानुभवसे असम्भव होनेके कारण वस्तुतः न होनेपर भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ५८ ॥ पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंसे इस शरीरका निर्माण नहीं हुआ है । वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न तो वह उन पञ्चभूतोंका सङ्घात है और न विकार या परिणाम ही; क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न तो पृथक् है और न उनमें अनुगत ही है, अतएव मिथ्या है ॥ ५९ ॥ इसी प्रकार शरीरके कारणरूप पञ्चभूत भी अवयवी होनेके कारण अपने अवयवों—सूक्ष्मभूतोंसे भिन्न नहीं हैं, अवयवरूप ही हैं । जब बहुत खोज-बीन करनेपर भी अवयवोंके अतिरिक्त अवयवीका अस्तित्व नहीं मिलता—वह असत् ही सिद्ध होता है, तब अपने-आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि ये अवयव भी असत्य ही हैं ॥ ६० ॥

१. प्रा० पा०—तत्रस्थोऽपि । २. प्रा० पा०—मिवा० ।

स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥६१॥

जबतक अज्ञानके कारण एक ही परमतत्त्वमें अनेक वस्तुओंके भेद मालूम पड़ते रहते हैं, तबतक यह भ्रम भी रह सकता है कि जो वस्तुएँ पहले थीं, वे अब भी हैं और स्वप्नमें भी जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके अलग-अलग अनुभव होते ही हैं तथा उनमें भी विधि-निषेधके शास्त्र रहते हैं—वैसे ही जबतक इन भिन्नताओंके अस्तित्वका मोह बना हुआ है, तबतक यहाँ भी विधि-निषेधके शास्त्र हैं ही ॥६१॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥६२॥
कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥
यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥
आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥

जो विचारशील पुरुष स्वानुभूतिसे आत्माके त्रिविध अद्वैतका साक्षात्कार करते हैं—वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्यके भेदरूप स्वप्नको मिटा देते हैं। ये अद्वैत तीन प्रकारके हैं—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत ॥ ६२ ॥ जैसे वस्त्र सूत्ररूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है; क्योंकि भेद तो वास्तवमें है नहीं। इस प्रकार सबकी एकताका विचार 'भावाद्वैत' है ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर! मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सब कर्म स्वयं परब्रह्म परमात्मामें ही हो रहे हैं, उसीमें अध्यस्त हैं—इस भावसे समस्त कर्मोंको समर्पित कर देना 'क्रियाद्वैत' है ॥ ६४ ॥ स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धी एवं संसारके अन्य समस्त प्राणियोंके तथा अपने स्वार्थ और भोग एक ही हैं, उनमें अपने और परायेका भेद नहीं है—इस प्रकारका विचार 'द्रव्याद्वैत' है ॥ ६५ ॥

यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि ॥६६॥
एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः ॥६७॥
यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-
नहार्षीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥६८॥

युधिष्ठिर! जिस पुरुषके लिये जिस द्रव्यको जिस समय जिस उपायसे जिससे ग्रहण करना शास्त्राज्ञाके विरुद्ध न हो, उसे उसीसे अपने सब कार्य सम्पन्न करने चाहिये; आपत्तिकालको छोड़कर इससे अन्यथा नहीं करना चाहिये ॥ ६६ ॥ महाराज! भगवद्भक्त मनुष्य वेदमें कहे हुए इन कर्मोंके तथा अन्यान्य स्वकर्मोंके अनुष्ठानसे घरमें रहते हुए भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त करता है ॥ ६७ ॥ युधिष्ठिर! जैसे तुम अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा और सहायतासे बड़ी-बड़ी कठिन विपत्तियोंसे पार हो गये हो और उन्हींके चरणकमलोंकी सेवासे समस्त भूमण्डलको जीतकर तुमने बड़े-बड़े राजसूय आदि यज्ञ किये हैं ॥ ६८ ॥

अहं पुराभवं कश्चिद् गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥६९॥
रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरुलम्पटः ॥७०॥
एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥७१॥
अहं च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥७२॥
तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥७३॥
धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।
गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥७४॥
यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥७५॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।

पूर्वजन्ममें इसके पहलेके महाकल्पमें मैं एक गन्धर्व था। मेरा नाम था उपबर्हण और गन्धर्वोंमें मेरा बड़ा सम्मान था ॥ ६९ ॥ मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अपूर्व थी। मेरे शरीरमेंसे सुगन्धि निकला करती और देखनेमें मैं बहुत अच्छा लगता। स्त्रियाँ मुझसे बहुत प्रेम करतीं और मैं सदा प्रमादमें ही रहता। मैं अत्यन्त विलासी था ॥ ७० ॥ एक बार देवताओंके यहाँ ज्ञानसत्र हुआ। उसमें बड़े-बड़े प्रजापति आये थे। भगवान्‌की लीलाका गान करनेके लिये उन लोगोंने गन्धर्व और अप्सराओंको बुलाया ॥ ७१ ॥ मैं जानता था कि वह संतोंका समाज है और वहाँ भगवान्‌की लीलाका ही गान होता है। फिर भी मैं स्त्रियोंके साथ लौकिक गीतोंका गान करता हुआ उन्मत्तकी तरह वहाँ जा पहुँचा। देवताओंने देखा कि यह तो हम-लोगोंका अनादर कर रहा है। उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे शाप दे दिया कि 'तुमने हमलोगोंकी अवहेलना की है, इसलिये तुम्हारी सारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम शीघ्र ही शूद्र हो जाओ' ॥ ७२ ॥ उनके शापसे मैं दासीका पुत्र हुआ; किंतु उस शूद्र-जीवनमें किये हुए महात्माओंके सत्सङ्ग और सेवा-शुश्रूषाके प्रभावसे मैं दूसरे जन्ममें ब्रह्माजीका पुत्र हुआ ॥ ७३ ॥ संतोंकी अवहेलना और सेवाका यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। संत-सेवासे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। मैंने तुम्हें गृहस्थोंका पापनाशक धर्म बतला दिया। इस धर्मके आचरणसे गृहस्थ भी अनायास ही संन्यासियोंको मिलनेवाला परमपद प्राप्त कर लेता है ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिर ! इस मनुष्यलोकमें तुमलोगोंके भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं; क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्तरूपसे निवास करते हैं। इसीसे सारे संसारको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं ॥ ७५ ॥ बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर जिनको ढूँढ़ते रहते हैं, जो मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभव-

१. प्रा० पा०—मत्तः स०। २. प्रा० पा०—यत्र।

प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥७६॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥७७॥

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥७८॥
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥७९॥
इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥८०॥

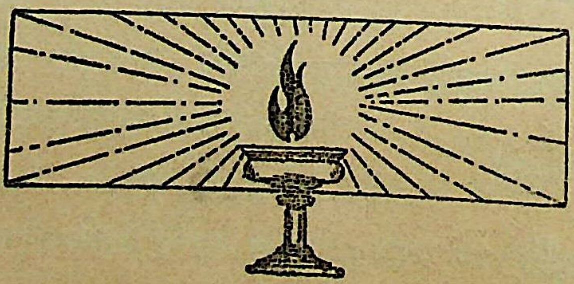
स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं—वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं ॥ ७६ ॥ शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके। फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं। हम मौन, भक्ति और संयमके द्वारा ही उनकी पूजा करते हैं। कृपया हमारी यह पूजा स्वीकार करके भक्तवत्सल भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ७७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवर्षि नारदका यह प्रवचन सुनकर राजा युधिष्ठिरको अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ ७८ ॥ देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिरसे विदा लेकर और उनके द्वारा सत्कार पाकर चले गये। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, यह सुनकर युधिष्ठिरके आश्चर्यकी सीमा न रही ॥ ७९ ॥ परीक्षित्! इस प्रकार मैंने तुम्हें दक्ष-पुत्रियोंके वंशोंका अलग-अलग वर्णन सुनाया। उन्हींके वंशमें देवता, असुर, मनुष्य आदि और सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि हुई है ॥ ८० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

॥ इति सप्तमः स्कन्धः समाप्तः ॥

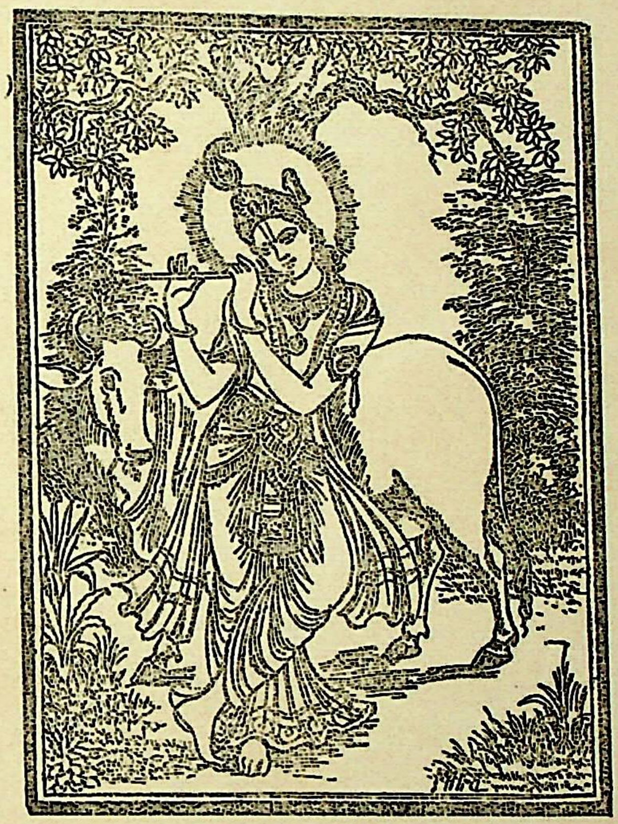
हरिः ॐ तत्सत्



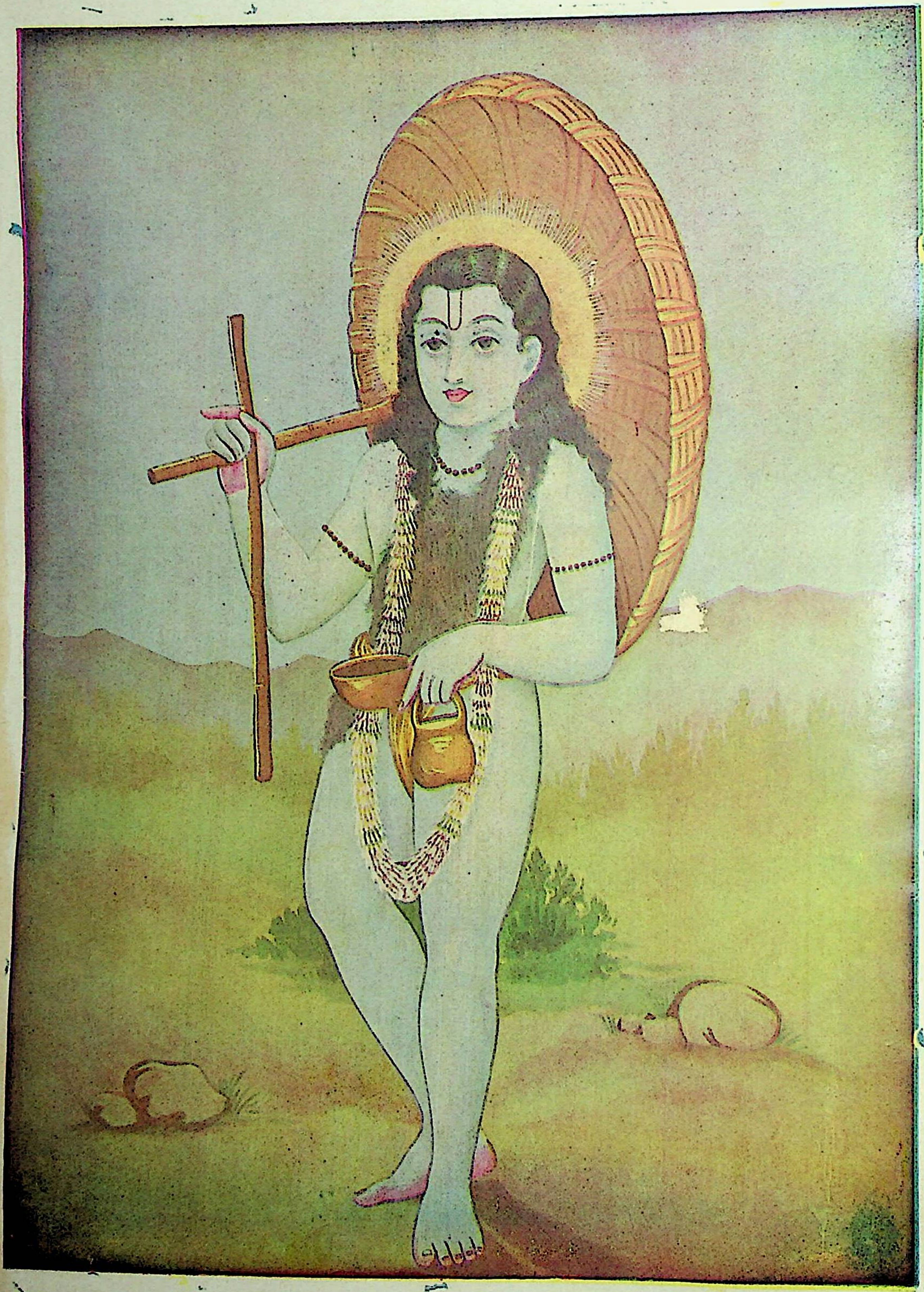
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

अष्टमः स्कन्धः



ईश्वरोऽप्यभवद्भिक्षुर्वामनोऽपि त्रिभिः क्रमैः ।
त्रींल्लोकान् क्रान्तवान् यो वै स कृष्णः कुरुतात्कृपाम् ॥



भगवान् वामन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

अष्टमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

मन्वन्तरोंका वर्णन

राजोवाच

स्वायम्भुव[1]स्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः ।
[2]यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः ॥ १ ॥
[3]यत्र यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः ।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम् ॥ २ ॥
[4]यद्यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन्भगवान्विश्वभावनः ।
कृतवान्कुरुते कर्[5]ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

मनवोऽस्मिन्व्यतीताः षट्[6] कल्पे स्वायम्भुवादयः ।
आद्य[7]स्ते कथितो यत्र देवादीनां च सम्भवः ॥४॥
आकूत्यां देवहूत्यां च[8] दुहित्रोस्तस्य वै मनोः ।
[9]धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान्पुत्रतां गतः ॥ ५ ॥
कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम् ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—गुरुदेव ! स्वायम्भुव मनुका वंश-विस्तार मैंने सुन लिया । इसी वंशमें उनकी कन्याओंके द्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंने अपनी वंश-परम्परा चलायी थी । अब आप हमसे दूसरे मनुओंका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥ ब्रह्मन् ! ज्ञानी महात्मा जिस-जिस मन्वन्तरमें महामहिम भगवान्‌के जिन-जिन अवतारों और लीलाओंका वर्णन करते हैं, उन्हें आप अवश्य सुनाइये । हम बड़ी श्रद्धासे उनका श्रवण करना चाहते हैं ॥ २ ॥ भगवन् ! विश्वभावन भगवान् बीते हुए मन्वन्तरोंमें जो-जो लीलाएँ कर चुके हैं, वर्तमान मन्वन्तरमें जो कर रहे हैं और आगामी मन्वन्तरोंमें जो कुछ करेंगे, वह सब हमें सुनाइये ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर बीत चुके हैं । उनमेंसे पहले मन्वन्तरका मैंने वर्णन कर दिया, उसीमें देवता आदिकी उत्पत्ति हुई थी ॥ ४ ॥ स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूतिसे यज्ञ-पुरुषके रूपमें धर्मका उपदेश करनेके लिये तथा देवहूतिसे कपिलके रूपमें ज्ञानका उपदेश करनेके लिये भगवान्‌ने उनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया था ।५। परीक्षित् ! भगवान् कपिलका वर्णन मैं पहले ही (तीसरे स्कन्धमें) कर चुका हूँ । अब भगवान् यज्ञपुरुषने

१. प्रा० पा०—वस्य च गुरो । २. प्राचीन प्रतिमें 'यत्र विश्वसृजां सर्गो…' इस उत्तरार्धके स्थानपर 'अत्र धर्माश्च विविधाश्चातुर्वर्ण्याश्रिताः शुभाः' ऐसा पाठ है । ३. प्रा० पा०—मन्वन्तरे हरे० । ४. प्रा० पा०—सर्वमन्वन्तरे ।५. प्रा० पा०—चान्यमतीते । ६. प्रा० पा०—ये । ७. प्रा० पा०—आद्यः स । ८. प्रा० पा०—नु । ९. प्राचीन प्रतिमें 'धर्मज्ञानोपदेशार्थं …' से लेकर '…कपिलस्यानुवर्णितम् ।' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'उत्पत्तिः सर्वजन्तूनां वर्णिता पुरुषर्षभ । चरितं पुण्यकीर्तेश्च कपिलस्यानुवर्णितम् ॥'

आख्यास्ये भगवान्यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह ॥ ६ ॥

विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः ।
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत् ॥ ७ ॥

सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन् ।
तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह[1] भारत ॥ ८ ॥

मनुरुवाच

येन[2] चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद[3] सः ॥ ९ ॥

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १० ॥

यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥ ११ ॥

न[4] यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः ।
विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत् ॥ १२ ॥

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः[5] स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।

आकूतिके गर्भसे अवतार लेकर जो कुछ किया, उसका वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥

परीक्षित्! भगवान् स्वायम्भुव मनुने समस्त कामनाओं और भोगोंसे विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया। वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये ॥ ७ ॥ परीक्षित्! उन्होंने सुनन्दा नदीके किनारे पृथ्वीपर एक पैरसे खड़े रहकर सौ वर्षतक घोर तपस्या की। तपस्या करते समय वे प्रतिदिन इस प्रकार भगवान्की स्तुति करते थे ॥ ८ ॥

मनुजी कहा करते थे—जिनकी चेतनाके स्पर्शमात्रसे यह विश्व चेतन हो जाता है, किंतु यह विश्व जिन्हें चेतनाका दान नहीं कर सकता; जो इसके सो जानेपर प्रलयमें भी जागते रहते हैं, जिनको यह नहीं जान सकता, परंतु जो इसे जानते हैं—वही परमात्मा हैं ॥ ९ ॥ यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी—सब उन परमात्मासे ही ओतप्रोत हैं। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थमें मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये उपभोग करना चाहिये। तृष्णाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भला, ये संसारकी सम्पत्तियाँ किसकी हैं? ॥ १० ॥ भगवान् सबके साक्षी हैं। उन्हें बुद्धि-वृत्तियाँ या नेत्र आदि इन्द्रियाँ नहीं देख सकतीं; परंतु उनकी ज्ञान-शक्ति अखण्ड है। समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाले उन्हीं स्वयंप्रकाश असङ्ग परमात्माकी शरण ग्रहण करो ॥ ११ ॥ जिनका न आदि है न अन्त, फिर मध्य तो होगा ही कहाँसे? जिनका न कोई अपना है और न पराया और न बाहर है न भीतर, वे विश्वके आदि, अन्त, मध्य, अपने-पराये, बाहर और भीतर—सब कुछ हैं। उन्हींकी सत्तासे विश्वकी सत्ता है। वही अनन्त वास्तविक सत्य परब्रह्म हैं ॥ १२ ॥ वही परमात्मा विश्वरूप हैं। उनके अनन्त नाम हैं। वे सर्वशक्तिमान् सत्य, स्वयंप्रकाश, अजन्मा

१. प्रा० पा०—माह स। २. प्राचीन प्रतिमें 'येन चेतयते विश्वं…' इस पूर्वार्धके स्थानपर 'वासुदेवो वसत्येष सर्वदेहेष्वनन्यदृक्' ऐसा पाठ है। ३. प्रा० पा०—मेधसा। ४. प्राचीन प्रतिमें 'न यस्याद्यन्तौ……'से लेकर '…तदृतं महत्' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'न यस्यादिस्तथा मध्यं देवदेवस्य चात्मनः। सर्वस्य मूलभूतोऽसौ भूता येऽनन्तरं यतः ॥' ५. प्रा० पा०—सर्वस्य गोप्ता त्वजरः पुराणः।

धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या
तां[1] विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥१३॥
अथाग्रे[2] ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे ।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥१४॥
ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते ।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम् ॥१५॥
तमीहमानं[3] निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् ।
नॄन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम् ॥१६॥
श्रीशुक उवाच
इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम् ।
दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा ॥१७॥
तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः ।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम् ॥१८॥
स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत् ।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥१९॥
तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद् देवाश्च तुषितादयः ।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥२०॥

और पुराणपुरुष हैं । वे अपनी मायाशक्तिके द्वारा ही विश्वसृष्टिके जन्म आदिको स्वीकार कर लेते हैं और अपनी विद्याशक्तिके द्वारा उसका त्याग करके निष्क्रिय, सत्स्वरूपमात्र रहते हैं ॥ १३ ॥ इसीसे ऋषि-मुनि नैष्कर्म्यस्थिति अर्थात् ब्रह्मसे एकत्व प्राप्त करनेके लिये पहले कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं । प्रायः कर्म करनेवाला पुरुष ही अन्तमें निष्क्रिय होकर कर्मोंसे छुट्टी पा लेता है ॥ १४ ॥ यों तो सर्वशक्तिमान् भगवान् भी कर्म करते हैं, परंतु वे आत्मलाभसे पूर्णकाम होनेके कारण उन कर्मोंमें आसक्त नहीं होते । अतः उन्हींका अनुसरण करके अनासक्त रहकर कर्म करनेवाले भी कर्मबन्धनसे मुक्त ही रहते हैं ॥ १५ ॥ भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिये उनमें अहङ्कारका लेश भी नहीं है । वे सर्वतः परिपूर्ण हैं, इसलिये उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं है । वे बिना किसीकी प्रेरणाके स्वच्छन्दरूपसे ही कर्म करते हैं । वे अपनी ही बनायी हुई मर्यादामें स्थित रहकर अपने कर्मोंके द्वारा मनुष्योंको शिक्षा देते हैं । वे ही समस्त धर्मोंके प्रवर्तक और उनके जीवनदाता हैं । मैं उन्हीं प्रभुकी शरणमें हूँ ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक बार स्वायम्भुव मनु एकाग्रचित्तसे इस मन्त्रमय उपनिषत्-स्वरूप श्रुतिका पाठ कर रहे थे । उन्हें नींदमें अचेत होकर बड़बड़ाते जान भूखे असुर और राक्षस खा डालनेके लिये उनपर टूट पड़े ॥ १७ ॥ यह देखकर अन्तर्यामी भगवान् यज्ञपुरुष अपने पुत्र याम नामक देवताओंके साथ वहाँ आये । उन्होंने उन खा डालनेके निश्चयसे आये हुए असुरोंका संहार कर डाला और फिर वे इन्द्रके पदपर प्रतिष्ठित होकर स्वर्गका शासन करने लगे ॥ १८ ॥

परीक्षित् ! दूसरे मनु हुए स्वारोचिष । वे अग्निके पुत्र थे । उनके पुत्रोंके नाम थे—द्युमान्, सुषेण और रोचिष्मान् आदि ॥ १९ ॥ उस मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम था रोचन, प्रधान देवगण थे तुषित आदि । ऊर्जस्तम्भ आदि वेदवादीगण सप्तर्षि थे ॥ २० ॥ उस मन्वन्तरमें

१. प्रा० पा०—तं वै विदित्वा तु । २. प्रा० पा०—अथ यत्रर्षयः । ३. प्रा० पा०—आनन्दमेकं परमं सनातनं ।

ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् ।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥२१॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः ।
अन्वशिक्षन्व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥२२॥
तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः ।
पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥२३॥
वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः ।
सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥२४॥
धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः ।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥२५॥
सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान् ।
भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत् सत्यजित्सखः ॥२६॥
चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥२७॥
सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः ।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥२८॥
देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप ।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥२९॥
तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥३०॥

राजोवाच

बादरायण एतत् ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत् ॥३१॥
तत्कथा सुमहत् पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम् ।

वेदशिरा नामके ऋषिकी पत्नी तुषिता थीं । उनके गर्भसे भगवान्‌ने अवतार ग्रहण किया और विभु नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २१ ॥ वे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे । उन्हींके आचरणसे शिक्षा ग्रहण करके अठासी हजार व्रतनिष्ठ ऋषियोंने भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया ॥२२॥

तीसरे मनु थे उत्तम । वे प्रियव्रतके पुत्र थे । उनके पुत्रोंके नाम थे—पवन, सृञ्जय, यज्ञहोत्र आदि ॥२३॥ उस मन्वन्तरमें वसिष्ठजीके प्रमद आदि सात पुत्र सप्तर्षि थे । सत्य, वेदश्रुत और भद्र नामक देवताओंके प्रधान गण थे । और इन्द्रका नाम था सत्यजित् ॥२४॥ उस समय धर्मकी पत्नी सूनृताके गर्भसे पुरुषोत्तम-भगवान्‌ने सत्यसेनके नामसे अवतार ग्रहण किया था । उनके साथ सत्यव्रत नामके देवगण भी थे ॥ २५ ॥ उस समयके इन्द्र सत्यजित्‌के सखा बनकर भगवान्‌ने असत्यपरायण, दुःशील और दुष्ट यक्षों, राक्षसों एवं जीवद्रोही भूतगणोंका संहार किया ॥ २६ ॥

चौथे मनुका नाम था तामस । वे तीसरे मनु उत्तमके सगे भाई थे । उनके पृथु, ख्याति, नर, केतु इत्यादि दस पुत्र थे ॥ २७ ॥ सत्यक, हरि और वीर नामक देवताओंके प्रधान गण थे । इन्द्रका नाम था त्रिशिख । उस मन्वन्तरमें ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे ॥ २८ ॥ परीक्षित् ! उस तामस नामके मन्वन्तरमें विधृतिके पुत्र वैधृति नामके और भी देवता हुए । उन्होंने समयके फेरसे नष्टप्राय वेदोंको अपनी शक्तिसे बचाया था, इसीलिये ये 'वैधृति' कहलाये ॥ २९ ॥ इस मन्वन्तरमें हरिमेधा ऋषिकी पत्नी हरिणीके गर्भसे हरिके रूपमें भगवान्‌ने अवतार ग्रहण किया । इसी अवतारमें उन्होंने ग्राहसे गजेन्द्रकी रक्षा की थी ॥ ३० ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—मुनिवर ! हम आपसे यह सुनना चाहते हैं कि भगवान्‌ने गजेन्द्रको ग्राहके फंदेसे कैसे छुड़ाया था ॥ ३१ ॥ सब कथाओंमें वही कथा परम पुण्यमय, प्रशंसनीय, मङ्गलकारी और शुभ है,

१. प्रा० पा०—शिक्षन्सुतं । २. प्रा० पा०—नृपाः । ३. प्रा० पा०—वृषः । ४. प्रा० पा०—धर्म्यम् । ५. प्रा० पा०—शिवम् ।

यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान्गीयते हरिः ॥३२॥

जिसमें महात्माओंके द्वारा गान किये हुए भगवान् श्रीहरिके पवित्र यशका वर्णन रहता है ॥ ३२ ॥

सूत उवाच

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः
प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः ।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥३३॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! राजा परीक्षित् आमरण अनशन करके कथा सुननेके लिये ही बैठे हुए थे । उन्होंने जब श्रीशुकदेवजी महाराजको इस प्रकार कथा कहनेके लिये प्रेरित किया, तब वे बड़े आनन्दित हुए और प्रेमसे परीक्षित्का अभिनन्दन करके मुनियोंकी भरी सभामें कहने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुचरिते[1] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ग्राहके द्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना

श्रीशुक उवाच

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान्योजनायुतमुच्छ्रितः ॥ १ ॥
तावता[2] विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम् ।
दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥ २ ॥
अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३ ॥
स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात् पयऊर्मिभिः ।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥ ४ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वविद्याधरमहोरगैः ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः ॥ ५ ॥
यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! क्षीरसागरमें त्रिकूट नामका एक प्रसिद्ध सुन्दर एवं श्रेष्ठ पर्वत था । वह दस हजार योजन ऊँचा था ॥ १ ॥ उसकी लंबाई-चौड़ाई भी चारों ओर इतनी ही थी । उसके चाँदी, लोहे और सोनेके तीन शिखरोंकी छटासे समुद्र, दिशाएँ और आकाश जगमगाते रहते थे ॥२॥ और भी उसके कितने ही शिखर ऐसे थे, जो रत्नों और धातुओंकी रंग-बिरंगी छटा दिखाते हुए सब दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे । उनमें विविध जातिके वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ थीं । झरनोंकी झर-झरसे वह गुंजायमान होता रहता था ॥ ३ ॥ सब ओरसे समुद्रकी लहरें आ-आकर उस पर्वतके निचले भागसे टकरातीं, उस समय ऐसा जान पड़ता मानो वे पर्वतराजके पाँव पखार रही हों । उस पर्वतके हरे पन्नेके पत्थरोंसे वहाँकी भूमि ऐसी साँवली हो गयी थी, जैसे उसपर हरी-भरी दूब लग रही हो ॥ ४ ॥ उसकी कन्दराओंमें सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराएँ आदि विहार करनेके लिये प्रायः बने ही रहते थे ॥ ५ ॥ जब उसके संगीतकी ध्वनि चट्टानोंसे टकराकर गुफाओंमें प्रतिध्वनित होने लगती थी, तब बड़े-बड़े गरबीले सिंह उसे दूसरे

१. प्रा० पा०—रानुवर्णनं । २. प्रा० पा०—तावान् सुविस्तृतो ह्यासीत् ।

अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६ ॥

नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः ।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥ ७ ॥

सरित्[1]सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः ॥ ८ ॥

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९ ॥
सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः ।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥ १० ॥
चूतैः प्रियालैः पनसै[2]राम्रैराम्रातकैरपि ।
क्रमुकैर्नालिकेरैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥ ११ ॥
मधूकैः सालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ।
अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुक[3]चन्दनैः ॥ १२ ॥
पिचुमन्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥ १३ ॥
बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ।
तस्मिन्सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥ १४ ॥
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् ।
मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥ १५ ॥
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि ।
जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६ ॥
मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्म[4]रजःपयः ।
कदम्बवेतसनल[5]नीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥ १७ ॥

सिंहकी ध्वनि समझकर सह न पाते और अपनी गर्जनासे उसे दबा देनेके लिये और जोरसे गरजने लगते थे ॥ ६ ॥ उस पर्वतकी तलहटी तरह-तरहके जंगली जानवरोंके झुंडोंसे सुशोभित रहती थी । अनेकों प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए देवताओंके उद्यानमें सुन्दर-सुन्दर पक्षी मधुर कण्ठसे चहकते रहते थे ॥ ७ ॥ उसपर बहुत-सी नदियाँ और सरोवर भी थे । उनका जल बड़ा निर्मल था । उनके पुलिनपर मणियोंकी बालू चमकती रहती थी । उनमें देवाङ्गनाएँ स्नान करती थीं, जिससे उनका जल अत्यन्त सुगन्धित हो जाता था । उसकी सुरभि लेकर भीनी-भीनी वायु चलती रहती थी ॥ ८ ॥

पर्वतराज त्रिकूटकी तराईमें भगवत्प्रेमी महात्मा भगवान् वरुणका एक उद्यान था । उसका नाम था ऋतुमान् । उसमें देवाङ्गनाएँ क्रीडा करती रहती थीं ॥ ९ ॥ उसमें सब ओर ऐसे दिव्य वृक्ष शोभायमान थे, जो फलों और फूलोंसे सर्वदा लदे ही रहते थे । उस उद्यानमें मन्दार, पारिजात, गुलाब, अशोक, चम्पा, तरह-तरहके आम, पयाल, कटहल, आमड़ा, सुपारी, नारियल, खजूर, बिजौरा, महुआ, साखू, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन, रीठा, गूलर, पाकर, बरगद, पलास, चन्दन, नीम, कचनार, साल, देवदारु, दाख, ईख, केला, जामुन, बेर, रुद्राक्ष, हर्रे, आँवला, बेल, कैथ, नीबू और भिलावे आदिके वृक्ष लहराते रहते थे । उस उद्यानमें एक बड़ा भारी सरोवर था । उसमें सुनहले कमल खिल रहे थे ॥ १०—१४ ॥ और भी विविध जातिके कुमुद, उत्पल, कह्लार, शतदल आदि कमलोंकी अनूठी छटा छिटक रही थी । मतवाले भौंरे गूँज रहे थे । मनोहर पक्षी कलरव कर रहे थे । हंस, कारण्डव, चक्रवाक और सारस दल-के-दल भरे हुए थे । पनडुब्बी, बतख और पपीहे कूज रहे थे । मछली और कछुओंके चलनेसे कमलके फूल हिल जाते थे, जिससे उनका पराग झड़कर जलको सुन्दर और सुगन्धित बना देता था । कदम्ब, बेंत, नरकुल, कदम्बलता, बेन आदि वृक्षोंसे वह घिरा था ॥ १५—१७ ॥

१. प्रा० पा०—सरःसरिद्भि० । २. प्रा० पा०—नसैर्निम्बैरा० । ३. प्रा० पा०—शिंशपचन्द० । ४. प्रा० पा०—त्पङ्करजः । ५. प्रा० पा०—लसद्भिर्विधैः पुलिनैर्वृतम् ।

कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः ।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः ॥१८॥
मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥१९॥

कुन्द, कुरबक (कटसरैया), अशोक, सिरस, वनमल्लिका, लिसौड़ा, हरसिंगार, सोनजूही, नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र, माधवी और मोगरा आदि सुन्दर-सुन्दर पुष्पवृक्ष एवं तटके दूसरे वृक्षोंसे भी—जो प्रत्येक ऋतुमें हरे-भरे रहते थे—वह सरोवर शोभायमान रहता था ॥ १८-१९ ॥

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकान् कीचकवेणुवेत्रवद्
विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् ॥२०॥
यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद् द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः ॥२१॥
वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥२२॥
स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
र्वृतो मदच्युत्कलभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन्
निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥२३॥
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्
सरोवराभ्याशमथागमद् द्रुतम् ॥२४॥
विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन्गतक्लमः ॥२५॥

उस पर्वतके घोर जंगलमें बहुत-सी हथिनियोंके साथ एक गजेन्द्र निवास करता था। वह बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियोंका सरदार था। एक दिन वह उसी पर्वतपर अपनी हथिनियोंके साथ काँटेवाले कीचक, बाँस, बेंत, बड़ी-बड़ी झाड़ियों और पेड़ोंको रौंदता हुआ घूम रहा था ॥ २० ॥ उसकी गन्धमात्रसे सिंह, हाथी, बाघ, गैंड़े आदि हिंस्र जन्तु, नाग तथा काले-गोरे शरभ और चमरी गाय आदि डरकर भाग जाया करते थे ॥ २१ ॥ और उसकी कृपासे भेड़िये, सूअर, भैंसे, रीछ, शल्य, लंगूर तथा कुत्ते, बंदर, हरिन और खरगोश आदि क्षुद्र जीव सब कहीं निर्भय विचरते रहते थे ॥ २२ ॥ उसके पीछे-पीछे हाथियोंके छोटे-छोटे बच्चे दौड़ रहे थे। बड़े-बड़े हाथी और हथिनियाँ भी उसे घेरे हुए चल रही थीं। उसकी धमकसे पहाड़ एकबारगी काँप उठता था। उसके गण्डस्थलसे टपकते हुए मदका पान करनेके लिये साथ-साथ भौंरे उड़ते जा रहे थे। मदके कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। बड़े जोरकी धूप थी; इसलिये वह व्याकुल हो गया और उसे तथा उसके साथियोंको प्यास भी सताने लगी। उस समय दूरसे ही कमलके परागसे सुवासित वायुकी गन्ध सूँघकर वह उसी सरोवरकी ओर चल पड़ा, जिसकी शीतलता और सुगन्ध लेकर वायु आ रही थी। थोड़ी ही देरमें वेगसे चलकर वह सरोवरके तटपर जा पहुँचा ॥ २३-२४ ॥ उस सरोवरका जल अत्यन्त निर्मल एवं अमृतके समान मधुर था। सुनहले और अरुण कमलोंकी केसरसे वह महक रहा था। गजेन्द्रने पहले तो उसमें घुसकर अपनी सूँड़से उठा-उठा जी भरकर जल पीया, फिर उस जलमें स्नान करके अपनी थकान मिटायी ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—कुटजद्रुमैः। २. प्रा० पा०—सकण्टकं। ३. प्रा० पा०—वृतं स यूथेन।

स्वपुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभि-
निपाययन्संस्नपयन्यथा गृही ।
घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥२६॥
तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥२७॥
तथाऽऽतुरं यूथपतिं करेणवो
विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा ।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥२८॥
नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयो-[१]
र्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः ।
समाः सहस्रं व्यगमन् महीपते
सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥२९॥
ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
कालेन दीर्घेण महानभूद् व्ययः ।
निकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
विपर्ययोऽभूत् सकलं जलौकसः ॥३०॥
इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप संकटं
प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया ।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
दध्याविमां[२] बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥३१॥

गजेन्द्र गृहस्थ पुरुषोंकी भाँति मोहग्रस्त होकर अपनी सूँड़से जलकी फुहारें छोड़-छोड़कर साथकी हथिनियों और बच्चोंको नहलाने लगा तथा उनके मुँहमें सूँड़ डाल-कर जल पिलाने लगा। भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ गजेन्द्र उन्मत्त हो रहा था। उस बेचारेको इस बातका पता ही न था कि मेरे सिरपर बहुत बड़ी विपत्ति मँड़रा रही है ॥ २६ ॥

परीक्षित्! गजेन्द्र जिस समय इतना उन्मत्त हो रहा था, उसी समय प्रारब्धकी प्रेरणासे एक बलवान् ग्राहने क्रोधमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। इस प्रकार अकस्मात् विपत्तिमें पड़कर उस बलवान् गजेन्द्रने अपनी शक्तिके अनुसार अपनेको छुड़ानेकी बड़ी चेष्टा की, परंतु छुड़ा न सका ॥ २७ ॥ दूसरे हाथी, हथिनियों और उनके बच्चोंने देखा कि उनके स्वामीको बलवान् ग्राह बड़े वेगसे खींच रहा है और वे बहुत घबरा रहे हैं। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बड़ी विकलतासे चिग्घाड़ने लगे। बहुतोंने उसे सहायता पहुँचाकर जलसे बाहर निकाल लेना चाहा, परंतु इसमें भी वे असमर्थ ही रहे ॥ २८ ॥ गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता, तो कभी ग्राह गजेन्द्रको भीतर खींच ले जाता। परीक्षित्! इस प्रकार उनको लड़ते-लड़ते एक हजार वर्ष बीत गये और दोनों ही जीते रहे। यह घटना देखकर देवता भी आश्चर्यचकित हो गये ॥२९॥

अन्तमें बहुत दिनोंतक बार-बार जलमें खींचे जाने-से गजेन्द्रका शरीर शिथिल पड़ गया। न तो उसके शरीरमें बल रह गया और न मनमें उत्साह। शक्ति भी क्षीण हो गयी। इधर ग्राह तो जलचर ही ठहरा। इसलिये उसकी शक्ति क्षीण होनेके स्थानपर बढ़ गयी, वह बड़े उत्साहसे और भी बल लगाकर गजेन्द्रको खींचने लगा ॥ ३० ॥ इस प्रकार देहाभिमानी गजेन्द्र अकस्मात् प्राणसंकटमें पड़ गया और अपनेको छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। बहुत देरतक उसने अपने छुटकारेके उपायपर विचार किया, अन्तमें वह इस निश्चय-पर पहुँचा ॥३१॥ 'यह ग्राह विधाताकी फाँसी ही है।

१. प्रा० पा०—विध्यतोरेव गजेन्द्रनक्र० । २. प्रा० पा०—दैवादिमां ।

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥३२॥

इसमें फँसकर मैं आतुर हो रहा हूँ । जब मुझे मेरे बराबरके हाथी भी इस विपत्तिसे न उबार सके, तब ये बेचारी हथिनियाँ तो छुड़ा ही कैसे सकती हैं ? इसलिये अब मैं सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र आश्रय भगवान्‌की ही शरण लेता हूँ ॥ ३२ ॥

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥३३॥

काल बड़ा बली है । यह साँपके समान बड़े प्रचण्ड वेगसे सबको निगल जानेके लिये दौड़ता ही रहता है । इससे अत्यन्त भयभीत होकर जो कोई भगवान्‌की शरणमें चला जाता है, उसे वे प्रभु अवश्य-अवश्य बचा लेते हैं । उनके भयसे भीत होकर मृत्यु भी अपना काम ठीक-ठीक पूरा करता है । वही प्रभु सबके आश्रय हैं । मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने[1] गजेन्द्रोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

गजेन्द्रके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और उसका संकटसे मुक्त होना

श्रीशुक[2] उवाच

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि ।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित् ! अपनी बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके गजेन्द्रने अपने मनको हृदयमें एकाग्र किया और फिर पूर्वजन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रके जप-द्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगा ॥ १ ॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ २ ॥

गजेन्द्रने कहा —जो जगत्‌के मूल कारण हैं और सबके हृदयमें पुरुषके रूपमें विराजमान हैं एवं समस्त जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं, जिनके कारण इस संसारमें चेतनताका विस्तार होता है—उन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ, प्रेमसे उनका ध्यान करता हूँ ॥ २ ॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥ ३ ॥

यह संसार उन्हींमें स्थित है, उन्हींकी सत्तासे प्रतीत हो रहा है, वे ही इसमें व्याप्त हो रहे हैं और स्वयं वे ही इसके रूपमें प्रकट हो रहे हैं । यह सब होनेपर भी वे इस संसार और इसके कारण—प्रकृतिसे सर्वथा परे हैं । उन स्वयंप्रकाश, स्वयसिद्ध सत्तात्मक भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम् ।

यह विश्व-प्रपञ्च उन्हींकी मायासे उनमें अध्यस्त है । यह

१. प्राचीन प्रतिमें 'मन्वतरानुवर्णने' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते

स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ ४ ॥

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो

लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ।

तमस्तदाऽऽसीद् गहनं गभीरं

यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५ ॥

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-

र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।

यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो

दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं

विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।

चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने

भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ ७ ॥

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा

न नामरूपे गुणदोष एव वा ।

तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः

स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥ ८ ॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥ ९ ॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।

नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥ १० ॥

कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। परंतु उनकी दृष्टि ज्यों-की त्यों— एक-सी रहती है। वे इसके साक्षी हैं और उन दोनोंको ही देखते रहते हैं। वे सबके मूल हैं और अपने मूल भी वही हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है। वे ही समस्त कार्य और कारणोंसे अतीत प्रभु मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥ प्रलयके समय लोक, लोक-पाल और इन सबके कारण सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाते हैं। उस समय केवल अत्यन्त घना और गहरा अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है। परंतु अनन्त परमात्मा उससे सर्वथा परे विराजमान रहते हैं। वे ही प्रभु मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥ उनकी लीलाओंका रहस्य जानना बहुत ही कठिन है। वे नटकी भाँति अनेकों वेष धारण करते हैं। उनके वास्तविक स्वरूपको न तो देवता जानते हैं और न ऋषि ही; फिर दूसरा ऐसा कौन प्राणी है, जो वहाँतक जा सके और उसका वर्णन कर सके? वे प्रभु मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥ जिनके परम मङ्गलमय स्वरूपका दर्शन करनेके लिये महात्मागण संसारकी समस्त आसक्तियों-का परित्याग कर देते हैं और वनमें जाकर अखण्डभावसे ब्रह्मचर्य आदि अलौकिक व्रतोंका पालन करते हैं तथा अपने आत्माको सबके हृदयमें विराजमान देखकर स्वाभाविक ही सबकी भलाई करते हैं— वे ही मुनियोंके सर्वस्व भगवान् मेरे सहायक हैं; वे ही मेरी गति हैं ।७। न उनके जन्म-कर्म हैं और न नाम-रूप; फिर उनके सम्बन्धमें गुण और दोषकी तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है? फिर भी विश्वकी सृष्टि और संहार करनेके लिये समय-समयपर वे उन्हें अपनी मायासे स्वीकार करते हैं ॥ ८ ॥ उन्हीं अनन्त शक्तिमान् सर्वैश्वर्यमय परब्रह्म परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। वे अरूप होनेपर भी बहुरूप हैं। उनके कर्म अत्यन्त आश्चर्यमय हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥ स्वयंप्रकाश, सबके साक्षी परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। जो मन, वाणी और चित्तसे अत्यन्त दूर हैं—उन परमात्मा-को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—वै सर्वगतेषु । २. प्रा० पा०—चरन्ति लोके व्रतं० । ३. प्रा० पा०—सर्वात्मभूताः । ४. प्रा० पा०—च । ५. प्रा० पा०—कूल० ।

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।

नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ ११ ॥

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ।

निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ १२ ॥

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ।

पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।

असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥ १४ ॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय

निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।

सर्वागमाम्नायमहार्णवाय

नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥ १५ ॥

गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय

तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।

नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-

स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुष कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पणके द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं तथा जो स्वयं तो नित्यमुक्त, परमानन्द एवं ज्ञान-स्वरूप हैं ही, दूसरोंको कैवल्य मुक्ति देनेकी सामर्थ्य भी केवल उन्हींमें है—उन प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥ जो सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों-का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था भी धारण करते हैं, उन भेदरहित समभावसे स्थित एवं ज्ञानघन प्रभुको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥ आप सबके स्वामी, समस्त क्षेत्रोंके एक-मात्र ज्ञाता एवं सर्वसाक्षी हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ । आप स्वयं ही अपने कारण हैं । पुरुष और मूल प्रकृतिके रूपमें भी आप ही हैं । आपको मेरे बार-बार नमस्कार ॥ १३ ॥ आप समस्त इन्द्रिय और उनके विषयोंके द्रष्टा हैं, समस्त प्रतीतियोंके आधार हैं । अहं-कार आदि छायारूप असत् वस्तुओंके द्वारा आपका ही अस्तित्व प्रकट होता है । समस्त वस्तुओंकी सत्ता-के रूपमें भी केवल आप ही भास रहे हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥ आप सबके मूल कारण हैं, आपका कोई कारण नहीं है । कारण होनेपर भी आपमें विकार या परिणाम नहीं होता, इसलिये आप अनोखे कारण हैं । आपको मेरा बार-बार नमस्कार ! जैसे समस्त नदी-झरने आदिका परम आश्रय समुद्र है, वैसे ही आप समस्त वेद और शास्त्रोंके परम तात्पर्य हैं । आप मोक्षस्वरूप हैं और समस्त संत आपकी ही शरण ग्रहण करते हैं, अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १५ ॥ जैसे यज्ञके काष्ठ अरणिमें अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही आपने अपने ज्ञानको गुणोंकी मायासे ढक रक्खा है । गुणों-में क्षोभ होनेपर उनके द्वारा विविध प्रकारकी सृष्टि-रचनाका आप सङ्कल्प करते हैं । जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पणके द्वारा आत्मतत्त्वकी भावना करके वेद-शास्त्रोंसे ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्माके रूप-में आप स्वयं ही प्रकाशित हो जाते हैं । आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

१. प्रा० पा०—विवर्तिताय ।

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥१७॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१८॥
यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१९॥
एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥२०॥
तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२१॥
यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥२२॥
यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।

जैसे कोई दयालु पुरुष फंदेमें पड़े हुए पशुका बन्धन काट दे, वैसे ही आप मेरे-जैसे शरणागतोंकी फाँसी काट देते हैं । आप नित्यमुक्त हैं, परम करुणामय हैं और भक्तोंका कल्याण करनेमें आप कभी आलस्य नहीं करते । आपके चरणोंमें मेरा नमस्कार है । समस्त प्राणियोंके हृदयमें अपने अंशके द्वारा अन्तरात्माके रूपमें आप उपलब्ध होते रहते हैं । आप सर्वैश्वर्यपूर्ण एवं अनन्त हैं । आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥ जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजन, गृह, सम्पत्ति और स्वजनोंमें आसक्त हैं—उन्हें आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है; क्योंकि आप स्वयं गुणोंकी आसक्तिसे रहित हैं । जीवन्मुक्त पुरुष अपने हृदयमें आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं । उन सर्वैश्वर्यपूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनासे मनुष्य उन्हींका भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेते हैं । इतना ही नहीं, वे उनको सभी प्रकारका सुख देते हैं और अपने ही-जैसा अविनाशी पार्षद-शरीर भी देते हैं । वे ही परम दयालु प्रभु मेरा उद्धार करें ॥१९॥ जिनके अनन्य प्रेमी भक्तजन उन्हींकी शरणमें रहते हुए उनसे किसी भी वस्तुकी—यहाँतक कि मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते, केवल उनकी परम दिव्य मङ्गलमयी लीलाओंका गान करते हुए आनन्दके समुद्रमें निमग्न रहते हैं ॥ २० ॥ जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं; जो अत्यन्त निकट रहनेपर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं; जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं—उन्हीं आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ २१ ॥

जिनकी अत्यन्त छोटी कलासे अनेकों नाम-रूपके भेद-भावसे युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकोंकी सृष्टि हुई है, जैसे धधकती हुई आगसे लपटें और प्रकाशमान सूर्यसे उनकी किरणें बार-बार निकलती और लीन होती रहती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश

तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२३॥
स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्-
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२४॥
जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२५॥
सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२६॥
योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२७॥
नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२८॥
नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥२९॥

परमात्मासे बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर—जो गुणोंके प्रवाहरूप हैं—बार-बार प्रकट होते तथा लीन हो जाते हैं, वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। न वे स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक। वे कोई साधारण या असाधारण प्राणी भी नहीं हैं। न वे गुण हैं और न कर्म, न कार्य हैं और न तो कारण ही। सबका निषेध हो जानेपर जो कुछ बच रहता है, वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब कुछ हैं। वे ही परमात्मा मेरे उद्धारके लिये प्रकट हों॥ २२—२४॥ मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथीकी योनि बाहर और भीतर—सब ओरसे अज्ञानरूप आवरणके द्वारा ढकी हुई है, इसको रखकर करना ही क्या है? मैं तो आत्मप्रकाशको ढकनेवाले उस अज्ञानरूप आवरणसे छूटना चाहता हूँ, जो कालक्रमसे अपने-आप नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञानके द्वारा ही नष्ट होता है॥२५॥ इसलिये मैं उन परब्रह्म परमात्माकी शरणमें हूँ, जो विश्वरहित होनेपर भी विश्वके रचयिता और विश्वस्वरूप हैं—साथ ही जो विश्वकी अन्तरात्माके रूपमें विश्वरूप सामग्रीसे क्रीडा भी करते रहते हैं, उन अजन्मा परमपद-स्वरूप ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २६॥ योगीलोग योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफलको भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २७॥ प्रभो! आपकी तीन शक्तियों—सत्त्व, रज और तमके रागादि वेग असह्य हैं। समस्त इन्द्रियों और मनके विषयोंके रूपमें भी आप ही प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वे तो आपकी प्राप्तिका मार्ग भी नहीं पा सकते। आपकी शक्ति अनन्त है। आप शरणागतवत्सल हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २८॥ आपकी माया अहंबुद्धिसे आत्माका स्वरूप ढक गया है, इसीसे यह जीव अपने स्वरूपको नहीं जान पाता। आपकी महिमा अपार है। उन सर्वशक्तिमान् एवं माधुर्यनिधि भगवान्‌की मैं शरणमें हूँ॥ २९॥

१. प्रा० पा०—वन्तं नतोऽस्म्यहम्।

श्रीशुक उवाच

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः ।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥३०॥

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ।३१।

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥३२॥

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्[1] ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! गजेन्द्रने बिना किसी भेदभावके निर्विशेषरूपसे भगवान्‌की स्तुति की थी, इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मा आदि देवता उसकी रक्षा करनेके लिये नहीं आये । उस समय सर्वात्मा होनेके कारण सर्वदेवस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये ॥३०॥ विश्वके एकमात्र आधार भगवान्‌ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है । अतः उसकी स्तुति सुनकर वेदमय गरुड़पर सवार हो चक्रधारी भगवान् बड़ी शीघ्रतासे वहाँके लिये चल पड़े, जहाँ गजेन्द्र अत्यन्त संकटमें पड़ा हुआ था । उनके साथ स्तुति करते हुए देवता भी आये ॥ ३१ ॥ सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रक्खा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ रहे हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है' ॥ ३२ ॥ जब भगवान्‌ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है, तब वे एकबारगी गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी बड़ी शीघ्रतासे सरोवरसे बाहर निकाल लाये । फिर सब देवताओंके सामने ही भगवान् श्रीहरिने चक्रसे ग्राहका मुँह फाड़ डाला और गजेन्द्रको छुड़ा लिया ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

गज और ग्राहका पूर्वचरित्र तथा उनका उद्धार

श्रीशुक उवाच

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः[2] ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! उस समय ब्रह्मा, शंकर आदि देवता, ऋषि और गन्धर्व श्रीहरि

१. प्रा० पा०—दिन्द्रियाणाम् । २. प्रा० पा०—क्षणं नाम ।

मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः ॥ १ ॥
नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः ।
ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥
योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक् ।
मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः ॥ ३ ॥
प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम् ।
अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम् ॥ ४ ॥
सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः ॥ ५ ॥
गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ ६ ॥
स वै पूर्वमभूद् राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः ।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः ॥ ७ ॥
स एकदाऽऽराधनकाल आत्मवान्
गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्[1] ।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं
समर्चयामास कुलाचलाश्रमः ॥ ८ ॥
यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः ।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह ॥ ९ ॥

भगवान्‌के इस कर्मकी प्रशंसा करने लगे तथा उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ १ ॥ स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्व नाचने-गाने लगे, ऋषि, चारण और सिद्धगण भगवान् पुरुषोत्तमकी स्तुति करने लगे ॥ २ ॥ इधर वह ग्राह तुरंत ही परम आश्चर्यमय दिव्य शरीरसे सम्पन्न हो गया। यह ग्राह इसके पहले 'हूहू' नामका एक श्रेष्ठ गन्धर्व था। देवलके शापसे उसे यह गति प्राप्त हुई थी। अब भगवान्‌की कृपासे वह मुक्त हो गया ॥ ३ ॥ उसने सर्वेश्वर भगवान्‌के चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया, इसके बाद वह भगवान्‌के सुयशका गान करने लगा। वास्तवमें अविनाशी भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ कीर्तिसे सम्पन्न हैं। उन्हींके गुण और मनोहर लीलाएँ गान करनेयोग्य हैं ॥ ४ ॥ भगवान्‌के कृपापूर्ण स्पर्शसे उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये। उसने भगवान्‌की परिक्रमा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और सबके देखते-देखते अपने लोककी यात्रा की ॥ ५ ॥

गजेन्द्र भी भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त होते ही अज्ञानके बन्धनसे मुक्त हो गया। उसे भगवान्‌का ही रूप प्राप्त हो गया। वह पीताम्बरधारी एवं चतुर्भुज बन गया ॥ ६ ॥ गजेन्द्र पूर्वजन्ममें द्रविड देशका पाण्ड्यवंशी राजा था। उसका नाम था इन्द्रद्युम्न। वह भगवान्‌का एक श्रेष्ठ उपासक एवं अत्यन्त यशस्वी था ॥ ७ ॥ एक बार राजा इन्द्रद्युम्न राजपाट छोड़कर मलयपर्वतपर रहने लगे थे। उन्होंने जटाएँ बढ़ा लीं, तपस्वीका वेष धारण कर लिया। एक दिन स्नानके बाद पूजाके समय मनको एकाग्र करके एवं मौनव्रती होकर वे सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आराधना कर रहे थे ॥ ८ ॥ उसी समय दैवयोगसे परमयशस्वी अगस्त्य मुनि अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि यह प्रजापालन और गृहस्थोचित अतिथिसेवा आदि धर्मका परित्याग करके तपस्वियोंकी तरह एकान्तमें चुपचाप बैठकर उपासना कर रहा है, इसलिये वे राजा इन्द्रद्युम्नपर क्रुद्ध

१. प्रा० पा०—तो हरिं ।

तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य ।
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान्नृप सानुगः ।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं[1] तदुपधारयन् ॥११॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम् ।
हर्यर्चनानुभावेन[3] यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ॥१२॥
एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं[4] गमितेन युक्तः ।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥१३॥
एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥१४॥
यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः ।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये ॥१५॥
इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम ।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम् ।
वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥१७॥
शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च ।
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम् ॥१८॥
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम ।

हो गये ॥ ९ ॥ उन्होंने राजाको यह शाप दिया—'इस राजाने गुरुजनोंसे शिक्षा नहीं ग्रहण की है, अभिमानवश परोपकारसे निवृत्त होकर मनमानी कर रहा है। ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला यह हाथीके समान जडबुद्धि है, इसलिये इसे वही घोर अज्ञानमयी हाथीकी योनि प्राप्त हो' ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शाप एवं वरदान देनेमें समर्थ अगस्त्य ऋषि इस प्रकार शाप देकर अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँसे चले गये। राजर्षि इन्द्रद्युम्नने यह समझकर संतोष किया कि यह मेरा प्रारब्ध ही था ॥ ११ ॥ इसके बाद आत्माकी विस्मृति करा देनेवाली हाथीकी योनि उन्हें प्राप्त हुई। परंतु भगवान्‌की आराधनाका ऐसा प्रभाव है कि हाथी होनेपर भी उन्हें भगवान्‌की स्मृति हो ही गयी ॥ १२ ॥ भगवान् श्रीहरिने इस प्रकार गजेन्द्रका उद्धार करके उसे अपना पार्षद बना लिया। गन्धर्व, सिद्ध, देवता उनकी इस लीलाका गान करने लगे और वे पार्षदरूप गजेन्द्रको साथ ले गरुड़पर सवार होकर अपने अलौकिक धामको चले गये ॥ १३ ॥ कुरुवंश-शिरोमणि परीक्षित् ! मैंने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा तथा गजेन्द्रके उद्धारकी कथा तुम्हें सुना दी। यह प्रसङ्ग सुननेवालोंके कलिमल और दुःस्वप्नको मिटानेवाला एवं यश, उन्नति और स्वर्ग देनेवाला है ॥ १४ ॥ इसीसे कल्याणकामी द्विजगण दुःस्वप्न आदिकी शान्तिके लिये प्रातःकाल जगते ही पवित्र होकर इसका पाठ करते हैं ॥ १५ ॥ परीक्षित् ! राजेन्द्रकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर सर्वव्यापक एवं सर्वभूतस्वरूप श्रीहरि भगवान्‌ने सब लोगोंके सामने ही उसे यह बात कही थी ॥ १६ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जो लोग रातके पिछले पहरमें उठकर इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एकाग्रचित्तसे मेरा-तेरा तथा इस सरोवर, पर्वत एवं कन्दरा, वन, बेंत, कीचक और बाँसके झुरमुट, यहाँके दिव्य वृक्ष तथा पर्वतशिखर, मेरे, ब्रह्माजी और शिवजीके निवासस्थान, मेरे प्यारे धाम क्षीरसागर, प्रकाशमय श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि,

१. प्रा० पा०—तमिस्रं। २. प्रा० पा०—दिष्ट्या। ३. प्राचीन प्रतिमें 'हर्यर्चनानुभावेन...' यह उत्तरार्ध नहीं है। ४. प्रा० पा०—पारिषदतां गमि०।

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥१९॥
शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम् ।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च ॥२०॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे ।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम् ॥२१॥
प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान् धर्ममव्ययम् ।
दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि ॥२२॥
गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम् ।
ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान् ॥२३॥
उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः[1] सुसमाहिताः ।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात् ॥२४॥
ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये ।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥२५॥

वनमाला, मेरी कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पक्षिराज गरुड, मेरे सूक्ष्म कलास्वरूप शेषजी, मेरे आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, शंकरजी तथा भक्तराज प्रह्लाद, मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतारोंमें किये हुए मेरे अनन्त पुण्यमय चरित्र, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, ॐकार, सत्य, मूलप्रकृति, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी सनातनधर्म, सोम, कश्यप और धर्मकी पत्नी दक्षकन्याएँ, गङ्गा, सरस्वती, अलकनन्दा, यमुना, ऐरावत हाथी, भक्तशिरोमणि ध्रुव, सात ब्रह्मर्षि और पवित्रकीर्ति (नल, युधिष्ठिर, जनक आदि) महापुरुषोंका स्मरण करते हैं—वे समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; क्योंकि ये सब-के-सब मेरे ही रूप हैं ॥१७-२४॥ प्यारे गजेन्द्र ! जो लोग ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर तुम्हारी की हुई स्तुतिसे मेरा स्तवन करेंगे, मृत्युके समय उन्हें मैं निर्मल बुद्धिका दान करूँगा ॥ २५ ॥

श्रीशुक[2] उवाच

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्रध्माय जलजोत्तमम् ।
हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा कहकर देवताओंको आनन्दित करते हुए अपना श्रेष्ठ शङ्ख बजाया और गरुडपर सवार हो गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणं[3] नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना और ब्रह्माकृत भगवान्‌की स्तुति

श्रीशुक उवाच

राजन्नुदितमेतत्[4] ते हरेः कर्माघनाशनम् ।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु ॥ १ ॥
पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः ।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः[5] ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌की यह गजेन्द्रमोक्षकी पवित्र लीला समस्त पापोंका नाश करनेवाली है । इसे मैंने तुम्हें सुना दिया । अब रैवत मन्वन्तरकी कथा सुनो ॥ १ ॥ पाँचवें मनुका नाम था रैवत । वे चौथे मनु तामसके सगे भाई थे । उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र थे ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—प्रणताः । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है । ३. प्रा० पा०—मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्रमोक्षोपाख्याने चतु० । ४. प्रा० पा०—राजंश्चरितमेतत्ते । ५. प्रा० पा०—सपूर्वकः ।

विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन्भूतरयादयः ।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ॥ ३ ॥
पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः ।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् ॥ ४ ॥
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥
तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः ।
भौमान्रेणून्स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद् गुणान् ॥ ६ ॥
षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः ।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥ ७ ॥
इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः ।
मुनयस्तत्र वै राजन्हविष्मद्वीरकादयः ॥ ८ ॥
तत्रापि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः ।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥ ९ ॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा ।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥ १० ॥

राजोवाच

यथा भगवता ब्रह्मन्मथितः क्षीरसागरः ।
यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥ ११ ॥
यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यदभवत् ततः ।[1]
एतद् भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥ १२ ॥
त्वया सङ्कथ्यमानेन[2] महिम्ना सात्वतां पते ।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम् ॥ १३ ॥

उस मन्वन्तरमें इन्द्रका नाम था विभु; और भूतरय आदि देवताओंके प्रधान गण थे। परीक्षित्! उस समय हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षि थे ॥ ३ ॥ उनमें शुभ्र ऋषिकी पत्नीका नाम था विकुण्ठा। उन्हींके गर्भसे वैकुण्ठ नामक श्रेष्ठ देवताओंके साथ अपने अंशसे स्वयं भगवान्‌ने वैकुण्ठ नामक अवतार धारण किया ॥ ४ ॥ उन्हींने लक्ष्मीदेवीकी प्रार्थनासे उनको प्रसन्न करनेके लिये वैकुण्ठ-धामकी रचना की थी। वह लोक समस्त लोकोंमें श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥ उन वैकुण्ठनाथके कल्याणमय गुण और प्रभावका वर्णन मैं संक्षेपसे (तीसरे स्कन्धमें) कर चुका हूँ। भगवान् विष्णुके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो वह करे, जिसने पृथ्वीके परमाणुओंकी गिनती कर ली हो ॥ ६ ॥

छठे मनु चक्षुके पुत्र चाक्षुष थे। उनके पूरु, पूरुष, सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे ॥ ७ ॥ इन्द्रका नाम था मन्त्रद्रुम और प्रधान देवगण थे आप्य आदि। उस मन्वन्तरमें हविष्मान् और वीरक आदि सप्तर्षि थे ॥ ८ ॥ जगत्पति भगवान्‌ने उस समय भी वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे अजित नामका अंशावतार ग्रहण किया था ॥ ९ ॥ उन्होंने ही समुद्र-मन्थन करके देवताओंको अमृत पिलाया था तथा वे ही कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलकी मथानीके आधार बने थे ॥ १० ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! भगवान्‌ने क्षीर सागरका मन्थन कैसे किया? उन्होंने कच्छपरूप धारण करके किस कारण और किस उद्देश्यसे मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया? ॥ ११ ॥ देवताओंको उस समय अमृत कैसे मिला? और भी कौन-कौन-सी वस्तुएँ समुद्रसे निकलीं? भगवान्‌की यह लीला बड़ी ही अद्भुत है, आप कृपा करके अवश्य सुनाइये ॥ १२ ॥ आप भक्तवत्सल भगवान्‌की महिमाका ज्यों-ज्यों वर्णन करते हैं, त्यों-ही-त्यों मेरा हृदय उसको और भी सुननेके लिये उत्सुक होता जा रहा है। अघानेका तो नाम ही नहीं लेता। क्यों न हो, बहुत दिनोंसे यह संसारकी ज्वालाओंसे जलता जो रहा है! ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—किमन्यदभ०। २. प्रा० पा०—संकीर्त्यमाने०।

सूत उवाच

सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः[1]।
अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे[2] ॥१४॥

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो ! भगवान् श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌के इस प्रश्नका अभिनन्दन करते हुए भगवान्‌की समुद्र-मन्थन-लीलाका वर्णन आरम्भ किया ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः शितायुधैः[3]।
गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन्स्म भूयशः ॥१५॥
यदा दुर्वाससः शापात्[4] सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप।
निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः ॥१६॥
निशाम्यैतत् सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः।
नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चयम् ॥१७॥
ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्धनि सर्वशः।
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ॥१८॥
स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निःसत्त्वान्विगतप्रभान्।
लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥१९॥
समाहितेन मनसा संस्मरन्पुरुषं परम्।
उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः ॥२०॥
अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता
व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जिस समयकी यह बात है, उस समय असुरोंने अपने तीखे शस्त्रोंसे देवताओंको पराजित कर दिया था। उस युद्धमें बहुतों-के तो प्राणोंपर ही बन आयी, वे रणभूमिमें गिरकर फिर उठ न सके ॥ १५ ॥ दुर्वासाके शापसे* तीनों लोक और स्वयं इन्द्र भी श्रीहीन हो गये थे। यहाँतक कि यज्ञ-यागादि धर्म-कर्मोंका भी लोप हो गया था ॥१६॥ यह सब दुर्दशा देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवताओंने आपसमें बहुत कुछ सोचा-विचारा; परंतु अपने विचारों-से वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ १७ ॥ तब वे सब-के-सब सुमेरुके शिखरपर स्थित ब्रह्माजीकी सभामें गये और वहाँ उन लोगोंने बड़ी नम्रतासे ब्रह्माजीकी सेवामें अपनी परिस्थितिका विस्तृत विवरण उपस्थित किया ॥ १८ ॥ ब्रह्माजीने स्वयं देखा कि इन्द्र, वायु आदि देवता श्रीहीन एवं शक्तिहीन हो गये हैं। लोगों-की परिस्थिति बड़ी विकट, संकटग्रस्त हो गयी है और असुर इसके विपरीत फल-फूल रहे हैं ॥ १९ ॥ समर्थ ब्रह्माजीने अपना मन एकाग्र करके परम पुरुष भगवान्‌का स्मरण किया; फिर थोड़ी देर रुककर प्रफुल्लित मुखसे देवताओंको सम्बोधित करते हुए कहा ॥ २० ॥ 'देवताओ ! मैं, शंकरजी, तुमलोग तथा असुर, दैत्य, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष और स्वेदज आदि समस्त प्राणी जिनके विराट् रूपके एक अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प अंशसे रचे गये हैं—हमलोग उन अविनाशी प्रभुकी ही शरण

१. प्रा० पा०—द्विजः। २. प्रा० पा०—वीर्यं क्रमशो वक्तुमारमे। ३. प्रा० पा०—स्तथायुधैः। ४. प्रा० पा०—दुर्वासशापेन।

* यह प्रसंग विष्णुपुराणमें इस प्रकार आया है। एक बार श्रीदुर्वासाजी वैकुण्ठलोकसे आ रहे थे। मार्गमें ऐरावतपर चढ़े देवराज इन्द्र मिले। उन्हें त्रिलोकाधिपति जानकर दुर्वासाजीने भगवान्‌के प्रसादकी माला दी; किंतु इन्द्रने ऐश्वर्यके मदसे उसका कुछ भी आदर न कर उसे ऐरावतके मस्तकपर डाल दिया। ऐरावतने उसे सूँड़में लेकर पैरोंसे कुचल डाला। इससे दुर्वासाजीने क्रोधित होकर शाप दिया कि तू तीनों लोकोंसहित शीघ्र ही श्रीहीन हो जायगा।

न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
अथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले ॥२२॥
अयं च तस्य स्थितिपालनक्षणः
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् ।
तस्माद् व्रजामः शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः ॥२३॥

ग्रहण करें ॥ २१ ॥ यद्यपि उनकी दृष्टिमें न कोई वध-का पात्र है और न रक्षाका, उनके लिये न तो कोई उपेक्षणीय है न कोई आदरका पात्र ही— फिर भी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिये समय-समयपर वे रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको स्वीकार किया करते हैं ॥ २२ ॥ उन्होंने इस समय प्राणियोंके कल्याणके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार कर रक्खा है । इसलिये यह जगत्-की स्थिति और रक्षाका अवसर है । अतः हम सब उन्हीं जगद्गुरु परमात्माकी शरण ग्रहण करते हैं । ये देवताओंके प्रिय हैं और देवता उनके प्रिय । इसलिये हम निजजनोंका वे अवश्य ही कल्याण करेंगे ॥ २३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवैररिन्दम ।
अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम् ॥२४॥
तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै विभो ।
स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! देवताओंसे यह कहकर ब्रह्माजी देवताओंको साथ लेकर भगवान् अजितके निजधाम वैकुण्ठमें गये । वह धाम तमोमयी प्रकृतिसे परे है ॥ २४ ॥ इन लोगोंने भगवान्के स्वरूप और धामके सम्बन्धमें पहलेसे ही बहुत कुछ सुन रक्खा था, परंतु वहाँ जानेपर उन लोगोंको कुछ दिखायी न पड़ा । इसलिये ब्रह्माजी एकाग्र मनसे वेदवाणीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥

ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥२६॥
विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना-
मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥२७॥

ब्रह्माजी बोले—भगवन् ! आप निर्विकार, सत्य, अनन्त, आदिपुरुष, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान, अखण्ड एवं अतर्क्य हैं । मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ आप पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं । वाणी आपका निरूपण नहीं कर सकती । आप समस्त देव-ताओंके आराधनीय और स्वयंप्रकाश हैं । हम सब आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥ आप प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारके ज्ञाता हैं । इन्द्रियाँ और उनके विषय दोनों ही आपके द्वारा प्रकाशित होते हैं । अज्ञान आपका स्पर्श नहीं कर सकता । प्रकृतिके विकार मरने-जीनेवाले शरीरसे भी आप रहित हैं । जीवके दोनों पक्ष अविद्या और विद्या आपमें बिल्कुल ही नहीं हैं । आप अविनाशी और सुखस्वरूप हैं । सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें तो आप प्रकटरूपसे ही विराजमान रहते हैं । हम सब आपकी शरण ग्रहण करते हैं ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—तथापि । २. प्रा० पा०—तु । ३. प्रा० पा०—नमामहे ।

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु ।
त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥२८॥
यं एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-
मुपासते योगरथेन धीराः ॥२९॥
न यस्य कश्चातितितर्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम् ।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥३०॥
इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥३१॥
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३२॥
अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३३॥

यह शरीर जीवका एक मनोमय चक्र (रथका पहिया) है । दस इन्द्रिय और पाँच प्राण - ये पंद्रह इसके अरे हैं । सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण इसकी नाभि हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ इसमें नेमि (पहियेका घेरा) हैं । स्वयं माया इसका सञ्चालन करती है और यह बिजलीसे भी अधिक शीघ्रगामी है । इस चक्रके धुरे हैं स्वयं परमात्मा । वे ही एकमात्र सत्य हैं । हम उनकी शरणमें हैं ॥ २८ ॥ जो एकमात्र ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिसे परे एवं अदृश्य हैं; जो समस्त वस्तुओंके मूलमें स्थित अव्यक्त हैं और देश, काल अथवा वस्तुसे जिनका पार नहीं पाया जा सकता—वही प्रभु इस जीवके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं । विचारशील मनुष्य भक्तियोगके द्वारा उन्हींकी आराधना करते हैं ॥ २९ ॥ जिस मायासे मोहित होकर जीव अपने वास्तविक लक्ष्य अथवा स्वरूपको भूल गया है, वह उन्हींकी है और कोई भी उसका पार नहीं पा सकता । परंतु सर्वशक्तिमान् प्रभु अपनी उस माया तथा उसके गुणोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके हृदयमें समभावसे विचरण करते रहते हैं । जीव अपने पुरुषार्थसे नहीं, उनकी कृपासे ही उन्हें प्राप्त कर सकता है । हम उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं ॥ ३० ॥ यों तो हम देवता एवं ऋषिगण भी उनके परम प्रिय सत्त्वमय शरीरसे ही उत्पन्न हुए हैं, फिर भी उनके बाहर-भीतर एकरस प्रकट वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते । तब रजोगुण एवं तमोगुणप्रधान असुर आदि तो उन्हें जान ही कैसे सकते हैं ? उन्हीं प्रभुके चरणोंमें हम नमस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

उन्हींकी बनायी हुई यह पृथ्वी उनका चरण है । इसी पृथ्वीपर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी रहते हैं । वे परम स्वतन्त्र, परम ऐश्वर्यशाली पुरुषोत्तम परब्रह्म हमपर प्रसन्न हों ॥ ३२ ॥ यह परम शक्तिशाली जल उन्हींका वीर्य है । इसीसे तीनों लोक और समस्त लोकोंके लोकपाल उत्पन्न होते, बढ़ते और जीवित रहते हैं । वे परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म

१. प्रा० पा०—यदेकवर्णं मनसः परं ।

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३४॥
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३५॥
यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३६॥
प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३७॥
श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदयश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३८॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद् विरिञ्चः।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३९॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छायया्ऽऽसन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४०॥

हमपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥ श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा उस प्रभुका मन है। यह चन्द्रमा समस्त देवताओंका अन्न, बल एवं आयु है। वही वृक्षोंका सम्राट् एवं प्रजाकी वृद्धि करनेवाला है। ऐसे मनको स्वीकार करनेवाले परम ऐश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥ अग्नि प्रभुका मुख है। इसकी उत्पत्ति ही इसलिये हुई है कि वेदके यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड पूर्णरूपसे सम्पन्न हो सकें। यह अग्नि ही शरीरके भीतर जठराग्निरूपसे और समुद्रके भीतर बड़वानलके रूपसे रहकर उनमें रहनेवाले अन्न, जल आदि धातुओंका पाचन करता रहता है; और समस्त द्रव्योंकी उत्पत्ति भी उसीसे हुई है। ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥ जिनके द्वारा जीव देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, जो वेदोंकी साक्षात् मूर्ति और भगवान्‌के ध्यान करनेयोग्य धाम हैं, जो पुण्यलोकस्वरूप होनेके कारण मुक्तिके द्वार एवं अमृतमय हैं और कालरूप होनेके कारण मृत्यु भी हैं—ऐसे सूर्य जिनके नेत्र हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३६ ॥ प्रभुके प्राणसे ही चराचरका प्राण तथा उन्हें मानसिक, शारीरिक और इन्द्रियसम्बन्धी बल देनेवाला वायु प्रकट हुआ है। वह चक्रवर्ती सम्राट् है, तो इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता हम सब उसके अनुचर। ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥ जिनके कानोंसे दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक और नाभिसे वह आकाश उत्पन्न हुआ है, जो पाँचों प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान), दसों इन्द्रिय, मन, पाँचों असु (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय) एवं शरीरका आश्रय है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३८ ॥ जिनके बलसे इन्द्र, प्रसन्नतासे समस्त देवगण, क्रोधसे शंकर, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे वेद और ऋषि तथा लिङ्गसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३९ ॥ जिनके वक्षःस्थलसे लक्ष्मी, छायासे पितृगण, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, सिरसे आकाश और विहारसे अप्सराएँ प्रकट हुई हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ४० ॥

१. प्रा० पा०—मन्नमायुः। २. प्रा० पा०—ब्रह्म महा०। ३. प्रा० पा०—ब्रह्म महा०। ४. प्रा० पा०—गिरिशो।

विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४१॥
लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४२॥
द्रव्यं वयः कर्म गुणान्विशेषं
यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।
यद् दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४३॥
नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥४४॥

जिनके मुखसे ब्राह्मण और अत्यन्त रहस्यमय वेद, भुजाओंसे क्षत्रिय और बल, जङ्घाओंसे वैश्य और उनकी वृत्ति—व्यापारकुशलता तथा चरणोंसे वेदबाह्य शूद्र और उनकी सेवा आदि वृत्ति प्रकट हुई है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ४१ ॥ जिनके अधरसे लोभ और ओष्ठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पशुओंका प्रिय काम, भौंहोंसे यम और नेत्रके रोमोंसे कालकी उत्पत्ति हुई है—वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ४२ पञ्चभूत, काल, कर्म, सत्त्वादि गुण और जो कुछ विवेकी पुरुषोंके द्वारा बाधित किये जानेयोग्य निर्वचनीय या अनिर्वचनीय विशेष पदार्थ हैं, वे सब-के सब भगवान्‌की योगमायासे ही बने हैं—ऐसा शास्त्र कहते हैं। वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ४३ ॥ जो मायानिर्मित गुणोंमें दर्शनादि वृत्तियोंके द्वारा आसक्त नहीं होते, जो वायुके समान सदा-सर्वदा असङ्ग रहते हैं, जिनमें समस्त शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं—उन अपने आत्मानन्दके लाभसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप भगवान्‌को हमारे नमस्कार हैं ॥ ४४ ॥

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् ।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥४५॥

प्रभो ! हम आपके शरणागत हैं और चाहते हैं कि मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त आपका मुखकमल अपने इन्हीं नेत्रोंसे देखें। आप कृपा करके हमें उसका दर्शन कराइये ॥ ४५ ॥

तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो ।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत् करोति हि ॥४६॥

प्रभो ! आप समय-समयपर स्वयं ही अपनी इच्छासे अनेकों रूप धारण करते हैं और जो काम हमारे लिये अत्यन्त कठिन होता है, उसे आप सहजमें ही कर देते हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं, आपके लिये इसमें कौन-सी कठिनाई है ॥ ४६ ॥

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा ।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥४७॥

विषयोंके लोभमें पड़कर जो देहाभिमानी दुःख भोग रहे हैं, उन्हें कर्म करनेमें परिश्रम और क्लेश तो बहुत अधिक होता है परंतु फल बहुत कम निकलता है। अधिकांशमें तो उनके विफलता ही हाथ लगती है। परंतु जो कर्म आपको समर्पित किये जाते हैं, उनके करनेके समय ही परम सुख मिलता है। वे स्वयं फलरूप ही हैं ॥ ४७ ॥

१. प्रा० पा०—मुखाद् । २. प्रा० पा०—करयो० । ३. प्रा० पा०—ऊर्वोर्विशोऽङ्घ्रेरभवच्च शूद्रः । ४. प्रा० पा०—णावशेषं । ५. प्रा० पा०—प्रभो ।

नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः ।
कल्पते पुरुषस्यैव स ह्यात्मा दयितो हितः ॥४८॥
यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥४९॥
नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥५०॥

भगवान्‌को समर्पित किया हुआ छोटे-से-छोटा कर्माभास भी कभी विफल नहीं होता। क्योंकि भगवान् जीवके परम हितैषी, परम प्रियतम और आत्मा ही हैं ॥ ४८ ॥ जैसे वृक्षकी जड़को पानीसे सींचना उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं और छोटी-छोटी डालियोंको भी सींचना है, वैसे ही सर्वात्मा भगवान्‌की आराधना सम्पूर्ण प्राणियोंकी और अपनी भी आराधना है ॥ ४९ ॥ जो तीनों काल और उससे परे भी एकरस स्थित हैं, जिनकी लीलाओं-का रहस्य तर्क-वितर्कके परे है, जो स्वयं गुणोंसे परे रहकर भी सब गुणोंके स्वामी हैं तथा इस समय सत्त्व-गुणमें स्थित हैं—ऐसे आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवताओं और दैत्योंका मिलकर समुद्रमन्थनके लिये उद्योग करना

श्रीशुक उवाच

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः ।
तेषामाविरभूद् राजन्सहस्रार्कोदयद्युतिः ॥ १ ॥
तेनैव सहसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः ।
नापश्यन्खं दिशः क्षोणिमात्मानं च कुतो विभुम्[1] ॥२॥
विरिञ्चो भगवान्दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम् ।
स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम् ॥ ३ ॥
तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा ।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् ॥ ४ ॥
महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम् ।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवताओंने सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनके बीचमें ही प्रकट हो गये। उनके शरीरकी प्रभा ऐसी थी, मानो हजारों सूर्य एक साथ ही उग गये हों ॥ १ ॥ भगवान्‌की उस प्रभासे सभी देवताओंकी आँखें चौंधिया गयीं। वे भगवान्‌को तो क्या—आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी और अपने शरीरको भी न देख सके ॥ २ ॥ केवल भगवान् शंकर और ब्रह्माजीने उस छवि-का दर्शन किया। बड़ी ही सुन्दर झाँकी थी। मरकत-मणि (पन्ने) के समान स्वच्छ श्यामल शरीर, कमलके भीतरी भागके समान सुकुमार नेत्रोंमें लाल-लाल डोरियाँ और चमकते हुए सुनहले रंगका रेशमी पीताम्बर ! सर्वाङ्गसुन्दर शरीरके रोम-रोमसे प्रसन्नता फूटी पड़ती थी। धनुषके समान टेढ़ी भौंहें और बड़ा ही सुन्दर मुख। सिरपर महामणिमय किरीट और भुजाओंमें बाजू-बंद। कानोंके झलकते हुए कुण्डलोंकी चमक पड़नेसे

१. प्रा० पा०—विभुः ।

काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ॥ ६ ॥
सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम् ।
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम् ।
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थितिसंयमाया-
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ८ ॥
रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
पश्याम्यमुष्मिन् नु ह विश्वमूर्तौ ॥ ९ ॥
त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥१०॥
त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥११॥
यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥१२॥

कपोल और भी सुन्दर हो उठते थे, जिससे मुखकमल खिल उठता था। कमरमें करधनीकी लड़ियाँ, हाथोंमें कंगन, गलेमें हार और चरणोंमें नूपुर शोभायमान थे। वक्षःस्थलपर लक्ष्मी और गलेमें कौस्तुभमणि तथा वनमाला सुशोभित थीं ॥ ३-६ ॥ भगवान्‌के निज अस्त्र सुदर्शन चक्र आदि मूर्तिमान् होकर उनकी सेवा कर रहे थे। सभी देवताओंने पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर सारे देवताओंको साथ ले शंकरजी तथा ब्रह्माजी परम पुरुष भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो जन्म, स्थिति और प्रलयसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, जो प्राकृत गुणोंसे रहित एवं मोक्षस्वरूप परमानन्दके महान् समुद्र हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं और जिनका स्वरूप अनन्त है - उन परम ऐश्वर्यशाली प्रभुको हमलोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥८॥ पुरुषोत्तम! अपना कल्याण चाहनेवाले साधक वेदोक्त एवं पाञ्चरात्रोक्त विधिसे आपके इसी स्वरूपकी उपासना करते हैं। मुझे भी रचनेवाले प्रभो! आपके इस विश्वमय स्वरूपमें मुझे समस्त देवगणोंके सहित तीनों लोक दिखायी दे रहे हैं ॥ ९ ॥ आपमें ही पहले यह जगत् लीन था, मध्यमें भी यह आपमें ही स्थित है और अन्तमें भी यह पुनः आपमें ही लीन हो जायगा। आप स्वयं कार्य-कारणसे परे परम स्वतन्त्र हैं। आप ही इस जगत्‌के आदि, अन्त और मध्य हैं—वैसे ही जैसे घड़ेका आदि, मध्य और अन्त मिट्टी है ॥ १० ॥ आप अपने ही आश्रय रहनेवाली अपनी मायासे इस संसारकी रचना करते हैं और इसमें फिरसे प्रवेश करके अन्तर्यामीके रूपमें विराजमान होते हैं। इसीलिये विवेकी और शास्त्रज्ञ पुरुष बड़ी सावधानीसे अपने मनको एकाग्र करके इन गुणोंकी, विषयोंकी भीड़में भी आपके निर्गुण स्वरूपका ही साक्षात्कार करते हैं ॥ ११ ॥ जैसे मनुष्य युक्तिके द्वारा लकड़ीसे आग, गौसे अमृतके समान दूध, पृथ्वीसे अन्न तथा जल और व्यापारसे अपनी आजीविका प्राप्त कर लेते हैं—वैसे ही विवेकी पुरुष भी अपनी शुद्ध बुद्धिसे भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिके द्वारा आपको इन विषयोंमें ही प्राप्त कर लेते हैं और अपनी अनुभूतिके अनुसार आपका वर्णन भी करते हैं ॥ १२ ॥

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥१३॥

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्
किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥१४॥

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता
विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्तद्
विज्ञाय तेषां हृदयं तथैव ।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा
बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान्[1] ॥१६॥

एक एवेश्वरस्तस्मिन्सुरकार्ये[2] सुरेश्वरः ।
विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः[3] ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम् ।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद् यथासुराः ॥१८॥
यात दानवदैतेयैस्तावत् सन्धिर्विधीयताम् ।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद् वो भव आत्मनः ॥१९॥
अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।

कमलनाभ ! जिस प्रकार दावाग्निसे झुलसता हुआ हाथी गङ्गाजलमें डुबकी लगाकर सुख और शान्तिका अनुभव करने लगता है, वैसे ही आपके आविर्भावसे हमलोग परम सुखी और शान्त हो गये हैं । स्वामी ! हमलोग बहुत दिनोंसे आपके दर्शनोंके लिये अत्यन्त लालायित हो रहे थे ॥ १३ ॥ आप ही हमारे बाहर और भीतरके आत्मा हैं । हम सब लोकपाल जिस उद्देश्यसे आपके चरणोंकी शरणमें आये हैं, उसे आप कृपा करके पूर्ण कीजिये । आप सबके साक्षी हैं, अतः इस विषयमें हमलोग आपसे और क्या निवेदन करें ॥ १४ ॥ प्रभो ! मैं शंकरजी, अन्य देवता, ऋषि और दक्ष आदि प्रजापति—सब-के-सब अग्निसे अलग हुई चिनगारीकी तरह आपके ही अंश हैं और अपनेको आपसे अलग मानते हैं । ऐसी स्थितिमें प्रभो ! हमलोग समझ ही क्या सकते हैं । ब्राह्मण और देवताओंके कल्याणके लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसका आदेश आप ही दीजिये और आप वैसा स्वयं कर भी लीजिये ॥ १५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्मा आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति करके अपनी सारी इन्द्रियाँ रोक लीं और सब बड़ी सावधानीके साथ हाथ जोड़कर खड़े हो गये । उनकी स्तुति सुनकर और उसी प्रकार उनके हृदयकी बात जानकर भगवान् मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले ॥१६॥ परीक्षित् ! समस्त देवताओंके तथा जगत्के एकमात्र स्वामी भगवान् अकेले ही उनका सब कार्य करनेमें समर्थ थे, फिर भी समुद्र-मन्थन आदि लीलाओंके द्वारा विहार करनेकी इच्छासे वे देवताओंको सम्बोधित करके इस प्रकार कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ब्रह्मा, शंकर और देवताओ ! तुमलोग सावधान होकर मेरी सलाह सुनो । तुम्हारे कल्याणका यही उपाय है ॥ १८ ॥ इस समय असुरोंपर कालकी कृपा है । इसलिये जबतक तुम्हारे अभ्युदय और उन्नतिका समय नहीं आता, तबतक तुम दैत्य और दानवोंके पास जाकर उनसे सन्धि कर लो ॥ १९ ॥ देवताओ ! कोई बड़ा कार्य करना हो तो शत्रुओंसे भी

१. प्रा० पा०—कायान् । २. प्रा० पा०—एव वृतस्तस्मि० । ३. प्रा० पा०—समुद्रमथनादिभिः ।

अहिमूषकवद् देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥२०॥
अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम् ।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥२१॥
क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥२२॥
सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः ।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥२३॥
यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः ।
न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा ॥२४॥
न भेतव्यं कालकूटाद् विषाज्जलधिसम्भवात् ।
लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

इति देवान्समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः ।
तेषामन्तर्दधे राजन्स्वच्छन्दगतिरीश्वरः ॥२६॥
अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः ।
भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः ॥२७॥
दृष्ट्वारीनप्यसंयत्ताञ्जातक्षोभान्स्वनायकान् ।
न्यषेधद् दैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित् ॥२८॥

मेल-मिलाप कर लेना चाहिये। यह बात अवश्य है कि काम बन जानेपर उनके साथ साँप और चूहेवाला बर्ताव कर सकते हैं* ॥ २० ॥ तुमलोग बिना विलम्बके अमृत निकालनेका प्रयत्न करो। उसे पी लेनेपर मरनेवाला प्राणी भी अमर हो जाता है ॥ २१ ॥ पहले क्षीरसागरमें सब प्रकारके घास, तिनके, लताएँ और ओषधियाँ डाल दो। फिर तुमलोग मन्दराचलकी मथानी और वासुकि नागकी नेती बनाकर मेरी सहायतासे समुद्रका मन्थन करो। अब आलस्य और प्रमादका समय नहीं है। देवताओ! विश्वास रक्खो—दैत्योंको तो मिलेगा केवल श्रम और क्लेश, परंतु फल मिलेगा तुम्हीं लोगोंको ॥ २२-२३ ॥ देवताओ! असुरलोग तुमसे जो-जो चाहें सब स्वीकार कर लो। शान्तिसे सब काम बन जाते हैं, क्रोध करनेसे कुछ नहीं होता ॥ २४ ॥ पहले समुद्रसे कालकूट विष निकलेगा, उससे डरना नहीं। किसी भी वस्तुके लिये कभी भी लोभ न करना। पहले तो किसी वस्तुकी कामना ही नहीं करनी चाहिये, परंतु यदि कामना हो और वह पूरी न हो तो क्रोध तो करना ही नहीं चाहिये ॥ २५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवताओंको यह आदेश देकर पुरुषोत्तम भगवान् उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये। वे सर्वशक्तिमान् एवं परम स्वतन्त्र जो ठहरे। उनकी लीलाका रहस्य कौन समझे ॥२६॥ उनके चले जानेपर ब्रह्मा और शंकरने फिरसे भगवान्‌को नमस्कार किया और वे अपने-अपने लोकोंको चले गये, तदनन्तर इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास गये ॥२७॥ देवताओंको बिना अस्त्र-शस्त्रके सामने आते देख दैत्य-सेनापतियोंके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने देवताओंको पकड़ लेना चाहा। परंतु दैत्यराज बलि सन्धि और विरोधके अवसरको जाननेवाले एवं पवित्र कीर्तिसे सम्पन्न थे। उन्होंने दैत्योंको वैसा करनेसे रोक दिया ॥२८॥

१. प्रा० पा०—गताः। २. प्रा० पा०—जलौषधीः। ३. प्रा० पा०—च। ४. प्रा० पा०—कामः स्ववस्तुषु। ५. प्रा० पा०—मति०।

* किसी मदारीकी पिटारीमें साँप तो पहलेसे था ही, संयोगवश उसमें एक चूहा भी जा घुसा। चूहेके भयभीत होनेपर साँपने उसे प्रेमसे समझाया कि तुम पिटारीमें छेद कर दो, फिर हम दोनों भाग निकलेंगे। पहले तो साँपकी इस बातपर चूहेको विश्वास न हुआ, परंतु पीछे उसने पिटारीमें छेद कर दिया। इस प्रकार काम बन जानेपर साँप चूहेको निगल गया और पिटारीसे निकल भागा।

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपैः ।
श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन् ॥२९॥

इसके बाद देवतालोग बलिके पास पहुँचे । बलिने तीनों लोकोंको जीत लिया था । वे समस्त सम्पत्तियोंसे सेवित एवं असुर-सेनापतियोंसे सुरक्षित होकर अपने राजसिंहासनपर बैठे हुए थे ॥ २९ ॥

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः ।
अभ्यभाषत तत् सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात् ॥३०॥
तदरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः ।
शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः ॥३१॥
ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः ।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परन्तप ॥३२॥

बुद्धिमान् इन्द्रने बड़ी मधुर वाणीसे समझाते हुए राजा बलिसे वे सब बातें कहीं, जिनकी शिक्षा स्वयं भगवान्‌ने उन्हें दी थी ॥ ३० ॥ वह बात दैत्यराज बलिको जँच गयी । वहाँ बैठे हुए दूसरे सेनापति शम्बर, अरिष्टनेमि और त्रिपुरनिवासी असुरोंको भी यह बात बहुत अच्छी लगी ॥ ३१ ॥ तब देवता और असुरोंने आपसमें सन्धि-समझौता करके मित्रता कर ली और परीक्षित् ! वे सब मिलकर अमृतमन्थनके लिये पूर्ण उद्योग करने लगे ।३२।

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ।
नदन्त उदधिं निन्युः सक्ताः परिघबाहवः ॥३३॥
दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः ।
अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि ॥३४॥
निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् ।
चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः ॥३५॥

इसके बाद उन्होंने अपनी शक्तिसे मन्दराचलको उखाड़ लिया और ललकारते तथा गरजते हुए उसे समुद्रतटकी ओर ले चले । उनकी भुजाएँ परिघके समान थीं, शरीरमें शक्ति थी और अपने-अपने बलका घमंड तो था ही ॥ ३३ ॥ परंतु एक तो वह मन्दरपर्वत ही बहुत भारी था और दूसरे उसे ले जाना भी बहुत दूर था । इससे इन्द्र, बलि आदि सब-के-सब हार गये । जब ये किसी प्रकार भी मन्दराचलको आगे न ले जा सके, तब विवश होकर उन्होंने उसे रास्तेमें ही पटक दिया ॥ ३४ ॥ वह सोनेका पर्वत मन्दराचल बड़ा भारी था । गिरते समय उसने बहुत-से देवता और दानवोंको चकनाचूर कर डाला ॥ ३५ ॥

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान् ।
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥३६॥
गिरिपातविनिष्पिष्टान्विलोक्यामरदानवान् ।
ईक्षया जीवयामास निर्जरान् निर्व्रणान्यथा ॥३७॥
गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया ।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ॥३८॥

उन देवता और असुरोंके हाथ, कमर और कंधे टूट ही गये थे, मन भी टूट गया । उनका उत्साह भंग हुआ देख गरुडपर चढ़े हुए भगवान् सहसा वहीं प्रकट हो गये ॥ ३६ ॥ उन्होंने देखा कि देवता और असुर पर्वतके गिरनेसे पिस गये हैं । अतः उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे देवताओंको इस प्रकार जीवित कर दिया, मानो उनके शरीरमें बिल्कुल चोट ही न लगी हो ॥ ३७ ॥ इसके बाद उन्होंने खेल-ही-खेलमें एक हाथसे उस पर्वतको उठाकर गरुडपर रख लिया और स्वयं भी सवार हो गये । फिर देवता और असुरोंके साथ उन्होंने समुद्रतटकी यात्रा की ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—तस्वरो० ।

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः ।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥३९॥

पक्षिराज गरुडने समुद्रके तटपर पर्वतको उतार दिया । फिर भगवान्‌के बिदा करनेपर गरुडजी वहाँसे चले गये ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने मन्दराचलानयनं[1] नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

समुद्रमन्थनका आरम्भ और भगवान् शंकरका विषपान

श्रीशुक उवाच

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम् ।
परिवीय गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः ॥ १ ॥
आरेभिरे सुसंयत्ता[2] अमृतार्थं कुरूद्वह ।
हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥ २ ॥
तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥ ३ ॥
स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः ।
इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः ।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥ ४ ॥
कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः ।
ममन्थुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥ ५ ॥
मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् ।
ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात्[3] पाण्डुनन्दन ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! देवता और असुरोंने नागराज वासुकिको यह वचन देकर कि समुद्र-मन्थनसे प्राप्त होनेवाले अमृतमें तुम्हारा भी हिस्सा रहेगा, उन्हें भी सम्मिलित कर लिया । इसके बाद उन लोगोंने वासुकि नागको नेतीके समान मन्दराचलमें लपेटकर भलीभाँति उद्यत हो बड़े उत्साह और आनन्दसे अमृतके लिये समुद्रमन्थन प्रारम्भ किया । उस समय पहले-पहल अजित भगवान् वासुकिके मुखकी ओर लग गये, इसलिये देवता भी उधर ही आ जुटे ॥ १-२ ॥ परंतु भगवान्‌की यह चेष्टा दैत्यसेनापतियोंको पसंद न आयी । उन्होंने कहा कि 'पूँछ तो साँपका अशुभ अङ्ग है, हम उसे नहीं पकड़ेंगे ॥ ३ ॥ हमने वेद-शास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया है, ऊँचे वंशमें हमारा जन्म हुआ है और वीरताके बड़े-बड़े काम हमने किये हैं । हम देवताओंसे किस बातमें कम हैं ।' यह कहकर वे लोग चुपचाप एक ओर खड़े हो गये । उनकी यह मनोवृत्ति देखकर भगवान्‌ने मुसकराकर वासुकिका मुँह छोड़ दिया और देवताओंके साथ उन्होंने पूँछ पकड़ ली ॥ ४ ॥ इस प्रकार अपना-अपना स्थान निश्चित करके देवता और असुर अमृतप्राप्तिके लिये पूरी तैयारीसे समुद्रमन्थन करने लगे ॥ ५ ॥

परीक्षित् ! जब समुद्रमन्थन होने लगा, तब बड़े-बड़े बलवान् देवता और असुरोंके पकड़े रहनेपर भी अपने भारकी अधिकता और नीचे कोई आधार न होनेके कारण मन्दराचल समुद्रमें डूबने लगा ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मन्दराचलानयनं नाम' इतना अंश नहीं है । २ प्रा० पा०—सुरा यत्ता अमृतार्थाः । ३. प्रा० पा०—ऽतिबलि० ।

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः ।
आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥ ७ ॥
विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ८ ॥
तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुत्थिता निर्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥
सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ।
बिभ्रत् तदावर्तनमादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥ १० ॥
तथासुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन् ।
उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णु-
र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥ ११ ॥
उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्यं
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः ।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥ १२ ॥
उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः ।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार अत्यन्त बलवान् दैवके द्वारा अपना सब किया-कराया मिट्टीमें मिलते देख उनका मन टूट गया। सबके मुँहपर उदासी छा गयी ॥ ७ ॥ उस समय भगवान्‌ने देखा कि यह तो विघ्नराजकी करतूत है। इसलिये उन्होंने उसके निवारणका उपाय सोचकर अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छपका रूप धारण किया और समुद्रके जलमें प्रवेश करके मन्दराचलको ऊपर उठा दिया। भगवान्‌की शक्ति अनन्त है। वे सत्यसङ्कल्प हैं। उनके लिये यह कौन-सी बड़ी बात थी ॥ ८ ॥ देवता और असुरोंने देखा कि मन्दराचल तो ऊपर उठ आया है, तब वे फिरसे समुद्र-मन्थनके लिये उठ खड़े हुए। उस समय भगवान्‌ने जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन फैली हुई अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण कर रक्खा था ॥ ९ ॥ परीक्षित्! जब बड़े-बड़े देवता और असुरोंने अपने बाहुबलसे मन्दराचलको प्रेरित किया, तब वह भगवान्‌की पीठपर घूमने लगा। अनन्त शक्तिशाली आदिकच्छप भगवान्‌को उस पर्वतका चक्कर लगाना ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो ॥ १० ॥ साथ ही समुद्र-मन्थन सम्पन्न करनेके लिये भगवान्‌ने असुरोंमें उनकी शक्ति और बलको बढ़ाते हुए असुररूपसे प्रवेश किया। वैसे ही उन्होंने देवताओंको उत्साहित करते हुए उनमें देवरूपसे प्रवेश किया और वासुकिनागमें निद्राके रूपसे ॥ ११ ॥ इधर पर्वतके ऊपर दूसरे पर्वतके समान बनकर सहस्रबाहु भगवान् अपने हाथोंसे उसे दबाकर स्थित हो गये। उस समय आकाशमें ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि उनकी स्तुति और उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥ इस प्रकार भगवान्‌ने पर्वतके ऊपर उसको दबा रखनेवालेके रूपमें, नीचे उसके आधार कच्छपके रूपमें, देवता और असुरोंके शरीरमें उनकी शक्तिके रूपमें, दृढ़ताके रूपमें और नेती बने हुए वासुकिनागमें निद्राके रूपमें—जिससे उसे कष्ट न हो—प्रवेश करके सब ओरसे सबको शक्तिसम्पन्न कर दिया। अब वे अपने बलके मदसे उन्मत्त होकर मन्दराचलके द्वारा बड़े वेगसे समुद्रमन्थन करने लगे। उस समय समुद्र और उसमें रहनेवाले मगर, मछली

१. प्रा० पा०—दु नि०। २. प्रा० पा०—समुद्यता। ३. प्रा० पा०—तदामन्थन०। ४. प्रा० पा०—महाबलाः।

अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः ।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दवाग्निदग्धाः सरला इवाभवन् ॥१४॥
देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान्
धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान्[1] ।
समभ्यवर्षन्भगवद्वशा घना
ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः ॥१५॥
मथ्यमानात्[2] तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः ।
यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम् ॥१६॥
मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-
न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथोद्धृताद्रिः ॥१७॥
निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥१८॥
तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति[3] ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥१९॥
विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम् ।

आदि जीव क्षुब्ध हो गये ॥ १३ ॥ नागराज वासुकिके हजारों कठोर नेत्र, मुख और श्वासोंसे विषकी आग निकलने लगी । उनके धुएँसे पौलोम, कालेय, बलि, इल्वल आदि असुर निस्तेज हो गये । उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दावानलसे झुलसे हुए सालूके पेड़ खड़े हों ॥ १४ ॥ देवता भी उससे न बच सके । वासुकिके श्वासकी लपटोंसे उनका भी तेज फीका पड़ गया । वस्त्र, माला, कवच एवं मुख धूमिल हो गये । उनकी यह दशा देखकर भगवान्की प्रेरणासे बादल देवताओंके ऊपर वर्षा करने लगे एवं वायु समुद्रकी तरङ्गोंका स्पर्श करके शीतलता और सुगन्धिका संचार करने लगी ॥ १५ ॥

इस प्रकार देवता और असुरोंके समुद्र-मन्थन करनेपर भी जब अमृत न निकला, तब स्वयं अजित भगवान् समुद्र-मन्थन करने लगे ॥ १६ ॥ मेघके समान साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर, कानोंमें बिजलीके समान चमकते हुए कुण्डल, सिरपर लहराते हुए घुँघराले बाल, नेत्रोंमें लाल-लाल रेखाएँ और गलेमें वनमाला सुशोभित हो रही थी । सम्पूर्ण जगत्को अभयदान करनेवाले अपने विश्वविजयी भुजदण्डोंसे वासुकिनागको पकड़कर तथा कूर्मरूपसे पर्वतको धारणकर जब भगवान् मन्दराचलकी मथानीसे समुद्रमन्थन करने लगे, उस समय वे दूसरे पर्वतराजके समान बड़े ही सुन्दर लग रहे थे ॥ १७ ॥ जब अजित भगवान्ने इस प्रकार समुद्र-मन्थन किया, तब समुद्रमें बड़ी खलबली मच गयी । मछली, मगर, साँप और कछुए भयभीत होकर ऊपर आ गये और इधर-उधर भागने लगे । तिमि-तिमिङ्गिल आदि मच्छ, समुद्री हाथी और ग्राह व्याकुल हो गये । उसी समय पहले-पहल हालाहल नामका अत्यन्त उग्र विष निकला ॥ १८ ॥ वह अत्यन्त उग्र विष दिशा-विदिशामें, ऊपर-नीचे सर्वत्र उड़ने और फैलने लगा । इस असह्य विषसे बचनेका कोई उपाय भी तो न था । भयभीत होकर सम्पूर्ण प्रजा और प्रजापति किसीके द्वारा त्राण न मिलनेपर भगवान् सदाशिवकी शरणमें गये ॥ १९ ॥ भगवान् शंकर सतीजीके साथ कैलास पर्वतपर विराजमान थे । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनकी सेवा कर रहे थे । वे वहाँ तीनों लोकोंके

१. प्रा० पा०—म्बरारक्तककञ्चु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'मथ्यमानात्तथा……' से लेकर 'धृताद्रिः' तक दो श्लोक नहीं हैं । ३. प्रा० पा०—विश्वं तदुत्थं यदसह्यमप्रति ।

आसीनमद्रावपवर्गहेतो-

स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥२०॥

प्रजापतय ऊचुः

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन ।

पाहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात् ॥२१॥

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।

तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥२२॥

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ।

धत्से यदा स्वदृग् भूमन्ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥२३॥

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः ।

नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥२४॥

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा

प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।

कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्म-

स्त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ॥२५॥

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा

क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।

कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो

दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥२६॥

अभ्युदय और मोक्षके लिये तपस्या कर रहे थे। प्रजापतियोंने उनका दर्शन करके उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

प्रजापतियोंने भगवान् शंकरकी स्तुति की— देवताओंके आराध्यदेव महादेव ! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा और उनके जीवनदाता हैं। हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। त्रिलोकीको भस्म करनेवाले इस उग्र विषसे आप हमारी रक्षा कीजिये ॥ २१ ॥ सारे जगत्‌को बाँधने और मुक्त करनेमें एकमात्र आप ही समर्थ हैं। इसलिये विवेकी पुरुष आपकी ही आराधना करते हैं। क्योंकि आप शरणागतकी पीड़ा नष्ट करनेवाले एवं जगद्गुरु हैं ॥ २२ ॥ प्रभो ! अपनी गुणमयी शक्तिसे इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेके लिये आप अनन्त, एकरस होनेपर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नाम धारण कर लेते हैं ॥२३॥ आप स्वयंप्रकाश हैं। इसका कारण यह है कि आप परम रहस्यमय ब्रह्मतत्त्व हैं। जितने भी देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सत् अथवा असत् चराचर प्राणी हैं—उनको जीवन-दान देनेवाले आप ही हैं। आपके अतिरिक्त सृष्टि भी और कुछ नहीं है; क्योंकि आप आत्मा हैं। अनेक शक्तियोंके द्वारा आप ही जगत्‌रूपमें भी प्रतीत हो रहे हैं; क्योंकि आप ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं ॥ २४ ॥ समस्त वेद आपसे ही प्रकट हुए हैं। इसलिये आप समस्त ज्ञानोंके मूलस्रोत स्वतः सिद्ध ज्ञान हैं। आप ही जगत्‌के आदिकारण महत्तत्त्व और त्रिविध अहंकार हैं एवं आप ही प्राण, इन्द्रिय, पञ्च महाभूत तथा शब्दादि विषयोंके भिन्न-भिन्न स्वभाव और उनके मूल कारण हैं। आप स्वयं ही प्राणियोंकी वृद्धि और ह्रास करनेवाले काल हैं, उनका कल्याण करनेवाले यज्ञ हैं एवं सत्य और मधुर वाणी हैं। धर्म भी आपका ही स्वरूप है। आप ही 'अ, उ, म्'—इन तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणव हैं अथवा त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं—ऐसा वेदवादी महात्मा कहते हैं ॥२५॥ सर्वदेवस्वरूप अग्नि आपका मुख है। तीनों लोकोंके अभ्युदय करनेवाले शंकर ! यह पृथ्वी आपका चरणकमल है। आप अखिल देवस्वरूप हैं। यह काल आप-की गति है, दिशाएँ कान हैं और वरुण रसनेन्द्रिय है।२६।

१. प्रा० पा०—राभासे त्व० । २. प्रा० पा०—देवतात्मन् ।

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ॥२७॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥२८॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत् तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्व
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥२९॥
छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि ।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥३०॥
न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद् ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥३१॥
कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत् ते ।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद ॥३२॥
ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।

आकाश नाभि है, वायु श्वास है, सूर्य नेत्र हैं और जल वीर्य है। आपका अहंकार नीचे-ऊँचे सभी जीवोंका आश्रय है। चन्द्रमा मन है और प्रभो! स्वर्ग आपका सिर है ॥ २७ ॥ वेदस्वरूप भगवन्! समुद्र आपकी कोख हैं। पर्वत हड्डियाँ हैं। सब प्रकारकी ओषधियाँ और घास आपके रोम हैं। गायत्री आदि छन्द आपकी सातों धातुएँ हैं और सभी प्रकारके धर्म आपके हृदय हैं ॥ २८ ॥ स्वामिन्! सद्योजातादि पाँच उपनिषद् ही आपके तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक पाँच मुख हैं। उन्हींके पदच्छेदसे अड़तीस कलात्मक मन्त्र निकले हैं। आप जब समस्त प्रपञ्चसे उपरत होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थितिका नाम होता है 'शिव'। वास्तवमें वही स्वयंप्रकाश परमार्थतत्त्व है ॥ २९ ॥ अधर्मकी दम्भ-लोभ आदि तरङ्गोंमें आपकी छाया है जिनसे विविध प्रकारकी सृष्टि होती है, वे सत्त्व, रज और तम—आपके तीन नेत्र हैं। प्रभो! गायत्री आदि छन्दरूप सनातन वेद ही आपका विचार है। क्योंकि आप ही सांख्य आदि समस्त शास्त्रोंके रूपमें स्थित हैं और उनके कर्ता भी हैं ॥ ३० ॥ भगवन्! आपका परम ज्योतिर्मय स्वरूप स्वयं ब्रह्म है। उसमें न तो रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुण हैं और न किसी प्रकारका भेदभाव ही। आपके उस स्वरूपको सारे लोकपाल—यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्र भी नहीं जान सकते ॥ ३१ ॥ आपने कामदेव, दक्षके यज्ञ, त्रिपुरासुर और कालकूट विष (जिसको आप अभी-अभी अवश्य पी जायँगे) और अनेक जीवद्रोही असुरोंको नष्ट कर दिया है। परंतु यह कहनेसे आपकी कोई स्तुति नहीं होती। क्योंकि प्रलयके समय आपका बनाया हुआ यह विश्व आपके ही नेत्रसे निकली हुई आगकी चिनगारी एवं लपटसे जलकर भस्म हो जाता है और आप इस प्रकार ध्यानमग्न रहते हैं कि आपको इसका पता ही नहीं चलता ॥ ३२ ॥ जीवन्मुक्त आत्माराम पुरुष अपने हृदयमें आपके युगल चरणोंका ध्यान करते रहते हैं तथा आप स्वयं भी निरन्तर ज्ञान और तपस्यामें ही लीन रहते हैं। फिर भी सतीके साथ रहते देखकर जो

१. प्रा० पा०—परमात्मतत्व। २. प्रा० पा०—मोक्षात्मनः। ३. प्रा० पा०—नमस्ते।

कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥३३॥
तत् तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम्॥३४॥
एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः॥३५॥

श्रीशुक उवाच

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः।
सर्वभूतसुहृद् देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥३६॥

शिव उवाच

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम् ॥३७॥
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।
एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम् ॥३८॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥३९॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीये$ऽहं सचराचरः।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥४०॥

आपको आसक्त एवं श्मशानवासी होनेके कारण उग्र अथवा निष्ठुर बतलाते हैं—वे मूर्ख आपकी लीलाओंका रहस्य भला क्या जानें। उनका वैसा कहना निर्लज्जतासे भरा है ॥ ३३ ॥ इस कार्य और कारणरूप जगत्से परे माया है और मायासे भी अत्यन्त परे आप हैं। इसलिये प्रभो! आपके अनन्त स्वरूपका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करनेमें सहसा ब्रह्मा आदि भी समर्थ नहीं होते, फिर स्तुति तो कर ही कैसे सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके पुत्रोंके पुत्र हमलोग कह ही क्या सकते हैं। फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार हमने आपका कुछ गुणगान किया है ॥ ३४ ॥ हमलोग तो केवल आपके इसी लीलाविहारी रूपको देख रहे हैं। आपके परम स्वरूपको हम नहीं जानते। महेश्वर! यद्यपि आपकी लीलाएँ अव्यक्त हैं, फिर भी संसारका कल्याण करनेके लिये आप व्यक्तरूपसे भी रहते हैं ॥ ३५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित्! प्रजाका यह संकट देखकर समस्त प्राणियोंके अकारण बन्धु देवाधिदेव भगवान् शंकरके हृदयमें कृपावश बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने अपनी प्रिया सतीसे यह बात कही ॥ ३६ ॥

शिवजीने कहा— देवि! यह बड़े खेदकी बात है। देखो तो सही, समुद्र-मन्थनसे निकले हुए कालकूट विषके कारण प्रजापर कितना बड़ा दुःख आ पड़ा है। ३७। ये बेचारे किसी प्रकार अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं। इस समय मेरा यह कर्तव्य है कि मैं इन्हें निर्भय कर दूँ। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवनकी सफलता इसीमें है कि वे दीन-दुखियोंकी रक्षा करें। ३८। सज्जन पुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणोंकी बलि देकर भी दूसरे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा करते हैं। कल्याणि! अपने ही मोहकी मायामें फँसकर संसारके प्राणी मोहित हो रहे हैं और एक दूसरेसे वैरकी गाँठ बाँधे बैठे हैं। ३९। उनके ऊपर जो कृपा करता है, उसपर सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तब चराचर जगत्के साथ मैं भी प्रसन्न हो जाता हूँ। इसलिये अभी-अभी मैं इस विषको भक्षण करता हूँ, जिससे मेरी प्रजाका कल्याण हो ॥ ४० ॥

१. प्रा० पा०—कथन्तु उग्रतपसि निर०। २. प्रा० पा०—भूतमूर्तिं०। ३. प्रा० पा०—प्रार्थयामो०। ४. प्रा० पा०—तेषां। ५. प्रा० पा०—प्रियां सतीम्। ६. प्रा० पा०—संप्रीयेत चराचरम्।

श्रीशुक उवाच

एवमामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः।
तद् विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥४१॥
ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥४२॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥४३॥
तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥४४॥
निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठस्य शशंसिरे ॥४५॥
प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥४६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विश्वके जीवनदाता भगवान् शंकर इस प्रकार सती देवीसे प्रस्ताव करके उस विषको खानेके लिये तैयार हो गये। देवी तो उनका प्रभाव जानती ही थीं, उन्होंने हृदयसे इस बातका अनुमोदन किया ॥ ४१ ॥ भगवान् शंकर बड़े कृपालु हैं। उन्हींकी शक्तिसे समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। उन्होंने उस तीक्ष्ण हालाहल विषको अपनी हथेलीपर उठाया और भक्षण कर गये ॥ ४२ ॥ वह विष जलका पाप—मल था। उसने शंकरजीपर भी अपना प्रभाव प्रकट कर दिया, उससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया, परंतु वह तो प्रजाका कल्याण करनेवाले भगवान् शंकरके लिये भूषणरूप हो गया ॥ ४३ ॥ परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला ही करते हैं। परंतु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके हृदयमें विराजमान भगवान्की परम आराधना है ॥ ४४ ॥

देवाधिदेव भगवान् शंकर सबकी कामना पूर्ण करनेवाले हैं। उनका यह कल्याणकारी अद्भुत कर्म सुनकर सम्पूर्ण प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्माजी और स्वयं विष्णुभगवान् भी उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥ जिस समय भगवान् शंकर विषपान कर रहे थे, उस समय उनके हाथसे थोड़ा-सा विष टपक पड़ा था। उसे बिच्छू, साँप तथा अन्य विषैले जीवोंने एवं विषैली ओषधियोंने ग्रहण कर लिया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

समुद्रसे अमृतका प्रकट होना और भगवान्का मोहिनी अवतार ग्रहण करना

श्रीशुक उवाच

पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥ १ ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार जब भगवान् शंकरने विष पी लिया, तब देवता और असुरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे फिर नये उत्साहसे समुद्र मथने लगे। तब समुद्रसे कामधेनु प्रकट हुई ॥ १ ॥ वह अग्निहोत्रकी सामग्री उत्पन्न करनेवाली थी। इसलिये ब्रह्मलोकतक

१. प्रा० पा०—भक्तवत्सलः।

यज्ञस्य देवयानस्य मे[1]ध्याय हविषे नृप ॥ २ ॥
तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः ।
तस्मिन्बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥
ततः ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः ।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हर[2]न्भगवतो महिम् ॥ ४ ॥
कौस्तुभाख्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः ।
तस्मिन्हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ ॥ ५ ॥
ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम् ।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद् भुवि यथा भवान् ॥६॥
ततश्चाप्सरसो जाता निष्कैं[3]कण्ठ्यः सुवाससः ।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥ ७ ॥
ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा ।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा॥८॥
तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः ।
रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥ ९ ॥
त[4]स्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम् ।
मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि ॥१०॥
आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः ।
गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ ॥११॥
ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि ।
जगुर्भद्राणि गन्धर्वा न[5]ट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥१२॥
मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान् ।

पहुँचानेवाले यज्ञके लिये उपयोगी पवित्र घी, दूध आदि प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मवादी ऋषियोंने उसे ग्रहण किया ।२। उसके बाद उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा निकला । वह चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका था । बलिने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की । इन्द्रने उसे नहीं चाहा; क्योंकि भगवान्‌ने उन्हें पहलेसे ही सिखा रक्खा था ॥ ३ ॥ तदनन्तर ऐरावत नामका श्रेष्ठ हाथी निकला । उसके बड़े-बड़े चार दाँत थे, जो उज्ज्वलवर्ण कैलाशकी शोभाको भी मात करते थे ॥४॥ तत्पश्चात् कौस्तुभ नामक पद्मरागमणि समुद्रसे निकली । उस मणिको अपने हृदयपर धारण करनेके लिये अजित भगवान्‌ने लेना चाहा ॥५॥ परीक्षित् ! इसके बाद स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाला कल्पवृक्ष निकला । वह याचकोंकी इच्छाएँ उनकी इच्छित वस्तु देकर वैसे ही पूर्ण करता रहता है, जैसे पृथ्वीपर तुम सबकी इच्छाएँ पूर्ण करते हो ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् अप्सराएँ प्रकट हुईं। वे सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित एवं गलेमें स्वर्ण-हार पहने हुए थीं । वे अपनी मनोहर चाल और विलासभरी चितवनसे देवताओंको सुख पहुँचानेवाली हुईं ॥ ७ ॥ इसके बाद शोभाकी मूर्ति स्वयं भगवती लक्ष्मीदेवी प्रकट हुईं । वे भगवान्‌की नित्यशक्ति हैं। उनकी बिजलीके समान चमकीली छटासे दिशाएँ जगमगा उठीं ॥ ८ ॥ उनके सौन्दर्य, औदार्य, यौवन, रूप-रंग और महिमासे सबका चित्त खिंच गया। देवता, असुर, मनुष्य — सभीने चाहा कि ये हमें मिल जायँ ॥ ९ ॥ स्वयं इन्द्र अपने हाथों उनके बैठनेके लिये बड़ा विचित्र आसन ले आये । श्रेष्ठ नदियोंने मूर्तिमान् होकर उनके अभिषेकके लिये सोनेके घड़ोंमें भर-भरकर पवित्र जल ला दिया ॥ १० ॥ पृथ्वीने अभिषेकके योग्य सब ओषधियाँ दीं । गौओंने पञ्चगव्य और वसन्त ऋतुने चैत्र-वैशाखमें होनेवाले सब फूल-फल उपस्थित कर दिये ॥ ११ ॥ इन सामग्रियोंसे ऋषियोंने विधिपूर्वक उनका अभिषेक सम्पन्न किया । गन्धर्वोंने मङ्गलमय संगीतकी तान छेड़ दी । नर्तकियाँ नाच-नाच कर गाने लगीं ॥ १२ ॥ बादल सदेह होकर मृदङ्ग,

१. प्रा० पा०—मेध्यस्य । २. प्रा० पा०—हरञ्छृङ्गव० । ३. प्रा० पा०—निष्कग्रीवाः । ४. प्रा० पा०—तस्याश्चासन० । ५. प्रा० पा०—नार्यश्च ।

व्यनादयन्छङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान् ॥१३॥
ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् ।
दिगिभाः पूर्णकलशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥१४॥
समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत् ।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम् ॥१५॥
भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले ॥१६॥

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्‌द्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥१७॥

स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् ।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥१८॥

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्‌गुणम् ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण-
त्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥१९॥

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः ॥२०॥

डमरू, ढोल, नगारे, नरसिंगे, शङ्ख, वेणु और वीणा बड़े जोरसे बजाने लगे ॥ १३ ॥ तब भगवती लक्ष्मी-देवी हाथमें कमल लेकर सिंहासनपर विराजमान हो गयीं। दिग्गजोंने जलसे भरे कलशोंसे उनको स्नान कराया। उस समय ब्राह्मणगण वेदमन्त्रोंका पाठ कर रहे थे ॥ १४ ॥ समुद्रने पीले रेशमी वस्त्र उनको पहननेके लिये दिये। वरुणने ऐसी वैजयन्ती माला समर्पित की, जिसकी मधुमय सुगन्धसे भौंरे मतवाले हो रहे थे ॥१५॥ प्रजापति विश्वकर्माने भाँति-भाँतिके गहने, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो कुण्डल समर्पित किये ॥ १६ ॥

इसके बाद लक्ष्मीजी ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन-पाठ कर चुकनेपर अपने हाथोंमें कमलकी माला लेकर उसे सर्व-गुणसम्पन्न पुरुषके गलेमें डालने चलीं। मालाके आस-पास उसकी सुगन्धसे मतवाले हुए भौंरे गुंजार कर रहे थे। उस समय लक्ष्मीजीके मुखकी शोभा अवर्णनीय हो रही थी। सुन्दर कपोलोंपर कुण्डल लटक रहे थे। लक्ष्मीजी कुछ लज्जाके साथ मन्द-मन्द मुसकरा रही थीं ॥ १७ ॥ उनकी कमर बहुत पतली थी। दोनों स्तन बिल्कुल सटे हुए और सुन्दर थे। उनपर चन्दन और केसरका लेप किया हुआ था। जब वे इधर-उधर चलती थीं, तब उनके पायजेबसे बड़ी मधुर झनकार निकलती थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई सोनेकी लता इधर-उधर घूम-फिर रही है ॥१८॥ वे चाहती थीं कि मुझे कोई निर्दोष और समस्त उत्तम गुणोंसे नित्ययुक्त अविनाशी पुरुष मिले तो मैं उसे अपना आश्रय बनाऊँ, बरण करूँ। परंतु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदिमें कोई भी वैसा पुरुष उन्हें न मिला ॥ १९ ॥ (वे मन-ही-मन सोचने लगीं कि) कोई तपस्वी तो हैं, परंतु उन्होंने क्रोधपर विजय नहीं प्राप्त की है। किन्हींमें ज्ञान तो है, परंतु वे पूरे अनासक्त नहीं हैं। कोई-कोई हैं तो बड़े महत्त्वशाली, परंतु वे कामको नहीं जीत सके हैं। किन्हींमें ऐश्वर्य भी बहुत है; परंतु वह ऐश्वर्य ही किस कामका, जब उन्हें दूसरोंका

१. प्रा० पा०—चारस०।

धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित् तत्र न मुक्तिकारणम् ।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥२१॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥२२॥
एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयतयागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥२३॥
तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम
सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥२४॥
तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः ।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥२५॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः ।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥२६॥
ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम् ।

आश्रय लेना पड़ता है ॥ २० ॥ किन्हींमें धर्माचरण तो है; परंतु प्राणियोंके प्रति वे प्रेमका पूरा बर्ताव नहीं करते। त्याग तो है, परंतु केवल त्याग ही तो मुक्तिका कारण नहीं है। किन्हीं-किन्हींमें वीरता तो अवश्य है, परंतु वे भी कालके पंजेसे बाहर नहीं हैं। अवश्य ही कुछ महात्माओंमें विषयासक्ति नहीं है, परंतु वे तो निरन्तर अद्वैत-समाधिमें ही तल्लीन रहते हैं ॥ २१ ॥ किसी-किसी ऋषिने आयु तो बहुत लंबी प्राप्त कर ली है, परंतु उनका शील-मङ्गल भी मेरे योग्य नहीं है। किन्हींमें शील-मङ्गल भी है; परंतु उनकी आयुका कुछ ठिकाना नहीं। अवश्य ही किन्हींमें दोनों ही बातें हैं, परंतु वे अमङ्गल-वेषमें रहते हैं। रहे एक भगवान् विष्णु। उनमें सभी मङ्गलमय गुण नित्य निवास करते हैं, परंतु वे मुझे चाहते ही नहीं ॥ २२ ॥

इस प्रकार सोच-विचारकर अन्तमें श्रीलक्ष्मीजीने अपने चिर अभीष्ट भगवान्‌को ही वरके रूपमें चुना; क्योंकि उनमें समस्त सद्गुण नित्य निवास करते हैं। प्राकृत गुण उनका स्पर्श नहीं कर सकते और अणिमा आदि समस्त गुण उनको चाहा करते हैं; परंतु वे किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखते। वास्तवमें लक्ष्मीजीके एकमात्र आश्रय भगवान् ही हैं। इसीसे उन्होंने उन्हींको वरण किया ॥ २३ ॥ लक्ष्मीजीने भगवान्‌के गलेमें वह नवीन कमलोंकी सुन्दर माला पहना दी, जिसके चारों ओर झुंड-के-झुंड मतवाले मधुकर गुंजार कर रहे थे। इसके बाद लज्जापूर्ण मुसकान और प्रेमपूर्ण चितवनसे अपने निवासस्थान उनके वक्षःस्थलको देखती हुई वे उनके पास ही खड़ी हो गयीं ॥२४॥ जगत्पिता भगवान्‌ने जगज्जननी, समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठातृ-देवता श्रीलक्ष्मीजीको अपने वक्षःस्थलपर ही सर्वदा निवास करनेका स्थान दिया। लक्ष्मीजीने वहाँ विराजमान होकर अपनी करुणाभरी चितवनसे तीनों लोक, लोकपति और अपनी प्यारी प्रजाकी अभिवृद्धि की ॥ २५ ॥ उस समय शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे। गन्धर्व अप्सराओंके साथ नाचने-गाने लगे। इससे बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥ २६ ॥ ब्रह्मा, रुद्र, अङ्गिरा आदि सब प्रजापति पुष्पवर्षा करते हुए

१. प्रा० पा०—क्वचिद्यस्तु । २. प्रा० पा०—भयसद्गुणा० ।

ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥२७॥
श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥२८॥
निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः ॥२९॥
अथासीद् वारुणी देवी कन्या कमललोचना।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥३०॥
अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥३१॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥३२॥
पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः ॥३३॥
अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥३४॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक्।
तमालोक्यासुराः सर्वे कलशं चामृताभृतम् ॥३५॥
लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाहरन्।
नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने ॥३६॥
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः।
इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान्भृत्यकामकृत्।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया ॥३७॥

भगवान्‌के गुण, स्वरूप और लीला आदिके यथार्थ वर्णन करनेवाले मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ २७ ॥ देवता, प्रजापति और प्रजा—सभी लक्ष्मीजीकी कृपा-दृष्टिसे शील आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न होकर बहुत सुखी हो गये ॥ २८ ॥ परीक्षित्! इधर जब लक्ष्मीजीने दैत्य और दानवोंकी उपेक्षा कर दी, तब वे लोग निर्बल उद्योगरहित, निर्लज्ज और लोभी हो गये ॥ २९ ॥

इसके बाद समुद्रमन्थन करनेपर कमलनयनी कन्याके रूपमें वारुणी देवी प्रकट हुईं। भगवान्‌की अनुमतिसे दैत्योंने उसे ले लिया ॥ ३० ॥ तदनन्तर महाराज! देवता और असुरोंने अमृतकी इच्छासे जब और भी समुद्रमन्थन किया, तब उसमेंसे एक अत्यन्त अलौकिक पुरुष प्रकट हुआ ॥ ३१ ॥ उसकी भुजाएँ लम्बी एवं मोटी थीं। उसका गला शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाला था और आँखोंमें लालिमा थी। शरीरका रंग बड़ा सुन्दर साँवला-साँवला था। गलेमें माला, अङ्ग-अङ्ग सब प्रकारके आभूषणोंसे सुसज्जित, शरीरपर पीताम्बर, कानोंमें चमकीले मणियोंके कुण्डल, चौड़ी छाती, तरुण अवस्था, सिंहके समान पराक्रम, अनुपम सौन्दर्य, चिकने और घुँघराले बाल लहराते हुए उस पुरुषकी छबि बड़ी अनोखी थी ॥ ३२-३३ ॥ उसके हाथोंमें कंगन और अमृतसे भरा हुआ कलश था। वह साक्षात् विष्णुभगवान्‌के अंशांश अवतार थे ॥ ३४ ॥ वे ही आयुर्वेदके प्रवर्तक और यज्ञभोक्ता धन्वन्तरिके नामसे सुप्रसिद्ध हुए। जब दैत्योंकी दृष्टि उनपर तथा उनके हाथमें अमृतसे भरे हुए कलशपर पड़ी, तब उन्होंने शीघ्रतासे बलात् उस अमृतके कलशको छीन लिया। वे तो पहलेसे ही इस ताकमें थे कि किसी तरह समुद्रमन्थनसे निकली हुई सभी वस्तुएँ हमें मिल जायँ। जब असुर उस अमृतसे भरे कलशको छीन ले गये, तब देवताओंका मन विषादसे भर गया। अब वे भगवान्‌की शरणमें आये। उनकी दीन दशा देखकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌ने कहा—'देवताओ! तुमलोग खेद मत करो। मैं अपनी मायासे उनमें आपसकी फूट डालकर अभी तुम्हारा काम बना देता हूँ' ॥ ३५-३७ ॥

१. प्रा० पा०—महास्कन्धः। २. प्रा० पा०—नील०। ३. प्रा० पा०—शुभाङ्गः।

मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥३८॥
देवाः स्वं भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः ।
सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥३९॥
इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः ।
दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलशान् मुहुः ॥४०॥
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥४१॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥४२॥
नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम् ।
मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम् ॥४३॥
बिभ्रत् स्वकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् ।
सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम् ॥४४॥
विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥४५॥
सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन् मुहुः ॥४६॥

परीक्षित् ! अमृतलोलुप दैत्योंमें उसके लिये आपसमें झगड़ा खड़ा हो गया । सभी कहने लगे—'पहले मैं पीऊँगा, पहले मैं; तुम नहीं, तुम नहीं' ॥ ३८ ॥ उनमें जो दुर्बल थे, वे उन बलवान् दैत्योंका विरोध करने लगे, जिन्होंने कलश छीनकर अपने हाथमें लिया था, वे ईर्ष्यावश धर्मकी दुहाई देकर उनको रोकने और बार-बार कहने लगे कि 'भाई ! देवताओंने भी हमारे बराबर ही परिश्रम किया है, उनको भी यज्ञभागके समान इसका भाग मिलना ही चाहिये।यही सनातनधर्म है' ॥३९-४०॥ इस प्रकार इधर दैत्योंमें 'तू-तू, मैं-मैं' हो रही थी और उधर सभी उपाय जाननेवालोंके स्वामी चतुरशिरोमणि भगवान्‌ने अत्यन्त अद्भुत और अवर्णनीय स्त्रीका रूप धारण किया ॥ ४१ ॥ शरीरका रंग नील कमलके समान श्याम एवं देखने ही योग्य था । अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़े ही आकर्षक थे । दोनों कान बराबर और कर्णफूलसे सुशोभित थे । सुन्दर कपोल, ऊँची नासिका और रमणीय मुख ॥ ४२ ॥ नयी जवानीके कारण स्तन उभरे हुए थे और उन्हींके भारसे कमर पतली हो गयी थी । मुखसे निकलती हुई सुगन्धके प्रेमसे गुनगुनाते हुए भौंरे उसपर टूटे पड़ते थे, जिससे नेत्रोंमें कुछ घबराहटका भाव आ जाता था ॥ ४३ ॥ अपने लंबे केशपाशोंमें उन्होंने खिले हुए बेलेके पुष्पोंकी माला गूँथ रक्खी थी । सुन्दर गलेमें कण्ठके आभूषण और सुन्दर भुजाओंमें बाजूबंद सुशोभित थे ॥ ४४ ॥ इनके चरणोंके नूपुर मधुर ध्वनिसे रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे और स्वच्छ साड़ीसे ढके नितम्बद्वीपपर शोभायमान करधनी अपनी अनूठी छटा छिटका रही थी ॥ ४५ ॥ अपनी सलज्ज मुसकान, नाचती हुई तिरछी भौंहें और विलासभरी चितवनसे मोहिनीरूपधारी भगवान् दैत्यसेनापतियोंके चित्तमें बार-बार कामोद्दीपन करने लगे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
भगवन्मायोपलम्भनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

मोहिनीरूपसे भगवान्‌के द्वारा अमृत बाँटा जाना

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः ।
क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् ॥१॥
अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः ।
इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥ २ ॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
कस्यासि वद वामोरु मथ्नन्तीव[1] मनांसि नः ॥ ३ ॥
न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च[2] कुतो नृभिः ॥ ४ ॥
नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम् ।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥ ५ ॥
सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि[3] मानिनि ।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥ ६ ॥
वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः ।
विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥ ७ ॥
इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः ।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः ।
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! असुर आपसके सद्भाव और प्रेमको छोड़कर एक-दूसरेकी निन्दा कर रहे थे और डाकूकी तरह एक दूसरेके हाथसे अमृतका कलश छीन रहे थे। इसी बीचमें उन्होंने देखा कि एक बड़ी सुन्दरी स्त्री उनकी ओर चली आ रही है ॥ १ ॥ वे सोचने लगे—'कैसा अनुपम सौन्दर्य है। शरीरमेंसे कितनी अद्भुत छटा छिटक रही है। तनिक इसकी नयी उम्र तो देखो ! बस, अब वे आपसकी लाग-डाँट भूलकर उसके पास दौड़ गये। उन लोगोंने काममोहित होकर उससे पूछा— ॥ २ ॥ कमलनयनी ! तुम कौन हो ? कहाँसे आ रही हो ? क्या करना चाहती हो ? सुन्दरी ! तुम किसकी कन्या हो ? तुम्हें देखकर हमारे मनमें खलबली मच गयी है ॥ ३ ॥ हम समझते हैं कि अबतक देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालोंने भी तुम्हें स्पर्शतक न किया होगा। फिर मनुष्य तो तुम्हें कैसे छू पाते ? ॥ ४ ॥ सुन्दरी ! अवश्य ही विधाताने दया करके शरीरधारियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मनको तृप्त करनेके लिये तुम्हें यहाँ भेजा है ॥ ५ ॥ मानिनी ! वैसे हमलोग एक ही जातिके हैं। फिर भी हम सब एक ही वस्तु चाह रहे हैं, इसलिये हममें डाह और वैरकी गाँठ पड़ गयी है। सुन्दरी ! तुम हमारा झगड़ा मिटा दो ॥ ६ ॥ हम सभी कश्यपजीके पुत्र होनेके नाते सगे भाई हैं। हमलोगोंने अमृतके लिये बड़ा पुरुषार्थ किया है। तुम न्यायके अनुसार निष्पक्षभावसे इसे बाँट दो, जिससे फिर हमलोगोंमें किसी प्रकारका झगड़ा न हो' ॥ ७ ॥ असुरोंने जब इस प्रकार प्रार्थना की तब लीलासे स्त्री-वेष धारण करनेवाले भगवान्‌ने तनिक हँसकर और तिरछी चितवनसे उनकी ओर देखते हुए कहा ॥ ८ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—आपलोग महर्षि कश्यपके पुत्र हैं और मैं हूँ कुलटा। आपलोग मुझपर न्यायका भार क्यों डाल रहे हैं ? विवेकी पुरुष स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंका

[1] प्रा० पा०—मथ्नासीव। [2] प्रा० पा०—योगेशैश्च। [3] प्रा० पा०—संस्पर्ध०।

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः ।
सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः ।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम् ॥११॥
ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥१२॥
इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः ।
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत् तथेत्यन्वमंसत ॥१३॥
अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् ।
दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥१४॥
यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ।
कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥१५॥
प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥१६॥
तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश ॥१७॥
तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।

कभी विश्वास नहीं करते ॥ ९ ॥ दैत्यो ! कुत्ते और व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी मित्रता स्थायी नहीं होती । वे दोनों ही सदा नये-नये शिकार ढूँढ़ा करते हैं ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मोहिनीकी परिहासभरी वाणीसे दैत्योंके मनमें और भी विश्वास हो गया । उन लोगोंने रहस्यपूर्ण भावसे हँसकर अमृतका कलश मोहिनीके हाथमें दे दिया ॥ ११ ॥ भगवान्‌ने अमृतका कलश अपने हाथमें लेकर तनिक मुसकराते हुए मीठी वाणीसे कहा—'मैं उचित या अनुचित जो कुछ भी करूँ, वह सब यदि तुम लोगोंको स्वीकार हो तो मैं यह अमृत बाँट सकती हूँ' ॥ १२ ॥ बड़े-बड़े दैत्योंने मोहिनीकी यह मीठी बात सुनकर उसकी बारीकी नहीं समझी, इसलिये सबने एक स्वरसे कह दिया 'स्वीकार है ।' इसका कारण यह था कि उन्हें मोहिनी-के वास्तविक स्वरूपका पता नहीं था ॥ १३ ॥

इसके बाद एक दिनका उपवास करके सबने स्नान किया । हविष्यसे अग्निमें हवन किया । गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंको घास-चारा, अन्न-धनादिका यथा-योग्य दान दिया तथा ब्राह्मणोंसे स्वस्त्ययन कराया ॥ १४ ॥ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने नये-नये वस्त्र धारण किये और इसके बाद सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण करके सब-के-सब उन कुशासनोंपर बैठ गये, जिनका अगला हिस्सा पूर्वकी ओर था ॥ १५ ॥ जब देवता और दैत्य दोनों ही धूपसे सुगन्धित, मालाओं और दीपकोंसे सजे-सजाये भव्य भवनमें पूर्वकी ओर मुँह करके बैठ गये, तब हाथमें अमृतका कलश लेकर मोहिनी सभामण्डपमें आयी । वह एक बड़ी सुन्दर साड़ी पहने हुए थी । नितम्बोंके भारके कारण वह धीरे-धीरे चल रही थी । आँखें मदसे विह्वल हो रही थीं । कलशके समान स्तन और गजशावककी सूँड़के समान जङ्घाएँ थीं । उसके स्वर्णनूपुर अपनी झनकारसे सभाभवनको मुखरित कर रहे थे ॥ १६-१७ ॥ सुन्दर कानोंमें सोने-के कुण्डल थे और उसकी नासिका, कपोल तथा मुख बड़े ही सुन्दर थे । स्वयं परदेवता भगवान् मोहिनीके रूपमें ऐसे जान पड़ते थे, मानो लक्ष्मीजीकी कोई श्रेष्ठ

१. प्रा० पा०—प्राक्काले० । २. प्रा० पा०—लसद्दु० ।

संवीक्ष्य संमुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन

देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् ॥१८॥

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ।

मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥१९॥

कल्पयित्वा पृथक् पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः ।

तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥२०॥

दैत्यान्गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।

दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥२१॥

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप ।

तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥२२॥

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ।

बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥२३॥

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।

प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥२४॥

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।

हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥२५॥

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत् ।

यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥२६॥

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः ।

सखी वहाँ आ गयी हो । मोहिनीने अपनी मुसकानभरी चितवनसे देवता और दैत्योंकी ओर देखा, तो वे सब-के-सब मोहित हो गये । उस समय उनके स्तनोंपरसे अञ्चल कुछ खिसक गया था ॥ १८ ॥ भगवान्‌ने मोहिनीरूपमें यह विचार किया कि असुर तो जन्मसे ही क्रूर स्वभाववाले हैं । इनको अमृत पिलाना सर्पोंको दूध पिलानेके समान बड़ा अन्याय होगा । इसलिये उन्होंने असुरोंको अमृतमें भाग नहीं दिया ॥ १९ ॥ भगवान्‌ने देवता और असुरोंकी अलग-अलग पंक्तियाँ बना दीं और फिर दोनोंको कतार बाँधकर अपने-अपने दलमें बैठा दिया ॥ २० ॥ इसके बाद अमृतका कलश हाथमें लेकर भगवान् दैत्योंके पास चले गये । उन्हें हाव-भाव और कटाक्षसे मोहित करके दूर बैठे हुए देवताओंके पास आ गये तथा उन्हें वह अमृत पिलाने लगे, जिसे पी लेनेपर बुढ़ापे और मृत्युका नाश हो जाता है ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! असुर अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन कर रहे थे । उनका स्नेह भी हो गया था और वे स्त्रीसे झगड़नेमें अपनी निन्दा भी समझते थे । इसलिये वे चुपचाप बैठे रहे ॥ २२ ॥ मोहिनीमें उनका अत्यन्त प्रेम हो गया था । वे डर रहे थे कि उससे हमारा प्रेम-सम्बन्ध टूट न जाय । मोहिनीने भी पहले उन लोगोंका बड़ा सम्मान किया था, इससे वे और भी बँध गये थे । यही कारण है कि उन्होंने मोहिनीको कोई अप्रिय बात नहीं कही ॥ २३ ॥

जिस समय भगवान् देवताओंको अमृत पिला रहे थे, उसी समय राहु दैत्य देवताओंका वेष बनाकर उनके बीचमें आ बैठा और देवताओंके साथ उसने भी अमृत पी लिया । परंतु तत्क्षण चन्द्रमा और सूर्यने उसकी पोल खोल दी ॥ २४ ॥ अमृत पिलाते-पिलाते ही भगवान्‌ने अपने तीखी धारवाले चक्रसे उसका सिर काट डाला । अमृतका संसर्ग न होनेसे उसका धड़ नीचे गिर गया ॥ २५ ॥ परंतु सिर अमर हो गया और ब्रह्माजीने उसे 'ग्रह' बना दिया । वही राहु पर्वके दिन (पूर्णिमा और अमावस्याको) वैरभावसे बदला लेनेके लिये चन्द्रमा तथा सूर्यपर आक्रमण किया करता है ॥ २६ ॥ जब देवताओंने अमृत पी लिया, तब समस्त

पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥२७॥

एवं सुरा सुरगणाः समदेशकाल-

हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।

तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-

र्यत्पादपङ्कजरजः श्रयणान्न दैत्याः ॥२८॥

यद् युज्यतेऽऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-

र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।

तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्

सर्वस्य तत् भवति मूलनिषेचनं यत् ॥२९॥

लोकोंको जीवनदान करनेवाले भगवान्‌ने बड़े-बड़े दैत्योंके सामने ही मोहिनीरूप त्याग कर अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! देखो—देवता और दैत्य दोनोंने एक ही समय एक स्थानपर एक प्रयोजन तथा एक वस्तुके लिये एक विचारसे एक ही कर्म किया था, परंतु फलमें बड़ा भेद हो गया । उनमेंसे देवताओंने बड़ी सुगमतासे अपने परिश्रमका फल—अमृत प्राप्त कर लिया, क्योंकि उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंकी रजका आश्रय लिया था । परंतु उससे विमुख होनेके कारण परिश्रम करनेपर भी असुरगण अमृतसे वञ्चित ही रहे ॥२८ ॥ मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदिसे शरीर एवं पुत्र आदिके लिये जो कुछ करता है—वह व्यर्थ ही होता है; क्योंकि उसके मूलमें भेदबुद्धि बनी रहती है । परंतु उन्हीं प्राण आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सब भेद-भावसे रहित होनेके कारण अपने शरीर, पुत्र और समस्त संसारके लिये सफल हो जाता है । जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे उसका तना, टहनियाँ और पत्ते—सब-के-सब सिंच जाते हैं, वैसे ही भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे वे सबके लिये हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

देवासुर-संग्राम

श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप ।

युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १ ॥

साधयित्वामृतं राजन्पाययित्वा स्वकान्सुरान् ।

पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥ २ ॥

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! यद्यपि दानव और दैत्योंने बड़ी सावधानीसे समुद्रमन्थनकी चेष्टा की थी, फिर भी भगवान्‌से विमुख होनेके कारण उन्हें अमृतकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ १ ॥ राजन् ! भगवान्‌ने समुद्रको मथकर अमृत निकाला और अपने निजजन देवताओंको पिला दिया । फिर सबके देखते-देखते वे गरुडपर सवार हुए और वहाँसे चले गये ॥ २ ॥ जब दैत्योंने देखा कि हमारे शत्रुओंको तो बड़ी सफलता

१. प्रा० पा०—प्रभुः । २. प्रा० पा०—परां सिद्धिं ।

अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः ॥ ३ ॥
ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ।
प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥ ४ ॥
तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः ।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥ ५ ॥
तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे ।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥ ६ ॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरिणां महान् ।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निस्वनोऽभवत् ॥ ७ ॥
रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः ।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥ ८ ॥
उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः ।
केचिद् गौरमृगैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥ ९ ॥
गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः ।
शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः ॥ १० ॥
शिवाभिराखुभिः केचित् कृकलासैः शशैर्नरैः ।
बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः ॥ ११ ॥
अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः ।
सेनयोरुभयो राजन्विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥ १२ ॥
चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः ।
महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः ॥ १३ ॥

मिली, तब वे उनकी बढ़ती सह न सके। उन्होंने तुरंत अपने हथियार उठाये और देवताओंपर धावा बोल दिया ॥ ३ ॥ इधर देवताओंने एक तो अमृत पीकर विशेष शक्ति प्राप्त कर ली थी और दूसरे उन्हें भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय था ही। बस, वे भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो दैत्योंसे भिड़ गये ॥ ४ ॥ परीक्षित्! क्षीरसागरके तटपर बड़ा ही रोमाञ्चकारी और अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ। देवता और दैत्योंकी वह घमासान लड़ाई ही 'देवासुर-संग्राम'के नामसे कही जाती है ॥ ५ ॥ दोनों ही एक दूसरेके प्रबल शत्रु हो रहे थे, दोनों ही क्रोधसे भरे हुए थे। एक दूसरेको आमने-सामने पाकर तलवार, बाण और अन्य अनेकानेक अस्त्र-शस्त्रोंसे परस्पर चोट पहुँचाने लगे ॥ ६ ॥ उस समय लड़ाईमें शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग, नगारे और डमरू बड़े जोरसे बजने लगे; हाथियोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंकी घरघराहट और पैदल सेनाकी चिल्लाहटसे बड़ा कोलाहल मच गया ॥ ७ ॥ रणभूमिमें रथियोंके साथ रथी, पैदलके साथ पैदल, घुड़सवारोंके साथ घुड़सवार एवं हाथीवालोंके साथ हाथीवाले भिड़ गये ॥ ८ ॥ उनमेंसे कोई-कोई वीर ऊँटोंपर, हाथियोंपर और गधोंपर चढ़कर लड़ रहे थे तो कोई-कोई गौरमृग, भालू, बाघ और सिंहोंपर ॥ ९ ॥ कोई-कोई सैनिक गिद्ध, कङ्क, बगुले, बाज और भास पक्षियोंपर चढ़े हुए थे तो बहुत-से तिमिङ्गिल मच्छ, शरभ, भैंसे, गैंड़े, बैल, नीलगाय और जंगली साँड़ोंपर सवार थे ॥ १० ॥ किसी-किसीने सियारिन, चूहे, गिरगिट और खरहोंपर ही सवारी कर ली थी तो बहुत-से मनुष्य, बकरे, कृष्णसार मृग, हंस और सूअरोंपर चढ़े थे ॥ ११ ॥ इस प्रकार जल, स्थल एवं आकाशमें रहनेवाले तथा देखनेमें भयंकर शरीरवाले बहुत-से प्राणियोंपर चढ़कर कई दैत्य दोनों सेनाओंमें आगे-आगे घुस गये ॥ १२ ॥

परीक्षित्! उस समय रंग-बिरंगी पताकाओं, स्फटिक मणिके समान श्वेत निर्मल छत्रों, रत्नोंसे जड़े हुए दण्ड

१. प्रा० पा०—भेरीणां निःस्वनो। २. प्राचीन प्रतिमें 'हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निस्वनोऽभवत्' इतने अंशका पाठ पाँचवें श्लोक '.....रोमहर्षणः' के बाद है, शेषका क्रम इसी प्रतिके अनुसार है। ३. प्रा० पा०—चिद्द्विपैः। ४. प्रा० पा०—रेऽपि ययुः खरैः। ५. प्रा० पा०—नरैः खगैः। ६. प्रा० पा०—मृगैरन्ये। ७. प्रा० पा०—महायुधैर्वज्र०।

वातोद्धतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः ।
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥१४॥
देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन ।
रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥१५॥
वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः ।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम् ॥१६॥
सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम् ॥१७॥
आस्थितस्तद् विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः ।
बालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥१८॥
तस्यासन्सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः ।
नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥
द्विमूर्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः ।
शकुनिर्भूतसंतापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥२०॥
हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः ।
तारकश्चक्रदृक् शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः ॥२१॥
अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः ।
अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥२२॥
अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः ।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥२३॥
सिंहनादान्विमुञ्चन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान् ।
दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान्बलभित् कुपितो भृशम् ॥२४॥
ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट् ।

वाले बहुमूल्य पंखों, मोरपंखों, चँवरों और वायुसे उड़ते हुए दुपट्टों, पगड़ी, कलँगी, कवच, आभूषण तथा सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त दमकते हुए उज्ज्वल शस्त्रों एवं वीरों-की पंक्तियोंके कारण देवता और असुरोंकी सेनाएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं, मानो जल-जन्तुओंसे भरे हुए दो महासागर लहरा रहे हों ॥ १३–१५ ॥ परीक्षित् ! रणभूमिमें दैत्योंके सेनापति विरोचनपुत्र बलि मय दानव-के बनाये हुए वैहायस नामक विमानपर सवार हुए । वह विमान चलानेवालेकी जहाँ इच्छा होती थी, वहीं चला जाता था ॥ १६ ॥ युद्धकी समस्त सामग्रियाँ उसमें सुसज्जित थीं । परीक्षित् ! वह इतना आश्चर्यमय था कि कभी दिखलायी पड़ता तो कभी अदृश्य हो जाता । वह इस समय कहाँ है—जब इस बातका अनुमान भी नहीं किया जा सकता था, तब बतलाया तो कैसे जा सकता था ॥ १७ ॥ उसी श्रेष्ठ विमानपर राजा बलि सवार थे । सभी बड़े-बड़े सेनापति उनको चारों ओरसे घेरे हुए थे । उनपर श्रेष्ठ चमर डुलाये जा रहे थे और छत्र तना हुआ था । उस समय बलि ऐसे जान पड़ते थे, जैसे उदयाचलपर चन्द्रमा ॥ १८ ॥ उनके चारों ओर अपने-अपने विमानोंपर सेनाकी छोटी-छोटी टुकड़ियोंके स्वामी नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्राक्ष, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिपति मय, पौलोम, कालेय और निवातकवच आदि स्थित थे ॥ १९–२२ ॥ ये सब-के-सब समुद्रमन्थनमें सम्मिलित थे । परंतु इन्हें अमृतका भाग नहीं मिला, केवल क्लेश ही हाथ लगा था । इन सब असुरोंने एक नहीं अनेक बार युद्धमें देवताओंको पराजित किया था ॥ २३ ॥ इसलिये वे बड़े उत्साहसे सिंहनाद करते हुए अपने घोर स्वरवाले शङ्ख बजाने लगे । इन्द्रने देखा कि हमारे शत्रुओंका मन बढ़ रहा है, ये मदोन्मत्त हो रहे हैं, तब उन्हें बड़ा क्रोध आया ॥ २४ ॥ वे अपने वाहन ऐरावत नामक दिग्गजपर सवार हुए । उसके कपोलोंसे मद बह

१. प्रा० पा०—ऽत्र । २. प्रा० पा०—नादं वि० । ३. प्रा० पा०—रूढोऽधिपतिं स्वराट् ।

यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः ॥२५॥

तस्यासन्सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः ।

लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः ॥२६॥

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः ।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥२७॥

युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत ।
वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन्प्रहेतिना ॥२८॥

यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै ।
शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः ॥२९॥

अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा ।
सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥३०॥

राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः ।
निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥३१॥

वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः ।
इल्वलः सह वातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम ॥३२॥

कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह ।
बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥३३॥

मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः ।
विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥३४॥

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा
द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः ।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा
जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥३५॥

भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः
शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि ।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः
सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥३६॥

रहा था। इसलिये इन्द्रकी ऐसी शोभा हुई, मानो भगवान् सूर्य उदयाचलपर आरूढ़ हों और उससे अनेकों झरने बह रहे हों ॥ २५ ॥ इन्द्रके चारों ओर अपने-अपने वाहन, ध्वजा और आयुधोंसे युक्त देवगण एवं अपने-अपने गणोंके साथ वायु, अग्नि, वरुण आदि लोकपाल हो लिये ॥ २६ ॥

दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गयीं। दो-दोकी जोड़ियाँ बनाकर वे लोग लड़ने लगे। कोई आगे बढ़ रहा था, तो कोई नाम ले-लेकर ललकार रहा था। कोई-कोई मर्मभेदी वचनोंके द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वीको धिक्कार रहा था ॥ २७ ॥ बलि इन्द्रसे, स्वामिकार्तिक तारकासुरसे, वरुण हेतिसे और मित्र प्रहेतिसे भिड़ गये ॥२८॥ यमराज कालनाभसे, विश्वकर्मा मयसे, शम्बरासुर त्वष्टासे तथा सविता विरोचनसे लड़ने लगे ॥ २९ ॥ नमुचि अपराजितसे, अश्विनीकुमार वृषपर्वासे तथा सूर्यदेव बलिके बाण आदि सौ पुत्रोंसे युद्ध करने लगे ॥३०॥ राहुके साथ चन्द्रमा और पुलोमाके साथ वायुका युद्ध हुआ। भद्रकाली देवी निशुम्भ और शुम्भपर झपट पड़ीं ॥ ३१ ॥ परीक्षित्! जम्भासुरसे महादेवजीकी, महिषासुरसे अग्निदेवकी और वातापि तथा इल्वलसे ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदिकी ठन गयी ॥ ३२ ॥ दुर्मर्षकी कामदेवसे, उत्कलकी मातृगणोंसे, शुक्राचार्यकी बृहस्पतिसे और नरकासुरकी शनैश्चरसे लड़ाई होने लगी ॥३३॥ निवातकवचोंके साथ मरुद्गण, कालेयोंके साथ वसुगण, पौलोमोंके साथ विश्वेदेवगण तथा क्रोधवशोंके साथ रुद्रगणका संग्राम होने लगा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार असुर और देवता रणभूमिमें द्वन्द्वयुद्ध और सामूहिक आक्रमणद्वारा एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजयकी इच्छासे उत्साहपूर्वक तीखे बाण, तलवार और भालोंसे प्रहार करने लगे। वे तरह-तरहसे युद्ध कर रहे थे ॥ ३५ ॥ भुशुण्डि, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, फरसा, तलवार, भाले, मुद्गर, परिघ और भिन्दिपालसे एक दूसरेका सिर काटने

१. प्रा० पा०—नामभिर्मिथः। २. प्रा० पा०—युत।

गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः
सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥३७॥
तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा ।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिं च छादयन्
न्यवर्ततासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात् ॥३८॥
शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः ।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥३९॥
कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः ।
उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान् मृधे ॥४०॥
बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत् ॥४१॥
स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः ।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान्हसन्निव ॥४२॥
तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे ।
तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः ॥४३॥
ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः ।

लगे ॥ ३६ ॥ उस समय अपने सवारोंके साथ हाथी, घोड़े, रथ आदि अनेकों प्रकारके वाहन और पैदल सेना छिन्न-भिन्न होने लगी । किसीकी भुजा, किसीकी जङ्घा, किसीकी गरदन और किसीके पैर कट गये तो किसी-किसीकी ध्वजा, धनुष, कवच और आभूषण ही टुकड़े-टुकड़े हो गये ॥ ३७ ॥ उनके चरणोंकी धमक और रथके पहियोंकी रगड़से पृथ्वी खुद गयी । उस समय रणभूमिसे ऐसी प्रचण्ड धूल उठी कि उसने दिशा, आकाश और सूर्यको भी ढक दिया । परंतु थोड़ी ही देरमें खूनकी धारासे भूमि आप्लावित हो गयी और कहीं धूलका नाम भी न रहा ॥ ३८ ॥ तदनन्तर लड़ाईका मैदान कटे हुए सिरोंसे भर गया । किसीके मुकुट और कुण्डल गिर गये थे, तो किसीकी आँखोंसे क्रोधकी मुद्रा प्रकट हो रही थी । किसी-किसीने अपने दाँतोंसे होंठ दबा रक्खा था । बहुतोंकी आभूषणों और शस्त्रोंसे सुसज्जित लंबी-लंबी भुजाएँ कटकर गिरी हुई थीं और बहुतोंकी मोटी-मोटी जाँघें कटी हुई पड़ी थीं । इस प्रकार वह रणभूमि बड़ी भीषण दीख रही थी ॥ ३९ ॥ तब वहाँ बहुत-से धड़ अपने कटकर गिरे हुए सिरोंके नेत्रोंसे देखकर हाथोंमें हथियार उठा वीरोंकी ओर दौड़ने और उछलने लगे ॥ ४० ॥

राजा बलिने दस बाण इन्द्रपर, तीन उनके वाहन ऐरावतपर, चार ऐरावतके चार चरण-रक्षकोंपर और एक मुख्य महावतपर—इस प्रकार कुल अठारह बाण छोड़े ॥ ४१ ॥ इन्द्रने देखा कि बलिके बाण तो हमें घायल करना ही चाहते हैं, तब उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उतने ही तीखे भल्ल नामक बाणोंसे उनको वहाँतक पहुँचनेके पहले ही हँसते-हँसते काट डाला ॥ ४२ ॥ इन्द्रकी यह प्रशंसनीय फुर्ती देखकर राजा बलि और भी चिढ़ गये । उन्होंने एक बहुत बड़ी शक्ति, जो बड़े भारी लूकेके समान जल रही थी, उठायी । किंतु अभी वह उनके हाथमें ही थी—छूटने नहीं पायी थी कि इन्द्रने उसे भी काट डाला ॥ ४३ ॥ इसके बाद बलिने एकके पीछे एक क्रमशः शूल, प्रास, तोमर और शक्ति

१. प्रा० पा०—पतिताः स्वशिरोरुभिः । २. प्रा० पा०—मर्पयत् । ३. प्रा० पा०—यष्टयः ।

यद्यद् यच्छस्त्रं समादद्यात्सर्वं तदच्छिनद् विभुः ॥४४॥

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः ।
ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥४५॥

ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना ।
शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम् ॥४६॥

महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः ।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजान् ॥४७॥

यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः ।
छिन्धि भिन्धीति वादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो ॥४८॥

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः ।
अङ्गारान्मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः ॥४९॥

सृष्टो दैत्येन सुमहान्वह्निः श्वसनसारथिः ।
सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक् ॥५०॥

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत ।
प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्तभीषणः ॥५१॥

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः ।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥५२॥

न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप ।

उठायी। परंतु वे जो-जो शस्त्र हाथमें उठाते, इन्द्र उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर डालते। इस हस्तलाघवसे इन्द्रका ऐश्वर्य और भी चमक उठा ॥ ४४ ॥

परीक्षित्! अब इन्द्रकी फुर्तीसे घबराकर पहले तो बलि अन्तर्धान हो गये, फिर उन्होंने आसुरी मायाकी सृष्टि की। तुरंत ही देवताओंकी सेनाके ऊपर एक पर्वत प्रकट हुआ ॥४५॥ उस पर्वतसे दावाग्निसे जलते हुए वृक्ष और टाँकी-जैसी तीखी धारवाले शिखरोंके साथ नुकीली शिलाएँ गिरने लगीं। इससे देवताओंकी सेना चकनाचूर होने लगी ॥४६॥ तत्पश्चात् बड़े-बड़े साँप, दन्दशूक, बिच्छू और अन्य विषैले जीव उछल-उछलकर काटने और डंक मारने लगे। सिंह, बाघ और सूअर देव-सेनाके बड़े-बड़े हाथियोंको फाड़ने लगे ॥४७॥ परीक्षित्! हाथोंमें शूल लिये 'मारो-काटो' इस प्रकार चिल्लाती हुई सैकड़ों नंग-धड़ंग राक्षसियाँ और राक्षस भी वहाँ प्रकट हो गये ॥४८॥ कुछ ही क्षण बाद आकाशमें बादलोंकी घनघोर घटाएँ मँडराने लगीं, उनके आपसमें टकरानेसे बड़ी गहरी और कठोर गर्जना होने लगी, बिजलियाँ चमकने लगीं और आँधीके झकझोरनेसे बादल अंगारोंकी वर्षा करने लगे ॥४९॥ दैत्यराज बलिने प्रलयकी अग्निके समान बड़ी भयानक आगकी सृष्टि की। वह बात-की-बातमें वायुकी सहायतासे देव-सेनाको जलाने लगी ॥५०॥ थोड़ी ही देरमें ऐसा जान पड़ा कि प्रबल आँधीके थपेड़ोंसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें और भयानक भँवर उठ रहे हैं और वह अपनी मर्यादा छोड़कर चारों ओरसे देवसेनाको घेरता हुआ उमड़ा आ रहा है ॥ ५१ ॥ इस प्रकार जब उन भयानक असुरोंने बहुत बड़ी मायाकी सृष्टि की और स्वयं अपनी मायाके प्रभावसे छिप रहे—न दीखनेके कारण उनपर प्रहार भी नहीं किया जा सकता था, तब देवताओंके सैनिक बहुत दुखी हो गये ॥५२॥ परीक्षित्! इन्द्र आदि देवताओंने उनकी मायाका प्रतीकार करनेके लिये बहुत कुछ सोचा-विचारा, परंतु उन्हें

१. प्रा० पा०—यद्यद्दुर्मर्ष आदद्यात्। २. प्रा० पा०—महागजाः। ३. प्रा० पा०—मधात्। ४. प्रा० पा०—नैतत्।

ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र भगवान्विश्वभावनः ॥५३॥

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः
पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः ।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-
च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥

तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा
माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥५५॥

दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह
आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः ।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद् गृहीत्वा
तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥५६॥

माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम् ।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाऽऽद्यः ॥५७॥

कुछ न सूझा। तब उन्होंने विश्वके जीवनदाता भगवान्का ध्यान किया और ध्यान करते ही वे वहीं प्रकट हो गये ॥ ५३ ॥ बड़ी ही सुन्दर झाँकी थी। गरुडके कंधेपर उनके चरणकमल विराजमान थे। नवीन कमलके समान बड़े ही कोमल नेत्र थे, पीताम्बर धारण किये हुए थे। आठ भुजाओंमें आठ आयुध, गलेमें कौस्तुभ मणि, मस्तकपर अमूल्य मुकुट एवं कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। देवताओंने अपने नेत्रोंसे भगवान्की इस छबिका दर्शन किया ॥५४॥ परम पुरुष परमात्माके प्रकट होते ही उनके प्रभावसे असुरोंकी वह कपटभरी माया विलीन हो गयी। ठीक वैसे ही, जैसे जग जानेपर स्वप्नकी वस्तुओंका पता नहीं चलता। ठीक ही है, भगवान्की स्मृति समस्त विपत्तियोंसे मुक्त कर देती है ॥ ५५ ॥ इसके बाद कालनेमि दैत्यने देखा कि लड़ाईके मैदानमें गरुडवाहन भगवान् आ गये हैं, तब उसने अपने सिंहपर बैठे-ही-बैठे बड़े वेगसे उनके ऊपर एक त्रिशूल चलाया। वह गरुडके सिरपर लगनेवाला ही था कि खेल-खेलमें भगवान्ने उसे पकड़ लिया और उसी त्रिशूलसे उसके चलानेवाले कालनेमि दैत्य तथा उसके वाहनको मार डाला ॥ ५६ ॥ माली और सुमाली—दो दैत्य बड़े बलवान् थे, भगवान्ने युद्धमें अपने चक्रसे उनके सिर भी काट डाले और वे निर्जीव होकर गिर पड़े। तदनन्तर माल्यवान्ने अपनी प्रचण्ड गदासे गरुडपर बड़े वेगके साथ प्रहार किया। परंतु गर्जना करते हुए माल्यवान्के प्रहार करते-न-करते ही भगवान्ने चक्रसे उसके सिरको भी धड़से अलग कर दिया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

देवासुर-संग्रामकी समाप्ति

श्रीशुक उवाच

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः
परस्य पुंसः परयानुकम्पया ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! परम पुरुष भगवान्की अहैतुकी कृपासे देवताओंकी घबराहट जाती रही, उनमें नवीन उत्साहका संचार हो गया। पहले

१. प्रा० पा०—तस्मिन्। २. प्रा० पा०—मोक्षिणी। ३. प्रा० पा०—देवासुररणे।

जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय-
स्तांस्तान्रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ १ ॥
वैरोचनाय संरब्धो भगवान्पाकशासनः ।
उदयच्छद् यदा वज्रं प्रजा हा हेति चुक्रुशुः ॥ २ ॥
वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम् ।
मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे ॥ ३ ॥
नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान् नो जिगीषसि ।
जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम् ॥४॥
आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम् ।
तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञान्पूर्वस्माच्च पदादधः ॥ ५ ॥
सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा ।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन्घटस्व ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

बलिरुवाच

सङ्ग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम् ।
कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ॥ ७ ॥
तदिदं कालरशनं जना: पश्यन्ति सूरयः ।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ॥ ८ ॥
न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम् ।
गिरो वः साधुशोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः ।

इन्द्र, वायु आदि देवगण रणभूमिमें जिन-जिन दैत्योंसे आहत हुए थे, उन्हींके ऊपर अब वे पूरी शक्तिसे प्रहार करने लगे ॥ १ ॥ परम ऐश्वर्यशाली इन्द्रने बलिसे लड़ते-लड़ते जब उनपर क्रोध करके वज्र उठाया, तब सारी प्रजामें हाहाकार मच गया ॥ २ ॥ बलि अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर बड़े उत्साहसे युद्ध-भूमिमें बड़ी निर्भयता-से डटकर विचर रहे थे। उनको अपने सामने ही देखकर हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्रने उनका तिरस्कार करके कहा ॥ ३ ॥ 'मूर्ख ! जैसे नट बच्चोंकी आँखें बाँधकर अपने जादूसे उनका धन ऐंठ लेता है, वैसे ही तू माया-की चालोंसे हमपर विजय प्राप्त करना चाहता है। तुझे पता नहीं कि हमलोग मायाके स्वामी हैं; वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती ॥ ४ ॥ जो मूर्ख मायाके द्वारा स्वर्ग-पर अधिकार करना चाहते हैं और उसको लाँघकर ऊपरके लोकोंमें भी धाक जमाना चाहते हैं—उन लुटेरे मूर्खोंको मैं उनके पहले स्थानसे भी नीचे पटक देता हूँ ॥ ५ ॥ नासमझ ! तूने मायाकी बड़ी-बड़ी चालें चली हैं। देख ! आज मैं अपने सौ धारवाले वज्रसे तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ जो कुछ कर सकता हो, करके देख ले' ॥ ६ ॥

बलिने कहा—इन्द्र ! जो लोग कालशक्तिकी प्रेरणा-से अपने कर्मके अनुसार युद्ध करते हैं—उन्हें जीत या हार, यश या अपयश अथवा मृत्यु मिलती ही है ॥७॥ इसीसे ज्ञानीजन इस जगत्को कालके अधीन समझकर न तो विजय होनेपर हर्षसे फूल उठते हैं और न तो अपकीर्ति, हार अथवा मृत्युसे शोकके ही वशीभूत होते हैं। तुम लोग इस तत्त्वसे अनभिज्ञ हो ॥ ८ ॥ तुम लोग अपनेको जय-पराजय आदिका कारण—कर्ता मानते हो, इसलिये महात्माओंकी दृष्टिसे तुम शोचनीय हो। हम तुम्हारे मर्मस्पर्शी वचनको स्वीकार ही नहीं करते, फिर हमें दुःख क्यों होने लगा ? ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वीर बलिने इन्द्रको इस प्रकार फटकारा। बलिकी फटकारसे इन्द्र कुछ झेंप गये। तबतक वीरोंका मान मर्दन करनेवाले बलिने

१. प्रा० पा०—परादधः। २. प्रा० पा०—जयाजयौ। ३. प्रा० पा०—तदिमं। ४. प्रा० पा०—न ये। ५. प्रा० पा०—सर्व०। ६. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है। ७. प्रा० पा०—मानदः।

आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः ॥१०॥
एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना ।
नामृष्यत् तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः ॥११॥
प्राहरत् कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः ।
सयानो न्यपतद् भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः ॥१२॥
सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत् ।
अभ्ययात् सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन् ॥१३॥
स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा ।
जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः ॥१४॥
गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः ।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ ॥१५॥
ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः ।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः ॥१६॥
तस्य तत् पूजयन् कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः ।
शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे ॥१७॥
सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः ।
इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः ॥१८॥
जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः ।
नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः ॥१९॥
वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु ।
शरैरवाकिरन् मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥२०॥
हरीन्दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः ।
तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान् ॥२१॥

अपने धनुषको कानतक खींच-खींचकर बहुत-से बाण मारे ॥ १० ॥ सत्यवादी देवशत्रु बलिने इस प्रकार इन्द्रका अत्यन्त तिरस्कार किया । अब तो इन्द्र अङ्कुशसे मारे हुए हाथीकी तरह और भी चिढ़ गये । बलिका आक्षेप वे सहन न कर सके ॥ ११ ॥ शत्रुघाती इन्द्रने बलिपर अपने अमोघ वज्रका प्रहार किया । उसकी चोटसे बलि पंख कटे हुए पर्वतके समान अपने विमानके साथ पृथ्वी-पर गिर पड़े ॥ १२ ॥ बलिका एक बड़ा हितैषी और घनिष्ठ मित्र जम्भासुर था । अपने मित्रके गिर जानेपर भी उनको मारनेका बदला लेनेके लिये वह इन्द्रके सामने आ खड़ा हुआ ॥ १३ ॥ सिंहपर चढ़कर वह इन्द्रके पास पहुँच गया और बड़े वेगसे अपनी गदा उठाकर उनके जत्रुस्थान (हँसली) पर प्रहार किया । साथ ही उस महाबलीने ऐरावतपर भी एक गदा जमायी ॥ १४ ॥ गदाकी चोटसे ऐरावतको बड़ी पीड़ा हुई, उसने व्याकुलता-से घुटने टेक दिये और फिर मूर्छित हो गया ! ॥ १५ ॥ उसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हजार घोड़ोंसे जुता हुआ रथ ले आया और शक्तिशाली इन्द्र ऐरावतको छोड़कर तुरंत रथपर सवार हो गये ॥ १६ ॥ दानव-श्रेष्ठ जम्भने रणभूमिमें मातलिके इस कामकी बड़ी प्रशंसा की और मुसकराकर चमकता हुआ त्रिशूल उसके ऊपर चलाया ॥ १७ ॥ मातलिने धैर्यके साथ इस असह्य पीड़ाको सह लिया । तब इन्द्रने क्रोधित होकर अपने वज्रसे जम्भका सिर काट डाला ॥ १८ ॥

देवर्षि नारदसे जम्भासुरकी मृत्युका समाचार जानकर उसके भाई-बन्धु नमुचि, बल और पाक झटपट रणभूमिमें आ पहुँचे ॥ १९ ॥ अपनी कठोर और मर्मस्पर्शी वाणीसे उन्होंने इन्द्रको बहुत कुछ बुरा-भला कहा और जैसे बादल पहाड़पर मूसलधार पानी बरसाते हैं, वैसे ही उनके ऊपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ २० ॥ बल-ने बड़े हस्तलाघवसे एक साथ ही एक हजार बाण चलाकर इन्द्रके एक हजार घोड़ोंको घायल कर

१. प्रा० पा०—हनत् । २. प्रा० पा०—घमरिमर्दनम् । ३. प्रा० पा०—बलम् । ४. प्रा० पा०—लं च परं ययौ । ५. प्रा० पा०—मुचिः सबलः । ६. प्रा० पा०—पेतुश्च रोषिताः ।

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक् ।
सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद् रणे ॥२२॥
नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः ।
आहत्य व्यनदत्संख्ये सतोय इव तोयदः ॥२३॥
सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम् ।
छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः ॥२४॥
अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला
विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः ।
अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे[1] ॥२५॥
ततस्तुरापाडिषुबद्धपञ्जराद्
विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः ।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्
स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये ॥२६॥
निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे ।
उदयच्छद् रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥२७॥
स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः ।
ज्ञातीनां पश्यतां राजञ्जहार जनयन्भयम् ॥२८॥
नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः ।
जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ॥२९॥
अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन् ।
प्राहिणोद् देवराजाय निनदन् मृगराडिव ॥३०॥
तदापतद् गगनतले महाजवं
विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा[2] ।

दिया ॥ २१ ॥ पाकने सौ बाणोंसे मातलिको और सौ बाणोंसे रथके एक-एक अङ्गको छेद डाला । युद्धभूमिमें यह बड़ी अद्भुत घटना हुई कि एक ही बार इतने बाण उसने चढ़ाये और चलाये ॥ २२ ॥ नमुचिने बड़े-बड़े पंद्रह बाणोंसे, जिनमें सोनेके पंख लगे हुए थे, इन्द्रको मारा और युद्धभूमिमें वह जलसे भरे बादलके समान गरजने लगा ॥ २३ ॥ जैसे वर्षाकालके बादल सूर्यको ढक लेते हैं, वैसे ही असुरोंने बाणोंकी वर्षासे इन्द्र और उनके रथ तथा सारथिको भी चारों ओरसे ढक दिया ॥ २४ ॥ इन्द्रको न देखकर देवता और उनके अनुचर अत्यन्त विह्वल होकर रोने-चिल्लाने लगे । एक तो शत्रुओंने उन्हें हरा दिया था और दूसरे अब उनका कोई सेनापति भी न रह गया था । उस समय देवताओं-की ठीक वैसी ही अवस्था हो रही थी, जैसे बीच समुद्रमें नाव टूट जानेपर व्यापारियोंकी होती है ॥ २५ ॥ परंतु थोड़ी ही देरमें शत्रुओंके बनाये हुए बाणोंके पिंजड़ेसे घोड़े, रथ, ध्वजा और सारथिके साथ इन्द्र निकल आये । जैसे प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणोंसे दिशा, आकाश और पृथ्वीको चमका देते हैं, वैसे ही इन्द्रके तेजसे सब-के-सब जगमगा उठे ॥ २६ ॥ वज्रधारी इन्द्रने देखा कि शत्रुओंने रणभूमिमें हमारी सेनाको रौंद डाला है, तब उन्होंने बड़े क्रोधसे शत्रुको मार डालनेके लिये वज्रसे आक्रमण किया ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! उस आठ धारवाले पैने वज्रसे उन दैत्योंके भाई-बन्धुओंको भी भयभीत करते हुए उन्होंने बल और पाकके सिर काट लिये ॥ २८ ॥

परीक्षित् ! अपने भाइयोंको मरा हुआ देख नमुचिको बड़ा शोक हुआ । वह क्रोधके कारण आपेसे बाहर होकर इन्द्रको मार डालनेके लिये जी-जानसे प्रयास करने लगा ॥ २९ ॥ 'इन्द्र ! अब तुम बच नहीं सकते'—इस प्रकार ललकारते हुए एक त्रिशूल उठाकर वह इन्द्रपर टूट पड़ा । वह त्रिशूल फौलादका बना हुआ था, सोनेके आभूषणोंसे विभूषित था और उसमें घण्टे लगे हुए थे । नमुचिने क्रोधके मारे सिंहके समान गरजकर इन्द्रपर वह त्रिशूल चला दिया ॥ ३० ॥ परीक्षित् ! इन्द्रने देखा कि त्रिशूल बड़े वेगसे मेरी ओर आ रहा है । उन्होंने अपने बाणोंसे आकाशमें ही उसके

१. प्रा० पा०—महार्णवे । २. प्रा० पा०—विन० ।

तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे

रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् ॥३१॥

न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो

बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः ।

तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्

तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा ॥३२॥

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः ।

किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥३३॥

येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये ।

कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि ॥३४॥

तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः ।

अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः ॥३५॥

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके ।

नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥३६॥

इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी ।

नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥३७॥

मयास्मै यद्वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः ।

अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन् रिपोः ॥३८॥

तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान्सुसमाहितः ।

ध्यायन् फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम् ॥३९॥

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः ।

हजारों टुकड़े कर दिये और इसके बाद देवराज इन्द्रने बड़े क्रोधसे उसका सिर काट लेनेके लिये उसकी गर्दनपर वज्र मारा ॥ ३१ ॥ यद्यपि इन्द्रने बड़े वेगसे वह वज्र चलाया था; परंतु उस यशस्वी वज्रसे उसके चमड़ेपर खरोंचतक नहीं आयी। यह बड़ी आश्चर्यजनक घटना हुई कि जिस वज्रने महाबली वृत्रासुरका शरीर टुकड़े-टुकड़े कर डाला था, नमुचिके गलेकी त्वचाने उसका तिरस्कार कर दिया ॥ ३२ ॥ जब वज्र नमुचिका कुछ न बिगाड़ सका, तब इन्द्र उससे डर गये। वे सोचने लगे कि 'दैवयोगसे संसारभरको संशयमें डालनेवाली यह कैसी घटना हो गयी! ॥ ३३ ॥ पहले युगमें जब ये पर्वत पाँखोंसे उड़ते थे और घूमते-फिरते भारके कारण पृथ्वीपर गिर पड़ते थे, तब प्रजाका विनाश होते देखकर इसी वज्रसे मैंने उन पहाड़ोंकी पाँखें काट डाली थीं ॥ ३४ ॥ त्वष्टाकी तपस्याका सार ही वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुआ था। उसे भी मैंने इसी वज्रके द्वारा काट डाला था और भी अनेकों दैत्य, जो बहुत बलवान् थे और किसी अस्त्र-शस्त्रसे जिनके चमड़ेको भी चोट नहीं पहुँचायी जा सकी थी, इसी वज्रसे मैंने मृत्युके घाट उतार दिये थे ॥ ३५ ॥ वही मेरा वज्र मेरे प्रहार करनेपर भी इस तुच्छ असुरको न मार सका, अतः अब मैं इसे अङ्गीकार नहीं कर सकता। यह ब्रह्मतेजसे बना है तो क्या हुआ, अब तो निकम्मा हो चुका है' ॥ ३६॥ इस प्रकार इन्द्र विषाद करने लगे। उसी समय यह आकाशवाणी हुई—"यह दानव न तो सूखी वस्तुसे मर सकता है, न गीलीसे ॥ ३७ ॥ इसे मैं वर दे चुका हूँ कि 'सूखी या गीली वस्तुसे तुम्हारी मृत्यु न होगी।' इसलिये इन्द्र! इस शत्रुको मारनेके लिये अब तुम कोई दूसरा उपाय सोचो!" ॥ ३८ ॥ उस आकाशवाणीको सुनकर देवराज इन्द्र बड़ी एकाग्रतासे विचार करने लगे। सोचते-सोचते उन्हें सूझ गया कि समुद्रका फेन तो सूखा भी है, गीला भी; ॥ ३९ ॥ इसलिये न उसे सूखा कह सकते हैं, न गीला। अतः इन्द्रने उस न सूखे और न गीले समुद्र-फेनसे नमुचिका सिर काट डाला। उस समय

१. प्रा० पा०—हकृत्। २. प्रा० पा०—जात्क्षये। ३. प्रा० पा०—वि०। ४. प्रा० पा०—चातिबलो०। ५. प्रा० पा०—वज्रं।

तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन्विभुम्[1] ॥४०॥
गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा ॥४१॥
अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान्वाय्वग्निवरुणादयः ।
सूदयामासुरस्त्रौघैर्मृगान्केसरिणो यथा ॥४२॥
ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो नृप ।
वारयामास विबुधान्दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥४३॥

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भगवान् इन्द्रपर पुष्पोंकी वर्षा और उनकी स्तुति करने लगे ॥ ४० ॥ गन्धर्वशिरोमणि विश्वावसु तथा परावसु गान करने लगे, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और नर्तकियाँ आनन्दसे नाचने लगीं ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार वायु, अग्नि, वरुण आदि दूसरे देवताओंने भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंसे विपक्षियोंको वैसे ही मार गिराया, जैसे सिंह हरिनोंको मार डालते हैं ॥४२॥ परीक्षित् ! इधर ब्रह्माजीने देखा कि दानवोंका तो सर्वथा नाश हुआ जा रहा है, तब उन्होंने देवर्षि नारदको देवताओंके पास भेजा और नारदजीने वहाँ जाकर देवताओंको लड़नेसे रोक दिया ॥ ४३ ॥

नारद उवाच

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः ।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात् ॥४४॥

नारदजीने कहा—देवताओ ! भगवान्‌की भुजाओंकी छत्रछायामें रहकर आपलोगोंने अमृत प्राप्त कर लिया है और लक्ष्मीजीने भी अपनी कृपा-कोरसे आपकी अभिवृद्धि की है, इसलिये आपलोग अब लड़ाई बंद कर दें ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः ।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम् ॥४५॥
येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते ।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥४६॥
तत्राविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान् ।
उशना जीवयामास संजीविन्या स्वविद्यया ॥४७॥
बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः ।
पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवताओंने देवर्षि नारदकी बात मानकर अपने क्रोधके वेगको शान्त कर लिया और फिर वे सब-के-सब अपने लोक स्वर्गको चले गये । उस समय देवताओंके अनुचर उनके यशका गान करते रहे थे ॥ ४५ ॥ युद्धमें बचे हुए दैत्योंने देवर्षि नारदकी सम्मतिसे वज्रकी चोटसे मरे हुए बलिको लेकर अस्ताचलकी यात्रा की ॥ ४६ ॥ वहाँ शुक्राचार्यने अपनी सञ्जीवनी विद्यासे उन असुरोंको जीवित कर दिया, जिनके गरदन आदि अङ्ग कटे नहीं थे, बच रहे थे ॥ ४७ ॥ शुक्राचार्यके स्पर्श करते ही बलिकी इन्द्रियोंमें चेतना और मनमें स्मरणशक्ति आ गयी । बलि यह बात समझते थे कि संसारमें जीवन-मृत्यु, जय-पराजय आदि उलट-फेर होते ही रहते हैं । इसलिये पराजित होनेपर भी उन्हें किसी प्रकारका खेद नहीं हुआ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

१. प्रा० पा०—माल्यैरवाकिर० ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

मोहिनीरूपको देखकर महादेवजीका मोहित होना

श्रीबादरायणिरुवाच

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान् ।

मोहयित्वा सुरगणान्हरिः सोममपाययत् ॥ १ ॥

वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः ।

सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ २ ॥

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः ।

सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन्हरिम् ॥ ३ ॥

श्रीमहादेव उवाच

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय ।

सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ४ ॥

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः ।

यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद् भवान् ॥५॥

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः ।

विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥ ६ ॥

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-

मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।

विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-

मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥ ७ ॥

एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च

स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् शंकरने यह सुना कि श्रीहरिने स्त्रीका रूप धारण करके असुरोंको मोहित कर लिया और देवताओंको अमृत पिला दिया, तब वे सती देवीके साथ बैलपर सवार हो समस्त भूतगणोंको लेकर वहाँ गये, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं ॥ १-२ ॥ भगवान् श्रीहरिने बड़े प्रेमसे गौरी-शंकर भगवान्का स्वागत-सत्कार किया । वे भी सुखसे बैठकर भगवान्का सम्मान करके मुसकराते हुए बोले ॥ ३ ॥

श्रीमहादेवजीने कहा—समस्त देवोंके आराध्यदेव ! आप विश्वव्यापी, जगदीश्वर एवं जगत्स्वरूप हैं । समस्त चराचर पदार्थोंके मूल कारण, ईश्वर और आत्मा भी आप ही हैं ॥ ४ ॥ इस जगत्के आदि, अन्त और मध्य आपसे ही होते हैं; परंतु आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं । आपके अविनाशी स्वरूपमें द्रष्टा, दृश्य, भोक्ता और भोग्यका भेदभाव नहीं है । वास्तवमें आप सत्य, चिन्मात्र ब्रह्म ही हैं ॥ ५ ॥ कल्याणकामी महात्मालोग इस लोक और परलोक दोनोंकी आसक्ति एवं समस्त कामनाओंका परित्याग करके आपके कमलचरणोंकी ही आराधना करते हैं ॥ ६ ॥ आप अमृतस्वरूप, समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित, शोककी छायासे भी दूर स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म हैं । आप केवल आनन्द-स्वरूप हैं । आप निर्विकार हैं । आपसे भिन्न कुछ नहीं है, परंतु आप सबसे भिन्न हैं । आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं । आप समस्त जीवोंके शुभाशुभ कर्मका फल देनेवाले स्वामी हैं । परंतु यह बात भी जीवोंकी अपेक्षासे ही कही जाती है; वास्तवमें आप सबकी अपेक्षासे रहित, अनपेक्ष हैं ॥ ७ ॥ स्वामिन् ! कार्य और कारण, द्वैत और अद्वैत—जो कुछ है, वह सब एकमात्र आप ही हैं; ठीक वैसे ही जैसे आभूषणोंके रूपमें स्थित सुवर्ण और मूल-सुवर्णमें कोई अन्तर नहीं है,

१. प्रा० पा०—प्रतिगृह्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीमहादेव उवाच' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—मसि भूतानां त्वं० । ४. प्रा० पा०—मनन्तमन्यत् ।

अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ।८।
त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥९॥
नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥१०॥
स त्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥११॥
अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ।
सोऽहं तद् द्रष्टुमिच्छामि यत् ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥१२॥
येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ।
तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच[2]

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवान् शूलपाणिना ।
प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥१४॥

दोनों एक ही वस्तु हैं। लोगोंने आपके वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण आपमें नाना प्रकारके भेदभाव और विकल्पोंकी कल्पना कर रक्खी है। यही कारण है कि आपमें किसी प्रकारकी उपाधि न होनेपर भी गुणोंको लेकर भेदकी प्रतीति होती है ॥८॥ प्रभो! कोई-कोई आपको ब्रह्म समझते हैं, तो दूसरे आपको धर्म कहकर वर्णन करते हैं। इसी प्रकार कोई आपको प्रकृति और पुरुषसे परे परमेश्वर मानते हैं, तो कोई विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—इन नौ शक्तियोंसे युक्त परम पुरुष तथा दूसरे क्लेश-कर्म आदिके बन्धनसे रहित पूर्वजोंके भी पूर्वज, अविनाशी पुरुषविशेषके रूपमें मानते हैं ॥९॥ प्रभो! मैं ब्रह्मा और मरीचि आदि ऋषि—जो सत्त्वगुणकी सृष्टिके अन्तर्गत हैं—जब आपकी बनायी हुई सृष्टिका भी रहस्य नहीं जान पाते, तब आपको तो जान ही कैसे सकते हैं! फिर जिनका चित्त मायाने अपने वशमें कर रक्खा है और जो सर्वदा रजोगुणी और तमोगुणी कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे असुर और मनुष्य आदि तो भला जानेंगे ही क्या ॥१०॥ प्रभो! आप सर्वात्मक एवं ज्ञानस्वरूप हैं। इसीलिये वायुके समान आकाशमें अदृश्य रहकर भी आप सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में सदा-सर्वदा विद्यमान रहते हैं तथा इसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश, प्राणियोंके कर्म एवं संसारके बन्धन-मोक्ष—सभीको जानते हैं ॥११॥ प्रभो! आप जब गुणोंको स्वीकार करके लीला करनेके लिये बहुत-से अवतार ग्रहण करते हैं, तब मैं उनका दर्शन करता ही हूँ। अब मैं आपके उस अवतारका भी दर्शन करना चाहता हूँ, जो आपने स्त्रीरूपमें ग्रहण किया था ॥१२॥ जिससे दैत्योंको मोहित करके आपने देवताओंको अमृत पिलाया, स्वामिन्! उसीको देखनेके लिये हम सब आये हैं। हमारे मनमें उसके दर्शनका बड़ा कौतूहल है ॥१३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान् शंकरने विष्णुभगवान्‌से यह प्रार्थना की, तब वे गम्भीर भावसे हँसकर शंकरजीसे बोले ॥१४॥

१. प्रा० पा०—मिश्रा। २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है।

श्रीभगवानुवाच[1]

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया कृतः[2] ।
पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥१५॥

तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम ।
कामिनां बहु मन्तव्यं संकल्पप्रभवोदयम् ॥१६॥

श्रीशुक[3] उवाच

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया ॥१७॥

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्
दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ॥१८॥

आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तन-
प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्
पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥१९॥

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं
प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।
स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ॥२०॥

श्लथद् दुकूलं कबरीं च विच्युतां
सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ।

श्रीविष्णु भगवान्‌ने कहा—शंकरजी ! उस समय अमृतका कलश दैत्योंके हाथमें चला गया था । अतः देवताओंका काम बनानेके लिये और दैत्योंका मन एक नये कौतूहलकी ओर खींच लेनेके लिये ही मैंने वह स्त्री-रूप धारण किया था ॥ १५ ॥ देवशिरोमणे ! आप उसे देखना चाहते हैं, इसलिये मैं आपको वह रूप दिखलाऊँगा; परंतु वह रूप तो कामी पुरुषोंका ही आदरणीय है; क्योंकि वह कामभावको उत्तेजित करनेवाला है ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस तरह कहते-कहते विष्णुभगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये और भगवान् शंकर सती देवीके साथ चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए वहीं बैठे रहे ॥ १७ ॥ इतनेमें ही उन्होंने देखा कि सामने एक बड़ा सुन्दर उपवन है । उसमें भाँति-भाँतिके वृक्ष लग रहे हैं, जो रंग-बिरंगे फूल और लाल-लाल कोंपलोंसे भरे-पूरे हैं । उन्होंने यह भी देखा कि उस उपवनमें एक सुन्दरी स्त्री गेंद उछाल-उछालकर खेल रही है । वह बड़ी ही सुन्दर साड़ी पहने हुए है और उसकी कमरमें करधनीकी लड़ियाँ लटक रही हैं ॥१८॥ गेंदको उछालने और लपककर पकड़नेसे उसके स्तन और उनपर पड़े हुए हार हिल रहे हैं । ऐसा जान पड़ता था, मानो इनके भारसे उसकी पतली कमर पग-पगपर टूटते-टूटते बच जाती है । वह अपने लाल लाल पल्लवोंके समान सुकुमार चरणोंसे बड़ी कलाके साथ ठुमुक-ठुमुक चल रही थी ॥ १९ ॥ उछलता हुआ गेंद जब इधर-उधर छलक जाता था, तब वह लपककर उसे रोक लेती थी । इससे उसकी बड़ी-बड़ी चञ्चल आँखें कुछ उद्विग्न-सी हो रही थीं । उसके कपोलोंपर कानोंके कुण्डलोंकी आभा जगमगा रही थी और घुँघराली काली-काली अलकें उनपर लटक आती थीं, जिससे मुख और भी उल्लसित हो उठता था ॥२०॥ जब कभी साड़ी सरक जाती और केशोंकी वेणी खुलने लगती, तब अपने अत्यन्त सुकुमार बायें हाथसे वह उन्हें सम्हाल-सँवार

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' नहीं है। २. प्रा० पा०—धृतः । ३. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच ।

विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ॥२१॥
तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्
व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥२२॥
तस्याः कराग्रात् स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजन्स्त्रियाः ।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्
भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः ॥२३॥
एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम् ।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विसज्जन्त्यां भवः किल ॥२४॥
तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ।
भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ ॥२५॥
सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम् ।
निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत ॥२६॥
तामन्वगच्छद् भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः ।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥२७॥
सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥२८॥
सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा ।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥२९॥
आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् ।

लिया करती। उस समय भी वह दाहिने हाथसे गेंद उछाल-उछालकर सारे जगत्‌को अपनी मायासे मोहित कर रही थी ॥ २१ ॥ गेंदसे खेलते-खेलते उसने तनिक सलज्जभावसे मुसकराकर तिरछी नजरसे शंकरजीकी ओर देखा। बस, उनका मन हाथसे निकल गया। वे मोहिनीको निहारने और उसकी चितवनके रसमें डूबकर इतने विह्वल हो गये कि उन्हें अपने-आपकी भी सुधि न रही। फिर पास बैठी हुई सती और गणोंकी तो याद ही कैसे रहती ॥ २२ ॥ एक बार मोहिनीके हाथसे उछलकर गेंद थोड़ी दूर चला गया। वह भी उसीके पीछे दौड़ी। उसी समय शंकरजीके देखते-देखते वायुने उसकी झीनी-सी साड़ी करधनीके साथ ही उड़ा ली ॥२३॥ मोहिनीका एक-एक अङ्ग बड़ा ही रुचिकर और मनोरम था। जहाँ आँखें लग जातीं, लगी ही रहतीं। यही नहीं, मन भी वहीं रमण करने लगता। उसको इस दशामें देखकर भगवान् शंकर उसकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हो गये। उन्हें मोहिनी भी अपने प्रति आसक्त जान पड़ती थी ॥ २४ ॥ उसने शंकरजीका विवेक छीन लिया। वे उसके हाव-भावोंसे कामातुर हो गये और भवानीके सामने ही लज्जा छोड़कर उसकी ओर चल पड़े ॥ २५ ॥

मोहिनी वस्त्रहीन तो पहले ही हो चुकी थी, शंकरजीको अपनी ओर आते देख बहुत लज्जित हो गयी! वह एक वृक्षसे दूसरे वृक्षकी आड़में जाकर छिप जाती और हँसने लगती। परंतु कहीं ठहरती न थी ॥ २६ ॥ भगवान् शंकरकी इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं रहीं, वे कामवश हो गये थे; अतः हथिनीके पीछे हाथीकी तरह उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे ॥ २७ ॥ उन्होंने अत्यन्त वेगसे उसका पीछा करके पीछेसे उसका जूड़ा पकड़ लिया और उसकी इच्छा न होनेपर भी उसे दोनों भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया ॥ २८ ॥ जैसे हाथी हथिनीका आलिङ्गन करता है, वैसे ही भगवान् शंकरने उसका आलिङ्गन किया। वह इधर-उधर खिसककर छुड़ानेकी चेष्टा करने लगी, इसी छीना झपटीमें उसके सिरके बाल बिखर गये ॥ २९ ॥ वास्तवमें वह सुन्दरी भगवान्‌की रची हुई माया ही थी, इससे उसने

१. प्रा० पा०—सद्वत०।

प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥३०॥
तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥३१॥
तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनु धावतः ॥३२॥
यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः ।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते ॥३३॥
सरित्सरस्सु शैलेषु वनेषूपवनेषु च ।
यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र संनिहितो हरः ॥३४॥
स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया ।
जडीकृतं नृपश्रेष्ठ संन्यवर्तत कश्मलात् ॥३५॥
अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः ।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम् ॥३६॥
तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः ।
उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम् ॥३७॥

किसी प्रकार शंकरजीके भुजपाशसे अपनेको छुड़ा लिया और बड़े वेगसे भागी ॥३०॥ भगवान् शंकर भी उन मोहिनीवेषधारी अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके शत्रु कामदेवने इस समय उनपर विजय प्राप्त कर ली है ॥ ३१ ॥ कामुक हथिनीके पीछे दौड़नेवाले मदोन्मत्त हाथीके समान वे मोहिनीके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। यद्यपि भगवान् शंकरका वीर्य अमोघ है, फिर भी मोहिनीकी मायासे वह स्खलित हो गया ॥ ३२ ॥ भगवान् शंकरका वीर्य पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ गिरा, वहाँ-वहाँ सोने, चाँदीकी खानें बन गयीं ! ॥३३॥ परीक्षित् ! नदी, सरोवर, पर्वत, वन और उपवनमें एवं जहाँ-जहाँ ऋषि-मुनि निवास करते थे, वहाँ-वहाँ मोहिनीके पीछे-पीछे भगवान् शंकर गये थे ॥३४॥ परीक्षित् ! वीर्यपात हो जानेके बाद उन्हें अपनी स्मृति हुई। उन्होंने देखा कि अरे, भगवान्की मायाने तो मुझे खूब छकाया ! वे तुरंत उस दुःखद प्रसङ्गसे अलग हो गये ॥३५॥ इसके बाद आत्मस्वरूप सर्वात्मा भगवान्की यह महिमा जानकर उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे जानते थे कि भला, भगवान्की शक्तियोंका पार कौन पा सकता है ॥ ३६ ॥ भगवान्ने देखा कि भगवान् शंकरको इससे विषाद या लज्जा नहीं हुई है, तब वे पुरुष-शरीर धारण करके फिर प्रकट हो गये और बड़ी प्रसन्नतासे उनसे कहने लगे ॥ ३७ ॥

श्रीभगवानुवाच

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः ।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥३८॥
को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान् ।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः ॥३९॥
सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति ।

श्रीभगवान्ने कहा—देवशिरोमणे ! मेरी स्त्रीरूपिणी मायासे विमोहित होकर भी आप स्वयं ही अपनी निष्ठामें स्थित हो गये। यह बड़े ही आनन्दकी बात है ॥३८॥ मेरी माया अपार है। वह ऐसे-ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नहीं सकते। भला, आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पुरुष है, जो एक बार मेरी मायाके फंदेमें फँसकर फिर स्वयं ही उससे निकल सके ॥ ३९ ॥ यद्यपि मेरी यह गुणमयी माया बड़ों-बड़ोंको मोहित कर देती है, फिर भी अब यह आपको कभी मोहित नहीं करेगी;

१. प्रा० पा०—जडीकृतो। २. प्रा० पा०—मालोक्य। ३. प्रा० पा०—मात्मनि।

मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥४०॥

क्योंकि सृष्टि आदिके लिये समयपर उसे शोभित करनेवाला काल मैं ही हूँ, इसलिये मेरी इच्छाके विपरीत वह रजोगुण आदिकी सृष्टि नहीं कर सकती ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् श्रीवत्साङ्केन सत्कृतः ।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥४१॥
आत्मांशभूतां तां मायां भवानीं भगवान्भवः ।
शंसतामृषिमुख्यानां प्रीत्याऽऽचष्टाथ भारत ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् विष्णुने भगवान् शंकरका सत्कार किया । तब उनसे विदा लेकर एवं परिक्रमा करके वे अपने गणोंके साथ कैलाशको चले गये ॥ ४१ ॥ भरतवंशशिरोमणे ! भगवान् शंकरने बड़े-बड़े ऋषियोंकी सभामें अपनी अर्द्धाङ्गिनी सती देवीसे अपने विष्णुरूपकी अंशभूता मायामयी मोहिनीका इस प्रकार बड़े प्रेमसे वर्णन किया ॥ ४२ ॥

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां
परस्य पुंसः परदेवतायाः ।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये
ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥४३॥
यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्
समासहस्रान्त उपारतं वै ।
स एष साक्षात् पुरुषः पुराणो
न यत्र कालो विशते न वेदः ॥४४॥

'देवि ! तुमने परम पुरुष परमेश्वर भगवान् विष्णुकी माया देखी ? देखो, यों तो मैं समस्त कला-कौशल, विद्या आदिका स्वामी और स्वतन्त्र हूँ, फिर भी उस मायासे विवश होकर मोहित हो जाता हूँ । फिर दूसरे जीव तो परतन्त्र हैं ही; अतः वे मोहित हो जायँ—इसमें कहना ही क्या है ॥ ४३ ॥ जब मैं एक हजार वर्षकी समाधिसे उठा था, तब तुमने मेरे पास आकर पूछा था कि तुम किसकी उपासना करते हो । वे यही साक्षात् सनातन पुरुष हैं । न तो काल ही इन्हें अपनी सीमामें बाँध सकता है और न वेद ही इनका वर्णन कर सकता है । इनका वास्तविक स्वरूप अनन्त और अनिर्वचनीय है' ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः ।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥४५॥
एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो
न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं
समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥४६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! मैंने विष्णुभगवान्‌की यह ऐश्वर्यपूर्ण लीला तुमको सुनायी, जिसमें समुद्र-मन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल धारण करनेवाले भगवान्‌का वर्णन है ॥ ४५ ॥ जो पुरुष बार-बार इसका कीर्तन और श्रवण करता है, उसका उद्योग कभी और कहीं निष्फल नहीं होता । क्योंकि पवित्रकीर्ति भगवानके गुण और लीलाओंका गान संसारके समस्त क्लेश और परिश्रमको मिटा देनेवाला

१. प्रा० पा०—आत्मानुरूपां । २. प्रा० पा०—प्रत्यक्षमभिभाषत । ३ प्रा० पा०—ययाञ्जसा वै किमुतापरो यः । ४. प्रा० पा०—यन्मामा० । ५. प्रा० पा०—वर्गं । ६. प्रा० पा०—उपारमद्वै । ७. प्रा० पा०—एव । ८. प्रा० पा०—गुणानुकीर्तनं ।

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-

नमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम् ।

कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारीं-

स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥४७॥

है ॥ ४६ ॥ दुष्ट पुरुषोंको भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्ति कभी हो नहीं सकती। वे तो भक्तिभावसे युक्त पुरुषको ही प्राप्त होते हैं। इसीसे उन्होंने स्त्रीका मायामय रूप धारण करके दैत्योंको मोहित किया और अपने चरणकमलोंके शरणागत देवताओंको समुद्र-मन्थनसे निकले हुए अमृतका पान कराया। केवल उन्हींकी बात नहीं—चाहे जो भी उनके चरणोंकी शरण ग्रहण करे, वे उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। मैं उन प्रभुके चरणकमलोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे शंकरमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥[1]

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

आगामी सात मन्वन्तरोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥ १ ॥
इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च ।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥ २ ॥
करूषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान्स्मृतः ।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप ॥ ३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः ॥ ४ ॥
कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥ ५ ॥
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ ६ ॥
संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते ।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विवस्वान्‌के पुत्र यशस्वी श्राद्धदेव ही सातवें (वैवस्वत) मनु हैं। यह वर्तमान मन्वन्तर ही उनका कार्यकाल है। उनकी संतानका वर्णन मैं करता हूँ ॥ १ ॥ वैवस्वत मनुके दस पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूष, पृषध्र और वसुमान् ॥ २-३ ॥ परीक्षित् ! इस मन्वन्तरमें आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभु— ये देवताओंके प्रधान गण हैं और पुरन्दर उनका इन्द्र है ॥ ४ ॥ कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सप्तर्षि हैं ॥ ५ ॥ इस मन्वन्तरमें भी कश्यपकी पत्नी अदितिके गर्भसे आदित्योंके छोटे भाई वामनके रूपमें भगवान् विष्णुने अवतार ग्रहण किया था ॥ ६ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तुम्हें सात मन्वन्तरोंका वर्णन सुनाया; अब भगवान्‌की शक्तिसे युक्त अगले (आनेवाले) सात मन्वन्तरोंका वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—अमृतमथने नारायणशंकरसंवादे द्वाद० ।

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे ।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव ॥ ८ ॥
तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः ।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु ॥ ९ ॥
सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या ।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ॥१०॥
अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ।
निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप ॥११॥
तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः ।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥१२॥
दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम् ।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥१३॥
योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः ।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनाऽऽस्ते स्वराडिव ॥१४॥
गालवो दीप्तिमान्रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा ।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान्बादरायणः ॥१५॥
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः ।
इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले ॥१६॥
देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः ।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥१७॥
नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः ।
भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप ॥१८॥

परीक्षित् ! यह तो मैं तुम्हें पहले (छठें स्कन्धमें) बता चुका हूँ कि विवस्वान् (भगवान् सूर्य) की दो पत्नियाँ थीं – संज्ञा और छाया । ये दोनों ही विश्वकर्माकी पुत्री थीं ॥ ८ ॥ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि उनकी एक तीसरी पत्नी बडवा भी थी । (मेरे विचारसे तो संज्ञाका ही नाम बडवा हो गया था ।) उन सूर्यपत्नियोंमें संज्ञासे तीन संतानें हुईं—यम, यमी और श्राद्धदेव । छायाके भी तीन संतानें हुईं—सावर्णि, शनैश्चर और तपती नामकी कन्या, जो संवरणकी पत्नी हुई । जब संज्ञाने वडवाका रूप धारण कर लिया, तब उससे दोनों अश्विनीकुमार हुए ॥ ९-१० ॥ आठवें मन्वन्तरमें सावर्णि मनु होंगे । उनके पुत्र होंगे निर्मोक, विरजस्क आदि ॥ ११ ॥ परीक्षित् ! उस समय सुतपा, विरजा और अमृतप्रभ नामक देवगण होंगे । इन देवताओंके इन्द्र होंगे विरोचनके पुत्र बलि ॥१२॥ विष्णुभगवान्ने वामन अवतार ग्रहण करके इन्हींसे तीन पग पृथ्वी माँगी थी; परंतु इन्होंने उनको सारी त्रिलोकी दे दी । राजा बलिको एक बार तो भगवान्ने बाँध दिया था, परंतु फिर प्रसन्न होकर उन्होंने इनको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ सुतल लोकका राज्य दे दिया । वे इस समय वहीं इन्द्रके समान विराजमान हैं । आगे चलकर ये ही इन्द्र होंगे और समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण इन्द्रपदका भी परित्याग करके परम सिद्धि प्राप्त करेंगे ॥ १३-१४ ॥ गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग और हमारे पिता भगवान् व्यास—ये आठवें मन्वन्तरमें सप्तर्षि होंगे । इस समय ये लोग योगबलसे अपने-अपने आश्रम-मण्डलमें स्थित हैं ॥ १५-१६ ॥ देवगुह्यकी पत्नी सरस्वतीके गर्भसे सार्वभौम नामक भगवान्का अवतार होगा । ये ही प्रभु पुरन्दर इन्द्रसे स्वर्गका राज्य छीनकर राजा बलिको दे देंगे ॥ १७ ॥

परीक्षित् ! वरुणके पुत्र दक्षसावर्णि नवें मनु होंगे । भूतकेतु, दीप्तकेतु आदि उनके पुत्र होंगे ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—भार्ये । २. प्रा० पा०—निर्मोह० । ३. प्रा० पा०—नृपाः । ४. प्रा० पा०—स्तस्मिन् । ५. प्रा० पा०—नृपाः ।

पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः ।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र[1] भविष्यन्त्यृषयस्ततः ॥१९॥
आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला[2] ।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥२०॥
दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान् ।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥२१॥
हविष्मान्सुकृतिः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः ।
सु[3]वासनविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः ॥२२॥
विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोः सख्यं करिष्यति ।
जातः स्वांशेन भगवान्गृहे विश्वसृजो विभुः ॥२३॥
मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् ।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥२४॥
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः ।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥२५॥
आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः ।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥२६॥
भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः ।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥२७॥
ऋतधामा च त[4]त्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः ।
ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ॥२८॥
स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः ।
अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः ॥२९॥
मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देव[5]सावर्णिरात्मवान् ।
चित्रसेनविचित्राद्या देव[6]सावर्णिदेहजाः ॥३०॥
देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः ।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा ॥३१॥

पार, मरीचिगर्भ आदि देवताओंके गण होंगे और अद्भुत नामके इन्द्र होंगे। उस मन्वन्तरमें द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे ॥ १९ ॥ आयुष्मान्‌की पत्नी अम्बुधाराके गर्भसे ऋषभके रूपमें भगवान्‌का कलावतार होगा। अद्भुत नामक इन्द्र उन्हींकी दी हुई त्रिलोकीका उपभोग करेंगे ॥ २० ॥

दसवें मनु होंगे उपश्लोकके पुत्र ब्रह्मसावर्णि। उनमें समस्त सद्गुण निवास करेंगे। भूरिषेण आदि उनके पुत्र होंगे और हविष्मान्, सुकृति, सत्य, जय, मूर्ति आदि सप्तर्षि। सुवासन, विरुद्ध आदि देवताओंके गण होंगे और इन्द्र होंगे शम्भु ॥ २१-२२ ॥ विश्वसृज्‌की पत्नी विषूचिके गर्भसे भगवान् विष्वक्सेनके रूपमें अंशावतार ग्रहण करके शम्भु नामक इन्द्रसे मित्रता करेंगे ॥ २३ ॥

ग्यारहवें मनु होंगे अत्यन्त संयमी धर्मसावर्णि। उनके सत्य, धर्म आदि दस पुत्र होंगे ॥२४॥ विहङ्गम, कामगम, निर्वाणरुचि आदि देवताओंके गण होंगे। अरुणादि सप्तर्षि होंगे और वैधृत नामके इन्द्र होंगे ॥२५॥ आर्यककी पत्नी वैधृताके गर्भसे धर्मसेतुके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें वे त्रिलोकीकी रक्षा करेंगे ॥ २६ ॥

परीक्षित्! बारहवें मनु होंगे रुद्रसावर्णि। उनके देववान्, उपदेव और देवश्रेष्ठ आदि पुत्र होंगे ॥२७॥ उस मन्वन्तरमें ऋतधामा नामक इन्द्र होंगे और हरित आदि देवगण। तपोमूर्ति, तपस्वी आग्नीध्रक आदि सप्तर्षि होंगे ॥२८॥ सत्यसहाकी पत्नी सूनृताके गर्भसे स्वधामाके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें भगवान् उस मन्वन्तरका पालन करेंगे ॥ २९ ॥

तेरहवें मनु होंगे परम जितेन्द्रिय देवसावर्णि। चित्रसेन, विचित्र आदि उनके पुत्र होंगे ॥ ३० ॥ सुकर्म और सुत्राम आदि देवगण होंगे तथा इन्द्रका नाम होगा दिवस्पति। उस समय निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि

१. प्रा० पा०—खाः सप्त। २. प्रा० पा०—भगवान् किल। ३. प्रा० पा०—सुखासन विरुद्धाद्या देवा आसन् सुरेश्वराः। ४. प्रा० पा०—देवेन्द्रो। ५. प्रा० पा०—वेद०। ६. प्रा० पा०—देवाः सा०।

देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः ।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति ॥३२॥
मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति ।
उरुगम्भीरबुद्ध्याद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥३३॥
पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति ।
अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥३४॥
सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः ।
वितानायां महाराज क्रियातन्तून्वितायिता ॥३५॥
राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥३६॥

सप्तर्षि होंगे ॥ ३१ ॥ देवहोत्रकी पत्नी बृहतीके गर्भसे योगेश्वरके रूपमें भगवान्‌का अंशावतार होगा और उसी रूपमें भगवान् दिवस्पतिको इन्द्रपद देंगे ॥ ३२ ॥

महाराज ! चौदहवें मनु होंगे इन्द्रसावर्णि । उरु, गम्भीरबुद्धि आदि उनके पुत्र होंगे ॥ ३३ ॥ उस समय पवित्र, चाक्षुष आदि देवगण होंगे और इन्द्रका नाम होगा शुचि । अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागध आदि सप्तर्षि होंगे ॥ ३४ ॥ उस समय सत्रायणकी पत्नी विताना-के गर्भसे बृहद्भानुके रूपमें भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे तथा कर्मकाण्डका विस्तार करेंगे ॥ ३५ ॥

परीक्षित् ! ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों ही कालमें चलते रहते हैं । इन्हींके द्वारा एक सहस्र चतुर्युगीवाले कल्पके समयकी गणना की जाती है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं
[2]नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

मनु आदिके पृथक्-पृथक् कर्मोंका निरूपण

राजोवाच

मन्वन्तरेषु भगवन्यथा मन्वादयस्त्विमे ।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद् वदस्व मे[3] ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आपके द्वारा वर्णित ये मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि आदि अपने-अपने मन्वन्तरमें किसके द्वारा नियुक्त होकर कौन-कौन-सा काम किस प्रकार करते हैं—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते ।
इन्द्राः[4] सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः ॥ २ ॥
यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप[5] ।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः ॥ ३ ॥
चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा ।
[6]तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि और देवता—सबको नियुक्त करनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं ॥ २ ॥ राजन् ! भगवान्‌के जिन यज्ञ-पुरुष आदि अवतार-शरीरोंका वर्णन मैंने किया है, उन्हीं-की प्रेरणासे मनु आदि विश्व-व्यवस्थाका संचालन करते हैं ॥ ३ ॥ चतुर्युगीके अन्तमें समयके उलट-फेरसे जब श्रुतियाँ नष्टप्राय हो जाती हैं, तब सप्तर्षिगण अपनी तपस्यासे पुनः उनका साक्षात्कार करते हैं । उन श्रुतियोंसे ही सनातनधर्मकी रक्षा होती है ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—वर्णाद्या । २. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' शब्द नहीं है । ३. प्रा० पा०—नः । ४. प्रा० पा०—इन्द्रः ।
५. प्रा० पा०—नृपाः । ६. प्रा० पा०—तपसर्षयः पश्यन्ति य० ।

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः ।
युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप ॥ ५ ॥
पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः ।
यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः ॥ ६ ॥
इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम् ।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति ॥ ७ ॥
ज्ञानं चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक्[2] ।
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक् ॥ ८ ॥
सर्गं[3] प्रजेशरूपेण दस्यून्हन्यात्[4] स्वराड्वपुः ।
कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः ॥ ९ ॥
स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया ।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते ॥१०॥
एतत् कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ।
यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः ॥११॥

राजन् ! भगवान्की प्रेरणासे अपने-अपने मन्वन्तरमें बड़ी सावधानीसे सब-के-सब मनु पृथ्वीपर चारों चरणसे परिपूर्ण धर्मका अनुष्ठान करवाते हैं ॥ ५ ॥ मनुपुत्र मन्वन्तरभर काल और देश दोनोंका विभाग करके प्रजापालन तथा धर्म-पालनका कार्य करते हैं। पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मोंमें जिन ऋषि, पितर, भूत और मनुष्य आदिका सम्बन्ध है—उनके साथ देवता उस मन्वन्तरमें यज्ञका भाग स्वीकार करते हैं ॥ ६ ॥ इन्द्र भगवान्की दी हुई त्रिलोकीकी अतुल सम्पत्तिका उपभोग और प्रजाका पालन करते हैं। संसारमें यथेष्ट वर्षा करनेका अधिकार भी उन्हींको है ॥ ७ ॥ भगवान् युग-युगमें सनक आदि सिद्धोंका रूप धारण करके ज्ञानका, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंका रूप धारण करके कर्मका और दत्तात्रेय आदि योगेश्वरोंके रूपमें योगका उपदेश करते हैं ॥ ८ ॥ वे मरीचि आदि प्रजापतियोंके रूपमें सृष्टिका विस्तार करते हैं, सम्राट्के रूपमें लुटेरोंका वध करते हैं और शीत, उष्ण आदि विभिन्न गुणोंको धारण करके कालरूपसे सबको संहार-की ओर ले जाते हैं ॥ ९ ॥ नाम और रूपकी मायासे प्राणियोंकी बुद्धि विमूढ हो रही है। इसलिये वे अनेक प्रकारके दर्शनशास्त्रोंके द्वारा महिमा तो भगवान्की ही गाते हैं, परंतु उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान पाते ॥ १० ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें महाकल्प और अवान्तर कल्पका परिमाण सुना दिया। पुराणतत्त्वके विद्वानोंने प्रत्येक अवान्तर कल्पमें चौदह मन्वन्तर बतलाये हैं ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे[5] चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

राजा बलिकी स्वर्गपर विजय

राजोवाच

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत ।

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन् ! श्रीहरि स्वयं ही सबके स्वामी हैं। फिर उन्होंने दीन-हीनकी भाँति

१. प्रा० पा०—यत्रा०। २. प्रा० पा०—सर्वस्व०। ३. प्रा० पा०—सर्गे। ४. प्रा० पा०—हन्ता स्व०।
५. प्राचीन प्रतिमें 'मन्वन्तरानुवर्णने' इतना अधिक पाठ है।

भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥ १ ॥

एतद् वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः ।

यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो
हीन्द्रेण राजन्भृगुभिः स जीवितः ।
सर्वात्मना तानभजद् भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥ ३ ॥
तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम् ।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
महाभिषेकेण महानुभावाः ॥ ४ ॥
ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः ।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥ ५ ॥
धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
तूणावरिक्तौ कवचं च दिव्यम् ।
पितामहस्तस्य ददौ च माला-
मम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः ॥ ६ ॥
एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
प्रह्रादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥ ७ ॥
अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः ।
सुस्रग्धरोऽथ संनह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥ ८ ॥

राजा बलिसे तीन पग पृथ्वी क्यों माँगी ? तथा जो कुछ वे चाहते थे, वह मिल जानेपर भी उन्होंने बलिको बाँधा क्यों ? ॥ १ ॥ मेरे हृदयमें इस बातका बड़ा कौतूहल है कि स्वयं परिपूर्ण यज्ञेश्वर भगवान्‌के द्वारा याचना और निरपराधका बन्धन—ये दोनों ही कैसे सम्भव हुए ? हमलोग यह जानना चाहते हैं ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जब इन्द्रने बलिको पराजित करके उनकी सम्पत्ति छीन ली और उनके प्राण भी ले लिये, तब भृगुनन्दन शुक्राचार्यने उन्हें अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर दिया। इसपर शुक्राचार्यजीके शिष्य महात्मा बलिने अपना सर्वस्व उनके चरणोंपर चढ़ा दिया और वे तन-मनसे गुरुजीके साथ ही समस्त भृगुवंशी ब्राह्मणोंकी सेवा करने लगे ॥ ३ ॥ इससे प्रभावशाली भृगुवंशी ब्राह्मण उनपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वर्गपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छावाले बलिका महाभिषेककी विधिसे अभिषेक करके उनसे विश्वजित् नामका यज्ञ कराया ॥ ४ ॥ यज्ञकी विधिसे हविष्योंके द्वारा जब अग्निदेवताकी पूजा की गयी, तब यज्ञकुण्डमेंसे सोनेकी चद्दरसे मढ़ा हुआ एक बड़ा सुन्दर रथ निकला। फिर इन्द्रके घोड़ों-जैसे हरे रंगके घोड़े और सिंहके चिह्नसे युक्त रथपर लगानेकी ध्वजा निकली ॥ ५ ॥ साथ ही सोनेके पत्रसे मढ़ा हुआ दिव्य धनुष, कभी खाली न होनेवाले दो अक्षय तरकस और दिव्य कवच भी प्रकट हुए। दादा प्रह्लादजीने उन्हें एक ऐसी माला दी, जिसके फूल कभी कुम्हलाते न थे। तथा शुक्राचार्यने एक शङ्ख दिया ॥ ६ ॥ इस प्रकार ब्राह्मणोंकी कृपासे युद्धकी सामग्री प्राप्त करके उनके द्वारा स्वस्तिवाचन हो जानेपर राजा बलिने उन ब्राह्मणोंकी प्रदक्षिणा की और नमस्कार किया। इसके बाद उन्होंने प्रह्लादजीसे सम्भाषण करके उनके चरणोंमें नमस्कार किया ॥ ७ ॥ फिर वे भृगुवंशी ब्राह्मणोंके दिये हुए दिव्य रथपर सवार हुए। जब महारथी राजा बलिने कवच धारण कर धनुष, तलवार, तरकस आदि शस्त्र ग्रहण कर लिये और दादाकी दी हुई सुन्दर माला धारण कर ली, तब उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ ८ ॥

हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट् ॥ ९ ॥
तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः ।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव ॥१०॥
वृतो विकर्षन् महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ।
ययाविन्द्रपुरीं[1] स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी ॥११॥
रम्यामुपवनोद्यानैः[2] श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥१२॥
प्रवालफलपुष्पोरुभारशाखामरद्रुमैः ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः ॥१३॥
आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया ।
प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥१४॥
रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः ।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥१५॥
सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यर्बुदैर्युताम् ।
शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥१६॥
यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः ।

उनकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद और कानोंमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे थे। उनके कारण रथपर बैठे हुए वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो अग्निकुण्डमें अग्नि प्रज्वलित हो रही हो ॥ ९ ॥ उनके साथ उन्हींके समान ऐश्वर्य, बल और विभूतिवाले दैत्यसेनापति अपनी-अपनी सेना लेकर हो लिये। ऐसा जान पड़ता था, मानो वे आकाशको पी जायँगे और अपने क्रोधभरे प्रज्वलित नेत्रोंसे समस्त दिशाओंको, क्षितिजको भस्म कर डालेंगे ॥१०॥ राजा बलिने इस बहुत बड़ी आसुरी सेनाको लेकर उसका युद्धके ढंगसे संचालन किया तथा आकाश और अन्तरिक्षको कँपाते हुए सकल ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण इन्द्रपुरी अमरावतीपर चढ़ाई की ॥ ११ ॥

देवताओंकी राजधानी अमरावतीमें बड़े सुन्दर-सुन्दर नन्दन वन आदि उद्यान और उपवन हैं। उन उद्यानों और उपवनोंमें पक्षियोंके जोड़े चहकते रहते हैं। मधुलोभी भौंरे मतवाले होकर गुनगुनाते रहते हैं ॥ १२ ॥ लाल-लाल नये-नये पत्तों, फलों और पुष्पोंसे कल्पवृक्षोंकी शाखाएँ लदी रहती हैं। वहाँके सरोवरोंमें हंस, सारस, चकवे और बतखोंकी भीड़ लगी रहती है। उन्हींमें देवताओंके द्वारा सम्मानित देवाङ्गनाएँ जलक्रीडा करती रहती हैं ॥ १३ ॥ ज्योतिर्मय आकाशगङ्गाने खाईकी भाँति अमरावतीको चारों ओरसे घेर रक्खा है। उसके चारों ओर बहुत ऊँचा सोनेका परकोटा बना हुआ है, जिसमें स्थान-स्थानपर बड़ी-बड़ी अटारियाँ बनी हुई हैं ॥ १४ ॥ सोनेके किवाड़ द्वार-द्वारपर लगे हुए हैं और स्फटिकमणिके गोपुर (नगरके बाहरी फाटक) हैं। उसमें अलग-अलग बड़े-बड़े राजमार्ग हैं। स्वयं विश्वकर्माने ही उस पुरीका निर्माण किया है ॥ १५ ॥ सभाके स्थान, खेलके चबूतरे और रथ चलनेके बड़े-बड़े मार्गोंसे वह शोभायमान है। दस करोड़ विमान उसमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं और मणियोंके बड़े-बड़े चौराहे एवं हीरे और मूँगेकी वेदियाँ बनी हुई हैं ॥ १६ ॥ वहाँकी स्त्रियाँ सर्वदा सोलह वर्षकी-सी रहती हैं, उनका यौवन और सौन्दर्य स्थिर रहता है। वे निर्मल वस्त्र पहनकर

१. प्रा० पा०—रीमृद्धां। २. प्रा० पा०—रम्यां नृप गृहोद्यानैः।

भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः ॥१७॥
सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् ।
यत्रामोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः ॥१८॥
हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति [१]सुरप्रियाः ॥१९॥
मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-
र्नानापताकावलभीभिरावृताम् ।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां
वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥२०॥
मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः
[२]सतालवीणामुरजर्ष्टिवेणुभिः ।
नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकै-
र्मनोरमां स्वप्रभया जित[३]प्रभाम् ॥२१॥
यां न [४]व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः ।
मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत् ॥२२॥

तां देवधानीं स वरूथिनीपति-
र्बहिः समन्ताद् रुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् ॥२३॥

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम् ।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥२४॥
भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः ।
अविषह्यमिमं मन्ये के[५]नासीत्तेजसोर्जितः ॥२५॥

अपने रूपकी छटासे इस प्रकार देदीप्यमान होती हैं, जैसे अपनी ज्वालाओंसे अग्नि ॥ १७ ॥ देवाङ्गनाओंके जूड़ेसे गिरे हुए नवीन सौगन्धित पुष्पोंकी सुगन्ध लेकर वहाँके मार्गोंमें मन्द-मन्द हवा चलती रहती है ॥१८॥ सुनहली खिड़कियोंमेसे अगरकी सुगन्धसे युक्त सफेद धूआँ निकल-निकलकर वहाँके मार्गोंको ढक दिया करता है। उसी मार्गसे देवाङ्गनाएँ जाती-आती हैं ॥ १९ ॥ स्थान-स्थानपर मोतियोंकी झालरोंसे सजाये हुए चँदोवे तने रहते हैं। सोनेकी मणिमय पताकाएँ फहराती रहती हैं। छज्जोंपर अनेकों झंडियाँ लहराती रहती हैं। मोर, कबूतर और भौंरे कलगान करते रहते हैं। देवाङ्गनाओंके मधुर संगीतसे वहाँ सदा ही मङ्गल छाया रहता है ॥ २० ॥ मृदङ्ग, शङ्ख, नगारे, ढोल, वीणा, वंशी, मजीरे और ऋष्टियाँ बजती रहती हैं। गन्धर्व बाजोंके साथ गाया करते हैं और अप्सराएँ नाचा करती हैं। इनसे अमरावती इतनी मनोहर जान पड़ती है, मानो उसने अपनी छटासे छटाकी अधिष्ठात्री देवीको भी जीत लिया है ॥ २१ ॥ उस पुरीमें अधर्मी, दुष्ट, जीवद्रोही, ठग, मानी, कामी और लोभी नहीं जा सकते। जो इन दोषोंसे रहित हैं, वे ही वहाँ जाते हैं ॥ २२ ॥ असुरोंकी सेनाके स्वामी राजा बलिने अपनी बहुत बड़ी सेनासे बाहरकी ओर सब ओरसे अमरावतीको घेर लिया और इन्द्रपत्नियोंके हृदयमें भयका संचार करते हुए उन्होंने शुक्राचार्यजीके दिये हुए महान् शङ्खको बजाया। उस शङ्खकी ध्वनि सर्वत्र फैल गयी ॥ २३ ॥

इन्द्रने देखा कि बलिने युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की है। अतः सब देवताओंके साथ वे अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास गये और उनसे बोले—॥ २४ ॥ 'भगवन्! मेरे पुराने शत्रु बलिने इस बार युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हमलोग उनका सामना नहीं कर सकेंगे। पता नहीं, किस शक्तिसे इनकी इतनी बढ़ती हो गयी

१. प्रा० पा०—सुरस्त्रियः। २. प्रा० पा०—सवेणुवीणामुर०। ३. प्रा० पा०—ग्रहाम्। ४. प्रा० पा०—गच्छन्त्य०।
५. प्रा० पा०—केनापि स्वेन तेजसा।

नैनं कश्चित् कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः ।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश ।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः ॥२६॥
ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः ।
ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥२७॥

है ॥ २५ ॥ मैं देखता हूँ कि इस समय बलिको कोई भी किसी प्रकारसे रोक नहीं सकता। वे प्रलयकी आगके समान बढ़ गये हैं और जान पड़ता है, मुखसे इस विश्वको पी जायँगे, जीभसे दसों दिशाओंको चाट जायँगे और नेत्रोंकी ज्वालासे दिशाओंको भस्म कर देंगे ॥ २६ ॥ आप कृपा करके मुझे बतलाइये कि मेरे शत्रुकी इतनी बढ़तीका, जिसे किसी प्रकार भी दबाया नहीं जा सकता, क्या कारण है ? इसके शरीर, मन और इन्द्रियोंमें इतना बल और इतना तेज कहाँसे आ गया है कि इसने इतनी बड़ी तैयारी करके चढ़ाई की है ?' ॥ २७ ॥

गुरुरुवाच

जानामि मघवञ्छत्रोरुन्नतेरस्य कारणम् ।
शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥२८॥
भवद्विधो भवान्वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम् ।
नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः ॥२९॥
तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् ।
यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥३०॥
एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः ।
तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥३१॥
एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥३२॥
देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम् ।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥३३॥
तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः ।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन् ॥३४॥
ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम् ।

देवगुरु बृहस्पतिजीने कहा—इन्द्र ! मैं तुम्हारे शत्रु बलिकी उन्नतिका कारण जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगुवंशियोंने अपने शिष्य बलिको महान् तेज देकर शक्तियोंका खजाना बना दिया है ॥ २८ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को छोड़कर तुम या तुम्हारे-जैसा और कोई भी बलिके सामने उसी प्रकार नहीं ठहर सकता, जैसे कालके सामने प्राणी ॥ २९ ॥ इसलिये तुमलोग स्वर्गको छोड़कर कहीं छिप जाओ और उस समयकी प्रतीक्षा करो, जब तुम्हारे शत्रुका भाग्यचक्र पलटे ॥३०॥ इस समय ब्राह्मणोंके तेजसे बलिकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी है। जब यह उन्हीं ब्राह्मणोंका तिरस्कार करेगा, तब अपने परिवार-परिकरके साथ नष्ट हो जायगा' ॥ ३१ ॥ बृहस्पतिजी देवताओंके समस्त स्वार्थ और परमार्थके ज्ञाता थे। उन्होंने जब इस प्रकार देवताओंको सलाह दी, तब वे स्वेच्छानुसार रूप धारण करके स्वर्ग छोड़कर चले गये ॥ ३२ ॥ देवताओंके छिप जानेपर विरोचन-नन्दन बलिने अमरावतीपुरीपर अपना अधिकार कर लिया और फिर तीनों लोकोंको जीत लिया ॥ ३३ ॥ जब बलि विश्वविजयी हो गये, तब शिष्यप्रेमी भृगुवंशियोंने अपने अनुगत शिष्यसे सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये ॥३४॥ उन यज्ञोंके प्रभावसे बलिकी कीर्ति-कौमुदी तीनों लोकोंसे बाहर भी दसों दिशाओंमें फैल गयी और वे नक्षत्रोंके

१. प्रा० पा०—धृतं। २. प्राचीन प्रतिमें 'नास्य शक्तः...यथा जनाः' यह श्लोकार्ध मूलमें नहीं है। टिप्पणीमें इसके स्थानमें एक पाठान्तरका उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—'विजेष्यति न कोऽप्येनं ब्रह्मतेजःसमो...'। ३. प्रा० पा०—मेवावमा०। ४. प्रा० पा०—वि०। ५. प्रा० पा०—चिनः।

कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव ॥३५॥
बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्भिताम् ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः ॥३६॥

राजा चन्द्रमाके समान शोभायमान हुए ॥ ३५ ॥ ब्राह्मण-देवताओंकी कृपासे प्राप्त समृद्ध राज्यलक्ष्मीका वे बड़ी उदारतासे उपभोग करने लगे और अपनेको कृतकृत्य-सा मानने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

कश्यपजीके द्वारा अदितिको पयोव्रतका उपदेश

श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा ।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥ १ ॥
एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात् ।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात् ॥ २ ॥
स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः ।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह ॥ ३ ॥
अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनाऽऽगतम् ।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४ ॥
अपि वाकुशलं किञ्चिद् गृहेषु गृहमेधिनि ।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥ ५ ॥
अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया ।
गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवता इस प्रकार भागकर छिप गये और दैत्योंने स्वर्गपर अधिकार कर लिया, तब देवमाता अदितिको बड़ा दुःख हुआ । वे अनाथ-सी हो गयीं ॥ १ ॥ एक बार बहुत दिनोंके बाद जब परमप्रभावशाली कश्यप मुनिकी समाधि टूटी, तब वे अदितिके आश्रमपर आये । उन्होंने देखा कि न तो वहाँ सुख-शान्ति है और न किसी प्रकारका उत्साह या सजावट ही ॥ २ ॥ परीक्षित् ! जब वे वहाँ जाकर आसनपर बैठ गये और अदितिने विधिपूर्वक उनका सत्कार कर लिया, तब वे अपनी पत्नी अदितिसे—जिसके चेहरेपर बड़ी उदासी छायी हुई थी—बोले ॥ ३ ॥ 'कल्याणी ! इस समय संसारमें ब्राह्मणोंपर कोई विपत्ति तो नहीं आयी है ? धर्मका पालन तो ठीक-ठीक होता है ? कालके कराल गालमें पड़े हुए लोगोंका कुछ अमङ्गल तो नहीं हो रहा है ? ॥ ४ ॥ प्रिये ! गृहस्थाश्रम तो जो लोग योग नहीं कर सकते, उन्हें भी योगका फल देनेवाला है । इस गृहस्थाश्रममें रहकर धर्म, अर्थ और कामके सेवनमें किसी प्रकारका विघ्न तो नहीं हो रहा है ? ॥ ५ ॥ यह भी सम्भव है कि तुम कुटुम्बके भरण-पोषणमें व्यग्र रही हो, अतिथि आये हों और तुमसे बिना सम्मान पाये ही लौट गये हों; तुम खड़ी होकर उनका सत्कार करनेमें भी असमर्थ रही हो । इसीसे तो तुम

१. प्रा० पा०—शुद्धां । २. प्रा० पा०—ऽभ्येताः ।

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि ।

यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥ ७ ॥

अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति ।

त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥ ८ ॥

यत्पूजया कामदुघान्याति लोकान्गृहान्वितः ।

ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥ ९ ॥

अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि ।

लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम् ॥ १० ॥

अदितिरुवाच

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्धर्मस्यास्य जनस्य च ।

त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन्गृहा इमे ॥ ११ ॥

अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः ।

सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति ॥ १२ ॥

को नु मे भगवन्कामो न सम्पद्येत मानसः ।

यस्या भवान्प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान्प्रभाषते ॥ १३ ॥

तवैव मारीच मनःशरीरजाः

प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः ।

समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो

तथापि भक्तं भजते महेश्वरः ॥ १४ ॥

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत ।

हृतश्रियो हृतस्थानान्सपत्नैः पाहि नः प्रभो ॥ १५ ॥

परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे ।

१. प्रा० पा०—यशस्विनि ।

उदास नहीं हो रही हो ! ॥ ६ ॥ जिन घरोंमें आये हुए अतिथिका जलसे भी सत्कार नहीं किया जाता और वे ऐसे ही लौट जाते हैं, वे घर अवश्य ही गीदड़ोंके घरके समान हैं ॥ ७ ॥ प्रिये ! सम्भव है, मेरे बाहर चले जानेपर कभी तुम्हारा चित्त उद्विग्न रहा हो और समयपर तुमने हविष्यसे अग्नियोंमें हवन न किया हो ॥ ८ ॥ सर्वदेवमय भगवान्‌के मुख हैं—ब्राह्मण और अग्नि । गृहस्थ पुरुष यदि इन दोनोंकी पूजा करता है तो उसे उन लोकोंकी प्राप्ति होती है, जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं ॥ ९ ॥ प्रिये ! तुम तो सर्वदा प्रसन्न रहती हो; परंतु तुम्हारे बहुत-से लक्षणोंसे मैं देख रहा हूँ कि इस समय तुम्हारा चित्त अस्वस्थ है । तुम्हारे सब लड़के तो कुशल-मङ्गलसे हैं न ?' ॥ १० ॥

अदितिने कहा—भगवन् ! ब्राह्मण, गौ, धर्म और आपकी यह दासी—सब सकुशल हैं । मेरे स्वामी ! यह गृहस्थ-आश्रम ही अर्थ, धर्म और कामकी साधनामें परम सहायक है ॥ ११ ॥ प्रभो ! आपके निरन्तर स्मरण और कल्याण-कामनासे अग्नि, अतिथि, सेवक, भिक्षुक और दूसरे याचकोंका भी मैंने तिरस्कार नहीं किया है ॥ १२ ॥ भगवन् ! जब आप-जैसे प्रजापति मुझे इस प्रकार धर्म-पालनका उपदेश करते हैं, तब भला मेरे मनकी ऐसी कौन-सी कामना है, जो पूरी न हो जाय ? ॥ १३ ॥ आर्यपुत्र ! समस्त प्रजा—वह चाहे सत्त्वगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी हो—आपकी ही संतान हैं । कुछ आपके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं और कुछ शरीरसे । भगवन् ! इसमें संदेह नहीं कि आप सब संतानोंके प्रति—चाहे असुर हों या देवता—एक-सा भाव रखते हैं, सम हैं । तथापि स्वयं परमेश्वर भी अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण किया करते हैं ॥ १४ ॥ मेरे स्वामी ! मैं आपकी दासी हूँ । आप मेरी भलाईके सम्बन्धमें विचार कीजिये । मर्यादापालक प्रभो ! शत्रुओंने हमारी सम्पत्ति और रहनेका स्थानतक छीन लिया है । आप हमारी रक्षा कीजिये ॥ १५ ॥ बलवान् दैत्योंने मेरे ऐश्वर्य, धन, यश और पद छीन लिये हैं

ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम ॥१६॥

यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः ।

तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव ।

अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ॥१८॥

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः ।

कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥१९॥

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ।

सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥२०॥

स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः ।

अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम ॥२१॥

अदितिरुवाच

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम् ।

यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात् स मनोरथम् ॥२२॥

आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम् ।

आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः ॥२३॥

कश्यप उवाच

एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः ।

यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम् ॥२४॥

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः ।

अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥२५॥

तथा इमें घरसे बाहर निकाल दिया है । इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूब रही हूँ ॥ १६ ॥ आपसे बढ़कर हमारी भलाई करनेवाला और कोई नहीं है । इसलिये मेरे हितैषी स्वामी ! आप सोच-विचारकर अपने सङ्कल्पसे ही मेरे कल्याणका कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे कि मेरे पुत्रोंको वे वस्तुएँ फिरसे प्राप्त हो जायँ ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अदितिने जब कश्यपजीसे प्रार्थना की, तब वे कुछ विस्मित-से होकर बोले—बड़े आश्चर्यकी बात है । भगवान्‌की माया भी कैसी प्रबल है ! यह सारा जगत् स्नेहकी रज्जुसे बँधा हुआ है ॥ १८ ॥ कहाँ यह पञ्चभूतोंसे बना हुआ अनात्मा शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे आत्मा ? न किसीका कोई पति है, न पुत्र है और न तो सम्बन्धी ही है । मोह ही मनुष्यको नचा रहा है ॥ १९ ॥ प्रिये ! तुम सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान, अपने भक्तोंके दुःख मिटानेवाले जगद्गुरु भगवान् वासुदेवकी आराधना करो ॥ २० ॥ वे बड़े दीनदयालु हैं । अवश्य ही श्रीहरि तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे । मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान्‌की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती । इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥२१॥

अदितिने पूछा—भगवन् ! मैं जगदीश्वर भगवान्‌की आराधना किस प्रकार करूँ, जिससे वे सत्यसङ्कल्प प्रभु मेरा मनोरथ पूर्ण करें ॥ २२ ॥ पतिदेव ! मैं अपने पुत्रोंके साथ बहुत ही दुःख भोग रही हूँ । जिससे वे शीघ्र ही मुझपर प्रसन्न हो जायँ, उनकी आराधनाकी वही विधि मुझे बतलाइये ॥ २३ ॥

कश्यपजीने कहा—देवि ! जब मुझे संतानकी कामना हुई थी तब मैंने भगवान् ब्रह्माजीसे यही बात पूछी थी । उन्होंने मुझे भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाले जिस व्रतका उपदेश किया था, वही मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ २४ ॥ फाल्गुनके शुक्लपक्षमें बारह दिनतक केवल दूध पीकर रहे और परम भक्तिसे भगवान् कमलनयनकी पूजा करे ॥ २५ ॥ अमावस्याके दिन यदि मिल सके

१. प्रा० पा०—को नाम । २. प्रा० पा०—कम्पकः । ३. प्रा० पा०—द्भक्तिः परा चेति मति० ।

सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया ।
यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्[1] ॥२६॥
त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता ।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय ॥२७॥
निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत् समाहितः ।
अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥२९॥
नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च ।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे ॥३०॥
नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥३१॥
नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च ।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥३२॥
नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने ।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे[2] ॥३३॥
नमस्त आदिदेवाय साक्षिभूताय[3] ते नमः ।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥३४॥

तो सूअरकी खोदी हुई मिट्टीसे अपना शरीर मलकर नदीमें स्नान करे । उस समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥ २६ ॥ हे देवि ! प्राणियोंको स्थान देनेकी इच्छासे वराहभगवान्‌ने रसातलसे तुम्हारा उद्धार किया था । तुम्हें मेरा नमस्कार है । तुम मेरे पापोंको नष्ट कर दो ॥२७॥ इसके बाद अपने नित्य और नैमित्तिक नियमोंको पूरा करके एकाग्रचित्तसे मूर्त्ति, वेदी, सूर्य, जल, अग्नि और गुरुदेवके रूपमें भगवान्‌की पूजा करे ॥२८॥ (और इस प्रकार स्तुति करे—) प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् हैं । अन्तर्यामी और आराधनीय हैं । समस्त प्राणी आपमें और आप समस्त प्राणियोंमें निवास करते हैं । इसीसे आपको 'वासुदेव' कहते हैं । आप समस्त चराचर जगत् और उसके कारणके भी साक्षी हैं । भगवन् ! मेरा आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥ आप अव्यक्त और सूक्ष्म हैं । प्रकृति और पुरुषके रूपमें भी आप ही स्थित हैं । आप चौबीस गुणोंके जाननेवाले और गुणोंकी संख्या करनेवाले सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक हैं । आपको मेरा नमस्कार है ॥ ३० ॥ आप वह यज्ञ हैं, जिसके प्रायणीय और उदयनीय—ये दो कर्म सिर हैं । प्रातः, मध्याह्न और तृतीय—ये तीन सवन ही तीन पाद हैं । चारों वेद चार सींग हैं । गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं । यह धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदोंके द्वारा प्रतिपादित है और इसकी आत्मा हैं स्वयं आप ! आपको मेरे नमस्कार हैं ॥ ३१ ॥ आप ही लोककल्याणकारी शिव और आप ही प्रलयकारी रुद्र हैं । समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले भी आप ही हैं । आपको मेरा बार-बार नमस्कार है । आप समस्त विद्याओंके अधिपति एवं भूतोंके स्वामी हैं । आपको मेरा नमस्कार ! ॥ ३२ ॥ आप ही सबके प्राण और आप ही इस जगत्‌के स्वरूप भी हैं । आप योगके कारण तो हैं ही स्वयं योग और उससे मिलनेवाला ऐश्वर्य भी आप ही हैं । हे हिरण्यगर्भ ! आपके लिये मेरे नमस्कार ॥३३॥ आप ही आदिदेव हैं । सबके साक्षी हैं । आप ही नर-नारायण ऋषिके रूपमें प्रकट स्वयं भगवान् हैं । आपको मेरे नमस्कार ॥ ३४ ॥ आपका शरीर मरकतमणिके

१. प्रा० पा०—दाहरेत् । २. प्रा० पा०—देवाय । ३. प्रा० पा०—देवदेवाय ते ।

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये ।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥३५॥
त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥३६॥
अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः ।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान्मे प्रसीदताम् ॥३७॥
एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् ।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥३८॥
अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद् विभुम् ।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद् द्वादशाक्षरविद्यया ॥३९॥
शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति ।
ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥४०॥
निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद् भुञ्जीत वा स्वयम् ।
दत्त्वाऽऽचमनमर्चित्वा ताम्बूलं च निवेदयेत् ॥४१॥
जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम् ।
कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद् दण्डवन्मुदा ॥४२॥
कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत् ततः ।
द्व्यवरान्भोजयेद् विप्रान्पायसेन यथोचितम् ॥४३॥
भुञ्जीत तैरनुज्ञातः शेषं सेष्टः सभाजितैः ।
ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि ॥४४॥
स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः ।
पयसा स्नापयित्वार्चेद् यावद्व्रतसमापनम् ॥४५॥
पयोभक्षो व्रतमिदं चरेद् विष्ण्वर्चनादृतः ।

समान साँवला है । समस्त सम्पत्ति और सौन्दर्यकी देवी लक्ष्मी आपकी सेविका हैं । पीताम्बरधारी केशव ! आपको मेरे बार-बार नमस्कार ॥ ३५ ॥ आप सब प्रकारके वर देनेवाले हैं । वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं तथा जीवोंके एकमात्र वरणीय हैं । यही कारण है कि धीर विवेकी पुरुष अपने कल्याणके लिये आपके चरणोंकी रजकी उपासना करते हैं ॥ ३६ ॥ जिनके चरणकमलोंकी सुगन्ध प्राप्त करनेकी लालसासे समस्त देवता और स्वयं लक्ष्मीजी भी सेवामें लगी रहती हैं, वे भगवान् मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥ प्रिये ! भगवान् हृषीकेशका आवाहन पहले ही कर ले । फिर इन मन्त्रोंके द्वारा पाद्य, आचमन आदिके साथ श्रद्धापूर्वक मन लगाकर पूजा करे ॥ ३८ ॥ गन्ध-माला आदिसे पूजा करके भगवान्‌को दूधसे स्नान करावे । उसके बाद वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पाद्य, आचमन, गन्ध, धूप आदिके द्वारा द्वादशाक्षर मन्त्रसे भगवान्‌की पूजा करे ॥ ३९ ॥ यदि सामर्थ्य हो तो दूधमें पकाये हुए तथा घी और गुड़ मिले हुए शालिके चावलका नैवेद्य लगावे और उसीका द्वादशाक्षर मन्त्रसे हवन करे ॥ ४० ॥ उस नैवेद्यको भगवान्‌के भक्तोंमें बाँट दे या स्वयं पा ले । आचमन और पूजाके बाद ताम्बूल निवेदन करे ॥ ४१ ॥ एक सौ आठ बार द्वादशाक्षरमन्त्रका जप करे और स्तुतियोंके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करे । प्रदक्षिणा करके बड़े प्रेम और आनन्दसे भूमिपर लोटकर दण्डवत्-प्रणाम करे ॥ ४२ ॥ निर्माल्यको सिरसे लगाकर देवताका विसर्जन करे । कम-से-कम दो ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे खीरका भोजन करावे ॥ ४३ ॥ दक्षिणा आदिसे उनका सत्कार करे । इसके बाद उनसे आज्ञा लेकर अपने इष्ट-मित्रोंके साथ बचे हुए अन्नको स्वयं ग्रहण करे । उस दिन ब्रह्मचर्यसे रहे और दूसरे दिन प्रातःकाल ही स्नान आदि करके पवित्रतापूर्वक पूर्वोक्त विधिसे एकाग्र होकर भगवान्‌की पूजा करे । इस प्रकार जबतक व्रत समाप्त न हो, तबतक दूधसे स्नान कराकर प्रतिदिन भगवान्‌की पूजा करे ॥४४-४५॥ भगवान्‌की पूजामें आदरबुद्धि रखते हुए

१. प्रा० पा०—यत्पा० । २. प्रा० पा०—स्पर्शनादिभिः । ३. प्रा० पा०—पयः सनैवेद्यं ।

पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥४६॥
एवं त्वहरहः कुर्याद् द्वादशाहं पयोव्रतः ।
हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥४७॥
प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी ।
ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेद् ॥४८॥
वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥४९॥
त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः ।
कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः ॥५०॥
पूजां च महतीं कुर्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे ॥५१॥
शृतेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः ।
नैवेद्यं चातिगुणवद् दद्यात्पुरुषतुष्टिदम् ॥५२॥
आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः ।
तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः ॥५३॥
भोजयेत् तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते ।
अन्यांश्च ब्राह्मणाञ्छक्त्या[1] ये च तत्र समागताः ॥५४॥
दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः ।
अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान् ॥५५॥
भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणेषु[2] च ।
विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान्भुञ्जीत सह बन्धुभिः ॥५६॥
नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः ।
कारयेत्तत्कथाभिश्च[3] पूजां भगवतोऽन्वहम् ॥५७॥

केवल पयोव्रती रहकर यह व्रत करना चाहिये । पूर्ववत् प्रतिदिन हवन और ब्राह्मण-भोजन भी कराना चाहिये ॥ ४६ ॥ इस प्रकार पयोव्रती रहकर बारह दिनतक प्रतिदिन भगवान्‌की आराधना, होम और पूजा करे तथा ब्राह्मण-भोजन कराता रहे ॥ ४७ ॥

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीपर्यन्त ब्रह्मचर्यसे रहे, पृथ्वीपर शयन करे और तीनों समय स्नान करे ॥ ४८ ॥ झूठ न बोले । पापियोंसे बात न करे । पापकी बात न करे । छोटे-बड़े सब प्रकारके भोगोंका त्याग कर दे । किसी भी प्राणीको किसी प्रकारसे कष्ट न पहुँचावे । भगवान्‌की आराधनामें लगा ही रहे ॥४९॥ त्रयोदशीके दिन विधि जाननेवाले ब्राह्मणोंके द्वारा शास्त्रोक्त विधिसे भगवान् विष्णुको पञ्चामृतस्नान करावे ॥ ५० ॥ उस दिन धनका सङ्कोच छोड़कर भगवान्‌की बहुत बड़ी पूजा करनी चाहिये और दूधमें चरु (खीर) पकाकर विष्णुभगवान्‌को अर्पित करना चाहिये ॥ ५१ ॥ अत्यन्त एकाग्र चित्तसे उसी पकाये हुए चरुके द्वारा भगवान्‌का यजन करना चाहिये और उनको प्रसन्न करनेवाला गुणयुक्त तथा स्वादिष्ट नैवेद्य अर्पण करना चाहिये ॥५२॥ इसके बाद ज्ञानसम्पन्न आचार्य और ऋत्विजोंको वस्त्र, आभूषण और गौ आदि देकर संतुष्ट करना चाहिये । प्रिये ! इसे भी भगवान्‌की ही आराधना समझो ॥ ५३ ॥ प्रिये ! आचार्य और ऋत्विजोंको शुद्ध, सात्त्विक और गुणयुक्त भोजन कराना ही चाहिये; दूसरे ब्राह्मण और आये हुए अतिथियोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार भोजन कराना चाहिये ॥ ५४ ॥ गुरु और ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा देनी चाहिये । जो चाण्डाल आदि अपने-आप वहाँ आ गये हों, उन सभीको तथा दीन, अंधे और असमर्थ पुरुषोंको भी अन्न आदि देकर संतुष्ट करना चाहिये । जब सब लोग खा चुकें, तब उन सबके सत्कारको भगवान्‌की प्रसन्नताका साधन समझते हुए अपने भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे ॥५५-५६॥ प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीतक प्रतिदिन नाच-गान, बाजे-गाजे, स्तुति, स्वस्तिवाचन और भगवत्कथाओंसे भगवान्‌की पूजा करे-करावे ॥ ५७ ॥

१. प्रा० पा०—मुक्तान् । २. प्रा० पा०—कृष्णादिषु । ३. प्रा० पा०—सत्कथा० ।

एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम्।
पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम् ॥५८॥
त्वं चानेन महाभागे सम्यक्चीर्णेन केशवम्।
आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम् ॥५९॥
अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम्।
तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम् ॥६०॥
त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥६१॥
तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर।
भगवान्परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥६२॥

प्रिये! यह भगवान्‌की श्रेष्ठ आराधना है। इसका नाम है 'पयोव्रत'। ब्रह्माजीने मुझे जैसा बताया था, वैसा ही मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ५८ ॥ देवि! तुम भाग्यवान् हो। अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके शुद्ध भाव एवं श्रद्धापूर्ण चित्तसे इस व्रतका भलीभाँति अनुष्ठान करो और इसके द्वारा अविनाशी भगवान्‌की आराधना करो ॥ ५९ ॥ कल्याणी! यह व्रत भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेवाला है, इसलिये इसका नाम है 'सर्वयज्ञ' और 'सर्वव्रत'। यह समस्त तपस्याओंका सार और मुख्य दान है ॥ ६० ॥ जिनसे भगवान् प्रसन्न हों—वे ही सच्चे नियम हैं, वे ही उत्तम यम हैं, वे ही वास्तवमें तपस्या, दान, व्रत और यज्ञ हैं ॥ ६१ ॥ इसलिये देवि! संयम और श्रद्धासे तुम इस व्रतका अनुष्ठान करो। भगवान् शीघ्र ही तुमपर प्रसन्न होंगे और तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽदिति-[3]
पयोव्रतकथनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

भगवान्‌का प्रकट होकर अदितिको वर देना

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता सादिती राजन्स्वभर्त्रा कश्यपेन वै।
अन्वतिष्ठद् व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥ १ ॥
चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान्मनसा बुद्धिसारथिः ॥ २ ॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥ ३ ॥
तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ४ ॥
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम्।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने पतिदेव महर्षि कश्यपजीका उपदेश प्राप्त करके अदितिने बड़ी सावधानीसे बारह दिनतक इस व्रतका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥ बुद्धिको सारथि बनाकर मनकी लगामसे उसने इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ोंको अपने वशमें कर लिया और एकनिष्ठ बुद्धिसे वह पुरुषोत्तम भगवान्‌का चिन्तन करती रही ॥ २ ॥ उसने एकाग्र बुद्धिसे अपने मनको सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें पूर्णरूपसे लगाकर पयोव्रतका अनुष्ठान किया ॥ ३ ॥ तब पुरुषोत्तम भगवान् उसके सामने प्रकट हुए। परीक्षित्! वे पीताम्बर धारण किये हुए थे, चार भुजाएँ थीं और शङ्ख, चक्र, गदा लिये हुए थे ॥ ४ ॥ अपने नेत्रोंके सामने भगवान्‌को सहसा प्रकट हुए देख अदिति सादर उठ खड़ी हुई और फिर

१. प्रा० पा०—मम। २. प्रा० पा०—भजनीयं। ३. प्रा० पा०—कश्यपादितिसंवादे।

ननाम भुवि कायेन दण्डवत् प्रीतिविह्वला ॥ ५ ॥
सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा ।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥
प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह ।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥ ७ ॥

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८ ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
र्द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

अदित्यैवं स्तुतो राजन्भगवान्पुष्करेक्षणः ।

प्रेमसे विह्वल होकर उसने पृथ्वीपर लोटकर उन्हें दण्डवत्-प्रणाम किया ॥ ५ ॥ फिर उठकर, हाथ जोड़ भगवान्‌की स्तुति करनेकी चेष्टा की; परंतु नेत्रोंमें आनन्दके आँसू उमड़ आये, उससे बोला न गया । सारा शरीर पुलकित हो रहा था । दर्शनके आनन्दोल्लाससे उसके अङ्गोंमें कम्प होने लगा था, वह चुपचाप खड़ी रही ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! देवी अदिति अपने प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे लक्ष्मीपति, विश्वपति, यज्ञेश्वर भगवान्‌को इस प्रकार देख रही थी मानो वह उन्हें पी जायगी । फिर बड़े प्रेमसे, गद्गद वाणीसे, धीरे-धीरे उसने भगवान्‌की स्तुति की ॥ ७ ॥

अदितिने कहा—आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं । अच्युत ! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं । आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है । आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है । आदि-पुरुष ! जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी सारी विपत्तियोंका आप नाश कर देते हैं । भगवन् ! आप दीनोंके स्वामी हैं । आप हमारा कल्याण कीजिये ॥ ८ ॥ आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं । अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं । आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं । नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं । भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥ ९ ॥ प्रभो ! अनन्त ! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगकी समस्त सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और केवल ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है । फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब अदितिने इस प्रकार कमलनयन भगवान्‌की स्तुति की, तब समस्त

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥११॥

श्रीभगवानुवाच

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् ।
यत् सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥१२॥
तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान् ।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥१३॥
इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम् ।
स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः ॥१४॥
आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः ।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
अपारणीया इति देवि मे मतिः ।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥१६॥
अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते ।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥१७॥
त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥१८॥

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम् ।
मां च भावयती पत्यावेवंरूपमवस्थितम् ॥१९॥
नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथंचन ।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।

प्राणियोंके हृदयमें रहकर उनकी गति-विधि जाननेवाले भगवान्‌ने यह बात कही ॥ ११ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवताओंकी जननी अदिति ! तुम्हारी चिरकालीन अभिलाषाको मैं जानता हूँ। शत्रुओं-ने तुम्हारे पुत्रोंकी सम्पत्ति छीन ली है, उन्हें उनके लोक (स्वर्ग) से खदेड़ दिया है ॥ १२ ॥ तुम चाहती हो कि युद्धमें तुम्हारे पुत्र उन मतवाले और बली असुरोंको जीतकर विजयलक्ष्मी प्राप्त करें, तब तुम उनके साथ भगवान्‌की उपासना करो ॥ १३ ॥ तुम्हारी इच्छा यह भी है कि तुम्हारे इन्द्रादि पुत्र जब शत्रुओंको मार डालें, तब तुम उनकी रोती हुई दुखी स्त्रियोंको अपनी आँखों देख सको ॥ १४ ॥ अदिति ! तुम चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र धन और शक्तिसे समृद्ध हो जायँ, उनकी कीर्ति और ऐश्वर्य उन्हें फिरसे प्राप्त हो जायँ तथा वे स्वर्गपर अधिकार जमाकर पूर्ववत् विहार करें ॥ १५ ॥ परंतु देवि ! वे असुर सेनापति इस समय जीते नहीं जा सकते, ऐसा मेरा निश्चय है; क्योंकि ईश्वर और ब्राह्मण इस समय उनके अनुकूल हैं। इस समय उनके साथ यदि लड़ाई छेड़ी जायगी, तो उससे सुख मिलनेकी आशा नहीं है ॥ १६ ॥ फिर भी देवि ! तुम्हारे इस व्रतके अनुष्ठानसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिये मुझे इस सम्बन्धमें कोई-न-कोई उपाय सोचना ही पड़ेगा; क्योंकि मेरी आराधना व्यर्थ तो होनी नहीं चाहिये। उससे श्रद्धाके अनुसार फल अवश्य मिलता है ॥ १७ ॥ तुमने अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही विधिपूर्वक पयोव्रतसे मेरी पूजा एवं स्तुति की है। अतः मैं अंशरूपसे कश्यपके वीर्यमें प्रवेश करूँगा और तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारी संतानकी रक्षा करूँगा ॥ १८ ॥ कल्याणी ! तुम अपने पति कश्यपमें मुझे इसी रूपमें स्थित देखो और उन निष्पाप प्रजापतिकी सेवा करो ॥ १९ ॥ देवि ! देखो, किसीके पूछनेपर भी यह बात दूसरेको मत बतलाना। देवताओंका रहस्य जितना गुप्त रहता है, उतना ही सफल होता है ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इतना कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। उस समय अदिति यह जानकर

अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः ॥२१॥
उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ।
स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ॥२२॥
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ।
सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसम्भृतम् ।
समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः ॥२३॥
अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम् ।
हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते ।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥२५॥
नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे ।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥२६॥
त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्य-
मनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः ।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं
स्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम् ॥२७॥
त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः ।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥२८॥

कि स्वयं भगवान् मेरे गर्भसे जन्म लेंगे, अपनी कृतकृत्यताका अनुभव करने लगी। भला यह कितनी दुर्लभ बात है! वह बड़े प्रेमसे अपने पतिदेव कश्यपकी सेवा करने लगी। कश्यपजी सत्यदर्शी थे। उनके नेत्रोंसे कोई बात छिपी नहीं रहती थी। अपने समाधि-योगसे उन्होंने जान लिया कि भगवान्‌का अंश मेरे अंदर प्रविष्ट हो गया है। जैसे वायु काठमें अग्निका आधान करती है, वैसे ही कश्यपजीने समाहित चित्तसे अपनी तपस्याके द्वारा चिर-संचित वीर्यका अदितिमें आधान किया॥ २१–२३॥ जब ब्रह्माजीको यह बात मालूम हुई कि अदितिके गर्भमें तो स्वयं अविनाशी भगवान् आये हैं, तब वे भगवान्‌के रहस्यमय नामोंसे उनकी स्तुति करने लगे॥ २४॥

ब्रह्माजीने कहा—समग्र कीर्तिके आश्रय भगवन्! आपकी जय हो। अनन्त शक्तियोंके अधिष्ठान! आपके चरणोंमें नमस्कार है। ब्रह्मण्यदेव! त्रिगुणोंके नियामक! आपके चरणोंमें मेरे बार-बार प्रणाम हैं॥ २५॥ पृश्निके पुत्ररूपमें उत्पन्न होनेवाले! वेदोंके समस्त ज्ञानको अपने अंदर रखनेवाले प्रभो! वास्तवमें आप ही सबके विधाता हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। ये तीनों लोक आपकी नाभिमें स्थित हैं। तीनों लोकोंसे परे वैकुण्ठमें आप निवास करते हैं। जीवोंके अन्तः-करणमें आप सर्वदा विराजमान रहते हैं। ऐसे सर्वव्यापक विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २६॥ प्रभो! आप ही संसारके आदि, अन्त और इसलिये मध्य भी हैं। यही कारण है कि वेद अनन्तशक्ति पुरुषके रूपमें आप-का वर्णन करते हैं। जैसे गहरा स्रोत अपने भीतर पड़े हुए तिनकेको बहा ले जाता है, वैसे ही आप कालरूपसे संसारका धाराप्रवाह संचालन करते रहते हैं॥ २७॥ आप चराचर प्रजा और प्रजापतियोंको भी उत्पन्न करनेवाले मूल कारण हैं। देवाधिदेव! जैसे जलमें डूबते हुएके लिये नौका ही सहारा है, वैसे ही स्वर्गसे भगाये हुए देवताओंके लिये एकमात्र आप ही आश्रय हैं॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०– 'भगवदवतारः'।

अथाष्टादशोऽध्यायः

वामन भगवान्‌का प्रकट होकर राजा बलिकी यज्ञशालामें पधारना

श्रीशुक उवाच

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥
श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान् ।
श्रीवत्सवक्षा बलयाङ्गदोल्लसत्-
किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः ॥ २ ॥
मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः ।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा
विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः ॥ ३ ॥
दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः ।
द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा
गावो द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥
श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः ।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥ ५ ॥
द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यंदिनगतो नृप ।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः ॥ ६ ॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः ।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥
प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गन्धर्वप्रवरा जगुः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार जब ब्रह्माजीने भगवान्‌की शक्ति और लीलाकी स्तुति की, तब जन्म-मृत्युरहित भगवान् अदितिके सामने प्रकट हुए । भगवान्‌के चार भुजाएँ थीं, उनमें वे शङ्ख, गदा, कमल और चक्र धारण किये हुए थे । कमलके समान कोमल और बड़े-बड़े नेत्र थे । पीताम्बर शोभायमान हो रहा था ॥ १ ॥ विशुद्ध श्यामवर्णका शरीर था । मकराकृति कुण्डलोंकी कान्तिसे मुख-कमलकी शोभा और भी उल्लसित हो रही थी । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, हाथोंमें कंगन और भुजाओंमें बाजूबंद, सिरपर किरीट, कमरमें करधनीकी लड़ियाँ और चरणोंमें सुन्दर नूपुर जगमगा रहे थे ॥ २ ॥ भगवान् गलेमें अपनी स्वरूपभूत वनमाला धारण किये हुए थे, जिसके चारों ओर झुंड-के-झुंड भौंरे गुंजार कर रहे थे । उनके कण्ठमें कौस्तुभ-मणि सुशोभित थी । भगवान्‌की अङ्गकान्तिसे प्रजापति कश्यपजीके घरका अन्धकार नष्ट हो गया ॥ ३ ॥ उस समय दिशाएँ निर्मल हो गयीं । नदी और सरोवरोंका जल स्वच्छ हो गया । प्रजाके हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी । सब ऋतुएँ एक साथ अपना-अपना गुण प्रकट करने लगीं । स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, देवता, गौ, द्विज और पर्वत—इन सबके हृदयमें हर्षका संचार हो गया ॥ ४ ॥

परीक्षित् ! जिस समय भगवान्‌ने जन्म ग्रहण किया, उस समय चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर थे । भाद्रपद मासके शुक्लपक्षकी श्रवणनक्षत्रवाली द्वादशी थी । अभिजित् मुहूर्तमें भगवान्‌का जन्म हुआ था । सभी नक्षत्र और तारे भगवान्‌के जन्मको मङ्गलमय सूचित कर रहे थे ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! जिस तिथिमें भगवान्‌का जन्म हुआ था, उसे 'विजया द्वादशी' कहते हैं । जन्मके समय सूर्य आकाश-के मध्यभागमें स्थित थे ॥ ६ ॥ भगवान्‌के अवतारके समय शङ्ख, ढोल, मृदङ्ग, डफ और नगाड़े आदि बाजे बजने लगे । इन तरह-तरहके बाजों और तुरहियोंकी तुमुल ध्वनि होने लगी ॥ ७ ॥ अप्सराएँ प्रसन्न होकर नाचने लगीं । श्रेष्ठ गन्धर्व गाने लगे । मुनि, देवता, मनु,

तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः ॥ ८ ॥
सिद्धविद्याधरगणाः सकिंपुरुषकिन्नराः ।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥ ९ ॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः ।
आदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥ १० ॥
दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ।
गृहीतदेहं निजयोगमायया
प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः ॥ ११ ॥
यत् तद् वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः ॥ १२ ॥
तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ।
कर्माणि कारयामासुः[1] पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥ १३ ॥
तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात् ॥ १४ ॥
ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः ।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः ॥ १५ ॥
कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः ।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥ १६ ॥
तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात् ।
भिक्षां भगवती साक्षादुमादादम्बिका सती ॥ १७ ॥
स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां संभावितो वटुः ।

पितर और अग्नि स्तुति करने लगे ॥ ८ ॥ सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, मुख्य-मुख्य नागगण और देवताओंके अनुचर नाचने-गाने एवं भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे तथा उन लोगोंने अदितिके आश्रमको पुष्पोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ ९-१० ॥

जब अदितिने अपने गर्भसे प्रकट हुए परम पुरुष परमात्माको देखा, तो वह अत्यन्त आश्चर्यचकित और परमानन्दित हो गयी । प्रजापति कश्यपजी भी भगवान्‌को अपनी योगमायासे शरीर धारण किये हुए देख विस्मित हो गये और कहने लगे 'जय हो ! जय हो' ॥ ११ ॥ परीक्षित् ! भगवान् स्वयं अव्यक्त एवं चित्स्वरूप हैं । उन्होंने जो परम कान्तिमय आभूषण एवं आयुधोंसे युक्त वह शरीर ग्रहण किया था, उसी शरीरसे कश्यप और अदितिके देखते-देखते वामन ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया—ठीक वैसे ही, जैसे नट अपना वेष बदल ले । क्यों न हो, भगवान्‌की लीला तो अद्भुत है ही ॥ १२ ॥

भगवान्‌को वामन ब्रह्मचारीके रूपमें देखकर महर्षियोंको बड़ा आनन्द हुआ । उन लोगोंने कश्यप प्रजापतिको आगे करके उनके जातकर्म आदि संस्कार करवाये ॥ १३ ॥ जब उनका उपनयन-संस्कार होने लगा, तब गायत्रीके अधिष्ठातृदेवता स्वयं सविताने उन्हें गायत्रीका उपदेश किया । देवगुरु बृहस्पतिजीने यज्ञोपवीत और कश्यपने मेखला दी ॥ १४ ॥ पृथ्वीने कृष्णमृगका चर्म, वनके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड, माता अदितिने कौपीन और कटिवस्त्र एवं आकाशके अभिमानी देवताने वामन-वेषधारी भगवान्‌को छत्र दिया ॥ १५ ॥ परीक्षित् ! अविनाशी प्रभुको ब्रह्माजीने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने रुद्राक्षकी माला समर्पित की ॥ १६ ॥ इस रीतिसे जब वामनभगवान्‌का उपनयन-संस्कार हुआ, तब यक्षराज कुबेरने उनको भिक्षाका पात्र और सतीशिरोमणि जगज्जननी स्वयं भगवती उमाने भिक्षा दी ॥ १७ ॥ इस प्रकार जब सब लोगोंने वटुवेषधारी भगवान्‌का सम्मान किया तब वे ब्रह्मर्षियोंसे भरी हुई सभामें अपने

१. प्राचीन प्रतिमें 'यत्तद्वपुर्भाति…' इस श्लोकके पहले एक श्लोक अधिक है जो इस प्रकार है—'जय जय जगदादेऽदिमध्यान्तविष्णो सकलभुवनसृष्टित्राणसंहारहेतो । परमपुरुष पद्म……काराय कस्त्वं कनककमलनेत्रानन्त भोगीन्द्रशायिन् ।

ब्रह्मर्षिगणसञ्जुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥१८॥
समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम् ।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद् द्विजः ॥१९॥
श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।
जगाम तत्राखिलसारसंभृतो
भारेण गां सन्नमयन्पदे पदे ॥२०॥
तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षताराददितं यथा रविम् ॥२१॥
त ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप ।
सूर्यः किलायात्युत[1] वा विभावसुः
सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः ॥२२॥
इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान्स वामनः ।
छत्रं सदण्डं[2] सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम् ॥२३॥
मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम् ।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम् ॥२४॥
प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः।
प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय संक्षिप्तास्तस्य तेजसा ॥२५॥
यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम् ।
रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत् ॥२६॥

ब्रह्मतेजके कारण अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ १८ ॥ इसके बाद भगवान्‌ने स्थापित और प्रज्वलित अग्निका कुशोंसे परिसमूहन और परिस्तरण करके पूजा की और समिधाओंसे हवन किया ॥ १९ ॥

परीक्षित् ! उसी समय भगवान्‌ने सुना कि सब प्रकारकी सामग्रियोंसे सम्पन्न यशस्वी बलि भृगुवंशी ब्राह्मणोंके आदेशानुसार बहुत-से अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं, तब उन्होंने वहाँके लिये यात्रा की । भगवान् समस्त शक्तियोंसे युक्त हैं । उनके चलनेके समय उनके भारसे पृथ्वी पग-पगपर झुकने लगी ॥ २० ॥ नर्मदा नदीके उत्तर तटपर 'भृगुकच्छ' नामका एक बड़ा सुन्दर स्थान है । वहीं बलिके भृगुवंशी ऋत्विज श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करा रहे थे । उन लोगोंने दूरसे ही वामनभगवान्‌को देखा, तो उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो साक्षात् सूर्यदेव-का उदय हो रहा हो ॥२१॥ परीक्षित् ! वामनभगवान्‌के तेजसे ऋत्विज, यजमान और सदस्य सब-के-सब निस्तेज हो गये । वे लोग सोचने लगे कि कहीं यज्ञ देखनेके लिये सूर्य, अग्नि अथवा सनत्कुमार तो नहीं आ रहे हैं ॥ २२ ॥ भृगुके पुत्र शुक्राचार्य आदि अपने शिष्योंके साथ इसी प्रकार अनेकों कल्पनाएँ कर रहे थे। उसी समय हाथमें छत्र, दण्ड और जलसे भरा कमण्डलु लिये हुए वामनभगवान्‌ने अश्वमेध-यज्ञके मण्डपमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥ वे कमरमें मूँजकी मेखला और गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे । बगलमें मृगचर्म था और सिरपर जटा थी । इसी प्रकार बौने ब्राह्मणके वेषमें अपनी मायासे ब्रह्मचारी बने हुए भगवान्‌ने जब उनके यज्ञ-मण्डपमें प्रवेश किया, तब भृगुवंशी ब्राह्मण उन्हें देखकर अपने शिष्योंके साथ उनके तेजसे प्रभावित एवं निष्प्रभ हो गये । वे सब-के-सब अग्नियोंके साथ उठ खड़े हुए और उन्होंने वामनभगवान्‌का स्वागत-सत्कार किया ॥२४-२५॥ भगवान्‌के लघुरूपके अनुरूप सारे अङ्ग छोटे-छोटे बड़े ही मनोरम एवं दर्शनीय थे । उन्हें देखकर बलिको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने वामनभगवान्‌को एक उत्तम आसन दिया ॥२६॥ फिर स्वागत-वाणीसे उनका

१. प्रा० पा०—यात्यथवा । २. प्रा० पा०—सदण्डछत्रं ।

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः ।
अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गमनोरमम् ॥२७॥
तत्पादशौचं जनकल्मषापहं
स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम् ।
यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
र्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥२८॥

बलिरुवाच

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन्किं करवाम ते ।
ब्रह्मर्षीणां तपःसाक्षान्मन्ये त्वाऽऽर्य वपुर्धरम् ॥२९॥
अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम् ।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद् भवानागतो गृहान् ॥३०॥
अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः ।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव ॥३१॥
यद् यद् वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ।
ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ॥३२॥

अभिनन्दन करके पाँव पखारे और सङ्गरहित महापुरुषों-को भी अत्यन्त मनोहर लगनेवाले वामनभगवान्‌की पूजा की ॥ २७ ॥ भगवान्‌के चरणकमलोंका धोवन परम मङ्गलमय है। उससे जीवोंके सारे पाप-ताप धुल जाते हैं। स्वयं देवाधिदेव चन्द्रमौलि भगवान् शंकरने अत्यन्त भक्तिभावसे उसे अपने सिरपर धारण किया था। आज वही चरणामृत धर्मके मर्मज्ञ राजा बलिको प्राप्त हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे उसे अपने मस्तकपर रक्खा ॥ २८ ॥

बलिने कहा—ब्राह्मणकुमार ! आप भले पधारे। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आर्य ! ऐसा जान पड़ता है कि बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंकी तपस्या ही स्वयं मूर्तिमान् होकर मेरे सामने आयी है ॥२९॥ आज आप मेरे घर पधारे, इससे मेरे पितर तृप्त हो गये। आज मेरा वंश पवित्र हो गया। आज मेरा यह यज्ञ सफल हो गया ॥ ३० ॥ ब्राह्मणकुमार ! आपके पाँव पखारनेसे मेरे सारे पाप धुल गये और विधिपूर्वक यज्ञ करनेसे, अग्निमें आहुति डालनेसे जो फल मिलता, वह अनायास ही मिल गया। आपके इन नन्हे-नन्हे चरणों और इनके धोवनसे पृथ्वी पवित्र हो गयी ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणकुमार ! ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। परम पूज्य ब्रह्मचारीजी ! आप जो चाहते हों—गाय, सोना, सामग्रियोंसे सुसज्जित घर, पवित्र अन्न, पीनेकी वस्तु, विवाहके लिये ब्राह्मणकी कन्या, सम्पत्तियोंसे भरे हुए गाँव, घोड़े, हाथी, रथ—वह सब आप मुझसे माँग लीजिये। अवश्य ही वह सब मुझसे माँग लीजिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भगवान् वामनका बलिसे तीन पग पृथ्वी माँगना, बलिका वचन देना और शुक्राचार्यजीका उन्हें रोकना

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं स सूनृतम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजा बलिके ये वचन धर्मभावसे भरे और बड़े मधुर थे। उन्हें सुनकर

१. प्रा० पा०—कुलं०। २. प्रा० पा०—स्वधर्मविन्मू०। ३. प्रा० पा०—गुणवद्वाथ धाम। ४. प्रा० पा०—मही तुरङ्गानिभयूथपान् वा रथानतो वार्हत्त०।

निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।
यस्य प्रमाणं भृगवः सांपराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥ २ ॥

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान् ।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये ॥ ३ ॥

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः ।
युष्मत्कुले यद्यशसामलेन
प्रह्राद उद्भाति यथोडुपः खे ॥ ४ ॥

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥ ५ ॥

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुःक्ष्मोद्धार आगतम् ।
नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा ।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ७ ॥

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् ।

भगवान् वामनने बड़ी प्रसन्नतासे उनका अभिनन्दन किया और कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! आपने जो कुछ कहा—वह आपको कुलपरम्पराके अनुरूप, धर्मभावसे परिपूर्ण, यशको बढ़ानेवाला और अत्यन्त मधुर है । क्यों न हो, परलोकहितकारी धर्मके सम्बन्धमें आप भृगुपुत्र शुक्राचार्यको परम प्रमाण जो मानते हैं । साथ ही अपने कुलवृद्ध पितामह परम शान्त प्रह्लादजीकी आज्ञा भी तो आप वैसे ही मानते हैं ॥ २ ॥ आपकी वंशपरम्परामें कोई धैर्यहीन अथवा कृपण पुरुष कभी हुआ ही नहीं । ऐसा भी कोई नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मणको कभी दान न दिया हो अथवा जो एक बार किसीको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके बादमें मुकर गया हो ॥ ३ ॥ दानके अवसरपर याचकोंकी याचना सुनकर और युद्धके अवसरपर शत्रुके ललकारनेपर उनकी ओरसे मुँह मोड़ लेनेवाला कायर आपके वंशमें कोई भी नहीं हुआ । क्यों न हो, आपकी कुलपरम्परामें प्रह्लाद अपने निर्मल यशसे वैसे ही शोभायमान होते हैं, जैसे आकाशमें चन्द्रमा ॥ ४ ॥ आपके कुलमें ही हिरण्याक्ष-जैसे वीरका जन्म हुआ था । वह वीर जब हाथमें गदा लेकर अकेला ही दिग्विजयके लिये निकला, तब सारी पृथ्वीमें घूमनेपर भी उसे अपनी जोड़का कोई वीर न मिला ॥ ५ ॥ जब विष्णुभगवान् जलमेंसे पृथ्वीका उद्धार कर रहे थे, तब वह उनके सामने आया और बड़ी कठिनाईसे उन्होंने उसपर विजय प्राप्त की । परंतु उसके बहुत बाद भी उन्हें बार-बार हिरण्याक्षकी शक्ति और बलका स्मरण हो आया करता था और उसे जीत लेनेपर भी वे अपनेको विजयी नहीं समझते थे ॥ ६ ॥ जब हिरण्याक्षके भाई हिरण्यकशिपुको उसके वधका वृत्तान्त मालूम हुआ, तब वह अपने भाईका वध करनेवालेको मार डालनेके लिये क्रोध करके भगवान्‌के निवासस्थान वैकुण्ठधाममें पहुँचा ॥ ७ ॥ विष्णुभगवान् माया रचनेवालोंमें सबसे बड़े हैं और समयको खूब पहचानते हैं । जब उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपु तो हाथमें शूल

१. प्रा० पा०—यस्मिन्कुले । २. प्रा० पा०—आत्मानं वञ्चितं ।

चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ ८ ॥
यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः ॥ ९ ॥
एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-
माधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-
स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥ १० ॥
स तन्निकेतं परिमृश्य शून्य-
मपश्यमानः कुपितो ननाद ।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान्समुद्रान्
विष्णुं विचिन्वन् न ददर्श वीरः ॥ ११ ॥
अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् ।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥ १२ ॥
वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥ १३ ॥
पिता प्रह्रादपुत्रस्ते तद्विद्वान्द्विजवत्सलः ।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् स याचितः ॥ १४ ॥
भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः ।
ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः ॥ १५ ॥
तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम ॥ १६ ॥
नान्यत् ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात् ।

लेकर कालकी भाँति मेरे ही ऊपर धावा कर रहा है, तब उन्होंने विचार किया ॥ ८ ॥ 'जैसे संसारके प्राणियोंके पीछे मृत्यु लगी रहती है—वैसे ही मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, वहीं-वहीं यह मेरा पीछा करेगा। इसलिये मैं इसके हृदयमें प्रवेश कर जाऊँ, जिससे यह मुझे देख न सके; क्योंकि यह तो बहिर्मुख है, बाहरकी वस्तुएँ ही देखता है' ॥ ९ ॥ असुरशिरोमणे! जिस समय हिरण्यकशिपु उनपर झपट रहा था, उसी समय ऐसा निश्चय करके डरसे काँपते हुए विष्णुभगवान्‌ने अपने शरीरको सूक्ष्म बना लिया और उसके प्राणोंके द्वारा नासिकामेंसे होकर हृदयमें जा बैठे ॥ १० ॥ हिरण्यकशिपुने उनके लोकको भलीभाँति छान डाला, परंतु उनका कहीं पता न चला। इसपर क्रोधित होकर वह सिंहनाद करने लगा। उस वीरने पृथ्वी, स्वर्ग, दिशा, आकाश, पाताल और समुद्र—सब कहीं विष्णुभगवान्‌को ढूँढ़ा, परंतु वे कहीं भी उसे दिखायी न दिये ॥ ११ ॥ उनको कहीं न देखकर वह कहने लगा—'मैंने सारा जगत् छान डाला, परंतु वह मिला नहीं। अवश्य ही वह भ्रातृघाती उस लोकमें चला गया, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता ॥ १२ ॥ बस, अब उससे वैरभाव रखनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि वैर तो देहके साथ ही समाप्त हो जाता है। क्रोधका कारण अज्ञान है और अहंकारसे उसकी वृद्धि होती है' ॥ १३ ॥ राजन्! आपके पिता प्रह्लादनन्दन विरोचन बड़े ही ब्राह्मणभक्त थे। यहाँतक कि उनके शत्रु देवताओंने ब्राह्मणोंका वेष बनाकर उनसे उनकी आयुका दान माँगा और उन्होंने ब्राह्मणोंके छलको जानते हुए भी अपनी आयु दे डाली ॥ १४ ॥ आप भी उसी धर्मका आचरण करते हैं, जिसका शुक्राचार्य आदि गृहस्थ ब्राह्मण, आपके पूर्वज प्रह्लाद और दूसरे यशस्वी वीरोंने पालन किया है ॥ १५ ॥ दैत्येन्द्र! आप मुँहमाँगी वस्तु देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। इसीसे मैं आपसे थोड़ी-सी पृथ्वी—केवल अपने पैरोंसे तीन डग माँगता हूँ ॥ १६ ॥ माना कि आप सारे जगत्‌के स्वामी और बड़े उदार हैं, फिर भी मैं आपसे इससे अधिक नहीं चाहता। विद्वान् पुरुषको केवल

१. प्रा० पा०—विदां वरः। २. प्रा० पा०—पुनः।

नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थप्रतिग्रहः ॥१७॥

अपनी आवश्यकताके अनुसार ही दान स्वीकार करना चाहिये। इससे वह प्रतिग्रहजन्य पापसे बच जाता है॥ १७॥

बलिरुवाच

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसंमताः।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥१८॥
मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्[1] ॥१९॥
न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥२०॥

राजा बलिने कहा—ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी बातें तो वृद्धों-जैसी हैं, परंतु तुम्हारी बुद्धि अभी बच्चोंकी-सी ही है। अभी तुम हो भी तो बालक ही न, इसीसे अपना हानि-लाभ नहीं समझ रहे हो॥ १८॥ मैं तीनों लोकोंका एकमात्र अधिपति हूँ और द्वीप-का-द्वीप दे सकता हूँ। जो मुझे अपनी वाणीसे प्रसन्न कर ले और मुझसे केवल तीन डग भूमि माँगे—वह भी क्या बुद्धिमान् कहा जा सकता है?॥ १९॥ ब्रह्मचारीजी! जो एक बार कुछ माँगनेके लिये मेरे पास आ गया, उसे फिर कभी किसीसे कुछ माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। अतः अपनी जीविका चलानेके लिये तुम्हें जितनी भूमिकी आवश्यकता हो, उतनी मुझसे माँग लो॥ २०॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्[2]।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥२१॥
त्रिभिः क्रमैरसंतुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।
नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥२२॥
सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥२३॥
यदृच्छयोपपन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखम्।
नासंतुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥२४॥
पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषोऽर्थकामयोः।
यदृच्छयोपपन्नेन संतोषो मुक्तये स्मृतः ॥२५॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! संसारके सब-के-सब प्यारे विषय एक मनुष्यकी कामनाओंको भी पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हैं, यदि वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला—संतोषी न हो॥ २१॥ जो तीन पग भूमिसे संतोष नहीं कर लेता, उसे नौ वर्षोंसे युक्त एक द्वीप भी दे दिया जाय तो भी वह संतुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मनमें सातों द्वीप पानेकी इच्छा बनी ही रहेगी॥ २२॥ मैंने सुना है कि पृथु, गय आदि नरेश सातों द्वीपोंके अधिपति थे; परंतु उतने धन और भोगकी सामग्रियोंके मिलनेपर भी वे तृष्णाका पार न पा सके॥ २३॥ जो कुछ प्रारब्धसे मिल जाय, उसीसे संतुष्ट हो रहनेवाला पुरुष अपना जीवन सुखसे व्यतीत करता है। परंतु अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला तीनों लोकोंका राज्य पानेपर भी दुखी ही रहता है; क्योंकि उसके हृदयमें असंतोषकी आग धधकती रहती है॥ २४॥ धन और भोगोंसे संतोष न होना ही जीवके जन्म-मृत्युके चक्करमें गिरनेका कारण है तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतोष कर लेना मुक्तिका कारण है॥ २५॥ जो ब्राह्मण स्वयंप्राप्त

१. प्रा० पा०—द्विपदायुषाम्। २. प्रा० पा०—श्रेष्ठाः।

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते ।
तत् प्रशाम्यत्यसंतोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥२६॥
तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद् वरदर्षभात् ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥२८॥
विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥२९॥

शुक्र उवाच

एष वैरोचने साक्षाद् भगवान्विष्णुरव्ययः ।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥३०॥
प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता ।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥३१॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥३२॥
त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकान्विश्वकायः क्रमिष्यति ।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥३३॥
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥३४॥
निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् ।

वस्तुसे ही संतुष्ट हो रहता है, उसके तेजकी वृद्धि होती है । उसके असंतोषी हो जानेपर उसका तेज वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे जलसे अग्नि ॥ २६ ॥ इसमें संदेह नहीं कि आप मुँहमाँगी वस्तु देनेवालोंमें शिरोमणि हैं । इसलिये मैं आपसे केवल तीन पग भूमि ही माँगता हूँ । इतनेसे ही मेरा काम बन जायगा । धन उतना ही संग्रह करना चाहिये, जितनेकी आवश्यकता हो ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर राजा बलि हँस पड़े । उन्होंने कहा—'अच्छी बात है; जितनी तुम्हारी इच्छा हो, उतनी ही ले लो ।' यों कहकर वामनभगवान्‌को तीन पग पृथ्वीका सङ्कल्प करनेके लिये उन्होंने जलपात्र उठाया ॥ २८ ॥ शुक्राचार्यजी सब कुछ जानते थे । उनसे भगवान्‌की यह लीला भी छिपी नहीं थी । उन्होंने राजा बलिको पृथ्वी देनेके लिये तैयार देखकर उनसे कहा ॥ २९ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—विरोचनकुमार ! ये स्वयं अविनाशी भगवान् विष्णु हैं । देवताओंका काम बनानेके लिये कश्यपकी पत्नी अदितिके गर्भसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ ३० ॥ तुमने यह अनर्थ न जानकर कि ये मेरा सब कुछ छीन लेंगे, इन्हें दान देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है । यह तो दैत्योंपर बहुत बड़ा अन्याय होने जा रहा है । इसे मैं ठीक नहीं समझता ॥ ३१ ॥ स्वयं भगवान् ही अपनी योगमायासे यह ब्रह्मचारी बनकर बैठे हुए हैं । ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज और विश्वविख्यात कीर्ति—सब कुछ तुमसे छीनकर इन्द्रको दे देंगे ॥ ३२ ॥ ये विश्वरूप हैं । तीन पगमें तो ये सारे लोकोंको नाप लेंगे । मूर्ख ! जब तुम अपना सर्वस्व ही विष्णुको दे डालोगे, तो तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ॥ ३३ ॥ ये विश्वव्यापक भगवान् एक पगमें पृथ्वी और दूसरे पगमें स्वर्गको नाप लेंगे इनके विशाल शरीरसे आकाश भर जायगा । तब इनका तीसरा पग कहाँ जायगा ? ॥ ३४ ॥ तुम उसे पूरा न कर सकोगे । ऐसी दशामें मैं समझता हूँ कि प्रतिज्ञा करके पूरा न कर पानेके कारण तुम्हें नरकमें

१. प्रा० पा०—र्षभ ।

प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥३५॥

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।

दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥३६॥

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।

पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥३७॥

अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम ।

सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥३८॥

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ।

वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥३९॥

तद् यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात् ।

एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥४०॥

पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति ।

यत् किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान् ।

भिक्षवे सर्वमोंकुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥४१॥

अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः ।

ही जाना पड़ेगा; क्योंकि तुम अपनी की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेमें सर्वथा असमर्थ होओगे ॥ ३५ ॥ विद्वान् पुरुष उस दानकी प्रशंसा नहीं करते, जिसके बाद जीवन-निर्वाहके लिये कुछ बचे ही नहीं । जिसका जीवन-निर्वाह ठीक-ठीक चलता है—वही संसारमें दान, यज्ञ, तप और परोपकारके कर्म कर सकता है ॥ ३६ ॥ जो मनुष्य अपने धनको पाँच भागोंमें बाँट देता है—कुछ धर्मके लिये, कुछ यशके लिये, कुछ धनकी अभिवृद्धिके लिये, कुछ भोगोंके लिये और कुछ अपने स्वजनोंके लिये—वही इस लोक और परलोक दोनोंमें ही सुख पाता है ॥ ३७ ॥ असुरशिरोमणे! यदि तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा टूट जानेकी चिन्ता हो, तो मैं इस विषयमें तुम्हें कुछ ऋग्वेदकी श्रुतियोंका आशय सुनाता हूँ, तुम सुनो । श्रुति कहती है—किसीको कुछ देनेकी बात स्वीकार कर लेना सत्य है और नकार जाना अर्थात् अस्वीकार कर देना असत्य है ॥ ३८ ॥ यह शरीर एक वृक्ष है और सत्य इसका फल-फूल है । परंतु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कैसे रह सकते हैं? क्योंकि नकार जाना, अपनी वस्तु दूसरेको न देना, दूसरे शब्दोंमें अपना संग्रह बचाये रखना—यही शरीररूप वृक्षका मूल है ॥ ३९ ॥ जैसे जड़ न रहनेपर वृक्ष सूखकर थोड़े ही दिनोंमें गिर जाता है, उसी प्रकार यदि धन देनेसे अस्वीकार न किया जाय तो यह जीवन सूख जाता है—इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥ 'हाँ, मैं दूँगा'—यह वाक्य ही धनको दूर हटा देता है । इसलिये इसका उच्चारण ही अपूर्ण अर्थात् धनसे खाली कर देनेवाला है । यही कारण है कि जो पुरुष 'हाँ, मैं दूँगा'—ऐसा कहता है, वह धनसे खाली हो जाता है । जो याचकको सब कुछ देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिये भोगकी कोई सामग्री नहीं रख सकता ॥ ४१ ॥ इसके विपरीत 'मैं नहीं दूँगा'—यह जो अस्वीकारात्मक असत्य है, वह अपने धनको सुरक्षित रखने तथा पूर्ण करनेवाला है; परंतु ऐसा सब समय नहीं करना चाहिये । जो सबसे

सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥४२॥

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे ।

गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥४३॥

सभी वस्तुओंके लिये नहीं करता रहता है, उसकी अपकीर्ति हो जाती है। वह तो जीवित रहनेपर भी मृतकके समान ही है ॥ ४२ ॥ स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिये, हास-परिहासमें, विवाहमें, कन्या आदिकी प्रशंसा करते समय, अपनी जीविकाकी रक्षाके लिये, प्राणसङ्कट उपस्थित होनेपर, गौ और ब्राह्मणके हितके लिये तथा किसीको मृत्युसे बचानेके लिये असत्य-भाषण भी उतना निन्दनीय नहीं है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

भगवान् वामनजीका विराट् रूप होकर दो ही पगसे पृथ्वी और स्वर्गको नाप लेना

श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः ।
तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम् ॥ १ ॥

बलिरुवाच

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित् ॥ २ ॥
स चाहं वित्तलोभेन[3] प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् ।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्रादिः कितवो यथा ॥ ३ ॥
नह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥ ४ ॥
नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात् ।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात् ॥ ५ ॥
यद् यद्धास्यति लोकेऽस्मिन्संपरेतं धनादिकम् ।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब कुलगुरु शुक्राचार्यने इस प्रकार कहा, तब आदर्श गृहस्थ राजा बलिने एक क्षण चुप रहकर बड़ी विनय और सावधानीसे शुक्राचार्यजीके प्रति यों कहा ॥ १ ॥

राजा बलिने कहा—भगवन् ! आपका कहना सत्य है। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके लिये वही धर्म है जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविकामें कभी किसी प्रकार बाधा न पड़े ॥ २ ॥ परंतु गुरुदेव ! मैं प्रह्लादजीका पौत्र हूँ और एक बार देनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अतः अब मैं धनके लोभसे ठगकी भाँति इस ब्राह्मणसे कैसे कहूँ कि 'मैं तुम्हें नहीं दूँगा' ॥ ३ ॥ इस पृथ्वीने कहा है कि 'असत्यसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। मैं सब कुछ सहनेमें समर्थ हूँ, परतु झूठे मनुष्यका भार मुझसे नहीं सहा जाता' ॥ ४ ॥ मैं नरकसे, दरिद्रतासे, दुःखके समुद्रसे, अपने राज्यके नाशसे और मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना ब्राह्मणसे प्रतिज्ञा करके उसे धोखा देनेसे डरता हूँ ॥ ५ ॥ इस संसारमें मर जानेके बाद धन आदि जो-जो वस्तुएँ साथ छोड़ देती हैं, यदि उनके द्वारा दान आदिसे ब्राह्मणोंको भी सन्तुष्ट न किया जा सका, तो उनके त्यागका लाभ ही क्या रहा ? ॥ ६ ॥ दधीचि, शिबि

१. प्रा० पा०—नेत्यतिथि । २. प्रा० पा०—नानुचरिते एकोनविंशतितमो । ३. प्रा० पा०—वृत्तिलोभेन ।

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः ।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥ ७ ॥
यैरियं बुभुजे ब्रह्मन्दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः ।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान् न यशोऽधिगतं भुवि ॥८॥
सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः ।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥ ९ ॥
मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः ।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां
ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम् ॥१०॥
यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः ।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ॥११॥
यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम् ।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम् ॥१२॥
एष वा उत्तमश्लोको न जिहासति यद् यशः ।
हत्वा मैनां हरेद् युद्धे शयीत निहतो मया ॥१३॥
श्रीशुक उवाच
एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः ।
शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम् ॥१४॥

आदि महापुरुषोंने अपने परम प्रिय दुस्त्यज प्राणोंका दान करके भी प्राणियोंकी भलाई की है। फिर पृथ्वी आदि वस्तुओंको देनेमें सोच-विचार करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ७ ॥ ब्रह्मन्! पहले युगमें बड़े-बड़े दैत्यराजोंने इस पृथ्वीका उपभोग किया है। पृथ्वीमें उनका सामना करनेवाला कोई नहीं था। उनके लोक और परलोकको तो काल खा गया, परंतु उनका यश अभी पृथ्वीपर ज्यों-का-त्यों बना हुआ है ॥ ८ ॥ गुरुदेव! ऐसे लोग संसारमें बहुत हैं, जो युद्धमें पीठ न दिखाकर अपने प्राणोंकी बलि चढ़ा देते हैं; परंतु ऐसे लोग बहुत दुर्लभ हैं, जो सत्पात्रके प्राप्त होनेपर श्रद्धाके साथ धनका दान करें ॥ ९ ॥ गुरुदेव! यदि उदार और करुणाशील पुरुष अपात्र याचककी कामना पूर्ण करके दुर्गति भोगता है, तो वह दुर्गति भी उसके लिये शोभाकी बात होती है। फिर आप-जैसे ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंको दान करनेसे दुःख प्राप्त हो तो उसके लिये क्या कहना है। इसलिये मैं इस ब्रह्मचारीकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करूँगा ॥ १० ॥ महर्षे! वेदविधिके जाननेवाले आपलोग बड़े आदरसे यज्ञ-यागादिके द्वारा जिनकी आराधना करते हैं—वे वरदानी विष्णु ही इस रूपमें हों अथवा कोई दूसरा हो, मैं इनकी इच्छाके अनुसार इन्हें पृथ्वीका दान करूँगा ॥ ११ ॥ यदि मेरे अपराध न करनेपर भी ये अधर्मसे मुझे बाँध लेंगे तब भी मैं इनका अनिष्ट नहीं चाहूँगा; क्योंकि मेरे शत्रु होनेपर भी इन्होंने भयभीत होकर ब्राह्मणका शरीर धारण किया है ॥ १२ ॥ यदि ये पवित्रकीर्ति भगवान् विष्णु ही हैं तो अपना यश नहीं खोना चाहेंगे (अपनी माँगी हुई वस्तु लेकर ही रहेंगे)। मुझे युद्धमें मारकर भी पृथ्वी छीन सकते हैं और यदि कदाचित् ये कोई दूसरे ही हैं, तो मेरे बाणोंकी चोटसे सदाके लिये रणभूमिमें सो जायँगे ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब शुक्राचार्यजीने देखा कि मेरा यह शिष्य गुरुके प्रति अश्रद्धालु है तथा मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है, तब दैवकी प्रेरणासे उन्होंने राजा बलिको शाप दे दिया—यद्यपि वे सत्य-प्रतिज्ञ और उदार होनेके कारण शापके पात्र नहीं

दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया ।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद् भ्रश्यसे श्रियः ॥१५॥
एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान् ।
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ॥१६॥[1]
विन्ध्यावलिस्तदाऽऽगत्य पत्नी जालकमालिनी ।
आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम् ॥१७॥
यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत् पादयुगं मुदा ।
अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः ॥१८॥
तदासुरेन्द्रं दिवि देवतागणा
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं
प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः ॥१९॥
नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो
गन्धर्वकिंपूरुषकिन्नरा जगुः ।[2]
मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद् यद् रिपवे जगत्त्रयम् ॥२०॥
तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥२१॥
काये बलिस्तस्य महाविभूतेः
सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥२२॥

थे ॥ १४ ॥ शुक्राचार्यजीने कहा—'मूर्ख ! तू है तो अज्ञानी, परंतु अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता है । तू मेरी उपेक्षा करके गर्व कर रहा है । तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है । इसलिये शीघ्र ही तू अपनी लक्ष्मी खो बैठेगा' ॥ १५ ॥ राजा बलि बड़े महात्मा थे । अपने गुरुदेवके शाप देनेपर भी वे सत्यसे नहीं डिगे । उन्होंने वामनभगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा की और हाथमें जल लेकर तीन पग भूमिका सङ्कल्प कर दिया ॥ १६ ॥ उसी समय राजा बलिकी पत्नी विन्ध्यावली, जो मोतियोंके गहनोंसे सुसज्जित थी, वहाँ आयी । उसने अपने हाथों वामनभगवान्‌के चरण पखारनेके लिये जलसे भरा सोनेका कलश लाकर दिया ॥ १७ ॥ बलिने स्वयं बड़े आनन्दसे उनके सुन्दर-सुन्दर युगल चरणोंको धोया और उनके चरणोंका वह विश्वपावन जल अपने सिरपर चढ़ाया ॥ १८ ॥ उस समय आकाशमें स्थित देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध, चारण—सभी लोग राजा बलिके इस अलौकिक कार्य तथा सरलताकी प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे उनके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥ एक साथ ही हजारों दुन्दुभियाँ बार-बार बजने लगीं । गन्धर्व, किम्पुरुष और किन्नर गान करने लगे—'अहो धन्य है ! इन उदारशिरोमणि बलिने ऐसा काम कर दिखाया, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है । देखो तो सही, इन्होंने जान-बूझकर अपने शत्रुको तीनों लोकोंका दान कर दिया !' ॥ २० ॥

इसी समय एक बड़ी अद्भुत घटना घट गयी । अनन्त भगवान्‌का वह त्रिगुणात्मक वामनरूप बढ़ने लगा । वह यहाँतक बढ़ा कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि- सब-के-सब उसीमें समा गये ॥ २१ ॥ ऋत्विज, आचार्य और सदस्योंके साथ बलिने समस्त ऐश्वर्योंके एकमात्र स्वामी भगवान्‌के उस त्रिगुणात्मक शरीरमें पञ्चभूत, इन्द्रिय, उनके विषय, अन्तःकरण और जीवोंके साथ वह सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् देखा ॥ २२ ॥ राजा बलिने

१. प्रा० पा०—वेतामर्चित्वोदकपूर्विकाम् । २. प्रा० पा०—र्वविद्याधरकिन्न० ।

रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
मर्हीं महीध्रान्पुरुषस्य जङ्घयोः ।
पतत्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः ॥२३॥
संध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीञ्जघने आत्ममुख्यान् ।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धू-
नुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम् ॥२४॥
हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
ऋतं च सत्यं च मनस्यथेन्दुम् ।
श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान् ॥२५॥
इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि ।
केशेषु मेघाञ्छ्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम् ॥२६॥
वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु ।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम् ॥२७॥
स्पर्शे च कामं नृप रेतसोऽम्भः
पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम् ।
छायासु मृत्युं हसिते च मायां
तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥२८॥
नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च ।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥२९॥
सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥३०॥
पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी ।

विश्वरूप भगवान्‌के चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथ्वी, पिंडलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जाँघोंमें मरुद्गणको देखा ॥ २३ ॥ इसी प्रकार भगवान्‌के वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यस्थानोंमें प्रजापतिगण, जघनस्थलमें अपने सहित समस्त असुरगण, नाभिमें आकाश, कोखमें सातों समुद्र और वक्षःस्थलमें नक्षत्रसमूह देखे ॥ २४ ॥ उन लोगोंको भगवान्‌के हृदयमें धर्म, स्तनोंमें ऋत (मधुर) और सत्य वचन, मनमें चन्द्रमा, वक्षःस्थलपर हाथोंमें कमल लिये लक्ष्मीजी, कण्ठमें सामवेद और सम्पूर्ण शब्दसमूह उन्हें दीखे ॥ २५ ॥ बाहुओंमें इन्द्रादि समस्त देवगण, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, केशोंमें मेघमाला, नासिकामें वायु, नेत्रोंमें सूर्य और मुखमें अग्नि दिखायी पड़े ॥२६॥ वाणीमें वेद, रसनामें वरुण, भौंहोंमें विधि और निषेध, पलकोंमें दिन और रात। विश्वरूपके ललाटमें क्रोध और नीचेके ओठमें लोभके दर्शन हुए ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! उनके स्पर्शमें काम, वीर्यमें जल, पीठमें अधर्म, पद-विन्यासमें यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया और शरीरके रोमोंमें सब प्रकारकी ओषधियाँ थीं ॥ २८ ॥ उनकी नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ और बुद्धिमें ब्रह्मा, देवता एवं ऋषिगण दीख पड़े। इस प्रकार वीरवर बलिने भगवान्‌की इन्द्रियों और शरीरमें सभी चराचर प्राणियोंका दर्शन किया ॥ २९ ॥

परीक्षित् ! सर्वात्मा भगवान्‌में यह सम्पूर्ण जगत् देखकर सब-के-सब दैत्य अत्यन्त भयभीत हो गये। इसी समय भगवान्‌के पास असह्य तेजवाला सुदर्शन चक्र, गरजते हुए मेघके समान भयंकर टंकार करनेवाला शार्ङ्गधनुष, बादलकी तरह गम्भीर शब्द करनेवाला पाञ्चजन्य शङ्ख, विष्णुभगवान्‌की अत्यन्त वेगवती कौमोदकी गदा, सौ चन्द्राकार चिह्नोंवाली ढाल और विद्याधर नामकी तलवार,

१. प्रा० पा०— चर्षि० । २. प्रा० पा०—नद्यश्च ।

विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च ॥३१॥
सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः ।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डल-
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥३२॥
मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतो
रराज[1] राजन्भगवानुरुक्रमः ।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥३३॥
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥३४॥

अक्षय बाणोंसे भरे दो तरकस तथा लोकपालोंके सहित भगवान्‌के सुनन्द आदि पार्षदगण सेवा करनेके लिये उपस्थित हो गये। उस समय भगवान्‌की बड़ी शोभा हुई। मस्तकपर मुकुट, बाहुओंमें बाजूबंद, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स-चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि, कमरमें मेखला और कंधेपर पीताम्बर शोभायमान हो रहा था ॥३०–३२॥ वे पाँच प्रकारके पुष्पोंकी बनी वनमाला धारण किये हुए थे, जिसपर मधुलोभी भौंरे गुंजार कर रहे थे। उन्होंने अपने एक पगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं; दूसरे पगसे उन्होंने स्वर्गको भी नाप लिया। तीसरा पैर रखनेके लिये बलिकी तनिक-सी भी कोई वस्तु न बची। भगवान्‌का वह दूसरा पग ही ऊपरकी ओर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें पहुँच गया ॥३३-३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे
विश्वरूपदर्शनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

बलिका बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः ॥ १ ॥
वेदोपवेदा नियमान्विता यमा-
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपित-
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः[2] ।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् ॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌का चरणकमल सत्यलोकमें पहुँच गया। उसके नखचन्द्र-की छटासे सत्यलोककी आभा फीकी पड़ गयी। स्वयं ब्रह्मा भी उसके प्रकाशमें डूब-से गये। उन्होंने मरीचि आदि ऋषियों, सनन्दन आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों एवं बड़े-बड़े योगियोंके साथ भगवान्‌के चरणकमलकी अगवानी की ॥ १ ॥ वेद, उपवेद, नियम, यम, तर्क, इतिहास, वेदाङ्ग और पुराण-संहिताएँ—जो ब्रह्मलोकमें मूर्तिमान् होकर निवास करते हैं—तथा जिन लोगोंने योगरूप वायुसे ज्ञानाग्निको प्रज्वलित करके कर्ममलको भस्म कर डाला है, वे महात्मा, सबने भगवान्‌के चरणकी वन्दना की। इसी चरणकमलके स्मरणकी महिमासे ये सब कर्मके द्वारा प्राप्त न होनेयोग्य ब्रह्माजीके धाममें पहुँचे हैं॥२॥

१. प्रा० पा०—महापुरुषविश्वरूपं । २. प्रा० पा०—निर्जितकर्मकिल्बिषाः ।

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-
रुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसंभवः स्वयम् ॥ ३ ॥
धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः ।
सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥ ५ ॥
तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः ॥ ६ ॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ७ ॥
जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः ।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥ ८ ॥

भगवान् ब्रह्माकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। वे विष्णुभगवान्के नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं। अगवानी करनेके बाद उन्होंने स्वयं विश्वरूप भगवान्के ऊपर उठे हुए चरणका अर्घ्य-पाद्यसे पूजन किया, प्रक्षालन किया। पूजा करके बड़े प्रेम और भक्तिसे उन्होंने भगवान्की स्तुति की ॥३॥ परीक्षित्! ब्रह्माके कमण्डलुका वही जल विश्वरूप भगवान्के पाँव पखारनेसे पवित्र होनेके कारण उन गङ्गाजीके रूपमें परिणत हो गया, जो आकाश-मार्गसे पृथ्वीपर गिरकर तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। ये गङ्गाजी क्या हैं, भगवान्की मूर्तिमान् उज्ज्वल कीर्ति ॥४॥ जब भगवान्ने अपने स्वरूपको कुछ छोटा कर लिया, अपनी विभूतियोंको कुछ समेट लिया, तब ब्रह्मा आदि लोकपालोंने अपने अनुचरोंके साथ बड़े आदरभावसे अपने स्वामी भगवान्को अनेकों प्रकारकी भेंटें समर्पित कीं ॥ ५ ॥ उन लोगोंने जल, उपहार, माला, दिव्य गन्धोंसे भरे अङ्गराग, सुगन्धित धूप, दीप, खील, अक्षत, फल, अङ्कुर, भगवान्की महिमा और प्रभावसे युक्त स्तोत्र, जयघोष, नृत्य, बाजे-गाजे, गान एवं शङ्ख और दुन्दुभिके शब्दोंसे भगवान्की आराधना की ॥ ६-७ ॥ उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् मनके समान वेगसे दौड़कर सब दिशाओंमें भेरी बजा-बजाकर भगवान्की मङ्गलमय विजय-की घोषणा कर आये ॥ ८ ॥

महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया ।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥ ९ ॥
न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति ॥१०॥
अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥११॥

दैत्योंने देखा कि वामनजीने तीन पग पृथ्वी माँगनेके बहाने सारी पृथ्वी ही छीन ली। तब वे सोचने लगे कि हमारे स्वामी बलि इस समय यज्ञमें दीक्षित हैं, वे तो कुछ कहेंगे नहीं। इसलिये बहुत चिढ़कर वे आपसमें कहने लगे ॥ ९ ॥ 'अरे, यह ब्राह्मण नहीं है। यह सबसे बड़ा मायावी विष्णु है। ब्राह्मणके रूपमें छिपकर यह देवताओंका काम बनाना चाहता है ॥ १० ॥ जब हमारे स्वामी यज्ञमें दीक्षित होकर किसीको किसी प्रकार-का दण्ड देनेके लिये उपरत हो गये हैं, तब इस शत्रुने ब्रह्मचारीका वेष बनाकर पहले तो याचना की और पीछे हमारा सर्वस्व हरण कर लिया ॥ ११ ॥ यों तो हमारे

१. प्राचीन प्रतिमें इस श्लोकका पाठ इस प्रकार है—स्तवनैर्जयशब्दैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः । नृत्यवादित्रगीतैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः ॥ इसमेंसे उत्तरार्धका अंश मूलमें नहीं टिप्पणीमें है । २. प्रा० पा०—क्षाधिपतिर्मे०।

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः ।
नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ॥१२॥
तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः ।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः ॥१३॥
ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः ।
अनिच्छतो बले[1] राजन् प्राद्रवञ्जातमन्यवः ॥१४॥
तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप ।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः ॥१५॥
नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्त्रिराट् ॥१६॥
जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः ।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम् ॥१७॥
हन्यमानान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः ।
वारयामास संरब्धान् काव्यशापमनुस्मरन् ॥१८॥
हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः ।
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत्॥१९॥
यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये ।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥२०॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम् ।
स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥२१॥
बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः ।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥२२॥

1. प्रा० पा०—बले राज्ञः ।

स्वामी सदा ही सत्यनिष्ठ हैं, परंतु यज्ञमें दीक्षित होनेपर वे इस बातका विशेष ध्यान रखते हैं । वे ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं तथा उनके हृदयमें दया भी बहुत है । इसलिये वे कभी झूठ नहीं बोल सकते ॥ १२ ॥ ऐसी अवस्थामें हमलोगोंका यही धर्म है कि इस शत्रुको मार डालें । इससे हमारे स्वामी बलिकी सेवा भी होती है ।' यों सोचकर राजा बलिके अनुचर असुरोंने अपने-अपने हथियार उठा लिये ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! राजा बलिकी इच्छा न होनेपर भी वे सब बड़े क्रोधसे शूल, पट्टिश आदि ले-लेकर वामनभगवान्‌को मारनेके लिये टूट पड़े ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! जब विष्णुभगवान्‌के पार्षदोंने देखा कि दैत्योंके सेनापति आक्रमण करनेके लिये दौड़े आ रहे हैं, तब उन्होंने हँसकर अपने-अपने शस्त्र उठा लिये और उन्हें रोक दिया ॥ १५ ॥ नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत—ये सभी भगवान्‌के पार्षद दस-दस हजार हाथियोंका बल रखते हैं । वे असुरोंकी सेनाका संहार करने लगे ॥१६-१७॥ जब राजा बलिने देखा कि भगवान्‌के पार्षद मेरे सैनिकोंको मार रहे हैं और वे भी क्रोधमें भरकर उनसे लड़नेके लिये तैयार हो रहे हैं, तो उन्होंने शुक्राचार्यके शापका स्मरण करके उन्हें युद्ध करनेसे रोक दिया ॥ १८ ॥ उन्होंने विप्रचित्ति, राहु, नेमि आदि दैत्योंको सम्बोधित करके कहा—'भाइयो ! मेरी बात सुनो । लड़ो मत, वापस लौट आओ । यह समय हमारे कार्यके अनुकूल नहीं है ॥ १९ ॥ दैत्यो ! जो काल समस्त प्राणियोंको सुख और दुःख देनेकी सामर्थ्य रखता है—उसे यदि कोई पुरुष चाहे कि मैं अपने प्रयत्नोंसे दबा दूँ, तो यह उसकी शक्तिसे बाहर है ॥ २० ॥ जो पहले हमारी उन्नति और देवताओंकी अवनतिके कारण हुए थे, वही कालभगवान् अब उनकी उन्नति और हमारी अवनतिके कारण हो रहे हैं ॥ २१ ॥ बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, ओषधि और सामादि उपाय—इनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा अथवा सबके द्वारा मनुष्य कालपर विजय नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २२ ॥ जब दैव तुमलोगोंके

भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः ।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥२३॥
एतान् वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति ।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते ॥२४॥

श्रीशुक उवाच

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः ।
रसां निर्विविशू राजन् विष्णुपार्षदताडिताः ॥२५॥
अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम् ।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥२६॥
हाहाकारो महानासीद् रोदस्योः सर्वतो दिशम् ।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना ॥२७॥
तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः ।
नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप ॥२८॥
पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर ।
द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥२९॥
यावद् तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः ।
यावद् वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव ॥३०॥
पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः ।
स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना ॥३१॥
प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते ।
विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः ॥३२॥
वृथा मनोरथस्तस्य दूरे स्वर्गः पतत्यधः ।
प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते ॥३३॥[1]

अनुकूल था, तब तुमलोगोंने भगवान्‌के इन पार्षदोंको कई बार जीत लिया था। पर देखो, आज वे ही युद्धमें हमपर विजय प्राप्त करके सिंहनाद कर रहे हैं ॥ २३ ॥ यदि दैव हमारे अनुकूल हो जायगा, तो हम भी इन्हें जीत लेंगे। इसलिये उस समयकी प्रतीक्षा करो, जो हमारी कार्यसिद्धिके लिये अनुकूल हो ॥ २४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने स्वामी बलिकी बात सुनकर भगवान्‌के पार्षदोंसे हारे हुए दानव और दैत्यसेनापति रसातलमें चले गये ॥ २५ ॥ उनके जानेके बाद भगवान्‌के हृदयकी बात जानकर पक्षिराज गरुडने वरुणके पाशोंसे बलिको बाँध दिया। उस दिन उनके अश्वमेध यज्ञमें सोमपान होनेवाला था ॥ २६ ॥ जब सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने बलिको इस प्रकार बँधवा दिया, तब पृथ्वी, आकाश और समस्त दिशाओंमें लोग 'हाय-हाय!' करने लगे ॥ २७ ॥ यद्यपि बलि वरुणके पाशोंसे बँधे हुए थे, उनकी सम्पत्ति भी उनके हाथोंसे निकल गयी थी—फिर भी उनकी बुद्धि निश्चयात्मक थी और सब लोग उनके उदार यशका गान कर रहे थे। परीक्षित्! उस समय भगवान्‌ने बलिसे कहा ॥ २८ ॥ 'असुर! तुमने मुझे पृथ्वीके तीन पग दिये थे; दो पगमें तो मैंने सारी त्रिलोकी नाप ली, अब तीसरा पग पूरा करो ॥ २९ ॥ जहाँतक सूर्यकी गरमी पहुँचती है, जहाँतक नक्षत्रों और चन्द्रमाकी किरणें पहुँचती हैं और जहाँतक बादल जाकर बरसते हैं—वहाँतककी सारी पृथ्वी तुम्हारे अधिकारमें थी ॥ ३० ॥ तुम्हारे देखते-ही-देखते मैंने अपने एक पैरसे भूर्लोक, शरीरसे आकाश और दिशाएँ एवं दूसरे पैरसे स्वर्लोक नाप लिया है। इस प्रकार तुम्हारा सब कुछ मेरा हो चुका है ॥ ३१ ॥ फिर भी तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूरा न कर सकनेके कारण अब तुम्हें नरकमें रहना पड़ेगा। तुम्हारे गुरुकी तो इस विषयमें सम्मति है ही; अब जाओ, तुम नरकमें प्रवेश करो ॥ ३२ ॥ जो याचकको देनेकी प्रतिज्ञा करके मुकर जाता है और इस प्रकार उसे धोखा देता है, उसके सारे मनोरथ व्यर्थ होते हैं। स्वर्गकी बात तो दूर रही, उसे नरकमें गिरना पड़ता

१. प्राचीन प्रतिमें इस उत्तरार्धके स्थानमें ऐसा पाठ है—'यो विप्राय प्रतिश्रुत्य न तदर्पयतेऽर्थितम् ।'

विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना।
तद् व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिनिग्रहो नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

बलिके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और भगवान्‌का उसपर प्रसन्न होना

श्रीशुक उवाच

एवं विप्रकृतो राजन् बलिर्भगवतासुरः।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः॥ १॥

बलिरुवाच

यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्॥ २॥

बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो
न पाशबन्धाद् व्यसनाद् दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा॥ ३॥

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि॥ ४॥

त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्॥ ५॥

यस्मिन् वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः॥ ६॥

है॥ ३३॥ तुम्हें इस बातका बड़ा घमंड था कि मैं बड़ा धनी हूँ। तुमने मुझसे 'दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर धोखा दे दिया। अब तुम कुछ वर्षोंतक इस झूठका फल नरक भोगो'॥ ३४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार भगवान्‌ने असुरराज बलिका बड़ा तिरस्कार किया और उन्हें धैर्यसे विचलित करना चाहा। परंतु वे तनिक भी विचलित न हुए, बड़े धैर्यसे बोले॥ १॥

दैत्यराज बलिने कहा—देवताओंके आराध्यदेव! आपकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। क्या आप मेरी बातको असत्य समझते हैं? ऐसा नहीं है। मैं उसे सत्य कर दिखाता हूँ, आप धोखेमें नहीं पड़ेंगे। आप कृपा करके अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिये॥ २॥ मुझे नरकमें जानेका अथवा राज्यसे च्युत होनेका भय नहीं है। मैं पाशमें बँधने अथवा अपार दुःखमें पड़नेसे भी नहीं डरता। मेरे पास फूटी कौड़ी भी न रहे अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें—यह भी मेरे भयका कारण नहीं है। मैं डरता हूँ तो केवल अपनी अपकीर्तिसे!॥ ३॥ अपने पूजनीय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिये अत्यन्त वाञ्छनीय है; क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद् भी मोहवश नहीं दे पाते॥ ४॥ आप छिपे रूपसे अवश्य ही हम असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हमलोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं॥ ५॥ आपसे हमलोगोंका जो उपकार होता है, उसे मैं क्या बताऊँ? अनन्य भावसे योग करनेवाले योगीगण जो सिद्धि प्राप्त करते हैं, वही सिद्धि बहुत-से असुरोंको आपके साथ दृढ़ वैरभाव

तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा ।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥ ७ ॥
पितामहो मे भवदीयसंमतः
प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
संप्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥
किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥
इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
नगाधबोधो भवतः पादपद्मम् ।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्
भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तम ॥ १० ॥
अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः ।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं
ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥ १२ ॥
तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
विराजमानं नलिनायतेक्षणम् ।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत ॥ १३ ॥
तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
समर्हणं नोपजहार पूर्ववत् ।

करनेसे ही प्राप्त हो गयी है ॥ ६ ॥ जिनकी ऐसी महिमा, ऐसी अनन्त लीलाएँ हैं, वही आप मुझे दण्ड दे रहे हैं और वरुणपाशसे बाँध रहे हैं। इसकी न तो मुझे कोई लज्जा है और न किसी प्रकारकी व्यथा ही ॥ ७ ॥ प्रभो! मेरे पितामह प्रह्लादजीकी कीर्ति सारे जगत्‌में प्रसिद्ध है। वे आपके भक्तोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। उनके पिता हिरण्यकशिपुने आपसे वैर-विरोध रखनेके कारण उन्हें अनेकों प्रकारके दुःख दिये। परंतु वे आपके ही परायण रहे, उन्होंने अपना जीवन आपपर ही निछावर कर दिया ॥ ८ ॥ उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि शरीरको लेकर क्या करना है, जब यह एक-न-एक दिन साथ छोड़ ही देता है। जो धन-सम्पत्ति लेनेके लिये स्वजन बने हुए हैं, उन डाकुओंसे अपना स्वार्थ ही क्या है? पत्नीसे भी क्या लाभ है, जब वह जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें डालनेवाली ही है। जब मर ही जाना है, तब घरसे मोह करनेमें भी क्या स्वार्थ है? इन सब वस्तुओंमें उलझ जाना तो केवल अपनी आयु खो देना है ॥ ९ ॥ ऐसा निश्चय करके मेरे पितामह प्रह्लादजीने, यह जानते हुए भी कि आप लौकिक दृष्टिसे उनके भाई-बन्धुओंके नाश करनेवाले शत्रु हैं, आपके ही भयरहित एवं अविनाशी चरणकमलोंकी शरण ग्रहण की थी। क्यों न हो—वे संसारसे परम विरक्त, अगाध बोधसम्पन्न, उदारहृदय एवं संतशिरोमणि जो हैं ॥ १० ॥ आप उस दृष्टिसे मेरे भी शत्रु हैं, फिर भी विधाताने मुझे बलात् ऐश्वर्य-लक्ष्मीसे अलग करके आपके पास पहुँचा दिया है। अच्छा ही हुआ; क्योंकि ऐश्वर्य-लक्ष्मीके कारण जीवकी बुद्धि जड हो जाती है और वह यह नहीं समझ पाता कि 'मेरा यह जीवन मृत्युके पंजेमें पड़ा हुआ और अनित्य है' ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि उदय होते हुए चन्द्रमाके समान भगवान्‌के प्रेमपात्र प्रह्लादजी वहाँ आ पहुँचे ॥ १२ ॥ राजा बलिने देखा कि मेरे पितामह बड़े श्रीसम्पन्न हैं। कमलके समान कोमल नेत्र हैं, लंबी-लंबी भुजाएँ हैं, सुन्दर ऊँचे और श्यामल शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए हैं ॥ १३ ॥ बलि इस समय वरुणपाशमें बँधे हुए थे। इसलिये प्रह्लादजीके आनेपर जैसे पहले वे उनकी पूजा किया करते थे, उस प्रकार

1. प्रा० पा०—विव्यथे। 2. प्रा० पा०—अचाह०।

ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः

सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह ॥१४॥

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं

सुनन्दनन्दाद्यनुगैरुपासितम् ।

उपेत्य भूमौ शिरसा महामना

ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः ॥१५॥

प्रह्लाद उवाच

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं

हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम् ।

मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो

विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ॥१६॥

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-

स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा ।

तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै

नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

तस्यानुशृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः ।

हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम् ॥१८॥

बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला ।

प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ॥१९॥

विन्ध्यावलिरुवाच

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते

स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।

कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति

त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय ।

न कर सके । उनके नेत्र आँसुओंसे चञ्चल हो उठे, लज्जाके मारे मुँह नीचा हो गया । उन्होंने केवल सिर झुकाकर उन्हें नमस्कार किया ॥ १४ ॥ प्रह्लादजीने देखा कि भक्तवत्सल भगवान् वहीं विराजमान हैं और सुनन्द, नन्द आदि पार्षद उनकी सेवा कर रहे हैं । प्रेमके उद्रेकसे प्रह्लादजीका शरीर पुलकित हो गया, उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये । वे आनन्दपूर्ण हृदयसे सिर झुकाये अपने स्वामीके पास गये और पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ १५ ॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो ! आपने ही बलिको यह ऐश्वर्यपूर्ण इन्द्रपद दिया था, अब आज आपने ही उसे छीन लिया । आपका देना जैसा सुन्दर है, वैसा ही सुन्दर लेना भी ! मैं समझता हूँ कि आपने इसपर बड़ी भारी कृपा की है, जो आत्माको मोहित करनेवाली राज्यलक्ष्मीसे इसे अलग कर दिया ॥ १६ ॥ प्रभो ! लक्ष्मीके मदसे तो विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । उसके रहते भला, अपने वास्तविक स्वरूपको ठीक-ठीक कौन जान सकता है ? अतः उस लक्ष्मीको छीनकर महान् उपकार करनेवाले, समस्त जगत्के महान् ईश्वर, सबके हृदयमें विराजमान और सबके परम साक्षी श्रीनारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! प्रह्लादजी अञ्जलि बाँधकर खड़े थे । उनके सामने ही भगवान् ब्रह्माजीने वामन भगवान्से कुछ कहना चाहा ॥ १८ ॥ परंतु इतनेमें ही राजा बलिकी परम साध्वी पत्नी विन्ध्यावलीने अपने पतिको बँधा देखकर भयभीत हो भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़, मुँह नीचा कर वह भगवान्से बोली ॥ १९ ॥

विन्ध्यावलीने कहा—प्रभो ! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्की रचना की है । जो लोग कुबुद्धि हैं, वे ही अपनेको इसका स्वामी मानते हैं । जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं, तब आपकी मायासे मोहित होकर अपनेको झूठमूठ कर्ता माननेवाले निर्लज्ज आपको समर्पण क्या करेंगे ? ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—समस्त प्राणियोंके जीवनदाता उनके स्वामी और जगत्स्वरूप देवाधिदेव प्रभो ! अब आप

१. प्रा० पा०—डनिर्वातमु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'तस्यानु…' यह श्लोक मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।

मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥२१॥
कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये ।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया ॥२२॥
यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥२३॥
श्रीभगवानुवाच
ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥२४॥
यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन् निजकर्मभिः ।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥२५॥
जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥२६॥
मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः ।
सर्वश्रेयः प्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥२७॥
एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः ।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥२८॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः[1] ।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥२९॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः ।

इसे छोड़ दीजिये । आपने इसका सर्वस्व ले लिया है, अतः अब यह दण्डका पात्र नहीं है ॥ २१ ॥ इसने अपनी सारी भूमि और पुण्यकर्मोंसे उपार्जित स्वर्ग आदि लोक, अपना सर्वस्व तथा आत्मातक आपको समर्पित कर दिया है एवं ऐसा करते समय इसकी बुद्धि स्थिर रही है, यह धैर्यसे च्युत नहीं हुआ है ॥ २२ ॥ प्रभो ! जो मनुष्य सच्चे हृदयसे कृपणता छोड़कर आपके चरणोंमें जलका अर्घ्य देता है और केवल दूर्वादलसे भी आपकी सच्ची पूजा करता है, उसे भी उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है । फिर बलिने तो बड़ी प्रसन्नतासे धैर्य और स्थिरतापूर्वक आपको त्रिलोकीका दान कर दिया है । तब यह दुःखका भागी कैसे हो सकता है ? ॥ २३ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ब्रह्माजी ! मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन छीन लिया करता हूँ; क्योंकि जब मनुष्य धनके मदसे मतवाला हो जाता है, तब मेरा और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है ॥ २४ ॥ यह जीव अपने कर्मोंके कारण विवश होकर अनेक योनियोंमें भटकता रहता है; जब कभी मेरी बड़ी कृपासे मनुष्यका शरीर प्राप्त करता है ॥ २५ ॥ मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर यदि कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदिके कारण घमंड न हो जाय तो समझना चाहिये कि मेरी बड़ी ही कृपा है ॥ २६ ॥ कुलीनता आदि बहुत-से ऐसे कारण हैं, जो अभिमान और जड़ता आदि उत्पन्न करके मनुष्यको कल्याणके समस्त साधनों-से वञ्चित कर देते हैं; परंतु जो मेरे शरणागत होते हैं, वे इनसे मोहित नहीं होते ॥ २७ ॥ यह बलि दानव और दैत्य दोनों ही वंशोंमें अग्रगण्य और उनकी कीर्ति बढ़ानेवाला है । इसने उस मायापर विजय प्राप्त कर ली है, जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है । तुम देख ही रहे हो, इतना दुःख भोगनेपर भी यह मोहित नहीं हुआ ॥२८॥ इसका धन छीन लिया, राजपदसे अलग कर दिया, तरह-तरहके आक्षेप किये, शत्रुओंने बाँध लिया, भाई-बन्धु छोड़कर चले गये, इतनी यातनाएँ भोगनी पड़ीं—यहाँतक कि गुरुदेवने भी इसको डाँटा-फटकारा और शापतक दे दिया । परंतु इस दृढव्रतीने अपनी

१. प्रा० पा०—क्षीणो विध्वंसितः स्था० ।

छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥३०॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि ।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥३१॥
तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
यन्नाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः ।
नोपसर्गा निवसतां संभवन्ति ममेक्षया ॥३२॥
इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते ।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥३३॥
न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ।
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥३४॥
रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥३५॥
तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात् ते भाव आसुरः ।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥३६॥

प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी । मैंने इससे छलभरी बातें कीं, मनमें छल रखकर धर्मका उपदेश किया; परंतु इस सत्यवादीने अपना धर्म न छोड़ा ॥ २९-३० ॥ अतः मैंने इसे वह स्थान दिया है; जो बड़े-बड़े देवताओंको भी बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है । सावर्णि मन्वन्तरमें यह मेरा परम भक्त इन्द्र होगा ॥ ३१ ॥ तबतक यह विश्वकर्माके बनाये हुए सुतल लोकमें रहे । वहाँ रहनेवाले लोग मेरी कृपादृष्टिका अनुभव करते हैं । इसलिये उन्हें शारीरिक अथवा मानसिक रोग, थकावट, तन्द्रा, बाहरी या भीतरी शत्रुओंसे पराजय और किसी प्रकारके विघ्नोंका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३२ ॥ [बलिको सम्बोधित कर] महाराज इन्द्रसेन ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ उस सुतल लोकमें जाओ, जिसे स्वर्गके देवता भी चाहते रहते हैं ॥ ३३ ॥ बड़े-बड़े लोकपाल भी अब तुम्हें पराजित नहीं कर सकेंगे, दूसरोंकी तो बात ही क्या है । जो दैत्य तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन करेंगे, मेरा चक्र उनके टुकड़े-टुकड़े कर देगा ॥ ३४ ॥ मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरोंकी और भोगसामग्रीकी भी सब प्रकारके विघ्नोंसे रक्षा करूँगा । वीर बलि ! तुम मुझे वहाँ सदा-सर्वदा अपने पास ही देखोगे ॥ ३५ ॥ दानव और दैत्योंके संसर्गसे तुम्हारा जो कुछ आसुरभाव होगा, वह मेरे प्रभावसे तुरंत दब जायगा और नष्ट हो जायगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

बलिका बन्धनसे छूटकर सुतल लोकको जाना

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसंमतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युत्कलो गद्गदया गिराब्रवीत् ॥ १ ॥

बलिरुवाच

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब सनातन पुरुष भगवान्‌ने इस प्रकार कहा, तो साधुओंके आदरणीय महानुभाव दैत्यराजके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । प्रेमके उद्रेकसे, उनका गला भर आया । वे हाथ जोड़कर गद्गद वाणीसे भगवान्‌से कहने लगे ॥ १ ॥

बलिने कहा—प्रभो ! मैंने तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करनेमात्रकी चेष्टाभर की । उसीसे मुझे वह फल मिला, जो आपके चरणोंके शरणागत

१. प्रा० पा०—ममाश्रयः । २. प्रा० पा०—यत्राधयो ।

यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः ॥ ३ ॥
एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम्।
पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत् ॥ ४ ॥
लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम्।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो
विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥
यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः।
कस्माद् वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः ॥ ७ ॥
चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशोऽविषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम्।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह ॥ ९ ॥
नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।

भक्तोंको प्राप्त होता है। बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओंपर आपने जो कृपा कभी नहीं की, वह मुझ-जैसे नीच असुरको सहज ही प्राप्त हो गयी ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यों कहते ही बलि वरुणके पाशोंसे मुक्त हो गये। तब उन्होंने भगवान्, ब्रह्माजी और शंकरजीको प्रणाम किया और इसके बाद बड़ी प्रसन्नतासे असुरोंके साथ सुतल लोककी यात्रा की ॥ ३ ॥ इस प्रकार भगवान्‌ने बलिसे स्वर्गका राज्य लेकर इन्द्रको दे दिया, अदितिकी कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर वे सारे जगत्‌का शासन करने लगे ॥ ४ ॥ जब प्रह्लादने देखा कि मेरे वंशधर पौत्र राजा बलि बन्धनसे छूट गये और उन्हें भगवान्‌का कृपा-प्रसाद प्राप्त हो गया, तो वे भक्ति-भावसे भर गये। उस समय उन्होंने भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की ॥ ५ ॥

प्रह्लादजीने कहा—प्रभो! यह कृपाप्रसाद तो कभी ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी और शंकरजीको भी नहीं प्राप्त हुआ, तब दूसरोंकी बात ही क्या है। अहो! विश्ववन्द्य ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणोंकी वन्दना करते रहते हैं, वही आप हम असुरोंके दुर्गपाल—किलेदार हो गये ॥ ६ ॥ शरणागतवत्सल प्रभो! ब्रह्मा आदि लोकपाल आपके चरणकमलोंका मकरन्द-रस सेवन करनेके कारण सृष्टि-रचनाकी शक्ति आदि अनेक विभूतियाँ प्राप्त करते हैं। हमलोग तो जन्मसे ही खल और कुमार्गगामी हैं, हमपर आपकी ऐसी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि कैसे हो गयी, जो आप हमारे द्वारपाल ही बन गये ॥ ७ ॥ आपने अपनी योगमायासे खेल-ही-खेलमें त्रिभुवनकी रचना कर दी। आप सर्वज्ञ, सर्वात्मा और समदर्शी हैं। फिर भी आपकी लीलाएँ बड़ी विलक्षण जान पड़ती हैं। आपका स्वभाव कल्पवृक्षके समान है; क्योंकि आप अपने भक्तोंसे अत्यन्त प्रेम करते हैं। इसीसे कभी-कभी उपासकोंके प्रति पक्षपात और विमुखोंके प्रति निर्दयता भी आपमें देखी जाती है ॥ ८ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—बेटा प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतल लोकमें जाओ। वहाँ अपने पौत्र बलिके साथ आनन्दपूर्वक रहो और जाति-बन्धुओं-को सुखी करो ॥ ९ ॥ वहाँ तुम मुझे नित्य ही ग

मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

आज्ञां भगवतो राजन्प्रह्लादो बलिना सह ।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः ॥११॥
परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः ।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम् ॥१२॥
अथाहोशनसं राजन् हरिर्नारायणोऽन्तिके ।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥१३॥
ब्रह्मन् संतनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः ।
यत् तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥१४॥

शुक्र उवाच

कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान् ।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥१५॥
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥१६॥
तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्यनुशासनम् ।
एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत् तवाज्ञानुपालनम् ॥१७॥

शुक उवाच

अभिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति ।
यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥१८॥
एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः ।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर्हृतम् ॥१९॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः ।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥२०॥
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च ।
लोकानां लोकपालानामकरोद् वामनं पतिम् ॥२१॥

हाथमें लिये खड़ा देखोगे। मेरे दर्शनके परमानन्दमें मग्न रहनेके कारण तुम्हारे सारे कर्मबन्धन नष्ट हो जायँगे ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समस्त दैत्य-सेनाके स्वामी विशुद्धबुद्धि प्रह्लादजीने 'जो आज्ञा' कहकर हाथ जोड़ भगवान्‌का आदेश मस्तकपर चढ़ाया। फिर उन्होंने बलिके साथ आदिपुरुष भगवान्‌की परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया और उनसे अनुमति लेकर सुतल लोककी यात्रा की ॥ ११-१२ ॥ परीक्षित्! उस समय भगवान् श्रीहरिने ब्रह्मवादी ऋत्विजोंकी सभामें अपने पास ही बैठे हुए शुक्राचार्यजीसे कहा ॥ १३ ॥ 'ब्रह्मन्! आपका शिष्य यज्ञ कर रहा था। उसमें जो त्रुटि रह गयी है, उसे आप पूर्ण कर दीजिये; क्योंकि कर्म करनेमें जो कुछ भूल-चूक हो जाती है, वह ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टिसे सुधर जाती है ॥ १४ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—भगवन्! जिसने अपना समस्त कर्म समर्पित करके सब प्रकारसे यज्ञेश्वर यज्ञपुरुष आपकी पूजा की है—उसके कर्ममें कोई त्रुटि, कोई विषमता कैसे रह सकती है? ॥ १५ ॥ क्योंकि मन्त्रोंकी, अनुष्ठान-पद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नामसंकीर्तनमात्रसे सुधर जाती हैं; आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है ॥ १६ ॥ तथापि अनन्त! जब आप स्वयं कह रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञाका अवश्य पालन करूँगा। मनुष्यके लिये सबसे बड़ा कल्याणका साधन यही है कि वह आपकी आज्ञाका पालन करे ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् शुक्राचार्यने भगवान् श्रीहरिकी यह आज्ञा स्वीकार करके दूसरे ब्रह्मर्षियोंके साथ, बलिके यज्ञमें जो कमी रह गयी थी, उसे पूर्ण किया ॥ १८ ॥ परीक्षित्! इस प्रकार वामन-भगवान्‌ने बलिसे पृथ्वीकी भिक्षा माँगकर अपने बड़े भाई इन्द्रको स्वर्गका राज्य दिया, जिसे उनके शत्रुओंने छीन लिया था ॥ १९ ॥ इसके बाद प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माजीने देवर्षि, पितर, मनु, दक्ष, भृगु, अङ्गिरा, सनत्कुमार और शंकरजीके साथ कश्यप एवं अदितिकी प्रसन्नताके लिये तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अभ्युदयके लिये समस्त लोक और लोकपालोंके स्वामीके पदपर वामन-भगवान्‌का अभिषेक कर दिया ॥ २०-२१ ॥

१. प्रा० पा०—प्रति०।

वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः ।
मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥२२॥
उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये ।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप ॥२३॥
ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम् ।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥२४॥
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः ।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥२५॥
ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप ।
पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये ॥२६॥
सुमहत् कर्म तद् विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम् ।
धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं च शशंसिरे ॥२७॥
सर्वमेतन्मयाऽऽख्यातं भवतः कुलनन्दन ।
उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम् ॥२८॥
पारं महिम्न उरु विक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः ।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ॥२९॥
य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारानुचरितं[1] शृण्वन् याति परां गतिम् ॥३०॥
क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे ।
यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः ॥३१॥

परीक्षित् ! वेद, समस्त देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल, व्रत, स्वर्ग और अपवर्ग—सबके रक्षकके रूपमें सबके परम कल्याणके लिये सर्वशक्तिमान् वामनभगवान्‌को उन्होंने उपेन्द्रका पद दिया। उस समय सभी प्राणियोंको अत्यन्त आनन्द हुआ ॥२२-२३॥ इसके बाद ब्रह्माजीकी अनुमतिसे लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्रने वामनभगवान्‌को सबसे आगे विमानपर बैठाया और अपने साथ स्वर्ग लिवा ले गये ॥ २४ ॥ इन्द्रको एक तो त्रिभुवनका राज्य मिल गया और दूसरे, वामनभगवान्‌के करकमलोंकी छत्रछाया ! सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्यलक्ष्मी उनकी सेवा करने लगी और वे निर्भय होकर आनन्दोत्सव मनाने लगे ॥ २५ ॥ ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनि, पितर, सारे भूत, सिद्ध और विमानारोही देवगण भगवान्‌के इस परम अद्भुत एवं अत्यन्त महान् कर्मका गान करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये और सबने अदितिकी भी बड़ी प्रशंसा की ॥ २६-२७ ॥

परीक्षित् ! तुम्हें मैंने भगवान्‌की यह सब लीला सुनायी। इससे सुननेवालोंके सारे पाप छूट जाते हैं ॥ २८ ॥ भगवान्‌की लीलाएँ अनन्त हैं; उनकी महिमा अपार है। जो मनुष्य उसका पार पाना चाहता है, वह मानो पृथ्वीके परमाणुओंको गिन डालना चाहता है। भगवान्‌के सम्बन्धमें मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठने वेदोंमें कहा है कि 'ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है और न होगा जो भगवान्‌की महिमाका पार पा सके' ॥ २९ ॥ देवताओंके आराध्यदेव अद्भुतलीलाधारी वामनभगवान्‌के अवतार-चरित्रका जो श्रवण करता है, उसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ ३० ॥ देवयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ किसी भी कर्मका अनुष्ठान करते समय जहाँ-जहाँ भगवान्‌की इस लीलाका कीर्तन होता है, वह कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है। यह बड़े-बड़े महात्माओंका अनुभव है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनावतारचरिते त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—नानुचरि०।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान्के मत्स्यावतारकी कथा

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥ १ ॥
यदर्थमदधाद् रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् ।
तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥ २ ॥
एतन्नो भगवन् सर्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ।
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥ ३ ॥

सूत उवाच

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरायणिः ।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत् कृतम् ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥ ५ ॥
उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः ॥ ६ ॥
आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥ ७ ॥
कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली ।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥ ८ ॥
ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् ।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवान्के कर्म बड़े अद्भुत हैं। उन्होंने एक बार अपनी योगमायासे मत्स्यावतार धारण करके बड़ी सुन्दर लीला की थी, मैं उनके उसी आदि-अवतारकी कथा सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ भगवन्! मत्स्ययोनि एक तो यों ही लोकनिन्दित है, दूसरे तमोगुणी और असह्य परतन्त्रतासे युक्त भी है। सर्वशक्तिमान् होनेपर भी भगवान्ने कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवकी तरह यह मत्स्यका रूप क्यों धारण किया? ॥ २ ॥ भगवन्! महात्माओंके कीर्तनीय भगवान्का चरित्र समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है। आप कृपा करके उनकी वह सब लीला हमारे सामने पूर्णरूपसे वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! जब राजा परीक्षित्ने भगवान् श्रीशुकदेवजीसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने विष्णुभगवान्का वह चरित्र, जो उन्होंने मत्स्यावतार धारण करके किया था, वर्णन किया ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! यों तो भगवान् सबके एकमात्र प्रभु हैं; फिर भी वे गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद, धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये शरीर धारण किया करते हैं ॥ ५ ॥ वे सर्वशक्तिमान् प्रभु वायुकी तरह नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे लीला करते रहते हैं। परंतु उन-उन प्राणियोंके बुद्धिगत गुणोंसे वे छोटे-बड़े या ऊँचे-नीचे नहीं हो जाते; क्योंकि वे वास्तवमें समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित—निर्गुण हैं ॥ ६ ॥ परीक्षित्! पिछले कल्पके अन्तमें ब्रह्माजीके सो जानेके कारण ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था। उस समय भूलोक आदि सारे लोक समुद्रमें डूब गये थे ॥ ७ ॥ प्रलय काल आ जानेके कारण ब्रह्माजीको नींद आ रही थी, वे सोना चाहते थे। उसी समय वेद उनके मुखसे निकल पड़े और उनके पास ही रहनेवाले हयग्रीव नामक बली दैत्यने उन्हें योगबलसे चुरा लिया ॥ ८ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने दानवराज हयग्रीवकी यह चेष्टा जान ली। इसलिये उन्होंने मत्स्यावतार ग्रहण किया ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—एतन्मे।

तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान् ।
नारायणपरोऽतप्यत् तपः स सलिलाशनः ॥१०॥
योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः ।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥११॥
एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥१२॥
सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥१३॥
तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम् ।
यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल ।
कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले ॥१४॥
तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम् ।
अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे ॥१५॥
तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः ।
कलशाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्य आश्रमम् ॥१६॥
सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ ।
अलब्ध्वाऽऽत्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम् ॥१७॥
नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे ।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम् ॥१८॥
स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके ।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत ॥१९॥
न म एतदलं राजन् सुखं वस्तुमुदञ्चनम् ।
पृथु देहि पदं मह्यं यत् त्वाहं शरणं गता ॥२०॥
तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे ।

परीक्षित् ! उस समय सत्यव्रत नामके [illegible] उदार एवं भगवत्परायण राजर्षि केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे ॥ १० ॥ वही सत्यव्रत वर्तमान महाकल्पमें विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेवके नामसे विख्यात हुए और उन्हें भगवान्ने वैवस्वत मनु बना दिया ॥११॥ एक दिन वे राजर्षि कृतमाला नदीमें जलसे तर्पण कर रहे थे। उसी समय उनकी अञ्जलिके जलमें एक छोटी-सी मछली आ गयी ॥ १२ ॥ परीक्षित् ! द्रविड़ देशके राजा सत्यव्रतने अपनी अञ्जलिमें आयी हुई मछलीको जलके साथ ही फिरसे नदीमें डाल दिया ॥ १३ ॥ उस मछलीने बड़ी करुणाके साथ परम दयालु राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन् ! आप बड़े दीनदयालु हैं। आप जानते ही हैं कि जलमें रहनेवाले जन्तु अपनी जातिवालोंको भी खा डालते हैं। मैं उनके भयसे अत्यन्त व्याकुल हो रही हूँ। आप मुझे फिर इसी नदीके जलमें क्यों छोड़ रहे हैं ?' ॥ १४ ॥ राजा सत्यव्रतको इस बातका पता नहीं था कि स्वयं भगवान् मुझपर प्रसन्न होकर कृपा करनेके लिये मछलीके रूपमें पधारे हैं। इसलिये उन्होंने उस मछलीकी रक्षाका मन-ही-मन संकल्प किया' ॥ १५ ॥ राजा सत्यव्रतने उस मछलीकी अत्यन्त दीनतासे भरी बात सुनकर बड़ी दयासे उसे अपने पात्रके जलमें रख लिया और अपने आश्रमपर ले आये ॥ १६ ॥ आश्रमपर लानेके बाद एक रातमें ही वह मछली उस कमण्डलुमें इतनी बढ़ गयी कि उसमें उसके लिये स्थान ही न रहा। उस समय मछलीने राजासे कहा—॥१७॥ 'अब तो इस कमण्डलुमें मैं कष्टपूर्वक भी नहीं रह सकती; अतः मेरे लिये कोई बड़ा-सा स्थान नियत कर दें, जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ' ॥ १८ ॥ राजा सत्यव्रतने मछलीको कमण्डलुसे निकालकर एक बहुत बड़े पानीके मटकेमें रख दिया। परंतु वहाँ डालनेपर वह मछली दो ही घड़ीमें तीन हाथ बढ़ गयी ॥ १९ ॥ फिर उसने राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन् ! अब यह मटका भी मेरे लिये पर्याप्त नहीं है। इसमें मैं सुखपूर्वक नहीं रह सकती। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, इसलिये मेरे रहनेयोग्य कोई बड़ा-सा स्थान मुझे दो' ॥ २० ॥ परीक्षित् ! सत्यव्रतने वहाँसे उस मछलीको उठाकर एक सरोवरमें डाल दिया। परंतु वह थोड़ी ही देरमें इतनी बढ़ गयी कि उसने

[illegible]त्यात्मना साऽथ महामीनोऽन्ववर्धत ॥२१॥

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः ।
निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि ॥२२॥

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि ।
जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् ॥२३॥

क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः ।
अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि ॥२४॥

एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम् ।
तमाह को भवानस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥२५॥

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि चँ ।
यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥२६॥

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥२७॥

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर ।
भक्तानां नँः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥२८॥

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।
ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥२९॥

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं
मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-
मदीदृशो यद् वपुरद्भुतं हि नः ॥३०॥

एक महामत्स्यका आकार धारणकर उस सरोवरके जलको घेर लिया ॥ २१ ॥ और कहा—'राजन् ! मैं जलचर प्राणी हूँ । इस सरोवरका जल भी मेरे सुखपूर्वक रहनेके लिये पर्याप्त नहीं है । इसलिये आप मेरी रक्षा कीजिये और मुझे किसी अगाध सरोवरमें रख दीजिये' ॥ २२ ॥ मत्स्यभगवान्के इस प्रकार कहनेपर वे एक-एक करके उन्हें कई अटूट जलवाले सरोवरोंमें ले गये; परंतु जितना बड़ा सरोवर होता उतने ही बड़े वे बन जाते । अन्तमें उन्होंने उन लीलामत्स्यको समुद्रमें छोड़ दिया ॥ २३ ॥ समुद्रमें डालते समय मत्स्यभगवान्ने सत्यव्रतसे कहा—'वीर ! समुद्रमें बड़े-बड़े बली मगर आदि रहते हैं, वे मुझे खा जायँगे, इसलिये आप मुझे समुद्रके जलमें मत छोड़िये' ॥ २४ ॥

मत्स्यभगवान्की यह मधुर वाणी सुनकर राजा सत्यव्रत मोहमुग्ध हो गये । उन्होंने कहा—'मत्स्यका रूप धारण करके मुझे मोहित करनेवाले आप कौन हैं ? ॥२५॥ आपने एक ही दिनमें चार सौ कोसके विस्तारका सरोवर घेर लिया । आजतक ऐसी शक्ति रखनेवाला जलचर जीव तो न मैंने कभी देखा था और न सुना ही था ॥ २६ ॥ अवश्य ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं । जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही आपने जलचरका रूप धारण किया है ॥ २७ ॥ पुरुषोत्तम ! आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्वामी हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ । प्रभो ! हम शरणागत भक्तोंके लिये आप ही आत्मा और आश्रय हैं ॥ २८ ॥ यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है ॥ २९ ॥ कमलनयन प्रभो ! जैसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें अपनेपनका अभिमान करनेवाले संसारी पुरुषोंका आश्रय व्यर्थ होता है, उस प्रकार आपके चरणोंकी शरण तो व्यर्थ हो नहीं सकती; क्योंकि आप सबके अहैतुक प्रेमी, परम प्रियतम और आत्मा हैं । आपने इस समय जो रूप धारण करके हमें दर्शन दिया है, यह बड़ा ही अद्भुत है' ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—विधे० । २. प्रा० पा०—विनाशिनि । ३. प्रा० पा०—वा० । ४. प्रा० पा०—त्वं ।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः
सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये ।
विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवी-
च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम ।
निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥३२॥
त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा ।
उपस्थास्यति नौः काचिद् विशाला त्वां मयेरिता ॥३३॥
त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च ।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥३४॥
आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः ।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥३५॥
दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा ।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ॥३६॥
अहं त्वामृषिभिः साकं सहनावमुदन्वति ।
विकर्षन् विचरिष्यामि यावद् ब्राह्मी निशा प्रभो ॥३७॥
मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥३८॥
इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत ।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥३९॥
आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः ।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः ॥४०॥
ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् अपने अनन्य प्रेमी भक्तोंपर अत्यन्त प्रेम करते हैं; जब जगत्पति मत्स्यभगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त राजर्षि सत्यव्रतकी यह प्रार्थना सुनी तो उनका प्रिय और हित करनेके लिये, साथ ही कल्पान्तके प्रलयकालीन समुद्रमें विहार करनेके लिये उनसे कहा ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सत्यव्रत ! आजसे सातवें दिन भूर्लोक आदि तीनों लोक प्रलयके समुद्रमें डूब जायँगे ॥ ३२ ॥ उस समय जब तीनों लोक प्रलयकालकी जलराशिमें डूबने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नौका आयेगी ॥ ३३ ॥ उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्मशरीरोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ उस नौकापर चढ़ जाना और समस्त धान्य तथा छोटे-बड़े अन्य प्रकारके बीजोंको साथ रख लेना ॥ ३४ ॥ उस समय सब ओर एकमात्र महासागर लहराता होगा । प्रकाश नहीं होगा । केवल ऋषियोंकी दिव्य ज्योतिके सहारे ही बिना किसी प्रकारकी विकलताके तुम उस बड़ी नावपर चढ़कर चारों ओर विचरण करना ॥ ३५ ॥ जब प्रचण्ड आँधी चलनेके कारण नाव डगमगाने लगेगी, तब मैं इसी रूपमें वहाँ आ जाऊँगा और तुम लोग वासुकि नागके द्वारा उस नावको मेरे सींगमें बाँध देना ॥ ३६ ॥ सत्यव्रत ! इसके बाद जबतक ब्रह्माजीकी रात रहेगी, तबतक मैं ऋषियोंके साथ तुम्हें उस नावमें बैठाकर उसे खींचता हुआ समुद्रमें विचरण करूँगा ॥ ३७ ॥ उस समय जब तुम प्रश्न करोगे, तब मैं तुम्हें उपदेश दूँगा । मेरे अनुग्रहसे मेरी वास्तविक महिमा, जिसका नाम 'परब्रह्म' है, तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो जायगी और तुम उसे ठीक-ठीक जान लोगे ॥ ३८ ॥ भगवान् राजा सत्यव्रतको यह आदेश देकर अन्तर्धान हो गये । अतः अब राजा सत्यव्रत उसी समयकी प्रतीक्षा करने लगे, जिसके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी थी ॥ ३९ ॥ कुशोंका अग्रभाग पूर्वकी ओर करके राजर्षि सत्यव्रत उनपर पूर्वोत्तर मुखसे बैठ गये और मत्स्यरूप भगवान्‌के चरणोंका चिन्तन करने लगे ॥ ४० ॥ इतनेमें ही भगवान्‌का बताया हुआ वह समय आ पहुँचा ।

१. प्रा० पा०—प्रभुः ।

वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥४१॥

ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम् ।

तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥४२॥

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम् ।

स वै नः संकटादस्मादविता शं विधास्यति ॥४३॥

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।

एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥४४॥

निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।

वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥४५॥

राजोवाच

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-

स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।

यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु-

र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥४६॥

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः

सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।

यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं

ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥४७

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं

पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ।

भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो

भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥४८॥

न यत्प्रसादायुतभागलेश-

मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।

राजाने देखा कि समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़ रहा है । प्रलयकालके भयंकर मेघ वर्षा करने लगे । देखते-ही-देखते सारी पृथ्वी डूबने लगी ॥ ४१ ॥ तब राजाने भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण किया और देखा कि नाव भी आ गयी है । तब वे धान्य तथा अन्य बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ उसपर सवार हो गये ॥ ४२ ॥ सप्तर्षियोंने बड़े प्रेमसे राजा सत्यव्रतसे कहा—'राजन् ! तुम भगवान्‌का ध्यान करो । वे ही हमें इस संकटसे बचायेंगे और हमारा कल्याण करेंगे' ॥ ४३ ॥ उनकी आज्ञासे राजाने भगवान्‌का ध्यान किया । उसी समय उस महान् समुद्रमें मत्स्यके रूपमें भगवान् प्रकट हुए । मत्स्यभगवान्‌का शरीर सोनेके समान देदीप्यमान था और शरीरका विस्तार था चार लाख कोस । उनके शरीरमें एक बड़ा भारी सींग भी था ॥ ४४ ॥ भगवान्‌ने पहले जैसी आज्ञा दी थी, उसके अनुसार वह नौका वासुकि नागके द्वारा भगवान्‌के सींगमें बाँध दी गयी और राजा सत्यव्रतने प्रसन्न होकर भगवान्‌की स्तुति की ॥ ४५ ॥

राजा सत्यव्रतने कहा—प्रभो ! संसारके जीवोंका आत्मज्ञान अनादि अविद्यासे ढक गया है । इसी कारण वे संसारके अनेकानेक क्लेशोंके भारसे पीड़ित हो रहे हैं । जब अनायास ही आपके अनुग्रहसे वे आपकी शरणमें पहुँच जाते हैं, तब आपको प्राप्त कर लेते हैं । इसलिये हमें बन्धनसे छुड़ाकर वास्तविक मुक्ति देनेवाले परम गुरु आप ही हैं ॥ ४६ ॥ यह जीव अज्ञानी है, अपने ही कर्मोंसे बँधा हुआ है । वह सुखकी इच्छासे दुःखप्रद कर्मोंका अनुष्ठान करता है । जिनकी सेवासे उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, वे ही मेरे परम गुरु आप मेरे हृदयकी गाँठ काट दें ॥ ४७ ॥ जैसे अग्निमें तपानेसे सोने-चाँदीके मल दूर हो जाते हैं और उनका सच्चा स्वरूप निखर आता है, वैसे ही आपकी सेवासे जीव अपने अन्तःकरणका अज्ञानरूप मल त्याग देता है और अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है । आप सर्वशक्तिमान् अविनाशी प्रभु ही हमारे गुरुजनोंके भी परम गुरु हैं । अतः आप ही हमारे भी गुरु बनें ॥४८॥ जितने भी देवता, गुरु और संसारके दूसरे जीव हैं—वे सब यदि स्वतन्त्ररूपसे एक साथ मिलकर भी कृपा करें, तो आपकी कृपाके दस हजारवें अंशके अंशकी भी

कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥४९॥
अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥५०॥
जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥५१॥
त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥५२॥
तं त्वामहं देववरं वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभि-
र्ग्रन्थीन् हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः ॥५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥५४॥
पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः ॥५५॥
अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम्।
नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥५६॥
अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे।
हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः ॥५७॥

बराबरी नहीं कर सकते। प्रभो! आप ही सर्वशक्तिमान् हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥४९॥ जैसे कोई अंधा अंधेको ही अपना पथप्रदर्शक बना ले, वैसे ही अज्ञानी जीव अज्ञानीको ही अपना गुरु बनाते हैं। आप सूर्यके समान स्वयंप्रकाश और समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। हम आत्मतत्त्वके जिज्ञासु आपको ही गुरुके रूपमें वरण करते हैं ॥५०॥ अज्ञानी मनुष्य अज्ञानियोंको जिस ज्ञानका उपदेश करता है, वह तो अज्ञान ही है। उसके द्वारा संसाररूप घोर अन्धकारकी अधिकाधिक प्राप्ति होती है। परंतु आप तो उस अविनाशी और अमोघ ज्ञानका उपदेश करते हैं, जिससे मनुष्य अनायास ही अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥५१॥ आप सारे लोकके सुहृद्, प्रियतम, ईश्वर और आत्मा हैं। गुरु, उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान और अभीष्टकी सिद्धि भी आपका ही स्वरूप है। फिर भी कामनाओंके बन्धनमें जकड़े जाकर लोग अंधे हो रहे हैं। उन्हें इस बातका पता ही नहीं है कि आप उनके हृदयमें ही विराजमान हैं ॥ ५२ ॥ आप देवताओंके भी आराध्यदेव परम पूजनीय परमेश्वर हैं। मैं आपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! आप परमार्थको प्रकाशित करनेवाली अपनी वाणीके द्वारा मेरे हृदयकी ग्रन्थि काट डालिये और अपने स्वरूपको प्रकाशित कीजिये ॥ ५३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब राजा सत्यव्रतने इस प्रकार प्रार्थना की; तब मत्स्यरूपधारी पुरुषोत्तम भगवान्ने प्रलयके समुद्रमें विहार करते हुए उन्हें आत्मतत्त्वका उपदेश किया ॥ ५४ ॥ भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रतको अपने स्वरूपके सम्पूर्ण रहस्यका वर्णन करते हुए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोगसे परिपूर्ण दिव्य पुराणका उपदेश किया, जिसको 'मत्स्यपुराण' कहते हैं ॥ ५५ ॥ सत्यव्रतने ऋषियोंके साथ नावमें बैठे हुए ही संदेहरहित होकर भगवान्के द्वारा उपदिष्ट सनातन ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्वका श्रवण किया ॥ ५६ ॥ इसके बाद जब पिछले प्रलयका अन्त हो गया और ब्रह्माजीकी नींद टूटी, तब भगवान्ने हयग्रीव असुरको मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजीको दे दिये ॥ ५७ ॥

१. प्रा० पा०—गतिं। २. प्रा० पा०—सिद्धिदः। ३. प्रा० पा०—देवदेवं। ४. प्रा० पा०—समन्वितम्।

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः ।
विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद् वैवस्वतो मनुः ५८
सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः ।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥५९॥
अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः ।
सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥६०॥
प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥६१॥

भगवान्‌की कृपासे राजा सत्यव्रत ज्ञान और विज्ञानसे संयुक्त होकर इस कल्पमें वैवस्वत मनु हुए ॥ ५८ ॥ अपनी योगमायासे मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान् विष्णु और राजर्षि सत्यव्रतका यह संवाद एवं श्रेष्ठ आख्यान सुनकर मनुष्य सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥५९॥ जो मनुष्य भगवान्‌के इस अवतारका प्रतिदिन कीर्तन करता है, उसके सारे संकल्प सिद्ध हो जाते हैं। और उसे परमगतिकी प्राप्ति होती है ॥ ६० ॥ प्रलय-कालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी सो गये थे, उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय उनके मुखसे निकली हुई श्रुतियोंको चुराकर हयग्रीव दैत्य पातालमें ले गया था । भगवान्‌ने उसे मारकर वे श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं एवं सत्यव्रत तथा सप्तर्षियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया । उन समस्त जगत्‌के परम कारण लीला-मत्स्य भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

॥ इत्यष्टमः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



१. प्रा० पा०—सम्मतः ।



मिलनेका पता

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)